HINDI - SHABD SAGAR

By Shyamsundar Das B. A.

G. K. V.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या १/२.२ ०
पुस्तक संख्या श्या 5 ई
आगत पंजिका संख्या २०.६,२५०

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें। ६२२८

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ह

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित
इस तिथि सहित १५ वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय
वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ नये पैसे प्रतिदिन
हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

49228

[illegible] न की जावे ।

Stock Verification-2024

[illegible] प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

१

४

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

41289

हिन्दी- शब्द सागर

चौथा भाग

प्रति - 2

※ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य
† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रां
‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप ग्राम्य है।

CHECKED 1973
Initial ....

संकेताक्षरों का विवरण

= अँगरेजी भाषा
= अरबी भाषा
= अनुकरण शब्द
० = अनेकार्थनाममाला
= अपभ्रंश
ध्या = अयोध्यासिंह उपाध्याय
मा० = अर्द्धमागधी
० = अल्पार्थक प्रयोग
०-अव्यय
दघन = कवि आनंदघन
= इबरानी भाषा
= उदाहरण
चरित = उत्तररामचरित
= उपसर्ग
= उभयलिंग
उप० = कठवल्ली उपनिषद्
र = कबीरदास
व = केशवदास
= कोंकण देश की भाषा
= क्रिया
अ० = क्रिया अकर्मक
प्र० = क्रियाप्रयोग
वि० = क्रियाविशेषण
स० = क्रिया सकर्मक
= क्वचित् अर्थात् इसका प्रयोग बहुत कम देखने में आता है।
ाना = अब्दुर्रहीम नखाना
० वा गि० दास = गिरिरदास (बा० गोपालचंद्र)

गिरिधर = गिरिधरराय (कुंडलियावाले)
गुज० = गुजराती भाषा
गुमान = गुमान मिश्र
गोपाल = गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
चरण = चरणचंद्रिका
चिंतामणि = कवि चिंतामणि त्रिपाठी
छीत = छीतस्वामी
जायसी = मलिक मुहम्मद जायसी
जावा० = जावा द्वीप की भाषा
ज्यो० = ज्योतिष
डिं० = डिंगल भाषा
तु० = तुरकी भाषा
तुलसी = तुलसीदास
तोष = कवि तोष
दादू = दादूदयाल
दीनदयालु = कवि दीनदयालु गिरि
दूलह = कवि दूलह
दे० = देखो
देव = देव कवि (मैनपुरीवाले)
दे० = देशज
द्विवेदी = महावीरप्रसाद द्विवेदी
नागरी = नागरीदास
नाभा = नाभादास
निश्चल = निश्चलदास
पं० = पंजाबी भाषा
पद्माकर = पद्माकर भट्ट
पर्या० = पर्याय
पा० = पाली भाषा
पुं० = पुल्लिंग
पु० हिं० = पुरानी हिंदी

पुर्त्त० = पुर्त्तगाली भाषा
पू० हिं० = पूर्वी हिंदी
प्रताप = प्रतापनारायण मिश्र
प्रल० = प्रलय
प्रा० = प्राकृत भाषा
प्रिया = प्रियादास
प्रे० = प्रेरणार्थक
प्रे० सा० = प्रेमसागर
फ़० = फ़रासीसी भाषा
फ़ा० = फ़ारसी भाषा
बंग० = बँगला भाषा
बरमी० = बरमी भाषा
बहु० = बहुवचन
बिहारी = कवि बिहारीलाल
बुं० खं० = बुंदेलखंडी बोली
बेनी० = कवि बेनी प्रवीन
भाव० = भाववाचक
भूषण = कवि भूषण त्रिपाठी
मतिराम = कवि मतिरामत्रिपाठी
मला० = मलायलम भाषा
मलूक = मलूकदास
मि० = मिलाओ
मुहा० = मुहाविरे
यू० = यूनानी भाषा
यौ० = यौगिक तथा दो वा अधिक शब्दों के पद
रघु० दा० = रघुनाथदास
रघुनाथ = रघुनाथ बंदीजन
रघुराज = महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश
रसखान = सैयद इब्राहीम
रसनिधि = राजा पृथ्वीसिंह

रहीम = अब्दुर्रहीम खानखाना
लक्ष्मणसिंह = राजा लक्ष्मणसिंह
लल्लू = लल्लूलाल
लश० = लशकरी भाषा अर्थात् हिंदुस्तानी जहाजियों की बोली
लाल = लाल कवि (छत्रप्रकाशवाले)
लै० = लैटिन भाषा
वि० = विशेषण
विश्राम = विश्रामसागर
व्यंग्यार्थ = व्यंग्यार्थ कौमुदी
व्या० = व्याकरण
व्यास = अंबिकादत्त व्यास
शं० दि० = शंकरदिग्विजय
शृं० सत० = शृंगार सतसई
सं० = संस्कृ[illegible]
संयो० = सं[illegible]जक अव्यय
संयो० क्रि० = संयोज्य क्रिया
स० = सकर्मक
सबल = सबलसिंह चौहान
सभा० वि० = सभाविलास
सर्व० = सर्वनाम
सुधाकर = सुधाकर द्विवेदी
सूदन = सूदन कवि (भरतपुरवाले)
सूर = सूरदास
स्त्रि० = स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त
स्त्री० = स्त्रीलिंग
स्पे० = स्पेनी भाषा
हिं० = हिंदी भाषा
हनुमान = हनुमन्नाटक
हरिदास = स्वामी हरिदास
हरिश्चंद्र = भारतेंदु हरिश्चंद्र

---

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है।

† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है।

‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप ग्राम्य है।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः
पुस्तक सं० १.१
आगत सं०
लि०सं० ५३,२८ १ IV (३)
गुरुकुल ग्रन्थालय कांगड़ी

बीती थी। इनकी स्त्री का नाम यशोदा था। कंस के भय से ये पीछे श्रीकृष्ण को लेकर वृंदावन जा रहे थे। जब कृष्ण ने मथुरा में कंस को मारा था तब वे भी उनके साथ ही थे। इसके उपरांत जब कृष्ण मथुरा से वृंदावन नहीं लौटे तब ये बहुत दुःखी हुए थे। इसके बहुत दिन बाद जब हंस और डिंभक का दमन करने के लिये वे गोवर्द्धन गए थे तब इन्होंने उन्हें बहुत रोकना चाहा था, पर कृष्ण ने नहीं माना। भागवत में लिखा है कि एक बार ये एकादशी का व्रत करके रात के समय यमुना में स्नान करने गए थे। उस समय वरुण के दूत इन्हें पकड़कर वरुण की सभा में ले गए। उस समय कृष्ण ने वहाँ जाकर इन्हें छुड़ाया। इसके अतिरिक्त उसमें यह भी लिखा है कि नंद पूर्व जन्म में दक्ष प्रजापति थे और यशोदा उनकी स्त्री थी। जब यज्ञ में सती ने शिव जी की निंदा सुनकर अपने प्राण त्याग दिए तब दक्ष दुखी होकर अपनी स्त्री सहित तपस्या करने के लिये चले गए। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर सती ने प्रकट होकर उनसे कहा था कि द्वापर में फिर एक बार तुम्हारे यहाँ जन्म लूँगी पर उस समय न मैं अधिक समय तक तुम्हारे पास रहूँगी और न तुम मुझे पहचान सकोगे। तदनुसार सती ने कन्यारूप में नंद के यहाँ यशोदा के गर्भ से जन्म लिया था। श्रीकृष्ण को नंद के यहाँ रखकर वसुदेव इसी कन्या को अपने साथ ले गए थे जिसे पीछे से कंस ने जमीन पर पटक दिया था और जो जमीन पर गिरते ही आकाश में चली गई थी। (१८) महात्मा बुद्ध के भाई जो उनकी विमाता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। बुद्ध ने बोधि ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत कपिलवस्तु में आकर इन्हें दीक्षित किया था। जब ये बुद्ध के साथ जा रहे थे तब कई बार अपनी स्त्री भद्रा को देखने के लिये ये लौटना चाहते थे, पर बुद्ध ने इन्हें लौटने नहीं दिया था। बुद्ध ने इन्हें भिक्षु बनाकर सांसारिक बंधनों से छुड़ाकर स्वर्ग और नरक के दृश्य दिखलाए थे। (१९) मगध देश के कई राजाओं का नाम जिनका राज्य विक्रम संवत् से २५० वर्ष पहले तक रहा और जिनके पीछे मौर्य्य वंश का राज्य हुआ। दे० "नंदवंश"।

नंदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण का खड्ग। (२) मेंढक। (३) स्कंद का एक अनुचर। (४) धृतराष्ट्र का एक पुत्र। (५) एक नाग का नाम। (६) राजा नंद जिनके यहाँ कृष्ण बाल्यावस्था में रहते थे।

वि० (१) आनंददायक। (२) कुल-पालक। (३) संतोष देनेवाला।

नंदकि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पीपल।

नंदकिशोर-संज्ञा पुं० [सं०] नंद के पुत्र, श्रीकृष्ण।

नंदकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णु।

नंदकुँवर-संज्ञा पुं० दे० "नंदकुमार"।

नंदकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] नंद के पुत्र, श्रीकृष्ण।

नंदगाँव-संज्ञा पुं० [सं० नंदिग्राम] वृंदावन का एक गाँव जो मथुरा से चौदह कोस पर है और जहाँ नंद गोप रहते थे।

नंदगोपिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना या रायसन नामक ओषधि।

नंदग्राम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नंदगाँव। (२) नंदिग्राम। अयोध्या के समीप का एक गाँव जहाँ बैठकर राम के वनवास-काल में भरत ने तपस्या की थी। उ०—अवधि में पूरन धरम रहै। नंदिग्राम में नंदी वासे कै ये ही अरथ कहै।—देवस्वामी।

नंदद-संज्ञा पुं० [सं०] आनंद देनेवाला, पुत्र। बेटा। लड़का।

नंदनंद-संज्ञा पुं० [सं०] नंद के पुत्र, श्रीकृष्णचंद्र।

नंदनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] नंद के पुत्र, श्रीकृष्ण।

नंदनंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नंद की कन्या, दुर्गा। योगमाया। वसुदेव कंस के भय से श्रीकृष्ण को नंद के घर रखकर इसी कन्या को साथ ले गए थे, और जब कंस ने इसे पटका था तब यह उड़कर आकाश में चली गई थी। विशेष दे० "नंद"।

नंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र के उपवन का नाम जो स्वर्ग में माना जाता है। पुराणानुसार यह सब स्थानों से सुंदर माना जाता है और जब मनुष्यों का भोगकाल पूरा हो जाता है तब वे इसी वन में सुखपूर्वक विहार करने के लिये भेज दिए जाते हैं। (२) कामाख्या देश का एक पर्वत, पुराणानुसार जिस पर कामाख्या देवी की सेवा के लिये इंद्र सदा रहते हैं। इस पर्वत पर जाकर लोग इंद्र की पूजा करते हैं। (३) कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (४) एक प्रकार का विष। (५) महादेव, शिव। (६) विष्णु। (७) मेंढक। (८) वास्तु शास्त्र के अनुसार वह मकान जो षट्कोण हो, जिसका विस्तार बत्तीस हाथ हो और जिसमें सोलह शृंग हों। (९) केसर। (१०) चंदन। (११) लड़का। बेटा। जैसे, नंदनंदन। (१२) एक प्रकार का अस्त्र। उ०—ये सब अस्त्र देव धारत नित जौन तुम्हें सिखलाऊँ। महा अस्त्र विद्याधर लीजै पुनि नंदन जेहि नाऊँ।—रघुराज। (१३) मेघ। बादल। (१४) एक वर्णवृत्त जिसमें प्रत्येक चरण में क्रम से नगण, जगण, भगण, जगण और दो रगण (।।। ।ऽ। ऽ।। ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ।ऽ) होते हैं। यथा—भजत सनेम सो सुमति जीत मोह के जाल को। (१५) साठ संवत्सरों में से छब्बीसवाँ संवत्सर। कहते हैं कि इस संवत्सर में अन्न ख़ूब होता है, गौएँ ख़ूब दूध देती हैं और लोग नीरोग रहते हैं।

वि० आनंद देनेवाला। प्रसन्न करनेवाला।

नंदनज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरिचंदन। (२) श्रीकृष्ण।

नंदनप्रधान-संज्ञा पुं० [सं०] नंदनवन के स्वामी, इंद्र।

नंदनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार की माला जो श्रीकृष्ण को बहुत प्रिय थी।

नंदनवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र की वाटिका। (२) कपास।

नंदना-*क्रि० अ० [सं० नंद] आनंदित होना। प्रसन्न होना।

संज्ञा स्त्री० [सं० नंद = बेटा] पुत्री। लड़की। बेटी।

नंदनी-संज्ञा स्त्री० दे० "नंदिनी"।

नंदपाल-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण।

नंदपुत्री-संज्ञा स्त्री० दे० "नंदनंदिनी"।

नंदप्रयाग- संज्ञा पुं० [सं०] बदरिकाश्रम के निकट का एक तीर्थ जो सात प्रयागों में से है।

नंदरानी-संज्ञा स्त्री० [सं० नंद + हिं० रानी] नंद की स्त्री, यशोदा।

नंदरूख-संज्ञा पुं० [हिं० नंद + रूख] अश्वत्थ की जाति का एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ रेशम के कीड़ों को खाने के लिये दी जाती हैं।

नंदलाल-संज्ञा पुं० [सं० नंद + हिं० लाल = बेटा] नंद के पुत्र, श्रीकृष्ण।

नंदवंश-संज्ञा पुं० [सं०] मगध का एक विख्यात राजवंश जिसका अंतिम राजा उस समय सिंहासन पर था जिस समय सिकंदर ने ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व पंजाब पर चढ़ाई की थी।

विशेष—इस वंश का उल्लेख विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, ब्रह्मांडपुराण आदि में मिलता है। विष्णुपुराण में लिखा है कि शूद्रा के गर्भ से महानंदि का पुत्र महापद्मनंद होगा जो समस्त क्षत्रियों का विनाश करके पृथिवी का एकछत्र भोग करेगा। उसके सुमालि आदि आठ पुत्र होंगे जो क्रमशः सौ वर्ष तक राज्य करेंगे। अंत में कौटिल्य के हाथ से नंदों का नाश होगा और मौर्य्य लोग राजा होंगे। इसी प्रकार का वर्णन भागवत में भी है। ब्रह्मांडपुराण में कुछ विशेष ब्योरा है। उसमें लिखा है कि राजा विझिसार (कदाचित बिंबसार जो गौतम बुद्ध के समय तक था और जिसका पुत्र अजातशत्रु बुद्ध का शिष्य हुआ था) २८ वर्ष तक, उसका पुत्र अजातशत्रु ३५ वर्ष तक, फिर उदायी २३ वर्ष तक, नंदिवर्द्धन ४२ वर्ष तक और महानंदि ४० वर्ष तक राज्य करेंगे। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न महानंदि का पुत्र क्षत्रियों का नाश करनेवाला नंद होगा। वह और उसके आठ पुत्र मोटे हिसाब से १०० वर्ष तक राज्य करेंगे। अंत में कौटिल्य के हाथ से सब मारे जायँगे।

कथा-सरित्सागर में भी नंद का उपाख्यान एक रोचक कहानी के रूप में इस प्रकार दिया गया है। इंद्रदत्त, व्याड़ि और वररुचि अर्थोपार्जन के लिये नंद की सभा में पहुँचे। पर उनके पहुँचने के कुछ पहले नंद मर गए। इंद्रदत्त ने योगबल से नंद के मृत शरीर में प्रवेश किया जिससे नंद जी उठे। व्याड़ि इंद्रदत्त के शरीर की रक्षा करने लगे। राजा के जी उठने पर मंत्री शकटार को कुछ संदेह हुआ और उसने आज्ञा दे दी कि नगर में जितने मुर्दे हों सब तुरंत जला दिए जायँ। इस प्रकार इंद्रदत्त का पहला शरीर जला दिया गया और उनकी आत्मा नंद के शरीर में ही रह गई। नंद देहधारी इंद्रदत्त योगानंद नाम से प्रसिद्ध हुए। योगानंद ने ब्रह्महत्या का अपराध लगाकर शकटार को सपरिवार कैद कर लिया और अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। शकटार के सब पुत्र तो यंत्रणा से मर गए, पर शकटार ने प्रतिकार की इच्छा से अपनी प्राणरक्षा की। वररुचि योगानंद के मंत्री हुए। उनके कहने से नंद ने शकटार को छोड़ दिया। धीरे धीरे नंद अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगा। एक दिन उसने वररुचि पर क्रुद्ध होकर उन्हें मार डालने की आज्ञा दी। शकटार ने उन्हें छिपा रखा। एक दिन राजा फिर वररुचि के लिये व्याकुल हुए। इस पर शकटार ने उन्हें लाकर उपस्थित किया। पर वररुचि ने उदास हो वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया।

शकटार यद्यपि नंद के मंत्री रहे पर उसके विनाश का उपाय सोचते रहे। एक दिन उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मण कुशों को उखाड़ उखाड़कर गड्ढा खोद रहा है। पूछने पर उसने कहा "ये कुश मेरे पैर में चुभे थे, इससे इन्हें बिना समूल नष्ट किए न रहूँगा।" वह ब्राह्मण कौटिल्य चाणक्य था। शकटार ने चाणक्य को अपने कार्य्य साधन के लिये उपयोगी समझकर उसे नंद के यहाँ जाने के लिये श्राद्ध का निमंत्रण दे दिया। चाणक्य नंद के प्रासाद में पहुँचे और प्रधान आसन पर बैठ गए। नंद को यह सब खबर नहीं थी; उसने वह आसन दूसरे के लिये रखा था। चाणक्य को उस पर बैठा देख उसने उठ जाने का इशारा किया। इस पर चाणक्य ने अत्यंत क्रुद्ध होकर कहा—"सात दिन में नंद की मृत्यु होगी"। शकटार ने चाणक्य को घर ले जाकर राजा के विरुद्ध और भी उत्तेजित किया। अंत में अभिचार क्रिया करके चाणक्य ने सात दिन में नंद को मार डाला। इसके उपरांत योगानंद के पुत्र हिरण्यगुप्त को मारकर उसने नंद के पुत्र चंद्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और आप मंत्री का पद ग्रहण किया।

बौद्ध और जैन ग्रंथों में भी नंद का वृत्तांत मिलता है पर भेद इतना है कि पुराणों में तो महापद्मनंद को महानंदि का पुत्र माना है, चाहे शूद्रा के गर्भ से सही, पर जैन और बौद्ध ग्रंथों में उसे सर्वथा नीच कुल का और अकस्मात आकर राजसिंहासन पर बैठनेवाला लिखा है। कथासरित्सागर में चंद्रगुप्त को जो नंद का पुत्र लिखा है उसे इतिहासज्ञ ठीक

नहीं मानते। मौर्यवंश एक दूसरा राजवंश था। कोई कोई इतिहासज्ञ 'नवनंद' शब्द का अर्थ नए नंद करते हैं जो शूद्र थे। उनके अनुसार नंदवंश शुद्ध क्षत्रियवंश था और 'नवनंद' शूद्र थे।

नंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) गौरी। (३) एक प्रकार की कामधेनु। (४) एक मातृका या बाल-ग्रह जिसके विषय में यह माना जाता है कि इसके कारण बालक अपने जीवन के पहले दिन, पहले मास और पहले वर्ष में ज्वर से पीड़ित होकर बहुत रोता और अचेत हो जाता है। (५) किसी पक्ष की प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी तिथि। (६) सम्पत्ति। सम्पदा। (७) एक प्रकार की संक्रांति। (८) हर्ष की स्त्री। (यहां 'प्रसन्नता' से तात्पर्य है।) (९) संगीत में एक मूर्च्छना का नाम। (१०) एक अप्सरा का नाम। (११) विभीषण की कन्या का नाम। (१२) वर्त्तमान अवसर्पिणी के दसवें अर्हत की माता का नाम। (जैन)। (१३) पुराणानुसार कुबेर की पुरी के निकट बहनेवाली नदी का नाम। (१४) मिट्टी का घड़ा या झंझर आदि जिसमें पानी रखते हैं। (१५) पुराणानुसार शाकद्वीप की एक नदी का नाम। (१६) पति की बहन। ननद। (१७) एक तीर्थ का नाम। विशेष—दे० "नंदातीर्थ"। (१८) बरवै छंद का एक नाम।

नंदातीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी और तीर्थ जो हेमकूट पर्वत पर है। लिखा है कि यहां सदा बहुत तेज हवा बहती रहती है, जोर से पानी बरसता रहता है, साधारण लोग पहुँच नहीं सकते, और सदा वेद-ध्वनि सुनाई पड़ती है पर कोई वेद पढ़नेवाला दिखाई नहीं देता। सवेरे और संध्या यहाँ अग्निदेव के दर्शन होते हैं। यहाँ बैठकर यदि कोई तपस्या करना चाहे तो उसे मक्खियाँ काटने लगती हैं। युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ एक बार इस तीर्थ में गए थे।

नंदात्मज–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

नंदात्मजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] योगमाया।

नंदादेवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिणी हिमालय की एक चोटी जो २५००० फुट से अधिक ऊँची है और जो यमुनोत्तरी के पूर्व है।

नंदापुराण–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपपुराण जिसमें नंदामाहात्म्य दिया गया है और जिसके वक्ता कार्त्तिक हैं। मत्स्य और शिवपुराण के मत से यह तीसरा उपपुराण है।

नंदार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] शाकद्वीपी ब्राह्मणों का एक संप्रदाय।

नंदाश्रम–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

नंदि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनंद। (२) वह जो आनंदमय हो। (३) सच्चिदानंद परमेश्वर। (४) शिव के द्वारपाल बैल का नाम। नंदिकेश्वर। (५) शिव।

नंदिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नंदीवृक्ष। तुन का पेड़। (२) धव का पेड़। (३) आनंद।

नंदिकर–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

नंदिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिट्टी की नाँद जिसमें पानी रखते हैं। (२) नंदनवन जहाँ इंद्र क्रीड़ा करते हैं। (३) किसी पक्ष की प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी तिथि। (४) हँसमुख स्त्री।

नंदिकावर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक प्रकार का मणि।

नंदिकुंड–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ।

नंदिकेश–संज्ञा पुं० [सं०] शिव के द्वारपाल, नंदिकेश्वर।

नंदिकेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के द्वारपाल बैल का नाम। (२) एक उपपुराण जो नंदी का कहा हुआ और चौथा उपपुराण माना जाता है। इसे नंदीश्वर और नंदिपुराण भी कहते हैं।

नंदिग्राम–संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या से चार कोस पर एक गाँव जहाँ भरत ने राम के वियोग में चौदह वर्ष तक तप किया था।

नंदिघोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन के रथ का नाम जिसे उन्हें अग्निदेव ने प्रसन्न होकर दिया था। उ०—सप्तपुत्र गांडीव धनु लीन्हों। नंदिघोष रथ हुतभुक दीन्हों।—सबल। (२) बंदीजनों की घोषणा। (३) किसी प्रकार की शुभ या मंगल घोषणा।

नंदित–वि० [सं०] आनंदित। सुखी। आनंदयुक्त। प्रसन्न।

*वि० [हिं० नादना] बजता हुआ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नंदितरु–संज्ञा पुं० [सं०] धव का पेड़।

नंदितूर्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा।

नंदिन–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो बंगाल और आसाम में पाई जाती है। यह तीन फुट तक लंबी होती है और तौल में आध मन की होती है।

* संज्ञा स्त्री० [सं० नंद = बेटा] लड़की। बेटी। पुत्री।

नंदिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कन्या। पुत्री। लड़की। बेटी। (२) रेणुका नामक गंध द्रव्य। (३) जटामांसी। बालछड़। (४) उमा। (५) गंगा का एक नाम। (६) ननद। पति की बहन। (७) दुर्गा का एक नाम। (८) तेरह अक्षरों के एक वर्णवृत्त का नाम जिसमें एक सगण, एक जगण, फिर दो सगण और अंत में एक गुरु होता है। इसे कलहंस

और सिंहनाद भी कहते हैं। जैसे, सजि सी सिंगार कलहंस गती सी। चलि आइ राम छवि मंडप दीसी। (९) वसिष्ठ की कामधेनु का नाम जो सुरभि की कन्या थी। राजा दिलीप ने इसी गौ को वन में चराते समय सिंह से उसकी रक्षा की थी और इसी की आराधना करके उन्होंने रघु नामक पुत्र प्राप्त किया था। महाभारत में लिखा है कि द्यो नामक वसु अपनी स्त्री के कहने से इसे वसिष्ठ के आश्रम से चुरा लाया था जिसके कारण वसिष्ठ के शाप से उसे भीष्म बनकर इस पृथिवी पर जन्म लेना पड़ा था। जब विश्वामित्र बहुत से लोगों को अपने साथ लेकर एक बार वसिष्ठ के यहाँ गए थे तब वसिष्ठ ने इसी गौ से सब कुछ लेकर सब लोगों का सत्कार किया था। यह विशेषता देखकर विश्वामित्र ने वसिष्ठ से यह गौ माँगी; पर जब उन्होंने इसे नहीं दिया तब विश्वामित्र उसे जबरदस्ती ले चले। रास्ते में इसके चिल्लाने से इसके शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में से म्लेच्छों और यवनों की बहुत सी सेनाएँ निकल पड़ीं जिन्होंने विश्वामित्र को परास्त किया और इसे उनके हाथ से छुड़ाया। (१०) पत्नी। स्त्री। जोरू। (११) कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम। (१२) व्याड़ि मुनि की माता का नाम।

नंदिमुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पक्षी। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का चावल। (३) शिव का एक नाम।

नंदिमुखी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंद्रा। (२) भावप्रकाश के अनुसार वह पक्षी जिसकी चोंच का ऊपरी भाग बहुत कड़ा और गोल हो। ऐसे पक्षी का मांस पित्तनाशक, चिकना, भारी, मीठा, और वायु, कफ, बल तथा शुक्रवर्द्धक माना जाता है।

नंदिरुद्र–संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

नंदिवर्द्धन–संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) पुत्र। बेटा। (३) मित्र। दोस्त। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का विमान। (५) प्राचीन वास्तुशास्त्र के अनुसार वह मंदिर जिसका विस्तार चौबीस हाथ हो, जो सात भूमियों से युक्त हो और जिसमें २० शृंग हों। (६) मगध के राजा बिंबसार के लड़के अजातशत्रु के पड़पोते का नाम।

वि० आनंद बढ़ानेवाला। जो आनंद बढ़ावे।

नंदिवारलक–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की मछली जो समुद्र में होती है।

नंदिषेण–संज्ञा पुं० [सं०] कुमार के एक अनुचर का नाम।

नंदी–संज्ञा पुं० [सं० नंदिन्] (१) धव का पेड़। (२) गर्दभांड वृक्ष। पारवर का पेड़। (३) वट वृक्ष। बरगद का पेड़। (४) तुन का पेड़। (५) शिव के एक प्रकार के गण। ये तीन प्रकार के होते हैं—कनकनंदी, गिरिनंदी, और शिवनंदी (६) शिव का द्वारपाल, बैल। कहते हैं कि पूर्वजन्म में यह शालंकायण मुनि का पुत्र था। (७) शिव के नाम पर दाग कर उत्सर्ग किया हुआ कोई बैल। (८) वह बैल जिसके शरीर पर गाँठें हों। ऐसा बैल खेती के काम का नहीं होता। इसे फकीर लोग लेकर घुमाते और लोगों को उसके दर्शन कराके पैसे माँगते हैं। (९) विष्णु। (१०) जैनों के एक श्रुतपारग। (११) उड़द। (डिं०)। (१२) बंगाल की कायस्थ, तेली, नाई आदि कई जातियों की उपाधि।

वि० आनंदयुक्त। जो प्रसन्न हो।

नंदीगण–संज्ञा पुं० [हिं० नंदी+सं० गण] (१) शिव के द्वारपाल, बैल। (२) दागकर उत्सर्ग किया हुआ बैल। साँड़।

नंदीघंटा–संज्ञा पुं० [सं० नंदी+हिं० घंटा] बैलों के गले में बाँधने का बिना डांड़ी का घंटा।

नंदीपति–संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

नंदीमुख–संज्ञा पुं० दे० "नांदीमुख"।

संज्ञा पुं० दे० "नंदिमुख"।

नंदीवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तुन का पेड़। (२) मेढासिंगी।

नंदीश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) तालों के साठ भेदों में से एक। (संगीत)। (३) नंदी।

नंदीश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) नंदीश ताल। (३) वृंदावन का एक तीर्थ। (४) शिव का एक गण जो पुराणानुसार तोटक का अवतार माना जाता है। कहते हैं कि यह वामन है, इसका रंग काला है और सिर मुँड़ा हुआ तथा मुँह बंदर का सा है।

नंदेऊ*†–संज्ञा पुं० दे० "नंदोई"।

नंदोई–संज्ञा पुं० [हिं० ननद+ओई (प्रत्य०)] ननद का पति। पति की बहन का पति। पति का बहनोई।

नंदोला†–संज्ञा पुं० [हिं० नांद+ओला (प्रत्य०)] मिट्टी की बड़ी नाँद।

नंदोसी–संज्ञा पुं० दे० "नंदोई"।

नंद्यावर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की इमारत। ऐसी इमारत के पश्चिम ओर द्वार नहीं रहना चाहिए। (२) तगर का पेड़।

नंबर–वि० [अं०] (१) संख्या। अंक। अदद। जैसे, उस पर अंगरेजी में कुछ नंबर लिखा हुआ था।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(२) गिनती। गणना। (३) किसी सामयिक पत्र या पुस्तक आदि की कोई एक संख्या या अंक। जैसे, (क) उस मासिक पत्र के अभी तीन ही नंबर निकले हैं। (ख) तुम्हारी पुस्तकमाला का चौथा नंबर अभी तक नहीं आया। (४)

कपड़े आदि नापने का लोहे का वह गज जो ३ फुट या ३६ इंच लंबा होता है। (५) स्त्री-प्रसंग। भोग। (बाजारू)।

मुहा०—नंबर दागना या लगाना = स्त्री-प्रसंग करना।

नंबरदार-संज्ञा पुं० [अं० नंबर + फा० दार] गाँव का वह जमींदार जो अपनी पट्टी के और हिस्सेदारों से मालगुजारी आदि वसूल करने में सहायता दे।

नंबरवार-क्रि० वि० [अं० नंबर + फा० वार (प्रत्य०)] यथाक्रम। सिलसिलेवार। क्रमशः। एक एक करके। जैसे, इन सब किताबों को नंबरवार लगा दो।

नंबरिंग मशीन-संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार का यंत्र जिससे रसीदों, टिकटों आदि पर क्रम-संख्या छापते हैं।

नंबरी-वि० [अं० नंबर + ई (प्रत्य०)] (१) नंबरवाला। जिस पर नंबर लगा हो। (२) प्रसिद्ध। मशहूर। जैसे, नंबरी डाकू, नंबरी चोर।

नंबरी गज-संज्ञा पुं० दे० "नंबर (४)"।

नंबरी सेर-संज्ञा पुं० [हिं० नंबरी + सेर] तौलने का सेर जो अंगरेजी रुपयों से ८० भर का होता है। अंगरेजी सेर। बीस गंडी सेर।

नंबूरी-संज्ञा पुं० [देश०] मालाबार प्रांत के ब्राह्मणों की एक जाति।

न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपमा। (२) रत्न। (३) सोना। (४) बुद्ध। (५) बंध।

अव्य० (१) निषेध-वाचक शब्द। नहीं। मत। जैसे, (क) तुम न जाओ तो कोई हर्ज है? (ख) उसे कुछ न देना ही ठीक है।

विशेष—विधि, अनुज्ञा, हेतुहेतुमद्भाव आदि कुछ विशेष स्थलों पर भी "नहीं" के स्थान में "न" आता है।

(२) कि नहीं। या नहीं। जैसे, (क) तुम वहाँ जाओगे न? (ख) वे दिन भर तो वहाँ रहेंगे न? (इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रश्नात्मक वाक्य के अंत में ही होता है।)

नइहर†-संज्ञा पुं० [सं० मातृगृह। हिं० नैहर] स्त्रियों की माता का घर। पीहर। मायका।

नई*-वि० [सं० नय] नीतिवान्। नीतिज्ञ।

वि० स्त्री० [सं० नव] 'नया' का स्त्री०।

*† संज्ञा स्त्री० दे० "नदी"।

नउँजी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० लीची] लीची नामक फल। उ०—कोई नारंग कोइ झार चिरउँजी। कोई कटहर बड़हर कोइ नउँजी।—जायसी।

नउ*†- वि० (१) दे० "नव"। उ०—ताकहँ गुरू करइ अस माया। नउ अउतार देइ नइ काया।—जायसी। (२) दे० "नौ"। उ०—नउ पउरी बाँकी नउ खंडा। नउ उजो चढइ जाइ ब्रह्मंडा।—जायसी।

नउआ†-संज्ञा पुं० [स्त्री० नउनियां] दे० "नाऊ"। उ०—रोवत देखि जननि अकुलानी। लियो तुरत नउआ को झरकी—सूर।

नउका*†—संज्ञा स्त्री० दे० "नौका"।

नउत*†-वि० [हिं० नवना, नवत] नीचे की ओर झुका हुआ। उ०—बिवछि गयो मन लागि ज्यों ललित त्रिभंगी संग। सूधो होत न और तनि नउत रहै वह अंग।—रसनिधि।

नउरंग†-संज्ञा स्त्री० दे० "नारंगी"।

नउर†—संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नउलि*†-वि० [सं० नवल] नया। नवीन। ताजा। उ०—सबइ नउलि पिय संग न सोई। कँवल पास जनु बिगसी कोई।—जायसी।

नएपंज-संज्ञा पुं० [देश०] पाँच वर्ष की अवस्था का घोड़ा। जवान घोड़ा। (चाबुक सवार)

नओढ़ा*†-संज्ञा स्त्री० दे० "नवोढ़ा"।

नकंद-संज्ञा पुं० [देश] एक प्रकार का बढ़िया चावल जो कांगड़े में होता है।

नककटा-वि० [हिं० नाक + कटना] [स्त्री० नककटी] (१) जिसकी नाक कटी हो। (२) जिसकी बहुत दुर्दशा हुई हो। (३) जिसकी बहुत अप्रतिष्ठा या बदनामी हुई हो। (४) जिसके कारण अप्रतिष्ठा हो। (५) निर्लज्ज। बेहया। बेशर्म।

नककटापंथ-संज्ञा पुं० [हिं० नककटा + पंथ] एक कल्पित पंथ का नाम।

विशेष—एक कहानी है कि एक बार किसी प्रकार एक आदमी की नाक कट गई। तब उसने और लोगों को भी अपने ही समान बनाने के उद्देश्य से लोगों से यह कहना आरंभ कर दिया कि नाक के कट जाने के कारण ही मुझे ईश्वर के दर्शन होने लगे हैं। उसकी बात पर विश्वास करके बहुत से लोगों ने नाक कटा डाली। ईश्वर के दर्शन तो किसी को न होते थे, पर नककटे होने के अपवाद से बचने और दूसरों को भी अपने समान बनाने के लिये वे उस पहले नककटे की बात का खूब समर्थन करते थे। इसी कहानी के आधार पर लोगों ने इस "नककटे पंथ" की कल्पना कर ली।

नककटी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक + कटना] (१) नाक कटने की क्रिया। (२) दुर्दशा, अप्रतिष्ठा या बदनामी आदि।

नकघिसनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक + घिसना] (१) नाक को जमीन पर रगड़ना। जमीन पर नाक रगड़ने की क्रिया। (२) बहुत अधिक दीनता। आजिज़ी।

नकचढ़ा–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + चढ़ना] [स्त्री० नकचढ़ी] चिड़चिड़ा। बद-मिजाज।

नकछिकनी-संज्ञा स्त्री० [सं० छिक्कनी] एक प्रकार की घास जिसकी पत्तियां महीन महीन और कटावदार होती हैं। इसके फूल घुंडी के आकार के और गुलाबी होते हैं जिन्हें सूँघने से छींकें आने लगती हैं। वैद्यक में इसे चरपरी, रूखी, गरम, रुचिकारक, अग्निदीपक, पित्तकारक और वात, कफ, कुष्ट, कृमि, रक्तविकार और दृष्टि-दोष की नाशक माना है।

पर्य्या०—क्षवकृत। तीक्ष्णा। छिक्किका। घ्राणदुःखदा। उग्रा। संवेदनापटु। उग्रगंधा। क्षवक। छिक्कनी।

नकटा–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + कटना] [स्त्री० नकटी] (१) वह जिसकी नाक कट गई हो। (२) एक प्रकार का गीत जो स्त्रियां विशेष अवसरों पर और विशेषतः विवाह के समय गाती हैं। (३) वह अवसर या उत्सव जब कि उक्त गीत गाया जाता है। (४) एक प्रकार की चिड़िया।

वि० (१) जिसकी नाक कटी हो। (२) निर्लज्ज। बेशर्म। बेह्या (३) अप्रतिष्ठित। जिसकी बहुत अप्रतिष्ठा या दुर्दशा हुई हो।

नकटेसर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पौधा जो फूलों के लिये लगाया जाता है।

नकड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० नाक] बैलों का एक रोग जिसमें उनकी नाक सूज आती है और जिसके कारण उन्हें साँस लेने में बहुत कठिनता होती है।

नकतोड़–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + तोड़ना] कुश्ती का एक पेंच।

नकतोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + तोड़ = गति] अभिमान-पूर्वक नाक भौं चढ़ाकर नखरा करना अथवा कोई बात कहना।

मुहा०—**नकतोड़े उठाना** = अनुचित अभिमान सहना। नखरा बरदाश्त करना। **नकतोड़े तोड़ना** = बहुत अधिक और अनुचित नखरा करना।

नकद–संज्ञा पुं० [अ०] तैयार रुपया। रुपया पैसा। धन जो सिक्कों के रूप में हो। जैसे, उनके पास नकद बहुत है।

वि० (१) (रुपया) जो तैयार हो। (धन) जो तुरंत काम में लाया जा सके। प्रस्तुत (द्रव्य)। जैसे, हम नकद रुपया लेंगे कोई चीज़ नहीं लेंगे। (२) खास। उ०—हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के।—हरिश्चंद्र। (२) दे० "नगद"।

क्रि० वि० तुरंत दिए हुए रुपए के बदले में। तुरंत रुपया-पैसा देकर या लेकर। 'उधार' का उलटा। जैसे, हमने सब माल नकद लिया है या बेचा है।

नकदावा–संज्ञा पुं० [?] चने या मटर की दाल के साथ पकाई हुई बरी या कुम्हड़ौरी।

नकदी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रोकड़। धन। रुपया पैसा। सिक्का। (२) जमई। वह भूमि जिसका लगान नकद, रुपयों में लिया जाय।

नकना*†–क्रि० सं० [हिं० नाकना] (१) उल्लंघन करना लाँघना। डांकना। फाँदना। उ०—(क) औरहु विविध जाति के बाजी नकत पवन की तेजी।—रघुराज। (ख) धारी नकी गिरिन की ठाढ़ी। देखी तहाँ भीमरा बाढ़ी।—लाल। (२) चलना। उ०—मारहू ते सुकुमार नंद के कुमार ताहि आए री मनावन सयान सब नकि कै।—केशव। (३) त्यागना। छोड़ना। तजना।

क्रि० अ० [हिं० नकियाना] नाक में दम होना। हैरान होना।

क्रि० स० नाक में दम करना।

नकपोड़ा†–संज्ञा० पुं० दे० "नाक"।

नकफूल–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + फूल] नाक में पहनने का लौंग या कील। उ०—तन सुख सारी लाही अँगिया अतलस अँतरौटा छबि चारि चारि चूरी पहुँचीनि पहुँची झमकि बनी नकफूल जेब मुख वारि चौका कौंधैं संभ्रम भूली।—स्वामी हरिदास।

नकब–संज्ञा स्त्री० [अ०] चोरी करने के लिये दीवार में किया हुआ वह बड़ा छेद जिसमें से होकर चोर किसी कमरे या कोठरी आदि में घुसता है। सेंध।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

नक़बज़न–संज्ञा पुं० [अ० नक़ब + फा० ज़न] वह जो चोरी करने के लिये दीवार में छेद करे। सेंध लगानेवाला।

नक़बज़नी–संज्ञा स्त्री० [अ० नक़ब + फा० ज़नी] सेंध लगाने की क्रिया।

नकबानी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक + बानी ?] नाक में दम। हैरानी। उ०—जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी। तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकबानी।—तुलसी।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—होना।

नकबेसर–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक + बेसर] नाक में पहनने की छोटी नथ। बेसर।

नकमोती–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + मोती] नाक में पहनने का मोती जिसे लटकन भी कहते हैं।

नक़ल–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वह जो सच्चा, खरा या असल न हो बल्कि असल को देखकर रूप-रंग आकृति आदि में उसी के अनुसार बनाया गया हो। वह जो किसी दूसरे के ढंग पर या उसकी तरह तैयार किया गया हो। अनुकृति। कापी। जैसे, (क) वह मकान उस सामनेवाले की नकल है। (ख) इस नकल ने तो असल को भी मात कर

दिया । (२) एक के अनुरूप दूसरी वस्तु बनाने का कार्य्य । अनुकरण ।

क्रि० प्र०- उतारना—करना । बनाना ।—होना ।

(३) लेख आदि की अक्षरशः प्रतिलिपि । कापी । जैसे, (क) इस शिलालेख की एक नकल हमारे पास भी आई है । (ख) इस दस्तावेज की नकल करा लो तो बड़ा काम हो ।

क्रि० प्र०—उतरना ।—उतारना ।—करना ।—होना ।

(४) किसी के वेष, हाव-भाव या बातचीत आदि का पूरा पूरा अनुकरण । स्वांग । जैसे, (क) वह उनकी खूब नकल उतारता है । (ख) कल महफ़िल में भाँड़ों ने नवाब साहब की एक बहुत अच्छी नकल की थी ।

क्रि० प्र०—उतरना ।—उतारना ।—करना ।—बनना ; बनाना ।—होना ।

(५) अद्भुत और हास्यजनक आकृति । जैसे, आज तो आप बिलकुल नकल बनकर आए हैं । (६) हास्य-रस की कोई छोटी मोटी कहानी या बातचीत । चुटकुला ।

नकलनवीस-संज्ञा पुं० [अ० नक़ल+फ़ा० नवीस] वही आदमी, विशेषतः अदालत या दफ्तर आदि का मुहर्रिर जिसका काम केवल दूसरे के लेखों की नकल करना होता है ।

नकलनवीसी-संज्ञा स्त्री० [अ० नकल+फ़ा० नवीस] (१) नकलनवीस का काम । (२) नकलनवीस का पद ।

नकलनोर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया जिसे मुनिया भी कहते हैं । विशेष —दे० "मुनिया" ।

नकलपरवाना-संज्ञा पुं० [अ० नकल+फ़ा० परवाना] पत्नी का भाई । साला । (हास्य) ।

नकलबही—संज्ञा स्त्री० [हिं० नकल+बही] दफ्तरों या दूकानों आदि की वह बही या कापी आदि जिसमें भेजी जानेवाली चिट्ठियों की नकल रहती है ।

नकली—वि० [अ०] (१) जो नकल करके बनाया गया हो । जो असली न हो । कृत्रिम । बनावटी । जैसे, नकली हीरा, नकली केसर, नकली घड़ी ।

विशेष—नकली चीज प्रायः निकम्मी और निकृष्ट समझी जाती है और लोगों में इसका आदर नहीं होता ।

(२) जो असली न हो । खोटा । जाली । झूठा । जैसे, नकली दस्तावेज बनाने के अपराध में उसको दो बरस की सजा हो गई ।

नकलेल—संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक] नाव खींचने के लिये गोनरखे में बँधी हुई वह रस्सी जो और सब रस्सियों से आगे रहती है ।

नकलोल†-संज्ञा पुं० दे० "नकलनोर" ।

नकश-संज्ञा पुं० [अ० नक़्श] (१) दे० "नक़्श" । (२) एक प्रकार का जूआ जो दो या अधिक आदमी ताश के पत्तों से खेलते हैं । इसमें सब खिलाड़ियों को पहले एक एक पत्ता बाँट दिया जाता है और तब एक एक खिलाड़ी को अलग अलग उसके माँगने पर और पत्ते दिए जाते हैं । इसमें पत्तों की बूटियों को गिनकर हार जीत होती है ।

विशेष—नकश के यौगिक शब्दों के लिये दे० "नक्श" के यौगिक ।

नकशमार-संज्ञा पुं० [अ० नक्श+हिं० मारना] नकश नामक जूआ जो ताश के पत्तों से खेला जाता है । विशेष—दे० "नकश (२)" ।

नकशा-संज्ञा पुं० दे० "नक़्शा" ।

नकशानवीस-संज्ञा पुं० दे० "नक़्शानवीस" ।

नकशी-वि० दे० "नक़्शी" ।

नकशी मैना-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० नकशी+हिं० मैना] तेलिया नाम की एक प्रकार की मैना ।

नकसमार-संज्ञा पुं० दे० "नकश (२)" ।

नकसा†-संज्ञा पुं० दे० "नक्शा" ।

नकसीर-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक+सं० क्षीर = जल] आप से आप नाक से रक्त बहना जो प्रायः गरमी के दिनों में होता है ।

विशेष—वैद्यक में इसे रक्तपित्त रोग के अंतर्गत माना है । रक्त-पित्त में मुँह, नाक, आँख, कान, गुदा और योनि या लिंग से रक्त बहता है । यदि यह रक्त अधिक मात्रा में बहे तो मनुष्य थोड़ी ही देर में मर भी सकता है । अधिक आँच या धूप लगने, रास्ता चलने और शोक व्यायाम या मैथुन करने से भिन्न भिन्न मार्गों से रक्त बहने लगता है । स्त्रियों का रज रुक जाने से भी यह रोग हो जाता है । विशेष—दे० "रक्तपित्त" ।

क्रि० प्र०—फूटना ।

मुहा०—नकसीर भी न फूटना = कुछ भी हानि न पहुंचना । जरा भी तकलीफ या नुकसान न होना ।

नकाना॰†-क्रि० अ० [हिं० नकियाना] नाक में दम होना । बहुत परेशान होना । उ०—तहँ आडो इक औवट आयो । दब करि चंपत राय नकायो ।—लाल ।

क्रि० स० [हिं० नकियाना] नाक में दम करना । बहुत परेशान करना ।

नकाब-संज्ञा स्त्री० पुं० [अ०] (१) महीन रंगीन कपड़े या जाली का वह टुकड़ा जो मुँह छिपाने के लिये सिर पर से गले तक डाल लिया जाता है ।

विशेष-इसका व्यवहार प्रायः अरब देश की स्त्रियों में और उनके संसर्ग से युरोप की स्त्रियों में भी होता है । मुसलमानी स्त्रियाँ अपना चेहरा छिपाने के उद्देश्य से इसका

व्यवहार करती हैं, पर युरोपियन स्त्रियां धूल और कीड़ों-पतंगों आदि से बचने तथा शोभा बढ़ाने के लिये करती हैं। प्राचीन काल में कहीं कहीं आवश्यकता पड़ने पर पुरुष भी इसका व्यवहार करते थे।

क्रि० प्र०—उठाना।—डालना।

मुहा०—नकाब उलटना = चेहरे पर से नकाब हटाना।

यौ०—नकाबपोश = जिसके चेहरे पर नकाब हो। जो चेहरे पर नकाब डाले हो।

(२) साड़ी या चादर का वह भाग जिससे स्त्रियों का मुँह ढँका रहता है। घूँघट।

क्रि० प्र०—उठाना।—डालना।

मुहा०—नकाब उलटना = मुंह पर से घूंघट हटाना।

नकार–संज्ञा पुं० [सं] (१) न या नहीं का बोधक शब्द या वाक्य। नहीं। (२) इनकार। अस्वीकृति। (३) "न" अक्षर।

नकारची–संज्ञा० पुं० दे० "नक्कारची"।

नकारना–क्रि० अ० [हिं० नकार + ना (प्रत्य०)] इनकार करना। अस्वीकृत करना।

नकारा‡–वि० [फा० नाकारः] खराब। बुरा। निकम्मा। जो किसी काम का न हो।

संज्ञा पुं० दे० "नक्कारा"।

नकाश–संज्ञा पुं० दे० "नक्काश"।

नकाशना†–क्रि० स० [अ० नक्काशी] किसी पदार्थ पर बेल बूटे आदि बनाना। धातु, पत्थर आदि पर खोदकर चित्र फूल पत्ती आदि बनाना।

नकाशी–संज्ञा स्त्री० दे० "नक्काशी"।

नकाशीदार–वि० [अ० नक्काशी + फा० दार] जिस पर नक्काशी हो। बेल-बूटेदार।

नकास‡–संज्ञा पुं० दे० "नक्काश"।

नकासना–क्रि० स० दे० "नकाशना"।

नकासी–संज्ञा स्त्री० दे० "नक्काशी"।

नकासीदार–वि० "नकाशीदार"।

नकियाना†–क्रि० अ० [हिं० नाक + आना (प्रत्य०)] (१) नाक से बोलना। शब्दों का अनुनासिकवत् उच्चारण करना। (२) नाक में दम आना। बहुत दुखी या हैरान होना। उ०—हाय बुढ़ापा तुम्हरे मारे हम तो अब नकियाय गयन। करत धरत कछु बनतै नाहिं न कहाँ जान अरु कैस करन। प्रतापनारायण।

क्रि० स० नाक में दम करना। बहुत परेशान या तंग करना।

नकीब–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मनुष्य जो राजाओं आदि के आगे उनके तथा उनके पूर्वजों में यश का गान करता हुआ चलता है। चारण। वंदीजन। भाट।

विशेष—बादशाहों या नवाबों के यहाँ के नकीब केवल सवारी के आगे विरुदावली का बखान करते ही नहीं चलते, बल्कि किसी को उपाधि या पद आदि मिलने के समय अथवा किसी बड़े पदाधिकारी के दरबार में आने के पूर्व उसकी घोषणा भी करते हैं।

(२) कड़खा गानेवाला पुरुष। कड़खैत।

नकुच–संज्ञा पुं० [सं०] मदार का पेड़।

नकुट–संज्ञा पुं० [सं०] नाक।

नकुरा‡–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + उरा (प्रत्य०)] नाक। नासिका।

नकुल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेवला नाम का प्रसिद्ध जंतु। विशेष—दे० "नेवला"। (२) पांडु राजा के चौथे पुत्र का नाम जो अश्विनीकुमार द्वारा माद्री के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

विशेष—महाभारत में लिखा है कि जिस समय पांडु शाप के कारण अपनी दोनों स्त्रियों को साथ लेकर वन में रहते थे उस समय जब कुंती को तीन लड़के हुए तब माद्री ने पांडु से पुत्र के लिये कहा था। उस समय कुंती ने माद्री से कहा कि तुम किसी देवता का स्मरण करो। इस पर माद्री ने अश्विनीकुमारों का स्मरण किया जिससे दो बालक हुए। उनमें से बड़े का नाम नकुल और छोटे का सहदेव था। नकुल बहुत ही सुंदर थे और नीति, धर्म्मशास्त्र तथा युद्ध-विद्या में बड़े पारंगत थे। पशुओं की चिकित्सा की विद्या भी इन्हें ज्ञात थी। अज्ञातवास के समय जब पांडव विराट के यहाँ रहते थे तब नकुल का नाम तंत्रिपाल था और ये गौएँ चराने का काम करते थे। युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ किया था तब इन्होंने पश्चिम की ओर जाकर महेत्थ और पंचनद आदि देशों को परास्त किया था, और तदुपरांत द्वारका में दूत भेजकर वासुदेव से भी युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकृत कराई थी। इनका विवाह चेदिराज की कन्या करेणुमती से हुआ था जिसके गर्भ से निरमित्र नामक एक पुत्र भी हुआ था।

(३) बेटा। पुत्र। (४) शिव। महादेव। (५) प्राचीनकाल का एक प्रकार का बाजा।

वि० जिसका कोई कुल न हो। कुलरहित।

संज्ञा० पुं० [अ० नुकल = चाट] वह रस जो दोपहर के समय पुर आदि चलानेवालों को पीने के लिये दिया जाता है।

नकुलकंद–संज्ञा पुं० [सं०] गंधनाकुली वा रास्ना नामक कंद।

नकुलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का गहना। (२) रुपया आदि रखने की एक प्रकार की थैली।

नकुलतैल–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो नेवले के मांस में बहुत सी दूसरी ओषधियाँ मिलाकर

बनाया जाता है। इसका व्यवहार पान, अभ्यंग और वस्तिक्रिया में होता है। वैद्यक के अनुसार इससे आमवात, शरीर के सब अंगों का कंप और कमर, पीठ, जाँघ आदि का वात का दरद दूर होता है।

नकुलांध रोग–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार आँख का एक रोग जिसमें आँखें नेवले की आँखों की तरह चमकने लगती हैं और चीजें रंग बिरंगी दिखाई देने लगती हैं। इस रोग में पित्तवर्द्धक पदार्थों का सेवन करना मना है।

नकुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती।

†संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नकुलाढ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधनाकुली। नकुलकंद।

नकुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी। (२) केसर। (३) शंखिनी। (४) नेवले की मादा।

नकुलीश, नकुलेश-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के एक भैरव का नाम।

नकुलीश पाशुपतदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] एक दर्शन जिसका उल्लेख सर्वदर्शन-संग्रह में है। इसका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। इसमें शिव ही परमेश्वर और सब प्राणी उनके पशु माने गए हैं। जीवों के अधिपति होने के कारण महादेव पशुपति कहलाते हैं। इस दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की कही गई है—अत्यंत दुःख-निवृत्ति और परमैश्वर्य्य-प्राप्ति दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति के भेद से परमैश्वर्य्य-प्राप्ति भी दो प्रकार की होती है। दृक्शक्ति वा ज्ञान द्वारा पदार्थ ज्ञानपथ में आते हैं और क्रियाशक्ति द्वारा वे संपन्न होते हैं।

नकुलेष्टा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना। रायसन।

नकुलौष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो तारों से बजाया जाता था।

नकुवा†–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + उवा (प्रत्य०)] (१) नाक। (२) तराजू की डंडी का सूराख।

नकेल–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाक + एल (प्रत्य०)] (१) ऊँट की नाक में बँधी हुई रस्सी जो लगाम का काम देती है और जिसके सहारे ऊँट चलाया जाता है। मुहार।

मुहा०–किसी की नकेल हाथ में होना = किसी पर सब प्रकार का अधिकार होना। किसी से बलपूर्वक मनमाना काम करा लेने की शक्ति होना। जैसे, उनकी चिंता मत कीजिए, उनकी नकेल तो हमारे हाथ में है।

(२) भालू की नाक में पहनाई हुई रस्सी।

नक्का–संज्ञा पुं० [हिं० नाक] सूई का वह छेद जिसमें डोरा पहनाया जाता है। सूई में डोरा पिरोने का छेद। नाका।

संज्ञा पुं० (१) ताश के पत्तों में का एक्का। (२) दे० "नक्की" और "नक्कीमूठ"। (३) कौड़ी।

नक्का दूआ–संज्ञा पुं० दे० "नक्कीमूठ"।

नक्कार–संज्ञा पुं० [सं०] अवज्ञा। अपमान। तिरस्कार। अवहेलना।

नक्कारखाना–संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ पर नक्कारा बजता है। नौबत बजने का स्थान। नौबतखाना।

विशेष—ऐसा स्थान प्रायः बड़े बड़े मकानों में बाहर के दरवाजे के ठीक ऊपर बना रहता है।

मुहा०—नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता है = (१) बहुत भीड़ भाड़ या शोर गुल में कही हुई बात नहीं सुनाई पड़ती। (२) बड़े बड़े लोगों के सामने छोटे आदमियों की बात कोई नहीं सुनता।

नक्कारची–संज्ञा पुं० [फा०] नगाड़ा बजानेवाला। वह जो नक्कारा बजाता हो।

नक्कारा–संज्ञा पुं० [फा०] डुगडुगी या बाएँ की तरह का एक बहुत बड़ा बाजा जिसमें एक बहुत बड़े कूँड़े के ऊपर चमड़ा मढ़ा रहता है। इसके साथ में इसी प्रकार का पर इससे बहुत छोटा एक और बाजा होता है। इन दोनों को आमने सामने रखकर लकड़ी के दो डंडों से, जिन्हें चोब कहते हैं, बजाते हैं। नगाड़ा। डंका। नौबत। दुंदुभी।

मुहा०—नक्कारा बजाते फिरना = डुगडुगी पीटते फिरना। चारों ओर प्रकट करते फिरना। नक्कारा बजा के = खुल्लमखुल्ला। डंके की चोट। नक्कारा हो जाना = फूलकर बहुत बढ़ना। बहुत फूलना।

नक्काल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) अनुकरण करनेवाला। नकल करनेवाला। (२) भांड़। (३) बहुरूपिया।

नक्काली–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) नकल करने का काम। नकल करने की क्रिया या विद्या। (२) भाँड़ का काम या विद्या। (३) बहुरूपिए का काम या विद्या।

नक्काश–संज्ञा पुं० [अ०] नक्काशी का कारीगर। वह जो खोदकर बेल बूटे आदि बनाता हो।

नक्काशी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) धातु या पत्थर आदि पर खोदकर बेल-बूटे आदि बनाने का काम या विद्या। (२) वे बेल-बूटे आदि जो इस प्रकार खोदकर बनाए गए हों।

नक्काशीदार– वि० [अ० नक्काशी + फा० दार] जिस पर खोदकर बेल-बूटे बनाए गए हों।

नक्की–संज्ञा स्त्री० [हिं० एक] (१) नक्की-मूठ खेल में "एक" का दाँव (दे० नक्कीमूठ)। (२) ताश के पत्तों में का एक्का। (क्व०)। (३) जूए के किसी खेल में वह दाँव जिसके लिये "एक" का चिह्न नियत हो अथवा जिसकी जीत किसी प्रकार के "एक" चिह्न के आने से हो।

नक्कीपूर—संज्ञा पुं० दे० "नक्कीमूठ"।

नक्कीमूठ—संज्ञा स्त्री० [हिं० नक्की + मूठ = मुट्ठी] जूए का एक खेल जो प्रायः स्त्रियाँ और बालक कौड़ियों से खेलते

हैं। इसमें एक दूसरी को काटती हुई दो सीधी लकीरें खींचते हैं और उनके चारों सिरों में से एक सिरे पर एक बिंदी, दूसरे पर दो, तीसरे पर तीन और चौथे पर चार बिंदियाँ बना दी जाती हैं। इनको क्रमशः नक्की, दूआ, तीया और पूर कहते हैं। इसमें दो से चार तक खिलाड़ी होते हैं जो एक एक दाँव ले लेते हैं। एक खिलाड़ी अपनी मुट्ठी में कुछ कौड़ियाँ लेकर अपने दाँव पर मुट्ठी रख देता है। तब बाकी खिलाड़ी अपने अपने दाँव पर कुछ कौड़ियाँ लगाते हैं। इसके उपरांत वह पहला खिलाड़ी अपनी मुट्ठी की कौड़ियाँ गिनकर चार का भाग देता है। जब भाग देने पर १ कौड़ी बंचे तो नक्कीवाले की, २ बचें तो दूएवाले की, ३ बचें तो तीएवाले की और कुछ भी न बचे तो पूरवाले की जीत होती है। जिसकी जीत होती है दूसरी बार वही मूठ लाता है। यदि मूठ लानेवाले का दाँव आता है तो वह दाँव पर रखी हुई सबकी कौड़ियाँ जीत लेता है, नहीं तो जिसकी जीत होती है उसको उसे उतनी ही कौड़ियाँ देनी पड़ती हैं जितनी उसने दाँव पर लगाई हों। नक्कीपूर।

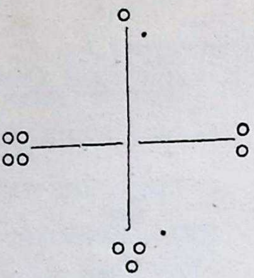

नक्कू—वि०[हिं० नाक] (१) बड़ी नाकवाला। जिसकी नाक बड़ी हो। अपने आपको बहुत प्रतिष्ठित समझनेवाला। जैसे, यह भी बड़े नक्कू बनते हैं (बोलचाल)। (२) जिसके आचरण आदि सब लोगों के आचरण के विपरीत हों। सबसे अलग और उलटा काम करनेवाला, जो प्रायः बुरा समझा जाता है। जैसे, हमें क्या गरज पड़ी है जो हम नक्कू बनने जायँ।

नक्तंचर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुग्गुल। गूगल। (२) राक्षस। (३) चोर। (४) बिल्ली। (५) उल्लू।

वि० रात के समय विचरण करनेवाला।

नक्तंजात–संज्ञा पुं० [सं०] बहुत प्राचीन काल की एक प्रकार की ओषधि जिसका उल्लेख वेदों में है।

नक्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह समय जब कि दिन केवल एक मुहूर्त्त ही रह गया हो। बिलकुल संध्या का समय। (२) रात। (३) एक प्रकार का व्रत जो अगहन महीने के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को किया जाता है। इसमें दिन के समय बिलकुल भोजन नहीं किया जाता; केवल रात को तारे देखकर भोजन किया जाता है। किसी किसी के मत से इस व्रत में ठीक संध्या के समय, जब कि दिन केवल मुहूर्त्त भर रह गया हो, भोजन करना चाहिए। यह व्रत प्रायः यति और विधवाएँ करती हैं। इस व्रत में रात के समय विष्णु की पूजा भी की जाती है। (४) शिव। (५) राजा पृथु के पुत्र का नाम।

वि० लज्जित। जो शरमा गया हो।

नक्तचर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात को घूमनेवाला। (२) महादेव। शिव। (३) राक्षस। (४) उल्लू।

नक्तचारी–संज्ञा पुं० [सं० नक्तचारिन्] (१) बिल्ली। (२) उल्लू।

वि० रात के समय विचरण करनेवाला।

नक्तभोजी–वि० [सं० नक्तभोजिन्] (१) रात को भोजन करनेवाला। (२) नक्त नामक व्रत करनेवाला।

नक्तमाल–संज्ञा पुं० [सं०] करंज वृक्ष। कंजे का पेड़।

नक्तमुखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

नक्तव्रत–संज्ञ पुं० दे० "नक्त (२)"।

नक्तांध–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसे रात को दिखाई न दे। वह जिसे रतौंधी होती हो।

नक्तांध्य–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का वह रोग जिसमें रात के समय कुछ भी दिखाई नहीं देता। रतौंधी।

नक्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कलियारी नामक विषैला पौधा। (२) हलदी। (३) रात।

नक्ताह––संज्ञा पुं० [सं०] करंज वृक्ष। कंजा।

नक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

नक्द–संज्ञा पुं० दे० "नकद"।

नक्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाक नामक जल-जंतु। (२) मगर नामक जल-जंतु। (३) घड़ियाल या कुंभीर नामक जल-जंतु। (४) नाक।

नक्रराज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घड़ियाल। (२) मगर। (३) नाक नामक जल-जंतु।

नक्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाक। नासिका।

नक्ल—संज्ञा स्त्री० दे० "नकल"।

नक्लनवीस–संज्ञा पुं० दे० "नकलनवीस"।

नक्लनवीसी–संज्ञा स्त्री० दे० "नकलनवीसी"।

नक्ल परवाना–संज्ञा पुं० दे० "नकल परवाना"।

नक्ल बही–संज्ञा स्त्री० पुं० दे० "नकल बही"।

नक्श-वि० [अ०] जो अंकित या चित्रित किया गया हो। खींचा, बनाया या लिखा हुआ।

मुहा०—**मन में नक्श करना या कराना** = किसी के मन में कोई बात अच्छी तरह बैठना या बैठाना। किसी बात का निश्चय करना या कराना। जैसे, हमने यह बात उनके मन में नक्श करा दी है। **नक्श होना** = किसी बात का अच्छी तरह मन में जम जाना। पूर्ण निश्चय हो जाना।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) तसवीर। चित्र। (२) खोदकर या कलम से बनाया हुआ बेल-बूटे या फूल-पत्ती आदि का काम।

यौ०—नक्श-निगार।

(३) मोहर। छाप।

मुहा०—**नक्श बैठाना** = अच्छी तरह अधिकार जमाना। रंग जमाना। **नक्श बैठना** = अधिकार जमना। रंग जमना। **नक्श बिगड़ना** = अधिकार या प्रभाव न रह जाना। रंग उखड़ना।

(४) सारणी या कोष्टक के रूप में बना हुआ यंत्र जो अनेक प्रकार के रोगों आदि को दूर करने के लिये कागज, भोजपत्र आदि पर लिखकर बांह या गले आदि में पहनाया जाता है। तावीज। (५) जादू। टोना। (६) एक प्रकार का गाना जो प्रायः कव्वाल गाया करते हैं। (७) एक प्रकार का ताश का जूआ। दे० "नकश (२)"।

नक्शनिगार-संज्ञा पुं० [फा० नक्श व निगार] बनाए हुए बेल-बूटे आदि। नकाशी।

नक्शमार-संज्ञा पुं० दे० "नकशमार"।

नक्शा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चित्र। प्रतिमूर्ति। तसवीर। रेखाओं द्वारा आकार आदि का निर्देश।

क्रि० प्र०—उतारना।—खींचना।—बनाना।

मुहा०—(**आंखों के सामने**) **नक्शा खिंच जाना** = किसी के सामने न रहने पर भी उसके रूप रंग आदि का ठीक ठीक ध्यान हो जाना।

(२) बनावट। आकृति। शक्ल। ढांचा। गढ़न। जैसे, उनका रंग चाहे जैसा हो, पर नक्शा अच्छा है। (३) किसी पदार्थ का स्वरूप। आकृति। जैसे, तुमने छः महीने में ही इस मकान का सारा नक्शा बिगाड़ दिया। (४) चाल ढाल। तरज। ढंग। (५) अवस्था। दशा। हाल। जैसे, (क) आजकल उनका कुछ और ही नक्शा है। (ख) एक ही मुकदमे ने उनका सारा नक्शा बिगाड़ दिया। (६) ढांचा। ठप्पा।

मुहा०—**नक्शा जमना** = बहुत अधिक प्रभाव होना। खूब चलती होना। जैसे, आज कल शहर के रईसों में उनका नक्शा भी खूब जमा हुआ है। **नक्शा जमाना** = खूब प्रभाव डालना। रंग बांधना। **नक्शा तेज होना** = दे० "नक्शा जमना"।

(७) किसी धरातल पर बना हुआ वह चित्र जिसमें पृथिवी या खगोल का कोई भाग अपनी स्थिति के अनुसार अथवा और किसी विचार से चित्रित हो।

विशेष—साधारणतः पृथिवी या उसके किसी भाग का जो नक्शा होता है उसमें यथास्थान देश, प्रदेश, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, झीलें और नगर आदि दिखलाए जाते हैं। कभी कभी इस बात का ज्ञान कराने के लिये कि अमुक देश में कितना पानी बरसता है, या कौन कौन से अन्नादि उत्पन्न होते हैं अथवा इसी प्रकार की किसी और बात के लिये नक्शे में भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रंग भी भर दिए जाते हैं। कभी कभी ऐसे नक्शे भी बनाए जाते हैं जिनमें केवल रेल-लाइनें, नहरें अथवा इसी प्रकार की और और चीजें दिखलाई जाती हैं। महाद्वीपों आदि के अतिरिक्त छोटे छोटे प्रदेशों और यहां तक कि जिलों, तहसीलों और गाँवों तक के नक्शे भी बनते हैं। शहरों या गाँवों आदि के भिन्न भिन्न भागों के ऐसे नक्शे भी बनते हैं जिनमें यह दिखलाया जाता है कि किस गली या किस सड़क पर कौन कौन से मकान, खँड़हर, अस्तबल या कूएँ आदि हैं। इसी प्रकार खेतों और जमीनों आदि के भी नक्शे होते हैं जिनसे यह जाना जाता है कि कौन सा खेत कहाँ है और उसकी आकृति कैसी है। खगोल के चित्रों में इसी प्रकार यह दिखलाया जाता है कि कौनसा तारा किस स्थान पर है।

क्रि० प्र०—खींचना।—बनाना।

नक्शानवीस-संज्ञा पुं० [अ० नक्शा + फा० नवीस] किसी प्रकार का नक्शा लिखने या बनानेवाला।

नक्शानवीसी-संज्ञा स्त्री० [अ० नक्शा + फा० नवीसी] नक्शा बनाने का काम।

नक्शी-वि० [अ० नक्श + ई (प्रत्य०)] जिस पर बेल-बूटे बने हों।

नक्षत्र-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा के पथ में पड़नेवाले तारों का वह समूह या गुच्छ जिसका पहचान के लिये आकार निर्दिष्ट करके कोई नाम रखा गया हो।

विशेष—इन तारों को ग्रहों से भिन्न समझना चाहिए जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं और हमारे इस सौर जगत् के अंतर्गत हैं। ये तारे हमारे सौर जगत् के भीतर नहीं हैं। ये सूर्य से बहुत दूर हैं और सूर्य की परिक्रमा न करने के कारण स्थिर जान पड़ते हैं—अर्थात् एक तारा दूसरे तारे से जिस ओर और जितनी दूर आज देखा जायगा उसी ओर और उतनी ही दूर पर सदा देखा जायगा। इस प्रकार ऐसे दो चार पास पास रहनेवाले तारों की परस्पर स्थिति का ध्यान एक बार कर लेने से हम उन सबको दूसरी बार देखने से पहचान सकते हैं। पहचान के लिये यदि हम उन सब तारों के मिलने से जो आकार बने उसे निर्दिष्ट करके समूचे तारक-पुंज का कोई नाम रख लें तो और भी सुभीता होगा। नक्षत्रों का विभाग इसी लिये और इसी प्रकार किया गया है।

चंद्रमा २७-२८ दिनों में पृथ्वी के चारों ओर घूम आता है। खगोल में यह भ्रमण-पथ इन्हीं तारों के बीच से होकर गया हुआ जान पड़ता है। इसी पथ में पड़नेवाले तारों के अलग अलग दल बाँधकर एक एक तारक-पुंज का नाम नक्षत्र रखा गया है। इस रीति से सारा पथ इन २७ नक्षत्रों में विभक्त होकर नक्षत्रचक्र कहलाता है। नीचे तारों की संख्या और आकृति सहित २७ नक्षत्रों के नाम दिए जाते हैं-

नक्षत्र	तारा-संख्या	आकृति और पहचान
अश्विनी	३	घोड़ा
भरणी	३	त्रिकोण
कृत्तिका	६	अग्निशिखा
रोहिणी	५	गाड़ी
मृगशिरा	३	हरिण-मस्तक वा विडाल-पद
आर्द्रा	१	उज्ज्वल
पुनर्वसु	५ या ६	धनुष वा घर
पुष्य	१ वा ३	माणिक्य वर्ण
अश्लेषा	५	कुत्ते की पूँछ वा कुलालचक्र
मघा	५	हल
पूर्वाफाल्गुनी	२	खट्वाकार×उत्तर-दक्षिण
उत्तराफाल्गुनी	२	शय्याकार×उत्तर-दक्षिण
हस्त	५	हाथ का पंजा
चित्रा	१	मुक्तावत् उज्ज्वल
स्वाती	१	कुंकुम वर्ण
विशाखा	५ व ६	तोरण या माला
अनुराधा	७	सूप या जलधारा
ज्येष्ठा	३	सर्प या कुंडल
मूल	९ या ११	शंख, या सिंह की पूँछ
पूर्वाषाढा	४	सूप, या हाथी का दाँत
उत्तराषाढा	४	सूप
श्रवण	३	बाण या त्रिशूल
धनिष्ठा	५	मर्दल बाजा
शतभिषा	१००	मंडलाकार
पूर्वभाद्रपद	२	भारवत या घंटाकार
उत्तरभाद्रपद	२	दो मस्तक
रेवती	३२	मछली या मृदंग

इन २७ नक्षत्रों के अतिरिक्त अभिजित नाम का एक और नक्षत्र पहले माना जाता था पर वह पूर्वाषाढ़ा के भीतर ही आ जाता है, इससे अब २७ ही नक्षत्र गिने जाते हैं।

इन्हीं नक्षत्रों के नाम पर महीनों के नाम रखे गए हैं। जिस महीने की पूर्णिमा को चंद्रमा जिस नक्षत्र पर रहेगा उस महीने का नाम उसी नक्षत्र के अनुसार होगा, जैसे कार्त्तिक की पूर्णिमा को चंद्रमा कृत्तिका वा रोहिणी नक्षत्र पर रहेगा, अग्रहायण की पूर्णिमा को मृगशिरा वा आर्द्रा पर; इसी प्रकार और समझिए।

जिस प्रकार चंद्रमा के पथ का विभाग किया गया है उसी प्रकार उस पथ का विभाग भी हुआ है जिसे सूर्य १२ महीनों में पूरा करता हुआ जान पड़ता है। इस पथ के १२ विभाग किए गए हैं जिन्हें राशि कहते हैं। जिन तारों के बीच से होकर चंद्रमा घूमता है उन्हीं पर से होकर सूय भी गमन करता हुआ जान पड़ता है; खचक्र एक ही है, विभाग में अंतर है। राशिचक्र के विभाग बड़े हैं जिनमें से किसी किसी के अंतर्गत तीन तीन नक्षत्र तक आ जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह राशि-विभाग पहले पहल मिस्रवालों ने किया जिसे यवन लोगों (यूनानियों) ने लेकर और और स्थानों में फैलाया।

पश्चिमी ज्योतिषियों ने जब देखा कि बारह राशियों से सारे अंतरिक्ष के तारों और नक्षत्रों का निर्देश नहीं होता है तब उन्होंने और बहुत सी राशियों के नाम रखे, इस प्रकार राशियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई। पर भारतीय ज्योतिषियों ने खगोल के उत्तर और दक्षिण खंड में जो तारे हैं उन्हें नक्षत्रों में बाँधकर निर्दिष्ट नहीं किया।

नक्षत्र या तारे ग्रहों की तरह छोटे छोटे पिंड नहीं हैं, वे बड़े बड़े सूर्य हैं जो हमारे इस सूर्य से बहुत दूरी पर हैं। इनकी संख्या अपरिमित है। वर्त्तमान काल के युरोपीय ज्योतिषियों ने बड़ी बड़ी दूरबीनों आदि की सहायता से खगोल का बहुत अनुसंधान किया है। उन्होंने तारों का वार्षिक लंबन (किसी नक्षत्र से एक रेखा सूर्य तक और दूसरी पृथ्वी तक खींचने से जो कोण बनता है उसे उस नक्षत्र का लंबन कहते हैं) निकालकर उनकी दूरी निश्चित करने में बड़ा उद्योग किया है। यदि किसी नक्षत्र का यह कोण एक सेकंड है तो समझना चाहिए कि उसकी दूरी सूर्य की दूरी की अपेक्षा २०६०० गुनी अधिक है। कोई नक्षत्र कम दूरी पर हैं, कोई अधिक; जैसे स्वाती, धनिष्ठा और श्रवण नक्षत्र रविमार्ग से बहुत दूर हैं और रोहिणी पुष्य और चित्रा उनकी अपेक्षा निकट हैं। जो तारे औरों की अपेक्षा निकट हैं उनके प्रकाश को पृथ्वी तक पहुँचने में तीन साढ़े तीन वर्ष लग जाते हैं, दूरवालों का प्रकाश तीन तीन चार चार सौ वर्ष में पहुँचता है। प्रकाश की गति एक सेकंड में १८६००० मील ठहराई गई है। इसी से इनकी दूरी का अंदाजा हो सकता है।

नक्षत्रकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] अथर्व वेद का एक परिशिष्ट जिसमें चंद्रमा की स्थिति आदि का वर्णन है।

नक्षत्रकांति-विस्तार—संज्ञा पुं० [सं०] सफेद ज्वार।

नक्षत्रगण—संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट नक्षत्रों का अलग अलग समूह या गण।

विशेष—बृहत्संहिता में लिखा है कि रोहिणी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपद और उत्तरफाल्गुनी इन चारों नक्षत्रों को ध्रुवगण कहते हैं। ध्रुवगण में अभिचक्र, शांति, वृक्ष, नगर, धर्म्म, बीज और ध्रुव कार्य्य का आरंभ करना उचित है। मूल, आर्द्रा, ज्येष्ठा और आश्लेषा के स्वामी तीक्ष्ण हैं इसलिये इनके समूह को तीक्ष्णगण कहते हैं; इनमें अभि-

घात, मंत्रसाधन, वेताल, बंध, वध और भेद संबंधी कार्य्य सिद्ध होते हैं। पूर्वाषाढा, पूर्वफाल्गुनी, पूर्वभाद्रपद, भरणी और मघा ये पाँचों नक्षत्र उग्रगण कहलाते हैं, उजाड़ने, नष्ट करने, शठता करने, बंधन, विष, दहन और शस्त्राघात आदि की सिद्धि के लिये इस गण के नक्षत्र बहुत उपयुक्त हैं। हस्त, अश्विनी और पुष्य के समूह को लघुगण कहते हैं, इसमें पुण्य, रति, ज्ञान, भूषण, कला, शिल्प आदि के कार्य्य की सिद्धि होती है। अनुराधा, चित्रा, मृगशिरा और रेवती को मृदुगण कहते हैं और ये वस्त्र, भूषण, मंगल, गीत और मित्र आदि के संबंध में हितकारी और उपयुक्त हैं। विशाखा और कृत्तिका को मृदुतीक्ष्ण गण कहते हैं, इनका फल मृदु और तीक्ष्ण गणों के फल का मिश्रण होता है। श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पुनर्वसु और स्वाति ये पाँचों "चरगण" कहलाते हैं, और इनमें चरकर्म्म हितकारी होता है।

नक्षत्रचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों के अनेक चक्रों में से एक जिसके अनुसार दीक्षा के समय नक्षत्रों आदि के विचार से गुरु यह निश्चय करता है कि शिष्य को कौन सा मंत्र दिया जाय। (२) राशि-चक्र।

नक्षत्रचिंतामणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कल्पित रत्न जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उससे जो कुछ माँगा जाय वह मिलता है।

नक्षत्रदर्शी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो नक्षत्र देखता हो। (२) ज्योतिषी।

नक्षत्रदान-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भिन्न भिन्न नक्षत्रों में भिन्न भिन्न पदार्थों का दान। जैसे, रोहिणी नक्षत्र में घी, दूध और रत्न, मृगशिरा नक्षत्र में बछड़े सहित गौ, आर्द्रा में खिचड़ी, हस्त में हाथी और रथ, अनुराधा में उत्तरीय सहित वस्त्र, पूर्वाषाढा में बरतन समेत दही और साना हुआ सत्तू, रेवती में काँसा, उत्तराभाद्रपद में मांस आदि। इस प्रकार के दान से बहुत अधिक पुण्य होता और स्वर्ग मिलता है।

नक्षत्रनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

विशेष—पुराणानुसार दक्ष की अश्विनी आदि सत्ताईस (नक्षत्रों) कन्याओं का विवाह चंद्रमा के साथ हुआ था, इसी लिये चंद्रमा को नक्षत्रनाथ कहते हैं।

नक्षत्रप-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

नक्षत्रपति-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

नक्षत्रपथ-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों के चलने का मार्ग।

नक्षत्रपदयोग-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार एक प्रकार का योग जो उस समय होता है जब कि सूर्य जन्म-राशि से छठे स्थान में अथवा मेष राशि में हो और चंद्रमा वृष राशि में हो। कहते हैं कि इस योग में यदि राजा युद्ध के लिये यात्रा करे तो वह अपने शत्रु को उसी प्रकार परास्त कर सकता है जिस प्रकार हवा बादलों को उड़ा देती है।

नक्षत्रपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] एक कल्पित पुरुष जिसकी कल्पना भिन्न भिन्न नक्षत्रों को उसके भिन्न भिन्न अंग मानकर की जाती है। बृहत्संहिता में लिखा है कि मूल नक्षत्र को नक्षत्रपुरुष के पाँव, रोहिणी और अश्विनी को जाँघ, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा को उरु, उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी को गुह्य, कृत्तिका को कमर, उत्तरा-भाद्रपदा और पूर्वा-भाद्रपदा को पार्श्व, रेवती को कोख, अनुराधा को छाती, धनिष्ठा को पीठ, विशाखा को बाँह, हस्त को कर, पुनर्वसु को उँगलियाँ, अश्लेषा को नाखून, ज्येष्ठा को गरदन, श्रवण को कान, पुष्य को मुख, स्वाति को दाँत, शतभिषा को हास्य, मघा को नाक, मृगशिरा को आँख, चित्रा को ललाट, भरणी को सिर और आर्द्रा को बाल मानकर नक्षत्रपुरुष की कल्पना करनी चाहिए। वामन पुराण के अनुसार इसका व्रत सुंदरता प्राप्त करने के उद्देश्य से चैत के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को, जब चंद्रमा मूल-नक्षत्र-युक्त हो, किया जाता है। व्रत के दिन विष्णु और नक्षत्रों की पूजा करके दिन भर उपवास करना चाहिए। नक्षत्र-पुरुष के पैरोंवाले नक्षत्र से आरंभ करके प्रतिमास हर एक अंग के नक्षत्र के नाम से भी व्रत करने का विधान है।

नक्षत्रमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह हार जिसमें सत्ताइस मोती हों।

नक्षत्रयाजक-संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्राह्मण जो ग्रहों और नक्षत्रों आदि के दोषों की शांति कराता हो। महाभारत के अनुसार ऐसा ब्राह्मण निकृष्ट और प्रायः चांडाल के समान होता है।

नक्षत्रयोग-संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों के साथ ग्रहों का योग।

नक्षत्रयोनि--संज्ञा पुं० [सं०] वह नक्षत्र जो विवाह के लिये निषिद्ध हो।

नक्षत्रराज--संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों के स्वामी, चंद्रमा।

नक्षत्रलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह लोक जिसमें नक्षत्र हैं। यह लोक चंद्रलोक से ऊपर माना जाता है। काशीखंड में लिखा है कि जब दक्ष-कन्या नक्षत्रों ने महादेव के लिये कठिन तपस्या की थी तब उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें ज्योतिषचक्र में चंद्रलोक से ऊपर एक स्वतंत्र लोक में रहने का वर दिया था।

नक्षत्रवीथि-संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में गति के अनुसार तीन तीन नक्षत्रों के बीच का कल्पित मार्ग।

विशेष—बृहत्संहिता के अनुसार तीन तीन नक्षत्रों में एक वीथि होती है। स्वाति, भरणी और कृत्तिका में नागवीथि

होती है; रोहिणी, मृगशिरा और आर्द्रा में गजवीथि; पुनर्वसु, पुष्य और अश्लेषा में ऐरावत; मघा, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी में वृषभ; अश्विनी, रेवती और पूर्वा-उत्तरा भाद्रपद में गोवीथि; श्रवण, धनिष्ठा और शतभिषा में जरद्गववीथि, अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल में मृगवीथि; हस्त, विशाखा और चित्रा में अजावीथि, तथा पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा में दहनावीथि। इस प्रकार २७ नक्षत्रों में ९ वीथियाँ होने पर प्रत्येक वीथि तीन बार होती है। अतः इनमें तीन तीन वीथियाँ सूर्यमार्ग के उत्तर, मध्य और दक्षिण होती हैं। फिर इनमें से भी प्रत्येक यथाक्रम उत्तर, मध्य और दक्षिण होती हैं—जैसे, तीन नागवीथियाँ हैं. उनमें से प्रथम उत्तरमार्गस्था, दूसरी मध्यस्था और तीसरी दक्षिणमार्गस्था हुई। इन वीथियों का विचार फलित में होता है—जैसे, शुक्र जिस समय उत्तरवीथि में होकर उदित वा अस्त होता है उस समय सुभिक्ष और मंगल होता है, मध्यवीथि में होने से मध्यफल और दक्षिणवीथि में होने से मंदफल होता है।

नक्षत्रवृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] तारा टूटना। उल्कापात होना।

नक्षत्रव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में वह चक्र जिसमें यह दिखलाया जाता है कि किन किन पदार्थों और जातियों आदि का स्वामी कौन नक्षत्र है।

विशेष—बृहत्संहिता के १५वें अध्याय में लिखा है–सफेद फूल, अग्निहोत्री, मंत्र जाननेवाले, सूत्र की भाषा जाननेवाले, खान में काम करनेवाले, हज्जाम, द्विज, कुम्हार, पुरोहित और वर्षफल जाननेवाले कृत्तिका नक्षत्र के अधीन हैं। सुव्रत, पुण्य, राजा, धनी, योगी, शाकटिक, गौ, बैल, जलचर, किसान और पर्वत रोहिणी के अधिकार में हैं। पद्म, कुसुम, फल, रत्न, वनचर, पक्षी, मृग, यज्ञ में सोमपान करनेवाले, गंधर्व, कामी और पत्रवाहक मृगशिरा के अधिकार में हैं। वध, बंध, परदार-हरण, शठता और भेद करानेवाले और मोहन, मारण, उच्चाटन आदि करनेवाले आर्द्रा के अधिकार में हैं। इसी प्रकार और भी भिन्न भिन्न पदार्थों आदि के संबंध में यह बतलाया गया है कि वे किस नक्षत्र के अधिकार में हैं।

नक्षत्रव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह व्रत जो किसी विशिष्ट नक्षत्र के उद्देश्य से किया जाता है। जिस नक्षत्र के उद्देश्य से व्रत किया जाता है, व्रत के दिन उस नक्षत्र के स्वामी देवता का पूजन भी किया जाता है।

नक्षत्रशूल–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में काल का वह वास जो किसी विशिष्ट दिशा में कुछ विशिष्ट नक्षत्रों के होने के कारण माना जाता है।

विशेष—यदि पूर्व दिशा में श्रवण या ज्येष्ठा, दक्षिण में अश्विनी या उत्तराभाद्रपद, पश्चिम में रोहिणी या पुष्य और उत्तर में उत्तर-फाल्गुनी या हस्त नक्षत्र हों तो उस दिशा में, यात्रा आदि के लिये, नक्षत्रशूल माना जाता है।

नक्षत्रसंधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा आदि ग्रहों का पूर्व नक्षत्र मास में से उत्तर नक्षत्र में संक्रमण।

नक्षत्रसत्र–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक विशेष प्रकार का यज्ञ जो नक्षत्रों के निमित्त किया जाता है। यह यज्ञ नक्षत्रमास के अनुसार होता है।

नक्षत्रसाधक–संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

नक्षत्रसाधन–संज्ञा पुं० [सं०] वह गणना जिसके अनुसार यह जाना जाता है कि किस नक्षत्र पर कौन सा ग्रह कितने समय तक रहता है।

नक्षत्रसूचक– संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्योतिषी जो स्वयं भारी गणना आदि न कर सकता हो, केवल दूसरों के मत के अनुसार ज्योतिष संबंधी साधारण काम करता हो।

नक्षत्रसूची–संज्ञा पुं० दे० "नक्षत्रसूचक"।

नक्षत्रामृत–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में यात्रा आदि कार्यों के लिये एक बहुत ही उत्तम योग जो किसी विशिष्ट दिन में कुछ विशिष्ट नक्षत्रों के होने पर माना जाता है। जैसे, रविवार को हस्त, पुष्य, रोहिणी, या मूल आदि नक्षत्रों का होना, सोमवार को श्रवण, धनिष्ठा, रोहिणी, मृगशिरा; अश्विनी या हस्त आदि का होना, मंगलवार को रेवती, पुष्य, आश्लेषा, कृत्तिका या स्वाती आदि का होना; आदि आदि। ऐसे योग में व्यतीपात आदि के दोषों का नाश हो जाता है।

नक्षत्रिद–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक देवता जिनका नक्षत्रों में रहना माना जाता है।

नक्षत्री–संज्ञा पुं० [नक्षत्रिन्] (१) चंद्रमा। (२) विष्णु। वि० [सं० नक्षत्र + इ (प्रत्य०)] जिसका जन्म अच्छे नक्षत्र में हुआ हो। भाग्यवान्। खुशकिस्मत।

नक्षत्रेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

नक्षत्रेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

नक्षत्रेष्टि--संज्ञा पुं० [सं०] वह यज्ञ जो नक्षत्रों के उद्देश्य से किया जाय।

नख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ या पैर का नाखून।

विशेष—दे० "नाखून"।

पर्या०—पुनर्भव। कररुह। नखर। कामांकुश। करज। पाणिज। कराग्रज। करकंटक। स्मरांकुश। रतिपथ। करचंद्र। करांकुश।

(२) एक प्रसिद्ध गंधद्रव्य जो सीप या घोंघे आदि की जाति के एक प्रकार के जानवर के मुँह का ऊपरी आवरण या ढकना होता है। इसका आकार नाखून के समान चंद्राकार या कभी कभी बिलकुल गोल भी होता है। यह

छोटा, बड़ा, सफेद, नीला कई प्रकार और रंग का होता है; जिनमें से छोटा और सफेद रंग का अच्छा माना जाता है। छोटे को वैद्यक ग्रंथों में क्षुद्रनखी और बड़े को शंखनखी, व्याघ्रनखी, बृहन्नखी कहते हैं। किसी किसी का आकार घोड़े के सुम या हाथी के कान के समान भी होता है। इसे जलाने से बदबू निकलती है, पर तेल में डालने से खुशबू निकलती है। इसका व्यवहार दवा के लिये होता है। वैद्यक के अनुसार यह हलका, गरम, स्वादिष्ट, शुक्रवर्द्धक और व्रण, विष, श्लेष्मा, वात, ज्वर, कुष्ट और मुख की दुर्गंध दूर करनेवाला है। (३) खंड। टुकड़ा।

संज्ञा स्त्री० [फा० नख] (१) एक प्रकार का बटा हुआ महीन रेशमी तागा जिससे गुड्डी उड़ाते और कपड़ा सीते हैं। (२) गुड्डी उड़ाने के लिये वह पतला तागा जिस पर माँझा दिया जाता है। डोर।

नखकर्त्तनि–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाखून काटने का औजार। नहरनी।

नखकुट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] हज्जाम। नाई।

नखक्षत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दाग या चिह्न जो नाखून के गड़ने के कारण बना हो। (२) स्त्री के शरीर पर का, विशेषतः स्तन आदि पर का, वह चिह्न जो पुरुष के मर्द्दन आदि के कारण उसके नाखूनों से बन जाता है।

नखखादी–संज्ञा पुं० [सं० नखखादिन्] वह जो दाँतों से अपने नाखून कुतरता हो। मनु के अनुसार ऐसे मनुष्य का बहुत जल्दी नाश हो जाता है।

नखगुच्छफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की सेम।

नखचारी–संज्ञा पुं० [सं० नखचारिन्] पंजे के बल चलनेवाला जीव।

नखच्छत*†–संज्ञा पुं० दे० "नखक्षत"।

नखछोलिया*†–संज्ञा पुं० दे० "नखक्षत"।

नखजाह–संज्ञा पुं० [सं०] नाखून का अगला भाग।

नखत*†–संज्ञा पुं० दे० "नक्षत्र"।

नखतर*‡–संज्ञा पुं० दे० "नक्षत्र"।

नखतराज*–संज्ञा पुं० [सं० नक्षत्रराज] चंद्रमा।

नखतराय–संज्ञा पुं० दे० "नखतराज"।

नखता–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया जो भारत के सिवा और कहीं नहीं होती। यह बरसात के आरंभ में दिन भर उड़ा करती है और भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न भिन्न स्थानों पर रहती है। यह कीड़े-मकोड़े और फल आदि खाती है और पाली भी जा सकती है।

नखना–क्रि० अ० [हिं० नाखना] उल्लंघन होना। डाँका जाना। क्रि० स० उल्लंघन करना। पार करना। उ०—मानहि मान ते मानिन केशव मानस ते कुछ मान टरैगो। मान है री सु जु मानै नहीं परिमान नखे अभिमान भरैगो।—केशव।

क्रि० स० [सं० नष्ट] नष्ट करना। उ०—जौ लौं इह तन प्रान पठान न रक्खिहैं। मऊ फरक्काबाद खोदि कै नक्खिहैं।—सूदन।

नखदारण–संज्ञा पुं० [सं०] नहरनी।

नखनिष्पाव–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की सेम।

नखपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिछुवा घास।

नखपुंजफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद सेम।

नखपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृक्का या असवरग नाम का गंधद्रव्य।

नखपूर्विका—संज्ञा स्त्री० [सं०] हरी सेम।

नखमुच–संज्ञा पुं० [सं०] चिरौंजी का पेड़।

नखरंजनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नहरनी।

नखर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नख। नाखून। (२) प्राचीन-काल का एक अस्त्र।

नखरा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह चुलबुलापन, चेष्टा या चंचलता आदि जो ज़वानी की उमंग में अथवा प्रिय को रिझाने के लिये की जाती है। चोचला। नाज। हाव-भाव। जैसे, उसे बहुत नखरा आता है।

यौ०–नखरातिल्ला। नखरेबाज।

क्रि० प्र०—करना।—दिखाना।—निकालना।

मुहा०—नखरा बघारना = नखरा करना।

(२) साधारण चंचलता या चुलबुलापन। बनावटी चेष्टा। (३) बनावटी इनकार। जैसे, (क) जब कहीं चलने का काम होता है तब तुम एक न एक नखरा निकाल बैठते हो। (ख) ये सब इनके नखरे हैं, ये करेंगे वही जो तुम कहोगे।

नखरा-तिल्ला–संज्ञा पुं०[फा० नखरा + हिं० तिल्ला (अनु०)] नखरा। चोचला। नाज़।

नखरायुध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेर। (२) चीता। (३) कुत्ता।

नखराह्व—संज्ञा पुं० [सं०] कनेर का पेड़।

नखरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नख नाम का गंधद्रव्य।

नखरीला†–वि० [फा० नखरा + ईला (प्रत्य०)] चोचलेबाज। नखरा करनेवाला।

नखरेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नखक्षत। नाखून का दाग। (२) कश्यप ऋषि की एक पत्नी जो बादलों की माता थी। उ०—दारा ते तृणवृक्ष जौन लागत पर काजै। नखरेखा सुत मेघ कोटि छप्पन उपराजै।—विश्राम।

नखरेबाज—वि० [फा०] जो बहुत नखरा करता हो। नखरा करनेवाला।

नखरेबाजी—संज्ञा स्त्री० [फा०] नखरा करने की क्रिया या भाव।

नखरौट-संज्ञा स्त्री० [सं० नख + हिं० खरोट] नाखून की खरौट। शरीर पर का वह निशान जो नाखून चुभाने से होता है।

नखबिंदु-संज्ञा पुं० [सं०] वह गोल या चंद्राकार चिह्न जो स्त्रियां नाखून के ऊपर मेंहदी या महावर से बनाती हैं। उ०—जागत अनेक तामैं जावक को विंदु औ अनेक नखविंदुन की कला सरसत है।—चरण।

नखविष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके नाखूनों में विष हो। जैसे, मनुष्य, बिल्ली, कुत्ता, बंदर, मगर, मेंढक, गोह, छिपकली आदि।

नखविष्किर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जानवर जो अपने शिकार को नाखून से फाड़कर खाता हो। जैसे, शेर, बाज आदि। धर्म्म-शास्त्र के अनुसार ऐसे जानवरों का मांस नहीं खाना चाहिए।

नखवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] नील का पेड़।

नखशंख-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा शंख।

नखशस्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] नहरनी।

नखशिख-संज्ञा पुं० [सं०] नख से लेकर शिख तक के सब अंग।

मुहा०—नखशिख से = सिर से पैर तक। ऊपर से नीचे तक। जैसे, वह नख शिख से दुरुस्त है।

(२) सब अंगों का वर्णन।

नखशूल-संज्ञा पुं० [सं०] नाखून का वह रोग जिसमें उसके आस पास या जड़ में पीड़ा होती है।

नखहरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नहरनी। (डिं०)

नखांक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याघ्रनखी। व्याघ्रनख। विशेष—दे० "नख"। (२) नाखून गड़ने का चिह्न।

नखांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नख नामक गंधद्रव्य। (२) नलिका या नली नामक गंधद्रव्य।

नखायुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेर। (२) चीता। (३) कुत्ता।

नखारि-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम।

नखालि-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा शंख।

नखालु-संज्ञा पुं० [सं०] नील वृक्ष। नील का पेड़।

नखाशी-संज्ञा पुं० [सं० नखाशिन्] उल्लू।

वि० जो नाखूनों की सहायता से खाता हो।

नख़ास-संज्ञा पुं० [अ० नख़्ख़ास] (१) वह बाजार जिसमें पशु विशेषतः घोड़े बिकते हैं। (२) साधारणतः कोई बाजार।

मुहा०—नख़ास पर भेजना या चढ़ाना = बेचने के लिये बाजार भेजना। **नखास की घोड़ी या नख़ासवाली** = कसब कमानेवाली स्त्री। खानगी। (बाजारू)

नखियाना*†-क्रि० सं० [सं० नख + इयाना (प्रत्य०)] नाखून गड़ाना या नाखून से खरोचना।

नखी-संज्ञा पुं० [सं० नखिन्] (१) शेर। (२) चीता। (३) वह जानवर जो नाखून से किसी पदार्थ को चीर या फाड़ सकता हो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] नख नामक गंधद्रव्य।

नखोटना*†-क्रि० स० [सं० नख + ओटना (प्रत्य०)] नाखून से खरोचना या नोचना। उ०—कान्ह बलि जाउँ ऐसी आरि न कीजै। × × × × × × बरजत बरजत बिरुझाने। करि क्रोध मनहि अकुलाने। धरत धरणि पर लोटे। माता को चीर नखोटे। अँग आभूषण सब तोरे। लवनी दधि भाजन फोरे।—सूर।

नख़्ख़ास संज्ञा पुं० दे० "नख़ास"।

नग वि० [सं०] (१) न गमन करनेवाला। न चलने फिरनेवाला। अचल। स्थिर।

संज्ञा पुं० (१) पर्वत। पहाड़। (२) पेड़। वृक्ष। (३) सात संख्या। (४) सर्प। सांप। (५) सूर्य।

संज्ञा पुं० [फा० नगीना, सं० नग] (१) शीशे या पत्थर आदि का रंगीन बढ़िया टुकड़ा जो प्रायः अँगूठियों आदि में जड़ा जाता है। नगीना।

मुहा०—नग बैठाना = नग जड़ना।

(२) अदद। संख्या। जैसे, पाँच नग लोटा।

नगचाना‡-क्रि० अ० दे० "नगिचाना"।

नगज-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

वि० जो पहाड़ से उत्पन्न हो।

नगजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) पाषाणभेदा लता। पखानभेद।

नगण-संज्ञा पुं० [सं०] पिंगल शास्त्र में तीन लघु अक्षरों का एक गण (।।।) जैसे, कमल, मदन, चरण, शरण, समर, नयन आदि। इस गण से छंद का आरंभ करना शुभ माना जाता है।

नगणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मालकँगनी।

नगण्य-वि० [सं०] जो गणना करने के योग्य न हो। बहुत ही साधारण या गया बीता। तुच्छ। जैसे, इस विषय पर केवल एक ही पुस्तक मिली; परंतु वह भी नगण्य ही है।

नगदंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] विभीषण की स्त्री का नाम। उ०—नगदंती केहरि सुख जाई। सो बल्लभा विभीषण पाई।—विश्राम।

नगद—संज्ञा पुं० दे० "नकद"।

संज्ञा पुं० [सं० नागदमनी] नागदमनी।

नगदी—संज्ञा स्त्री० दे० "नकदी"।

नगधर—संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत के धारण करनेवाले, श्रीकृष्णचंद्र। गिरिधर।

नगधरन*—संज्ञा पुं० दे० "नगधर"।

नगनंदिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती जो हिमालय की कन्या मानी जातीं है।

नगन*†–वि० [सं० नग्न] (१) जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। नंगा। (२) जिसके ऊपर किसी प्रकार का आवरण न हो।

नगनदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नदी जो किसी पहाड़ से निकली हो।

नगना–संज्ञा स्त्री० दे० "नग्ना"।

नगनिका–संज्ञा स्त्री० [?] (१) संकीर्ण राग का एक भेद। (संगीत)। (२) क्रीड़ा नामक वृत्त का एक नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक यगण और एक गुरु होता है। उ०—उगै चारो। हरी तारो। करौ क्रीड़ा। रखौ व्रीड़ा।

नगनी–संज्ञा स्त्री० [सं० नग्ना] (१) वह कन्या जो रजोधर्म को प्राप्त न हुई हो। वह कन्या जिसके स्तन न उठे हों और जो अपना ऊपरी शरीर खोले घूम फिर सकती हो। (२) कन्या। पुत्री। बेटी। उ०—ऋषि तनया कह्यो मोहि विवाहि। कच कह्यो तू गुरु नगनी आहि।—सूर। (३) नंगी स्त्री।

नगन्निकाछंद– संज्ञा पुं० दे० "नगनिका"।

नगपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिमालय पर्वत। (२) चंद्रमा। (३) कैलाश के स्वामी, शिव। (४) सुमेरु। उ०—चतुरानन बल सँभारि मेघनाद आयो। मानो घन पावस में नगपति है छायो।—सूर।

नगभिद्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पखानभेद लता। (२) प्राचीन काल का पत्थर तोड़ने का एक प्रकार का अस्त्र। (३) इंद्र। (पुराणानुसार इंद्र ने पहाड़ों के पर काटे थे, इसी से उनका यह नाम पड़ा।)

नगभू–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटी पखानभेद लता। (२) पहाड़ी जमीन।

वि० जो पहाड़ से उत्पन्न हुआ हो।

नगरंध्रकर–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय का एक नाम।

नगर–संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यों की वह बड़ी बस्ती जो गाँव या कस्बे आदि से बड़ी हो और जिसमें अनेक जातियों तथा पेशों के लोग रहते हों। शहर।

विशेष–हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में लिखा है कि जिस स्थान पर बहुत सी जातियों के अनेक व्यापारी और कारीगर रहते हों और प्रधान न्यायालय हो, उसे नगर कहते हैं। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रंथ में लिखा है कि राजा को शुभ मुहूर्त्त में लंबा, चौकोर, तिकोना या गोल नगर बसाना चाहिए। इसमें से तिकोना और गोल नगर बुरा समझा जाता है। लंबा नगर बहुत ही शुभ और स्थायी तथा चौकोर नगर चारों प्रकार के फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का देनेवाला मानां जाता है।

पर्य्या०—पुर। पुरी। नगरी। पत्तन। पट्टन। पटभेदन। निगम। कटक। स्थानीय। पट्ट।

यौ०—राजनगर। नगर-बसेरा। नगर-नारि। नगर-कीर्त्तन, आदि।

नगरकीर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] वह गाना बजाना या कीर्त्तन, विशेषतः ईश्वर के नाम का भजन या कीर्त्तन, जिसे नगर की गलियों और सड़कों में घूम घूमकर कुछ लोग करें।

नगरघात–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

नगरतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] गुजरात प्रांत का एक प्राचीन तीर्थ जहाँ किसी समय शिव का निवास माना जाता था।

नगरनायिका–संज्ञा स्त्री० [सं० नगर + नायिका] वेश्या। रंडी।

नगरनारि–संज्ञा स्त्री० [सं०] रंडी। वेश्या।

नगरपाल–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका काम सब प्रकार के उपद्रवों आदि से नगर की रक्षा करना हो।

नगरमर्द्दी–संज्ञा पुं० [सं० नगरमर्दिन्] मस्त हाथी।

नगरमार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] शहर में का बड़ा और चौड़ा रास्ता। राजमार्ग।

नगरमुस्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा।

नगरवा–संज्ञा पुं० [देश०] ईख की एक प्रकार की बोआई जो मध्य प्रदेश के उन प्रांतों में होती है जहाँ की मिट्टी काली या करैली होती है। इसमें खेतों के सींचने की आवश्यकता नहीं होती; बल्कि बरसात के बाद जब ईख के अंकुर फूटते हैं तब जमीन पर इसलिये पत्तियाँ बिछा देते हैं जिसमें उसमें का पानी भाप बनकर उड़ न जाय। पलवार।

नगरवासी–संज्ञा पुं० [सं०] नागरिक। शहर में रहनेवाला। पुरवासी।

नगरविवाद–संज्ञा पुं० [सं० नगर + विवाद] दुनिया के झगड़े बखेड़े। उ०—धनमद जोबनमद राजमद भूल्यो नगरविवादि।—स्वामी हरिदास।

नगरहा–संज्ञा पुं० [हिं० नगर + हा (प्रत्य०)] शहर में रहनेवाला। नागरिक।

नगरहार–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन भारत का एक नगर जो किसी समय वर्त्तमान जलालाबाद के निकट बसा था। चीनी यात्री हुएनसांग ने अपनी यात्रा में इसका वर्णन किया है। उस समय यह नगर कपिश राज्य के अधीन था। किसी समय इस नाम का एक राज्य भी था जो उत्तर में काबुल नदी और दक्षिण में सफेद कोह तक था।

नगराई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नगर + आई (प्रत्य०)] (१) नागरिकता। शहरातीपन। (२) चतुराई। चालाकी। उ०—

सूरदास स्वामी रति नागर नागरि देखि गई नगराई। —सूर।

नगरादि सन्निवेश-संज्ञा पुं० [सं०] नगर का स्थापन और निर्माण। शहर बनाना या बसाना।

विशेष-अग्निपुराण में लिखा है कि शहर बसाने के लिये राजा को पहले एक या आधा योजन लंबा सुंदर स्थान चुनना चाहिए और बाजार आदि बनवाने चाहिएँ। नगर में अग्निकोण में सुनारों आदि के लिये, दक्षिण में नाचने गानेवालों और वेश्याओं आदि के लिये, नैऋत्य में नटों और कैवर्तों आदि के लिये, पश्चिम में रथ और शस्त्र आदि बनानेवालों के लिये, वायुकोण में नौकर चाकरों और दासों आदि के लिये, उत्तर में ब्राह्मणों, यति और सिद्धों आदि के लिये, ईशान कोण में फल फलहरी और अन्न आदि बेचनेवालों के लिये और पूर्व में योद्धाओं आदि के रहने के लिये स्थान बनवाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पूर्व में क्षत्रियों के लिये, दक्षिण में वैश्यों के लिये और पश्चिम में शूद्रों के लिये स्थान बनाना चाहिए और नगर के चारों ओर सेना रखनी चाहिए। दक्षिण में श्मशान, पश्चिम में गौओं आदि के रहने और चरने आदि के लिये परती जमीन और उत्तर में खेत होने चाहिएँ। नगर में स्थान स्थान पर देवमंदिर होने चाहिएँ।

नगराध्यक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] नगर का स्वामी या रक्षक। वह जिस पर नगर की रक्षा आदि का पूरा पूरा भार हो।

विशेष—महाभारत से पता चलता है कि प्राचीन काल में राजा की ओर से शासन और न्याय आदि के कामों के लिये जो अधिकारी नियुक्त किया जाता था वह नगराध्यक्ष कहलाता था।

नगरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नगर। शहर।

संज्ञा पुं० [सं० नगरिन्] शहर में रहनेवाला मनुष्य। नागरिक। शहराती।

नगरीकाक-संज्ञा पुं० [सं०] बगला।

नगरोत्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा।

नगरौषधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] केला।

नगवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

नगस्वरूपिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक जगण, एक रगण, एक लघु और एक गुरु होता है। इसे प्रमाणी और प्रमाणिका भी कहते हैं। उ०—ज़रा लगाव चित्त ही। भजो जु नंदनंद ही। प्रमाणिका हिये गहो। जु पार भौ लगा चाहो।

नगाठन-संज्ञा पुं० [सं०] बंदर। कपि।

वि० पहाड़ पर विचरण करनेवाला।

नगाड़ा-संज्ञा पुं० दे० "नगारा"।

नगाधिप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिमालय पर्वत। (२) सुमेरु पर्वत।

नगारा-संज्ञा पुं० [फा०] डुगडुगी या बाएँ की तरह का एक प्रकार का बहुत बड़ा और प्रसिद्ध बाजा जिसमें एक बहुत बड़ी कूँड़ी के ऊपर चमड़ा मढ़ा रहता है। कभी कभी इसके साथ इसी प्रकार का पर इससे बहुत छोटा एक और बाजा भी होता है। इन दोनों को आमने सामने रखकर लकड़ी के दो डंडों से जिन्हें चोब कहते हैं, बजाते हैं। नगाड़ा। डंका। धौंसा। मुहावरों के लिये दे० "नक्कारा"।

नगारि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र, पुराणानुसार जिन्होंने पर्वतों के पर काटे थे।

नगावास-संज्ञा पुं० [सं०] मोर।

नगाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] हाथीकंद।

नगी-संज्ञा स्त्री० [सं० नग = पर्वत + ई(प्रत्य०)] (१) रत्न। मणि। नगीना। नग। उ०—कंचन की झख रूप डबीन मैं खोल धरी मानो नील नगी है। सुंदरीसर्वस्व। (२) पर्वत की कन्या, पार्वती। उ०—नगी किधौं पन्नग की जाई। कमला किधौं देह धरि आई।—सबल। (३) पर्वत पर रहनेवाली स्त्री। पहाड़ी स्त्री। उ०—पन्नगी नगी कुमारि आसुरी निहारि डारों वारि किन्नरी नरी गमारि नारिका।—केशव।

नगीच†-क्रि० वि० दे० "नजदीक"।

नगीना-संज्ञा पुं० [फा०, मि० सं० नग] (१) पत्थर आदि का वह रंगीन चमकीला टुकड़ा जो शोभा के लिये अँगूठी आदि में जड़ा जाता है। रत्न। मणि।

मुहा०—नगीना सा = बहुत छोटा और सुंदर।

(२) एक प्रकार का चारखानेदार देसी कपड़ा।

नगीनासाज़-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो नगीना बनाता या जड़ता हो। नगीना बनाने या जड़ने का काम करनेवाला।

नगीनागर-संज्ञा पुं० दे० "नगीनासाज़"।

नगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वतराज, हिमालय।

नगेश-संज्ञा पुं० दे० "नगेंद्र"।

नगेसरि*†-संज्ञा पुं० [सं० नागकेशर] नागकेशर।

नगौक-संज्ञा पुं० [सं० नगौकस्] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) सिंह। शेर। (३) कौआ।

नग्न-वि० [सं०] (१) जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। नंगा। (२) जिसके ऊपर किसी प्रकार का आवरण न हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के दिगंबर जैन जो कौपीन और कषाय वस्त्र पहनते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं—द्विकच्छ, कच्छशेष, मुक्तकच्छ, एकवासा और अवासा। (२) पुराणानुसार वह जिसे शास्त्रों आदि का ज्ञान न हो और जिसके कुल में किसी ने वेद न पढ़ा हो। ऐसे आदमियों का अन्न ग्रहण करना वर्जित है। (३) वह जो गृह-

स्थाश्रम के उपरांत बिना वानप्रस्थ ग्रहण किए ही संन्यासी हो गया हो। पुराणानुसार ऐसा आदमी पातकी समझा जाता है।

नग्नक-संज्ञा पुं० दे० "नग्न"।

नग्नक्षपणक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बौद्ध संन्यासी या भिक्षु।

नग्नाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गांधार के एक बहुत पुराने राजा का नाम जिसका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण में है। (२) पुराणानुसार कोशल के एक राजा का नाम जिसकी सत्या या नाग्नजिती नामक कन्या का विवाह श्रीकृष्ण के साथ हुआ था।

नग्नता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नंगे होने का भाव। नंगापन। वस्त्र-विहीनता।

नग्नपर्णी-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक देश का नाम।

नग्नाट-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सदा नंगा रहता हो।

नग्र*†-संज्ञा पुं० दे० "नगर"।

नग्रोध-संज्ञा पुं० [सं० न्यग्रोध] वटवृक्ष। बड़ का पेड़।

नघना-क्रि० स० [सं० लंघन] नांघना। लांघना। डांकना। पार करना। उ०—भीमसेन अर्जुन दोउ धाए। हेरत हेरत पुर नघि आए।—रघुराज।

नघाना-क्रि० स० [सं० लंघन] लँवाना। उल्लंघन कराना। डँका देना। उ०—बोले बचन पुकारि कै विपिन जो देइ नघाय। द्वै सै मुद्रा ताहि हम दैहैं तुरत गहाय।—रघुराज।

नचना*†-क्रि० अ० [हिं० नाचना] नाचना। नृत्य करना। उ०—(क) सजनी सज नीरद निरखि हरखि नचत इत मोर।—केशव। (ख) काली की फनाली पै नचत बन-माली है।—पद्माकर।

वि० (१) जो नाचता हो। नाचनेवाला। (२) जो बराबर इधर उधर घूमता रहता हो, एक स्थान पर न रहता हो।

नचनि*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाचना] नाच। नृत्य।

नचनिया†-संज्ञा पुं० [हिं० नाचना + इया (प्रत्य०)] नाचने-वाला। नृत्य करनेवाला।

नचनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाचना] करघे की वे दोनों लकड़ियां जो बेसर के कुलवांसे से लटकती होती हैं। इन्हीं के नीचे चकडोर से दोनों राछें बँधी रहती हैं। इन्हीं की सहायता से राछें ऊपर नीचे जाती और आती हैं। इन्हें चक या कलहरा भी कहते हैं।

वि० स्त्री० [हिं० नाचना] (१) नाचनेवाली। जो नाचती हो। (२) बराबर इधर उधर घूमती रहनेवाली स्त्री। (स्त्री०)

नचवैया-संज्ञा पुं० [हिं० नाचना + वैया (प्रत्य०)] नाचनेवाला। जो नाचता हो।

नचाना-क्रि० स० [हिं० नाचना का प्रे०] (१) दूसरे को नाचने में प्रवृत्त करना। नाचने का काम दूसरे से कराना। नृत्य कराना। जैसे, रंडी नचाना, बंदर नचाना। (२) किसी को बार बार उठने बैठने या और कोई काम करने के लिये विवश करके तंग करना। अनेक व्यापार कराना। हैरान करना। उ०—(क) जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे। भृकुटि विलास नचावै ताही। अस प्रभु छांड़ि भजिय कहु काही।—तुलसी। (ख) देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।—तुलसी।

मुहा०—नाच नचाना = घूमने फिरने या और कोई काम करने के लिये विवश करके तंग करना। हैरान करना। उ०—कबिरा बैरी सबल है, एक जीव रिपु पांच। अपने अपने स्वाद को बहुत नचावै नाच।—कबीर।

संयो० क्रि०—डालना। मारना।

(३) किसी चीज को बार बार इधर उधर घुमाना या हिलाना। चक्कर देना। भ्रमण कराना। जैसे, हाथ में छड़ी या ताली लेकर नचाना। लट्टू नचाना।

मुहा०—आँखें (या नैन) नचाना = चंचलतापूर्वक आंखों की पुतलियों को इधर उधर घुमाना। उ०—(क) नैन नचाय कही मुसुकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।—पद्माकर। (ख) कछु नैन नचाय नचावति भौंह नचैं कर दोऊ और आप नचै।

(४) इधर उधर दौड़ाना। हैरान या परेशान करना।

नचिकेता-संज्ञा पुं० [सं० नाचिकेतस्] (१) वाजश्रवा ऋषि का पुत्र जिसने मृत्यु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। वाजश्रवा ने एक बार दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला था। उस समय इसने पिता से कई बार पूछा था कि मुझे किसको प्रदान करते हैं। पिता ने खिजलाकर कह दिया कि मैं तुमको मृत्यु को अर्पित करता हूँ। इस पर वह मृत्यु के पास चला गया था और वहाँ तीन दिन तक निराहार रहकर उससे उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। (२) अग्नि।

नचौहाँ*†-वि० [हिं० नाचना + औहां (प्रत्य०)] जो सदा नाचता या इधर उधर घूमता रहे। चंचल। अस्थिर। उ०—देत रचौहैं चित्त कहँ नेह नचौहैं नैन।—बिहारी।

नछत्र-संज्ञा पुं० दे० "नक्षत्र"।

नछत्री*†-वि० [सं० नक्षत्र + ई (प्रत्य०)] भाग्यवान्। भाग्य-शाली। जिसका जन्म अच्छे नक्षत्र में हुआ हो। उ०—परम नक्षत्री ख्यात जाब छत्रीवर बलधर।—गोपाल।

नजदीक-वि० [फा०] [संज्ञा नजदीकी] निकट। पास। करीब। समीप।

नजदीकी-संज्ञा स्त्री० [फा०] पास या नजदीक होने का भाव। सामीप्य।

वि० निकट का।

संज्ञा पुं० निकट का संबंधी।

नजम-संज्ञा स्त्री० [अ० नज्म] कविता। पद्य। छंद।

नजर-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) दृष्टि। निगाह। चितवन।

मुहा०-**नजर आना** = दिखाई देना। दिखाई पड़ना। दृष्टिगोचर होना। उ०—नजर आता है कोई अपना न पराया मुझको।—अमानत। **नजर करना** = देखना। उ०—जब मैंने उधर नजर की तब देखा कि आप खड़े हैं। **नजर पर चढ़ना** = पसंद आ जाना। भा जाना। भला मालूम होना। **नजर पड़ना** = दिखाई देना। देखने में आना। जैसे, कई दिन से तुम नजर नहीं पड़े। **नजर फिसलना** = चमक या चकाचौंध के कारण किसी वस्तु पर दृष्टि का अच्छी तरह न जमना। **नजर फेंकना** = (१) दूर तक देखना। दृष्टि डालना। (२) सरसरी नजर से देखना। **नजर में आना** = दिखलाई पड़ना। दिखाई देना। **नजर में तौलना** = देखकर किसी के गुण और दोष आदि की परीक्षा करना। **नजर बाँधना** = जादू या मंत्र आदि के जोर से किसी की दृष्टि में भ्रम उत्पन्न कर देना। कुछ का कुछ कर दिखाना। (प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि जादू के जोर से दृष्टि में भ्रम उत्पन्न किया जा सकता है। आजकल भी कुछ लोग इस बात को मानते हैं।)

(२) कृपादृष्टि। मेहरबानी से देखना। जैसे, आपकी नजर रहेगी तो सब कुछ हो जायगा।

मुहा०-**नजर रखना** = कृपादृष्टि रखना। मेहरबानी रखना।

(३) निगरानी। देखरेख। जैसे, जरा आप भी इस काम पर नजर रखा करें।

क्रि० प्र०—रखना।

(४) ध्यान। खयाल। (५) परख। पहचान। शिनाख्त। जैसे, इन्हें भी जवाहिरात की बहुत कुछ नजर है। (६) दृष्टि का वह कल्पित प्रभाव जो किसी सुंदर मनुष्य या अच्छे पदार्थ आदि पर पड़कर उसे खराब कर देनेवाला माना जाता है।

विशेष—प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था और अब भी बहुत से लोगों का विश्वास है कि किसी किसी मनुष्य की दृष्टि में ऐसा प्रभाव होता है कि जिस पर उसकी दृष्टि पड़ती है उसमें कोई न कोई दोष या खराबी पैदा हो जाती है। यदि ऐसी दृष्टि किसी खाद्य पदार्थ पर पड़े तो वह खानेवाले को नहीं पचता और भविष्य में उस पदार्थ पर से खानेवाले की रुचि भी हट जाती है। यह भी माना जाता है कि यदि किसी सुंदर बालक पर ऐसी दृष्टि पड़े तो वह बीमार हो जाता है। अच्छे पदार्थों आदि के संबंध में माना जाता है कि यदि उन पर ऐसी दृष्टि पड़े तो उनमें कोई न कोई दोष या विकार उत्पन्न हो जाता है। किसी विशिष्ट अवसर पर केवल किसी विशिष्ट मनुष्य की दृष्टि में ही नहीं बल्कि प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि में ऐसा प्रभाव माना जाता है।

मुहा०-**नजर उतारना** = बुरी दृष्टि के प्रभाव को किसी मंत्र वा युक्ति से हटा देना। **नजर खाना या खा जाना** = बुरी दृष्टि से प्रभावित हो जाना। **नजर जलाना** = "दे० "नजर झाड़ना"। **नजर झाड़ना** = बुरी दृष्टि के प्रभाव को हटाना। **नजर लगना** = बुरी दृष्टि का प्रभाव पड़ना। **नजर लगाना** = बुरी दृष्टि का प्रभाव डालना। **नजर होना या हो जाना** = दे० "नज़र लगना"।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) भेंट। उपहार। जैसे (क) सौदागर ने अकबर शाह को एक सौ घोड़े नजर किए। (ख) अगर यह किताब आपको इतनी ही पसंद है तो लीजिए यह आपको नज़र है। (ग) भरि भरि काँवरि सुघर कहारा। तिमि भरि शकटन ऊँट अपारा। शतानंद अरु सचिव लिवाई। कोशलपालहिं नजर कराई। —रघुराज।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(२) अधीनता सूचित करने की एक रस्म जिसमें राजाओं, महाराजों और जमींदारों आदि के सामने प्रजावर्ग के या दूसरे अधीनस्थ और छोटे लोग दरबार या त्यौहार आदि के समय अथवा किसी अन्य विशिष्ट अवसर पर नगद रुपया या अशरफी आदि हथेली में रखकर सामने लाते हैं। यह धन कभी तो ग्रहण कर लिया जाता है और कभी केवल छूकर छोड़ दिया जाता है।

क्रि० प्र०—करना।—गुजारना।—देना।

नजरना*-क्रि० अ० [अ० नजर+ना (प्रत्य०)] (१) देखना। उ०—(क) कारीगरी मैं करी बहुतै नजरी गई तौ कछुवै न भलाई।—बेनी प्रवीन। (ख) नजरेई सब रहत हैं एक नजरिया ओर। उतने ही में चोर ही चित वित तुव दृगचोर।—रसनिधि। (ग) न जरै जो नजरे रहे प्रीतम तुव मुख चंद।—रसनिधि। (२) नजर लगाना। दे० "नजर (६)"।

नजरबंद-वि० [अ० नजर+फा० बंद] जो किसी ऐसे स्थान पर कड़ी निगरानी में रखा जाय जहाँ से वह कहीं आ जा न सके। जिसे नजरबंदी की सजा दी जाय। उ०—भूले लोभी नैन सों छबि रस आए चाख। दृग तारे दैकै इन्हें नजरबंद कर राख।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा पुं० जादू या इंद्रजाल आदि का वह खेल जिसके विषय में लोगों का यह विश्वास रहता है कि वह लोगों की नजर बाँधकर किया जाता है। लोगों की दृष्टि में भ्रम

2-2-8
इम्-518
खे-८.२५°
3IV(3)
43,2-25

उत्पन्न करके किया जानेवाला खेल। जैसे, वह मदारी नजरबंद के बहुत अच्छे अच्छे खेल करता है।

नजरबंदी—संज्ञा स्त्री० [अ० नजर + फा० बंदी] (१) राज्य की ओर से वह दंड जिसमें दंडित व्यक्ति किसी सुरक्षित या नियत स्थान पर रखा जाता है और उस पर कड़ी निगरानी रहती है। जिसे यह दंड मिलता है उसे कहीं आने जाने या किसी से मिलने जुलने की आज्ञा नहीं होती। (२) नजरबंद होने की दशा। (३) लोगों की दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करने की क्रिया। जादूगरी। बाजीगरी।

नजरबाग—संज्ञा पुं० [अ०] वह बाग जो महलों या बड़े बड़े मकानों आदि के सामने या चारों ओर उनके अहाते के अंदर ही रहता है।

नजरसानी—संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी किए हुए कार्य्य या लिखे हुए लेख आदि को, उसमें सुधार या परिवर्त्तन करने के लिये, फिर से देखना। पुनर्विचार या पुनरावृत्ति।

नजरहाया-वि० [अ० नजर + हाया (प्रत्य०)] [स्त्री० नजरहाई] जो नजर लगावे। जिसकी नजर पड़ते ही कोई दोष उत्पन्न हो। नजर लगानेवाला।

नजरानना†*- क्रि० स० [हिं० नजर + आनना (प्रत्य०)] (१) भेंट में देना। उपहार स्वरूप देना। (२) नजर लगाना। दे० "नजर (६)"।

नजराना-क्रि० अ० [हिं० नजर] नजर लग जाना। बुरी दृष्टि के प्रभाव में आना। जैसे, मालूम होता है कि यह लड़का कहीं नजरा गया है।

क्रि० स० नजर लगाना।

सं० पुं० [अ०] (१) भेंट। उपहार। (२) जो वस्तु भेंट में दी जाय।

नजरि*—संज्ञा स्त्री० दे० "नजर"।

नज़ला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) यूनानी हिकमत के अनुसार एक प्रकार का रोग जिसमें गरमी के कारण सिर का विकार युक्त पानी ढलकर भिन्न भिन्न अंगों की ओर प्रवृत्त होता और जिस अंग की ओर ढलता है उसे खराब कर देता है। कहते हैं कि यदि नजले का पानी सिर में ही रह जाय तो बाल सफेद हो जाते हैं। आँखों पर उतर आवे तो दृष्टि कम हो जाती है, कान पर उतरे तो आदमी बहरा हो जाता है, नाक पर उतरे तो जुकाम होता है, गले में उतरे तो खाँसी होती है और अंडकोश में उतरे तो उसकी वृद्धि हो जाती है।

क्रि० प्र०—उतरना।—गिरना।

(२) जुकाम। सरदी।

नजलाबंद-संज्ञा पुं० [अ० नजला + फा० बंद] अफीम और चूने आदि का वह फाहा जो नजले को गिरने से रोकने के लिये दोनों कनपटियों पर लगाया जाता है।

नजाकत-संज्ञा स्त्री० [फा०] नाज़ुक होने का भाव। सुकुमारता। कोमलता।

नजात-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुक्ति। मोक्ष। (२) छुटकारा। रिहाई।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

नजामत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) नाज़िम का पद। (२) नाज़िम का महकमा या विभाग।

नज़ारत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) नाज़िर का पद। (२) नाज़िर का मुहकमा। (३) नाज़िर का दफ़्तर, जहाँ बैठकर नाज़िर काम करता हो।

नज़ारा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दृश्य। (२) दृष्टि। नज़र। (३) स्त्री या पुरुष का दूसरे पुरुष या स्त्री को लालसा या प्रेम की दृष्टि से देखना। (बाजारू)

क्रि० प्र०—लड़ना।—लड़ाना।—मारना।

नज़ारेबाजी-संज्ञा स्त्री० [अं० नजारा + फा० बाजी] स्त्री या पुरुष का दूसरे पुरुष या स्त्री को प्रेम या लालसा की दृष्टि से देखना। (बाजारू)

नजिकाना*†-क्रि० स० [हिं० नजीक (नजदीक) + आना (प्रत्य०)] निकट पहुँचना। नजदीक पहुँचना। पास पहुँचना। उ०—(क) जोर करि ज्यौं ज्यौं मृग बन नजिकात त्यौं त्यौं मो तें महीपति को मन नजिकात है।—रसकुसुमाकर। (ख) सकल सुयोग सहित सो सुदिवस आइ जबहिं नजिकाना।—रघुराज। (ग) बन पुर पट्टन गरजत नजिकाने निधि तीर।—हनुमान। (घ) मरण अवस्था जब नजिकाई। ईश सखा के मन यह आई।—सूर।

नजीक†*-क्रि० वि० [फा० नजदीक] निकट। पास। समीप। उ०—(क) है नजीक वहाँ जहाँ छिति में विभूषित हैं खरे।—गुमान। (ख) कौन की सीख धरी मन में चलि कै बलि काहे नजीक न जाति है।—प्रताप।

नज़ीर-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) उदाहरण। दृष्टांत। मिसाल। (२) किसी मुकदमे का वह फैसला जो उसी प्रकार के किसी दूसरे मुकदमे में वैसे ही फैसले के लिये उपस्थित किया जाय।

क्रि० प्र०—दिखलाना।—देना।

नजूम-संज्ञा पुं० [अ०] ज्योतिष विद्या।

नजूमी-संज्ञा पुं० [अ०] ज्योतिषी।

नज़ूल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सरकारी ज़मीन। शहर की वह ज़मीन जो सरकार के अधिकार में हो। (२) दे० "नज़ला"।

नट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दृश्य-काव्य का अभिनय करनेवाला

मनुष्य। वह जो नाट्य करता हो। नाट्यकला में प्रवीण पुरुष। (२) प्रचीन काल की एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति शौचकी स्त्री और शौंडिक पुरुष से मानी गई है और जिसका काम गाना बजाना बतलाया गया है। (३) मनु के अनुसार क्षत्रियों की एक जाति जिसकी उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से मानी जाती है। (४) पुराणानुसार एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति मालाकार पिता और शूद्रा माता से मानी जाती है। (५) एक नीच जाति जो प्रायः गा बजाकर और तरह तरह के खेल तमाशे आदि करके अपना निर्वाह करती है। युक्त प्रांत में इस जाति के जो लोग पाए जाते हैं वे बाँसों पर तरह तरह की कसरतें करते और रस्सों पर अनेक प्रकार से चलते हैं। बंगाल में इस जाति के लोग प्रायः गाने बजाने का पेशा करते हैं। उ०—दीठि बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत न डरात। इत उत तें मन दुहुन के नट लों आवत जात।—बिहारी। (६) एक नाग का नाम जिसे भट नामक एक और दूसरे नाग के साथ मथुरा के निकट उरुमुंड नामक पर्वत पर बुद्धदेव ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। इसने तथा भट ने उस स्थान पर दो विहार भी बनवाए थे। (७) संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। कुछ आचार्य इसे मालकोश राग का और कुछ श्रीराग का पुत्र मानते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह वागीश्वरी, मधुमाध और पूरिया के मेल से बना हुआ और किसी के मत से कुकुम, पूरबी, केदारा और बिलावल के मेल से बना हुआ संकर राग है। रागमाला में इसे राग नहीं बल्कि रागिनी माना है। एक और शास्त्रकार ने इसे दीपक राग की रागिनी बतलाया है। उनके मत से यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और इसके गाने का समय तीसरा पहर और संध्या है। भिन्न भिन्न रागों के साथ इसे मिलाने से अनेक संकर राग भी बनते हैं। जैसे, केदारनट, छायानट, कामोदनट आदि। (८) अशोक वृक्ष। (९) श्योनाक वृक्ष।

नटई†–संज्ञा स्त्री० [हिं०] (१) गला। गरदन। (२) गले की घंटी। घाँटी।

नटखट–वि० [हिं० नट + अनु० खट] (१) जो सदा कुछ न कुछ उपद्रव करता रहे। ऊधमी। उपद्रवी। चंचल। शरीर। (२) चालाक। चालबाज। धूर्त्त। मक्कार।

नटखटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नटखट] बदमाशी। शरारत। पाजीपन।

नटचर्य्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] अभिनय।

नटता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नट का भाव। (२) नट का काम।

नटना–क्रि० अ० [सं० नट] (१) नाट्य करना। उ०—कहूँ नटत नट कोटि, भाँट वर गावत गुण गनि।—गुमान। (२) नाचना। नृत्य करना। (३) इनकार करना। कहकर बदल जाना। मुकरना। उ०—(१) भौंहन त्रासति मुख नटति आँखनि सों लपटाति।—बिहारी। (ख) कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजि जात।—बिहारी।

क्रि० स० [सं० नष्ट] नष्ट करना। उ०—नटैं लोक दोऊ हठी एक ऐसे।—केशव।

क्रि० अ० नष्ट होना।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) बाँस की बनी छलनी जिससे रस छाना जाता है। (२) मछली पकड़ने का वह बड़ा टोकरा जिसका पेंदा कटा होता है। टाप।

नटनारायण–संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो हनुमत के मत से मेघ राग का तीसरा पुत्र और भरत के मत से दीपक राग का पुत्र है। लेकिन सोमेश्वर और कल्लिनाथ के मत से यह छः रागों में से एक है और कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारंगी और नट हंबीरा ये छः इसकी रागिनियाँ हैं। यह संपूर्ण जाति का राग है, इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं और यह हेमंत ऋतु में रात के समय २१ दंड से २६ दंड तक गाया जाता है। कुछ लोग इसे मधुमाध, बिलावल और शंकराभरण के मेल से बना हुआ और कुछ लोग कल्याण, शंकराभरण, नट और बिलावल के मेल से बना हुआ संकर राग भी मानते हैं। एक और शास्त्रकार के मत से यह षाड़व जाति का राग है। इसमें निषाद वर्जित है और यह बरसात में तीसरे पहर गाया जाता है। उसके अनुसार बिलावल, कामोदी, सावेरी, सुहवी और सोरठ इसकी रागिनियाँ और शुद्धनट, हम्मीरनट, सारंगनट, छायानट, कामोदनट, केदारनट, मेघनट, गौड़नट, भूपालनट, जयजयनट, शंकरनट, हीरनट, श्यामनट, वराड़ीनट, विभासनट, विहागनट, और शंकराभरणनट इसके पुत्र हैं। पर वास्तव में ये सब संकर राग हैं जो नट तथा भिन्न भिन्न रागों के मेल से बनते हैं।

नटनि*†–संज्ञा स्त्री० [सं० नर्त्तन] नृत्य। नाच।

संज्ञा स्त्री० [हिं० नटना] इनकार। अस्वीकृति। उ०—सनख हिये खिनखिन नटनि अनख बढ़ावत लाल।—बिहारी।

नटनी—संज्ञा स्त्री० [सं० नट + नी (प्रत्य०)] (१) नट की स्त्री। (२) नट जाति की स्त्री। उ०—नटनी डोमिनि ढारिनि सहनायन परकार। निरतत नाद विनोद सों विहँसत खेलत नार।—जायसी।

नटपत्रिका–संज्ञा स्त्री [सं०] बैंगन। भाँटा।

नटभूषण–संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

नटमंडन–संज्ञा पुं० [सं० नटमंडल] हरताल। (डिं०)

नटमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

नटमल-संज्ञा पुं०[सं०] एक प्रकार का राग।

नटमल्लार-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह नट और मल्लार के योग से बनता है।

नटवना*-क्रि० स० [सं० नट] नाट्य करना। अभिनय करना। स्वाँग भरना। उ०—माधोजू सुनिये ब्रज व्योहार।...... एक ग्वालि नटवति बहु लीला एक कर्म गुन गावति।—सूर।

नटवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रधान नट। नाट्य कला में बहुत प्रवीण मनुष्य। (२) श्रीकृष्ण जो नाट्य कला और नाटक शास्त्र के आचार्य थे।

वि० बहुत चतुर। चालाक।

नटवा*-संज्ञा पुं० [हिं० नाटा] [स्त्री० नटिया] छोटे कद का या कम उमर का बैल।

संज्ञा पुं० [सं० नट] नट।

नटवा सरसों-संज्ञा पुं० [हिं० नाटा=छोटा] साधारण सरसों। **विशेष**—दे० "सरसों"।

नटसंज्ञक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोदंती हरताल। (२) नट।

नटसार, नटसारा*†-संज्ञा स्त्री० दे० "नाट्यशाला"।

नटसाल-संज्ञा स्त्री० [?] (१) काँटे का वह भाग जो निकाल लिए जाने पर भी टूटकर शरीर के भीतर रह जाता है। उ०—लगत जो हिये दुसार करि तऊ रहत नटसाल।—बिहारी। (२) बाण की गाँसी जो शरीर के भीतर रह जाय। (३) फाँस जो बहुत छोटी होने के कारण नहीं निकाली जा सकती। उ०—सालति है नटसाल सी क्यों हूँ निकसति नाहिं।—बिहारी। (४) कसक। पीड़ा। ऐसी मानसिक व्यथा जो सदा तो न रहे पर समय समय पर किसी बात या मनुष्य के स्मरण से होती हो। उ०—उठै सदा नटसाल लौं सौतिन के उर सालि।—बिहारी।

नटांतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लज्जा। शरम। (लज्जा होने से नाट्य नहीं हो सकता, इसलिये इसे "नटांतिका" कहते हैं।)

नटाई-संज्ञा स्त्री० [देश०] जोलाहों का वह औजार जिससे किनारे का ताना ताना जाता है।

नटिन-संज्ञा स्त्री० [सं० या हिं० नट] नट की स्त्री। (२) नट जाति की स्त्री।

नटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१)नट जाति की स्त्री। (२) नाचनेवाली स्त्री। नर्त्तकी। (३) अभिनय करनेवाली स्त्री। अभिनेत्री। (४) अभिनय करनेवाले नट की स्त्री। (५) वेश्या। (६) नखी नामक गंध द्रव्य।

नटुआ, नटुवा‡-संज्ञा पुं० (१) दे० "नट"। (२) "नटई"।

नटेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

नट्ट-संज्ञा पुं० दे० "नट"।

नट्या-संज्ञा. स्त्री० [सं०] संगीत में एक प्रकार की रागिनी जो प्रायः नट के समान होती है।

नठना*†-क्रि० अ० [सं० नष्ट] नष्ट होना।

क्रि० स० नष्ट करना। उ०—नठैं लोक दोऊ हठी एक ऐसे।—केशव।

नड़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरसल। नरकट। (२) एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम। (३) एक जाति जिसका पेशा शीशे की चूड़ियां बनाना है।

नड़मीन-संज्ञा पुं० [सं०] झिंगा मछली।

नड़िनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नदी जिसमें सरपत अधिक हो।

नड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नली ?] एक प्रकार की आतिशबाजी।

नड्वल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरपत की चटाई। (२) वह प्रदेश जहाँ पर सरपत बहुत अधिक हो। (३) एक वैदिक देवता का नाम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार वैराज मनु की स्त्री का नाम।

नढ़ना†-क्रि० स० [हिं० नाथना] (१) गूँथना। पिरोना। (२) बांधना। कसना। उ०—छोटउ जन वैकुंठ जात को लागे परिकर नढ़न।—देव।

नतइत‡-संज्ञा पुं० दे० "नतैत"।

नतकुर‡-संज्ञा पुं० [हिं० नाती] बेटी का वेटा। बेटी की संतान। नवासा। नाती।

नतगुल्ला†—संज्ञा पुं० [देश०] घोंघा।

नतद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शालवृक्ष जिसे लता-शाल कहते हैं।

नतपाल-संज्ञा पुं० [सं० नत + पालक] प्रणाम करनेवाले का पालन करनेवाला। प्रणतपाल। शरणपाल। उ०—कान्ह कृपाल बड़े नतपाल गए खल खेचर खीस खलाई।–तुलसी।

नतम-वि० [सं० नत = टेढ़ा] बांका। (डिं०)

नतमी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो आसाम प्रदेश में बहुत होता है। इसकी लकड़ी चिकनी, मजबूत और लाल रंग की होती है, और उससे मेज, कुरसियां और नावें आदि बनाई जाती हैं।

नतर*†-क्रि० वि० दे० "नतरु"।

नतरक*-क्रि० वि० [हिं० न + तो] नहीं तो। उ०—कहत सबै कवि कमल से मो मत नैन पखान। नतरक कत इन विय लगत उपजत विरह कृशान।—बिहारी।

नतरु*†-क्रि० वि० [हिं० न + तो] नहीं तो। अन्यथा। उ०—(क) नतरु प्रजा पुरजन परिवारू। हमहिं सहित स होत खुआरू।—तुलसी। (ख) नतरु लखन सिय राम वियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा।—तुलसी।

नतांगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री। औरत।

नतांश–संज्ञा० पुं० [सं०] वह वृत्त जिसका केंद्र भूकेंद्र पर होता है और जो विषुवत रेखा पर लंब होता है। यह वृत्त ग्रहों आदि की स्थिति निश्चित करने में काम आता है।

नताउल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो पश्चिमी घाट पर्वत पर बहुत होता है। इसकी लकड़ी नरम होती है जिससे मेज कुरसी आदि बनती है। इसके रेशे मजबूत होते हैं जिनसे रस्से बनाते हैं। इसके पेड़ से एक प्रकार की जहरीली राल निकलती है जिसे तीरों में लगाकर उन्हें जहरीला बनाते हैं। इसे जसूंद भी कहते हैं।

नति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झुकाव। उतार। (२) नमस्कार। प्रणाम। (३) विनय, विनती। (४) नम्रता। खाकसारी। (५) ज्योतिष में एक प्रकार की गणना।

नतिनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाती का स्त्री० रूप] लड़की की लड़की। नातिन।

नतीजा–संज्ञा पुं० [फा०] परिणाम। फल। उ०—तुम्हें देखि पावै, सुख पावै बहु भांति, ताहि दीजै नेकु निरखि, नतीजा नेह नाधे को।—कालिदास।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।—पाना।—मिलना।

नतु–क्रि० वि० [हिं० न + तो] नहीं तो। अन्यथा। उ०—कहि आपनो तू भेद। नतु चित्त उपजत खेद।—केशव।

नतैत†–संज्ञा पुं० [हिं० नाता + ऐत (प्रत्य०)] संबंधी। रिश्तेदार। नातेदार। उ०—नाते हाते लिखि कै नतैतन ते आय गुरु लोगन देखाय कै करम केते डर के।—रघुनाथ।

नत्थ†–संज्ञा स्त्री० दे० "नथ"।

नत्थी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नथ (आभूषण) या नाथना] (१) कागज या कपड़े आदि के कई टुकड़ों को एक साथ मिलाकर और आर पार छेद करके सबको डोरे वा आलपीन आदि से एक ही में बाँधना वा फँसाना। (२) इस प्रकार एक ही में नाथे हुए कई कागज आदि जो प्रायः एक ही विषय से संबंध रखते हैं। मिस्ल।

नत्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] कठफोड़वा नामक पक्षी।

नथ–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाथना = नाथ का अगला भाग] एक प्रकार का गहना जिसे स्त्रियाँ नाक में पहनती हैं। यह बिलकुल वृत्ताकार बाली की तरह का होता है और सोने आदि का तार खींचकर बनाया जाता है। इसमें प्रायः गूँज के साथ चंदक, बुलाक या मोतियों की जोड़ी पहनाई रहती है। छोटी नथ को बेसर कहते हैं। हिंदुओं में नथ सौभाग्य का चिह्न समझी जाती है। उ०—(क) सहजै नथ नाक ते खोलि धरी करयो कौन धौं फंद या सेसरि को।—कमलापति। (ख) इहि द्वै ही मोती सुगथ तू नथ गरब निसाँक। जिहि पहिरे जग दृग ग्रसति हँसति लसत सी नाँक।—बिहारी।

नथना–संज्ञा पुं० [सं० नस्त] (१) नाक का अगला भाग। नाक का वह चमड़ा जो छेदों के परदे का काम देता है।

मुहा०—नथना फुलाना = क्रोध करना। गुस्सा दिखलाना। **नथना फूलना** = क्रोध आना।

(२) नाक का छेद।

क्रि० अ० [हिं० नाथना का अ० रूप] (१) किसी के साथ नत्थी होना। नाथा जाना। एक सूत्र में बँधना। (२) छिदना। छेदा जाना। जैसे, मेरे पैर काँटों से नथ गए हैं।

नथनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नथ] (१) नाक में पहनने की छोटी नथ। (२) बुलाक। (३) तलवार की मूठ पर लगा हुआ छल्ला। (४) नथ के आकार की कोई चीज।

संज्ञा स्त्री० [हिं० नथना = नाथा जाना] बैल की नाक में नाथी हुई रस्सी। नाथ।

नथिया†–संज्ञा स्त्री० दे० "नथ"।

नथुना†–संज्ञा पुं० दे० "नथना"।

नथुनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नथ] नाक में पहनने की नथ। उ०—बैनन मैन को बैन बजै यह नासिका रासथली नथुनी की।—गुमान।

मुहा०—नथुनी उतारना = कुमारी का कौमार नष्ट करना। कुमारी के साथ प्रथम समागम करना। चीरा उतारना। सिर ढंकाई करना। (इस मुहाविरे का प्रयोग केवल वेश्याओं की लड़कियों के संबंध में होता है।)

नद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ो नदी अथवा ऐसी नदी जिसका नाम पुंल्लिंग वाची हो; जैसे, सोन, दामोदर, ब्रह्मपुत्र। उ०—मिल्यो महानद सोन सुहावन।—तुलसी। (२) एक ऋषि का नाम।

नदन–संज्ञा पुं० [सं०] शब्द करना। आवाज करना।

नदनदीपति–संज्ञा पुं० [सं०] सागर। समुद्र।

नदना*†–क्रि० अ० [सं० नदन = शब्द करना] (१) पशुओं का शब्द करना। रँभाना। बँबाना। उ०—महिषी सुरभि पूर पय धारणि वृषभ नदत सानंदा।—रघुराज। (२) बजना। शब्द करना। उ०—(क) एक ओर जलद के माचे घहरारे मंजु एक ओर नाकन के नदत नगारे हैं।—रघुराज। (ख) नदत दुंदुभि डंका बदत मारू हंका, चलत लागत धंका कहत आगे।—सूदन।

नदनु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) सिंह। शेर। (३) शब्द। आवाज।

नदम–संज्ञा स्त्री० [देश०] दक्षिण में पैदा होनेवाली एक प्रकार की कपास।

नदर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नद या नदी के आस पास का प्रदेश। (२) जिसे किसी प्रकार का भय न हो। निडर।

नदराज–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

नदान*†–वि० [फा० नादान] (१) बेसमझ। बुद्धिहीन। उ०—दान दे रे जिय को नदान, निर्दई कान्ह, बसी सब रैन मोहि अब घर जान दे।—देव। (२) छोटी उम्र का। इतनी छोटी उम्र का जो संसार का व्यवहार बिलकुल न समझ सकता हो। उ०—जो जसुमति तें जाय पुकारैं। लखि नदान तहँ हम ही हारैं।—रघुनाथ।

नदारत†–वि० दे० "नदारद"।

नदारद-वि० [फा०] गायब। अप्रस्तुत। जो मौजूद न हो। लुप्त। जैसे, जब बक्स खोला तब उसमें रुपया पैसा सब नदारद था।

नदि–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्तुति।

नदिया– संज्ञा पुं० [सं० नवद्वीप] बंगाल प्रांत का एक प्रसिद्ध नगर जो न्यायशास्त्र का विद्यापीठ माना जाता है।

*‡ संज्ञा स्त्री० दे० "नदी"।

नदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जल का वह प्राकृतिक और भारी प्रवाह जो किसी बड़े पर्वत या जलाशय आदि से निकलकर किसी निश्चित मार्ग से होता हुआ प्रायः बारहों महीने बहता रहता हो। दरिया।

विशेष—(क) पहाड़ों पर बरफ के गलने या वर्षा होने के कारण जो पानी एकत्र होता है वह गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के अनुसार नीचे की ओर ढलता और मैदानों में से होता हुआ प्रायः समुद्र तक पहुँचता है। कभी यह पानी अपनी स्वतंत्र धारा में समुद्र तक पहुँचता है और कभी समुद्र तक जानेवाली किसी दूसरी बड़ी धारा में मिल जाता है। जो धारा सीधी समुद्र तक पहुँचती है वह भौगोलिक परिभाषा में मुख्य नदी कहलाती है और जो दूसरी धारा में मिल जाती है वह सहायक नदी कहलाती है। ऐसा भी होता है कि नदी या तो जाकर किसी झील में मिल जाती है और या किसी रेतीले मैदान आदि में लुप्त हो जाती है। जिस स्थान से नदी का आरंभ होता है उसे उसका उद्गम कहते हैं, जिस स्थान पर वह किसी दूसरी नदी से मिलती है उसे संगम कहते हैं और जिस स्थान पर वह समुद्र से मिलती है उसे मुहाना कहते हैं। नदी जिस मार्ग से बहती है वह मार्ग गति कहलाता है और उसके बहाव के कारण जमीन में जो गड्ढा बन जाता है वह गर्भ कहलाता है। साधारणतः नदियाँ बारहों महीने बहती रहती हैं, पर छोटी नदियाँ गरमी के दिनों में बिलकुल सूख जाती हैं। वर्षा में प्रायः सभी नदियों का जल बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि उन दिनों आस पास के प्रांत का वर्षा का जल भी आकर उनमें मिल जाता है। इससे उसका पानी बहुत अधिक मटमैला भी होता है। (ख) "नदी" वाचक शब्द में ईश, नाथ, प, पति, वर इत्यादि 'पति' वाची शब्द या प्रत्यय लगाने से 'समुद्र' वाची शब्द हो जाता है। जैसे, नदीश, सरितपति, आपगानाथ, तटिनीवर इत्यादि।

पर्य्या०—सरि। सरिता। आपगा। तरंगिणी। शैवलिनी। तटिनी। ह्रदिनी। धुनी। स्रोतस्वती। स्रवंती। निम्नगा। निर्झरणी। सरस्वती। समुद्रगा। कूलवती। कूलंकषा। कल्लोलिनी। स्रोतस्विनी। ऋषिकुल्या। स्रोतोवहा।

यौ०—नदीश = समुद्र।

मुहा०--नदी नाव संयोग = ऐसा संयोग जो वार वार न हो, कभी एक वार इत्तिफाक से हो जाय।

(२) किसी तरल पदार्थ का बड़ा प्रवाह। जैसे, रक्त की नदी बह निकली।

नदीकदंब–संज्ञा पुं० [सं०] बड़ी गोरखमुंडी।

नदीकांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) समुद्रफल। सिंधुवार नामक वृक्ष।

नदीकांता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जामुन का पेड़। (२) काकजंघा।

नदीकूलप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] जलवेंत।

नदीकुकंठ–संज्ञा पुं० [सं०] नैपाली बौद्धों का एक तीर्थ। कहते हैं कि एक विशिष्ट योग में यहाँ स्नान करने से ऐश्वर्य्य की वृद्धि और शत्रुओं का नाश होता है।

नदीगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] नदी के दोनों किनारों के बीच का स्थान। वह गड्ढा जिसमें से होकर नदी का पानी बहता है।

नदीगूलर–संज्ञा पुं० [?] लिसोड़ा।

नदीज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला सुरमा। (२) सेंधा नमक। (३) अर्जुन वृक्ष। (४) समुद्रफल। (५) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

वि० जो नदी से उत्पन्न हुआ हो।

नदीजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निमंथ वृक्ष। अरणी का पेड़।

नदीजामुन–संज्ञा स्त्री० [सं० नदी + हिं० जामुन] छोटा जामुन।

नदीतर स्थान–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ से नदी पार की जाय। घाट।

नदीदत्त–संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव का एक नाम।

नदीदोह–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर जो नदी पार करने के बदले में दिया जाय। नदी पार होने का महसूल।

नदीधर–संज्ञा पुं० [सं०] गंगा को मस्तक पर धारण करनेवाले, शिव। महादेव।

नदीन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) वरुण देवता। (३) वरुण या बन्ना नामक जंगली पेड़ जो पलाश की तरह का होता है।

नदीनिष्पाव–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान जिसका

चावल कडवा होता है। बोरो। वैद्यक में ग्रह कड़ुवा, कसैला, भारी, रूखा, वात और कफ उत्पन्न करनेवाला और विष-दोष-नाशक माना गया है।

नदीपति–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) समुद्र। (२) वरुण।

नदीभल्लातक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का भिलावाँ जो जल के किनारे होता है, पत्ते गूमा के पत्तों के समान होते हैं, और फल लाल रंग का होता है। वैद्यक में यह कड़ुवा, कसैला, मधुर, ठंढा, ग्राही, वातकारक और कफपित्त, रक्त-पित्त तथा व्रणनाशक माना जाता है। नदी भिलावाँ।

नदीभाव–संज्ञा पुं॰ [सं॰] सेंधा नमक।

वि॰ जो नदी में उत्पन्न हुआ हो।

नदीभाषक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] मानकंद या मानकच्चू नामक कंद।

नदीमातृक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह देश जहाँ की खेती-बारी का सारा काम केवल नदी के जल से होता हो और जहाँ वर्षा के जल की कोई आवश्यकता न हो, जैसे, मिस्र देश।

नदीमुख–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह स्थान जहाँ समुद्र में नदी गिरती हो। नदी का मुहाना।

नदीवट–संज्ञा पुं॰ [सं॰] बट या बड़ का पेड़।

नदीश–संज्ञा पुं॰ [सं॰] समुद्र।

नदीसर्ज–संज्ञा पुं॰ [सं॰] अर्जुन वृक्ष।

नदेया–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] भूमि जम्बू। छोटी जामुन।

नदोला†– संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नांद + ओला (प्रत्य॰)] मिट्टी की छोटी नाँद।

नद्दना*†–क्रि॰ अ॰ दे॰ "नदना"।

नद्दी*†–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "नदी"।

नद्ध–वि॰ [सं॰] बँधा हुआ। बद्ध। नद़ा हुआ। नथा हुआ।

नद्ध्री–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] चमड़े की डोरी। ताँत।

नद्याम्र–संज्ञा पुं॰ [सं॰] समष्ठिला। कोकुआ का पौधा।

नद्यावर्त्तक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] फलित ज्योतिष में यात्रा के लिये एक शुभ योग जो उस समय होता है जब कि बुध अपनी राशि पर हो और ब्रहस्पति या शुक्र लग्न में हों अथवा मंगल उच्चस्थित हो और शनि कुंभ राशि में हो। कहते हैं कि इस योग में यात्रा करने से सब प्रकार के शत्रुओं का बहुत सहज में नाश हो जाता है। इसे नंद्यावर्त्तक भी कहते हैं।

नद्युत्सृष्ट–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह स्थान जो नदी के हट जाने से निकल आया हो। चर। गंगबरार।

नधना–क्रि॰ अ॰ [सं॰ नद्ध + ना (प्रत्य॰)] (१) रस्सी या तस्मे के द्वारा बैल घोड़े आदि का उस वस्तु के साथ जुड़ना या बँधना जिसे उन्हें खींचकर ले जाना हो। जुतना। जैसे, बैल का गाड़ी या हल में नधना।

मुहा॰—काम में नधना = काम में लगना। जैसे, तुम तो दिन रात काम में नधे रहते हो।

(२) जुड़ना। संबद्ध होना। (३) किसी कार्य्य का अनुष्ठित होना। काम का ठनना। जैसे, जब यह काम नध गया है तब इसे पूरा ही कर डालना चाहिए।

नधाव–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नधना] सिँचाई के लिये पानी ऊपर चढ़ाने में ऊपर उलीचने के लिये जो कई गड्ढे बनाने पड़ते हैं उनमें सबसे नीचे का गड्ढा।

ननंद–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] ननद। पति की बहन।

ननका‡–संज्ञा पुं॰ दे॰ "नन्हा"।

ननकारना*†–क्रि॰ अ॰ [हिं॰ न + करना] इनकार करना। अस्वीकार करना। मंजूर न करना।

ननंद, ननद–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ ननंदृ] पति की बहिन।

ननदी‡–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "ननद"।

ननदोई–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ ननद + ओई (प्रत्य॰)] ननद का पति। पति का बहनोई।

ननसार–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ नाना + शाला] ननिहाल। नाना का घर। उ॰—रामचंद्र लक्ष्मण सहित घर राखे दशरत्थ। बिदा कियो ननसार को सँग शत्रुघ्न भरत्थ।—केशव।

नना–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) माता। (२) कन्या। लड़का। (३) वाक्य।

ननिअउरा, ननिआउर‡–संज्ञा पुं॰ दे॰ "ननिहाल"।

ननिया ससुर–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नानी + इया (प्रत्य॰) + हिं॰ ससुर] स्त्री या पति का नाना।

ननिया सास–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ नाना + इया (प्रत्य॰) + हिं॰ सास] स्त्री या पति की नानी।

ननिहारी†–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] एक प्रकार की ईंट।

ननिहाल–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नाना + आलय] नाना का घर। ननसार।

ननु–अव्य॰ [सं॰] एक अव्यय जिसका व्यवहार कुछ पूछने, संदेह प्रकट करने अथवा वाक्य के आरंभ में किया जाता है। (क्व॰)

ननोई–संज्ञा पुं॰ [देश॰] एक प्रकार का जंगली धान जो बिना जोते बोए वर्षा में जलाशयों में स्वयं पैदा होता है। पसही। तिन्नी।

नन्ना†–संज्ञा पुं॰ दे॰ "नाना"।

वि॰ दे॰ "नन्हा"।

नन्यौरा†–संज्ञा पुं॰ दे॰ "ननिहाल"।

नन्हा–वि॰ [सं॰ न्यंच या न्यून] [स्त्री॰ नन्हीं] छोटा।

मुहा॰—नन्हा सा = बहुत छोटा। जैसे, नन्हा सा बच्चा, नन्हा सा हाथ।

नन्हाई*–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ नन्हा + ई (प्रत्य॰)] (१) छोटापन। छोटाई। (२) अप्रतिष्ठा। बदनामी। हेठी। उ॰—(क) वृद्ध वयस सुत भयो कन्हाई। नंदमहर की करै

नन्हाई।—सूर। (ख) व्रज परगन सरदार महर तू तिनकी करत नन्हाई।—सूर।

नन्हिया†–संज्ञा पुं० [हिं० नन्हा] (१) एक प्रकार का धान। (२) इस धान का चावल।

नन्हैया*‡–वि० दे० "नन्हा"। उ०—चुटकी देहि नचावै सुत जानि नन्हैया।—सूर।

नपत†–संज्ञा स्त्री० दे० "नपाई"।

नपता–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जिसके डैनों पर काली या लाल चित्तियाँ होती हैं।

नपरका–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जिसकी गरदन और पेट लाल, और पैर तथा चोंच पीली होती है।

नपराजित–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

नपाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाप + आई (प्रत्य०)] (१) नापने का काम। (२) नापने का भाव। (३) नापने की मजदूरी।

नपाक*†–वि० [फा० नापाक] अपवित्र। अशुद्ध।

नपात–संज्ञा पुं० [सं०] देवयान पथ।

नपुंसक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार वह पुरुष जिसमें कामेच्छा बिलकुल न हो अथवा बहुत ही कम हो और किसी विशेष उपाय से जाग्रत हो। नपुंसक पाँच प्रकार के माने गए हैं। आसेव्य, सुगंधी, कुंभीक, ईर्षक और षंड। (२) वह जो न पुरुष हो और न स्त्री। षंड। क्लीब। हिजड़ा। नामर्द।

विशेष—मनुष्यों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो न तो पूरे पुरुष कहे जा सकते हैं और न स्त्री। उनमें मूत्र की कोई इंद्रिय स्पष्ट नहीं होती और न मूछ-दाढ़ी या पुरुषत्व ही होता है। वैद्यक के अनुसार जब कि पिता का वीर्य्य और माता का रज दोनों समान होते हैं तब संतान नपुंसक होती है।

(३) कायर। डरपोक। (क्व०)

नपुंसकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नपुंसक होने का भाव। हिजड़ापन। (२) एक प्रकार का रोग जिसमें मनुष्य का वीर्य्य बिलकुल नष्ट हो जाता है और वह स्त्री-संभोग के योग्य नहीं रह जाता। नामर्दी।

नपुंसकत्व–संज्ञा पुं० [सं०] नामर्दी। नपुंसकता।

नपुंसक मंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार वह मंत्र जिसके अंत में 'नमः' हो।

नपुंसक वेद–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार एक प्रकार का मोहनीय कर्म्म जिसके उदय से स्त्री के साथ भी संभोग करने की इच्छा होती है और बालक या पुरुष के साथ भी।

नपुआ†–संज्ञा पुं० [हिं० नाप + उआ (प्रत्य०)] नापने का पात्र। वह बरतन जिसमें रखकर कोई चीज नापी जाय। मान।

नपुत्री*†–वि० दे० "निपुत्री"।

नप्ता–संज्ञा स्त्री० [सं० नप्तृ] [स्त्री० नप्त्री] लड़की या लड़के की संतान। नाती या पोता।

नप्तृका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पक्षी जिसका मांस हलका ठंढा, मीठा, कसैला और दोषनाशक माना जाता है।

नफर–संज्ञा पुं० [फा०] (१) दास। सेवक। जैसे, नौकर के आगे चाकर, चाकर के आगे नफर। उ०—कबिरा भूलि बिगारिया करि करि मैला चित्त। साहब गरुआ चाहिए नफर बिगारो नित्त।—कबीर। (२) व्यक्ति। जैसे, दस नफर मजदूर।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार केवल बहुत छोटा काम करनेवालों की संख्या आदि प्रकट करने के लिये होता है।

नफरत–संज्ञा स्त्री० [अ०] घिन। घृणा।

नफरी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) एक मजदूर की एक दिन की मजदूरी। (२) एक मजदूर का एक दिन का काम। (३) मजदूरी का दिन। जैसे, दो नफरी में वह चौकी तैयार हो जायगी।

नफसानफसी–संज्ञा स्त्री० [अ० नफ़्स] (१) वह विवाद या झगड़ा जो केवल व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रखकर किया जाय। खींचतान। (२) चखाचखी। वैमनस्य। लड़ाई।

नफ़ा–संज्ञा पुं० [अ०] लाभ। फायदा। उ०—(क) अजा मोल लै नीचन देई। चर्म नफा पर अपना लेई।—रघुनाथ। (ख) धनहित उद्यम किहिस अपारा। होय नफा नहिं घटा निहारा।—रघुनाथ।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना।

नफासत–संज्ञा स्त्री० [अ०] नफीस होने का भाव। उम्दापन।

नफ़ीरी–संज्ञा स्त्री० [फा०] तुरही। शहनाई।

नफ़ीस–वि० [अ०] (१) उत्तम। उमदा। बढ़िया। (२) साफ़। स्वच्छ। (३) जिसकी बनावट बहुत अच्छी हो। सुंदर।

नबी–संज्ञा पुं० [अ०] ईश्वर का दूत। पैगंबर। रसूल।

नबेड़ना–क्रि० स० [सं० निवारण, हिं० निपटाना] (१) निपटाना। तै करना। (झगड़ा आदि) समाप्त करना। जैसे, तुम्हें दूसरे की क्या पड़ी है, तुम अपनी नबेड़ो। (२) अपने मतलब की चीज ले लेना और बाकी छोड़ देना। चुनना। (क्व०)। दे० "निबेरना"।

नबेड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० नबेड़ना] फैसला। न्याय। निपटारा।

नबेरना†–क्रि० स० दे० "नबेड़ना"।

नबेरा†–संज्ञा पुं० दे० "नबेड़ा"।

नब्दीगर–संज्ञा पुं० [फा० नमदागर] चारजामा बनानेवाला आदमी।

नब्ज़–संज्ञा स्त्री० [अ०] हाथ की वह रक्तवहा नाली जिसकी चाल से रोग की पहचान की जाती है। नाड़ी।

क्रि० प्र०—देखना।—दिखाना।

मुहा०—**नब्ज़ चलना** = नाड़ी में गति होना। **नब्ज़ न रहना** = नाड़ी की गति का अंत हो जाना। नाड़ी में गति न रह जाना। प्राण न रहना। **नब्ज़ छूटना** = दे० "नब्ज़ न रहना"।

नब्बे-वि० [सं० नवति] जो गिनती में पचास और चालीस हो। सौ से दस कम।

संज्ञा पुं० [सं० नवति] चालीस और पचास की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—९०।

नभःकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

नभःक्रांती-संज्ञा पुं० [सं० नभःक्रांतिन्] सिंह।

नभःपांथ-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

नभःप्रभेद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम जो विरूप के वंशज थे। ऋग्वेद में इनके कई मंत्र मिलते हैं।

नभःप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

नभःसद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता। (२) आकाश में विचरनेवाले पक्षी आदि।

नभःसरित्-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशगंगा।

नभःसुत-संज्ञा पुं० [सं०] पवन। हवा।

नभ-संज्ञा पुं० [सं० नभस्] (१) पंच तत्व में से एक। आकाश। आसमान।

पर्य्या०—आकाश। गगन। व्योम।

(२) शून्यस्थान। आकाश। (३) शून्य। सुन्ना। सिफ़र। (४) श्रावण मास। सावन का महीना। (५) भादों का महीना। उ०—नभसित हरिव्रत करो नरेशा।—रघुनाथ। (६) आश्रय। आधार। (७) पास। निकट। नजदीक। उ०—नभ आश्रय नभ भाद्रपद नभ श्रावण को मास। नभ आकाश नभ निकट ही घट घट रमा निवास।—नंददास। (८) राजा नल के एक पुत्र का नाम। (९) हरिवंश के अनुसार रामचंद्र के वंश के एक राजा का नाम। (१०) हरिवंश के अनुसार चाक्षुस मुनि के एक पुत्र का नाम। (११) चाक्षुष मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक का नाम। (१२) शिव। महादेव। (१३) अभ्रक। (१४) जल। (१५) जन्मकुंडली में लग्न स्थान से दसवाँ स्थान। (१६) मेघ। बादल। (१७) वर्षा। (१८) मृणाल सूत्र। (१९) विषतंतु।

वि० [सं०] हिंसक।

नभग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। (२) हवा। (३) बादल। (४) भागवत के अनुसार वैवस्वत मनु के एक पुत्र का नाम।

वि० [सं०] (१) आकाश-गामी। आकाश में विचरनेवाला। (२) भाग्यहीन। अभागा।

नभगनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

नभगामी-संज्ञा पुं० [सं० नभोगामिन्] (१) चंद्रमा। (डिं०)। (२) पक्षी। (३) देवता। (४) सूर्य्य। (५) तारा।

नभगेश-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

नभचर-संज्ञा पुं० दे० "नभश्चर"।

नभधुज*-संज्ञा पुं० [सं० नभध्वज] मेघ। बादल।

नभध्वज-संज्ञा पुं० दे० "नभोध्वज"।

नभनीरप-संज्ञा पुं० [सं० नभोनीरप] चातक। पपीहा।

नभश्चक्षु-संज्ञा पुं० [सं० नभश्चक्षुस्] सूर्य्य।

नभश्चमस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) इंद्रजाल।

नभश्चर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। (२) बादल। (३) हवा। (४) देवता, गंधर्व और ग्रह आदि।

वि० आकाश में चलनेवाला।

नभसंगम-संज्ञा पुं० [सं०] चिड़िया। पक्षी।

नभस-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार दसवें मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक का नाम।

नभस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) शिव।

नभस्थित-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

वि० [सं०] जो आकाश में हो। आकाश में ठहरा हुआ।

नभस्मय-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

नभस्य-संज्ञा पुं० [सं] (१) भादों का महीना। (२) हरिवंश के अनुसार स्वारोचिष मनु के एक पुत्र का नाम।

नभस्वान्-संज्ञा पुं० [सं० नभस्वत्] वायु। हवा।

नभाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँधेरा। अंधकार। (२) राहु। (३) एक ऋषि का नाम।

नभि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पहिया। चक्र।

नभोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश में चलनेवाले, पक्षी, देवता, ग्रह आदि। (२) जन्मकुंडली में लग्नस्थान से दसवाँ स्थान। (३) दसवें मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक का नाम।

नभोगति-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आकाश में चलता हो। जैसे, पक्षी, देवता, ग्रह आदि।

नभोद-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार एक विश्वदेव का नाम।

नभोदुह-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

नभोद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] बादल।

नभोध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] बादल।

नभोनदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशगंगा।

नभोमणि-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

नभोयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

नभोरूप-वि० [सं०] नीले रंग का। जिसका रंग नीला हो।

नभोरेणु-संज्ञा पुं० [सं०] कुहरा। कुहासा।

नभोलय-संज्ञा पुं० [सं०] धूआँ।

वि० [सं०] जो आकाश में लीन हो जाय ।

नभोवट-संज्ञा पुं० [सं०] आकाशमंडल ।

नभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहिए के बीच का भाग । (२) धुरी । अक्ष । (३) वह तेल या चिकनाई जो पहिए में दी जाय ।

नभ्राज-संज्ञा पुं० [सं०] बादल । मेघ ।

नम-वि० [फा०] [संज्ञा नमी] गीला । तर । भीगा हुआ । आर्द्र ।
संज्ञा पुं० [सं० नमस्] (१) नमस्कार । (२) त्याग । (३) अन्न । (४) वज्र । (५) यज्ञ । (६) स्तोत्र ।

नमक-संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक प्रसिद्ध क्षार पदार्थ जिसका व्यवहार भोज्य पदार्थों में एक प्रकार का स्वाद उत्पन्न करने के लिये थोड़े मान में होता है । लवण । नोन ।

विशेष-नमक संसार के प्रायः सभी भागों में दो रूपों में पाया जाता है—एक तो जमीन में, चट्टानों या स्तरों के रूप में और दूसरा समुद्रों, झीलों और तालाबों आदि के खारे जल में । भारत में पंजाब, कोहाट, तथा काँगड़े की मंडी नामक रियासत में नमक की खानें हैं जिनमें से बहुत प्राचीन काल से नमक निकाला जाता है । सिंध भी नमक के लिये प्रसिद्ध था इसी से वहां के नमक को सैंधव (सेंधा) कहते थे । पंजाब की खान का नमक भी सेंधा कहलाता है । यह प्रायः साफ और सफेद रंग का होता है और इसमें किसी प्रकार की गंध नहीं होती । इसके अतिरिक्त समुद्र या झीलों के खारे पानी आदि को सुखाकर भी कई प्रकार के नमक निकाले जाते हैं । इस प्रकार का नमक करकच कहलाता है । कहीं कहीं रेह या मिट्टी में से भी एक प्रकार का नमक निकाला जाता है जो खारी कहलाता है । एक और प्रकार का नमक होता है जो काला नमक कहलाता है । यह साधारण नमक को हड़, बहेड़े और सज्जी के साथ गलाकर बनाया जाता है । इसके अतिरिक्त औषधि और रसायन आदि के काम के लिये और भी अनेक वनस्पतियों तथा दूसरे पदार्थों को जलाकर खार या नमक तैयार करते हैं । वैद्यक में सैंधव (सेंधा), शाकंभरी (साँभर), समुद्रलवण (करकच), विडलवण, सौवर्चल (काला नमक, सोंचर), काचलवण (नोनी मिट्टी से बनाया हुआ कचिया नमक) औद्भिद, औषर, रोमक और द्रोणी आदि कई प्रकार के लवण गिनाए गए हैं जिनमें से सेंधा नमक सबसे अच्छा माना गया है ।

मुहा०—**नमक अदा करना** = अपने पालक या स्वामी के उपकार का बदला चुकाना । मालिक के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना । **(किसी का) नमक खाना** = (किसी के द्वारा) पालित होना । (किसी का) दिया खाना । **जैसे, आपने पाँच बरस तक उनका नमक खाया है, आज अगर उन्होंने आपको दो बातें कह ही दीं तो क्या हो गया ?** **नमक मिर्च मिलाना या लगाना** = किसी बात को अधिक रोचक या प्रभावशाली बनाने के लिये उसमें अपनी ओर से भी कुछ बढ़ा देना । किसी बात को बढ़ाकर कहना । **जैसे, उन्होंने यहाँ का सारा हाल तो कह ही दिया । साथ ही अपनी तरफ से भी कुछ नमक मिर्च लगा दिया ।** **नमक फ़ूटकर निकलना** = नमकहरामी की सजा मिलना । कृतघ्नता का दंड मिलना । **नमक से या नमक पानी से अदा होना** = दे० **"नमक अदा करना"** । **कटे पर नमक छिड़कना** = किसी दुखी को और भी दुःख देना, पीड़ित को और भी पीड़ित करना । **नमक का सहारा** = थोड़ा सहारा । थोड़ी सहायता ।

यौ०—**नमकख्वार । नमकहराम । नमकहरामी । नमकहलाल । नमकहलाली ।**

(२) कुछ विशेष प्रकार का सौंदर्य्य जो अधिक मनोहर या प्रिय हो । लावण्य । सलोनापन ।

नमकख्वार-वि० [फ़ा०] नमक खानेवाला । पालित होनेवाला । जिसका किसी दूसरे के द्वारा पालन पोषण या जीविकानिर्वाह हो ।

नमकदान-संज्ञा पुं० [हिं० नमक + दान (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्प० नमकदानी] पिसा हुआ नमक रखने का पात्र ।

नमकसार-संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ नमक निकलता या बनता हो ।

नमकहराम—संज्ञा पुं० [फा० नमक + अ० हराम] वह जो किसी का दिया हुआ अन्न खाकर उसी का द्रोह करे । अपने अन्नदाता को ही हानि पहुँचानेवाला मनुष्य । कृतघ्न ।

नमकहरामी-संज्ञा स्त्री० [फा० नमक + अ० हराम + ई (प्रत्य०)] नमकहरामपन । कृतघ्नता ।

नमकहलाल-संज्ञा पुं० [फा० नमक + अ० हलाल] वह जो अपने स्वामी वा अन्नदाता का कार्य धर्मपूर्वक करे । सदा अपने मालिक की भलाई करनेवाला मनुष्य । स्वामिनिष्ठ । स्वामिभक्त ।

नमकहलाली-संज्ञा स्त्री० [फा० नमक + अ० हलाल + ई (प्रत्य०)] नमकहलाल होने का भाव । स्वामिनिष्ठा । स्वामिभक्ति ।

नमकीन-वि० [फा०] (१) जिसमें नमक का सा स्वाद हो । जैसे, चने का साग नमकीन होता है । (२) जिसमें नमक पड़ा हो । जैसे, नमकीन बुँदिया, नमकीन खुरमा । (३) जिसके चेहरे पर नमक हो । सुंदर । खूबसूरत । सलोना ।
संज्ञा पुं० वह पकवान आदि जिसमें नमक पड़ा हो । जैसे, समोसा, सेव, पापड़, दालमोठ आदि ।

नमग़ीरा-संज्ञा पुं० [फा०] वह कपड़ा जिसे ओस आदि से रक्षित रहने के लिये पलंग के ऊपरी भाग में तान देते हैं । (२) पाल या तिरपाल आदि जिसे धूप और वर्षा से रक्षित रखने के लिये किसी स्थान के ऊपर तानते हैं ।

नमत— संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभु। स्वामी। (२) नठ। (३) धूआँ। वि० नम्र। जो झुके।

नमदा–संज्ञा पुं० [फा०] जमाया हुआ ऊनी कंबल या कपड़ा।

मुहा०—दुम में नमदा बांधना=दे० "दुम" के मुहा०।

नमन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० नमनीय, नमित] (१) प्रणाम। नमस्कार। (२) झुकाव।

नमना※†–क्रि० अ० [सं० नमन] (१) झुकना। (२) प्रणाम करना। नमस्कार करना।

नमनीय–वि० [सं०] (१) नमस्कार करने योग्य। आदरणीय। पूजनीय। माननीय। जिसे नमस्कार किया जाय। उ०—किन्नरी नरी सुनारि पन्नगी नगी कुमारि आसुरी सुरीन हू निहारि नमनीय है।—केशव। (२) जो झुक सके या झुकाया जा सके।

नमस्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झुकना। नमन। (२) प्रणाम। नमस्कार। (३) त्याग। छोड़ देना। (४) यज्ञ। (५) अन्न। (६) वज्र। (७) स्तोत्र।

नमसित–वि० [सं०] जिसे नमस्कार किया गया हो। पूजित।

नमस्कार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झुककर अभिवादन करना। प्रणाम। (२) एक प्रकार का विष।

नमस्कारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लज्जावंती। लजालू। (२) वराहक्रांता। (३) खदिरी या खदरिका नामक क्षुप।

नमस्कार्य–वि० [सं०] (१) जो नमस्कार करने योग्य हो। पूज्य। वंदनीय। (२) जिसे नमस्कार किया जाय।

नमस्क्रिया–संज्ञा स्त्री० दे० "नमस्कार"।

नमस्ते–[सं०] एक वाक्य जिसका अर्थ है—आपको नमस्कार है।

नमस्य–संज्ञा पुं० [सं०] नमस्कार करने के योग्य। पूज्य। आदरणीय।

नमाज़–संज्ञा स्त्री० [फा० मि० सं० नमन] मुसलमानों की ईश्वर-प्रार्थना जो नित्य पांच बार होती है।

विशेष—दैनिक पाँच बार की नमाज़ के अतिरिक्त सूर्य्य या चंद्रग्रहण के समय, अनावृष्टि के समय, ईद के दिन, किसी के मरने पर तथा इसी प्रकार के और अवसरों पर भी नमाज़ पढ़ी जाती है।

क्रि० प्र०—अदा करना।—गुजारना।—पढ़ना।

मुहा०—नमाज़ कज़ा होना=नियत समय पर नमाज़ न पढ़ा जा सकना।

नमाज़गाह–संज्ञा स्त्री० [फा०] मसजिद में वह जगह जहाँ नमाज़ पढ़ी जाती है।

नमाज़बंद–संज्ञा पुं० [फा०] कुश्ती का एक प्रकार का पेच।

नमाज़ी–संज्ञा पुं० [फा०] (१) नमाज़ पढ़नेवाला। (२) वह वस्त्र जिस पर खड़े होकर नमाज़ पढ़ी जाती है।

नमाना※†–क्रि० स० [सं० नमन] (१) झुकाना। (२) दबाकर अपने अधीन करना। पस्त करना। काबू में करना।

नमित–वि० [सं०] झुका हुआ।

नमिस–संज्ञा स्त्री० [फा० नमिश्क] एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ दूध का फेन जो जाड़े में खाया जाता है।

विशेष–पहले दूध को उबाल लेते हैं तब उसमें चीनी या मिसरी, इलायची, केसर आदि मिलाकर रात भर उसे ओस में रखते और बहुत सबेरे उसे मथानी से मथते हैं जिससे फेन निकलता है।

नमी–संज्ञा स्त्री० [फा०] गीलापन। आर्द्रता। तरी। जैसे, इस जमीन में बहुत नमी है।

नमुचि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) एक दानव का नाम जो विप्रचित्ति नामक दानव का पुत्र था। यह पहले इंद्र का सखा था। इंद्र ने इससे प्रतिज्ञा की थी कि मैं न तो तुम्हें दिन में मारूँगा और न रात में, न सूखे अस्त्र से मारूँगा न गीले अस्त्र से। पर पीछे इसने उनका बल हरण कर लिया था। इंद्र ने सरस्वती और अश्विनीकुमारों से समुद्र की झाग के समान एक वज्रास्त्र लेकर उससे इसे मारा था। (३) पुराणानुसार एक दैत्य का नाम जो शुंभ और निशुंभ का छोटा भाई था। (४) कामदेव।

नमुचिसूदन–संज्ञा पुं० [सं०] नमुचि को मारनेवाले इंद्र।

नमूदार–वि० [फा०] जो उदित हुआ हो। प्रकट। दृग्गोचर।

नमूना–संज्ञा पुं० [फा०] (१) किसी बड़े या अधिक पदार्थ में से निकाला हुआ वह छोटा या थोड़ा अंश जिसका उपयोग उस मूल पदार्थ के गुण और स्वरूप आदि का ज्ञान कराने के लिये होता है। बानगी। जैसे, कपड़े का नमूना, चावल का नमूना। (२) वह जिससे उसके सदृश दूसरी वस्तुओं के स्वरूप और गुण आदि का ज्ञान हो जाय। जैसे, नमूने का थान, नमूने की टोपी। (३) वह जिसके अनुकरण पर वैसी ही और वस्तुएँ बनाई जायँ। (४) ढाँचा। ठाठ। खाका।

नमेरु, नमेरू–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुद्राक्ष का पेड़। (२) एक प्रकार का पुन्नाग।

नम्र–वि० [सं०] (१) विनीत। जिसमें नम्रता हो (२) झुका हुआ।

नम्रक–संज्ञा पुं० [सं०] बेंत।

नम्रता–संज्ञा स्त्री० [सं०] नम्र होने का भाव।

नय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीति। (२) नम्रता। (३) एक प्रकार का जूआ। (४) विष्णु। (५) जैन दर्शन में प्रमाणों द्वारा निश्चित अर्थ को ग्रहण करने की वृत्ति जो

सात प्रकार की होती है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ।

*संज्ञा स्त्री० [सं० नद] नदी । उ०—इक भीजे चहले पड़े बूड़े बहे हजार । केते औगुन जग करत नय वय चढ़ती बार ।—बिहारी ।

नयऋति-संज्ञा पुं० दे० "नैर्ऋत" ।

नयकारी*–संज्ञा पुं० [सं० नृत्यकारी] (१) नर्त्तकों के दल का नायक । नाचनेवालों का मुखिया । उ०—कितनी बार हुआ मैं तेरा नृत्य खेल दल नयकारी ।—श्रीधर पाठक । (२) नाचनेवाला । नचनिया । उ०—निज शिशुगण को मोद चक्र में साथ नचावे नैकारी ।—श्रीधर पाठक ।

नयन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्षु । नेत्र । आँख ।

यौ०—नयनगोचर ।

विशेष—"नयन" के मुहविरों के लिये देखो "आँख" के मुहाविरे ।

(२) ले जाना ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली ।

नयनगोचर–वि० [सं०] दिखाई पड़नेवाला । जो आँखों के सामने हो । समक्ष ।

नयनपट–संज्ञा पुं० [सं०] आँख की पलक । उ०—छबि समुद्र हरि रूप विलोकी । एकटक रहे नयन पट रोकी ।—तुलसी ।

नयना*†–क्रि० अ० [सं० नमन] (१) नम्र होना । (२) झुकना । लटकना ।

†संज्ञा पुं० [सं० नयन] आँख । नेत्र । चक्षु ।

नयनागर– वि०[सं०] नीतिज्ञ । नीति-निपुण ।

नयनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख की पुतली ।

वि० स्त्री० आँखवाली ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्द के अंत में होता है । जैसे, मृगनयनी, कमलनयनी ।

नयनू–संज्ञा पुं० [सं० नवनीत] (१) मक्खन । (२) एक प्रकार की मलमल जिस पर सफेद सूत की बूटियाँ बनी होती हैं ।

नयनौषध–संज्ञा पुं० [सं०] पुष्प कसीस । पीला कसीस ।

नयर*–संज्ञा पुं० [सं० नगर] शहर । पुर । नगर । (डिं०)

नयशील–वि० [सं०] (१) नीतिज्ञ । (२) विनीत । उ०—तुम कपीस अंगद नलनीला । जामवंत मारुति नयसीला ।—तुलसी ।

नया–वि० [सं० नव । मि०फा० नौ] (१) जिसका संगठन, सृजन, आविष्कार या आविर्भाव बहुत हाल में हुआ हो । जो थोड़े समय से बना, चला या निकला हो । नवीन । नूतन । ताजा । हाल का । पुराना का उलटा । जैसे, नया कपड़ा, नया पान, नए विचार, नई (हाल की बनी या छपी हुई) किताब ।

मुहा०—**नया करना** = (१) कोई नया फल या अनाज, मौसिम में पहले पहल खाना । मौसिम की नई चीज पहले पहल खाना । (२) कपड़ा आदि फाड़ या जला देना । (इस मुहाविरे का प्रयोग स्त्रियाँ प्रायः अशुभ बात मुँह से निकालने से बचने के लिये करती हैं ।) जैसे, इसे जो कपड़ा पहनाओ वही नया करके रख देता है । **नया पुराना करना** =(१) पुराना हिसाब साफ करके नया हिसाब चलाना । (महाजनी) । (२) पुराने को हटाकर उसके स्थान पर नया करना या रखना ।

यौ०—**नया नवेला** = नवयुवक । नौजवान ।

(२) जिसका अस्तित्व तो पहले से हो परंतु परिचय हाल में मिला हो । जो थोड़े समय से मालूम हुआ हो या सामने आया हो । जैसे, (क) कोलंबस ने एक नए महाद्वीप का पता लगाया था । (ख) अशोक का एक नया शिलालेख मिला है । (ग) नए आदमी को देखकर यह लड़का घबरा जाता है । (३) पहलेवाले से भिन्न । जो पहले था उसके स्थान पर आनेवाला दूसरा । जैसे, (क) मैंने कल एक नया घोड़ा खरीदा है । (ख) बंगाल में नए लाट आए हैं । (४) जो पहले किसी के व्यवहार में न आया हो । जिससे पहले किसी ने काम न लिया हो । जैसे, पहली किताब इसने खो दी थी, यह तो इसे नई लेकर दी गई है । (५) जिसका आरंभ पहले पहल अथवा फिर से, परंतु बहुत हाल में हुआ हो । जैसे, नई जिंदगी पाना, नए सिर से कोई काम करना, नया चाँद देखना । (६) जिसका नामकरण किसी पुराने नाम पर हुआ हो । जिसका नाम किसी पुराने (स्थान आदि) के नाम पर रखा गया हो । जैसे, नया गोदाम, नई बस्ती, नया बाजार आदि ।

नयापन–संज्ञा पुं० [सं० नव, हिं० नया + पन (प्रत्य०)] नया होने का भाव । नवीनता । नूतनत्व ।

नयाम–संज्ञा पुं० [फा०] तलवार की म्यान । तलवार की खोल ।

नरंग–संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी का पेड़ ।

नर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । महादेव । (३) अर्जुन । (४) धर्मराज और दक्षप्रजापति की एक कन्या से उत्पन्न एक पौराणिक ऋषि जो ईश्वर के अंशावतार माने जाते थे । ये और नारायण दोनों भाई थे । विशेष–दे० "नर-नारायण" । (५) एक देव-योनि । (६) पुरुष । मर्द । आदमी । (७) एक प्रकार का क्षुप जिसे रायकपूर, रोहिस, सेंधिया और गंधेल भी कहते हैं । विशेष—दे० "गंधेल" । (८) वह खूँटी जो छाया आदि जानने के लिये खड़े बल गाड़ी जाती है । शंकु । लंब । (९) सेवक । (१०) गय

राक्षस के पुत्र का नाम। (११) सुद्युति के पुत्र का नाम। (१२) भवन्मन्य के पुत्र का नाम। (१३) दोहे का एक भेद जिसमें १५ गुरु और १८ लघु होते हैं। जैसे विश्वंभर नामै नहीं, मही विश्व में नाहिं। दुइ मँह झूठी कौन है, यह संशय जिय माहिं। (१४) छप्पय का एक भेद जिसमें १० गुरु और १३ लघु होते हैं।

वि० जो (प्राणी) पुरुष जाति का हो। मादा का उलटा।

संज्ञा पुं० [हिं० नल] नल जिसमें से होकर पानी जाता है। उ०—नर की अरु नर नीर की एकै गति कर जोइ। जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ।—बिहारी।

संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नरई-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) गेहूँ की बाल का डंठल। (२) किसी घास का डंठल जो अंदर से पोला हो। (३) एक प्रकार की घास जो प्रायः जलाशयों के पास होती है।

नरकंत*-संज्ञा पुं० [सं० नरकांत] राजा। नृप।

नरक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणों और धर्मशास्त्रों आदि के अनुसार वह स्थान जहाँ पापी मनुष्यों की आत्मा पाप का फल भोगने के लिये भेजी जाती है। वह स्थान जहाँ दुष्कर्म करनेवालों की आत्मा दंड देने के लिये रखी जाती है। दोज़ख़। जहन्नुम।

विशेष—अनेक पुराणों और धर्मशास्त्रों में नरक के संबंध में अनेक बातें मिलती हैं। परंतु इनसे अधिक प्राचीन ग्रंथों में नरक का उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि वैदिक काल में लोगों में इस प्रकार की नरक की भावना नहीं थी। मनुस्मृति में नरकों की संख्या २१ बतलाई गई है जिनके नाम ये हैं—तामिस्र, अंधतामिस्र, रौरव, महारौरव, नरक, महानरक, कालसूत्र, संजीवन, महावीचि, तपन, प्रतापन, संहात, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्त्तिक, लोहशंकु, ऋजीष, शाल्मली, वैतरणी, असिपत्रवन और लोहदारक। इसी प्रकार भागवत में भी २१ नरकों का वर्णन है जिनके नाम इस प्रकार हैं—तामिस्र, अंधतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुंभीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अंधकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तशूर्म्मि, वज्रकंटकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीची और अयःपान। इसके अतिरिक्त क्षारमर्द्दन, रक्षोगणभोजन, शूल-प्रोत, दंदशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्त्तन और सूचीमुख ये सात नरक और भी माने गए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणों में और भी अनेक नरककुंड माने गए हैं, जैसे—वसाकुंड, तप्तकुंड, सर्पकुंड, चक्रकुंड। कहते हैं कि भिन्न भिन्न पाप करने के कारण मनुष्य की आत्मा को भिन्न भिन्न नरकों में सहस्रों वर्ष तक रहना पड़ता है जहाँ उन्हें बहुत अधिक पीड़ा दी जाती है। मुसलमानों और ईसाइयों में भी नरक की कल्पना है परंतु उनमें नरक के इस प्रकार के भेद नहीं हैं। उनके विश्वास के अनुसार नरक में सदा भीषण आग जलती रहती है। वे स्वर्ग को ऊपर और नरक को नीचे (पाताल में) मानते हैं।

मुहा०—नरक होना = नरक में भेजा जाना। नरक भोगने का दंड होना।

क्रि० प्र०—भोगना।

(२) बहुत ही गंदा स्थान। (३) वह स्थान जहाँ बहुत अधिक पीड़ा या कष्ट हो। (४) पुराणानुसार कलि के पौत्र का नाम जो कलि के पुत्र भय और कलि की पुत्री मृत्यु के गर्भ से उत्पन्न हुआ था और जिसने अपनी बहन यातना के साथ विवाह किया था। (५) विप्रचित्ति दानव के एक पुत्र का नाम। (६) निकृत के गर्भ से उत्पन्न अनृत के एक पुत्र का नाम। (७) दे० "नरकासुर"।

नरकगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्र के अनुसार वह कर्म जिसके करने से मनुष्य को नरक में जाना पड़े।

नरकगामी-वि० [सं०] नरक में जानेवाला।

नरकचतुर्दशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी जिस दिन घर का सारा कूड़ा कतवार निकालकर फेंका जाता है।

नरकचूर-संज्ञा पुं० दे० "कचूर"।

नरकट-संज्ञा पुं० [सं० नल] बेंत की तरह का एक प्रसिद्ध पौधा जिसकी पत्तियाँ बाँस की पत्तियों की तरह पतली और लंबी होती हैं। इसके डंठल लंबे, मजबूत और बीच से पोले होते हैं और कलमें तथा चटाइयाँ आदि बनाने के काम में आते हैं। इसके अतिरिक्त इसके डंठलों का उपयोग हुक्के की निगालियाँ, दौरियाँ और बैठने के लिये मोढ़े आदि बनाने और छतें पाटने में भी होता है। कहीं कहीं इसके रेशों से रस्से भी बनाए जाते हैं।

नरकभूमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] नरक लोक। (जैन)

नरकल-संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नरकस-संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नरकस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैतरणी नदी।

नरकांतक-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

नरकासुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रसिद्ध असुर। कहते हैं कि जिस समय भगवान ने वाराह का अवतार लिया था उस समय उन्होंने पृथ्वी के साथ गमन किया था जिससे उसे गर्भ रह गया था। जब देवताओं को मालूम हुआ कि इस गर्भ में एक बड़ा उग्र और बली असुर है तब उन्होंने पृथ्वी का प्रसव रोक दिया। इस पर पृथ्वी ने भगवान से प्रार्थना की। भगवान ने वर दिया कि त्रेता में जब रामचंद्र के हाथ से रावण का वध होगा तब तुम्हारे गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा और इस बीच में तुम्हें कोई कष्ट

न होगा। ज़िस समय रावण मारा गया उस समय पृथ्वी के गर्भ से उसी स्थान पर इस असुर का जन्म हुआ जिस स्थान पर सीता का जन्म हुआ था। पृथ्वी के इस बालक को राजा जनक ने १६ वर्ष की आयु तक अपने यहाँ रखकर पाला पोसा और पढ़ाया लिखाया था। जब नरक सोलह वर्ष का हो गया तब पृथ्वी उसे जनक के यहाँ से ले आई। उस समय पृथ्वी ने अपने पुत्र को उसके जन्म के संबंध की सारी कथा सुनाई और विष्णु का स्मरण किया। विष्णु नरक को लेकर प्राग्ज्योतिषपुर गए और उन्होंने उसे वहाँ का राजा बना दिया। उसी समय विदर्भ की राजकुमारी माया के साथ नरक का विवाह भी हो गया। उस समय विष्णु ने उसे समझा दिया था कि तुम ब्राह्मणों और देवताओं आदि के साथ कभी विरोध न करना, उन्होंने उसे एक दुर्भेद्य रथ दिया था। नरक कुछ दिनों तक तो बहुत अच्छी तरह राज्य करता रहा पर जब बाणासुर घूमता फिरता प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचा तब नरक भी उसके संसर्ग के कारण दुष्ट हो गया और देवताओं आदि को कष्ट देने लगा। उसी अवसर पर एक वार वशिष्ठ कामाक्षा देवी का दर्शन करने के लिये वहाँ गए थे लेकिन नरक ने उन्हें नगर में घुसने तक नहीं दिया। इस पर वशिष्ठ ने बहुत नाराज होकर शाप दिया था कि शीघ्र ही तुम्हारे पिता के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी। इस पर बाणासुर की सम्मति से नरक तपस्या करने लगा जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे वर दिया कि तुम्हें देवता, असुर, राक्षस आदि में से कोई न मार सकेगा और तुम्हारा राज्य सदा बना रहेगा। इसके बाद उसे भगदत्त, महाशीर्ष, मदवान और सुमाली नामक चार पुत्र हुए। तब उसने हयग्रीव, मुरु, सुंद और उपसुंद आदि असुरों की सहायता से इंद्र को जीता और बहुत ही अत्याचार करना आरंभ किया। अंत में श्रीकृष्ण ने अवतार लेकर प्राग्ज्योतिषपुर पर चढ़ाई की और विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से नरक का सिर काट डाला। कहते हैं कि इसके भांडार में जितना धन आदि था उतना कुबेर के भांडार में भी नहीं था। वह सब धन रत्न आदि श्रीकृष्ण अपने साथ द्वारका ले गए थे।

नरकी-वि० दे० "नारकी"।

नरकुल-संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नरकेशरी, नरकेसरी-संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं।

नरकेहरि-संज्ञा पुं० दे० "नरकेसरी"।

नरकौतुक-संज्ञा पुं० [सं०] मदारी का खेल।

नरखड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] गला।

नरगण-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में नक्षत्रों का एक गण जिसमें उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, पूर्वभाद्रपद, रोहिणी, भरणी और आर्द्रा नक्षत्र सम्मिलित हैं। इस गण में जन्म लेनेवाला सुशील और बुद्धिमान् होता है। राक्षसगण के साथ इस गण का विरोध माना जाता है। इसे मनुष्यगण भी कहते हैं।

वि० दे० "गण (७)"।

नरगिस-संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक पौधा जो ठीक प्याज के पेड़ का सा होता है। इसकी जड़ भी प्याज की गाँठ सी होती है। इसमें कटोरी के आकार का सफेद रंग का फूल लगता है जिसमें गोल काला धब्बा होता है। नरगिस की सुगंध भी बड़ी मनोहर होती है। फारसी और उर्दू के कवि इस फूल के साथ आँख की उपमा देते हैं। इसके फूल का इत्र बहुत अच्छा बनता है। (२) इस पौधे का फूल।

नरगिसी-संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक प्रकार का कपड़ा जिस पर नरगिस की तरह के फूल बने होते हैं। (२) एक प्रकार का तला हुआ अंडा।

वि० नरगिस की तरह या रंग आदि का। नरगिस संबंधी।

नरचा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पाट वा पटुआ।

नरतात-संज्ञा पुं० [सं०] राजा। नृपति। उ०—इमि अनेक उत्पात भए श्यामपुर जात तहँ। तिहि न गिन्यो नरतात समर सूर विख्यात भुव।—गोपाल।

नरत्राण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरपाल। राजा। (२) श्रीकृष्ण।

नरत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नर होने का भाव। नरता।

नरद-संज्ञा स्त्री० [फा० नर्द] (१) चौरस खेलने की गोटी। उ०—तुरत डारिये मार नरद कच्ची करि दीजै।—गिरधर। (२) एक पौधा जिसके फूलों का अरक खींचा जाता है और जिसकी पत्तियाँ मसाले के काम में आती हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० नर्द] शब्द। ध्वनि। नाद।

नरदन-संज्ञा स्त्री० [सं० नर्दन = नाद] नाद करना। गरजना। उ०—वनपति सम नरदन अमित बल निसि मनिमाला गरे।—गोपाल।

नरदवाँ-संज्ञा पुं० [फा० नावदान] नल। पनाला।

नरदा†-संज्ञा पुं० [फा० नावदान] मैला पानी बहने की नाली।

नरदारा-संज्ञा पुं० [सं० नर + सं० दारा] (१) ज़नाना। जनखा। हिजड़ा। नपुंसक। (२) जो पुरुष होकर भी स्त्रियों का काम करे। डरपोक। कायर। उ०—वेष भयानक लखि विकरारा। चहुँ दिसि भागि चले नरदारा।—सबल।

नरदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। नृपति। (२) ब्राह्मण।

नरदेवकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जिनकी कथा श्रीमद्-भागवत में है।

नरनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] राजा। नृपति। नृपाल।

नरनायक-संज्ञा पुं० [सं०] राजा। नृप। भूपति।

नरनारायण-संज्ञा पुं० [सं०] नर और नारायण नाम के दो

ऋषि जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं। कहते हैं कि ये दोनों भाई थे और नारायण इनमें से बड़े थे। महाभारत में लिखा है कि एक बार नर और नारायण गंधमादन पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। उस समय दक्ष का यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञ में दक्ष ने रुद्र के भाग की कल्पना नहीं की थी जिससे क्रुद्ध होकर दक्ष का यज्ञ नष्ट करने के लिये रुद्र ने एक शूल फेंका था। वह शूल यज्ञ नष्ट करने के उपरांत जाकर बड़े जोर से नारायण के वक्षस्थल पर गिरा और उसी समय नारायण के हुंकार से पराजित और आहत होकर फिर शंकर के हाथ में जा पहुँचा। इस पर रुद्र क्रोध करके नर-नारयण पर चढ़ दौड़े। नारायण ने तो रुद्र का गला पकड़ लिया और नर ने उन्हें मारने के लिये एक सींक उड़ाई जो बड़ा भारी पशु बन गई। नारायण और रुद्र में भीषण युद्ध होने लगा। उसमें पृथ्वी तथा आकाश में अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे। जब ब्रह्मा ने आकर रुद्र को समझाया कि ये स्वयं नारायण के अवतार हैं और किसी समय तुम्हारी भी सृष्टि इन्हीं के क्रोध से हुई थी तब रुद्र ने प्रार्थना करके नारायण को प्रसन्न किया। इसके उपरांत रुद्र के साथ नर-नारायण की घनिष्ठ मित्रता हो गई। महाभारत के नारायणीयाख्यान में यह भी लिखा है कि परब्रह्म के अवतार नर और नारायण नामक दो ऋषियों ने नारायणी अर्थात् भागवत धर्म का प्रचार किया था और उनके कहने से जब नारद ऋषि श्वेतद्वीप गए थे तब स्वयं भगवान् ने उनको इस धर्म का उपदेश किया था। देवी भागवत में लिखा है कि ब्रह्मा के पुत्र धर्म ने दक्ष की दस कन्याओं से विवाह किया था जिनके गर्भ से हरि, कृष्ण, नर और नारायण नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनमें से हरि और कृष्ण तो योगाभ्यास करते थे और नर-नारायण हिमालय पर कठिन तपस्या करते थे। उस समय इंद्र ने डरकर इनकी तपस्या भंग करने के लिये काम, क्रोध और लोभ की सृष्टि की और उन तीनों को नर-नारायण के सामने भेजा, परंतु नर-नारायण की तपस्या भंग नहीं हुई। तब इंद्र ने कामदेव की शरण ली। कामदेव अपने साथ वसंत और रंभा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं को लेकर नर-नारायण के पास पहुँचे। उस समय अप्सराओं के गाने आदि से नर-नारायण की आँखें खुलीं। उन्होंने सब बातें समझ लीं और इंद्र को लज्जित करने के लिये तुरंत अपनी जाँघ से एक बहुत सुंदर अप्सरा उत्पन्न की जिसका नाम उर्वशी पड़ा। इसके उपरांत उन्होंने इंद्र की भेजी हुई हजारों अप्सराओं की सेवा करने के लिये उनसे भी अधिक सुंदर हजारों दासियाँ उत्पन्न कीं। इस पर सब अप्पसराएँ नर-नारायण की स्तुति करने लगीं। इन अप्सराओं ने नारायण से यह भी वर माँगा था कि आप हम लोगों के पति हों। इस पर उन्होंने कहा था कि द्वापर में जब हम अवतार लेंगे तब तुम लोग राजकुल में जन्म लोगी। उस समय तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। तदनुसार नारायण तो श्रीकृष्ण और नर अर्जुन हुए थे। कालिकापुराण में लिखा है कि महादेव ने जब शरभ पक्षी का रूप धारण करके अपने दाँतों की चोट से नरसिंह के दो टुकड़े कर दिए थे तब नरसिंह के नररूपी आधे शरीर से नर तथा सिंहरूपी आधे शरीर से नारायण की उत्पत्ति हुई थी।

नरनारि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (अर्जुन) की स्त्री, द्रौपदी। पांचाली। उ०—विपुल भूपति सदसि महँ नरनारि कह्यो प्रभु पाहि। सकल समरथ रहे काहु न वसन दीन्हों ताहि ! —तुलसी।

नरनाह*– संज्ञा पुं० [सं० नरनाथ] राजा। नृप। नृपाल।

नरनाहर– संज्ञा पुं० [सं० नर + हिं० नाहर] नृसिंह भगवान

नरनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पौधा।

नरपति– संज्ञा पुं० [सं०] राजा। नृपति। नृपाल। भूप।

नरपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर। (२) देश।

नरपशु–संज्ञा पुं० [सं] नृसिंह।

नरपाल– संज्ञा पुं० [सं० नृपाल] नृप। राजा। भूपाल। भूपति।

नरपालि–संज्ञा पुं० [सं०] छोटा शंख।

नरपिशाच–संज्ञा पुं० [सं०] जो मनुष्य होकर भी पिशाचों का सा काम करे। बड़ा भारी दुष्ट और नीच मनुष्य।

नरपुर– संज्ञा पुं० [सं०] भूलोक। मनुष्यलोक।

नरप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] नील का पेड़।

नरबदा–संज्ञा स्त्री० दे० "नर्मदा"।

नरभक्षी–संज्ञा पुं० [सं० नरभक्षिन्] मनुष्यों को खानेवाला, राक्षस। दैत्य।

नरभू, नरभूमि– संज्ञा स्त्री० [सं०] भारतवर्ष।

नरमट–संज्ञा स्त्री० [हिं० नरम] वह जमीन जहाँ की मिट्टी मुलायम हो।

नरमदा–संज्ञा स्त्री० दे० "नर्मदा"।

नरम रोआँ–संज्ञा पुं० [हिं० नरम + रोआं] बुनाई के लिये लाल या सफेद रंग का रोआँ जो सदा बहुत मुलायम होता है।

नरम लोहा–संज्ञा पुं० [हिं० नरम + लोहा] अग्नि में लाल करके हवा में ठंढा किया हुआ लोहा जो मुलायम हो जाता है।

नरमा–संज्ञा स्त्री० [हिं० नरम] (१) एक प्रकार की कपास जिसे मनवा, देवकपास या रामकपास भी कहते हैं। (२) सेमर की रुई। (३) कान के नीचे का भाग। लौल।

नरमाई*†—संज्ञा स्त्री० दे० "नरमी"।

नरमाना–क्रि० स० [हिं० नरम + आना (प्रत्य०)] (१) नरम करना। मुलायम करना। (२) शांत करना। धीमा करना।

क्रि० अ० (१) नरम होना। मुलायम होना। (२) शांत होना। ठंढा होना।

नरमावड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बन कपास।

नरमानिका-संज्ञा स्त्री० दे० "नरमानिनी"।

नरमानिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसे मूछ या दाढ़ी हो।

नरमी-संज्ञा स्त्री० [फा० नर्म] नरम होने का भाव। मुलायमियत। कोमलता। मृदुता।

नरमेध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जिसमें प्राचीन काल में मनुष्य के मांस की आहुति दी जाती थी। यह यज्ञ चैत्र शुक्ला दशमी से आरंभ होता था और चालीस दिन में समाप्त होता था।

नरयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य सिद्धांत के अनुसार एक प्रकार का शंकुयंत्र जिसका व्यवहार धूप में समय जानने के लिये होता था।

नरलोक-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यलोक। मृत्युलोक। संसार।

नरवरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] क्षत्रियों की एक जाति।

नरवा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

नरवाई-संज्ञा स्त्री० दे० "नरई"। उ०—बालि छाँड़ि कै सूर हमारे अब नरवाई को लुनै।—सूर।

नरवाह-संज्ञा पुं० [सं०] वह सवारी जिसे मनुष्य खींच या ढोकर ले चले। जैसे, पालकी, तामजान इत्यादि।

नरवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह सवारी जिसे मनुष्य खींच या ढोकर ले चले। (२) कुबेर। (३) किन्नर।

नरव्याघ्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों में श्रेष्ठ। (२) जल में रहनेवाला एक प्रकार का जानवर जिसके शरीर के नीचे का भाग मनुष्य के आकार का और ऊपर का भाग बाघ के आकार का होता है।

नरशक्र-संज्ञा पुं० [सं०] नरेंद्र। राजा। नृप।

नरसल-संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नरसार-संज्ञा पुं० [सं०] नौसादर।

नरसिंग-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का विलायती फूल।

नरसिंगा-संज्ञा पुं० दे० "नरसिंघा"।

नरसिंघ-संज्ञा पुं० दे० "नृसिंह"।

नरसिंघा-संज्ञा पुं० [हिं० नर = बड़ा + सिंघा = सींग का बना एक प्रकार का बाजा] तुरही की तरह का एक प्रकार का नल के आकार का ताँबे का बड़ा बाजा जो फूँककर बजाया जाता है। यह जिस स्थान से फूँककर बजाया जाता है उस स्थान पर बहुत पतला होता है और उसके आगे का भाग बराबर चौड़ा होता जाता है। बीच में से इसके दो भाग भी कर लिए जाते हैं और बजाने के बाद पतला भाग अलग करके मोटे भाग के अंदर रख लिया जाता है। प्राचीन काल में इसका व्यवहार रणक्षेत्र में होता था और आजकल यह देहात में विवाह आदि के अवसर पर बजाया जाता है।

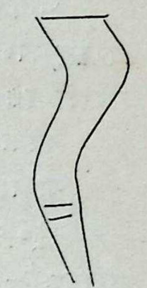

नरसिंह-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "नृसिंह"।

नरसिंहज्वर-संज्ञा पुं० वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का ज्वर जो चौथिया या चातुर्थिक का उलटा है। यह ज्वर तीन दिन तक चढ़ा रहता है और चौथे दिन उतर जाता है, और फिर वही क्रम चलता है।

नरसिंहपुराण-संज्ञा पुं० दे० "नृसिंहपुराण"।

नरसेज-संज्ञा पुं० [देश०] तिधारा नामक थूहर जिसमें पत्ते नहीं होते। विशेष—दे० "अतिधारा"।

नरसों|-क्रि० वि० दे० "अतरसों"।

नरहर-संज्ञा स्त्री० [देश०] पैर की वह हड्डी जो पिंडली के ऊपर होती है।

नरहरि-संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह भगवान जो दस अवतारों में से चौथे अवतार हैं। उ०—तब लै खड्ग खंभ में मारयो शब्द भयो अति भारी। प्रगट भए नर हरि वपु धरि कटकट करि उच्चारी।—सूर।

नरहरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक पद में १४ और ५ के विराम से १९ मात्राएँ और अन्त में १ नगण और एक गुरु होता है। जैसे, हरि सुनत भक्त की बानी, दुख भरी। झट प्रगटे खंभा फारी, तिहि थरी। रिपु हन्यो दीन सुख भारी, दुखहरी। मन सदा भजै चित लाई, नरहरी।

नरहीरा-संज्ञा पुं० [हिं० नर = बड़ा + हिं० हीरा] वह आठ पहल या छः पहल का बड़ा हीरा जिसके किनारे खूब तेज हों। कहते हैं कि ऐसा हीरा जिसके पास होता है वह राजा हो जाता है और उसका वैभव बहुत अधिक बढ़ जाता है।

नरांतक-संज्ञा पुं० [सं०] रावण के एक पुत्र का नाम जो राम-रावण युद्ध में अंगद के हाथ से मारा गया था।

नरा-संज्ञा पुं० [हिं० नल या नरकट] नरकट की एक छोटी नली जिसके ऊपर सूत लपेटा रहता है। (जोलाहे)

नराच-संज्ञा पुं० [सं० नाराच] (१) तीर। बाण। शर। (२) पंच चामर या नागराज नामक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और अंत में एक गुरु होता है। जैसे, जु रोज रोज गोप तीय कृष्ण संग धावतीं। सुगीत नाथ पाँव सों लगाय चित्त गावतीं।

नराचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वितान वृत्त का एक भेद जिसके

प्रत्येक चरण में तगण, रगण, लघु और गुरु होता है। जैसे, तोरी लगै नराचिंका। मोरी कटै भवाधिका ॥

नराज–वि० दे० "नाराज़"।

नराजना∗–क्रि० स० [फा० नाराज] अप्रसन्न करना। नाराज करना। उ०—उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी।—जायसी।

क्रि० अ० अप्रसन्न होना। नाराज होना।

नराट∗†–संज्ञा पुं० [नरराट्] नरेंद्र। राजा। नृपाल। उ०—अभिवादन तब करत नराटा। मिले पार्थसुत द्रुपद विराटा —सबल।

नराधिप–संज्ञा पुं० [सं०] राजा। नरपति। नृपाल।

नरायन–संज्ञा पुं० दे० "नारायण"।

नरिंद∗†–संज्ञा पुं० [सं० नरेंद्र] राजा। नराधिप। नरपति।

नरिअर‡–संज्ञा पुं० दे० "नारियल"।

नरिअरी‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० नारियल] नारियल की खोपड़ी का आधा भाग।

नरियर‡–संज्ञा पुं० दे० "नारियल"।

नरिया†–संज्ञा पुं० [हिं नाली] एक प्रकार का मिट्टी का खपड़ा जो मकान की छाजन पर रखने के काम में आता है। यह अर्द्धवृत्ताकार और लंबा होता है और इसे "थपुआ" खपड़े की संधियों पर औंधाकर रख देते हैं जिससे उन संधियों में से पानी नीचे नहीं टपकने पाता।

नरियाना‡–क्रि० अ० [सं० नर्दन] चिल्लाना। शोर मचाना। हल्ला करना।

नरी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बकरी या बकरे का रँगा हुआ चमड़ा। (२) लाल रंग का चमड़ा। (३) सिझाया हुआ चमड़ा। मुलायम चमड़ा। (४) नार। ढरकी के भीतर की नली जिस पर तार लपेटा रहता है। (जुलाहा)। (५) एक प्रकार की घास जो ताल वा नदी के किनारे होती है।

† संज्ञा स्त्री० [सं० नलिका] (१) नली। नाली। छुच्छी। पुपली। (२) वह बाँस की नली जिससे सुनार लोग आग सुलगाते हैं। फुकनी।

संज्ञा स्त्री० [सं० नर] स्त्री। नारी।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगुला।

नरु∗–संज्ञा पुं० दे० "नर"।

नरुई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नली] छुच्छी। पुपली। छोटी नली।

नरुवा†–संज्ञा पुं० [हिं० नल] अनाज के पौधों की डंडी जो अंदर से पोली होती है।

नरेंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। नृप। नरेश। (२) वह जो साँप-बिच्छू आदि के काटने का इलाज करे। विष-वैद्य। (३) श्योनाक वृक्ष। (४) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं, जिसमें सोलह मात्राओं पर विराम और अंत में दो गुरु होते हैं। इसे सार और ललित पद भी कहते हैं। जैसे, मीत चौतनी धरे सीस पै, पीतंबर मन मानो। पीत यज्ञ उपवीत विराजत, मनो वसंती बानो।

नरेबी–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जिसकी छाल से एक प्रकार का खाकी रंग का गोंद निकलता है जो शीघ्र सूख जाता है और चमकीला होता है। यह प्रायः शिव-सागर और सिलहट (आसाम) में पाया जाता है।

नरेश–संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यों का स्वामी। राजा। नृप।

नरेस∗†–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "नरेश"।

नरों‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० नरसों] परसों से पहले या बाद का एक दिन। अतरसों।

नरोत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर। भगवान।

नरोह–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) पिंडली की हड्डी। नली। (२) कोल्हू की वह नली जिसमें से रस गिरता है।

नर्क∗–संज्ञा पुं० दे० "नरक"।

नर्कट–संज्ञा पुं० दे० "नरकट"।

नर्कुटक–संज्ञा पुं० [सं०] नासिका। नाक। घ्राणेंद्रिय।

नर्गिस–संज्ञा पुं० दे० "नरगिस"।

नर्गिसी–संज्ञा पुं०, वि० दे० "नरगिसी"।

नर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] नाचनेवाला। वह जो नाचता हो।

नर्त्तक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नर्त्तकी] (१) नट। नाचने वाला। नृत्य करनेवाला। (२) एक प्रकार का नरकट। (३) चारण। बंदीजन। (४) केलक। खड्ग की धार पर नाचने-वाला। (५) हाथी। (६) महादेव का एक नाम। (७) महुआ। (८) नरकट। (९) मडुआ। (१०) एक प्रकार की संकर जाति जिसकी उत्पत्ति धोबी पिता और वेश्या माता से मानी जाती है। (११) राजा।

नर्त्तकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाचनेवाली, रंडी। वेश्या। नटी। (२) नालिका नामक सुगंध द्रव्य। नली।

नर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] नृत्य। नाच।

नर्त्तनशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पर नाच होता हो। नाचघर।

नर्द–संज्ञा स्त्री० [फा०] चौसर की गोटी।

नर्दकी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जिसे कटील, निभरी और वगई भी कहते हैं।

नर्दन–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाद। गरज। भीषण ध्वनि।

नर्दबान–संज्ञा पुं० [देश०] (१) काठ की सीढ़ी। (२) मार्ग। रास्ता। (लश०)

नर्दा†–संज्ञा पुं० [देश०] मैला बहने की नाली।

नर्बदा–संज्ञा स्त्री० दे० "नर्मदा"।

नर्म–संज्ञा पुं० [सं० नर्मन्] (१) परिहास। हँसी। ठट्ठा। दिल्लगी। (२) सखाओं का एक भेद। हँसी ठट्ठा करनेवाला सखा।

उ०—नर्म सखन लै अपने संगा। आवैं करन फागु रस रंगा।—रघुराज।

नर्मट-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

नर्मठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिल्लगीबाज। वह जो परिहास आदि में कुशल हो। (२) उपपति। स्त्री का यार। (३) ठोढ़ी। स्तन।

नर्मद-संज्ञा पुं० [सं०] दिल्लगीबाज। मसखरा। भाँड़। वि० आनंद देनेवाला।

नर्मदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृक्का या असवर्ग नामक गंध-द्रव्य। (२) एक गंधर्व-स्त्री जो सुन्दरी, केतुमती और वसुदा की माता थी। (३) मध्य प्रदेश की एक नदी जो अमरकंटक से निकलकर भड़ौंच के पास खंभात की खाड़ी में गिरती है।

नर्मदेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के शिवलिंग जो नर्मदा नदी से निकलते हैं। ये प्रायः स्फटिक के या लाल अथवा काले रंग के पत्थर के और बिलकुल अंडाकार होते हैं। पहाड़ों पर से पत्थर के जो टुकड़े नदी में गिरते हैं वे ही जलपात के स्थान पर भँवर में पड़कर अंडाकृति हो जाते हैं। पुराणानुसार इस प्रकार के लिङ्गों के पूजन का बहुत माहात्म्य है।

नर्मसचिव-संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जो राजा के साथ उसे हँसाने के लिये रहता है। विदूषक।

नर्मसुहृद-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "नर्म सचिव"।

नर्मी-संज्ञा स्त्री० दे० "नरमी"।

नर्री-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की बारहमासी घास जो ऊसर जमीन में भी होती है। (२) एक प्रकार का पहाड़ी बाँस जो हिमालय में होता है।

नल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरकट। (२) पद्म। कमल। (३) निषध देश के चंद्रवंशी राजा बीरसेन के पुत्र का नाम जो बहुत ही सुंदर और बड़े गुणवान थे और विशेषतः घोड़ों आदि की परीक्षा और संचालन में बड़े दक्ष थे। ये विदर्भ देश के तत्कालीन राजा भीम की कन्या दमयंती के रूप और गुणों की प्रशंसा सुनकर ही उस पर आसक्त हो गए थे। एक दिन जब ये बाग में दमयन्ती की चिंता में बैठे हुए थे तब कहीं से कुछ हंस उड़ते हुए आकर इनके सामने बैठ गए। नल ने उनमें से एक हंस को पकड़ लिया। उस हंस ने कहा—महाराज, आप मुझे छोड़ दें, मैं विदर्भ देश में जाकर दमयंती के सामने आपके रूप और गुणों की प्रशंसा करूँगा। इनके छोड़ देने पर हंस विदर्भ देश में गया और वहाँ दमयंती के बाग में जाकर इसने उसके सामने नल के रूप और गुण की खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर नल के प्रति उसका पहला अनुराग और भी बढ़ गया और उसने हंस से कह दिया कि मैं नल के साथ ही विवाह करूँगी, तुम यह बात जाकर उनसे कह देना। हंस ने वैसा ही किया। जब राजा भीम ने दमयंती का स्वयंवर रचा तब उसमें बहुत से राजाओं के अतिरिक्त अनेक देवता भी आए थे। जब इंद्र, यम, अग्नि और वरुण स्वयंवर में जा रहे थे तब उन्हें मार्ग में नल भी जाते हुए मिले। इन चारों देवताओं ने नल को आज्ञा दी कि तुम जाकर दमयंती से कहो कि हम लोग भी आ रहे हैं, हममें से ही किसी को तुम वरण करना। नल ने जब दमयंती से जाकर यह बात कही तब उसने कहा कि मैं तो तुम्हें ही पति बनाने की प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ, यही बात देवताओं से तुम कह देना। नल ने उसे देवताओं की ओर से बहुत समझाया पर दमयंती ने नहीं माना और कहा कि देवता धर्म के रक्षक होते हैं उन्हें मेरे धर्म की रक्षा करनी चाहिए। नल ने ये सब बातें देवताओं से कह दीं। इस पर वे चारों देवता नल का रूप धरकर स्वयंवर में पहुँचे और नल के समीप ही बैठे। दमयंती पहले तो नल के समान पांच मनुष्यों को देखकर घबराई, पर पीछे से उसने असली नल को पहचानकर उन्हीं के गले में जयमाल पहनाई। इस पर चारों देवताओं ने प्रसन्न होकर नल को आठ वर दिए। दमयंती के साथ नल का विवाह तो हो गया पर कलियुग और द्वापर ने असंतुष्ट होकर नल को कष्ट पहुँचाना चाहा। कलियुग सदा नल के शरीर में प्रवेश करने का अवसर ढूँढ़ा करता था। पर बारह वर्ष तक उसे अवसर ही न मिला। इस बीच में नल को इंद्रसेन नामक एक पुत्र और इंद्रसेना नामक एक कन्या भी हुई। एक दिन अवसर पाकर कलि ने स्वयं तो नल के शरीर में प्रवेश किया और उधर उनके भाई पुष्कर को उनके साथ जूआ खेलकर निषध देश जीत लेने के लिये उभाड़ा। तदनुसार जूए में नल अपना सर्वस्व हार गए। पुष्कर ने आज्ञा दे दी कि नल या उनके परिवार के लोगों को कोई आश्रय या भोजन आदि न दे। दमयंती ने अपने पुत्र और कन्या को पिता के घर भेज दिया। जब तीन दिन तक नल दमयंती को अन्न भी न मिला तब वे दोनों जंगल में निकल गए। वहाँ दंपति को बड़े बड़े कष्ट मिले। एक दिन नल ने सोने के रंग के कुछ पक्षी देखे और उन्हें पकड़ने के लिये उन पर अपना कपड़ा डाला। पर ये पक्षी उनका कपड़ा लेकर ही उड़ गए। बहुत दुखी होकर नल ने दमयंती से विदर्भ जाने के लिये कहा, पर उसने नहीं माना। उस समय उन दोनों के पास एक ही वस्त्र बच गया था। उसी को पहनकर दोनों चलने लगे। एक स्थान पर दमयंती थककर जब सो गई तब नल उसका आधा वस्त्र फाड़कर और उसे उसी दशा में छोड़कर चले गए। जब दमयंती सोकर उठी तब बहुत विलाप करती हुई अपने

पति को ढूँढ़ती ढूँढ़ती और अनेक प्रकार के कष्ट उठाती अपने पिता के घर पहुँची। उधर नल भी अनेक कष्ट भोगते हुए अयोध्या पहुँचे और राजा ऋतुपर्ण के यहाँ सारथि हुए। बहुत पता लगाने पर दमयंती को सूत्र लगा कि ऋतुपर्ण के यहां बाहुक नामक जो सारथि है वह कदाचित् नल हो। भीम ने ऋतुपर्ण के यहाँ कहलाया कि कल हमारी कन्या का फिर से स्वयंवर होगा। उनके सारथि बाहुक (या नल) ने एक ही दिन में उन्हें विदर्भ पहुँचा दिया। वहाँ दमयंती ने नल को पहचाना और तीन वर्ष तक घोर कष्ट भोगने के उपरांत दंपति फिर मिले। उस समय तक कलि ने भी उनका पीछा छोड़ दिया था। इसके उपरांत ऋतुपर्ण ने नल से क्षमा माँगी। एक मास तक विदर्भ में रहने के उपरांत नल ने फिर पुष्कर के पास जाकर उससे जूआ खेला और फिर अपना राज्य जीत लिया। तब से दोनों फिर सुखपूर्वक रहने लगे। दमयंती का पातिव्रत आदर्श माना जाता है और घोर कष्ट भोगने के लिये नल-दमयंती प्रसिद्ध हैं। (४) राम की सेना का एक बंदर जो विश्वकर्मा का पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इसी ने पत्थरों को पानी पर तैराकर रामचंद्र की सेना के लिये लंका-विजय के समय समुद्र पर पुल बाँधा था। पुराणानुसार वह ऋतुध्वज ऋषि के शाप के कारण घृताची के गर्भ से बंदर के रूप में उत्पन्न हुआ था। (५) एक दानव का नाम जो विप्रचित्ति का चौथा पुत्र था और सिंहिक के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। (६) यदु के एक पुत्र का नाम। (७) एक नद का नाम। (८) प्राचीन काल का एक प्रकार का चमड़े से मढ़ा हुआ बाजा जो घोड़े की पीठ पर रखकर युद्ध के समय बजाया जाता था। संज्ञा पुं० [सं० नाल] (१) डंडे के रूप में कुछ दूर तक गई हुई वस्तु जिसके भीतर का स्थान खाली हो। पोली लंबी चीज़। (२) धातु, काठ या मिट्टी आदि का बना हुआ पोला गोल खंड जो कुछ लंबा होता है। और जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक पानी, हवा, धुआँ, गैस आदि के ले जाने के काम में आता है। (३) इसी प्रकार का ईंट पत्थर आदि का बना हुआ वह मार्ग जो दूर तक चला गया हो और जिसमें से होकर गंदगी और मैला आदि बहता हो। पनाला। (४) पेड़ू के अंदर की वह नाली जिसमें होकर पेशाब नीचे उतरता है। नला।

मुहा०—नल टलना = किसी प्रकार के आघात आदि के कारण पेशाब की उक्त नाली में किसी प्रकार का व्यतिक्रम होना जिससे बहुत पीड़ा होती है।

नलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गोलाकार हड्डी जिसके अंदर मज्जा हो। नली के आकार की हड्डी। (२) कालदेवल के भतीजे का नाम जिसे बुद्ध ने उपदेश दिया था।

नलका†-संज्ञा स्त्री० [सं० नलिका] नली। नाल।

नलकिनी-संज्ञा पुं० [सं०] जंघा। जाँघ।

नलकील-संज्ञा पुं० [सं०] जानु। घुटना।

नलकूबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर के एक पुत्र का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है। महाभारत में लिखा है कि एक बार यह अपने भाई मणिग्रीव के साथ खूब शराब पीकर कैलास पर्वत पर गंगा के किनारे एक उपवन में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। उन दोनों को इस दुर्दशा में देखकर नारद ने शाप दिया था कि तुम अर्जुन वृक्ष हो जाओ। कहते हैं कि इसी शाप के अनुसार ये दोनों वृंदावन में यमलार्जुन हुए। यहाँ श्रीकृष्ण ने इन्हें स्पर्श करके शापमुक्त किया। रामायण में लिखा है कि एक बार जब रावण दिग्विजय करके लौट रहा था तब रास्ते में उसे नलकूबर के यहाँ जाती हुई रंभा नामक अप्सरा मिली। रावण उसे जबरदस्ती पकड़कर अपने साथ ले गया। उसी समय रंभा ने उसे शाप दिया था कि यदि तुम किसी स्त्री के साथ बलात्कार करोगे तो तुरंत मर जाओगे। कहते हैं कि इसी भय से रावण ने सीता के साथ बलात्कार नहीं किया था। (२) ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक जिसमें चार गुरु और चार लघु मात्राएँ होती हैं। (संगीत)

नलकोल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बैल।

नलदंबु-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़।

नलद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्परस। मकरंद। (२) उशीर। खस। (३) जटामासी। बालछड़। (४) लामज्जक नामक घास।

नलदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी। बालछड़।

नलनी-संज्ञा स्त्री० दे० "नलिनी"।

नलनीरुह-संज्ञा पुं० [सं०] मृणाल। कमल की नाल।

नलपुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर का नाम जिसका उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में है।

नलमीन-संज्ञा पुं० [सं०] झींगा मछली।

नलवा-संज्ञा पुं० [हिं०] बाँस की टोंटी जिससे बैल को घी पिलाया जाता है। चोंगा।

नलसेतु-संज्ञा पुं० [सं०] रामेश्वर के निकट का समुद्र पर बँधा हुआ वह पुल जो रामचंद्र ने नल-नील आदि से बनवाया था।

नला-संज्ञा पुं० [हिं० नल] (१) पेड़ू के अंदर की वह नाली जिसमें से होकर पेशाब नीचे उतरता है।

मुहा०—नला टलना = किसी प्रकार के आघात आदि के कारण पेशाब की उक्त नाली में किसी प्रकार का व्यक्तिक्रम होना जिससे बहुत पीड़ा होती है।

(२) हाथ या पैर की नली के आकार की लंबी हड्डी।

नलाना-क्रि० स० [हिं० निराना] जिस खेत में फसल बोई गई हो उसमें की निरर्थक घास आदि दूर करना। निराना।

नलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नलाना] (१) नलाने या निराने का भाव। (२) नलाने की क्रिया। (३) नलाने की मजदूरी।

नलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नल के आकार की कोई वस्तु। चोंगा। नली। (२) मूँगे के आकार का एक प्रकार का गंध-द्रव्य जो वैद्यक में तीता, कडुआ, तीक्ष्ण, मधुर और कृमि, वात, अर्श और शूल रोग का नाशक तथा मलशोधक माना गया है।

पर्य्या०—विद्रुमलतिका। कपोलचरणा। नलिनी। रक्तदला। नर्त्तकी। नटी। प्रवाली।

(३) प्राचीन काल का एक अस्त्र जिसके विषय में कु लोगों का अनुमान है कि यह आजकल की बंदूक के समा होता था और इसके द्वारा लोहे की बहुत छोटी छो गोलियाँ या तीर छोड़े जाते थे। इसका उल्लेख रामाय और महाभारत के अतिरिक्त वेदों तक में पाया जाता है। शुक्रनीति में इसका अच्छा वर्णन है। इसे नालक औ नाल भी कहते थे। (४) तरकश जिसमें तीर रखते हैं। (५) करेमू का साग। (६) पुदीना। (७) वैद्यक में एक प्रकार का प्राचीन यंत्र जिसकी सहायता से जलोदर के रोगी के पेट से पानी निकाला जाता था।

नलित-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जो नाड़िका साग भी कहलाता है। वैद्यक में यह तिक्त, पित्तनाशक और शुक्रवर्द्धक माना गया है।

नलिन-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्प० नलिनी] (१) पद्म। कमल। (२) नीलिका। नील। (३) जल। पानी। (४) नीम। (५) सारस पक्षी। (६) करौंदा।

नलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी। कमल। (२) वह देश जहाँ कमल अधिकता से होते हों। (३) पुराणानुसार गंगा की एक धारा का नाम। (४) नारियल की शराब। (५) नलिनी नामक गंध-द्रव्य। (६) नाक का बाँया नथना। (७) नदी। (८) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में पाँच सगण होते हैं। इसे मनहरण और भ्रमरावली भी कहते हैं।

नलिनीनंदन-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के उपवन का नाम।

नलिनीरुह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृणाल। कमल की नाल। (२) ब्रह्मा।

नलिनेशव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

नलिया|-संज्ञा पुं० [?] बहेलिया।

नली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मैनसिल। (२) नलिका नाम का गंधद्रव्य।

संज्ञा स्त्री० [हिं० नल का स्त्री० अल्प०] (१) छोटा या पतला नल। छोटा चोंगा। (२) नल के आकार की भीतर से पोली हड्डी जिसमें मज्जा भी होती है। (३) घुटने से नीचे का भाग। पैर की पिंडली। (४) बंदूक की नली जिसमें होकर गोली पहले गुजरती है। (५) जुलाहों की नाल। विशेष—दे० "नाल"। (६) दे० "नल"।

नलीमोज-संज्ञा पुं० [फा०] वह कबूतर जिसके पंजे तक पर होते हैं।

नलुआ-संज्ञा पुं० [हिं० नल = गला] (१) पशुओं का एक रोग जिसमें सूजन हो जाती है। (२) छोटा नल या चोंगा। (३) बाँस की पोर। बाँस की दो गाँठों के बीच का टुकड़ा।

नलोत्तम-संज्ञा पुं० [सं०] देवनल। बड़ा नरसल।

नल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं० नली] दे० "नली" (२) एक प्रकार की घास जिसे पलवान भी कहते हैं। विशेष—दे० "पलवान"।

नल्व-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की जमीन की एक प्रकार की नाप या परिमाण जो किसी के मत से सौ हाथ का और किसी के मत से चार सौ हाथ का होता है।

नल्वण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का मान जो किसी के मत से सोलह सेर का और किसी के मत से बत्तीस सेर का होता है।

नल्ववर्त्मगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकजंघा।

नवंबर-संज्ञा पुं० [अं०] अँगरेजी ग्यारहवाँ महीना जो ३० दिनों का तथा अक्तूबर के बाद और दिसंबर से पहले होता है।

नव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तव। स्तोत्र। (२) लाल रंग की गदहपूरना। विशेष—दे० "पुनर्नवा"। (३) हरिवंश के अनुसार उशीनर नामक राजा के लड़के का नाम।

वि० [सं०] नया। नवीन। नूतन।

वि० [सं० नवन्] नौ। आठ और एक। दस से एक कम।

विशेष—"नव" शब्द से कहीं कहीं ग्रह और रत्न आदि उन पदार्थों का भी अभिप्राय लिया जाता है जो गिनती में नौ होते हैं। जैसे, स्तर किरीट अति लसत जटित नव नव कनगूरे।—गिरधर।

नवक-वि० [सं०] दे० "नौ"।

संज्ञा पुं० [सं०] एक ही तरह की नौ चीजों का समूह। जैसे, (नौ) धातुओं का नवक, (नौ) दुर्गाओं का नवक, (नौ) रसों का नवक, (नौ) ग्रहों का नवक।

नवकार-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों का एक मंत्र।

नवकारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री। नवोढा स्त्री।

नवकार्षि गूगल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का चूर्ण जिसमें गूगल, त्रिफला और पिप्पली सब चीजें बराबर होती हैं। इसका व्यवहार शोथ, गुल्म, भगंदर और बवासीर आदि को दूर करने में होता है।

नवकालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युवा स्त्री। नवयौवना।

नौजवान औरत। (२) वह युवती जो हाल में पहले पहल रजस्वला हुई हो।

नवकुमारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नौ-रात्र में पूजनीय नौ कुमारियाँ जिनमें निम्नलिखित नौ देवियों की कल्पना की जाती है—कुमारिका, त्रिमूर्त्ति, कल्याणी, रोहिणी, काली, चंडिका, शांभवी, दुर्गा और सुभद्रा। विशेष—दे० "नवरात्र"।

नवखंड-संज्ञा पुं० [सं०] भूमि के नौ विभाग, यथा—भरत, इलावृत्त, किंपुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य और कुश।

नवग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये नौ ग्रह। विशेष—दे० "ग्रह"।

नवछावरि*†-संज्ञा स्त्री० दे० "न्योछावर"। उ०-लेति बलाय करति नवछावरि बलि भुजदंड कनक अति त्रासी। नरनारी के नैन निरखि करि चातक तृषित चकोरी प्यासी। —सूर।

नवज्वर-संज्ञा पुं० [स०] आरंभिक ज्वर। चढ़ता बुखार। वह बुखार जिसका अभी आरंभ हुआ हो। विशेष—दे० "ज्वर"।

नवड़ा-संज्ञा पुं० [?] मरसा।

नवतंतु-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार विश्वामित्र के एक लड़के का नाम।

नवतन†*-वि० [सं० नवीन] नवीन। नया। ताज़ा।

नवता-संज्ञा पुं० [सं० नमन] ढालुआँ जमीन। उतार। (कहार) संज्ञा स्त्री० [सं०] नवीनता। नयापन।

नवति-वि० [सं०] अस्सी और दस। सौ से दस कम। नब्बे। संज्ञा स्त्री० [सं०] नब्बे की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—९०।

नवदंड-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं के तीन प्रकार के छत्रों में से एक प्रकार के छत्र का नाम।

नवदल-संज्ञा पुं० [सं०] कमल का वह पत्ता जो उसके केसर के पास होता है।

नवदीधिति-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलग्रह।

नवदुर्गा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार नौ दुर्गाएँ जिनकी नवरात्र में नौ दिनों तक क्रमशः पूजा होती है। यथा—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चंद्रघंटा, कुष्मांडा, स्कंदमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदा। विशेष—दे० "दुर्गा"।

नवद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर में के नौ द्वार, यथा-दो आँखें, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक गुदा और एक लिंग या भग। प्राचीनों का विश्वास था और अब भी कुछ लोगों का विश्वास है कि जब मनुष्य मरने लगता है तब उसका प्राण इन्हीं नौ द्वारों में से एक द्वार से निकलता है।

नवद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] बंगाल का एक प्रसिद्ध नगर और विद्यापीठ जो राजा लक्ष्मणसेन की राजधानी था। यह नगर गंगा नदी के बीच में एक चर पर बसा हुआ है। कहते हैं कि वहाँ छोटे छोटे नौ गाँव हैं जिनके समूह को पहले नवद्वीप कहते थे। आधुनिक "नदिया" शब्द इसी का अपभ्रंश है। यह स्थान विशेषतः न्याय शास्त्र के लिये बहुत प्रसिद्ध है।

नवधा अंग-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के नौ अंग यथा—दो आँखें, दो कान, दो हाथ, दो पैर और एक नाक।

नवधा भक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] नौ प्रकार की भक्ति। यथा—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन। विशेष—दे० "भक्ति"।

नवन*-संज्ञा पुं० दे० "नमन"।

नवना*†-क्रि० अ० [सं० नमन] (१) झुकना। (२) नम्र होना।

नवनि†*-संज्ञा स्त्री० [हिं० नवना] (१) झुकने की क्रिया या भाव। (२) नम्रता। दीनता। उ०—नवनि नीच की अति दुखदाई।—तुलसी।

नवनिधि-संज्ञा स्त्री० दे० "निधि"।

नवनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नवनीत। मक्खन।

नवनीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मक्खन। (२) श्रीकृष्ण।

नवनीतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घृत। घी। (२) मक्खन।

नवनीत गणप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक गणेश या गणपति का नाम।

नवनीतधेनु-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार दान के लिये एक प्रकार की कल्पित गौ जिसकी कल्पना मक्खन के ढेर में की जाती है। कहते हैं कि इस गौ के दान से शिव-सायुज्य प्राप्त होता है और विष्णुलोक में वास होता है। वराह पुराण में इसका विस्तृत विवरण दिया हुआ है।

नवपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] केले, अनार, धान, हलदी, मानकच्चू, कच्चू, बेल, अशोक और जयंती इन नौ वृक्षों के पत्ते जिनका व्यवहार "नवदुर्गा" के पूजन में होता है।

नवपद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मूर्त्ति जिसकी उपासना जैन लोग करते हैं।

नवपदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौपई या जनकरी छंद का एक नाम। विशेष—दे० "चौपई"।

नवप्राशन-संज्ञा पुं० [सं०] नया अन्न या फल आदि खाना।

नवफलिका-संज्ञा स्त्री० दे० "नवकालिका"।

नवभक्ति-संज्ञा स्त्री० दे० "नवधा भक्ति"।

नवम-वि० [सं०] जो गिनती में नौ के स्थान पर हो। नवाँ।

नवमल्लिका--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चमेली। (२) नेवारी।

नवमांश-संज्ञा पुं० दे० "नवांश"।

नवमालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, जगण, भगण और यगण (।।। ।ऽ। ऽ।। ।ऽऽ) होता है। इसे "नवमालिनी" भी कहते हैं। (२) नेवारी का फूल।

नवमालिनी-संज्ञा स्त्री० दे० "नवमल्लिका (१)"।

नवमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चांद्र मास के किसी पक्ष की नवीं तिथि।

विशेष—धार्मिक कृत्यों के लिये अष्टमी-विद्धा नवमी ग्राह्य होती है। कुछ विशिष्ट मासों के विशिष्ट पक्ष की नवमी के अलग अलग नाम हैं। जैसे, माघ के शुक्ल-पक्ष की नवमी का नाम महानंदा, चैत्र शुक्ला नवमी का नाम रामनवमी।

नवयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] वह यज्ञ जो नए अन्न के निमित्त किया जाय।

नवयुवक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नवयुवती] नौजवान। तरुण।

नवयुवा-संज्ञा पुं० [सं०] जवान। तरुण।

नवयोनिन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार का न्यास।

नवयौवना-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसके यौवन का आरंभ हो। नौजवान औरत।

नवरंग-वि० [सं० नव + हिं० रंग] (१) सुंदर। रूपवान्। नई छटावाला। उ०—सूरदास युगभरि बीतत छिनु। हरि नवरंग कुरंग पीव बिनु।—सूर। (२) नए ढंग का। नवेला। नई शोभायुक्त। उ०—आज बनी नवरंग किसोरी। —सूर।

नवरंगी-वि० [हिं० नवरंग + ई (प्रत्य०)] (१) नित्य नए आनंद करनेवाला। उ०—ऐसे हैं तृभंगी नवरंगी सुखदाई री। सूर स्याम बिन न रहैं। ऐसी बनि आई री। —सूर। (२) रँगीली। हँसमुख। खुशमिजाज। उ०—नाउति बोलहु महावर वेग। लाख टका अरु झूमक सारी देहु दाई को नेग।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "नारंगी"।

नवरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोती, पन्ना, मानिक, गोमेद, हीरा, मूँगा, लहसुनिया, पद्मराग और नीलम ये नौ रत्न या जवाहिर।

विशेष—पुराणानुसार ये नौ रत्न अलग अलग एक एक ग्रह के दोषों की शांति के लिये उपकारी हैं। जैसे, सूर्य के लिये लहसुनिया, चंद्रमा के लिये नीलम, मंगल के लिये मानिक, बुध के लिये पुखराज, बृहस्पति के लिये मोती, शुक्र के लिये हीरा, शनि के लिये नीलम, राहु के लिये गोमेद और केतु के लिये पन्ना।

(२) राजा विक्रमादित्य की एक कल्पित सभा के नौ पंडित-जिनके नाम ये हैं—धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि।

विशेष—ये सब पंडित एक ही समय में नहीं हुए हैं बल्कि भिन्न भिन्न समयों में हुए हैं। लोगों ने इन सबको एकत्र करके कल्पना कर ली है कि ये सब राजा विक्रमादित्य की सभा के नौ रत्न थे।

(३) गले में पहनने का एक प्रकार का हार जिसमें नौ प्रकार के रत्न या जवाहिरात होते हैं।

नवरस-संज्ञा पुं० [सं०] काव्य के नौ रस, यथा शृंगार, करुण, हास्य. रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत।

विशेष—दे० "रस"।

नवरा†-संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नवराता†- संज्ञा पुं० दे० "नवरात्र"।

नवरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का नौ दिनों तक होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ। (२) चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तक और आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तक के नौ नौ दिन जिनमें लोग नवदुर्गा का व्रत, घटस्थापन तथा पूजन आदि करते हैं।

विशेष—हिंदुओं में यह नियम है कि वे नवरात्र के पहले दिन घटस्थापन करते हैं और देवी का आवाहन तथा पूजन करते हैं। यह पूजन बराबर नौ दिनों तक होता रहता है। नवें दिन भगवती का विसर्जन होता है। कुछ लोग नवरात्र में व्रत भी करते हैं। घट-स्थापन करनेवाले लोग अष्टमी या नवमी के दिन कुमारी-भोजन भी कराते हैं। कुमारी-भोजन में प्रायः नौ कुमारियाँ होती हैं जिनकी अवस्था दो और दस वर्ष के बीच की होती है। इन नौ कुमारियों के कल्पित नाम भी हैं। जैसे—कुमारिका, त्रिमूर्त्ति, कल्याणी, रोहिणी, काली, चंडिका, शांभवी, दुर्गा और सुभद्रा। नवरात्र में नव दुर्गा में से नित्य क्रमशः एक एक दुर्गा के दर्शन करने का भी विधान है।

नवराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश जिसे सहदेव ने दक्षिण की ओर दिग्विजय करते समय जीता था।

नवल-वि० [सं०] (१) नवीन। नूतन। नव्य। नया। (२) सुंदर। (३) जवान। युवा। नवयुवक। (४) उज्ज्वल। शुद्ध। साफ। स्वच्छ।

संज्ञा पुं० [अं० नेवल (जहाजी) ?] माल का किराया जो जहाजवालों को दिया जाता है। (लश०)

नवल-अनंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केशव के अनुसार मुग्धा नायिका के चार भेदों में से एक।

नवलकिशोर-संज्ञा पुं॰ [सं॰] श्रीकृष्णचंद्र ।

नवल वधू-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] केशव के अनुसार मुग्धा नायिका के चार भेदों में से एक ।

नवला-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] नवीन स्त्री । तरुणी ।

नवलेवा†-संज्ञा पुं॰ [सं॰ नव + हिं॰ लेवा = कीचड़ का लेप] वह कीचड़ जो बढ़ी हुई नदी के उतरने से किनारे पर रह जाती है । नदी के किनारे की दलदल ।

नववर्ष-संज्ञा पुं॰ दे॰ "वर्ष" (पृथ्वी के विभाग का देश) ।

नववल्लभ-संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का अगर जिसे दाह अगर कहते हैं और जिसकी गिनती गंध-द्रव्यों में होती है ।

नव-वासुदेव- संज्ञा पुं॰ [सं॰] रत्नसारानुसार जैन लोगों के नव वासुदेव जिनके नाम ये हैं—त्रिपृष्ट, द्विपष्ट, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, सिंहपुरुष, पुंडरीक, दत्त, लक्ष्मण और श्रीकृष्ण । कहते हैं कि ये सब ग्यारहवें, बारहवें, चौदहवें, पंद्रहवें, अठारहवें, बीसवें और बाईसवें तीर्थंकरों के समय में नरक गए थे ।

नववास्तु-संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक वैदिक राजर्षि का नाम ।

नवविंश-वि॰ [सं॰] उंतीसवाँ । जो क्रम में अट्ठाइस के बाद हो ।

नवविंशति-वि॰ [सं॰] बीस और नौ । तीस से एक कम ।

संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] बीस और नौ की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—२९ ।

नवविष-संज्ञा पुं॰ [सं॰] वत्सनाभ, हारिद्रक, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृंगक, कालकूट, हलाहल, और ब्रह्मपुत्र ये नौ विष ।

नवशक्ति-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] पुराणानुसार प्रभा, माया, जया, सूक्ष्मा, विशुद्धा, नंदिनी, सुप्रभा, विजया और सर्वसिद्धिदा ये नौ शक्तियाँ ।

नवशायक-संज्ञा पुं॰ [सं॰] पराशर संहिता के अनुसार ग्वाला माली, तेली, जोलाहा, हलवाई, बरई, कुम्हार, लोहार और हज्जाम ये नौ जातियाँ ।

विशेष—उक्त संहिता के अनुसार ये नौ जातियाँ संकर हैं और शुद्ध शूद्र जाति के अंतर्गत हैं । बंगाल में नवशायकों के हाथ का जल ब्राह्मण लोग पीते और उनका दान ग्रहण करते हैं ।

नवशिक्षित-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) वह जिसने अभी हाल में कुछ पढ़ा या सीखा हो । नौसिखुआ । (२) वह जिसे आधुनिक ढंग की शिक्षा मिली हो ।

नवशोभ-संज्ञा पुं॰ [सं॰] नई शोभावाला । तरुण । जवान । युवक ।

नवसंगम-संज्ञा पुं॰ [सं॰] प्रथम समागम । नया मिलाप । पति से पत्नी की पहली भेंट ।

नवसत*-संज्ञा पुं॰ [सं॰ नव + सत = सप्त] नव और सात, सोलह शृंगार ।

वि॰ सोलह । षोडश । उ॰—(क) नवसत साजि सिँगार युवति सब दधि मटुकी लिए आवत ।—सूर । (ख) नवसत साजि भई सब ठाढी को छबि सकै बखानी ।—सूर ।

नवसप्त-संज्ञा पुं॰ [सं॰] नौ और सात, सोलह शृंगार । उ॰—(क) चलि ल्याइ सीतहिं सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी । नवसप्त साजे सुंदरी सब मत्त-कुंजर-गामिनी । —तुलसी । (ख) जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि । सजि नवसप्त सकल दुति दामिनि ।—तुलसी ।

नवसर-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नौ = सं॰ स्रक] नौ लड़ का हार । उ॰—कंठसिरी दुलरी तिलरी को और हार एक नवसर । —सूर ।

वि॰ [सं॰ नव + वत्सर] नववयस्क । जिसकी नई उमर हो । उ॰—सूरस्याम स्यामा नवसर मिलि रीझे नंदकुमार ।—सूर।

नवससि*-संज्ञा पुं॰ [सं॰ नवशशि] द्वितीया का चंद्रमा । दूज का चाँद । नया चाँद !

नवसिखा-संज्ञा पुं॰ दे॰ "नौसिखुआ" ।

नवाँ-वि॰ [सं॰ नवम] जो गिनती में नौ के स्थान पर हो । आठवें के बाद और दसवें के पहले का । नौवाँ ।

नवांग-संज्ञा पुं॰ [सं॰] सोंठ, पीपल, मिर्च, हड़, बहेड़ा, आँवला, चाब, चीता और बायबिडंग ये नौ पदार्थ ।

नवांगा-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] काकड़ासिंगी ।

नवांश-संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक राशि का नवाँ भाग जिसका व्यवहार फलित ज्योतिष में किसी नवजात बालक के चरित्र, आकार और चिह्न आदि का विचार करने में होता है ।

नवा†-वि॰ दे॰ "नया" ।

नवाई-संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ नवना] विनीत होने का भाव । उ॰—सूर नवाई नवखंड वहे । सात दीप दुनी सब नए ।—जायसी ।

†*वि॰ नया । नवीन । उ॰—यह मति आप कहाँ धौं पाई। आजु सुनी यह बात नवाई ।—सूर ।

नवागत-वि॰ [सं॰] नया आया हुआ । जो अभी आया हो ।

नवाज-वि॰ [फा॰] कृपा करनेवाला । दया दिखानेवाला ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल यौगिक शब्दों के अंत में होता है । जैसे, गरीब-नवाज । बंदःनवाज ।

नवाजना†*-क्रि॰ स॰ [फा॰ नवाज] कृपा करना । दया दिखलाना ।

नवाजिश-संज्ञा स्त्री॰ [फा॰] मेहरबानी । कृपा । दया ।

नवाड़ा-संज्ञा पुं॰ [देश॰] एक प्रकार की नाव । उ॰—घावों से लोहू की नदी बह निकली, जिसमें भुजाएँ मगरमच्छ सी जनाती थीं, कटे हुए हाथियों के मस्तक घड़ियाल से डूबते

उछलते जाते थे। बीच बीच रथ बड़े नवाड़े से बहे जाते थे।—लल्लू।

नवाना-क्रि० स० [सं० नवन वा नम] झुकाना। विनीत करना। जैसे, सिर नवाना।

नवान्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फसल का नया आया हुआ अनाज। (२) एक प्रकार का श्राद्ध जो प्राचीन काल में नया अन्न तैयार होने पर पितरों के उद्देश्य से होता था। (३) ताजा पकाया या रींधा हुआ अन्न।

नवाब-संज्ञा पुं० [अ० नव्वाब] (१) बादशाह का प्रतिनिधि जो किसी बड़े प्रदेश के शासन के लिये नियुक्त हो। भारत में इसका प्रयोग पहले पहल मुगल सम्राटों के समय उनके प्रतिनिधियों के लिये हुआ था। जैसे, लखनऊ के नवाब, सूरत के नवाब। (२) एक उपाधि जो आज कल छोटे-मोटे मुसलमानी राज्यों के मालिक अपने नाम के साथ लगाते हैं। जैसे, रामपुर के नवाब। (३) एक उपाधि जो भारतीय मुसलमान अमीरों को अँगरेजी सरकार की ओर से मिलती है और जो प्रायः राजा की उपाधि के समान होती है।

वि० बहुत शान-शौकत और अमीरी ढंग से रहने तथा खूब खर्च करनेवाला। जैसे, (क) जब से उनके बाप मर गए हैं तब से वे नवाब बन गए हैं। (ख) ऐसे नवाब मत बनो नहीं तो साल दो साल में भीख माँगने लगोगे।

नवाबज़ादा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) नवाब का पुत्र। नवाब का बेटा। (२) वह जो बहुत बड़ा शौकीन हो। (व्यंग्य)

नवाबपसंद-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का धान जो भादों के अंत या क्वार के आरंभ में तैयार होता है।

नवाबी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नवाब + ई (प्रत्य०)] (१) नवाब का पद। (२) नवाब का काम। (३) नवाब होने की दशा। (४) नवाबों का राजत्वकाल। जैसे, नवाबी में अवध की हालत कुछ और ही थी। (५) नवाबों की सी हुकूमत। जैसे, चुपचाप बैठो, यहाँ तुम्हारी नवाबी नहीं चलेगी। (६) बहुत अधिक अमीरी या अमीरों का सा अपव्यय। जैसे, अभी कहीं से सौ दो सौ रुपए उन्हें मिल जायँ, फिर देखिए उनकी नवाबी। (७) एक प्रकार का कपड़ा जिसे पहले अमीर लोग पहना करते थे।

नवारना-क्रि० अ० [?] (१) चलना। टहलना। (२) यात्रा करना। सफर करना।

नवारा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बड़ी नाव।

नवारी-संज्ञा स्त्री० दे० "नेवारी"।

नवासा-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० नवासी] बेटी का बेटा। दौहित्र।

नवासी-वि० [सं० नवाशीति] नौ और अस्सी। एक कम नब्बे।

संज्ञा पुं० नौ और अस्सी की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—८९।

नवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामायण का वह पाठ जो नौ दिन में समाप्त किया जाता है। (२) किसी सप्ताह, पक्ष, मास या वर्ष आदि का नयां दिन।

नवी-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह रस्सी जिससे गाय के पैर में बछड़े का गला बाँधकर दूध दुहते हैं। नोई।

नवीन-वि० [सं०] (१) जो अभी का या थोड़े समय का हो। "प्राचीन" का उलटा। हाल का। ताजा। नया। नूतन। (२) विचित्र। अपूर्व। (३) [स्त्री० नवीना] नवयुवक। तरुण। जवान।

नवीनता-संज्ञा स्त्री० [सं० नवीनत्व] नूतनत्व। नूतनता। नवीन या नया होने का भाव।

नवीस-संज्ञा पुं० [फा०] लिखनेवाला। लेखक। कातिब।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्दों के अंत में होता है। जैसे, अरजीनवीस।

नवीसी-संज्ञा स्त्री० [फा०] लिखाई। लिखने की क्रिया या भाव।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग शब्दों के अंत में होता है। जैसे, अरजीनवीसी।

नवेद-संज्ञा स्त्री० [सं० निवेदन] (१) निमंत्रण। न्योता। (२) वह चिट्ठी जिसमें न्योता लिखकर भेजा जाय। निमंत्रणपत्र।

नवेला-वि० [सं० नवल] [स्त्री० नवेली] (१) नवीन। नाया। (२) तरुण। जवान।

नवेली-वि० स्त्री० [सं० नवल] नई उमर की। तरुणी।

संज्ञा स्त्री० नई स्त्री। युवती। तरुणी।

नवोढ़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नवविवाहिता स्त्री। वधू। (२) नवयौवना। युवती स्त्री। (३) साहित्य में मुग्धा के अंतर्गत ज्ञातयौवना नायिका का एक भेद। वह नायिका जो लज्जा और भय के कारण नायक के पास न जाना चाहती हो।

नवोद्धृत-संज्ञा पुं० [सं०] मक्खन।

नव्य-वि० [सं०] (१) नया। नूतन। नवीन। ताजा। (२) स्तुति करने के योग्य।

संज्ञा पुं० [सं०] गदहपूर्ना। रक्त पुनर्नवा।

नव्वाब-संज्ञा पुं० दे० "नवाब"।

नव्वाबी-संज्ञा स्त्री० दे० "नवाबी"।

नशना*-क्रि० अ० [सं० नाश] नष्ट होना। बरबाद होना। बिगड़ जाना।

नशा-संज्ञा पुं० [फा० या अ० ?] (१) वह अवस्था जो शराब, भाँग, अफीम, या गाँजा आदि मादक द्रव्य खाने या पीने से होती है। मादक द्रव्य के व्यवहार से उत्पन्न होनेवाली दशा।

विशेष—शराब, भाँग, गाँजा, अफ़ीम आदि एक प्रकार के विष हैं। इनके व्यवहार से शरीर में एक प्रकार की गरमी उत्पन्न होती है जिससे मनुष्य का मस्तिष्क क्षुब्ध और उत्तेजित हो उठता है, तथा स्मृति (याद) या धारणा कम हो जाती है। इसी दशा को नशा कहते हैं। साधारणतः लोग मानसिक चिंताओं से छूटने या शारीरिक शिथिलता दूर करने के अभिप्राय से मादक द्रव्यों का व्यवहार करते हैं। बहुत से लोग इन द्रव्यों के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे नित्य प्रति इनका व्यवहार करते हैं। साधारण नशे की अवस्था में चित्त में अनेक प्रकार की उमंगें उठती हैं, बहुत सी नई नई और विलक्षण बातें सूझती हैं और चित्त कुछ प्रसन्न रहता है। लेकिन जब नशा बहुत हो जाता है तब मनुष्य कै करने लग जाता है अथवा बेहोश हो जाता है।

मुहा०—**नशा उतरना** = नशे का न रहना। मादक द्रव्य के प्रभाव का नष्ट हो जाना। **नशा किरकिरा हो जाना** = किसी अप्रिय बात के होने के कारण नशे का मजा बीच में बिगड़ जाना। नशे का बीच में ही उतर जाना। **नशा चढ़ना** = नशा होना। मादक द्रव्य का प्रभाव होना। **(आँखों में) नशा छाना** = नशा चढ़ना। मस्ती चढ़ना। **नशा जमना** = अच्छी तरह नशा होना। **नशा टूटना** = नशा उतरना। **नशा हिरन होना** = किसी असंभावित घटना आदि के कारण नशे का बिलकुल उतर जाना।

(२) वह चीज जिससे नशा हो। मादक द्रव्य। नशा चढ़ानेवाली चीज।

यौ०—**नशा-पानी** = मादक द्रव्य और उसकी सब सामग्री। नशे का सामान।

(३) धन, विद्या, प्रभुत्व या रूप आदि का घमंड। अभिमान। मद। गर्व।

मुहा०—**नशा उतारना** = घमंड दूर करना।

नशाखोर-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो किसी प्रकार के नशे का सेवन करता हो। नशेबाज।

नशाना*-क्रि० स० [सं० नशा] नष्ट करना। बरबाद करना। बिगाड़ डालना।

‡ क्रि० अ० खो जाना।

नशावन*†-वि० [सं० नाश] नाश करना।

विशेष-समास में 'नष्ट करनेवाला' अर्थ भी होता है।

नशीन-वि० [फा०] बैठनेवाला।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्दों के अंत में होता है। जैसे, गद्दीनशीन। तख़्तनशीन।

नशीनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] बैठने की क्रिया या भाव।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्दों के अंत में होता है। जैसे तख़्तनशीनी, गद्दीनशीनी।

नशीला-वि० [फा० नशा + ईला (प्रत्य०)] (१) नशा उत्पन्न करनेवाला। नशा लानेवाला। मादक। (२) जिस पर नशे का प्रभाव हो।

मुहा०—**नशीली आँखें** = वे आंखें जिनमें मस्ती छाई हो। मद-मत्त आंखें।

नशेबाज-संज्ञा पुं० [फा०] वह जो बराबर किसी प्रकार के नशे का सेवन करता हो। वह जिसे कोई नशा करने की आदत हो।

नशोहर†-वि० [सं० नाश + ओहर] नाश करनेवाला। उ०—सुमति सृष्टि कर निपुन विधाता। विघन नशोहर विमल विधाता।—रघुराज।

नश्तर-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का बहुत तेज छोटा चाकू जिसका अगला भाग नुकीला और टेढ़ा होता है और प्रायः जिसके दोनों ओर धार रहती है। इसका व्यवहार फोड़े आदि चीरने और फसद खोलने में होता है।

मुहा०—**नश्तर देना या लगाना** = नश्तर से फोड़ा चीरना। **नश्तर लगना** = फोड़े का चीरा जाना।

नश्यप्रसूतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जिसका बच्चा मर गया हो। मृतपुत्रिका।

नश्वर-वि० [सं०] नष्ट होनेवाला। जो नष्ट हो जाय या जो नष्ट हो जाने के योग्य हो। जो ज्यों का त्यों न रहे। जैसे, शरीर नश्वर होता है।

नश्वरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नश्वर होने का भाव।

नष*-संज्ञा पुं० दे० "नख"।

नषत*-संज्ञा पुं० दे० "नक्षत्र"।

नष-शिष*-संज्ञा पुं० दे० "नख-शिख"।

नष्ट-वि० [सं०] (१) जो अदृश्य हो। जो दिखाई न दे। (२) जिसका नाश हो गया हो। जो बरबाद हो गया हो। जो बहुत दुर्दशा को पहुँच गया हो। जैसे, आग लगने के कारण सारा महल्ला नष्ट हो गया। (३) अधम। नीच। बहुत बड़ा दुराचारी या पापी। (४) निष्फल। व्यर्थ। (५) धनहीन। दरिद्र।

विशेष—यौगिक में यह शब्द पहले लगता है। जैसे नष्टवीर्य्य, नष्टबुद्धि।

नष्टचंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] भादों महीने के दोनों पक्षों की चतुर्थी को दिखाई पड़नेवाला चंद्रमा जिसका दर्शन पुराणानुसार निषिद्ध है। कहते हैं कि उस दिन चंद्रमा को देखने से कोई न कोई कलंक या अपवाद लगता है। कुछ लोग केवल भाद्र शुक्ल चतुर्थी के चंद्रमा को ही नष्ट चंद्रमा मानते हैं।

नष्टचित्त-वि० [सं०] उन्मत्त।

नष्टचेतन-संज्ञा पुं० [सं०] अचेत । बेहोश । बेखबर ।

नष्टचेष्ट-वि० [सं०] जिसकी चेष्टा वा गति नष्ट हो गई । जिसमें हिलने डोलने की शक्ति न रह गई हो ।

नष्टचेष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्च्छा । बेहोशी । (२) प्रलय । (३) एक प्रकार का सात्विक भाव ।

नष्टजन्मा-संज्ञा पुं० [सं० नष्टजन्मन्] जारज । वर्णसंकर । दोगला ।

नष्टजातक-संज्ञा [सं०] फलित ज्योतिष में एक प्रकार की क्रिया या उपाय जिसके अनुसार ऐसे मनुष्य की जन्म-कुंडली आदि बनाई जाती है जिसके जन्म के समय और तिथि आदि का कुछ भी पता नहीं रहता ।

नष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नष्ट होने का भाव । (२) वाहियातपन । दुराचारिता ।

नष्टदृष्टि-वि० [सं०] जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई हो । अंधा । दृष्टिहीन ।

नष्टप्रभ-वि० [सं०] तेजोहीन । कांतिरहित ।

नष्टबुद्धि-वि० [सं०] मूर्ख । मूढ़ । बेवकूफ । बुद्धिहीन ।

नष्ट भ्रष्ट-वि० [सं०] जो बिलकुल टूटफूट या नष्ट हो गया हो ।

नष्टराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक देश का नाम ।

नष्टरूपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अनुष्टुप् छंद के एक भेद का नाम ।

नष्टविष-वि० [सं०] (वह जहरीला जानवर) जिसका विष नष्ट हो गया हो ।

नष्टवीज-वि० [सं०] फसल या अन्न जो बोने पर न उगा हो ।

नष्टशुक्र-वि० [सं०] जिसका वीर्य्य नष्ट हो गया हो ।

नष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेश्या । रंडी । (२) व्यभिचारिणी । कुलटा ।

नष्टाग्नि-संज्ञा पुं० [सं०] वह साग्निक ब्राह्मण या द्विज जिसके यहाँ की अग्नि प्रमाद या आलस्य के कारण लुप्त हो गई हो ।

नष्टात्मा-वि० [सं०] दुष्ट । खल ।

नष्टाप्तिसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] खोई हुई चीजों का कुछ अंश मिलना जिससे बाकी चीजों का भी सूत्र मिले ।

नष्टार्थ-वि० [सं०] जिसका धन नष्ट हो गया हो । दरिद्र ।

नष्टाश्वदग्धरथन्याय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का न्याय जिसका तात्पर्य है दो आदमियों का इस प्रकार मिलकर काम करना जिसमें दोनों एक दूसरे की चीजों का उपयोग करके अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करें ।

विशेष—यह न्याय निम्नलिखित घटना अथवा कहानी के आधार पर है । दो आदमी अलग अलग रथ पर सवार होकर किसी वन में गये । वहाँ संयोगवश आग लगने के कारण एक आदमी का रथ जल गया और दूसरे का घोड़ा जल गया । कुछ समय के उपरांत जब दोनों मिले तब एक के पास केवल घोड़ा और दूसरे के पास केवल रथ था । उस समय दोनों ने मिलकर एक दूसरे की चीज़ का उपयोग किया । घोड़ा रथ में जोता गया और वे दोनों निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच गए ।

नष्टि- संज्ञा स्त्री० [सं०] नाश । विनाश । बरबादी ।

नसंक*†-वि० [सं० निःशंक] निर्भय । निडर । बेखौफ ।

नस-संज्ञा स्त्री० [सं० स्नायु] (१) शरीर के भीतर तंतुओं का वह बंध या लच्छा जो पेशियों के छोर पर उन्हें दूसरी पेशियों या अस्थि आदि कड़े स्थानों से जोड़ने के लिये होता है (जैसे, घोड़ानस) । साधारण बोलचाल में कोई शरीर-तंतु या रक्तवाहिनी नली ।

विशेष—नसों के तंतु दृढ़ और चीमड़ होते हैं, लचीले नहीं होते । वे खींचने से बढ़ते नहीं । नसें शरीर की सबसे दृढ़ और मजबूत सामग्री हैं । कभी कभी वे ऐसे आघात से भी नहीं टूटतीं जिनसे हड्डियाँ टूट जाती और पेशियाँ कट जाती हैं ।

मुहा०—नस चढ़ना या नस पर नस चढ़ना = खिंचाव, दबाव या झटके आदि के कारण शरीर में किसी स्थान की विशेषतः पैर की पिंडली या बाँह की किसी नस का अपने स्थान से इधर उधर हो जाना या बल खा जाना जिसके कारण उस स्थान पर तनाव और पीड़ा होती है और कभी कभी सूजन भी हो जाती है । नसें ढीली होना = थकावट आना । शिथिलता होना । पस्त होना । नस नस में = सारे शरीर में । सर्वांग में । जैसे, उनकी नस नस में शरारत भरी पड़ी है । नस नस फड़क उठना = बहुत अधिक प्रसन्नता होना । अति आनंद होना । उमंग होना । जैसे, आपके चुटकुले सुनकर तो नस नस फड़क उठती है । नस भड़कना = (१) दे० "नस चढ़ना" । (२) पागल होना ।

यौ०—घोड़ानस = पैर की वह बड़ी नस जो पीछे की ओर पिंडली के नीचे होती है । इसके कट जाने से बहुत अधिक खून बहता है जिससे लोग कहते हैं कि आदमी मर जाता है ।

(२) लिंग । पुरुष की मूत्रेंद्रिय । (क्व०)

मुहा०--नस या नसें ढीली पड़ जाना = लिंगेंद्रिय का शिथिल हो जाना । पुंसत्व की कमी हो जाना ।

(३) पतले रेशे वा तंतु जो पत्तों में बीच बीच में होते हैं ।

नसकटा-संज्ञा पुं० [हिं० नस = लिंग + कटना] नपुंसक । हिजड़ा ।

नसतरंग-संज्ञा पुं० [हिं० नस + तरंग] शहनाई के आकार का पीतल का एक प्रकार का बाजा जिसके पतले सिरे पर एक छोटा सा छेद होता है । इस छेद पर मकड़ी के अंडों के ऊपर सफेद छत्ता रखते हैं, फिर उस सिरे को गले की घंटी के पास की नसों पर रखकर गले से स्वर भरते हैं जिससे उस बाजे में शब्द उत्पन्न होता है । ऐसे दो बाजे गले की घंटी के दोनों ओर रखकर एक साथ ही बजाए जाते हैं ।

नसतालीक—संज्ञा पुं० [अ०] (१) फारसी या अरबी लिपि

लिखने का वह ढंग जिसमें अक्षर खूब साफ़ और सुंदर होते हैं। 'घसीट' या 'शिकस्त' का उलटा। (२) वह जिसका रंग ढंग बहुत अच्छा और सुंदर हो।

नसना*†–क्रि॰ अ॰ [सं॰ नशन] (१) नष्ट होना। बरबाद होना। (२) बिगड़ जाना। खराब हो जाना।

क्रि॰ अ॰ [पं॰ मि॰ हिं॰ नटना] भागना। दौड़ना।

नसफाड़—संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नस + फाड़ना] हाथियों का एक रोग जिसमें उनके पैर सूज जाते हैं।

नसर–संज्ञा स्त्री॰ [अ॰] गद्य। पद्य या नज़्म का उलटा।

नसरी–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] (१) एक प्रकार की मधुमक्खी। (२) इस मक्खी के छत्ते का मोम। विशेष–दे॰ "कुंतली"

नसल—संज्ञा स्त्री॰ [अ॰] वंश। खानदान।

नसवार–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ नास + वार (प्रत्य॰)] सूँघने के लिये तमाकू के पीसे हुए पत्ते। सुँघनी। नास।

नसहा†–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नस + हा (प्रत्य॰)] जिसमें नसें हों।

नसा–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] नासिका। नासा। नाक।

† संज्ञा पुं॰ दे॰ "नशा"।

नसाना*†– क्रि॰ अ॰ [सं॰ नाश] (१) नाश को प्राप्त होना। नष्ट हो जाना। (२) बिगड़ जाना। खराब हो जाना।

नसावना‡–क्रि॰ अ॰ दे॰ "नसाना"।

नसी–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] कुसी की नोक। हल के फार की नोक

नसीठ†–संज्ञा पुं॰ [देश] बुरा शकुन। असगुन।

नसीनी†–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ निःश्रेणी] सीढ़ी। ज़ीना। निसेनी।

नसीपूजा–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नसी = कुसी का नोक + पूजा] हल की पूजा जो बोने के मौसिम के पीछे की जाती है। हल-पूजा।

नसीब–संज्ञा पुं॰ [अ॰] भाग्य। प्रारब्ध। किस्मत। तकदीर।

मुहा॰—किसी को नसीब होना = किसी को प्राप्त होना। जैसे, ऐसा मकान तुम्हें नसीब कहाँ है ? ("नसीब" के बाकी मुहाविरों के लिये देखो "किस्मत" के मुहा॰)

नसीबजला–वि॰ [अ॰ नसीब + हिं॰ जलना] जिसका भाग्य खराब हो। अभागा।

नसीबवर–वि॰ [अ॰] भाग्यवान। सौभाग्यशाली। जिसका नसीब अच्छा हो।

नसीबा†—संज्ञा पुं॰ दे॰ "नसीब"।

नसीम–संज्ञा पुं॰ [अ॰] ठंढी, धीमी और बढ़िया हवा।

नसीला†–वि॰ [हिं॰ नस + ईला (प्रत्य॰)] जिसमें नसें हों। नसदार।

† वि॰ दे॰ "नशीला"।

नसीहत–संज्ञा स्त्री॰ [अ॰] (१) उपदेश। शिक्षा। सीख। (२) अच्छी सम्मति।

क्रि॰ प्र॰—करना।—देना।—पाना।—मिलना।—होना।

नसीहा†–संज्ञा पुं॰ [देश॰] मुलायम मिट्टी के जोतने के लिये हलका हल।

नसूड़िया†–वि॰ [हिं॰ नासूर + इया (प्रत्य॰)] जिसके देखने, छूने अथवा किसी प्रकार के संबंध से कोई दोष या हानि हो। मनहूस। जैसे, तुम हर एक चीज में बिना अपना नसूड़िया हाथ लगाए नहीं मानते।

नसूर–संज्ञा पुं॰ दे॰ "नासूर"।

नस्त–संज्ञा पुं॰ [सं॰] नाक।

नस्तकरण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का यंत्र जिसका व्यवहार भिक्षु लोग नाक में दवा डालने के लिये करते थे।

नस्तरन–संज्ञा पुं॰ [फा॰] सफेद गुलाब। सेवती। (२) एक प्रकार का कपड़ा।

नस्ता–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] पशुओं की नाक का छेद जिसमें रस्सी डाली जाती है।

नस्तित, नस्तोत–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह पशु जिसकी नाक में छेद करके रस्सी डाली जाय। जसे, बैल ऊँट आदि।

नस्य–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) नास। सुँघनी। (२) बैलों की नाक की रस्सी। नाथ। (३) घी आदि में बनी हुई वह दवा या चूर्ण आदि जिसे नाक के रास्ते दिमाग में चढ़ाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। दे॰ शिरोविरेचन और स्नेहन।

नस्या–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) नाक। (२) नाक का छेद।

नस्याधार–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह पात्र जिसमें सुँघनी रखी जाती है। नासदानी।

नस्योत–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह पशु जिसकी नाक में रस्सी आदि डालने के लिये छेद किया गया हो।

नस्वर*†–वि॰ दे॰ "नश्वर"।

नहँ–संज्ञा पुं॰ [देश॰] एक प्रकार का बढ़िया चावल जो संयुक्त प्रदेश में होता है।

‡ संज्ञा पुं॰ दे॰ "नाखून"।

नहछू–संज्ञा पुं॰ [सं॰ नखक्षौर] विवाह की एक रस्म जिसमें वर की हजामत बनती है, नाखून काटे जाते हैं और उसे मेंहदी आदि लगाई जाती है।

नहट्टा–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ नहं = नाखून] नाखून से की हुई खरोंच। नखक्षत।

नहन–संज्ञा पुं॰ [देश॰] पुरवट खींचने की मोटी रस्सी। नार। उ॰—चलनि कहनि बिहँसनि रहनि गहनि सहनि सब ठाम। चहनि नेह की नहनि सों कियो जगत वश राम।—रघुराज।

नहना*†–क्रि॰ [हिं॰ नाधना] नाधना। लगाना। जोतना। काम में तत्पर करना। उ॰—पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत।—तुलसी।

नहन्नी†–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "नहरनी"।

नहर-संज्ञा स्त्री० [फा०] वह कृत्रिम नदी या जलमार्ग जो खेतों की सिंचाई या यात्रा आदि के लिये तैयार किया जाता है। जल बहाने के लिये खोदकर बनाया हुआ रास्ता। उ०—(क) राम अरु यादवन सुभट ताके हते रुधिर के नहर सरिता बहाई।—सूर। (ख) बाग तड़ाग सुहावन लागे। जल की नहर सकल महि भागे।—रघुराज।

मुहा०—नहर काटना या खोदना = नहर तैयार करना।

विशेष—साधारणतः एक स्थान से दूसरे स्थान तक पानी ले जाने, खेत सींचने आदि के लिये नदियों में जोड़कर जलमार्ग तैयार किया जाता है। बड़ी बड़ी नहरें प्रायः साधारण नदियों के समान हुआ करती हैं और उनमें बड़ी बड़ी नावें चलती हैं। कहीं कहीं दो झीलों या बड़े जलाशयों का पानी मिलाने के लिये भी नहरें बनाई जाती हैं।

नहरनी-संज्ञा स्त्री० [सं० नख हरणी] (१) हज्जामों का एक औजार जो लोहे का एक लंबा गोल टुकड़ा होता है और जिसका एक सिरा चपटा और धारदार होता है। इससे नाखून काटे जाते हैं। (२) इसी आकार का पोस्ते की डोंढ़ी चीरने का एक औजार।

नहरम-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो भारतवर्ष की सब नदियों में पाई जाती है। पहाड़ी झरनों में यह अधिकता से होती है।

नहरी-संज्ञा स्त्री० [फा० नहर + ई (प्रत्य०)] वह जमीन जो नहर के पानी से सींची जाय।

† संज्ञा स्त्री० नहर।

नहरुआ-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रोग जो प्रायः कमर के निचले भाग में होता है। पानी के साथ एक विशेष प्रकार के कीड़े के शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण यह रोग होता है। इसमें पहले किसी स्थान पर सूजन होती है। फिर छोटा सा घाव होता है और तब उस घाव में से डोरी की तरह का कीड़ा धीरे धीरे निकलने लगता है जो प्रायः गजों लंबा होता है। इस रोग से कभी कभी पैर आदि अंग बेकाम हो जाते हैं।

विशेष—दे० "नारू"।

नहरुवा, नहरू-संज्ञा पुं० दे० "नहरुआ"।

नहला-संज्ञा पुं० [हिं० नौ] ताश के खेल में वह पत्ता जिस पर नौ चिह्न या बूटियाँ हों।

संज्ञा० पुं० [देश०] करनी की तरह का एक औजार जो नक्काशी बनाने के काम में आता है।

नहलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नहलाना + ई (प्रत्य०)] (१) नहलाने की क्रिया या भाव। (२) वह धन जो नहलाने के बदले में दिया जाय।

नहलाना-क्रि० स० [हिं० नहाना का स० रूप] दूसरे को स्नान में प्रवृत्त करना। स्नान कराना। नहवाना।

नहवाना-क्रि स० दे० "नहलाना"।

नहसुत-क्रि० स० [सं० नखसुत] नख की रेखा। नाखून का निशान। उ०—नहसुत कील कपाट सुलच्छन दै दृगद्वार अगोट।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० नख = एक पेड़] पलाश की तरह का एक पेड़ जिसे फरहद भी कहते हैं। दे० "फरहद"।

नहाँ-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पहिए के ठीक बीच का सूराख जिसमें धुरी पहनाई जाती है। (२)† घर के आगे का आँगन।

† संज्ञा पुं० दे० "नाखून"।

नहान-संज्ञा पुं० [सं० स्नान] (१) नहाने की क्रिया। जैसे, कुंभ का नहान, छट्ठी का नहान। (२) स्नान का पर्व।

क्रि० प्र०—लगना।—होना।

नहाना-क्रि० अ० [सं० स्नान, प्रा० हाएण, बुंदे० हनाना] (१) पानी के स्रोत में, बहती हुई धार के नीचे या सिर पर से पानी ढालकर शरीर को स्वच्छ करने या उसकी शिथिलता दूर करने के लिये उसे धोना। स्नान करना।

संयो० क्रि०—डालना।

मुहा०—दूधों नहाना पूतों फलना = धन और परिवार से पूर्ण होना। (आशीर्वाद)

विशेष—शरीर में जितने रोमकूप हैं, नहाने से उन सबका मुँह खुल और साफ हो जाता है और शरीर की थकावट दूर हो जाती है। भारत सरीखे गरम देशों में लोग नित्य सबेरे उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर नहाते हैं और कभी सबेरे और संध्या दोनों समय नहाते हैं। पर ठंढे देशों के लोग प्रायः नित्य नहीं नहाते, सप्ताह में एक या दो बार नहाते हैं।

(२) रजोधर्म से निवृत्त होने पर स्त्री का स्नान करना। (३) किसी तरल पदार्थ से सारे शरीर का आप्लुत हो जाना। शराबोर हो जाना। बिलकुल तर हो जाना। जैसे, पसीने से नहाना, खून से नहाना।

विशेष—इस अर्थ में "नहाना" शब्द के साथ प्रायः "उठना" या "जाना" संयोज्य क्रिया लगाई जाती है।

नहानी †-संज्ञा स्त्री० [हिं० नहाना] (१) रजस्वला स्त्री। (२) स्त्री का रजस्वला होना।

नहार-वि० [फा०, मि० सं० निराहार] जिसने सबेरे से कुछ खाया न हो। जिसने जलपान आदि कुछ न किया हो। बासी-मुँह।

मुहा०—नहार तोड़ना = जलपान करना। सेबेर के समय हलका भोजन करना। **नहार मुँह** = बिना जलपान आदि किए हुए।

नहार रहना=भूखे रहना। बिना अन्न के रहना। उपवास करना।

नहारी-संज्ञा स्त्री० [फा० नहार] (१) वह हलका भोजन जो सबेरे किया जाता है। जलपान। कलेवा। नाश्ता। (२) वह गुड़ या गुड़-मिला आटा जो घोड़े को सबेरे, अथवा आधा रास्ता पार कर लेने पर खिलाया जाता है। (एक्केवान)। (३) मुसलमानों के यहाँ बननेवाला एक प्रकार का शोरबेदार सालन जो रात भर पकता है और जिसके साथ सबेरे खमीरी रोटी खाई जाती है।

नहिं*-अव्य० दे० "नहीं"।

नहिअन†-संज्ञा पुं० [हिं० नह=नख] बिछिया की तरह का एक गहना जो पैर की छोटी उँगली में पहना जाता है।

नहियाँ†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नह=नख] बिछिया की तरह का एक गहना जिसे नहिअन भी कहते हैं।

नहिरनी-संज्ञा स्त्री० दे० "नहरनी"।

नहीं-अव्य० [सं० नहिं] एक अव्यय जिसका व्यवहार निषेध या अस्वीकृति प्रकट करने के लिये होता है। जैसे (क) उन्होंने हमारी बात नहीं मानी। (ख) प्रश्न—आप वहाँ जायँगे? उत्तर—नहीं।

मुहा०—नहीं तो=उस दशा में जब कि यह बात न हो। इसके न होने की दशा में। जैसे, आप सबेरे ही मेरे पास पहुँच जाइएगा, नहीं तो मैं भी न जाऊँगा। नहीं सही=यदि यह बात न हो तो कोई चिंता नहीं। यदि ऐसा न हो तो कोई परवा या हानि नहीं। जैसे, (क) अगर वे नहीं आते हैं तो नहीं सही। (ख) यदि आप न पढ़ें तो नहीं सही।

नहुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अयोध्या के एक प्राचीन इक्ष्वाकुवंशी राजा का नाम जो अंबरीष का पुत्र और ययाति का पिता था। महाभारत में इसे चंद्रवंशी आयु राजा का पुत्र माना है। पुराणानुसार यह एक बड़ा प्रतापी राजा था। जब इंद्र ने वृत्रासुर को मारा था उस समय इंद्र को ब्रह्महत्या लगी थी उसके भय से इंद्र १००० वर्ष तक कमलनाल में छिप कर रहा था। उस समय इंद्रासन शून्य देख गुरु बृहस्पति ने इसको योग्य जान कुछ दिनों के लिये इंद्र-पद दिया था। उस अवसर पर इंद्राणी पर मोहित होकर इसने उसे अपने पास बुलाना चाहा। तब बृहस्पति की सम्मति से इंद्राणी ने कहला दिया कि "पालकी पर बैठकर सप्तर्षियों के कंधे पर हमारे यहाँ आओ तब हम तुम्हारे साथ चलें"। यह सुन राजा ने तदनुसार ही किया और घबराहट में आकर सप्तर्षियों से कहा—सर्प, सर्प, (जल्दी चलो)। इस पर अगस्त्य मुनि ने शाप दे दिया कि 'जा सर्प हो जा'। तब यह वहाँ से पतित होकर बहुत दिनों तक सर्प योनि में रहा। महाभारत में लिखा है कि पांडव लोग जब द्वैतवन में रहते थे तब एक बार भीम शिकार खेलने गए थे। उस समय उन्हें एक बहुत बड़े साँप ने पकड़ लिया। जब उनके लौटने में देर हुई तब युधिष्ठिर उन्हें ढूँढ़ने निकले। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि एक बड़ा साँप भीम को पकड़े हुए है। उनके पूछने पर साँप ने कहा कि मैं महाप्रतापी राजा नहुष हूँ; ब्रह्मर्षि, देवता, राक्षस और पन्नग आदि मुझे कर देते थे। ब्रह्मर्षि लोग मेरी पालकी उठाकर चला करते थे। एक बार अगस्त्य मुनि मेरी पालकी उठाए हुए थे, उस समय मेरा पैर उन्हें लग गया जिससे उन्होंने मुझे शाप दिया कि जाओ, तुम साँप हो जाओ। मेरे बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा कि इस योनि से राजा युधिष्ठिर तुम्हें मुक्त करेंगे। इसके बाद उसने युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न भी किए थे जिनका उन्होंने यथेष्ट उत्तर दिया था। इसके उपरांत साँप ने भीम को छोड़ दिया और दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग को प्रस्थान किया। (२) एक नाग का नाम। (३) एक ऋषि का नाम जो मनु के पुत्र और ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के द्रष्टा माने जाते हैं। (४) पुराणानुसार कुशिकवंशी एक ब्राह्मण राजा का नाम। (५) एक राजर्षि का नाम जिनका उल्लेख ऋग्वेद में है। (६) हरिवंश के अनुसार एक मरुत् का नाम। (७) विष्णु का एक नाम। (८) मनुष्य। आदमी।

नहुषाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] तगर पुष्प।

नहूर-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की भेड़ जो तिब्बत में होती है और कभी कभी नैपाल में भी आ जाती है। बहुत बर्फ पड़ने पर इसके झुंड पर्वत की चोटी से उतरकर सिंधु नदी के किनारे तक भी आ जाते हैं।

नहूसत-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मनहूस होने का भाव। उदासीनता। खिन्नता। मनहूसी। जैसे, आपके चेहरे से नहूसत बरसती है।

क्रि० प्र०—टपकना।—बरसना।

(२) अशुभ लक्षण।

नाँउँ-संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

नाँगा-वि० दे० "नंगा"।

संज्ञा पुं० [हिं० नंगा] एक प्रकार के साधु जो नंगे ही रहते हैं।

नाँगी-वि० स्त्री० "नंगी"। उ०—तुम यह बात असंभव भाषत नाँगी आवहु नारी।—सूर।

नाँघना*†-क्रि० स० [सं० लंघन] लाँघना। इस पार से उस पार उछलकर जाना। उ०—जो नाँघइ सत जोजन सागर। करै सो राम काज अति आगर।—तुलसी।

नाँठना*-क्रि० अ० [सं० नष्ट] नष्ट होना। बिगड़ जाना। उ०—मुनि अति बिकल मोह मति नाँठी। मणि गिरि गई छूटि जनु गाँठी।—तुलसी। विशेष—दे० "नाठना"।

नाँद-संज्ञा स्त्री० [सं० नंदक] मिट्टी का एक बड़ा और चौड़ा बरतन जिसमें पशुओं को चारा पानी आदि दिया जाता है। हौदी। (यह बरतन पीतल इत्यादि धातुओं का भी बनता है जिसमें गृहस्थ लोग पानी रखते हैं।)

नाँदना*-क्रि० अ० [सं० नाद] (१) शब्द करना। शोर करना। (२) छींकना।

क्रि० अ० [सं० नंदन] आनंदित होना। ख़ुश होना। उ०—नेकु न जानी परति यों पर्‌यो विरह तन छाम। उठति दिया लौं नाँदि हरि लिए तुम्हारो नाम।—बिहारी।

नांदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अभ्युदय। समृद्धि। (२) वह आशीर्वादात्मक श्लोक या पद्य जिसका सूत्रधार नाटक आरंभ करने के पहले पाठ करता है। मंगलाचरण।

विशेष—संस्कृत नाटकों में विघ्नशांति के लिये इस प्रकार के मंगल पाठ की चाल है। साहित्यदर्पण के अनुसार नांदी आठ या बारह पदों की होनी चाहिए। किंतु भरत मुनि ने दस पदों की भी लिखी है। नांदीपाठ मध्यम स्वर में होना चाहिए।

नाँदीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तोरणस्तंभ। (२) नांदीमुख श्राद्ध।

नांदीपट-संज्ञा पुं० [सं०] कुएँ का ढकना।

नांदीमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुएँ का ढकना। (२)एक आभ्युदयिक श्राद्ध जो पुत्रजन्म, विवाह आदि मंगल अवसरों पर किया जाता है। वृद्धिश्राद्ध।

विशेष—निर्णयसिंधु में लिखा है कि पुत्र कन्या जन्म, विवाह, उपनयन, गर्भाधान, यज्ञ, पुंसवन, तड़ागादि प्रतिष्ठा, राज्याभिषेक, अन्नप्राशन इत्यादि में नांदीमुख श्राद्ध करना ही चाहिए। वृद्धि हुई हो तब तो यह श्राद्ध करना ही चाहिए, जिस कार्य से अभ्युदय या वृद्धि की संभावना हो उसमें भी इसे करना चाहिए। पहले माता का श्राद्ध करना चाहिए, फिर पिता का, उसके पीछे पितामह, मातामह आदि का। और श्राद्ध तो मध्याह्न में किए जाते हैं पर यह पूर्वाह्न में होता है। पुत्रजन्म में समय का नियम नहीं है।

नाँदीमुखी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, दो तगण और दो गुरु होते हैं। उ०—नित गहि दुइ पादै गुरू केर जाई। दशरथ सुत चारी लहे मोद पाई। हिय महँ धरि कै ध्यान शृंगी ऋषि को। मुदित मन कियो श्राद्ध नांदीमुखी को।

नाँयँ*‡-संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

अव्य० दे० "नहीं"।

नाँवँ-संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

ना-अव्य० [सं०] एक शब्द जिसका प्रयोग अस्वीकृति या निषेध सूचित करने के लिये होता है। नहीं। न।

*संज्ञा पुं० [सं० नर] मनुष्य। (डिं०)

*संज्ञा पुं० [सं० नाभि] नाभि। (डिं०)

नाइक*-संज्ञा पुं० दे० "नायक"।

नाइत्तिफ़ाक़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मेल का अभाव। फूट। मतभेद। विरोध।

नाइन-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाई] (१) नाई जाति की स्त्री। (२) नाई की स्त्री।

नाइब*-संज्ञा पुं० दे० "नायब"।

नाईं-संज्ञा स्त्री० [सं० न्याय] समान दशा। एक सी गति।

वि० स्त्री० समान। तुल्य। उ०—समरथ को नहिं दोष गुसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं।—तुलसी।

नाई-संज्ञा पुं० [सं० नापित] नाऊ। हज्जाम। नापित।

संज्ञा स्त्री० [देश०] नाकुली कंद।

नाउँ‡*-संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

नाउ*‡-संज्ञा स्त्री० दे० "नाव"।

नाउत-संज्ञा पुं० [देश०] मंत्र यंत्र से भूत प्रेत झाड़नेवाला। सयाना। झाड़ फूँक करनेवाला। ओझा।

नाउन†-संज्ञा स्त्री० दे० "नाइन"।

नाउम्मेद-वि० [फ़ा०] निराश।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नाउम्मेदी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] निराशा।

नाऊ†—संज्ञा पुं० दे० "नाई"।

नाकंद-वि० [फ़ा० ना + कंदः] बिना निकाला हुआ (घोड़ा आदि)। अल्हड़। अशिक्षित। बिना सिखाया हुआ। उ०—(क) नाकंद बछेड़े कूद चुके अब और दुलत्ती मत छाँटो।—नजीर। (ख) सुरँग बछेरे नैन तुव यद्यपि हैं नाकंद। मन सौदागर ने कह्यौ ये हैं बहुत पसंद।—रसनिधि।

नाक-संज्ञा० स्त्री० [सं० नक, पा० नक्क] (१) मुख़मंडल की मांसपेशियों और अस्थियों के उभार से बना हुआ नल के रूप का वह अवयव जिसके दोनों छेद मुख-विवर और फुस्फुस से मिले रहते हैं और जिससे घ्राण का अनुभव और श्वास प्रश्वास का व्यापार होता है। सूँघने और साँस लेने की इंद्रिय। नासा। नासिका।

विशेष—नाक का भीतरी अस्तर छिद्रमय मांस की झिल्ली का होता है जो बराबर कपालघट और नेत्र के गोलकों तक गई रहती है, इसी झिल्ली तक मस्तिष्क के वे संवेदनसूत्र आए रहते हैं जिनसे घ्राण का व्यापार अर्थात् गंध का अनुभव होता है। इसी से होकर वायु भीतर जाती है जिसमें गंधवाले अणु रहते हैं। इस झिल्ली का ऊपरवाला भाग ही गंधवाहक होता है, नीचे का नहीं। नीचे तक संवेदनसूत्र नहीं रहते। नासारंध्र का मुखविवर, नेत्रगोलक, कपालघट आदि से संबंध होने के कारण नाक से स्वर और

स्वाद का भी बहुत कुछ साधन होता है तथा कपाल के भीतरी कोशों में इकट्ठा होनेवाला मल और आँख का आँसू भी निकलता है। जीव-विज्ञानियों का कहना है कि उठी हुई नाक मनुष्य की उन्नत जातियों का चिह्न है, हबशी आदि असभ्य जातियों की नाक बहुत चिपटी होती है।

यौ०—नाकघिसनी = विनती और गिड़गिड़ाहट। **नाककटी या नाक-कटाई** = अप्रतिष्ठा। बेइज्जती। **नाकबंद** = घोड़े की पूजा।

मुहा०—नाक कटना = प्रतिष्ठा नष्ट होना। इज्जत जाना। **नाक कटाना** = प्रतिष्ठा नष्ट कराना। इज्जत बिगड़वाना। **नाक काटना** = प्रतिष्ठा नष्ट करना। इज्जत बिगाड़ना। **नाक काटकर चूतड़ों तले रख लेना** = लोक लज्जा छोड़ देना। निर्लज्ज हो जाना। अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान छोड़ लज्जाजनक कार्य्य करना। बेहयाई करना। **नाक कान काटना** = कड़ा दंड देना। **नाक का बाँसा** = दोनों नथुनों के बीच का परदा। **नाक का बाँसा फिर जाना** = नाक का बांसा टेढ़ा हो जाना जो मरने का लक्षण समझा जाता है। **(किसी की) नाक का बाल** = वह जिसका किसी पर बहुत अधिक प्रभाव हो। सदा साथ रहनेवाला घनिष्ठ मित्र या मंत्री। वह जिसकी सलाह से सब काम हो। **नाक की सीध में** = ठीक सामने। बिना इधर उधर मुड़े। **नाक घिसना** = दे० "नाक रगड़ना"। **नाक चढ़ना** = क्रोध आना। त्यौरी चढ़ना। **नाक चढ़ाना** = (१) क्रोध से नथुने फुलाना। क्रोध की आकृति प्रकट करना। क्रोध करना। (२) घिन खाना। घृणा प्रकट करना। अरुचि दिखाना। नापसंद करना। तुच्छ समझना। **नाकों चने चबवाना** = खूब तंग करना। हैरान करना। **नाक चोटी काटकर हाथ देना** = (१) कठिन दंड देना। (२) दुर्दशा करना। अपमान करना। **नाक चोटी काटना** = कड़ा दंड देना। **नाक तक खाना** = बहुत ठूंस कर खाना। बहुत अधिक खाना। **नाक तक भरना** = (१) मुंह तक भरना (बरतन आदि को)। (२) खूब ठूंसकर खाना। बहुत अधिक खाना। **नाक न दी जाना** = बहुत दुर्गंध आना। बहुत बदबू मालूम होना। **नाक पर उँगली रखकर बात करना** = औरतों की तरह बात करना। **नाक पकड़ते दम निकलना** = इतना दुर्बल होना कि छू जाने से भी मरने का डर हो। बहुत अशक्त होना। **नाक पर गुस्सा होना** = बात बात पर क्रोध आना। चिड़चिड़ा स्वभाव होना। **(कोई वस्तु) नाक पर रख देना** = तुरंत सामने रख देना। चट दे देना। **(जब कोई अपने रुपए या और किसी वस्तु को कुछ बिगड़कर माँगता है तब उसके उत्तर में ताव के साथ लोग ऐसा कहते हैं)।** **नाक पर दीया बालकर आना** = सफलता प्राप्त करके आना। मुख उज्ज्वल करके आना। (स्त्री०), **चाहे इधर से नाक पकड़ो चाहे उधर से** = चाहे जिस तरह कहो या करो बात एक ही है। **नाक पर पहिया फिर जाना** = नाक चिपटी होना। **नाक इधर कि नाक उधर** = हर तरह से एक ही मतलब। **नाक पर मक्खी न बैठने देना** = (१) बहुत ही खरी प्रकृति का होना। थोड़ा सा भी दोष या त्रुटि न सह सकना। (२) बहुत साफ रहना। जरा सा दाग न लगने देना। (३) किसी का थोड़ा निहोरा भी न लेना। जरा सा एहसान भी न उठाना। **(किसी की) नाक पर सुपारी तोड़ना** = खूब तंग करना। **नाक फटने लगना** = असह्य दुर्गंध आना। **नाक बैठना** = नाक का चिपटा हो जाना। **नाक बहना** = नाक में से कपाल कोशों का मल निकलना। **नाक बीधना** = नथनी आदि पहनाने के लिये नाक में छेद करना। **नाक भौं चढ़ाना या नाक भौं सिकोड़ना** = (१) अरुचि और अप्रसन्नता प्रकट करना। (२) घिनाना और चिढ़ना। नापसंद करना। **नाक में दम करना या नाक में दम लाना** = खूब तंग करना। बहुत हैरान करना। बहुत सताना। **नाक मारना** = घृणा प्रकट करना। घिन करना। नापसंद करना। **नाक में तीर करना या नाक में तीर डालना** = खूब तंग करना। बहुत सताना या हैरान करना। **नाक में तीर होना** = बहुत हैरान होना। बहुत सताया जाना। **नाक रगड़ना** = बहुत गिड़गिड़ाना और विनती करना। मिन्नत करना। **नाक रगड़े का बच्चा** = वह बच्चा जो देवताओं की बहुत मनौती पर हुआ हो। **नाकों आना** = हैरान हो जाना। बहुत तंग होना। **उ०—नाक बनावत आयो हौं नाकहि नाही पिनाकिहि नेकु निहारो।—तुलसी।** **नाक में बोलना** = नासिका से स्वर निकालना। नकियाना। **नाक लगाकर बैठना** = बहुत प्रतिष्ठावाला बनकर बैठना। बड़ा इज्जतवाला बनना। **नाक सिकोड़ना** = अरुचि या घृणा प्रकट करना। घिनाना। **उ०—सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी।—तुलसी।**

(२) कपाल के कोशों आदि का मल जो नाक से निकलता है। रेंट। नेटा।

क्रि० प्र०—आना।—बहना।

यौ०—नाक सिनकना = जोर से हवा निकालकर नाक का मल बाहर फेंकना।

(३) चरखे में लगी हुई एक चिपटी लकड़ी जो अगले खूँटे के आगे निकले हुए बेलन के सिरे पर लगी रहती है और जिसे पकड़कर चरखा घुमाते हैं। (४) लकड़ी का वह डंडा जिस पर चढ़ाकर बरतन खरादे जाते हैं। (५) प्रतिष्ठा की वस्तु। श्रेष्ठ वा प्रधान वस्तु। शोभा की वस्तु। जैसे, वे ही तो इस शहर की नाक हैं। (६) प्रतिष्ठा। इज्जत। मान। उ०—नाक पिनाकहि संग सिधाई।—तुलसी।

यौ०—नाकवाला = इज्जतवाला ।

मुहा०–नाक रख लेना = प्रतिष्ठा की रक्षा कर लेना ।

संज्ञा स्त्री० [सं० नक्र] मगर की जाति का एक जलजंतु ।

विशेष—मगर से इसमें अंतर यह होता है कि यह उतनी लंबी नहीं होती, पर चौड़ी अधिक होती है। मुँह भी इसका अधिक चिपटा होता है और उस पर घड़ा या थूथन नहीं होता। पूँछ में काँटे स्पष्ट नहीं होते। यह जमीन पर मगर से अधिक दूर तक जाकर जानवरों को खींच ला सकती है। सरजू तथा उसमें मिलनेवाली और छोटी छोटी नदियों में यह बहुत पाई जाती है।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग ।

यौ०—नाकनटी । नाकपति ।

(२) अंतरिक्ष । आकाश । (३) अस्त्र का एक आघात ।

नाकड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० नाक + ड़ा (प्रत्य०)] नाक का एक रोग जिसमें नाक के बाँसे के भीतर जलन और सूजन होती है और नाक पक जाती है।

नाकनटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ग की नर्त्तकी । अप्सरा ।

नाकना†*–क्रि० सं० [सं० लंघन, हिं० नांघना] (१) लाँघना । उल्लंघन करना । पार करना । डाँकना । उ०—अति तनु धनु रेखा, नेक नाकी न जाकी ।—केशव । (२) अतिक्रमण करना । पार करना । बढ़ जाना । मात कर देना । उ०—चैत्ररथ कामवन नंदन की नाकी छबि, कहैं रघुराज राम काम को समारा है ।—रघुराज ।

नाकपृष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग ।

नाकबुद्धि–वि० [हिं० नाक + बुद्धि] जिसका विवेक नाक ही तक हो। जो नाक से सूँघ कर गंध द्वारा ही भक्ष्याभक्ष्य, भले बुरे आदि का विचार कर सके, बुद्धि द्वारा नहीं। तुच्छबुद्धि । क्षुद्र बुद्धिवाला । ओछी समझ का । उ०—अपनो पेट दियो तैं उनको नाकबुद्धि तिय सबै कहै री । सूर श्याम ऐसे हैं, माई, उनको बिनु अभिमान लहै री । —सूर ।

विशेष—स्त्रियों की निंदा में प्रायः लोग कहते हैं कि उनकी बुद्धि नाक ही तक होती है, अर्थात् यदि उन्हें नाक न हो तो वे भक्ष्याभक्ष्य सब खा जायँ ।

नाकवेधक–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

नाका–संज्ञा पुं० [हिं० नाकना] (१) किसी रास्ते आदि का वह छोर जिससे होकर लोग किसी ओर जाते, मुड़ते, निकलते या कहीं घुसते हैं। प्रवेशद्वार । मुहाना । (२) वह प्रधान स्थान जहाँ से किसी नगर बस्ती आदि में जाने के मार्ग का आरंभ होता है। गली या रास्ते का आरंभ स्थान। जैसे, नाके नाके पर सिपाही तैनात थे कि कोई जाने न पावे ।

यौ०—नाकाबंदी । नाकेदार ।

(३) नगर, दुर्ग आदि का प्रवेशद्वार । फाटक । निकलने पैठने का रास्ता । जैसे, शहर का नाका ।

मुहा०—नाका छेंकना या बाँधना = आने जाने का मार्ग रोकना

(४) वह प्रधान स्थान या चौकी जहाँ निगरानी रखने, या किसी प्रकार का महसूल आदि वसूल करने के लिये सिपाही तैनात हों। (५) सूई का छेद । (६) आठ गिरह लंबा जुलाहों का एक औजार जिसमें ताने के तागे बाँधे जाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० नक्र] मगर की जाति का एक जलजंतु । दे० "नाक" ।

नाकाबंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाकाफ + फा० बंदी] (१) प्रवेशद्वार का अवरोध । किसी रास्ते से कहीं जाने या घुसने की रुकावट । (२) फाटक आदि का छेंका जाना ।

संज्ञा पुं० (१) वह सिपाही जो फाटक या नाके पर पहरे के लिये खड़ा किया गया हो । (२) सिपाही । कांस्टिबिल । चौकीदार । पहरेदार ।

नाकाबिल–वि० [फा० ना + अ० काबिल] अयोग्य ।

नाकारा–वि० [फा०] निकम्मा । खराब । बुरा ।

नाकिस–वि० [अ०] बुरा । खराब । निकम्मा ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

नाकी–संज्ञा पुं० [सं० नाकिन्] (नाक या स्वर्ग में रहनेवाला) देवता ।

नाकु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीमक की मिट्टी का ढूह । बेमौट । वल्मीक । (२) भीटा । टीला । (३) पर्वत । पहाड़ । (४) एक मुनि का नाम ।

नाकुल–वि० [सं०] नेवले के ऐसा । नेवला संबंधी ।

संज्ञा पुं० (१) नकुल की संतति । (२) रास्ना । (३) सेमर का मूसला । (४) चव्य । (५) यवतिक्ता ।

नाकुली–वि० [सं० नकुल] (१) नेवला संबंधी । (२) नकुल नामक पांडव का बनाया हुआ । जैसे, नाकुली शालिहोत्र ।

संज्ञा स्त्री [सं० नकुल] (१) एक प्रकार का कंद जो सब प्रकार के विषों, विशेष कर सर्प के विष को दूर करता है। नाकुली दो प्रकार का होता है। एक नाकुली दूसरी गंधनाकुली । गुण दोनों का एक सा है। गंधनाकुली कुछ अच्छी होती है।

पर्य्या०—नागसुगंधा । नकुलेष्टा । भुजंगाक्षी । सर्पांगी । विष-नाशिनी । रक्तपत्रिका । ईश्वरी । सुरसा ।

(२) यवतिक्ता लता । (३) रास्ना । (४) चव्य । चविका । (५) श्वेत कंटकारी । सफेद भटकटैया ।

नाकेदार–संज्ञा पुं० [हिं० नाका + फा० दार (प्रत्य०)] (१) नाके या फाटक पर रहनेवाले सिपाही । (२) वह अफसर या कर्मचारी जो आने जाने के प्रधान प्रधान स्थानों पर किसी

प्रकार का कर महसूल आदि वसूल करने के लिये तैनात हो। वि० जिसमें नाका या छेद हो। जैसे, नाकेदार सूई।

नाकेबंदी–संज्ञा स्त्री० दे० "नाकाबंदी"।
संज्ञा पुं० दे० "नाकाबंदी"।

नाकेश–संज्ञा पुं० [सं०] (स्वर्ग के अधिपति) इंद्र।

नाक्षत्र–वि [सं०] नक्षत्र संबंधी। जैसे, नाक्षत्र दिन, नाक्षत्र मास, नाक्षत्र वर्ष।

विशेष—जितने काल में चंद्रमा २७ नक्षत्रों पर एक बार घूम जाता है उसे नाक्षत्र मास कहते हैं। मास का प्रथम दिन वह समय माना जाता है जिसमें चंद्रमा अश्विनी नक्षत्र पर रहता है। अश्विनी नक्षत्र पर चंद्रमा ६० दंड, भरणी पर ६३ दंड, इसी प्रकार सब नक्षत्रों पर कुछ काल तक रहता है। फलित ज्योतिष में आयु गणना आदि के लिये नाक्षत्र दिन मास आदि निकाले जाते हैं।

नाक्षत्रिक–संज्ञा पुं० [स०] नाक्षत्र मास।

नाक्षत्रिकी–वि० स्त्री० [सं०] नक्षत्र संबंधिनी। जैसे, नाक्षत्रिकी दशा। दे० "दशा"।

नाख–संज्ञा स्त्री० [फा० नाशपाती] नाशपाती नाम का फल।

नाखना*†–क्रि० स० [सं० नष्ट] (१) नाश करना। नष्ट कर देना। बिगाड़ देना। उ०—(क) जे नखचंद्र भजन खल नाखत रमा हृदय जेहि परसत।—सूर। (ख) जो हरिचरित ध्यान उर राखै। आनँद सदा दुरित दुख नाखै।—सूर। (२) फेंकना। गिराना। डालना। उ०—जो उर झारन ही झरसी मृदु मालती माल वहै मग नाखै।
क्रि० सं० [हिं० नाकना] नाकना। उल्लंघन करना। उ०—(क) नील नल अंगद सहित जामवंत हनुमंत से अनंत जिन नीरनिधि नाख्यो ई।—केशव। (ख) पाछे ते सीय हरी विधि मर्याद राखी। जो पै दशकंध बली रेखा क्यों न नाखी?—सूर।

नाखुना–संज्ञा पुं० [फा०] (१) आँख का एक रोग जिसमें एक लाल झिल्ली सी आँख की सफेदी में पैदा होती है और बढ़कर पुतली को भी ढक लेती है। (२) मोटे लाल डोरे जो घोड़ों की आँख में पैदा हो जाते हैं। (३) चीरा बाँधने का नोकदार अंगुश्ताना।

नाखुर–संज्ञा पुं० दे० "नहँछू"।

नाखुश–वि० [फा०] अप्रसन्न। नाराज।
क्रि० प्र०—करना।—होना।

नाखुशी–संज्ञा स्त्री० [फा०] अप्रसन्नता। नाराजी।

नाखून–संज्ञा पुं० [फा० नाखुन] (१) उँगलियों के छोर पर चिपटे किनारे वा नोक की तरह निकली हुई कड़ी वस्तु। नख। नहँ।

विशेष—नाखून वास्तव में ठोस और कड़ा जमा हुआ ऊपरी त्वक् है। पशुओं के सींग, खुर आदि भी इसी प्रकार ऊपरी त्वक् की जमावट से बनते हैं।

मुहा०—नाखून लेना = नाखून काटकर अलग करना। **नाखून नीले होना** = मरने का लक्षण दिखाई पड़ना। मृत्यु के चिह्न प्रकट होना। **ऐसे ऐसे नाखूनों में पड़े हैं** = ऐसे ऐसे बहुत देखे भाले हैं। ऐसों की गिनती नहीं।

(२) चौपायों के टाप या खुर का बढ़ा हुआ किनारा।

मुहा०—नाखून लेना = (१) नाखून काटना। (२) घोड़े का ठोकर लेना।

नाखूना–संज्ञा पुं० [फा०] (१) दे० "नाखुना"। (२) गबरून की तरह का एक कपड़ा जिसका ताना सफेद होता है और बाने में अनेक रंग की धारियाँ होती हैं। यह आगरे में बहुत बनता है। (३) बढ़इयों की बहुत पतली रुखानी जिससे बारीक काम किया जाता है।

नाग–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नागिन] (१) सर्प। साँप।

मुहा०—नाग खेलाना = ऐसा कार्य करना जिसमें प्राण का भय हो। खतरे का काम करना।

(२) कद्रू से उत्पन्न कश्यप की संतान जिनका स्थान पाताल लिखा गया है।

विशेष—वराहपुराण में नागों की उत्पत्ति के संबंध में यह कथा लिखी है। सृष्टि के आरंभ में कश्यप उत्पन्न हुए। उनकी पत्नी कद्रू से उन्हें ये पुत्र उत्पन्न हुए—अनंत, वासुकि, कंबल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक और अपराजित। कश्यप के ये सब पुत्र नाग कहलाए। इनके पुत्र पौत्र बहुत ही क्रूर और विषधर हुए। इनसे प्रजा क्रमशः क्षीण होने लगी। प्रजा ने जाकर ब्रह्मा के यहाँ पुकार की. ब्रह्मा ने नागों को बुलाकर कहा, जिस प्रकार तुम हमारी सृष्टि का नाश कर रहे हो उसी प्रकार माता के शाप से तुम्हारा भी नाश होगा। नागों ने डरते डरते कहा "महाराज! आपही ने हमें कुटिल और विषधर बनाया, हमारा क्या अपराध है? अब हम लोगों के रहने के लिये कोई अलग स्थान बतलाइए जहाँ हम लोग सुख से पड़े रहें। ब्रह्मा ने उनके रहने के लिये पाताल, वितल और सुतल ये तीन स्थान या लोक बतला दिए।

एक वार कद्रू और विनता में विवाद हुआ कि सूर्य के घोड़े की पूँछ काली है या सफेद। विनता सफेद कहती थी और कद्रू काली। अंत में यह ठहरी कि जिसकी बात ठीक न निकले वह दूसरी की दासी होकर रहे। जब कद्रू ने अपने पुत्रों से यह बात कही तब उन्होंने कहा कि "पूँछ तो सफेद है अब क्या होगा?" अंत में जब सूर्य निकला तब सबके सब नाग उच्चैःश्रवा की पूँछ से लिपट गए जिससे वह काली दिखाई पड़ी। जिन नागों ने पूँछ को काला

करना अस्वीकार किया उन्हें कद्रू ने नष्ट होने का शाप दिया जिसके अनुसार वे जनमेजय के सर्पयज्ञ में नष्ट हुए। पुराणों में बहुत से नागों के नाम दिए हुए हैं। पर उनमें मुख्य आठ हैं—अनंत, वासुकि, पद्म, महापद्म, तक्षक, कुलीर, कर्कोटक और शंख। ये अष्टनाग और इनका कुल अष्टकुल कहलाता है। (३) एक देश का नाम। (४) उस देश में बसनेवाली जाति।

विशेष—ऐतिहासिकों के अनुसार 'नाग' शक जाति की एक शाखा थी जो हिमालय के उस पार रहती थी। तिब्बतवाले अपने को नागवंशी और अपनी भाषा को नाग भाषा कहते हैं। जनमेजय की कथा से पुरुवंशियों और नागवंशियों के वैर का आभास मिलता है। यह वैर बहुत दिनों तक चलता रहा। जब सिकंदर भारत में आया तब पहले पहल उससे तक्षशिला का नागवंशी राजा मिला जो पंजाब के पौरव राजा से द्रोह रखता था। सिकंदर के साथियों ने तक्षशिला के राजा के यहाँ बड़े बड़े साँप पले देखे थे जिनकी पूजा होती थी। विशेष—दे० "नागवंश"।

(५) एक पर्वत। (महाभारत)। (६) हाथी। हस्ति। (७) राँगा। (८) सीसा (धातु)।

विशेष—भावप्रकाश में लिखा है कि वासुकि एक नागकन्या को देख मोहित हुए। उनके स्खलित वीर्य से इस धातु की उत्पत्ति हुई।

मुहा०—नाग फूँकना = धातु फूंकना।

(९) एक प्रकार की घास। (१०) नागकेसर। (११) पुन्नाग। (१२) मोथा। नागरमोथा। (१३) पान। तांबूल। (१४) नागवायु। (१५) ज्योतिष के करणों में से तीसरे करण का नाम। (१६) बादल। (१७) आठ की संख्या। (१८) दुष्ट या क्रूर मनुष्य। (१९) अश्लेषा नक्षत्र।

नागकंद—संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिकंद।

नागकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाग जाति की कन्या।

विशेष—पुराणों में नागकन्याएँ बहुत सुंदर बतलाई गई हैं।

नागकर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी का कान। (२) एरंड। अंडी का पेड़।

नागकिंजल्क—संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

नागकुमारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुरुच। गिलोय। (२) मजीठ। मंजिष्ठा।

नागकेसर—संज्ञा स्त्री० [सं० नागकेशर] एक सीधा सदाबहार पेड़ जो देखने में बहुत सुंदर होता है। यह द्विदल अंकुर से उत्पन्न होता है। पत्तियाँ इसकी बहुत पतली और घनी होती हैं, जिससे इसके नीचे बहुत अच्छी छाया रहती है। इसमें चार दलों के बड़े और सफेद फूल गरमियों में लगते हैं जिनमें बहुत अच्छी महक होती है। लकड़ी इसकी इतनी कड़ी और मजबूत होती है कि काटनेवाले की कुल्हाड़ियों की धारें मुड़ मुड़ जाती हैं। इसी से इसे वज्रकाठ भी कहते हैं। फलों में दो या तीन बीज निकलते हैं। हिमालय के पूरबी भाग, पूरबी बङ्गाल, आसाम, बरमा, दक्षिण भारत, सिंहल आदि में इसके पेड़ बहुतायत से मिलते हैं। नागकेसर के सूखे फूल औषध, मसाले और रंग बनाने के काम में आते हैं। इनके रंग से प्रायः रेशम रँगा जाता है। सिंहल में बीजों से गाढ़ा पीला तेल निकालते हैं, जो दीया जलाने और दवा के काम में आता है। मदरास में इस तेल को वातरोग में भी मलते हैं। इसकी लकड़ी से अनेक प्रकार के सामान बनते हैं। लकड़ी ऐसी अच्छी होती है कि केवल हाथ से रगड़ने से ही उसमें वारनिश की सी चमक आ जाती है। वैद्यक में नागकेसर कसैली, गरम, रूखी, हलकी तथा ज्वर, खुजली, दुर्गंध, कोढ़, विष, प्यास, मतली और पसीने को दूर करनेवाली मानी जाती है। खूनी बवासीर में भी वैद्य लोग इसे देते हैं। इसे नागचंपा भी कहते हैं।

नागखंड—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार जंबू द्वीप के अंतर्गत भारतवर्ष के नौ खंडों या भागों में से एक।

नागगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नकुलकंद।

नागगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी ग्रह की वह गति जो उस समय होती है जब वह अश्विनी, भरणी और कृत्तिका नक्षत्र में रहता है। (ज्योतिष)

नागगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर।

नागचंपा—संज्ञा पुं० [सं० नागपंचक] नागकेसर का पेड़।

नागचूड़—संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

नागच्छत्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदंती।

नागज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंदूर। (२) बंग।

नागजिह्वा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनंतमूल। (२) शारिवा।

नागजिह्विका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

नागजीवन—संज्ञा पुं० [सं०] बंग। फूँका हुआ राँगा।

नागझाग*—संज्ञा पुं० [हिं० नाग+झाग] अहिफेन। अफीम।

नागदंत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथीदांत। (२) दीवार में गड़ी हुई खूँटी।

नागदंतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली का पौधा।

नागदंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] नखी नामक गंधद्रव्य।

नागदमन—संज्ञा पुं० [सं०] नागदौने का पौधा।

नागदमनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदौने का पौधा।

नागदला—संज्ञा पुं० [सं० नाग+दल] एक पेड़ जो बंगाल, आसाम, बरमा, मलाबार और सिंहल में होता है। बंगाल में इसे 'पोसुर' कहते हैं। सुंदरबन से इसकी लकड़ी आती

है जो बहुत कड़ी और मजबूत होती है। यह पानी में साखू से भी अधिक दिनों तक रह सकती है। इससे गाड़ी के पहिए नाव और अनेक प्रकार के सामान बनते हैं। इसके बीजों का गाढ़ा तेल जलाने के काम में आता है।

नागदलोपम–संज्ञा पुं० [सं०] परुष फल। फालसा।

नागदुमा–वि० [सं० नाग+फा० दुम] (हाथी) जिसकी पूँछ का सिरा सर्प के फन की तरह का हो।

विशेष—ऐसा हाथी ऐबी समझा जाता है।

नागदौन–संज्ञा पुं० [सं० नागदमन] (१) छोटे आकार का एक पहाड़ी पेड़ जो शिमले और हजारे में बहुत मिलता है इसकी लकड़ी भीतर से सफेद और मुलायम होती है और विशेषतः छड़ियाँ बनाने के काम में आती है। लोगों का विश्वास है इस लकड़ी के पास साँप नहीं आते। (२) दे० "नागदौना"।

नागदौना–संज्ञा पुं० [सं० नागदमन] (१) एक पौधा जिसमें डालियाँ और टहनियाँ नहीं होतीं। जड़ के ऊपर से ग्वारपाठे की सी पत्तियाँ चारों ओर निकलती हैं। ये पत्तियाँ हाथ हाथ भर लंबी और दो ढाई अंगुल चौड़ी होती हैं। ग्वारपाठे की पत्तियों की तरह इन पत्तियों के भीतर गूदा नहीं होता, इससे इनका दल बहुत मोटा नहीं होता। पत्तियों का रंग गहरा हरा होता है पर बीच बीच में हलकी चित्तियाँ सी होती हैं। नागदौने की जड़ कंद के रूप में नीचे की ओर जाती है। वैद्यक में नागदौना चरपरा, कड़ुआ, हलका, त्रिदोषनाशक, कोठे को शुद्ध करनेवाला, विषनाशक तथा सूजन, प्रमेह और ज्वर को दूर करनेवाला माना जाता है।

पर्य्या०—नागदमनी। वला। मोटा। विषापहा। नागपत्रा। महायोगेश्वरी.। जांबवती। वृक्का। जांबवी। मलघ्नी। दुर्द्धर्षा। दुःसहा। विफला। वनकुमारी। श्रीकंदा। कंदशालिनी।

(२) एक प्रकार का कड़ुआ और कटीला दौना जिसके पेड़ लंबे लंबे होते हैं। इसकी सूखी पत्तियाँ लोग कागजों और कपड़ों की तहों के बीच उन्हें कीड़ों से बचाने के लिये रखते हैं।

नागद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंहुड़। थूहर। (२) नागफनी।

नागद्वीप–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णुपुराण के अनुसार भारतवर्ष के नौ भागों में से एक।

नागधर–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

नागध्वनि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी जो मल्लार और केदार वा सूहा अथवा कान्हड़े और सारंग के योग से बनी है। इसका सरगम इस प्रकार है—नि सा ऋ ग म प ० $\overset{\circ}{\circ}$ $\overset{\circ}{\circ}$

नागनक्षत्र–संज्ञा पुं० [सं०] अश्लेषा नक्षत्र।

नागनग*–संज्ञा पुं० [सं०] गजमुक्ता। उ०—निज गुण घटत न नागनग परखि न पहिरत कोल। तुलसी प्रभु भूषण किए गुंजा बढ़ै न मोल।—तुलसी।

नागपंचमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सावन सुदी पंचमी।

विशेष—इस तिथि को नाग देवता की पूजा होती है। वराहपुराण में लिखा है कि इस पंचमी तिथि को ही नागों को ब्रह्मा ने शाप और वर दिया था इससे यह उन्हें अत्यंत प्रिय है। इस तिथि को नाग की पूजा भारत में स्त्रियाँ प्रायः सर्वत्र करती हैं।

नागपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्पों का राजा वासुकि। (२) हाथियों का राजा ऐरावत।

नागपत्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदमनी।

नागपत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्षण नाम का कंद।

नागपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पान।

नागपाश–संज्ञा स्त्री० [सं०] वरुण के एक अस्त्र का नाम जिससे शत्रुओं को बाँध लेते थे। शत्रु को बाँधने के लिये एक प्रकार का बंधन या फंदा।

विशेष—वाल्मीकि रामायण में मेघनाद का इंद्र से इस अस्त्र को प्राप्त करना लिखा है। पुराणों में भी इसका उल्लेख है। तंत्र में लिखा है कि ढाई फेरे के बंधन को नागपाश कहते हैं।

नागपुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोगवती नाम की नगरी जो पाताल में मानी गई है। (२) हस्तिनापुर। (३) अग्निपुराण के अनुसार एक स्थान।

विशेष—अग्निपुराण में लिखा है कि जब गङ्गा महादेवजी की जटा से निकल हेमकूट, हिमालय आदि को लाँघकर आईं तब स्वलील नामक एक दानव पर्वत के रूप में मार्ग रोकने के लिये खड़ा हो गया। भगीरथ ने कौशिक को प्रसन्न करके उनसे एक नागवाहन प्राप्त किया जिसने उस पर्वतरूपी दैत्य को विदीर्ण किया। जिस स्थान पर यह दैत्य विदीर्ण किया गया उसका नाम नागपुर रखा गया।

नागपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नागकेसर। (२) पुन्नाग का पेड़। (३) चंपा।

नागपुष्पफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] पेठा।

नागपुष्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीली जूही। (२) नागदौना।

नागपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदमनी। (२) मेढासींगी।

नागपूत–संज्ञा पुं० [सं० नागपुत्र] कचनार की जाति की एक लता जो सिकिम, बंगाल और बरमा में बहुत होती है।

नागफनी– संज्ञा स्त्री० [हिं० नाग + फन] (१) थूहर की जाति का एक पौधा जिसमें टहनियाँ नहीं होतीं। साँप के फन के आकार के गूदेदार मोटे दल एक दूसरे के ऊपर निकलते

चले जाते हैं। ये दल कुछ नीलापन लिए हरे और काँटेदार होते हैं। काँटे बड़े विषैले होते हैं। उनके चुभने पर बड़ी पीड़ा होती है। दलों के सिरे पर पीले रंग के बड़े बड़े फूल लगते हैं। फूल का निचला भाग छोटी गुल्ली के रूप का होता है जिसमें लाल रंग का रस भरा रहता है। यही गुल्ली फूलों के झड़ जाने पर बढ़कर गोल फल के रूप में हो जाती है। ये फल खाने में खटमीठे होते हैं और दवा के काम आते हैं। अचार और तरकारी भी इन फलों की बनती है। नागफनी के पौधे किसी स्थान को घेरने के लिये बाड़ों में लगाए जाते हैं। काँटों के कारण इन्हें पार करना कठिन होता है। (२) सिंघे के आकार का एक बाजा जिसका प्रचार नैपाल में है। (३) कान में पहनने का एक गहना। उ०—विकट भृकुटि सुखमानिधि आनन कल कपोल काननि नगफनियां।—तुलसी। (४) नागे साधुओं का कौपीन।

नागफल-संज्ञा पुं [सं०] परवल।

नागफाँस-संज्ञा पुं० दे० "नागपाश"।

नागफेन-संज्ञा पुं० [सं०] अफीम। अहिफेन।

नागबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] पीपल का पेड़।

नागबल-संज्ञा पुं० [सं०] भीम का एक नाम।

विशेष—भीम को दस हजार हाथियों का बल था, इससे यह नाम पड़ा। यह बल उन्हें उस समय प्राप्त हुआ था जब दुर्योधन ने उन्हें विष देकर जल में फेंक दिया था और वे नागलोक में जा पहुँचे थे। नागलोक में गिरने पर नागों ने उन्हें खूब डसा जिससे स्थावर विष का प्रभाव उतर गया और वे स्वस्थ होकर उठ बैठे। वहाँ पर कुंती के पिता के मामा ने भीम को पहचाना। अंत में वासुकि की कृपा से उन्हें उस कुंड का रसपान करने को मिला जिसके पीने से हजारों हाथियों का बल हो जाता है।

नागबला-संज्ञा स्त्री० [सं०] गँगेरन। गुलसकरी।

नागबेल-संज्ञा स्त्री० [सं० नागवल्ली] (१) पान की बेल। पान। (२) कोई सर्पाकार बेल जो किसी वस्तु पर बनाई जाय। (३) घोड़े की आड़ी तिरछी चाल।

नागभगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वासुकि की बहिन जरत्कारु।

नागभिद्-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का भारी सर्प।

नागमती संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता का नाम।

नागमरोड़-संज्ञा पुं० [हिं० नाग + मरोड़ना] कुश्ती का एक पेच जिसमें जोड़ को अपनी गर्दन के ऊपर से या कमर पर से एक हाथ से घसीटते हुए गिराते हैं।

विशेष—यह पेच धोबीपछाड़ ही के ऐसा होता है, अंतर इतना होता है कि धोबीपछाड़ में दोनों हाथों से जोड़ को पीठ पर से घसीटते हुए फेंकते हैं।

नागमल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] ऐरावत।

नागमाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागों की माता, कद्रू। (२) सुरसा।

विशेष—रामायण में लिखा है कि जिस समय हनुमान समुद्र लाँघ रहे थे देवताओं ने उनके बल की परीक्षा के लिये नागों की माता सुरसा को भेजा था।

(३) मनःशिला। मैनसिल। (३) मनसा देवी। (ब्रह्मवैवर्त्त पु०)।

नागमार-संज्ञा पुं० [सं०] केशराज। काला भँगरा। कुकुर भँगरा।

नागमुख-संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

नागयष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] लकड़ी या पत्थर का वह खंभा जो पुष्करिणी या तालाब के बीचोबीच जल में खड़ा किया जाता है। लाट। लट्टा।

विशेष—हयशीर्ष और बृहस्पति के अनुसार यह लाट बेल, पुन्नाग, नागकेसर, चंपा या बरने की लकड़ी की होनी चाहिए। लकड़ी सीधी और सुडौल हो। जलाशयोत्सर्गतत्त्व में लिखा है कि पहले आठों नागों के नाम अलग अलग पत्रों पर लिखकर जल से भरे कुंड में डाल देने चाहिएँ। फिर जल को खूब हिलाकर एक पत्र हाथ में उठा लेना चाहिए। जिस नाग का नाम उस पत्र पर हो वही बनवाए हुए जलाशय का अधिपति होगा। उस नाग की पायस, नैवेद्य से पूजा करके तब नागयष्टि की स्थापना करनी चाहिए।

नागरंग-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

नागर-वि० [सं०] [स्त्री० नागरी] (१) नगर संबंधी। (२) नगर में रहनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) नगर में रहनेवाला मनुष्य। (२) चतुर आदमी। सभ्य, शिष्ट और निपुण व्यक्ति। (३) देवर। (४) सोंठ। (५) नागरमोथा। (६) नारंगी। (७) गुजरात में रहनेवाले ब्राह्मणों की एक जाति।

संज्ञा पुं० [सं० नाग=सांप] दीवार का टेढ़ापन जो जमीन की तंगी के कारण होता है।

नागरक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिल्पी। कारीगर। (२) चोर।

नागरक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्प या हाथी का रक्त। (२) सिंदूर।

नागरघन-संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा।

नागरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागरिकता। शहरातीपन। (२) नगर का रीति व्यवहार। सभ्यता। उ०—सबै हँसत करताल दै नागरता के नाँव। गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव।—बिहारी। (३) चतुराई।

नागरबेल-संज्ञा स्त्री० [सं० नागवल्ली [पान की बेल। पान। तांबूल।

नागरमुस्ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

नागरमोथा—संज्ञा पुं० [सं० नागरमुस्ता] एक प्रकार का तृण या घास जिसमें इधर उधर फैली या निकली हुई टहनियां नहीं होतीं, जड़ के पास चारों ओर सीधी लंबी पत्तियां निकलती हैं जो शर या मूँज की पत्तियों की सी नोकदार और बहुत कम चौड़ाई की होती हैं । पत्तियों के बीचोबीच एक सीधी सींक निकलती है जिसके सिरे पर फूलों की ठोस मंजरी होती है । यह तृण हाथ भर तक ऊँचा होता है और तालों के किनारे प्रायः मिलता है । इसकी जड़ सूत में फँसी हुई गाँठों के रूप की और सुगंधित होती है । नागरमोथे की जड़ मसाले और औषध के काम में आती है । वैद्यक में नागरमोथा, चरपरा, कसैला, ठंढा तथा पित्त, ज्वर, अतिसार, अरुचि, तृषा और दाह को दूर करनेवाला माना जाता है । जितने प्रकार के मोथे होते हैं उनमें नागरमोथा उत्तम माना जाता है ।

पर्य्या०—नागरमुस्ता । नादेयी । वृषध्मांची । कच्छरुहा । चूडाला । पिंडमुस्ता । नागरोत्था । कलायिनी । चक्रांका । शिशिरा । उच्चटा ।

नागराज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्पों में बड़ा सर्प । (२) शेषनाग । (३) हाथियों में बड़ा हाथी । (४) ऐरावत । (५) 'पंचामर' या 'नाराच' छंद का दूसरा नाम ।

नागराह्व—संज्ञा पुं० [सं०] सोंठ ।

नागरिक—वि० [सं०] नगर संबंधी । (१) नगर का । (२) नगर में रहनेवाला । शहराती । (३) चतुर । सभ्य ।

संज्ञा पुं० नगरनिवासी । शहर का रहनेवाला आदमी ।

नागरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नगर की रहनेवाली स्त्री । शहर की औरत । (२) चतुर स्त्री । प्रवीण स्त्री । (३) स्नुही । थूहर । (४) भारतवर्ष की वह प्रधान लिपि जिसमें संस्कृत और हिंदी लिखी जाती है । विशेष—दे० "देवनागरी" । (५) पत्थर की मोटाई की एक बड़ी माप । (६) पत्थर की बहुत मोटी पटिया । बड़ा भोट ।

नागरीट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंपट । व्यभिचारी । (२) जार ।

नागरुक—संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी ।

नागरेणु—संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर ।

नागरोत्था—संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

नागर्य्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नागरिकता । शहरातीपन । (२) चतुराई । बुद्धिमानी ।

नागल—संज्ञा पुं० [देश०] (१) हल । (२) जूए की रस्सी जिससे बैल जोड़े जाते हैं ।

नागलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पान की लता । पान ।

नागलोक—संज्ञा पुं० [सं०] पाताल ।

नागवंश—संज्ञा पुं० [सं०] नागों की कुलपरंपरा । (२) शक जाति की एक शाखा ।

विशेष—प्राचीन काल में नागवंशियों का राज्य भारतवर्ष के कई स्थानों में तथा सिंहल में भी था । पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि सात नागवंशी राजा मथुरा भोग करेंगे, उसके पीछे गुप्त राजाओं का राज्य होगा । नौ नाग राजाओं के जो पुराने सिक्के मिले हैं उन पर बृहस्पति नाग, देव नाग, गणपति नाग इत्यादि नाम मिलते हैं; ये नागगण विक्रम संवत् १५० और २५० के बीच राज्य करते थे । इन नव नागों की राजधानी कहाँ थी इसका ठीक पता नहीं है पर अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि उनकी राजधानी नरवर थी । मथुरा और भरतपुर से लेकर ग्वालियर और उज्जैन तक का भूभाग नागवंशियों के अधिकार में था । इतिहासों में यह बात प्रसिद्ध है कि महा प्रतापी गुप्तवंशी राजाओं ने शक या नागवंशियों को परास्त किया था । प्रयाग के किले के भीतर जो स्तंभ है उसमें स्पष्ट लिखा है कि महाराज समुद्रगुप्त ने गणपति नाग को पराजित किया था । इस गणपति नाग के सिक्के बहुत मिलते हैं ।

महाभारत में भी कई स्थानों पर नागों का उल्लेख है । पांडवों ने नागों के हाथ से मगध राज्य छीना था । खांडव वन जलाते समय भी बहुत से नाग नष्ट हुए थे । जनमेजय के सर्प-यज्ञ का भी यही अभिप्राय मालूम होता है कि पुरुवंशी आर्य राजाओं से नागवंशी राजाओं का विरोध था । इस बात का समर्थन सिकंदर के समय के प्राप्त वृत्त से भी होता है । जिस समय सिकंदर भारतवर्ष में आया उससे पहले पहल तक्षशिला का नागवंशी राजा ही मिला । उस राजा ने सिकंदर का कई दिनों तक तक्षशिला में आतिथ्य किया और अपने शत्रु पौरव राजा के विरुद्ध चढ़ाई करने में सहायता पहुँचाई । सिकंदर के साथियों ने तक्षशिला में राजा के यहाँ भारी भारी सर्प पले देखे थे जिनकी नित्य पूजा होती थी । यह शक या नाग जाति हिमालय के उस पार की थी ।

अब तक तिब्बती अपनी भाषा को नागभाषा कहते हैं ।

नागवंशी—वि० [सं० नागवंशिन्] नागों के वंश या कुल का ।

नागवल्लरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पान ।

नागवल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] पान की बेल । पान तांबूल ।

नागवार—वि० [फा०] (१) असह्य । (२) जो अच्छा न लगे । अप्रिय ।

क्रि० प्र०—होना ।—गुज़रना ।

नागवीथी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्र ग्रह की चाल में वह मार्ग जो स्वाती, भरणी और कृत्तिका नक्षत्रों में हो (बृहत्संहिता) ।

विशेष—तीन तीन नक्षत्रों में एक एक वीथी मानी गई है। (२) कश्यप की एक पुत्री का नाम। (ब्रह्मवैवर्त्त)।

नागवृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

नागशत-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

नागशुंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] डंगरीफल। एक प्रकार की ककड़ी।

नागशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] नया घर बनवाने में नागों की स्थिति का विचार।

विशेष—फलित ज्योतिष के ग्रंथों में लिखा है कि भादों, कुआर और कातिक इन तीन महीनों में नागों का सिर पूरब की ओर, अगहन, पूस और माघ में दक्षिण की ओर, फागुन चैत और बैसाख में पच्छिम की ओर तथा जेठ, असाढ़ और सावन में उत्तर की ओर रहता है। पहले पहल नीव डालते समय यदि नागों के मस्तक पर आघात पड़ा तो घर बनवानेवाले की मृत्यु, पीठ पर पड़ा तो स्त्री पुत्र की मृत्यु होती है। पेट पर आघात पड़ने से शुभ होता है।

नागसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंदूर। (२) एक प्रकार का मोती (जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यह वासुकि तक्षक आदि नागों के सिर में होता है)।

नागसाह्वय-संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिनापुर।

नागसुगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सर्पसुगंधा। एक प्रकार की रास्ना। रायसन।

नागस्तोकक-संज्ञा पुं० [सं०] वत्सनाभ विष। अमृत विष।

नागस्फोता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदंती। (२) दंती।

नागहनु-संज्ञा पुं० [सं०] नख नामक गंधद्रव्य।

नागहंत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] वंध्या कर्कोटकी। बाँझ ककोड़ा। बाँझ खखसा।

नागहाँ-क्रि० वि० [फा०] एकाएक। अचानक। अकस्मात्।

नागहानी-वि० स्त्री० [फा०] अकस्मात् आई हुई। जो एकाएक टूट पड़ी हो। जैसे, नागहानी आफत।

नागांचला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागयष्टि।

नागांजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागयष्टि।

नागांतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़। (२) मयूर। (३) सिंह।

नागा-संज्ञा पुं० [सं० नग्न, हिं० नंगा] उस संप्रदाय का शैव साधु जिसमें लोग नंगे रहते हैं।

विशेष—नागे पहले किसी प्रकार का वस्त्र नहीं धारण करते थे, एकदम नंगे रहते थे। अब अँगरेजी राज्य में एक कौपीन लगाकर निकलते हैं जिसे नागफनी कहते हैं। ये सिर की जटाओं को रस्सी की तरह बटकर पगड़ी के आकार में लपेटे रहते हैं और शरीर में भस्म पोतते हैं। ये अपने पास भस्म का एक गोला रखते हैं जिसकी नित्य पूजा करते हैं। इनकी उद्दंडता और वीरता प्रसिद्ध है। अँगरेजी राज्य के पहले ये बड़ा उपद्रव भी करते थे। वैष्णव वैरागियों से इनकी लड़ाई प्रायः हुआ करती थी जिसमें बहुत से वैरागी मारे जाते थे। नागों के भी कई अखाड़े होते हैं जिनमें निरंजनी और निर्वाणी दो मुख्य हैं।

संज्ञा पुं० [सं० नाग] (१) आसाम के पूर्व की पहाड़ियों में बसनेवाली एक जंगली जाति। (२) आसाम में वह पहाड़ जिसके आस पास नागा जाति की बस्ती है।

संज्ञा पुं० [अ० नागः] किसी नित्य या निरंतर होनेवाली अथवा नियत समय पर बराबर होनेवाली बात का किसी दिन या किसी नियत अवसर पर न होना। चलती हुई कार्य्य-परंपरा का भंग। अंतर। बीच। जैसे, (क) रोज काम पर जाना, किसी दिन नागा न करना। (ख) तुम्हारे कई नागे हो चुके, तनखवाह कटेगी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नागा देना = बीच डालना। अंतर डालना। जैसे, रोज न आओ, एक दिन नागा देकर आया करो।

नागाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

नागानन-संज्ञा पुं० [सं०] गजानन। गणेश।

नागाभिभू-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव का एक नाम।

नागाराति-संज्ञा पुं० [सं०] बंध्या कर्कोटकी। बाँझ ककोड़ा। बंझ खखसा।

नागार्जुन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन बौद्ध महात्मा या बोधिसत्व जो माध्यमिक शाखा के प्रवर्त्तक थे।

विशेष—ऐसा लिखा है कि ये विदर्भ देश के ब्राह्मण थे। किसी किसी के मत से ये ईसा से सौ वर्ष पूर्व और किसी किसी के मत से ईसा से १२०–२०० वर्ष पीछे हुए थे। पर तिब्बत में लामा के पुस्तकालय में एक प्राचीन ग्रंथ मिला है जिसके अनुसार पहला मत ही ठीक सिद्ध होता है। बौद्ध धर्म को दार्शनिक रूप पहले पहल नागार्जुन ही ने दिया, अतः इनके द्वारा सभ्य और पठित समाज में बौद्ध धर्म का जितना प्रचार हुआ उतना और किसी के द्वारा नहीं। इनके दर्शन ग्रंथ का नाम माध्यमिक सूत्र है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म संबंधी इन्होंने और भी कई ग्रंथ लिखे। इन्होंने सात वर्ष तक सारे भारतवर्ष में उपदेश और शास्त्रार्थ करके बहुत से लोगों को बौद्ध धर्म्म में दीक्षित किया। अंत में ये भोजभद्र नामक प्रधान राजा को दस हजार ब्राह्मणों के सहित बौद्धधर्म में लाए। इनका दर्शन दो भागों में विभक्त है—एक संवृति-सत्य दूसरा परमार्थ-सत्य। संवृति-सत्य में इन्होंने माया का मूल तथ्य निरूपित किया है और परमार्थ-सत्य में यह प्रतिपादित किया है कि चिंतन और समाधि के द्वारा

महात्मा को किस प्रकार जान सकते हैं। महात्मा को जान लेने पर माया दूर हो जाती है। माध्यमिक दर्शन का सिद्धांत यही है कि साधारण नीति-धर्म के पालन से ही प्राणी पुनर्जन्म से रहित नहीं हो सकता। निर्वाणप्राप्ति के लिये दानशील, शांति, वीर्य्य, समाधि और प्रज्ञा इन गुणों के द्वारा आत्मा को पूर्णत्व को पहुँचाना चाहिए। ये कहते थे कि विष्णु, शिव, काली, तारा, इत्यादि देवी देवताओं की उपासना सांसारिक उन्नति के लिये करनी चाहिए। नागार्जुन ने बौद्ध धर्म को जो रूप दिया वह "महायान" कहलाया और उसका प्रचार बहुत शीघ्र हुआ। नैपाल, तिब्बत, चीन, तातार, जापान इत्यादि देशों में इसी शाखा के अनुयायी हैं। तांत्रिक बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तक कुछ लोग नागार्जुन ही को मानते हैं। काश्मीर में बौद्धों का जो चौथा संघ हुआ था वह इन्होंने किया था।

ये चिकित्सक भी बहुत अच्छे थे। चक्रपाणि पंडित (विक्रम संवत् १००० के लगभग) ने अपने चिकित्सासंग्रह में नागार्जुन कृत नागार्जुनांजन और नागार्जुनयोग नामक औषधों का उल्लेख किया है। चक्रपाणि ने लिखा है कि पाटलिपुत्र नगर में उन्हें ये दोनों नुसखे पत्थर पर खुदे मिले थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पत्थरों पर इस प्रकार के नुसखे खुदवाकर उन्हें स्थान स्थान पर गड़वा देते थे।

कक्षपुट, कौतूहल-चिंतामणि, योगरत्नमाला, योगरत्नावली और नागार्जुनीय (चिकित्सा) ये और ग्रंथ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

नागार्जुनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुद्धी। दुधिया घास।

नागालावू-संज्ञा पुं० [सं०] गोलघीया। गोल कद्दू। गोल लौकी।

नागाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़। (२) मयूर। (३) सिंह।

नागाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिकंद।

नागाह्व-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

नागाह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मणा कंद।

नागिन-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाग] (१) नाग की स्त्री। साँप की मादा।

विशेष—ऐसा प्रसिद्ध है कि नागिन में बहुत विष होता है, इससे कुटिल और दुष्टा स्त्री के लिये इस शब्द का प्रयोग प्रायः करते हैं।

(२) रोयों की लंबी भौंरी जो पीठ या गरदन पर होती है। (स्त्रियों में ऐसी भौंरी का होना कुलक्षण समझा जाता है।) (३) बैल, घोड़े आदि चौपायों की पीठ पर रोयों की एक विशेष प्रकार की भौंरी जो अशुभ मानी जाती है।

नागिनी-संज्ञा स्त्री० दे० "नागिन"।

नागी-संज्ञा पुं० [सं० नागिन्] (नागवाले) शिव। महादेव।

नागी गायत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] २४ वर्णों का एक वैदिक छंद जिसके प्रथम दो चरणों में नौ नौ वर्ण होते हैं और तीसरे चरण में केवल छः वर्ण।

नागुला-संज्ञा पुं० [सं० नकुल] (१) नेवला। (२) नाकुली नामक जड़ी।

नागेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा सर्प। (२) शेष, वासुकि आदि नाग। (३) बड़ा हाथी। (४) ऐरावत।

नागेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेषनाग। (२) प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण, नागेश भट्ट।

नागेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेषनाग। (२) ऐरावत। (३) नागकेसर।

नागेश्वर रस-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रसिद्ध रसौषध।

विशेष—पारा, गंधक, सीसा, राँगा, मैनसिल, नौसादर, जवाखार, सज्जी, सोहागा, लोहा, ताँबा और अभ्रक इन सब को बराबर बराबर लेकर थूहर के दूध में मले। फिर चीते, अड़ूसे और दंती के क्वाथ में मलकर उरद की दाल के बराबर गोली बना डाले।

नागेसर※-संज्ञा पुं० दे० "नागकेसर"।

नागेसरी-वि० [हिं० नागेसर] नागकेसर के रंग का। पीला।

नागोद-संज्ञा पुं० [सं०] लोहे का वह तवा या बकतर जिसे अस्त्रों के आघात से बचाने के लिये छाती पर पहनते थे। सीनाबंद।

नागोदर-संज्ञा पुं० दे० "नागोद"।

नागौर-संज्ञा पुं० [हिं० नव + नगर] मारवाड़ के अंतर्गत एक नगर जो गायों और बैलों के लिये भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध है।

विशेष—ऐसी जनश्रुति है कि दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज ने कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ने की आज्ञा दी जो गोपोषण के लिये सबसे अनुकूल हो। लोग चारों ओर छूटे। उनमें से एक ने एक जंगल में देखा कि तुरंत की ब्याई हुई गाय अपने बछड़े की रक्षा एक बाघ से कर रही है। बाघ बहुत जोर मारता है पर गाय उसे सींगों से मार मारकर हटा देती है। महाराज के यहाँ जब यह समाचार पहुँचा तब उन्होंने उसी जंगल को पसंद किया और वहाँ नागौर या नवनगर नाम का नगर और गढ़ बनवाया।

वि० [हिं० नागौर] [स्त्री० नागौरी] नागौर का। अच्छी जाति का (बैल, गाय, बछड़ा आदि)।

नागौरा-वि० [हिं० नागौर] [स्त्री० नागौरी] नागौर का, अच्छी जाति का (बैल, गाय, बछड़ा आदि)।

नागौरी-वि० [हिं० नागौर] नागौर का 'अच्छी जाति का (बैल, बछड़ा आदि)।'

वि० स्त्री० नागौर की। अच्छी जाति की (गाय)।

नाच-संज्ञा पुं० [सं० नृत्य, प्रा० णाच्च, नच्च वा सं० नाट्य] (१) वह उछल कूद जो चित्त की उमंग से हो। अंगों की वह गति जो हृदयोल्लास के कारण मनमानी अथवा

संगीत के मेल में ताल स्वर के अनुसार और हावभाव युक्त हो।

विशेष—नाच की प्रथा सभ्य असभ्य सब जातियों में आदि से ही चली आ रही है, क्योंकि यह एक स्वाभाविक वृत्ति है। संगीत दामोदर में नृत्य का यह लक्षण है—देश की रुचि के अनुसार ताल मान और रस का आश्रित जो अंग-विक्षेप हो उसे नृत्य कहते हैं। नृत्य दो प्रकार का होता है—तांडव और लास्य। पुरुष के नाच को तांडव और स्त्री के नाच को लास्य कहते हैं। ये दोनों भी दो दो प्रकार के होते हैं। तांडव के दो भेद हैं—पेलवि और बहुरूप। अभिनय-शून्य अंग-विक्षेप को पेलवि और अनेक प्रकार के हाव भाव वेश-भूषा से युक्त अंग-गति को बहुरूप कहते हैं। लास्य के भी दो भेद हैं—छुरित और यौवत। नायक नायिका परस्पर आलिंगन, चुंबन आदि पूर्वक जो नृत्य करते हैं उसे छुरित कहते हैं। एक स्त्री लीला और हाव भाव के साथ जो नाच नाचती है उसे यौवत कहते हैं। इनके अतिरिक्त अंग प्रत्यंग की चेष्टा के अनुसार ग्रंथों में अनेक भेद किए गए हैं। भारतवर्ष में नाचने का पेशा करनेवाले पुरुषों को नट कहते थे। स्मृतियों में नट निकृष्ट जातियों में रखे गए हैं। पर प्राचीन काल में नृत्य विद्या राजकुमार भी सीखते थे। अर्जुन इस विद्या में निपुण थे। नाचना अनेक प्रकार के स्वाँगों के साथ भी होता है, जैसे, नाटक, रासलीला आदि में। विशेष—दे० "नाटक"। उ०—करि सिंगार मनमोहनि पातुर नाचहिं पाँच। बादशाह गढ़ छेंका, राजा भूला नाच।—जायसी।

क्रि० प्र०—करना।—नाचना।—होना।

यौ०—नाच कूद। नाच तमाशा। नाच रंग।

मुहा०—**नाच काछना** = नाचने के लिये तैयार होना। उ०—मैं अपनो मन हरि सों जोरयो। .....नाच कछयो घूँघट छोरयो तब लोकलाज सब फटकि पछोरयो।—सूर। **नाच दिखाना** = (१) किसी के सामने नाचना। (२) उछलना कूदना। हाथ पैर हिलाना। (३) विलक्षण आचरण करना। जैसे, रास्ते में उसने बड़े बड़े नाच दिखाए। **नाच नचाना** = (१) जैसा चाहना वैसा काम कराना। उ०—(क) कबिरा बैरी सबल है एक जीव रिपु पाँच। अपने अपने स्वाद को बहुत नचावै नाच।—कबीर। (ख) जो कछु कुबजा के मन भावै सोई नाच नचावै।—सूर। (२) दिक करना। हैरान करना। तंग करना। उ०—जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं।—तुलसी।

(२) नाट्य। खेल। क्रीड़ा। उ०—टूटे नौ मन मोती फूटे मन दस काँच। लिया सिमेटि सब अभरन होइगा दुख कर नाच।—जायसी। (३) कृत्य। धंधा। कर्म। प्रयत्न। उ०—साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो।—तुलसी।

नाच कूद—संज्ञा स्त्री० [हिं० नाच + कूद] (१) नाच तमाशा। उ०—कतहूँ कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाच कूद भल होई।—जायसी। (२) आयोजन। प्रयत्न। (३) गुण, योग्यता, बड़ाई आदि प्रकट करने का उद्योग। डींग। (४) क्रोध से उछलना, पटकना।

नाचघर—संज्ञा पुं० [हिं० नाच + घर] वह स्थान जहाँ नाचना गाना आदि हो। नृत्यशाला।

नाचना—क्रि० अ० [हिं० नाच] (१) चित्त की उमंग से उछलना, कूदना, तथा इसी प्रकार की और चेष्टा करना। हृदय के उल्लास से अंगों को गति देना। हर्ष के मारे स्थिर न रहना। जैसे, इतना सुनते ही वह आनंद से नाच उठा। उ०—(क) आजु सूर दिन अथवा आजु रैनि ससि बूड़। आजु नाचि जिउ दीजै आजु आगि हमैं जूड़।—जायसी। (ख) सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हें बिरंचि हम साँचे।—तुलसी। (ग) लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि।—तुलसी।

संयो० क्रि०—उठना।—पड़ना।

(२) संगीत के मेल में ताल स्वर के अनुसार हाव भाव पूर्वक उछलना, कूदना, फिरना तथा इसी प्रकार की और चेष्टाएँ करना। थिरकना। नृत्य करना। उ०—(क) करि सिंगार मन मोहनि पातुर नाचहिं पाँच। बादशाह गढ़ छेंका राजा भूला नाच।—जायसी। (ख) कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।—तुलसी। (३) भ्रमण करना। चक्कर मारना। घूमना। जैसे, लट्टू का नाचना।

मुहा०—**सिर पर नाचना** = (१) घेरना। ग्रसना। आक्रांत करना। प्रभाव डालना। जैसे, सिर पर पाप, अदृष्ट, दुर्भाग्य आदि नाचना। (२) पास आना। निकट आना। जैसे, सिर पर काल या मृत्यु नाचना। उ०—(क) जेहि घर काल मजारी नाचा। पंखिहि नावँ जीव नहिं बांचा।—जायसी। (ख) लखी नरेस बात सब साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची।—तुलसी। (इस मुहावरे का प्रयोग काल, मृत्यु, अदृष्ट, दुर्भाग्य, पाप, ऐसे कुछ शब्दों के साथ ही होता है) **आँख के सामने नाचना** = अंतःकरण में प्रत्यक्ष के समान प्रतीत होना। ध्यान में ज्यों का त्यों होना। जैसे, (क) उसमें ऐसा सुंदर वर्णन है कि दृश्य आँख के सामने नाचने लगता है। (ख) उसकी सूरत आँख के सामने नाच रही है।

(४) इधर से उधर फिरना। दौड़ना धूपना। उद्योग या प्रयत्न में घूमना। स्थिर न रहना। जैसे, एक जगह बैठते

क्यों नहीं, इधर उधर नाचते क्या हो ? उ०—जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम। मन काँचे, नाचे वृथा साँचे राचे राम।—बिहारी। (५) थर्राना। काँपना। उ०—बाजा बान जाँघ जस नाचा। जिव गा स्वर्ग परा मुँह साँचा।—जायसी। (६) क्रोध में आकर उछलना कूदना। क्रोध से उद्विग्न और चंचल होना। बिगड़ना। जैसे, तुम सब को कहते हो, पर तुम्हें जरा भी कोई कुछ कहता है तो नाच उठते हो।

संयो० क्रि०—उठना।

नाच-महल–संज्ञा पुं० [हिं० नाच + महल] नाचघर। उ०—नाच-महल महँ बैठो भीमा। दीप बुझायं क्रोध करि जीमा।—सबल।

नाच रंग–संज्ञा पुं० [हिं० नाच + रंग] आमोद प्रमोद। जलसा।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—होना।

नाचार–वि० [फा०] (१) विवश। लाचार। असहाय। (२) तुच्छ। व्यर्थ। उ०—इच्छायुत बैराग को करै जो चित्त विचार। सदाचार को वेद मत यह बिचार नाचार।—केशव।

क्रि० वि० विवश होकर। हारकर। मजबूरन। उ०—सुलतान रुकनुद्दीन फीरोजशाह इतनी शराब पीता था कि आखिर लाचार उसके अमीरों ने उसे कैद कर लिया।—शिवप्रसाद।

नाचारी–संज्ञा स्त्री० [फा०] दे० "लाचारी"।

नाचिकेता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) नचिकेता नामक ऋषि।

नाचीज़–वि० [फा०] (१) तुच्छ। पोच। उ०—अब उनको नाचीज़ फौजी गोरे अपने बूटों से कुचलने लगे।—सरस्वती। (२) निकम्मा।

नाचीन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश जो दक्षिण में है। (२) इस देश का राजा (महाभारत)।

नाज†–संज्ञा पुं० [हिं० अनाज] (१) अनाज। अन्न। उ०—खलन को योग जहाँ नाज ही में देखियत माफ करबे ही माहँ होत करनाशु है।—गुमान। (२) खाद्य द्रव्य। भोजन सामग्री। खाना। उ०—तुलसी निहारि कपि भालु किलकत ललकत लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की।—तुलसी। विशेष—दे० "अनाज"।

नाज़–संज्ञा पुं० [फा०] (१) ठसक। नख़रा। चोचला। हाव भाव। उ०—अदा में, नाज़ में चंचल अजब आलम दिखाती है। व सुमिरन मोतियों की उँगलियों में जब फिराती है।—नज़ीर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—नाज़ अदा, नाज़ नख़रा = (१) हाव-भाव। (२) चटक-मटक। बनाव-सिंगार।

मुहा०—नाज़ उठाना = चोचला सहना। नाज से पालना = बड़े लाड़ प्यार से पालना।

(२) घमंड। गर्व।

क्रि० प्र०—करना। होना।

नाज़नी–संज्ञा स्त्री० [फा०] सुंदरी स्त्री।

नाज़बू–संज्ञा स्त्री० [फा०] मरुवे का पौधा।

नाज़ाँ–वि० [फा०] घमंड करनेवाला। गर्वित।

क्रि० प्र०—होना।

नाजायज़–वि० [अ०] जो जायज़ न हो। जो नियमविरुद्ध हो। अनुचित।

नाज़िम–वि० [अ०] प्रबंधकर्त्ता।

संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानी राज्यकाल में वह प्रधान कर्मचारी जिसके ऊपर किसी देश वा राज्य के समस्त प्रबंध का भार रहता था। यह राजपुरुष उस देश का कर्त्ता धर्त्ता होता था और उसकी नियुक्ति सम्राट् की ओर से होती थी। उ०—हुमायूँ तख्त पर बैठा। उसका भाई कामराँ पहले से काबुल का नाज़िम था।—शिवप्रसाद।

नाज़र–वि० [अ०] (१) देखनेवाला। दर्शक।

संज्ञा पुं० (१) निरीक्षक। देखभाल करनेवाला। (२) लेखकों का अफसर। प्रधान लेखक। (३) ख़्वाजा। महलसरा।

नाजुक–वि० [फा०] (१) कोमल। सुकुमार। उ०—गड़े नुकीले लाल के नैन रहे दिन रैनि। तब नाज़ुक ठोड़ीन में गाड़ परै मृदु बैन।—शृं० सत०।

यौ०—नाज़ुक बदन। नाज़ुक दिमाग।

(२) पतला। महीन। बारीक। (३) सूक्ष्म। गूढ़। जैसे, नाज़ुक ख़्याल। (४) थोड़े ही आघात से नष्ट हो जानेवाला। जरा से झटके या धक्के से टूट फूट जानेवाला। थोड़ी असावधानी से भी जिसके टूटने का डर हो। जैसे, शीशे की चीजें नाज़ुक होती हैं, सँभालकर लाना।

यौ०—नाज़ुक मिज़ाज = जो थोड़ा सा कष्ट भी न सह सके।

(५) जिसमें हानि या अनिष्ट की आशंका हो। जोखों का। जैसे, नाज़ुक वक्त, नाज़ुक हालत, नाज़ुक मामला।

नाज़ुक दिमाग–वि० [फा० + अ०] (१) जो रुचि के प्रतिकूल (जैसे दुर्गंध, कर्कश स्वर आदि) थोड़ी सी बात भी न सहन कर सके। जो जरा जरा सी बात पर नाक भौं सिकोड़े। (२) तुनक मिज़ाज। चिड़चिड़ा।

नाज़ुक बदन–वि० [फा०] (१) कोमल और सुकुमार शरीर का। (२) डोरिए की तरह का एक महीन कपड़ा। (३) एक प्रकार का गुललाला।

नाज़ुक मिज़ाज–वि० दे० "नाज़ुक दिमाग"।

नाजो-संज्ञा स्त्री० [फा० नाज़] (१) नाज करनेवाली स्त्री। चटक मटकवाली स्त्री। ठसकवाली स्त्री। (२) लाड़ली प्यारी स्त्री।

नाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नृत्य। नाच। (२) नकल। स्वांग। उ०—पंथी इतनी कहियो बात। तुम बिनु यहाँ कुँवर वर मेरे होत जिते उतपात......गोपी गाइ सकल लघु दीरघ पीत बरन कृश गात। परम अनाथ देखियत तुम बिनु केहि अवलंबिए प्रात। कान्ह कान्ह कै टेरत तब धौं अब कैसे जिय मानत। यह ब्योहार आजु लौं है ब्रज कपट नाट छल ठानत।—सूर। (३) एक देश का नाम। यह देश कर्नाटक के पास था। (४) नाट देशवासी पुरुष। (५) एक राग का नाम। इसे कोई मेघ राग का और कोई दीपक राग का पुत्र मानते हैं। इस राग में वीर रस गाया जाता है।

नाटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाट्य या अभिनय करनेवाला। नट। (२) रंगशाला में नटों की आकृति, हाव भाव, वेश और वचन आदि द्वारा घटनाओं का प्रदर्शन। वह दृश्य जिसमें स्वाँग के द्वारा चरित्र दिखाए जायँ। अभिनय। (३) वह ग्रंथ या काव्य जिसमें स्वाँग के द्वारा दिखाया जानेवाला चरित्र हो। दृश्यकाव्य, अभिनयग्रंथ।

विशेष-नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गए हैं—श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। पर मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य मात्र को नाटक कहने लगे हैं। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सब से प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद हैं—श्राव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य वा रूपक के २७ भेद कहे गए हैं—नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण। साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि दृश्य काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं—रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन। उपरूपक के अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भाणिका। उपर्युक्त भेदों के अनुसार नाटक रूपक का एक भेद मात्र है। पर साधारणतः लोग नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्र के अर्थ में बोलते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं) को लेकर लिखना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दुःख, तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिएँ। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान वा अंगी रस शृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि जिस रूपक में प्रधान हो वह नाटक नहीं कहला सकता। संधिस्थल में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है। अभिनय आरंभ होने के पहले जो क्रिया (मंगलाचरण नांदी) होती है, उसे पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग के उपरांत प्रधान नट या सूत्रधार, जिसे स्थापक भी कहते हैं, आकर सभा की प्रशंसा करता है फिर नट, नटी, सूत्रधार इत्यादि परस्पर वार्त्तालाप करते हैं जिसमें खेले जानेवाले नाटक का प्रस्ताव, कविवंश वर्णन आदि विषय आ जाते हैं। नाटक के इस अंश को प्रस्तावना कहते हैं। जिस इतिवृत्त को लेकर नाटक रचा जाता है उसे वस्तु कहते हैं। 'वस्तु' दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसे 'अधिकारी' कहते हैं। इस अधिकारी के संबंध में जो कुछ वर्णन किया जाता है उसे 'आधिकारिक वस्तु' कहते हैं; जैसे, रामलीला में राम का चरित्र। इस अधिकारी के उपकार के लिये या रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जिसका वर्णन आ जाता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे सुग्रीव, विभीषण आदि का चरित्र।

'सामने लाने' अर्थात् दृश्य सम्मुख उपस्थित करने को अभिनय कहते हैं। अतः अवस्थानुरूप अनुकरण वा स्वाँग का नाम ही अभिनय है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अंगों की चेष्टा से जो अभिनय किया जाता है उसे आंगिक, वचनों से जो किया जाता है उसे वाचिक, भेस बनाकर जो किया जाता है उसे आहार्य्य तथा भावों के उद्रेक से कंप स्वेद आदि द्वारा जो होता है उसे सात्विक कहते हैं।

नाटक में बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य्य इन पाँचों के द्वारा प्रयोजनसिद्धि होती है। जो बात मुँह से कहते ही चारों ओर फैल जाय और फलसिद्धि का प्रथम कारण हो उसे बीज कहते हैं, जैसे वेणीसंहार नाटक में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साह-वाक्य द्रौपदी के केशमोचन का कारण होने के कारण बीज है। कोई एक बात पूरी होने पर दूसरे वाक्य से उसका संबंध न रहने पर भी उसमें ऐसे वाक्य

लाना जिनकी दूसरे वाक्य के साथ असंगति न हो 'बिंदु' है। बीच में किसी व्यापक प्रसंग के वर्णन को पताका कहते हैं—जैसे उत्तरचरित में सुग्रीव का और अभिज्ञानशाकुंतल में विदूषक का चरित्रवर्णन। एक देशव्यापी चरित्रवर्णन को प्रकरी कहते हैं। आरंभ की हुई क्रिया की फलसिद्धि के लिये जो कुछ किया जाय उसे कार्य्य कहते हैं; जैसे, रामलीला में रावण का वध।

किसी एक विषय की चर्चा हो रही हो इसी बीच में कोई दूसरा विषय उपस्थित होकर पहले विषय के मेल में मालूम हो वहाँ पताका स्थान होता है, जैसे रामचरित में राम सीता से कह रहे हैं—"हे प्रिये! तुम्हारी कोई बात मुझे असह्य नहीं, यदि असह्य है तो केवल तुम्हारा विरह", इसी बीच में प्रतिहारी आकर कहता है "देव! दुर्मुख उपस्थित"। यहाँ 'उपस्थित' शब्द से 'विरह उपस्थित' ऐसी प्रतीत होती है, और एक प्रकार का चमत्कार मालूम होता है। संस्कृत साहित्य में नाटक संबंधी ऐसे ही अनेक कौशलों की उद्वना की गई है और अनेक प्रकार के विभेद दिखाए गए हैं।

आजकल देशभाषाओं में जो नए नाटक लिखे जाते हैं उनमें संस्कृत नाटकों के सब नियमों का पालन या विषयों का समावेश अनावश्यक समझा जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं—"संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में उनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है; क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र बहुत पुराना है। रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में नट और नाटक का उल्लेख है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं। शिलाली का नाम शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और सामवेदीय अनुपद सूत्र में मिलता है। विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को ४००० वर्ष से ऊपर का बतलाया है। अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह राय कि ग्रीस या यूनान में ही सबसे पहले नाटक का प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं है। हरिवंश में लिखा है कि जब प्रद्युम्न, सांब आदि यादव राजकुमार वज्रनाभ के पुर में गए थे तब वहाँ उन्होंने रामजन्म और रंभाभिसार नाटक खेले थे। पहले उन्होंने नेपथ्य बाँधा था जिसके भीतर से स्त्रियों ने मधुर स्वर से गान किया था। शूर नामक यादव रावण बना था, मनोवती नाम की स्त्री रंभा बनी थी, प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक बने थे। विलसन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिंदुओं ने अपने यहाँ नाटक का प्रादुर्भाव अपने आप किया था। प्राचीन हिंदू राजा बड़ी बड़ी रंगशालाएँ बनवाते थे। मध्य भारत में सरगुजा एक पहाड़ी स्थान है; वहाँ एक गुफा के भीतर इस प्रकार की एक रंगशाला के चिह्न पाए गए हैं।

यह ठीक है कि यूनानियों के आने के पूर्व के संस्कृत नाटक आजकल नहीं मिलते हैं, पर इस बात से इनका अभाव, इतने प्रमाणों के रहते, नहीं माना जा सकता। संभव है कि कलासंपन्न यूनानी जाति से जब हिंदू जाति का मिलन हुआ हो तब जिस प्रकार कुछ और और बातें एक ने दूसरे की ग्रहण कीं इसी प्रकार नाटक के संबंध में कुछ बातें हिंदुओं ने भी अपने यहाँ ली हों। वाह्यपटी का 'जवनिका' नाम देख कुछ लोग यवन-संसर्ग सूचित करते हैं। अंकों में जो 'दृश्य' संस्कृत नाटकों में आए हैं उनसे अनुमान होता है कि इन पटों पर चित्र बने रहते थे। अस्तु अधिक से अधिक इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में जो अभिनय हुआ करते थे उनमें चित्रपट काम में नहीं लाए जाते थे। सिकंदर के आने के पीछे उनका प्रचार हुआ। अब भी रामलीला, रासलीला बिना परदों के होती ही हैं।

नाटकशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह घर या स्थान जहाँ नाटक होता हो।

नाटका-देवदारु—संज्ञा पुं० [हिं० नाटक + देवदारु] एक छोटा पेड़ या झाड़ जो भारत के दक्षिण और लंका में मिलता है। इसकी लकड़ी से एक प्रकार का तेल निकलता है जो नावों में लगाया जाता है। इस पेड़ के फल और पत्तियों में पाचन, स्वेदन और भेदन शक्तियाँ होती हैं। भारतवर्ष में इसकी पत्तियाँ और फल दुर्भिक्ष में खाए जाते हैं। नमक और मिर्च के साथ लोग पत्तियों का शाक बनाकर भी खाते हैं।

नाटकावतार—संज्ञा पुं० [सं०] किसी नाटक के अभिनय के बीच दूसरे नाटक का अभिनय। जैसा 'उत्तररामचरित' में एक दूसरे नाटक का अभिनय दिखाया गया है।

विशेष—शेक्सपियर के "हैमलेट" में भी इसी प्रकार अभिनय होना दिखाया गया है।

नाटकी—संज्ञा पुं० [हिं० नाटक] नाटक करनेवाला। नाटक करके जीविका करनेवाला। उ०—कहूँ नृत्यकारी नचि गावैं। कहूँ नाटकी स्वाँग दिखावैं।—सबल।

नाटकीय—वि० [सं०] नाटक संबंधी।

नाटना—क्रि० अ० [सं० नाट्य = बहाना] किसी ऐसी बात को अस्वीकार कर जाना जिसके लिये वचन दिया हो। प्रतिज्ञा आदि पर स्थिर न रहना। इनकार करना। निकल जाना। क्रि० स० अस्वीकार करना। इनकार करना। उ०—जो कोउ धरी धरोहरि नाटै। अरु पच्छिन के पर जो काटै।—विश्राम।

नाटवसंत-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग ।

नाटा-वि० [सं० नत = नीचा] [स्त्री० नाटी] जिसका डील ऊँचा न हो । छोटे डील का । छोटे कद का । (प्राणियों के लिये) जैसे, नाटा आदमी, नाटा बैल । उ०—नेपाल आदि उत्तरा खंड के देशों में लोग नाटे होते हैं ।—शिवप्रसाद ।
संज्ञा पुं० [स्त्री० नाटी] छोटे डील का बैल या गाय । उ०—सिगरोइ दूध पियो मेरे मोहन बलिहि देहु नहिं बाँटी । सूरदास नँद लेहु दोहनी दुहो लाल की नाटी ।—सूर ।

नाटा-करंज-संज्ञा पुं० [हिं० नाटा + करंज] एक प्रकार का करंज ।

नाटाम्र-संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज ।

नाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का दृश्य काव्य । यह एक प्रकार का नाटक ही है जिसमें चार अंक होते हैं । पर इसकी कथा कल्पित होती है । नायिका राजकुलोद्भवा और नवानुरागिणी और नायक धीर ललित होता है । इसमें स्त्री पात्र अधिक होते हैं । (२) एक रागिनी । यह नटनारायण हम्मीर और अहीरी राग के योग से बनती है और संपूर्ण जाति की मानी जाती है । नारद के मत से यह कर्णाटकी और हनुमत के मत से दीपक की पत्नी है । इसका स्वरग्राम यह है—सा, रे, ग,म, प, ध, नि, सा : :

नाटित-वि० [सं०] जिसका अभिनय किया गया हो । अभिनीत ।
संज्ञा पुं० अभिनय ।

नाट्य-संज्ञा पुं० [सं०](१)नटों का काम । नृत्य गीत और वाद्य ।
पर्या०—तौर्यत्रिक ।
(२) स्वाँग के द्वारा चरित्र प्रदर्शन । अभिनय ।
यौ०—नाट्यमंदिर । नाट्यकार । नाट्यशाला । नाट्यरासक । नाट्यशास्त्र ।
(३) नकल । स्वाँग । चेष्टा के द्वारा प्रदर्शन ।
क्रि० प्र०—करना ।
(४) वह नक्षत्र जिनमें नाट्य का आरंभ किया जाता है । (अनुराधा, धनिष्ठा, पुष्य, हस्त, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, शतभिषा और रेवती इन नक्षत्रों में नाटक आरंभ करना चाहिए ।)

नाट्यकार-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक करनेवाला । नट ।

नाट्यप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव (जिन्हें नाचना प्रिय है) ।

नाट्यमंदिर-संज्ञा पुं० [सं०] नाट्यशाला ।

नाट्यरासक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उपरूपक दृश्य काव्य । इसमें केवल एक ही अंक होता है । नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, उपनायक पीठमर्द होते हैं । इसमें अनेक प्रकार के गान और नृत्य होते हैं ।

नाट्यशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पर अभिनय किया जाय । नाटक-घर ।

नाट्यशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नृत्य, गीत और अभिनय की विद्या ।
विशेष—इसका उपदेश आदि में शिवजी ने ब्रह्माजी को किया था । ब्रह्माजी ने इंद्र की प्रार्थना पर अनिरुद्धावतार ग्रहण करके नाट्यवेद नामक उपवेद की रचना की । इसी को गंधर्व वेद भी कहते हैं । इसमें नृत्य वाद गीतादि की शिक्षा थी । ब्रह्माजी से भरत मुनि ने यह उपवेद पाकर संसार में इसका प्रचार किया ।
(२) एक प्राचीन ग्रंथ जिसकी रचना भरत मुनि ने की थी ।

नाट्यालंकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह विशेष अलंकार जिसके आने से नाटक का सौंदर्य अधिक बढ़ जाता है । साहित्य-दर्पण में ऐसे अलंकारों की संख्या तैंतीस मानी गई है—आशीर्वाद, अक्रेद, कपट, अक्षमा, गर्व, उद्यम, आश्रय, उत्प्रासन, स्पृहा, क्षोभ, पश्चात्ताप, उपपति, आशंसा, अध्यवसाय, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजन, परीवाद, नीति, अर्थ विशेषण, प्रोत्साहन, सहाय्य, अभिमान, अनुवृत्ति, उत-कीर्तन, यांचा, परिहार, निवेदन, पवर्तन, आख्यान, युक्ति, प्रहर्ष और शिक्षा ।

नाट्योक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वे विशेष विशेष संबोधन शब्द जो विशेष विशेष व्यक्तियों के लिये नाटकों में आते हैं—जैसे, ब्राह्मण के लिये आर्य्य, क्षत्रिय के लिये महाराज, पति के लिये आर्य्यपुत्र, राजा के साले के लिये राष्ट्रीय, राजा के लिये देव, वेश्या के लिये अज्जका, कुमार के लिये युवराज, विद्वान् के लिये भाव ।

नाठ*-संज्ञा पुं० [सं० नष्ट, प्रा० नट्ठ](१)नाश । ध्वंस । (२) अभाव । अनस्तित्व । (३) वह जायदाद जिसका कोई वारिस न हो ।
मुहा०—**नाठ पर बैठना** = किसी लावारिस माल का अधिकारी होना ।

नाठना*-क्रि० स० [सं० नष्ट, प्रा० नट्ठ] नष्ट करना । ध्वस्त करना । उ०—मुनि अति विकल मोह मति नाठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ।—तुलसी ।
क्रि० अ० नष्ट होना । ध्वस्त होना ।
क्रि० अ० [हिं० नाटना] भागना । हटना । उ०—(क) कोटि पापी इक पासंग मेरे अजामिल कौन बेचारो । नाठ्यो धर्म नाम सुनि मेरो नरक दियो हठि तारो ।—सूर । (ख) राम से साम किए नित है हित, कोमल काज न कीजिए टाँठे । आपनि सूझि कहौं पिय बूझिए जूझिबे जोग न ठाहरु नाठे ।—तुलसी ।

नाठा-संज्ञा पुं० [सं० नष्ट] वह जिसके आगे पीछे कोई वारिस न हो ।

नाड़-संज्ञा स्त्री० [सं० नाल, नाड़] ग्रीवा । गर्दन । दे० "नार" ।

नाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० नाड़] (१) सूत की वह मोटी डोरी जिससे स्त्रियाँ घाँघरा या धोती बाँधती हैं। इजारबंद। नीबी।

मुहा०—(किसी का) नाड़ा खोलना = संभोग करने के लिये नीवी खोलना। संभोग करना। (मारवाड़ स्त्रि०) नाड़ा छूट करना = पेशाब करना (मारवाड़ स्त्रि०)।

(२) लाल या पीला रँगा हुआ गंडेदार सूत जो देवताओं को चढ़ाया जाता है।

नाडिंधम-वि० [सं०] (१) नली को फूँकनेवाला। (२) नाड़ियों को हिलानेवाला। (३) श्वास को जल्दी जल्दी चलानेवाला। हँकानेवाला। (४) जिसे देखते ही नाड़ी हिल जाय। दहलानेवाला। भयंकर।

संज्ञा पुं० सोनार।

नाड़िक-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का साग जिसे पटुआ भी कहते हैं। (२) नाड़ी। (३) घटिका। दंड।

नाड़िका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक घड़ी का काल। घड़ी।

नाड़िकेल-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

नाड़िया-संज्ञा पुं० [सं० नाड़ी] (नाड़ी पकड़नेवाला) वैद्य। चिकित्सक।

नाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नली। (२) साधारणतः शरीर के भीतर की वे नलियाँ जिनमें होकर रक्त बहता है, विशेषतः वे जिनमें हृदय से शुद्ध रक्त क्षण क्षण पर जाता रहता है। धमनी।

विशेष—वे नलियाँ जिनसे शरीर भर में रक्त का प्रवाह होता है दो प्रकार की होती हैं—एक वे जो शुद्ध रक्त को हृदय से लेकर और सब अंगों में पहुँचाती हैं, दूसरी वे जो सब अंगों से अशुद्ध रक्त को इकट्ठा करके उसको हृदय में प्राण वायु द्वारा शुद्ध होने के लिये लौटाकर ले जाती हैं। पहले प्रकार की नलियाँ ही विशेषतः नाड़ियाँ कहलाती हैं। क्योंकि स्पंदन अधिकतर उन्हीं में होता है। अशुद्ध रक्त को हृदय में पहुँचानेवाली नलियों या शिराओं में प्रायः स्पंदन नहीं होता। अशुद्ध-रक्तवाहिनी शिराओं के द्वारा अशुद्ध रक्त हृदय के दाहिने कोठे में पहुँचता है, वहाँ से फिर वह फुस्फुस में जाता है, फुस्फुस में वह शुद्ध होता है। शुद्ध होने पर वह फिर हृदय के बाएँ कोठे में पहुँचता है। हृदय का क्षण-क्षण पर आकुंचन और प्रसारण होता रहता है—वह बराबर सिकुड़ता और फैलता रहता है। हृदय जिस क्षण सिकुड़ता है उसमें भरा हुआ रक्त बृहन्नाड़ी के खुले मुँह में चिप्त होता है और फिर बड़ी नाड़ी से उसकी शाखा प्रशाखाओं में पहुँचता है। सबसे पतली नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं कि सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के बिना नहीं देखी जा सकतीं। नाड़ियाँ अधिकतर मांस और पीले तंतुओं की बनी हुई होती हैं। अतः इनमें लचीलापन होता है—ये खींचने से बढ़ जाती हैं। अधिक भर जाने अर्थात् भीतर से जोर पड़ने पर ये फैलकर चौड़ी हो जाती हैं। और जोर हटने पर फिर ज्यों की त्यों हो जाती हैं। हृदय का बायाँ कोठा सिकुड़कर बड़े वेग के साथ १½ छटाँक रक्त बड़ी नाड़ी में ढकेलता है। नाड़ियों में तो हर समय रक्त भरा रहता है अतः जब बड़ी नाड़ी में यह डेढ़ छटाँक और रक्त पहुँचता है तब हृदय के समीप का भाग बढ़कर फैल जाता है। फिर जब रक्त का दूसरा झोंका हृदय से आता है तब उसके आगे का भाग फैलता है। इसी आकुंचन प्रसारण के कारण नाड़ियों में स्पंदन वा गति होती है। यह स्पंदन बड़ी नाड़ियों में ही मालूम होता है, छोटी छोटी नलियों में नहीं; क्योंकि अत्यंत सूक्ष्म नाड़ियों में पहुँचते पहुँचते लहरों का वेग बहुत कम हो जाता है—और फिर जब शिराओं में वही रक्त अशुद्ध होकर पलटता है तब लहर रह ही नहीं जाती। जब कोई नाड़ी कट जाती है तब उसमें से रक्त उछल उछलकर निकलता है; जब कोई अशुद्ध-रक्तवाहिनी शिरा कटती है तब उसमें से रक्त धीरे धीरे निकलता है। नाड़ियों के भीतर का रक्त लाल होता है पर अशुद्ध रक्तवाहिनी शिराओं के भीतर का रक्त कालापन लिए होता है।

नाड़ियों का स्पंदन या फड़क इन स्थानों में उँगली दबाने से मालूम हो सकती है—कनपटी में, ग्रीवा में के टेंटुये के दहने और बाएँ, ऊरुसंधि के बीच, पैर में अँगूठे की ओर के गट्टे के नीचे, शिश्न में ऊपर की तरफ, कलाई में, बाहु में (बगल की ओर वाले किनारे में)।

नाड़ी एक मिनट में उतनी ही बार फड़कती है जितनी बार हृदय धड़कता है। नाड़ी परीक्षा से हृदय और रक्तभ्रमण की दशा का ज्ञान होता है, उससे नाड़ियों और हृदय के तथा और भी कई अंगों के रोगों का पता लग जाता है।

आयुर्वेद के ग्रंथों में रक्तवाहिनी नलियों के स्पष्ट और ठीक विभाग नहीं किए गए हैं। सुश्रुत ने ७०० शिराएँ लिखी हैं जिनमें ४० मुख्य हैं—१० रक्तवाहिनी, १० कफवाहिनी, १० पित्तवाहिनी और १० वायुवाहिनी। इसके अतिरिक्त शुद्ध और अशुद्ध रक्त के विचार से कोई विभाग नहीं किया गया है। २४ धमनियों के जो ऊर्द्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्य्यग्गामिनी ये तीन विभाग किए गए हैं, उनमें भी उपर्युक्त विभाग नहीं हैं। सुश्रुत ने शिराओं और धमनियों का मूलस्थान नाभि बतलाया है। आधुनिक प्रत्यक्ष शारीरक की दृष्टि से कुछ लोगों ने शुद्ध रक्तवाहिनी नाड़ियों का 'धमनी' नाम रख दिया है। यह नाम सुश्रुत आदि के अनुकूल न होने पर भी उपयुक्त है क्योंकि धात्वर्थ का यदि विचार किया जाय तो 'धम' कहते हैं 'धौंकने' या 'फूँकने' को। जिस

प्रकार धौंकनी फूलती और पचकती है उसी प्रकार शुद्ध रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ भी। दे० 'शिरा', 'धमनी'।

नाड़ी-परीक्षा का विषय भी सुश्रुत में नहीं मिलता है, इधर के ही ग्रंथों में मिलता है। आर्ष ग्रंथों में न होने पर भी पीछे आयुर्वेद में नाड़ीपरीक्षा को बड़ी प्रधानता दी गई, यहाँ तक कि 'नाड़ी प्रकाश' नाम का स्वतंत्र ग्रंथ ही इस विषय पर लिखा गया।

मुहा०—नाड़ी चलना = कलाई की नाड़ी में स्पंदन वा गति होना। (विशेष—नाड़ी का उछलना प्राण रहने का चिह्न समझा जाता है और उसके अनुसार रोगी की दशा का भी पता लगाया जाता है।) **नाड़ी छूट जाना** = (१) नाड़ी का न चलना। दबाकर छूने से नाड़ी में गति न मालूम होना। (२) प्राण न रह जाना। मृत्यु हो जाना। (३) संज्ञा न रहना। मूर्च्छा आना। बेहोशी आना। **नाड़ी देखना** = कलाई की नाड़ी दबाकर रोगी की अवस्था का पता लगाना। नाड़ी-परीक्षा करके रोग का निदान करना। **नाड़ी धरना या पकड़ना** = दे० "नाड़ी देखना"। **नाड़ी दिखाना या धराना** = रोग के निदान के लिये वैद्य से नाड़ी-परीक्षा कराना। नब्ज़ दिखाना। **नाड़ी न बोलना** = (१) नाड़ी न चलना। नाड़ी में गति न मालूम होना। (२) प्राण न रहना। (३) मूर्च्छा आना। बेहोशी आना।

(३) हठयोग के अनुसार ज्ञानवाहिनी, शक्तिवाहिनी और श्वास-प्रश्वास-वाहिनी नालियाँ।

विशेष—योगियों का कहना है कि मेरुदंड या रीढ़ के एक इस तरफ और एक उस तरफ ऐसी दो नालियाँ हैं। इनमें जो बाईं ओर है उसे इला वा इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाम की नाड़ी है। स्वरोदय तथा तंत्र के अनुसार बाएँ नथुने से जो साँस आती जाती है वह इड़ा नाड़ी से होकर और दहिने नथुने से जो निकलती है वह पिंगला से होकर। यदि श्वास कुछ क्षण बाएँ और कुछ क्षण दहने नथुने से निकले तो समझना चाहिए कि वह सुषुम्ना नाड़ी से आ रहा है। श्वास की गति के अनुसार स्वरोदय में शुभाशुभ फल भी कहे गए हैं। इड़ा नाड़ी में चंद्र की अवस्थिति रहती है और पिंगला में सूर्य की। अतः इड़ा का गुण शीत और पिंगला का उष्ण है। सुषुम्ना नाड़ी त्रिगुणमयी और चंद्र-सूर्याग्नि स्वरूपा है। यह नाड़ी ब्रह्मस्वरूपा है इसी में जगत् प्रतिष्ठित है। बिना इन नाड़ियों के ज्ञान के योगाभ्यास में सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। जो योगाभ्यास करना चाहते हैं वे पहले इड़ा, फिर पिंगला और फिर सुषुम्ना को लेकर चलते हैं। सुषुम्ना के सबके नीचे के भाग को योगी कुंडलिनी मानते हैं जिसे जगाने का यत्न वे करते हैं। सच पूछिए तो उसी को जगाने के लिये ही योग का अभ्यास किया जाता है। जाग्रत होने पर कुंडलिनी चंचल होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर भीतर सिर की ओर चढ़ने लगती है और बारह चक्रों को पार करती हुई ब्रह्मरंध्र तक चली जाती है। जैसे जैसे वह ऊपर की ओर चढ़ती जाती है, योगी के सांसारिक बंधन ढीले पड़ते जाते हैं और अलौकिक शक्तियाँ उसे प्राप्त होती जाती हैं, यहाँ तक कि मन और शरीर से उसका संबंध छूट जाता है और वह परमानंद में मग्न होकर परमात्मा का शुद्ध रूप देखने लगता है।

निरुत्तर तंत्र में दस नाड़ियाँ लिखी हैं जिनमें ऊपर लिखी तीन मुख्य हैं। घेरंडसंहिता आदि योग के ग्रंथों को देखने से पता लगता है कि अँतड़ियाँ भी नाड़ियों के अंतर्गत मानी गई हैं। प्रक्षालन क्रिया में शक्तिवाहिनी नाड़ी को निकाल कर उसके भीतर के मल को धोने का विधान है।

(४) व्रणरंध्र। नासूर का छेद। (५) बंदूक की नली।

यौ०—नाड़ीव्रण।

(६) काल का एक मान जो ६ क्षण का होता है। (७) गंडदूर्वा। (८) वंशपत्री। (९) किसी तृण का पोला डंठल। (१०) छद्म। कपट। मक्कारी। (११) वर-वधू की गणना बैठाने में कल्पित चक्रों में स्थित नक्षत्र-समूह। दे० "नाड़ी-नक्षत्र"।

नाड़ीक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग। पटुआ साग।

नाड़ीकलापक–संज्ञा पुं० [सं०] सर्पाक्षी। भिड़नी नाम की घास।

नाड़ीकूट–संज्ञा पुं० [सं०] नाड़ी-नक्षत्र।

नाड़ीकेल–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

नाड़ीच–संज्ञा पुं० [सं०] पटुआ साग।

नाड़ीचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठयोग के अनुसार नाभिदेश में कल्पित एक अंडाकार गाँठ जिससे निकलकर सब नाड़ियाँ फैली हैं। (२) फलित ज्योतिष में नक्षत्रों के उन भेदों को सूचित करनेवाला कोष्ठ या चक्र जिन्हें नाड़ी कहते हैं। दे० "नाड़ी-नक्षत्र"।

नाड़ीचरण–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

नाड़ीजंघ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काक। कौआ। (२) एक मुनि का नाम। (३) महाभारत के अनुसार एक बगला जो कश्यप का पुत्र, ब्रह्मा का अत्यंत प्रियपात्र और दीर्घजीवी था।

नाड़ीतरंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काकोल। (२) हिंडक।

नाड़ीतिक्त–संज्ञा पुं० [सं०] नेपाली नीम। नेपाल निंब।

नाड़ीदेह–वि० [सं०] अत्यंत दुबला पतला।

संज्ञा पुं० शिव के एक द्वारपाल का नाम।

नाड़ी-नक्षत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वर-वधू की गणना बैठाने के लिये कल्पित चक्रों में स्थित नक्षत्र। (फलित ज्योतिष)

विशेष—जिस नक्षत्र में मनुष्य का जन्म होता है उसे तथा उससे दसवें, सोलहवें, अठारहवें, तेईसवें और पचीसवें

नक्षत्र को नाड़ी नक्षत्र या नाड़ी कहते हैं। जन्म नाड़ी को आद्य, दसवीं को कर्म, सोलहवीं को सांघातिक, अठारहवीं को समुदय, तेईसवीं को विनाश और पचीसवीं को मानस कहते हैं।

नाड़ीमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] विषुवद्रेखा।

नाड़ीयंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शस्त्रचिकित्सा या चीरफाड़ का एक औजार जो शरीर की नाड़ियों या स्रोतों में घुसी हुई चीज को बाहर निकालने के काम में आता था।

नाड़ीवलय–संज्ञा पुं० [सं०] काल या समय निश्चित करने का एक यंत्र। एक प्रकार की घड़ी। (सिद्धांतशिरोमणि)

नाड़ीव्रण–संज्ञा पुं० [सं०] वह घाव जिसमें भीतर ही भीतर नली की तरह छेद हो जाय और उसमें से बराबर मवाद निकला करे। नासूर।

नाड़ीशाक–संज्ञा पुं० [सं०] पटुआ शाक।

नाड़ीहिंगु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वृक्ष जिसमें से एक प्रकार की हींग या गोंद निकलता है। यह गोंद औषध के काम में आता है। इस वृक्ष के पत्ते वटमोगरा के पत्तों के ऐसे होते हैं, फूल सफेद और फल पोस्ते के ढेंड़ के समान होते हैं। (२) उक्त वृक्ष से निकली हींग या गोंद।

विशेष—वैद्यक में यह हींग चरपरी, तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक तथा कफ वात और मोह को दूर करनेवाली मानी गई है।

पर्या०—पलाशाख्य। जंतुका। रामठी। वंशयत्री। पिंडाह्वा। सुवीर्य्या। वेणुपत्री। पिंडा। हिंगु। शिवादिका।

नाड़ूदाना–संज्ञा पुं० [देश०] बैलों की एक जाति जो मैसूर में होती है। इस जाति के बैल बहुत बड़े नहीं होते पर मेहनती और मजबूत अधिक होते हैं।

नाड़क–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धातु।

यौ०—नाणकपरीक्षा।

(२) निष्क। (३) अंकित मुद्रा। सिक्का।

नात†–संज्ञा पुं० [सं० ज्ञाति, प्रा० णाति] (१) नातेदार। संबंधी। उ०—तब राजा भावै तेहि पाहीं। बिना बुलाए नात न जाहीं।—रघुराज। (२) नाता। संबंध।

नातरु–अव्य० [हिं० न + तो + अरु] और नहीं तो। अन्यथा। उ०—(क) भली भई जो गुरु मिले नातरु होती हानि। दीपक ज्योति पतंग ज्यों पड़ता आप निदान।—कबीर। (ख) कोऊ खवावै तौ कछु खाहीं। नातरु बैठे ही रहि जाहीं।—सूर। (ग) नातरु हैं। करिहौं बनवास। लैहों योग छांड़ि सब आश।—लल्लू।

नातवाँ–वि० [फा०] दुर्बल। हीन। निर्बल। अशक्त। उ०—नातवान तन पै सुनो एती ताकत है न। मत झुकाव मों सामुहै गज मतवारे नैन।—रसनिधि।

नाता–संज्ञा पुं० [सं० ज्ञाति, प्रा० णाति, हिं० नात] (१) दो या कई मनुष्यों के बीच वह लगाव जो एक ही कुल में उत्पन्न होने या विवाह आदि के कारण होता है। कुटुंब की घनिष्ठता। ज्ञाति-संबंध। रिश्ता। उ०—यह विचार नहिं करहुँ हठ झूठ सनेह बढ़ाइ। मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ—तुलसी।

क्रि० प्र०—जोड़ना।—टूटना।—तोड़ना।—लगाना।

(२) संबंध। लगाव। उ०—(क) कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।—तुलसी। (ख) सूरदास सिय राम लखन बन कहा अवध सों नाता।—सूर।

नाताकत–वि० [फा० ना + अ० ताकत] जिसे ताकत या बल न हो। निर्बल। अशक्त।

नातिन–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाती] लड़की की लड़की। बेटी की बेटी।

नाती–संज्ञा पुं० [सं० नप्तृ, प्रा० नत्ति] [स्त्री० नतिनी, नातिन] लड़की या लड़के का लड़का। बेटी या बेटे का बेटा। उ०—(क) नाती पूत कोटि दस अहा। रोवनहार न एकौ रहा।—जायसी। (ख) उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती।—तुलसी।

नाते–क्रि० वि० [हिं० नाता] (१) संबंध से। उ०—सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते।—तुलसी। (२) हेतु। वास्ते। लिये। उ०—दूध दही के नाते बनवत बातें बहुत गोपाल। गढ़ि गढ़ि छोलत कहा रावरे लूटत हौ ब्रजबाल।—सूर।

नातेदार–वि० [हिं० नाता + दार] [संज्ञा नातेदारी] संबंधी। रिश्तेदार। सगा। उ०—हे सुत है नहिं दुख को सामा। नातेदार सौरि तब भामा।—गोपाल।

नात्र–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

नाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभु। स्वामी। अधिपति। मालिक। (२) पति। (३) वह रस्सी जिसे बैल, भैंसे आदि की नाक छेदकर उसमें इसलिये डाल देते हैं जिसमें वे वश में रहें। उ०—रंगनाथ हौ जाकर हाथ ओही के नाथ। गहे नाथ सो खींचै फेरत फिरै न माथ।—जायसी। (४) मत्स्येंद्रनाथ के अनुयायी योगियों की एक उपाधि। गोरखपंथी साधुओं की एक पदवी जो उनके नामों के साथ ही मिली रहती है। (५) एक प्रकार के मदारी जो सांप पालते और नचाते हैं। †संज्ञा स्त्री० दे० "नथ"। उ०—परी नाथ कोइ छुवै न पारा। मारग मानुस सोन उछारा।—जायसी।

नाथता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रभुता। स्वामित्व।

नाथत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रभुत्व। स्वामित्व।

नाथना–क्रि० स० [हिं० नाथ] (१) बैल, भैंस आदि की नाक छेदकर उसमें इसलिये रस्सी डालना जिसमें वे वश में रहें। नकेल डालना। नाक छेदना। उ०—(क) आजु खसे रावन

दस माथा। आजु कान्ह कारे फन नाथा।—जायसी। (ख) काली नाग नाथि हरि लाए सुरभी ग्वाल जिवाए। —सूर। (ग) सात बैल नाथन के कारण आप अयोध्या आए।—सूर।

संयो० क्रि०—देना।

मुहा०—नाक पकड़कर नाथना = बलपूर्वक वश में करना।

(२) किसी वस्तु को छेदकर उसमें रस्सी या तागा डालना। (३) कई वस्तुओं या किसी वस्तु के कई भागों को छेदकर रस्सी या तागे के द्वारा एक में जोड़ना। नत्थी करना। जैसे, इन सब कागजों को एक में नाथकर रख दो। (४) लड़ी के रूप में जोड़ना।

नाथद्वारा-संज्ञा पुं० [सं० नाथद्वार] उदयपुर राज्य के अंतर्गत बल्लभ संप्रदाय के वैष्णवों का एक प्रसिद्ध स्थान जहां श्रीनाथजी की मूर्त्ति स्थापित है।

विशेष—औरंगजेब ने जब मथुरा की सब कृष्णमूर्त्तियों को तोड़ने का विचार किया तब सन् १६७१ में उदयपुर के महाराणा राजसिंह श्रीनाथजी की मूर्त्ति को मथुरा से उदयपुर की ओर लेकर धूमधाम के साथ चले। इस स्थान पर जब रथ पहुँचा तब पहिया कीचड़ में धँस गया। लोगों ने कहा कि श्रीनाथजी की इच्छा इसी स्थान पर रहने की है। महाराणा ने भारी मंदिर बनवाकर मूर्त्ति वहीं स्थापित कर दी।

नाथहरि-संज्ञा पुं० [सं०] पशु।

नाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शब्द। ध्वनि। आवाज। (२) वर्णों का अव्यक्त मूल रूप।

विशेष—संगीत के आचार्यों के अनुसार आकाशस्थ अग्नि और मरुत् के संयोग से नाद की उत्पत्ति हुई है। जहाँ प्राण (वायु) की स्थिति रहती है उसे ब्रह्मग्रंथि कहते हैं। संगीत-दर्पण में लिखा है कि आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चित्त देहज अग्नि पर आघात करता है और अग्नि ब्रह्मग्रंथिगत प्राण को प्रेरित करती है। अग्नि द्वारा प्रेरित प्राण फिर ऊपर चढ़ने लगता है। नाभि में पहुँचकर वह अति सूक्ष्म, हृदय में सूक्ष्म, गलदेश में पुष्ट, शीर्ष में अपुष्ट और मुख में कृत्रिम नाद उत्पन्न करता है। संगीत दामोदर में नाद तीन प्रकार का माना गया है—प्राणिभव, अप्राणिभव और उभय-संभव। जो मुख आदि अंगों से उत्पन्न किया जाता है वह प्राणिभव, जो वीणा आदि से निकलता है वह अप्राणिभव और जो बांसुरी से निकाला जाता है वह उभय-संभव है। नाद के बिना गीत, स्वर, राग आदि कुछ भी संभव नहीं। ज्ञान भी उसके विना नहीं हो सकता। अतः नाद परज्योति वा ब्रह्मरूप है और सारा जगत् नादात्मक है। इस दृष्टि से नाद दो प्रकार का है—आहत और अनाहत। अनाहत नाद को केवल योगी ही सुन सकते हैं। हठयोग-दीपिका में लिखा है कि जिन मूढ़ों को तत्त्वबोध न हो सके वे नादोपासना करें। अंतस्थ नाद सुनने के लिये चाहिए कि एकाग्रचित्त होकर शांतिपूर्वक आसन जमाकर बैठे। आँख, कान, नाक, मुँह सब का व्यापार बंद कर दे। अभ्यास की अवस्था में पहले तो मेघगर्जन, भेरी आदि की सी गंभीर ध्वनि सुनाई पड़ेगी, फिर अभ्यास बढ़ जाने पर क्रमशः वह सूक्ष्म होती जायगी। इन नाना प्रकार की ध्वनियों में से जिसमें चित्त सबसे अधिक रमे उसी में रमावे। इस प्रकार करते करते नादरूपी ब्रह्म में चित्त लीन हो जायगा।

(३) वर्णों के उच्चारण में एक प्रयत्न जिसमें कंठ को न तो बहुत अधिक फैलाकर न संकुचित करके वायु निकालनी पड़ती है। (४) अनुस्वार के समान उच्चारित होनेवाला वर्ण। सानुनासिक स्वर। अर्द्धचंद्र।

पर्या०—अर्द्धेंदु। अर्द्धमात्रा। कलाराशि। सदाशिव। अनुच्चर्या। तुरीया। परा। विश्वमातृकला।

(५) संगीत।

यौ०—नादविद्या = संगीत शास्त्र।

नादना*-क्रि० स० [सं० नदन वा हिं० नाद] बजाना। उ०—(क) काहू बीन गहा कर काहू नाद मृदंग। सब दिन अनँद बधावा रहस कूद इक संग।—जायसी। (ख) इन ही के आए ते बधाए ब्रज नित नए नादत बढ़त सब सत्र सुख जियो है।—तुलसी।

क्रि० अ० (१) बजना। शब्द करना। उ०—शून्यज्ञान सुषुप्ती होय। अकुलाहट सेना ही सोय।—कबीर। (२) चिल्लाना। गरजना। उ०—मनु करि-दल लखि वृद्ध हरि नादि उठ्यो कंदर निकर।—गोपाल।

क्रि० अ० [सं० नंदन] लहकना। लहलहाना। प्रफुल्लित होना। उ०—नैकु न जानी परति यों परयो विरह तन छाम। उठति दिया लौं नादि हरि लिए तिहारो नाम—बिहारी।

नादमुद्रा-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र की एक मुद्रा जिसमें दहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर अँगूठे को ऊपर की ओर उठाए रहना पड़ता है।

नादली-संज्ञा स्त्री० [अ० नाद + अली] संग यशब नामक पत्थर की चौकोर टिकिया जिस पर कुरान की एक विशेष आयत खुदी रहती है और जिसे रोग-बाधा दूर करने के लिये यंत्र की तरह पहनते हैं। हौलदिली।

विशेष—आयत का आरंभ 'नाद अलियन' इस वाक्य से होता है इसी से यंत्र को नादली कहते हैं। हकीमों का कथन है कि उक्त पत्थर में कलेजे की धड़क आदि दूर करने का विशेष गुण है। छाती पर उसका संसर्ग रहने से

हौलदिल तथा दिल धड़कने की बीमारी अच्छी हो जाती है। कुछ लोगों का विश्वास है कि बिजली का असर भी जहाँ यह पत्थर रहता है वहाँ नहीं होता।

नादान–वि० [फा०] [संज्ञा नादानी] नासमझ। अनजान। मूर्ख। उ०—कबीर मारी अल्लाह की ताको कहत हराम। हलाल कहै अपनी मारी यह नादान कलाम।—कबीर।

नादानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] अज्ञान। नासमझी।

नादार–वि० [फा०] (१) जो अपने पास कुछ न रखता हो। जिसके पास कुछ न हो। अकिंचन। निर्धन। कंगाल। (२) गंजीफे के खेल में बिना रंग या मीर की बाजी।

नादारी–संज्ञा स्त्री० [फा०] गरीबी। निर्धनता। उ०—स्त्री को नादारी में जाँचिए।—लल्लू।

नादित–वि० [सं०] शब्द करता हुआ। बजाया हुआ।

नादिम–वि० [अ०] लज्जित।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नादिया–संज्ञा पुं० [सं० नंदी] (१) नंदी। (२) वह बैल जिसे जोगी लेकर भीख माँगते हैं।

विशेष—ऐसे बैलों को कोई न कोई अंग अधिक (जैसे टाँग) रहता है जिससे लोगों को कुतूहल होता है।

नादिर–वि० [फा०] अद्भुत। अनोखा। उ०—औरंगजेब बादशाह के कोका फिदाई खाँ का बाग बहुत नादिर बना है।—शिवप्रसाद।

नादिरशाह–संज्ञा पुं० [फा०] फारस का एक क्रूर और प्रतापी बादशाह जिसने सन् १७३८ में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह पर चढ़ाई की और १७३९ में दिल्ली नगरवासियों की हत्या कराई। प्रातःकाल से सूर्यास्त तक हत्याकांड जारी रहा जिसमें लाखों मनुष्य मारे गए।

नादिरशाही–संज्ञा स्त्री० [फा०] ऐसा अंधेर जैसा नादिरशाह ने दिल्ली में मचाया था। भारी अंधेर या अत्याचार।

वि० नादिरशाह के ऐसा। बहुत ही कठोर और उग्र। जैसे, नादिरशाही हुक्म।

नादिरी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) एक प्रकार की सदरी या बंडी जो मुगल बादशाहों के समय में पहनी जाती थी। इसके किनारे पर कुछ काम होता था। इसे कभी कभी खिलअत में दिया करते थे। (२) गंजीफे का वह पत्ता जो खेल के समय निकालकर अलग रख दिया जाता है।

मुहा०—नादिरी चढ़ाना = बेतरह मात करना।

नादिहंद–वि० [फा०] न देनेवाला, जिससे रकम वसूल न हो।

नादिहंदी–संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी को कुछ न देने की प्रवृत्ति। अदातव्यता।

नादी–वि० [सं० नादिन्] [स्त्री० नदिनी] (१) शब्द करनेवाला। (२) बजनेवाला।

नादेय–वि० [सं०] [स्त्री० नादेयी] (१) नदी संबंधी। नदी का। (२) नदी में होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) सेंधा नमक। (२) सुरमा। (३) काँस नाम की घास। (४) जलबेत। अंबुवेतस।

नादेयी–वि० स्त्री० [सं०] (१) नदी संबंधिनी। नदी की। (२) नदी में होनेवाली।

संज्ञा स्त्री० (१) अंबुवेतस। जलबेंत। (२) भूमिजंबुक। भुइँजामुन। (३) वैजयंतिका। वैजयंती। (४) नारंगी। (५) जया। अड़हुल। (६) अग्निमंथ वृत्त। अँगेथू।

नादेहंद–वि० दे० "नादिहंद"।

नाधन–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाधना] चरखे के तकले में तागे की रोक के लिये लगी हुई एक गोल टिकिया।

विशेष—यह टिकिया पिसी हुई मेथी में रुई आदि डालकर बनाते हैं और लिपटे हुए तागे के आगे छेदकर पहना देते हैं।

नाधना–क्रि० स० [सं० नद्ध = बँधा या जुड़ा हुआ] (१) रस्सी या तस्मे के द्वारा बैल, घोड़े आदि को उस वस्तु के साथ जोड़ना या बाँधना जिसे उन्हें खींचकर ले जाना होता है। जोतना। जैसे, बैल को गाड़ी या हल में नाधना। उ०—(क) खसम बिनु तेली के बैल भयो। बैठत नाहिं साधु की संगति नाधे जनम गयो।—कबीर। (ख) बहत वृषभ बहलन महँ नाधे।—रघुराज।

संयो० क्रि०—देना।

मुहा०—काम में नाधना = काम में लगाना।

(२) जोड़ना। संबद्ध करना। उ०—तुम्हैं देखि पावै, सुख बहु भाँति ताहि दीजै नेकु निरखि नतीजा नेह नाधे को।—कालिदास। (३) गूँथना। गुहना। उ०—देव जगामग जोतिन की, लर मोतिन की लरकीन सों नाधी।—देव (४) (किसी काम को) ठानना। अनुष्ठित करना। आरंभ करना, जैसे, काम नाधना। उपद्रव नाधना। उ०—(क) मेरी कही न मानत राधे। ये अपनी मति समुझत नाहीं कुमति कहा पन नाधे।—सूर। (ख) याही को कहायो ब्रजराज दिन चार ही में करिहै उजियारी ब्रज ऐसी रीति नाधी है।—मतिराम।

नाधा–संज्ञा पुं० [सं० नाधना] वह रस्सी वा चमड़े की पट्टी जिससे हल वा कोल्हू की हरिस जुए में बाँधी जाती है। नारी।

संज्ञा पुं० [सं० नाँद] वह स्थान जहाँ पर पानी कूएँ, जलाशय आदि से निकालकर फेंका जाता है और जहाँ से नालियों में होता हुआ वह सिंचाई के लिये खेतों में जाता है।

नान–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) रोटी। चपाती। (२) एक प्रकार की मोटी खमीरी रोटी जो तंदूर में पकाई जाती है।

यौ०—नानखताई। नानबाई। नानपाव।

नानक–संज्ञा पुं० पंजाब के एक प्रसिद्ध महात्मा जो सिख संप्रदाय के आदि गुरु थे।

विशेष—इनका जन्म रावी नदी के किनारे तिलौंडा नामक गांव में (आधुंनिक रायपुर) संवत् १५२६ में कात्तिकी पूर्णिमा को एक खत्रीकुल में हुआ था। इनके पिता का नाम कालू था। लड़कपन ही से ये सांसारिक विषयों से उदासीन रहा करते थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पिता ने एक बार इन्हें ४०) नमक खरीदने के लिये दिए। ये नमक खरीदने चले पर बीच में कुछ भूखे साधु मिले और इन्होंने सब रुपयों का अन्न लेकर उन्हें खिला दिया। इन्हें काम काज के योग्य न देख पिता ने इन्हें इनकी बहिन के पास सुलतानपुर (कपूरथले में) नामक स्थान में भेज दिया। वहाँ का नवाब उस समय दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी का संबंधी दौलतखाँ नामक पठान था। उसके यहाँ ये मोदीखाने में नौकर हुए। वहाँ भी इन्होंने साधुओं को खिलाना आरंभ किया जिससे इन पर रुपया खाने का अपराध लगाया गया। पर जब हिसाब लिया गया तब सब ठीक उतरा। इनका विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में गुरुदासपुर जिले के अंतर्गत लाखौकी नामक स्थान के रहनेवाले मूला की कन्या सुलक्ष्मी से हुआ था। जिस समय ये दौलत खाँ के यहाँ थे उसी समय ३२ वर्ष की अवस्था में इनके प्रथम पुत्र हरीचंद्र का जन्म हुआ। चार वर्ष पीछे दूसरे पुत्र लखमीदास का जन्म हुआ। दोनों लड़कों के जन्म के उपरांत नानक ने घरबार छोड़ दिया और मरदाना, लहना, बाला और रामदास इन चार साथियों को लेकर वे भ्रमण के लिये निकल पड़े। ये चारों ओर घूमकर उपदेश करने लगे। इनके उपदेश का सार यही होता था कि ईश्वर एक है उसकी उपासना हिंदू मुसलमान दोनों के लिये है। मूर्त्तिपूजा, बहुदेवोपासना को ये अनावश्यक कहते थे। हिंदू और मुसलमान दोनों पर इनके मत का प्रभाव पड़ता था। धीरे धीरे इनके बहुत से शिष्य हो गए। लोगों ने तत्कालीन बादशाह इब्राहीम लोदी से इनकी शिकायत की और ये बहुत दिनों तक कैद रहे। अंत में पानीपत की लड़ाई में जब इब्राहीम हारा और बाबर के हाथ में राज्य गया तब इनका छुटकारा हुआ। पिछले दिनों में इनकी ख्याति बहुत बढ़ गई और इनके विचारों में भी परिवर्त्तन हुआ। स्वयं विरक्त होकर ये अपने परिवार वर्ग के साथ रहने लगे और दान पुण्य भंडारा आदि करने लगे। जलंधर जिले में इन्होंने कर्त्तारपुर नामक एक नगर बसाया और एक बड़ी धर्मशाला उसमें बनवाई। इसी स्थान पर आश्विन कृष्ण १० संवत् १५९७ को इनका परलोकवास हुआ। यह सिखों का एक पवित्र स्थान है।

नानकपंथी–संज्ञा पुं० [हिं० नानक + पंथ] गुरु नानक का अनुयायी। सिख। नानकशाही।

नानकशाही–वि० [हिं० नानकशाह] (१) गुरु नानक से संबंध रखनेवाला। जैसे, नानकशाही मत। (२) नानकशाह का शिष्य या अनुयायी। जैसे, नानकशाही साधु।

नानकार–संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की माफी जिसके अनुसार जमींदार को कुछ जमीन की मालगुजारी नहीं देनी पड़ती।

विशेष—इस प्रकार की माफी अवध के नवाबों के समय से चली आ रही है। नानकार दो तरह का होता है–नानकार देही और नानकार इस्मी। यदि किसी गांव में कुछ जमीन की या किसी तअल्लुके में कुछ गांवों की मालगुजारी माफ है और वह माफी उस गाँव या तअल्लुके के साथ लगी हुई है तो वह नानकार देही कहलाती है। इस प्रकार की माफी में गाँव के हर एक हिस्सेदार का हक होता है। यदि माफी किसी खास आदमी के नाम से होती है तो उसे नानकार इस्मी कहते हैं। इसमें हिस्सेदारों का हक नहीं होता पर व्यवहार में यह बहुत कम माना जाता है।

नानकीन–संज्ञा पुं० [चीनी नानकिङ्] एक प्रकार का सूती कपड़ा जो चीन देश से बाहर को जाता था। यह कपड़ा मटमैल रंग का होता था। पहले पहल इसका बुनना चीन के नानकिङ् नामक नगर में प्रारंभ हुआ था। आजकल इस प्रकार का कपड़ा युरोप आदि अनेक देशों में बनता है और इसी नाम से पुकारा जाता है।

नानखताई–संज्ञा स्त्री० [फा०] टिकिया के आकार की एक सोंधी खस्ता मिठाई।

विशेष—घी और चीनी के साथ घुले हुए चावल के आटे की टिकिया (बताशे के आकार की) लोहे की एक चद्दर पर रखते हैं। फिर चद्दर को दहकते अंगारों से भरे हुए दो थालों के बीच इस प्रकार रखते हैं कि आँच ऊपर और नीचे दोनों ओर से लगे। जब टिकियाँ पक जाती हैं और उनमें से सोंधाहट आने लगती है तब चद्दर निकाल ली जाती है।

नानपेरिल–संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का छोटा टाइप।

नानबाई–संज्ञा पुं० [फा० नानबा, नानबाफ़] रोटियाँ पकाकर बेचनेवाला।

नानस–संज्ञा स्त्री० [ननिया सास का संक्षिप्त रूप] सास की माँ। ननिया सास। (स्त्री०)।

नानसरा–संज्ञा पुं० [ननिया ससुर का संक्षिप्त रूप] ननिया ससुर। पति या स्त्री का नाना। (स्त्री०)।

नाना–वि० [सं०] (१) अनेक प्रकार के। बहुत तरह के। विविध। (२) अनेक। बहुत।

संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० नानी] माता का पिता। माँ का बाप। मातामह। उ०—सो लंका तव नाना केरी। बसे आप मम पितहि खदेरी।—विश्राम।

† क्रि० स० [सं० नमन] (१) झुकाना। नम्र करना। उ०—(क) बुद्धि जो गई आव बौराई। ग़रब गए तरहीं सिर नाई।—जायसी। (ख) इंद्र डरै नित नावहि माथा —सूर। (२) नीचा करना। (३) डालना। फेंकना। (४) घुसाना। प्रविष्ट करना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

संज्ञा पुं० [अ०] पुदीना।

यौ०—**अर्कनाना** = सिरके के साथ भबके में उतारा हुआ पुदीने का अर्क।

नानाकंद–संज्ञा पुं० [सं०] पिंडालू।

नानिहाल–संज्ञा पुं० [हिं० नानी + आल (आलय)] नानी का घर। नाना नानी के रहने का स्थान।

नानी–संज्ञा स्त्री० [देश०] माँ की माँ। माता की माता। मातामही।

विशेष—इस शब्द के आगे 'इया' प्रत्यय लगाकर संबंध-सूचक विशेषण भी बनाते हैं; जैसे, ननिया सास।

मुहा०—**नानी मर जाना** = होश ठिकाने हो जाना। प्राण सूख जाना। आपत्ति सी आ जाना। संकट या दुःख सा पड़ जाना। उ०—हरमोहन की नानी तो थानेवालों को देखते ही मर गई थी।...—अयोध्या०। **नानी याद आना** = दे० "नानी मर जाना"।

ना-नुकर–संज्ञा पुं० [हिं० न + करना] नाहीं। इनकार।

क्रि० प्र०—करना।

नान्हा†–वि० [सं० न्यञ्च = नाटा, छोटा। वा न्यून] (१) छोटा। लघु। नन्हा। (२) नीच। क्षुद्र। उ०—कहै कबीर सुनो हो बाछा। नान्ह जाति लतियाए आछा।—कबीर। (३) पतला। बारीक। महीन।

मुहा०—**नान्ह कातना** = (१) बहुत बारीक काम करना। (२) कठिन या दुष्कर कार्य करना। उ०—अपजस जोग कि जानकी मनि चोरी कब कान्ह ?। तुलसी लोग रिझाइबो करहि कातिबो नान्ह।—तुलसी

नान्हक–संज्ञा पुं० दे० "नानक"।

नान्हरिया‡*–वि० [हिं० नान्ह] छोटा। नन्हा। उ०—मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ो किन होहि। यहि मुख मधुरे बयन हँसि कबहूँ जननि कहोगे मोहि।—सूर।

नान्हा†*–वि० [सं० न्यञ्च = नाटा, छोटा। वा न्यून] [स्त्री० नान्ही] (१) छोटा। लघु। नन्हा। उ०—सर्बस मैं पहले ही दीनो नान्ही नान्ही दतुली दू पर।—सूर। (२) पतला। बारीक। महीन। उ०—मन मनसा को मारि के नान्हा करिके पीस। तब सुख पावै सुंदरी पदम झलक्कै सीस।—कबीर। (३) नीच। क्षुद्र। उ०—खेलत खता रहे ब्रज भीतर। नान्हें लोग तनक धन ईतर।—सूर।

संज्ञा पुं० छोटा बच्चा। लड़का।

यौ०—**नान्हा बारा** = छोटा बालक। उ०—काली जी की छोहरी सेई नान्ही बारि।—देवस्वामी।

नाप–संज्ञा स्त्री० [सं० मापन, हिं० माप] (१) किसी वस्तु का विस्तार जिसका निर्धारण इस प्रकार किया जाय कि वह एक निर्दिष्ट विस्तार का कितना गुना है। किसी वस्तु की लंबाई, चौड़ाई, उँचाई या गहराई जिसकी छोटाई बड़ाई (वा न्यूनता अधिकता) का निश्चय किसी निर्दिष्ट लंबाई के साथ मिलाने से किया जाय। परिमाण। माप। जैसे, यह धोती नाप में पाँच गज है। (२) विस्तार का निर्धारण। किसी वस्तु की लंबाई चौड़ाई आदि कितनी है इसको ठीक ठीक स्थिर करने के लिये की जानेवाली क्रिया। नापने का काम। जैसे, जमीन की नाप हो रही है।

यौ०—नाप तौल।

(३) वह निर्दिष्ट लंबाई जिसे एक मानकर किसी वस्तु का विस्तार कितना है यह स्थिर किया जाता है। मान। जैसे, यहाँ की नाप कुछ छोटी है इसी से कपड़ा घटा। (४) निर्दिष्ट लंबाई की वह वस्तु जिसका व्यवहार करके स्थिर किया जाय कि कोई वस्तु कितनी लंबी, चौड़ी आदि है। नापने की वस्तु। मानदंड। नपना। पैमाना।

नाप जोख–संज्ञा स्त्री० दे० "नाप तौल"।

नाप तौल–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाप + तौल] (१) नापने और तौलने की क्रिया। (२) परिमाण या मात्रा जो नाप या तौलकर स्थिर की जाय।

क्रि० प्र०—करना—होना।

नापदान‡–संज्ञा पुं० दे० "नाबदान"।

नापना–क्रि० स० [सं० मापन] (१) किसी वस्तु का विस्तार इस प्रकार निर्धारित करना कि वह एक नियत विस्तार का कितना गुना है। किसी वस्तु की लंबाई, चौड़ाई, उँचाई या गहराई कितनी है यह निश्चित करना। लंबाई, चौड़ाई आदि की परीक्षा करना। मापना। आयत परिमाण निर्दिष्ट करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

मुहा०—**सिर नापना** = सिर काटना।

(२) अंदाज करना। कोई वस्तु कितनी है इसका पता लगाना। जैसे, दूध नापना, शराब नापना।

नापसंद–वि० [फा०] (१) जो पसंद न हो। जो अच्छा न लगे। अनसुहाता। जैसे, चीज नापसंद हो तो दाम वापस। (२) अप्रिय। अरुचिकर। जो न जचे।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नापाक–वि० [फा०] (१) अशुद्ध। अशुचि। अपवित्र। भ्रष्ट। (२) मैला कुचैला।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नापाकी-संज्ञा स्त्री० [फा०] अपवित्रता । अशुद्धता ।

नापायदार-वि० [फा०] (१) जो अधिक ठहरने या चलनेवाला न हो । जो टिकाऊ न हो। क्षणभंगुर ।(२) जो दृढ़ या मजबूत न हो ।

नापायदारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) अस्थायित्व । क्षणभंगुरता । (२) अदृढ़ता ।

नापित-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो सिर के बाल मूँड़ने (या काटने), और नाखून आदि काटने का काम करता हो । नाई । नाऊ । हज्जाम ।

विशेष—धर्मशास्त्र में नापित की गणना अच्छे शूद्रों में है । स्मृतियों में नापित संकर जाति के अंतर्गत माने गए हैं । पराशर स्मृति में लिखा है कि शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न संतान का यदि ब्राह्मण द्वारा संस्कार न हुआ हो तो वह नापित कहलाता है । पर परशुराम के अनुसार कुबेरी पुरुष और पट्टिकारी स्त्री के संयोग से नापितों की उत्पत्ति हुई है । मनु ने नापितों की गिनती भोज्यान्न शूद्रों में की है ।

पर्य्या०—छुरी । मुंडी । दिवाकीर्ति । अंत्यावसायी । छत्री । नखकुट्ट । ग्रामणी । चंडिल । भांडपुट ।

नाफरमाँ-संज्ञा पुं० [फा०] गुलेलाला का एक भेद जो कुछ नीलापन लिए होता है ।

नाफा-संज्ञा पुं० [फा०] मृगमद कोश । कस्तूरी की थैली जो कस्तूरी मृगों की नाभि में होती है ।

नाबदान-संज्ञा पुं० [फा० नाव = नाली] वह नाली जिससे होकर घर का गलीज मैला पानी आदि बाहर बहकर जाता है । पनाला । नरदा ।

मुहा०—नाबदान में मुँह मारना = घृणित कर्म करना । बुरा और घिनौना काम करना ।

नाबालिग-वि० [अ० + फा०] जिसका लड़कपन अभी दूर न हुआ हो । जो अपनी पूरी अवस्था को न पहुँचा हो । जो पूरा जवान न हुआ हो । अप्राप्तवयस्क ।

विशेष—कानून में कुछ बातों के लिये २१ वर्ष और कुछ के लिये १८ वर्ष से कम अवस्था का मनुष्य नाबालिग समझा जाता है ।

नाबालिगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नाबालिग रहने की अवस्था ।

नाबूद-वि० [फा०] जिसका अस्तित्व न रहा हो । नष्ट । ध्वस्त ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

नाभ-संज्ञा स्त्री० [सं० नाभि का समासांत रूप] (१) नाभि । ढोंढी । धुनी । (२) शिव का एक नाम । (३) एक सूर्यवंशी राजा जो भगीरथ के पुत्र थे । (भागवत) । (४) अस्त्रों का एक संहार ।

नाभक-संज्ञा पुं० [सं०] हरीतकी । हड़ ।

नाभा-संज्ञा पुं० एक प्रसिद्ध भक्त जिनका नाम नारायणदास था । कहते हैं कि ये जाति के डोम थे और दक्षिण देश में उत्पन्न हुए थे । भक्तमाल के कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि इनका जन्म हनुमानवंश में हुआ था । मारवाड़ी भाषा में डोम शब्द का अर्थ हनुमान है । शायद इसी लिये इन टीकाकारों ने इन्हें हनुमानवंशीय लिखा है । पर गद्य भक्तमाल में लिखा है कि तैलंग देश में गोदावरी के समीप उत्तर रामभद्राचल पर्वत पर रामदास नामक एक ब्राह्मण हनुमानजी के अंशावतार रहते थे । इन्हीं के पुत्र नाभा थे । पर कई कारणों से इनका नीच कुल में उत्पन्न होना ही ठीक प्रतीत होता है । ये जन्मांध कहे जाते हैं । बचपन में ही इनके पिता मर गए । जब ये पाँच वर्ष के थे तब इनके देश में घोर अकाल पड़ा । माता इन्हें पाल न सकी, वन में छोड़कर चली गई । कील्हजी अपने शिष्य अग्रदास के साथ उस वन से होकर जा रहे थे । उन्होंने बच्चे को उठा लिया और जयपुर के पास गलता नामक स्थान में ले गए । वहाँ महात्माओं की कृपा से और साधुओं का प्रसाद खाते खाते इनकी आँख भी अच्छी हो गई और बुद्धि भी निर्मल हो गई । अपने गुरु अग्रदास की आज्ञा से इन्होंने 'भक्तमाल' लिखा जिसमें अनेक नए पुराने भक्तों के चरित्र वर्णित हैं । अनुमान से भक्तमाल ग्रंथ संवत् १६४२ और संवत् १६८० के बीच में बनाया गया क्योंकि भक्तमाल में गोसाईं गिरिधरजी के विषय में लिखा है कि "विट्ठलेश नंदन सुभग जग कोऊ नहिं ता समान । श्री वल्लभ जू के वंश में सुरतरु गिरिधर आजमान" । यह बात निश्चित है कि संवत् १६४२ में श्री विट्ठलनाथ गोसाईं का परलोक हुआ और उनके पुत्र गद्दी पर बैठे । इस पद से गोस्वामी तुलसीदास जी का भी भक्तमाल बनने के समय वर्तमान रहना पाया जाता है—"रामचरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी ।" संवत् १६८० गोस्वामीजी का मृत्युकाल प्रसिद्ध ही है ।

नाभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाल्मीकि के अनुसार इक्ष्वाकुवंशीय एक राजा जो ययाति के पुत्र थे । नाभाग के पुत्र अज और अज के दशरथ हुए । रामायण की वंशावली के अनुसार राजा अंबरीष नाभाग के प्रपितामह थे, पर भागवत में अंबरीष को नाभाग का पुत्र लिखा है । (२) मार्कंडेय पुराण के अनुसार कारुष वंश के एक राजा जो दिष्ट के पुत्र थे । इनकी कथा उक्त पुराण में इस प्रकार है । जब ये युवावस्था को प्राप्त हुए तब एक वैश्य की कन्या को देख मोहित हो गए और उस कन्या के पिता द्वारा अपने पिता से विवाह की आज्ञा मांगी । ऋषियों की सम्मति से पिता ने आज्ञा दी कि "पहले एक क्षत्रिय कन्या से विवाह करके तब वैश्य कन्या से विवाह करो तो कोई दोष नहीं ।" नाभाग

ने पिता की बात न मानी । पिता पुत्र में युद्ध छिड़ गया । परिव्राट् मुनि ने युद्ध शांत किया । नाभाग वैश्य कन्या का पाणिग्रहण करके वैश्यत्व को प्राप्त हुए । प्रमति मुनि ने नल को व्यवस्था दी थी कि यदि कोई क्षत्रिय उनकी कन्या को बलपूर्वक विवाह लेगा तो उनका वैश्यत्व छूट जायगा । अंत में नाभाग भी इसी रीति से फिर क्षत्रिय हो गए ।

नाभागारिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] वैवस्वत मनु के एक पुत्र । (हरिवंश)

नाभारत–संज्ञा स्त्री० [सं० नाभ्यावर्त्त] वह भौंरी जो घोड़े की नाभि के नीचे हो । यह दूषित मानी जाती है ।

नाभि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चक्रमध्य । पहिए का मध्य भाग । नाह । (२) जरायुज जंतुओं के पेट के बीचोबीच वह चिह्न या गड्ढा जहाँ गर्भावस्था में जरायुनाल जुड़ा रहता है । ढोंढी । धुन्नी । तुन्नी । तुंदी । दिका । तुंदकूपी । (३) कस्तूरी ।

संज्ञा पुं० (१) प्रधान राजा । (२) प्रधान व्यक्ति या वस्तु । (३) गोत्र । (४) क्षत्रिय । (५) महादेव । (६) प्रियव्रत राजा के पौत्र । (ब्रह्मांड पुराण) । (७) भागवत के अनुसार आग्नीध्र राजा के पुत्र जिनकी पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव की उत्पत्ति हुई थी । इनकी कथा इस प्रकार है । नाभि ने पत्नी के सहित पुत्र की कामना से बड़ा भारी यज्ञ किया । उस यज्ञ में प्रसन्न होकर विष्णु भगवान् साक्षात् प्रकट हुए । नाभि ने वर माँगा कि मेरे तुम्हारे ही ऐसा पुत्र हो । भगवान् ने कहा मेरे ऐसा दूसरा कौन है ? अतः मैं ही पुत्र होकर जन्म लूँगा । कुछ काल के पीछे मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव उत्पन्न हुए जो विष्णु के २४ अवतारों में माने जाते हैं । जैनों के आदि तीर्थंकर भी ऋषभदेव माने जाते हैं ।

नाभिकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] निकली हुई तुंदी या ढोंढी ।

नाभिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कटभी वृक्ष ।

नाभिगुड़क–संज्ञा पुं० [सं०] नाभि का आवर्त्त । तुंदी का उभरा अंश ।

नाभिगुप्त–संज्ञा पुं० [सं०] प्रियव्रत राजा के पुत्र जिनके नाम पर कुश द्वीप के बीच एक वर्ष हुआ ।

नाभिगोलक–संज्ञा पुं० [सं०] नाभि का आवर्त्त । तुंदी का उभरा अंश ।

नाभिछेदन–संज्ञा पुं० [सं०] तुरत के जन्मे हुए बच्चे के नाल काटने की क्रिया ।

नाभिज–संज्ञा पुं० [सं०] (विष्णु की नाभि से उत्पन्न) ब्रह्मा ।

नाभिनाड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाभि की नाड़ी जो गर्भकाल में माता की रसवहा नाड़ी से जुड़ी रहती है ।

नाभिपाक–संज्ञा पुं० [सं०] बालकों का एक रोग जिसमें नाभि में घाव हो जाता और वह पक जाती है ।

नाभिल–वि० [सं०] उभरी हुई नाभिवाला । निकली हुई तुंदीवाला ।

नाभिवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] नाभिछेदन । नाल काटने की क्रिया ।

नाभिवर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] जंबूद्वीप के नौ वर्षों में से एक । भारतवर्ष ।

विशेष—आग्नीध्र राजा ने अपने नौ पुत्रों को जंबूद्वीप के नौ खंड दिए । नाभि को जो खंड मिला उसका नाम नाभिवर्ष हुआ । पीछे नाभि के पौत्र भरत के नाम पर वह भारतवर्ष कहा जाने लगा ।

नाभिसंबंध–संज्ञा पुं० [सं०] गोत्रसंबंध ।

नाभी–संज्ञा स्त्री० दे० "नाभि" ।

नाभील–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों की कटि के नीचे का भाग । उरुसंधि । (२) नाभि की गहराई । नाभि का गड्ढा । (३) कृच्छ्र । कष्ट ।

नाभ्य–वि० [सं०] नाभि संबंधी ।

संज्ञा पुं० शिव । महादेव ।

नामंजूर–वि० [फा० + अ०] जो मंजूर न हो । जो माना न गया हो । जो कबूल न किया गया हो । अस्वीकृत । जैसे, अरजी नामंजूर होना ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

नाम–संज्ञा पुं० [सं० नामन्] [वि० नामी] (१) वह शब्द जिससे किसी वस्तु, व्यक्ति या समूह का बोध हो । किसी वस्तु या व्यक्ति का निर्देश करनेवाला शब्द । संज्ञा । आख्या । अभिख्या । आह्वा । **जैसे, इस आदमी का नाम रामप्रसाद है, इस पेड़ का नाम अशोक है ।**

मुहा०—नाम उछलना = बदनामी होना । अपकीर्त्ति फैलना । निंदा होना । **नाम उछालना** = बदनामी कराना । अपकीर्त्ति फैलाना । चारों ओर निंदा कराना । **जैसे, क्यों ऐसा काम करके अपने बाप दादों का नाम उछाल रहे हो ? नाम उठ जाना** = नाम न रह जाना । चिह्न मिट जाना या चर्चा बंद हो जाना । लोक में स्मरण भी न रह जाना । **जैसे, उसका तो नाम ही संसार से उठ जायगा । नाम करना** = नाम रखना । पुकारने के लिये नाम निश्चित करना । **किसी दूसरे का नाम करना** = दूसरे का नाम लगाना । दूसरे पर दोष लगाना । दूसरे के सिर दोष मढ़ना । **जैसे, आप चुराकर दूसरे का नाम करता है । (किसी बात का) नाम करना** = कोई बात पूरी तरह से न करना, कहने भर के लिये थोड़ा सा करना । दिखाने या उलाहना छुड़ाने भर के लिये थोड़ा सा करना । **जैसे, पढ़ते क्या हैं नाम करते हैं । नाम का** = (१) नामधारी । **जैसे, इस नाम का कोई आदमी यहाँ नहीं ।** (२) कहने सुनने भर को, उपयोग के लिये नहीं, काम के लिये नहीं । **जैसे, वे नाम के मंत्री हैं, काम तो और ही करते हैं । (किसी के) नाम का कुत्ता न**

पालना = किसी से इतना बुरा मानना या घृणा करना कि उसका नाम लेना या सुनना भी नापसंद करना । नाम से चिढ़ना । **नाम के लिये** = (१) कहने सुननें भर के लिये । थोड़ा सा । अणु मात्र । (२) उपयोग के लिये नहीं । काम के लिये नहीं । **नाम को** = (१) कहने सुनने भर को । ऐसा नहीं जिससे काम चल सके । (२) केवल इतना जितने से यह कहा जा सके कि एकदम अभाव नहीं है । बहुत थोड़ा । अत्यंत अल्प । **नाम को नहीं** = जरा सा भी नहीं । अणु मात्र भी नहीं । कहने सुनने को भी नहीं । एक भी नहीं । **जैसे, (क) उस मैदान में नाम को भी पेड़ नहीं है । (ख) घर में नाम को भी नमक नहीं है । (ग) उसने नाम को भी जीवजंतु न छोड़ा ।** **नाम चढ़ना** = किसी नामावली में नाम लिखा जाना । नाम दर्ज होना । **नाम चढ़ाना** = किसी नामावली में नाम लिखाना । नाम दर्ज कराना । **नाम चमकना** = चारों ओर अच्छा नाम होना । कीर्त्ति फैलना । यश फैलना । प्रसिद्ध होना । **नाम चलना** = लोगों में नाम का स्मरण बना रहना । यादगार बनी रहना । **जैसे, संतान से नाम चलता है ।** **नामचार को** = (१) नामोच्चार भर के लिये । नाम को । कहने सुनने भर को । पूरे तौर से या मन से नहीं । **जैसे, नामचार को वह यहाँ आता है, कुछ काम तो करता नहीं ।** (२) बहुत थोड़ा । किंचिन्मात्र । **नाम जगाना** = नाम की याद कराते रहना । स्मारक बनाए रखना । ऐसा काम करना कि लोगों में स्मरण बना रहे । **नाम जपना** = (१) बार बार नाम लेना । बार बार नाम का उच्चारण करना । नाम रटना । (२) भक्ति वा प्रेम से ईश्वर या देवता का नाम (माला फेरते हुए या यों ही) बार बार लेना । नाम स्मरण करना । ईश्वर या देवता का स्मरण करना । **नाम देना** = (१) नाम रखना । नामकरण करना । (२) किसी देवता के नाम का मंत्र देना । सांप्रदायिक मंत्र का उपदेश देना । **नामधरता** = नाम रखनेवाला । नामकरण करनेवाला । पिता । बाप । **(किसी का) नाम धरना** = (१) नाम स्थिर करना । नाम रखना । नामकरण करना (२) बदनामी करना । बुरा कहना । दोष लगाना । **जैसे, ऐसा काम क्यों करो जिससे दस आदमी नाम धरें ।** (३) अपनी वस्तु का मोल माँगना । अपनी चीज का दाम कहना । **जैसे, पहले तुम अपनी चीज का नाम धरो, जो जँचेगा मैं भी कहूँगा ।** **(किसी को) नाम धरना** = (१) बदनाम करना । बुरा कहना । दोष लगाना । (२) दोष निकालना । नुक्स निकालना । ऐब बताना । **जैसे, हमारी पसंद की हुई चीज को तुम नाम नहीं धर सकते ।** **नाम धरवाना** = दे० "नाम धरवाना" । **नाम धराना** = (१) नामकरण कराना । (२) बदनामी कराना । निंदा कराना । उ०— **(क) फिरत धरावत मेरो नामा । मातु न देति होयगी धामा । (ख) डारि दियो गुरु लोगन को डर, गाँव चवाव में नाँव धरायो ।—मतिराम ।** **नाम न लेना** = अरुचि, घृणा, भय आदि के कारण चर्चा तक न करना । दूर रहना । बचना । संकल्प या विचार तक न करना । **जैसे, (क) उसने मुझे बहुत दिक किया अब उसका कभी नाम न लूँगा । (ख) उसका स्वाद इतना बुरा है कि एक बार खाओगे तो फिर कभी नाम न लोगे । (ग) अब वह यहाँ आने का नाम तक नहीं लेता ।** **तो मेरा नाम नहीं** = तो मैं कुछ भी नहीं । तो मुझे तुच्छ समझना । **जैसे, यदि सबेरे मैं उसे न लाऊँ तो मेरा नाम नहीं ।** **नाम निकल जाना** = किसी (भली या बुरी) बात के लिये नाम प्रसिद्ध हो जाना । किसी विषय में ख्याति हो जाना । किसी बात के लिये मशहूर या बदनाम हो जाना । **जैसे, जिसका नाम निकल जाता है वह अगर कुछ न करे तो भी लोग उसी को कहते हैं ।** **नाम निकलना** = (१) किसी बात के लिये नाम प्रसिद्ध होना । (२) तंत्र आदि की युक्ति से किसी वस्तु को चुरानेवाले का नाम प्रकट होना । (३) नाम का कहीं प्रकट या प्रकाशित होना । **जैसे, गजट में नाम निकलना ।** **नाम निकलवाना** = (१) बदनामी कराना । नाम में कलंक लगवाना । (२) मंत्र, तंत्र आदि द्वारा चोर का नाम प्रकट कराना । (३) किसी नामावली में से नाम कटवाना । किसी विषय से किसी को अलग कराना । **नाम निकालना** = (१) (भली या बुरी) बात के लिये नाम प्रसिद्ध करना । यश फैलाना या बदनामी करना । (२) मंत्र, तंत्र आदि द्वारा चोर का नाम प्रकट करना । (३) किसी नामावली से नाम काटना । किसी विषय से अलग करना । **नाम पड़ना** = नाम रखा जाना । नामकरण होना । नाम निश्चित होना । **किसी के नाम** = (१) किसी के लिये । किसी के पक्ष में । किसी के व्यवहार या उपयोग के लिये । किसी के अधिकार में । किसी को कानून द्वारा प्राप्त । **जैसे, (क) उसकी सब जायदाद स्त्री के नाम है । (ख) उसने अपनी संपत्ति भतीजे के नाम कर दी ।** (२) किसी को लक्ष्य करके । किसी के संबंध में । **जैसे, उसके नाम वारंट निकला है ।** (३) किसी के प्रति । किसी को संबोधन करके । किसी के हाथ में पड़ने के लिये । किसी को दिए जाने के लिये । **जैसे, किसी के नाम चिट्ठी आना, संमन जारी होना इत्यादि ।** **किसी के नाम पर** = किसी को अर्पित करके । किसी के निमित्त । किसी के स्मारक या तुष्टि के लिये । किसी का नाम चलाने या किसी के प्रति आदर, भक्ति प्रकट करने के लिये । **जैसे, (क) ईश्वर के नाम पर कुछ दो । (ख) उसने अपने बाप के नाम पर यह धर्मशाला बनवाई है ।** **किसी के नाम पड़ना** = किसी के नाम के आगे लिखा जाना । जिम्मेदार रखा जाना । **किसी के नाम डालना** = किसी के नाम के आगे लिखना । किसी के जिम्मे रखना । **जैसे, अगर उनसे रुपया वसूल न हो तो मेरे नाम डाल देना ।** **(किसी के) नाम पर मरना या मिटना** = किसी के प्रेम में लीन होना । किसी के प्रेम में खपना । प्रेम के आवेश में अपने हानि लाभ या कष्ट की

ओर कुछ भी ध्यान न देना । **(किसी के) नाम पर जूता न लगाना** = किसी को अत्यंत तुच्छ समझना । **(किसी के) नाम पर बैठना** = (१) किसी के भरोसे संतोष करके स्थिर रहना । किसी के ऊपर यह विश्वास करके धैर्य धारण करना या उद्योग छोड़ देना कि जो कुछ उसे करना होगा, करेगा । जैसे, **अब तो ईश्वर के नाम पर बैठे रहते हैं जो कुछ होना होगा सो होगा ।** (२) किसी के आसरे में या किसी के ख्याल से कोई ऐसा काम न करना जिसका करना स्वाभाविक या आवश्यक हो । **जैसे, (क) यह स्त्री कब तक अपने पति के नाम पर बैठी रहेगी और दूसरा विवाह न करेगी ? (ख) कब तक अपने मित्र के नाम पर बैठे रहोगे, उठो तैयारी करो । नाम पुकारना** = ध्यान आकर्षित करने या बुलाने के लिये किसी का नाम लेकर चिल्लाना । **(किसी का) नाम बद करना** = बदनामी करना । कलंक लगाना । दोष लगाना । **नाम बदनाम करना** = कलंक लगाना । ऐब लगाना । बदनामी करना । **(किसी का) नाम बद होना** = किसी बुरी बात के लिये किसी का नाम प्रसिद्ध हो जाना । नाम निकल जाना । **नाम बाकी रहना** = (१) मरने या कहीं चले जाने पर भी कीर्ति का बना रहना । लोगों में स्मरण बना रहना । (२) केवल नाम ही नाम रह जाना और कुछ न रहना । पुरानी बातों के कारण प्रसिद्धि मात्र रह जाना पर उन बातों का न रहना । **जैसे, सिर्फ़ नाम बाकी रह गया है कुछ जायदाद अब उनके पास नहीं है । नाम बिकना** = नाम प्रसिद्ध हो जाने के कारण किसी की वस्तु का आदर होना । नाम मशहूर होने से कदर होना । **नाम बिगाड़ना** = (१) कोई बुरा काम करके बदनामी कराना । (२) बदनामी करना । कलंक लगाना । **नाम मिटना** = (१) नाम जाता रहना । नाम न रहना । स्मारक या कीर्त्ति का लोप होना । (२) नाम तक शेष न रहना । कोई चिह्न न रह जाना । एकदम अभाव हो जाना । **नाम मात्र** = नाम लेने भर को । बहुत थोड़ा । अत्यंत अल्प । **(कोई) नाम रखना** = नाम निश्चित करना । नामकरण करना । **(किसी का) नाम रखना** = (१) नाम निश्चित करना । नामकरण करना । (२) कीर्त्ति सुरक्षित रखना । अच्छा या बड़ा काम करके यश को स्थिर रखना । नाम डूबने न देना । **जैसे, यह लड़का अपने बाप का नाम रखेगा ।** (३) बदनामी करना । निंदा करना । बुरा कहना । दे० "नाम धरना" । **(किसी को) नाम रखना** = (१) बदनाम करना । बुरा कहना । दोष लगाना । (२) दोष निकालना । नुक्स निकालना । ऐब बताना । दे० "नाम धरना"। **नाम लगना** = किसी दोष या अपराध के संबंध में नाम लिया जाना । दोष लगना । कलंक मढ़ा जाना । **जैसे, किया किसी ने और नाम लगा हमारा । नाम लगाना** = किसी दोष या अपराध के संबंध में नाम लेना । दोष मढ़ना । अपराध लगाना । कलंक लगाना । **जैसे, खुद तुम्हीं ने यह काम किया और अब दूसरे का नाम लगाते हो । (किसी का) नाम लिखना** = किसी कार्य या विषय में सम्मिलित करने के लिये रजिस्टर बही आदि में नाम लिखना । किसी मंडली, संस्था, कार्यालय आदि में सम्मिलित करना । **जैसे, इस लड़के का नाम अभी स्कूल में नहीं लिखा है । (किसी के) नाम लिखाना** = किसी के नाम के आगे लिखना । किसी के जिम्मे लिखना या टाँकना । **जैसे, इसका दाम हमारे नाम लिख लो । नाम लिखाना** = किसी विषय या कार्य में सम्मिलित होने के लिये रजिस्टर बही आदि में नाम लिखाना । किसी मंडली, संस्था या कार्यालय आदि में सम्मिलित होना । **जैसे, इसका नाम स्कूल में जल्दी लिखाओ । (किसी का) नाम लेकर** = (१) किसी प्रसिद्ध या बड़े आदमी के नाम से लोगों का ध्यान आकर्षित करके । नाम के प्रभाव से । **जैसे, यह अपने बाप का नाम लेकर भीख माँगेगा और क्या करेगा ?** (२) (किसी देवता या पूज्य पुरुष का) स्मरण करके । **जैसे, अब तो भगवान का नाम लेकर इस काम को कर चलते हैं । नाम लेना** = (१) नाम का उच्चारण करना । नाम कहना । (२) फलप्राप्ति के लिये या भक्तिवश ईश्वर या देवता के नाम का बार बार उच्चारण करना । नाम जपना । नाम स्मरण करना । (३) गुणों का वर्णन करना । गुण गाना । प्रशंसा करना । यश बखानना । कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना । **जैसे, इस उपकार के लिये वे सदा आपका नाम लेते रहेंगे ।** (४) चर्चा करना । जिक्र करना । **जैसे, फिर वहाँ जाने का नाम लेते हो ?** (५) नाम बदनाम करना । दोष लगाना । **जैसे, क्यों व्यर्थ किसी का नाम लेते हो, न जाने किसने यह काम किया है । नाम व निशान** = ऐसा चिह्न या लक्षण जिससे किसी वस्तु के होने का प्रमाण मिले । पता । खोज । **जैसे, यहाँ बस्ती का तो कहीं नाम व निशान नहीं है । नाम व निशान मिट जाना** = पता न रह जाना । एकदम नाश हो जाना । **नाम व निशान न होना** = एकदम अभाव होना । बिल्कुल न होना । एक भी वा लेशमात्र न होना । **(किसी) नाम से** = शब्द द्वारा निर्दिष्ट होकर या करके । **जैसे, किसी नाम से पुकारना । (किसी) के नाम से** = (१) चर्चा से । ज़िक्र से । जैसे, **मुझे तो उसके नाम से चिढ़ है ।** (२) (किसी का) संबंध बताकर । नाम लेकर । यह प्रकट करके कि कोई बात किसी की ओर से है । (किसी की) जिम्मेदारी बताकर । जैसे, **जितना रुपया चाहना मेरे नाम से ले लेना ।** (३) (किसी को) हकदार या मालिक बनाकर । (किसी के) उपयोग या भोग के लिये । **जैसे, वह लड़के के नाम से जायदाद खरीद रहा है ।** (४) नाम के प्रभाव से । नाम लेकर । ध्यान आकर्षित करके । **जैसे, अपने बड़ों के नाम से भीख माँग**

खाओगे। (५) नाम लेते ही। नाम का उच्चारण होते ही। जैसे, उसके नाम से वह काँपता है। **नाम से काँपना** = नाम सुनते ही डर जाना। बहुत भय मानना। **नाम होना** = (१) नाम लगना। दोष मढ़ा जाना। कलंक लगना। जैसे, बुराई कोई करे, नाम हो हमारा। (२) नाम प्रसिद्ध होना। जैसे, काम तो दूसरे करते हैं, नाम उसका होता है। (२) अच्छा नाम। सुनाम। प्रसिद्ध। ख्याति। यश। कीर्त्ति। जैसे, इधर उनका बड़ा नाम है।

क्रि० प्र०—होना।

मुहा०—**नाम कमाना** = प्रासीद्धि प्राप्त करना। कीर्त्ति लाभ करना। मशहूर होना। **नाम करना** = कीर्त्ति लाभ करना। प्रख्यात होना। जैसे, उसने लड़ाई में बड़ा नाम किया। **नाम को धब्बा लगाना** = दे० "नाम पर धब्बा लगना"। **नाम को मरना** = सुयश के लिये प्रयत्न करना। अच्छा नाम पाने के लिये उद्योग करना। कीर्त्ति के लिये जी तोड़ परिश्रम करना। **नाम चलना** = यश स्थिर रहना। कीर्त्ति का बहुत दिनों तक बना रहना। **नाम जगना** = नाम चमकना। कीर्त्ति फैलना। ख्याति होना। **नाम जगाना** = नाम चमकाना। उज्ज्वल कीर्त्ति फैलाना। **नाम डुबाना** = नाम को कलंकित करना। यश और कीर्त्ति का नाश करना। मान और प्रतिष्ठा खोना। **नाम डूबना** = (१) नाम कलंकित होना। यश और कीर्त्ति का नाश होना। (२) नाम न चलना। कीर्त्ति का लुप्त होना। स्मारक न रहना। **नाम पर धब्बा लगाना** = नाम को कलंकित करना। यश पर लांछन लगाना। बदनामी करना। जैसे, क्यों ऐसा काम करके बड़ों के नाम पर धब्बा लगाते हो? **नाम पाना** = प्रसिद्धि प्राप्त करना। मशहूर होना। **नाम रह जाना** = लोगों में स्मरण बना रहना। कीर्त्ति की चर्चा रहना। यश बना रहना। जैसे, मरने के पीछे नाम ही रह जाता है। **नाम से पुजना** = नाम प्रसिद्ध होने के कारण आदर पाना। **नाम से बिकना** = नाम प्रसिद्ध हो जाने से आदर पाना। **नाम ही नाम रह जाना** = पुरानी बातों के कारण लोगों में प्रसिद्ध मात्र रह जाना, पर उन बातों का न रहना। जैसे, नाम ही नाम रह गया है, उनके पास अब कुछ है नहीं।

नामक-वि० [सं०] नाम से प्रसिद्ध। नाम धारण करनेवाला। जैसे, विहार में पटना नामक एक नगर है।

नामकरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाम रखने का काम। पहचान के लिये नाम निश्चित करने की क्रिया। (२) हिंदुओं के सोलह संस्कारों में से एक जिसमें बच्चे का नाम रखा जाता है।

विशेष—यह पाँचवा संस्कार है। जन्म से ग्यारहवें या बारहवें दिन बच्चे का नामकरण संस्कार होना चाहिए। ग्यारहवाँ दिन इसके लिये बहुत अच्छा है, यदि ग्यारहवें दिन न हो सके तो बारहवें दिन होना चाहिए। गोभिल गृह्यसूत्र में ऐसी ही व्यवस्था है। स्मृतियों में वर्ण के अनुसार व्यवस्था मिलती है, जैसे, क्षत्रिय के लिये तेरहवें दिन, वैश्य के लिये सोलहवें दिन और शूद्र के लिये बाईसवें दिन।

गोभिल गृह्यसूत्र में नामकरण का विधान इस प्रकार है। बच्चे को अच्छे कपड़े पहनाकर माता वाम भाग में बैठे हुए पिता की गोद में दे। फ़िर उसकी पीठ की ओर से परिक्रमा करती हुई उसके सामने आकर खड़ी हो। इसके अनंतर पति वेदमंत्र का पाठ करके बच्चे को फिर अपनी पत्नी की गोद में दे दे। फिर होम आदि करके नाम रखा जाय।

नामकरणपद्धति में यह विधान इस रूप में हो गया है। नामकरण के दिन पिता गौरी, षोडश मातृका आदि का पूजन और वृद्धिश्राद्ध करके अपनी पत्नी को वाम भाग में बैठावे, फिर पत्थर की पटरी पर दो रेखाएँ खींचे, फिर दीपक जलाकर यदि लड़का हो तो उसके दहिने कान के पास "अमुक देव शर्मा" इत्यादि और लड़की हो तो "अमुकी देवी" इत्यादि कहकर नामकरण करे। नाम के अंत में यदि ब्राह्मण हो तो शर्म्मा और देव, क्षत्रिय हो तो वर्म्मा या त्राता, वैश्य हो तो भूति या गुप्त, और शूद्र हो तो दास होना चाहिए। पारस्कर गृहयसूत्र के अनुसार पुरुष का नाम तद्धितांत न होना चाहिए, पर स्त्री का नाम यदि तद्धितांत हो तो उतना दोष नहीं; जैसे, गांधारी, कैकेयी।

नामकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नामकरण संस्कार। (२) जैन शास्त्रानुसार कर्म का वह भेद जिससे जीव गति और जाति आदि पर्यायों का अनुभव करता है। नामकर्म ३४ प्रकार के माने गए हैं—जैसे नरक गति, तिर्यक गति, द्वींद्रिय जाति, चतुरिंद्रिय जाति, अस्थिर, शुभ, अशुभ, स्थावर, सूक्ष्म इत्यादि।

नामकीर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर के नाम का जप या उच्चारण। भगवान का भजन।

नामग्राम-संज्ञा पुं० [सं०] नाम और पता।

नामज़द-वि० [फा०] (१) जिसका नाम किसी बात के लिये निश्चित कर लिया गया हो या चुन लिया गया हो। जैसे, वे इस साल तहसीलदारी के लिये नामज़द हो गए हैं। (२) प्रसिद्ध। मशहूर।

नामदार-वि० [फा०] जिसका बड़ा नाम हो। नामी। प्रसिद्ध।

नामदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक भक्त जिनकी कथा भक्तमाल में इस प्रकार लिखी है। नामदेव वामदेवजी के नाती (दौहित्र) थे। वामदेव कृष्ण के उपासक थे, इससे नामदेव में भी बाल्यावस्था से ही कृष्ण में सच्ची भक्ति थी। वामदेव कुछ दिनों के लिये बाहर गए और अपने दौहित्र नामदेव से कृष्ण की प्रतिमा को प्रति दिन दूध चढ़ाने के लिये कहते

गए। नामदेव ने मूर्त्ति के आगे दूध रखा और पीने की प्रार्थना की। जब मूर्त्ति ने दूध न पिया तब नामदेव आत्महत्या करने पर उद्यत हुए। इस पर कृष्ण भगवान् ने प्रकट होकर दूध पिया। वामदेव जब लौटकर आए तब उन्हें यह व्यापार देख बड़ा आश्चर्य हुआ। धीरे धीरे यह बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने नामदेव से बुलाकर करामात दिखाने के लिये कहा। नामदेव ने स्वीकार नहीं किया। एक दिन संयोगवश एक गाय का बछड़ा मर गया और वह उसके शोक में बहुत व्याकुल हुई। नामदेव ने बछड़े को जिला दिया। (२) महाराष्ट्र देश के एक प्रसिद्ध कवि जो सन् १३०० के लगभग वर्त्तमान थे।

नामद्वादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत जिसमें अगहन सुदी तीज को गौरी, काली, उमा, भद्रा, दुर्गा, कांति, सरस्वती, मंगला, वैष्णवी, लक्ष्मी, शिवा और नारायणी इन बारह देवियों की पूजा होती है। (देवीपुराण)

नामधन-संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर राग जो मल्लार, शंकराभरण, विलावल सूदे और केदारे के योग से बना माना जाता है।

नामधराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाम + धराना] बदनामी। निंदा। अपकीर्त्ति।

क्रि० प्र०—करना।—कराना।—होना।

नामधाम-संज्ञा पुं० [हिं० नाम + धाम] नाम और पता। नाम ग्राम। पता ठिकाना।

नामधारक-वि० [सं०] केवल किसी नाम को धारण करनेवाला, उस नाम के अनुसार कर्म न करनेवाला। नाम मात्र का।

विशेष—जो ब्राह्मण वेदपाठ आदि कर्म न करते हों उन्हें पराशर स्मृति में नामधारक कहा गया है।

नामधारी-वि० [सं०] नाम धारण करनेवाला। नामवाला। नामक।

नामधेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाम। निदर्शक शब्द। (२) नामकरण।

वि० नामवाला। नाम का।

नामनिक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] नामस्मरण (जैन)।

नामनिशान-संज्ञा पुं० [फा०] चिह्न। पता। ठिकाना। जैसे, उस मैदान में बस्ती का नामनिशान भी नहीं है।

नामबोला-संज्ञा पुं० [हिं० नाम + बोलना] नाम लेनेवाला। जपनेवाला। विनय और भक्तिपूर्वक नाम स्मरण करनेवाला।

नामयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] जो यज्ञ केवल नाम या धूमधाम के लिये किया जाय।

नामरूप-संज्ञा पुं० [सं०] सबके आधार-स्वरूप अगोचर वस्तुतत्त्व के परिवर्त्तनशील नाना रूप या आकार जो इंद्रियों को जान पड़ते हैं तथा उनके भिन्न भिन्न नाम जो भेदज्ञान के अनुसार रखे जाते हैं।

विशेष—वेदांत के अनुसार एक ही अगोचर नित्य तत्त्व है। जो अनेक भेद दिखाई पड़ते हैं वे वास्तविक नहीं हैं। वे केवल रूपों या आकारों के कारण हैं जो इंद्रियों तथा मन के संस्कार मात्र हैं। समुद्र और तरंग अथवा सोना और गहना दो भिन्न भिन्न नाम हैं। एकीकरण द्वारा आत्मा सोने और गहने में अथवा समुद्र और तरंग में सामान्य गुणवाला एक ही पदार्थ देखती है। सोना एक पदार्थ है पर भिन्न भिन्न अवसरों पर बदलनेवाले आकारों के जो संस्कार इंद्रियों द्वारा मन पर होते हैं उनके कारण सोने को ही कभी कड़ा, कभी कंगन, कभी अँगूठी इत्यादि कहते हैं। इसी प्रकार जगत् के यावत् दृश्य हैं सब केवल नामरूपात्मक हैं। उनके भीतर वस्तुसत्ता छिपी हुई है। वेदांत में सदा बदलते रहनेवाले नामरूपात्मकरूप दृश्य जगत् को 'मिथ्या' और 'नाशवान्' और नित्य वस्तुतत्त्व को सत्य वा अमृत कहते हैं।

नामर्द-वि० [फा०] (१) जिसमें पुरुष की शक्ति विशेष न हो। नपुंसक। क्लीव। (२) भीरु। डरपोक। कायर।

नामर्दा-वि० दे० "नामर्द"।

नामर्दी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) नपुंसकता। क्लीवता (२) कायरपन। भीरुता। साहस का अभाव।

नामलेवा-संज्ञा पुं० [हिं० नाम + लेना] (१) नाम लेनेवाला। नाम स्मरण करनेवाला। (२) उत्तराधिकारी। संतति। वारिस। जैसे, नामलेवा रहा न पानी-देवा।

नामवर-वि० [फा०] जिसका बड़ा नाम हो। नामी। प्रसिद्ध। मशहूर।

नामवरी-संज्ञा स्त्री० [फा०] कीर्त्ति। प्रसिद्धि। शुहरत।

नामशेष-वि० [सं०] (१) जिसका केवल नाम बाकी रह गया हो। जो न रह गया हो। नष्ट। ध्वस्त। (२) मृत। गत। मरा हुआ।

नामसत्य-संज्ञा पुं० [सं०] किसी व्यक्ति या वस्तु का ठीक ठीक नाम-कथन चाहे वह नाम उसकी अवस्था या गुण के अनुकूल न हो। जैसे, लक्ष्मीपति यदि दरिद्र है तो भी उसे लोग लक्ष्मीपति ही कहेंगे। (जैन)।

नामांकित-वि० [सं०] जिस पर नाम लिखा या खुदा हो।

नामा-वि० [सं०] नामवाला। नामधारी।

संज्ञा पुं० नामदेव भक्त।

नामाकूल-वि० [फा० ना + अ० माकूल] (१) अयोग्य। नालायक। (२) अयुक्त। अनुचित।

नामालूम-वि० [फा० ना + अ० मालूम] जो मालूम न हो। अज्ञात।

नामावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नामों की पंक्ति। नामों की सूची। (२) वह कपड़ा जिस पर चारों ओर भगवान का नाम छपा होता है और जिसे भक्त लोग ओढ़ते हैं। रामनामी।

नामिक-वि० [सं०] (१) नाम संबंधी। (२) संज्ञा संबंधी।

नामित-वि० [सं०] झुकाया हुआ।

नामी-वि० [हिं० नाम + ई (प्रत्य०) अथवा सं० नामिन्] (१) नामधारी। नामवाला। जैसे, रामप्रसाद नामी एक मनुष्य। (२) जिसका बड़ा नाम हो। प्रसिद्ध। विख्यात। मशहूर। जैसे, नामी आदमी।

यौ०—नामी गिरामी।

नामी गिरामी-वि० [फा० मि० सं० नामग्राम] जिसका बड़ा नाम हो। प्रसिद्ध। विख्यात।

नामुनासिब-वि० [फा०] अनुचित। अयोग्य। गैरवाजिब।

नामुमकिन-वि० [फा० ना + अ० मुमकिन] जो कभी न हो सके। असंभव।

नामूसी-संज्ञा स्त्री० [अ० नामूस = इज्जत] बेइज़्ज़ती। अप्रतिष्ठा। बदनामी। निंदा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नामेहरबान-वि० [फा०] जो मेहरबान न हो। अकृपालु।

नाम्ना-वि० [सं०] [स्त्री० नाम्नी] नामवाला। नामधारी।

नाम्य-वि० [सं०] झुकाने योग्य।

नायँ†*- संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

अव्य० दे० "नहीं," "नाहीं"।

नाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नय। नीति। (२) उपाय। युक्ति। (३) नेता। अगुआ।

नायक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नायिका] (१) जनता को किसी ओर प्रवृत्त करने का अधिकार या प्रभाव रखनेवाला पुरुष। लोगों को अपने कहे पर चलानेवाला आदमी। नेता। अगुआ। सरदार। जैसे, सेना का नायक। (२) अधिपति। स्वामी। मालिक। जैसे, गणनायक। (३) श्रेष्ठ पुरुष। जननायक। (४) साहित्य में शृंगार का आलंबन या साधक रूपयौवन-संपन्न पुरुष अथवा वह पुरुष जिसका चरित्र किसी काव्य या नाटक आदि का मुख्य विषय हो।

विशेष—साहित्यदर्पण में लिखा है कि दानशील, कृती, सुश्री, रूपवान, युवक, कार्य्यकुशल, लोकरंजक, तेजस्वी, पंडित और सुशील ऐसे पुरुष को नायक कहते हैं। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत। जो आत्मश्लाघारहित, क्षमाशील, गंभीर, महाबलशाली, स्थिर और विनयसंपन्न हो उसे धीरोदात्त कहते हैं। जैसे राम, युधिष्ठिर। मायावी, प्रचंड, अहंकार और आत्मश्लाघायुक्त नायक को धीरोद्धत कहते हैं। जैसे, भीमसेन। निश्चिंत, मृदु और नृत्य-गीतादि-प्रिय नायक को धीरललित कहते हैं। त्यागी और कृती नायक धीरप्रशांत कहलाता है। इन चारों प्रकार के नायकों के फिर अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ ये चार भेद किए गए हैं। शृंगार रस में पहले नायक के तीन भेद किए गए हैं—पति, उपपति और वैशिक (वेश्यानुरक्त)। पति चार प्रकार के कहे गए हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। एक ही विवाहिता स्त्री पर अनुरक्त पति को अनुकूल, अनेक स्त्रियों पर समान प्रीति रखनेवाले को दक्षिण, स्त्री के प्रति अपराधी होकर बार बार अपमानित होने पर भी निर्लज्जतापूर्वक विनय करनेवाले को धृष्ट और छलपूर्वक अपराध छिपाने में चतुर पति को शठ कहते हैं। उपपति दो प्रकार के कहे गए हैं—वचनचतुर और क्रियाचतुर।

(५) हार के मध्य का मणि। माला के बीच का नग। (६) संगीत कला में निपुण पुरुष। कलावंत। (७) एक वर्णवृत्त का नाम। (८) एक राग जो दीपक राग का पुत्र माना जाता है।

नायका-संज्ञा स्त्री० [सं० नायिका]* (१) दे० "नायिका"। (२) वेश्या की मा। (३) कुटनी। दूती।

नायकी-संज्ञा पुं० [सं०] एक राग का नाम।

नायकी कान्हड़ा-संज्ञा पुं० [?] एक राग, जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।

नायकी मल्लार-संज्ञा पुं० [सं० नायक + मल्लार] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

नायत-संज्ञा पुं० [डिं०] वैद्य।

नायन-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाई] [स्त्री० नाइन] नाई की स्त्री। नापित का काम करनेवाली स्त्री।

नायब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी की ओर से काम करनेवाला। किसी के काम की देख-रेख रखनेवाला। मुनीब। मुख्तार। (२) काम में मदद देनेवाला छोटा अफसर। सहायक। सहकारी। जैसे, नायब दीवान, नायब तहसीलदार।

नायबी-संज्ञा स्त्री० [अ० नायब + ई (प्रत्य०)] (१) नायब का काम। (२) नायब का पद।

नायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रूपगुण-संपन्न स्त्री। वह स्त्री जो शृंगार रस का आलंबन हो अथवा किसी काव्य, नाटक आदि में जिसके चरित्र का वर्णन हो।

विशेष—शृंगार में प्रकृति के अनुसार नायिकाओं के तीन भेद बतलाए गए हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। प्रिय के अहितकारी होने पर भी हितकारिणी स्त्री को उत्तमा, प्रिय के हित या अहित करने पर हित या अहित करनेवाली स्त्री को मध्यमा और प्रिय के हितकारी होने पर भी अहितकारिणी स्त्री को अधमा कहते हैं। धर्मानुसार तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। अपने ही पति में अनुराग रखनेवाली स्त्री को स्वीया या स्वकीया, पर पुरुष से प्रेम रखनेवाली स्त्री को परकीया या अन्यां और धन के लिये प्रेम करनेवाली स्त्री को सामान्या, साधारण

वा गणिका कहते हैं। वयःक्रमानुसार स्वकीया तीन प्रकार की मानी गई हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। कामचेष्टा-रहित अंकुरितयौवना को मुग्धा कहते हैं जो दो प्रकार की कही गई हैं—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना। ज्ञातयौवना के भी दो भेद किए गए हैं—नवोढ़ा जो लज्जा और भय से पतिसमागम की इच्छा न करे और विश्रब्ध नवोढ़ा जिसे कुछ अनुराग औरं विश्वास पति पर हो। अवस्था के कारण जिस नायिका में लज्जा और कामवासना समान हो उसे मध्या कहते हैं। कामकला में पूर्ण रूप से कुशल स्त्री को प्रौढ़ा कहते हैं। इनमें से मध्या और मुग्धा भेद केवल स्वकीया में ही माने गए हैं, फिर मध्या और प्रौढा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद किए गए हैं। प्रिय में पर-स्त्री-समागम के चिह्न देख धैर्यसहित्त सादर कोप प्रकट करनेवाली स्त्री को धीरा, प्रत्यक्ष कोप करनेवाली स्त्री को अधीरा तथा कुछ गुप्त और कुछ प्रकट कोप करनेवाली स्त्री को धीराधीरा कहते हैं।

परकीया के प्रथम दो भेद किए गए हैं ऊढा और अनूढा। विवाहिता स्त्री यदि पर पुरुष में अनुरक्त हो तो उसे ऊढा या परोढा और अविवाहिता स्त्री यदि हो तो उसे अनूढा या कन्यका कहते हैं। इसके अतिरिक्त व्यापार-भेद से कई भेद किए गए हैं जैसे, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता इत्यादि। नायिकाओं के अट्ठाईस अलंकार कहे गए हैं। इनमें हाव, भाव और हेला ये तीन अंगज कहलाते हैं। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य्य ये सात अयत्नसिद्ध; लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विकृत, तपन, मौग्ध, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये अठारह स्वभावज कहलाते हैं।

नारंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारंगी। (२) गाजर। (३) पिप्पलीरस। (४) यमज प्राणी।

नारंगी–संज्ञा स्त्री० [सं० नागरंग, अ० नारंज] (१) नीबू की जाति का एक मझोला पेड़ जिसमें मीठे सुगंधित और रसीले फल लगते हैं।

विशेष—पेड़ इसका नीबू ही का सा होता है। फल में विशेषता होती है। नारंगी का छिलका मुलायम और पीलापन लिए हुए लाल रंग का होता है और गूदे से अधिक लगा न रहने के कारण बहुत सहज में अलग हो जाता है। भीतर पतली झिल्ली से मढ़ी हुई फाँकें होती हैं जिनमें रस से भरे हुए गूदे के रवे होते हैं। एक एक फाँक के भीतर दो या तीन बीज होते हैं। नारंगी गरम देशों में होती है। एशिया के अतिरिक्त युरोप के दक्षिण भाग, अफ्रिका के उत्तर भाग और अमेरिका के कई भागों में इसके पेड़ बगीचों में लगाए जाते हैं और फल चारों ओर भेजे जाते हैं। भारत में जो मीठी नारंगियाँ होती हैं वे और कई फलों के समान अधिकतर आसाम होकर चीन से आई हैं, ऐसा लोगों का मत है। भारतवर्ष में नारंगियों के लिये प्रसिद्ध स्थान हैं सिलहट, नागपुर, सिकिम, नैपाल, गढ़वाल, कमाऊँ, दिल्ली, पूना और कुर्ग। नारंगी के प्रधान चार भेद कहे जाते हैं—संतरा, कँवला, मात्टा और चीनी। इनमें संतरा सबसे उत्तम जाति है। संतरे भी देश-भेद से कई प्रकार के होते हैं।

चीन और भारतवर्ष के प्राचीन ग्रंथों में नारंगी का उल्लेख मिलता है। संस्कृत में इसे नागरंग कहते हैं। 'नाग' का अर्थ है सिंदूर। छिलके के लाल रंग के कारण यह नाम दिया गया। सुश्रुत में नागरंग का नाम आया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि युरोप में यह फल अरबवालों के द्वारा गया।

(२) नारंगी के छिलके का सा रंग। पीलापन लिए हुए लाल रंग।

वि० पीलापन लिए हुए लाल रंग का।

नार–संज्ञा स्त्री० [सं० नाल, नाड] (१) गला। गरदन। ग्रीवा।

मुहा०—नार नवाना = (१) गरदन झुकाना। सिर नीचे की ओर करना। (२) लज्जा, चिंता, संकोच, मान आदि के कारण सामने न ताकना। दृष्टि नीची करना। लज्जित होने, चिंता करने या रूठने का भाव प्रकट करना। उ०—समुझि निज अपराध करनी नार नावति नीचि। बहुत दिन तें बरति हैं कै आँखि दीजै सींचि।—सूर। नार नीची करना = दे० "नार नवाना"। उ०—मान मनायो राधा प्यारी।...... कत ह्वै रही नार नीची करि देखत लोचन फूले।—सूर।

(२) जुलाहों की ढरकी। नाल।

†संज्ञा पुं० (१) उल्व नाल। आँवल नाल। दे० "नाल"।

यौ०—नार बेवार।

(२) नाला। (३) बहुत मोटा रस्सा। (४) सूत की डोरी जिससे स्त्रियाँ घाँघरा कसती हैं अथवा कहीं कहीं धोती की चुनन बाँधती हैं। नारा। नाला। (५) जुवा जोड़ने की रस्सी या तस्मा। (६) चरने के लिये जानेवाले चौपायों का झुंड।

‡संज्ञा स्त्री० दे० "नारी"।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरसमूह। मनुष्यों की भीड़। (२) तुरत का जनमा हुआ गाय का बछड़ा। (३) जल। पानी। (४) सोंठ। शुंठी।

वि० (१) नरसंबंधी। मनुष्यसंबंधी। (२) परमात्मासंबंधी।

नारक–संज्ञा पुं० (१) [सं०] नरक। (२) नरकस्थ प्राणी। नरक में रहनेवाला व्यक्ति।

नारकी-वि० [सं० नारकिन्] नरक भोगनेवाला या नरक में जाने योग्य कर्म करनेवाला। पापी।

नारकीट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का कीड़ा। अश्म-कीट। (२) किसी को आशा देकर निराश करनेवाला अधम मनुष्य।

नारद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषि का नाम जो ब्रह्मा के पुत्र कहे जाते हैं। ये देवर्षि माने गए हैं।

विशेष—वेदों में ऋग्वेद मंडल ८ और ९ के कुछ मंत्रों के कर्ता एक नारद का नाम मिलता है जो कहीं कण्व और कहीं कश्यप वंशी लिखे गए हैं। इतिहास और पुराणों में नारद देवर्षि कहे गए हैं जो नाना लोकों में विचरते रहते हैं और इस लोक का संवाद उस लोक में दिया करते हैं। हरिवंश में लिखा है कि नारद ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। ब्रह्मा ने प्रजा सृष्टि की अभिलाषा करके पहले मरीचि, अत्रि आदि को उत्पन्न किया, फिर सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार, स्कंद, नारद और रुद्रदेव उत्पन्न हुए (हरिवंश १ अ०)। विष्णु पुराण में लिखा है कि ब्रह्मा ने अपने सब पुत्रों को प्रजा-सृष्टि करने में लगाया पर नारद ने कुछ बाधा की, इस पर ब्रह्मा ने उन्हें शाप दिया कि "तुम सदा सब लोकों में घूमा करोगे; एक स्थान पर स्थिर होकर न रहोगे।" महाभारत में इनका ब्रह्मा से संगीत की शिक्षा लाभ करना लिखा है। भागवत ब्रह्मवैवर्त्त आदि पीछे के पुराणों में नारद के संबंध में बड़ी लंबी चौड़ी कथाएँ मिलती हैं। जैसे, ब्रह्मवैवर्त्त में इन्हें ब्रह्मा के कंठ से उत्पन्न बताया है और लिखा है कि जब इन्होंने प्रजा की सृष्टि करना अस्वीकार किया तब ब्रह्मा ने इन्हें शाप दिया और ये गंधमादन पर्वत पर उपवर्हण नामक गंधर्व हुए। एक दिन इंद्र की सभा में रंभा का नाच देखते देखते ये काम-मोहित हो गए। इस पर ब्रह्मा ने फिर शाप दिया कि "तुम मनुष्य हो"। द्रुमिल नामक गोप की स्त्री कलावती पति की आज्ञा से ब्रह्मवीर्य्य की प्राप्ति के लिये निकली और उसने काश्यप नारद से प्रार्थना की। अंत में काश्यप नारद के वीर्य्य भक्षण से उसे गर्भ रहा। उसी गर्भ से गंधर्व-देह त्याग नारद उत्पन्न हुए। पुराणों में नारद बड़े भारी हरिभक्त प्रसिद्ध हैं। ये सदा भगवान् का यश वीणा बजाकर गाया करते हैं। इनका स्वभाव कलह-प्रिय भी कहा गया है इसी से इधर की उधर लगानेवाले को लोग "नारद" कह दिया करते हैं।

(२) विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम। (महाभारत)। (३) एक प्रजापति का नाम। (४) कश्यपमुनि की स्त्री से उत्पन्न एक गंधर्व। (५) चौबीस बुद्धों में से एक। (६) शाकद्वीप का एक पर्वत। (मत्स्य पु०)।

नारदपुराण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अठारह महापुराणों में से एक। इसमें सनकादिक ने नारद को संबोधन करके कथा कही है और उपदेश दिया है। इसमें कथाओं के अतिरिक्त तीर्थों और व्रतों के माहात्म्य बहुत अधिक दिए हैं। (२) बृहन्नारदीय नामक एक उपपुराण।

नारदी-संज्ञा पुं० [सं० नारदिन्] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

नारदीय-वि० [सं०] नारद का। नारदसंबंधी। जैसे, नारदीय पुराण।

नारना-क्रि० स० [सं० ज्ञान, प्रा० णाण + हिं० ना] थाह लगाना। पता लगाना। भाँपना। ताड़ना। उ०—राधा मन में यहै विचारति।......मोहू ते ये चतुर कहावति ये मन ही मन मोको नारति। ऐसे वचन कहूँगी इन पै चतुराई इनकी मैं झारति।—सूर।

नारफ़िक-संज्ञा पुं० [अं०] विलायती घोड़ों की एक जाति जो नारफाक प्रदेश में पाई जाती है। इस जाति के घोड़े डील डौल में बड़े, सुंदर और मजबूत होते हैं।

नार बेवार†-संज्ञा पुं० [हिं० नार + सं० विवार = फैलाव] आँवल नाल। नाल और खेड़ी आदि। नारापोटी। उ०—नार बेवार समेत उठावा। लै वसुदेव चले तम छावा।—विश्राम।

नारमन-संज्ञा पुं० [अं०] (१) फ्रांस के नारमंडी प्रदेश का निवासी। (२) जहाज़ का रस्सा बाँधने का खूँटा।

नारसिंह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरसिंह रूपधारी विष्णु।

विशेष—तैत्तिरीय आरण्यक में नारसिंह की गायत्री मिलती है।

(२) एक तंत्र का नाम। (३) एक उपपुराण जिसमें नरसिंह अवतार की कथा है।

नारसिंही-वि० [नारसिंह + ई (प्रत्य०)] नारसिंह संबंधी।

यौ०—नारसिंही टोना = बड़ा गहरा टोना।

नारांतक-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस जो रावण के पुत्रों में कहा गया है।

नारा-संज्ञा पुं० [सं० नाल, हिं० नार] (१) सूत की डोरी जिससे स्त्रियाँ घाँघरा कसती हैं अथवा कहीं कहीं धोती की चुनन बाँधती हैं। इजारबंद। नीबी। उ०—नाराबंधन सूथन जंघन।—सूर। दे० "नाड़ा"। (२) लाल रँगा हुआ सूत जो पूजन में देवताओं को चढ़ाया जाता है। मौली। कुसुंभ सूत्र। (३) हल के जुवे में बँधी हुई रस्सी। †(४) बरसाती पानी बहने का प्राकृतिक मार्ग। छोटी नदी।

नाराइन- संज्ञा पुं० दे० "नारायण"।

नाराच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहे का बाण। वह तीर जो सारा लोहे का हो।

विशेष—शर में चार पंख लगे रहते हैं और नाराच में पाँच। इसका चलाना बहुत कठिन है।

(२) दुर्दिन। ऐसा दिन जिसमें बादल घिरा हो, अंधड़ चले तथा इसी प्रकार के और उपद्रव हों। (३) एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और चार

रगण होते हैं। इसे 'महामालिनी' और तारका भी कहते हैं। (४) २४ मात्राओं का एक छंद। उ०—तबै ससैन काल जीत बाल सीर जाय कै।

नाराचघृत-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक घृत जो घी में चीते की जड़, त्रिफला, भटकटैया, बायविडंग आदि पकाकर बनाया जाता है और उदररोग में दिया जाता है।

नाराची-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा तराजू जिसमें बहुत छोटी चीजें तौली जाती हैं। सुनारों का काँटा।

नाराज-वि० [फा०] अप्रसन्न। रुष्ट। नाखुश। खफा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नाराजगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] अप्रसन्नता।

नाराजी-संज्ञा स्त्री० [फा०] अप्रसन्नता। अकृपा। कोप।

नारायण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। भगवान्। ईश्वर।

विशेष—इस शब्द की व्युत्पत्ति ग्रंथों में कई प्रकार से बतलाई गई है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'नर' परमात्मा का नाम है। परमात्मा से सबसे पहले उत्पन्न होने के कारण जल को नारा कहते हैं। जल जिसका प्रथम अयन वा अधिष्ठान है उस परमात्मा का नाम हुआ "नारायण"। महाभारत के एक श्लोक के भाष्य में कहा गया है कि नर नाम है आत्मा या परमात्मा का। आकाश आदि सबसे पहले परमात्मा से उत्पन्न हुए इससे उन्हें नारा कहते हैं। यह 'नारा' कारणस्वरूप होकर सर्वत्र व्याप्त है इससे परमात्मा का नाम नारायण हुआ। कई जगह ऐसा भी लिखा है कि किसी मन्वंतर में विष्णु 'नर' नामक ऋषि के पुत्र हुए थे इससे उनका नाम नारायण पड़ा। ब्रह्मवैवर्त्त आदि पुराणों में और भी कई प्रकार की व्युत्पत्तियाँ बतलाई गई हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण की गायत्री है जो इस प्रकार है—नारायण विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त और उत्तर नारायण सूक्त तथा शतपथ ब्राह्मण (१३। ६। २। १) और शांख्यायन श्रौत सूत्र (१६। १३। १) में नारायण शब्द विष्णु या प्रथम पुरुष के अर्थ में आया है। जैन लोग नारायण को ९ वासुदेवों में से आठवाँ वासुदेव कहते हैं।

(२) पूस का महीना। (३) 'अ' अक्षर का नाम। (४) कृष्ण यजुर्वेद के अंतर्गत एक उपनिषद। (५) धर्मपुत्र एक ऋषि। (६) एक अस्त्र का नाम।

नारायणक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] गंगा के प्रवाह से चार हाथ तक की भूमि। (बृहद्धर्म पुराण)

नारायणतैल-संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद में एक प्रसिद्ध तैल।

विशेष—तिल के तेल में असगंध, भटकटैया, बेल की जड़ की छाल, देवदार, जटामासी इत्यादि बहुत सी दवाएँ पकाकर इस तेल को तैयार करते हैं।

नारायणप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सहदेव।

नारायणवलि-संज्ञा पुं० [सं०] आत्मघात आदि द्वारा बुरी तरह से मरनेवाले पतित मृतक के प्रायश्चित्त के लिये एक वलि जो नारायण आदि पाँच देवताओं के उद्देश्य से किया जाता है।

विशेष—आत्महत्या करनेवाले की और्द्ध्वदैहिक क्रिया नियमानुसार समय पर नहीं की जाती। मृत्यु से एक वर्ष पर नारायणवलि और पर्णनरदाह (फूस के पुतले का दाह) करके तब श्राद्धादिक किए जाते हैं। आत्मघाती का जो दाह आदि करता है उसे भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।

नारायणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) लक्ष्मी। (३) गंगा। (४) सतावर। (५) मुद्गल मुनि की स्त्री का नाम। (६) श्रीकृष्ण की सेना का नाम जिसे उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्ध में दुर्योधन की सहायता के लिये दिया था।

संज्ञा पुं० विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

नारायणीय-वि० [सं०] नारायणसंबंधी।

संज्ञा पुं० महाभारत का एक उपाख्यान जिसमें नारद और नारायण ऋषि की कथा है। यह शांति पर्व में है।

नाराशंस-वि० [सं०] प्रशंसासंबंधी। जिसमें मनुष्यों की प्रशंसा हो। स्तुतिसंबंधी।

संज्ञा पुं० (१) वेदों के वे मंत्र जिनमें कुछ विशेष मनुष्यों, जैसे, राजाओं आदि की प्रशंसा होती है। प्रशस्ति। दानस्तुति आदि। (२) वह चमचा जिसमें पितरों को सोमपान दिया जाता है। (३) पितरों के लिये चमचे में रखा हुआ सोम। (४) पितर।

नाराशंसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मनुष्यों की प्रशंसा। (२) वेद में मंत्रों का वह भाग जिनमें राजाओं के दान आदि की प्रशंसा है।

नारि -संज्ञा स्त्री० दे० "नारी"।

नारिक-वि० [सं०] (१) जलीय। जल का। जलसंबंधी। (२) आत्मसंबंधी। आध्यात्मिक।

नारिकेर-संज्ञा पुं० दे० "नारिकेल"।

नारिकेल-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

नारिकेलक्षीरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नारियल की गिरी की बनी हुई एक प्रकार की खीर या मिठाई।

विशेष—गिरी के महीन महीन टुकड़ों को घी और चीनी के साथ गाय के दूध में पकाते हैं, गाढ़ा होने पर उतार लेते हैं।

नारिकेलखंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध जो नारियल की गिरी से बनती है।

विशेष—नारियल की गिरि को पीसकर घी में मिलावे और फिर चीनी मिले हुए नारियल के पानी में उसे डालकर पका डाले। पक जाने पर उसमें धनिए, पीपल, वंशलोचन, इला-

यची, नागकेसर, जीरे और तेजपत्ते का चूर्ण डालकर मिला दे। इसके सेवन से अम्लपित्त, अरुचि, क्षयरोग, रक्तपित्त और शूल दूर होता है तथा पुरुषत्व की वृद्धि होती है।

नारियल–संज्ञा पुं० [सं० नारिकेल] (१) खजूर की जाति का एक पेड़ जो खंभे के रूप में पचास साठ हाथ तक ऊपर की ओर जाता है। इसके पत्ते खजूर ही के से होते हैं। नारियल गरम देशों में ही समुद्र का किनारा लिए हुए होता है। भारत के आस पास के टापुओं में यह बहुत होता है। भारतवर्ष में समुद्र तट से अधिक से अधिक सौ कोस तक नारियल अच्छी तरह होता है, उसके आगे यदि लगाया भी जाता है तो किसी काम का फल नहीं लगता। फूल इसके सफेद होते हैं जो पतली पतली सींकों में मंजरी के रूप में लगते हैं। फल गुच्छों में लगते हैं जो बारह चौदह अंगुल तक लंबे और छ सात अंगुल तक चौड़े होते हैं। फल देखने में लंबोतरे और तिपहले दिखाई पड़ते हैं। उनके ऊपर एक बहुत कड़ा रेशेदार छिलका होता है जिसके नीचे कड़ी गुठली और सफेद गिरी होती है जो खाने में मीठी होती है। नारियल के पेड़ लगाने की रीति यह है कि पके हुए फलों को लेकर एक या डेढ़ महीने घर में रख छोड़े। फिर बरसात में हाथ डेढ़ हाथ गड्ढे खोद कर उनमें उन्हें गाड़ दे और राख और और खार ऊपर से डाल दे। थोड़े ही दिनों में कल्ले फूटेंगे और पौधे निकल आवेंगे। फिर छः महीने या एक वर्ष में इन पौधों को खोदकर जहाँ लगाना हो लगा दे। भारतवर्ष में नारियल बंगाल, मदरास और बंबई प्रांत में लगाए जाते हैं। नारियल कई प्रकार के होते हैं। विशेष भेद फलों के रंग और आकार में होता है। कोई बिल्कुल लाल होते हैं, कोई हरे होते हैं और कोई मिले जुले रंग के होते हैं। फलों के भीतर पानी या रस भरा रहता है जो पीने में मीठा होता है। नारियल बहुत से कामों में आता है। इसके पत्तों की चटाई बनती है जो घरों में लगती है। पत्तों की सींकों के झाड़ू बनते हैं। फलों के ऊपर जो मोटा छिलका होता है उससे बहुत मजबूत रस्से तैयार होते हैं। खोपड़े या गिरी के ऊपर के कड़े कोश को चिकना और चमकीला करके प्याले और हुक्के बनाते हैं। गिरी मेवों में गिनी जाती है। गिरी से एक मीठा गाढ़ा जमनेवाला तेल निकलता है जिसे लोग खाते भी हैं और लगाते भी। पूरी लकड़ी का घर की छाजन में बरेरा लगता है। बंबई प्रांत में नारियल से एक प्रकार का मद्य या ताड़ी बनाते हैं। वैद्यक में नारियल का फल, शीतल, दुर्जर, वृष्य तथा पित्त और दाह नाशक माना जाता है। ताजे फल का पानी शीतल, हृदय को हितकारी, दीपक और वीर्यवर्द्धक माना जाता है। एशिया में रूम और मडागास्कर द्वीप से लेकर पूर्व की ओर अमेरिका के तट तक नारियल के जो नाम प्रचलित हैं वे प्रायः सं० नारिकेल शब्द ही के विकृत रूप हैं। यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि नारियल का आदि स्थान भारत और बरमा के दक्षिण के द्वीप (मालद्वीप, लकाद्वीप, सिंहल, अंडमान, सुमात्रा, जावा इत्यादि) ही हैं। नारिकेल का उल्लेख वैदिक ग्रंथों में तो नहीं मिलता पर महाभारत, सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। कथासरित्सागर में "नारिकेल द्वीप" का उल्लेख है।

पर्य्या०–नारिकेल। लांगली। सदापुष्प। शिरःफल। रसफल। सुतुंग। कूर्चशेखर। दृढ़नील। नीलतरु। मंगल्य। तृणराज। स्कंधतरु। दाक्षिणात्य। त्र्यंबकफल। दृढ़फल। तुंग। सदाफल। कौशिकफल। फलमुंड। विश्वामित्र-प्रिय।

यौ०—**नारियल का खोपड़ा** = नारियल की कड़ी गुठली जिसके भीतर गिरी की तह रहती है।

मुहा०–**नारियल तोड़ना** = मुसलमानों की एक रीति जो गर्भ रहने पर की जाती है। नारियल तोड़कर उससे लड़का या लड़की पैदा होने का शकुन निकालते हैं।

(२) नारियल का हुक्का।

नारियलपूर्णिमा–संज्ञा स्त्री० [देश०] दक्षिण देश (बंबई प्रांत) का एक त्योहार जिसमें लोग नारियल ले लेकर समुद्र में फेंकते हैं।

नारियली–संज्ञा स्त्री० [हिं० नारियल] (१) नारियल का खोपड़ा। (२) नारियल का हुक्का। (३) नारियल की ताड़ी।

नारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। औरत। (२) तीन गुरु वर्णों की एक वृत्ति। उ०—माधो ने। दी तारी। गोपों की। हैं नारी।

संज्ञा स्त्री० [सं० आड़ि] पानी के किनारे रहनेवाली एक चिड़िया जिसके पैर ललाई लिए भूरे होते हैं। पीठ और पूँछ भी भूरी होती है।

संज्ञा स्त्री० [हिं० नार] वह रस्सी जिससे जुए में हल बाँधते हैं। नार।

*†–संज्ञा स्त्री० दे० "नाड़ी"।

*†–संज्ञा स्त्री० दे० "नाली"।

नारीकवच–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्यवंशीय मूलक राजा। यह अश्मक का पुत्र और सौदास का पौत्र था। जब परशुराम क्षत्रियों का नाश कर रहे थे तब इन्हें स्त्रियों ने घेरकर बचा लिया था इसी से यह नाम पड़ा। इन्हीं से क्षत्रियों का फिर वंशविस्तार हुआ, इससे इन्हें मूलक कहते हैं।

नारीकेल–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

नारीच–संज्ञा पुं० [सं०] नालिता शाक।

नारीतरंगक–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों के चित्त को चंचल करनेवाला पुरुष। जार। व्यभिचारी।

नारीतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ जहाँ पाँच अप्सराएँ ब्राह्मण के शाप से जलजंतु हो गई थीं। अर्जुन ने इनका शाप से उद्धार किया था। (महाभारत)

नारीमुख-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार कूर्म विभाग से नैर्ऋत की ओर एक देश।

नारीष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका। चमेली।

नारुंतुद-वि० [सं०] जिसके शरीर पर किसी प्रकार का आघात न लग सके। अनाहत।

नारू-संज्ञा पुं० [दे०] (१) जूँ। ढील। (२) एक रोग जिसमें शरीर पर विशेषतः कटि के नीचे जंघा टाँग आदि में फुंसियाँ सी हो जाती हैं और उन फुंसियों में से सूत सा निकलता है। यह सूत वास्तव में कीड़ा होता है जो बढ़ते-बढ़ते कई हाथ की लंबाई का हो जाता है। ये कीड़े जब त्वचा के तंतुजाल में होते हैं तब नारू या नहरुवा होता है, जब रक्त की नलियों में होते हैं तब श्लीपद या फीलपाव रोग होता है। नारू का रोग प्रायः गरम देशों में ही होता है।

ये कीड़े कई प्रकार के होते हैं। अधिकतर तो जीवधारियों के शरीर के भीतर रहते हैं पर कुछ तालों और समुद्र के जल में भी पाए जाते हैं। सिरके का कीड़ा इसी जाति का होता है। ये कीट यद्यपि पेट के केचुए से सूक्ष्म होते हैं पर इनकी शरीर-रचना केचुओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण रहती है। इन्हें मुँह होता है, अलग अँतड़ी होती है; इनमें स्त्री०, पुं० भेद होता है।

†संज्ञा पुं० [हिं० नाली, पू० हिं० नारी] वह बोआई जो क्यारियों में होती है।

नार्पत्य-वि० [सं०] नृपसंबंधी। राजा से संबंध रखनेवाला।

नार्मद-वि० [सं०] नर्मदासंबंधी। नर्मदा नदी का।

संज्ञा पुं० शिवलिंग जो नर्मदा में पाया जाता है।

नार्मर-संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर जिसे इंद्र ने मारा था। (ऋग्वेद)

नार्य्यंग-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

नार्य्यतिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] चिरायता।

नालंदा-संज्ञा पुं० बौद्धों का एक प्राचीन क्षेत्र और विद्यापीठ जो मगध में पटने से तीस कोस दक्खिन और बड़गाँव से ग्यारह कोस पश्चिम था। किसी किसी का मत है कि यह स्थान वहाँ था जहाँ आजकल तेलाढा है।

विशेष—बौद्ध यात्रियों के विवरण से जाना जाता है कि पहले पहल महाराज अशोक ने नालंदा में एक मठ स्थापित किया। चीनी यात्री उएनचांग ने लिखा है कि पीछे शंकर और मुग्दलगोमी नामक दो ब्राह्मणों ने इस मठ को फिर से बड़े विशाल आकार में बनवाया। इसकी दीवारें जो इधर उधर खड़ी मिलती हैं उनमें से कई तीस बत्तीस हाथ ऊँची हैं। कहते हैं कि इस विद्यापीठ में रहकर नागार्जुन ने कुछ दिनों तक उक्त शंकर नामक ब्राह्मण से शास्त्र पढ़ा था। सन् ६३७ ईसवी में प्रसिद्ध चीनी यात्री उएनचांग ने इस विद्यापीठ में जाकर प्रज्ञाभद्र नामक एक आचार्य से विद्याध्ययन किया था। उस समय इतना बड़ा मठ और इतना बड़ा विद्यापीठ भारत में और कहीं नहीं था। यहाँ सैकड़ों आचार्य और दस हजार के ऊपर ऊपर याजक और शिष्य निवास करते थे। जिस समय काशी में बुद्धपक्ष नामक राजा राज्य करते थे उस समय इस मठ में आग लगी और बहुत सी पुस्तकें जल गईं।

नाल-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल, कुमुद आदि फूलों की पोली लंबी डंडी। डाँड़ी। (२) पौधे का डंठल। कांड। (३) गेहूँ, जौ आदि की पतली लंबी डंडी जिसमें बाल लगती है। (४) नली। नल। (५) बंदूक की नली। बंदूक के आगे निकला हुआ पोला डंडा। (६) सुनारों की फुकनी। (७) जुलाहों की नली जिसमें वे सूत लपेटकर रखते हैं। छूँछा। कैंडा। छुच्छा। (८) वह रेशा जो कलम बनाते समय छीलने पर निकलता है।

विशेष—डंठल या डंडी के अर्थ में पूरब में पुं० बोलते हैं। पुरानी कविताओं में भी पुं० प्रायः मिलता है।

संज्ञा पुं० (१) रक्त की नलियों तथा एक प्रकार के मज्जातंतु से बनी हुई रस्सी के आकार की वस्तु जो एक ओर तो गर्भस्थ बच्चे की नाभि से और दूसरी ओर गोल थाली के आकार में फैलकर गर्भाशय की दीवार से मिली होती है। आँवल नाल। उल्वनाल। नारा।

विशेष—इसी नाल के द्वारा गर्भस्थ शिशु माता के गर्भ से जुड़ा रहता है। गर्भाशय की दीवार से लगा हुआ जो उभरा हुआ थाली की तरह का गोल छत्ता होता है उसमें बहुत सी रक्तवाहिनी नसें होती हैं जो चारों ओर से अनेक शाखा प्रशाखाओं में आकर छत्ते के केंद्र पर मिलती हैं जहाँ से नाल शिशु की नाभि की ओर गया रहता है। इस छत्ते और नाल के द्वारा माता के रक्त के योजक द्रव्य शिशु के शरीर में आते जाते रहते हैं, जिससे शिशु के शरीर में रक्त संचार, श्वास प्रश्वास और पोषण की क्रिया का साधन होता है। यह नाल पिंडज जीवों ही में होता है इसी से वे जरायुज कहलाते हैं। मनुष्यों में बच्चा उत्पन्न होने पर यह नाल काटकर अलग कर दिया जाता है।

क्रि० प्र०—काटना।

मुहा०—क्या किसी का नाल काटा है ? = क्या किसी की दाई है। क्या किसी को जाननेवाली है। क्या किसी की बड़ी बूढ़ी है। जैसे, क्या तूने ही नाल काटा है ? (स्त्री०)। कहीं पर

नाल गड़ना = (१) कोई स्थान जन्मस्थान के समान प्रिय होना। किसी स्थान से बहुत प्रेम होना। किसी स्थान पर सदा बना रहना, जल्दी न हटना। (२) किसी स्थान पर अधिकार होना। दावा होना। जैसे, यहाँ क्या तेरा नाल गड़ा है?

नाल छीनना = नाल काटना।

(२) लिंग। (३) हरताल। (४) जल बहने का स्थान। (५) जल में होनेवाला एक पौधा। (६) एक प्रकार का बाँस जो हिमालय के पूर्वभाग, आसाम और बरमा आदि में होता है। टोली। फफोल।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) लोहे का वह अर्द्धचंद्राकार खंड जिसे घोड़ों की टाप के नीचे या जूतों की एड़ी के नीचे रगड़ से बचाने के लिये जड़ते हैं।

क्रि० प्र०—जड़ना।—बाँधना।

(२) तलवार आदि के म्यान की साम जो नोक पर मढ़ी होती है।

(३) कुंडलाकार गढ़ा हुआ पत्थर का भारी टुकड़ा जिसके बीचोबीच पकड़ कर उठाने के लिये एक दस्ता रहता है। इसे बलपरीक्षा या अभ्यास के लिये कसरत करनेवाले उठाते हैं।

क्रि० प्र०—उठाना।

(४) लकड़ी का वह चक्कर जिसे नीचे डालकर कूएँ की जोड़ाई की जाती है। (५) वह रुपया जिसे जुआरी जुए का अड्डा रखनेवाले को देता है। (६) जुए का अड्डा।

क्रि० प्र०—रखना।

नालकटाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाल + कटाई] (१) तुरत के जनमे हुए बच्चे की नाभि में लगे हुए नाल को काटने का काम। (२) नाल काटने की मजदूरी।

नालकी-संज्ञा स्त्री० [सं० नाल = डंडा] इधर उधर से खुली पालकी जिस पर एक मिहराबदार छाजन होती है। ब्याह में इस पर दूल्हा बैठकर जाता है। उ०—चढ़ि नालकी नरेश तहँ संयुत चारि कुमार। रंगमहल गवनत भए संग सचिव सरदार।

नालबंद-संज्ञा पुं० [अ० + फा०] जूते की एड़ी या घोड़े की टाप में नाल जड़नेवाला आदमी।

नालबंदी-संज्ञा स्त्री० [अ०] नाल जड़ने का कर्म।

नालबाँस-संज्ञा पुं० [सं० नल + हिं० बाँस] एक प्रकार का बाँस जो हिमालय के अंचल में जमुना के किनारे से लेकर पूरबी बंगाल और आसाम तक होता है। यह सीधा, मजबूत और कड़ा होने के कारण बहुत अच्छा समझा जाता है।

नालवंश-संज्ञा पुं० [सं०] नल। नरसल। नरकट।

नालशतीरी-संज्ञा पुं० [अ० नाल + फा० शहतीर] लकड़ी की एक प्रकार की मेहराब जिसमें कई छोटी मेहराबें कटी होती हैं।

नालशाक़-संज्ञा पुं० [सं०] सूरन की नाल जिसकी तरकारी बनाकर लोग खाते हैं।

नाला-संज्ञा पुं० [सं० नाल] [स्त्री० अल्प० ली] (१) पृथ्वी पर लकीर के रूप में दूर तक गया हुआ गड्ढा जिससे होकर बरसाती पानी किसी नदी आदि में जाता है। जलप्रणाली। (२) उक्त मार्ग से बहता हुआ जल। जल-प्रवाह।

क्रि० प्र०—बहना।

(३) रंगीन गंडेदार सूत। दे० "नाड़ा"।

नालायक़-वि० [फा० + अ०] अयोग्य। निकम्मा। मूर्ख।

नालिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल। (२) भैंसा। (३) एक अस्त्र का नाम जिसकी नली में कुछ भरकर चलाते थे।

नालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी नाल या डंठल। (२) नाली। (३) जुलाहों की नली जिसमें वे लपेटा हुआ सूत रखते हैं। (४) नालिता शाक। पटुआ साग। (५) एक प्रकार का गंध द्रव्य।

नालिकेर-संज्ञा पुं० [सं०] नारिकेल। नारियल।

नालिकेरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का शाक।

नालिजंघ-संज्ञा पुं० [सं०] द्रोण काक। डोम कौवा।

नालिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पटुवा जिसके कोमल पत्तों का साग होता है।

नालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाक के एक छेद अर्थात् नथने का तांत्रिक नाम।

नालिश-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) किसी के द्वारा पहुँचे हुए दुःख या हानि का ऐसे मनुष्य के निकट निवेदन जो उसका प्रतिकार कर सकता हो। किसी के विरुद्ध अभियोग। फरियाद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नालिश दागना = नालिश करना।

नाली-संज्ञा स्त्री० [हिं० नाला] (१) जल बहने का पतला मार्ग। लकीर के रूप में दूर तक गया हुआ पतला गड्ढा जिससे होकर पानी बहता हो। जल-प्रवाह-पथ (२) गलीज आदि बहने का मार्ग। मोरी। (३) वह गहरी लकीर जो तलवार के बीचोबीच पूरी लंबाई तक गई होती है। (४) डंड करने का गड्ढा जिसमें से होकर छाती निकल जाय।

मुहा०—नाली के डंड = वह डंड जो नाली में से बदन निकालकर किया जाय। नाली के डंड पेलना = स्त्रीसंभोग करना। (बाजारू)

(५) कुम्हार के आँवे का वह नीचे की ओर गया हुआ छेद जिससे आग डालते हैं। (६) घोड़े की पीठ का गड्ढा। (७) बैल आदि चौपायों को दवा पिलाने का चोंगा। ढरका।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नाड़ी। धमनी। रक्त आदि बहने की नली। (२) करेमू का साग जिसके डंठल नली की तरह

पोले होते हैं। (३) हाथियों की कनछेदनी। (४) घड़ी। घटीयंत्र। (५) कमल।

नालीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का छोटा बाण जो नली में रखकर चलाया जाता था। तुफंग। (२) पद्मसमूह।

नालीव्रण–संज्ञा पुं० [सं०] नासूर।

नालुक–संज्ञा पुं० [सं०] एक गंधद्रव्य।

वि० कृश। दुबला।

नालौट–वि० [हिं० लौटना ?] बात कहकर पलट जानेवाला। वादा करके हट जानेवाला। मुकर जानेवाला। इन्कार करनेवाला।

मुहा०—नालौट हो जाना = मुकर जाना। साफ इनकार कर जाना। बात से पलट जाना।

नावँ*†–संज्ञा पुं० दे० "नाम"।

नाव–संज्ञा स्त्री० [सं० नौका बहु०। फा०] लकड़ी लोहे आदि की बनी हुई जल के ऊपर तैरने या चलनेवाली सवारी। जलयान। नौका। किश्ती।

विशेष—नावें बहुत प्राचीन काल से बनती आई हैं। भारतवर्ष, मिस्र, चीन, इत्यादि देशों के निवासी व्यापार के लिये समुद्रयात्रा करते थे। ऋग्वेद में समुद्र में चलनेवाली नावों का उल्लेख है। प्राचीन हिंदू सुमात्रा, जावा, चीन आदि की ओर बराबर अपने जहाज लेकर जाते थे। ईसा से तीन सौ वर्ष पहले कलिंग देश से लगा हुआ ताम्रलिप्त नगर भारत के प्रसिद्ध बंदरगाहों में था। वहीं जहाज पर चढ़ सिंहल के राजा ने प्रसिद्ध बोधिद्रुम को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया था। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फाहियान बौद्ध ग्रंथों की नकल आदि लेकर ताम्रलिप्त ही से जहाज पर बैठ सिंहल गया था। पश्चिम में फिनीशिया के निवासियों ने बहुत पहले समुद्रयात्रा आरंभ की थी। टायर, कार्थेज आदि उनके स्थापित बड़े प्रसिद्ध बंदरगाह थे जहाँ ईसा से हजारों वर्ष पहले युरोप तथा उत्तरी अफ्रिका से व्यापार होता था। उनके पीछे यूनान और रोमवालों का जलयात्रा में नाम हुआ। पूर्वीय और पश्चिमी देशों के बीच का व्यापार बहुत दिनों तक अरबवालों के हाथ में भी रहा है।

भारतवर्ष में यान दो प्रकार के कहे जाते थे—स्थलयान और जलयान। जलयान को निष्पद यान भी कहते थे। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रंथ में नौका बनाने की युक्ति का वर्णन है। सबसे पहले लकड़ी का विचार किया गया है। काष्ठ की भी चार जातियाँ स्थिर की गई हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो लकड़ी हलकी मुलायम और गढ़ने योग्य हो उसे ब्राह्मण, जो कड़ी, हलकी और न गढ़ने योग्य हो उसे क्षत्रिय, जो मुलायम और भारी हो उसे वैश्य तथा जो कड़ी और भारी हो उसे शूद्र कहा है। इनमें तीन द्विजाति काष्ठ ही नौका के लिये अच्छे कहे गए हैं। सामान्य छोटी नाव दस प्रकार की कही गई हैं—क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, अभया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा और मंथरा। इसी प्रकार जहाज या बड़ी नाव भी दस प्रकार की बतलाई गई हैं—दीर्घिका, तरणि, लोला, गत्वरा, गामिनी, तरि, जंघला, प्लाविनी, धरणी और वेगिनी। जिन नावों पर समुद्रयात्रा होती थी उन्हें प्राचीन भारतवासी साधारण 'यानपात्र' कहते थे।

पर्या०—नौ। तरिका। तरणि। तरी। तरंडी। तरंड। पादालिंद। तरप्लवा। होड़। वार्वट। वहित्र। पोत। वहन।

क्रि० प्र०—खेना।—चलाना।

मुहा०—सूखे में नाव नहीं चलती = बिना कुछ खर्च किए नाम नहीं होता। उदारता के बिना प्रसिद्धि नहीं होती। नाव में धूल उड़ाना = (१) बिना सिर पैर की बात कहना। सरासर झूठ कहना। (२) झूठा अपराध लगाना। व्यर्थ कलंक लगाना।

नावक–संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक प्रकार का छोटा बाण। एक खास तरह का तीर। उ०—(क) नावक सर में लाय कै तिलक तरुनि इत नाकि। पावक झर सी झमकि कै गई झरोके झाँकि।—बिहारी। (ख) सतसैया के दोहरे जनु नावक के तीर। देखत में छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर। (२) मधुमक्खी का डंक।

संज्ञा पुं० [सं० नाविक] केवट। माझी। मल्लाह। उ०-पुनि गौतमघरनी जानत है नावक शबरी जान।—सूर।

नावघाट–संज्ञा पुं० [हिं०] नावों के ठहरने का घाट। नदी, झील आदि के किनारे का वह स्थान जहाँ नावें ठहरती हैं।

नावना†–क्रि० स० [सं० नामन] (१) झुकाना। नवाना। उ०—असुपतीक सिरमौर कहावइ। गजपतीक आँकुस गज नावइ।—जायसी। (२) डालना। फेंकना। गिराना। उ०—माखन तनक आपने कर लै तनक बदन मैं नावत।—सूर। (३) प्रविष्ट करना। घुसाना।

नावर*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाव] (१) नाव। नौका। उ०—को करि सकै सहाय बहै करिया बिनु नावर।—गिरिधर। (२) नाव की एक क्रीड़ा जिसमें उसे बीच में ले जाकर चक्कर देते हैं। उ०—बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं जग माहीं।—तुलसी

नावरा–संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण में होनेवाला एक पेड़ जिसकी लकड़ी बहुत साफ, चिकनी और मजबूत होती है। मेज कुरसी आदि सजावट के सामान इसके बहुत अच्छे बनते हैं।

नावरि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "नावर"।

नावाँ-संज्ञा पुं० [सं० नामन्] वह रकम जो किसी के नाम लिखी हो।

नावाकिफ-वि० [फा० + अ०] अनजान। अनभिज्ञ।

नाविक-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लाह। माझी। केवट।

नावेल-संज्ञा पुं० [अं०] उपन्यास।

नाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न रह जाना। लोप। ध्वंस। बरबादी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

विशेष-सांख्यवाले कारण में लय होने को ही नाश कहते हैं क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। कारण में लय हो जाने से सूक्ष्मता के कारण वस्तु का बोध नहीं होता। जब कोई कार्य कारण में इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूप में नहीं आ सकता तब आत्यंतिक नाश होता है। नैयायिक नाश को ध्वंसाभाव मानते हैं।

(२) गायब होना। अदर्शन। (३) पलायन।

नाशक-वि० [सं०] (१) नाश करनेवाला। ध्वंस करनेवाला। बरबाद करनेवाला। (२) मारनेवाला। वध करनेवाला। (३) दूर करनेवाला। न रहने देनेवाला। जैसे, रोग-नाशक।

नाशकारी-वि० [सं० नाशकारिन्] [स्त्री० नाशकारिणी] नाश करनेवाला।

नाशना*-क्रि० स० दे० "नासना"।

नाशपाती-संज्ञा स्त्री० [तु०] मझोले डील डौल का एक पेड़ जिसके फल मेवों में गिने जाते हैं। इसकी पत्तियाँ अमरूत की पत्तियों के इतनी बड़ी पर चिकनी और चमकीली होती हैं। फूल सफेद होते हैं पर फूलों के केसर हलके बैंगनी होते हैं। फल गोल और उनके गूदे की बनावट कुछ दानेदार होती है। बीज गूदे के भीतर बीचो बीच चार छोटे कोशों में रहते हैं। फल का विशेष अंश सफेद कड़ा गूदा ही होता है इससे इसके कटे हुए टुकड़े मिस्री के टुकड़ों के समान जान पड़ते हैं। काश्मीर में नाशपाती के पेड़ जंगली मिलते हैं। काश्मीर के अतिरिक्त हिमालय के किनारे सर्वत्र, दक्षिण में नीलगिरि बंगलौर आदि में तथा भारतवर्ष में थोड़े बहुत सब स्थानों में इसके पेड़ लगाए जाते हैं। कलम और पैवंद से भी इसके पेड़ लगते हैं जो डील डौल में छोटे होते हैं। काश्मीर की नाशपाती अच्छी होती है और नाख या नाक के नाम से प्रसिद्ध है। नाशपाती युरोप और अमेरिका के प्रायः उन सब स्थानों में होती है जहाँ सरदी अधिक नहीं पड़ती। युरोप में नाशपाती की लकड़ी पर नक्काशी होती है और उसके हलके सामान बनते हैं। आयुर्वेद में नाशपाती का नाम अमृत फल (इससे इसे कहीं कहीं अमरूद भी कहते हैं) है ? जो धातुवर्द्धक, मधुर, भारी, रोचक तथा अम्लवात नाशक माना गया है। सेव और नाशपाती एक ही जाति के पेड़ हैं।

नाशवान्-वि० [सं०] नाश को प्राप्त होनेवाला। नश्वर। अनित्य।

नाशित-वि० [सं०] जिसका नाश किया गया हो।

नाशी-वि० [सं० नाशिन्] [स्त्री० नाशिनी] (१) नाश करनेवाला। नाशक। (२) नष्ट होनेवाला। नश्वर।

नाशुक-वि० [सं०] नष्ट होनेवाला। नश्वर।

नाश्ता-संज्ञा पुं० [फा०] कलेवा। जलपान। प्रातःकाल का अल्पाहार। पनपियाव।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नाश्य-वि० [सं०] नाश के योग्य। ध्वंसनीय।

नाष्टिक-वि० [सं०] जिसकी वस्तु नष्ट हुई हो। (स्मृति)

नास-संज्ञा स्त्री० [सं० नासा] (१) वह द्रव्य जो नाक में डाला जाय। वह औषध जो नाक से सुरकी या सूँघी जाय।

क्रि० प्र०—लेना।

(२) सुँघनी।

नासदान-संज्ञा पुं० [हिं० नास + दान (सं० आधान)] सुँघनी की डिबिया।

नासत्य-संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनीकुमार।

नासत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्विनी नक्षत्र।

नासना*-क्रि० स० [सं० नाशन] (१) नष्ट करना। बरबाद करना। (२) मार डालना। वध करना।

नासपाल-संज्ञा पुं० [फा०] (१) कच्चे अनार का छिलका जो रंग निकालने के काम में आता है। (२) कच्चा अनार। (३) एक प्रकार की आतिशबाजी।

नासपाली-वि० [फा०] नासपाल के रंग का। कच्चे अनार के छिलके के रंग का।

नासमझ-वि० [हिं० ना + समझ] जिसे समझ न हो। जो समझदार न हो। जिसे बुद्धि न हो। निर्बुद्धि। बेवकूफ।

नासमझी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नासमझ] मूर्खता। बेवकूफी।

नासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] [वि० नास्य] (१) नासिका। नाक। (२) नासारंध्र। नाक का छेद। नथना। (३) द्वार के ऊपर लगी हुई लकड़ी। भरेटा। (४) अडूसा।

नासाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] नाक का अगला भाग। नाक की नोक।

नासाज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो नाक के भीतर प्याज की गाँठ की तरह का फोड़ा होने से होता है। इस ज्वर में सिर और रीढ़ में बड़ा दर्द होता है।

नासानाह-संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें वायु के

साथ कफ मिलकर नाक के छेद को बंद कर देता है। प्रतिनाह। प्रतीनाह।

नासापरिशोष–संज्ञा पुं० [सं०] नासाशोष रोग।

नासापाक–संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें नाक में बहुत सी फुन्सियाँ निकलने के कारण नाक पक जाती है।

नासापुट–संज्ञा पुं० [सं०] नाक का वह चमड़ा जो छेदों के किनारे परदे का काम देता है। नथना।

नासावेध–संज्ञा पुं० [सं०] नाक का वह छेद जिसमें नथ आदि पहनी जाती है।

नासायोनि–संज्ञा पुं० [सं०] वह नपुंसक जिसे घ्राण करने पर उद्दीपन हो। सौगंधिक नपुंसक।

नासारोग–संज्ञा पुं० [सं०] नाक में होनेवाले रोग जिनकी संख्या सुश्रुत के अनुसार ३१ और भावप्रकाश के मत से ३४ है।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार नाम—अपीनस्य (पीनस), पूतिनस्य, नासापाक, रक्तपित्त, पूयशोणित, क्षवथु, भ्रंशथु, दीप्ति, प्रतिनाह, परिस्राव, नासाशोष, ४प्रकार के अर्श, ४प्रकार के शोथ, ७प्रकार के अर्बुद और ५प्रकार के प्रतिश्याय। भावप्रकाश ने इसमें इतनी विशेषता की है कि एक रक्तपित्त के स्थान पर चार प्रकार के रक्तपित्त लिख दिए हैं।

नासालु— संज्ञा पुं० [सं०] कायफल।

नासावंश—संज्ञा पुं० [सं०] नाक के ऊपर बीचो बीच गई हुई पतली हड्डी। नाक का बाँसा।

नासाशोष–संज्ञा पुं० [सं०] नाक में कफ सूख जाने का रोग।

नासासंवेदन--संज्ञा पुं० [सं०] कांडबेल। चिटचिटा। चिचड़ी।

नासास्राव—संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें नाक से सफेद और पीला मवाद निकला करता है।

नासिक—संज्ञा. स्त्री० [सं० नासिक्य] महाराष्ट्र देश में एक तीर्थ जो उस स्थान के निकट है जहाँ से गोदावरी निकलती है। इसी के पास वह पंचवटी वन है जहाँ वनवास के समय रामचंद्र ने कुछ काल निवास किया था और लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान काटे थे।

नासिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नाक। नासा।

वि० श्रेष्ठ। प्रधान।

नासिक्य—वि० [सं०] नासिका से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) नासिका। (२) अश्विनीकुमार। (३) दक्षिण का एक देश। नासिक। (बृहत्संहिता)

नासी*—वि० दे० "नाशी"।

नासीर—संज्ञा पुं० [सं०] सेनानायक के आगे चलनेवाला दल जो जयनाद उच्चारण करता चलता था।

नासूर—संज्ञा पुं० [अ०] घाव, फोड़े आदि के भीतर दूर तक गया हुआ नली का सा छेद जिससे बराबर मवाद निकला करता है और जिसके कारण घाव जल्दी अच्छा नहीं होता। नाड़ीव्रण।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—नासूर डालना - नासूर पैदा करना। घाव करना। छाती में नासूर डालना = बहुत कुढ़ाना। बहुत तंग करना। नासूर भरना = नासूर का घाव अच्छा हो जाना।

नास्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो ईश्वर, परलोक, आदि को न माने। ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करनेवाला।

विशेष—जो हेतुशास्त्र अर्थात् तर्क का आश्रय लेकर वेद को अस्वीकार करे, उसका प्रमाण न माने, हिंदू शास्त्र में उसको भी नास्तिक कहा है। हिंदू शास्त्रकारों के अनुसार, चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीनों नास्तिक मत हैं। इन मतों में सृष्टि को उत्पन्न करने और चलानेवाला कोई नित्य और स्थिर चेतन नहीं माना गया है। नास्तिकों को बार्हस्पत्य, चार्वाक और लोकायतिक भी कहते हैं।

नास्तिकता— संज्ञा स्त्री० [सं०] नास्तिक होने का भाव। ईश्वर, परलोक आदि को न मानने की बुद्धि।

नास्तिक दर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] नास्तिकों का दर्शन। दे० "दर्शन"।

नास्तिक्य—संज्ञा पुं० [सं०] नास्तिकता। ईश्वर परलोक आदि में अविश्वास।

नास्तितद—संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

नास्तिद—संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

नास्तिवाद—संज्ञा पुं० [सं०] नास्तिकों का तर्क।

नास्य—वि० [सं०] (१) नासिका संबंधी। नाक का। (२) नासिका से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० बैल की नाक में लगी हुई रस्सी। नाथ।

नाह*—संज्ञा पुं० [सं० नाथ] (१) नाथ। स्वामी। मालिक। (२) स्त्री का पति।

संज्ञा पुं० [सं० नाभ] पहिये का छेद। नाभि।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। (२) हिरन फँसाने का फंदा।

नाहक—क्रि० वि० [फा० ना + अ० हक़] वृथा। व्यर्थ। बेफायदा। बेमतलब। निष्प्रयोजन।

नाहट†--वि० [देश०] बुरा। नटखट।

नाहनूह*--संज्ञा स्त्री० [हिं० नाहीं] नहीं नहीं शब्द। इनकार।

नाहर—संज्ञा पुं० [सं० नरहरि] (१) सिंह। शेर। (२) बाघ।

संज्ञा पुं० [?] टेसू का फूल।

नाहरसाँस—संज्ञा पुं० [हिं० नाहर + साँस] घोड़ों की एक बीमारी जिसमें उनका दम फूलता है।

नाहरू—संज्ञा पुं० [देश०] नारू नाम का रोग। नहरुवा।

संज्ञा पुं० दे० "नाहर"।

नाहिनै*—वाक्य [हिं० नाहीं] नहीं है।

नाहीं–अव्य० दे० “नहीं”।

नाहुष–संज्ञा पुं० [सं०] नहुष के पुत्र ययाति।

निंडिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मटर।

निंत*–क्रि० वि० दे० “नित्य”।

निंद*–वि० दे० “निंद्य”।

निंदक–संज्ञा पुं० [सं०] निंदा करनेवाला। दूसरों के दोष या बुराई कहनेवाला।

निंदन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निंदनीय, निंदित, निंद्य] निंदा करने का काम।

निंदना†*–क्रि० स० [सं० निंदन] निंदा करना। बदनाम करना। बुरा कहना। उ०--(क) पिता मंदमति निंदत तेही। दत्त शुक्र संभव यह देही।—तुलसी। (ख) हरि सब के मन यह उपजाई। सुरपति निंदत गिरिहिँ बड़ाई।--सूर।

निंदनीय–वि० [सं०] (१) निंदा करने योग्य। बुरा कहने योग्य। (२) बुरा। गर्ह्य।

निँदरना–क्रि० स० [सं० निंदा] निंदा करना। बदनाम करना। बुरा कहना।

निँदरिया‡*–संज्ञा स्त्री० [सं० निद्रा] नींद। निद्रा। उ०—मेरे लाल को आव निँदरिया काहे न आय सुआवै।—सूर।

निंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) (किसी व्यक्ति या वस्तु का) दोषकथन। बुराई का वर्णन। ऐसी बात का कहना जिससे किसी का दुर्गुण, दोष, तुच्छता इत्यादि प्रकट हो। अपवाद। जुगुप्सा। कुत्सा। बदगोई। (२) अपकीर्त्ति। बदनामी। कुख्याति। जैसे, ऐसी बात से लोक में निंदा होती है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

विशेष—यद्यपि निंदा दोष के कथन मात्र को कह सकते हैं चाहे कथन यथार्थ हो चाहे अयथार्थ पर मनुस्मृति में ऐसे दोष के कथन को निंदा कहा है जो यथार्थ में न हो। जो दोष वास्तव में हो उसके कथन को परीवाद कहा है। कुल्लूक ने अपनी व्याख्या में कहा है कि विद्यमान दोष के अभिधान को परीवाद और अविद्यमान दोष के अभिधान को निंदा कहते हैं।

निँदाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० निराई] (१) खेत के पौधों के पास की घास, तृण आदि को उखाड़कर वा काटकर अलग करने का काम। (२) निराने की मजदूरी।

निँदाना–क्रि० स० दे० “निराना”।

निँदासा–वि० [हिं० नींद + आसा (प्रत्य०)] जिसे नींद आ रही हो। उनींदा।

निंदास्तुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] निंदा के बहाने स्तुति। व्याजस्तुति।

निंदित–वि० [सं०] जो बुरा कहा गया हो। जिसे लोग बुरा कहते हों। दूषित। बुरा।

निँदिया‡–संज्ञा स्त्री० [हिं नींद] नींद। ऊँघ। जैसे, आव री निँदिया आव (बच्चों को सुलाने का वाक्य)। उ०—सोओ सुख निँदिया प्यारे ललन।—हरिश्चंद्र।

निंद्य–वि० [सं०] (१) निंदा करने योग्य। निंदनीय। (२) दूषित। बुरा।

निंब–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीम का पेड़।

यौ०–पंचनिंब। महानिंब।

निँबरिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नीम + वारी] वह बारी या कुंज जिसमें सब पेड़ नीम के ही हों।

निंबादित्य—संज्ञा पुं० [सं०] निंबार्क संप्रदाय के आदि आचार्य। इनका दूसरा नाम ‘अरुणि’ भी था। ये श्रीराधिकाजी के कंकण के अवतार माने जाते हैं।

विशेष—वृंदावन के पास ध्रुव नामक पहाड़ी पर ये रहते थे। वहीं पर इनके शिष्यों ने इनकी गद्दी स्थापित की। कहते हैं इनके पिता का नाम जगन्नाथ था। बाल्यावस्था में इनका नाम भास्कराचार्य था। बहुत से लोग इन्हें सूर्य के अंश से उत्पन्न कहते थे। ये कृष्ण के बड़े भारी भक्त थे। इनके नाम के कारण इनके संबंध में एक विलक्षण कथा भक्तमाल में लिखी है। एक संन्यासी वा जैन यति इनसे दिन भर शास्त्रार्थ करता रहा। सूर्यास्त हो रहा था इन्होंने उससे भोजन के लिये कहा। सूर्यास्त के उपरांत भोजन करने का नियम उसका नहीं था। इस पर निंबार्क ने सूर्य को रोक रखा। जब तक संन्यासी ने भोजन नहीं कर लिया तब तक सूर्य देवता एक नीम के पेड़ पर बैठे रहे।

निंबार्क–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निंबादित्य। (२) निंबादित्य का चलाया हुआ वैष्णव संप्रदाय।

निंबू‡–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीबू।

निः–अव्य० [सं० निस्] एक उपसर्ग। दे० “निस्”।

निःकपट–वि० दे० “निष्कपट”।

निःकाम–वि० दे० “निष्काम”।

निःकारण–वि० दे० “निष्कारण”।

निःकासन–संज्ञा पुं० दे० “निष्कासन”।

निःक्षत्र–वि० [सं०] क्षत्रिय रहित। क्षत्रिय शून्य (देश आदि)।

निःक्षोभ–वि० [सं०] क्षोभ-हीन। जिसको क्षोभ न हो।

निःछल–वि० दे० “निश्छल”।

निःपक्ष–वि० दे० “निष्पक्ष”।

निःपाप–वि० दे० “निष्पाप”।

निःप्रयोजन–वि० दे० “निष्प्रयोजन”।

निःफल–वि० दे० “निष्फल”।

निःशंक–वि० [सं०] (१) भयहीन। निडर। निर्भय। जिसे डर न हो। (२) जिसे किसी प्रकार का खटका या हिचक न हो।

निःशब्द–वि० [सं०] शब्द रहित। जहाँ शब्द न हो या जो शब्द न करे।

निःशलाक–वि० [सं०] निर्जन। एकांत। सुनसान। निराला। **विशेष**—मनु ने लिखा है कि मंत्रणा निःशलाक स्थान में करनी चाहिए।

निःशल्या–वि० [सं०] (१) शल्यारहित। (२) खटकनेवाली चीज से मुक्त। प्रतिबंधरहित। निष्कंटक।

निःशूक– संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान।

निःशेष–वि० [सं०] (१) जिसमें कुछ शेष न हो। जिसका कोई अंश रह न गया हो। समूचा। सब। (२) समाप्त। पूरा। खतम।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निःश्रयणी, निःश्रयिणी–संज्ञा स्त्री० दे० "निःश्रेणी"।

निःश्रेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] काठ या बाँस आदि की सीढ़ी।

निःश्रेयस–वि० [सं०] (१) मोक्ष। मुक्ति। (२) मंगल। कल्याण। (३) भक्ति। (४) विज्ञान।

निःश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणवायु का नाक से निकलना या नाक से निकाली हुई वायु। साँस।

निःसंधि–वि० [सं०] (१) संधिशून्य। जिसमें कहीं से छेद आदि न हो। (२) दृढ़। मजबूत।

निःसंकल्प–वि० [सं०] इच्छारहित।

निःसंकोच–क्रि० वि० [सं०] बिना संकोच के। बेधड़क। जैसे, आप निःसंकोच चले आइए।

निःसंग–वि० [सं०] (१) बिना मेल या लगाव का। जो मेल या लगाव न रखता हो। (२) निर्लिप्त। (३) जिसमें अपने मतलब का कुछ लगाव न हो।

निःसंतान–वि० [सं०] जिसके संतान न हो। निपूता या निपूती। लावल्द।

निःसंदेह–वि० [सं०] संदेह रहित। जिसे या जिसमें कुछ संदेह न हो। जैसे, किसी आदमी का निःसंदेह होना, किसी बात का निःसंदेह होना।

अव्य० (१) बिना किसी संदेह के। (२) इसमें कोई संदेह नहीं। ठीक है। बेशक।

निःसंधि–वि० [सं०] (१) जिसमें कहीं से दरार या छेद न हो। (२) दृढ़। मजबूत। (३) कसा हुआ। गठा हुआ।

निःसंपात–वि० [सं०] (१) गमनागमनशून्य। जहाँ या जिसमें आना जाना न हो। जहाँ या जिसमें आमदरफ़्त न हो। जैसे, निःसंपात मार्ग। (२) रात।

निःसंशय–वि० [सं०] संदेहरहित। शंकारहित।

निःसत्व–वि० [सं०] (१) जिसकी कुछ सत्ता न हो। जिसमें कुछ असलियत न हो। (२) जिसमें कुछ तत्त्व या सार न हो। बिना सत का।

निःसरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलना। (२) निकलने का रास्ता। निकास। (३) कठिनाई से निकलने का रास्ता। उपाय। (४) निर्वाण। (५) मरण।

निःसार–वि० [सं०] (१) जिसमें कुछ सार न हो। जिसमें कुछ तत्त्व न हो। (२) जिसमें कुछ असलियत न हो। (३) जिसमें प्रयोजन या महत्त्व की कोई बात न हो। संज्ञा पुं० (१) शाखोट वृक्ष। सहोरे का पेड़। (२) श्योनाक वृक्ष। सोनापाठा।

निःसारण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निःसारित] (१) निकालना। (२) निकास। निकलने का द्वार या मार्ग।

निःसारु–संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ भेदों में से एक।

निःसीम–वि० [सं०] (१) जिसकी सीमा न हो। बेहद। (२) बहुत बड़ा या बहुत अधिक।

निःसुकि–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का गेहूँ जिसके दाने छोटे होते हैं और जिसकी बाल में टूँड़ या सींगुर नहीं होते। (भावप्रकाश)

निःसृत–वि० [सं०] निकला हुआ।

निःस्नेहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तीसी। अलसी।

निःस्पंद–वि० [सं०] जिसमें स्पंद न होता हो। जो हिलता डोलता न हो। निश्चल। स्थिर।

निःस्पृह–वि० [सं०] (१) इच्छा रहित। जिसे किसी बात की आकांक्षा न हो। (२) जिसे प्राप्ति की इच्छा न हो। निर्लोभ।

निःस्रव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकास। (२) अवशेष। बचत। निकासी। (याज्ञवल्क्य०)

निःस्व–संज्ञा पुं० [सं०] जिसका अपना कुछ न हो। जिसके पास कुछ न हो। धनहीन। दरिद्र।

निःस्वार्थ–वि० [सं०] (१) जो अपना अर्थ साधन करनेवाला न हो। जो अपना मतलब निकालनेवाला न हो। जो अपने लाभ, सुख या सुभीते का ध्यान न रखता हो। (२) (कोई बात) जो अपने अर्थ-साधन के निमित्त न हो। जो अपना मतलब निकालने के लिये न हो। जैसे, निःस्वार्थ सेवा।

नि–अव्य० [सं०] एक उपसर्ग जिसके लगने से शब्दों में इन अर्थों की विशेषता होती है—(१) संघ वा समूह, जैसे, निकर; (२) अधोभाव, जैसे, निपतित; (३) भृश, अत्यंत, जैसे, निगृहीत; (४) आदेश, जैसे, निदेश; (५) नित्य; (६) कौशल; (७) बंधन; (८) अंतर्भाव; (९) समीप; (१०) दर्शन; (११) उपरम; (१२) आश्रय। उ०—निर्विशिष्ट, निपुण, निबंध, निपीत, निकट, निदर्शन, निवृत्त, निलय। मेदिनी कोश में ये अर्थ और बतलाए गए हैं—(१३) संशय; (१४) क्षेप; (१५) दान; (१६) मोक्ष; (१७) विन्यास; (१८) निषेध।

संज्ञा पुं० निषाद स्वर का संकेत ।

निअर†*–अव्य० [सं० निकट, प्रा० निअड] निकट । पास । समीप ।

वि० समान । तुल्य ।

निअराना†*–क्रि० स० [हिं० निअर] निकट जाना । समीप पहुँचना । उ०—जाइ नगर निअरानि बरात बजावत ।—तुलसी ।

क्रि० अ० निकट आना । पास होना । दूर न रह जाना । उ०—आगे चले बहुरि रघुराया । ऋष्यमूक पर्वत नियराया । —तुलसी ।

निआउ‡*–संज्ञा पुं० दे० "न्याय" ।

निआन*–संज्ञा पुं० [सं० निदान] अंत । परिणाम ।

अव्य० अंत में । आखिर ।

निआमत–संज्ञा स्त्री० [अ०] अच्छा और बहुमूल्य पदार्थ । अलभ्य पदार्थ ।

निआरा†–वि० दे० "न्यारा" ।

निकंटक*–वि० दे० "निष्कंटक" ।

निकंदन–संज्ञा पुं० [सं० नि + कंदन = नाश, वध] नाश । विनाश ।

निकंद रोग–संज्ञा पुं० [सं०] एक योनिरोग । दे० "योनिकंद" ।

निकट–वि० [सं०] (१) पास का । समीप का । जो दूर न हो । (२) संबंध में जिससे विशेष अंतर न हो । जैसे, निकट संबंधी ।

क्रि० वि० पास । समीप । नजदीक ।

मुहा०—किसी के निकट = (१) किसी के प्रति । किसी से । जैसे, किसी के निकट कुछ माँगना । (२) किसी के लेखे में । किसी की समझ में । जैसे, तुम्हारे निकट तो यह काम कुछ भी नहीं है ।

निकटता–संज्ञा स्त्री० [सं०] समीपता । सामीप्य ।

निकटपना–संज्ञा पुं० [सं० निकट + पना (प्रत्य०)] निकटता । सामीप्य ।

निकटवर्ती–वि० [सं० निकटवर्त्तिन्] [स्त्री० निकटवर्त्तिनी] पासवाला । समीपस्थ । नजदीक का ।

निकटस्थ–वि० [सं०] (१) जो निकट हो । पास का । (२) संबंध में जिससे बहुत अंतर न हो । जैसे, निकटस्थ । संबंधी ।

निकती–संज्ञा स्त्री० [सं० निष्क + मिति] छोटा तराजू । काँटा ।

निकम्मा–वि० [सं० निष्कर्म्म, प्रा० निकम्म] [स्त्री० निकम्मी] (१) जो कोई काम धंधा न करे । जिससे कुछ करते धरते न बने । जैसे, निकम्मा आदमी । (२) जो किसी काम का न हो । जो किसी काम में न आ सके । बेमसरफ । बुरा । जैसे, निकम्मी चीज ।

निकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । झुंड । (२) राशि । ढेर । (३) न्याय देय धन । (४) निधि ।

निकरना†*–क्रि० अ० दे० "निकलना" ।

निकर्मा–वि० [सं० निष्कर्मा] जो काम न करे । आलसी । जो कुछ उद्योग धंधा न करे ।

निकलंक–वि० [सं० निष्कलंक] दोषरहित । निर्दोष । बेदाग । उ०—बुरो बुराई जो तजै तो मन खरो सकात । ज्यौं निकलंक मयंक लखि गनै लोक उतपात ।—बिहारी ।

निकलंकी–संज्ञा पुं [सं० निष्कलंक] विष्णु का दसवाँ अवतार जो कलि के अंत में होगा । कल्कि अवतार । उ०—द्वादश ये युग लक्षण गायो । निकलंकी अवतार बतायो । —रघुनाथ ।

निकल–संज्ञा स्त्री० [अं०] एक धातु जो सुरमे, कोयले, गंधक, संखिया आदि के साथ मिली हुई खानों में मिलती है । साफ होने पर यह चाँदी की तरह चमकती है । यह बहुत कड़ी होती है और जल्दी गलती नहीं तथा लोहे की तरह चुंबक शक्ति को ग्रहण करती है । सन् १७५१ में एक जरमन ने इसका पता लगाया । इसका साफ करना बहुत कठिन काम है । ताँबे के साथ मिलाने से यह विलायती चाँदी के रूप में हो जाती है । अलुमीनम के साथ इसे मिला देने से इसमें अधिक कड़ापन आ जाता है । यह धातु कंधार, राजपूताना, तथा सिंहल द्वीप में थोड़ी बहुत मिलती है । कम मिलने के कारण इसका मूल्य कुछ अधिक होता है, इससे छोटे सिक्के बनाने के काम में यह लाई जाने लगी है ।

निकलना–क्रि० अ० [हिं० निकालना] (१) बाहर होना । भीतर से बाहर आना । निर्गत होना । जैसे, घर से निकलना, संदूक से निकलना, अंकुर निकलना, आँसू निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।—चलना ।—जाना ।—पड़ना । —भागना ।

मुहा०—निकल जाना = (१) चला जाना । आगे बढ़ जाना । जैसे, अब तो वे बहुत दूर निकल गए होंगे । (२) न रह जाना । खो जाना । नष्ट हो जाना । ले लिया जाना । जैसे, हाथ से चीज, काम या अवसर निकल जाना । (३) घट जाना । कम हो जाना । जैसे, पाँच में से तीन निकल गए, दो बचे । (४) न पकड़ा जाना । भाग जाना । जैसे, चोर निकल गया । (स्त्री का) निकल जाना = किसी पुरुष के साथ अनुचित संबंध करके घर छोड़कर चला जाना ।

(२) व्याप्त या ओत प्रोत वस्तु का अलग होना । मिली हुई, लगी हुई या पैवस्त चीज का अलग होना । जैसे, बीज से तेल निकलना, पत्ती से रस निकलना, फल का छिलका निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

(३) पार होना । एक ओर से दूसरी ओर चला जाना । अतिक्रमण करना । जैसे, इस छेद में से गेंद नहीं निकलेगा ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

मुहा०—**निकल चलना** = वित्त से बाहर काम करना । इतराना । अति करना ।

(४) किसी श्रेणी आदि के पार होना । उत्तीर्ण होना । जैसे, इस बार परीक्षा में तुम निकल जाओगे ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(५) गमन करना । जाना । गुजरना । जैसे, (क) वह रोज इसी रास्ते से निकलता है । (ख) बरात बड़ी धूम से निकली ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(६) उदय होना । जैसे, चंद्रमा निकलना, सूर्य निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।

(७) प्रादुर्भूत होना । उत्पन्न होना । पैदा होना । जैसे, इतने चिउँटे कहाँ से निकल पड़े । (८) उपस्थित होना । दिखाई पड़ना । (९) किसी ओर को बढ़ा हुआ होना । जैसे, (क) घर का एक कोना पच्छिम ओर निकला हुआ है । (ख) कील की नोक नहीं निकली है ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

(१०) निश्चित होना । ठहराया जाना । उद्भावित होना । जैसे, रास्ता निकलना, दोष निकलना, परिणाम निकलना, उपाय निकलना ।

संयो० क्रि०—आना । पड़ना ।

(११) खुलना । स्पष्ट होना । प्रकट होना । जैसे, वाक्य का अर्थ निकलना, धोने पर कपड़े का रंग निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।

(१२) मेल में से अलग होना । पृथक् होना । जैसे, गेहूँ में से बहुत कंकड़ी निकली हैं ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

(१३) छिड़ना । आरंभ होना । जैसे, बात निकलना, चर्चा निकलना । (१४) प्राप्त होना । सिद्ध होना । सरना । जैसे, काम निकलना, मतलब निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

(१५) हल होना । किसी प्रश्न या समस्या का ठीक उत्तर प्राप्त होना । जैसे, इतना सीधा सवाल तुमसे नहीं निकलता ? (१६) लगातार दूर तक जानेवाली किसी वस्तु का आरंभ होना । जैसे, यह नदी कहाँ से निकली है । (१७) लकीर के रूप में दूर तक जानेवाली वस्तु का विधान होना । फैलाव होना । जारी होना । जैसे, नहर निकलना, सड़क निकलना । (१८) प्रचलित होना । जारी होना । जैसे, कानून निकलना, कायदा निकलना, रीति निकलना, चाल निकलना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(१९) फँसा, बँधा या जुड़ा न रहना । छूटना । मुक्त होना । अलग होना । जैसे, गले से फंदा निकलना, बंधन से निकलना, बटन निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

(२०) नई बात का प्रकट होना । आविष्कृत होना । ईजाद होना । जैसे, कोई नई युक्ति निकलना, कल निकलना । (२१) शरीर के ऊपर उत्पन्न होना । जैसे, फोड़े फुंसी निकलना, चेचक निकलना ।

संयो० क्रि०—आना ।

(२२) प्रमाणित होना । सिद्ध होना । साबित होना । जैसे, (क) वह नौकर तो चोर निकला । (ख) उनकी कही हुई बात ठीक निकली । (२३) लगाव न रखना । किनारे हो जाना । अलग हो जाना । जैसे, दूसरों को इस काम में फँसाकर तुम तो निकल जाओगे ।

संयो० क्रि०—जाना ।—भागना ।

(२४) अपने को बचा जाना । बच जाना । जैसे, कोई आधी बात कहकर निकल तो जाय ।

संयो० क्रि०—जाना ।—भागना ।

(२५) अपनी कही हुई बात से अपना संबंध न बताना । कहकर नहीं करना । मुकरना । नटना । जैसे, बात कहकर अब निकले जाते हो ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२६) खपना । बिकना । जैसे, जितनी पुस्तकें छपाई थीं सब निकल गईं ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२७) प्रस्तुत होकर सर्वसाधारण के सामने आना । प्रकाशित होना । जैसे, उस प्रेस से अच्छी पुस्तकें निकली हैं ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२८) हिसाब किताब होने पर कोई रकम जिम्मे ठहरना । चाहता होना । जैसे, तुम्हारा जो कुछ निकलता हो हमसे लो । (२९) फटकर अलग होना । उचड़ना । जैसे, कुरता मोढ़े पर से निकल गया ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३०) प्राप्त होना । पाया जाना । मिलना । जैसे, (क) हमारा रुपया किसी प्रकार निकल आता तो बड़ी बात होती । (ख) उसके पास चोरी का माल निकला है ।

संयो० क्रि०—आना ।

(३१) जाता रहना । दूर होना । हट जाना । मिट जाना । न रह जाना । जैसे, (क) दवा लगाते ही सब पीड़ा निकल गई । (ख) एक चाँटा देंगे तुम्हारी सब बदमाशी निकल जायगी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३२) व्यतीत होना । बीतना । गुजरना । जैसे, इसी झंझट में सारा दिन निकल गया ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३३) घोड़े बैल आदि का सवारी लेकर चलना आदि सीखना । शिक्षित होना । जैसे, यह घोड़ा अभी निकला नहीं है ।

निकलवाना-क्रि० स० [हिं० निकालना का प्रे०] निकालने का काम दूसरे से कराना।

निकलाना†-क्रि० स० दे० "निकलवाना" ।

निकष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कसौटी । (२) कसौटी पर चढ़ाने का काम । (३) हथियारों पर सान चढ़ाने का पत्थर ।

निकषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कसौटी पर चढ़ाने का काम । (२) सान पर चढ़ाने का काम । (३) घिसने वा रगड़ने का काम ।

निकषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुमालि की कन्या और विश्रवा की पत्नी एक राक्षसी जिसके गर्भ से रावण,कुंभकर्ण,शूर्पणखा और विभीषण उत्पन्न हुए थे ।

निकसना†-क्रि० अ० दे० "निकलना" ।

निकाई*-संज्ञा पुं० दे० "निकाय" ।

संज्ञा स्त्री० [फा० नेक] (१) भलाई । अच्छापन । उम्दगी । (२) खूबसूरती । सौंदर्य । सुंदरता । उ०—गज मनि-माल बीच भ्राजत, कहि जाति न पदक निकाई ।—तुलसी ।

निकाज-वि० [हिं० नि + काज] बेकाम निकम्मा ।

निकाना-क्रि० स० दे० "निराना" ।

निकाम-वि० [हिं० नि + काम] (१) निकम्मा । (२) बुरा । खराब ।

क्रि० वि० व्यर्थ । निष्प्रयोजन । फजूल ।

वि० [सं०] (१) इष्ट । अभिलषित । (२) यथेष्ट । पर्याप्त । काफी । (३) बहुत । अतिशय ।

निकाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । झुंड । (२) एक ही मेल की वस्तुओं का ढेर । राशि । (३) निलय । वासस्थान । घर । (४) परमात्मा ।

निकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराभव । हार । (२) अपकार । (३) अपमान । अवमानना । मानहानि । (४) तिरस्कार ।

संज्ञा पुं० [हिं० निकारना] (१) निकालने का काम । निष्कासन । (२) निकलने का द्वार । निकास । (३) ईख का रस पकाने का कड़ाहा ।

निकारण-संज्ञा पुं० [सं०] मारण । वध ।

निकारना†*-क्रि० स० दे० "निकालना" ।

निकाल-संज्ञा पुं० [हिं० निकालना] (१) निकास । (२) पेंच का काट । वह युक्ति जिससे कुश्ती में प्रतिपक्षी की घात से बच जायँ । तोड़ । (३) कुश्ती का एक पेंच जिसमें अपना दहना हाथ जोड़ की बाईं ओर से उसकी गरदन पर पहुँचाकर अपने बाएँ हाथ से उसके दहने हाथ को ऊपर उठाते हैं और फिर फुरती के साथ उसके दहने भाग पर झुककर अपनी छाती उसकी दहनी पसलियों से भिड़ाते तथा अपना बायाँ हाथ उसकी दहनी जाँघ में बाहर की ओर से डालकर उसे चित कर देते हैं ।

निकालना-क्रि० स [सं० निष्कासन, हिं० निकासना] (१) बाहर करना । भीतर से बाहर लाना । निर्गत करना । जैसे, घर से निकालना, बरतन में से निकालना । चुभा हुआ काँटा निकालना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।—ले जाना ।

मुहा०—(स्त्री को) निकाल लाना या ले जाना = स्त्री से अनुचित संबंध करके उसे उसके घर से अपने यहाँ लाना या लेकर कहीं चला जाना ।

(२) व्याप्त या ओतप्रोत वस्तु को पृथक् करना । मिली हुई, लगी हुई, या पैवस्त चीज को अलग करना । जैसे, बीज से तेल निकालना, पत्ती से रस निकालना, फल से छिलका निकालना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।—लेना ।

(३) पार करना । एक ओर से दूसरी ओर ले जाना या बढ़ाना । अतिक्रमण कराना । जैसे, दीवार के छेद में से इसे उस पार निकाल दो ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।—ले जाना ।

(४) गमन कराना । ले जाना । गुजर कराना । जैसे,(क) वे बारात इसी सड़क से निकालेंगे । (ख) हम उसे इसी ओर से निकाल ले जायँगे ।

संयो० क्रि०—ले चलना ।—ले जाना ।

(५) किसी ओर को बढ़ा हुआ करना । जैसे, चबूतरे का एक कोना उधर निकाल दो ।

संयो० क्रि०—देना ।

(६) निश्चित करना । ठहराना । उद्भावित करना । जैसे, उपाय निकालना, रास्ता निकालना, दोष निकालना, परिणाम निकालना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(७) प्रादुर्भूत करना । उपस्थित करना । मौजूद करना । (८) खोलना । व्यक्त करना । स्पष्ट करना । प्रकट करना । जैसे, वाक्य का अर्थ निकालना । (९) छेड़ना । आरंभ करना । चलाना । जैसे, बात निकालना, चर्चा निकालना । (१०) सबके सामने लाना । देख में करना । जैसे, अभी

मत निकालो, लड़के देखेंगे तो रोने लगेंगे। (११) मेल या मिले जुले समूह में से अलग करना। पृथक् करना। जैसे, (क) इनमें से जो आम सड़े हों उन्हें निकाल दो। (ख) इनमें से जो तुम्हारे काम की चीजें हों उन्हें निकाल लो।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(१२) घटाना। कम करना। जैसे, पाँच में से तीन निकाल दो।

संयो० क्रि०—देना।—डालना।

(१३) फँसा, बँधा, जुड़ा या लगा न रहने देना। अलग करना। छुड़ाना। मुक्त करना। जैसे, गले से फंदा निकालना, कोट से बटन निकालना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(१४) काम से अलग करना। नौकरी से छुड़ाना। बरखास्त करना। जैसे, इस नौकर को निकाल दो।

संयो० क्रि०—देना।

(१५) पास न रखना। दूर करना। हटाना। जैसे, इस घोड़े को अब हम निकाल देंगे।

संयो० क्रि०—देना।

(१६) बेंचना। खपाना। जैसे, माल निकालना।

संयो० क्रि०—देना।

(१७) सिद्ध करना। फलीभूत करना। प्राप्त करना। जैसे, अपना काम निकालने में वह बड़ा पक्का है।

संयो० क्रि०—लेना।

(१८) निर्वाह करना। चलाना। जैसे, किसी प्रकार काम निकालने के लिये यह अच्छा है।

संयो० क्रि०—लेना।

(१९) किसी प्रश्न या समस्या का ठीक उत्तर निश्चित करना। हल करना। जैसे, यह सवाल तुम नहीं निकाल सकते। (२०) लकीर की तरह दूर तक जानेवाली वस्तु का विधान करना। जारी करना। फैलाना। जैसे, नहर निकालना, सड़क निकालना।

संयो० क्रि०—देना।

(२१) प्रचलित करना। जारी करना। जैसे, कानून निकालना, कायदा निकालना, रीति निकालना। (२२) नई बात प्रकट करना। आविष्कृत करना। ईजाद करना। जैसे, नई तरकीब निकालना, कल निकालना। (२३) संकट, कठिनाई आदि से छुटकारा करना। बचाव करना। निस्तार करना। उद्धार करना। जैसे, इस संकट से हमें निकालो। (२४) प्रस्तुत करके सर्वसाधारण के सामने लाना। प्रचारित करना। प्रकाशित करना। जैसे, (क) उस प्रकाशक ने अच्छी पुस्तकें निकाली हैं। (ख) अखबार निकालना। (२५) रकम जिम्मे ठहराना। ऊपर ऋण या देना निश्चित करना। जैसे, उसने सौ रुपये हमारे जिम्मे निकाले हैं। (२६) प्राप्त करना। ढूँढ़कर पाना। बरामद करना। जैसे, पुलिस ने उसके यहाँ चोरी का माल निकाला है। (२७) दूसरे के यहाँ से अपनी वस्तु ले लेना। जैसे, बंक से रुपया निकालना।

संयो० क्रि०—लेना।

(२८) दूर करना। हटाना। न रहने देना। जैसे, (क) यह दवा सब दर्द निकाल देगी। (ख) तुम्हारी सब बदमाशी निकाल देंगे।

संयो० क्रि०—देना।

(२९) घोड़े बैल आदि को सवारी लेकर चलना या गाड़ी आदि खींचना सिखाना। शिक्षा देना। जैसे, (क) यह सवार घोड़ा निकालता है। (ख) यह घोड़ा अभी गाड़ी में नहीं निकाला गया है। (३०) सुई से बेल बूटे बनाना।

निकाला–संज्ञा पुं० [हिं० निकालना] (१) निकालने का काम। (२) किसी स्थान से निकाले जाने का दंड। बहिष्कार। निष्कासन।

क्रि० प्र०—मिलना।—होना।

यौ०—देश-निकाला। नगर-निकाला।

निकास–संज्ञा पुं० [हिं० निकसना, निकासना] (१) निकलने की क्रिया या भाव। (२) निकालने की क्रिया या भाव। (३) वह स्थान जिससे होकर कुछ निकले। निकलने के लिये खुला स्थान या छेद। जैसे, बरसाती पानी का निकास। (४) द्वार। दरवाजा। जैसे, घर का निकास दक्खिन ओर मत रखो। (५) बाहर का खुला स्थान। मैदान। उ०—(क) खेलत बनै घोष निकास।—सूर। (ख) खेलन चले कुँवर कन्हाई। कहत घोष निकास जइए तहाँ खेलैं धाइ।—सूर। (६) दूर तक जाने या फैलनेवाली चीज का आरंभस्थान। उद्गम। मूलस्थान। जैसे, नदी का निकास। (७) वंश का मूल। (८) संकट या कठिनाई से निकलने की युक्ति। बचाव का रास्ता। रक्षा का उपाय। छुटकारे की तदबीर। जैसे, अब तो इस मामले में फँस गए हो, कोई निकास सोचो।

क्रि० प्र०—निकालना।

(९) निर्वाह का ढंग। ढर्रा। वसीला। सिलसिला। जैसे, इस समय तो तुम्हारे लिये कोई काम नहीं है, खैर कोई निकास निकालेंगे। (१०) लाभ या आय का सूत्र। प्राप्ति का ढंग। आमदनी का रास्ता। (११) आय। आमदनी। निकासी।

निकासना†–क्रि० स० दे० "निकालना"।

निकासपत्र–संज्ञा पुं० [हिं० निकास + पत्र] वह कागज जिसमें जमाखर्च और बचत का हिसाब समझाया गया हो।

निकासी–संज्ञा स्त्री० [हिं० निकास] (१) निकलने की क्रिया या

भाव। किसी स्थान से बाहर जाने का काम। प्रस्थान। रवानगी। जैसे, बरात की निकासी। (२) वह धन जो सरकारी मालगुजारी आदि देकर जमीदार को बचे। मुनाफा। (३) प्राप्ति। आय। आमदनी। लाभ। जैसे, जहाँ चार पैसे की निकासी होती है वहीं सब जाना चाहते हैं। (४) बिक्री के लिये माल की रवानगी। लदाई। भरती। (५) बिक्री। खपत। (६) चुंगी। (७) रवन्ना।

निकाह-संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानी पद्धति के अनुसार किया हुआ विवाह।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—निकाह पढ़ाना = विवाह करना।

निकियाई†-संज्ञा स्त्री० [हिं० निकियाना] निकियाने की मजदूरी। जैसे, दमड़ी की मुरगी, नौ टका निकियाई।

निकियाना-क्रि० स [देश०] (१) नोचकर धज्जी धज्जी अलग करना। (२) चमड़े पर से पंख या बाल नोचकर अलग करना।

निकिष्ट*‡-वि० दे० "निकृष्ट"।

निकुंचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक परिमाण वा तोल जो आधी अंजली के बराबर और किसी किसी के मत से ८ तोले के बराबर होती है। कुड़व का चतुर्थांश। (२) जलबेंत। अंबुवेतस।

निकुंचित-वि० [सं०] संकुचित।

निकुंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लता-गृह। ऐसा स्थान जो घने वृक्षों और घनी लताओं से घिरा हो। (२) लताओं से आच्छादित मंडप।

निकुंजिकाम्ला-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंज के वृक्ष का एक भेद। कुंचिका। कुंजिका।

निकुंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंभकर्ण का एक पुत्र जिसे हनुमान् ने मारा था। यह रावण का मंत्री था। (२) प्रह्लाद के एक पुत्र का नाम। (३) शतपुर का एक असुर-राजा जो कृष्ण के हाथों मारा गया। इसने कृष्ण के मित्र ब्रह्मदत्त की कन्याओं का हरण किया था। (४) हर्यश्व राजा का पुत्र (हरिवंश)। (५) एक विश्वदेव। (६) कौरव सेनापतियों में से एक राजा। (७) कुमार का एक गण। (८) महादेव का एक गण। (९) दंती वृक्ष। (१०) जमालगोटा।

निकुंभाख्यबीज-संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।

निकुंभिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लंका के पच्छिम एक गुफा। (२) उस गुफा की देवी जिसके सामने यज्ञ और पूजन करके मेघनाद युद्ध की यात्रा करता था।

निकुंभी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दंती वृक्ष। (२) कुंभकर्ण की कन्या।

निकुही-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया।

निकूल-संज्ञा पुं० [सं०] वह देवता जिसके उद्देश्य से नरमेध यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ में छठे यूप में पशु-हनन होता था। (शुक्ल यजुर्वेद)

निकृंतन-संज्ञा पुं० [सं०] छेदन। खंडन।

निकृत-वि० [सं०] (१) निकाला हुआ। बहिष्कृत। (२) बदनाम। लांछित। (३) तिरस्कृत। (४) नीच। शठ। (५) वंचित। जो ठगा गया हो।

निकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तिरस्कार। भर्त्सना। (२) अपकार। (३) दैन्य। (४) शठता। नीचता। (५) पृथिवी। (६) साध्या से उत्पन्न धर्मपुत्र, एक वस्तु।

निकृती-वि० [सं० निकृतिन्] नीच। शठ। दुष्ट।

निकृत्त-वि० [सं०] मूल से छिन्न। जड़ से कटा हुआ। खंडित।

निकृष्ट-वि० [सं०] बुरा। अधम। नीच। तुच्छ।

निकृष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुराई। अधमता। नीचता। मंदता।

निकृष्टत्व-संज्ञा पुं० [सं०] बुराई। नीचता। मंदता।

निकेत-संज्ञा पुं० [सं०] घर। मकान। स्थान। जगह।

निकेतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासस्थान। घर। मकान। (२) पलांडु। प्याज।

निकोचक-संज्ञा पुं० [सं०] अंकोल वृक्ष। ढेरा।

निकोचन-संज्ञा पुं० [सं०] संकुचन।

निकोठक-संज्ञा पुं० [सं०] ढेरा। अंकोल।

निकोश्य-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपशु के पेट की एक नाड़ी।

निकोसना†-क्रि० स० [सं० निस् + कोश] (१) दाँत निकालना। (२) दाँत पीसना। कटकटाना। किचकिचाना।

निकौनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० निकाना] (१) निराई। निराने का काम। (२) निराने की मजदूरी।

निक्का†-वि० [सं० न्यक्क = नत, नीचा] [स्त्री० निक्की] छोटा। नन्हा। (पंजाबी)

निक्रीड़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौतुक। क्रीड़ा। तमाशा। (२) सामभेद।

निक्वण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वीणाध्वनि। बीन की झनकार। (२) किन्नरों का शब्द।

निक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] चुंबन।

निक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जूँ का अंडा। लीख।

निक्षिप्त-वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। चाला हुआ। (२) डाला हुआ। छोड़ा हुआ। त्यक्त। (३) किसी के यहाँ उसके विश्वास पर छोड़ा हुआ (द्रव्य संपत्ति आदि)। धरोहर रखा हुआ। अमानत रखा हुआ।

निक्षुभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मणी। (२) सूर्य्य की एक पत्नी। (भविष्य पुराण)

निक्षेप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकने वा डालने की क्रिया वा भाव। (२) चलाने की क्रिया या भाव। (३) छोड़ने की क्रिया या भाव। त्याग। (४) पोंछने की क्रिया या भाव। (५) धरोहर। अमानत। थाती। किसी के विश्वास पर उसके यहाँ कोई वस्तु छोड़ने या रखने का कार्य अथवा इस प्रकार छोड़ी या रखी हुई वस्तु।

निक्षेपण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निाक्षिप्त, निक्षेप्य] (१) फेंकना। डालना। (२) छोड़ना। चलाना। (३) त्यागना।

निक्षेपी–वि० [सं० निक्षेपिन्] (१) फेंकनेवाला। छोड़नेवाला। (२) धरोहर रखनेवाला।

निक्षेप्ता–संज्ञा पुं० [सं० निक्षेप्तृ] (१) फेंकनेवाला। छोड़नेवाला। (२) धरोहर रखनेवाला।

निक्षेप्य–वि० [सं०] फेंकने योग्य। छोड़ने योग्य।

निखंग*–संज्ञा पुं० दे० "निषंग"।

निखंगी–वि० दे० "निषंगी"।

निखंड–वि० [सं० निस् + खंड] मध्य। न थोड़ा इधर न उधर। सटीक। ठीक। जैसे, निखंड आधी रात, निखंड बेला।

निखट्टर†–वि० [हिं० नि + कट्टर = कड़ा] (१) कड़े दिल का। कठोर चित्त का। (२) निष्ठुर। निर्दय।

निखट्टू–वि० [हिं० उप० नि = नहीं + खटाना = टिकना, ठहरना] (१) अपनी कुचाल के कारण कहीं न टिकनेवाला। जिसका कहीं ठिकाना न लगे। इधर उधर मारा मारा फिरनेवाला। (२) जमकर कोई काम धंधा न करनेवाला। जिससे कोई काम काज न हो सके। निकम्मा। आलसी।

निखनन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खनना। खोदना। (२) मृत्तिका। मिट्टी। (३) गाड़ना।

निखरना–क्रि० अ० [सं० निक्षरण = छँटना] (१) मैल छँटकर साफ होना। निर्मल और स्वच्छ होना। धुलकर झक होना। (२) रंगत का खुलता होना।

संयो० क्रि०—आना।—जाना।

निखरवाना–क्रि० स० [हिं० निखारना] साफ कराना। धुलवाना।

निखरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० निखरना] पक्की। घी की पकी हुई रसोई। घृतपक्व। सखरी का उलटा।

विशेष—खान-पान के आचार में घी दूध आदि के साथ पकाया हुआ अन्न (जैसे खीर पूरी) उच्च वर्णों के लोग बहुत से लोगों के हाथ का खा सकते हैं, पर केवल पानी के संयोग से आग पर पकाई चीजें (जैसे रोटी, दाल आदि) बहुत कम लोगों के हाथ की खा सकते हैं।

निखर्व–वि० [सं०] दस हजार करोड़। दस सहस्र कोटि। संज्ञा पुं० दस हजार करोड़ की संख्या।
वि० [सं०] बहुत मोटे डील का। वामन। बौना। नाटा।

निखवख–वि० [सं० न्यक्ष = सारा, सब] बिलकुल। सब। और कुछ नहीं। उ०—तेहि अर्थ लगायो पोति बहायो निखवख रामै राम लिख्यो।—विश्राम।

निखाद–संज्ञा पुं० दे० "निषाद"।

निखार–संज्ञा पुं० [हिं० निखरना] (१) निर्मलपन। स्वच्छता। सफाई। (२) सजाव। शृंगार।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निखारना–क्रि० स [हिं० निखरना] (१) स्वच्छ करना। साफ करना। माँजना। (२) पवित्र करना। पापरहित करना।

निखारा–संज्ञा पुं० [हिं० निखारना] शक्कर बनाने का कड़ाह जिसमें डालकर रस उबाला जाता है।

निखालिस‡–वि० [हिं० नि + अ० खालिस] विशुद्ध। जिसमें और किसी चीज का मेल न हो।

निखिल-वि० [सं०] संपूर्ण। सब। सारा।

निखेध*–सं० पुं० दे० "निषेध"।

निखेधना*–[सं० निषेध] निषेध करना। मना करना। वारण करना।

निखोट–वि० [हिं० उप० नि + खोट] (१) जिसमें कोई खोटाई या दोष न हो। निर्दोष। उ०—नाम ओट लेत ही निखोट होत खोटे खल ओट बिनु मोट पाइ भयो ना निहाल को?—तुलसी। (२) साफ। जिसमें कुछ लगाव फँसाव न हो। स्पष्ट खुला हुआ। जैसे, निखोट बात।
क्रि० वि० बिना संकोच के। बेधड़क। खुल्लमखुल्ला। खुलकर। उ०—(क) कियो सूर प्रणाम निखोट अली चख चंचल अंचल सों ढँपि कै।—कमलापति। (ख) चढ़ी अटारी वाम वह कियो प्रणाम निखोट। तरनि किरन ते दृगन की कर-सरोज करि ओट।—मतिराम।

निखोड़ा†–वि० [देश०] [स्त्री० निखोड़ी] कठोर चित्त का। निर्दय।

निखोरना†–क्रि० स [हिं० उप० नि + खोदना] नाखून से नोचना। उचाड़ना।

निगंद–संज्ञा पुं० [सं० निर्गंध ?] एक बूटी जो दवा के काम में आती है और रक्तशोधक समझी जाती है।

विशेष—इसके संबंध में यह प्रवाद है कि साँप जब केंचली से भर जाने के कारण व्याकुल हो जाता है तब इसे चाट लेता है जिससे केचली उतर जाती है।

निगंदना–क्रि० स० [फा० निगंदः = बखिया, सीवन] रजाई, दुलाई आदि रुई भरे कपड़ों में तागा डालना।

निगंध*–वि० [सं० निर्गंध] गंधहीन। जिसमें कोई गंध न हो।

निगड़–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथी के पैर बाँधने की जंजीर।

आँदू। उ०— लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ चौंकि चितवनि चरखीन चमकोरे हैं।......लोचन अचल ये मतंग मतवारे हैं।—देव। (२) बेड़ी।

निगद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाषण। कथन। (२) ऊँचे स्वर से किया हुआ जप।

निगदित–वि० [सं०] कथित। कहा हुआ।

निगम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्ग। पथ। (२) वेद। (३) वणिकपथ। बनियों की फेरी का स्थान। हाट। बाजार। (४) मेला। (५) माल का आना जाना। व्यापार। (६) निश्चय। (७) कायस्थों का एक भेद।

निगमन–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में अनुमान के पाँच अवयवों में से एक। हेतु, उदाहरण और उपनय के उपरांत प्रतिज्ञा को सिद्ध सूचित करने के लिये उसका फिर से कथन। साबित की जानेवाली बात साबित हो गई यह जताने के लिये दलील वगैरह के पीछे उस बात को फिर कहना। नतीजा। जैसे, "यहाँ पर आग है" (प्रतिज्ञा)। "क्योंकि यहाँ पर धूआँ है" (हेतु)। "जहाँ धूआँ रहता है वहाँ आग रहती है; जैसे, रसोईघर में" (उदाहरण)। "यहाँ पर धूआँ है" (उपनय)। इसलिए "यहाँ पर आग है" (निगमन)।

विशेष—प्रशस्तपाद के भाष्य में 'निगमन' को प्रत्याम्नाय भी कहा है।

निगमनिवासी–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। नारायण।

निगमबोध—संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वीराजरासो के अनुसार दिल्ली के पास जमुना नदी के किनारे एक पवित्र स्थान।

विशेष—रासो में लिखा है कि दानवराज धुंधु शाप छुड़ाने के लिये विमान पर चढ़कर काशी जा रहे थे। रास्ते में उन्हें प्यास लगी और वे योगिनीपुर (दिल्ली) जल पीने के लिये उतरे जहाँ उन्हें एक ऋषि मिले। ऋषि ने उन्हें जमुना के किनारे निगमबोध नाम की गुफा में नारायण की तपस्या करने के लिये कहा। दानवराज तपस्या करने लगे। एक दिन पांडुवंशीय(?)राजा अनंगपाल की कन्या सखियों सहित स्नान करने के लिये ज़मुना के किनारे आई और पानी बरसने के कारण उस गुफा में उसने आश्रय लिया। तपस्वी को देख उसने उसे स्तुति से प्रसन्न किया और यह वर माँगा कि "हम लोग वीरपत्नी हों और सदा एक साथ रहें।" दानवराज ने अनंगपाल की कन्या को वर दिया कि तुम्हारा एक पुत्र बड़ा प्रतापी होगा और दूसरा पुत्र बड़ा भारी वक्ता होगा। इसके उपरांत दानवराज ने काशी जाकर अपना शरीर १०८ खंडों में काटकर गंगा में डाल दिया। उसके जिह्वांश से एक प्रसिद्ध भाट और २० खंडों से २० क्षत्रिय वीर अजमेर में उत्पन्न हुए। इन बीस क्षत्रियों में सोमेश्वर प्रधान थे जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए।

निगमागम–संज्ञा पुं० [सं०] वेद शास्त्र।

निगर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजन। (२) एक धरण की तौल में ५५ मोती चढ़ें तो उन मोतियों के समूह का नाम निगर है।

वि० [सं० निकर] सब। सारे। उ०–निगर नगारे नगर के बाजे एकहि बार।—केशव।

संज्ञा पुं० दे० "निकर"।

निगरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भक्षण। निगलना। (२) गला। (३) होमधेनु।

निगराँ–संज्ञा पुं० [फा०] (१) निगरानी रखनेवाला। (२) निरीक्षक। (३) रक्षक।

निगरा–वि० [हिं० उप० नि = नहीं + सं० गरण = गीला वा पनीला करना] (ईख का रस) जो जल मिलाकर पतला न किया गया हो। जिसमें जल न मिलाया गया हो। खालिस। जैसे, निगरा रस।

निगराना†–क्रि० स० [सं० नय + करण] (१) निर्णय करना। निबटाना। (२) छाँटकर अलग अलग करना। पृथक् करना। (३) स्पष्ट करना।

क्रि० अ० (१) अलग होना। (२) स्पष्ट करना।

निगरानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] देख रेख। निरीक्षण।

क्रि० प्र०–करना।—रखना।—में रहना।

निगरु*–वि० [सं० नि + गुरु] हलका। जो भारी वा वजनी न हो। उ०—निगरु देखो भए गिरिगण जलधि में ज्यौं पान।—केशव।

निगलना–क्रि० स० [सं० निगरण, निगलन] (१) लील जाना। गले के नीचे उतार देना। घोंट जाना। गटक जाना। (२) खा जाना। (३) रुपया या धन पचा जाना। दूसरे का धन या कोई वस्तु मार बैठना।

संयो० क्रि०—जाना।

निगह—संज्ञा स्त्री० [फा०] निगाह। दृष्टि। नजर।

यौ०—निगहबान।

निगहबान–संज्ञा पुं० [फा०] रक्षक।

निगहबानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] रक्षा। देखरेख। रखवाली। चैाकसी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निगाद—वि० [सं० निगादिन्] कथन। भाषण।

निगादी–वि० [सं० निगादिन्] वक्ता।

निगार–संज्ञा पुं० [सं०] भक्षण।

संज्ञा पुं० [फा०] (१) चित्र। बेलबूटा। नक्काशी।

यौ०–नक्श-निगार।

(२) एक फारसी राग। (मुकाम)

निगाल–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का पहाड़ी बाँस जो

हिमालय में पैदा होता है। इसे रिँगाल भी कहते हैं। (२) घोड़े की गरदन।

निगालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में जगण, रगण और लघु गुरु होते हैं। इसे 'प्रमाणिका' और 'नागस्वरूपिणी' भी कहते हैं। जैसे, प्रभात भो, सुहात भो। हली छली, जगे बली। तिहीं घरी, उठे हरी। न देरहू, कछू करी।

निगाली–संज्ञा स्त्री० [हिं० निगाल] (१) निगाल। बाँस की बनी हुई नली। (२) हुक्के की नली जिसे मुँह में रखकर धूआँ खींचते हैं।

निगाह–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दृष्टि। नजर।

क्रि० प्र०–करना।—होना।

(२) देखने की क्रिया या ढंग। चितवन। तकाई।

मुहा०—दे० 'दृष्टि', 'नजर', 'आँख'।

(३) कृपादृष्टि। मेहरबानी।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

(४) ध्यान। विचार। समझ। (५) परख। पहचान।

क्रि० प्र०—होना।

निगिभ*–वि० [सं० निगुह्य] अत्यंत गोपनीय। जिसका बहुत लोभ हो। बहुत प्यारी। उ०—निगिभ वस्तु जो होय तिहारी। सोइ सवति मम होय सुधारी।—रघुराज।

निगुंफ–संज्ञा पुं० [सं०] समूह। गुच्छा।

निगुण*–वि० दे० "निर्गुण"।

निगुनी*–वि० [हिं० उप० नि + गुनी] जो गुणी न हो। गुण रहित। उ०—गुनी गुनी सब कोइ कहत निगुनी गुनी न होत। सुन्यो कहूँ तरु अर्थ ते अर्क समान उदोत।—बिहारी।

निगुरा-वि० [हिं० उप० नि + गुरु] जिसने गुरु न किया हो। जिसने गुरु.से मंत्र न लिया हो। अदीक्षित।

निगूढ़–वि० [सं०] अत्यंत गुप्त। उ०—माया विवश भए मुनि मूढ़ा। समुझि नहीं हरि गिरा निगूढ़ा।—तुलसी।

संज्ञा पुं० वनमुग्द। मोठ।

निगूढ़ार्थ–वि० [सं०] जिसका अर्थ छिपा हो।

विशेष—न्यायसभा में उपस्थित दोनों पक्षवालों के जो उत्तर उत्तराभास (जो उत्तर ठीक न हो) कहे गए हैं उनमें निगूढ़ार्थ भी है। जैसे यदि प्रतिपक्षी से पूछा जाय कि क्या सौ रुपए तुम्हारे ऊपर आते हैं और वह उत्तर दे कि 'क्या मेरे ऊपर इसके रुपए आते हैं'। इस उत्तर से यह ध्वनि निकलती है कि दूसरे किसी के ऊपर आते हैं।

निगूहन–संज्ञा पुं० [सं०] गोपन। छिपाव।

निगृहीत–वि० [सं०] (१) धरा हुआ। पकड़ा हुआ। घेरा। हुआ। (२) आंक्रामित। आक्रांत। जिस पर आक्रमण किया गया हो। (३) पीड़ित। (४) दंडित।

निगेटिव–संज्ञा पुं० [अं०] वह प्लेट जिस पर फोटो लिया जाता और जिस पर प्रकाश और छाया की छाप उलटी पड़ती है, अर्थात् जहाँ खुलता और सफेद होना चाहिए वहाँ काला और गहरा होता है और जहाँ गहरा और काला होना चाहिए वहाँ खुलता और सफेद होता है। कागज पर (पाजिटिव) सीधा छाप लेने से फिर पदार्थों का चित्र यथातथ्य उतर आता है।

निगोड़ा–वि० [हिं० निगुरा] [स्त्री० निगोड़ी] (१) जिसके ऊपर कोई बड़ा न हो। (२) जिसके आगे पीछे कोई न हो। जिसके प्राणी न हों। अभागा।

यौ०—**निगोड़ा नाठा** = जिसके आगे पीछे कोई न हो। बिना प्राणी का। लावारिस।

(३) दुष्ट। बुरा। नीच। कमीना। (गाली स्त्रि०)।

निग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक। अवरोध। (२) दमन। (३) चिकित्सा। रोकने का उपाय। (४) दंड। (५) पीड़न। सताना। (६) बंधन। (७) भर्त्सना। डाँट। फटकार। (८) सीमा। हद। (९) विष्णु। (१०) शिव।

निग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकने का कार्य। थामने का कार्य। (२) दंड देने का कार्य।

निग्रहना*-क्रि० स० [सं० निग्रहण] (१) पकड़ना। थामना। उ०—कंस केश निग्रहों भूमि को भार उतारों।—सूर। (२) रोकना। (३) दंड देना।

निग्रहस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] वाद विवाद वा शास्त्रार्थ में वह अवसर जहाँ दो शास्त्रार्थ करनेवालों में से कोई उलटी पुलटी या नासमझी की बात कहने लगे और उसे चुप करके शास्त्रार्थ बंद कर देना पड़े। यह पराजय का स्थान है।

विशेष—न्याय में जहाँ विप्रतिपत्ति (उलटा पुलटा ज्ञान) या अप्रतिपत्ति (अज्ञान) किसी ओर से हो वहाँ निग्रहस्थान होता है। जैसे, वादी कहे—आग गरम नहीं होती। प्रतिवादी कहे कि स्पर्श द्वारा गरम होना प्रमाणित होता है, इस पर वादी यदि बगल झाँकने लगे और कहे कि मैं यह नहीं कहता कि आग गरम नहीं होती इत्यादि तो उसे चुप कर देना चाहिए या मूर्ख कहकर निकाल देना चाहिए। निग्रहस्थान २२ कहे गए हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अर्थांतर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत और हेत्वाभास।

(१) प्रतिज्ञाहानि वहाँ होती है जहाँ कोई प्रतिदृष्टांत के धर्म को अपने दृष्टांत में मानकर अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ता है—जैसे,

एक कहता है—शब्द अनित्य है।

क्योंकि वह इंद्रियविषय है
जो कुछ इंद्रियविषय हो वह घट की तरह अनित्य है
शब्द इंद्रियविषय है
अतः शब्द अनित्य है ।

दूसरा कहता है—जाति (जैसे घटत्व) इंद्रियविषय होने पर भी नित्य है इसी प्रकार शब्द भी क्यों नहीं ।

इस पर पहला कहता है—जो कुछ इंद्रियविषय हो वह घट की तरह नित्य है । उसके इस कथन से प्रतिज्ञा की हानि हुई ।

(२) प्रतिज्ञांतर वहाँ होता है जहाँ प्रतिज्ञा का विरोध होने पर कोई अपने दृष्टांत और प्रतिदृष्टांत में विकल्प से एक और नए धर्म का आरोप करता है ।

एक आदमी कहता है—शब्द अनित्य है ।
क्योंकि वह घट के समान इंद्रियों का विषय है ।
दूसरा कहता है—शब्द नित्य है ।
क्योंकि वह जाति के समान इंद्रियविषय है ।

इस पर पहला कहता है कि पात्र और जाति दोनों इंद्रियविषय हैं। पर जाति सर्वगत है और घट सर्वगत नहीं। अतः शब्द सर्वगत न होने से घट के समान अनित्य है। यहाँ शब्द अनित्य है यह पहली प्रतिज्ञा थी; शब्द सर्वगत नहीं यह दूसरी प्रतिज्ञा हुई । एक प्रतिज्ञा की साधक दूसरी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृष्टांत होते हैं।

(३) जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध हो वहाँ प्रतिज्ञाविरोध होता है । जैसे, किसी ने कहा—द्रव्य गुण से भिन्न है (प्रतिज्ञा), क्योंकि उसकी उपलब्धि रूपादिक से भिन्न नहीं होती। यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है क्योंकि यदि द्रव्य गुण से भिन्न है तो वह रूप से भी भिन्न हुआ ।

(४) जहाँ पक्ष का निषेध होने पर माना हुआ अर्थ छोड़ दिया जाय वहाँ प्रतिज्ञासंन्यास होता है । जैसे किसी ने कहा "इंद्रियविषय होने से शब्द अनित्य है।" दूसरा कहता है जाति इंद्रिय-विषय है पर अनित्य नहीं, इसी प्रकार शब्द भी समझिए। इस प्रकार पक्ष के निषेध होने पर यदि पहला कहने लगे कि कौन कहता है कि 'शब्द अनित्य है' तो उसका यह कथन प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान के अंतर्गत हुआ ।

(५) जहाँ अविशेष रूप से कहे हुए हेतु के निषेध होने पर उसमें विशेषत्व दिखाने की चेष्टा की जाती है वहाँ हेत्वंतर नाम का निग्रहस्थान होता है । जैसे किसी ने कहा—'शब्द अनित्य है' क्योंकि वह इंद्रियविषय है । दूसरा कहता है कि इंद्रियविषय होने से ही शब्द अनित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि जाति (जैसे घटत्व) भी तो इंद्रियविषय है पर वह अनित्य नहीं । इस पर पहला कहता है कि इंद्रियविषय होना जो हेतु मैंने दिया है उसे इस प्रकार का इंद्रिय-विषय समझना चाहिए जो जाति के अंतर्गत लाया जा सकता हो। जैसे, 'शब्द' जाति के अंतर्गत लाया जा सकता है (जैसे, शब्दत्व) पर जाति (जैसे घटत्व) फिर जाति के अंतर्गत नहीं लाई जा सकती । हेतु का यह टालना हेत्वंतर कहलाता है ।

(६) जहाँ प्रकृत विषय या अर्थ से संबंध रखनेवाला विषय उपस्थित किया जाता है वहाँ अर्थांतर होता है; जैसे, कोई कहे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह अस्पृश्य है । विरोध होने पर यदि वह इधर उधर की फजूल बातें बकने लगे जैसे हेतु शब्द 'हिं' धातु से बना है इत्यादि तो उसे अर्थांतर नामक निग्रहस्थान में आया हुआ समझना चाहिए ।

(७) जहाँ वर्णों की बिना अर्थ की योजना की जाय वहाँ निरर्थक होता है। जैसे कोई कहे क ख ग नित्य है ज ब ग ड से ।

(८) जब पक्ष का विरोध होने पर अपने बचाव के लिये कोई ऐसे शब्दों का प्रयोग करने लगे जो अर्थप्रसिद्ध न होने के कारण जल्दी समझ में न आवें अथवा बहुत जल्दी जल्दी और अस्पष्ट स्वर में बोलने लगे तब अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान होता है ।

(९) जहाँ अनेक पदों या वाक्यों का पूर्व पर क्रम से अन्वय न हो, पद और वाक्य असंबद्ध हों, वहाँ अपार्थक होता है ।

(१०) प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयव क्रम से न कहे जायँ, आगे पीछे उलट पुलटकर कहे जायँ वहाँ अप्राप्तकाल होता है ।

(११) प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों में से जहाँ कथन में कोई अवयव कम हो वहाँ न्यून नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१२) हेतु और उदाहरण जहाँ आवश्यकता से अधिक हो जायँ वहाँ अधिक नामक निग्रहस्थान होता है क्योंकि जब एक हेतु और उदाहरण से अर्थ सिद्ध हो गया तब दूसरा हेतु और उदाहरण व्यर्थ है । पर यह बात पहले से नियम के मान लेने पर है ।

(१३) जहाँ व्यर्थ पुनःकथन हो वहाँ पुनरुक्त होता है ।

(१४) चुप रह जाने को अननुभाषण कहते हैं। जहाँ वादी अपना अर्थ साफ साफ तीन बार कहे और प्रतिवादी सुन और समझकर भी कोई उत्तर न दे वहाँ अननुभाषण नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१५) जिस बात को सभासद समझ गए हों उसी को तीन बार समझाने पर भी यदि प्रतिवादी न समझे तो अज्ञान नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१६) जहाँ पर पक्ष का खंडन अर्थात् उत्तर न बने वहाँ अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान होता है ।

(१७) जहाँ प्रतिवादी इस प्रकार टालटूल कर दे कि 'मुझे इस समय काम है, फिर कहूँगा' वहाँ विक्षेप होता है ।

(१८) जहां प्रतिवादी के दिए हुए दोष को अपने पक्ष में अंगीकार करके वादी बिना उस दोष का उद्धार किए प्रतिवादी से कहे कि 'तुम्हारे कथन में भी तो यह दोष है' वहां मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान होता है।

(१९) जहां निग्रहस्थान में प्राप्त हो जानेवाले का निग्रह न किया जाय वहां पर्य्यनुयोज्योपेक्षण होता है।

(२०) जो निग्रहस्थान में न प्राप्त होनेवाले को निग्रहस्थान में प्राप्त कहे उसे निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान में गया समझना चाहिए।

(२१) जहां कोई एक सिद्धांत को मानकर विवाद के समय उसके विरुद्ध कहता है वहां अपसिद्धांत नामक निग्रहस्थान होता है।

(२२) दे० "हेत्वाभास"।

निग्रही–वि० [सं० निग्रहिन्] (१) रोकनेवाला । दबानेवाला। (२) दमन करनेवाला। दंड देनेवाला।

निग्राह–संज्ञा पुं० [सं०] आक्रोश। शाप।

निग्रोध–संज्ञा पुं० [सं० न्यग्रोध] राजा अशोक के एक भतीजे का नाम।

निघंटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद। गुलंच।

निघंटु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैदिक शब्दों का संग्रह। वैदिक कोश।

विशेष—यास्क ने निघंटु की जो व्याख्या लिखी है वह निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह निघंटु अत्यंत प्राचीन है क्योंकि यास्क के पहले भी शाकपूर्णि और स्थौलष्ठीवी नामक इसके दो व्याख्याकार या निरुक्तकार हो चुके थे। महाभारत में कश्यप को निघंटु का कर्त्ता लिखा है।

(२) शब्द-संग्रह मात्र । जैसे, वैद्यक का निघंटु।

निघटना*–क्रि० अ० दे० "घटना"। उ०—संदेसन क्यों निघटत दिन राति।—सूर।

निघरघट– वि० [हिं० नि = नहीं + घरघाट] (१) जिसका कहीं घर घाट न हो। जिसे कहीं ठिकाना न हो। जो घूम फिरकर फिर वहीं आवे जहां से दुतकारा या हटाया जाय। (२) निर्लज्ज। बेहया।

मुहा०—निघरघट देना = लज्जित किए जाने पर झूठी बातें बनाना कि मैं यहाँ था, वहाँ था। बेहयाई से झूठी सफाई देना। उ०—दुरे न निघरघटौ दिए ये रावरी कुचाल। विष सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल।—बिहारी।

निघरा–वि० [हिं० नि + घर] जिसके घर बार न हो। निगोड़ा (गाली)। उ०—मेरी भई यह आनि दशा निघरे विधि तोहि अरे यह पीर न।—गुमान।

निघर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] घर्षण। घिसना। रगड़ना।

निघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आहनन। प्रहार। (२) अनुदात्त स्वर।

निघाति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लौह-दंड। (२) वह लोहे के खंड जिस पर हथौड़े आदि का आघात पड़े। निहाई।

निघाती–वि० [सं० निघातिन्] [स्त्री० निघातिनी] (१) मारनेवाला। प्रहार करनेवाला। (२) वध करनेवाला।

निघ्न–वि० [सं०] (१) अधीन। आयत्त। वशीभूत। (२) निर्भर। अवलंबित। (३) गुणित। गुणा किया हुआ।

संज्ञा पुं० (१) सूर्य्यवंशीय राजा अनरण्य का पुत्र। (हरिवंश)। (२) एक राजा जो अनमित्र का पुत्र था। (हरिवंश)।

निचंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

निचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिनापुर के एक राजा जो असीमकृष्ण के पुत्र थे। हस्तिनापुर को जब गंगा बहा ले गई तब इन्होंने कौशांबी में राजधानी बसाई।

निचमन–संज्ञा पुं० [सं०] थोड़ा थोड़ा पीना।

निचय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। (२) निश्चय। (३) संचय।

निचल*–वि० दे० "निश्चल"।

निचला–वि० [हिं० नीचे + ला (प्रत्य०)] [स्त्री० निचली] नीचे का। नीचेवाला। जैसे, निचला भाग।

वि० [सं० निश्चल] (१) अचल। जो हिलता डोलता न हो। (२) स्थिर। शांत। जो चंचल न हो। अचपल।

क्रि० प्र०—रहना।—होना।

मुहा०—निचला बैठना = (१) स्थिर होकर बैठना। शांत भाव से बैठना। चंचलता न करना। (२) शिष्टतापूर्वक बैठना।

निचाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० नीच] (१) नीचा होने का भाव। नीचापन। जैसे, ऊँचाई निचाई। (२) नीचे की ओर दूरी या विस्तार। (३) नीच होने का भाव। नीचता। ओछापन। कमीनापन। उ०—(क) भले भलाई पै लहहिं लहहिं निचाई नीच।—तुलसी। (ख) नीच निचाई नहिं तजैं जो पावैं सतसंग।

निचान–संज्ञा स्त्री० [हिं० नीचा] (१) नीचापन। (२) ढाल। ढालुवाँपन। ढुलान।

निचिंत–वि० [सं० निश्चिंत] चिंतारहित। बेफिक्र। सुचित।

निचि–संज्ञा पुं० [सं०] कानों के सहित गाय का सिर।

निचिकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अच्छी गाय।

निचित–वि० [सं०] (१) संचित। इकट्ठा। (२) पूरित। व्याप्त। (३) तैयार। निर्मित। (४) संकीर्ण।

निचिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम। (महाभारत)

निचुड़ना–क्रि० अ० [सं० उप० नि + च्यवन = चूना] (१) रस से भरी या गीली चीज का इस प्रकार दबना कि रस या पानी टपककर निकल जाय। दबकर पानी या रस छोड़ना। गरना। जैसे, धोती निचुड़ना, नीबू निचुड़ना।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) भरे या समाए हुए जल आदि का दाब पाकर अलग होना या टपकना। छूटकर चूना। गरना। जैसे, गीली धोती का पानी निचुड़ना, नीबू का रस निचुड़ना। उ०—कहे देत रँग रात को रँग निचुरत से नैन।—बिहारी।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) रस या सार हीन होना। (४) शरीर का रस या सार निकल जाने से दुबला होना। तेज और शक्ति से रहित होना।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

निचुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत। (२) हिज्जल वृक्ष। ईंजड़ का पेड़।

निचै*-संज्ञा पुं० दे० "**निचय**"।

निचोड़-संज्ञा पुं० [हिं० निचोड़ना] (१) वह वस्तु जो निचोड़ने से निकले। निचोड़ने से निकला हुआ जल रस आदि। (२) सार वस्तु। सार। सत। (३) कथन का सारांश। मुख्य तात्पर्य। खुलासा। जैसे, सब बातों का निचोड़।

निचोड़ना-क्रि० स० [हिं० निचुड़ना] (१) गीली या रसभरी वस्तु को दबाकर या ऐंठकर उसका पानी या रस टपकाना। दबाकर पानी या रस निकालना। गारना। जैसे, गीली धोती निचोड़ना, नीबू निचोड़ना, धोती का पानी निचोड़ना, नीबू का रस निचोड़ना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(२) किसी वस्तु का सार भाग निकाल लेना। (३) सब कुछ ले लेना। सर्वस्व हरण कर लेना। निर्धन कर देना। जैसे, उनके पास अब कुछ नहीं रह गया लोगों ने उन्हें निचोड़ लिया।

संयो० क्रि०—लेना।

निचोना*†-क्रि० स० [सं० नि + च्यवन] निचोड़ना। उ०—(क) तृपावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो।—तुलसी। (ख) मुसुकानि भरी बलि बोलनि तें श्रुति माँहि पियूष निचोती रही।—द्विजदेव।

निचोर*†-संज्ञा पुं० दे० "**निचोड़**"।

निचोरना*†-क्रि० स० दे० "**निचोड़ना**"।

निचोल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन वस्त्र। ऊपर से शरीर ढाँकने का कपड़ा। (२) स्त्रियों की ओढ़नी। घूँघट का कपड़ा। (३) उत्तरीय वस्त्र। (४) घाघरा। लहँगा। (५) वस्त्र। कपड़ा।

निचोलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोल। कंचुक। अंगा। (२) सन्नाह। बक्तर।

निचोवना*†-क्रि० स० दे० "**निचोना**"।

निचौहाँ-वि० [हिं० नीचा + हिं० औहाँ (प्रत्य०) (सं० आवाह)] [स्त्री० निचौहीं] नीचे की ओर किया हुआ या झुका हुआ। नमित। उ०—(क) सखिन मध्य करि दीठि निचौहीं राधा सकुच मरी।—सूर। (ख) बिछुरे जिये सकोच यह मुख ते कहत न बैन। दोऊ दौरि लगे हिये किये निचौहैं नैन।—बिहारी।

निचौहैं-क्रि० वि० [हिं० निचौहाँ] नीचे की ओर।

निच्छवि-संज्ञा स्त्री० [सं०] तीरभुक्ति देश। तिरहुत।

निच्छवि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के व्रात्य क्षत्रिय। सवर्णा स्त्री से उत्पन्न व्रात्य क्षत्रिय की संतान। (मनु०)

निछक्का-संज्ञा पुं० [सं० निस् + चक्र = मंडली] वह समय वा स्थान जिसमें कोई दूसरा न हो। निराला। एकांत। निर्जन।

मुहा०—निछक्के में = एकांत में।

निछत्र-वि० [सं० निश्छत्र] (१) जिसके सिर पर छत्र न हो। छत्रहीन। बिना छत्र का। (२) बिना राजचिह्न का। बिना राज्य का।

वि० [सं० निःक्षत्र] क्षत्रियों से हीन। बिना क्षत्रिय का। क्षत्रियों से रहित। उ०—मारयो मुनि बिनही अपराधहिं कामधेनु लै आऊ। इकइस बार निछत्र तब कीन्हीं तहाँ न देखे हाऊ।—सूर।

निछनयाँ‡-क्रि० वि० दे० "**निछान**"। उ०—यशुमति दौरि लये हरि कनियाँ। आजु गयो मेरो गाय चरावन हौं बलि गई निछनियाँ।—सूर।

निछल*-वि० [सं० निश्छल] कपटरहित। छलहीन।

निछला†-वि० [?] बिना मिलावट का। बिलकुल। एकमात्र।

निछान†-वि० [हिं० उप० नि = नहीं + छान = जो छानने से निकले] (१) खालिस। विशुद्ध। जिसमें मेल न हो। बिना मिलावट का। (२) बिलकुल। निछला। निखवख। एक मात्र। केवल।

क्रि० वि० एकदम। बिलकुल।

निछावर-संज्ञा स्त्री० [सं० न्यास + अवर्त्त = न्यासावर्त्त मि० अ० निसार] (१) एक उपचार या टोटका जिसमें किसी की रक्षा के लिये कुछ द्रव्य या कोई वस्तु उसके सिर या सारे अंगों के ऊपर से घुमाकर दान कर देते या डाल देते हैं। उत्सर्ग। वारा फेरा। उतारा। बखेर। (इसका अभिप्राय यह होता है कि जो देवता शरीर को कष्ट देनेवाले हों वे शरीर और अंगों के बदले में द्रव्य आदि पाकर संतुष्ट हो जायँ।)

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—निछावर करना = उत्सर्ग करना। छोड़ देना। त्यागना। दे डालना। **निछावर होना** = दे दिया जाना। त्याग दिया जाना। **(किसी का) किसी पर निछावर होना** = किसी के लिये मर जाना। किसी के लिये प्राण त्यागना।

(२) वह द्रव्य या वस्तु जो ऊपर घुमाकर दान की जाय या छोड़ दी जाय। (३) इनाम। नेग।

निछावरि‡–संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर"।

निछोह–वि० [हिं० उप० नि + छोह] (१) जिसे छोह या प्रेम न हो। (२) निर्दय। निष्ठुर।

निछोही–वि० [हिं० नि + छोह] (१) जिसे प्रेम या छोह न हो। (२) निर्दय। निष्ठुर।

निज–वि० [सं०] (१) अपना। स्वीय। स्वकीय। पराया नहीं।

विशेष—आजकल इस शब्द का प्रयोग प्रायः 'का' विभक्ति के साथ होता है; जैसे, निज का काम। कर्म की विभक्ति भी इसके साथ लगती है; जैसे, निज को, निजहिं। कविता में और विभक्तियाँ भी दिखाई देती हैं पर कम।

मुहा०—निज का = खास अपना। अपने शरीर वा जन कुटुंब से संबंध रखनेवाला।

(२) खास। मुख्य। प्रधान। उ०—(क) परम चतुर निज दास श्याम के संतत निकट रहत हैा। जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हैा।—सूर। (ख) कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास।—तुलसी। (३) ठीक। सही। वास्तविक। सच्चा। यथार्थ। उ०—(क) अब बिनती मम सुनहु शिव जो मोपर निज नेह।—तुलसी। (ख) मन मेरो मानै सिख मेरी। जो निज भक्ति चहै हरि केरी।—तुलसी।

अव्य० (१) निश्चय। ठीक ठीक। सही सही। सटीक।

मुहा०—निज करके = बीस बिस्वे। निश्चय। अवश्य। जरूर।

(२) खासकर। विशेष करके। मुख्यतः। उ०—देखु विचारि सार का साँचो, कहा निगम निज गायो।—तुलसी।

निजकाना‡–क्रि० अ० [फा० नजदीक] निकट पहुँचना। समीप आना। उ०—थाने थाने हनूमान अंगद सयाने रहो, जाने निजकाने दिन रावण मरण के।—हनुमान।

निजकारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० निज + कर] (१) बँटाई की फसल। (२) वह जमीन जिसके लगान में उससे उत्पन्न वस्तु ही ली जाय।

निजघास–संज्ञा पुं० [सं०] पार्वती के क्रोध से उत्पन्न गणों में से एक।

निज़ा–संज्ञा पुं० [अ०] झगड़ा। विवाद।

निज़ाम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बंदोबस्त। इंतजाम। (२) हैदराबाद के नव्वाबों का पदवीसूचक नाम।

निजि–वि० [सं०] शुद्ध। जो शुद्धि के सहित हो।

निजु–वि० दे० "निज"।

निजू‡–वि० [हिं० निज] निज का। खास अपना।

निजोर‡*–वि० [हिं० उप० नि + फा० जोर] निर्बल।

निझरना–क्रि० अ० [हिं० उप० नि + झरना] (१) अच्छी तरह झड़ जाना। लगा या अँटका न रहना। जैसे, पेड़ से फलों का निझरना।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) लगी हुई वस्तु के झड़ जाने से खाली हो जाना। जैसे, पेड़ का निझरना। (३) सार वस्तु से रहित हो जाना। खुख हो जाना। (४) हाथ झाड़कर निकल जाना। दोष से मुक्त बनना। अपने को निर्दोष प्रमाणित करना। सफाई देना। उ०—सदा चतुरई फबती नाहीं अतिही निझरि रही हो। सूर "श्याम धौं कहा रहत हैं" यह कहि कहि जो तही हैा।—सूर।

निझाना–क्रि० अ० [देश०] ताक झाँक करना। झाँक झूँक करना। आड़ में छिपकर देखना।

निझोटना‡–क्रि० स० [हिं० उप० नि + झपटना] खींचकर छीनना। झपटना।

निझोल–संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + झोल] हाथी का एक नाम।

निटर†–वि० [देश०] जिसमें कुछ दम न हो। जिसका जोर मर गया हो। मरा हुआ। जो उपजाऊ न रह गया हो। (खेत या जमीन के लिये)।

निटल–संज्ञा पुं० [सं०] कपाल। मस्तक।

निटोल–संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + टोला] टोला। मुहल्ला। पुरा। बस्ती। उ०—अब न कौनो चूक करिहैं यह हमारे बोल। किंकरिनि की लाज धरि ब्रज सुबस करो निटोल।—सूर।

निट्ठि*–क्रि० वि० दे० "नीठि"।

निठल्ला–वि० [हिं० उप० नि = नहीं + टहल = काम] (१) जिसके पास कोई काम धंधा न हो। खाली। (२) बे-रोजगार। बेकार। (३) जो कोई काम धंधा न करे। निकम्मा।

निठल्लू–वि० दे० "निठल्ला (३)"।

निठाला–संज्ञा पुं० [हिं० उप० नि + टहल = काम] (१) ऐसा समय जब कोई काम धंधा न हो। खाली वक्त। (२) वह समय जिसमें हाथ में कोई काम धंधा या रोजगार न हो। वह वक्त या हालत जिसमें कुछ आमदनी न हो। जीविका का अभाव। जैसे, ऐसे निठाले में तुम भी माँगने आए।

निठुर–वि० [सं० निष्ठुर] कठोर हृदय। जिसे दूसरे की पीड़ा का अनुभव न हो। जो पराया कष्ट न समझे। निर्दय। क्रूर।

निठुरई*–संज्ञा स्त्री० दे० "निठुराई"।

निठुरता*–संज्ञा स्त्री० [सं० निष्ठुरता] निर्दयता। क्रूरता। हृदय की कठोरता।

निठुराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० निठुर] निर्दयता। हृदय की कठोरता। क्रूरता।

निठुराव†–संज्ञा पुं० [हिं० निठुर + आव (प्रत्य०)] निठुराई। निर्दयता।

निठौर-संज्ञा पुं० [हिं० नि+ठौर] (१) बुरी जगह। कुठाँव। (२) बुरा दाँव। बुरी दशा।

मुहा०—निठौर पड़ना = कुदाँव में पड़ना। बुरी दशा में पड़ना। उ०—बहुरि बन बोलन लागे मोर।...जिनको पिय परदेस सिधारो सो तिय परी निठौर।—सूर।

निडर-वि० [हिं० उप० नि+डर] (१) जिसे डर न हो। जो न डरे। निःशंक। निर्भय। (२) साहसी। हिम्मतवाला। (३) ढीठ। धृष्ट।

निडरपन, निडरपना-संज्ञा पुं० [हिं० निडर+पन (प्रत्य०)] निडर होने का भाव। निर्भीकता। निर्भयता।

निढाल-वि० [हिं० उप० नि+ढाल = गिरा हुआ] (१) गिरा हुआ। पस्त। शिथिल। थका मांदा। अशक्त। सुस्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—जी निढाल होना = जी डूबना। मूर्च्छा आना। बेहोशी आना।

(२) सुस्त। मरा हुआ। उत्साहहीन।

निढिल*-वि० [हिं० नि+ढीला] (१) जो ढीला न हो। कसा या तना हुआ। (२) कड़ा। उ०—गाढे गाढे कुच निढिल पिय हिय को ठहराय। उकसौंहै ही तो हिये सबै दई उसकाय।—बिहारी।

नितंत-क्रि० वि० दे० "नितांत"।

नितंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटिपश्चाद्भाग। कमर का पिछला उभरा हुआ भाग। चूतड़। (विशेषतः स्त्रियों का)। (२) स्कंध। कंधा। (३) तीर। तट। (४) पर्वत का ढालुवाँ किनारा।

नितंबिनी-वि० स्त्री० [सं०] सुंदर नितंबवाली।

संज्ञा स्त्री० सुंदर नितंबवाली स्त्री। सुंदरी।

नित-अव्य० [सं०] (१) प्रति दिन। रोज। जैसे, वह यहाँ नित आता है।

यौ०—नित नित = प्रति दिन। रोज रोज। नित नया = सब दिन नया रहनेवाला। कभी पुराना न पड़नेवाला। सदा ताजा रहनेवाला।

(२) सदा। सर्वदा। हमेशा।

नितराम्-अव्य० [सं०] सदा। हमेशा। सर्वदा।

नितल-संज्ञा पुं० [सं०] सात पातालों में से एक।

नितांत-वि० [सं०] (१) अतिशय। बहुत अधिक। (२) बिल्कुल। सर्वथा। एकदम। निरा। निपट।

निति†*-अव्य० [सं०] दे० "नित"।

नित्य-वि० [सं०] (१) जो सब दिन रहे। जिसका कभी नाश न हो। शाश्वत। अविनाशी। त्रिकालव्यापी। उत्पत्ति और विनाश-रहित। जैसे, ईश्वर नित्य है।

विशेष—न्याय मत से परमाणु नित्य हैं। सांख्य मत से पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं। वेदांत इन सब का खंडन करके केवल ब्रह्म को नित्य कहता है।

(२) प्रति दिन का। रोज का। जैसे, नित्य कर्म।

अव्य० (१) प्रति दिन। रोज रोज। जैसे, वह नित्य यहाँ आता है। (२) सदा। सर्वदा। अनवरत। हमेशा।

नित्यकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रति दिन का काम। रोज़ का काम। (२) वह धर्म संबंधी कर्म जिसका प्रति दिन करना आवश्यक ठहराया गया हो। नित्य की क्रिया। जैसे, संध्या, अग्निहोत्र।

विशेष—मीमांसा में प्रधान वा अर्थ कर्म तीन प्रकार के कहे गए हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्यकर्म वह है जिसका प्रति दिन करना कर्त्तव्य हो और जिसे न करने से पाप होता हो। दे० "कर्म"।

नित्यक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] नित्यकर्म। जैसे, स्नान, संध्या आदि।

नित्यगति-संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

नित्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नित्य होने का भाव। अनश्वरता।

नित्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नित्यता।

नित्यदा-अव्य० [सं०] सर्वदा। हमेशा।

नित्यनर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

नित्यनियम-संज्ञा पुं० [सं०] प्रति दिन का बँधा हुआ व्यापार। रोज का कायदा।

नित्यनैमित्तिककर्म-संज्ञा पुं० [सं०] पर्वश्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि कर्म।

विशेष—पर्वश्राद्ध, प्रायश्चित्त आदि अवश्य कर्त्तव्य हैं और किसी निमित्त (जैसे पापक्षय) से भी किए जाते हैं इससे नित्य और नैमित्तिक दोनों हुए।

नित्यप्रति-अव्य० [सं०] प्रति दिन। हर रोज।

नित्यप्रलय-संज्ञा पुं० [सं०] नित्य होनेवाला प्रलय।

विशेष—वेदांत परिभाषा में चार प्रकार के प्रलय कहे गए हैं—नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक और आत्यंतिक। इनमें से सुषुप्ति को नित्यप्रलय कहते हैं। जिस प्रकार प्रलय काल में किसी कार्य्य का बोध नहीं होता उसी प्रकार इस सुषुप्ति की अवस्था में भी नहीं होता। यह अवस्था प्रति दिन होती है।

नित्ययज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] प्रति दिन का कर्त्तव्य यज्ञ। जैसे, अग्निहोत्र।

नित्ययौवना-वि० स्त्री० [सं०] जिसका यौवन बराबर या बहुत काल तक स्थिर रहे।

संज्ञा स्त्री० द्रौपदी।

नित्यशः-अव्य० [सं०] (१) प्रति दिन। रोज। (२) सदा। सर्वदा।

नित्यसम-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में जो २४ जाति अर्थात् केवल साधर्म्य और वैधर्म्य से अयुक्त खंडन कहे गए हैं उनमें से एक । वह अयुक्त खंडन जो इस प्रकार किया जाय कि अनित्य वस्तुओं में भी अनित्यता नित्य है अतः धर्म के नित्य होने से धर्मी भी नित्य हुआ । जैसे, किसी ने कहा शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट के समान उत्पत्ति-धर्मवाला है । इसका यदि कोई इस प्रकार खंडन करे कि यदि शब्द का अनित्यत्व नित्य है तो शब्द भी नित्य हुआ और यदि अनित्यत्व अनित्य है तो भी अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य हुआ । इस प्रकार का दूषित खंडन नित्यसम कहलाता है ।

नित्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती । (२) मनसा देवी । (३) एक शक्ति का नाम ।

नित्यानध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा अवसर चाहे वह जिस बार या जिस तिथि को पड़ जाय जिसमें वेद के अध्ययन अध्यापन का निषेध हो ।

विशेष—जब पानी बरसता, बादल गरजता, और बिजली चमकती हो या आँधी के कारण धूल आकाश में छाई हो या उल्कापात होता हो तब अनध्याय रखना चाहिए । (मनु०)

नित्याभियुक्त-वि० [सं०] (योगी) जो केवल इतना ही भोजन करके रहे जितने से देहरक्षा होती रहे और सब त्याग करके योग साधन करे ।

निथंभ*-संज्ञा पुं० [सं० उप० नि+स्तंभ] खंभा । स्तंभ । उ० —रची विरंचि वास सी निथंभ राजिका भली ।—केशव ।

निथरना-क्रि० अ० [हिं० उप० नि+थिर+ना (प्रत्य०)] (१) पानी या और किसी पतली चीज का स्थिर होना जिससे उसमें घुली हुई मैल आदि नीचे बैठ जाय । थिरकर साफ होना । (२) घुली हुई चीज के नीचे बैठ जाने से जल का अलग हो जाना । पानी छन जाना ।

निथार-संज्ञा पुं० [हिं० निथारना] (१) घुली हुई चीज के बैठ जाने से अलग हुआ साफ पानी । (२) पानी के स्थिर होने से उसके तल में बैठी हुई चीज ।

निथारना-क्रि० स० [हिं० निथरना] (१) पानी या और किसी पतली चीज को स्थिर करना जिससे उसमें घुली हुई मैल आदि नीचे बैठ जाय । थिराकर साफ करना । (२) घुली हुई चीज को नीचे बैठाकर खाली पानी अलग करना । पानी छानना । पानी छानकर अलग करना ।

निथालना†-क्रि० स० दे० "निथारना" ।

निदई*-वि० दे० "निर्दयी" ।

निदरना*-क्रि० सं० [सं० निरादर] (१) निरादर करना । अपमान करना । अप्रतिष्ठा करना । बेइज्जती करना । उ०—मोर प्रभाव विदित नहिं तोरे । बोलसि निदरि विप्र के भोरे ।—तुलसी । (२) तिरस्कार करना । त्याग करना । (३) मात करना । बढ़ जाना । बढ़कर निकलना । तुच्छ ठहराना । उ०—(क) नाना जाति न जाहिं बखाने । निदरि पवनु जनु चहत उड़ाने ।—तुलसी । (ख) एक एक जीतहिं संसारा । उनहिँ निदरि पावत को पारा ।—सबल ।

निदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखाने का कार्य्य । प्रदर्शित करने का कार्य्य । प्रकट करने का कार्य्य । (२) उदाहरण । दृष्टांत ।

निदर्शना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें एक बात किसी दूसरी बात को ठीक ठीक कर दिखाती हुई कही जाती है । उ०—(क) सरिसंगम हित चले ठेलते नाले पत्थर । दिखलाते पथरोध प्रेमियों का अति दुष्कर । (ख) जात चंद्रिका चंद्र सह विद्युत्त् घन सह जाय । पिय सहगमन जो तियन को जड़ हू देत दिखाय । (ग) कहाँ सूर्य्य को वंश अरु कहाँ मोरि मति छुद्र । मैं डूड़े सों मोहवश चाहत तर्‌यो समुद्र । (घ) जंगजीत जे चहत हैं तो सों वैर बढ़ाय । जीबे की इच्छा करत कालकूट ते खाय । (च) उदय होत दिन नाथ इत अथवत उत निशिराज । द्वय घंटा युत द्विरद की छवि धारत गिरि आज । (छ) लघु उन्नत पद प्राप्त है तुरतहि लहत निपात । गिरि तें काँकर बात बस गिरत कहत यह बात ।

विशेष—इस अलंकार के भिन्न भिन्न लक्षण आचार्यों ने लिखे हैं ।

जहाँ होता हुआ वस्तुसंबंध और न होता हुआ वस्तुसंबंध दोनों बिंबानुबिंब भाव से दिखाए जाते हैं वहाँ निदर्शना होती है । उ०—संपदयुत चिर थिर रहत नहिं कोउ जनहि तपाय । चरमाचल चलि भानु यह सब कहँ रहे जनाय । (साहित्यदर्पण)

न होता हुआ वस्तुसंबंध जहाँ उपमा की कल्पना करे । (प्रथम निदर्शना) अथवा जहाँ क्रिया से ही अपने और अपने हेतु के संबंध की उक्ति हो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है । (दूसरी निदर्शना) दे० उ०-"(छ)"(काव्यप्रकाश-कारिका) दंडी का यह लक्षण है—अर्थांतर में प्रवृत्त कर्त्ता द्वारा अर्थांतर के सदृश जो सत् वा असत् फल दिखाया जाता है वह निदर्शना है ।

चंद्रालोककार का लक्षण—सदृश वाक्यार्थों की एकता का आरोप निदर्शना है ।

हिंदी के कवि प्रायः चंद्रालोककार का ही लक्षण ग्रहण करके चले हैं ! जैसे,—सरिस वाक्य युग के अरथ करिए एक अरोप । भूषण ताहि निदर्शना कहत बुद्धि दै ओप ।—भूषण । प्रथम निदर्शना—जो सो, जे ते, पदन करि असम वाक्य सम कीन । उ०—सुनु खगेश हरि भक्ति बिहाई । जे सुख चाहहिं

आन उपाई। ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़करनी।—तुलसी। दूसरी निदर्शना—थापिय गुन उपमान के उपमेयहि के अंग। उ०—जब कर गहत कमान सर देत अरिन को भीति। भाउसिंह में पाइए सब अरजुन की रीति। तीसरी निदर्शना—थापिय गुण उपमेय को उपमानहि के अंग। उ०—तुव बचनन की मधुरता रही सुधा महँ छाय। चारु चमक चल नैन की मीनन लई छिनाय।

निदलन*-संज्ञा पुं० दे० "**निर्दलन**"।

निदहना*-क्रि० स० [सं० निदहन] जलाना।

निदाघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरमी ताप। (२) धूप। घाम। (३) ग्रीष्मकाल। गरमी। (४) पुलस्त्य ऋषि का एक पुत्र। (विष्णुपुराण)

निदाघकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) मदार। आक।

निदान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आदि कारण। (२) कारण। (३) रोगनिर्णय। रोगलक्षण। रोग की पहचान।

विशेष—सुश्रुत के पूछने पर धन्वंतरि जी ने कहा है कि वायु ही प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का मूल है। यह शरीर के दोषों का स्वामी और रोगों का राजा है। वायु पाँच हैं—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान। ये ही पाँचों वायु शरीर की रक्षा करती हैं। जिस वायु का मुख में संचरण होता है उसे प्राण वायु कहते हैं। इससे शरीर की रक्षा, प्राणधारण और खाया हुआ अन्न जठर में जाता है। इसके दूषित होने से हिचकी, दमा, आदि रोग होते हैं। जो वायु ऊपर की ओर चलती है उसे उदान वायु कहते हैं। इसके कुपित होने से कंधे के ऊपर के रोग होते हैं। समान वायु आमाशय और पक्वाशय में काम करती है। इसके बिगड़ने से गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार आदि रोग होते हैं। व्यान वायु सारे शरीर में घूमती है और रसों को सर्वत्र पहुँचाती है। इसी से पसीना और रक्त आदि निकलता है। इसके बिगड़ने से शरीर भर में होनेवाले रोग हो सकते हैं। अपान वायु का स्थान पक्वाशय है। इसके द्वारा मल, मूत्र, शुक्र, आर्त्तव, गर्भ, समय पर खिँचकर बाहर होता है। इस वायु के कुपित होने से वस्ति और गुप्त स्थानों के रोग होते हैं। व्यान और अपान दोनों के कुपित होने से प्रमेह आदि शुक्ररोग होते हैं। (सुश्रुत) (४) अंत। अवसान। (५) तप के फल की चाह। (६) शुद्धि। (७) बछड़े का बंधन।

अव्य० अंत में। आखिर। उ०—जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना।—तुलसी।

वि० अंतिम वा निम्न श्रेणी का। निकृष्ट। बहुत ही गया बीता। हद दरजे का। उ०—उत्तम खेती मध्यम बान। निरघिन सेवा भीख निदान। (कहावत)

निदारुण-वि० [सं०] (१) कठिन। घोर। भयानक। (२) दुःसह। (३) निर्दय। कठोर।

निदिग्ध-वि० [सं०] छोपा हुआ। लेप किया हुआ।

निदिग्धा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इलायची।

निदिग्धिका-संज्ञा स्त्री० दे० "निदिग्धा"।

निदिध्यासन-संज्ञा पुं० [सं०] फिर फिर स्मरण। बार बार ध्यान में लाना।

विशेष—श्रुतियों में दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन आत्मज्ञान के लिये आवश्यक बतलाया गया है।

निदेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शासन। (२) आज्ञा। हुक्म। (३) कथन। (४) पास। सामीप्य।

निदेशी-वि० [सं० निदेशिन्] आज्ञा करनेवाला।

निदेस*-संज्ञा पुं० दे० "**निदेश**"।

निदोष*-वि० दे० "**निर्दोष**"।

निद्धि-संज्ञा स्त्री दे० "**निधि**"।

निद्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपसंहारक अस्त्र। उ०—जोतिष पावक निद्र दैत्यमथनं रति लेख्यो।—पद्माकर।

निद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सचेष्ट अवस्था के बीच बीच में होनेवाली प्राणियों की वह निश्चेष्ट अवस्था जिसमें उनकी चेतन वृत्तियाँ (और कुछ अचेतन वृत्तियाँ भी) रुकी रहती हैं। नींद। स्वप्न। सुप्ति।

विशेष—गहरी निद्रा की अवस्था में मनुष्य की पेशियाँ ढीली हो जाती हैं, नाड़ी की गति कुछ मंद हो जाती है, साँस कुछ गहरी हो जाती है और कुछ अधिक अंतर देकर आती जाती है, साधारण संपर्क से ज्ञानेंद्रियों में संवेदन और कर्मेंद्रियों में प्रतिक्रिया नहीं होती; तथा आँतों के जिस प्रवाहवत् चलनेवाले आकुंचन से उनके भीतर का द्रव्य आगे खिसकता है उसकी चाल भी धीमी हो जाती है। निद्रा के समय मस्तिष्क वा अंतःकरण-विश्राम करता है जिससे प्राणी निःसंज्ञ वा अचेतन अवस्था में रहता है।

निद्रा के संबंध में सबसे अधिक माना जानेवाला वैज्ञानिक मत यह है कि निद्रा मस्तिष्क में कम रक्त पहुँचने के कारण आती है। निद्रा के समय मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाती है यह बात तो देखी गई है। बहुत छोटे बच्चों के सिर के बीच जो पुलपुला भाग होता है वह उनके सो जाने पर कुछ अधिक धँसा मालूम होता है। यदि वह नाड़ी जो हृदय से मस्तिष्क में रुधिर पहुँचाती है दबाई जाय तो निद्रा या बेहोशी आवेगी। निद्रा की अवस्था में मस्तिष्क में रक्त की कमी का होना तो ठीक है पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस कमी के कारण निद्रा आती है या निद्रा (मस्तिष्क की निष्क्रियता) के कारण यह कमी होती है। हाल के दो वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि निद्रा संवेदन-सूत्रों वा

ज्ञानतंतुओं के घटकों (Cells) के संयोग तोड़ने से आती है। संवेदन-सूत्र अनेक सूक्ष्म घटकों के योग से बने होते हैं और मस्तिष्क रूपी केंद्र में जाकर मिलते हैं। जाग्रत वा सचेष्ट अवस्था में ये सब घटक अत्यंत सूक्ष्म सूत की सी उँगलियाँ निकालकर एक दूसरे से जुड़े हुए मस्तिष्क-घटकों के साथ संबंध जोड़े रहते हैं। जब घटक श्रांत हो जाते हैं तब उँगलियाँ भीतर सिमट जाती हैं और मस्तिष्क का संबंध संवेदन-सूत्रों से टूट जाता है जिससे तंद्रा वा निद्रा आती है। एक और दूसरे वैज्ञानिक का यह कहना है कि मस्तिष्क के घटक दिन के समय जितना अधिक और जितनी जल्दी जल्दी प्राणद वायु (आक्सिजन) खर्च करते हैं उतनी उन्हें फेफड़ों से मिल नहीं सकती। अतः जब प्राणद वायु का अभाव एक विशेष मात्रा तक पहुँच जाता है तब मस्तिष्क-घटक शिथिल होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। सोने की दशा में आमदनी की अपेक्षा प्राणदवायु का खर्च बहुत कम हो जाता है जिससे उसकी कमी पूरी हो जाती है अर्थात् चेतना के लिये जितनी प्राणद वायु की जरूरत होती है उतनी वा उससे अधिक फिर हो जाती है और मनुष्य जाग पड़ता है। इतना तो सर्वसम्मत है कि निद्रा की अवस्था में शरीर पोषण करनेवाली क्रियाएँ क्षय करनेवाली क्रियाओं की अपेक्षा अधिक होती हैं।

निद्रा के संबंध में यह ठीक ठीक नहीं ज्ञात होता कि विकास की किस श्रेणी के जीवों से नियमपूर्वक सोने की आदत शुरू होती है। स्तनपायी उष्णरक्त जीवों तथा पक्षियों से नीचे की कोटि के जीवों के यथार्थ रीति से सोने का कोई पक्का प्रमाण नहीं मिलता। मछली, सांप, कछुए आदि ठंढे रक्त के जीवों की आँखों पर हिलनेवाली पलकें तो होती नहीं कि उनके आँख मूँदने से उनके सोने का अनुमान कर सकें। मछलियाँ घंटों निश्चेष्ट अवस्था में पड़ी पाई गई हैं पर उनकी यह अवस्था नियमित रूप से हुआ करती है यह नहीं कहा जा सकता।

पातंजल योगदर्शन के अनुसार निद्रा भी एक मनोवृत्ति है, जिसका आलंबन अभावप्रत्यय अर्थात् तमोगुण है। अभाव से तात्पर्य शेष वृत्तियों का अभाव है, जिसका प्रत्यय वा कारण हुआ तमोगुण। सारांश यह कि तमोगुण की अधिकता से सब विषयों को छोड़कर जो वृत्ति रहती है वह निद्रा है। निद्रा मन की एक क्रिया वा वृत्ति है इसके प्रमाण में भोजवृत्ति में यह लिखा है कि "मैं खूब सुख से सोया"। ऐसी स्मृति लोगों को जागने पर होती है और स्मृति उसी बात की होगी जिसका अनुभव हुआ होगा।

निद्रायमान–वि० [सं०] जो नींद में हो। सोता हुआ।

निद्रालु–वि० [सं०] निद्राशील। सोनेवाला।

संज्ञा स्त्री० (१) बैंगन। भंटा। (२) बब्बरी। ममरी। बनतुलसी। (३) नली नामक गंधद्रव्य।

निद्रासंजन–संज्ञा पुं० [सं०] श्लेष्मा। कफ। (कफ की वृद्धि से निद्रा आती है)

निद्रित–वि० [सं०] सुप्त। सोया हुआ।

निधड़क–क्रि० वि० [हिं० नि = नहीं + धड़क] (१) बेरोक। बिना किसी रुकावट के। (२) बिना संकोच के। बिना हिचक के। बिना आगा पीछा किए। (३) निःशंक। बेखटके। बिना किसी भय या चिंता के।

निधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। (२) मरण। (३) फलित ज्योतिष में लग्न से आठवाँ स्थान।

विशेष—इस स्थान से अत्यंत संकट, आयु, शस्त्र आदि का विचार किया जाता है। यदि लग्न से चौथे स्थान पर सूर्य्य हों और ग्रह पर शनि की दृष्टि हो तो जिस दिन निधन स्थान पर शुभग्रहों की दृष्टि होगी उसी दिन मृत्यु होगी।

(४) जन्मनक्षत्र से सातवाँ, सोलहवाँ और तेईसवाँ नक्षत्र। (५) कुल। खानदान। (६) कुल का अधिपति। (७) विष्णु। (८) पाँच अवयव वा सात अवयव-युक्त साम का अंतिम अवयव।

वि० धनहीन। निर्धन। दरिद्र।

निधनपति–संज्ञा पुं० [सं०] प्रलयकर्त्ता। शिव!

निधनी–वि० [हिं० नि + धनी] निर्धन। धनहीन। दरिद्र। उ०—जैसे निधनी धनहिं पाए हरख दिन अरु राति।—सूर।

निधरक†–क्रि० वि० दे० "निधड़क"।

निधातव्य–वि० [सं०] स्थापनीय।

निधान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आधार। आश्रय। (२) निधि। (३) लयस्थान। वह स्थान जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय। (४) स्थापन।

निधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गड़ा हुआ खजाना। खजाना।

विशेष–पृथ्वी में गड़ा हुआ धन यदि राजा को मिले तो उसे आधा ब्राह्मणादि को देकर आधा ले लेना चाहिए। विद्वान् ब्राह्मण यदि पावे तो उसे सब ले लेना चाहिए। यदि अपति ब्राह्मण वा क्षत्रिय आदि पावें तो राजा को उन्हें छठाँ भाग देकर शेष ले लेना चाहिए। यदि कोई निधि पाकर राजा को संवाद न दे तो राजा को उसे दंड देना चाहिए और सारा खजाना ले लेना चाहिए। (मिताक्षरा)

(२) कुबेर के नौ प्रकार के रत्न। ये नौ रत्न ये हैं—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और वर्च्च।

विशेष—ये सब निधियाँ लक्ष्मी की आश्रित हैं। जिन्हें ये प्राप्त होती हैं उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में धनागम आदि होता है।

जैसे, पद्मनिधि के प्रभाव से मनुष्य सोने चाँदी ताँबे आदि का खूब उपभोग और क्रय विक्रय करता है, महापद्मनिधि की प्राप्ति से रत्न, मोती, मूँगे आदि की अधिकता रहती है, इत्यादि। (३) समुद्र। (४) आधार। घर। जैसे जलनिधि, गुणनिधि। (५) विष्णु। (६) शिव। (७) नौ की संख्या। (८) जीवक नाम की ओषधि। (९) नलिका नामक द्रव्य।

निधिगोप-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेदवेदांग में पारंगत होकर गुरुकुल से आया हो। अनूचान।

निधिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] निधियों के स्वामी, कुवेर।

निधिप-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधिपाल-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कुवेर।

निधुवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैथुन। (२) नर्म। केलि। (३) हँसी ठट्ठा। (४) कंप।

निधेय-वि० [सं०] स्थापनीय। स्थापन करने योग्य।

निध्यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। देखना। (२) निदर्शन।

निध्रुव-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि।

निध्वान-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द।

निनद-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द। आवाज। घरघराहट।

निनय-संज्ञा स्त्री० [सं०] नम्रता। नौताई। आजज़ी।

निनयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निष्पादन। (२) प्रणीता के जल को कुश से यज्ञ की वेदी पर छिड़कने का कार्य।

निनरा-वि० [सं० निः + निकट, प्रा० निनिअड़] न्यारा। अलग। जुदा। दूर। उ०—मानहु विवर गए चलि कारे तजि केँचुरी भए निनरे री।—सूर।

निनाद-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द। आवाज।

निनादित-वि० [सं०] शब्दित। ध्वनित।

निनादी-वि० [सं० निनादिन्] [स्त्री० निनादिनी] शब्द करनेवाला।

निनान*-संज्ञा पुं० [सं० निदान] (१) अंत। (२) लक्षण।

क्रि० वि० अंत में। आखिर।

वि० (१) परले सिरे का। बिल्कुल। एकदम। घोर। (२) बुरा। निकृष्ट। उ०—कबिरा नमन बहु अंतरा नमन बहुत निनान। ये तीनों बहुतै नवैं चीता, चोर, कमान।—कबीर।

निनाया†-संज्ञा पुं० [देश०] खटमल।

निनार-वि० दे० "निनारा"।

निनारा-वि० [सं० निः + निकट, प्रा० निनिअड़, हिं० निनर] (१) अलग। जुदा। भिन्न। न्यारा। (२) दूर। हटा हुआ।

निनावाँ-संज्ञा पुं० [हिं० नन्हा ?] जीभ, मसूड़े तथा मुँह के भीतर के और भागों में निकलनेवाले महीन महीन लाल दाने जिनमें छरछराहट और पीड़ा होती है।

निनावँ†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नि = बुरा + नाम, नाँव] (१) बिना नाम की वस्तु। वह वस्तु जिसका नाम लेना अशुभ या बुरा समझा जाता हो। (२) चुड़ैल। भुतनी।

निनौना†-क्रि० स० [हिं० नंवना = झुकना] नीचे करना। झुकाना। नवाना। उ०—नैन निने बहु नेकहूँ कमलनैन नव नाथ। बालनि के मन मोहि ले बेचे मनमथ हाथ।—केशव।

निनौरा-संज्ञा पुं० [हिं० नानी + औरा (प्रत्य०)] नानी वा नानी का घर। वह स्थान जहाँ नाना-नानी रहते हों।

निनानवे-वि० [सं० नवनवति, प्रा० नवनवइ] नब्बे और नौ। जो संख्या में एक कम सौ हो।

संज्ञा पुं० नब्बे और नौ की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—९९।

मुहा०—निन्नानवे के फेर में आना या पड़ना = रुपया बढ़ाने की धुन में होना। धन बढ़ाने की चिंता में पड़ना। (इस मुहावरे के संबंध में एक कहानी है। कोई मनुष्य बड़ा अपव्ययी था। एक दिन उसके एक मित्र ने उसे ९९) दिए। उसी दिन से वह १००) पूरे करने के फेर में पड़ गया। जब १००) पूरे हो गए तब १०१) करने की चिंता में हुआ। इस प्रकार वह दिन रात रुपए के फेर में रहने लगा और भारी कंजूस हो गया।)

निन्यारा*-वि० दे० "निनारा"।

निन्हियाना†-क्रि० अ० [अनु० नी नी] गिड़गिड़ाना। दीनता प्रकट करना। आजज़ी दिखाना।

निपंग*-वि० [सं० नि + पंगु] जिसके हाथ पैर टूटे हों वा काम न दे सकें। अपाहिज। निकम्मा। उ०—जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। जो चाहै लेतो बनै तो करि डारु निपंग।—गिरधर।

निपजना*†-क्रि० अ० [सं० निष्पद्यते, प्रा० निपज्जइ] (१) उपजना। उत्पन्न होना। उगना। जमना। उ०—(क) राम नाम कर सुमिरन हँसि कर भावै खीज। उलटा सुलटा नीपजै ज्यों खेतन में बीज।—कबीर। (ख) अमिरित बरसै हीरा निपजै घटा परै टकसार। तहाँ कबीरा पारखी अनुभव उतरै पार।—कबीर। (२) बढ़ना। पुष्ट होना। पकना। उ०—भली बुद्धि तेरे जिय उपजी। ज्यों ज्यों दिनी भई त्यों त्यों निपजी।—सूर। (३) बनना। तैयार होना। उ०—सिख खाँड़ा गुरु मसकला चढ़ै शब्द खरसान। शब्द सहै सम्मुख रहै निपजै शिष्य सुजान।—कबीर।

निपजी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० निपजना] (१) लाभ। मुनाफा।

(२) उपज । उ०—निश्चय, निधी, मिलाय तत, सतगुरु साहस धीर । निपजी में साक्षी घना बाँटनहार कबीर । —कबीर ।

निपत्र–वि० [सं० निष्पत्र] पत्रहीन । ठूँठा । उ०—बिन गँठ वृत्त निपत्र ज्यों ठाढ़ ठाढ़ पै सूख ।—जायसी ।

निपट–अव्य० [हिं० नि + पट] (१) निरा । विशुद्ध । खाली । और कुछ नहीं । केवल । एक मात्र । उ०—निपटहिं द्विज करि जानेसि मोही । मैं जस विप्र सुनावउँ तोही ।—तुलसी । (२) सरासर । एकदम । बिल्कुल । नितांत । बहुत अधिक । उ०—(क) आसे पासे जो फिरै निपट पिसावै सोय । कीला सों लागा रहै ताको विघ्न न होय ।—कबीर । (ख) भानुबंस राकेस कलंकू । निपट निरंकुस अबुध असंकू । —तुलसी । (ग) ब्राम्हन हुत इक निपट भिखारी । सो पुनि चला चलत व्यापारी ।—जायसी । (घ) मैं तेहि बारहि बार मनायो । सिर सों खेल निपट जिउ लायो ।—जायसी ।

निपटना–क्रि० अ० दे० "निबटना" ।

निपटाना–क्रि० स० दे० "निबटाना" ।

निपटारा–संज्ञा पुं० दे० "निबटारा" ।

निपटावा–संज्ञा पुं० दे० "निबटावा" ।

निपटेरा–संज्ञा पुं० दे० "निबटेरा" ।

निपतन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निपतित] अधःपतन । गिरना । गिराव ।

निपतित–वि० [सं०] गिरा हुआ । पतित । अधःपतित ।

निपत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध की भूमि । (२) गीली चिकनी जमीन । ऐसी भूमि जिस पर पैर फिसले ।

निपाँगुर–वि० [हिं० नि + पंगु] (१) लँगड़ा । (२) अपाहिज । जिसके हाथ पैर न चलते हों ।

निपात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतन । गिराव । पात । (२) अधःपतन । (३) विनाश । उ०—और न कुछ देखै तन श्यामहि ताको करो निपातु । तू जो करै बात सोइ साँची कहा करों तोहि मातु ।—सूर । (४) मृत्यु । क्षय । नाश । उ०—बनमाला पहिरावत श्यामहिं बार बार अँकवारि भरी धरि । कंस निपात करहुगे तुमही हम जानी यह बात सही परि ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(५) शाब्दिकों के मत से वह शब्द जिसके बनने के नियम का पता न चले अर्थात् जो व्याकरण में दिए नियमों के अनुसार न बना हो ।

निपातन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराने का कार्य्य । (२) नाश । क्षय वा ध्वंस करने का कार्य्य । (३) मारने का काम । वध करने का कार्य्य ।

निपातना*–क्रि० स० [हिं० निपातन] (१) गिराना । नीचे गिराना । उ०—(क) पिपर पात दुख झरे निपाते । सुख पलहा अपने हिय राते ।—जायसी । (ख) व्याकुल राव शिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ।—तुलसी । (२) नष्ट करना । काटकर गिराना । उ०—कह लंकेस कहत किन बाता । केहि तव नासा कान निपाता ।—तुलसी । (३) मारना । मार गिराना । वध करना । उ०—(क) चंदन वास निवारहु तुम कारण बन काटिया । जीवत जिय जनि मारहु मुए ते सबै निपातिया ।—कबीर । (ख) तैसहि भरतहिं सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ।—तुलसी । (ग) खोजत रह्यों तोहि सुतघाती । आजु निपाति जुड़ावहुँ छाती ।—तुलसी ।

निपाती–वि० [सं० निपातिन्](१) गिरानेवाला । फेंकनेवाला । चलानेवाला । उ०—सायक निपाती चतुरंग के सँघाती ऐसे सोहत मदाती अरिघाती उग्रसेन के ।—गोपाल । (२) मारनेवाला । घातक ।

संज्ञा पुं० शिव । महादेव ।

*वि० [हिं० नि + पाती] (बिना पत्ते का । पत्रहीन । ठूँठा । उ०—तेहि दुख भए पलास निपाती । लोहू बूड़ उठी होइ राती ।—जायसी ।

निपान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तालाब । गड्ढा । खत्ता । (२) कुएँ के पास दीवार घेरकर बनाया हुआ कुंड या खोदा हुआ गड्ढा जिसमें पशु पक्षियों आदि के पीने के लिये पानी इकट्ठा रहता है । (३) दूध दुहने का बरतन ।

निपीड़क–वि० [सं०] (१) पीड़ा देनेवाला । दुःखदायक । (२) मलने दलनेवाला । (३) निचोड़नेवाला । (४) पेरनेवाला ।

निपीड़न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कष्ट पहुँचाने वा पीड़ित करने का कार्य्य । पीड़ित करना । तकलीफ देना । (२) मलना दलना । (३) पसाना । पसेव निकालना । (४) पेरना । पेर कर निकालना (जैसे तेल निकाला जाता है) ।

निपीड़ना*–क्रि० स० [सं० निपीड़न] (१) दबाना । मलना दलना । उ०—भुजन भुजा भरि उरोजन उरहि मीड़ि कंठ कंठ सों निपीड़े रोप्यो हिय हियो है ।—देव । (२) कष्ट पहुँचाना । पीड़ित करना ।

निपीड़ित–वि० [सं०] (१) दबाया हुआ । (२) आक्रांत । (३) जिसे पीड़ा पहुँचाई गई हो । (४) पेरा हुआ । निचोड़ा हुआ ।

निपुड़ना–क्रि० अ० [सं० निष्पुट, प्रा० निप्पुड] (दाँत) खोलना । उघारना ।

निपुण–वि० [सं०] दक्ष । कुशल । प्रवीण । चतुर । कार्य्य करने में पटु ।

निपुणता– संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षता । कुशलता ।

निपुणाई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० निपुण + आई (प्रत्य०)] निपुणता ।

दक्षता। कुशलता। चतुराई। उ०—पुर शोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई।—तुलसी।

निपुत्री-वि० [हिं० नि + पुत्री] निपूता। निःसंतान। उ०—(क) वो निपुत्री को घर में क्या सुख कि जिस बिना वह सदा अंधकार रहता है।—सदल मिश्र। (ख) जो नर ब्राह्मण हत्या कीन्हा। जन्म निपुत्री तेहि जग चीन्हा।—विश्राम।

निपुन*-वि० दे० "**निपुण**"।

निपुनई*-संज्ञा स्त्री० [सं० निपुण + ई (प्रत्य०)] निपुणता।

निपुनता*-संज्ञा स्त्री० दे० "**निपुणता**"।

निपुनाई*-संज्ञा स्त्री० दे० "**निपुणाई**"।

निपूत*†-[हिं० नि + पूत] [स्त्री० निपूती] अपुत्र। पुत्रहीन। उ०—कीनो जिन रावण निपूतो यमहू ते यम कूते खेत मूँड़ आजहू ते न सिरात है।—हनुमान।

निपूता-वि० [सं० निष्पुत्र, प्रा० निवुत्त] [स्त्री० निपूती] जिसे पुत्र न हो। अपुत्र।

निपोड़ना‡-क्रि० स० [सं० निष्पुट, प्रा० निप्पुड + ना (प्रत्य०)] खोलना। उघारना। (दाँत के लिये)।

मुहा०—दाँत निपोड़ना = व्यर्थ हँसना।

निफन*-वि० [सं० निष्पन्न, पा० निष्फन्न] पूर्ण। पूरा। संपूर्ण। क्रि० वि० पूर्ण रूप से। अच्छी तरह। उ०—जोते बिनु बोएँ बिनु निफन निराए बिनु सुकृत सुखेत सुख सालि फूलि फरिगे। मुनिहुँ मनोरथ को अगम अलभ्य लाभ सुगम सो राम लघु लोगनि कौं करिगे।—तुलसी।

निफरना-क्रि० अ० [हिं० निफारना] चुभकर या धँसकर इस पार से उस पार होना। छिदकर आरपार होना। उ०—घायल सों घूमि रह्यो खड़गी घमंड भरो नेजा नोक लागी शीश कैकयी के नंद की। निफरि धँसी सो भूमि गैंडा गिर्‍यो घूमि घूमि खासी रघुराज वाणी कढ़ी रघुचंद की।—रघुराज। क्रि० स० [सं० नि + स्फुट] खुलना। उद्घाटित होना। स्पष्ट होना। साफ होना। प्रकट होना।

निफल*-वि० [सं० निष्फल; प्रा० निप्फल] निरर्थक। निष्फल। व्यर्थ। उ०—(क) नाचै पंडुक मोर परेवा। निफल न जाय काहि की सेवा।—जायसी। (ख) निफल होहि रावण सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे।—तुलसी।

निफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष्मती लता।

निफ़ाक़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) विरोध। द्रोह। वैर। (२) फूट। भेद। बिगाड़। अनबन।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—होना।

निफारना-क्रि० स० [हिं० नि + फारना] (१) इस पार से उस पार तक छेद करना। आर पार करना। बेधना। (२) इस पार से उस पार निकालना। क्रि० स० [सं० नि + स्फुट] खोलना। उद्घाटित करना। प्रकट करना। स्पष्ट करना। साफ करना।

निफालन-संज्ञा० पुं० [सं०] दृष्टि।

निफोट-वि० [सं० नि + स्फुट] स्पष्ट। साफ साफ। उ०—(क) कै मिलि कर मेरो कह्यो कै कर मेरो घात। पाछे बचन सँभारियो कहों निफोटक बात।—हनुमान। (ख) सुन ले निफोट ओट वज्र की न बचै कोऊ लागे भेद चोट सावधान को अचानक।—हनुमान।

निबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। (२) वह व्याख्या जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो। (३) लिखित प्रबंध। लेख। (४) गीत। (५) नीम का पेड़। (६) आनाह रोग। पेशाब बंद होने की बीमारी। करक। (७) वह वस्तु जिसे किसी को देने का वादा कर दिया गया हो।

निबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निबद्ध] (१) बंधन। उ०—तनु कंबु कंठ त्रिरेख राजति रज्जु सी उनमानिए। अविनीत इंद्रिय निग्रही तिनके निबंधन जानिए।—केशव। (२) व्यवस्था। नियम। बंधेज। (३) कर्त्तव्य। बंधन। (४) हेतु। कारण। (५) गाँठ। (६) वीणा वा सितार की खूँटी। उपनाह। कान।

निबंधनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंधन। (२) बेड़ी।

निब-संज्ञा स्त्री० [अं०] लोहे की चद्दर की बनी हुई चोंच जो अँगरेजी कलमों की नोक का काम देती है। (यह ऊपर से खोंसी जाती है)।

निबकौरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीब, नीम + कौड़ी] (१) नीम का फल। निबौली। निबौरी। (२) नीम का बीज।

निबटना-क्रि० अ० [सं० निवर्त्तन, प्रा० निवट्टना] [संज्ञा निबेटरा, निबटाव] (१) निवृत्त होना। छुट्टी पाना। फुरसत पाना। फारिग होना। खाली होना। जैसे, सब कामों से निबटना। (२) समाप्त होना। पूरा होना। किए जाने को बाकी न रहना। भुगतना। जैसे, काम निबटना। (३) निर्णीत होना। तै होना। अनिश्चित दशा में न रह जाना। जैसे, झगड़ना निबटना। (४) चुकना। खतम होना। न रह जाना। उ०—हे सुँदरी तेरो सुकृत मेरो ही सो हीन। फल सों जान्यो जात है मैं निरनै कर लीन। अधिक मनोहर अरुन नख उन अँगुरिन को पाय। गिरी फेर तू आय जब पुन्न गयो निबटाय।—लक्ष्मणसिंह†। (५) शौच आदि से निवृत्त होना।

निबटाना-क्रि० स० [हिं० निबटना] (१) पूरा करना। समाप्त करना। खतम करना। करने को बाकी न छोड़ना। जैसे, काम निबटाना। (२) भुगताना। चुकाना। बेबाक करना। जैसे, कर्जा निबटाना। (३) तै करना। निर्णीत करना। झंझट न रखना। जैसे, झगड़ा निबटाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

निबटाव–संज्ञा स्त्री०[हिं० निबटना] (१) निबटने की भावना वा क्रिया। निबटेरा। (२) झगड़े का फैसला। फैसला। निर्णय।

निबटेरा–संज्ञा पुं० [हिं० निबटना] (१) निबटने का भाव वा क्रिया। छुट्टी। (२) समाप्ति। (३) झगड़े का फैसला। निश्चय।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निबड़ना*–क्रि० अ० दे० "निबटना"।

निबड़ा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बड़ा घड़ा।

निबद्ध–वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। (२) निरुद्ध। रुका हुआ। (३) ग्रथित। गुथा हुआ। (४) बैठाया हुआ। जड़ा हुआ। निवेशित।

संज्ञा पुं० वह गीत जिसे गाते समय अक्षर, ताल, मान, गमक, रस आदि के नियमों का विशेष ध्यान रखा जाय।

निबर–वि० दे० "निर्बल"।

निबरना–क्रि० अ० [सं० निवृत्त, प्रा० निव्विड्ड] (१) बँधी, फँसी या लगी वस्तु का अलग होना। छूटना। (२) मुक्त होना। उद्धार पाना। बच निकलना। पार पाना। उ०—(क) पाय कै उराहनो, उराहनो न दीजै मोहिं कालि काला कासीनाथ कहे निबरत हौं।—तुलसी। (ख) कब लौं, कहौ पूजि निबरैंगे बचिहैं बैर हमारे?—सूर। (ग) कैसे निबरैं निबल जन करि सबलन सों बैर।—सभाविलास। (३) छुट्टी पाना। अवकाश पाना। फुरसत पाना। खाली होना। निवृत्त होना। उ०—हरि छबि जल जब तें परे तब तें छिन निबरै न। भरत, ढरत, बूड़त, तरत रहत घरी लौं नैन।—बिहारी। (४) (काम) पूरा होना। समाप्त होना। भुगतना। सपरना। निबटना। चुकना। उ०—(क) सूरदास बिनती कहा बिनवै दोषनि देह भरी। आपन विरद सँभारैंगे तौ यामें सब निबरी।—सूर। (ख) चितवत जितवत हित हिए किए तिरीछे नैन। भींजे तन दोऊ कँपै क्यों हूँ जप निबरै न।—बिहारी। (५) निर्णय होना। तै होना। फैसल होना। (६) एक में मिली जुली वस्तुओं का अलग होना। बिलग होना। उ०—नैना भए पराए चेरे। नंदलाल के रंग गए रँगि अब नाहीं बस मेरे। जद्यपि जतन किए जुगवति हौं श्यामल शोभा घेरे। तउ मिलि गए दूध पानी ज्यों निबरत नाहिं निबेरे।—सूर। (७) उलझन दूर होना। सुलझना। फँसाव या अड़चन दूर होना।

संयो० क्रि०—जाना।

(८) जाता रहना। दूर होना। न रह जाना। खतम होना। उ०—अब नीके कै समुझि परी। जिन लगि हती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी।—सूर।

निबल*-वि० [सं० निर्बल] निर्बल। दुर्बल। उ०—कैसे निबहैं निबल जन करि सबलन सों बैर।—सभाविलास।

निबर्हण–संज्ञा पुं० [सं०] मारण। नष्ट करने की क्रिया या भाव।

निबह–संज्ञा पुं० दे० "निर्वह"।

निबहना–क्रि० अ० [हिं० निवाहना] (१) पार पाना। निकलना। बचना। छुट्टी पाना। छुटकारा पाना। उ०—(क) मेरे हठ क्यों निबहन पैहौ? अब तो रोकि सबनि को राख्यो कैसे कै तुम जैहौ?–सूर। (ख) श्याम गए देखै जनि कोई। सखियन सों निबहन किमि पैहौं इन आगे राखौं रस गोई।—सूर। (ग) कैसे निबहैं निबल जन करि सबलन सों बैर।—सभाविलास। (२) निर्वाह होना। बराबर चला चलना। किसी स्थिति, संबंध आदि का लगातार बना रहना। पालन या रक्षा होना। जैसे, साथ निबहना, मित्रता निबहना, प्रीति निबहना। उ०—(क) महमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकहि चित्त। यहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरहि कित्त।—जायसी। (ख) काल बिलोकि कहै तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई। जन्म जहाँ तहाँ रावरे सों निबहै भरि देह सनेह सगाई।—तुलसी। (३) बराबर होता चलना। पूरा होना। सपरना। जैसे, यहाँ का काम तुमसे नहीं निबहेगा। (४) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार होना। पालन होना। पूरा होना। चरितार्थ होना। जैसे, वचन निबहना, प्रतिज्ञा निबहना।

संयो० क्रि०—जाना।

निबाह–संज्ञा पुं० [सं० निर्वाह] (१) निबाहने की क्रिया या भाव। रहन। रहायस। गुजारा। कालक्षेप। किसी स्थिति के बीच जीवन व्यतीत करने का कार्य। जैसे, वहाँ तुम्हारा निबाह नहीं हो सकता। उ०—(क) उघरहिं अंत न होय निबाहू।—तुलसी। (ख) लोक लाहु परलोक निबाहू।—तुलसी। (२) लगातार साधन। (किसी बात को) चलाए चलने या जारी रखने का कार्य्य। किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार। संबंध या परंपरा की रक्षा। जैसे (क) प्रीति का निबाह, दोस्ती का निबाह। (ख) काम तो मैंने अपने ऊपर ले लिया पर निबाह तुम्हारे हाथ है। (३) चरितार्थ करने का कार्य्य। पूरा करने का कार्य्य। पालन। साधन और पूर्त्ति। जैसे, प्रतिज्ञा का निबाह। (४) छुटकारे का ढंग। बचाव का रास्ता। जैसे, बड़ी अड़चन में फँसे हैं, निबाह नहीं दिखाई देता।

निबाहक–वि० [सं० निर्वाहक] निबाह करनेवाला।

निबाहना–क्रि० स० [सं० निर्वाहन] (१) निर्वाह करना। (किसी बात को) बराबर चलाए चलना। जारी रखना। बनाए रखना। संबंध या परंपरा की रक्षा करना। जैसे, नाता निबाहना, प्रीति निबाहना, मित्रता निबाहना, धर्म निबाहना। उ०–(क) पहिले सुख नेहहि जब जोरा। पुनि होय कठिन निबाहत ओरा।—जायसी। (ख) निबाहो बाँह गहे की

लाज।—सूर। (२) पूरा करना। पालन करना। चरितार्थ करना। किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार करना। जैसे, वचन निबाहना। उ०—यह परतिज्ञा जो न निबाहौं। तौ तनु अपनो पावक दाहैं।—सूर। (३) निरंतर साधन करना। बराबर करते जाना। सपराना। जैसे, अभी काम न छोड़ो थोड़े दिन और निबाह दो।

संयो० क्रि०—देना।

निबिड़-वि० दे० "निविड़"।

निबुआ*-संज्ञा पुं० दे० "नीबू"।

निबुकना†*-क्रि० अ० [सं० निर्मुक्त, प्रा० निम्मुत्त] (१) छुटकारा पाना। छूटना। बंधन से निकलना। उ०—(क) निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर नारी।—तुलसी। (ख) सुग्रीवहु कै मुरछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।—तुलसी। (ग) दीठि निसेनी चढ़ि चल्यौ ललचि सुचित मुख गोर। चिबुक गड़ारे खेत मैं निबुकि गिरयो चित चोर।—शृं० सत०। (२) बंधन आदि का खिसकना

संयो० क्रि०—जाना।

निबेड़ना-क्रि० स० [सं० निवृत्त, प्रा० निबिड्ड] (१) (बंधन आदि) छुड़ाना। उन्मुक्त करना। बँधी, फँसी, या लगी वस्तु को अलग करना। (२) परस्पर मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। बिलगाना। छाँटना। चुनना। (३) उलझन दूर करना। सुलझाना। लगाव फँसाव दूर करना। (४) निबटाना। निर्णय करना। तै करना। फैसल करना। (५) छोड़ना। हटाना। दूर करना। अलग करना। (६) पूरा करना। निबटाना। सपराना। भुगताना।

निबेड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० निबेड़ना] (१) छुटकारा। मुक्ति। (२) बचाव। उद्धार। (३) एक में मिली जुली वस्तुओं के अलग होने की क्रिया या भाव। बिलगाव। छाँट। चुनाव। (४) सुलझाने की क्रिया या भाव। उलझन या फँसाव दूर होना। (५) त्याग। (६) निबटेरा। भुगतान। समाप्ति। चुकती। (७) निर्णय। फैसला।

निबेरना-क्रि० स० [सं० निवृत्त, प्रा० निविड्ड] (१) (बंधन आदि) छुड़ाना। उन्मुक्त करना। बँधी, फँसी या लगी वस्तु को अलग करना। उ०—औरन की तोहिं का परी अपनी आप निबेर।—कबीर। (२) एक में मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। बिलगाना। छाँटना। चुनना। उ०—(क) नैना भए पराए चेरे। नंदलाल के रंग गए रँगि अब नाहीं बस मेरे। यद्यपि जतन किए जुगवति हैां, श्यामल शोभा घेरे। तउ मिलि गए दूध पानी ज्यों निवरत नाहिं निबेरे।—सूर। (ख) आगे भए हनुमान पाछे नील जांबवान लंका के निसंक सूर मारे हैं निबेरि कै।—हनुमान। (३) उलझन दूर करना। सुलझाना। फँसाव या अड़चन दूर करना। (४) निर्णय करना। तै करना। फैसल करना। उ०—(क) जेहि कौतुक बक स्वान को प्रभु न्याव निबेरो। तेहि कौतुक कहिए कृपालु तुलसी है मेरो।—तुलसी। (ख) प्रण करि के झूठो करि डारत सकल धरम तेहि केरो। जात रसातल तनु ते तुरतहि वेद पुरान निबेरो।—रघुराज। (५) छोड़ना। त्यागना। तजना। उ०—मारी मरै कुसंग की ज्यों केरे ढिग बेर। वह हालै वह जीरइ साकट संग निबेर।—कबीर। (६) दूर करना। हटाना। मिटाना। उ०—मिटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो।—तुलसी। (७) (काम) पूरा करना। निबटाना। सपराना। भुगताना। उ०—प्रमुदित मुनिहि भाँवरी फेरी। नेग सहित सब रीति निबेरी।—तुलसी।

निबेरा-संज्ञा पुं० [हिं० निबेरना] (१) छुटकारा। मुक्ति। उद्धार। बचाव। उ०—व्याकुल अति भवजाल बीच परि प्रभु के हाथ निबेरो।—सूर। (२) मिली जुली वस्तुओं के अलग अलग होने की क्रिया या भाव। बिलगाव। छाँट। चुनाव। (३) सुलझने की क्रिया या भाव। उलझन या फँसाव का दूर होना। (४) निर्णय। फैसला। निबटेरा। उ०—(क) जैसे बरत भवन तजि भजिए तैसहि गए फेरि नहिं हेरयो। सूर श्याम रस रसे रसीले प को करे निबेरो।—सूर। (ख) ब्राह्मण नृपति युधिष्ठिर केरो। जानै सब गुन ज्ञान निबेरो।—सबल। (५) (काम का) निबटेरा। भुगतान। समाप्ति। पूर्त्ति।

निबेहना*-क्रि० स० दे० "निबेरना"।

निबौरी*†-संज्ञा स्त्री० दे० "निबौली"।

निबौली-संज्ञा स्त्री० [सं० निम्ब + वर्त्तुल] निबकौरी। नीम का फल। उ०—(क) दाख छाँड़ि कै तजि कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै? गुणनिधान तजि सूर साँवरे को गुणहीन निबैहै। (ख) तो रस राच्यो आन बस कह्यो कुटिल मति कूर। जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाख खजूर।—बिहारी।

निभ-संज्ञा पुं० [सं०] प्रकाश। प्रभा। चमक दमक।

वि० तुल्य। समान। उ०—छतज-नयन उर बाहु बिसाला। हिमिगिरि निभ तनु कछु एक लाला।—तुलसी।

निभना-क्रि० अ० [हिं० निबहना] (१) पार पाना। निकलना। बचना। छुट्टी पाना। छुटकारा पाना। (२) निर्वाह होना। बराबर चला चलना। जारी रहना। लगातार बना रहना। संबंध, परंपरा आदि की रक्षा होना। जैसे, (क) साथ निभना, प्रीति निभना, मित्रता निभना, नाता निभना। (ख) इनकी उनकी मित्रता कैसे निभेगी? (३) किसी स्थिति के अनुकूल जीवन व्यतीत होना। गुजारा होना। रहायस होना। जैसे, (क) तुम वहाँ निभ नहीं सकते। (ख) जैसे इतने दिन

निभा वैसे ही थोड़े दिन और सही। (४) बराबर होता चलना। पूरा होना। सपरना। भुगतना। जैसे, यहाँ का काम तुमसे नहीं निभेगा। (५) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार होना। पालन होना। पूरा होना। चरितार्थ होना। जैसे, वचन निभना, प्रतिज्ञा निभना। दे० "निबहना"।

संयो० क्रि०—जाना।

निभरम*–वि० [सं० निर्भ्रम] भ्रमरहित। जिसे या जिसमें किसी प्रकार की शंका न हो। जिसे या जिसमें कोई खटका न हो।

क्रि० वि० निःशंक। बेखटके। बेधड़क।

निभरमा–वि० [सं० निर्भ्रम] जिसका परदा ढका न हो। जिसकी कलई खुल गई हो। जिसकी थाप या मर्यादा न रह गई हो। जिसका विश्वास उठ गया हो।

निभरोस†–वि० [हिं० नि + भरोसा] [संज्ञा निभरोसा] जिसे भरोसा न हो। निराश। हताश।

निभरोसी*†–वि० [हिं० नि = नहीं, भरोसा] (१) जिसे कोई भरोसा न रह गया हो। निराश। हताश। (२) जिसे किसी का आसरा भरोसा न हो। निराश्रय। निराधार। बिना सहारे का। हीन। उ०—कीन्हेसि कोइ निभरोसी कीन्हेसि कोइ बरियार। छारहिं ते सब कीन्हेसि पुनि कीन्हेसि सब छार।—जायसी।

निभागा–वि० [हिं० नि + भाग, भाग्य] अभागा। बदकिस्मत।

निभाना–क्रि० सं० [हिं० निबाहना] (१) निर्वाह करना। (किसी बात को) बराबर चलाए चलना। बनाए और जारी रखना। संबंध या परंपरा रक्षित रखना। जैसे, नाता निभाना, प्रीति निभाना, धर्म निभाना। (२) किसी बात के अनुसार निरंतर व्यवहार करना। चरितार्थ करना। पूरा करना। पालन करना। जैसे, प्रतिज्ञा निभाना, वचन निभाना। उ०—सारंग वचन कह्यो करि हरि को सारंग वचन निभावति।—सूर। (३) निरंतर साधन करना। बराबर करते जाना। सपराना। चलाना। भुगताना। जैसे, अभी काम न छोड़ो, थोड़े दिन और निभा दो।

संयो० क्रि०—देना।

निभाव–संज्ञा पुं० दे० "निबाह"।

निभूत–वि० [सं०] भूत। व्यतीत। बीता हुआ।

निभृत–वि० [सं०] (१) धरा हुआ। रखा हुआ। धृत। (२) निश्चल। अटल। (३) गुप्त। छिपा हुआ। (४) बंद किया हुआ। (५) निश्चित। स्थिर। (६) नम्र। विनीत। (७) शांत। अनुद्विग्न। धीर। (८) निर्जन। एकांत। सूना। (९) भरा हुआ। पूर्ण। युक्त। (समास में)। (१०) अस्त होने के निकट (सूर्य्य या चंद्रमा)।

निभ्रांत*–वि० दे० "निर्भ्रांत"।

निमंत्रण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निमंत्रित] (१) किसी कार्य्य के लिये नियत समय पर आने के लिये ऐसा अनुरोध जिसका अकारण पालन न करने से दोष का भागी होना पड़ता है। बुलावा। आह्वान।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(२) भोजन आदि के लिये नियत समय पर आने का अनुरोध। खाने का बुलावा। न्योता।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

विशेष—'आमंत्रण' और 'निमंत्रण' में यह भेद है कि निमंत्रण का पालन न करने पर दोष का भागी होना पड़ता है।

निमंत्रणपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसके द्वारा किसी पुरुष से भोज उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये अनुरोध किया गया हो।

निमंत्रना*–क्रि० स० [सं० निमंत्रण] न्योता देना। उ०—पुनि पुनि नृपहिं निमंत्रेउ मुनिवर। मान्यो नृप तब शासन मुनि कर।—रघुराज।

निमंत्रित–वि० [सं०] जो निमंत्रित किया गया हो। जिसे न्योता दिया गया हो। आहूत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निम–संज्ञा पुं० [सं०] शलाका। शंकु।

निमक‡–संज्ञा पुं० दे० "नमक"।

निमकी–संज्ञा स्त्री० [फा० नमक] (१) नीबू का अचार। (२) घी में तली हुई मैदे की मोयनदार नमकीन टिकिया।

निमकौड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "निबकौरी", "निबौली"।

निमग्न–वि० [सं०] [स्त्री० निमग्ना] (१) डूबा हुआ। मग्न। (२) तन्मय।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निमछड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० छाँड़ना ?] ऐसा समय जिसमें कोई काम न हो। अवकाश। फुरसत। छुट्टी।

निमज्जक–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र आदि जलाशयों में डुब्बी लगानेवाला। गोते मारकर समुद्र आदि के नीचे की चीजों को निकाल कर जीविका करनेवाला।

निमज्जन–संज्ञा पुं० [सं०] डूबकर किया जानेवाला स्नान। अवगाहन।

निमज्जना*–क्रि० अ० [सं० निमज्जन] डूबना। गोता लगाना। अवगाहन करना। उ०—(क) सोक समुद्र निमज्जत काढ़ि कपीस कियो जग जानत जैसो।—तुलसी। (ख) देखि मिटै अपराध अगाध निमज्जत साधु समाज भलो रे।—तुलसी।

निमज्जित–वि० [सं०] (१) डूबा हुआ। मग्न। (२) स्नात। नहाया हुआ।

निमटना–क्रि० अ० दे० "निबटना"।

निमटाना-क्रि॰ स॰ दे॰ "निबटाना"।

निमटेरा-संज्ञा पुं॰ "निबटेरा"।

निमता*-वि॰ [हिं॰ नि + माँता] जो माता न हो। जो उन्मत्त न हो। उ॰—माँते निमते गरजहिँ बाँधे। निसि दिन रहैं महावत काँधे।—जायसी।

निमरी-संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] एक प्रकार की कपास जो मध्यभारत में होती है। बरही। बँगई।

निमाज़-संज्ञा पुं॰ [अ॰] मुसलमानों के मत के अनुसार ईश्वर की आराधना जो दिनरात में पाँच बार की जाती है। इसलाम मत के अनुसार ईश्वर-प्रार्थना।

क्रि॰ प्र॰—गुजारना।—पढ़ना।

निमाजबंद-संज्ञा पुं॰ [फा॰] कुश्ती का एक पेच जिसमें जोड़ के दाहिनी ओर बैठकर उसकी दाहिनी कलाई को अपने दाहिने हाथ से खींचा जाता है और फिर अपना बायाँ पैर उसकी पीठ की ओर से लाकर उसकी दाहिनी भुजा को इस प्रकार बाँध लिया जाता है कि वह चूतड़ के बीचो बीच आ जाती है। इसके बाद उसके दाहिने अँगूठे को अपने दाहिने हाथ से खींचते हुए बाँए हाथ से उसकी जाँघिया पकड़कर उसे उलटकर चित कर देते हैं।

विशेष—इस पेच के विषय में प्रसिद्ध है कि इसके आविष्कर्त्ता इसलामी मल्लविद्या के आचार्य्य अली साहब हैं। एक बार किसी जंगल में एक दैत्य से उन्हें मल्लयुद्ध करना पड़ा। उसे नीचे तो वे ले आए, पर चित करने के लिये समय न था, क्योंकि नमाज का समय बीत रहा था। इसलिये उन्होंने उसे इस प्रकार बाँधा कि उसे उसी स्थिति में रखते हुए नमाज पढ़ सकें। जब वे खड़े होते तब उसे भी खड़ा होना और जब बैठते या झुकते तब बैठना या झुकना पड़ता। यही इसका निमाजबंद नाम पड़ने का कारण है।

निमाज़ी-वि॰ [फा॰ निमाज़] (१) जो नियम पूर्वक निमाज़ पढ़ता हो। (२) दीनदार। धार्मिक (मुसलमान)।

निमान*-संज्ञा पुं॰ [सं॰ निम्न = गड्ढा (वेद)] (१) नीचा स्थान। गड्ढा। (२) जलाशय। उ॰—खोजहुँ दंडक जनस्थाना। सैल सिखर सर सरित निमाना।

निमाना-वि॰ [सं॰ निम्न] [स्त्री॰ निमानी] (१) नीचा। ढलुवाँ। नीचे की ओर गया हुआ। उ॰—फिरत न पाछे नीर ज्यों भूमि निमानी जाय। सो गति मो मन की भई कीजै कौन उपाय।—लक्ष्मणसिंह। (२) नम्र। विनीत। सरल स्वभाव का। सीधा सादा। भोला भाला। (३) दब्बू।

निमि-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) महाभारत के अनुसार एक ऋषि जो दत्तात्रेय के पुत्र थे। (२) राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम। इन्हीं से मिथिला का विदेह वंश चला। पुराणों में लिखा है कि एक बार महाराज निमि ने सहस्रवार्षिक यज्ञ कराने के लिये वसिष्ठजी को बुलाया। वसिष्ठजी ने कहा मुझे देवराज इंद्र पहले से ही पंचशत वार्षिक यज्ञ में वरण कर चुके हैं। उनका यज्ञ कराके मैं आपका यज्ञ करा सकूँगा। वसिष्ठ के चले जाने पर निमि ने गोतमादि ऋषियों को बुलाकर यज्ञ करना प्रारंभ किया। इंद्र का यज्ञ हो जाने पर जब वसिष्ठजी देवलोक से आए तब उन्हें मालूम हुआ कि निमि गोतम को बुलाकर यज्ञ कर रहे हैं। वसिष्ठजी ने निमि के यज्ञ मंडप में पहुँचकर राजा निमि को शाप दिया कि तुम्हारा यह शरीर न रहेगा। वसिष्ठ के शाप देने पर राजा ने भी वसिष्ठ को शाप दिया कि आपका भी शरीर न रहेगा। दोनों का शरीर छूट गया। वसिष्ठजी तो अपना शरीर छोड़कर मित्रावरुण के वीर्य्य से उत्पन्न हुए। यज्ञ की समाप्ति पर देवताओं ने निमि को फिर उसी शरीर में रखकर अमर कर देना चाहा पर राजा निमि ने अपने छोड़े हुए शरीर में जाना नहीं चाहा और देवताओं से कहा कि शरीर के त्यागने में मुझे बड़ा दुःख हुआ है, मैं फिर शरीर नहीं चाहता। देवताओं ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको मनुष्यों की आँखों की पलक पर जगह दी। उसी समय से निमि विदेह कहलाए और उनके वंशवाले भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। उ॰—भए विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।—तुलसी। (३) आँखों का मिचना। निमेष।

निमिख-संज्ञा पुं॰ दे॰ "निमिष"।

निमित्त-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) हेतु। कारण। (२) चिह्न। लक्षण। (३) शकुन। सगुन। (४) उद्देश्य। फल की ओर लक्ष्य। जैसे, पुत्र के निमित्त यज्ञ करना।

निमित्तक-वि॰ [सं॰] किसी हेतु से होनेवाला। जनित। उत्पन्न। उ॰—उदर निमित्तक बहुकृत वेषा।—तुलसी।

संज्ञा पुं॰ चुंबन।

निमित्त कारण-संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह जिसकी सहायता वा कर्तृत्व से कोई वस्तु बने। जैसे, घड़े के बनने के निमित्त कारण कुम्हार, चाक, दंड, सूत्र इत्यादि। (न्याय)। विशेष—दे॰ "कारण"।

निमिराज*-संज्ञा पुं॰ [सं॰] निमिवंशी राजा जनक। उ॰—दोउ समाज निमिराज रघुराज नहाने प्रात। बैठे सब वट बिटपतर मन मलीन कृशगात।—तुलसी। दे॰ "निमि"।

निमिष-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) आँखों का ढँकना। पलकों का गिरना। आँख मिचना। निमेष। (२) उतना काल जितना पलक गिरने में लगता है। पलक मारने भर का समय। (३) सुश्रुत के अनुसार एक रोग जो पलक पर होता है।

निमिष-क्षेत्र-संज्ञा पुं॰ [सं॰] नैमिषारण्य।

निमिषित-वि॰ [सं॰] निमीलित। मिचा हुआ।

निमीलन-संज्ञा पुं४ [सं०] (१) पलक मारना। निमेष। (२) मरण। (३) पलक मारने भर का समय। पल। क्षण।

निमीलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँख की झपक। (२) व्याज। छल।

निमीलित-वि० [सं०] (१) बंद। ढका हुआ। (२) मृत। मरा हुआ।

निमुहाँ-वि० [हिं० नि = नहीं+मुहँ] [स्त्री० निमुहीं] जिसे बोलने को मुहँ न हो। न बोलनेवाला। कम बोलनेवाला। चुपका।

निमूल-वि० [सं०] (१) मूलरहित। (२) प्रकाशन।

निमेख-संज्ञा० पुं० दे० "निमेष"।

निमेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलक का गिरना। आँख का झपकना। उ०—(क) कहा करौं नीके करि हरि को रूप रेख नहिं पावति। संगहि संग फिरति निसि बासर नैन निमेष न लावति।—सूर। (ख) मो डर ते डरपै सुरराजहु सोवत नैन लगाय निमेषै।—हनुमान।

क्रि० प्र०—लगाना।

(२) पलक मारने भर का समय। पलक के स्वभावतः उठने और गिरने के बीच का काल। उतना वक्त जितना पलकों के उठकर फिर गिरने में लगता है। पल। क्षण। (३) आँख का एक रोग जिसमें आँखें फड़कती हैं। (४) एक यक्ष का नाम। (महाभारत)

निमेषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलक। (२) खद्योत। जुगनू।

निमेषकृत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] विद्युत्। बिजली।

निमेषण-संज्ञा पुं० [सं०] पलक गिरना। आँख मुँदना।

निमोची-संज्ञा स्त्री० [सं०] राक्षस विशेष।

निमोना-संज्ञा पुं० [सं० नवान्न] चने या मटर के पिसे हुए हरे दानों को हलदी मसाले के साथ घी में भूनकर बनाया हुआ रसेदार व्यंजन। उ०—(क) ककरी, कचरी औ कचनारयो। सरस निमोननि स्वाद सँवारयो।—सूर। (ख) बहुत मिरिच दै कियो निमोना। बेसन के दस बीसक दोना।—सूर।

निमौनी-संज्ञा स्त्री० [सं० नवान्न] वह दिन जब ईख पहले पहल काटी जाती है।

निम्न-वि० [संज्ञा] नीचा।

निम्नग-संज्ञा पुं० [सं०] नीचे जानेवाला।

निम्नगा-संज्ञा पुं० [सं०] नदी।

निम्मन†-वि० दे० "नीमन"।

निम्लोच-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य का अस्त होना।

निम्लोचनी-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण की नगरी का नाम जो मानसोत्तर पर्वत के पश्चिम है।

निम्लोचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम।

नियंतव्य-वि० [सं०] नियमित होने के योग्य। प्रतिबद्ध होने योग्य। शासन योग्य।

नियंता--संज्ञा पुं० [सं० नियंतृ] [स्त्री० नियंत्री] (१) नियम बाँधनेवाला। व्यवस्था करनेवाला। क़ायदाबाँधनेवाला। (२) कार्य्य को चलानेवाला। विधायक। (३) शिक्षक। नियम पर चलानेवाला। शासक। (४) घोड़ा फेरनेवाला। घोड़ा निकालनेवाला। (५) विष्णु।

नियंत्रित-वि० [सं०] नियम से बँधा हुआ। कायदे का पाबंद। जिसकी क्रिया सर्वथा स्वच्छंद न हो। जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध हो। प्रतिबद्ध।

नियत-वि० [सं०] १) नियम द्वारा स्थिर। बँधा हुआ। परिमित। संयत। बद्ध। पाबंद। (२) ठहराया हुआ। स्थिर। ठीक किया हुआ। निश्चित। मुकर्रर। जैसे, किसी काम के लिये कोई दिन नियत करना, वेतन नियत करना। (३) नियोजित। स्थापित। प्रतिष्ठित। मुकर्रर। तैनात। जैसे, किसी पद पर या काम पर नियत करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा पुं० महादेव। शिव।

संज्ञा स्त्री० दे० "नीयत"।

नियत व्यावहारिक काल—संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में पुण्य, दान, व्रत, श्राद्ध, यात्रा, विवाह इत्यादि के लिये नियत समय।

विशेष—ज्योतिष में कालमान नौ प्रकार के माने गए हैं सौर, सावन, चाँद्र, नाक्षत्र, पित्र्य, दिव्य, प्राजापत्य (मन्वंतर), ब्राह्म (कल्प), और बार्हस्पत्य। इनमें से ऊपर लिखी बातों के लिये तीन प्रकार के कालमान लिए जाते हैं—सौर, चांद्र और सावन। संक्रांति, उत्तरायण, दक्षिणायन आदि पुण्य काल सौर काल के अनुसार नियत किए जाते हैं। तिथि, करण, विवाह, क्षौर, व्रत, उपवास और यात्रा इत्यादि में चांद्र काल लिया जाता है। जन्म, मरण (सूतक), चांद्रायण आदि प्रायश्चित्त, यज्ञदिनाधिपति, मासाधिपति, वर्षाधिपति और ग्रहों की मध्यगति आदि का निर्णय सावन काल द्वारा होता है।

नियतात्मा-वि० [सं० नियतात्मन्] अपने ऊपर प्रतिबंध रखनेवाला। अपने आपको वश में रखनेवाला। संयमी। जितेंद्रिय।

नियताप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक में अन्य उपायों को छोड़ एक ही उपाय से फलप्राप्ति का निश्चय। जैसे, किसी का यह कहना कि अब तो ईश्वर को छोड़ और कोई उपाय नहीं है, वे अवश्य फल देंगे। (साहित्यदर्पण)

नियति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नियत होने का भाव। बंधेज। बद्ध होने का भाव। (२) ठहराव। स्थिरता। मुकर्ररी। (३) भाग्य। दैव। अदृष्ट। (४) बँधी हुई बात। अवश्य होने-

वाली बात। (५) पूर्वकृत कर्म का परिणाम जिसका होना निश्चित होता है। (६) जड़। प्रकृति। (जैन)

नियती–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा। भगवती।

नियतेंद्रिय–वि० [सं०] इंद्रियों को वश में रखनेवाला। जितेंद्रिय।

नियम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधि वा निश्चय के अनुकूल प्रतिबंध। परिमिति। रोक। पाबंदी। नियंत्रण। जैसे, तुम कोई काम नियम से नहीं करते।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।

विशेष—जैनग्रंथों में चौदह वस्तुओं के परिमाण बाँधने को नियम कहा है—जैसे, द्रव्यनियम, विनयनियम, उपानह-नियम, तांबूलनियम, आहारनियम, वस्त्रनियम, पुष्पनियम, वाहननियम, शय्यानियम, इत्यादि।

(२) दबाव। शासन। (३) बँधा हुआ क्रम। चला आता हुआ विधान। परंपरा। दस्तूर। जैसे, (क) यहाँ तक आने का उनका नित्य का नियम है। (ख) सबेरे उठने का नियम।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(४) ठहराई हुई रीति। विधि। व्यवस्था। पद्धति। कायदा। कानून। जाब्ता। जैसे, ब्रह्मचर्य्य के नियम, व्यवहार के नियम, प्रकृति के नियम।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।—होना।

मुहा०—नियम का पालन = नियम के अनुकूल व्यवहार। क़ायदे की पाबंदी। नियम का भंग = नियम के प्रतिकूल आचरण।

(५) ऐसी बात का निर्धारण जिसके होने पर दूसरी बात का होना निर्भर किया गया हो। शर्त्त। जैसे, दानपत्र के नियम बहुत कड़े हैं।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

(६) किसी बात को बराबर करते रहने का संकल्प। प्रतिज्ञा। व्रत। जैसे, आज से यह नियम कर लो कि झूठ न बोलेंगे।

विशेष—योग के आठ अंगों में एक नियम भी है। शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इन सब क्रियाओं का पालन नियम कहलाता है। शौच दो प्रकार का होता है—वाह्य और आभ्यंतर। जल, मिट्टी आदि से शरीर को साफ रखना वाह्य शौच है। करुणा, मैत्री, भक्ति आदि सात्त्विक वृत्तियों को धारण करना आभ्यंतर शौच है। आवश्यक से अधिक की इच्छा न करना ही संतोष है। तप से अभिप्राय है गरमी सरदी सहना, धर्म्मशास्त्रों में लिखे हुए 'कृच्छ्र चांद्रायण' आदि व्रतों का करना, सब कामों को ईश्वर के नाम पर (ईश्वरार्पण) करना ईश्वरप्रणिधान है। याज्ञवल्क्य स्मृति में दस नियम गिनाए गए हैं—स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, वेदपाठ, इंद्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद।

जैन शास्त्र में गृहस्थधर्म के अंतर्गत १२ प्रकार के नियम कहे गए हैं—प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तदान विरमण, मैथुन विरमण, परिग्रह विरमण, दिग्व्रत, भोगोपभोग नियम, धनार्थ दंड निषेध, सामयिक-शिक्षाव्रत, देशावकाशिक शिक्षाव्रत, औषध और अतिथि-संविभाग।

(७) एक अर्थालंकार जिसमें किसी बात का एक ही स्थान पर नियम कर दिया जाय अर्थात् उसका होना एक ही स्थान पर बतलाया जाय। जैसे, हौ तुम ही कलिकाल में गुनगाहक नरराय। (८) विष्णु। (९) महादेव।

नियमतंत्र–वि० [सं०] नियमों से बँधा हुआ। नियमों के अधीन।

नियमन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० नियमित, नियम्य] (१) नियम-बद्ध करने का कार्य्य। कायदा बाँधना। (२) शासन।

नियमपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिज्ञापत्र। शर्त्तनामा।

नियमपर–वि० [सं०] नियमानुवर्त्ती। नियमाधीन।

नियमबद्ध–वि० [सं०] नियमों से बँधा हुआ। नियमों के अनुकूल। कायदे का पाबंद।

नियमस्थिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] तपस्या।

नियमित–वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। क्रमबद्ध। (२) नियमों के भीतर लाया हुआ। नियमबद्ध। बाकायदा। कायदे कानून के मुताबिक।

नियमी–संज्ञा पुं० [सं०] नियम पालन करनेवाला।

नियम्य–वि० [सं०] (१) नियमित करने योग्य। नियमों से बाँधने योग्य। प्रतिबद्ध होने योग्य। (२) शासित होने योग्य। रोके या दबाए जाने योग्य।

नियर†–अव्य० [सं० निकट, प्रा० निअड] समीप। पास। नजदीक

नियराई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० नियर + आई (प्रत्य०)] निकटता। सामीप्य।

नियराना†–क्रि० अ० [हिं० नियर + आना (प्रत्य०)] निकट पहुँचना। पास होना। नजदीक आना या जाना। उ०—आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई।—तुलसी।

नियरे†–अव्य० दे० "नियर"।

नियान✻–संज्ञा पुं० [सं० निदान] अंत। परिणाम।

अव्य० अंत में। आखिर। उ०—(क) अगिनि उठै जरि बुझै नियाना। धुआँ उठा उठि बीच बिलाना।—जायसी। (ख) कोउ काहू का नाहि नियाना। मया मोह बाँधा अरुझाना।—जायसी।

नियाम–संज्ञा पुं० [सं०] नियम।

नियामक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० नियामिका] (१) नियम करने-

वाला। नियम या कायदा बांधनेवाला। (२) व्यवस्था करनेवाला। विधान करनेवाला। प्रबंध करनेवाला। (३) मारनेवाला। (४) पोतवाह। माझी। मल्लाह।

नियामकगण–संज्ञा पुं० [सं०] रसायन में पारे को मारनेवाली ओषधियों का समूह।

विशेष—सर्पाक्षी, बनककड़ी, सतावर, शंखाहुली, सरफोंका, पुनर्नवा (गदहपूर्ना), मूसाकानी, मत्स्याक्षी, ब्रह्मदंडी, शिखंडिनी (घुँघुची), अनंता, काकजंघा, काकमाची, पोतिक (पोई का साग), विष्णुक्रांता, पीली कटसरैया, सहदेइया, महाबला, बला, नागबला, सूर्वा, चकवँड़, करंज (कंजा), पाठा, नील, गोजिह्वा इत्यादि।

नियामत–संज्ञा स्त्री० [अ० नेअमत] (१) अलभ्य पदार्थ। दुर्लभ पदार्थ। (२) स्वादिष्ट भोजन। उत्तम व्यंजन। मजेदार खाना। (३) धन। दौलत। माल।

नियामिका–वि० स्त्री० [सं०] नियम करनेवाली। दे० "नियामक"।

नियार–संज्ञा पुं० [हिं० न्यारा ?] जौहरी वा सुनारों की दूकान का कूड़ा कतवार।

नियारा†–वि० [सं० निर्निकट, प्रा० निन्निअड़] अलग। जुदा। दूर। उ०—आज नेह सो होइ नियारा। आज प्रेम सँग चला पियारा।—जायसी।

संज्ञा पुं० सुनारों या जौहरियों के यहां का कूड़ा करकट।

नियारिया–संज्ञा पुं० [हिं० नियारा, न्यारा] (१) मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करनेवाला। (२) सुनारों या जौहरियों की राख, कूड़ा करकट आदि में से माल निकलनेवाला। (३) चतुर मनुष्य। चालाक आदमी।

नियारे*†–अव्य० दे० "न्यारे"।

नियाव‡–संज्ञा पुं० दे० "न्याव", "न्याय"।

नियुक्त–वि० [सं०] (१) नियोजित। लगाया हुआ। (२) (किसी काम में) लगाया हुआ। जोता हुआ। तैनात। मुकर्रर। (३) तत्पर किया हुआ। प्रेरित। (४) स्थिर किया हुआ। ठहराया हुआ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नियुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुकर्ररी। तैनाती।

नियुत्–संज्ञा पुं० [सं०] वायु का अश्व। (वैदिक)

नियुत–वि० [सं०] (१) एक लाख। लक्ष। (२) दस लाख।

नियुत्वत्–संज्ञा पुं० [सं०] वायु।

नियुद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] बाहुयुद्ध। हाथाबाहीं। कुश्ती।

नियोक्तव्य–वि० [सं०] नियोजित करने योग्य।

नियोक्ता–संज्ञा पुं० [सं० नियोक्तृ] (१) नियोजित करनेवाला। लगानेवाला। (२) नियोग करनेवाला।

नियोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नियोजित करने का कार्य्य। किसी काम में लगाना। तैनाती। मुकर्ररी। (२) प्रेरणा। (३) अवधारण। (४) प्राचीन आर्यों की एक प्रथा जिसके अनुसार यदि किसी स्त्री का पति न होता या उसे अपने पति से संतान न होती तो वह अपने देवर या पति के और किसी गोत्रज से संतान उत्पन्न करा लेती थी (मनु)। पर कलि में यह रीति वर्जित है। (५) आज्ञा। (६) निश्चय।

नियोगी–वि० [सं०] (१) जो नियोजित किया गया हो। जो लगाया या मुकर्रर किया गया हो। (२) जो किसी स्त्री के साथ नियोग करे।

नियोजक–संज्ञा पुं० [सं०] नियोजित करनेवाला। काम में लगानेवाला। मुकर्रर करनेवाला।

नियोजन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० नियोजित, नियोज्य, नियुक्त] किसी काम में लगाना। तैनात या मुकर्रर करना। प्रेरणा।

नियोजित–वि० [सं०] नियुक्त किया हुआ। लगाया हुआ। मुकर्रर। तैनात।

नियोद्धा–संज्ञा पुं० [सं०] मल्ल योद्धा। कुश्ती लड़नेवाला। पहलवान।

निर्–अव्य० दे० "निस्"।

निरंकार*–संज्ञा पुं० दे० "निराकार"।

निरंकुश–वि० [सं०] जिसके लिये कोई अंकुश या प्रतिबंध न हो। जिस पर कोई दबाव न हो। जिसके लिये कोई रोक या बंधन न हो। बिना डर दाब का। बेकहा। स्वेच्छाचारी। उ०—निपट निरंकुश अबुध अशंकू।—तुलसी।

निरंग–वि० [सं०] (१) अंगरहित। (२) केवल। खाली। जिसमें कुछ न हो। जैसे, यह दूध निरंग पानी है। (३) रूपक अलंकार का एक भेद।

विशेष—रूपक दो प्रकार का होता है—एक अभेद दूसरा ताद्रूप्य। अभेद रूपक भी तीन प्रकार का होता है—सम, अधिक और न्यून। इनमें से 'सम अभेद रूपक' के तीन भेद हैं—संग वा सावयव, निरंग वा निरवयव और परंपरित। जहाँ उपमेय में उपमान का इस प्रकार आरोप होता है कि उपमान के और सब अंग नहीं आते वहाँ निरवयव या निरंग रूपक होता है—जैसे, रैन न नींद न चैन हिये छिनहूँ घर में कछु और न भावै। सींचन को अब प्रेमलता यहि के हिय काम प्रवेश लखावै॥ यहाँ प्रेम में केवल लता का आरोप है उसके और अंगों या सामग्रियों का कथन नहीं है। निरंग वा निरवयव रूपक भी दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मालाकार। ऊपर जो उदाहरण है वह शुद्ध निरवयव का है क्योंकि उसमें एक उपमेय में एक ही उपमान का (प्रेम में लता का) आरोप हुआ है। मालाकार निरवयव वह है जिसमें एक उपमेय में बहुत से उपमानों का आरोप हो। जैसे, भँवर सँदेह की अछेह आपरत यह, गेह त्यों अनम्रता

की देह दुति हारी है। दोष की निधान, कोटि कपट प्रधान जामें, मान न विश्वास द्रुम ज्ञान की कुठारी है। कहै तोष हरि स्वर्गद्वार की विघन धार, नरक अपार की विचार अधिकारी है। भारी भयकारी यह पाप की पिटारी नारी क्यों करि विचारी याहि भाखैं सुख प्यारी है ॥

यहाँ एक स्त्री उपमेय में संदेह का भँवर, अविनय का घर, इत्यादि बहुत से आरोप किए गए हैं।

वि० [हिं० उप० नि = नहीं + रंग] (१) बेरंग। बदरंग। विवर्ण। (२) फीका। उदास। बेरौनक। उ०—सो धनि पान चून भइ चोली। रंग रँगील, निरँग भइ डोली।—जायसी।

निरंजन-वि० [सं०] (१) अंजन रहित। बिना काजल का। जैसे, निरंजन नेत्र। (२) कल्मषशून्य। दोषरहित। (३) माया से निर्लिप्त। (ईश्वर का एक विशेषण)

संज्ञा पुं० (१) परमात्मा। (२) महादेव।

निरंजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णिमा। (२) दुर्गा का एक नाम।

निरंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] साधुओं का एक संप्रदाय।

विशेष—कहते हैं कि इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक कोई निरानंद स्वामी थे। उन्होंने निरंजन, निराकार ईश्वर की उपासना चलाई थी, इससे उनके संप्रदाय को निरंजनी संप्रदाय कहने लगे। किंतु आजकल निरंजनी साधु रामानंद के मतानुसार साकार उपासना ग्रहण करके उदासी वैष्णवों में हो गए हैं। ये कौपीन पहनते तथा तिलक और कंठी धारण करते हैं। मारवाड़ में इनके अखाड़े बहुत हैं।

निरंतर-वि० [सं०] (१) अंतर रहित। जिसमें या जिसके बीच अंतर या फासला न हो। जो बराबर चला गया हो। अविच्छिन्न। (देश के संबंध में)। (२) निबिड़। घना। गझिन। (३) जिसकी परंपरा खंडित न हो। अविच्छिन्न। लगातार होनेवाला। बराबर होनेवाला। जैसे, निरंतर प्रवाह। (काल के संबंध में)। (४) सदा रहनेवाला। बराबर बना रहनेवाला। अविचल। स्थायी। जैसे, निरंतर नियम, निरंतर प्रेम। (५) जिसमें भेद वा अंतर न हो। जो समान या एक ही हो। (६) जो अंतर्धान न हो। जो दृष्टि से ओझल न हो।

क्रि० वि० लगातार। बराबर। सदा। हमेशा। जैसे, उन्नति निरंतर होती आ रही है।

निरंध-वि० [सं० निरंध = जिससे बढ़कर अंधा न हो] (१) भारी अंधा। (२) महामूर्ख। ज्ञानशून्य। उ०—जाका गुरु है आँधरा चेला खरा निरंध। अंधे को अंधा मिला परा काल के फंद।—कबीर। (३) बहुत अँधेरा। उ०—अंध ज्यों अंधनि साथ निरंध कुआँ परिहूँ न हिए पछितानो।—केशव।

वि० [सं० निरंधस्] बिना अन्न का। निरन्न।

निरंबु-वि० [सं०] (१) निर्जल। बिना पानी का। (२) जो जल न पिए। जो बिना पानी के रहे। (३) जिसमें बिना जल के रहना पड़े। जैसे, निरंबु व्रत।

निरंभ-वि०[सं० निरंभस्] (१) निर्जल। (२) जो पानी न पिए। बिना पानी पिए रह जानेवाला। उ०—प्रात अरंभ की खंभ लगी निरदंभ निरंभ सँभारै न सासुनि।—देव।

निरंश-वि० [सं०] (१) जिसे उसका भाग न मिला हो। उ०—शेष सहस फन नाथि ज्यों सुरपति करे निरंस। अग्निपान कियो साँवरे कहा बापुरो कंस।—सूर।

विशेष—स्मृतियों में लिखा है कि पतित, क्लीव आदि निरंश हैं; इन्हें संपत्ति का भाग न मिलना चाहिए।

(२) बिना अक्षांश का।

संज्ञा पुं० राशि के भोगकाल का प्रथम और शेष दिन। संक्रांति।

निरकेवल†-वि० [सं० निस् + केवल] (१) खाली। खालिस। बिना मेल का। (२) स्वच्छ। साफ।

निरक्षदेश-संज्ञा पुं० [सं०] भूमध्य रेखा के आसपास के देश जिनमें रात और दिन बराबर होते हैं।

विशेष—पूर्व में भद्राश्ववर्ष और यमकोटि, दक्षिण में भारतवर्ष और लंका, पश्चिम में केतुमालवर्ष, रोमक, उत्तर कुरु और सिद्धपुरी निरक्ष देश कहे गए हैं। (सूर्य्यसिद्धांत)।

निरक्षन*-संज्ञा पुं० दे० "निरीक्षण"। उ०—होत विलक्षण यज्ञ विदेह की जात निरक्षन आपने अक्षन।—रघुराज।

निरक्षर-वि० [सं०] (१) अक्षरशून्य। (२) जिसने एक अक्षर भी न पढ़ा हो। अनपढ़। मूर्ख।

यौ०—निरक्षर भट्टाचार्य्य = पंडित बना हुआ मूर्ख।

निरक्ष-रेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ीमंडल। निरक्षवृत्त। क्रांतिवृत्त।

निरखना*-क्रि० स० [सं० निरीक्षण] देखना। ताकना। अवलोकन करना। उ०—बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहिं गगन विमान।—तुलसी।

निरग*-संज्ञा पुं० दे० "नृग"।

निरगुन*-वि० दे० "निर्गुण"।

निरगुनिया-वि० दे० "निरगुनी"।

निरगुन-वि० [सं० निर्गुण वा हिं० प्रत्य० निर + गुणी] जिसमें गुण न हो या जो गुणी न हो। अनाड़ी।

निराग्न-वि० [सं०] अग्निहोत्र न करनेवाला। जो श्रौत और स्मार्त्त विधि के अनुसार अग्निकर्म न करता हो।

निरचू-वि० [सं० निश्चिंत] निश्चिंत। खाली। जिसे फुरसत मिल गई हो। जिसने छुट्टी पाई हो। उ०—इस काम से

तो मैं निरचू हुई अब चलकर उस राजर्षि का वृत्तांत देखूँ ।—लक्ष्मणसिंह।

निरच्छ*–वि० [सं० निराक्षि] बिना आँख का । अंधा ।

निरजल–वि० दे० "निर्जल"।

निरजी--संज्ञा स्त्री०[देश०] संगतराशों की महीन टाँकी जिससे संगमर्मर पर काम बनाया जाता है।

निरजोस--संज्ञा पुं० [सं० निर्यास] (१) निचोड़। (२) निर्णय ।

निरजोसी--वि० [हिं० निरजोस] (१) निचोड़ निकालनेवाला। (२) निर्णय करनेवाला ।

निरझर*--संज्ञा पुं० दे० "निर्झर" ।

निरझरनी*–संज्ञा स्त्री० दे० "निर्झरिणी" ।

निरझरी*--संज्ञा स्त्री० दे० "निर्झरी" ।

निरत--वि० [सं०] किसी काम में लगा हुआ । तत्पर । लीन । मशगूल ।

*‡संज्ञा पुं० दे० "नृत्य" ।

निरतना*--क्रि० स० [सं० नर्त्तन] नाचना । नृत्य करना ।

निरति--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अत्यंत रति। अधिक प्रीति। (२) लिप्त होने का भाव । लीन होने का भाव ।

निरतिशय--वि० [सं०] जिससे और अतिशय न हो सके। हद दरजे का ।

संज्ञा पुं० परमेश्वर ।

निरदई--वि० दे० "निर्दय" ।

निरदय*–वि० दे० "निर्दय" ।

निरधातु--वि० [सं० निर्धातु] वीर्य्यहीन । शक्तिहीन । अशक्त । उ०—धातु कमाय सिखे तू जोगी । अब कस अस निरधातु वियोगी ।—जायसी ।

निरधार*–संज्ञा पुं० [सं०] निश्चय करने वा ठहरने का कार्य्य ।

निरधारना–क्रि० स० [सं० निर्धारण] (१) निश्चय करना। ठहराना । स्थिर करना । (२) मन में धारण करना । समझना । उ०—एक एक नग देखि अनेकन उडुगन वारिय । बसत मनहु सिसुमार चक्र तन इमि निरधारिय ।—गोपाल।

निरना–वि० दे० "निरन्ना" ।

निरनुनासिक–वि० [सं०] जिसका उच्चारण नाक के संबंध से न हो । जैसे, निरनुनासिक वर्ण ।

निरानुयोज्यानुयोग–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक निग्रहस्थान। दे० "निग्रहस्थान" ।

निरनै*‡–संज्ञा पुं० दे० "निर्णय" ।

निरन्न–वि० [सं० निरन्न] (१) अन्नरहित । बिना अन्न का। (२) निराहार । जो अन्न न खाए हो । जैसे, उस दिन वह निरन्न रह गया ।

निरन्ना–वि० [सं० निरन्न] जो अन्न न खाए हो । निराहार ।

मुहा०–निरन्ने मुँह = बिना मुँह में अन्न डाले। बिना कुछ खाए। बासी मुँह। जैसे, यह दवा निरन्ने मुँह पीनी चाहिए ।

निरपना*--वि० [सं० उप० निस्, निर + हिं० अपना] (१) जो अपना न हो। जो आत्मीय न हो। (२) बिराना। गैर। बेगाना। उ०—जानकीजीवन ! मेरे रावरे बदन फेरे ठाउँ न समाउँ कहाँ सकल निरपने ?—तुलसी ।

निरपराध–वि० [सं०] अपराध रहित । बेकसूर । निर्दोष। क्रि० वि० बिना अपराध के। बिना कोई कसूर किए। जैसे, तुमने उसे निरपराध मारा ।

निरपराधी*–वि० दे० "निरपराध" ।

निरपवर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] जिसमें भाजक के द्वारा भाग लगे। (गणित)

निरपवाद–वि० [सं०] (१) अपवादशून्य। जिसकी कोई बुराई न की जाय। (२) निर्दोष । (३) जिसका कभी अन्यथा न हो। जैसे, निरपवाद नियम ।

निरपाय–वि० [सं०] जिसका विनाश न हो ।

निरपेक्ष–वि० [सं०] (१) जिसे किसी बात की अपेक्षा या चाह न हो। बेपरवा (२) जो किसी पर अवलंबित न हो। जो किसी पर निर्भर न हो। (३) जिसे कुछ लगाव न हो। अलग । तटस्थ ।

संज्ञा पुं० (१) अनादर । (२) अवहेलना।

निरपेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपेक्षा या चाह का अभाव। (२) लगाव का न होना। (३) अवज्ञा। परवा न होना। (४) निराशा ।

निरपेक्षित–वि० [सं०] (१) जिसकी अपेक्षा या चाह न की गई हो। (२) जिसके साथ लगाव न रखा गया हो।

निरपेक्षी–वि० [सं० निरपेक्षिन्] (१) अपेक्षा या चाह न रखनेवाला। (२) लगाव न रखनेवाला ।

निरबंसी–वि० [सं० निर्वंश] जिसे वंश या संतान न हो।

निरबर्त्ती*–संज्ञा पुं० [सं० निवृत्त] विरागी । त्यागी ।

निरबल*–वि० दे० "निर्बल"।

निरबहना*–क्रि० अ० [सं० निर्वहना] निभना। चला चलना। निर्बाह होना । उ०—ताते न तरनि ते, न सीरे सुधाकर हूँ ते सहज समाधि निरबही है ।—तुलसी ।

निरबान*–संज्ञा पुं० दे० "निर्वाण" ।

निरबिसी–संज्ञा स्त्री० दे० "निर्विषी" ।

निरबेरा*–संज्ञा पुं० दे० "निबेरा" ।

निरभय–वि० दे० "निर्भय" ।

निरभर*–वि० दे० "निर्भर" ।

निरभिमान–वि० [सं०] अहंकारशून्य । अभिमानरहित ।

निरभिलाष--वि० [सं०] अभिलाषारहित । इच्छाशून्य ।

निरभ्र-वि० [सं०] बिना बादल का। मेघशून्य। जैसे, निरभ्र आकाश।

निरमना*-क्रि० स० [सं० निर्माण] निर्माण करना। बनाना। उ०—रूपरासि मनु बिधि निरमई।—जायसी।

निरमल*-वि० दे० "निर्मल"।

निरमली-संज्ञा स्त्री० दे० "निर्मली"।

निरमसोर-संज्ञा पुं० [देश०] एक ओषधि या जड़ी जिससे अफीम के विष का प्रभाव दूर हो जाता है। यह पंजाब में होती है।

निरमान*-संज्ञा पुं० दे० "निर्माण"।

निरमाना*-क्रि० स० [सं० निर्माण] बनाना। तैयार करना। रचना।

निरमायल*-संज्ञा पुं० दे० "निर्माल्य"।

निरमित्र-वि० [सं०] जिसका कोई शत्रु न हो।

संज्ञा पुं० (१) त्रिगर्त्त राज के एक पुत्र का नाम जो कुरुक्षेत्र की लड़ाई में मारा गया था। (२) चौथे पांडव नकुल के पुत्र का नाम।

निरमूल*-वि० दे० "निर्मूल"।

निरमूलना*-क्रि० स० [सं० निर्मूलन] (१) निर्मूल करना। उखाड़ना। (२) नष्ट करना।

निरमोल-वि० [सं० उप० निस्, निर+हिं० मोल] (१) जिसका मोल न हो। अनमोल। अमूल्य। (२) बहुत बढ़िया।

निरमोही*-वि० दे० "निर्मोही"।

निरय-संज्ञा पुं० [सं०] नरक। दोजख।

निरयण-संज्ञा पुं० [सं०] अयन रहित गणना। ज्योतिष में गणना की एक रीति।

विशेष—सूर्य्य राशिचक्र में निरंतर घूमता रहता है। उसके एक चक्कर पूरे होने को वर्ष कहते हैं। ज्योतिष की गणना के लिये यह आवश्यक है कि सूर्य्य के भ्रमण का आरंभ किसी स्थान से माना जाय। सूर्य्य के मार्ग में दो स्थान ऐसे पड़ते हैं जिन पर उसके आने पर रात और दिन बराबर होते हैं। इन दो स्थानों में से किसी स्थान से भ्रमण का आरंभ माना जा सकता है। पर विषुवरेखा (सूर्य्य के मार्ग) के जिस स्थान पर सूर्य्य के आने से दिनमान की वृद्धि होने लगती है उसे वासंतिक विषुवपद कहते हैं। इस स्थान से आरंभ करके सूर्य्यमार्ग को ३६० अंशों में विभक्त करते हैं। प्रथम ३० अंशों को मेष, द्वितीय को वृष इत्यादि मानकर राशि-विभाग द्वारा जो लग्नस्फुट और ग्रहस्फुट गणना करते हैं उसे 'सायन' गणना कहते हैं। पर गणना की एक दूसरी रीति भी है जो अधिक प्रचलित है। ज्योतिषगणना के आरंभकाल में मेषराशिस्थित अश्विनी नक्षत्र में आरंभ में दिन और रात्रिमान बराबर स्थिर हुआ था। पर नक्षत्र गण खसकता जाता है। अतः प्रति वर्ष अश्विनी नक्षत्र विषुवरेखा से जहाँ खसका रहेगा वहीं से राशिचक्र का आरंभ और वर्ष का प्रथम दिन मानकर जो लग्नस्फुट गणना की जाती है उसे "निरयण" गणना कहते हैं। भारतवर्ष में अधिकतर पंचांग निरयण गणना के अनुसार बनाए जाते हैं। ज्योतिषियों में 'सायन' और 'निरयण' ये दो पक्ष बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। बहुत से विद्वानों की राय है कि सायन मत ही ठीक है।

निरर्थ-वि० [सं०] (१) अर्थहीन। (२) व्यर्थ। निष्फल।

निरर्थक-वि० [सं०] (१) अर्थशून्य। बेमानी।

विशेष—निरर्थक वाक्य काव्य का एक दोष माना गया है। (चंद्रालोक)

(२) न्याय में एक निग्रहस्थान। दे० "निग्रहस्थान"।

(३) निष्प्रयोजन। व्यर्थ। बिना मतलब का। (४) निष्फल। जिससे कोई कार्य्य सिद्धि न हो। बेफायदा।

निरर्बुद-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

निरवग्रह-वि० [सं०] (१) प्रतिबंध रहित। स्वतंत्र। स्वच्छंद। (२) जो दूसरे की इच्छा पर न हो। (३) बिना विघ्न या बाधा का।

निरवच्छिन्न--क्रि० वि० [सं०] (१) अनवच्छिन्न। जिसका सिलसिला न टूटे। (२) निरंतर। लगातार। (३) विशुद्ध। निर्मल।

निरवद्य--वि० [सं०] [स्त्री० निरवद्या] जिसे कोई बुरा न कहे। अनिंद्य। निर्दोष। जिसमें कोई ऐब या बुराई न हो।

निरवधि--वि० [सं०] (१) अपार। असीम। बेहद। (२) निरंतर। लगातार। बराबर। (३) सदा। सतत। हमेशा।

निरवयव--वि० [सं०] अंगों से रहित। निराकार।

निरवलंब--वि० [सं०] (१) अवलंबहीन। आधार-रहित। बिना सहारे (का)। (२) निराश्रय। जिसे कहीं ठिकाना न हो जिसका कोई सहायक न हो।

निरवसित--वि० [सं०] जो ऊँची जातियों से अलग हो। जिसके भोजन या स्पर्श से पात्र आदि अशुद्ध हो जायँ। (चांडाल आदि)।

निरवस्कृत--वि० [सं०] परिष्कृत। साफ किया हुआ।

निरवहालिका--संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीर।

निरवाना--क्रि० स० [हिं० निराना का प्रे०] निराने का काम कराना।

निरवार--संज्ञा पुं० [हिं० निरवारना] (१) निस्तार। छुटकारा। बचाव। उ०—यही सोच सब पगि रहे कहूँ नहीं निरवार। ब्रज भीतर नँद भवन में घर घर यहै विचार।—सूर। (२) छुड़ाने या सुलझाने का काम। (३) निबटेरा। फैसला।

निरवारना*--क्रि० स० [सं० निवारण] (१) टालना। रोकने-

वाली वस्तु को हटाना। छेंकने या बाधा डालनेवाली वस्तु को दूर करना। उ०—आगे आगे लाल लता निरवारत, पाछे पाछे आवत नवल लाड़िली।—नंददास। (२) बंधन आदि खोलना। मुक्त करना। छुड़ाना। उ०—ये सुकुमार बहुत दुख पाए सुत कुबेर के तारौं। सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन कर बंधन निरवारौं।—सूर। (३) छोड़ना। त्यागना। किनारे करना। उ०—राना देसपति लाजै, बाप-कुल रती जाति, मानि लीजै बात वेगि संग निरवारिए।—प्रियादास। (४) गांठ आदि छुड़ाना। सुलझाना। उ०—कबहूँ कान्ह आपने कर सों केसपास निरवारत।—सूर। (५) निबटाना। निर्णय करना। तै करना।

निरवाह‡*–संज्ञा पुं० दे० "निर्वाह"।

निरशन–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का न करना। न खाने का भाव। लंघन। उपवास।

वि० (१) भोजनरहित। जिसने खाया न हो या जो न खाय। (२) जिसके अनुष्ठान में भोजन न किया जाय। जो बिना कुछ खाए किया जाय। जैसे, निरशन व्रत।

निरसंक*‡–वि० दे० "निःशंक"।

निरस–वि० [सं०] (१) जिसमें रस न हो। रसविहीन। (२) बिना स्वाद का। बदजायका। फीका। (३) असार। निस्तत्त्व। (४) रूखा। सूखा। (५) विरक्त। उ०—रे मन जग सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि। भलो सिखावन हेतु है निसि दिन तुलसी तोहि।—तुलसी।

निरसन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निरसनीय, निरस्य] (१) फेंकना। दूर करना। हटाना। (२) खारिज करना। रद करना। (३) निराकरण। परिहार। उ०—सांगतार्थ तहँ करत भे कुँवर चारि गोलच्छ। प्रतिग्रह फल निरसन हितै दीने द्विजन प्रतच्छ।—रघुराज। (४) निकालना। (५) थूकना। (६) नाश। (७) वध।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निरसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] निःश्रेणिका नाम की घास जो कोंकण देश में होती है।

निरस्त–वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। छोड़ा हुआ (जैसे, शर)। (२) त्याग किया हुआ। अलग किया हुआ। निकाला हुआ। दूर किया हुआ। (३) खारिज किया हुआ। रद किया हुआ। बिगाड़ा हुआ। निराकृत। (४) वर्जित। रहित। (५) थूका हुआ। उगला हुआ। (६) मुँह से अस्पष्ट रूप से जल्दी जल्दी बोला हुआ। शीघ्र उच्चारित (वाक्य आदि)।

निरस्त्र–वि० [सं०] अस्त्रहीन। बिना हथियार का।

निरस्य–वि० [सं०] निरसन के योग्य।

निरहंकार–वि० [सं०] अभिमानरहित।

निरहंकृत–वि० [सं०] अहंकारशून्य।

निरहम्–वि० [सं०] अहंभाव-शून्य। अहंकाररहित।

निरहेतु*–वि० दे० "निर्हेतु"।

निरहेल†–वि० [सं० हेय] अनादृत। तुच्छ। जिसकी कोई कदर न हो।

निरा–वि० [सं० निरालय, पू० हिं० निराल] [स्त्री० निरी] (१) विशुद्ध। बिना मेल का। खालिस। (२) जिसके साथ और कुछ न हो। केवल। एकमात्र। जैसे, निरी बकवाद से काम नहीं चलेगा। (३) निपट। नितांत। सर्वतोभाव। एकदम। बिलकुल। जैसे, वह निरा बेवकूफ है।

निराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० निराना] (१) निराने का काम। फसल के पौधों के आसपास उगनेवाले तृण, घास, आदि को दूर करने का काम। (२) निराने की मजदूरी।

निराकरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निराकरणीय, निराकृत]। (१) छांटना। अलग करना। (२) हटाना। दूर करना। (३) मिटाना। रद करना।

(२) किसी बुराई को दूर करने का काम। शमन। निवारण। परिहार। (३) खंडन। युक्ति या दलील को काटने का काम। जैसे, किसी सिद्धांत का निराकरण।

निराकांक्ष–वि० [सं०] जिसे आकांक्षा न हो।

निराकांक्षी–वि० [सं० निराकांक्षिन्] [स्त्री० निराकांक्षिणी] निस्पृह। जिसे कुछ इच्छा न हो।

निराकार–वि० [सं०] जिसका कोई आकार न हो। जिसके आकार की भावना न हो।

संज्ञा पुं० (१) ब्रह्म। ईश्वर। (२) आकाश।

निराकुल–वि० [सं०] (१) जो आकुल न हो। जो क्षुब्ध या डांवाडोल न हो। (२) जो घबराया न हो। अनुद्विग्न। (३) बहुत व्याकुल। बहुत घबराया हुआ। उ०—व्याकुलबाहु निराकुल बुद्धि थक्यो बलविक्रम लंकपती को।—केशव।

निराकृत—वि० [सं०] (१) मिटाई हुई। रद की हुई। (२) दूर की हुई। हटाई हुई। (३) खंडन की हुई।

निराकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] निराकरण। परिहार।

वि० (१) आकृतिरहित। निराकार। (२) स्वाध्यायरहित। वेदपाठरहित। (३) पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान से रहित। (मनु)

संज्ञा पुं० रोहित मनु के पुत्र। (हरिवंश)

निराक्रंद–वि० [सं०] (१) जहां कोई पुकार सुननेवाला न हो। जहां कोई रक्षा या सहायता करनेवाला न हो। (२) जो पुकार न सुने। जो रक्षा या सहायता न करे। जिसकी पुकार न सुनी जाय। जिसकी कोई सहायता न करे।

निराखर*†–वि० [सं० निरक्षर] (१) जिसमें अक्षर न हों। बिना अक्षर का। (२) बिना अक्षर वा शब्द का। मौन। (३) जिसे अक्षर का बोध न हो। अपढ़।

निरागस्–वि॰ [सं॰] पापरहित । निष्पाप ।

निराचार–वि॰ [सं॰ निः + आचार] आचारहीन ।

निराजी–संज्ञा स्त्री॰ [?] जुलाहों के करघे की वह लकड़ी जो हत्थे और तरौंछी को मिलाने के लिये दोनों के सिरों पर लगी रहती है ।

निराट–वि॰ [हिं॰ निराल] जिसके साथ और कुछ न हो । अकेला । एकमात्र । निरा । बिलकुल । निपट । उ॰—(क) प्रथम एक जो है किया भया सो बारह बाट । कसत कसौटी ना टिका पीतर भया निराट ।—कबीर । (ख) साधत देह पनेह निराट कहै मति कोई कहूँ अटकी सी ।—देव ।

निरातंक--वि॰ [सं॰] (१) भयरहित । निर्भय । (२) रोग-शून्य । नीरोग ।

निरातपा--संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] रात्रि । रात ।

निरादर--संज्ञा पुं॰ [सं॰] आदर का अभाव । अपमान । बेइज़्ज़ती ।

क्रि॰ प्र॰—करना ।

निरादान–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) आदान वा लेने का अभाव । (२) एक बुद्ध का नाम ।

निरादेश--संज्ञा पुं॰ [सं॰] भुगताना । अदा करने वा चुकाने का काम ॥

निराधार--वि॰ [सं॰] (१) अवलंब वा आश्रय रहित । जिसे सहारा न हो या जो सहारे पर न हो । जैसे, वह निराधार ठहरा रहा । (२) जो प्रमाणों से पुष्ट न हो । बे-जड़ बुनियाद का । अयुक्त । मिथ्या । झूठ । जैसे, निराधार कल्पना । (३) जिसे या जिसमें जीविका आदि का सहारा न हो । (४) जो बिना अन्न जल आदि के हो । जैसे, उसने दूध तक न पिया, निराधार रह गया ।

निराधि–वि॰ [सं॰] (१) रोगशून्य । नीरोग । (२) चिंता-रहित ।

निरानंद--वि॰ [सं॰] आनंदरहित । जिसे आनंद न हो ।

संज्ञा पुं॰ (१) आनंद का अभाव । (२) दुःख ।

निराना–क्रि॰ सं॰ [सं॰ निराकरण] फसल के पौधों के आस पास उगी हुई घास को खोदकर दूर करना जिसमें पौधों की बाढ़ न रुके । नींदना । निकाना । उ॰—कृषी निरावहिं चतुर किसाना ।—तुलसी ।

निरापद–वि॰ [सं॰] (१) जिसे कोई आपदा न हो । जिसे कोई आफत या डर न हो । सुरक्षित । (२) जिससे किसी प्रकार विपत्ति की संभावना न हो । जिससे हानि या अनर्थ की आशंका न हो । जैसे, निरापद उपाय, औषध । (३) जहाँ अनर्थ वा विपत्ति की आशंका न हो । जहाँ किसी बात का डर या खतरा न हो । जैसे, निरापद स्थान ।

निरापन*–वि॰ [सं॰ उप॰ निः + हिं॰ अपना] जो अपना न हो । पराया । बेगाना । उ॰—(क) ज्यों मुख मुकुर विलोकिए चित न रहै अनुहारि । त्यों सेवतहुँ निरापने ये मातु पिता सुत नारि ।—तुलसी । (ख) सब दुख आपने निरापने सकल सुख जौ लौं जन भयो न बजाय राजा राम को ।—तुलसी । (ग) ऐसन देह निरापन बौरे मुए छुवै नहिं कोई हो ।—कबीर ।

निरापुन*–वि॰ दे॰ "निरापन" । उ॰—जउ लहि जिउ आपुन सब कोई । बिनु जिय सबइ निरापुन होई ।—जायसी ।

निरामय–वि॰ [सं॰] जिसे रोग न हो । नीरोग । भला चंगा । तंदुरुस्त ।

संज्ञा पुं॰ (१) जंगली बकरा । (२) सूअर । (३) कुशल ।

निरामालु–संज्ञा पुं॰ [सं॰] कैथ का पेड़ । कपित्थ ।

निरामिष–वि॰ [सं॰] (१) मांसरहित । जिसमें मांस न मिला हो । उ॰—निरामिष भोजन । (२) जो मांस न खाय । उ॰—बायस पालिय अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ।—तुलसी ।

निरार†–वि॰ [हिं॰ निराल वा निआरा, न्यारा] अलग । पृथक । जुदा । उ॰—(क) नीर खीर छानै दरबारा । दूध पानि सब करै निरारा ।—जायसी । (ख) बातहिं जानहुँ विषम पहारा । हिरदै मिला न होइ निरारा ।—जायसी ।

निरारा–वि॰ दे॰ "निरार" ।

निरालंब--वि॰ [सं॰] (१) बिना आलंब या सहारे का । निराधार । (२) निराश्रय । बिना ठिकाने का ।

निरालंबा--संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] छोटी जटामासी ।

निरालक--संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार की समुद्री मछली ।

निरालस--वि॰ दे॰ "निरालस्य" ।

निरालसी--संज्ञा पुं॰ [हिं॰ निरालस] जो आलसी न हो ।

निरालस्य–वि॰ [सं॰] जिसमें आलस्य न हो । तत्पर । फुरतीला । चुस्त ।

संज्ञा पुं॰ [सं॰] आलस्य का अभाव ।

निराला–संज्ञा पुं॰ [सं॰ निरालय] [स्त्री॰ निराली] एकांत स्थान । ऐसा स्थान जहाँ कोई मनुष्य या बस्ती न हो । जैसे, (क) वहाँ निराला पड़ता है; चोर डाकू होंगे । (ख) चलो निराले में बात करें ।

वि॰ (१) जहाँ कोई मनुष्य या बस्ती न हो । एकांत । निर्जन । (२) जिसके ऐसा दूसरा न हो । विलक्षण । सब से भिन्न । अद्भुत । अजीब । जैसे, निराला ढंग, निराली चाल । (३) जिसके जोड़ का दूसरा न हो । अनोखा । अनुपम । अनूठा । अपूर्व । बहुत बढ़िया ।

निरावना†–क्रि॰ स॰ दे॰ "निराना" ।

निरावलंब–वि॰ [सं॰] बिना सहारे का । निराधार ।

निराश–वि० [हिं० नि + आशा] आशाहीन। जिसे आशा न हो। नाउम्मीद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

निराशा--संज्ञा स्त्री० [सं०] नाउम्मेदी। आशा का अभाव।

निराशिष–वि० [सं०] (१) आशीर्वादशून्य। (२) तृष्णारहित।

निराशी*--वि० [सं० निराश] (१) हताश। नाउम्मीद। (२) आशा तृष्णा रहित। उदासीन। विरक्त। उ०—तनक नहीं तिय को सुख जानत संसृति विषय निरासी।—रघुराज।

निराश्रय--वि० [सं०] (१) आश्रयरहित। आधारहीन। बिना सहारे का। (२) जिसे कहीं ठिकाना न हो। असहाय। अशरण। (३) जिसे शरीर आदि पर ममता न हो। निर्लिप्त।

निरास--संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर करना। निराकरण। (२) खंडन।

*वि० दे० "निराश"।

निरासन--संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर करना। निराकरण। (२) खंडन।

वि० आसनरहित।

निरासा*--संज्ञा स्त्री० दे० "निराशा"।

निरासी*–वि० (१) दे० "निराशी"। (२) उदास। बेरौनक। जहाँ वा जिसमें चित्त प्रसन्न न हो। उ०—सूर श्याम बिनु यह बन सूनो शशि बिनु रैन निरासी।—सूर।

निराहार–वि० [सं०] (१) आहाररहित। जो बिना भोजन के हो। जिसने कुछ खाया न हो या जो कुछ न खाय। (२) जिसके अनुष्ठान में भोजन न किया जाता हो। जैसे, निराहार व्रत।

निरिंग–वि० [सं०] निश्चल। अचल।

निरिंगिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] चिक। झिलमिली। परदा।

निरिंद्रिय–वि० [सं०] (१) इंद्रियशून्य। जिसे कोई इंद्रिय न हो। (२) जिसके हाथ, पैर, आँख, कान आदि न हों या काम के न हों।

विशेष—मनु ने जन्मांध, क्लीव, पतित, जन्मबधिर, उन्मत्त, जड़, मूक इत्यादि को निरिंद्रिय कहा है और इन्हें पितृधन के अनधिकारी ठहराया है।

निरिच्छ--वि० [सं०] इच्छारहित। जिसे कोई इच्छा न हो।

निरिच्छना*--क्रि० स० [सं० निरीक्षण] देखना। उ०—मुनि के प्रतच्छ बीस अच्छ बध रच्छसनि, बैठो जो समच्छ अच्छ अच्छनि सों लक्ष्यो है।……………पच्छवान शैल सों विपच्छ पर पच्छिन पै, कीश को निरिच्छौ च्छमा छोहरी जो रक्ष्यो है।—रघुराज।

निरी--वि० स्त्री० दे० "निरा"।

निरीक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देखनेवाला। (२) देख रेख करनेवाला।

निरीक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निरीक्षित, निरीक्ष्य, निरीक्ष्यमाण] (१) देखना। दर्शन। (२) देख रेख। निगरानी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) देखने की मुद्रा या ढंग। चितवन। (४) नेत्र। आँख।

निरीक्षा--संज्ञा स्त्री० [सं०] देखना। दर्शन।

निरीक्षित–वि० [सं०] (१) देखा हुआ। (२) देखा भाला हुआ। जाँच किया हुआ।

निरीक्ष्य–वि० [सं०] (१) देखने योग्य। (२) जाँच के लायक। निगरानी के लायक।

निरीक्ष्यमाण–वि० [सं०] जिसको देखते हों। जो देखा जाता हो।

निरीति–वि० [सं०] ईतिरहित। अति वृष्टि आदि से रहित।

निरीश--वि० [सं०] (१) जिसे ईश या स्वामी न हो। बिना मालिक का। (२) जिसकी समझ में ईश्वर न हो। अनीश्वरवादी। नास्तिक।

संज्ञा पुं० हल का फाल।

निरीश्वरवाद–संज्ञा पुं० [सं०] यह सिद्धांत कि कोई ईश्वर नहीं है।

निरीश्वरवादी–संज्ञा पुं० [सं०] जो ईश्वर का अस्तित्व न माने।

निरीष–संज्ञा पुं० [सं०] हल का फाल।

निरीह–वि० [सं०] (१) चेष्टारहित। जो किसी बात के लिये प्रयत्न न करे। (२) जिसे किसी बात की चाह न हो। (३) उदासीन। विरक्त। जो सब बातों से किनारे रहे। (४) जो किसी बखेड़े में न पड़े। तटस्थ। (५) शांतिप्रिय।

निरीहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चेष्टा का अभाव। (२) चाह का न होना। विरक्ति।

निरुआर†–संज्ञा पुं० दे० "निरुवार"।

निरुआरना–क्रि० स० दे० "निरुवारना"।

निरुक्त–वि० [सं०] (१) निश्चय रूप से कहा हुआ। व्याख्या किया हुआ। (२) नियुक्त। ठहराया हुआ।

संज्ञा पुं० छः वेदांगों में से एक। वेद का चौथा अंग।

विशेष—वैदिक शब्दों के निघंटु की जो व्याख्या यास्क मुनि ने की है उसे निरुक्त कहते हैं। इसमें वैदिक शब्दों के अर्थों का निर्णय किया गया है। वेद के शब्दों का अर्थ प्रकट करनेवाला प्राचीन आर्ष ग्रंथ यही है। यद्यपि यास्क ने शाकपूर्णि और स्थौलष्ठीवी आदि अपने से पहले के निरुक्तकारों का उल्लेख किया है पर उनके ग्रंथ अब प्राप्त नहीं हैं। सायणाचार्य के अनुसार जिसमें एक शब्द के कई अर्थ वा पर्याय कहे गए हों वह निरुक्त है। काशिकावृत्ति के अनुसार निरुक्त पाँच प्रकार का होता है—वर्णागम (अक्षर बढ़ाना), वर्णविपर्यय (अक्षरों को आगे पीछे करना), वर्ण-

विकार (अक्षरों को बदलना), नाश (अक्षरों को छोड़ना) और धातु के किसी एक अर्थ को सिद्ध करना।

निरुक्त के १२ अध्याय हैं। प्रथम में व्याकरण और शब्दशास्त्र पर सूक्ष्म विचार हैं। इतने प्राचीन काल में शब्दशास्त्र पर ऐसा गूढ़ विचार और कहीं नहीं देखा जाता। शब्दशास्त्र पर दो मत प्रचलित थे इसका पता यास्क के निरुक्त से लगता है। कुछ लोगों का मत था कि सब शब्द धातुमूलक हैं और धातु क्रियापद मात्र हैं जिनमें प्रत्ययादि लगाकर भिन्न भिन्न शब्द बनते हैं। यास्क ने इसी मत का मंडन किया है। इस मत के विरोधियों का कहना था कि कुछ शब्द धातुरूप क्रियापदों से बनते हैं पर सब नहीं, क्योंकि यदि "अश" से अश्व माना जाय तो प्रत्येक चलने या आगे बढ़नेवाला पदार्थ अश्व कहलावेगा। यास्क मुनि ने इसके उत्तर में कहा है कि जब एक क्रिया से एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है तब वही क्रिया करनेवाले और पदार्थ को वह नाम नहीं दिया जाता। दूसरे पक्ष का एक और विरोध यह था कि यदि नाम इसी प्रकार दिये गये हैं तो किसी पदार्थ में जितने गुण हों उतने ही उसके नाम भी होने चाहिएँ। यास्क इस पर कहते हैं कि एक पदार्थ किसी एक गुण या कर्म से एक नाम को धारण करता है। इसी प्रकार और भी समझिए।

दूसरे और तीसरे अध्याय में तीन निघंटुओं के शब्दों के अर्थ प्रायः व्याख्या सहित हैं, चौथे से छठें अध्याय तक चौथे निघंटु की व्याख्या है। सातवें से बारहवें तक पाँचवें निघंटु के वैदिक देवताओं की व्याख्या है।

निरुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरुक्त की रीति से निर्वचन। किसी पद या वाक्य की ऐसी व्याख्या जिसमें व्युत्पत्ति आदि का पूरा कथन हो। (२) एक काव्यालंकार जिसमें किसी शब्द का मनमाना अर्थ किया जाय परंतु वह अर्थ सयुक्तिक हो। उ०—रूप आदि गुण सों भरी तजि कै ब्रज बनितान। उद्धव कुब्जा बस भए, निर्गुण वहै निदान। तात्पर्य यह कि गुणवती ब्रज वनिताओं को छोड़कर 'गुणरहित' कुब्जा के वश होने से कृष्ण अब सचमुच 'निर्गुण' हो गए हैं।

निरुच्छ्वास-वि० [सं०] (१) (स्थान) जहाँ बहुत से लोग न अट सकें। सँकरा। संकीर्ण। (२) जहाँ ठसाठस लोग भरे हों। जहाँ खड़े होने तक की जगह न हो।

निरुज*-वि० दे० "नीरुज"।

निरुत्तर-वि० [सं०] (१) जिसका कुछ उत्तर न हो। लाजवाब। (२) जो उत्तर न दे सके। जो कायल हो जाय। उ०—बंधुवधूरत कहि कियो वचन निरुत्तर बालि।—तुलसी।

निरुत्साह-वि० [सं०] उत्साहहीन। जिसे उत्साह न हो।

निरुद्ध-वि० [सं०] रुका हुआ। बँधा हुआ।

संज्ञा पुं० योग में पाँच प्रकार की मनोवृत्तियों में से एक। चित्त की वह अवस्था जिसमें वह अपनी कारणीभूत प्रकृति को प्राप्त होकर निश्चेष्ट हो जाता है।

विशेष—मन की वृत्तियाँ योग में पाँच मानी गई हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्त के डाँवाडोल रहने को क्षिप्तावस्था, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-ज्ञानशून्य होने को मूढ़ावस्था, चंचलता के बीच बीच में चित की स्थिरता को विक्षिप्तावस्था, और एक वस्तु पर निश्चल रूप से स्थिर होने को एकाग्रावस्था कहते हैं। एकाग्र के उपरांत फिर निरुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है जिसमें स्थिर होने के लिये किसी वस्तु के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती, चित्त अपनी प्रकृति में ही स्थिर हो जाता है।

निरुद्धगुद-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मलद्वार बंद सा हो जाता है और मल बहुत थोड़ा थोड़ा और कष्ट से निकलता है।

निरुद्धप्रकाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मूत्रद्वार बंद सा हो जाता है और पेशाब बहुत रुक रुककर और थोड़ा थोड़ा होता है।

निरुद्यम-वि० [सं०] जिसके पास कोई उद्यम न हो। उद्योगरहित। बेकाम।

निरुद्यमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निरुद्यम होने की क्रिया या भाव। बेकारी।

निरुद्यमी-संज्ञा पुं० [सं० निरुद्यमिन्] जो कोई उद्यम न करता हो। बेकार। निकम्मा।

निरुद्योग-वि० [सं०] जिसके पास कोई उद्योग न हो। उद्योगरहित। बेकार। निकम्मा।

निरुद्योगी-संज्ञा पुं० [सं० निरुद्योगिन्] जो कुछ उद्योग न करे। निकम्मा। बेकार।

निरुद्वेग-वि० [सं०] उद्वेग से रहित। निश्चिंत।

निरुपद्रव-वि० [सं०] जिसमें कोई उपद्रव न हो। जो उत्पात या उपद्रव न करता हो।

निरुपद्रवता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निरुपद्रव होने की क्रिया या भाव।

निरुपद्रवी-संज्ञा पुं० [सं० निरुपद्रविन्] जो उपद्रव न करे। शांत।

निरुपधि-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की उपाधि न हो। जो उपद्रव न करता हो।

निरुपपत्ति-वि० [सं०] जिसकी कोई उपपत्ति न हो।

निरुपभोग-वि० [सं०] जिसका कोई उपभोग न हो।

निरुपम-वि० [सं०] जिसकी उपमा न हो। उपमारहित। बेजोड़।

संज्ञा पुं० [सं०] राष्ट्रकूट वंश के एक राजा का नाम।

निरुपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गायत्री का एक नाम।

निरुपयोगी–वि० [सं०] जो उपयोग में न आ सके। व्यर्थ। निरर्थक।

निरुपाख्य--वि० [सं०] (१) जिसकी व्याख्या न हो सके। (२) जो बिलकुल मिथ्या हो और जिसके होने की कोई संभावना न हो।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म।

निरुपाधि–वि० [सं०] (१) उपाधिरहित। बाधारहित। (२) मायारहित।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म।

विशेष—उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव को ब्रह्म का रूप प्राप्त हो जाता है।

निरुपाय--वि० [सं०] (१) जो कुछ उपाय न कर सके। (२) जिसका कोई उपाय न हो।

निरुपेक्ष--वि० [सं०] जिसमें उपेक्षा न हो। उपेक्षारहित।

निरुवरना⁕†–क्रि० अ० [सं० निवारण] कठिनता आदि का दूर होना। सुलझना। उ०—अस संयोग ईश जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुवरई।—तुलसी।

निरुवार†–संज्ञा पुं० [सं० निवारण] (१) छुड़ाने का काम। मोचन। (२) छुटकारा। बचाव। (३) सुलझाने का काम। उलझन मिटाने का काम। (४) तै करने का काम। निबटाने का काम। (५) निर्णय। फैसला। उ०—कहौ जाय करैं युद्ध विचार। सांच झूठ होयहै निरुवार।—सूर।

निरुवारना⁕–क्रि० स० [हिं० निरुवार] (१) छुड़ाना। मुक्त करना। बंधन आदि खोलना। (२) सुलझाना। फँसी या गुथी हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। उलझन मिटाना। उ०—तब सोइ बुद्धि पाय उजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुवारा।—तुलसी। (३) तै करना। निबटाना। निर्णय करना। फैसला करना।

विशेष—दे० "निरवारना"।

निरूढ़–वि० [सं०] (१) उत्पन्न। (२) प्रसिद्ध। विख्यात। (३) अविवाहित। कुँआरा।

संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पशु-याग।

निरूढ़-लक्षणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह लक्षणा जिसमें शब्द का गृहीत अर्थ रूढ़ हो गया हो अर्थात् वह केवल प्रसंग या प्रयोजनवश ही न ग्रहण किया गया हो। जैसे, कर्म्म-कुशल। कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है कुश उखाड़ने में प्रवीण। पर यहाँ लक्षणा द्वारा वह साधारणतः दक्ष या प्रवीण के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

निरूढ़वस्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की वस्ति या पिचकारी जिसमें रोगी की गुदा में एक विशेष प्रकार की नली के द्वारा कुछ ओषधियाँ पहुँचाई जाती हैं। यह क्रिया डाक्टरी एनिमा की क्रिया के समान ही होती है।

निरूढ़ा–संज्ञा स्त्री० दे० "निरूढ़-लक्षणा"।

वि० [सं०] अविवाहिता। कुँआरी।

निरूढ़ि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरूढ़-लक्षणा। (२) प्रसिद्धि।

निरूप–वि० [हिं० नि + रूप] (१) रूपरहित। निराकार। उ०—मोहन माँग्यो अपनो रूप। यहि ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं ता बिन वहाँ निरूप।—सूर। (२) कुरूप। बद-शकल। उ०—मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो चंद बहुरूप अनुरूप कै बिचारिए।—केशव।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। (२) देवता। (३) आकाश।

निरूपक–वि० [सं०] किसी विषय का निरूपण करनेवाला।

निरूपण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश। (२) किसी विषय का विवेचनापूर्वक निर्णय। विचार। (३) निदर्शन।

निरूपना⁕–क्रि० अ० [सं० निरूपण] निर्णय करना। ठहराना। निश्चित करना। उ०—(क) नेति नेति जेहि वेद निरूपा।—तुलसी। (ख) भगति निरूपहिँ भगत कलि निंदहिं वेद पुरान।—तुलसी।

निरूपम–वि० दे० "निरुपम"।

निरूपित-वि० [सं०] निरूपण किया हुआ। जिसकी विस्तृत विवेचना हो चुकी हो। जिसका निर्णय हो चुका हो।

निरूप्य–वि० [सं०] जो निरूपण करने योग्य हो।

निरूहवस्ति–संज्ञा स्त्री० दे० "निरूढ़वस्ति"।

निर्ऋति--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नैर्ऋत कोण की स्वामिनी। (२) राक्षसी। (३) मृत्यु। (४) दरिद्रता। (५) विपत्ति।

निरेखना⁕–क्रि० स० [सं० निरीक्षण] देखना। निरखना। उ०—(क) हनुमान भए दृग औरई से गज लौं गति मंद निरेखयो री।—हनुमान। (ख) न टरैं मन मोहनौ चाहि रहैं सब सौतैं सकानी निरेखियो री।—हनुमान।

निरै⁕–संज्ञा पुं० [सं० निरय] नरक।

निरोग‡–वि० [सं० नीरोग] रोगरहित। जिसे कोई रोग न हो। स्वस्थ।

निरोगी‡–संज्ञा पुं० [सं० नीरोग] वह व्यक्ति जिसे कोई रोग न हो। स्वस्थ। तंदुरुस्त।

निरोठा†–वि० [देश०] बदसूरत। बदशकल। कुरूप।

निरोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक। अवरोध। रुकावट। बंधन। (२) घेरा। घेर लेना। उ०–तब रावण सुनि लंका निरोध। उपज्यो तन मन अति परम क्रोध।—केशव। (३) नाश। (४) योग में चित्त की समस्त वृत्तियों को रोकना जिसमें अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। चित्त-वृत्तियों के निरोध के उपरांत मनुष्य को निर्बीज समाधि प्राप्त होती है।

निरोधक–वि० [सं०] रोकनेवाला। जो रोकता हो।

निरोधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक। रुकावट। (२) पारे का छठा संस्कार। (वैद्यक)

निरोध-परिणाम–संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र के अनुसार चित्त-वृत्ति की वह अवस्था जो व्युत्थान और निरोध के मध्य में होती है।

विशेष—योगशास्त्र में क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त इन तीन राजसिक परिणामों को व्युत्थान कहते हैं और विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है उसे निरोध कहते हैं। जब व्युत्थान से उत्पन्न संस्कारों का अंत हो जाता है और निरोध का आरंभ होने को होता है तब चित्त का थोड़ा थोड़ा संबंध दोनों ओर रहता है। उस अवस्था को निरोध-परिणाम कहते हैं।

निरोधी–वि० [सं० निरोधिन्] निरोध करनेवाला। प्रतिबंध या रुकावट करनेवाला।

निर्ख–संज्ञा पुं० [फा०] भाव। दर।

यौ०—निर्ख-दारोगा। निर्खनामा। निर्खबंदी।

क्रि० प्र०—मुकर्रर करना।

निर्ख-दारोगा–संज्ञा पुं० [फा०] मुसलमानों के राजत्वकाल में बाजार का वह दारोगा जो चीजों के भाव या दर आदि की निगरानी करता था।

निर्खनामा–संज्ञा पुं० [फा०] मुसलमानों के राजत्वकाल की वह सूची जिसमें बाजार की प्रत्येक वस्तु का भाव लिखा रहता था।

निर्खबंदी—संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी चीज का भाव या दर निश्चित करने की क्रिया।

निर्गंध–वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की गंध न हो। गंधहीन।

निर्गंधता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गंध होने की क्रिया या भाव।

निर्गंधपुष्पी–संज्ञा पुं० [सं०] सेमर का पेड़।

निर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] देश।

निर्गत–वि० [सं०] [स्त्री० निर्गता] निकला हुआ। बाहर आया हुआ।

निर्गम–संज्ञा पुं० [सं०] निकास।

निर्गमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलने का काम। निकलना। (२) द्वार जिसमें से होकर निकलते हैं।

निर्गमना—क्रि० अ० [सं० निर्गमन] निकलना। उ०—इक प्रविशहिं इक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।—तुलसी।

निर्गर्व–वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार का गर्व या अभिमान न हो।

निर्गुंठी–संज्ञा स्त्री० दे० "निर्गुंडी"।

निर्गुंडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का क्षुप जिसके प्रत्येक सींके में अरहर की पत्तियों के समान पाँच पाँच पत्तियां होती हैं जिनका ऊपरी भाग नीला और नीचे का भाग सफेद होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। किसी में काले और किसी में सफेद फूल लगते हैं। फूल आम के मौर के समान मंजरी के रूप में लगते हैं और केसरिया रंग के होते हैं। वैद्यक में इसे स्मरण-शक्ति-वर्धक, गरम, रूखी, कसैली, चरपरी, हलकी, नेत्रों के लिये हितकारी तथा शूल, सूजन, आमवात, कृमि, प्रदर, कोढ़, अरुचि, कफ और ज्वर को दूर करनेवाली माना है। औषधियों में इसकी जड़ का व्यवहार होता है। सँभालू। सम्हालू। सिंदुवार।

पर्य्या०—नीलिका। नीलनिर्गुंडी। सिंदुक। नीलसिंदुक। पीतसहा। भूतकेशी। इंद्राणी। कपिका। शेफालिका। शीतभीरु। नीलमंजरी। वनजा। मरुत्पत्री। कर्त्तरीपत्रा।

निर्गुंडीकल्प–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार निर्गुंडी और शहद को मिलाकर एक विशेष प्रकार से तैयार की हुई औषध जो आँखों की ज्योति बढ़ानेवाली, और कोढ़, गुल्म, शूल, प्लीहा, उदर आदि रोगों को दूर करनेवाली तथा बहुत ही पौष्टिक समझी जाती है।

निर्गुंडीतैल–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ निर्गुंडी का तेल जो सब प्रकार के फोड़े, फुंसियों, अपची तथा कंठमाला आदि को अच्छा करनेवाला माना जाता है।

निर्गुण–संज्ञा पुं० [सं०] सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से परे। परमेश्वर।

वि० [सं०] (१) जो सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से परे हो। (२) जिसमें कोई अच्छा गुण न हो। बुरा। खराब।

निर्गुणता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुण होने की क्रिया या भाव।

निर्गुणिया–वि० [सं० निर्गुण + इया (प्रत्य०)] वह जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना करता हो।

निर्गुणी–वि० [सं० निर्गुण] जिसमें कोई गुण न हो। गुणों से रहित। मूर्ख।

निर्गुन–वि० दे० "निर्गुण"।

निर्गूढ़–संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष का कोटर।

वि० [सं०] जो बहुत ही गूढ़ हो।

निर्ग्रंथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्ध क्षपणक। (२) दिगंबर। (३) एक प्राचीन मुनि का नाम।

वि० [सं०] (१) निर्धन। गरीब। (२) मूर्ख। बेवकूफ। (३) जिसे कोई सहायता देनेवाला न हो। निःसहाय।

निर्घंट–संज्ञा पुं० [सं०] शब्द या ग्रंथ सूची। फ़िहरिस्त।

निर्घंट–संज्ञा पुं० [सं०] वह हाट या बाजार जहाँ किसी प्रकार का राजकर न लगता हो।

निर्घात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शब्द जो हवा के बहुत तेज चलने से होता है।

विशेष—फलित ज्योतिष के अनुसार दिन के भिन्न भिन्न भागों में इस प्रकार के शब्द होने के भिन्न भिन्न शुभ और अशुभ

परिणाम होते हैं। जिस समय निर्घात होता हो उस समय किसी प्रकार का मंगल कार्य्य करना निषिद्ध है।

(२) बिजली की कड़क। (३) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र।

निर्घातन–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार अस्त्रचिकित्सा की एक क्रिया का नाम।

निर्घृण–वि० [सं०] (१) जिसे घृणा न हो। जिसे गंदी और बुरी वस्तुओं से घिन न लगे। (२) जिसे बुरे कामों से घृणा या लज्जा न हो। (३) बिना घृणावाले मनुष्यों का। अति नीच। अयोग्य। निकम्मा। निंदित। उ०—ज्यों त्यों करके अपने निर्घृण जीवन को बिताने का मनसूबा मैंने ठान लिया।—सरस्वती। (४) निर्दय। बेरहम। दयाहीन। उ०—रावण क्यों न तज्यो तब ही इन। सीय हरी जबहीं वह निर्घृण।—केशव।

निर्घोष–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निर्घोषित] शब्द। आवाज।

वि० [सं०] शब्द-रहित।

निर्चा–संज्ञा पुं० [?] चंचु नामक साग। विशेष—दे० "चंचु"।

निर्छल*†–वि० [सं० निश्छल] जिसे किसी प्रकार का छल या कपट न आता हो। निष्कपट।

निर्जन–वि० [सं०] वह स्थान जहाँ कोई मनुष्य न हो। सुनसान।

निर्जर–वि० [सं०] जिसे कभी बुढ़ापा न आवे। कभी बुड्ढा न होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) देवता।

विशेष—देवता लोग जरा अर्थात् बुढ़ापे से सदा बचे हुए माने जाते हैं, इसी लिये वे "निर्जर" कहलाते हैं।

(२) सुधा। अमृत।

निर्जरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुडुच। गिलोय। (२) तालपर्णी। (३) संचित कर्म का तप द्वारा निर्जरण या क्षय करना। (जैन०)

निर्जल–वि० [सं०] (१) बिना जल का। जल के संसर्ग से रहित। (२) जिसमें जल पीने का विधान न हो। जैसे, निर्जल व्रत।

संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ जल बिलकुल न हो।

निर्जल व्रत–संज्ञा पुं० [सं०] वह व्रत या उपवास जिसमें व्रती जल तक न पीए।

निर्जला एकादशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जेठ सुदी एकादशी तिथि, जिस दिन लोग निर्जल व्रत रखते हैं।

निर्जित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीता हुआ। जिसे जीत लिया हो। (२) जो वश में कर लिया गया हो।

निर्जीव–वि० [सं०] (१) जीवरहित। बेजान। मृतक। प्राणहीन। (२) अशक्त या उत्साहहीन।

निर्झर–संज्ञा पुं० [सं०] किसी ऊँचे स्थान अथवा पर्वत से निकला हुआ पानी का झरना। सोता। चश्मा।

निर्णय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) औचित्य और अनौचित्य आदि का विचार करके किसी विषय के दो पक्षों में से एक पक्ष को ठीक ठहराना। किसी विषय में कोई सिद्धांत स्थिर करना। निश्चय। (२) वादी और प्रतिवादी की बातों को सुनकर उनके सत्य अथवा असत्य होने के संबंध में कोई विचार स्थिर करना। फैसला। निबटारा। (स्मृतियों में यह चतुष्पाद व्यवहार का अंतिम पाद है)। (३) मीमांसा में किसी स्थिर सिद्धांत से कोई परिणाम निकालना।

निर्णयोपमा–संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय और उपमान के गुणों और दोषों की विवेचना की जाती है।

निर्णीत–वि० [सं०] निर्णय किया हुआ। जिसका निर्णय हो चुका हो।

निर्त*†–संज्ञा पुं० [सं० नृत्य] नृत्य। नाच।

निर्तक*†–संज्ञा पुं० [सं० नर्त्तक] (१) नाचनेवाला। नट (२) भाँड़।

निर्तना*†–क्रि० अ० [सं० नृत्य] नाचना। नृत्य करना।

निर्दंड–वि० [सं०] जिसे सब प्रकार के दंड दिए जा सकें।

संज्ञा पुं० [सं०] शूद्र जिसे सब प्रकार के दंड दिए जा सकते हैं।

निर्दंभ–वि० [सं०] जिसे दंभ या अभिमान न हो। दंभहीन।

निर्दई*†–वि० दे० "निर्दय"।

निर्दय–वि० [सं०] जिसे कुछ भी दया न हो। निष्ठुर। बेरहम।

निर्दयता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्दय होने की क्रिया या भाव। बेरहमी। निष्ठुरता।

निर्दयी*†–वि० दे० "निर्दय"।

निर्दहन–संज्ञा पुं० [सं०] भिलावें का पेड़।

निर्दहना*†–क्रि० स० [सं० दहन] जला देना। उ०—को न क्रोध निर्दहो काम बस केहि नहिं कीन्हा।—तुलसी।

निर्दहनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वालता। चूरनहार। मुर्रा। मरोड़फली।

निर्दिष्ट–वि० [सं०] (१) जिसका निर्देश हो चुका हो। (२) बतलाया या नियत किया हुआ। जिसके संबंध में पहले ही कुछ बतलाया या निश्चय कर दिया गया हो। ठहराया हुआ। जैसे, (क) सब लोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गए। (ख) आप निर्दिष्ट समय पर आ जाइएगा।

निर्दूषण*†–वि० दे० "निर्दोष"।

निर्देश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ को बतलाना। (२) ठहराना या निश्चित करना। (३) आज्ञा। हुकुम। (४) कथन। (५) उल्लेख। जिक्र। (६) वर्णन। (७) नाम। संज्ञा।

निर्दोष-वि० [सं०] (१) जिसमें कोई दोष न हो। बे-ऐब। बे-दाग। (२) जिसने कोई अपराध न किया हो। बे-कसूर।

निर्दोषता-संज्ञा स्त्री० [सं० निर्दोष + ता (प्रत्य०)] निर्दोष होने की क्रिया या भाव। अकलंकता। शुद्धता। दोष-विहीनता।

निर्दोषी-वि० दे० "निर्दोष (२)"।

निर्द्वंद, निर्द्वंद्व-वि० [सं०] (१) जिसका कोई विरोध करनेवाला न हो। जिसका कोई द्वंद्वी न हो। (२) जो राग, द्वेष, मान, अपमान आदि द्वंद्वों से रहित या परे हो। (३) स्वच्छंद। बिना बाधा का।

निर्धन-वि० [सं०] जिसके पास धन न हो। धनहीन। गरीब दरिद्र। कंगाल।

निर्धनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्धन होने की क्रिया या भाव। गरीबी। कंगाली। दरिद्रता।

निर्धर्म-संज्ञा पुं० [सं०] जो धर्म से रहित हो।

निर्धार, निर्धारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठहराना या निश्चित करना। (२) निश्चय। निर्णय। उ०—करि राख्यो निरधार यह मैं लखि नारी ज्ञान। वहै वैद औषधि वहै वहै जु रोगनिदान।—बिहारी। (३) न्याय के अनुसार किसी एक जाति के पदार्थों में से गुण वा कर्म आदि के विचार से कुछ को अलग करना। जैसे, काली गौएँ बहुत दूध देनेवाली होती हैं। यहाँ "गो" जाति में से अधिक दूध देनेवाली होने के कारण काली गौएँ पृथक् की गई हैं।

निर्धारना-क्रि० स० [सं० निर्धारण] निश्चित करना। निर्धारित करना। ठहराना।

निर्धारित-वि० [सं०] जिसका निर्धारण हो चुका हो। निश्चित किया हुआ। ठहराया हुआ।

निर्धूत-वि० [सं०] धोया हुआ। उ०—साधु पद सलिल निर्धूत कल्मष सकल स्वपच जवनादि कैवल्यभागी।—तुलसी। वि० [सं०] (१) खंडित। टूटा हुआ। (२) जिसका त्याग कर दिया गया हो।

निर्निमित्त, निर्निमित्तक-वि० [सं०] अकारण। बिना वजह।

निर्निमेष-क्रि० वि० [सं०] बिना पलक झपकाए। एकटक। वि० (१) जो पलक न गिरावे। (२) जिसमें पलक न गिरे। जैसे, निर्निमेष दृष्टि।

निर्पक्ष*†वि० दे० "निष्पक्ष"।

निर्फल-वि० दे० "निष्फल"।

निर्बंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुकावट। अड़चन। (२) जिद। हठ। (३) आग्रह।

निर्बल-वि० [सं०] बलहीन। कमजोर।

निर्बलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कमजोरी।

निर्बहना-क्रि० अ० [सं० निर्वहन] (१) पार होना। अलग होना। दूर होना। उ०—जे नाथ करि करुणा बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।—तुलसी। (२) क्रम का चलना। निभना। पालन होना। उ०—जासों बात राम की कही प्रीति न काहू सों निर्बही।—कबीर।

निर्बाचन-संज्ञा पुं० दे० "निर्वाचन"।

निर्बाण-संज्ञा पुं० दे० "निर्वाण"।

निर्बुद्धि-वि० [सं०] जिसे बुद्धि न हो। मूर्ख। बेवकूफ।

निर्बोध-वि० [सं०] जिसे कुछ भी बोध न हो। जिसे अच्छे बुरे का कुछ भी ज्ञान न हो। अज्ञान। अनजान।

निर्भय-वि० [सं०] (१) जिसे कोई डर न हो। निडर। बेखौफ। संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार रौच्य मनु के एक पुत्र का नाम। (२) बढ़िया घोड़ा।

निर्भयता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निडरपन। निडर होने का भाव। (२) निडर होने की अवस्था।

निर्भर-वि० [सं०] (१) पूर्ण। भरा हुआ। उ०—सबके उर निर्भर हरष पूरित पुलक शरीर। कबहिं देखिबै नयन भरि राम लषन दोउ बीर।—तुलसी। (२) युक्त। मिला हुआ। (३) अवलंबित। आश्रित। मुनहसर। संज्ञा पुं० [सं०] वह सेवक जिसे वेतन न दिया जाता हो। बेगार।

निर्भर्त्सन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भर्त्सन। डाँट डपट। तिरस्कार। (२) निंदा। (३) अलता।

निर्भर्त्सना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डाँट डपट। बुरा भला कहना। (२) निंदा। बदनामी।

निर्भीक-वि० [सं०] बेडर। निडर। जिसे डर न हो।

निर्भीकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्भीक होने की क्रिया या भाव।

निर्भीत-वि० [सं०] जिसे भय न हो। निडर।

निर्भूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतर्धान होना। गायब होना।

निर्भ्रम-वि० [सं०] भ्रमरहित। शंकारहित। जिसमें कोई संदेह न हो। क्रि० वि० निधड़क। बेखटके। बिना संकोच के। स्वच्छंदता से। बेडर। उ०—श्यामा श्याम सुभग जमुना जल निर्भ्रम करत विहार।—सूर।

निर्भ्रांत-वि० [सं०] (१) भ्रमरहित। निश्चित। जिसमें कोई संदेह न हो। (२) जिसको कोई भ्रम न हो।

निर्मथ-संज्ञा पुं० [सं०] अरणी जिसे रगड़कर यज्ञों के लिये आग निकालते हैं।

निर्मथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] नालिका या नली नाम का गंध-द्रव्य।

निर्मना*†-क्रि० स० दे० "निर्माना"।

निर्मम-वि० [सं०] जिसे ममता न हो। जिसको कोई वासना न हो।

निर्मल-वि० [सं०] (१) मलरहित। साफ। स्वच्छ। (२) पापरहित। शुद्ध। पवित्र। (३) दोषरहित। निर्दोष। कलंकहीन। संज्ञा पुं० (१) अभ्रक। (२) निर्मली।

निर्मलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफाई। स्वच्छता। (२) निष्कलंकता। (३) शुद्धता। पवित्रता।

निर्मला–संज्ञा पुं० [सं० निर्मल] (१) एक नानकपंथी संप्रदाय जिसके प्रवर्त्तक रामदास नामक एक महात्मा थे। इस संप्रदाय के लोग गेरुए वस्त्र पहनते और साधु-संन्यासियों की भाँति रहते हैं। (२) इस संप्रदाय का कोई व्यक्ति।

निर्मली–संज्ञा स्त्री० [सं० निर्मल] (१) एक प्रकार का मझला सदाबहार वृक्ष जो बंगाल, मध्य भारत, दक्षिण भारत और बरमा में पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत चिकनी, कड़ी और मजबूत होती है और इमारत, खेती के औजार और गाड़ियाँ आदि बनाने के काम में आती है। चीरने के समय इसकी लकड़ी का रंग अंदर से सफेद निकलता है परंतु हवा लगते ही कुछ भूरा या काला हो जाता है। इस वृक्ष के फल का गूदा खाया जाता है और इसके पके हुए बीजों का, जो कुचले की तरह के परंतु उससे बहुत छोटे होते हैं, आँखों, पेट तथा मूत्र-यंत्र के अनेक रोगों में व्यवहार होता है। गँदले पानी को साफ करने के लिये भी ये बीज उसमें घिसकर डाल दिए जाते हैं जिससे पानी में मिली हुई मिट्टी जल्दी बैठ जाती है। कतक। पाय पसारी। चाकसू। (२) रीठे का वृक्ष या फल।

निर्मलोपम–संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक।

निर्मल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्पृक्का। असबरग।

निर्मांस–संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जो भोजन के अभाव के कारण बहुत दुबला हो गया हो, जैसे, तपस्वी या दरिद्र भिखमंगा आदि।

निर्माण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रचना। बनावट। (२) बनाने का काम।

निर्माणविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] इमारत, नहर, पुल इत्यादि बनाने की विद्या। वास्तु-विद्या। इंजीनियरी।

निर्माता–संज्ञा पुं० [सं०] निर्माण करनेवाला। बनानेवाला। जो बनावे।

निर्मात्रिक–वि० [सं०] बिना मात्रा का। जिसमें मात्रा न हो।

निर्माना*–क्रि० स० [सं० निर्माण] बनाना। रचना। उत्पन्न करना। उ०—ब्रह्मा ऋषि मरीचि निर्मायो। ऋषि मरीचि कश्यप उपजायो।—सूर।

निर्मायल*–संज्ञा पुं० दे० "निर्माल्य"।

निर्माल्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो किसी देवता पर चढ़ चुका हो। देवता पर चढ़ चुकी हुई चीज। देवार्पित वस्तु। **विशेष**—(क) जो पुष्प, फल और मिष्ठान्न आदि किसी देवता पर चढ़ाए जाते हैं वे विसर्जन से पहले "नैवेद्य" और विसर्जन के उपरांत "निर्माल्य" कहलाते हैं। (ख) शिव के अतिरिक्त और सब देवताओं के निर्माल्य पुष्प और मिष्ठान्न आदि ग्रहण किए जाते हैं।

निर्माल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्पृक्का। असबरग।

निर्मित–वि० [सं०] बनाया हुआ। रचित।

निर्मिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निर्माण। बनाने की क्रिया। (२) बनाने का भाव।

निर्मुक्त–वि० [सं०] (१) जो मुक्त हो गया हो। जो छूट गया हो। (२) जिसके लिये किसी प्रकार का बंधन न हो। संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसने अभी हाल में केंचुली छोड़ी हो।

निर्मुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्ति। छुटकारा। (२) मोक्ष।

निर्मूल–वि० [सं०] (१) जिसमें जड़ न हो। बिना जड़ का। (२) जिसकी जड़ न रह गई हो। जड़ से उखाड़ा हुआ। जैसे, निर्मूल करना। (३) जिसका कोई आधार, बुनियाद या असलियत न हो। बेजड़। जैसे, निर्मूल बात। (४) जिसका मूल ही न रह गया हो। जो सर्वथा नष्ट हो गया हो। जैसे, रोग को निर्मूल करना।

निर्मूलक–वि० दे० "निर्मूल"।

निर्मूलन–संज्ञा पुं० [सं०] निर्मूल होना या करना। विनाश।

निर्मोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप की केंचुली। (२) शरीर के ऊपर की खाल। (३) पुराणानुसार सावर्णि मनु के एक पुत्र का नाम। (४) तेरहवें मनु के सप्तर्षियों में से एक का नाम। (५) आकाश।

निर्मोक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण मोक्ष जिसमें कुछ भी संस्कार बाकी न रह जाय। (२) त्याग।

निर्मोल*†–वि० [सं० निः + हिं० मोल] जिसका मूल्य बहुत अधिक हो या जिसके मूल्य का अनुमान न हो सके। अमूल्य। उ०—नैना लोभहिं लोभ भरे।......जोइ देखैं सोइ सोइ निर्मोलै कर लै तहीं धरै।—सूर।

निर्मोह–वि० [सं०] जिनके मन में मोह या ममता न हो। संज्ञा पुं० [सं०] (१) रैवत मनु के एक पुत्र का नाम। (२) सावर्णि मनु के एक पुत्र का नाम।

निर्मोहिनी–वि० स्त्री० [हिं० निर्मोही + इनी (प्रत्य०)] निर्दय। जिसके चित्त में ममता या दया न हो। कठोरहृदय। उ०—वा निर्मोहिनी रूप की राशि जो ऊपर के उर आनति ह्वै है।.. ....आवत हैं नित मेरे लिये इतनो तो विशेष हू जानति ह्वै है।—ठाकुर।

निर्मोहिया†–वि० दे० "निर्मोही"।

निर्मोही–वि० [सं० निर्मोह] जिसके हृदय में मोह या ममता न हो। निर्दय। कठोरहृदय।

निर्याण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहर निकलना। (२) यात्रा।

रवानगी। प्रस्थान। विशेषतः सेना का युद्ध-क्षेत्र की ओर अथवा पशुओं का चराई की ओर प्रस्थान। (३) वह सड़क जो किसी नगर के बाहर की ओर जाती हो। (४) अदृश्य होना। गायब होना। (५) शरीर से आत्मा का निकलना। मृत्यु। (६) मोक्ष। मुक्ति। (७) हाथी की आँख का बाहरी कोना। (८) पशुओं के पैरों में बाँधने की रस्सी।

निर्यातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदला चुकाना। (२) प्रतीकार। (३) मार डालना। (४) ऋण चुकाना।

निर्याम-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लाह।

निर्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्षों या पौधों में से आपसे आप, अथवा उनका तना आदि चीरने से निकलनेवाला रस। (२) गोंद। (३) बहना या झरना। क्षरण। (४) क्वाथ। काढ़ा।

निर्यूष-संज्ञा पुं० दे० "निर्यास"।

निर्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्वाथ। काढ़ा। (२) द्वार। दरवाजा। (३) सिर पर पहनी जानेवाली कोई चीज। जैसे, मुकुट आदि। (४) दीवार में लगाई हुई वह लकड़ी आदि जिसके ऊपर कोई चीज रखी या बनाई जाय।

निर्लज्ज-वि० [सं०] लज्जाहीन। बेशर्म। बेहया।

निर्लज्जता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बेशर्मी। बेहयाई। निर्लज्ज होने का भाव।

निर्लिप्त-वि० [सं०] (१) राग द्वेष आदि से मुक्त। जो किसी विषय में आसक्त न हो। (२) जो लिप्त न हो। जो कोई संबंध न रखता हो। बेलौस।

निर्लेखन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी चीज पर जमी हुई मैल आदि खुरचना। (२) वह चीज जिससे मैल खुरची जाय। (सुश्रुत)।

निर्लेप-वि० [सं०] विषयों आदि से अलग रहनेवाला। निर्लिप्त।

निर्लोभ-वि० [सं०] जिसे लोभ न हो। लालच न करनेवाला।

निर्लोभी-वि० दे० "निर्लोभ"।

निर्वंश-वि० [सं०] जिसके आगे वंश चलानेवाला कोई न हो। जिसका वंश नष्ट हो गया हो।

निर्वंशता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्वंश होने का भाव।

निर्वर-वि० [सं०] (१) निर्लज्ज। बेशरम। (२) निर्भय। निडर।

निर्वहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निबाह। गुजर। निर्वाह। (२) समाप्ति।

निर्वहना*†-क्रि० अ० [सं० निर्वहन] गुजर करना या होना। निभना। चला चलना। परंपरा का पालन होना।

निर्वाक्-वि० [सं०] जिसके मुँह से बात न निकले। जो चुप हो।

निर्वाक्य-वि० [सं०] जो बोल न सकता हो। गूँगा।

निर्वाण-वि० [सं०] (१) बुझा हुआ (दीपक अग्नि आदि)। (२) अस्त। डूबा हुआ। (३) शांत। धीमा पड़ा हुआ। (४) मृत। मरा हुआ। (५) निश्चल। (६) शून्यता को प्राप्त। (७) बिना बाण का।

संज्ञा पुं० (१) बुझना। ठंढा होना। (२) समाप्ति। न रह जाना। (३) अस्त। गमन। डूबना। (४) शांति। (५) मुक्ति। मोक्ष।

विशेष—यद्यपि मुक्ति के अर्थ में निर्वाण शब्द का प्रयोग गीता, भागवत, रघुवंश, शारीरक भाष्य इत्यादि नए पुराने ग्रंथों में मिलता है पर यह शब्द बौद्धों का पारिभाषिक है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा (पूर्व) और वेदांत में क्रमशः मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस, मुक्ति या स्वर्गप्राप्ति तथा कैवल्य शब्दों का व्यवहार हुआ है पर बौद्ध दर्शन में बराबर निर्वाण शब्द ही आया है और उसकी विशेष रूप से व्याख्या की गई है। बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ हैं हीनयान (या उत्तरीय) और महायान (या दक्षिणी)। इनमें से हीनयान शाखा के सब ग्रंथ पाली भाषा में हैं और बौद्ध धर्म के मूल रूप का प्रतिपादन करते हैं। महायान शाखा कुछ पीछे की है और उसके सब ग्रंथ संस्कृत में लिखे गए हैं। महायान शाखा में ही अनेक आचार्यों द्वारा बौद्ध सिद्धांतों का निरूपण गूढ़ तर्क-प्रणाली द्वारा दार्शनिक दृष्टि से हुआ है। प्राचीन काल में वैदिक आचार्यों का जिन बौद्ध आचार्यों से शास्त्रार्थ होता था वे प्रायः महायान शाखा के थे। अतः निर्वाण शब्द से क्या अभिप्राय है इसका निर्णय उन्हीं के वचनों द्वारा हो सकता है।

बोधिसत्व नागार्जुन ने माध्यमिक सूत्र में लिखा है कि 'भवसंतति का उच्छेद ही निर्वाण है' अर्थात् अपने संस्कारों द्वारा हम बार बार जन्म के बंधन में पड़ते हैं इससे उनके उच्छेद द्वारा भवबंधन का नाश हो सकता है। रत्नकूट सूत्र में बुद्ध का यह वचन है—"राग, द्वेष और मोह के क्षय से निर्वाण होता है"। वज्रच्छेदिका में बुद्ध ने कहा है कि निर्वाण अनुपधि है उसमें कोई संस्कार नहीं रह जाता। माध्यमिक सूत्रकार चंद्रकीर्त्ति ने निर्वाण के संबंध में कहा है कि सर्वप्रपंचनिवर्त्तक शून्यता को ही निर्वाण कहते हैं। यह शून्यता वा निर्वाण क्या है? न इसे भाव कह सकते हैं, न अभाव। क्योंकि भाव और अभाव दोनों के ज्ञान के क्षय का ही नाम तो निर्वाण है, जो अस्ति और नास्ति दोनों भावों के परे और अनिर्वचनीय है। माधवाचार्य्य ने भी अपने सर्वदर्शनसंग्रह में शून्यता का यही अभिप्राय बतलाया है—"अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्ति ही शून्यत्व है। माध्यमिक सूत्र में नागार्जुन ने कहा है कि अस्तित्व (है) और नास्तित्व (नहीं है) का अनुभव अल्पबुद्धि ही करते हैं। बुद्धिमान् लोग इन दोनों का उपशमरूप कल्याण प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि निर्वाण शब्द जिस शून्यता का बोधक है उससे चित्त का ग्राह्य ग्राहक संबंध ही नहीं है। मैं भी मिथ्या, संसार भी मिथ्या। एक बात ध्यान देने की है कि बौद्ध दार्शनिक जीव या आत्मा की भी प्रकृत सत्ता नहीं मानते। वे एक महाशून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते।

निर्वाणप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक गंधर्वी का नाम।

निर्वाणी-संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के एक शासन-देवता।

निर्वात-वि० [सं०] (१) जहाँ हवा न हो। जहाँ हवा का झोंका न लग सके। (२) जो चंचल न हो। स्थिर।

निर्वाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपवाद। निंदा। (२) अवज्ञा। लापरवाई।

निर्वाप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दान। (२) वह दान जो पितरों के उद्देश्य से किया जाय।

निर्वास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्वासन। निकाल देना। (२) प्रवास। विदेश-यात्रा।

निर्वासक-वि० [सं०] निर्वासन करनेवाला।

निर्वासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना। वध। (२) गाँव, शहर या देश आदि से दंड-स्वरूप बाहर निकाल देना। देशनिकाला। (३) निकालना। (४) विसर्जन।

निर्वाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी क्रम या परंपरा का चला चलना। किसी बात का जारी रहना। निबाह। जैसे, प्रीति का निर्वाह, कार्य्य का निर्वाह। (२) किसी बात के अनुसार बराबर आचरण। पालन। जैसे, प्रतिज्ञा का निर्वाह, वचन का निर्वाह। (३) समाप्ति। पूरा होना।

निर्वाहक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी काम का निर्वाह करे।

निर्वाहना*-क्रि० अ० [सं० निर्वाह + ना (हिं० प्रत्य०)] निर्वाह करना।
उ०—दोष न कछू है तुम्हैं नेह निर्वाहे को।—पद्माकर।

निर्विंध्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] विंध्याचल से निकली हुई एक छोटी नदी जिसका उल्लेख मेघदूत में है।

निर्विकल्प-वि० [सं०] (१) जो विकल्प, परिवर्त्तन या प्रभेदों आदि से रहित हो। (२) स्थिर। निश्चित।
संज्ञा स्त्री० दे० "निर्विकल्प समाधि"।

निर्विकल्पक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदांत के अनुसार वह अवस्था जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नहीं रह जाता, दोनों एक हो जाते हैं। (२) न्याय के अनुसार वह अलौकिक आलोचनात्मक ज्ञान जो इंद्रियजन्य ज्ञान से बिलकुल भिन्न होता है। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार केवल ऐसा ही ज्ञान प्रमाण माना जाता है।

निर्विकल्प समाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की समाधि जिसमें ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता आदि का कोई भेद नहीं रह जाता और ज्ञानात्मक सच्चिदानंद ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। इस समाधि की तुलना योग की सुषुप्ति अवस्था के साथ की जा सकती है।

निर्विकार-वि० [सं०] विकाररहित। जिसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्त्तन न हो।

निर्विघ्न--वि० [सं०] विघ्न-बाधारहित। जिसमें कोई विघ्न न हो।
क्रि० वि० बिना किसी प्रकार के विघ्न या बाधा के। जैसे, सब कार्य्य निर्विघ्न समाप्त हो गया।

निर्विचार-वि० [सं०] विचाररहित। जिसमें कोई विचार न हो।
संज्ञा पुं० [सं०] योगदर्शन के अनुसार एक प्रकार की सबीज समाधि जो किसी सूक्ष्म आलंबन में तन्मय होने से प्राप्त होती है और जिसमें उस आलंबन के नाम और संकेत आदि का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, केवल इसके आकार आदि का ही ज्ञान होता है। ऐसी समाधि सबसे उत्तम समझी जाती है और उससे चित्त निर्मल होता है और बुद्धि सर्वप्रकाशक हो जाती है।

निर्वितर्क समाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगदर्शन के अनुसार एक प्रकार की सबीज समाधि जो किसी स्थूल आलंबन में तन्मय होने से प्राप्त होती है और जिसमें उस आलंबन के नाम और संकेत आदि का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, केवल उसके आकार आदि का ही ज्ञान होता है।

निर्विद्य-वि० [सं०] विद्याहीन। जो पढ़ा-लिखा न हो।

निर्विवाद-वि० [सं०] जिसमें कोई विवाद न हो। बिना झगड़े का।

निर्विवेक-वि० [सं०] जो किसी बात की विवेचना न कर सकता हो। विवेकहीन।

निर्विवेकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्विवेक होने का भाव।

निर्विशेष-संज्ञा पुं० [सं०] परब्रह्म। परमात्मा।

निर्विष--वि० [सं०] विषहीन। जिसमें विष न हो।

निर्विषा--संज्ञा स्त्री० दे० "निर्विषी"।

निर्विषी--संज्ञा स्त्री० [सं०] असवर्ग की जाति की एक घास जो पश्चिमोत्तर हिमालय, काश्मीर और मलयागिरि में अधिकता से होती है। इसकी जड़ अतीस के समान होती है जिसका व्यवहार साँप-बिच्छू आदि के विषों के अतिरिक्त शरीर के और भी अनेक प्रकार के विषों का नाश करने के लिये होता है। वैद्यक के अनुसार यह जड़ कटु, शीतल, व्रण को भरनेवाली और कफ, वात, रुधिर-विकार, विष को नष्ट करनेवाली मानी जाती है। जदवार।
पर्या०—निर्विषा। अविविषा। विविषा। विषहा। विषहंत्री। विषाभावा। अविषा। विषवैरिणी।

निर्विष्ट—वि० [सं०] (१) जो भोग कर चुका हो। (२) जो विवाह कर चुका हो। (३) जो अग्निहोत्र कर चुका हो। (४) जो मुक्त हो गया हो।

निर्वींज-वि० [सं०] (१) बीजरहित। जिसमें बीज न हों। (२) जो कारण से रहित हो।

निर्वींज समाधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पातंजल के अनुसार समाधि की वह अवस्था जिसमें चित्त का निरोध करते करते उसका अवलंबन या वीज भी विलीन हो जाता है। इस अवस्था में मनुष्य को सुख दुःख आदि का कुछ भी अनुभव नहीं होता और उसका मोक्ष हो जाता है।

निर्वींजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] किशमिश नाम का मेवा।

निर्वींरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका पति और पुत्र न हो।

निर्वीर्य्य-वि० [सं०] वीर्य्यहीन। बल वा तेजरहित। कमजोर। निस्तेज।

निर्वृत्त-वि० [सं०] जो पूरा हो गया हो। जिसकी निष्पत्ति हो गई हो।

निर्वृत्तात्मा-संज्ञा पुं० [सं० निर्वृत्तात्मन्] विष्णु।

निर्वृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्पत्ति।

निर्वेग-वि० [सं०] जिसमें वेग या गति न हो। स्थिर।

निर्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपना अपमान। (२) वैराग्य। (३) खेद। दुःख। (४) अनुताप।

निर्वेधिम-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार कान छेदने का एक औजार।

निर्वेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोग। (२) वेतन। तनखाह। (३) विवाह। ब्याह। शादी। (४) मूर्छा। बेहोशी।

निर्वैर-वि० [सं०] जिसमें वैर न हो। द्वेष से रहित।

निर्व्यलीक-वि० [सं०] निष्कपट। छलरहित। उ०—शंकर हृद पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई।—तुलसी।

निर्व्याज-वि० [सं०] (१) निष्कपट। छलरहित। उ०—पूजा यहै उर आनु। निर्व्याज धरिए ध्यानु।—केशव। (२) बाधारहित।

निर्व्याधि-वि० [सं०] व्याधि या रोग से मुक्त।

निर्हरण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निर्हारी] (१) शव को जलाने के लिये ले जाना। (२) जलाना। (३) नाश करना।

निर्हेतु-वि० [सं०] जिसमें कोई हेतु या कारण न हो।

निल-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम जो माली नामक राक्षस की वसुदा नाम की स्त्री से उत्पन्न हुआ था और जो विभीषण का मंत्री था।

निलज†-वि० दे० "निर्लज्ज"।

निलजई*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० निलज + ई (प्रत्य०)] निर्लज्जता। बेशर्मी। बेहयाई। उ०—खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु, रीझिबे लायक तुलसी की निलजई।—तुलसी।

निलजता*-संज्ञा स्त्री० [सं० निर्लज्जता] निर्लज्जता। बेशर्मी। बेहयाई। उ०—निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहिं छोरि।—तुलसी।

निलजी*†-वि० स्त्री० [हिं० निर्लज्ज] निर्लज्जा (स्त्री)। बेशर्म। बेहया।

निलज्ज-वि० दे० "निर्लज्ज"।

निलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान। घर। (२) स्थान। जगह।

निलाम-संज्ञा पुं० दे० "नीलाम"।

निलीन-वि० [सं०] बहुत अधिक लीन।

निवक्ष-संज्ञा पुं० [सं० निवक्षस्] वह जीव या पशु जो यज्ञ आदि में उत्सर्ग किया जाय।

निवछावर-संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर"।

निवड़िया-संज्ञा स्त्री० [हिं० नावर] एक प्रकार की नाव। दे० "निवाड़ा"।

निवपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों आदि के उद्देश्य से कुछ दान करना। (२) वह जो कुछ पितरों आदि के उद्देश्य से दान किया जाय।

निवर-वि० [सं०] निवारण करनेवाला। निवारक।

निवरा-वि० स्त्री० [सं०] जिसके वर न हो। अविवाहिता। कुमारी।

निवर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में भूमि की एक नाप जो २१० हाथ लंबाई और २१० हाथ चौड़ाई की होती थी। (२) निवारण। (३) पीछे हटाना या लौटाना।

निवर्त्ती-संज्ञा पुं० [सं० निवर्तिन्] (१) वह जो पीछे की ओर हट आया हो। (२) वह जो युद्ध में से भाग आया हो। (३) निर्लिप्त।

निवसथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाँव। (२) सीमा। हद। (डिं०)

निवसन-संज्ञा पुं० [सं० निस् + वसन] (१) गाँव। (२) घर। (३) वस्त्र। (४) स्त्री का सामान्य अधोवस्त्र। (डिं०)

निवसना-क्रि० अ० [सं० निवसन या निवास] रहना। निवास करना। उ०—(क) यहि मिसि चित्रकूट की महिमा मुनिवर बहुत बखानि। सुनत राम हरखित तहँ निवसे पावन गिरि पहिचानि।—देवस्वामी। (ख) बल बालक नँदराज समेता। मम गृह निवसहु कृपानिकेता।—गोपाल।

निवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह। यूथ। उ०—किंशुक वरन सुअंसुक सुखमा सुखन समेत। जनु विधु निवह रहे करि दामिन निकर निकेत।—तुलसी। (२) सात वायुओं में से एक वायु।

विशेष—फलित ज्योतिष में सात वायुएँ मानी गई हैं जिनमें से प्रत्येक वायु एक वर्ष तक बहती है। निवह वायु भी उन्हीं में से एक है। यह न तो बहुत तेज होती है और न बहुत धीमी। जिस वर्ष यह वायु चलती है, कहते हैं कि उस वर्ष कोई सुखी नहीं रहता।

निवाई–वि० [सं० नव] (१) नवीन। नया। (२) अनोखा। विलक्षण। उ०—पुनि लक्ष्मी यों विनय सुनाई। डरौं देखि यह रूप निवाई।—सूर।

निवाज–वि० [फा०] कृपा करनेवाला। अनुग्रह करनेवाला।

विशेष—इसका प्रयोग फारसी और अरबी आदि शब्दों के अंत में, यौगिक में, होता है। जैसे, गरीबनिवाज।

† संज्ञा स्त्री० दे० "नमाज़"।

निवाजना*†–क्रि० स० [फा० निवाज़] अनुग्रह करना। उ०—(क) नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक वेद वर विरद विराजे।—तुलसी। (ख) कायर कूर कपूतन की हद तेऊ गरीबनिवाज निवाजे।—तुलसी।

निवाज़िश–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कृपा। मेहरबानी। (२) दया।

निवाड़–संज्ञा स्त्री० दे० "निवार"।

निवाड़ा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) छोटी नाव। (२) नाव की एक क्रीड़ा जिसमें उसे बीच में ले जाकर चक्कर देते हैं। नावर।

क्रि० प्र०—खेलना।

निवाड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "निवारी"।

निवात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने का स्थान। घर। (२) वह वर्म्म जो शस्त्र के द्वारा छेदा न जा सके।

निवान†–संज्ञा पुं० [सं० निम्न] (१) नीची जमीन जहाँ सीड़, कीचड़ या पानी भरा रहता हो। (२) जलाशय। झील। बड़ा तालाब।

निवाना†–क्रि० स० [सं० नम्र] नीचे की तरफ करना। झुकाना।

निवार–संज्ञा स्त्री० [सं० नेमि + आर] पहिए के आकार का लकड़ी का वह गोल चक्कर जो कुएँ की नींव में दिया जाता है और जिसके ऊपर कोठी की जोड़ाई होती है। जाखन। जमवट।

संज्ञा स्त्री० [फा० नवार] बहुत मोटे सूत की बुनी हुई प्रायः तीन चार अंगुल चौड़ी पट्टी जिससे पलँग आदि बुने जाते हैं। निवाड़। नेवार।

संज्ञा पुं० [सं० नीवार] तिन्नी का धान। मुन्यन्न। पसही। उ०—कहूँ मूल फल दल मिलि कूटत। कहुँ कहुँ पके निवारनि जूटत।—गुमान।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मूली जो बहुत मोटी और स्वाद में कुछ मीठी होती है, कड़ुई नहीं होती।

निवारक–वि० [सं०] (१) रोकनेवाला। रोधक। (२) दूर करनेवाला। मिटानेवाला।

निवारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोकने की क्रिया। (२) हटाने या दूर करने की क्रिया। (३) निवृत्ति। छुटकारा।

निवारन–संज्ञा पुं० दे० "निवारण"।

निवारना*–क्रि० स० [सं० निवारण] (१) रोकना। दूर करना। हटाना। उ०—(क) पोंछि रुमालन सों श्रमसीकर भौंर की भीर निवारत ही रहे।—हरिश्चंद्र। (ख) पलका पै पौढ़ि श्रम राति को निवारिए।—मतिराम। (२) बचाना। रक्षा के साथ काटना या बिताना। उ०—(क) यह सुख ठाम को आराम को निहारो नेक, मेरे कहे घरिक निवारि लीजै घाम को। (ख) घाम घरीक निवारिए कलित ललित अलि पुंज। जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज।—बिहारी। (३) निषेध करना। मना करना।—उ०—सैनहिं लखनहिँ राम निवारे।—तुलसी।

निवार-बाफ–संज्ञा पुं० [फा० नवार + बाफ] निवार बुननेवाला।

निवारी–संज्ञा स्त्री० [सं० नेपाली या नेमाली] (१) जूही की जाति का एक फैलनेवाला झाड़ या पौधा जो जूही के पौधों से बड़ा होता है। इसके पत्ते कुछ गोलाई लिए लंबोतरे होते हैं और बरसात में इसमें जूही की तरह के छोटे सफेद फूल लगते हैं। ये फूल आम के मौर की तरह गुच्छों में होते हैं और इनमें से भीनी मनोहर सुगंध निकलती है। वैद्यक में इसे चरपरी, कड़वी, शीतल, हलकी और त्रिदोष, नेत्ररोग, मुखरोग और कर्णरोग आदि को दूर करनेवाली माना है। (२) इस पौधे का फल।

निवाला–संज्ञा पुं० [फा०] उतना भोजन जितना एक बार मुँह में डाला जाय। कौर। ग्रास। लुकमा।

निवास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने की क्रिया या भाव। (२) रहने का स्थान। (३) घर। मकान। (४) वस्त्र। कपड़ा।

निवासस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रहने का स्थान। वह स्थान जहाँ कोई रहता हो। (२) घर। मकान।

निवासी–संज्ञा पुं० [सं० निवासिन्] [स्त्री० निवासिनी] रहनेवाला। बसनेवाला। वासी।

निवास्य–वि० [सं०] रहने योग्य।

निविड़–वि० [सं०] (१) घना। घन। घोर। (२) गहरा। (३) जिसकी नाक चिपटी या दबी हुई हो।

निविड़ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशी या इसी प्रकार के किसी और बाजे के स्वर का गंभीर होना जो उसके पाँच गुणों में से एक गुण माना जाता है।

निविद्धान–संज्ञा पुं० [सं०] वह यज्ञ आदि जो एक ही दिन में समाप्त हो जाय।

निविष†–वि० दे० "निर्विष"।

निविष्ट–वि० [सं०] (१) जिसका चित्त एकाग्र हो। (२) एकाग्र। (३) लपेटा हुआ। (४) घुसा या घुसाया हुआ। (५) बाँधा हुआ। (६) स्थित। ठहरा हुआ।

निवीत–संज्ञा पुं० [सं०] ओढ़ने का कपड़ा। चादर।

निर्वीर्य्य–वि० [सं०] वीर्यहीन। जिसमें वीर्य या पुरुषत्व न हो।

निवृत्त–वि० [सं०] (१) छूटा हुआ। (२) जो अलग हो गया हो। विरक्त। (३) जो छुट्टी पा गया हो। खाली।

निवृत्तसंतापनीय-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक रसायन जिसमें अठारह ओषधियाँ हैं। कहते हैं कि इस रसायन के सेवन से मनुष्य का शरीर युवा के समान और बल सिंह के समान हो जाता है और वह मनुष्य श्रुतिधर होजाता है। ये सब ओषधियाँ सोमरस के समान वीर्य्ययुक्त मानी जाती हैं। इनके नाम ये हैं—अजगरी, श्वेतकपोती, कृष्णकपोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिछत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यवर्णिनी, ब्रह्मसुवर्चेला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोभी, अजलोभी और महावेगवती।

निवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्ति। छुटकारा। प्रवृत्ति का उलटा। (२) बौद्धों के अनुसार मुक्ति या मोक्ष। (३) एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

निवेद*†-संज्ञा पुं० दे० "नैवैद्य"।

निवेदक-संज्ञा पुं० [सं०] निवेदन करनेवाला। प्रार्थी।

निवेदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनय। विनती। प्रार्थना। (२) समर्पण।

निवेदना*†-क्रि० स० [हिं० निवेदन] (१) विनती करना। प्रार्थना करना। (२) नजर करना। कुछ भोज्य पदार्थ आगे रखना। नैवेद्य चढ़ाना। अर्पित कर देना। उ०—सदा आपु को मोहि निवेदै। प्रेम शस्त्र ते ग्रंथिहिं छेदै।—रघुनाथ।

निवेदित-वि० [सं०] (१) चढ़ाया हुआ। अर्पित किया हुआ। दिया हुआ। (२) कहा हुआ। सुनाया हुआ। निवेदन किया हुआ।

निवेरना*†-क्रि० स० [हिं० निवेड़ना] (१) निबटाना, फैसल करना। (२) खतम कर देना। उ०—अति बहु केलि गोपिकन केरी। संक्षेपै मैं कछुक निवेरी।—रघुनाथ। (३) छाँटना। चुन लेना। (४) छुड़ाना। दूर करना। हटाना। उ०—कुलवंत निकारहिँ नारि सती। गृह आनहिँ चेरि निवेरि गती।—तुलसी।

निवेरा*-वि० [हिं० निवेड़ना या निवेरना] (१) चुना हुआ। छाँटा हुआ। उ०—आजु भई कैसी गति तेरी व्रज में चतुर निवेरी।—सूर। (२) नवीन। अनोखा। नया। उ०—(क) मैं कह आजु निवेरी आई ? बहुतै आदर करति सबै मिलि पहुने की कीजै पहुनाई।—सूर।

निवेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह। (२) शिविर। डेरा। खेमा। (३) प्रवेश। (४) घर। मकान।

निवेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कपड़ा जिसमें कोई चीज ढाँकी जाय। (२) सामवेद का मंत्रभेद।

निवेष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्याप्ति। (२) बरफ का पानी। (३) जलस्तंभ।

निव्याधी-संज्ञा पुं० [सं० निव्याधिन्] एक रुद्र का नाम।

निश-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। (२) हल्दी।

निशंक-वि० [सं० निःशंक] जिसे किसी बात की शंका या भय न हो। निर्भय। निडर। बेखौफ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का नृत्य विशेष।

निशंग-संज्ञा पुं० दे० "निषंग"।

निश*†-संज्ञा स्त्री० [सं० निशा] रात्रि। रजनी।

निशचर*†-संज्ञा पुं० दे० "निशाचर"।

निशठ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार बलदेव के एक पुत्र का नाम।

निशतर-संज्ञा पुं० दे० "नश्तर"।

निशमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। देखना। (२) श्रवण। सुनना।

निशल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंतीवृक्ष।

निशांत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात्रि का अंत। पिछली रात। रात का चौथा पहर। (२) प्रभात। तड़का। (३) घर। गृह।

वि० जो बहुत ही शांत हो।

निशांध-वि० [सं०] रात का अंधा। जिसे रात को न सूझे। जिसे रतौंधी होती हो।

संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक प्रकार का योग जो उस समय पड़ता है जब सिंहराशि में सूर्य्य हो। कहते हैं कि इस योग के पड़ने से मनुष्य को रतौंधी होती है।

निशांधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जतुका या पहाड़ी नामक लता जिसकी पत्तियाँ ओषधि के काम में आती हैं। (२) राजकन्या। राजकुमारी।

निशा-संज्ञा स्त्री० [सं०](१) रात्रि। रजनी। रात। (२) हरिद्रा। हलदी। (३) दारुहरिद्रा। (४) फलित ज्योतिष में मेष, वृष, मिथुन आदि छः राशियाँ। दे० "राशि"।

निशाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चद्रंमा। शशि। चाँद। (२) कुक्कुट। मुरगा। (३) महादेव। (४) एक महर्षि का नाम। (५) कपूर।

निशाखातिर-संज्ञा स्त्री० [अ० खातिर + फा० निशाँ (खातिर निशाँ)] तसल्ली। दिलजमई। प्रबोध।

निशाख्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

निशाचर-संज्ञा पुं० [सं०](१) राक्षस। (२) शृगाल। गीदड़। (३) उल्लू। (४) सर्प। (५) चक्रवाक। (६) भूत। (७) चोर। (८) ग्रंथिपर्ण का एक भेद। (९) महादेव। (१०) चोर नामक गंधद्रव्य। (११) बिल्ली। (१२) वह जो रात को चले। जैसे, कुलटा, पिशाच आदि।

निशाचरपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) रावण।

निशाचरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राक्षसी । (२) कुलटा । (३) केशिनी नामक गंधद्रव्य । (४) अभिसारिका नायिका ।

निशाचर्म-संज्ञा पुं० [सं०] अंधकार । अँधेरा ।

निशाचारी-संज्ञा पुं० [सं० निशाचारिन्] (१) शिव । (२) निशाचर ।

निशाजल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिम । पाला । (२) ओस ।

निशाट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उल्लू । (२) निशाचर ।

निशाटक-संज्ञा [सं०] गूगल ।

निशाटन-संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू ।

वि० जो रात को विचरण करे । निशाचर ।

निशातैल—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो सेर भर कडुवे तेल, धतूरे के पत्तों का चार सेर रस, आठ तोले पीसी हुई हलदी और चार तोले गंधक के मेल से बनता है । यह तेल कान के रोगों के लिये विशेष उपकारी माना जाता है ।

निशाध तैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो भगंदर के लिये उपकारी माना जाता है और जो कडुवे तेल, पीसी हुई हलदी, सेंधा नमक, चितामूल और गुग्गुल आदि के मेल से बनाया जाता है ।

निशाधीश-संज्ञा पुं० दे० "निशापति" ।

निशान-संज्ञा पुं० [फा०] (१) लक्षण जिससे कोई चीज पहचानी जाय । चिह्न । जैसे, (क) उस मकान का कोई निशान बता दो तो जल्दी पता लग जायगा । (ख) जहाँ तक पुस्तक पढ़ो उसके आगे कोई निशान रख दो । (२) किसी पदार्थ से अंकित किया हुआ अथवा और किसी प्रकार बना हुआ चिह्न । जैसे, पैर का निशान, अँगूठे का निशान, चोट का निशान, कपड़े पर बना हुआ धोबी का निशान, ध्वनियों की पहचान के लिये बनाए हुए निशान (अक्षर), किताब पर बनाए हुए निशान आदि ।

क्रि० प्र०—करना ।—डालना ।—लगाना ।—बनाना ।

(३) शरीर अथवा और किसी पदार्थ पर बना हुआ स्वाभाविक या और किसी प्रकार का चिह्न, दाग या धब्बा । जैसे, किसी पशु पर बना हुआ गुल का निशान, चेहरे पर बना हुआ गुम्मर का निशान । (४) किसी पदार्थ का परिचय करने के लिये उसके स्थान पर बनाया हुआ कोई चिह्न । जैसे, ज्योतिष में ग्रहों आदि के बनाए हुए निशान, वनस्पति शास्त्र में वृक्ष, झाड़ी और नर या मादा पेड़ या फूल के लिये बनाए हुए निशान । (५) वह चिह्न जो अपढ़ आदमी अपने हस्ताक्षर के बदले में किसी कागज आदि पर बनाता है । (६) वह लक्षण या चिह्न जिससे किसी प्राचीन या पहले की घटना अथवा पदार्थ का परिचय मिले । जैसे, किसी पुराने नगर आदि का खंडहर ।

यौ०—नाम-निशान = (१) किसी प्रकार का चिह्न या लक्षण । (२) अस्तित्व का लेश । बचा हुआ थोड़ा अंश । जैसे, वहाँ अब किसी घर का नाम निशान नहीं है ।

(७) पता । ठिकाना ।

मुहा०—निशान देना = (१) पता बताना । (२) आसामी को सम्मन आदि तामिल करने के लिये पहचनवाना ।

यौ०—निशानदेही ।

(८) वह चिह्न या संकेत जो किसी विशेष कार्य्य या पहचान के लिये नियत किया जाय । (९) समुद्र में या पहाड़ों आदि पर बना हुआ वह स्थान जहाँ लोगों को मार्ग आदि दिखाने के लिये कोई प्रयोग किया जाता हो । जैसे, मार्गदर्शक प्रकाशालय आदि । (लश०) । (१०) दे० "लक्षण" (११) दे० "निशाना" । (१२) दे० "निशानी" । (१३) ध्वजा । पताका । झंडा ।

मुहा०—किसी बात का निशान उठाना या खड़ा करना = (१) किसी काम में अगुआ या नेता बनकर लोगों को अपना अनुयायी बनाना । जैसे बगावत का निशान खड़ा करना । (२) आंदोलन करना ।

निशानकोना-संज्ञा पुं० [सं० ईशान + हिं० कोना] उत्तर और पूर्व का कोण । (लश०)

निशानची--संज्ञा पुं० [फा० निशान + ची (प्रत्य०)] वह जो किसी राजा, सेना या दल आदि के आगे झंडा लेकर चलता हो । निशानबरदार ।

निशानदिही--संज्ञा स्त्री० दे० "निशानदेही" ।

निशानदेही--संज्ञा स्त्री० [फा० निशान + हिं० देना या फा० देह = देना] आसामी को सम्मन आदि की तामील के लिये पहचनवाने की क्रिया । आसामी का पता बतलाने का काम ।

निशानपट्टी-संज्ञा स्त्री० [फा० निशान + हिं० पट्टी] चेहरे की बनावट आदि अथवा उसका वर्णन । हुलिया ।

निशानबरदार--संज्ञा पुं० [फा०] वह जो किसी राजा, सेना या दल आदि के आगे आगे झंडा लेकर चलता हो । निशानची ।

निशापति--संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । निशाकर । (२) कर्पूर । कपूर ।

निशाना--संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह जिस पर ताककर किसी अस्त्र या शस्त्र आदि का वार किया जाय । लक्ष्य ।

मुहा०—निशान करना या बनाना = अस्त्र आदि के वार करने के लिये किसी को लक्ष्य बनाना । निशाना होना = निशाना बनना । लक्ष्य होना ।

(२) किसी पदार्थ को लक्ष्य बनाकर उसकी ओर किसी प्रकार का वार करना ।

मुहा०—निशाना बाँधना = वार करने के लिये अस्त्र आदि को इस प्रकार साधना जिसमें ठीक लक्ष्य पर वार हो । निशाना

मारना या लगाना = ताककर अस्त्र शस्त्र आदि का वार करना। निशाना साधना = (१) निशाना बाँधना। (२) निशाना लगाने का अभ्यास करना।

(३) मिट्टी आदि का वह ढेर या और कोई पदार्थ जिस पर निशाना साधा जाय। (४) वह जिस पर लक्ष्य करके कोई व्यंग्य या बात कही जाय।

निशानाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

निशानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) स्मृति के उद्देश्य से दिया अथवा रखा हुआ पदार्थ। वह जिससे किसी का स्मरण हो। यादगार। स्मृति-चिह्न। जैसे, (क) हमारे पास यही घड़ी उनकी निशानी है। (ख) चलते समय हमें अपनी कुछ निशानी तो दे जाओ। (ग) बस यही लड़का हमारे स्वर्गीय मित्र की निशानी है।

क्रि० प्र०—देना।—रखना।

(२) वह चिह्न जिससे कोई चीज पहचानी जाय। निशान। पहचान।

निशापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्र आदि आकाशीय पिंड।

निशापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] कुमुदिनी। कोईं।

निशाबल-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में मेष, वृष, मिथुन, कर्क, धन और मकर ये छः राशियाँ जो रात के समय अधिक बलवती मानी जाती हैं।

विशेष—फलित ज्योतिष में दो प्रकार की राशियाँ मानी जाती हैं—निशाबल और दिनबल। उक्त छः राशियाँ निशाबल और शेष दिनबल मानी जाती हैं। कहा जाता है कि जो काम दिन के समय करना हो वह दिनबल राशियों में और जो काम रात के समय करना हो वह रात्रिबल राशियों में करना चाहिए।

निशाभंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुग्धपुच्छी नामक पौधा।

निशामणि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर।

निशामन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दर्शन। देखना। (२) आलोचन। (३) श्रवण। सुनना।

निशामय-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

निशामुख-संज्ञा पुं० [सं०] संध्याकाल। गोधूलि का समय।

निशामृग-संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़।

निशारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा (२) कपूर।

निशारुक-संज्ञा पुं० [सं०] सात प्रकार के रूपक तालों में से एक प्रकार का ताल जिसमें दो लघु और दो गुरु मात्राएँ होती हैं। इसका व्यवहार प्रायः हास्य रस के गीतों के साथ होता है।

वि० [सं०] बहुत अधिक हिंसा करनेवाला।

निशावन-संज्ञा पुं० [सं०] सन का पौधा।

निशावसान-संज्ञा पुं० [सं०] रात का अंतिम भाग। प्रभात। तड़का।

निशाविहार-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

निशास्ता–संज्ञा पुं० [फा०] (१) गेहूँ को भिगोकर उसका निकाला और जमाया हुआ सत या गूदा। (२) माँड़ी। कलफ।

निशाहस–संज्ञा पुं० [सं०] कुमोदनी।

निशाहसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] शेफालिका। सिंदुवार। निगुंडी।

निशाह्वा--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) जतुका नाम की लता।

निशि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। रात्रि। रजनी। (२) हलदी।

निशिकर–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा। शशि।

निशिचर–संज्ञा पुं० दे० "निशाचर"।

निशिचरराज*–संज्ञा पुं० [सं०] राक्षसों का राजा, विभीषण।

निशित–संज्ञा पुं० [सं०] लोहा।

वि० चोखा। तेज। तीखा। जो सान पर चढ़ा हुआ हो।

निशिदिन–क्रि० वि० [सं०] रातदिन। सदा। सर्वदा।

निशिनाथ–संज्ञा पुं० दे० "निशानाथ"

निशिनायक–संज्ञा पुं० दे "निशानाथ"

निशिपति--संज्ञा पुं० दे० "निशापति"।

निशिपाल--संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में भगण जगण सगण, नगण और रगण होता है। उ०—भाजे सुनि राघव कवींद्र कुल की नई। काव्य रचना विपुल वित्त तिहीं दै दई। वार निशि-पाल हम से बुध कवी जनै। हो नृप चिरायु अखिलेश! कवि यों भनै।

निशिपालिका--संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "निशिपाल"

निशिपुष्पा--संज्ञा स्त्री० [सं०] निगुंडी या शेफालिका नामक फूल का पेड़। सिंदुवार।

निशिपुष्पिका, निशिपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] निगुंडी। शेफालिका।

निशिवासर*-संज्ञा पुं० [सं०] रातदिन। सदा। सर्वदा। हमेशा।

निशीथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात। (२) आधी रात। (३) भागवत के अनुसार रात्रि के एक कल्पित पुत्र का नाम।

निशीथिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात्रि। रात।

निशुंभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वध। (२) हिंसा। (३) पुराणानुसार एक असुर का नाम जिसका जन्म कश्यप ऋषि की स्त्री दनु के गर्भ से हुआ था और जो शुंभ तथा निमुचि का भाई था। निमुचि तो इंद्र के हाथ से मारा गया था पर शुंभ और निशुंभ ने देवताओं पर आक्रमण करके उन्हें जीत लिया था और स्वर्ग पर राज्य करना आरंभ कर दिया था। जब इन दोनों ने रक्तबीज से सुना कि दुर्गा ने महिषासुर को मार डाला तब निशुंभ ने प्रतिज्ञा की कि मैं दुर्गा को मार डालूँगा। उस समय नर्मदा नदी से निकलकर चंड और मुंड नामक दो और राक्षस भी इन लोगों में मिल गए। पहले शुंभ और निशुंभ ने दुर्गा से कहलाया कि तुम

हम में से किसी के साथ विवाह करो पर दुर्गा ने कहला दिया कि रण में मुझे जो जीतेगा उसी से मैं विवाह करूँगी। रण में दुर्गा ने पहले धूमलोचन, चंड, मुंड, रक्तबीज आदि असुरों तथा उनके साथियों को मारा। फिर शुंभ और निशुंभ ने युद्ध आरंभ किया। देवी ने पहले निशुंभ को और तब शुंभ को मारा जिससे असुरों का उत्पात शांत हुआ और इंद्र को फिर स्वर्ग का राज्य मिला।

निशुंभन--संज्ञा पुं० [सं०] बध। मार डालना।

निशुंभमर्दिनी--संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

निशुंभी--संज्ञा पुं० [सं० निशुंभिन्] एक बुद्ध का नाम।

निशेष--संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

निशैत--संज्ञा पुं० [सं०] वक। बगुला।

निशोत्सर्ग--संज्ञा पुं० [सं०] प्रभात। तड़का।

निश्कुला--वि० [सं०] अपने कुल से निकाली हुई (स्त्री)।

निश्चंद्र--वि० [सं०] (१) चंद्रमारहित। (२) जिसमें चमक न हो।

निश्चंद्र अभ्रक--संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में वह अभ्रक जो दूध, ग्वारपाठ, आदमी के मूत्र, बकरी के दूध आदि कई पदार्थों में मिलाकर और सौ बार उनका पुट देकर तैयार किया जाता है। कहते हैं कि यह पद्मराग के समान हो जाता है। यह वीर्यवर्द्धक, रसायन और ज्वरनाशक माना जाता है।

निश्चय--संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसी धारणा जिसमें कोई संदेह न हो। निःसंशय ज्ञान। (२) विश्वास। यकीन। (३) निर्णय। जैसे, इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि यह वस्तु क्या है।

विशेष--निश्चय बुद्धि की वृत्ति है।

(४) पक्का विचार। दृढ़ संकल्प। पूरा इरादा। जैसे, मैंने वहां जाने का निश्चय कर लिया है। (५) एक अर्थालंकार जिसमें अन्य विषय का निषेध होकर प्रकृत वा यथार्थ विषय का स्थापन होता है; जैसे, नहिं सरोज यह बदन है नहिं इंदीवर नैन। मधुकर ! जनि धावै वृथा, मानि हमारे बैन॥ यहाँ सरोज और इंदीवर का निषेध करके यथार्थ वस्तु मुख और नैन की स्थापना हुई है।

निश्चयात्मक--वि० [सं०] जो बिलकुल निश्चित हो। ठीक ठीक। असंदिग्ध।

निश्चयात्मकता--संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चयात्मक होने का भाव। यथार्थता। असंदिग्धता।

निश्चर--संज्ञा पुं० [सं०] एकादश मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक।

निश्चल--वि० [सं०] (१) जो अपने स्थान से न हटे। अचल। अटल। (२) जो जरा भी न हिले-डुले। स्थिर।

निश्चलता--संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चल होने का भाव। स्थिरता। दृढ़ता।

निश्चलांग--संज्ञा पुं० [सं०] (१) बगुला। (२) पर्वत आदि जो सदा निश्चल रहते हैं।

वि० जिसके अंग हिलते डोलते न हों।

निश्चिला--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शालपर्णी। (२) पृथ्वी। (३) मत्स्यपुराण के अनुसार एक नदी का नाम।

निश्चायक--संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी बात का निश्चय या निर्णय करता हो। निश्चयकर्त्ता। निर्णायक।

निश्चारक--संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाहिका नाम का रोग जो अतिसार का एक भेद है। यह बच्चों को प्रायः होता है और इसमें बहुत दस्त आते हैं। (२) वायु। हवा।

निश्चिंत--वि० [सं०] जिसे कोई चिंता या फिक्र न हो या जो चिंता से मुक्त हो गया हो। चिंतारहित। बेफिक्र। जैसे, (क) आप निश्चिंत रहें, मैं ठीक समय पर पहुँच जाऊँगा। (ख) अब कहीं जाकर हम इस काम से निश्चिंत हुए हैं।

निश्चिंतई*†--संज्ञा स्त्री० [हिं० निश्चिंत] निश्चिंत होने का भाव। बेफिक्री।

निश्चित--वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में निश्चय हो चुका हो। तै किया हुआ। निर्णीत। जैसे, (क) हमारे वहाँ जाने की सब बातें निश्चित हो चुकी हैं। (ख) इस काम के लिये कोई दिन निश्चित कर लो। (२) जिसमें कोई परिवर्त्तन या फेर-बदल न हो सके। दृढ़। पक्का। जैसे, तुम कोई निश्चित बात तो कहते ही नहीं, नित्य नए बहाने निकालते हो।

निश्चिति--संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चय करना।

निश्चित्त--संज्ञा पुं० [सं०] योग में एक प्रकार की समाधि।

निश्चिरा--संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

निश्चुक्कण--संज्ञा पुं० [सं०] मिस्सी।

निश्चेतन--वि० [सं०] (१) बेसुध। बेहोश। बदहवास। (२) जड़।

निश्चेष्ट--वि० [सं०] (१) बेहोश। अचेत। चेष्टारहित। (२) निश्चल। स्थिर।

निश्चेष्टाकरण--संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक में एक प्रकार की औषध जो मैनसिल से बनाई जाती है। (२) कामदेव के एक प्रकार के बाण का नाम।

निश्चै*--संज्ञा पुं० दे० "निश्चय"।

निश्च्यवन--संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार वैवस्वत मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक ऋषि का नाम। (२) महाभारत के अनुसार एक प्रकार की अग्नि।

निश्छंद--वि० [सं० निश्छंदस्] जिसने वेद न पढ़ा हो।

निश्छल--वि० [सं०] छलरहित। सीधा। सरलचित्त। निष्कपट।

निश्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] गणित में वह राशि जिसका किसी गुणक के द्वारा भाग न दिया जा सके। अविभाज्य।

निश्रम-संज्ञा पुं० [सं०] किसी कार्य्य से न थकना अथवा न घबराना। अध्यवसाय।

निश्रयणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीढ़ी।

निश्रीक-संज्ञा पुं० [सं०] सीढ़ी।

निश्रेणिका तृण-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास जो रसहीन और गरम होती और पशुओं को निर्बल कर देती है।

निश्रेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीढ़ी। ज़ीना। (२) मुक्ति। (३) खजूर का पेड़।

निश्रेयस-संज्ञा पुं० [सं० निःश्रेयस्] (१) मोक्ष। (२) दुःख का अत्यंत अभाव। (३) कल्याण।

निश्वास-संज्ञा पुं० [सं०] नाक या मुँह के बाहर निकलनेवाला श्वास। प्राण वायु के नाक के बाहर निकलने का व्यापार।

निश्शंक-वि० [सं०] (१) निडर। निर्भय। बेखौफ। (२) संदेह रहित। जिसमें शंका न हो।

निश्शक्त-वि० [सं०] निर्बल। नाताकत। जिसमें शक्ति न हो।

निश्शील-वि० [सं०] बेमुरौवत। बदमिज़ाज। बुरे स्वभाववाला।

निश्शीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुष्ट स्वभाव। बदमिज़ाजी।

निश्शेष-वि० [सं०] जिसमें से कुछ भी बाकी न बचा हो। जिसका कुछ भी अवशिष्ट न हो।

निषंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तूण। तूणीर। तरकश। (२) खड्ग। (३) प्राचीन काल का एक बाजा जो मुँह से फूँक कर बजाया जाता था।

निषंगथि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आलिंगन करनेवाला। (२) रथ। (३) कंधा। (४) तृण। (५) सारथी। (६) धनुष धारण करनेवाला।

निषंगी-वि० [सं० निषंगिन्] (१) तीर चलानेवाला। धनुर्धारी (२) खड्ग धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

निषकपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस। निशाचर। असुर।

निषकर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] स्वरसाधन की एक प्रणाली जिसमें प्रत्येक स्वर को दो दो बार अलापना पड़ता है। जैसे, सा सा रे रे ग ग म म प प ध ध नि नि सा सा। सा सा नि नि ध ध प प म म ग ग रे रे सा सा।

निषक्तु-संज्ञा पुं० [सं०] बाप। पिता। जनक।

निषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ की दीक्षा।

निषद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निषाद स्वर। (संगीत)। (२) एक राजा का नाम।

निषद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कोई चीज बिकती हो। हाट। (२) छोटी खाट।

निषद्यापरीषत-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे स्थान में जहाँ स्त्री षंड आदि का आगम ही न रहना और यदि इष्टानिष्ट का उपसर्ग हो तो भी अपने चित्त को चलायमान न करना। (जैन)

निषद्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कीचड़। चहला।

निषद्वरी--संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

निषध--संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। कहते हैं कि यह पर्वत इलावृत्त के दक्षिण हरिवर्ष की सीमा पर है। (२) हरिवंश के अनुसार रामचंद्र के प्रपौत्र और कुश के पौत्र का नाम। (३) महाराज जनमेजय के पुत्र का नाम। (४) पुराणानुसार एक देश का प्राचीन नाम जो विंध्याचल पर्वत पर था। किसी किसी के मत से यह वर्त्तमान कमाऊँ का एक भाग है और दमयंती-पति नल यहीं के राजा थे। (५) कुरु के एक लड़के का नाम। (६) संगीत के सात स्वरों में से अंतिम या सातवाँ स्वर। निषाद।

वि० कठिन।

निषधावती--संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक नदी का नाम जो विंध्य पर्वत से निकलती है।

निषधाभास-संज्ञा पुं० [सं०] आक्षेप। अलंकार के ५ भेदों में से एक।

निषधाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] कुरु के एक लड़के का नाम।

निषसई-संज्ञा स्त्री० दे० "निखिसई"।

निषाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक बहुत पुरानी अनार्य्य जाति जो भारत में आर्य जाति के आने से पहले निवास करती थी। इस जाति के लोग शिकार खेलते, मछलियाँ मारते और डाका डालते थे।

विशेष—पुराणों में जिस प्रकार और अनेक अनार्य्य जातियों की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ लिखी हुई हैं उसी प्रकार इस जाति की उत्पत्ति के संबंध में भी एक कथा है। अग्नि-पुराण में लिखा है कि जिस समय राजा वेणु की जाँघ मथी गई थी उस समय उसमें से काले रंग का एक छोटा सा आदमी निकला था। वही आदमी इस वंश का आदि-पुरुष था। लेकिन मनु के मत से इस जाति की सृष्टि ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता से हुई है। मिताक्षरा में यह जाति क्रूर और पापी कही गई है।

(२) एक देश का प्राचीन नाम जिसका उल्लेख महाभारत, रामायण तथा कई पुराणों में है। महाभारत के अनुसार यह एक छोटा राष्ट्र था जो विनशान के दक्षिण पश्चिम में था। संभवतः रामायणवाला शृंगवेरपुर इस राज्य का राजनगर था। (३) संगीत के सात स्वरों में अंतिम और सब से ऊँचा स्वर जिसका संक्षिप्त रूप "नि" है। इसकी दो श्रुतियाँ हैं—उग्रता और शोभिनी। नारद के अनुसार यह स्वर हाथी के स्वर के समान है और इसका उच्चारण स्थान

ललाट है। व्याकरण के अनुसार यह दंत्य है। संगीत-दर्पण के अनुसार इस स्वर की उत्पत्ति असुर वंश में हुई है, इसकी जाति वैश्य, वर्ण विचित्र, जन्म पुष्कर द्वीप में, ऋषि तुंबरु, देवता सूर्य और छंद जगती है। यह संपूर्ण जाति का स्वर है और करुण रस के लिये विशेष उपयोगी है। इसकी कूट तान ५०४० हैं। इसका वार शनिवार और समय रात्रि के अंत की २ घड़ी ३४ पल है। इसका स्वरूप गणेशजी के समान माना जाता है।

निषादकर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम।

निषादी-संज्ञा पुं० [सं० निषादिन्] हाथीवान। महावत।

निषिक्त–संज्ञा पुं० [सं०] वीर्य्य से उत्पन्न गर्भ।

निषिद्ध–वि० [सं०] (१) जिसका निषेध किया गया हो। जिसके लिये मनाही हो। जो न करने के योग्य हो। (२) खराब। बुरा। दूषित।

निषिद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] निषेध। मनाही।

निषूदन–वि० [सं०]मारनेवाला। जैसे,अरिनिषूदन,केशिनिषूदन।

निषेक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गर्भाधान। (२) रेत। वीर्य। (३) चरण। चूना। टपकना।

निषेचन–क्रि० स० [सं०] सींचना। तर करना। भिगोना। आर्द्र करना।

निषेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्जन। मनाही। न करने का आदेश। (२) बाधा। रुकावट।

निषेधक-संज्ञा पुं० [सं०] मना करनेवाला। रोकनेवाला।

निषेधन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निषेधित, निषिद्ध] निषेध करने का काम। निवारण। मना करना।

निषेधपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसके द्वारा किसी प्रकार का निषेध किया जाय।

निषेधविधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बात या आज्ञा जिसके द्वारा किसी बात का निषेध किया जाय।

निषेधित–संज्ञा पुं० [सं०] जिसके लिये निषेध किया गया हो। मना किया हुआ। वर्जित।

निषेवन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निषेवनीय, निषेवित, निषेव्य] (१) सेवा। (२) सेवन। व्यवहार।

निषेव्य–वि० [सं०] सेवनीय। सेवा के योग्य।

निषेवी–संज्ञा पुं० [सं०] [निषेविन्] सेवा करनेवाला।

निष्कंटक–वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की बाधा, आपत्ति या झंझट आदि न हो। बिना-खटका। निर्विघ्न। जैसे, उन्होंने पचीस वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया।

निष्कंठ–संज्ञा पुं० [सं०] वरुण या वरुना नाम का पेड़।

निष्कंप–वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कंप न हो। स्थिर।

निष्कंभ–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ के एक पुत्र का नाम।

निष्कंभु–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार देवताओं के एक सेनापति का नाम।

निष्क--संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैदिक काल का एक प्रकार का सोने का सिक्का या मोहर भिन्न भिन्न समयों में जिसका मान भिन्न भिन्न था।

विशेष—प्राचीन काल में यज्ञों में राजा लोग ऋषियों और ब्राह्मणों को दक्षिणा में देने के लिये सोने के बराबर तौल के टुकड़े कटवा लिया करते थे जो "निष्क" कहलाते थे। सोने के इस प्रकार टुकड़े कराने का मुख्य हेतु यह होता था कि दक्षिणा में सब लोगों को बराबर सोना मिले, किसी के पास कम या ज्यादा न चला जाय। पीछे से सोने के इन टुकड़ों पर यज्ञस्तूप आदि के चिह्न और नाम आदि बनाए या खोदे जाने लगे। इन्हीं टुकड़ों ने आगे चलकर सिक्कों का रूप धारण कर लिया। उस समय कुछ लोग इन टुकड़ों को गूँथकर और उनकी माला बनाकर गले में भी पहनते थे। भिन्न भिन्न समयों में निष्क का मान नीचे लिखे अनुसार था।

एक निष्क = एक कर्ष (१६ माशे)
,, ,, = ,, सुवर्ण ,,
,, ,, = ,, दीनार ,,
,, ,, = ,, पल (४ या ५ सुवर्ण)
,, ,, = चार माशे
,, ,, = १०८ अथवा १५० सुवर्ण

(२) प्राचीन काल में चाँदी की एक प्रकार की तौल जो चार सुवर्ण के बराबर होती थी। (३) वैद्यक में चार माशे की तौल। टंक। (४) सुवर्ण। सोना। (५) सोने का बरतन। (६) हीरा।

निष्कपट--वि० [सं०] जो किसी प्रकार का छल या कपट न जानता हो। निश्छल। छलरहित। सीधा। सरल।

निष्कपटता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्कपट होने का भाव। निश्छलता। सरलता। सीधापन।

निष्कपटी--वि० दे० "निष्कपट"।

निष्कर–संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जिसका कर न देना पड़ता हो।

निष्करुण--वि० [सं०] जिसमें करुणा या दया न हो। करुणारहित। निष्ठुर। निर्दय। बेरहम।

निष्कर्म--वि० [सं० निष्कर्म्मन्] अकर्मा। जो कामों में लिप्त न हो। उ०—विष्णु नरायण कृष्ण जो वासुदेव ही ब्रह्म। परमेश्वर परमात्मा विश्वंभर निष्कर्म।—विश्राम।

निष्कर्मण्य--वि० [सं०] अकर्मण्य। अयोग्य। निकम्मा। जो कुछ काम न कर सके।

निष्कर्मा--वि० [सं०] [निष्कर्मन्] (१) जो कर्मों में लिप्त न हो। अकर्म्मा। (२) निकम्मा।

निष्कर्ष--संज्ञा पुं० [सं०] (१) निश्चय। खुलासा। तत्व

(२) निचोड़। सार। सारांश। (३) राजा का अपने लाभ या कर आदि के लिये प्रजा को दुःख देना। (४) निकालने की क्रिया।

निष्कर्षी-संज्ञा पुं० [सं० निष्कार्षिन्] एक प्रकार के मरुत्।

निष्कलंक-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कलंक न हो। निर्दोष। बे ऐब।

निष्कलंकतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम जिसमें स्नान करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

निष्कलंकित-वि० दे० "निष्कलंक"।

निष्कलंकी-वि० दे० "निष्कलंक"।

निष्कल-वि० [सं०] (१) जिसमें कला न हो। कला-रहित। (२) जिसका कोई अंग या भाग नष्ट हो गया हो। (३) जिसका वीर्य नष्ट हो गया हो। वृद्ध। (४) नपुंसक (५) पूरा। समूचा।

संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

निष्कलत्व-संज्ञा पुं० [सं०] अविभाज्य होने की अवस्था। किसी पदार्थ की वह अवस्था जिसमें उसके और अधिक विभाग न हो सकें।

निष्कला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वृद्धा स्त्री। बुढ़िया।

निष्कली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अधिक अवस्थावाली वह स्त्री जिसका मासिक धर्म होना बंद हो गया हो।

निष्कषाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके चित्त में किसी प्रकार का दोष न हो। वह जिसका चित्त स्वच्छ और पवित्र हो। (२) मुमुक्षु। (३) एक जिन का नाम। (जैन)

निष्काम-वि० [सं०] (१) (वह मनुष्य) जिसमें किसी प्रकार की कामना, आसक्ति या इच्छा न हो। (२) (वह काम) जो बिना किसी प्रकार की कामना या इच्छा के किया जाय। (सांख्य और गीता आदि के मत से ऐसा काम करने से चित्त शुद्ध होता और मुक्ति मिलती है।)

निष्कामता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्काम होने की अवस्था या भाव।

निष्कामी-वि० [सं० निष्कामिन्] (वह मनुष्य) जिसमें किसी प्रकार की कामना या आसक्ति न हो।

निष्कारण-वि० [सं०] (१) बिना कारण। बेसबब। (२) व्यर्थ। वृथा।

निष्कालक-संज्ञा पुं० [सं०] मूँड़े हुए बाल या रोएँ आदि।

निष्कालन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलाने की क्रिया। (२) मार डालने की क्रिया। मारण।

निष्काश-संज्ञा पुं० [सं०] प्रासाद आदि का बाहर निकला हुआ भाग। जैसे, बरामदा।

निष्काशन-संज्ञा पुं० [सं०] निकालना। बाहर करना।

निष्काशित-वि० [सं०] (१) बहिष्कृत। निकाला हुआ। (२) निंदित। जिसकी निंदा की गई हो।

निष्कास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकालने की क्रिया या भाव। (२) मकान का बरामदा।

निष्कासन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निष्कासित] बाहर करना। निकालना।

निष्किंचन-वि० [सं०] अकिंचन। धनहीन। दरिद्र। जिसके पास कुछ न हो।

निष्कुंभ-संज्ञा पुं० [सं०] दंती वृक्ष।

निष्कुट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर के पास का बाग। नजर बाग। पाईं बाग। (२) क्षेत्र। खेत। (३) कपाट। किवाड़ा। (४) जनाना महल। स्त्रियों के रहने का घर। (५) एक पर्वत का नाम।

निष्कुटि, निष्कुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इलायची।

निष्कुटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कुमार की अनुचरी एक मातृका का नाम।

निष्कुह-संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ का खोंड़रा। कोटर।

निष्कृत-वि० [सं०] (१) मुक्त। छूटा हुआ। स्वतंत्र। (२) निश्चय किया हुआ। निश्चित।

निष्कृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निस्तार। छुटकारा। (२) प्रायश्चित्त।

निष्कृप-वि० [सं०] तेज। तीक्ष्ण। धारदार। चोखा।

निष्क्रम-वि० [सं०] (१) बिना क्रम या सिलसिले का। बेतरतीब।

संज्ञा पुं० (१) बाहर निकलना। (२) निष्क्रमण की रीति। (३) पतित होना। (४) मन की वृत्ति।

निष्क्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० निष्क्रांत] (१) बाहर निकलना। (२) हिंदुओं में छोटे बच्चों का एक संस्कार जिसमें जब बालक चार महीने का होता है तब उसे घर से बाहर निकालकर सूर्य का दर्शन कराया जाता है।

निष्क्रमणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चार महीने के बालक को पहले पहल घर से निकालकर सूर्य्य के दर्शन कराना।

निष्क्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेतन। तनखाह। मज़दूरी। भाड़ा। (२) वह धन जो किसी पदार्थ के बदले में दिया जाय। (३) विनिमय। बदला। (४) बिक्री। बेचने की क्रिया। (५) सामर्थ्य। शक्ति। (६) पुरस्कार। इनाम।

निष्क्रिय-वि० [सं०] जिसमें कोई क्रिया या व्यापार न हो। सब प्रकार की क्रियाओं से रहित। निश्चेष्ट।

यौ०—निष्क्रिय प्रतिरोध = किसी कार्य या आज्ञा का वह विरोध जिसमें विरोध करनेवाला अपनी समझ से सत्य और उचित काम करता रहता है और इस बात की परवा नहीं करता कि इसके लिये मुझे दंड सहना पड़ेगा।

संज्ञा पुं० कर्मशून्य ब्रह्म।

निष्क्रियता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्क्रिय होने का भाव या अवस्था।

निष्क्लेश-वि० [सं०] (१) क्लेशरहित। सब प्रकार के कष्टों से मुक्त। (२) बौद्धों के अनुसार दसों प्रकार के क्लेशों से मुक्त।

निष्क्वाथ-संज्ञा पुं० [सं०] मांस आदि का रसा। शोरबा।

निष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्ष की कन्या और कश्यप की स्त्री दिति का एक नाम।

निष्टिग्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] अदिति का एक नाम।

निष्ट्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चांडाल। (२) म्लेच्छों की एक जाति का नाम जिसका उल्लेख वेदों में है।

निष्ठ-वि० [सं०] (१) स्थित। ठहरा हुआ। (२) तत्पर। लगा हुआ। जैसे, कर्तव्यनिष्ठ। (३) जिसमें किसी के प्रति श्रद्धा या भक्ति हो। जैसे, स्वामिनिष्ठ।

निष्ठांत-वि० [सं०] जिसका नाश अवश्य हो। जो अविनाशी न हो। नष्ट होनेवाला।

निष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्थिति। अवस्था। ठहराव। (२) निर्वाह। (३) मन की एकांत स्थिति। चित्त का जमना। (४) विश्वास। निश्चय। (५) धर्म्म, गुरु या बड़े आदि के प्रति श्रद्धा-भक्ति। पूज्य बुद्धि। (६) विष्णु जिनमें प्रलय के समय समस्त भूतों की स्थिति होगी। (७) इति। समाप्ति। (८) नाश। (९) सिद्धावस्था की अंतिम स्थिति। ज्ञान की वह चरमावस्था जिसमें आत्मा और ब्रह्म की एकता हो जाती है।

निष्ठान, निष्ठानक-संज्ञा पुं० [सं०] चटनी आदि।

निष्ठावान्-वि० [सं० निष्ठावत्] जिनमें निष्ठा या श्रद्धा हो।

निष्ठित-वि० [सं०] (१) स्थित। दृढ़। ठहरा या जमा हुआ। (२) जिसमें निष्ठा हो। निष्ठायुक्त।

निष्ठीवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक। (२) वैद्यक के अनुसार एक औषध जिसका व्यवहार गले या फेफड़े से कफ निकालने में किया जाता है। इसके सेवन से रोगी कफ थूकने लगता है।

निष्ठुर-वि० सं० [स्त्री० निष्ठुरा] (१) कठिन। कड़ा। सख्त। (२) जिसमें दया न हो। कठोर-हृदयवाला। क्रूर। बेरहम।

निष्ठुरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निष्ठुर होने का भाव। कड़ाई। सख्ती। कठोरता। (२) निर्दयता। क्रूरता। बेरहमी।

निष्ठुरिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

निष्ठेव, निष्ठेवन-संज्ञा पुं० [सं०] थूक।

निष्ण-वि० [सं०] कुशल। होशियार।

निष्णात-वि० [सं०] किसी विषय का बहुत अच्छा ज्ञाता या जानकार। किसी बात का पूरा पंडित। विज्ञ। निपुण।

निष्पंक-वि० [सं०] जिसमें कीचड़ आदि न लगा हो। स्वच्छ। निर्मल। साफ। सुथरा।

निष्पंद-वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार का कंप न हो।

निष्पक्ष-वि० [सं०] जो किसी के पक्ष में न हो। पक्षपातरहित।

निष्पक्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निष्पक्ष होने का भाव। पक्षपात न करने का भाव।

निष्पताकध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का दंड जिसे राजा लोग अपने पास रखते थे। यह दंड ठीक पताका के दंड के समान होता था, अंतर केवल इतना ही होता था कि इसमें पताका नहीं होती थी।

निष्पत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समाप्ति। अंत। (२) सिद्धि। परिपाक। (३) हठ योग के अनुसार नाद की चार प्रकार की अवस्थाओं में से अंतिम अवस्था। (४) निर्वाह। (५) मीमांसा। (६) निश्चय। निर्धारण।

निष्पत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] करील का पेड़।

निष्पद-संज्ञा पुं० [सं०] वह सवारी जिसमें पहिए आदि न हों। जैसे, नाव आदि।

निष्पन्न-वि० [सं०] जिसकी निष्पत्ति हो चुकी हो। जो समाप्त या पूरा हो चुका हो।

निष्परिग्रह-वि० [सं०] (१) जो दान आदि न ले। (२) जिसके स्त्री न हो। रँडुआ। (३) अविवाहित। कुँवारा।

निष्परुष-वि० [सं०] जो सुनने में कर्कश न हो। कोमल।

निष्पवन-संज्ञा पुं० [सं०] धान आदि की भूसी निकालना। कूटना छाँटना।

निष्पाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनाज की भूसी निकालने का काम। दाना। (२) बोड़ा नाम की तरकारी या फली। (३) मटर। (४) सेम।

निष्पादक-वि० [सं०] निष्पत्ति करनेवाला।

निष्पादन-संज्ञा पुं० [सं०] निष्पत्ति करना।

निष्पादी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बोड़ा नाम की तरकारी या फली। लोबिया।

निष्पाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूसी निकालना। कूट छाँट। (२) सूप की हवा। (३) सेम। लोबिया।

निष्पावक-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद सेम।

निष्पीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] निचोड़ना। गीले कपड़े को दबाकर उसमें से पानी निकालना।

निष्पुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रहीन। जिसके आगे पुत्र न हो।

निष्पुलाक-संज्ञा पुं० [सं०] आगामी उत्सर्पिणी के अनुसार १४वें अर्हत का नाम। (जैन)

निष्प्रकंप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार तेरहवें मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक का नाम।

निष्प्रचार-संज्ञा पुं० [सं०] जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जा सके। जिसमें गति न हो। न चल सकने योग्य।

निष्प्रभ--वि० [सं०] जिसमें किसी प्रकार की प्रभा या चमक न हो। प्रभाशून्य। तेजरहित।

निष्प्रयोजन--वि० [सं०] (१) प्रयोजन-रहित। जिसमें कोई मतलब न हो। स्वार्थशून्य। जैसे, निष्प्रयोजन प्रीति। (२) जिससे कुछ अर्थ सिद्ध न हो। (३) व्यर्थ। निरर्थक। क्रि० वि० (१) बिना अर्थ या मतलब के। (२) व्यर्थ। फ़जूल।

निष्प्राण-वि० [सं०] प्राणरहित। मुरदा। मरा हुआ।

निष्प्रेही*-वि० [सं० निस्पृह] जिसको किसी वस्तु की चाह न हो। किसी बात की इच्छा न रखनेवाला। उ०—चतुराई हरि ना मिलै ये बातों की बात। निष्प्रेही निराधार को गाहक दीनानाथ।—कबीर।

निष्फल-वि० [सं०] (१) जिसका कोई फल न हो। व्यर्थ। निरर्थक। बेफ़ायदा। (२) अंडकोश-रहित। जिसके अंडकोश न हो। उ०—हे दुर्मति तूने मेरा रूप लेकर इस अकार्य कर्म को किया इसलिये तैं निष्फल अर्थात् अंडकोश रहित हो जायगा।—गोपाल भट्ट (वाल्मीकि रामायण)। (३) धान का पयाल। पूला।

निष्फला--संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका रजोधर्म्म होना बंद हो गया हो। वृद्धा स्त्री।

विशेष—जटाधर के मत से ५० वर्ष की अवस्था के उपरांत और सुश्रुत के मत से ५५ वर्ष की अवस्था के उपरांत स्त्रियां निष्फला हो जाती हैं।

निष्फलि-संज्ञा पुं० [सं०] अस्त्रों के निष्फल करने का अस्त्र।

विशेष—वाल्मीकि के अनुसार जिस समय विश्वामित्र अपने साथ रामचंद्र को वन में ले गए थे उस समय उन्होंने रामचंद्र को और और अस्त्रों के साथ यह अस्त्र भी दिया था।

निसंक†-वि० दे० "निःशंक"।

निसंस*†-वि० [सं० नृशंस] क्रूर। बेरहम। निर्दय।

निसंसना*-क्रि० अ० [सं० निःश्वास] हांफना। निःश्वास लेना। उ०—खनहिं निसाँस बूड़ि जिउ जाई। खनहिं उठइ निसंसइ बउराई।—जायसी।

निस*†-संज्ञा स्त्री० दे० "निशा"।

निसक-वि० [सं० निःशक्त] अशक्त। कमजोर। दुर्बल। उ०—कहैं यहै श्रुति स्मृत सो यहै सयाने लोग। तीन दबावत निसक ही राजा पातक रोग।—बिहारी।

निसकर†*-संज्ञा पुं० [सं० निशाकर] चंद्रमा। चाँद।

निसचय†*-संज्ञा पुं० दे० "निश्चय"।

निसत*‡-वि० [सं० निःसत्य] असत्य। मिथ्या।

निसतरना*†-क्रि० अ० [सं० निस्तार] निस्तार पाना। छुटकारा पाना। छुट्टी पाना।

निसतार--संज्ञा पुं० दे० "निस्तार"।

निसद्योस*†--क्रि० वि० [सं० निशि+दिवस] रात दिन। नित्य। सदा।

निसनेहा*--संज्ञा स्त्री० दे० "निःस्नेहा"।

निसबत--संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) संबंध। लगाव। ताल्लुक। जैसे, इन दोनों में कोई निसबत नहीं है। (२) मँगनी। विवाह संबंध की बात।

क्रि० प्र०—आना।—ठहरना।

(३) तुलना। अपेक्षा। मुकाबला। जैसे, (क) इसकी और उसकी क्या निसबत ? (ख) यह चीज उसकी निसबत अच्छी है।

विशेष—उदाहरण 'ख' की कोटि के वाक्यों में "निसबत" शब्द के पहले प्रायः फारसी का "ब" उपसर्ग लगा देते हैं। जैसे, इसकी बनिसबत वह कुछ बड़ा है।

मुहा०—निसबत देना = तुलना करना। मुकाबला करना।

निसरना*-क्रि० अ० [सं० निःस्रवण] निकलना। बाहर होना। उ०—नव दसन निसरत बदन मँह जो दसन कली समान तें।—सीताराम।

निसर्ग--संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वभाव। प्रकृत। (२) रूप। आकृति। (३) दान। (४) सृष्टि।

निसर्गायु--संज्ञा स्त्री० [सं० निसर्गायुस्] फलित ज्योतिष में एक प्रकार की गणना जिससे किसी व्यक्ति की आयु का पता लगाया जाता है।

निसवादला‡*-वि० [सं० निःस्वाद] स्वाद-रहित। जिसमें कोई स्वाद न हो। उ०—जनक भूप निसवादली कौन बात परि जाइ। तियसुख रति आरंभ की नहिं झूठयहि मिटाइ।—बिहारी।

निसवासर*†-संज्ञा पुं० [सं० निशिवासर] रात और दिन। क्रि० वि० नित्य। सदा। हमेशा।

निसस*†-वि० [सं० निःश्वास] श्वास-रहित। अचेत। बेहोश। उ०—निसस ऊभ भर लीन्हे सासा। भइ अधार जीवन की आसा।—जायसी।

निसहाय-वि० दे० "निस्सहाय"।

निसाँक‡-वि० [सं० निःशंक] (१) बेखटके। निर्भय। बेख़ौफ़। (२) बेफ़िक्र। निश्चिंत।

निसाँस*†-संज्ञा पुं० [सं० निःश्वास] ठंढी साँस। लंबी साँस। वि० बेदम। मृतकप्राय। उ०—खिनहीं साँस बूड़े जिउ आई। खिनहिं उठै निसरै बौराई।—जायसी।

निसा-संज्ञा स्त्री० [? निशाखातिर] संतोष। तृप्ति। उ०—ह्वैहै तब निसा मेरे लोचन चकोरनि की जब वह अमेउ आनन इंदु देखिहैं।—मतिराम।

मुहा०—निसा भर = जी भर के। खूब अच्छी तरह। उ०—

आज निसा भरि प्यारे निसा भरि कीजिए. कान्हर केलि खुसी मैं ।—ठाकुर ।

❊ संज्ञा स्त्री० दे० "निशा" ।

‡ संज्ञा पुं० दे० "नशा" ।

निसाकर–संज्ञा पुं० दे० "निशाकर"।

निसाचर–संज्ञा पुं० दे० "निशाचर" ।

निसाद–संज्ञा पुं० [सं० निषाद] भंगी । मेहतर ।

निसान–संज्ञा पुं० [फा० निशान] (१) दे० "निशान" । (२) नगाड़ा । धौंसा । उ०—बीस सहस घुमरहि निसाना । गुलकंचन फेरहि असमाना ।—जायसी ।

निसानन❊†–संज्ञा पुं० [सं० निशानन] संध्या का समय । प्रदोष काल ।

निसाना–संज्ञा पुं० दे० "निशाना" ।

निसानाथ❊–संज्ञा पुं० दे० "निशानाथ" ।

निसानी–संज्ञा स्त्री० दे० "निशानी" ।

निसापति–संज्ञा पुं० दे० "निशापति" ।

निसाफ❊†–संज्ञा पुं० [अ० इन्साफ] न्याय । इनसाफ ।

निसार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) निछावर । सदका । उतारा । (२) मुगलों के राजत्व काल का एक सिक्का जो चौथाई रुपए या चार आने मूल्य का होता था ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) समूह । (२) सहोरा या सोनापाठा नाम का वृत्त ।

❊† वि० दे० "निस्सार" ।

निसारक–संज्ञा पुं० [सं०] शालक राग का एक भेद ।

निसारना†–क्रि० स० [सं० निःसरण] निकालना । बाहर करना।

निसारी–संज्ञा स्त्री० [सं० निःसारा] केले का पेड़ ।

निसावरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कबूतर ।

निसास❊–संज्ञा पुं० [सं० निःश्वास] गहरा या ठंढा साँस ।

वि० [हिं० नि (प्रत्य०) + साँस] विगतश्वास । बेदम । उ०—गगन धरति जल बूड़ि गइ बूड़त होइ निसास । पिय पिय चातक जोहि री मरै सेवाति पियास ।—जायसी ।

निसासी❊–वि० [सं० निःश्वास] जिसका साँस न चलता हो । बेदम । उ०—अब हूँ मरौं निसासी हिये न आवै साँस । रुगिया की को चलै वैदहि जहाँ उपास ।—जायसी ।

निसिंधु–संज्ञा पुं० [सं०] सम्हालू नाम का पेड़ ।

निसि–संज्ञा स्त्री० [सं० निशि] (१) दे० "निशि" । (२) एक वृत्त का नाम । इसके प्रत्येक चरण में एक भगण और एक लघु (ऽ॥—।) होता है ।

निसिकर–संज्ञा पुं० दे० "निशिकर" वा "निशाकर" ।

निसिचर❊†–संज्ञा पुं० दे० "निशाचर" ।

निसिचारी❊–संज्ञा पुं० [सं० निशिचारी] निशाचर । राक्षस ।

निसिदिन❊–क्रि० वि० [सं० निशिदिन] (१) रातदिन । आठो पहर । (२) सदा । सर्वदा । नित्य । हमेशा ।

निसिनाथ❊–संज्ञा पुं० दे० "निशिनाथ" या "निशानाथ" ।

निसिनाह❊–संज्ञा पुं० [सं० निशिनाथ] चंद्रमा ।

निसि निसि–संज्ञा स्त्री० [सं० निशि निशि] अर्द्ध रात्रि । निशीथ । आधी रात । उ०—निसि निसि निशिथ निशाह निशि होन लगी अधरात । कौन चलै सखि सोय रहु जैहों उठि परभात ।—नंददास ।

निसिपति❊–संज्ञा पुं० [सं० निशिपति] चंद्रमा ।

निसिपाल❊–संज्ञा पुं० [सं० निशिपाल] चंद्रमा ।

निसिमनि❊–संज्ञा पुं० [सं० निशामणी] चंद्रमा ।

निसिमुख❊–संज्ञा पुं० दे० "निशामुख" ।

निसिवासर❊–क्रि० वि० [सं० निशि + वासर] रातदिन । सदा । सर्वदा । नित्य ।

निसीठी–वि० [सं० निः + हिं० सीठी] जिसमें कुछ तत्त्व न हो । निःसार । नीरस । थोथा । उ०—तुम बातैं निसीठी कहै। रिस में मिसरी ते मीठी हमैं लागती हैं ।—पद्माकर ।

निसीथ❊–संज्ञा पुं० दे० "निशीथ" ।

निसुंधु–संज्ञा पुं० [सं०] प्रह्लाद के भाई ह्लाद के पुत्र का नाम ।

निसुंभ–संज्ञा पुं० दे० "निशुंभ" ।

निसु❊†–संज्ञा स्त्री० दे० "निशा" ।

निसूदक–वि० [सं०] हिंसा करनेवाला । हिंसक ।

निसूदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंसा करना । (२) वध करना ।

निसृत–वि० दे० "निःसृत" ।

निसृता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ ।

निसृष्ट–वि० [सं०] (१) छोड़ा हुआ । जो छोड़ दिया गया हो । (२) मध्यस्थ । जो बीच में पड़कर कोई बात करे। (३) भेजा हुआ । प्रेरित । (४) दिया हुआ । दत्त । (५) अर्पित किया हुआ ।

निसृष्टार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीन प्रकार के दूतों में से एक दूत । वह दूत जो दोनों पक्षों का अभिप्राय अच्छी तरह समझकर स्वयं ही सब प्रश्नों का उत्तर दे देता और कार्य सिद्ध कर लेता है । (२) वह मनुष्य जो धन के आयव्यय और कृषि तथा वाणिज्य की देखरेख के लिये नियुक्त किया जाय । (३) वह मनुष्य जो धीर और शूर हो, अपने मालिक का काम तत्परता से करता रहे और अपना पौरुष प्रकट करे ।

निसेनी†–संज्ञा स्त्री० [सं० निःश्रेणी] सीढ़ी । ज़ीना । सोपान ।

निसेष❊–वि० दे० "निःशेष" ।

निसेस❊–संज्ञा पुं० [सं० निशेश] चंद्रमा ।

निसैनी–संज्ञा स्त्री० दे० "निसेनी" ।

निसोग*†-वि० [सं० निःशोक] जिसे कोई शोक या चिंता न हो।

निसोच*-वि० [सं० निःशोच] चिंता-रहित। निश्चिंत। बेफिक्र।

निसोत-वि० [सं० निःसंयुक्त] जिसमें और किसी चीज का मेल न हो। शुद्ध। निरा। उ०—(क) तौ कत त्रिविध सूल निस वासर सहते विपति निसोती।—तुलसी। (ख) रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मोते।—तुलसी। (ग) कृपा सुधा जल दानि मानिबो कहा सो साँच निसोतो।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० दे० "निसोथ"।

निसोत्तर-संज्ञा पुं० दे० "निसोत"।

निसोथ-संज्ञा स्त्री० [सं० निसृता] एक प्रकार की लता जो प्रायः सारे भारत के जंगलों में और पहाड़ों पर ३००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसके पत्ते गोल और नुकीले होते हैं और इसमें गोल फल लगते हैं। यह तीन प्रकार की होती है—सफेद, काली और लाल। सफेद निसोथ में सफेद रंग के; काली में कालापन लिए बैगनी रंग के और लाल के फल कुछ लाल रंग के होते हैं। सफेद निसोत के पत्ते और फल अपेक्षाकृत कुछ बड़े होते हैं और वैद्यक में वही अधिक गुणकारी भी मानी जाती है। भारत में बहुत प्राचीन काल से वैद्य लोग इसका व्यवहार करते आए हैं और इसका जुलाब सबसे अच्छा समझते हैं। औषध के काम के लिये बाजार में इसकी जड़ तथा डंठलों के कटे हुए टुकड़े मिलते हैं। वैद्यक में इसे गरम, चरपरी, रूखी, रेचक और कफ, सूजन तथा उदर रोगों को दूर करनेवाली माना है।

पर्या०—त्रिवृत्। सुवहा। त्रिपुटा। त्रिभंडी। रेचनी। सरा। सहा। सरसा। रोचनी। मालविका। श्यामा। मसूरी। अर्द्धचंद्रा। विदला। सुपेणी। कालिंगिका। कालमेषी। काली। त्रिवेला। त्रिवृत्तिका। सारा। निसृता।

निसोधु*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० सोध या सुध] (१) सुध। खबर। (२) सँदेसा। कहलाया हुआ समाचार।

निसोत†-संज्ञा स्त्री० दे० "निसोथ"।

निस्की-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जिसे निस्तरी भी कहते हैं।

निस्केवल-वि० [सं० निष्केवल] बेमेल। शुद्ध। निर्मल। खालिस। (बोलचाल)। उ०—उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहि तसि जसि निस्केवल प्रेम।—तुलसी।

निस्तंतु-वि० [सं०] जिसके कोई संतान न हो।

निस्तंद्र-वि० [सं०] (१) जिसमें आलस्य न हो। निरालस्य। (२) बलवान। मजबूत।

निस्तत्व-वि० [सं०] जिसमें कोई तत्व न हो। निस्सार।

निस्तब्ध-वि० [सं०] (१) जो गड़ या जम सा गया हो। जो हिलता डोलता न हो। जिसमें गति या व्यापार न हो। (२) जड़वत्। निश्चेष्ट।

निस्तब्धता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्तब्ध होने का भाव। खामोशी। (२) जरा भी शब्द न होने का भाव। सन्नाटा।

निस्तरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निस्तार। छुटकारा। उद्धार। (२) पार जाने की क्रिया या भाव।

निस्तरना*†-क्रि० अ० [सं० निस्तार] निस्तार पाना। पार होना। मुक्त होना। छूट जाना। उ०—नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।—तुलसी।

निस्तरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जिसका रेशम बंगाल के "देशी" कीड़ों के रेशम की अपेक्षा कुछ कम मुलायम और चमकीला होता है। इसके तीन भेद होते हैं—मदरासी, सोनामुखी और क्रूमि।

निस्तार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पार होने का भाव। (२) छुटकारा। मोक्ष। बचत। बचाव। उद्धार।

निस्तारक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० निस्तारिका] निस्तार करनेवाला। बचानेवाला। छुड़ानेवाला।

निस्तारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निस्तार करना। बचाना। छुड़ाना। (२) पार करना। (३) जीतना।

निस्तारन*-वि० दे० "निस्तारण"।

निस्तारना†*-क्रि० स० [सं० निस्तर + ना (प्रत्य०)] छुड़ाना। मुक्त करना। उद्धार करना।

निस्तार बीज-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह उपाय या काम जिससे मनुष्य की इस संसार तथा जन्म मरण आदि से मुक्ति हो जाय। जैसे, भगवान के नाम का स्मरण, कीर्त्तन, अर्चन, पादसेवन, वंदन, चरणोदक-पान, विष्णु के मंत्र का जप आदि।

विशेष—पुराणों में लिखा है कि कलियुग में जब लोग तपोहीन हो जायँगे तब इन्हीं सब कामों से उनकी मुक्ति होगी।

निस्तारा*-संज्ञा पुं० दे० "निस्तार"।

निस्तिमिर-वि० [सं०] अंधकार से रहित या शून्य।

निस्तीर्ण-वि० [सं०] (१) पार गया हुआ। जो तै या पार कर चुका हो। (२) जिसका निस्तार हो चुका हो। छूटा हुआ। मुक्त।

निस्तुष-वि० [सं०] (१) बिना भूसी का। जिसमें भूसी न हो। (२) निर्मल।

निस्तुष रत्न-संज्ञा पुं० [सं०] स्फटिक मणि।

निस्तुष क्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] गेहूँ।

निस्तेज-वि० [सं० निस्तेजस्] तेजरहित। जिसमें तेज न हो। अप्रभ। मलिन।

निस्तैल-वि० [सं०] तैलरहित । बिना तेल का । जिसमें तेल न हो ।

निस्त्रप-वि० [सं०] निर्लज्ज । बेहया । बेशर्म ।

निस्त्रिंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खड्ग । (२) तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र ।
वि० [सं०] निर्दय । जिसमें दया न हो ।

निस्त्रिंश पत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] थूहर ।

निस्त्रुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची ।

निस्त्रैगुण्य-वि० [सं०] जो सत, रज और तम इन तीनों गुणों से रहित या अलग हो ।

निस्त्रैणपुष्पिक-संज्ञा पुं० [सं०] धतूरे का पेड़ ।

निस्नेह-वि० [सं०] (१) जिसमें प्रेम न हो । (२) जिसमें तेल न हो ।
संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र ।

निस्नेहफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] भटकटैया । कटेरी ।

निस्पद-वि० [सं०] जिसमें स्पंदन न हो । कंपरहित । स्थिर ।

निस्पृह-वि० [सं०] जिसे किसी प्रकार का लोभ न हो । लालच या कामना आदि से रहित ।

निस्पृहता-संज्ञा स्त्री० [सं०] निस्पृह होने का भाव । लोभ या लालसा न होने का भाव ।

निस्पृहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्निशिखा या कलिहारी नामक पेड़ ।

निस्पृही-वि० दे० "निस्पृह" ।

निस्फ-वि० [अ०] अर्द्ध । आधा । दो बराबर भागों में से एक भाग ।

निस्फल-वि० दे० "निष्फल" ।

निस्फोबँटाई-संज्ञा स्त्री० [अ० निस्फ + ई (प्रत्य०) + हिं० बटाई] वह बँटाई जिसमें आधी उपज जमींदार और आधी असामी लेता है । अधिया ।

निस्बत-संज्ञा स्त्री० दे० "निसबत" ।

निस्रव--संज्ञा पुं० [सं०] (१) भात का माँड़ । (२) वह जो बह या झड़कर निकला हो ।

निस्राव-संज्ञा पुं० [सं०] भात का मांड़ । वह जो बह या झड़कर निकले । पसेव ।

निस्व-वि० [सं०] दरिद्र । गरीब ।

निस्वन-संज्ञा पुं० [सं०] शब्द । आवाज़ ।

निस्वान-संज्ञा पुं० दे० "निस्वन" ।

निस्वास-संज्ञा पुं० दे० "निःश्वास" ।

निस्संकोच-वि० [सं०] संकोचरहित । जिसमें संकोच या लज्जा न हो । बेधड़क ।

निस्संतान-वि० [सं०] जिसे कोई संतान हो । संतति-रहित ।

निस्संदेह-क्रि० वि० [सं०] अवश्य । जरूर । बेशक । सचमुच ।
वि० जिसमें संदेह न हो ।

निस्सरण--संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलने का मार्ग या स्थान । (२) निकलने का भाव या क्रिया । निकास ।

निस्सार--वि० [सं०] (१) सार-रहित । जिसमें कुछ भी सार या गूदा न हो । (२) जिसमें कोई काम की वस्तु न हो । निस्तत्त्व ।

निस्सारित--वि० [सं०] निकाला हुआ । बाहर किया हुआ ।

निस्सीम--वि० [सं०] (१) जिसकी कोई सीमा न हो । असीम । अपार । (२) बहुत अधिक ।

निस्सृत--संज्ञा पुं० [सं०] तलवार के ३२ हाथों में से एक । उ०-दोउ करत खंग प्रहार बारहिं बार बहुत प्रकार के । तिनको कहत मैं नाम जो हैं हाथ मुख्य हथ्यार के । उद्भ्रांत भ्रांत प्रवृद्ध आकर विकर भिन्न अमानुषै । आविद्ध निर्मर्याद कुल चितवहु निसृत रिपुरन दुषै ।—रघुराज ।

निस्स्वादु--वि० [सं०] (१) जिसमें कोई स्वाद न हो । (२) जिसका स्वाद बुरा हो ।

निस्स्वार्थ--वि० [सं०] स्वार्थ से रहित । जिसमें स्वयं अपने लाभ या हित का कोई विचार न हो ।

निहंग--वि० [सं० निःसंग] (१) एकाकी । अकेला । (२) विवाह आदि न करनेवाला वा स्त्री आदि से संबंध न रखनेवाला (साधु) । (३) नंगा । (४) बेहया । बेशरम ।
संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार के वैष्णव साधु । (२) अकेले रहनेवाला साधु ।

निहंगम-वि० दे० "निहंग" ।

निहंग-लाडला-वि० [हिं० निहंग + लाडला] जो माता पिता के दुलार के कारण बहुत ही उद्दंड और लापरवा हो गया हो ।

निहंता-वि० [सं० निहंतृ] [स्त्री० निहंत्री] (१) विनाशक । नाश करनेवाला । (२) मारनेवाला । प्राण लेनेवाला ।

निहकर्मा*†-वि० दे० "निष्कर्मा" ।

निहकर्मी*†-वि० दे० "निष्कर्मी" ।

निहकलंक*†-वि० दे० "निष्कलंक" ।

निहकाम*†-वि० दे० "निष्काम" । उ०—नर नारी सब नर कहैं जब लग देह सकाम । कहै कबीर सो राम को जो सुमिरै निहकाम ।—कबीर ।

निहकामी†-वि० दे० "निष्कामी" । उ०—सहकामी सुमिरिन करै पावै उत्तम धाम । निहकामी सुमिरन करै पावैं अविचल राम ।—कबीर ।

निहचक†--संज्ञा पुं० [सं० नेमि + चक्र] पहिए के आकार का काठ का गोल चक्कर जो कूएँ की नीवँ में दिया जाता है । निवार । जमवट । जाखिम ।

निहचय*†--संज्ञा पुं० दे० "निश्चय" ।

निहचल*†--वि० दे० "निश्चल" ।

निहठा†-संज्ञा स्त्री० [सं० निष्ठा] लकड़ी का वह टुकड़ा जिस पर रखकर बढ़ई गढ़ने की चीज़ों को बसूले से गढ़ते हैं।

निहत--वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। (२) नष्ट। (३) मारा हुआ। जो मार डाला गया हो।

निहत्था--वि० [हिं० नि + हाथ] (१) जिसके हाथ में कोई शस्त्र न हो। शस्त्रहीन। उ०—हमारे साथ कई मनुष्य पैदल और निहत्थे थे।—शिवप्रसाद। (२) जिसके हाथ में कुछ न हो। खाली हाथ। निर्धन। गरीब।

निहनना*†--क्रि० स० [सं० निहनन] मारना। मार डालना। उ०—तहँहिं कबंध दुहुन पर धायो। ताहि निहनि सुरलोक पठायो।—पद्माकर।

निहपाप†*--वि० दे० "निष्पाप"।

निहफल†*--वि० दे० "निष्फल"।

निहल†--संज्ञा पुं० [देश०] वह जमीन जो नदी के पीछे हट जाने से निकल आई हो। गंगबरार। कछार।

निहलिस्ट-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह पुरुष जिसका यह सिद्धांत हो कि वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान होना असंभव है क्योंकि वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है। ऐसे लोग वस्तुओं की वास्तविक सत्ता और उन वस्तुओं के सत्तात्मक ज्ञान का निषेध करते हैं। (२) रूस देश का एक दल। यह पहले एक सामाजिक दल था जो प्रचलित वैवाहिक प्रथा तथा रीति रवाज और पैतृक शासन का विरोधी था पर पीछे एक राजनैतिक दल हो गया और सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रित नियमों का ध्वंसक और नाशक बन गया। (३) इस दल का कोई आदमी।

निहाई--संज्ञा स्त्री० [सं० निघाति मि० फा० निहाली] सोनारों और लोहारों का एक औजार जिस पर वे धातु को रखकर हथौड़े से कूटते वा पीटते हैं। यह लोहे का बना हुआ चौकोर होता है और नीचे की अपेक्षा ऊपर की ओर कुछ अधिक चौड़ा होता है। नीचे की ओर से निहाई को एक काठ के टुकड़े में जोड़ देते हैं जिससे यह कूटते या पीटते समय इधर उधर हिलती डोलती नहीं। यह छोटी बड़ी कई आकार और प्रकार की होती है।

यौ०—निहाई की थाली = वह थाली जो निहाई पर रखकर नकाशी गई हो।

निहाउ†*--संज्ञा पुं० [सं० निघाति] लोहे का घन। उ०—सुरजै कीन्ह सांग पर घाऊ। परा खरग जनु परा निहाऊ।—जायसी।

निहाका--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोह नामक जंतु। (२) घड़ियाल।

निहानी-संज्ञा स्त्री० [सं० निखनित्री] (१) एक प्रकार की रुखानी जिसकी नोक अर्द्ध चंद्राकार होती है और जिससे बारीक खुदाई का काम होता है। कलम। (२) एक नोकदार औज़ार जिससे ठप्पे की लकीरों के बीच में भरा हुआ रंग खुरचकर साफ किया जाता है।

निहायत--वि० [अ०] अत्यंत। बहुत अधिक। जैसे, निहायत उम्दा चीज, निहायत बारीक काम।

निहार--संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुहरा। पाला। उ०—दंड एक रथ देखि न परा। जनु निहार महँ दिनमनि दुरा।—तुलसी। (२) ओस। (३) हिम। बरफ। उ०—चारु चंदन मनहु मरकत शिखर लसत निहारु। रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गजमनि हारु।—तुलसी।

निहारना--क्रि० स० [सं० निभालन = देखना] ध्यानपूर्वक देखना। देखना। ताकना। उ०—(क) भयो चकोर सो पंथ निहारे। समुँद सीप जस नैन पसारे।—जायसी। (ख) आंखडिया झांई परी पंथ निहारि निहारि। जीभरिया छाला परयो, नाम पुकारि पुकारि।—कबीर। (ग) प्रभु सन्मुख कुछइ न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं।—तुलसी। (घ) प्रथम पूतना कंस पठाई अति सुंदर वपु धारयो। घँसि कै गरल लगाय उरोजन कपट न कोउ निहारयो।—सूर।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

निहारिका--संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का आकाशस्थ पदार्थ जो देखने में धुँधले रंग के धब्बे की तरह होता है। विशेष—दे० "नीहारिका"।

निहारुआ†--संज्ञा पुं० दे० "नहरुआ"।

निहाल--वि० [फा०] जो सब प्रकार से संतुष्ट और प्रसन्न हो गया हो। पूर्णकाम। उ०—(क) दास दुखी तो हरि दुखी आदि अंत तिहु काल। पलक एक में परगटै पल में करै निहाल।—कबीर। (ख) गए जो सरन आरत के लीन्हें। निरखि निहाल निमिष मँह कीन्हें।—तुलसी।

निहालचा--संज्ञा पुं० [फा०] छोटी तोशक या गद्दी जो प्रायः बच्चों के नीचे बिछाई जाती है।

निहाल लोचन- संज्ञा पुं० [फा० निहाता + सं० लोचन ?] वह घोड़ा जिसकी अयाल (केसर) दो भागों में बटी हो, आधी दहिनी ओर आधी बाईं ओर।

निहाली--संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) गद्दा। तोशक। उ०—रेशम की नरम निहाली में सोना जो अदा से हँस हँसकर।—नजीर। (२) निहाई।

निहाव--संज्ञा पुं० [सं० निघाति] लोहे का घन।

निहिचय*†--संज्ञा पुं० दे० "निश्चय"।

निहिचिंत*†--वि० दे० "निश्चिंत"।

निहित -वि० [सं०] स्थापित। रखा हुआ।

निहीन--वि० [सं०] नीच। पामर।

निहुँकना†--क्रि० अ० [हिं० नि + झुकना] झुकना।

निहुड़ना†--क्रि० अ० दे० "निहुरना"।

निहुड़ाना†--क्रि० स० दे० "निहुराना"।

निहुरना†--क्रि० अ० [हिं० नि + होड़न] झुकना। नवना। उ०—(क) यक से पूजा जैान विचारा। यक से निहुरि निमाज गुजारा।—कबीर। (ख) कुच अग्र नखच्छत नाह दियो सिर नाय निहारति यों सजनी। ससिसेखर के सिर ते सु मनों निहुरे ससि लेत कला अपनी।—ब्रह्म।

निहुराना--क्रि० स० [हिं० निहुरना का प्रे०] झुकाना। नवाना। उ०—भर झोली सिर निहुराए क्या बैठी है।—इंशाअल्ला।

निहोर†--संज्ञा पुं० दे० "निहोरा"।

निहोरना--क्रि० स० [सं० मनोहार, हिं० मनुहार] प्रार्थना करना। विनय करना। उ०—(क) सुमिरि महेशहि कहइ निहोरी। विनती सुनहु सदाशिव मोरी।—तुलसी। (ख) पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी।—तुलसी। (ग) तापस वेष गात जपत निरंतर मोहि। देखउँ वेगि सो जतन करु सखा निहोरहु तोहिं।—तुलसी। (३) मनाना। मनौती करना। उ०—(क) देवता निहोरि महा-मारिन ते कर जोरे, भोरानाथ भोरे अपनी सी कहि ठई है।—तुलसी। (ख) ग्वालिन चली जमुना बहोरि। वाहि सब मिलि कहत आवहु कछू कहति निहोरि—सूर। (ग) जोरहु हुँकर भोरे से भाय निहोरत प्यारे पिया बड़ भागी। (घ) है तो भली घर ही जो रहो तुम यों कहिके ननदी हूँ निहोरेउ। (४) कृतज्ञ होना। एहसान लेना। उ०—सोइ कृपाल केवट हि निहोरे। जेहि जग किय तिहु पग ते थोरे।—तुलसी।

निहोरा†--संज्ञा पुं० [सं० मनोहार, हिं० मनुहार] (१) अनुग्रह। एहसान। कृतज्ञता। उपकार। उ०—(क) क्या काशी क्या ऊसर मगहर हृदय राम बस मोरा। जो काशी तन तजै कबीरा रामहिं कौन निहोरा ?—कबीर। (ख) सो कछु देव न मोहिं निहोरा। निज पन राखेहु जन मन चोरा।—तुलसी। (ग) कहा दाता जो द्रवै न दीनहिं देखि दुखित कलिकाल। सूर श्याम को कहा निहोरो चलत वेद की चाल।—सूर।

क्रि० प्र०—मानना।—लेना।

(२) बिनती। प्रार्थना। उ०—(क) मैं आपनि दिसि कीन निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा।—तुलसी। (ख) चितै रघुनाथ बदन की ओर। रघुपति सो अब नेम हमारो विधि सों करति निहोर।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।

(३) भरोसा। आसरा। आश्रय। आधार। उ०—(क) रात दिवस निरभय जिय मोरे। लग्यों निहोर कंत जो तोरे।—जायसी। (ख) नाक सँवारत आयो हैां नाकहिं नाहीं पिनाकहिं नेकु निहोरो।—तुलसी।

क्रि० प्र०—लगना।

क्रि० वि० (१) निहोरे से। कारण से। बदौलत। द्वारा। उ०—(क) तुम सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरे।--तुलसी। (ख) तजउँ प्राण रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।—तुलसी। (२) के लिये। वास्ते। निमित्त। उ०—तुम बसीठ राजा की ओरा। साख होहु यहि भीख निहोरा।—जायसी।

निह्नव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोपन। छिपाव। दुराव। (२) एक प्रकार का साम। (३) अविश्वास। (४) शुद्धि। पवित्रता।

निह्नुत–वि० [सं०] छिपाया हुआ।

निह्नुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] छिपाव। दुराव। गोपन।

निह्लाद--संज्ञा पुं० [सं०] शब्द। ध्वनि।

नींद--संज्ञा स्त्री० [सं० निद्रा, आ० निद्दा] जीवन की एक नित्यप्रति होनेवाली अवस्था जिसमें चेतन क्रियाएँ रुकी रहती हैं और शरीर और अंतःकरण दोनों विश्राम करते हैं। निद्रा। स्वप्न। सोने की अवस्था। विशेष—दे० "निद्रा"। उ०—(क) कीन्हेसि बरन स्वेत औ श्यामा। कीन्हेसि भूँख नींद बिसरामा।—जायसी। (ख) जो करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहि नींद जुड़ाई होई।—तुलसी।

क्रि० प्र०—आना।—छूटना।—जाना।—लगना।

मुहा०—**नींद उचटना** = नींद का दूर होना। **नींद उचाटना** = नींद दूर करना। सोने में बाधा डालना। **नींद का दुखिया** = बहुत सोनेवाला। सदा सोने का इच्छुक रहनेवाला। **नींद का माता** = नींद से व्याकुल। नींद से गिर गिर पड़नेवाला। **नींद उचाट होना** = नींद का खुलने पर फिर न आना। सोने में बाधा पड़ना। **नींद टूटना** = नींद का छूट जाना। जग पड़ना। **नींद खराब करना** = सोने का हर्ज करना। सोने में बाधा डालना। **नींद खुलना** = आँख खुलना। नींद टूटना। **नींद खोना या गँवाना** = सोने का हर्ज करना। निद्रा की दशा न रहना। **नींद पड़ना** = नींद आना। निद्रा की अवस्था होना। उ०—नींद न परै रैन जो आई।—जायसी। **नींद भरना** = नींद पूरी करना। सोना। **नींद भर सोना** = जितनी इच्छा हो उतना सोना। इच्छा भर सोना। उ०—डासत ही सब बीति निसा गई कबहुँ न नाथ नींद भर सोयो।—तुलसी। **नींद मारना** = सोना। **नींद लेना** = सोना। उ०—(क) नींद न लीन्ह रैन सब जागा। होत बिहान आय गढ़ लागा।—जायसी। (ख) जब ते प्रीत स्याम सों कीन्हा। ता दिन ते नैननि नेकहु नींद न लीन्हा।—सूर। **नींद संचरना** = नींद आना। उ०—द्वादशि में जो पारण करहीं। और शयन जो नींद संचरहीं।—सबलसिंह। **नींद हराम करना** = सोना छुड़ा देना। सोने न देना। **नींद हराम होना** = सोना छूट जाना। सोने की नौबत न आना।

नींदड़ी†--संज्ञा स्त्री० दे० "नींद"। उ०—नैन न आवइ नींदड़ी

निस दिन तलफत जाय। दादू आतुर बिरहिनी, क्योंकरि रहन बिहाय।—दादू।

नींदना†-क्रि० स० [सं० निकंदन] निराना। दे० "नींदना"।

नींदरी‡-संज्ञा स्त्री० दे० "नींद"। उ०—हैं। जँभात अलसात तात तेरी बानि जाति भै पाई। गाइ गाइ हलराइ बोलिहैं। सुख नींदरी सुहाई।—तुलसी।

नीका†*-वि० [सं० निक्त = स्वच्छ, साफ। फा० नेक] [स्त्री० नीकि] अच्छा। सुंदर। भला। अनुकूल। उ०—(क) अब तुम कही नीक यह सोभा। पै फल सोई भँवर जेहि लोभा।—जायसी। (ख) गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई।—तुलसी।

मुहा०—नीक लगना = (१) रुचना। भाना। रुचि के अनुकूल जान पड़ना। (२) सजना। सुशोभित होना।

संज्ञा पुं० अच्छाई। उत्तमता। अच्छापन। उ०—जोई फल देखी सोई फीका। ताकर काह सराहे नीका।—जायसी।

नीका-वि० [सं० निक्त = साफ, स्वच्छ। फा० नेक] [स्त्री० नीकी] अच्छा। उत्तम। बढ़िया। भला। उ०—(क) प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागहि फीकी।—तुलसी। (ख) आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि विस्तार। होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार।—सूर।

मुहा०—नीका लगना = (१) रुचना। भाना। सुहाना। अच्छा मालूम होना। (२) सुशोभित होना। सजना। सोहना।

नीकाश-वि० [सं०] तुल्य। समान।

नीके-क्रि० वि० [हिं० नीक] अच्छी तरह। भली भांति। उ०—(क) नीके निरखि नयन भरि सोभा।—तुलसी। (ख) मातहि पितहिं उरिण भए नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के।—तुलसी। (ग) सुनि कटुवचन गयो माता पै तब इन ज्ञान दृढ़ायो। हरि की भक्ति करो सुत नीके जो चाहो सुख पायो।—सूर।

नीकौ†-वि० दे० "नीका"।

नीग्रो-संज्ञा पुं० [अ०] हबशी।

नीच-वि० [सं०] (१) जाति, गुण, कर्म या किसी और बात में घटकर वा न्यून। क्षुद्र। तुच्छ। अधम। हेठा। जैसे, नीच आदमी, नीच कुल।

यौ०—नीच ऊँच = छोटा बड़ा। बड़े घराने या छोटे घराने का। उ०—नीच ऊँच धन संपति हेरा।—जायसी।

(२) जो उत्तम और मध्यम कोटि से घटकर हो। अधम। बुरा। निकृष्ट।

यौ०—नीच ऊँच = (१) अच्छा बुरा। (२) बुराई भलाई। गुण अवगुण। (३) अच्छा और बुरा परिणाम। हानि लाभ। जैसे, नीच ऊँच समझकर काम करो। (४) संपद विपद। सुख दुःख। सफलता असफलता।

संज्ञा पुं० (१) नीच मनुष्य। क्षुद्र मनुष्य। ओछा आदमी। उ०—नीच निचाई नहिं तजैं जो पावै सतसंग। (२) चोर नामक गंधद्रव्य। (३) फलित ज्योतिष में वह स्थान जो किसी ग्रह के उच्च स्थान से सातवाँ हो। (४) भ्रमण काल में किसी ग्रह के भ्रमणवृत्त का वह स्थान जो पृथ्वी से अधिक दूर हो। (५) दशार्ण देश के एक पर्वत का नाम।

नीचकदंब-संज्ञा पुं० [सं०] मुंडी।

नीच कमाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीच + कमाई] (१) निंद्य व्यवसाय। तुच्छ काम। खोटा काम। (२) बुरे कामों से पैदा किया धन।

नीचका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रशस्त गो। अच्छी गाय।

नीचकी-संज्ञा पुं० [सं० नीचकिन्] [स्त्री० नीचकिनी] (१) उच्च। श्रेष्ठ। (२) ऊँचा। जिसके पास अच्छी गायें हों।

संज्ञा पुं० ऊपरी भाग।

नीचग-वि० [सं०] [स्त्री० नीचगा] (१) नीचे जानेवाला। (२) पामर। ओछा।

संज्ञा पुं० (१) पानी। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार वह ग्रह जो अपने उच्च स्थान से सातवें पड़ा हो।

नीचगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नदी। (२) नीचवर्णगामिनी स्त्री। नीच के साथ गमन करनेवाली स्त्री।

नीचगामी-वि० [सं० नीचगामिन्] [स्त्री० नीचगामिनी] (१) नीचे जानेवाला। (२) ओछा।

संज्ञा पुं० जल।

नीचगृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो किसी ग्रह के उच्च स्थान वा राशि से गिनती में सातवाँ पड़े।

नीचट†-वि० [सं० निश्चय] दृढ़। पक्का।

नीचता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीच होने का भाव। (२) अधमता। खोटाई। तुच्छता। क्षुद्रता। कमीनापन।

नीचत्व-संज्ञा पुं० [सं०] नीचता।

नीचवज्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैक्रांत मणि।

नीचा-वि० [सं० नीच] [स्त्री० नीची] (१) जिसके तल से उसके आस पास का तल ऊँचा हो। जो कुछ उतार या गहराई पर हो। गहरा। ऊँचा का उलटा। निम्न। जैसे, नीची जमीन, नीचा रास्ता।

यौ०—नीचा ऊँचा = कहीं गहरा और कहीं उठा हुआ। जो समतल न हो। नाबराबर। ऊबड़ खाबड़। उतार चढ़ाव।

(२) ऊँचाई में सामान्य की अपेक्षा कम। जो ऊपर की ओर दूर तक न गया हो। जैसे, नीचा पेड़, नीचा मकान, नीची टोपी। (ऊँचाई निचाई का भाव सापेक्ष होता है)।

(३) जो ऊपर से जमीन की ओर दूर तक आया हो। अधिक लटका हुआ। जैसे, नीचा अंगा, नीची धोती, नीची डाल। (४) जो ऊपर की ओर पूरा उठा न हो। झुका हुआ। नत। जैसे, सिर नीचा करना, झंडा नीचा करना, दृष्टि नीचा करना, आँख नीची करना। उ०—(क) जाचक देहिं असीस सीस नीचो करि करि के।—गोपाल। (ख) रघुनाथ चितै हँसि ठाढ़ी रही पल घूँघट में दृग नीचो करै।—रघुनाथ। (ग) देवनंदन ने देखा इन बातों के कहते, लाज से उसकी आँखें नीची हो गईं।—अयोध्यासिंह। (५) जो चढ़ा हुआ न हो। जो तीव्र न हो। धीमा। मध्यम। जो जोर का न हो। जैसे, नीचा सुर, नीची आवाज़। (६) जो जाति, पद, गुण इत्यादि में न्यून या घटकर हो। जो उत्तम और मध्यम कोटि का न हो। छोटा या ओछा। क्षुद्र। बुरा।

मुहा०—**नीचा ऊँचा** = (१) भला बुरा। (२) भलाई बुराई। गुण अवगुण अच्छा और बुरा परिणाम। हानि लाभ। (३) संपद विपद। सुख दुःख। बढ़ती घटती। सफलता असफलता। **नीचा ऊँचा दिखाना या सुझाना** = दे० "ऊँचा नीचा दिखाना"। **नीचा ऊँचा सुनाना** = दे० "ऊँचा नीचा सुनाना"। **नीचा खाना** = (१) तुच्छ बनना। अपमानित होना। हेठा बनना। (२) हारना। परास्त होना। (३) लज्जित होना। झिपना। उ०—चालाकी में अच्छे खासे पट्ठे, दस पंद्रह वर्ष मुंसिफ और सदराला रह कहीं कुछ थोड़ा बहुत नीचा खाकर भी ...आठो गाँठ कुम्मेत हो चुके थे।—हिंदी प्रदीप। **नीचा दिखाना** = (१) तुच्छ बनाना। हेठा करना। अवमानित करना। (२) मानभंग करना। दर्प चूर्ण करना। शेखी झाड़ना। (३) परास्त करना। हराना। (४) झिपाना। लज्जित करना। **नीचा देखना** = दे० "नीचा खाना"। उ०—कहीं किसी ने देख सुन लिया तो भी वही बात हुई। जग में नीचा अंग देखना पड़ता है।—अयोध्यासिंह। **नीची दृष्टि करना** = सिर झुकाना। सामने न ताकना। (लज्जा संकोच आदि से)। **नीची दृष्टि से देखना** = तुच्छ या छोटा समझना। मान या प्रतिष्ठा न करना। कदर न करना।

नीचाशय–वि० [सं०] तुच्छ विचार का। क्षुद्र। ओछा।

नीचू†–वि० [हिं० नि + चूना] जो चुए न। जो टपकता न हो। जिसमें पानी ऊपर से वा बाहर से रसकर आता वा टपकता न हो।

†–वि० दे० "नीचा"।

नीचे–क्रि० वि० [हिं० नीचा] नीचे की ओर। अधोभाग में। ऊपर का उलटा। उ०—पानख को लिवै पानि नवै तिमि सीस नवाय के नीचेहि जावै।—मतिराम।

विशेष—'ऊपर' 'यहाँ' 'वहाँ' आदि शब्दों के समान इस क्रि० वि० शब्द के साथ पंचमी और षष्ठी की 'से' 'तक' 'का' विभक्तियाँ लगती हैं। जैसे, नीचे से; नीचे का।

मुहा०—**नीचे ऊपर** = (१) एक के ऊपर दूसरा इस क्रम से। एक पर एक। तले ऊपर। जैसे, इन सब पुस्तकों को नीचे ऊपर रख दो। (२) ऊपर का नीचे, नीचे का ऊपर। उलट पलट। उथल पथल। अस्त व्यस्त। अव्यवस्थित। जैसे, इतने दिनों में पुस्तकें लगाकर रखी थीं तुमने उन्हें नीचे ऊपर कर दिया। **नीचे गिरना** = (१) प्रतिष्ठा खोना। मान मर्य्यादा गँवाना। (२) पतित होना। अवनत दशा को प्राप्त होना। (३) कुश्ती में पटका जाना। पछाड़ खाना। **नीचे गिराना** = (१) पतित करना। मान मर्य्यादा दूर करना। (२) कुश्ती में पटकना। पछाड़ना। **नीचे डालना** = (१) फेंकना। गिराना। (२) किसी बात में घटकर करना। पराजित करना। जीतना। **नीचे लाना** = गिराना। कुश्ती में पछाड़ना। **ऊपर से नीचे तक** = (१) सब भागों में। सर्वत्र। (२) सर्वांग में। सिर से पैर तक। जैसे, उसने मेरी ओर ऊपर से नीचे तक देखा।

(२) घटकर। कम। न्यून। जैसे, दरजे में वह सब से नीचे है। (३) अधीनता में। मातहती में। जैसे, उनके नीचे दस मुहर्रिर काम करते हैं।

नीज†–संज्ञा पुं० [सं० रज्जु ?] रस्सी।

नीजन*–वि० [सं० निर्जन] निर्जन। जनशून्य। सुनसान। उ०—दौर्‌यो दल साजि महाराज ऋतुराज जानि नीजन मवास, मानिनी जन गरीब से।—देव।

संज्ञा पुं० निर्जन स्थान। वह स्थान जहाँ कोई न हो। निराला। एकांत। उ०—मोहिं सकोच सखी जन को नतु नीजन ह्वै उन्हें बीजन ढोरौं।—देव।

नीजू†–संज्ञा स्त्री० [सं० रज्जु] रस्सी। पानी भरने की डोरी।

नीझर*–संज्ञा पुं० [सं० निर्झर] निर्झर। झरना। सोता। उ०—(क) तिस सरवर के तीर सो हंसा मोती चुनइ। पीवइ नीझर नीर सोहै हंसा सो सुनइ।—दादू। (ख) सो हंसा सरनागत जाय। सुंदरि तहाँ पखोरै पाय। पीवइ अमिरित नीझर नीर। बैठइ तहाँ जगत गुरु पीर—दादू।

नीठ–क्रि० वि० दे० "नीठि"।

नीठि–संज्ञा स्त्री० [सं० अनिष्टि, प्रा० अनिट्ठि] अरुचि। अनिच्छा।

मुहा०—**नीठी नीठि करके** = (१) ज्यों त्यों करके। बहुत इधर उधर करके। किसी न किसी प्रकार। उ०—नीठि नीठि करि चित्र मंदिर लौं आई बाल चहूँ ओर चाहि कछु चेति कै भजै लगी।—बेनी। (२) कठिनता से। मुश्किल से। उ०—छूटी लट लटकति कटितट लौं चितवति नीठि नीठि करि ठाढ़ी।—केशव।

क्रि० वि० (१) ज्यों त्यों करके। किसी न किसी प्रकार।

उ०—आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि सोहत सुहाई सूही ईंड़री सुपट की। कहै पदमाकर गभीर जमुना के तीर लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।—पद्माकर। (२) मुश्किल से। कठिनता से। उ०—(क) चहुँ ओर चितै सत्रास। अवलोकियो आकास। तहँ शाख बैठो नीठि। तब परयो वानर दीठि।—केशव। (ख) ऐसी सोच सीठी सीठी चीठी अति दीठी, सुनै मीठी मीठी बातन जो नीके हू मैं नीठि है।—केशव। (ग) करके मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाय। सदा समीपिन सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।—बिहारी। (घ) चकी जकी सी ह्वै रही बूझे बोलति नीठि। कहूँ दीठि लागी लगी, कै काहू की दीठि।—बिहारी। (ङ) नैकु हँसौहीं बानि तजि लख्यो परत मुख नीठि। चैाका चमकनि चौंध में परति चौंधि सी दीठि। —बिहारी।

यौ०—नीठि नीठि = ज्यों त्यों करके। किसी न किसी प्रकार। जैसे तैसे। मुश्किल से। कठिनता से। उ०—(क) नीठि नीठि उठि बैठि हू पिय प्यारी परभात। दोऊ नींद भरे खरे गरे लागि गिरि जात।—बिहारी। (ख) भौंह उँचै आँचर उलटि मोरि मोरि मुँह मोरि। नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि।—बिहारी।

नीठो-वि० [सं० अनिष्ट, प्रा० अनिट्ठ] अनिष्ट। अप्रिय। न सुहानेवाला। न भानेवाला। उ०—छेक उक्ति जहँ दुर्मिल सम जक का समुझावति नीठो? मिसरी, सूर, न भावति घर की, चोरी को गुड़ मीठो।—सूर।

नीड़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैठने वा ठहरने का स्थान। (२) चिड़ियों के रहने का घोंसला। (३) रथ के भीतर का वह स्थान जिसमें रथी बैठता है। रथ में बैठने का मुख्य स्थान।

नीड़क-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

नीड़ज-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

नीत-वि० [सं०] (१) लाया हुआ। पहुँचाया हुआ। (२) स्थापित। (३) प्राप्त। (४) गृहीत। ग्रहण किया हुआ। उ०—किधौं मंद गरजनि जलधर, की पग नूपुर रव नीत। —सूर।

नीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ले जाने या ले चलने की क्रिया, भाव या ढंग। (२) व्यवहार की रीति। आचारपद्धति। जैसे, सुनीति, दुर्नीति। (३) व्यवहार की वह रीति जिससे अपना कल्याण हो और समाज को भी कोई बाधा न पहुँचे। वह चाल जिसे चलने से अपनी भलाई, प्रतिष्ठा आदि हो और दूसरे की कोई बुराई न हो। जैसे, जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। साईं तहाँ न बैठिए जहँ कोउ देय उठाय।—गिरिधर। (४) लोक या समाज के कल्याण के लिये उचित ठहराया हुआ आचार व्यवहार। लोकमर्य्यादा के अनुसार व्यवहार। सदाचार। अच्छी चाल। नय। उ०—सुनि मुनीस कह वचन सप्रीती। कस न राम राखहु तुम नीती।—तुलसी। (५) राजा और प्रजा की रक्षा के लिये निर्धारित व्यवस्था। राज्य की रक्षा के लिये ठहराई हुई विधि। राजा का कर्त्तव्य। राजविद्या।

विशेष—महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को नीति शास्त्र की शिक्षा दी है जिसमें प्रजा के लिये कृषि-वाणिज्य आदि की व्यवस्था, अपराधियों को दंड, अमात्य चर गुप्तचर सेना सेनापति इत्यादि की नियुक्ति, दुष्टों का दमन, राष्ट्र दुर्ग और कोश की रक्षा, धनिकों की देख रेख, दरिद्रों का भरण पोषण, युद्ध, शत्रुओं को वश में करने के साम, दाम, दंड, भेद ये चार उपाय, साधुओं की पूजा, विद्वानों का आदर, समाज और उत्सव, सभा, व्यवहार तथा इसी प्रकार की और बहुत सी बातें आई हैं।

नीति विषय पर कई प्रचीन पुस्तकें हैं। जैसे, उशना की शुक्रनीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामंदकीय नीतिसार इत्यादि।

(६) राज्य की रक्षा के लिये काम में लाई जानेवाली युक्ति। राजाओं की चाल जो वे राज्य की प्राप्ति वा रक्षा के लिये चलते हैं। पालिसी। जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य और राक्षस की नीति। (७) किसी कार्य्य की सिद्धि के लिये चली जानेवाली चाल। युक्ति। उपाय। हिकमत।

नीतिज्ञ-वि० [सं०] नीति का जाननेवाला। नीतिकुशल।

नीतिमान्-वि० [सं० नीतिमत्] [स्त्री० नीतिमती] नीतिपरायण। सदाचारी।

नीतिशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह शास्त्र जिसमें देश, काल और पात्र के अनुसार बरतने के नियम हों। (२) वह शास्त्र जिसमें मनुष्य समाज के हित के लिये देश काल और पात्रानुसार आचार व्यवहार तथा प्रबंध और शासन का विधान हो।

नीदना*-क्रि० स० [सं० निंदन] निंदा करना। उ०—सोवत सपने स्यामघन हिलि मिलि हरत वियोग। तब ही टरि कितहूँ गई नीदै नींदन योग।—बिहारी।

नीधना†*-वि० [सं० निर्धन] धनहीन। दरिद्र। उ०—दादू सब जग नीधना धनवंता नहिं कोइ। सो धनवंता जानिए जाके राम पदारथ होइ।—दादू।

नीध्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वल्मीक। छाजन की ओलती। (२) वन। (३) नेमि। पहिए का चक्कर। (४) चंद्रमा। (५) रेवती नक्षत्र।

नीप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कदंब। (२) भूकदंब। (३) बंधूक। दुपहरिया। (४) नीलाशोक। अशोक। (५) पहाड़ का

निचला भाग। (६) एक देश का नाम। (बृहत्संहिता)। (७) एक राजा का नाम।

संज्ञा पुं० [अ० निप] दो चीजों को बाँधने या गाँठ देने के लिये रस्सी का फेरा वा फंदा।

मुहा०—नीप लेना = रस्सी में बाँधने के लिये फंदा लगाना।

नीपर-संज्ञा पुं० [अं० निपर] (१) लंगर में बँधी हुई रस्सियों में से एक। (२) उक्त रस्सी के बंधन को कसने के लिये लगा हुआ डंडा। (लश०)

नीपातिथि-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि।

नीब†-संज्ञा पुं० दे० "नीम"।

नीबर†-वि० [सं० निर्बल] दुर्बल। कमजोर।

नीबी*-संज्ञा स्त्री० दे० "नीवी"

नीबू-संज्ञा पुं० [सं० निंबूक, अ० लीमूँ] मध्यम आकार का एक पेड़ या झाड़ जिसका फल खाया जाता है और जो पृथ्वी के गरम प्रदेशों में होता है। इसकी पत्तियाँ मोटे दल की और दोनों छोरों पर नुकीली होती हैं, तथा उनके ऊपर का रंग बहुत गहरा हरा और नीचे का हलका होता है। पत्तियों की लंबाई तीन अंगुल से अधिक नहीं होती। फूल छोटे छोटे और सफेद होते हैं जिनमें बहुत से पराग-केसर होते हैं। फल गोल या लंबोतरे तथा सुगंधयुक्त होते हैं, साधारण नीबू स्वाद में खट्टे होते हैं और खटाई के लिये ही खाए जाते हैं। मीठे नीबू भी कई प्रकार के होते हैं। उनमें से जिनका छिलका नरम होता है और बहुत जल्दी उतर जाता है तथा जिनके रसकोश की फाँकें अलग हो जाती हैं वे नारंगी के अंतर्गत गिने जाते हैं। साधारणतः 'नीबू' शब्द से खट्टे नीबू का ही बोध होता है। उत्तरीय भारत में नीबू दो बार फलता है। बरसात के अंत में, और जाड़े (अगहन पूस) में। अचार के लिये जाड़े का नीबू ही अच्छा समझा जाता है क्योंकि वह बहुत दिनों तक रह सकता है। खट्टे नीबू के मुख्य भेद ये हैं—कागजी (पतले चिकने छिलके का गोल और लंबोतरा), जंबीरी (कड़े मोटे खुरदुरे छिलके का), बिजौरा (बड़े मोटे और ढीले छिलके का), चकोतरा (बहुत बड़ा खरबूजे सा, मोटे और कड़े छिलके का)। पैवंद द्वारा इनमें से कई के मीठे भेद भी उत्पन्न किए जाते हैं; जैसे, कवँले या संतरे का पैवंद खट्टे चकोतरे पर लगाने से मीठा चकोतरा होता है।

विशेष—आजकल नीबू की अनेक जातियाँ चीन, भारत, फारस, अरब तथा योरप और अमेरिका के दक्षिणी भागों में लगाई जाती हैं। खट्टा नीबू हिंदुस्तान में कई जगह (कमाऊँ, चटगाँव आदि) जंगली भी होता है जिससे सिद्ध होता है कि यह भारतवर्ष से पहले पहल और देशों में फैला। मीठे नीबू या नारंगी का उत्पत्तिस्थान चीन बतलाया जाता है। चीन और भारत के प्राचीन ग्रंथों में नीबू का उल्लेख बराबर मिलता है। फारस और अरब के व्यापारियों द्वारा यह यूनान इटली आदि पश्चिम के देशों में गया। प्राचीन रोमन लोगों को यह फल बहुत दिनों तक बाहरी व्यापारियों से मिलता रहा और वे इसका व्यवहार सुगंध के लिये तथा कपड़ों को कीड़ों से बचाने के लिये करते थे। मीठे नीबू या नारंगियों का प्रचार तो योरप में और भी पीछे हुआ। पहले पहल ईसा की तेरहवीं शताब्दी में रोम नगर में नारँगी के लगाए जाने का उल्लेख मिलता है। पीछे पुर्त्तगाल आदि देशों में नारंगी की बहुत उन्नति हुई।

सुश्रुत में जंबीर, नारंग, ऐरावत और दंतशठ ये चार प्रकार के नीबू आए हैं। ऐरावत और दंतशठ दोनों अम्ल कहे गए हैं। जंबीर तो खट्टा है ही। राजनिघंटु में ऐरावत नारंग का पर्याय लिखा गया है जो सुश्रुत के अनुसार ठीक नहीं जान पड़ता, शायद नागरंग शब्द के कारण ऐसा हुआ है। "नाग" का अर्थ सिंदूर न लेकर हाथी लिया और ऐरावत को नागरंग का पर्याय मान लिया। तैलंग भाषा में चकोतरे को गजनिंबू कहते हैं अतः ऐरावत वही हो सकता है। भावप्रकाश में बीजपूर (बिजौरा), मधुकर्कटी (चकोतरा), जंबीर (खट्टा नीबू) और निंबूक (कागजी नीबू) ये चार प्रकार के नीबू कहे गए हैं। सुश्रुत में जंबीर और दंतशठ अलग हैं पर भावप्रकाश में वे एक दूसरे के पर्याय हैं। राजवल्लभ में लिंपाक और मधुकुक्कुटिका ये दो भेद जंबीरी के कहे गए हैं। उसी ग्रंथ में करण वा कन्ना नीबू का भी उल्लेख है। नीचे वैद्यक में आए हुए नीबुओं के नाम दिए जाते हैं—

(१) निंबूक (कागजी नीबू)। (२) जंबीर (जंबीरी नीबू, खट्टा नीबू या गलगल)—(क) बृहज्जंबीर, (ख) लिंपाक, (ग) मधुकुक्कुटिका (मीठा जंबीरी या शरबती नीबू)। (३) बीजपूर (बिजौरा)। पर्य्या०—मातुलुंग, रुचक, फलपूरक, अम्लकेशर, वीजपूर्ण, सुकेशर, वीजक, वीजफलक, जंतुघ्न, दतुरच्छद, पूरक, रोचनफल। (क) मधुर मातुलुंग या मीठा बिजौरा। इसे संस्कृत में मधुकर्कटिका और हिंदी में चकोतरा कहते हैं। (४) करण या कन्ना नीबू—इसे पहाड़ी नीबू भी कहते हैं। इसे अरबी में कलंबक कहते हैं। निंबू या निंबूक शब्द सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रंथों में नहीं आया है इससे विद्वानों का अनुमान है कि यह अरबी लीमूँ शब्द का अपभ्रंश है। 'संतरा' शब्द के विषय में डा० हंटर का अनुमान है कि यह 'सिंट्रा' शब्द से बना है जो पुर्त्तगाल में एक स्थान का नाम है। पर बाबर ने अपनी पुस्तक में 'संगतरा' का उल्लेख किया है, इससे इस विषय में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता।

मुहा०—नीबू निचोड़ = थोड़ा सा कुछ देकर बहुत सी चीज में

साझा करनेवाला। थोड़ा सा संबध जोड़कर बहुत कुछ लाभ उठानेवाला।

विशेष—कहते हैं किसी सराय में एक मियाँ साहब रहते थे जो हर समय अपने पास नीबू और चाकू रखते थे। जब सराय में उतरा हुआ कोई भला आदमी खाना खाने बैठता तब आप चट जाकर उसकी दाल में नीबू निचोड़ देते थे जिससे वह भलमनसाहत के विचार से आपको खाने में शरीक कर लेता था।

नीम-संज्ञा पुं० [सं० निम्ब] पत्ती झाड़नेवाला एक पेड़ जिसकी उत्पत्ति द्विदलांकुर से होती है और जिसकी पत्तियाँ डेढ़ दो बित्ते की पतली सीकों के दोनों ओर लगती हैं। ये पत्तियाँ चार पाँच अंगुल लंबी और अंगुल भर चौड़ी होती हैं। किनारे इनके आरी की तरह होते हैं। छोटे छोटे सफेद फूल गुच्छों में लगते हैं। फलियाँ भी गुच्छों में लगती हैं और निबौली कहलाती हैं। ये फलियाँ खिरनी की तरह लंबोतरी होती हैं और पकने पर चिपचिपे गूदे से भर जाती हैं। एक फली में एक बीज होता है। बीजों से तेल निकलता है जो कडुएपन के कारण केवल औषध के या जलाने के काम का होता है। नीम की तिताई या कडुवापन प्रसिद्ध है। इसका प्रत्येक भाग कडुवा होता है—क्या छाल, क्या पत्ती, क्या फूल, क्या फल। पुराने पेड़ों से कभी कभी एक प्रकार का पतला पानी रस रसकर निकलता है और महीनों बहा करता है। यह पानी कडुआ होता है और 'नीम का मद' कहलाता है। नीम की लकड़ी ललाई लिये और मजबूत होती है तथा किवाड़, गाड़ी, नाव आदि बनाने के काम में आती है। पतली टहनियाँ, दातून के लिये बहुत तोड़ी जाती हैं। वैद्यक में नीम कडुई, शीतल तथा कफ, व्रण, कृमि, वमन, सूजन, पित्तदोष और हृदय के दाह को दूर करनेवाली मानी जाती है। दूषित रक्त को शुद्ध करने का गुण भी इसका प्रसिद्ध है।

पर्या०—निंब। नियमन। नेता। पिचुमंद। अरिष्ट। प्रभद्रक। पारिभद्रक। शुकप्रिय। शीर्षपर्ण। यवनेष्ट। वात्वच। छर्दन। हिंगु। निर्यास। पीतसार। रक्तिप्रिय। मालक। यूकारि। पूकमालक। कीटक। विबंध। कैटर्य्य। छर्दिघ्न। काकफल। कीरेष्ट। सुमना। विशर्णीपर्ण। शीत। राजभद्रक।

मुहा०—नीम की टहनी हिलाना = गरमी की बीमारी लेकर बैठना। उपदंश या फिरंग रोग ग्रस्त होना (जिसमें लोग नीम की टहनी लेकर घाव पर से मक्खियाँ उड़ाया करते हैं।)

वि० [फा०। मि० सं० नेम] आधा। अर्द्ध। जैसे, नीमटर, नीमहकीम।

नीमबर-संज्ञा पुं० [फा०] कुश्ती का एक पेच जो उस समय काम देता है जब जोड़ पीछे की ओर से कमर पकड़कर बाईं ओर खड़ा होता है। इसमें अपना बायाँ घुटना जोड़ की दाहिनी जाँघ के नीचे ले जाते हैं, फिर बायें हाथ को उसकी टाँगों में से निकालकर उसका बायाँ घुटना पकड़ते और दाहिने हाथ से उसकी मुट्ठी पकड़कर भीतर की ओर खींचते हैं जिससे वह चित गिर पड़ता है।

नीमगिर्दा-संज्ञा पुं० [फा०] बढ़ई का एक औजार जो रुखानी या पेचकश की तरह का होता है। इसकी नोक सीधी न होकर अर्द्धचंद्राकार होती है। इससे बढ़ई खरादने के समय सुराही आदि की गर्दन छीलते हैं।

नीमच-संज्ञा पुं० [हिं० नदी + मच्छ] एक मछली जो बंगाल, उड़ीसा, पंजाब और सिंध की नदियों में होती है। इसका मांस खाने में अच्छा होता है।

नीमचा-संज्ञा पुं० [फा०] खाँड़ा।

नीमजाँ-वि० [फा०] अधमरा।

नीमटर-वि० [फा० नीम + हिं० टरटर] अधकचरा। जिसे पूरी विद्या या जानकारी न हो। जो किसी विषय को केवल थोड़ा बहुत जानता हो।

नीमन†-वि० [सं० निर्मल] (१) अच्छा। भला। नीरोग। चंगा। उ०—जानि लेहु हारि इतने ही में कहा करै नीमन को वैद।—सूर। (२) दुरुस्त। जो बिगड़ा हुआ न हो। जो जीर्ण न हुआ हो। (३) बढ़िया। अच्छा। सुंदर।

नीमर†-वि० [सं० निर्बल, हिं० नबिर] दुर्बल। बलहीन। शक्तिहीन।

नीम-रजा-वि० [फा०] (१) थोड़ी बहुत रजामंदी। (२) कुछ तोष या प्रसन्नता। उ०—परि पा करि विनती घनी नीमरजा ही कीन।—शृंग० सत०।

नीमषारण्य, नीमषारन‡-संज्ञा पुं० दे० "नैमिषारण्य"।

नीमस्तीन-संज्ञा स्त्री० दे० "नीमास्तीन"।

नीमा-संज्ञा पुं० [फा०] एक पहरावा जो जामे के नीचे पहना जाता है। यह जामे के आकार का होता है पर न तो यह जामे के इतना नीचा होता है और न इसके बंद बगल में होते हैं। यह घुटने के ऊपर तक नीचा होता है और इसके बंद सामने रहते हैं। आस्तीन इसकी पूरी नहीं होती, आधी होती है। इसके दोनों बगल सुराहियाँ होती हैं। उ०—केसरि को नीमा जामा जरी को फेंटा डुपटा जरी को तेजपुंज उमहतु है।—रघुनाथ।

नीमावत-संज्ञा पुं० [हिं० निंब] वैष्णवों एक संप्रदाय। निंबार्काचार्य्य का अनुयायी वैष्णव।

नीमास्तीन-संज्ञा स्त्री० [फा० नीम + आस्तीन] एक प्रकार की फतुई या कुरती जिसकी आस्तीन आधी होती है।

नीयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] भावना। भाव। आंतरिक लक्ष्य। उद्देश्य। आशय। संकल्प। इच्छा। मंशा। जैसे, (क)

हम किसी बुरी नीयत से नहीं कहते हैं। (ख) तुम्हारी नीयत जाने की नहीं मालूम होती।

क्रि० प्र०-करना।—होना।

यौ०—बदनीयत।

मुहा०—नीयत डिगना=अच्छा वा उचित संकल्प दृढ़ न रहना। मन में विकार उत्पन्न होना। बुरा संकल्प होना। **नीयत बद होना**=बुरा विचार होना। बुरी इच्छा या संकल्प होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। बेईमानी सूझना। **नीयत बदल जाना**=(१) संकल्प या विचार और का और होना। इरादा दूसरा हो जाना। (२) बुरा विचार होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। **नीयत बाँधना**=संकल्प करना। मन में ठानना। इरादा करना। **नीयत बिगड़ना**=दे० "नीयत बद होना"। **नीयत भरना**=जी भरना। मन तृप्त होना। इच्छा पूरी होना। **नीयत में फर्क आना**=बुरा संकल्प या विचार होना। अनुचित या बुरी बात की ओर प्रवृत्ति होना। बेईमानी या बुराई सूझना। **नीयत लगी रहना**=ध्यान बना रहना। इच्छा बनी रहना। जी ललचाया करना।

नीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी। जल।

मुहा०—नीर ढलना=मरते समय आँख से आँसू बहना। **किसी का नीर ढल जाना**=किसी की लज्जा जाती रहना। निर्लज्ज या बेहया हो जाना।

(२) कोई द्रव पदार्थ या रस। (३) फफोले आदि के भीतर का चेप या रस। जैसे, शीतला का नीर। (४) सुगंधवाला।

नीरज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल में उत्पन्न वस्तु। (२) कमल। (३) मोती। मुक्ता। उ०—यज्ञ पूरन कै रमापति दान देत अशेष। हीर नीरज चीर माणिक वर्षि वर्षा वेष।—केशव। (४) कुट। कूट। (५) एक प्रकार का तृण।

नीरद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल देनेवाला। (२) बादल।

वि० [सं० निः+रद] बे-दाँत का। अदंत।

नीरधर-संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

नीरधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

नीरना†-क्रि० स० [दे०] छिटकाना। छितराना। बिखेरना।

नीरनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

नीरपति-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण। देवता।

नीरम-संज्ञा पुं० [?] वह बोझ जो जहाज पर केवल उसकी स्थिति ठीक रखने के लिये रहता है। (लश०)

नीरस-वि० [सं०] (१) रसहीन। जिसमें रस या गीलापन न हो। (२) सूखा। शुष्क। (३) जिसमें कोई स्वाद या मजा न हो। फीका। जिसमें कोई आनंद न हो। जिससे मनोरंजन न हो। जैसे, नीरस काव्य।

नीरांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीपदान। आरती। देवता को दीपक दिखाने की विधि।

क्रि० प्र०—उतारना।—वारना।

(२) हथियारों को चमकाने या साफ करने का काम। (३) एक त्योहार जिसमें राजा लोग हथियारों की सफाई कराते थे। यह कुआर कार्तिक में होता था जब यात्रा की तैयारी होती थी।

नीरांजना*-क्रि० अ० [सं० नीरांजन] (१) आरती करना। दीपक दिखाना। (२) हथियारों को माँजना।

नीरिंदु-संज्ञा पुं० [सं०] सिहोर का पेड़।

नीरे-क्रि० वि० दे० "नियरे"।

नीरोग--वि० [सं०] जिसे रोग न हो। स्वस्थ। चंगा। तंदुरुस्त।

नीलंगु--संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का कीड़ा। (२) गीदड़। (३) भँवरा। (४) फूल।

नील-वि० [सं०] नीले रंग का। गहरे आसमानी रंग का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला रंग। गहरा आसमानी रंग। (२) एक पौधा जिससे नीला रंग निकाला जाता है।

विशेष—यह दो तीन हाथ ऊँचा होता है। पत्तियाँ चमेली की तरह टहनी के दोनों ओर पंक्ति में लगती हैं पर छोटी छोटी होती हैं। फूल मंजरियों में लगते हैं। लंबी लंबी बबूल की तरह फलियाँ लगती हैं। नील के पौधे की ३०० के लगभग जातियाँ होती हैं। पर जिनसे यहाँ रंग निकाला जाता है वे पौधे भारतवर्ष के हैं और अरब, मिस्र तथा अमेरिका में भी बोए जाते हैं। भारतवर्ष ही नील का आदि स्थान है और यहीं सबसे पहले रंग निकाला जाता था। ८० ईसवी में सिंध के किनारे के एक नगर से नील का बाहर भेजा जाना एक प्राचीन यूनानी लेखक ने लिखा है। पीछे के बहुत से विदेशियों ने यहाँ नील के बोए जाने का उल्लेख किया है। ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में जब यहाँ से नील योरप के देशों में जाने लगा तब से वहाँ के निवासियों का ध्यान नील की ओर गया। सबसे पहले हालैंडवालों ने नील का काम शुरू किया और कुछ दिनों तक वे नील की रँगाई के लिये योरप भर में निपुण समझे जाते थे। नील के कारण जब वहाँ कई वस्तुओं के वाणिज्य को धक्का पहुँचने लगा तब फ्रांस, जर्मनी आदि कानून द्वारा नील की आमद बंद करने पर विवश हुए। कुछ दिनों तक (सन् १६६० तक) इँगलैंड में भी लोग नील को विष कहते रहे जिससे इसका वहाँ जाना बंद रहा। पीछे बेलजियम से नील का रंग बनानेवाले बुलाए गए जिन्होंने नील का काम सिखाया।

पहले पहल गुजरात और उसके आस पास के देशों में से नील योरप जाता था, बिहार बंगाल आदि से नहीं।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब नील के काम की ओर ध्यान दिया तब बंगाल बिहार में नील की बहुत सी कोठियां खुल गईं और नील की खेती में बहुत उन्नति हुई। भिन्न भिन्न स्थानों में नील की खेती भिन्न भिन्न ऋतुओं में और भिन्न भिन्न रीति से होती है। कहीं तो फसल तीन ही महीने तक खेत में रहती है और कहीं अठारह महीने तक। जहाँ पौधे बहुत दिनों तक खेत में रहते हैं वहां उनसे कई बार काटकर पत्तियाँ आदि ली जाती हैं। पर अब फसल को बहुत दिनों तक खेत में रखने की चाल उठती जाती है। बिहार में नील फागुन चैत के महीने में बोया जाता है। गरमी में तो फसल की बाढ़ रुकी रहती है पर पानी पड़ते ही जोर के साथ टहनियाँ पत्तियाँ निकलती और बढ़ती हैं। अतः आषाढ़ में पहला कलम हो जाता है और टहनियाँ आदि कारखाने भेज दी जाती हैं। खेत में खूँटियाँ रह जाती हैं। कलम के पीछे फिर खेत जोत दिया जाता है जिससे बरसात का पानी अच्छी तरह सोखता है और खूँटियाँ फिर बढ़कर पौधों के रूप में हो जाती हैं। दूसरी कटाई फिर कुवार में होती है।

नील से रंग दो प्रकार से निकाला जाता है—हरे पौधे से और सूखे पौधे से। कटे हुए हरे पौधों को गड़ी हुई नांदों में दबाकर रख देते हैं और ऊपर से पानी भर देते हैं। बारह चौदह घंटे पानी में पड़े रहने से उसका रस पानी में उतर आता है और पानी का रंग धानी हो जाता है। इसके पीछे पानी दूसरी नांद में जाता है जहाँ डेढ़ दो घंटे तक लकड़ी से हिलाया और मथा जाता है। मथने का यह काम मशीन के चक्कर से भी होता है। मथने के पीछे पानी थिराने के लिये छोड़ दिया जाता है जिससे कुछ देर में माल नीचे बैठ जाता है। फिर नीचे बैठा हुआ यह नील साफ पानी में मिलाकर उबाला जाता है। उबल जाने पर वह बांस की फट्टियों के सहारे तानकर फैलाए हुए मोटे कपड़े (या कनवस) की चांदनी पर ढाल दिया जाता है। चांदनी छनने का काम करती है। पानी तो निथरकर बह जाता है और साफ नील लेई के रूप में लगा रह जाता है। यह गीला नील छोटे छोटे छिद्रों से युक्त एक संदूक में, जिसमें गीला कपड़ा मढ़ा रहता है, रखकर खूब दबाया जाता है जिससे उसकी सात आठ अंगुल मोटी तह जमकर हो जाती है। इसके कतरे काटकर धीरे धीरे सूखने के लिये रख दिए जाते हैं। सूखने पर इन कतरों पर एक पपड़ी सी जम जाती है जिसे साफ कर देते हैं। ये ही कतरे नील के नाम से बिकते हैं। मिताक्षरा, विधानपरिजात आदि धर्मशास्त्र के कई ग्रंथों में ब्राह्मण के लिये नील में रँगा हुआ वस्त्र पहनने का निषेध है।

मुहा०—**नील का टीका लगाना** = कलंक लेना। बदनामी उठाना। उ०—**नल में तो बल को बिलास कहा बूझत है; नील से लरे ते टीको नील को न करिहैं।**—हनुमान। **नील का खेत** = कलंक का स्थान। **नील की सलाई फिरवा देना** = आँखें फोड़वा डालना। अंधा कर देना। (कहते हैं कि पहले अपराधियों की आँख में नील की गरम सलाई डाल दी जाती थी जिससे वे अंधे हो जाते थे)। **नील घोंटना** = झगड़ा बखेड़ा मचाना। किसी बात को लेकर देर तक उलझना। **नील जलाना** = पानी बरसने के लिये नील जलाने का टोटका करना। **नील बिगड़ना** = (१) चाल चलन बिगड़ना। आचरण भ्रष्ट होना। (२) आकृति बिगड़ना। चेहरे का रंग उड़ना। (३) किसी बे-सिर पैर की बात का प्रसिद्ध होना। झूठी और असंगत बात फैलाना। (४) समझ पर पत्थर पड़ना। बुद्धि ठिकाने न रहना। (५) कुदिन आना। शामत आना। दुर्दशा होनेवाली होना। (६) भारी हानि या घाटा होना। दिवाला होना।

(३) चोट का नीला या काले रंग का दाग जो शरीर पर पड़ जाता है। जैसे, जहाँ जहाँ छड़ी बैठी है नील पड़ गया है।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—**नील डालना** = इतनी मार मारना कि शरीर पर नीले दाग पड़ जायँ। गहरी मार मारना।

(४) लांछन। कलंक। (५) राम की सेना का एक बंदर (६) इलावृत्त खंड का एक पर्वत जो रम्यक वर्ष की सीमा पर है। (भागवत)। (७) नव निधियों में से एक। (८) मंगल घोष। मंगल का शब्द। (९) वटवृक्ष। बरगद। (१०) इंद्रनील मणि। नीलम। (११) काच लवण। (१२) तालीसपत्र। (१३) विष। (१४) एक नाग का नाम। (१५) नीलनी से उत्पन्न अजमीढ़ राजा का एक पुत्र। (विष्णुपुराण)। (१६) माहिष्मती का एक राजा जिसकी कथा महाभारत में इस प्रकार आई है। नील राजा की एक अत्यंत सुंदरी कन्या थी। जिस पर मोहित होकर अग्नि देवता ब्राह्मण के वेश में राजा से कन्या माँगने आए। कन्या पाकर अग्नि देवता ने राजा को वर दिया कि जो शत्रु तुम पर चढ़ाई करेगा वह भस्म हो जायगा। पांडवों के राजसूय यज्ञ के अवसर पर सहदेव ने माहिष्मती नगरी को घेरा। अपनी सेना को भस्म होते देख सहदेव ने अग्नि देवता की स्तुति की। अग्निदेव ने प्रकट होकर कहा कि नील के वंश में जब तक कोई रहेगा मैं बराबर इसी प्रकार रक्षा करूँगा। अंत में अग्नि की आज्ञा से नील ने सहदेव की पूजा की और सहदेव उससे इस प्रकार अधीनता स्वीकार कराकर चले गए। (१७) नृत्य के १०८ करणों में

से एक। (१८) एक यम का नाम। (१९) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सोलह वर्ण होते हैं—यथा, डंकनि देत अतंकनि संकनि दूरि धरैं। गोमुख तूरनि पूर चहूँदिसि भीति भरैं। (२०) एक प्रकार का विजयसाल। (२१) मंजुश्री का एक नाम। (२२) एक संख्या जो दस हजार अरब की होती है। सौ अरब की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है १००००००००००००००।

नीलकंठ–वि० [सं०] जिसका कंठ नीला हो।

संज्ञा पुं० (१) मोर। मयूर। (२) एक चिड़िया जो एक बित्ते के लगभग लंबी होती है। इसका कंठ और डैने नीले होते हैं। शेष शरीर का रंग कुछ ललाई लिए बादामी होता है। चोंच कुछ मोटी होती है। यह कीड़े मकोड़े पकड़कर खाता है, इससे वर्षा और शरद ऋतु में उड़ता हुआ अधिक दिखाई पड़ता है। विजयादशमी के दिन इसका दर्शन बहुत शुभ माना जाता है। स्वर इसका कुछ कर्कश होता है। चाष पक्षी। (३) महादेव का एक नाम।

विशेष—कालकूट विष पान करके कंठ में धारण करने के कारण शिव का कंठ कुछ काला पड़ गया इससे यह नाम पड़ा। महाभारत में लिखा है कि अमृत निकलने पर भी जब देवताओं ने समुद्र का मथना बंद नहीं किया तब सधूम अग्नि के समान कालकूट विष निकला जिसकी गंध से ही तीनों लोक व्याकुल हो गए। अंत में ब्रह्मा ने शिव से प्रार्थना की और उन्होंने वह कालकूट पान करके कंठ में धारण कर लिया। पुराणों में भी इसी प्रकार की कथा कुछ विस्तार के साथ है।

(४) गौरा पक्षी। चटक। (नर के कंठ पर काला दाग होता है)। (५) मूली। (६) पियासाल।

नीलकंठ रस–संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसके बनाने की विधि इस प्रकार है --पारा, गंधक, लोहा, विष, चीता, पद्मकाठ, दारचीनी, रेणुका, वायबिडंग, पिपरामूल, इलायची, नागकेसर, सोंठ, पीपल, मिर्च, हड़, आँवला, बहेड़ा और ताँबा सम भाग लेकर सबके दुगने पुराने गुड़ में मिलाकर चने के बराबर गोली बनावे। इसके सेवन से कास, श्वास, प्रमेह, हिचकी, विषमज्वर, ग्रहणी, शोथ, पांडु, मूत्रकृच्छ्र इत्यादि रोग दूर होते हैं।

नीलकंठाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष।

नीलकंठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक छोटी चिड़िया। यह हिमालय पर पाई जाती है। इसका बोलना बहुत ही मधुर और सुरीला होता है। (२) एक प्रकार का छोटा पौधा जो शोभा के लिये बगीचों में लगाया जाता है। इसकी पत्तियाँ बहुत कड़ुवी होती हैं और पुराने ज्वर में दी जाती हैं।

नीलकंद–संज्ञा पुं० [सं०] भैंसाकंद। महिष्कंद। शुभ्रालु।

नीलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काच लवण। (२) वर्त्तलौह। बीदरी लोहा। (३) मटर। (४) भौंरा। (५) पियासाल। (६) बीजगणित में अव्यक्त राशि का एक भेद।

नीलकण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलम का टुकड़ा। (२) ठोड़ी पर गोदे हुए गोदने का विंदु।

नीलकणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्याह जीरा। काला जीरा।

नीलकांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पहाड़ी चिड़िया जो हिमालय के अंचल में होती है। मसूरी में इसे नीलकांत और नैनीताल में दिगदल कहते हैं। इसका माथा, कंठ के नीचे का भाग और छाती काली होती है, सिर पर कुछ सफेदी भी होती है। पूँछ नीली होती है। कंठ में भी कुछ नीलेपन की झलक रहती है। (२) विष्णु। (३) एक मणि। नीलम।

नीलकेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पौधा।

नीलक्रांता–संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णुक्रांता लता जिसमें बड़े बड़े नीले फूल लगते हैं।

नीलक्रौंच–संज्ञा पुं० [सं०] काला बगला। वह बगला जिसका पर कुछ कालापन लिए होता है।

नीलगाय-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील + गाय] नीलापन लिए भूरे रंग का एक बड़ा हिरन जो गाय के बराबर होता है। इसके कान गाय के से और सींग टेढ़े और छोटे होते हैं। छोटे छोटे काले बालों का केसर (अयाल) भी होता है। गले के नीचे बड़े बालों का एक छोटा गुच्छा सा होता है। देखने में यह जंतु गाय और हिरन दोनों से मिलता जान पड़ता है और प्रायः जंगलों में ही झुंड बाँधकर रहता है। नीलगाय ऊँट की तरह चारों पैर मोड़कर विश्राम करती है, गाय की तरह पार्श्व भाग भूमि पर रखकर नहीं। पालने से यह पाली जा सकती है। शिकारी चमड़े आदि के लिये इसका शिकार भी करते हैं। चमड़ा इसका बहुत मजबूत होता है। गले के चमड़े की ढालें बनती हैं। वैद्यक के अनुसार नीलगाय का मांस मधुर, बलकारक, उष्णवीर्य, स्निग्ध तथा कफ और पित्तवर्द्धक होता है।

पर्य्या०—गवय। नीलांगक। रोझ।

नीलगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण देश का एक पर्वत।

नीलग्रीव–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

नीलचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जगन्नाथजी के मंदिर के शिखर पर माना जानेवाला चक्र। (२) ३० अक्षरों का एक दंडक वृत्त जो अशोक-पुष्प-मंजरी का एक भेद है। इसमें 'गुरु लघु' १५ बार क्रम से आते हैं। उ०—जानि कै समै भुवाल राम राज साज साजि ता समै अकाज काज कैकई जु कीन।

नीलचर्मा-वि० [सं० नीलचर्मन्] नीले चमड़े का।

संज्ञा पुं० फालसा।

नीलच्छद-वि० [सं०] नीले पंख या आवरण का।

संज्ञा पुं० (१) गरुड़। (२) खजूर।

नीलज-संज्ञा पुं० [सं०] वर्त्तलौह। बीदरी लोहा।

नीलजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील पर्वत से उत्पन्न वितस्ता (झेलम) नदी।

नीलझिंटी--संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली कठसरैया।

नीलतरा-संज्ञा स्त्री० [?] बौद्ध कथाओं के अनुसार गांधार देश की एक नदी जो उरुवेलारण्य से होकर बहती थी जहाँ जाकर बुद्ध देव ने उरुवेल काश्यप, गया काश्यप और नदी काश्यप नामक तीन भाइयों का अभिमान दूर किया था।

नीलतरु-संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

नीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीलापन। (२) कालापन। स्याही।

नीलताल-संज्ञा पुं० [सं०] स्यामतमाल। हिंताल।

नीलदूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हरी दूब।

नीलध्वज-संज्ञा पुं० [सं०] तमाल।

नीलनिर्यासक-संज्ञा पुं० [सं०] पियासाल का पेड़।

नीलपंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला कीचड़। (२) अंधकार।

नीलपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलकमल। (२) गुंडतृण। गोनरा घास जिसकी जड़ कसेरू है। (३) अश्मंतक वृक्ष। (४) विजयसाल। (५) अनार।

नीलपत्रिका, नीलपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील।

नीलपर्णी-संज्ञा पुं० [सं०] बृंदार वृक्ष।

नीलपिच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी।

नीलपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला फूल। (२) नीली भँगरैया। (३) नीलाम्लान। काला कोराठा। (४) गठिवन।

नीलपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णुक्रांता लता। अपराजिता।

नीलपुष्पिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अलसी। (२) नील का पौधा।

नीलपुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काला बौना। नीली कोयल। (२) अलसी।

नीलपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

नीलफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जामुन। (२) बैंगन।

नीलबरी-संज्ञा स्त्री० [सं० नील + बटी] कच्चे नील की बट्टी।

नीलबिरई-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील + बिरई] सनाय का पौधा। सना।

नीलभृंगराज- संज्ञा पुं० [सं०] नीला भँगरा।

नीलम-संज्ञा पुं० [फा० सं० नीलमणि] नीलमणि। नीले रंग का रत्न। इंद्रनील।

विशेष—नीलम वास्तव में एक प्रकार का कुरंड है जिसका नंबर कड़ाई में हीरे से दूसरा है। जो बहुत चोखा होता है उसका मोल भी हीरे से कम नहीं होता। नीलम हलके नीले से लेकर गहरे नीले रंग तक के होते हैं। अब भारतवर्ष में नीलम की खानें नहीं रह गई हैं। काश्मीर (बसकर) की खानें भी अब खाली हो चली हैं। बरमा में मानिक के साथ नीलम भी निकलता है। सिंहल द्वीप और श्याम से भी बहुत अच्छा नीलम आता है।

रत्नपरीक्षा संबंधी पुस्तकों में मानिक के समान नीलम भी तीन प्रकार के कहे गए हैं। उत्तम, महानील और साधारण। महानील के संबंध में लिखा है कि यदि वह सौगुने दूध में डाल दिया जाय तो सारा दूध नीला दिखाई पड़ेगा। सबसे श्रेष्ठ इंद्रनील वह है जिसमें से इंद्रधनुष की सी आभा निकले। पर ऐसा नीलम जल्दी मिलता नहीं। नीलम में पाँच बातें देखी जाती हैं—गुरुत्व, स्निग्धत्व, वर्णाढ्यत्व, पार्श्ववर्त्तित्व और रंजकत्व। जिसमें स्निग्धत्व होता है उसमें से चिकनाई छूटती है। जिसमें वर्णाढ्यत्व होता है उसे प्रातःकाल सूर्य्य के सामने करने से उसमें नीली शिखा सी फूटती दिखाई पड़ती है। पार्श्ववर्त्तित्व गुण उस नीलम में माना जाता है जिसमें कहीं कहीं पर सोना, चाँदी, स्फटिक आदि दिखाई पड़े। जिसे जलपात्र आदि में रखने से सारा पात्र नीला दिखाई पड़ने लगे उसे रंजक समझना चाहिए। रत्न संबंधी पुरानी पोथियों में भिन्न भिन्न रत्नों के धारण करने के भिन्न भिन्न फल लिखे हुए हैं।

नीलमणि-संज्ञा पुं० [सं०] नीलम।

नीलमाष-संज्ञा पुं० [सं०] काला उरद। राजमाष।

नीलमृत्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पकसीस। काली मिट्टी।

नीलमोर-संज्ञा पुं० [हिं० नील + मोर] कुररी नामक पक्षी जो हिमालय पर पाया जाता है।

नीललोह-संज्ञा पुं० [सं०] वर्त्तलोह। बीदरी लोहा।

नीललोहित-वि० [सं०] नीलापन लिए लाल। बैंगनी।

संज्ञा पुं० शिव का एक नाम (जिनका कंठ नीला और मस्तक लोहित वर्ण है)।

नीललोहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूमि जंबू। एक प्रकार की छोटी जामुन। (२) पार्वती।

नीलवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] बदाक। बाँदा। परगाछा।

नीलवसन-संज्ञा पुं० [सं०] नीला कपड़ा।

वि० नीला या काला वस्त्र धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) शनि ग्रह। (२) बलराम।

नीलवीज--संज्ञा पुं० [सं०] पियासाल।

नीलवृक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीलवृक्षा। नीलाबोना नाम का पेड़।

नीलवृंत-संज्ञा पुं० [सं०] तूल। रुई।

नीलवृष-संज्ञा पुं० [सं०] विशेष प्रकार का साँड़ या बछवा।

विशेष—श्राद्ध में नीलवृष एक पारिभाषिक शब्द है। जिस

वृष का रंग लाल (लोहित), पूँछ, खुर और सिर शंख वर्ण हों उसे नीलवृष कहते हैं। ऐसे वृष के उत्सर्ग का बड़ा फल है।

नीलवृषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बैंगन।

नीलशिग्रु–संज्ञा पुं० [सं०] सहजन का पेड़। शोभांजन।

नीलसंध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्णापराजिता।

नीलसार–संज्ञा पुं० [सं०] तेंदू का पेड़ (जिसका हीर काला आबनूस होता है)।

नीलसिर–संज्ञा पुं० [हिं० नील+ शिर] एक प्रकार की बत्तख जिसका सिर नीला होता है। यह हाथ भर लंबी होती है और सिंध, पंजाब, काश्मीर आदि में पाई जाती है। अंडे यह गरमी में देती है।

नीलस्वरूप, नीलस्वरूपक–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में तीन भगण और दो गुरु अक्षर होते हैं। जैसे, राउर के सम है वह बालौ। जीतति है दुतिवंत जहाँ लौ। जो गिरि दुर्गनि माहँ बसै जू। जा भुज चंदन डार त्रसै जू।—गुमान।

नीलांग–वि० [सं०] नीले अंग का।

संज्ञा पुं० सारस पक्षी।

नीलांजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला सुरमा। (२) तूतिया। नीला थोथा।

नीलांजना–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली। नीलांजनी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] काली कपास।

नीलांजसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिजली। (२) एक अप्सरा। (३) एक नदी।

नीलांबर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीला वस्त्र। नीले रंग का कपड़ा (विशेषतः रेशमी)। (२) तालीशपत्र।

वि० नीले कपड़ेवाला। नील वस्त्र धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) बलदेव। (२) शनैश्चर। (३) राक्षस।

नीलांबरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी।

नीलांबुज–संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल।

नीला–वि० [सं० नील] आकाश के रंग का। नील के रंग का।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नीला करना = मारते मारते शरीर पर नीले दाग डालना। बहुत मार मारना। **नीला पड़ना** = नीला हो जाना। **नीला पीला होना** = क्रोध दिखाना। क्रुद्ध होना। बिगड़ना। **नीले हाथ पाँव होंं** = ठंढा हो जाय। मर जाय। (स्त्रि० शाप)। **चेहरा नीला पड़ जाना** = (१) चेहरे का रंग फीका पड़ जाना। आकृति से भय, उद्विग्नता, लज्जा आदि प्रगट होना। (२) आकृति बिगड़ जाना। सजीवता के लक्षण नष्ट होना।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कबूतर (२) नीलम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीली मक्खी। (२) नील पुनर्नवा। (३) नील का पौधा। (४) एक लता। (५) एक नदी। (महाभारत)। (६) मल्लार राग की एक भार्य्या।

नीलाक्ष–वि० [सं०] नीली आँख का।

संज्ञा पुं० राजहंस।

नीलाचल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीलगिरि पर्वत। (२) जगन्नाथ जी के निकट की एक छोटी पहाड़ी।

नीलाथोथा–संज्ञा पुं० [सं० नीलतुत्थ] ताँबे की उपधातु। ताँबे का नीला क्षार या लवण। तूतिया।

विशेष—वैद्यक में लिखा है कि जिस धातु की जो उपधातु होती है उसमें उसी का सा गुण होता है पर बहुत हीन। ताँबे का यह नीला लवण खानों में भी मिलता है पर अधिकतर कारखानों में निकाला जाता है। ताँबे के चूर को यदि खुली हवा में रखकर तपावें या गलावें और उसमें थोड़ा सा गंधक का तेजाब डाल दें तो तेजाब का अम्लगुण नष्ट हो जायगा और उसके योग से तूतिया बन जायगा। नीलाथोथा रँगाई और दवा के काम में आता है। वैद्यक में यह क्षारसंयुक्त, कटु, कसैला, वमनकारक, लघु, लेखन गुणयुक्त, भेदक, शीतवीर्य्य, नेत्रों को हितकर तथा कफ, पित्त, विष, पथरी, कुष्ट और खाज को दूर करनेवाला माना गया है। तूतिया शोधकर अल्प मात्रा में दिया जाता है। इसे कई प्रकार से शोधते हैं। बिल्ली की विष्ठा में तूतिए गूँधकर दशमांश सोहागा मिलाकर धीमी आँच में पकावे। इसके पीछे मधु और सेंधे नमक का पुट दे। दूसरी विधि यह है कि तूतिए में आधा गंधक मिलाकर उसे चार दंड तक पकावे। शुद्ध होने से उसमें वमन आदि का दोष कम हो जाता है।

नीलाब्ज–संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल।

नीलाम–संज्ञा पुं० [पुर्त्त० लीलाम] बिक्री का एक ढंग जिसमें माल उस आदमी को दिया जाता है जो सब से अधिक दाम बोलता है। बोली बोलकर बेचना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—नीलामघर।

मुहा०—नीलाम पर चढ़ना = बोली बोलकर बेचा जाना। **(माल) नीलाम पर चढ़ाना**=बोली बोलकर बेचना।

नीलामघर–संज्ञा पुं० [हिं० नीलाम+घर] वह घर या स्थान जहाँ चीजें नीलाम की जाती हों।

नीलामी–वि० [हिं० नीलाम] नीलाम में मोल लिया हुआ।

नीलाम्लान–संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं। काला कोराठा। (मराठी)

नीलाम्ली–संज्ञा पुं० [सं०] नलबुड़गुड।

नीलावती–संज्ञा स्त्री० [सं० नीलवती] एक प्रकार का चावल।

उ०—नीलावती चाउर दिवि दुर्लभ। भात परोस्यो माता सुर्लभ।—सूर।

नीलाश्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम।

नीलासन-संज्ञा पुं०[सं०] (१) पियासाल का पेड़। (२) एक रतिबंध।

नीलाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील+आहट (प्रत्य०)] नीलापन।

नीलि-संज्ञा पुं० [सं०] एक जलजंतु का नाम।

नीलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीलबरी। (२) नीली निर्गुंडी। नील सम्हालु वृक्ष। (३) आँख का एक रोग। तिमिर रोग के अंतर्गत लिंगनाश का एक भेद। आँख तिलमिलाने का रोग।

विशेष—जिस तिमिर रोग में कभी कभी एकबारगी कुछ न दिखाई पड़े उसे लिंगनाश कहते हैं और जिसमें आकाश में सूर्य्य नक्षत्र बिजली आदि की सी चमक दिखाई पड़े उसे नीलिका कहते हैं। (सुश्रुत)

(४) मुख पर का एक रोग जिसमें सरसों के बराबर छोटे छोटे कड़े काले दाने निकलते हैं। इल्ला।

नीलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नील का पेड़। (२) नीला थोता।

नीलिमा-संज्ञा स्त्री० [सं० नीलिमन्] (१) नीलापन। (२) श्यामता। स्याही।

विशेष—सं० में यद्यपि पुं० है पर हिंदी में स्त्री० है।

नीलि-वि० स्त्री० [हिं० नीला] काले रंग की। नील के रंग की। काली। आसमानी।

संज्ञा स्त्री० (१) नील का पौधा। (२) नीलिका रोग।

नीली घोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीली + घोड़ी] (१) काले अथवा सब्ज रंग की घोड़ी। (२) जामे के साथ सिली हुई कागज की घोड़ी जिसे पहन लेने से जान पड़ता है कि आदमी घोड़े पर सवार है। डफाली इसे पहनकर गाजी मियाँ के गीता गाते हुए भीख माँगने निकलते हैं।

नीली चकरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीली + चकरी] एक प्रकार का पौधा।

नीली चाय-संज्ञा स्त्री० [हिं०नीली + चाय] अगिया घास या यज्ञकुश।

नीलू-संज्ञा स्त्री० [हिं० नील] एक प्रकार की घास। पलवान।

नीलोत्पल-संज्ञा पुं० [सं०] नील कमल।

नीलोत्पली-संज्ञा पुं० [सं० नीलोत्पलिन्] (१) शिव के एक अंश। (२) बौद्ध महात्मा मंजुश्री का एक नाम।

नीलोफ़र-संज्ञा पुं० [फा० । मि० सं० नीलोत्पल] (१) नील कमल। (२) कुईं। कुमुद।

विशेष—हकीमी नुसखों में कुमुद या कुईं का ही व्यवहार यहाँ होता है।

नीवँ--संज्ञा स्त्री० [सं० नेमि, प्रा० नेइँ] (१) घर बनाने में गहरी नाली के रूप में खुदा हुआ गड्ढा जिसके भीतर से दीवार की जोड़ाई आरंभ होती है। दीवार उठाने के लिये गहरा किया हुआ स्थान।

क्रि० प्र०—खोदना।

मुहा०—नीवँ देना = (१) गड्ढा खोदकर दीवार खड़ी करने के लिये स्थान बनाना। दीवार की जड़ जमाने के लिये भूमि खोदना। (२) घर उठाने का आरंभ करना। **(किसी बात की) नीवँ देना** = कारण या आधार खड़ा करना। जड़ खड़ी करना। आरंभ करना। उपक्रम करना। सामान करना। जैसे, झगड़े की नींव देना। उ०—बाकी खाँ सो उठि छता दई दुंद की नीवँ।—लाल। **नीवँ भरना** = दीवार के लिये खुदे हुए गड्ढे में कंकड़, पत्थर आदि पाटना।

(२) दीवार के लिये गहरे किए हुए स्थान में ईंट, पत्थर, मिट्टी आदि की जोड़ाई या जमावट जिसके ऊपर दीवार उठाते हैं। दीवार की जड़ या आधार। मूलभित्ति।

क्रि० प्र०—धरना।—रखना।

मुहा०—नीवँ का पत्थर = वह पत्थर जो मकान बनाने के आरंभ में पहले पहल नीवँ में रखा जाता है। **नीवँ जमाना या डालना या देना** = दीवार उठाने के लिये नीवँ के गड्ढे में ईंट, पत्थर आदि जमा कर आधार खड़ा करना। दीवार की जड़ जमाना। **(किसी बात की) नीवँ जमाना** = (१) आधार दृढ़ करना। स्थिर करना। स्थापित करना। (२) गर्भ स्थित करना। पेट रखना। **(किसी वस्तु या बात की) नींव डालना—देना** = आधार खड़ा करना। जड़ जमाना। सूत्रपात करना। बुनियाद डालना। आरंभ करना। जैसे, क्लाइव ने अँगरेजी राज्य की नीवँ डाली। **नीवँ पड़ना** = (१) घर की दीवार का आधार खड़ा होना। घर बनने का लग्गा लगाना। उ०—ओक की नीवँ परी हरि-लोक विलोकत गंग तरंग तिहारे। (२) आरंभ होना। सूत्रपात होना। जड़ खड़ी होना या जमना। जैसे, झगड़े की नीवँ पड़ना, राज्य की नीवँ पड़ना।

(३) जड़। मूल। स्थिति। आधार।

नीव-संज्ञा स्त्री० दे० "नीवँ"।

नीवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिक्षु। परिव्राजक। (२) वाणिज्य। (३) कीचड़। (४) जल।

नीवानास-संज्ञा पुं० [हिं० नींव + नाश] जड़ मूल से नाश। सत्तानाश। बरबादी। ध्वंस।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वि० चौपट। नष्ट। बरबाद।

क्रि० प्र०—करना।—जाना।—होना।

नीवार--संज्ञा पुं० [सं०] पसही वा तिन्नी के चावल। मुन्यन्न।

नीवि--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमर में लपेटी हुई धोती की वह

गाँठ जिसे स्त्रियां पेट के नीचे सूत की डोरी से या यें ही बाँधती हैं। (२) सूत की डोरी जिससे स्त्रियाँ धोती की गाँठ बांधती हैं। कटिवस्त्र-बंध। फुफुंदी। नारा। (३) लहँगे में पड़ी हुई वह डोरी जिससे लहँगा कमर में बाँधा जाता है। इजारबंद। (४) साड़ी। धोती।

नीवी–संज्ञा स्त्री० दे० "नीवि".।

नीशार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरदी, हवा आदि से बचाव के लिये परदा। कनात। (२) मसहरी।

नीस†–संज्ञा पुं० [देश०] सफेद धतूरा।

नीसान‡*--संज्ञा पुं० दे० "निशान"।

नीसानी–संज्ञा स्त्री० [?] तेईस मात्राओं का एक छंद जिसमें १३ वीं और १० वीं मात्रा पर विराम होता है। यह उपमान के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उ०—भाई सूरज मल्ल से कहना यह भाई। हम तुम बंदे साहि के बुज्झे न लराई।

नीसू–संज्ञा पुं० [सं० निष्ठा] जमीन में गड़ा हुआ काठ का कुंदा जिस पर रखकर चारा या गन्ना काटते हैं।

नीह†–संज्ञा स्त्री० दे० "नीवँ"।

नीहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुहरा। (२) पाला। हिम। तुषार। बर्फ।

नीहारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश में धूएँ या कुहरे की तरह फैला हुआ क्षीण प्रकाशपुंज जो अँधेरी रात में सफेद धब्बे की तरह कहीं कहीं दिखाई पड़ता है।

विशेष—नीहारिका के धब्बे हमारे सौर जगत् से बहुत दूर हैं। दूरबीन के द्वारा देखने से ऐसे बहुत से धब्बों का पता अब तक लग चुका है जो भिन्न भिन्न अवस्थाओं में हैं। कुछ धब्बे तो ऐसे हैं जो अच्छी से अच्छी दूरबीनों से देखने पर भी कुहरे या भाप के रूप के ही दिखाई पड़ते हैं, कुछ ऐसे हैं जिनमें स्थान स्थान पर कुहरे से आवृत कुछ घनीभूत पिंड से भी दिखाई पड़ते हैं और कुछ एकदम छोटे छोटे तारों से मिलकर बने पाए जाते हैं और वास्तव में तारकगुच्छ हैं। आकाशगंगा में इस प्रकार के तारकगुच्छ बहुत से हैं। इन तीनों में शुद्ध नीहारिका एक प्रकार के धब्बे ही हैं जो प्रारंभिक अवस्था में हैं। इनसे आती हुई किरणों की रश्मि-विश्लेषण यंत्र में परीक्षा करने से कुछ में कई प्रकार की आलोक-रेखाएँ पाई जाती हैं। इनमें से कई एक का तो निश्चय नहीं होता कि किस द्रव्य से आती हैं, तीन का पता लगता है कि वे हाइड्रोजिन (उद्जन) की रेखाएँ हैं।

ज्योतिर्विज्ञानियों का कथन है कि नीहारिका के धब्बे ग्रह-नक्षत्रों के उपादान हैं। इन्हीं के क्रमशः घनीभूत होकर जमते जमते नक्षत्रों और लोकपिंडों की सृष्टि होती है। इनमें अत्यंत अधिक मात्रा का ताप होता है। हमारा यह सूर्य्य अपने ग्रहों और उपग्रहों के साथ आरंभ में नीहारिका रूप में ही था।

नुकता--संज्ञा पुं० [अ० नुक्तः] बिंदु। बिंदी।

संज्ञा पुं० [अ नुक्तः] (१) चुटकुला। फबती। लगती हुई उक्ति।

क्रि० प्र०—छोड़ना।

(२) ऐब। दोष।

क्रि० प्र०—निकालना।

यौ०—नुकताचीं। नुकताचीनी।

(३) झालर के रूप का वह परदा जो घोड़ों के माथे पर इसलिये बाँधा जाता है जिसमें आँख में मक्खियाँ न लगें। तिलहारी।

नुकताचीन–वि० [फ़ा०] ऐब ढूँढ़नेवाला या निकालनेवाला। दोष ढूँढ़ने या निकालनेवाला। छिद्रान्वेषी।

नुकताचीनी–संज्ञा स्त्री० [फा०] छिद्रान्वेषण। दोष निकालने का काम।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

नुकती--संज्ञा स्त्री० [फा० नखुदी] एक प्रकार की मिठाई। बेसन की छोटी महीन बुँदिया।

नुकरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चांदी। (२) घोड़ों का सफेद रंग। वि० सफेद रंग का (घोड़ा)।

नुकरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] जलाशयों के पास रहनेवाली एक चिड़िया जिसके पैर सफेद और चोंच काली होती है।

नुकसान–संज्ञा पुं० [अ०] (१) कमी। घटी। ह्रास। छीन। जैसे, सीड़ में रखने से इतने काग़ज़ का नुकसान हो गया। (२) हानि। घाटा। फायदा का उलटा। जियान। क्षति। पास की वस्तु का जाता रहना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—**नुकसान उठाना** = हानि सहना। पल्ले का खोना। क्षतिग्रस्त होना। **नुकसान पहुँचना** = नुकसान होना। **नुकसान पहुँचाना** = हानि करना। क्षतिग्रस्त करना। **नुकसान भरना** = हानि की पूर्त्ति करना। घाटा पूरा करना।

(३) बिगाड़। खराबी। दोष। अवगुण। विकार।

मुहा०—**(किसी को) नुकसान करना** = दोष उत्पन्न करना। अस्वस्थ करना। स्वास्थ्य के प्रतिकूल होना। जैसे, आलू हमें बहुत नुकसान करता है।

नुकाई–संज्ञा स्त्री० [देश०] खुरपी से निराने का काम।

नुकीला–वि० [हिं० नोक + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० नुकीली] (१) नोकदार। जिसमें नोक निकली हो। जो छोर की ओर बराबर पतला होता गया हो। (२) नोक झोंक का। बाँका तिरछा। सुंदर ढब का। सजीला। जैसे, नुकीला जवान।

नुकीली–वि० स्त्री० दे० "नुकीला"।

नुक्कड़-संज्ञा पुं० [हिं० नोक की अल्प] (१) नोक । पतला सिरा । (२) सिर । छोर । अंत । जैसे, गली के नुक्कड़ पर वह दूकान है । (३) कोना । निकला हुआ कोना ।

नुक्का-संज्ञा पुं० [हिं० नोक] (१) नोक ।

यौ०—नुक्का टोपी=पतली दोपलिया टोपी जो लखनऊ में दी जाती है ।

(२) गेड़ी के खेल में एक लकड़ी ।

मुहा०—नुक्का मारना या लगाना=(१) गेड़ी मारना । गेड़ी के खेल में लकड़ी मारना । (२) कील ठोकना । बाधा पहुँचाना । कष्ट पहुँचाना ।

नुक्स-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दोष । ऐब । खराबी । बुराई ।

क्रि० प्र०—निकलना ।—निकालना ।

(२) त्रुटि । कसर ।

नुखरना-क्रि० अ० [देश०] भालू का चित्त लेटना । (कलंदर)

नुखाट-संज्ञा स्त्री० [देश०] छड़ी की मार जो कलंदर भालू के मुँह पर मारते हैं । (कलंदर) ।

नुगदी-संज्ञा स्त्री० दे० "नुकती" ।

नुचना--क्रि० अ० [सं० लुंचन] (१) अंश या अंग से लगी हुई किसी वस्तु का झटके से खिंचकर अलग होना । खिंचकर उखड़ना । उड़ना । जैसे, बाल नुचना । पत्ती नुचना । (२) खरोंचा जाना । नाखून आदि से छिलना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

नुचवाना-क्रि० स० [हिं० नोचना का प्रे०] नोचने का काम कराना । नोचने में प्रवृत्त करना । नोचने देना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

नुजट-संज्ञा पुं० [?] संगीत में २४ शोभाओं में से एक ।

नुत-वि० [सं०] स्तुत । प्रशंसित । वंदित । जिसकी स्तुति वा प्रशंसा की गई हो ।

नुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्तुति । वंदना । (२) पूजा ।

नुत्त-वि० [सं०] (१) चलाया हुआ । क्षिप्त । (२) प्रेरित ।

नुत्फा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वीर्य्य । शुक्र ।

मुहा०—नुत्फा ठहरना=गर्भ रहना ।

यौ०—नुत्फाहराम ।

(२) संतति । औलाद ।

नुत्फाहराम-वि० [अ०] (१) जिसकी उत्पत्ति व्यभिचार से हो । वर्णसंकर । दोगला । (२) कमीना । बदमाश । (गाली)

नुनखरा-वि० [हिं० नून + खारा] स्वाद में नमक सा खारा । नमकीन ।

नुनखारा वि० दे० "नुनखरा" ।

नुनना-क्रि० स० [सं० लवन, लून] लुनना । खेत काटना ।

नुनाई*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० 'नून' से, नोना, नोनो = सुंदर] लावण्य । सुंदरता । सलोनापन ।

नुनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटी जाति का तूत जो हिमालय पर काश्मीर से लेकर सिकिम तक तथा बरमा और दक्षिण भारत के पहाड़ों पर भी होता है ।

नुनेरा-संज्ञा पुं० [हिं० नून + एरा (प्रत्य०)] (१) नोनी मिट्टी आदि से नमक निकालनेवाला । नमक बनाने का रोजगार करनेवाला । (२) लोनिया । नोनिया । (इस जाति के लोग पहले नमक निकाला करते थे) ।

नुमाइश-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दिखावट । दिखावा । प्रदर्शन । दिखाने या प्रगट करने का भाव । (२) तड़क भड़क । ठाट-बाट । सजधज । (३) नाना प्रकार की वस्तुओं का कुतूहल और परिचय के लिये एक स्थान पर दिखाया जाना ।

यौ०—नुमाइशगाह ।

(४) वह मेला जिसमें अनेक स्थानों से इकट्ठी की हुई उत्तम और अद्भुत वस्तुएँ दिखाई जाती हैं ।

नुमाइशगाह-संज्ञा स्त्री० [फा०] वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार की उत्तम और अद्भुत वस्तुएँ इकट्ठी करके दिखाई जायँ ।

नुमाइशी-वि० [फा० नुमाइश] (१) दिखाऊ । दिखौवा । जो केवल दिखावट के लिये हो, किसी प्रयोजन का न हो । जो देखने में भड़कीला और सुंदर हो, पर टिकाऊ या काम का न हो । (२) जिसमें ऊपरी तड़क भड़क हो, भीतर कुछ सार न हो ।

नुसखा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लिखा हुआ कागज । (२) कागज का वह चिट जिस पर हकीम या वैद्य रोगी के लिये औषध और सेवन-विधि आदि लिखते हैं । दवा का पुरजा ।

मुहा०—नुसखा बाँधना = हकीम या वैद्य के लिखे अनुसार दवाएँ देना । पंसारी या अत्तार का काम करना । **नुसखा लिखना** = रोगी को देख औषध की व्यवस्था करना । दवा लिखना ।

नुहरना†-क्रि० अ० दे० "निहुरना" ।

नूत--वि० [सं० नूतन] (१) नया । नूतन । उ०—अरुन नूत पल्लव धरे रँग भीजी ग्वालिनी ।—सूर । (२) अनोखा । अनूठा । उ०—मूलै मौला कहत हैं फलै अंबिया नाव । और तरुन में नूत यह तेरो धन्य सुभाव ।

नूतन--वि० [सं०] (१) नया । नवीन । (२) हाल का । ताजा । (३) अनोखा । अपूर्व । विलक्षण ।

नूतनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नूतन का भाव । नवीनता नयापन

नूतनत्व--संज्ञा पुं० [सं०] नयापन ।

नूद-संज्ञा पुं० [सं०] शहतूत ।

नूधा--संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का तंबाकू ।

नून--संज्ञा पुं० [?] (१) आल । (२) आल की जाति की एक लता जो दक्षिण भारत तथा आसाम, बरमा आदि देशों में होती है । इससे भी एक प्रकार का लाल रंग निकलता है ।

इसका व्यवहार भारतवर्ष में कम पर जावा आदि द्वीपों में बहुत होता है।

† संज्ञा पुं० [सं० लवण, हिं० लोन] नमक।

मुहा०—नून तेल = गृहस्थी का सामान।

वि० दे० "न्यून"। उ०—प्रेमहि सज्जन हिये महँ होन देत नहिं नून।—रसनिधि।

नूनताई*-संज्ञा स्त्री० दे० "न्यूनता"।

नूनी†-संज्ञा स्त्री० [सं० न्यून, हिं० नून] लिंगेंद्रिय, विशेषतः बच्चों की।

नूपुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना। पैंजनी। घुँघरू। (२) नगण के पहले भेद का नाम। (३) इक्ष्वाकु-वंशीय एक राजा।

नूका-संज्ञा पुं० [?] १४ मात्राओं का एक छंद जो कज्जल के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उ०—खलभल परी दुग्ग मझार। दलबल दपट देखि अपार॥ कलबल करत नर अरु नार। छलबल कोट ओट निहार॥

नूर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) ज्योति। प्रकाश। आभा। जैसे, खुदा का नूर।

मुहा०—नूर का तड़का = बहुत सवेरा। प्रातःकाल। नूर बरसना = प्रभा का अधिकता से प्रकट होना।

(२) श्री। कांति। शोभा। (३) ईश्वर का एक नाम। (सूफी)। (४) संगीत में बारह मुकामों में से एक।

नूरबाफ-संज्ञा पुं० [अ० + फा०] जुलाहा। तांती।

नूरा-संज्ञा पुं० [?] वह कुश्ती जो आपस में मिलकर लड़ी जाय अर्थात् जिसमें जोड़ एक दूसरे के विरोधी न हों। (पहलवान)

‡ वि० [अ० नूर] नूरवाला। तेजस्वी। उ०—दधिकर्दम खेलत रघुबंसी नरनारी नव नूरे।—रघुराज।

नूरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया।

नूह-संज्ञा पुं० [अ०] शामी या इबरानी (यहूदी, ईसाई, मुसलमान) मतों के अनुसार एक पैगंबर का नाम जिनके समय में बड़ा भारी तूफान आया था। इस तूफान में सारी सृष्टि जलमग्न हो गई थी, केवल नूह का परिवार और कुछ पशु एक किश्ती पर बैठकर बचे थे। कहते हैं उन्हीं से फिर नए सिर से सृष्टि चली।

नृ-संज्ञा पुं० [सं०] नर। मनुष्य।

नृ-कपाल-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य की खोपड़ी।

नृ-केशरी-संज्ञा पुं० [सं० नृकेशरिन्] (१) नृसिंह अवतार। (२) मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी पुरुष। श्रेष्ठ पुरुष।

नृग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राजा जिनकी कथा महाभारत में इस प्रकार है—राजा नृग बड़े दानी थे। उन्होंने न जाने कितने गोदान आदि किए थे। एक बार उनकी गायों के झुंड में किसी एक ब्राह्मण की गाय आ मिली। राजा ने एक बार एक ब्राह्मण को सहस्र गो दान में दीं जिनमें वह ब्राह्मणवाली गाय भी थी। ब्राह्मण ने जब अपनी गाय को पहचाना तब दोनों ब्राह्मण राजा नृग के पास आए। राजा नृग ने जिस ब्राह्मण को गाएँ दान में दी थीं उसे गाय बदल लेने के लिये बहुत समझाया पर उसने एक न मानी। अंत में वह दूसरा ब्राह्मण उदास होकर चला गया। जब राजा का परलोकवास हुआ तब उनसे यम ने कहा कि आपका पुण्यफल बहुत है पर ब्राह्मण की गाय हरने का पाप भी आपको लगा है। चाहे पाप का फल पहले भोगिए, चाहे पुण्य का। राजा ने पाप का ही फल पहले भोगना चाहा अतः वे सहस्र वर्ष के लिये गिरगिट होकर एक कुएँ में रहने लगे। अंत में श्रीकृष्ण के हाथों से उनका उद्धार हुआ। (२) मनु के पुत्र का नाम। (३) यौधेय वंश का आदिपुरुष जो नृग के गर्भ से उत्पन्न उशीनर का पुत्र था।

नृगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा उशीनर की पत्नी का नाम।

नृघ्न-वि० [सं०] नरघातक।

नृतक*-संज्ञा पुं० दे० "नर्त्तक"।

नृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाच। नृत्य।

नृतु-संज्ञा पुं० [सं०] नाचनेवाला। नर्त्तक।

नृतू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नर्त्तक। (२) नरहिंसक।

नृत्तना*-क्रि० अ० [सं० नृत] नाचना। नृत्य करना।

नृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत के ताल और गति के अनुसार हाथ पाँव हिलाने, उछलने कूदने आदि का व्यापार। नाच। नर्त्तन।

विशेष—इतिहास, पुराण, स्मृति इत्यादि सब में नृत्य का उल्लेख मिलता है। संगीत के ग्रंथों में नृत्य के दो भेद किए गए हैं—तांडव और लास्य। जिसमें उग्र और उद्धत चेष्टा हो उसे तांडव कहते हैं और जो सुकुमार अंगों से किया जाय तथा जिसमें शृंगार आदि कोमल रसों का संचार हो उसे लास्य कहते हैं। संगीतनारायण में लिखा है कि पुरुष के नृत्य को तांडव और स्त्री के नृत्य को लास्य कहते हैं। संगीतदामोदर के मत से तांडव और लास्य भी दो दो प्रकार के होते हैं—पेलवि और बहुरूपक। अभिनय-शून्य अंगविक्षेप को पेलवि कहते हैं। जिसमें छेद भेद तथा अनेक प्रकार के भावों के अभिनय हों उसे बहुरूपक कहते हैं। लास्य नृत्य दो प्रकार का होता है—छुरित और यौवत। अनेक प्रकार के भाव दिखाते हुए नायक नायिका एक दूसरे का चुंबन आलिंगन आदि करते हुए जो नृत्य करते हैं वह छुरित कहलाता है। जो नाच नाचनेवाली अकेले आप ही नाचे वह यौवत है। इसी प्रकार संगीत के ग्रंथों में हाथ,

पैर, मस्तक आदि की विविध गतियों के अनुसार अनेक भेद उपभेद किए गए हैं।

धर्मशास्त्रों में नृत्य से जीविका करनेवाले निंद्य कहे गए हैं।

नृत्यकी*†-संज्ञा स्त्री० दे० "नर्त्तकी"।

नृत्यप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव (जिन्हें तांडव नृत्य प्रिय है)। (२) कार्त्तिकेय का एक अनुचर।

नृत्यशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाचघर।

नृदुर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] सेना का चारों ओर का घेरा।

नृदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) ब्राह्मण।

नृपजय-संज्ञा पुं० [सं०] एक पुरुवंशीय राजा।

नृप-संज्ञा पुं० [सं०] नरपति। राजा।

नृपकंद-संज्ञा पुं० [सं०] लाल प्याज।

नृपता-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजापन। राजा का गुण या भाव।

नृपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) कुबेर।

नृपद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमिलतास। (२) खिरनी का पेड़।

नृपद्रोही-संज्ञा पुं० [सं० नृपद्रोहिन्] परशुराम।

नृपप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल प्याज। (२) रामशर। सरकंडा। (३) एक प्रकार का बाँस। (४) जड़हन धान। (५) आम का पेड़। (६) राजसुआ। पहाड़ी या पर्वती तोता।

नृपप्रियफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बैंगन।

नृपप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केतकी। (२) पिंड खजूर।

नृपमांगल्य-संज्ञा पुं० [सं०] तरवट का पेड़। आहुल।

नृपमान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा जो राजाओं के भोजन के समय बजाया जाता था।

नृपवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] राजाम्रवृक्ष।

नृपवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केतकी।

नृपवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] सोनालु का पेड़।

नृपसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजकन्या। राजकुमारी। (२) छछूँदर। छछुँदरी।

नृपात्मजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजकन्या। (२) कड़ुवा घीया। कड़ुई तूँबी।

नृपाध्वर-संज्ञा पुं० [सं०] राजसूय यज्ञ।

नृपान्न-संज्ञा पुं० [सं०] राजभोग धान।

नृपाभीर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाजा जो राजाओं के भोजन के समय बजाया जाता था।

नृपामय-संज्ञा पुं० [सं०] राजयक्ष्मा। क्षयरोग।

नृपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (मनुष्यों का पालन करनेवाला) राजा।

नृपावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] राजावर्त्त। एक प्रकार का रत्न।

नृपासन-संज्ञा पुं० [सं०] भद्रासन। राजसिंहासन। तख्त।

नृपाह्वय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा कहलानेवाला। राजा नामधारी। (२) लाल प्याज।

नृपोचित-वि० [सं०] जो राजाओं के योग्य हो।

संज्ञा पुं० (१) राजमाष। काला बड़ा उरद। (२) लोबिया।

नृमण-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्लक्ष द्वीप की एक महानदी। (भागवत)

नृमणि-संज्ञा पुं० [सं०] एक पिशाच या भूत जो बच्चों को लगकर तंग किया करता है।

नृमर-संज्ञा पुं० [सं०] (मनुष्यों को मारनेवाला) राक्षस।

नृमिथुन-संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री-पुरुष का जोड़ा।

नृमेध-संज्ञा पुं० [सं०] नरमेध या पुरुषमेध यज्ञ।

नृयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] पंचयज्ञों में से एक जिसका करना गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य है। अतिथिपूजा। अभ्यागत का सत्कार।

नृलोक--संज्ञा पुं० [सं०] नरलोक। मनुष्यलोक। मर्त्यलोक।

नृवराह--संज्ञा पुं० [सं०] बाराहरूपधारी भगवान् विष्णु।

नृशंस--वि० [सं०] (१) लोगों को कष्ट का पीड़ा पहुँचानेवाला। क्रूर। निर्दय। (२) अनिष्टकारी। अपकारी। अत्याचारी। जालिम।

नृशंसता--संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्दयता। क्रूरता।

नृशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य की सींग के समान अनहोनी बात या वस्तु। अलीक पदार्थ।

नृसिंह--संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंहरूपी भगवान् विष्णु। विष्णु का चौथा अवतार।

विशेष—हरिवंश में लिखा है कि सत्य युग में दैत्यों के आदि पुरुष हिरण्यकशिपु ने घोर तप करके ब्रह्मा से वर माँग लिया कि न मैं देव, असुर, गंधर्व, नाग राक्षस या मनुष्य के हाथ से मारा जा सकूँ, न अस्त्र शस्त्र, वृक्ष, शैल तथा सूखे या गीले पदार्थ से मरूँ; और न स्वर्ग मर्त्य आदि किसी लोक में या दिन रात किसी काल में मेरी मृत्यु हो सके। इस प्रकार का वर पाकर वह दैत्य अत्यंत प्रबल हो उठा और स्वर्ग आदि छीनकर देवताओं को बहुत सताने लगा। देवता लोग विष्णु भगवान् की शरण में गए। विष्णु ने उन्हें अभय दान देकर अत्यंत भीषण नृसिंह मूर्त्ति धारण की जिसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा सिंह का था। जब यह नृसिंह मूर्त्ति हिरण्यकशिपु के पास पहुँची तब उसके पुत्र प्रह्लाद ने कहा कि "यह मूर्त्ति दैवी है, इसके भीतर सारा चराचर जगत् दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है कि अब दैत्यकुल नष्ट होगा"। यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने दैत्यों से नृसिंह को मारने के लिये कहा। पर जितने दैत्य मारने गए सब नष्ट हुए। अंत में हिरण्यकशिपु आप उठकर युद्ध करने लगा। हिरण्यकशिपु के क्रुद्ध नेत्रों की ज्वाला से समुद्र का जल खलबला उठा, सारी पृथ्वी डाँवाडोल हुई और लोकों में हाहाकार मच गया। देवताओं का आर्त्तनाद सुन नृसिंह

भगवान् अत्यंत भीषण गर्जन करके दैत्य पर झपटे और उन्होंने उसका पेट नखों से फाड़ डाला।

भागवत और विष्णु पुराण में सब कथा तो यही है प्रह्लाद की भक्ति का प्रसंग अधिक है। भागवत में लिखा है कि हिरण्यकशिपु वर पाकर बहुत प्रबल हुआ और स्वर्ग आदि लोकों को जीतकर राज्य करने लगा। उसके चार पुत्र थे जिनमें प्रह्लाद विष्णु भगवान् का बड़ा भारी भक्त था। शुक्राचार्य्य का पुत्र दैत्यराज के पुत्रों को पढ़ाता था। एक दिन हिरण्यकशिपु ने परीक्षा के लिये सब पुत्रों को अपने सामने बुलाया और कुछ सुनाने के लिये कहा। प्रह्लाद विष्णु भगवान् की महिमा गाने लगा। इस पर दैत्यराज बहुत बिगड़ा। क्योंकि वह विष्णु का घोर द्वेषी था। पर बिगड़ने का कुछ भी फल नहीं हुआ। प्रह्लाद की भक्ति दिन पर दिन अधिक होती गई। पिता के द्वारा अनेक ताड़न और कष्ट सहकर भी प्रह्लाद भक्ति पर दृढ़ रहे। धीरे धीरे बहुत से सहपाठी बालकों का दल प्रह्लाद का अनुयायी हो गया। इस पर दैत्यराज ने कुपित होकर प्रह्लाद से पूछा कि 'तू किसके बल पर इतना कूदता है?' प्रह्लाद ने कहा 'भगवान् के, जिसके बल पर यह सारा संसार चल रहा है'। हिरण्यकशिपु ने पूछा "तेरा भगवान् कहाँ है?" प्रह्लाद ने कहा "वह सदा सर्वत्र रहता है"। दैत्यराज ने दाँत पीसकर पूछा "क्या इस खंभे में भी है?" प्रह्लाद ने कहा "अवश्य"। हिरण्यकशिपु खड्ग लेकर बार बार खंभे की ओर देखने लगा। इतने में खंभे के भीतर से प्रलय के समान शब्द हुआ और नृसिंह ने निकलकर दैत्यराज का वध किया।

(२) श्रेष्ठ पुरुष। (३) एक रतिबंध।

नृसिंह चतुर्दशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ल चतुर्दशी।

विशेष—इस तिथि को नृसिंह जी का अवतार हुआ था इससे व्रत, पूजन, उत्सव आदि किए जाते हैं।

नृसिंह पुराण—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपपुराण।

नृसिंहपुरी—संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ जो मुलतान में कहा जाता है।

नृसिंहवन—संज्ञा पुं० [सं०] कूर्मविभाग में पश्चिम-उत्तर स्थित एक देश। (बृहत्संहिता)

नृसोम—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मनुष्यों में चंद्रमा के सदृश हो। नरश्रेष्ठ।

नृहरि—संज्ञा पुं० [सं०] नृसिंह।

ने†--प्रत्य० [सं० प्रत्य० टा=एण] सकर्मक भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता का चिह्न जो उसके आगे लगाया जाता है। सकर्मक भूतकालिक क्रिया के कर्त्ता की विभक्ति। जैसे, राम ने रावण को मारा। उसने यह काम किया।

विशेष—हिंदी की भूतकालिक क्रियाएँ सं० कृदंतों से बनी हैं इसी से कर्मवाच्य रूप में वाक्यों का प्रयोग आरंभ हुआ। क्रमशः उन वाक्यों का ग्रहण कर्तृवाच्य में भी होने लगा।

नेइँ†--संज्ञा स्त्री० दे० "नींव"।

नेउछावरि†--संज्ञा स्त्री० दे० "न्योछावर", "निछावर"।

नेउतना†--क्रि० स० दे० "नेवतना", "न्योतना"।

नेउता†--संज्ञा पुं० दे० "नेवता", "न्योता"।

नेउला--संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नेक--वि० [फ़ा०] (१) अच्छा। भला। उत्तम।

यौ०—नेकचलन। नेकनाम। नेकनीयत। नेकबख्त।

(२) शिष्ट। सज्जन। जैसे, नेक आदमी।

*† वि० [हिं० न + एक] थोड़ा। तनिक। जरा सा। किंचित। कुछ।

क्रि० वि० थोड़ा। जरा। तनिक। उ०—नेक हँसौहीं बानि तजि लखौ परत मुख नीठि।—बिहारी।

नेकचलन--वि० [फा० नेक + हिं० चलन] अच्छे चाल चलन का। सदाचारी।

नेकचलनी--संज्ञा स्त्री० [फा० नेक + हिं० चलन] सुचाल। सदाचार। भलमनसाहत।

नेकनाम--वि० [फा०] जिसका अच्छा नाम हो। जो अच्छा प्रसिद्ध हो। यशस्वी।

नेकनामी--संज्ञा स्त्री० [फा०] नामवरी। सुख्याति। कीर्त्ति। सुयश।

नेकनीयत--वि० [फा० नेक + अ० नीयत] (१) अच्छे संकल्प का। शुभ संकल्पवाला। जिसका आशय या उद्देश्य अच्छा हो उत्तम विचार का। उदाराशय। भलाई का विचार रखनेवाला।

नेकनीयती-- संज्ञा स्त्री० [फ़ा० नेकनीयत] (१) नेकनीयत होने का भाव। अच्छा संकल्प। भला विचार। (२) ईमानदारी।

नेकबख्त-- वि० [फा०] (१) भाग्यवान्। खुशकिस्मत। (२) अच्छे स्वभाव का। सुशील।

नेकरी--संज्ञा स्त्री० [?] समुद्र की लहर का थपेड़ा जिससे जहाज़ किसी ओर को बढ़ता है। हाँक। (लश०)

नेकी--संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) भलाई। उत्तम व्यवहार। (२) सज्जनता। भलमनसाहत।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—नेकी बदी = भलाई बुराई। पाप पुण्य। जैसे, नेकी बदी साथ जाती है।

(३) उपकार। हित। जैसे, उसने तुम्हारे साथ बड़ी नेकी की है।

यौ०—नेकी बदी = उपकार अपकार। हित अहित।

मुहा०—नेकी और पूछ पूछ = किसी का उपकार करने में उससे पूछने की क्या आवश्यकता है?

नेकु*†--वि०, क्रि० वि० दे० "नेक"।

नेग-संज्ञा पुं० [सं० नैयमिक, हिं० नेवग] (१) विवाह आदि शुभ अवसरों पर संबंधियों, आश्रितों तथा कार्य्य वा कृत्य में योग देनेवाले और लोगों को कुछ दिए जाने का नियम। देने, पाने का हक या दस्तूर। जैसे, नेग में उनको बहुत कुछ मिला।

यौ०—नेगचार। नेगजोग।

मुहा०—नेग करना = शुभ मुहूर्त्त में आरंभ करना। साइत करना।

(२) वह वस्तु या धन जो विवाह आदि शुभ अवसरों पर संबंधियों, नौकरों चाकरों तथा नाई बारी आदि काम करनेवालों को उनकी प्रसन्नता के लिये नियमानुसार दिया जाता है। बँधा हुआ पुरस्कार। इनाम। बखशिश।

क्रि० प्र०—चुकाना।—देना।

मुहा०—नेग लगना = (१) पुरस्कार देना आवश्यक होना। रीति के अनुसार कुछ देना जरूरी होना। जैसे, यहाँ ५०) नेग लगेगा। (२) हीले लगना। काम में आ जाना। सार्थक होना। सफल होना।

नेगचार-संज्ञा पुं० दे० "नेगजोग"।

नेगजोग-संज्ञा पुं० [हिं० नेग + जोग] (१) विवाह आदि मंगल अवसरों पर संबंधियों तथा काम करनेवालों को उनके प्रसन्नतार्थ कुछ दिए जाने का दस्तूर। देने पाने की रीति। इनाम बाँटने की रस्म। (२) वह धन जो मंगल अवसरों पर संबंधियों और नौकरों चाकरों आदि को बाँटा जाता है। इनाम।

नेगटी‡*-संज्ञा पुं० [हिं० नेग + टा (प्रत्य०)] नेग या रीति का पालन करनेवाला। दस्तूर पर चलनेवाला। उ०—जग प्रीति करि देखी नाहिं नेगटी कोऊ। छत्रपति रंक लौं देखे प्रकृति विरुद्ध न बन्यो कोऊ॥ दिन जु गए बहुत जनमनि के ऐसे जाहु जिन कोऊ। सुनि हरिदास मीत भलो पायो बिहारी ऐसो पावो सब कोऊ।—स्वामी हरिदास।

नेगी-संज्ञा पुं० [हिं० नेग] नेग पानेवाला। नेग पाने का हकदार।

नेगीजोगी-संज्ञा पुं० [हिं० नेगजोग] नेग पानेवाले। विवाह आदि मंगल अवसरों पर इनाम पाने के अधिकारी, जैसे, नातेदार, नाई, बारी, नौकर, चाकर इत्यादि। खुशी का इनाम पाने का हकदार।

नेचरिया-संज्ञा पुं० [अं० नेचर] प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर आदि को न माननेवाला। लोकायतिक। नास्तिक।

नेचवा†-संज्ञा पुं० [देश०] पलँग का पाया।

नेछावर‡-संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर"।

नेजक-संज्ञा पुं० [सं०] रजक। धोबी।

नेजा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) भाला। बरछा। (२) साँग। निशान।

मुहा०—नेजा हिलाना = बरछा या बल्लम फिराना।

नेजाबरदार-संज्ञा पुं० [फा०] भाला या राजाओं का निशान लेकर चलनेवाला।

नेजाल‡*-संज्ञा पुं० [फा० नेजा] भाला। बरछा।

नेटा†-संज्ञा पुं० [हिं० नाक + टा] नाक से निकलनेवाला कफ या बलगम। नाक से निकलनेवाला कफ या मल।

क्रि० प्र०—बहना।

मुहा०—नेटा बहना = गंदा और मैला कुचैला रहना। चेहरा साफ सुथरा न रहना।

नेठना*-क्रि० अ० दे० "नाठना"।

नेड़े†-क्रि० वि० [सं० निकट, प्रा० निअड़] निकट। पास। नजदीक।

नेत-संज्ञा पुं० [सं० नियति = ठहराव] (१) ठहराव। निर्धारण। किसी बात का स्थिर होना। उ०—अहैं ग्यारहें भौम अस भरत कुंडली नेत।—रघुराज। (२) निश्चय। ठहराव। ठान। संकल्प। इरादा। उ०—(क) आजु न जान देहुँ री ग्वालिन! बहुत दिनन को नेत।—सूर। (ख) चार चोर चामीकर हेतू। किय मारन जयदेवहि नेतू।—रघुराज। (३) व्यवस्था। प्रबंध। आयोजन। बंदिश। ढंग। उ०—(क) हाय हाय माच्यो विश्वधाम बीच भाखैं सुर काल काहे प्रभु बाँधे प्रलय नेत है।—रघुराज। (ख) नेत करन की है गति तोरी। जामें जाय बात नहिं मोरी।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं० नेत्र] मथानी की रस्सी। नेता। उ०—(क) को उठि प्रात होत ले माखन को कर नेत गहै?—सूर। (ख) नोई नेत की करो चमोटी घूँघट में डरवायो।—सूर।

संज्ञा पुं० [देश०] एक गहना। उ०—कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "नती"।

संज्ञा स्त्री० दे० "नीयत"।

नेतली-संज्ञा स्त्री० [सं० नेत्र = मथानी की डोरी] एक प्रकार की पतली डोरी। (लश०)

नेता-संज्ञा पुं० [सं० नेतृ] [स्त्री० नेत्री] (१) पीछे ले चलनेवाला। अगुआ। नायक। सरदार। (२) प्रभु। स्वामी। मालिक। (३) काम को चलानेवाला। निर्वाहक। प्रवर्त्तक। (४) नीम का पेड़। (५) विष्णु।

संज्ञा पुं० [सं० नेत्र] मथानी की रस्सी।

नेति-[सं०] एक संस्कृत वाक्य (न इति) जिसका अर्थ है "इति नहीं" अर्थात् "अंत नहीं है"। ब्रह्म या ईश्वर के संबंध में यह वाक्य उपनिषदों में अनंतता सूचित करने के लिये आया है। उ०—नेति नेति कहि वेद पुकारा।—तुलसी।

नेती-संज्ञा स्त्री० [सं० नेत, हिं० नेता] वह रस्सी जो मथानी में

लपेटी जाती है और जिसे खींचने से मथानी फिरती है और दूध या दही मथा जाता है।

नेती धोती-संज्ञा स्त्री० [सं० नेत्र, हिं० नेता + सं० धौति] हठ-योग की एक क्रिया जिसमें कपड़े की धज्जी पेट में डालकर आँतें साफ करते हैं। दे० "धौति"।

नेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आंख। (२) मथानी की रस्सी। (३) एक प्रकार का वस्त्र। (४) वृक्षमूल। पेड़ की जड़। (५) रथ। (६) जटा। (७) नाड़ी। (८) वस्तिशलाका। बस्ती की सलाई। कटीटा। (९) दो की संख्या का सूचक शब्द।

नेत्रकनीनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] आंख का तारा।

नेत्रज-संज्ञा पुं० [सं०] आंसू।

नेत्रजल-संज्ञा पुं० [सं०] आंसू।

नेत्रपर्य्यंत-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का कोना।

नेत्रपाक-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग।

नेत्रपिंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रगोलक। आंख का ढेला। (२) बिल्ली।

नेत्रपुष्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रुद्रजटा नाम की लता।

नेत्रबंध-संज्ञा पुं० [सं०] आंखमिचौली का खेल। (महाभारत)

नेत्रबाला-संज्ञा पुं० [सं० वाला] सुगंधबाला। कचसोद। बालक।

विशेष—दे० "सुगंधबाला"।

नेत्रभाव-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत या नृत्य में एक भाव जिसमें केवल आंखों की चेष्टा से सुख दुःख आदि का बोध कराया जाता है और कोई अंग नहीं हिलते डोलते। यह भाव बहुत कठिन समझा जाता है।

नेत्रमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] आंख का घेरा। आंख का डेला।

नेत्रमल-संज्ञा पुं० [सं०] आंख का कीचड़। गिद्द।

नेत्रमार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] नेत्रगोलक से मस्तिष्क तक गया हुआ सूत्र जिससे अंतःकरण में दृष्टिज्ञान होता है।

नेत्रमीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यवतिक्ता लता (जिसके सेवन से आंखें बंद रहती हैं)।

नेत्रयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र (जिनके शरीर में गौतम के शाप से सहस्र योनिचिह्न हो गए थे जो पीछे नेत्र के आकार में हो गए।) (२) चंद्रमा (जो अत्रि की आँख से उत्पन्न हुए थे)।

नेत्ररंजन-संज्ञा पुं० [सं०] कज्जल। काजल।

नेत्ररोग-संज्ञा पुं० [सं०] आंख में होनेवाले रोग जो वैद्यक में ७६ माने गए हैं—इनमें से १० वायुजन्य, १३ कफजन्य, १६ रक्तजन्य, १० पित्तज, २५ सन्निपातज और २ बाहरी हैं। वायुजन्य रोगों में से हताधिमंथ, निमेषदृष्टिगत, गंभीरिका और वातहतवर्त्मन् असाध्य हैं और काचरोग, शुष्काक्षिपाक, अधिमंथ, अभिष्यंद और मारुत साध्य हैं। पित्तज रोगों में से ह्रस्वजात, जलस्राव, परिम्लायी और नीली असाध्य हैं और अम्लाध्युषित दृष्टि, शुक्तिका, विदग्ध दृष्टि, पोथकी और लगण साध्य हैं। श्लेषज रोगों में स्राव रोग और काच रोग साध्य होता है। पूयस्राव, नाकुलांध्य, अक्षिपाक और अलजी ये सब सर्वदोषज असाध्य हैं। सन्निपातज काच रोग और पक्ष्मकोपरोग साध्य हैं। ७६ नेत्र रोगों में से ९ संधि-गत, २१ वर्त्मगत, ११ शुक्लभागस्थित, ४ कृष्णभागस्थित, १७ सर्वत्रगत, १२ दृष्टिगत और २ बाह्य रोग हैं।

नेत्ररोगहा-संज्ञा पुं० [सं०] वृश्चिकाली वृक्ष।

नेत्ररोम-संज्ञा पुं० [सं० नेत्ररोमन्] आंख की बिरनी। बरौनी।

नेत्रवस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी पिचकारी।

नेत्रविष्-संज्ञा पुं० [सं०] आंख का कीचड़।

नेत्रविष-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का दिव्य सर्प जिसकी आँख में विष होता है।

नेत्रसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँख का कोना।

नेत्रस्तंभ-संज्ञा पुं० [सं०] आंख की पलकों का स्थिर हो जाना। अर्थात् उठना और गिरना बंद हो जाना।

नेत्रस्राव-संज्ञा पुं० [सं०] आंखों से पानी बहना।

नेत्रांत-संज्ञा पुं० [सं०] आँख के कोने और कान के बीच का भाग। कनपटी।

नेत्राभिष्यंद-संज्ञा पुं० [सं०] आंख का एक रोग जो छूत से फैलता है। आंख आने का रोग।

विशेष—इस रोग में आंखें लाल हो जाती हैं और उनमें बड़ी पीड़ा होती है। यह वातज, पित्तज, रक्तज और कफज चार प्रकार का होता है। वातज अभिष्यंद में सूई चुभने की सी पीड़ा होती है और ऐसा जान पड़ता है कि आंखों में किरकिरी पड़ी हो। इसमें ठंढा पानी बहता है और सिर दुखता है। पित्तज में आँखों में जलन होती है और बहुत पानी बहता है। ठंढी चीजें रखने से आराम मालूम होता है। कफज अभिष्यंद में आंखें भारी जान पड़ती हैं, सूजन अधिक होती है और बार बार गाढ़ा पानी बहता है। इसमें गरम चीजों से आराम मालूम होता है। रक्तज में आंखें बहुत लाल रहती हैं और सब लक्षण पित्तज अभिष्यंद के से होते हैं। अभिष्यंद रोग की चिकित्सा न होने से अधिमंथ रोग होने का डर रहता है। (भावप्रकाश)

नेत्रारि-संज्ञा पुं० [सं०] थूहर। सेहुँड़।

नेत्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी पिचकारी। (सुश्रुत)

नेत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अपने पीछे ले चलनेवाली। अग्रगामिनी। अगुआ। सरदार। (२) राह बतानेवाली। सिखानेवाली। रास्ते पर ले चलनेवाली। शिक्षयित्री। (३) नाड़ी। (४) लक्ष्मी। (५) नदी।

नेत्रोपम फल-संज्ञा पुं० [सं०] बादाम। (भावप्रकाश)

नेत्रोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेत्रों का आनंद। देखने का मजा। (२) वह वस्तु जिसे देखने से नेत्रों को आनंद मिले। दर्शनीय वस्तु।

नेत्रौषध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख की दवा। (२) पुष्पकसीस।

नेत्रौषधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढासिंगी।

नेत्र्यगण-संज्ञा पुं० [सं०] रसौत, त्रिफला, लोध, ग्वारपाठा. बनकुलथी आदि नेत्ररोगों के लिये उपकारी ओषधियों का समूह।

नेदिष्ट-वि० [सं०] (१) निकट का। पास का। (२) निपुण।

संज्ञा पुं० अंकोट वृक्ष। ढेरे का पेड़।

नेदिष्ठी-वि० [सं०] समीप का निकटस्थ।

संज्ञा पुं० सहोदर भाई।

नेनुआ, नेनुवा-संज्ञा पुं० [सं०] एक भाजी या तरकारी। घियातोरई। घिवरा।

नेपचून-संज्ञा पुं० [फ़रासीसी] सूर्य्य की परिक्रमा करनेवाला एक ग्रह जिसका पता सन् १८४६ से पहले किसी को नहीं था। अब तक जितने ग्रह जाने गए हैं उनमें यह सबसे अधिक दूरी पर है। बड़ाई में यह तीसरे दरजे के ग्रहों में है। इस ग्रह का व्यास ३७००० मील है। सूर्य्य से इसकी दूरी २८०००००००० मील के लगभग है, इससे इसे सूर्य्य के चारों ओर घूमने में १६४ वर्ष लगते हैं अर्थात् नेपचून का एक वर्ष हमारे १६४ वर्षों का होता है। जिस प्रकार पृथ्वी का उपग्रह चंद्रमा है उसी प्रकार नेपचून का भी एक उपग्रह है। उसका पता भी सन् १८४६ (अक्तूबर) में ही लगा। वह नेपचून की परिक्रमा ५ दिन २१ घंटे ८ मिनट में करता है।

नेपथ्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेश। भूषण। सजावट। (२) वेश-स्थान। नृत्य, अभिनय, नाटक आदि में परदे के भीतर का वह स्थान जिसमें नट नटी नाना प्रकार वेश सजते हैं। नाटक में परदे के पीछे का स्थान जिसमें नट लोग नाटक के पात्रों की नकल बनते हैं। (३) वह स्थान जहाँ नृत्य अभिनय आदि हो। नाच-रंग की जगह। रंगशाला। रंगभूमि।

नेपाल-संज्ञा पुं० [देश०] हिंदुस्तान के उत्तर में एक रूखा पहाड़ी देश जो हिमालय के तट पर है।

विशेष—नेपाल नाम के संबंध में कई प्रकार के अनुमान हैं। कुछ लोग कहते हैं कि तिब्बत तथा उसके आस पास की अनार्य्य जातियाँ अपनी भाषा में उस प्रदेश को जहाँ गोरखे बसते हैं 'पाल' कहती हैं। सिकिम भूटान आदि के लोग नेपाल के पूरबी भाग को "ने" कहते हैं। तिब्बती भाषा में पाल पशम या ऊन को भी कहते हैं। लेपचा, नेवार आदि जातियों की भाषा में 'ने' शब्द का अर्थ पहाड़ की गुफा लिया जाता है। तिब्बत और बरमा के बौद्ध 'ने' शब्द से पवित्र गुहा वा देवता द्वारा रचित स्थान का भाव लेते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि नेवार जाति ही से नेपाल नाम पड़ा। पंडित लोग शुद्ध शब्द 'नयपाल' मानकर 'न्याय का पालन करनेवाला' अर्थ करते हैं। रामायण महाभारत आदि में इस देश का नाम नहीं मिलता। पुराणों में स्कंद पुराण के रेवाखंड, नागरखंड और सह्याद्रिखंड में, तथा गरुड़ पुराण में इस देश का थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है। बृहत्संहिता में भी नेपाल का नाम आया है। शक्तिसंगमतंत्र, बृहन्नीलतंत्र और वाराहीतंत्र आदि कई तंत्रों में नेपाल का वर्णन मिलता है। शक्तिसंगमतंत्र में जटेश्वर से लेकर योगेश्वर तक के देश को नेपाल कहा है और उसे बहुत सिद्धिदायक बतलाया है। जैनहरिवंश तथा हेमचंद्र की स्थविरावली में भी नेपाल का उल्लेख मिलता है। नैपाली बौद्धों के तंत्रों और पुराणों में नेपाल का माहात्म्य अलौकिक कथाओं के सहित पाया जाता है।

नेपालजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

नेपालनिंब-संज्ञा पुं० [सं०] नेपाल की नीम। एक प्रकार का चिरायता।

पर्य्या०—नैपाल। तृणनिंब। ज्वरांतक। नीडितिक्त। अर्धतिक्त। निद्रारि। सन्निपातहा।

विशेष—वैद्यक में नेपाली नीम कुछ गरम, योगवाही, हलकी, कडुई तथा पित्त, कफ, सूजन, रुधिर रोग, प्यास और ज्वर को दूर करनेवाली मानी जाती है।

नेपालमूलक-संज्ञा पुं० [सं०] हस्तिकंद के समान एक कंद।

नेपालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

नेपाली-वि० [हिं० नेपाल] (१) नेपाल का। नेपाल में रहने या होनेवाला। (२) नेपाल संबंधी।

संज्ञा पुं० नेपाल का रहनेवाला आदमी।

संज्ञा स्त्री० (१) मनःशिला। मैनसिल। (२) नेवारी का पैाधा।

नेपुर‡-संज्ञा पुं० दे० "नूपुर"।

नेफा-संज्ञा पुं० [फा०] पायजामे या लँहगे के घेर में इजारबंद या नाड़ा पिरोने का स्थान।

नेब*-संज्ञा पुं० [फा० नायब] सहायक। कार्य्य में सहायता देनेवाला। मंत्री। दीवान। उ०—(क) कद्र बिनतहिं दीन्ह दुख तुमहिं कौसिला देब। भरत बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब।—तुलसी। (ख) ऋषि नृपसीस ठगौरी सी डारी। कुलगुरु, सचिव, निपुन नेबनि अवरेब न समुझि सुधारी। सिरस सुमन सुकुमार कुँअर दोउ सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहिं सहाय पयादहि केलि बान धनुधारी।—तुलसी। (ग) आए नँदनंदन के नेब। गोकुल माँझ जोग बिस्तारयो भली तुम्हारी जेब।—सूर।

नेबुआ†–संज्ञा पुं० दे० "नीबू"।

नेबू†–संज्ञा पुं० दे० "नीबू"।

नेम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल। समय। (२) अवधि। (३) खंड। टुकड़ा। (४) प्राकार। दीवार। (५) कैतव। छल। (६) अर्द्ध। आधा। (७) गर्त्त। गड्ढा। (८) अन्य। और। (९) सायंकाल। (१०) मूल। जड़।

संज्ञा पुं० [सं० नियम] (१) नियम। कायदा। बंधेज। (२) बँधी हुई बात। ऐसी बात जो टलती न हो, बराबर होती हो। (३) रीति। दस्तूर। धर्म की दृष्टि से कुछ क्रियाओं का पालन जैसे व्रत उपवास आदि।

यौ०—नेम धरम = पूजा पाठ, व्रत उपवास आदि।

विशेष—दे० "नियम"।

नेमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पहिये का घेरा वा चक्कर। चक्रपरिधि। प्रधि। नेमी। (२) कुएँ के ऊपर चारों ओर बँधा हुआ ऊँचा स्थान या चबूतरा। कूएँ की जगत। (३) भूमिस्थित। कूपपट्ट। कूएँ की जमवट। (४) प्रांतभाग। किनारे का हिस्सा। (५) कूएँ के किनारे लकड़ी का वह ढाँचा जिस पर रस्सी रखते और जिसमें प्रायः घिरनी लगी रहती है।

संज्ञा पुं० (१) नेमिनाथ तीर्थंकर। (२) तिनिश वृक्ष। तिनास। तिनसुना। (३) एक दैत्य। (भागवत)। (४) वज्र।

नेमिचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] परीक्षित के वंश के एक राजा जो असीमकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने कौशांबी में अपनी राजधानी बनाई थी। (भागवत)

नेमी–संज्ञा पुं० [सं० नेमिन्] तिनिश वृक्ष।

* संज्ञा स्त्री० दे० "नेमि"।

वि० [सं० नियम] (१) नियम का पालन करनेवाला। (२) धर्म की दृष्टि से पूजापाठ, व्रत उपवास आदि नियमपूर्वक करनेवाला।

यौ०—नेमी धरमी।

नेर†–क्रि० वि० दे० "नियर"।

नेरता‡–संज्ञा स्त्री० [सं० नैर्ऋत] नैर्ऋत्य दिशा। पश्चिम दक्षिण का कोना।

नेरवाती–संज्ञा स्त्री० [देश०] नीले रंग की एक पहाड़ी भेड़ जो भोटान से लद्दाख तक पाई जाती है। इसके ऊन के कंबल आदि बनते हैं।

नेराना†–क्रि० अ०, क्रि० स० दे० "नियराना"।

नेरुवा†–संज्ञा पुं० [सं० नल, हिं० नाली, नारी] कोल्हू के नीचे बनी हुई तेल बहने की नाली।

नेरे–क्रि० वि० [हिं० नियर] निकट। पास। समीप।

नेव*–संज्ञा पुं० दे० "नेब"।

संज्ञा स्त्री० दे० "नींव"।

नेवग*–संज्ञा पुं० [डिं०] नेग।

नेवगी–संज्ञा पुं० [डिं०] नेगी।

नेवछावर–संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर"।

नेवज संज्ञा पुं० [सं० नैवेद्य] देवता को अर्पित करने की वस्तु। खाने पीने की चीज जो देवता को चढ़ाई जाय। भोग। उ०—(क) गावत मंगलचार महर घर। नेवज करि करि धरति श्याम डर।—सूर। (ख) बहुत भाँति सब करे पकवानै। नेवज करि धरि साँझ बिहानै।—सूर। (ग) महरि सबै नेवज लै सैंतति। श्याम छुवै कहुँ ताको डरपति।—सूर।

नेवजा–संज्ञा पुं० [फा०] चिलगोजा।

नेवजी–संज्ञा स्त्री० [?] एक फूल का नाम।

नेवत†–संज्ञा पुं० दे० "नेवता"। "न्योता"।

नेवतना†–क्रि० स० [सं० निमंत्रण] निमंत्रित करना। नेवता भेजना। उ०—सुर गंधर्ब जे नेवति बुलाए। ते सब बधू सहित तहँ आए।—सूर।

नेवतहरी–संज्ञा पुं० दे० "न्योतहरी"।

नेवता–संज्ञा पुं० दे० "न्योता"।

नेवर–संज्ञा पुं० [सं० नूपुर] पैर का एक गहना। नूपुर।

संज्ञा स्त्री० (१) घोड़े के पैर का वह घाव जो दूसरे पैर की ठोकर वा रगड़ से हो जाता है।

क्रि० प्र०—लगना।

(२) घोड़ों के पैर से पैर की रगड़।

क्रि० प्र०—लगना।

† वि० [सं० न + वर = अच्छा] बुरा। खराब।

नेवरा–संज्ञा पुं० [देश०] लाल कपड़े की झारी की खोली।

नेवल–संज्ञा पुं० दे० "नेवर"।

नेवला–संज्ञा पुं० [सं० नकुल, प्रा० नउल] चार पैरों से जमीन पर रेंगनेवाला हाथ सवा हाथ लंबा और ४—५ अंगुल चौड़ा मांसाहारी पिंडज जंतु जो देखने में गिलहरी के आकार का पर उससे बड़ा और भूरे रंग का होता है। पूँछ इसकी बहुत लंबी और रोयों से फूली हुई होती है, मुँह इसका चूहे गिलहरी आदि की तरह आगे की ओर नुकीला होता है। दाँत इसके बहुत पैने होते हैं। टीलों, पुराने घरों, नदी के करारों आदि में बिल खोदकर प्रायः नर मादा साथ रहते हैं। वसंत ऋतु में मादा दो या तीन बच्चे देती है जो बहुत दिनों तक उसके पीछे पीछे घूमा करते हैं। नेवला भारतवर्ष में ही पाया जाता है यद्यपि इसकी जाति के और दूसरे जंतु अफ्रिका अमेरिका आदि के गरम स्थानों में मिलते हैं। नेवले प्रायः चूहों तथा और छोटे जंतुओं को खाकर रहते हैं। साँप को मारने में ये बहुत प्रसिद्ध हैं। बड़े से बड़े सर्प को ये अपनी फुरती से खंड खंड कर डालते

हैं। लोग इन्हें पालते भी हैं। पालने पर ये इतने परच जाते हैं कि पीछे पीछे दौड़ते हैं।

नेवा-संज्ञा पुं० [सं० नियम ?] (१) रीति। दस्तूर। रवाज। (२) कहावत। लोकोक्ति।

वि० [सं० न्याय] नाईं। समान।

वि० [?] चुप। मौन।

नेवाज-वि० दे० "निवाज"।

नेवाजना-क्रि० स० दे० "निवाजना"।

नेवाड़ा-संज्ञा पुं० दे० "निवाड़ा"।

नेवार-संज्ञा पुं० [देश०] नेपाल में बसनेवाली वहाँ की एक आदिम जाति।

संज्ञा पुं०, संज्ञा स्त्री० दे० "निवाड़", "निवार"।

नेवारना*-क्रि० स० दे० "निवारना"।

नेवारी-संज्ञा स्त्री० [सं० नेपाली] जूही या चमेली की जाति का एक पौधा जिसमें छोटे छोटे सफेद फूल लगते हैं। पत्तियाँ इसकी कुंद या जूही की सी होती हैं। यह बरसात में अधिक फूलता है। फूलों में बड़ी अच्छी भीनी महक होती है। इसे वनमल्लिका भी कहते हैं।

नेष्टा-संज्ञा पुं० [सं० नेष्ट] (१) एक ऋत्विक्। (२) त्वष्टा देवता।

नेस-संज्ञा पुं० [फा० नेश = डंक] जंगली जानवरों के लंबे नुकीले दाँत जिनसे वे काटते हैं।

नेसकुन-संज्ञा पुं० [देश०] बंदरों का जोड़ा खाना। (कलंदर)

नेसुक*†-वि० [हिं० नेकु, नेक] तनक। थोड़ा सा।

क्रि० वि० थोड़ा। जरा। टुक। तनक।

नेसुहा†-संज्ञा पुं० [सं० निष्ठा] जमीन में गड़ा हुआ लकड़ी का कुंदा जिस पर गन्ना या चारा काटते हैं।

नेस्त-वि० [फा०] जो न हो।

यौ०—नेस्त नाबूद = नष्ट भ्रष्ट। जो जड़मूल से न रह गया हो।

नेस्ती-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) न होना। अनस्तित्व। (२) आलस्य। (३) नाश। बर्बादी।

क्रि० प्र०—फैलाना।

नेह-संज्ञा पुं० [सं० स्नेह] (१) स्नेह। प्रेम। प्रीति। प्यार। मुहब्बत। उ०—तुम चाहो न चाहो हमैं चित सों हमैं नेह को नातो निबाहनो है। (२) चिकना। तेल या घी।

नेही*-वि० [हिं० नेह + ई (प्रत्य०)] स्नेह करनेवाला। प्रेमी।

नै-संज्ञा स्त्री० दे० "नय"।

संज्ञा स्त्री० [सं० नदी, प्रा० णई] नदी। उ०—कितो न औगुन जग करत नै बय चढ़ती बार।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बाँस की नली। (२) हुक्के की निगाली। (३) बाँसुरी।

नैऋत*-वि० संज्ञा पुं० दे० नैऋ‍र्त्य।

नैक, नैकु-वि० दे० "नेक", "नेकु"।

नैकचर-वि० [सं०] जो अकेले न चलते हों, झुंड में चलते हों। जैसे सूअर, भेड़िया, हिरन इत्यादि।

नैकट्य-संज्ञा पुं० [सं०] निकटता। निकट होने का भाव।

नैकशृंग-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम। (विष्णुसहस्र नाम)

विशेष—भगवान् विष्णु के तीन पैर और चार सींग माने गये हैं।

नैकषेय-संज्ञा पुं० [सं०] (निकष के वंशज) राक्षस।

नैकृतिक-वि० [सं०] (१) दूसरे की हानि करके निष्ठुर जीविका करनेवाला। निष्ठुर। (२) कटुभाषी।

नैगम-वि० [सं०] (१) निगम संबंधी। (२) जिसमें ब्रह्म आदि का प्रतिपादन हो, जैसे, उपनिषद्।

संज्ञा पुं० (१) उपनिषद् भाग। (२) नय। नीति।

नैगमनय-संज्ञा पुं० [सं०] वह नय वा तर्क जो द्रव्य और पर्याय दोनों को सामान्यविशेषयुक्त मानता हो और कहता हो कि सामान्य के बिना विशेष, और विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता। (जैन)

नैगमेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२) नैगमेष नामक बालग्रह। (सुश्रुत)

नैगमेष-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में जो नौ बालग्रह कहे गए हैं उनमें नवाँ जिसके द्वारा पीड़ित होने से बच्चों के मुँह से फेन गिरता है, वे रोते हैं, बेचैन रहते हैं, उन्हें ज्वर होता है तथा उनकी दृष्टि ऊपर को टँगी रहती है और देह से चरबी की सी गंध आती है।

नैचा-संज्ञा पुं० [फा०] हुक्के की दोहरी नली जिसमें एक के सिरे पर चिलम रखी जाती है और दूसरे का छोर मुँह में रखकर धुआँ खींचते हैं।

यौ०—नैचाबंद।

नैचाबंद-संज्ञा पुं० [फा०] नैचा बनानेवाला।

नैचाबंदी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नैचा बनाने का काम।

नैचिक-संज्ञा पुं० [सं०] गाय आदि चौपायों का माथा।

नैचिकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अच्छी गाय।

नैची-संज्ञा स्त्री० [हिं० नीचा] पुर, मोट वा चरसा खींचते समय बैलों के चलने के लिये बनी हुई ढालू राह। रपट। पैढ़ी।

नैचुल-वि० [सं०] निचुल संबंधी। हिज्जल वृक्ष संबंधी।

संज्ञा पुं० निचुल का फल या बीज।

नैटी†-संज्ञा स्त्री० [देश०] दुद्धी नाम की घास या जड़ी। दुधिया घास।

नैतिक-वि० [सं०] नीति-संबंधी। नीतियुक्त।

नैत्य-वि० [सं०] (१) नित्य का। (२) नित्य दिया जानेवाला।

संज्ञा पुं० नित्य का कर्म।

नैदाघ-वि० [सं०] निदाघ संबंधी। ग्रीष्म का।

नैदाघिक–वि० [सं०] निदाघ संबंधी । ग्रीष्म का ।

नैदाघीय–वि० [सं०] निदाघ संबंधी ।

नैदानिक–वि० [सं०] रोगों का निदान जाननेवाला ।

नैधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निधन । मरण । (२) लग्न से आठवाँ स्थान । (फलित ज्यो०)

नैधानी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच प्रकार की सीमाओं में से एक । वह सीमा जिसका चिह्न गड़ा हुआ कोयला या तुष (भूसी) हो । (स्मृति)

नैन*–संज्ञा पुं० दे० "नयन" ।

संज्ञा पुं० [सं० नवनीत] मक्खन ।

नैनसुख–संज्ञा पुं० [हिं० नैन + सुख] एक प्रकार का चिकना सूती कपड़ा ।

नैनू–संज्ञा पुं० [हिं० नैन = आँख] (१) एक प्रकार का सूती कपड़ा जिसमें आँख की सी गोल उभरी हुई बूटियाँ बनी होती हैं । उभरे हुए बेलबूटे का सूती कपड़ा ।

†संज्ञा पुं० [सं० नवनीत] मक्खन ।

नैपाल-वि० [सं०] (१) नेपाल-संबंधी । (२) नेपाल का । नेपाल में होनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) नेपाल निंब । (२) एक प्रकार की ईख ।

संज्ञा पुं० दे० "नेपाल" ।

नैपालिक–संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा ।

नैपाली–वि० [हिं० नैपाल] (१) नैपाल देश का । (२) नैपाल में रहने या होनेवाला । जैसे, नैपाली सिपाही, नैपाली टाँगन ।

संज्ञा पुं० नैपाल का रहनेवाला आदमी ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नवमल्लिका । नेवाली । (२) मनःशिला । मैनसिल । (३) नील का पौधा । (४) शेफालिका । एक प्रकार की निगुंडी ।

नैपुण्य–संज्ञा पुं० [सं०] निपुणता । चतुराई । होशियारी । दक्षता । कमाल ।

नैमय–संज्ञा पुं० [सं०] वणिक । व्यवसायी । रोजगारी ।

नैमित्तिक–वि० [सं०] जो किसी निमित्त से किया जाय । जो निमित्त उपस्थित होने पर या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये हो । जैसे, नैमत्तिक कर्म्म, नैमत्तिक स्नान, नैमित्तिक दान ।

विशेष—यज्ञ आदि कर्म जो किसी निमित्त से किए जाते हैं वे नैमित्तिक कहलाते हैं; जैसे, पुत्र-प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्टि यज्ञ । दे० "कर्म" । ग्रहण आदि उपस्थित होने पर जो स्नान किया जाता है वह नैमित्तिक स्नान कहलाता है । इसी प्रकार दोष या पापशांति के लिये जो दान दिया जाता है वह नैमित्तिक दान कहलाता है ।

नैमित्तिकलय–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ पुराण के अनुसार एक प्रलय जिसमें सौ वर्ष तक अनावृष्टि होती है, बारहों सूर्य्य उदित होकर तीनों लोकों का शोषण करते हैं, फिर बड़े भीषण मेघ सौ वर्ष तक लगातार बरसकर सृष्टि का नाश करते हैं ।

नैमिश–संज्ञा पुं० दे० "नैमिष" ।

नैमिष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नैमिषारण्य तीर्थ । (२) जमुना के दक्षिण तट पर बसनेवाली एक जाति जिसका उल्लेख महाभारत और पुराणों में है ।

नैमिषारण्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन वन जो आजकल हिंदुओं का एक तीर्थस्थान माना जाता है । यह आजकल नीमखार कहलाता है ।

विशेष—यह स्थान अवध के सीतापुर जिले में है । पुराणों में इसके संबंध में दो प्रकार की कथाएँ मिलती हैं । वराह-पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष मात्र में असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी इसी से इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा । देवीभागवत में लिखा है कि ऋषि लोग जब कलिकाल के भय से बहुत घबराए तब ब्रह्मा ने उन्हें एक मनोमय चक्र देकर कहा कि तुम लोग इस चक्र के पीछे पीछे चलो, जहाँ इसकी नेमि (घेरा, चक्कर) विशीर्ण हो जाय उसे अत्यंत पवित्र स्थान समझना । वहाँ रहने से तुम्हें कलि का कोई भय नहीं रहेगा । कहते हैं कि सौति मुनि ने इस स्थान पर ऋषियों को एकत्र करके महाभारत की कथा कही थी । विष्णुपुराण में लिखा है इस क्षेत्र में गोमती में स्नान करने से सब पापों का क्षय हो जाता है ।

नैमिषि–संज्ञा पुं० [सं०] नैमिषारण्यवासी ।

नैमिषीय–वि० [सं०] निमिष संबंधी ।

नैमिषेय–वि० [सं०] (१) नैमिष संबंधी । (२) नैमिषारण्य का ।

नैमेय--संज्ञा पुं० [सं०] (१) विनिमय । वस्तुओं का बदला । (२) वाणिज्य ।

नैयत्य--संज्ञा पुं० [सं०] नियतत्त्व । नियम होने का भाव ।

नैया*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० नाव, नाय] नाव । किश्ती । उ०—नैया मेरी तनक सी बोझी पाथर भार ।—गिरिधर ।

नैयायिक–वि० [सं०] न्यायशास्त्र का जाननेवाला । न्यायवेत्ता ।

नैरंजना–संज्ञा स्त्री० [सं०] गया के पास बहनेवाली फल्गु नदी का प्राचीन नाम ।

विशेष—फल्गु की पच्छिम की ओर बहनेवाली शाखा को जो मोहानी नदी में जाकर मिल जाती है अब भी लीलांजन कहते हैं ।

नैरंतर्य्य–संज्ञा पुं०[सं०] निरंतरत्व । निरंतर का भाव । अविच्छेद ।

नैर*–संज्ञा पुं० [सं० नगर] शहर । देश । जनपद । उ०—मेरे कहे मेर करु, सिवाजी सों बैर, करि गैर करि नैर निज नाहक उजारे तैं ।—भूषण ।

नैरयिक-वि० [सं०] नरक में रहनेवाला ।

नैरर्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] निरर्थकता ।

नैराश्य-संज्ञा पुं० [सं०] निराशा का भाव । नाउम्मेदी ।

नैरास्य-संज्ञा पुं० [सं०] बाण छोड़ने का एक मंत्र ।

नैरुक्त-वि० [सं०] निरुक्त संबंधी ।

संज्ञा पुं० (१) निरुक्त संबंधी ग्रंथ । (२) निरुक्त का जानने या अध्ययन करनेवाला ।

नैरुक्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निरुक्तवेत्ता ।

नैर्ऋत-वि० [सं०] निर्ऋति संबंधी ।

संज्ञा पुं० (१) निर्ऋति का पुत्र । राक्षस । (२) पश्चिम-दक्षिण कोण का स्वामी ।

विशेष—ज्योतिष के मत से इस दिशा का स्वामी राहु है ।

(३) मूल नक्षत्र ।

नैर्ऋती-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण-पश्चिम के मध्य की दिशा । दक्खिन और पश्चिम के बीच का कोन ।

नैर्ऋतेय-संज्ञा पुं० [सं०] निर्ऋति का वंशज ।

नैर्ऋत्य-वि० [सं०] निर्ऋति देवता का (पशु आदि) ।

नैर्गुण्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्गुणता । अच्छी सिफत का न होना । (२) कला-कौशल आदि का अभाव । (३) सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का न होना । त्रिगुणशून्यता । (नैर्गुण्य होने से ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है) ।

नैर्मल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निर्मलता । (२) विषयों से वैराग्य ।

नैर्लज्ज-संज्ञा पुं० [सं०] निर्लज्जता ।

नैर्वाहिक-वि० [सं०] निर्वाहयोग्य । जो निर्वाह के लिये हो ।

नैवासी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निवास-साधु । (२) वृक्ष पर रहनेवाला देवता ।

नैविड्य-संज्ञा पुं० [सं०] निविड़ता । घनत्व ।

नैवेद्य-संज्ञा पुं० [सं०] देवता के निवेदन के लिये भोज्य द्रव्य । वह भोजन की सामग्री जो देवता को चढ़ाई जाय । देव-बलि । भोग ।

विशेष—घी, चीनी, श्वेतान्न, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य द्रव्य कहे गए हैं । नैवेद्य देवता के दक्षिण भाग में रखना चाहिए आगे या पीछे नहीं । कुछ ग्रंथों का मत है कि पक्व नैवेद्य देवता के बाएँ और कच्चा दहिने रखना चाहिए । देवता को भोग लगा हुआ प्रसाद खाने का बड़ा फल लिखा है । पर शिव को चढ़ा हुआ निर्माल्य खाने का निषेध है । चढ़ाए जाने के उपरांत नैवेद्य द्रव्य निर्माल्य कहलाता है ।

नैशिक-वि० [सं०] निशा-संबंधी । रात का ।

नैषदिक-वि० [सं०] (१) उपवेशनकारी । बैठनेवाला । (२) निषद-देश संबंधी । निषद का ।

नैषध-वि० [सं०] (१) निषध-देश संबंधी । निषध देश का । (२) नल जो निषध-देश के राजा थे । (३) श्रीहर्ष-रचित एक संस्कृत काव्य जिसमें राजा नल की कथा का वर्णन है ।

नैषध्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा नल का पुत्र या वंशज ।

नैष्किंचन्य-संज्ञा पुं० [सं०] निष्किंचनता । दरिद्रता ।

नैष्किक-वि० [सं०] (१) निष्क-संबंधी । (२) निष्क द्वारा मोल लिया हुआ ।

संज्ञा पुं० टकशाला का अध्यक्ष । टकसाल घर का अफसर ।

नैष्कृतिक-वि० [सं०] परवृत्ति-छेदन में तत्पर । दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन निकालनेवाला । स्वार्थी ।

नैष्ठिक-वि० [सं०] [स्त्री० नैष्ठिकी] (१) निष्ठावान् । निष्ठा-युक्त । (२) मरण-काल में कर्त्तव्य (कर्म) ।

संज्ञा पुं० ब्रह्मचारियों का एक भेद । वह ब्रह्मचारी जो उपनयन-काल से लेकर मरण-काल तक ब्रह्मचर्य्य-पूर्वक गुरु के आश्रम पर ही रहे ।

विशेष—याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी को यावज्जीवन गुरु के पास रहना चाहिए । गुरु यदि न हों तो उनके पुत्र के पास; और आचार्य-पुत्र भी न हो तो आचार्यपत्नी की सेवा में, आचार्यपत्नी के अभाव में अग्नि-होत्र की अग्नि के पास उसे जीवन बिताना चाहिए । इस प्रकार का जितेंद्रिय ब्रह्मचारी अंत में मुक्ति पाता है ।

नैष्ठुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] निठुराई । क्रूरता ।

नैसर्गिक-वि० [सं०] स्वाभाविक । प्राकृतिक । स्वभावसिद्ध । कुदरती ।

नैसर्गिकी-वि० स्त्री० [सं०] प्राकृतिक ।

नैसर्गिकी दशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष में एक दशा ।

नैसा*-वि० [सं० अनिष्ट] अनैसा । बुरा । खराब । उ०—(क) सूरदास प्रभु के गुण ऐसे । भक्तन भल, दुष्टन को नैसे ।—सूर । (ख) कहु राधा हरि कैसे हैं । तेरे मन भाये की नाहीं, की सुंदर की नैसे हैं ?—सूर ।

नैहर-संज्ञा पुं० [सं० ज्ञाति, प्रा० णाति, णाइ = पिता + हिं० घर] स्त्री के पिता का घर । माँ-बाप का घर । मायका । पीहर ।

नोआ†-संज्ञा पुं० [हिं० नोवना] [स्त्री० अल्प० नोई] दूध दुहते समय गाय के पैर बाँधने की रस्सी । बंधी ।

नोइनी†-संज्ञा स्त्री० दे० "नोई" ।

नोई†-संज्ञा स्त्री० [हिं० नोवना] दूध दुहते समय गाय के पैर बाँधने की रस्सी । बंधी ।

नोक-संज्ञा स्त्री० [फा०] [वि० नुकीला] (१) उस ओर का सिरा जिस ओर कोई वस्तु बराबर पतली पड़ती गई हो । सूक्ष्म अग्रभाग । शंकु के आकार की वस्तु का महीन वा पतला छोर । अनी । जैसे, सूई की नोक, काँटे की नोक, भाले की नोक, खूँटे की नोक, जूते की नोक ।

यौ०—नोक झोंक ।

मुहा०—नोक की लेना = बढ़ बढ़कर बातें करना। ड़ींग हाँकना। तपाक की बातें कहना। गर्व दिखाना। **नोक दुम भागना** = जी छोड़कर भागना। बेतहाशा भागना। **नोक रह जाना** = आन की बात रह जाना। टेक या प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाना। बात रह जाना। मर्यादा रह जाना। प्रतिष्ठा बनी रह जाना। **नोक बनाना** = बनाव सिंगार करना। रूप सँवारना।

(२) किसी वस्तु के निकले हुए भाग का पतला सिरा। किसी ओर को बढ़ा हुआ पतला अग्रभाग। जैसे, जमीन की एक नोक पानी के भीतर तक गई है। (३) कोण बनानेवाली दो रेखाओं का संगमस्थान या बिंदु। निकला हुआ कोना। जैसे, दीवार की नोक।

नोक झोंक–संज्ञा स्त्री० [फा० नोक + हिं० झोंक] (१) बनाव सिंगार। ठाटबाट। सजावट। जैसे, कल तो वे बड़ी नोक झोंक से थिएटर देखने निकले थे। (२) तपाक। तेज। आतंक। दर्प। जैसे, कल तो वे बड़ी नोक झोंक से बातें करते थे। उ०—शरद घटान की छटान सी सुगंगधार धार्यो है जटान काम कीन्हों नोक झोंक के।—रघुराज। (३) चुभनेवाली बात। व्यंग्य। ताना। आवाजा। जैसे, उनकी नोक झोंक अब नहीं सुनी जाती। (४) छेड़छाड़। परस्पर की चोट। जैसे, आजकल उन दोनों में खूब नोक झोंक चल रही है।

क्रि० प्र०—चलना।

नोकना–क्रि० स० [?] ललचना ? उ०—चितै रही राधा हरि को मुख। उत ही श्याम एकटक प्यारी छबि अँग अँग अवलोकत। रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत। सखिन कह्यो वृषभानु-सुता सों देखे कुँवर कन्हाई। सूर श्याम एई हैं व्रज में जिनकी होति बड़ाई।—सूर।

नोकदार–वि० [फा०] (१) जिसमें नोक हो। (२) चुभनेवाला। पैना। (३) चित्त में चुभनेवाला। दिल में असर करनेवाला। (४) शानदार। तड़क भड़क का। ठसक का।

नोकपलक–संज्ञा स्त्री० [हिं० नोक + पलक] आँख नाक आदि की गढ़न। चेहरे की बनावट।

मुहा०—नोकपलक से ठीक = चारों ओर से सुडौल। नख से सिख तक सुंदर।

नोकपान–संज्ञा पुं० [फा० नोक + हिं० पान] जूते की नोक और एड़ी पर लगा हुआ कीमुख्ती चमड़ा जो पान के आकार का होता है। जूते की काट छाँट, सुंदरता और मजबूती। (जूतेवाले)। जैसे, जरा इस जूते का नोकपान देखिए।

नोका झोंकी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नोकझोंक] (१) छेड़छाड़। परस्पर व्यंग्य आदि द्वारा आक्रमण। ताना। आवाजा। (२) परस्पर की चोट। विवाद। झगड़ा।

क्रि० प्र०—चलना।

नोकीला‡–वि० दे० "नुकीला"।

नोखा†–वि० [हिं० अनोखा] [स्त्री० अनोखी] अद्भुत। विचित्र। विलक्षण। अनूठा। अपूर्व।

नोच–संज्ञा स्त्री० [हिं० नोचना] (१) नोचने की क्रिया या भाव। (२) छीनने या लेने की क्रिया। कई ओर से कई आदमियों का झपाटे के साथ छीनना या लेना। लूट।

यौ०—नोच खसोट। नोचा खसोटी। नोचानोची।

(३) कई ओर से कई आदमियों का माँगना। चारों ओर की माँग। बहुत से लोगों का तकाजा। जैसे, चारों ओर से नोच है किसका किसका रुपया दें।

क्रि० प्र०—मचना।—होना।

नोच खसोट–संज्ञा स्त्री० [हिं० नोचना खसोटना] झपाटे के साथ लेना या छीनना। जबरदस्ती खींच खाँच करके लेना। छीनाझपटी। लूट।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—होना।

नोचना–क्रि० स० [सं० लुंचन] १) किसी जमी या लगी हुई वस्तु को झटके से खींचकर अलग करना। उखाड़ना। जैसे बाल नोचना, डाढ़ी नोचना, पत्ती नोचना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(२) किसी वस्तु में दाँत, नख या पंजा धँसाकर उसका कुछ अंश खींच लेना। नख आदि से विदीर्ण करना। जैसे, चीता शिकारी का मांस नोचता हुआ निकल गया।

संयो० क्रि०—लेना।

यौ०—नोचना खसोटना = खींच खाँचकर लेना। झपाटे से छीनना। लटना।

(३) शरीर पर इस प्रकार हाथ या पंजा लगाना कि नाखून धँस जायँ। खरोंचना। खरोंच डालना।

संयो० क्रि०—लेना।

(४) बार बार तंग करके लेना। दुखी और हैरान करके लेना। पीछे पड़कर किसी की इच्छा के विरुद्ध उससे लेना। जैसे, तीर्थों में पंडे और कचहरियों में अमले नोच डालते हैं।

संयो० क्रि०—डालना।

(५) बार बार तंग करके माँगना। ऐसा तकाजा करना कि नाक में दम हो जाय। जैसे, उसे चारों ओर से महाजन नोच रहे हैं किसका किसका देगा ?

नोचानोची–संज्ञा स्त्री० दे० "नोच खसोट"।

नोचू–संज्ञा पुं० [हिं० नोचना] (१) नोचनेवाला। (२) छीनाझपटी करके लेनेवाला। नोचने खसोटनेवाला। (३) तंग करके लेनेवाला। घेरकर या पीछे पड़कर जहाँ तक मिल सके लेनेवाला। (४) बार बार माँगकर तंग करनेवाला। तकाजों के मारे नाकों दम करनेवाला।

नोट-संज्ञा पुं० [अं०] (१) टाँकने या लिखने का काम । ध्यान रहने के लिये लिख लेने का काम ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

(२) लिखा हुआ परचा । पत्र । चिट्ठी ।

यौ०—नोट-पेपर ।

(३) टिप्पणी । आशय या अर्थ प्रकट करनेवाला लेख । (४) सरकार की ओर से जारी किया हुआ वह कागज जिस पर कुछ रुपयों की संख्या रहती है और यह लिखा रहता है कि सरकार से उतना रुपया मिल जायगा । सरकारी हुंडी

विशेष—हिंदुस्तान में नोट दो प्रकार का होता है एक करेंसी, दूसरा प्रामिसरी । करेंसी नोट बराबर सिक्कों के स्थान पर चलता है और उसका रुपया जब चाहें तब मिल सकता है । प्रामिसरी नोट पर केवल सूद मिलता रहता है । सरकार माँगने पर उसका रुपया देने के लिये बाध्य नहीं है । प्रामिसरी नोट का भाव घटता बढ़ता है ।

नोट-पेपर-संज्ञा पुं० [अं०] चिट्ठी लिखने का कागज ।

नोट-बुक-संज्ञा स्त्री० [अं०] वह कापी या बही जिस पर कोई बात याद रखने के लिये लिखी जाय ।

नोटिस-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) विज्ञप्ति । सूचना । (२) विज्ञापन । इश्तिहार ।

विशेष—इस शब्द को कुछ लोग पुल्लिंग भी बोलते हैं ।

नोदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेरणा । चलाने या हाँकने का काम । (२) बैलों को हाँकने की छड़ी या कोड़ा । प्रतोद । पैना । औगी । उ०—मीनरथ सारथी के नोदन नवीने हैं ।—केशव । (३) खंडन ।

नोन†-संज्ञा पुं० [सं लवण, हिं० लोन] नमक ।

नोनचा-संज्ञा पुं० [हिं० नोन + फा० अचार] (१) नमकीन अचार । (२) नमक में डाली हुई आम की फाकों की खटाई ।

संज्ञा पुं० [हिं नोन + छार] वह भूमि जहाँ लोनी बहुत हो । लोनी जमीन ।

नोनछी-संज्ञा स्त्री० [हिं नोन + छार] लोनी मिट्टी ।

नोनहरा-संज्ञा पुं० [?] पैसा । (गंधर्वों की बोली)

नोना-संज्ञा पुं० [सं० लवण, हिं० नोन] [स्त्री० नोनी] (१) नमक का अंश जो पुरानी दीवारों तथा सीड़ की जमीन में लगा मिलता है । (२) लोनी मिट्टी । † (३) शरीफा । सीताफल । आत । (४) एक कीड़ा जो नाव या जहाज के पेंदे में लगकर उसे कमजोर कर देता है । उधई कीड़ा ।

† वि० [स्त्री० नोनी] (१) नमक मिला । खारा । जैसे, नोना पानी, नोनी मिट्टी । (२) लावण्यमय । सलोना । सुंदर । (३) अच्छा । बढ़िया ।

क्रि० स० दे० "नोवना" ।

नोना चमारी-संज्ञा स्त्री० एक प्रसिद्ध जादूगरनी जिसकी दोहाई अब तक मंत्रों में दी जाती है । ऐसा माना जाता है कि यह कामरूप देश की थी ।

नोनिया-संज्ञा पुं० [हिं० नोना] लोनी मिट्टी से नमक निकालनेवाली एक जाति ।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० नोन] एक भाजी । लोनिया । अमलोनी ।

नोनी†-संज्ञा स्त्री० [सं० लवण] (१) लोनी मिट्टी । (२) लोनिया । अमलोनी का पौधा ।

वि० स्त्री० [हिं० नोना] (१) सुंदर । रूपवती । (२) अच्छी । बढ़िया ।

नोनो†*-वि० [हिं० लोन, लोना] [स्त्री० नोनी] (१) सलोना । सुंदर । (२) अच्छा । भला । बढ़िया ।

नोर*-वि० [सं० नवल] नवीन । नया । उ०—सित सरोज फूले उतै इत इंदीवर नोर । शशिमंडल वहि ओर जनु विषमंडल यहि ओर ।—गुमान ।

नोल*-वि० दे० "नवल" ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] चिड़िया की चोंच ।

नोवना†-क्रि० स० [सं० नद्ध, हिं० नधना, नहना] दुहते समय रस्सी से गाय का पैर बाँधना । उ०—बछरा छोरि खरिक को दीनो आप कान्ह तन सुध बिसराई । नोवत वृषभ निकसि गैया गइँ हँसत सखा कहा दुहत कन्हाई !—सूर ।

नोहर†-वि० [सं० नोपलभ्य, प्रा० नोछह, या मनोहर] (१) अलभ्य । दुर्लभ । जल्दी न मिलनेवाला । (२) अनोखा । अद्भुत । उ०—अति सुकुमार सरीर मनोहर नोहर नैन बिसाला ।—रघुराज ।

नौंधरई, नौंधराई, नौंधरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "नामधराई" ।

नौ-वि० [सं० नव] जो गिनती में आठ और एक हो । एक कम दस ।

मुहा०—नौ दो ग्यारह होना = देखते देखते भाग जाना । चलता होना । चल देना । भाग जाना । **नौ तेरह बाइस बताना** = हीला हवाली करना । टाल मटूल करना । इधर उधर की बातें करके टाल देना । जैसे, जब मैं रुपया माँगने जाता हूँ तब वे नौ तेरह बाइस बताते हैं ।

नौकड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० नौ + कौड़ी] एक प्रकार का जूआ जो तीन आदमी तीन तीन कौड़ियाँ लेकर खेलते हैं ।

नौकर-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० नौकरानी] (१) सेवा करने के लिये वेतन आदि पर नियुक्त मनुष्य । टहल या काम-धंधा करने के लिये तनखाह पर रखा हुआ आदमी । भृत्य । चाकर । टहलुवा । खिदमतगार ।

क्रि० प्र०—रखना ।—लगाना ।

यौ०—नौकर-चाकर ।

(२) कोई काम करने के लिये वेतन आदि पर नियुक्त किया

हुआ मनुष्य। वैतनिक कर्मचारी। जैसे, तहसीलदार एक सरकारी नौकर है।

मुहा०—(किसी को) **नौकर रखना** = कार्य्य पर वेतन देकर नियुक्त करना। काम पर लगाना।

नौकरानी–संज्ञा स्त्री० [फा० नौकर + आनी (प्रत्य०)] दासी। घर का काम-धंधा करनेवाली स्त्री।

नौकरी–संज्ञा स्त्री० [फा० नौकर + ई (प्रत्य०)] (१) नौकर का काम। सेवा। टहल। खिदमत।

क्रि० प्र०—करना।

मुहा०—**नौकरी देना** या **बजाना** = नौकरी के काम में लगना। सेवा में तत्पर होना। **नौकरी से लगना** = नौकर होना। काम पाना। नौकरी पाना।

(२) कोई काम जिसके लिये तनखाह मिलती हो। जैसे, सरकारी नौकरी।

नौकरीपेशा–संज्ञा पुं० [फा०] वह जिसका काम नौकरी करना हो। वह जिसकी जीविका नौकरी से चलती हो।

नौकर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की अनुचरी एक मातृका।

नौका–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाव। जहाज।

नौग्रही–संज्ञा स्त्री० [सं० नवग्रह] हाथ में पहनने का एक गहना जिसमें नौ कँगूरेदार दाने पाट में गुँधे रहते हैं।

नौचो–संज्ञा स्त्री० [फा० नौशी = नववधू] वेश्या की पाली हुई लड़की जिसे वह अपना व्यवसाय सिखाती हो।

नौछावर†–संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर"।

नौज–अव्य० [सं० नवद्य, प्रा० नवज्ज] (१) ऐसा न हो। ईश्वर न करे। (अनिच्छा-सूचक)। उ०—नगर कोट घर बाहर सूना। नौज होय घर पुरुष बिहूना।—जायसी। (२) न हो। न सही। (बेपरवाही) (स्त्रि०)।

नौजवान–वि० [फा०] नवयुवक। उठती जवानी का।

नौजवाना–संज्ञा स्त्री० [फा०] उठती युवावस्था।

नौजा–संज्ञा पुं० [फा० लौज़] (१) बादाम। (२) चिलगोज़ा। उ०—नौजा नरियर नेतरबाला। नीम निसोत निर्विसी आला।—सूदन।

नौजी–संज्ञा स्त्री० [?] लीची।

नौतन*–वि० दे० "नूतन"।

नौतम*–वि० [सं० नवतम] (१) अत्यंत नवीन। बिल्कुल नया। (२) ताजा।

संज्ञा पुं० [सं० नम्रता] नम्रता। विनय।

नौता–संज्ञा पुं० दे० "न्यौता"।

नौतेरही–संज्ञा स्त्री० [हिं० नौ + तेरह] (१) ककई ईंट। छोटी ईंट। नौ जौं चौड़ी और तेरह जौं लंबी ईंट जो पुरानी चाल के मकानों में लगती थी। (२) एक प्रकार का जूआ जो पासों से खेला जाता है।

नौतोड़–वि० [हिं० नव + तोड़ना] नया तोड़ा हुआ। जो पहले पहल जोता गया हो। जैसे, नौतोड़ खेत या जमीन।

संज्ञा स्त्री० वह भूमि जो पहली बार जोती गई हो।

नौदसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० नौ + दस] एक रीति जिसके अनुसार किसान अपने जमींदार से रुपया उधार लेते हैं और साल भर में ९) रु० के १०) देते हैं।

नौध–संज्ञा पुं० [सं० नव = नया + पौधा] नया पौधा। अँखुवा।

नौधा–संज्ञा पुं० [सं० नव हिं० + पौधा] (१) नील की वह फसल जो वर्षारंभ ही में बोई गई हो। (२) नए फलदार पौधों का बगीचा। नया लगा हुआ बगीचा।

* वि० दे० "नवधा"।

नौनगा–संज्ञा पुं० [हिं० नौ + नग] बाहु पर पहनने का एक गहना जिसमें नौ नग जड़े होते हैं। इसमें नौ दाने होते हैं और प्रत्येक दाने में भिन्न भिन्न रंग के नग जड़े जाते हैं। इसे "नौरतन" भी कहते हैं।

नौना–क्रि० अ० [सं० नमक] (१) नवना। झुकना। (२) झुककर टेढ़ा होना।

नौसार–संज्ञा स्त्री० [हिं० नोन + सार। सं० लवणशाला] वह स्थान जहाँ नोनिया लोग लोनी मिट्टी से नमक बनाते हैं।

नौबढ़–वि० [सं० नव + हिं० बढ़ना] हाल में बढ़ा हुआ। उच्च। जिसे क्षुद्र वा हीन दशा से अच्छी दशा में आए थोड़े ही दिन हुए हों। उ०—लखौ लखन कौतुक धरि धीरा। काह करत बढ़ि नौबढ़ बीरा।—रघुराज।

नौबढ़िया, † **नौबढ़वा**–वि० दे० "नौबढ़"।

नौबत–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बारी। पारी। जैसे, नौबत का बुखार। (२) गति। दशा। हालत। जैसे, घर चलो देखो तुम्हारी क्या नौबत होती है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—**नौबत को पहुँचना** = दशा को प्राप्त होना। हालत में होना।

(३) स्थिति में कोई परिवर्त्तन करनेवाली बातों का घटना। उपस्थित दशा। संयोग। जैसे, ऐसा काम न करो जिससे भागने की नौबत आवे।

क्रि० प्र०—आना।—पहुँचना।

(४) वैभव, उत्सव या मंगलसूचक वाद्य जो पहर पहर भर देवमंदिरों, राजप्रासादों या बड़े आदमियों के द्वार पर बजता है। समय समय पर बजनेवाला बाजा।

विशेष—नौबत में प्रायः शहनाई और नगाड़े बजाते हैं।

क्रि० प्र०—बजना।—बजाना।

यौ०—नौबतखाना।

मुहा०—**नौबत झड़ना** = नौबत बजना। **नौबत बजना** = (१) आनंद उत्सव होना। (२) प्रताप या ऐश्वर्य की घोषणा होना।

नौबत बजाना =(१) आनंद उत्सव करना। खुशी मनाना। (२) प्रताप या ऐश्वर्य की घोषणा करना। दवदवा दिखाना। आंतक प्रकट करना। **नौबत बजाकर** = डंके की चोट। खुले आम। **नौबत की टकोर** =(१) डंके की चोट। (२) डंके या नगाड़े की आवाज।

नौबतखाना-संज्ञा पुं० [फा०] फाटक के ऊपर बना हुआ वह स्थान जहाँ बैठकर नौबत बजाई जाती है। नक्कारखाना।

नौबती-संज्ञा पुं० [फा० नौबत + ई० (प्रत्य०)] (१) नौबत बजानेवाला। नक्कारची। (२) फाटक पर पहरा देनेवाला। पहरेदार। (३) कोतल घोड़ा। बिना सवार का सजा हुआ घोड़ा। (४) बड़ा खेमा या तंबू।

नौबतीदार-संज्ञा पुं० [फा० नौबतदार] (१) खेमे पर पहरा देनेवाला। संतरी। (२) दरबान। द्वारपाल।

नौबरार-संज्ञा पुं० [फा०] वह भूमि जो किसी नदी के हट जाने से निकल आती है।

नौमासा-संज्ञा पुं० [सं० नवमास] (१) गर्भ का नवाँ महीना। (२) वह रीति रस्म जो गर्भ नौ महीने का हो जाने पर की जाती है और जिसमें पंजीरी मिठाई आदि बाँटी जाती है।

नौमि*-क्रि० स० [सं० नमामि का अपभ्रंश] एक वाक्य जिसका अर्थ है मैं नमस्कार करता हूँ। उ०—नौमि निरंतर श्री रघुवीरं।—तुलसी।

नौमी-संज्ञा स्त्री० [सं० नवमी] पक्ष की नवीं तिथि।

नौरंग-संज्ञा पुं० [सं० नव + रंग] एक प्रकार की चिड़िया।

‡*संज्ञा पुं० औरंग (औरंगज़ेब) का रूपांतर।

नौरंगी‡-संज्ञा स्त्री० दे० "नारंगी"।

नौरतन-संज्ञा पुं० दे० "नवरत्न"।

संज्ञा पुं० [सं० नवरत्न] नौनगा नाम का गहना।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की चटनी जिसमें ये नौ चीजें पड़ती हैं—खटाई, गुड़, मिर्च, शीतलचीनी, केसर, इलायची, जावित्री, सौंफ और जीरा।

नौरस-वि० [सं० नव = नया + रस] (१) (फल) जिसका रस नया अर्थात् ताजा हो। नया पका हुआ (फल)। ताजा (फल)। (२) नवयुवक।

नौरातर‡-संज्ञा पुं० दे० "नवरात्र"।

नौरूप-संज्ञा पुं० [हिं० नव + रोपना] नील की फसल की पहली कटाई। दे० "नील"।

नौरोज-संज्ञा पुं० [फा०] (१) पारसियों में नए वर्ष का पहला दिन। इस दिन बहुत आनंद उत्सव मनाया जाता था। (२) त्योहार का दिन। (३) खुशी का दिन। कोई शुभ दिन।

नौल-वि० दे० "नवल"।

संज्ञा पुं० [देश०] जहाज पर माल लादने का भाड़ा।

नौलक्खा-वि० दे० "नौलखा"।

नौलखा-वि० [हिं० नौ + लाख] नौ लाख का। जिसका मूल्य नौ लाख हो। जड़ाऊ और बहुमूल्य। जैसे, नौलखा हार।

नौलखी-संज्ञा स्त्री० [?] ताने को दबाने के लिये एक लकड़ी जिसमें इधर उधर वजनी पत्थर बँधे रहते हैं। (जुलाहे)

नौला-संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

नौलासी-वि० [?] नर्म। मुलायम। कोमल।

नौवाब-संज्ञा पुं० दे० "नवाब"।

नौवाबी-संज्ञा स्त्री० दे० "नवाबी"।

नौशा-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० नौशी] दूल्हा। वर।

नौशी-संज्ञा स्त्री० [फा०] नवबधू। दुलहिन।

नौशेरवाँ-संज्ञा पुं० [फा०] फारस का एक परम प्रसिद्ध न्यायी और प्रतापी बादशाह जो सन् ५३१ ई० में अपने पिता कुबाद के मरने पर सिंहासन पर बैठा। रोमन लोगों को इसने युद्ध में कई बार परास्त किया। मुसलमान लेखकों ने तो लिखा है कि इसने रोम के बादशाह को कैद किया था। रोम का सम्राट् उस समय जस्टिनियन था। नौशेरवाँ की अंटियोकस पर विजय, शाम देश तथा भूमध्यसागर के अनेक स्थानों पर अधिकार तथा साइबेरिया यूक्साइन आदि प्रदेशों पर आक्रमण रोम के इतिहास में भी प्रसिद्ध है। रोम का बादशाह जस्टिनियन पारस्य साम्राज्य के अधीन होकर प्रतिवर्ष तीस हजार अशरफियाँ कर देता था। ८० वर्ष की वृद्धावस्था में नौशेरवाँ ने रोम राज्य के विरुद्ध चढ़ाई की थी और दारा तथा शाम आदि देशों को अधिकृत किया था। ४८ वर्ष राज्य करके यह परम प्रतापी और न्यायी बादशाह परलोक सिधारा।

फारसी किताबों में नौशेरवाँ के न्याय की बहुत सी कथाएँ हैं। ध्यान रखना चाहिए कि इसी बादशाह के समय में मुसलमानों के पैगंबर मुहम्मद साहब का जन्म हुआ जिनके मत के प्रभाव से आगे चलकर पारस की आर्य्य सभ्यता का लोप हुआ।

नौसत-संज्ञा [हिं० नौ+सात] सोलहो शृंगार। सिंगार। उ०—(क) नवसत साजि चली सब बारी।—जायसी। (ख) नौसत साजे चली गोपिका गिरवर पूजा हेत—सूर।

नौसरा-संज्ञा पुं० [हिं० नौ + सर] नौ लड़ी की माला। नौलरा हार वा गजरा।

नौसादर-संज्ञा पुं० [सं० नर + सादर। फा० नौशादर] एक तीक्ष्ण झालदार क्षार या नमक जो दो वायव्य द्रव्यों के योग से बनता है।

विशेष—यह क्षार वायव्य रूप में हवा में अल्प मात्रा में

मिला रहता है और जंतुओं के शरीर के सड़ने गलने से इकट्ठा होता है। सींग, खुर, हड्डी, बाल आदि का भबके में अर्क खींचकर यह अकसर निकाला जाता है। गैस के कारखानों में पत्थर के कोयले को भबके पर चढ़ाने से जो एक प्रकार का पानी सा पदार्थ छुटता है आज कल बहुत सा नौसादर उसी से निकाला जाता है। पहले लोग ईंट के पजावों से भी जिनमें मिट्टी के साथ कुछ जंतुओं के अंग भी मिलकर जलते थे, यह क्षार निकालते थे। नौसादर औषध तथा कला कौशल के व्यवहार में आता है।

वैद्यक में नौसादर दो प्रकार का कहा गया है। एक कृत्रिम जो और क्षारों से बनाया जाता है, दूसरा अकृत्रिम जो जंतुओं से मूत्र पुरीष आदि के क्षार से निकाला जाता है। आयुर्वेद के अनुसार नौसादर शोथनाशक, शीतल तथा यकृत्त, प्लीहा, ज्वर, अर्बुद, सिरदर्द, खाँसी इत्यादि में उपकारी है।

पर्य्या०—नरसार। सादर। वज्रक्षार। विदारण। अमृतक्षार। चूलिका लवण। क्षारश्रेष्ठ।

नौसिख–वि० दे० "नौसिखिया"।

नौसिखिया–वि० [सं० नवशिक्षित, प्रा० नवसिक्खिअ] जिसने नया नया सीखा हो। जिसने कोई काम हाल में सीखा हो। जो सीखकर पक्का न हुआ हो। जो दक्ष या कुशल न हुआ हो।

नौसिखुवा†–वि० दे० "नौसिखिया"।

नौहड़–संज्ञा पुं० [सं० नव=नया+भाँड़, हिं० हाँड़ी] मिट्टी की नई हाँड़ी। कोरी हँड़िया।

नौहँड़ा–संज्ञा पुं० [सं० नव+भाँड] पितृपक्ष। कनागत (जिसमें मिट्टी के पुराने बरतन फेंक दिए जाते हैं और नए रखे जाते हैं)।

न्यंक–संज्ञा पुं० [सं०] रथ का एक अंग।

न्यंकु–वि० [सं०] नितांत गमनशील। बहुत दौड़नेवाला। संज्ञा पुं० मृगभेद। एक प्रकार का हिरन। बारहसिंगा।

न्यंकुभूरुह–संज्ञा पुं० [सं०] श्योनाक वृक्ष। सोनापाठा।

न्यंकुसारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसके पहले और दूसरे चरण में १२, १२ अक्षर और तीसरे और चौथे चरण में ८, ८ अक्षर होते हैं।

न्यंचित–वि० [सं०] अधःक्षिप्त। नीचे फेंका या डाला हुआ।

न्यंजलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीचे की ओर की हुई अंजली या हथेली।

न्यग्रोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वट वृक्ष। बरगद। (२) शमीवृक्ष। (३) बाहु। (४) लंबाई की एक नाप। उतनी लंबाई जितनी दोनों हाथों के फैलाने से होती है। व्याम परिमाण। पुरसा। (५) विष्णु। (६) मोहनौषधि। (७) महादेव। (८) उग्रसेन के एक पुत्र का नाम (हरिवंश)। (९) मूसाकानी। मूषिकपर्णी।

न्यग्रोधपरिमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी लंबाई चौड़ाई एक व्याम या पुरसा हो। ऐसे पुरुष त्रेता में राज्य करते थे। (मत्स्यपुराण)

न्यग्रोधपरिमंडला–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्रियों का एक भेद। वह स्त्री जिसके स्तन कठोर, नितंब विशाल और कटि क्षीण हो।

न्यग्रोधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] न्यग्रोधी।

न्यग्रोधादिगण–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में वृक्षों का एक गण या वर्ग जिसके अंतर्गत ये वृक्ष माने जाते हैं—बरगद, पीपल, गूलर, पाकर, महुआ, अर्जुन, आम, कुसुम, आमड़ा, जामुन, चिरौंजी, मांसरोहिणी, कदम, बेर, तेंदू, सलई, तेजपत्ता, लोध, सावर, भिलावाँ, पलाश, तुन, घुँघची या मुलेठी।

न्यग्रोधिक–वि० [सं०] (स्थान) जहाँ बहुत से वट वृक्ष हों।

न्यग्रोधिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी लता।

न्यग्रोधी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी।

न्यच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] एक चर्मरोग जिसमें शरीर पर काले चकत्ते पड़ जाते हैं।

न्यर्बुद–वि० [सं०] दश अर्बुद। दस अरब (संख्या)।

न्यर्बुदि–संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम। (अथर्व०)।

न्यस्त–वि० [सं०] (१) रखा हुआ। धरा हुआ। (२) स्थापित। बैठाया या जमाया हुआ। (३) चुनकर सजाया हुआ। (४) क्षिप्त। डाला हुआ। फेंका हुआ। (५) त्यक्त। छोड़ा हुआ। संज्ञा पुं० धरोहर रखा हुआ। अमानत रखा हुआ।

न्यस्तशस्त्र–वि० [सं०] जिसने हथियार रख दिए हों। संज्ञा पुं० पितृलोक।

न्यह्न–संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या का सायंकाल।

न्यांकव–संज्ञा पुं० [सं०] न्यंकु का मृगचर्म। बारहसिंघे का चमड़ा।

न्याइ†–संज्ञा पुं० दे० "न्याय"।

न्याउ†–संज्ञा पुं० दे० "न्याय"।

न्याति*–संज्ञा स्त्री० [सं० ज्ञाति, प्रा० णाति] जाति। उ०—मधुकर कहा कारे की न्याति? ज्यों जलमीन कमल मधुपन को छिन नहिं प्रीति खटाति।—सूर।

न्याद–संज्ञा पुं० [सं०] आहार।

न्याय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उचित बात। नियम के अनुकूल बात। हक बात। नीति। इंसाफ। जैसे, (क) न्याय तो यही है कि तुम उसका रुपया फेर दो। (ख) अपराध कोई करे और दंड कोई पावे यह कहाँ का न्याय है? (२) सदसद्विवेक। दो पक्षों के बीच निर्णय। प्रमाणपूर्वक निश्चय। विवाद या व्यवहार में उचित अनुचित का निबटेरा। किसी मामले मुकदमे में दोषी और निर्दोष, अधिकारी और अनधिकारी आदि का निर्धारण। जैसे, (क) राजा अच्छा न्याय करता है। (ख) इस अदालत में ठीक न्याय नहीं होता।

यौ०—न्याय-सभा। न्यायालय।

(३) वह शास्त्र जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण होता है। विवेचन-पद्धति। प्रमाण, दृष्टांत, तर्क आदि युक्त वाक्य।

विशेष—न्याय छ दर्शनों में है। इसके प्रवर्त्तक गौतम ऋषि मिथिला के निवासी कहे जाते हैं। गौतम के न्यायसूत्र अब तक प्रसिद्ध हैं। इन सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि का भाष्य है। इस भाष्य पर उद्योतकर ने वार्त्तिक लिखा है। वार्त्तिक की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने ''न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका'' के नाम से लिखी है। इस टीका की भी टीका उदयनाचार्य कृत ''तात्पर्य्यपरिशुद्धि'' है। इस परिशुद्धि पर वर्द्धमान उपाध्याय कृत ''प्रकाश'' है।

गौतम का न्याय केवल प्रमाण तर्क आदि के नियम निश्चित करनेवाला शास्त्र नहीं है बल्कि आत्मा, इंद्रिय, पुनर्जन्म, दुःख, अपवर्ग आदि विशिष्ट प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शन है। गौतम ने सोलह पदार्थों का विचार किया है और उनके सम्यक् ज्ञान द्वारा अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति कही है। सोलह पदार्थ या विषय ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। इन विषयों पर विचार किसी मध्यस्थ के सामने वादी प्रतिवादी के कथोपकथन के रूप में कराया गया है। किसी विषय में विवाद उपस्थित होने पर पहिले इसका निर्णय आवश्यक होता है कि दोनों वादियों के कौन कौन प्रमाण माने जायँगे। इससे पहले प्रमाण लिया गया है। इसके उपरांत विवाद का विषय अर्थात् प्रमेय का विचार हुआ है। विषय सूचित हो जाने पर मध्यस्थ के चित्त में संदेह उत्पन्न होगा कि उसका यथार्थ स्वरूप क्या है। उसी का विचार संदेह पदार्थ के नाम से हुआ है। संदेह के उपरांत मध्यस्थ के चित्त में यह विचार हो सकता है कि इस विषय के विचार से क्या मतलब। यही प्रयोजन हुआ। वादी संदिग्ध विषय पर अपना पक्ष दृष्टांत दिखाकर बतलाता है वही दृष्टांत पदार्थ है। जिस पक्ष को वादी पुष्ट करके बतलाता है वह उसका सिद्धांत हुआ। वादी का पक्ष सूचित होने पर पक्षसाधन की जो जो युक्तियाँ कही गई हैं प्रतिवादी उनके खंड खंड करके उनके खंडन में प्रवृत्त होता है। युक्तियों के ये ही खंड अवयव कहलाते हैं। अपनी युक्तियों को खंडित देख वादी फिर से और युक्तियाँ देता है जिनसे प्रतिवादी की युक्तियों का उत्तर हो जाता है। यही तर्क कहा गया है। तर्क द्वारा वादी जो अपना पक्ष स्थिर करता है वही निर्णय है। प्रतिवादी के इतने से संतुष्ट न होने पर दोनों पक्षों द्वारा पंचावयवयुक्त युक्तियों का कथन 'वाद' कहा गया है। वाद या शास्त्रार्थ द्वारा स्थिर सत्य पक्ष को न मानकर यदि प्रतिवादी जीत की इच्छा से अपनी चतुराई के बल से व्यर्थ उत्तर प्रत्युत्तर करता चला जाता है तो वह जल्प कहलाता है। इस प्रकार प्रतिवादी कुछ काल तक तो कुछ अच्छी युक्तियाँ देता जायगा फिर ऊटपटाँग बकने लगेगा जिसे वितंडा कहते हैं। इस वितंडा में जितने हेतु दिए जायँगे वे ठीक न होंगे, वे हेत्वाभास मात्र होंगे। उन हेतुओं और युक्तियों के अतिरिक्त जान बूझकर वादी को घबराने के लिये उसके वाक्यों का ऊटपटाँग अर्थ करके यदि वादी गड़बड़ डालना चाहता है तो यह उसका छल कहलाता है, और यदि व्याप्तिनिरपेक्ष साधर्म्य वैधर्म्य आदि के सहारे अपना पक्ष स्थापित करने लगता है तो वह जाति में आ जाता है। इस प्रकार होते होते जब शास्त्रार्थ में यह अवस्था आ जाती है कि अब प्रतिवादी को रोककर शास्त्रार्थ बंद किया जाय तब 'निग्रहस्थान' कहा जाता है। (विवरण प्रत्येक शब्द के अंतर्गत देखो)।

न्याय का मुख्य विषय है प्रमाण। 'प्रमा' नाम है यथार्थ ज्ञान का। यथार्थ ज्ञान का जो करण हो अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो उसे, प्रमाण कहते हैं। गौतम ने चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनमें से आत्मा, मन और इंद्रिय का संयोग रूप जो ज्ञान का करण वा प्रमाण है वही प्रत्यक्ष है। वस्तु के साथ इंद्रिय संयोग होने से जो उसका ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष को लेकर जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि लिंग लिंगी के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान (तथा ज्ञान के कारण) को अनुमान कहते हैं। जैसे, हमने बराबर देखा है कि जहाँ धूआँ रहता है वहाँ आग रहती है। इसी को नैयायिक व्याप्ति ज्ञान कहते हैं जो अनुमान की पहली सीढ़ी है। हमने कहीं धूआँ देखा जो आग का लिंग या चिह्न है और हमारे मन में यह ध्यान हुआ कि ''जिस धूएँ के साथ सदा हमने आग देखी है वह यहाँ है''। इसी को परामर्श ज्ञान या व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता कहते हैं। इसके अनंतर हमें यह ज्ञान या अनुमान उत्पन्न हुआ कि ''यहाँ आग है''। अपने समझने के लिये तो उपर्युक्त तीन खंड काफी हैं पर नैयायिकों का कार्य्य है दूसरे के मन में ज्ञान कराना, इससे वे अनुमान के पाँच खंड करते हैं जो 'अवयव' कहलाते हैं।

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश करनेवाला अर्थात् अनुमान से जो बात सिद्ध करना है उसका वर्णन करनेवाला वाक्य, जैसे, ''यहाँ पर आग है''।

(२) हेतु—जिस लक्षण या चिह्न से बात प्रमाणित की जाती है, जैसे, ''क्योंकि यहाँ धूआँ है''।

(३) उदाहरण—सिद्ध की जानेवाली वस्तु बतलाए हुए चिह्न के साथ जहाँ देखी गई है उसे बतानेवाला वाक्य। जैसे, जहाँ जहाँ धूआँ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है, जैसे "रसोई घर में"।

(४) उपनय—जो वाक्य बतलाए हुए चिह्न या लिंग का होना प्रकट करे, जैसे, "यहाँ पर धूआँ है"।

(५) निगमन—सिद्ध की जानेवाली बात सिद्ध हो गई यह कथन।

अतः अनुमान का पूरा रूप यों हुआ—
यहाँ पर आग है (प्रतिज्ञा)।
क्योंकि यहाँ धूआँ है (हेतु)।
जहाँ जहाँ धूआँ रहता है वहाँ वहाँ आग रहती है 'जैसे रसोई घर में' (उदाहरण)
यहाँ पर धूआँ है (उपनय)।
इसलिये यहाँ पर आग है (निगमन)।

साधारणतः इन पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को न्याय कहते हैं। नवीन नैयायिक इन पाँचों अवयवों का मानना आवश्यक नहीं समझते। वे प्रमाण के लिये प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत इन्हीं तीनों को काफी समझते हैं। मीमांसक और वेदांती भी इन्हीं तीनों को मानते हैं। बौद्ध नैयायिक दो ही मानते हैं, प्रतिज्ञा और हेतु।

दुष्ट हेतु को हेत्वाभास कहते हैं पर इसका वर्णन गौतम ने प्रमाण के अंतर्गत न करके इसे अलग पदार्थ (विषय) मानकर किया है। इसी प्रकार छल, जाति, निग्रहस्थान इत्यादि भी वास्तव में हेतुदोष ही कहे जा सकते हैं। केवल हेतु का अच्छी तरह विचार करने से अनुमान के सब दोष पकड़े जा सकते हैं और यह मालूम हो सकता है कि अनुमान ठीक है या नहीं।

गौतम का तीसरा प्रमाण 'उपमान' है। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य से न जानी हुई वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वही उपमान है। जैसे, नीलगाय गाय के सदृश होती है। किसी के मुँह से यह सुनकर जब हम जंगल में नीलगाय देखते हैं तब चट हमें ज्ञान हो जाता है कि "यह नीलगाय है"। इससे प्रतीत हुआ कि किसी वस्तु का उसके नाम के साथ संबंध ही उपमिति ज्ञान का विषय है। वैशेषिक और बौद्ध नैयायिक उपमान को अलग प्रमाण नहीं मानते, प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के ही अंतर्गत मानते हैं। वे कहते हैं कि "गो के सदृश गवय होता है" यह शब्द या आगम ज्ञान है क्योंकि यह आप्त या विश्वासपात्र मनुष्य के कहे हुए शब्द द्वारा हुआ। फिर इसके उपरांत यह ज्ञान कि "यह जंतु जो हम देखते हैं गो के सदृश है" यह प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। इसका उत्तर नैयायिक यह देते हैं कि यहाँ तक का ज्ञान तो शब्द और प्रत्यक्ष ही हुआ पर इसके अनंतर जो यह ज्ञान होता है कि "इसी जंतु का नाम गवय है" वह न प्रत्यक्ष है, न अनुमान, न शब्द, वह उपमान ही है। उपमान को कई नए दार्शनिकों ने इस प्रकार अनुमान के अंतर्गत किया है। वे कहते हैं कि 'इस जंतु का नाम गवय है', 'क्योंकि यह गो के सदृश है' 'जो जो जंतु गो के सदृश होते हैं उनका नाम गवय होता है'। पर इसका उत्तर यह है कि जो जो जंतु गो के सदृश होते हैं वे गवय हैं यह बात मन में नहीं आती, मन में केवल इतना ही आता है कि "मैंने अच्छे आदमी के मुँह से सुना है कि गवय गाय के सदृश होता है?"

चौथा प्रमाण है शब्द। सूत्र में लिखा है कि आप्तोपदेश अर्थात् आप्त पुरुष का वाक्य शब्द-प्रमाण है। भाष्यकार ने आप्त पुरुष का लक्षण यह बतलाया है कि जो साक्षात्कृतधर्मा हो, जैसा देखा सुना (अनुभव किया) हो ठीक ठीक वैसा ही कहनेवाला हो वही आप्त है, चाहे वह आर्य हो या म्लेच्छ। गौतम ने आप्तोपदेश के दो भेद किए हैं दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को बतानेवाला दृष्टार्थ और केवल अनुमान से जानी जानेवाली बातों (जैसे स्वर्ग, अपवर्ग, पुनर्जन्म इत्यादि) को बतानेवाला अदृष्टार्थ कहलाता है। इस पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि इस प्रकार लौकिक और ऋषिवाक्य (वैदिक) का विभाग हो जाता है अर्थात् अदृष्टार्थ में केवल वेदवाक्य ही प्रमाण-कोटि में माना जा सकता है। नैयायिकों के मत से वेद ईश्वरकृत है इससे उसके वाक्य सदा सत्य और विश्वसनीय हैं पर लौकिक वाक्य तभी सत्य माने जा सकते हैं जब कि उनका कहनेवाला प्रामाणिक माना जाय। सूत्रों में वेद के प्रामाण्य के विषय में कई शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया गया है। मीमांसक ईश्वर नहीं मानते पर वे भी वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। नित्य तो मीमांसक शब्द मात्र को मानते हैं और शब्द और अर्थ का नित्य संबंध बतलाते हैं। पर नैयायिक शब्द का अर्थ के साथ कोई नित्य-संबंध नहीं मानते।

वाक्य का अर्थ क्या है इस विषय में बहुत मतभेद है। मीमांसकों के मत से नियोग या प्रेरणा ही वाक्यार्थ है—अर्थात् 'ऐसा करो', 'ऐसा न करो' यही बात सब वाक्यों से कही जाती है चाहे साफ साफ चाहे ऐसे अर्थवाले दूसरे वाक्यों से संबंध द्वारा। पर नैयायिकों के मत से कई पदों के संबंध से निकलनेवाला अर्थ ही वाक्यार्थ है। परंतु वाक्य में जो पद होते हैं वाक्यार्थ के मूलकारण वे ही हैं। न्यायमंजरी में पदों में दो प्रकार की शक्ति मानी गई है—अभिधात्री शक्ति जिससे एक एक पद अपने अपने अर्थ का बोध

कराता है और दूसरी तात्पर्य शक्ति जिससे कई पदों के संबंध का अर्थ सूचित होता है। शक्ति के अतिरिक्त लक्षणा भी नैयायिकों ने मानी है। आलंकारिकों ने तीसरी वृत्ति व्यंजना भी मानी है पर नैयायिक उसे पृथक् वृत्ति नहीं मानते। सूत्र के अनुसार जिन कई अक्षरों के अंत में विभक्ति हो वे ही पद हैं और विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं— नाम-विभक्ति और आख्यात-विभक्ति। इस प्रकार नैयायिक नाम और आख्यात दो ही प्रकार के पद मानते हैं। अव्यय पद को भाष्यकार ने नाम के ही अंतर्गत सिद्ध किया है।

न्याय में ऊपर लिखे चार ही प्रमाण माने गए हैं। मीमांसक और वेदांती अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संभव और अभाव ये चार और प्रमाण कहते हैं। नैयायिक इन चारों को अपने चार प्रमाणों के अंतर्गत मानते हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि प्रमाण ही न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है। इसी से 'प्रमाण-प्रवीण' 'प्रमाण-कुशल' आदि शब्दों का व्यवहार नैयायिक या तार्किक के लिये होता है।

प्रमाण अर्थात् किसी बात को सिद्ध करने के विधान का ऊपर उल्लेख हो चुका। अब उक्त विधान के अनुसार किन किन वस्तुओं का विचार और निर्णय न्याय में हुआ है इसका संक्षेप में कुछ विवरण दिया जाता है।

ऐसे विषय न्याय में प्रमेय (जो प्रमाणित किया जाय) पदार्थ के अंतर्गत हैं और बारह गिनाए गए हैं—

(१) आत्मा—सब वस्तुओं का देखनेवाला, भोग करनेवाला, जाननेवाला और अनुभव करनेवाला। (२) शरीर—भोगों का आयतन या आधार। (३) इंद्रियाँ—भोगों के साधन। (४) अर्थ—वस्तु जिनका भोग होता है। (५) बुद्धि—भोग। (६) मन—अंतःकरण अर्थात् वह भीतरी इंद्रिय जिसके द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है। (७) प्रवृत्ति—वचन, मन और शरीर का व्यापार। (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है। (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म। (१०) फल—सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव। (११) दुःख—पीड़ा, क्लेश। (१२) अपवर्ग—दुःख से अत्यंत निवृत्ति या मुक्ति।

इस सूची से यह न समझना चाहिए कि इन वस्तुओं के अतिरिक्त और प्रमाण के विषय या प्रमेय हो ही नहीं सकते। प्रमाण के द्वारा बहुत सी बातें सिद्ध की जाती हैं। पर गौतम ने अपने सूत्रों में उन्हीं बातों पर विचार किया है जिनके ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो। न्याय में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन चिह्न या हेतु) कहे गए हैं, यद्यपि शरीर, इंद्रिय और मन से आत्मा पृथक् मानी गई है। वैशेषिक में भी इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि को आत्मा का लिंग कहा है। शरीर, इंद्रिय और मन से आत्मा के पृथक् होने के हेतु गौतम ने दिए हैं। वेदांतियों के समान नैयायिक एक ही आत्मा नहीं मानते, अनेक मानते हैं। सांख्यवाले भी अनेक पुरुष मानते हैं पर वे पुरुष को अकर्त्ता और अभोक्ता, साक्षी वा द्रष्टा मात्र मानते हैं। नैयायिक आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता आदि मानते हैं। संसार की रचनेवाली आत्मा ही ईश्वर है। न्याय में आत्मा के समान ही ईश्वर में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि, प्रयत्न ये गुण माने गए हैं पर नित्य करके। न्यायमंजरी में लिखा है कि दुःख, द्वेष और संस्कार को छोड़ और सब आत्मा के गुण ईश्वर में हैं। बहुत से लोग शरीर को पाँचों भूतों से बना मानते हैं पर न्याय में शरीर केवल पृथ्वी के परमाणुओं से घटित माना गया है। चेष्टा, इंद्रिय और अर्थ के आश्रय को शरीर कहते हैं। जिस पदार्थ से सुख हो उसके पाने और जिससे दुःख हो उसे दूर करने का व्यापार चेष्टा है। अतः शरीर का जो लक्षण किया गया है उसके अंतर्गत वृक्षों का शरीर भी आ जाता है। पर वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि यह लक्षण वृक्ष-शरीर में नहीं घटता, इससे केवल मनुष्य-शरीर का ही अभिप्राय समझना चाहिए। शंकर मिश्र ने वैशेषिक सूत्रोपस्कार में कहा है कि वृक्षों को शरीर है पर उसमें चेष्टा और इंद्रियाँ स्पष्ट नहीं दिखाई पड़तीं इससे उसे शरीर नहीं कह सकते। पूर्वजन्म के किए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है। पाँच भूतों से पाँचों इंद्रियों की उत्पत्ति कही गई है। घ्राणेंद्रिय से गंध का ग्रहण होता है इससे वह पृथ्वी से बनी है। रसना जल से बनी है क्योंकि रस जल का ही गुण है। चक्षु तेज से बना है क्योंकि रूप तेज का ही गुण है। त्वक् वायु से बना है क्योंकि स्पर्श वायु का गुण है। श्रोत्र आकाश से बना है क्योंकि शब्द आकाश का गुण है।

बौद्धों के मत से शरीर में इंद्रियों के जो प्रत्यक्ष गोलक देखे जाते हैं उन्हीं को इंद्रियाँ कहते हैं (जैसे, आँख की पुतली, जीभ इत्यादि) पर नैयायिकों के मत से जो अंग दिखाई पड़ते हैं वे इंद्रियों के अधिष्ठान मात्र हैं, इंद्रियाँ नहीं हैं। इंद्रियों का ज्ञान इंद्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। कुछ लोग एक ही त्वग् इंद्रिय मानते हैं। न्याय में उनके मत का खंडन करके इंद्रियों का नानात्व स्थापित किया गया है। सांख्य में पाँच कर्मेंद्रियाँ और मन लेकर ग्यारह इंद्रियाँ मानी गई हैं। न्याय में कर्मेंद्रियाँ नहीं मानी गई हैं पर मन एक करण और अणु-रूप माना गया है। यदि मन सूक्ष्म न होकर व्यापक होता तो युगपद् ज्ञान संभव होता, अर्थात् अनेक इंद्रियों का एक क्षण में एक साथ संयोग होने से उन सब के विषयों का एक साथ ज्ञान होता।

पर नैयायिक ऐसा नहीं मानते। गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँचों भूतों के गुण और इंद्रियों के अर्थ वा विषय हैं। न्याय में बुद्धि को ज्ञान या उपलब्धि का ही दूसरा नाम कहा है। सांख्य में बुद्धि नित्य कही गई है पर न्याय में अनित्य।

वैशेषिक के समान न्याय भी परमाणुवादी है अर्थात् परमाणुओं के योग से सृष्टि मानता है। प्रमेयों के संबंध में न्याय और वैशेषिक के मत प्रायः एक ही हैं इससे दर्शन में दोनों के मत न्याय-मत कहे जाते हैं। वात्स्यायन ने भी भाष्य में कह दिया है कि जिन बातों को विस्तार-भय से गौतम ने सूत्रों में नहीं कहा है उन्हें वैशेषिक से ग्रहण करना चाहिए।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे प्रकट हो गया होगा कि गौतम का न्याय केवल विचार वा तर्क के नियम निर्धारित करनेवाला शास्त्र नहीं है बल्कि प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शन है। पाश्चात्य लाजिक (तर्कशास्त्र) से यही इसमें भेद है। लाजिक दर्शन के अंतर्गत नहीं लिया जाता पर न्याय दर्शन है। यह अवश्य है कि न्याय में प्रमाण वा तर्क की परीक्षा विशेष रूप से हुई है।

न्यायशास्त्र का भारतवर्ष में कब प्रादुर्भाव हुआ ठीक नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनके अनुसार गौतम वेदव्यास के समकालीन ठहरते हैं; पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। 'आन्वीक्षिकी,' 'तर्कविद्या' 'हेतुवाद' का निंदापूर्वक उल्लेख रामायण और महाभारत में मिलता है। रामायण में तो नैयायिक शब्द भी अयोध्याकांड में आया है। पाणिनि ने न्याय से नैयायिक शब्द बनने का निर्देश किया है। न्याय के प्रादुर्भाव के संबंध में साधारणतः दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर उसके खंडन के लिये ही इस शास्त्र का अभ्युदय हुआ। पर कुछ एतद्देशीय विद्वानों का मत है कि वैदिक वाक्यों के परस्पर समन्वय और समाधान के लिये जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में जिन युक्तियों और तर्कों का व्यवहार किया वे ही पहले न्याय के नाम से कहे जाते थे। आपस्तंब धर्मसूत्र में जो 'न्याय' शब्द आया है उसका पूर्वमीमांसा से ही अभिप्राय समझना चाहिए। माधवाचार्य ने पूर्वमीमांसा का जो सार-संग्रह लिखा उसका नाम न्यायमालाविस्तार रखा। वाचस्पति मिश्र ने भी 'न्यायकणिका' के नाम से मीमांसा पर एक ग्रंथ लिखा है। पर न्याय के प्राचीनत्व से वंग देश का गौरव समझनेवाले कुछ बंगाली पंडितों का कथन है कि न्याय ही सब दर्शनों में प्राचीन है क्योंकि और सब दर्शनसूत्रों में दूसरे दर्शनों का उल्लेख मिलता है पर न्यायसूत्रों में कहीं किसी दूसरे दर्शन का नाम नहीं आया है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि न्याय सब दर्शनों में प्राचीन है, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि तर्क के नियम बौद्ध धर्म के प्रचार से बहुत पूर्व प्रचलित थे, चाहे वे मीमांसा के रहे हों या स्वतंत्र। हेमचंद्र ने न्यायसूत्रों पर भाष्य रचनेवाले वात्स्यायन और चाणक्य को एक ही व्यक्ति माना है। यदि यह ठीक हो तो भाष्य ही बौद्धधर्म-प्रचार के पूर्व का ठहरता है क्योंकि बौद्धधर्म का प्रचार अशोक के समय से और बौद्ध न्याय का आविर्भाव अशोक के भी पीछे महायान-शाखा स्थापित होने पर हुआ। पर वात्स्यायन और चाणक्य का एक होना हेमचंद्र के श्लोक (जिसमें चाणक्य के आठ नाम गिनाए गए हैं) के आधार पर ही ठीक नहीं माना जा सकता। कुछ विद्वानों का कथन है कि वात्स्यायन ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए। ईसा की छठी शताब्दी में वासवदत्ताकार सुबंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है। इनमें धर्मकीर्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक थे। उद्योतकराचार्य ने प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नागाचार्य के 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रंथ का खंडन करके वात्स्यायन का मत स्थापित किया। 'प्रमाणसमुच्चय' में दिङ्नाग ने वात्स्यायन के मत का खंडन किया था। इससे यह निश्चित है कि वात्स्यायन दिङ्नाग के पूर्व हुए। मल्लिनाथ ने दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन बतलाया है पर कुछ लोग इसे ठीक नहीं मानते और दिङ्नाग का काल ईसा की तीसरी शताब्दी कहते हैं। सुबंधु के उल्लेख से दिङ्नागाचार्य का ही काल छठीं शताब्दी के पूर्व ठहरता है अतः वात्स्यायन को जो उनसे भी पूर्व हुए पाँचवीं शताब्दी में मानना ठीक नहीं। वे उससे पहले हुए होंगे। वात्स्यायन ने दशावय-वादी नैयायिकों का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध है कि उनके पहले से भाष्यकार नैयायिकों की परंपरा चली आती थी। अस्तु, सूत्रों की रचना का काल बौद्धधर्म-प्रचार के पूर्व मानना पड़ता है।

वैदिक, बौद्ध और जैन नैयायिकों के बीच विवाद ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर १३ वीं शताब्दी तक बराबर चलता रहा। इससे खंडन-मंडन के बहुत से ग्रंथ बने। १४ वीं शताब्दी में गंगेशोपाध्याय हुए जिन्होंने 'नव्यन्याय' की नींव डाली। प्राचीन न्याय में प्रमेय आदि जो सोलह पदार्थ थे उनमें से और सब को किनारे करके केवल 'प्रमाण' को लेकर ही भारी शब्दाडंबर खड़ा किया गया। इस नव्यन्याय का आविर्भाव मिथिला में हुआ। मिथिला से नदिया में जाकर नव्यन्याय ने और भी भयंकर रूप धारण किया। न उसमें तत्त्वनिर्णय रहा, न तत्त्वनिर्णय की सामर्थ्य।

(४) दृष्टांत-वाक्य जिसका व्यवहार लोक में कोई प्रसंग आ पड़ने पर होता है। कोई विलक्षण घटना सूचित करनेवाली उक्ति जो उपस्थित बात पर घटती हो। कहावत। ऐसे न्याय या दृष्टांत-वाक्य बहुत से प्रचलित चले आते हैं जिनमें से कुछ अकारादि क्रम से दिए जाते हैं—

(१) **अजाकृपाणीय न्याय**—कहीं तलवार लटकती थी, नीचे से बकरा गया और वह संयोग से उसकी गर्दन पर गिर पड़ी। जहाँ दैवसंयोग से कोई विपत्ति आ पड़ती है वहाँ इसका व्यवहार होता है।

(२) **अजातपुत्रनामोत्कीर्तन न्याय**—अर्थात् पुत्र न होने पर भी नामकरण होने का न्याय। जहाँ कोई बात न होने पर भी आशा के सहारे लोग अनेक प्रकार के आयोजन बाँधने लगते हैं वहाँ यह कहा जाता है।

(३) **अध्यारोप न्याय**—जो वस्तु जैसी न हो उसमें वैसे होने का (जैसे रज्जु में सर्प होने का) आरोप। वेदांत की पुस्तकों में इसका व्यवहार मिलता है।

(४) **अंधकूपपतन न्याय**—किसी भले आदमी ने अंधे को रास्ता बतला दिया और वह चला, पर जाते जाते एक कूएँ में गिर पड़ा। जब किसी अनधिकारी को कोई उपदेश दिया जाता है और वह उस पर चलकर अपने अज्ञान आदि के कारण चूक जाता है या अपनी हानि कर बैठता है तब यह कहा जाता है।

(५) **अंधगज न्याय**—कई जन्मांधों ने हाथी कैसा होता है यह देखने के लिये हाथी टटोला। जिसने जो अंग टटोल पाया उसने हाथी का आकार उसी अंग का सा समझा। जिसने पूँछ टटोली उसने रस्सी के आकार का, जिसने पैर टटोला उसने खंभे के आकार का समझा। किसी विषय के पूर्ण अंग का ज्ञान न होने पर उसके संबंध में जब अपनी अपनी समझ के अनुसार भिन्न भिन्न बातें कही जाती हैं तब इस उक्ति का प्रयोग करते हैं।

(६) **अंधगोलांगूल न्याय**—एक अंधा अपने घर के रास्ते से भटक गया था। किसी ने उसके हाथ में गाय की पूँछ पकड़ाकर कह दिया कि यह तुम्हें तुम्हारे स्थान पर पहुँचा देगी। गाय के इधर उधर दौड़ने से अंधा अपने घर तो पहुँचा नहीं, कष्ट उसने भले ही पाया। किसी दुष्ट या मूर्ख के उपदेश पर काम करके जब कोई कष्ट या दुःख उठाता है तब यह कहा जाता है।

(७) **अंधचटक न्याय**—अंधे के हाथ बटेर।

(८) **अंधपरंपरा न्याय**—जब कोई पुरुष किसी को कोई काम करते देखकर आप भी वही काम करने लगे तब वहाँ यह कहा जाता है।

(९) **अंधपंगु न्याय**—एक ही स्थान पर जानेवाला एक अंधा और एक लँगड़ा यदि मिल जायँ तो एक दूसरे की सहायता से दोनों वहाँ पहुँच सकते हैं। सांख्य में जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष के संयोग से सृष्टि होने के दृष्टांत में यह उक्ति कही गई है।

(१०) **अपवाद न्याय**—जिस प्रकार किसी वस्तु के संबंध में ज्ञान हो जाने से भ्रम नहीं रह जाता उसी प्रकार। (वेदांत)

(११) **अपराह्णच्छाया न्याय**—जिस प्रकार दोपहर की छाया बराबर बढ़ती जाती है उसी प्रकार सज्जनों की प्रीति आदि के संबंध में कहा जाता है।

(१२) **अपसारिताग्निभूतल न्याय**—जमीन पर से आग हटा लेने पर भी जिस प्रकार कुछ देर तक जमीन गरम रहती है उसी प्रकार धनी धन के न रह जाने पर भी कुछ दिनों तक अपनी अकड़ रखता है।

(१३) **अरण्यरोदन न्याय**—जंगल में रोने के समान बात। जहाँ कहने पर कोई ध्यान देनेवाला न हो वहाँ इसका प्रयोग होता है।

(१४) **अर्कमधु न्याय**—यदि मदार से ही मधु मिल जाय तो उसके लिये अधिक परिश्रम व्यर्थ है। जो कार्य्य सहज में हो उसके लिये इधर उधर बहुत श्रम करने की आवश्यकता नहीं।

(१५) **अर्द्धजरतीय न्याय**—एक ब्राह्मण देवता अर्थकष्ट से दुखी हो नित्य अपनी गाय लेकर बाजार में बेचने जाते पर वह न बिकती। बात यह थी कि अवस्था पूछने पर वे उसकी बहुत अवस्था बतलाते थे। एक दिन एक आदमी ने उनसे न बिकने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने कहा मैंने समझा जिस प्रकार आदमी की अवस्था अधिक होने पर उसकी कदर बढ़ जाती है उसी प्रकार मैंने गाय के संबंध में भी समझा था। उसने आगे ऐसा न कहने की सलाह दी। ब्राह्मण ने सोचा कि "एक बार गाय को बुड्ढी कहकर अब फिर जवान कैसे कहूँ।" अंत में उन्होंने स्थिर किया कि आत्मा तो बुड्ढी होती नहीं देह बुड्ढी होती है। अतः इसे मैं आधी बुड्ढी आधी जवान कहूँगा। जब किसी की कोई बात इस पक्ष में भी और उस पक्ष में भी हो तब यह उक्ति कही जाती है।

(१६) **अशोकवनिका न्याय**—अशोक वन में जाने के समान (जहाँ छाया सौरभ आदि सब कुछ प्राप्त हो) जब किसी एक ही स्थान पर सब कुछ प्राप्त हो जाय और कहीं जाने की आवश्यकता न हो तब यह कहा जाता है।

(१७) **अश्मलोष्ट न्याय**—अर्थात् तराजू पर रखने के लिये पत्थर तो ढेले से भी भारी है। यह विषमता सूचित करने के अवसर पर ही कहा जाता है। जहाँ दो वस्तुओं में सापेक्षिकता सूचित करनी होती है वहाँ पाषाणेष्टिक न्याय कहा जाता है।

(१८) अस्नेहदीप न्याय—बिना तेल के दीये की सी बात। थोड़ेही कालरहनेवाली बात देखकर यह कहा जाता है।

(१९) अहिकुंडल न्याय—सर्प के कुंडल मारकर बैठने के समान। किसी स्वाभाविक बात पर।

(२०) अहि-नकुल न्याय—साँप नेवले के समान। स्वाभाविक विरोध या वैर सूचित करने के लिये।

(२१) आकाशापरिच्छिन्नत्व न्याय—आकाश के समान अपरिच्छिन्न।

(२२) आभाणक न्याय—लोकप्रवाद के समान।

(२३) आम्रवण न्याय—जिस प्रकार किसी वन में यदि आम के पेड़ अधिक होते हैं तो इसे 'आम का वन' ही कहते हैं, यद्यपि और भी पेड़ उस वन में रहते हैं, उसी प्रकार जहाँ औरों को छोड़ प्रधान वस्तु का ही उल्लेख किया जाता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(२४) उत्पाटितदंतनाग न्याय—दाँत तोड़े हुए साँप के समान। कुछ करने धरने या हानि पहुँचाने में असमर्थ हुए मनुष्य के संबंध में।

(२५) उदकनिमज्जन न्याय—कोई दोषी है या निर्दोष इसकी एक दिव्य परीक्षा प्राचीन काल में प्रचलित थी। दोषी को पानी में खड़ा करके किसी ओर बाण छोड़ते थे और बाण छोड़ने के साथ ही अभियुक्त को तब तक डूबे रहने के लिये कहते थे जब तक वह छोड़ा हुआ बाण वहाँ से फिर छूटने पर लौट न आवे। यदि इतने बीच में डूबनेवाले का कोई अंग बाहर न दिखाई पड़ा तो उसे निर्दोष समझते थे। जहाँ सत्यासत्य की बात आती है वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(२६) उभयतः पाशरज्जु न्याय—जहाँ दोनों ओर विपत्ति हो अर्थात् दो कर्त्तव्य पक्षों में से प्रत्येक में दुःख हो वहाँ इसका व्यवहार होता है। "साँप-छछूँदर की गति।"

(२७) ऊषरवृष्टि न्याय—किसी बात का जहाँ कोई फल न हो वहाँ कहा जाता है।

(२८) उष्ट्रकंटकभक्षण न्याय—जिस प्रकार थोड़े से सुख के लिये ऊँट काँटे खाने का कष्ट उठाता है उसी प्रकार जहाँ थोड़े से सुख के लिये अधिक कष्ट उठाया जाता है वहाँ यह कहावत कही जाती है।

(२९) कंठचामीकर न्याय—गले में सोने का हार हो और उसे इधर उधर ढूँढ़ता फिरे। आनंदस्वरूप ब्रह्म अपने में रहते भी अज्ञानवश सुख के लिये अनेक प्रकार के दुःख भोगने के दृष्टांत में वेदांती कहते हैं।

(३०) कदंबगोलक न्याय—जिस प्रकार कदंब के गोले में सब फूल एक साथ हो जाते हैं, उसी प्रकार जहाँ कई बातें एक साथ हो जाती हैं वहाँ इसे कहते हैं। कुछ नैयायिक शब्दोत्पत्ति में कई वर्णों के उच्चारण एक साथ मानकर उसके दृष्टांत में यह कहते हैं।

(३१) कदलीफल न्याय—केला काटने ही पर फलता है इसी प्रकार नीच सीधे कहने से नहीं सुनते।

(३२) कफोनिगुड न्याय—सूत न कपास जुलाहों से मटकौवल।

(३३) करकंकण न्याय—'कंकण' कहने से ही हाथ के गहने का बोध हो जाता है, 'कर' कहने की आवश्यकता नहीं। पर कर-कंकण कहते हैं जिसका अर्थ होता है 'हाथ में पड़ा हुआ कड़ा'। इस प्रकार का जहाँ अभिप्राय होता है वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(३४) काकतालीय न्याय—किसी ताड़ के पेड़ के नीचे कोई पथिक लेटा था और ऊपर एक कौवा बैठा था। कौवा किसी ओर को उड़ा और उसके उड़ने के साथ ही ताड़ का एक पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आपसे आप गिरा था पर पथिक दोनों बातों को साथ होते देख यही समझा कि कौवे के उड़ने से ही तालफल गिरा। जहाँ दो बातें संयोग से इस प्रकार एक साथ हो जाती हैं वहाँ उनमें परस्पर कोई संबंध न होते हुए भी लोग संबंध समझ लेते हैं। ऐसा संयोग होने पर यह कहावत कही जाती है।

(३५) काकदध्युपघातक न्याय—"कौवे से दही बचाना" कहने से जिस प्रकार "कुत्ते बिल्ली आदि सब जंतुओं से बचाना" समझ लिया जाता है उसी प्रकार जहाँ किसी वाक्य का अभिप्राय होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(३६) काकदंतगवेषण न्याय—कौवे का दाँत ढूँढ़ना निष्फल है अतः निष्फल प्रयत्न के संबंध में यह न्याय कहा जाता है।

(३७) काकाक्षिगोलक न्याय—कहते हैं कौवे के एक ही पुतली होती है जो प्रयोजन के अनुसार कभी इस आँख में कभी उस आँख में जाती है। जहाँ एक ही वस्तु दो स्थानों में कार्य्य करे वहाँ के लिये यह कहावत है।

(३८) कारणगुणप्रक्रम न्याय—कारण का गुण कार्य में भी पाया जाता है। जैसे सूत का रूप आदि उससे बुने कपड़े में।

(३९) कुशकाशावलंबन न्याय—जैसे डूबता हुआ आदमी कुश-काँस जो कुछ पाता है उसी को सहारे के लिये पकड़ता है, उसी प्रकार जहाँ कोई दृढ़ आधार न मिलने पर लोग इधर उधर की बातों का सहारा लेते हैं वहाँ के लिये यह कहावत है। डूबते को तिनके का सहारा बोलते भी हैं।

(४०) **कूपखानक न्याय**—जैसे कुआं खोदनेवाले की देह में लगा हुआ कीचड़ उसी कुएँ के जल से साफ हो जाता है उसी प्रकार राम, कृष्ण आदि को भिन्न भिन्न रूपों में समझने से ईश्वर में भेदबुद्धि का जो दोष लगता है वह उन्हीं की उपासना द्वारा ही अद्वैतबुद्धि हो जाने पर मिट जाता है।

(४१) **कूपमंडूक न्याय**—समुद्र का मेढक किसी कूएँ में जा पड़ा। कूएँ के मेढक ने पूछा "भाई! तुम्हारा समुद्र कितना बड़ा है"। उसने कहा "बहुत बड़ा"। कूएँ के मेढक ने पूछा 'इस कूएँ के इतना बड़ा'। समुद्र के मेढक ने कहा 'कहाँ कूआँ, कहाँ समुद्र। समुद्र से बड़ी कोई वस्तु पृथ्वी पर नहीं।' इस पर कूएँ का मेढक जो कूएँ से बड़ी और कोई वस्तु जानता ही न था बिगड़कर बोला 'तुम झूठे हो, कूएँ से बड़ी कोई वस्तु हो नहीं सकती'। जहाँ परिमित ज्ञान के कारण कोई अपनी जानकारी के ऊपर कोई दूसरी बात मानता ही नहीं वहाँ के लिये यह उक्ति है।

(४२) **कूर्मांग न्याय**—जिस प्रकार कछुवा जब चाहता है तब अपने सब अंग भीतर समेट लेता है और जब चाहता है बाहर करता है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि और लय करता है।

(४) **कैमुतिक न्याय**—जिसने बड़े बड़े काम किए उसे कोई छोटा काम करते क्या लगता है। उसी के दृष्टांत के लिये यह उक्ति कही जाती है।

(४४) **कौंडिन्य न्याय**—यह अच्छा है पर ऐसा होता तो और भी अच्छा होता।

(४५) **गजभुक्तकपित्थ न्याय**—हाथी के खाए हुए कैथ के समान ऊपर से देखने में ठीक पर भीतर भीतर निःसार और शून्य।

(४६) **गड्डलिका-प्रवाह न्याय**—भेड़ियाधसान।

(४७) **गणपति न्याय**—एक बार देवताओं में विवाद चला कि सब में पूज्य कौन है। ब्रह्मा ने कहा जो पृथ्वी की प्रदक्षिणा पहले कर आवे वही श्रेष्ठ समझा जाय। सब देवता अपने अपने वाहनों पर चले; गणेशजी चूहे पर सवार सबके पीछे रहे। इतने में मिले नारद। उन्होंने गणेशजी को युक्ति बताई कि राम-नाम लिखकर उसी की प्रदक्षिणा करके चटपट ब्रह्मा के पास पहुँच जाओ। गणपति ने ऐसा ही किया और देवताओं में वे प्रथम पूज्य हुए। इसी से जहाँ थोड़ी सी युक्ति से बड़ी भारी बात हो जाय वहाँ इसका प्रयोग करते हैं।

(४८) **गतानुगतिक न्याय**—कुछ ब्राह्मण एक घाट पर तर्पण किया करते थे। वे अपना अपना कुश एक ही स्थान पर रख देते थे जिससे एक का कुश दूसरा ले लेता था। एक दिन पहचान के लिये एक ने अपने कुश को ईंट से दबा दिया। उसकी देखा देखी दूसरे दिन सबने अपने कुश पर ईंट रखी। जहाँ एक की देखादेखी लोग कोई काम करने लगते हैं वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(४९) **गुड़जिह्विका न्याय**—जिस प्रकार बच्चे को कड़वी औषध खिलाने के लिये उसे पहले गुड़ देकर फुसलाते हैं उसी प्रकार जहाँ अरुचिकर या कठिन काम कराने के लिये पहले कुछ प्रलोभन दिया जाता है वहाँ इस उक्ति का प्रयोग होता है।

(५०) **गोवलीवर्द न्याय**—'वलीवर्द' शब्द का अर्थ है बैल। जहाँ यह शब्द गो के साथ हो वहाँ अर्थ और भी जल्दी खुल जाता है। ऐसे शब्द जहाँ एक साथ होते हैं वहाँ के लिये यह कहावत है।

(५१) **घट्टकुटीप्रभात न्याय**—एक बनिया घाट के महसूल से बचने के लिये ठीक रास्ता छोड़ ऊभड़खाबड़ स्थानों में रातभर भटकता रहा पर सबेरा होते होते फिर उसी महसूल की छावनी पर पहुँचा और उसे महसूल देना पड़ा। जहाँ एक कठिनाई से बचने के लिये अनेक उपाय निष्फल हों और अंत में उसी कठिनाई में फँसना पड़े वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(५२) **घटप्रदीप न्याय**—घड़ा अपने भीतर रखे हुए दीप का प्रकाश बाहर नहीं जाने देता। जहाँ कोई अपना ही भला चाहता है दूसरे का उपकार नहीं करता वहाँ यह प्रयुक्त होता है।

(५३) **घुणाक्षर न्याय**—घुनों के चालने से लकड़ी में अक्षरों के से आकार बन जाते हैं, यद्यपि घुन इस उद्देश्य से नहीं काटते कि अक्षर बनें। इसी प्रकार जहाँ एक काम करने में कोई दूसरी बात अनायास हो जाय वहाँ यह कहा जाता है।

(५४) **चंपकपटवास न्याय**—जिस कपड़े में चंपे का फूल रखा हो उसमें फूलों के न रहने पर भी बहुत देर तक महँक बनी रहती है। इसी प्रकार विषय भोग का संस्कार भी बहुत काल तक बना रहता है।

(५५) **जलतरंग न्याय**—अलग नाम रहने पर भी तरंग जल से भिन्न गुण की नहीं होती। ऐसा ही अभेद सूचित करने के लिये इस उक्ति का व्यवहार होता है।

(५६) **जलतुंबिका न्याय**—(क) तूँबी पानी में नहीं डूबती, डुबाने से ऊपर आ जाती है। जहाँ कोई बात छिपाने से छिपनेवाली नहीं होती वहाँ कहते हैं। (ख) तूँबी के ऊपर मिट्टी कीचड़ आदि लपेटकर उसे पानी में डालें तो वह डूब जाती है पर कीचड़ धोकर यदि पानी में डालें तो नहीं डूबती। इसी प्रकार जीव देहादि के मलों से युक्त रहने पर संसारसागर में निमग्न हो जाता है, और मल आदि छूटने पर पार हो जाता है।

(५७) जलानयन न्याय—पानी 'लाओ' कहने से उसके साथ बरतन का लाना भी समझ लिया जाता है क्योंकि बरतन के बिना पानी आवेगा किसमें।

(५८) तिलतंडुल न्याय—चावल और तिल की तरह मिली रहने पर भी अलग अलग दिखाई देनेवाली वस्तुओं के संबंध में।

(५९) तृणजलौका न्याय—दे० "तृणजलौका"।

(६०) दंडचक्र न्याय—जैसे घड़ा बनने में दंड, चक्र आदि कई कारण हैं वैसे ही जहाँ कोई बात अनेक कारणों से होती है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(६१) दंडाकूप न्याय—कोई डंडे में बँधे हुए मालपूए छोड़कर कहीं गया। आने पर उसने देखा कि डंडे का बहुत सा भाग चूहे खा गए हैं। उसने सोचा कि जब चूहे डंडा तक खा गए तब मालपूए को उन्होंने कब छोड़ा होगा। जब कोई दुष्कर और कष्टसाध्य कार्य्य हो जाता है तब उसके साथ ही लगा हुआ सुखद और सहज कार्य्य अवश्य ही हुआ होगा यही सूचित करने के लिये यह कहावत कहते हैं।

(६२) दशम न्याय—दस आदमी एक साथ कोई नदी तैरकर पार गए। पार जाकर वे यह देखने के लिये सबको गिनने लगे कि कोई छूटा या बह तो नहीं गया। पर जो गिनता वह अपने को छोड़ देता इससे गिनने में नौ ही ठहरते। अंत में उस एक खोए हुए के लिये सब ने रोना शुरू किया। एक चतुर पथिक ने आकर उनसे फिर से गिनने के लिये कहा। जब एक उठकर नौ तक गिन गया तब पथिक ये कहा "दसवें तुम"। इस पर सब प्रसन्न हो गए। वेदांती इस न्याय का प्रयोग यह दिखाने के लिये करते हैं कि गुरु के 'तत्त्वमसि' आदि उपदेश सुनने पर अज्ञान और तज्जनित दुःख दूर हो जाता है।

(६३) देहलीदीपक न्याय—देहली पर दीपक रखने से भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला रहता है। जहाँ एक ही आयोजन से दो काम सधें या एक शब्द या बात दोनों ओर लगे वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

(६४) नष्टाश्वदग्धरथ न्याय—एक आदमी रथ पर वन में जाता था। वन में आग लगी और उसका घोड़ा मर गया। वह बहुत व्याकुल घूमता था कि इतने में एक दूसरा आदमी मिला जिसका रथ जल गया था और घोड़ा बचा था। दोनों ने मिलकर काम चला लिया। इस प्रकार जहाँ दो आदमी मिलकर एक दूसरे की त्रुटि की पूर्त्ति करके काम चलाते हैं वहाँ इसे कहते हैं।

(६५) नारिकेलफलाम्बु न्याय—नारिकेल के फल में जिस प्रकार न जाने कहाँ से कैसे जल आ जाता है उसी प्रकार लक्ष्मी किस प्रकार आती है नहीं जान पड़ता।

(६६) निम्नगाप्रवाह न्याय—नदी का प्रवाह जिस ओर को जाता है उधर रुक नहीं सकता। इसी प्रकार के अनिवार्य्य क्रम के दृष्टांत में यह कहावत है।

(६७) नृपनापितपुत्र न्याय—किसी राजा के यहाँ एक नाई नौकर था। एक दिन राजा ने उससे कहा कि कहीं से सबसे सुंदर बालक लाकर मुझे दिखाओ। नाई को अपने पुत्र से बढ़कर और कोई सुंदर बालक कहीं न दिखाई पड़ा और वह उसी को लेकर राजा के सामने आया। राजा उस काले कलूटे बालक को देख बहुत क्रुद्ध हुआ, पर पीछे उसने सोचा कि प्रेम या राग के वश इसे अपने लड़के सा सुंदर और कोई दिखाई ही न पड़ा। राग के वश जहाँ मनुष्य अंधा हो जाता है और उसे अच्छे बुरे की पहचान नहीं रह जाती वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

(३८) पंकप्रक्षालन न्याय—कीचड़ लग जायगा तो धो डालेंगे इसकी अपेक्षा यही विचार अच्छा है कि कीचड़ लगने ही न पावे।

(६९) पंजरचालन न्याय—दस पक्षी यदि किसी पिंजड़े में बंद कर दिए जायँ और वे सब एक साथ यत्न करें तो पिंजड़े को इधर उधर चला सकते हैं। दस ज्ञानेंद्रियाँ और दस कर्मेंद्रियाँ प्राणरूप क्रिया उत्पन्न करके देह को चलाती हैं इसी के दृष्टांत में सांख्यवाले उक्त न्याय कहते हैं।

(७०) पाषाणेष्टक न्याय—ईंट भारी होती है पर उससे भी भारी पत्थर होता है।

(७१) पिष्टपेषण न्याय—पीसे को पीसना निरर्थक है। किए हुए काम को व्यर्थ जहाँ कोई फिर करता है वहाँ के लिये यह उक्ति है।

(७२) प्रदीप न्याय—जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग इन भिन्न वस्तुओं के मेल से दीपक जलता है उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम इन परस्पर भिन्न गुणों के सहयोग से देह धारण का व्यापार होता है। (सांख्य)

(७३) प्रापाणक न्याय—जिस प्रकार घी चीनी आदि कई वस्तुओं को एकत्र करने से बढ़िया मिठाई बनती है उसी प्रकार अनेक उपादानों के योग से सुन्दर वस्तु तैयार होने के दृष्टांत में यह उक्ति कही जाती है। साहित्यवाले विभाव, अनुभाव आदि द्वारा रस का परिपाक सूचित करने के लिये इसका प्रयोग प्रायः करते हैं।

(७४) प्रासादवासि न्याय—महल में रहनेवाला यद्यपि कामकाज के लिये नीचे उतरकर बाहर इधर उधर भी जाता है पर उसे प्रासादवासी ही कहते हैं। इसी प्रकार जहाँ जिस विषय की प्रधानता होती है वहाँ उसी का उल्लेख होता है।

(७५) फलवत्सहकार न्याय—आम के पेड़ के नीचे पथिक छाया के लिये ही जाता है पर उसे फल भी मिल जाता है।

इसी प्रकार जहाँ एक लाभ होने से दूसरा लाभ ही हो' वहाँ यह न्याय कहा जांता है।

(७६) **बहुवृकाकृष्ट न्याय**—एक हिरन को यदि बहुत से भेड़िए लगें तो उसके अंग एक स्थान पर नहीं रह सकते। जहाँ किसी वस्तु के लिये बहुत से लोग खींचा खींची करते हैं वहाँ वह यथास्थान वा समूची नहीं रह सकती।

(७७) **विलवर्तिगोधा न्याय**—जिस प्रकार बिल में स्थित गोह का विभाग आदि नहीं हो सकता उसी प्रकार जो वस्तु अज्ञात है उसके संबंध में भला बुरा कुछ नहीं कहा जा सकता।

(७८) **ब्राह्मणग्राम न्याय**—जिस गाँव में ब्राह्मणों की बस्ती अधिक होती है उसे ब्राह्मणों का गाँव कहते हैं यद्यपि उसमें कुछ और लोग भी बसते हैं। औरों को छोड़ प्रधान वस्तु का ही नाम लिया जाता है यही सूचित करने के लिये यह कहावत है।

(७९) **ब्राह्मणश्रमण न्याय**—ब्राह्मण यदि अपना धर्म्म छोड़ श्रमण (बौद्ध भिक्षुक) भी हो जाता है तब भी उसे ब्राह्मण श्रमण कहते हैं। एक वृत्ति को छोड़ जब कोई दूसरी वृत्ति ग्रहण करता है तब भी लोग उसकी पूर्व वृत्ति का निर्देश करते हैं।

(८०) **मज्जनोन्मज्जन न्याय**—तैरना न जाननेवाला जिस प्रकार जल में पड़कर डूबता उतराता है उसी प्रकार मूर्ख या दुष्ट वादी प्रमाण आदि ठीक न दे सकने के कारण क्षुब्ध और व्याकुल होता है।

(८१) **मंडूकतोलन न्याय**—एक धूर्त बनिया तराजू पर सौदे के साथ मेढक रखकर तौला करता था। एक दिन मेढक कूदकर भागा और वह पकड़ा गया। छिपाकर की हुई बुराई का भंडा एक दिन फूटता है।

(८२) **रज्जुसर्प न्याय**—जब तक दृष्टि ठीक नहीं पड़ती तब तक मनुष्य रस्सी को साँप समझता है इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य दृश्य जगत् को सत्य समझता है, पीछे ब्रह्मज्ञान होने पर उसका भ्रम दूर होता है और वह समझता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। (वेदांती)

(८३) **राजपुत्रव्याध न्याय**—कोई राजपुत्र बचपन में एक व्याध के घर पड़ गया और वहीं पलकर अपने को व्याधपुत्र ही समझने लगा। पीछे जब लोगों ने उसे उसका कुल बताया तब उसे अपना ठीक ठीक ज्ञान हुआ। इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य अपने को न जाने क्या समझा करता है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर वह समझता है कि "मैं ब्रह्म हूँ"। (वेदांती)

(८४) **राजपुरप्रवेश न्याय**—राजा के द्वार पर जिस प्रकार बहुत से लोगों की भीड़ रहती है पर सब लोग बिना किसी प्रकार का गड़बड़ या हल्ला किए चुपचाप कायदे से खड़े रहते हैं उसी प्रकार जहाँ सुव्यवस्थापूर्वक कार्य्य होता है वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(८५) **रात्रि दिवस न्याय**—रात दिन का फर्क। भारी फर्क।

(८६) **लूतातंतु न्याय**—जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से ही सूत निकालकर जाला बनाती है और फिर आप ही उसका संहार करती है इसी प्रकार ब्रह्म अपने से ही सृष्टि करता है और अपने में उसे लय करता है।

(८७) **लोष्टलगुड़ न्याय**—ढेला तोड़ने के लिये जैसे डंडा होता है उसी प्रकार जहाँ एक का दमन करनेवाला दूसरा होता है वहाँ यह कहावत कही जाती है।

(८८) **लोहचुंबक न्याय**—लोहा गतिहीन और निष्क्रिय होने पर भी चुंबक के आकर्षण से उसके पास जाता है उसी प्रकार पुरुष निष्क्रिय होने पर भी प्रकृति के साहचर्य्य से क्रिया में तत्पर होता है। (सांख्य)

(८९) **वरगोष्ठी न्याय**—जिस प्रकार वरपक्ष और कन्यापक्ष के लोग मिलकर विवाह रूप एक ऐसे कार्य्य का साधन करते हैं जिससे दोनों का अभीष्ट सिद्ध होता है उसी प्रकार जहाँ कई लोग मिलकर सबके हित का कोई काम करते हैं वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(९०) **वह्निधूम न्याय**—धूमरूप कार्य्य देखकर जिस प्रकार कारण-रूप अग्नि का ज्ञान होता है उसी प्रकार कार्य द्वारा कारण अनुमान के संबंध में यह उक्ति है। (नैयायिक)

(९१) **विल्वखल्लाट न्याय**—धूप से व्याकुल गंजा छाया के लिये बेल के पेड़ के नीचे गया। वहाँ उसके सिर पर एक बेल टूटकर गिरा। जहाँ इष्ट साधन के प्रयत्न में अनिष्ट होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(९२) **विषवृक्ष न्याय**—विष का पेड़ लगाकर भी कोई उसे अपने हाथ से नहीं काटता। अपनी पाली पोसी वस्तु का कोई अपने हाथ से नाश नहीं करता।

(९३) **वीचितरंग न्याय**—एक के उपरांत दूसरी, इस क्रम से बराबर आनेवाली तरंगों के समान। नैयायिक ककारादि वर्णों की उत्पत्ति वीचितरंग न्याय से मानते हैं।

(९४) **वीजांकुर न्याय**—बीज से अंकुर है या अंकुर से बीज है यह ठीक नहीं कहा जा सकता। न बीज के बिना अंकुर हो सकता है न अंकुर के बिना बीज। बीज और अंकुर का प्रवाह अनादि काल से चला आता है। दो संबद्ध वस्तुओं के नित्य प्रवाह के दृष्टांत में वेदांती इस न्याय को कहते हैं।

(९५) वृत्तप्रकंपन न्याय—एक आदमी पेड़ पर चढ़ा। नीचे से एक ने कहा कि यह डाल हिलाओ, दूसरे ने कहा वह डाल हिलाओ। पेड़ पर चढ़ा हुआ आदमी कुछ स्थिर न कर सका कि किस डाल को हिलाऊँ। इतने में एक आदमी ने पेड़ का धड़ ही पकड़कर हिला डाला जिससे सब डालें हिल गईं। जहाँ कोई एक बात सबके अनुकूल हो जाती है वहाँ इसका प्रयोग होता है।

(९६) वृद्धकुमारिका न्याय वा वृद्धकुमारी-वाक्य न्याय—कोई कुमारी तप करती करती बुड्ढी हो गई। इंद्र ने उससे कोई एक वर माँगने के लिये कहा। उसने वर माँगा कि "मेरे बहुत से पुत्र सोने के बरतनों में खूब घी दूध और अन्न खायँ"। इस प्रकार उसने एक ही वाक्य में पति पुत्र गो धन धान्य सब कुछ माँग लिया। जहाँ एक की प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त हो वहाँ यह कहावत कही जाती है।

(९७) शतपत्रभेद न्याय—सौ पत्ते एक साथ रखकर छेदने से जान पड़ता है कि सब एक साथ एक काल में ही छिद गए पर वास्तव में एक-एक पत्ता भिन्न भिन्न समय में छिदा। कालांतर की सूक्ष्मता के कारण इसका ज्ञान नहीं हुआ। इस प्रकार जहाँ बहुत से कार्य्य भिन्न भिन्न समयों में होते हुए भी एक ही समय में हुए जान पड़ते हैं वहाँ यह दृष्टांतवाक्य कहा जाता है। (सांख्य)

(९८) श्यामरक्त न्याय—जिस प्रकार कच्चा काला घड़ा पकने पर अपना श्याम गुण छोड़कर रक्तगुण धारण करता है उसी प्रकार पूर्व गुण का नाश और अपर गुण का धारण सूचित करने के लिये यह उक्ति कही जाती है।

(९९) श्यालकशुनक न्याय—किसी ने एक कुत्ता पाला था और उसका नाम अपने साले का नाम रखा था। जब वह कुत्ते को नाम लेकर गालियाँ देता तब उसकी स्त्री अपने भाई का अपमान समझकर बहुत चिढ़ती। जिस उद्देश्य से कोई बात नहीं की जाती वह यदि उससे हो जाती है तो यह कहावत कही जाती है।

(१००) संदंशपतित न्याय—सँड़सी जिस प्रकार अपने बीच में आई हुई वस्तु को पकड़ती है उसी प्रकार जहाँ पूर्व और उत्तर पदार्थ द्वारा मध्यस्थित पदार्थ का ग्रहण होता है वहाँ इस न्याय का व्यवहार होता है।

(१०१) समुद्रवृष्टि न्याय—समुद्र में पानी बरसने से जैसे कोई उपकार नहीं होता उसी प्रकार जहाँ जिस बात की कोई आवश्यकता या फल नहीं वहाँ यदि वह की जाती है तो यह उक्ति चरितार्थ की जाती है।

(१०२) सर्वापेक्षा न्याय—बहुत से लोगों का जहाँ निमंत्रण होता है वहाँ यदि कोई सबके पहले पहुँचता है तो उसे सबकी प्रतीक्षा करनी होती है। इस प्रकार जहाँ किसी काम के लिये सबका आसरा देखना होता है वहाँ यह उक्ति कही जाती है।

(१०३) सिंहावलोकन न्याय—सिंह शिकार मारकर जब आगे बढ़ता है तब पीछे फिर फिरकर देखता जाता है। इसी प्रकार जहाँ अगली और पिछली सब बातों की एक साथ आलोचना होती है वहाँ इस उक्ति का व्यवहार होता है।

(१०४) सूचीकटाह न्याय—सूई बनाकर कड़ाह बनाने के समान। किसी लोहार से एक आदमी ने आकर कड़ाह बनाने को कहा। थोड़ी देर में एक दूसरा आया, उसने सूई बनाने के लिये कहा। लोहार ने पहले सूई बनाई तब कड़ाह। सहज काम पहले करना तब कठिन काम में हाथ लगाना इसी के दृष्टांत में यह कहा जाता है।

(१०५) सुंदोपसुंद न्याय—सुंद और उपसुंद दोनों भाई बड़े बली दैत्य थे। एक स्त्री पर दोनों मोहित हुए। स्त्री ने कहा दोनों में जो अधिक बलवान होगा उसी के साथ मैं विवाह करूँगी। परिणाम यह हुआ कि दोनों लड़ मरे। परस्पर की फूट से बलवान् से बलवान् मनुष्य नष्ट हो जाते हैं यही सूचित करने के लिये यह कहावत है।

(१०६) सोपानारोहण न्याय—जिस प्रकार प्रासाद पर जाने के लिये एक एक सीढ़ी क्रम से चढ़ना होता है उसी प्रकार किसी बड़े काम के करने में क्रम क्रम से चलना पड़ता है।

(१०७) सोपानावरोहण न्याय—सीढ़ियाँ जिस क्रम से चढ़ते हैं उसी के उलटे क्रम से उतरते हैं। इसी प्रकार जहाँ किसी क्रम से चलकर फिर उसी के उलटे क्रम से चलना होता है (जैसे, एक बार एक से सौ तक गिनती गिनकर फिर सौ से निन्नानबे, अट्ठानबे इस उलटे क्रम से गिनना) वहाँ यह न्याय कहा जाता है।

(१०८) स्थविरलगुड़ न्याय—बुड्ढे के हाथ से फेंकी हुई लाठी जिस प्रकार ठीक निशाने पर नहीं पहुँचती उसी प्रकार किसी बात के लक्ष्य तक न पहुँचने पर यह उक्ति कही जाती है।

(१०९) स्थूणानिखनन न्याय—जिस प्रकार घर के छप्पर में चाँड़ देने के लिये खंभा गाड़ने में उसे मिट्टी आदि डालकर दृढ़ करना होता है उसी प्रकार युक्ति उदाहरण द्वारा अपना पक्ष दृढ़ करना पड़ता है।

(११०) स्थूलारुंधती न्याय—विवाह हो जाने पर वर और कन्या को अरुंधती तारा दिखाया जाता है जो दूर होने के कारण बहुत सूक्ष्म है और जल्दी दिखाई नहीं देता। अरुंधती दिखाने में जिस प्रकार पहले सप्तर्षि को दिखाते हैं जो बहुत जल्दी दिखाई पड़ता है और फिर उँगली से बताते हैं कि उसी के पास वह अरुंधती है देखो, इसी

प्रकार किसी सूक्ष्म तत्त्व का परिज्ञान कराने के लिये पहले स्थूल दृष्टांत आदि देकर क्रमशः उस तत्त्व तक ले जाते हैं ।

(१११) **स्वामिभृत्य न्याय**—जिस प्रकार मालिक का काम करके नौकर भी स्वामी की प्रसन्नता से अपने को कृतकार्य्य समझता है उसी प्रकार जहाँ दूसरे का काम हो जाने से अपना भी काम या प्रसन्नता हो जाय वहाँ के लिये यह उक्ति है ।

ऊपर जो न्याय दिए गए हैं उनका व्यवहार प्रायः होता है । और बहुत से न्याय संस्कृत में आते हैं जो विस्तारभय से नहीं दिए गए ।

यकर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय करनेवाला । दो पक्षों के विवाद का निर्णय करनेवाला । इंसाफ करनेवाला । मुकद्दमे का फैसला करनेवाला हाकिम ।

यतः-क्रि० वि० [सं०] (१) न्याय से । धर्म और नीति के अनुसार । ईमान से । (२) ठीक ठीक ।

यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] न्याय का भाव । औचित्य ।

यपथ-संज्ञा पुं० [सं०] आचरण का न्यायसम्मत मार्ग । उचित रीति ।

यपरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] न्यायशीलता । न्यायी होने का भाव ।

यवान्-संज्ञा पुं० [सं० न्यायवत्] [स्त्री० न्यायवती] न्याय पर चलनेवाला । विवेकी । न्यायी ।

यसभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह सभा जहाँ विवादों का निर्णय हो । कचहरी । अदालत ।

याधीश-संज्ञा पुं० [सं०] न्यायकर्त्ता । व्यवहार वा विवाद का निर्णय करनेवाला अधिकारी । मुकद्दमे का फैसला करनेवाला अधिकारी । जज ।

यालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ न्याय अर्थात् व्यवहार या विवाद का निर्णय हो । वह जगह जहाँ मुकद्दमों का फैसला हो । अदालत । कचहरी ।

यी-संज्ञा पुं० [सं० न्यायिन्] न्याय पर चलनेवाला । नीतिसम्मत आचरण करनेवाला । उचित पक्ष ग्रहण करनेवाला ।

य्य-वि० [सं०] न्याययुक्त । न्यायसंगत ।

ार-वि० दे० "न्यारा" ।

संज्ञा पुं० [हिं० निवार] पसही धान । मुन्यन्न ।

ारा-वि० [सं० निर्निकट, प्रा० निन्निअड़, निन्नियर पू० हिं० निन्यार] [स्त्री० न्यारी] (१) जो पास न हो । दूर । (२) जो मिला या लगा न हो । अलग । पृथक् । जुदा ।

क्रि० प्र०—करना ।—रहना ।—होना ।

(३) और ही । अन्य । भिन्न । जैसे, यह बात न्यारी है । (४) निराला । अनोखा । विलक्षण । जैसे, मथुरा तीन लोक से न्यारी ।

न्यारिया-संज्ञा पुं० [हिं० न्यारा] सुनारों के नियार (राख इत्यादि) को धोकर सोना चाँदी एकत्र करनेवाला ।

न्यारे-क्रि० वि० [हिं० न्यारा] (१) पास नहीं । दूर । जैसे, उससे न्यारे रहो । (२) अलग । पृथक् । साथ में नहीं । जैसे, वह हमसे न्यारे हो गया ।

न्याव-संज्ञा पुं० [सं० न्याय] (१) नियम-नीति । आचरण-पद्धति । उ०—ऊधो, ताको न्याव है जाहि न सूझै नैन ।—सूर । (२) उचित पक्ष । वाजिब बात । कर्त्तव्य का ठीक निर्धारण । (३)विवेक । उचित अनुचित की बुद्धि । इंसाफ । जैसे, जो तुम्हारे न्याव में आवे वही करो । (४) दो पक्षों के बीच निर्णय । विवाद वा झगड़े का निबटेरा । व्यवहार या मुकद्दमे का फैसला । जैसे, राजा करे सो न्याव ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—न्याव चुकाना = झगड़ा निबटाना । विवाद का निर्णय करना । फैसला करना ।

न्यास-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० न्यस्त] (१) स्थापन । रखना । (२) यथास्थान स्थापन । जगह पर रखना । ठीक जगह क्रम से लगाना या सजाना । (३) स्थाप्य द्रव्य । किसी की वस्तु जो दूसरे के यहाँ इस विश्वास पर रखी हो कि वह उसकी रक्षा करेगा और माँगने पर लौटा देगा । धरोहर । थाती । (४) अर्पण । त्याग । (५) संन्यास । (६) पूजा की तांत्रिक पद्धति के अनुसार देवता के भिन्न भिन्न अंगों का ध्यान करते हुए मंत्र पढ़कर उन पर विशेष वर्णों का स्थापन ।

यौ०—अंगन्यास । करन्यास ।

(७) किसी रोग या बाधा की शांति के लिये रोगी या बाधाग्रस्त मनुष्य के एक एक अंग पर हाथ ले जाकर मंत्र पढ़ने का विधान ।

न्यासस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वर जिससे कोई राग समाप्त किया जाय ।

न्यासिक-वि० [सं०] धरोहर रखनेवाला । जो किसी की थाती रखे ।

न्युब्ज-वि० [सं०](१) अधोमुख । औंधा । (२) कुबड़ा । (३) रोग से जिसकी कमर टेढ़ी हो गई हो ।

संज्ञा पुं० (१) कुश । (२) माला । (३) एक यज्ञपात्र । (४) कर्मरंग फल । कमरख ।

न्यून-वि० [सं०] (१) कम । थोड़ा । अल्प । (२) घटकर । नीचा । (३) नीच । क्षुद्र ।

न्यूनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमी । (२) हीनता ।

न्योछावर-संज्ञा स्त्री० दे० "निछावर" ।

न्योतना-क्रि० स० [हिं० न्योता + ना (प्रत्य०)] (१)किसी रीति रस्म या आनंद उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये इष्ट मित्र, बंधु-बांधव आदि को बुलाना । निमंत्रित करना ।

संयो०—देना।

(२) दूसरे को अपने यहाँ भोजन करने के लिये बुलाना। जैसे, उसने सौ ब्राह्मण न्योते हैं।

न्योतनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० न्योतना] वह खाना पीना जो विवाह आदि मंगल अवसरों पर होता है।

न्योतहरी-संज्ञा पुं० [हिं० न्योता] निमंत्रित मनुष्य। न्योते में आया हुआ आदमी।

न्योता-संज्ञा पुं० [सं० निमंत्रण] (१) किसी रीति रस्म, आनंद उत्सव आदि में सम्मिलित होने के लिये इष्ट मित्र, बंधु-बांधव आदि का आह्वान। बुलावा। निमंत्रण।

क्रि० प्र०—देना।

(२) अपने स्थान पर भोजन के लिये बुलावा। भोजन स्वीकार करने की प्रार्थना। जैसे, उन्होंने दस ब्राह्मणों को न्योता दिया है।

क्रि० प्र०—आना।—जाना।—देना।

(३) वह भोजन जो दूसरे को अपने यहाँ कराया जाय या दूसरे के यहाँ (उसकी प्रार्थना पर) किया जाय। दावत। जैसे,(क)वह न्योता खाने गया है। (ख)हमें न्योता खिलाओ।

क्रि० प्र०—खाना।—खिलाना।

(४) वह भेंट या धन जो अपने इष्ट मित्र संबंधी इत्यादि के यहाँ से किसी शुभ या अशुभ कार्य्य में सम्मिलित होने का न्योता पाकर उसके यहाँ भेजा जाता है। जैसे, उसकी कन्या के विवाह में मैंने १००) न्योता भेजा था।

न्योरा†-संज्ञा पुं० दे० "नेवला"।

संज्ञा पुं० [सं० नूपुर] बड़े दानों का घुँघरू। नेवर।

न्योला-संज्ञा पुं० दे० "न्योला"।

न्योली-संज्ञा स्त्री० [सं० नली] नेती, धोती, आदि के समान हठयोग की एक क्रिया जिसमें पेट के नलों को पानी से साफ करते हैं।

न्हाना†*-क्रि० अ० दे० "नहाना"।

प

प

प–हिंदी वर्णमाला में स्पर्श व्यंजनों के अंतिम वर्ग का पहला वर्ण। इसका उच्चारण ओठ से होता है इसलिये शिक्षा में इसे ओष्ठय वर्ण कहा गया है। इसके उच्चारण में दोनों ओठ मिलते हैं इसलिये यह स्पर्श वर्ण है। इसके उच्चारण में शिक्षा के अनुसार विवार, श्वास, घोष और अल्पप्राण नामक प्रयत्न लगते हैं।

पंक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कीचड़। कीच।
यौ०—पंकज। पंकरुह।
(२) पानी के साथ मिला हुआ पोतने योग्य पदार्थ। लेप। उ०—श्याम अंग चंदन की आभा नागरि केसरि अंग। मलयज पंक कुमकुमा मिलि कै जल जमुना इक रंग।—सूर।

पंककीर–संज्ञा पुं० [सं०] टिटिहरी नाम की चिड़िया।

पंकक्रीड़–वि० [सं०] कीचड़ में खेलनेवाला।
संज्ञा पुं० सूअर।

पंकगड़क–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी मछली।

पंकग्राह–संज्ञा पुं० [सं०] मगर।

पंकज–वि० [सं०] कीचड में उत्पन्न होनेवाला।
संज्ञा पुं० कमल।

पंकजन्मा–संज्ञा पुं० [सं० पंकजन्मन्] कमल।

पंकजराग–संज्ञा पुं० [सं०] पद्मराग मणि। उ०—परिजन सहित राय रानिन कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल चार को ताके मनि मरकत पंकजराग।—तुलसी।

पंकजवाटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] तेरह अक्षरों का एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण, एक नगण, दो जगण और अंत में एक लघु होता है। इसे एकावली और कंजावली भी कहते हैं। उ०—श्री रघुबर तुम हो जगनायक। देखहु दशरथ को सुखदायक। सोदर सहित पिता पदपावन। वंदन किय तब हीं मनभावन।—केशव।

पंकजात–संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पंकजासन–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पंकजित्–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ के एक पुत्र का नाम।

पंकजिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पद्माकर। कमलाकर। (२) कमलिनी। कमलवृक्ष।

पंकदिग्धशरीर–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

पंकदिग्धांग–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

पंकधूम–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक नरक का नाम।

पंकपर्पटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सौराष्ट्रमृत्तिका। गोपी चंदन।

पंकप्रभा–संज्ञा पुं० [सं०] कीचड़ से भरे हुए एक नरक का नाम।

पंकमंडूक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोंघा। (२) छोटी सीप। सुतही।

पंकरुह–संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पंकवारि–संज्ञा स्त्री० [सं०] काँजी।

पंकवास–संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा।

पंकशुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ताल में होनेवाली सीप। सुतही। (२) घोंघा।

पंकार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पेड़ जो गड़हों के कीचड़ों में होता है। इस पौधे में स्त्री और पुरुष दो अलग जातियाँ होती हैं। (२) जलकुब्जक। (३) सिँघाड़ा। (४) सेवार। (५) पुल। (६) बाँध। सेतु। (७) सीढ़ी।

पंकिल–वि० [सं०] जिसमें कीचड़ हो। कीचड़वाला।

पंकेज–संज्ञा पुं० दे० "पंकज"।

पंकेरुह–संज्ञा पुं० [सं०] पंकरुह। कमल।

पंकेशया–संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक।

पंक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऐसा समूह जिसमें बहुत सी (विशेषतः एक ही या एक ही प्रकार की) वस्तुएँ एक दूसरे के उपरांत एक सीध में हों। श्रेणी। पाँती। कतार। लाइन। (२) चालीस अक्षरों का एक वैदिक छंद जिसका वर्ण नील, गोत्र भार्गव, देवता वरुण और स्वर पंचम है। (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में पाँच पाँच अक्षर अर्थात् एक भगण और अंत में दो गुरु होते हैं। उ०—भाग गुनै को। नारि नरा को। नाहि लखंती। अक्षर पंक्ती। (४) दस की संख्या। (५) सेना में दस दस योद्धाओं की श्रेणी। (६) कुलीन ब्राह्मणों की श्रेणी।
यौ०—पंक्तिच्युत। पंक्तिपावन।
(७) भोज में एक साथ बैठकर खानेवालों की श्रेणी। जैसे, उनके साथ हम एक पंक्ति में नहीं खा सकते।
यौ०—पंक्तिभेद।
विशेष—हिंदू आचार के अनुसार पतित आदि के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने का निषेध है।

पंक्तिकंटक–वि० [सं०] पंक्तिदूषक।

पंक्तिकृत–वि० [सं०] श्रेणीबद्ध।

पंक्तिग्रीव–संज्ञा पुं० [सं०] रावण।

पंक्तिचर–संज्ञा पुं० [सं०] कुरर पक्षी।

पंक्तिच्युत–वि० [सं०] किसी कलंक, दोष आदि के कारण जाति की श्रेणी से बाहर किया हुआ। बिरादरी से निकाला हुआ।

पंक्तिदूषक–वि०[सं०]पंगत को दूषित करनेवाला। नीच। कुजाति। जिसके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन नहीं कर सकते।
संज्ञा पुं० मनु आदि के मत से ऐसे ब्राह्मण जिनको श्राद्ध में भोजन कराना वा दानादि देना निषिद्ध माना गया है। इनकी गणना मनुस्मृति अध्याय ३ में दी गई है।

पंक्तिपावन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ब्राह्मण जिसको यज्ञादि में बुलाना, भोजन कराना और दान देना श्रेष्ठ माना गया

है। मनु आदि स्मृतियों में ऐसे ब्राह्मणों की गणना दी गई है। शास्त्रों का कथन है कि ऐसा ब्राह्मण यदि एक भी मिले तो वह ब्राह्मणों की पंक्ति को पवित्र कर देता है। (२) वह गृहस्थ जो पंचाग्नियुक्त हो।

पंक्तिबद्ध-वि० [सं०] श्रेणीबद्ध। पाँति में लगा हुआ। कतार में बँधा हुआ।

पंक्तिरथ-संज्ञा पुं० [सं०] राजा दशरथ।

पंक्तिवाह्य-वि० [सं०] पंगति से निकाला हुआ। जातिच्युत।

पंक्तिवीज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वबूल। (२) उरगा। (३) कर्णिकार।

पंख-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, प्रा० पक्ख] पर। डैना। वह अवयव जिससे चिड़िया, फतिंगे आदि हवा में उड़ते हैं। उ०—(क) पंख छुता परबस परा सूआ के बुधि नाहिं।—कबीर। (ख) काटेसि पंख परा खग धरनी।—तुलसी।

मुहा०—पंख जमना = (१) न रहने का लक्षण उत्पन्न होना। भागने या चले जाने का लक्षण देख पड़ना। जैसे, इस नौकर को भी अब पंख जमे, अब यह न रहेगा। (२) इधर उधर घूमने की इच्छा देख पड़ना। बहकने या बुरे रास्ते पर जाने का रंग ढंग दिखाई पड़ना। जैसे, इस लड़के को भी अब पंख जम रहे हैं। (३) प्राण खोने का लक्षण दिखाई देना। शामत आना। (बरसात में चींटों चींटियों तथा और कीड़ों को पर निकलते हैं और वे उड़ उड़कर मर जाते हैं इससे यह मुहा० बना।) पंख लगना = पक्षी के समान वेगवान् होना।

पँखड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पंखा-संज्ञा पुं० [हिं० पंख] [स्त्री० अल्प०पंखी] वह वस्तु जिसे हिलाकर हवा का झोंका किसी ओर ले जाते हैं। बिजना। बेना।

विशेष—यह भिन्न भिन्न वस्तुओं का तथा भिन्न भिन्न आकार और आकृति का बनाया जाता है और इसके हिलाने से वायु चलकर शरीर में लगती है। छोटे छोटे बेनों से लेकर जिसे लोग अपने हाथों में लेकर हिलाते हैं, बड़े बड़े पंखों तक के लिये जिसे दूसरे हाथ में पकड़कर हिलाते हैं या जो छत में लटकाए जाते हैं और डोरी के सहारे से खींचे जाते हैं वा जिन्हें चरखी से चलाकर वा बिजली आदि से हिलाकर वायु में गति उत्पन्न की जाती है सब के लिये केवल 'पंखा' शब्द से काम चल सकता है। इसे पंख के आकार का होने के कारण अथवा पहले पंख से बनाए जाने के कारण पंखा कहते हैं। उ०—अवनि सेज पंखा पवन अब न कछू परवाह।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—चलाना।—खींचना।—झलना।—हिलाना—डुलाना।

मुहा०-पंखा करना = पंखा हिला या डुलाकर वायु संचारित करना।

पंखाकुली-संज्ञा पुं० [हिं० पंखा+कुली] वह कुली जो पंखा खींचने के लिये नियत किया गया हो।

पंखाज-संज्ञा पुं० दे० "पखाउज"।

पंखापोश-संज्ञा पुं० [हिं० पंखा + फा०पोश] पंखे के ऊपर का गिलाफ। उ०—पिहित पराई बात इंगित सों बोध करै पी को देखि श्रमित उतार्‍यो पंखापोस है।—दूलह।

पँखिया†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंख] (१) भूसे वा भूसी के महीन टुकड़े। पाँकी। (२) पखड़ी।

पंखी-संज्ञा पुं० [सं० पक्षी, पा० पक्खी] (१) पच्छी। चिड़िया। उ०—पगै पगै भुइँ चंपत आवा। पंखिन देखि सबन डर खावा।—जायसी। (२) कबूतर के पंख से बँधी हुई सूत की बत्ती जिसे ढरकी के छेदों में अँटकाते हैं (जुलाहे)। (३) पाँखी। फतिंगा। (४) एक प्रकार का ऊनी कपड़ा जो भेड़ के बाल से पहाड़ों में बुना जाता है। (५) वह पतली पतली हलकी पत्तियाँ जो साखू के फल के सिरे पर होती हैं। (६) पँखड़ी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पंखा] छोटा पंखा।

पँखुड़ा†-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, हिं० पंख] मनुष्य के शरीर में कंधे के पास का वह भाग जहाँ हाथ जुड़ा रहता है। पखौरा। कंधे और बाँह का जोड़।

पँखुड़ी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंख] फूल का दल। पखड़ी। उ०—(क) कमल सूख पखुड़ी भइ रानी। गलि गलि के मिलि छार झुरानी।—जायसी। (ख) बोलता मध्ये में बसे हीरा बरन सरूप। सात पंखुरी सुरत की किंचित वस्तु अनूप।—कबीर। (ग) मैं बरजी कै बार तू इत कित लेति करौट। पँखुरी गड़ै गुलाब की परिहै गात खरौंट।—बिहारी।

पँखुरा-संज्ञा पुं० दे० "पँखुड़ा"।

पँखेरू-संज्ञा पुं० दे० "पखेरू"।

पंग-वि० [सं० पंगु] (१) लँगड़ा। (२) स्तब्ध। बेकाम। उ०—नख सिख रूप देखि हरिजू के होत नयन-गति पंग।—सूर।

संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जो आसाम की ओर सिलहट कछार आदि में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है और मकानों में लगती है। इसका कोयला भी बहुत अच्छा होता है। लकड़ी से एक प्रकार का रंग भी निकलता है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का नमक जो लिवरपूल से आता है।

पंगत, पंगति-संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति, पा० पता](१) पाँती। पंक्ति। उ०—वरदंत की पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोलन की। चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की। घुघुरीली लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की। निवछावर प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की।—तुलसी।

क्रि० प्र०—जोड़ना।

(२) भोज के समय भोजन करनेवालों की पंक्ति।

क्रि० प्र०—बैठना।—उठना।—लगना।

(३) भोज।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।—होना।—देना।

(४) समाज। सभा। (५) जुलाहों के करघे का एक औजार जो दो सरकंडों से बनाया जाता है।

विशेष—इन्हें कैंची की तरह स्थान स्थान पर गाड़ देते हैं। इनके ऊपरी छेदों पर ताने के किनारे के सूत इसलिये फँसा दिए जाते हैं जिसमें ताना फैला रहे।

पँगला-वि० [सं० पंगु + ल (प्रत्य०)] [स्त्री० पँगली] पंगु। लँगड़ा।

पंगा-वि० [सं० पंगु] [स्त्री० पंगी] (१) लँगड़ा। (२) स्तब्ध। बेकाम। उ०—नागरी सकल संकेत आकारिनी गनत गुनगनन मति होत पंगी।—नागरीदास।

पंगायता-संज्ञा पुं० [हिं० पग] पायताना। गोडवारी।

पंगास-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार की मछली।

पंगी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंक, हिं० पाँक] धान के खेत में लगनेवाला एक कीड़ा।

पंगु-वि० [सं०] जो पैर से चल न सकता हो। लँगड़ा। उ०—(क) मूक होहिं वाचाल पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन। जासु कृपा सु दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन।—तुलसी। (ख) मति भारति पंगु भई जो निहारि विचारि फिरी उपमा न पवै।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शनैश्चर। (२) एक रोग। यह मनुष्य के पैरों में जांघों में होता है। यह वात रोग का भेद है। वैद्यक का मत है कि कमर में रहनेवाली वायु जांघों की नसों को पकड़कर सिकोड़ देती है जिससे रोगी के पैर सिकुड़ जाते हैं और वह चल फिर नहीं सकता। (३) एक प्रकार का साधु जो भिक्षा वा मलमूत्रोत्सर्ग के अतिरिक्त अपने स्थान से उठ किसी और काम के लिये दिन भर में एक योजन से बाहर नहीं जाता।

पंगुगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वर्णिक छंदों का एक दोष। जब किसी वर्णिक छंद में लघु के स्थान में गुरु वा गुरु के स्थान में लघु आ जाता है तब यह दोष माना जाता है। जैसे, "फूटि गए श्रुति ज्ञान के केशव आंखि अनेक विवेक की फूटी।" इसमें ज्ञान के साथ 'के' और विवेक के साथ 'की' गुरु हैं। यहाँ नियमानुसार लघु होना चाहिए था।

पंगुग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगर। (२) मकर राशि।

पंगुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडी का पेड़। (२) सफेद घोड़ा जो सफेद काँच के रंग का हो। (३) सफेद रंग का घोड़ा।

वि० [सं० पंगु] पंगु। लँगड़ा।

पंगुल्यहारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंगोनी।

पंगो-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँक] मिट्टी जो नदी अपने किनारे बरसात बीत जाने पर डालती है।

पंच-वि० [सं०] पाँच। जो संख्या में चार से एक अधिक हो।

यौ०—पंचपात्र। पंचनख। पंचानन। पंचामृत। पंचशर। पंचेंद्रिय।

संज्ञा पुं० (१) पाँच की संख्या वा अंक। (२) पाँच वा अधिक मनुष्यों का समुदाय। समाज। जनसाधारण। सर्वसाधारण। जनता। लोक। जैसे, पंच की आज्ञा सिर पर है। उ०—(क) पंच कहैं शिव सती विवाही। पुनि अवडेरि मरायनि ताही।—तुलसी। (ख) साँई तेली तिलन सों कियो नेह निर्वाह। छाँटि फटकि ऊजर करी दई बड़ाई ताहि। दई बड़ाई ताहि पंच महँ सिगरे जानी। दै कोल्हू में पेरि करी एकत्तर घानी।—गिरिधर।

मुहा०—पंच की भीख = दस आदमियों का अनुग्रह। सर्वसाधारण की कृपा। सब का आशीर्वाद। उ०—और ग्वाल सब गृह आए गोपालहि बेर भई।......राज करैं वे धेनु तुम्हारी नंदहि कहति सुनाई। पंच की भीख सूर बलि मोहन कहति जसोदा माई।—सूर। पंच की दुहाई = सब लोगों से अन्याय दूर करने वा सहायता करने की पुकार। पंच परमेश्वर = दस आदमियों का कहना ईश्वर-वाक्य के तुल्य है।

(३) पाँच वा अधिक आदमियों का समाज जो किसी झगड़े या मामले को निबटाने के लिये एकत्र हो। न्याय करनेवाली सभा।

क्रि० प्र०—बुलाना।

यौ०—सरपंच। पंचनामा।

मुहा०—(किसी को) पंच मानना या बदना = झगड़ा निबटाने के लिये किसी को नियत करना। झगड़ा निबटानेवाला स्वीकार करना। उ०—दोनों ने मुझे पंच माना।—शिवप्रसाद।

(४) वह जो फौजदारी के दौरे के मुकद्दमे में दौरा जज की अदालत में मुकदमे के फैसले में जज की सहायता के लिये नियत हो। (५) दलाल। (दलाल)

पंचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच का समूह। पाँच का संग्रह। जैसे, इंद्रियपंचक, पद्यपंचक। (२) वह जिसके पाँच अवयव या भाग हों। (३) पाँच सैकड़े का ब्याज। (४) धनिष्ठा आदि पांच नक्षत्र जिनमें किसी नए कार्य्य का आरंभ निषिद्ध है। (फलित)। पचखा। (५) शकुनशास्त्र। (६) पाशुपत दर्शन में गिनाई हुई ८ वस्तुएँ जिनमें से प्रत्येक के पाँच पाँच भेद किए गए हैं। वे आठ वस्तुएँ ये हैं—लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षा, कारिक और बल।

पंचकन्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पाँच स्त्रियां जो सदा कन्या ही रहीं अर्थात् विवाह आदि करने पर भी जिनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ। अहल्या, द्रौपदी, कुंती, तारा और मंदोदरी ये पाँच कन्याएँ कही गई हैं।

पंचकपाल–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरोडाश जो पाँच कपालों में पृथक् पृथक् पकाया ज़ाय ।

पंचकर्प–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश जो पश्चिम ओर था और जिसे नकुल ने राजसूय यज्ञ के समय जीता था।

पंचकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिकित्सा की पाँच क्रियाएँ—वमन, विरेचन, नस्य, निरूहवस्ति और अनुवासन । कुछ लोग निरूहवस्ति और अनुवस्ति के स्थान में स्नेहन और वस्तिकरण मानते हैं। (२) वैशेषिक के अनुसार पाँच प्रकार के कर्म—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ।

पंचकल्याण–संज्ञा पुं० [सं०] वह घोड़ा जिसका सिर (माथा) और चारों पैर सफेद हों और शेष शरीर लाल, काला या किसी रंग का हो। ऐसा घोड़ा शुभ फल देनेवाला माना जाता है।

पंचकवल–संज्ञा पुं० [सं०] पाँच ग्रास अन्न जो स्मृति के अनुसार खाने के पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी, कौए आदि के लिये अलग निकाल दिया जाता हैं । यह कृत्य बलिवैश्वदेव का अंग माना जाता है। अग्राशन। अगरासन। उ०—पंचकवल करि जेवन लागे। गारि गान करि अति अनुरागे।—तुलसी।

पंचकषाय–संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार इन पाँच वृक्षों का कषाय—जामुन, सेमर, खिरैंटी, मौलसिरी और बेर ।

विशेष—यह कसाय छाल को पानी में भिगोकर निकाला जाता है और दुर्गा के पूजन में काम में आता है ।

पंचकाम–संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रसार के अनुसार पाँच कामदेव जिनके नाम ये हैं—काम, मन्मथ, कंदर्प, मकरध्वज और मीनकेतु ।

पंचकारण–संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्र के अनुसार पाँच कारण जिनसे किसी कार्य्य की उत्पत्ति होती है। वे ये हैं—काल, स्वभाव, नियति, पुरुष और कर्म ।

पँचकुरा†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + कूरा] एक प्रकार की बँटाई जिसमें खेत की उपज के पाँच भागों में से एक भाग जमींदार लेता है ।

पंचकृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर या महादेव के ये पाँच प्रकार के कर्म—सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, विधान और अनुग्रह । (सर्वदर्शन०)। (२) पक्तपौड़ वृक्ष । पखौंड़े का पेड़।

पंचकृष्ण–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक कीट का नाम।

पंचकोण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच कोने । (२) कुंडली में लग्न से पाँचवाँ और नवाँ स्थान ।

वि० जिसमें पाँच कोने हों। पँचकोना।

पंचकोल–संज्ञा पुं० [सं०] पीपल, पिपरामूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठ । वैद्यक में इन्हें पाचन, रुचिकर तथा गुल्म और प्लीहा रोगनाशक माना है ।

पंचकोश–संज्ञा पुं० [सं०] उपनिषद् और वेदांत के अनुसार शरीर संघटित करनेवाले पाँच कोश (स्तर) जिनके नाम ये हैं—अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनंदमयकोश । इनमें स्थूल शरीर को अन्नमयकोश, पाँचों कर्मेंद्रियों सहित प्राण को प्राणमयकोश, पाँचों ज्ञानेंद्रियों के सहित मन को मनोमयकोश, पाँचों ज्ञानेंद्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश तथा अहंकारात्मक वा अविद्यात्मक को आनंदमय कोश कहते हैं । पहले को स्थूल शरीर, दूसरे को सूक्ष्म शरीर और तीसरे, चौथे और पाँचवें को कारण शरीर कहते हैं ।

पंचकोष–संज्ञा पुं० दे० "पंचकोश" ।

पंचकोस–संज्ञा पुं० [सं० पंचकोश] [संज्ञा पंचकोसी] पाँच कोस की लंबाई और चौड़ाई के बीच बसी हुई काशी की पवित्र भूमि । काशी । उ०—पंचकोस पुन्य को सुआरथ परमारथ को जानि आप अपने सुपास बास दियो है ।—तुलसी ।

पंचकोसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पंचकोस] काशी की परिक्रमा ।

पंचक्रोश–संज्ञा पुं० [सं०] पंचकोस । काशी । उ०—स्वारथ परमारथ परिपूरन पंचक्रोश महिमा सी ।—तुलसी ।

पंचक्लेश–संज्ञा पुं० [सं०] योगशास्त्रानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच प्रकार के क्लेश।

पंचक्षारगण–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार पाँच मुख्य क्षार या लवण—काचलवण, सैंधव, सामुद्र, विट् और सौवर्चल।

पंचगंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच नदियों का समूह—गंगा, यमुना, सरस्वती, किरणा और धूतपापा । इसे पंचनद भी कहते हैं । (२) काशी का एक प्रसिद्ध स्थान जहाँ गंगा के साथ किरणा और धूतपापा नदियाँ मिली थीं । ये दोनों नदियाँ अब पटकर लुप्त हो गई हैं ।

पंचगण–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्रानुसार इन पाँच ओषधियों का गण—विदारीगंधा, वृहती, पृश्निपर्णी, निदिग्धिका और भूकूष्मांड ।

पंचगत–संज्ञा पुं० [सं०] बीजगणित के अनुसार वह राशि जिसमें पाँच वर्ण हों ।

पंचगव्य–संज्ञा पुं० [सं०] गाय से प्राप्त होनेवाले पाँच द्रव्य, दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र—जो बहुत पवित्र माने जाते हैं और पापों के प्रायश्चित्त आदि में खिलाए जाते हैं।

विशेष—पंचगव्य में प्रत्येक द्रव्य का परिमाण इस प्रकार कहा गया है—घी, दूध, गोमूत्र एक एक पल, दही एक प्रसृति (पसर) और गोबर तीन तोले ।

पंचगव्यघृत–संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद के अनुसार बनाया हुआ एक घृत जो अपस्मार (मिरगी) और उन्माद में दिया जाता है।

विशेष—गाय का दूध, घी, दही, गोबर का रस और गोमूत्र

चार चार सेर और पानी सोलह सेर सबको एक साथ एक दिन पकाने पर यह बनता है।

पंचगीत-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के अंतर्गत पाँच प्रसिद्ध प्रकरण जिनके नाम ये हैं, वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत और महिषीगीत।

पंचगुप्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कछुवा। (२) चार्वाक दर्शन जिसमें पंचेंद्रिय का गोपन प्रधान माना गया है।

पंचगुप्ति रसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] असवरग। स्पृक्का।

पंचगौड़-संज्ञा पुं० [सं०] देशानुसार विंध्य के उत्तर बसनेवाले ब्राह्मणों के पाँच भेद—सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल और उत्कल।

विशेष—यह विभाग स्कंदपुराण के सह्याद्रि खंड में मिलता है, और किसी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलता। दे० "गौड़"।

पंचचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रशास्त्रानुसार पाँच प्रकार के चक्र जिनके नाम ये हैं—राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र, और पशुचक्र।

पंचचत्वारिंश-वि० [सं०] पैंतालीसवाँ।

पंचचत्वारिंशत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] पैंतालीस।

पंचचामर-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम। इसके प्रत्येक चरण में जगण रगण, जगण, रगण, जगण और अंत में गुरु होते हैं। इसे नाराच और गिरिराज भी कहते हैं। दे० "नाराच"।

पंचचूड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा। (रामायण)

पंचजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच वा पाँच प्रकार के जनों का समूह। (२) गंधर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस। (३) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद। (४) मनुष्य। जनसमुदाय। (५) पुरुष। (६) मनुष्य जीव और शरीर से संबंध रखनेवाले प्राण आदि। (७) एक प्रजापति का नाम। (८) एक असुर जो पाताल में रहता था। यह कृष्णचंद्र के गुरु संदीपनाचार्य के पुत्र को चुरा ले गया था। कृष्णचंद्र इसे मारकर गुरु के पुत्र को छुड़ा लाए थे। इसी असुर की हड्डी से पंचजन्य शंख बना था जिसे भगवान् कृष्णचंद्र बजाया करते थे। (९) राजा सगर के पुत्र का नाम।

पंचजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच मनुष्यों की मंडली। पंचायत।

पंचजनीन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाँड़। नकल करनेवाला। (२) नट। स्वाँग बनानेवाला। अभिनेता।

पंचजन्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध शंख जिसे कृष्णचंद्र बजाया करते थे। यह एक राक्षस की हड्डी का था जिसका नाम पंचजन था।

पंचतंत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वीणा जिसमें पाँच तार लगते हैं।

वि० [सं० पंचतंत्रिन्] जिसमें पाँच तार हों। पाँच तार का बना हुआ।

पंचतत्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंचभूत। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। (२) वाम मार्ग के अनुसार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। इन्हें पाँच प्रकार भी कहते हैं। (३) तंत्र के अनुसार गुरुतत्त्व, मंत्रतत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व।

पंचतन्मात्र- संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य में पाँच स्थूल महाभूतों के कारण-रूप सूक्ष्म महाभूत जो अतींद्रिय माने गए हैं। इनके नाम हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। तन्मात्र ये इस कारण कहलाते हैं कि ये विशुद्ध रूप में रहते हैं अर्थात् एक में किसी दूसरे का मेल नहीं रहता। स्थूल भूत विशुद्ध नहीं होते। एक भूत में दूसरे भूत भी सूक्ष्म रूप में मिले रहते हैं। विशेष—दे० "तन्मात्र"।

पंचतपा- संज्ञा पुं० [सं० पंचतपस्] पंचाग्नि तापनेवाला। तपस्वी। चारों ओर आग जलाकर धूप में बैठकर तप करनेवाला।

पंचतरु-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वृक्ष—मंदार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचंदन।

पंचता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच का भाव। (२) शरीर घटित करनेवाले पाँचों भूतों का अलग अलग अवस्थान। मृत्यु। विनाश।

पंचताल-संज्ञा पुं० [सं०] अष्टताल का एक भेद। इस भेद में पहले युगल, फिर एक, फिर युगल और अंत में शून्य होता है।

पंचतालेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] शुद्ध जाति का एक राग।

पंचतिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेद में इन पांच कड़ुई ओषधियों का समूह—गिलोय (गुरुच), कंटकारि (भटकटैया), सोंठ, कुट और चिरायता (चक्रदत्त)। पंचतिक्त का काढ़ा ज्वर में दिया जाता है। भावप्रकाश में पंचतिक्त ये हैं—नीम की जड़ की छाल, परवल की जड़, अडूसा, कंटकारि (कटैया) और गिलोय। यह पंचतिक्त ज्वर के अतिरिक्त विसर्प और कुष्ठ आदि रक्तदोष के रोगों पर भी चलता है।

पंचतृण-संज्ञा पुं० [सं०] इन पाँच तृणों का समूह—कुश, काँस, शर (सरकंडा), दर्भ (डाभ) और ईख। भावप्रकाश के मत से—शालि (धान), ईख, कुश, काश और शर।

पंचतोलिया-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का झीना महीन कपड़ा। उ०—(क) सहज सेत पँचतोरिया पहिरे अति छबि देत।—बिहारी। (ख) सेत जरतारी की उज्यारी कंचुकी को कसि अनियारी डीठि प्यारी पैन्हीं पंचतोरिया।—देव।

पंचत्रिंश- वि० [सं०] पैंतीसवाँ।

पंचत्रिंशत्-वि० [सं०] पैंतीस।

पंचत्व- संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच का भाव। (२) शरीर

संघटित करनेवाले पाँचों भूतों का अलग अलग अवस्थान। मृत्यु। विनाश।

क्रि० प्र०—होना।

मुहा०—पंचत्व प्राप्त होना = मरना।

पंचथु-संज्ञा पुं० [सं०] कोयल।

पंचदश-वि० [सं०] पंद्रह।

संज्ञा पुं० पंद्रह की संख्या।

पंचदशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णमासी। (२) अमावास्या। (३) वेदांत का एक प्रसिद्ध ग्रंथ।

पंचदेव-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रधान देवता जिनकी उपासना आजकल हिंदुओं में प्रचलित है—आदित्य, रुद्र, विष्णु, गणेश और देवी।

विशेष—इन देवताओं में यद्यपि तीन वैदिक हैं पर सबका ध्यान और सबकी पूजा पौराणिक और तांत्रिक पद्धति के अनुसार होती है। इन देवताओं में प्रत्येक के अनेक विग्रह हैं जिनके अनुसार अनेक नाम रूपों से उपासना होती है। कुछ लोग तो पाँचों देवताओं की उपासना समान भाव से करते हैं और कुछ लोग किसी विशेष संप्रदाय के अंतर्गत होकर किसी विशेष देवता की उपासना करते हैं। विष्णु के उपासक वैष्णव, शिव के उपासक शैव, सूर्य्य के उपासक सौर और गणपति के उपासक गाणपत्य कहलाते हैं।

पंचद्रविड़-संज्ञा पुं० [सं०] उन ब्राह्मणों के पाँच भेद जो विंध्याचल के दक्षिण बसते हैं—महाराष्ट्र, तैलंग, कर्णाट, गुर्जर और द्रविड़।

पंचनख-संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसके हाथ और पैरों में पाँच पाँच नख होते हैं। जैसे, बंदर।

विशेष—स्मृतियों में इनके मांस खाने का निषेध है।

पंचनद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच नदियों का समाहार। पंजाब की वे पाँच प्रधान नदियाँ जो सिंधु में मिलती हैं—सतलज, ब्यास, रावी, चनाब और झेलम। (२) पंजाब प्रदेश जहाँ उक्त पाँच नदियाँ बहती हैं। (३) काशी के अंतर्गत एक तीर्थ जिसे पंचगंगा कहते हैं।

पंचनवत-वि० [सं०] पंचानबेवाँ।

पंचनवति- संज्ञा स्त्री० [सं०] पंचानबे की संख्या।

पंचनाथ-संज्ञा पुं० [सं० पंच + नाथ] बदरीनाथ, द्वारकानाथ, जगन्नाथ, रंगनाथ और श्रीनाथ। उ०—पंचनाथ कलिपानन जोई। निरखे नर नारायण होई।—गोपाल।

पंचनामा-संज्ञा पुं० [हिं० पंच+फा० नाम] वह कागज जिस पर पंच लोगों ने अपना निर्णय या फैसला लिखा हो।

पंचनिंब-संज्ञा पुं० [सं०] नीम के पाँच अवयव—पत्ता, छाल, फूल, फल और मूल।

पंचपक्षी-संज्ञा पुं० [सं० पंचपाक्षिन्] एक प्रकार का शकुन शास्त्र जिसमें अ, इ, उ, ए और ओ इन पाँच वर्णों को पक्षी कल्पना करके शुभाशुभ विचार किया जाता है।

पंचपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक पेड़। चंडालकंद।

पंचपनड़ी†- संज्ञा स्त्री० दे० "पचौली"।

पंचपर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरक्षी नाम का पौधा।

पंचपल्लव-संज्ञा पुं० [सं०] इन पाँच वृक्षों के पल्लव—आम, जामुन, कैथ, बिजौरा (बीजपूरक) और बेल। कोई कोई आम, वट और मौलसिरी के पल्लवों को पंचपल्लव में लेते हैं। पूजा में घट के ऊपर रखने के लिये पंचपल्लव का प्रयोजन पड़ता है।

पंचपात-संज्ञा पुं० [सं० पंचपत्र] पँचौली नाम का पौधा। पंचपनड़ी।

पंचपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिलास के आकार का चौड़े मुँह का एक बरतन जो पूजा में जल रखने के काम में आता है। इसके मुँह का घेरा पेंदे के घेरे के बराबर ही होता है। (२) पार्वण श्राद्ध।

पंचपिता, पंचपितृ-संज्ञा पुं० [सं०] पिता, आचार्य्य, श्वसुर, अन्नदाता और भय से रक्षक।

पंचपित्त-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्र के अनुसार वराह, छाग, महिष, मत्स्य और मयूर का पित्त।

पंचपीरिया-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + फा० पीर] मुसलमानों के पाँचों पीरों की पूजा करनेवाला।

पंचपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] देवी पुराणानुसार ये पाँच फूल जो देवताओं को प्रिय हैं—चंपा, आम, शमी, कमल और कनेर।

पंचप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्राण वा वायु—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।

पंचबटी-संज्ञा स्त्री० दे० "पंचवटी"।

पंचबला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में बला, अतिबला, नागबला, राजबला और महाबला नामक ओषधियों का समूह।

पंचबाण-संज्ञा पुं० दे० "पंचवाण"।

पंचभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक में एक ओषधिगण जिसमें गिलोय, पित्तपापड़ा, मोथा, चिरायता और सोंठ हैं। (२) पंचकल्याण घोड़ा।

पंचभर्त्तारी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंच + भर्त्तार] द्रौपदी।

पंचभूत-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रधान तत्त्व जिनसे संसार की सृष्टि हुई है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी।

विशेष—दे० "भूत"।

पंचम-वि० [सं०][स्त्री० पंचमी] (१) पाँचवाँ। (२) रुचिर। सुंदर। (३) दक्ष। निपुण।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सात स्वरों में पाँचवाँ स्वर। यह स्वर पिक वा कोकिल के स्वर के अनुरूप माना गया है। संगीत शास्त्र में इस स्वर का वर्ण ब्राह्मण, रंग श्याम, देवता महादेव, रूप इंद्र के समान और स्थान क्रौंच द्वीप लिखा है।

यमली, निर्मली और कोमली नाम की इसकी तीन मूर्च्छनाएँ मानी गई हैं। भरत के अनुसार इसके उच्चारण में वायु नाभि उरु, हृदय, कंठ और मूर्द्धा नामक पाँच स्थानों में लगती है, इसलिये इसे पंचम कहते हैं। संगीत दामोदर का मत है कि इसमें प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान एक साथ लगते हैं इसी लिये यह पंचम कहलाता है। स्वरग्राम में इसका संकेत 'प' होता है। (२) एक राग जो छः प्रधान रागों में तीसरा है। कोई इसे हिंडोल राग का पुत्र और कोई भैरव का पुत्र बतलाते हैं। कुछ लोग इसे ललित और वसंत के योग से बना हुआ मानते हैं और कुछ लोग हिंडोल, गाँधार और मनोहर के मेल से। सोमेश्वर के मत से इसके गाने का समय शरद ऋतु और प्रातःकाल है और विभाषा, भूपाली, कर्णाटी, वडहंसिका, मालश्री, पटमंजरी नाम की इसकी छः रागिनियाँ हैं, पर कल्लिनाथ त्रिवेणी, स्तंभतीर्था, आभीरी, ककुभ, वरारी और सावीरी को इसकी रागिनियाँ बतलाते हैं। कुछ लोग इसे ओड़व जाति का राग मानते हैं और ऋषभ कोमल पंचम और गांधार स्वरों को इसमें वर्जित बताते हैं। (३) मैथुन।

पंचमकार-संज्ञा पुं० [सं०] वाममार्ग के अनुसार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन।

पंचमहापातक-संज्ञा पुं० [सं०] मनुस्मृति के अनुसार ये पाँच महापातक हैं—ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरु की स्त्री से व्यभिचार और इन पातकों के करनेवालों के साथ संसर्ग।

पंचमहायज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों और गृह्य सूत्रों के अनुसार पाँच कृत्य जिनका नित्य करना गृहस्थों के लिये आवश्यक है। गृहस्थों के गृहकार्य्य में पाँच प्रकार से हिंसा होती है जिसे धर्म्मशास्त्रों में पंचसूना कहते हैं। इन्हीं हिंसाओं के पाप से निवृत्ति के लिये धर्मशास्त्रों में इन कृत्यों का विधान है। कृत्य ये हैं—

(१) अध्यापन जिसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। संध्यावंदन इसी अध्यापन के अंतर्गत है।

(२) पितृतर्पण जिसे पितृयज्ञ कहते हैं।

(३) होम जिसका नाम देवयज्ञ है।

(४) बलिवैश्वदेव वा भूतयज्ञ।

(५) अतिथिपूजन—नृयज्ञ वा मनुष्ययज्ञ।

पंचमहाव्याधि-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्र के अनुसार ये पाँच बड़े रोग—अर्श, यक्ष्मा, कुष्ठ, प्रमेह और उन्माद।

पंचमहाव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार ये पाँच आचरण—अहिंसा, सूनृता, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन्हें पतंजलि जी ने 'यम' माना है। जैन यतियों के लिये इनका ग्रहण जैन शास्त्र में आवश्यक बतलाया गया है।

पंचमहाशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच प्रकार के बाजे जिन्हें एक साथ बजवाने का अधिकार प्राचीन काल में राजाओं महाराजाओं को ही प्राप्त था। इसमें ये पाँच बाजे माने गए हैं—शृंग (सींग), तम्मट (खँजड़ी ?), शंख, भेरी और जयघंटा।

पंचमहिष-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार भैंस से प्राप्त पाँच पदार्थ—मूत्र, गोबर, दही, दूध और घी।

पंचमास्य-वि० [सं०] पाँच महीने का।

संज्ञा पुं० कोकिल।

पंचमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्ल वा कृष्ण पक्ष की पाँचवीं तिथि। व्रत आदि के लिये चतुर्थीयुक्ता पंचमी तिथि ग्राह्य मानी गई है। (२) द्रौपदी। (३) एक रागिनी। (४) व्याकरण में अपादान कारक। (५) एक प्रकार की ईंट जो एक पुरुष की लंबाई के पाँचवें भाग के बराबर होती थी और यज्ञों में वेदी बनाने में काम आती थी। (६) तंत्र में एक मंत्रविधि।

पंचमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सिंह। (३) एक प्रकार का रुद्राक्ष जिसमें पाँच लकीरें होती हैं।

पंचमुखी-वि० [सं० पंचमुखिन्] पाँच मुखवाला।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वासा। अडूसा। (२) जवा। गुड़हल का फूल। (३) सिंही। (४) पार्वती।

पंचमुद्रा-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार पूजनविधि में पाँच प्रकार की मुद्राएँ—आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, संबोधिनी और सम्मुखीकरणी।

पंचमुष्टिक-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक औषध जो सन्निपात में दी जाती है।

विशेष—जौ, बेर का फल, कुलथी, मूँग और काष्ठामलक, एक एक मुट्ठी लेकर अठगुने पानी में पकाने से यह बनती है।

पंचमूल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक पाचन औषध जो ओषधियों की जड़ लेकर बनती है।

विशेष—ओषधि भेद से पंचमूल कई हैं—जैसे, बृहत्, स्वल्प, तृण, शतावर्त, जीवन, वला, गोक्षुर इत्यादि।

वृहत्पंचमूल—बेल, सोनापाठ (श्योनाक), गँभारी, पाँडर और गनियारी।

स्वल्पपंचमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी (पिठवन), बड़ी भटकटैया, छोटी भटकटैया, गोखरू।

तृणपंचमूल—कुश, काश, शर, इक्षु और दर्भ।

पंचमूली-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वल्पपंचमूल।

पँचमेल-वि० [हिं० पाँच + मेल वा मिलाना] (१) जिसमें पाँच प्रकार की चीजें मिली हों। जैसे, पँचमेल मिठाई। (२) जिसमें सब प्रकार की चीजें मिली हों। मिला जुला ढेर। (३) साधारण।

पंचमेश-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार पाचवें घर का स्वामी ।

पंचयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] पंचमहायज्ञ ।

पंचयाम-संज्ञा पुं० [सं०] दिन ।

विशेष—शास्त्रों में दिन के पांच पहर और रात के तीन पहर माने गए हैं । रात के पहले चार दंड और पिछले चार दंड दिन में लिए गए हैं ।

पंचरंग, पचरंगा-वि० [हिं० पाँच + रंग] (१) पाँच रंग का । उ०—पँचरँग सारी मँगावो । बंधु जन सब पहरावो ।—सूर । (२) अनेक रंगों का । रंग बिरंग का ।

पंचरक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] पखौड़ा वृक्ष ।

पंचरत्न-संज्ञा पुं० [सं०] पांच प्रकार के रत्न । कुछ लोग सोना, हीरा, नीलम, लाल और मोती को पंचरत्न मानते हैं और कुछ लोग मोती, मूँगा, वैक्रांत, हीरा और पन्ना को ।

पचरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आमला ।

पंचरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पांच रातों का समूह । (२) एक यज्ञ जो पाँच दिन में होता था । (३) वैष्णव धर्म का एक प्रसिद्ध ग्रंथ ।

पंचराशिक-संज्ञा पुं० [सं०] गणित में एक प्रकार का हिसाब जिसमें चार ज्ञात राशियों के द्वारा पाँचवीं अज्ञात राशि का पता लगाया जाता है ।

पंचरीक-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत शास्त्र के अनुसार एक ताल ।

पंचल-संज्ञा पुं० [सं०] शकरकंद ।

पंचलक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराण के पाँच चिह्न या लक्षण जो ये हैं—सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, देवताओं की उत्पत्ति और वंशपरंपरा, मन्वंतर, मनु के वंश का विस्तार ।

पँचलड़ा-वि० [हिं० पाँच + लड़] पाँच लड़ों का । जैसे, पँचलड़ा हार ।

पँचलड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + लड़] गले में पहनने की पाँच लड़ों की माला ।

पँचलरी-संज्ञा स्त्री० दे० "पँचलड़ी" ।

पंचलवण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक शास्त्रानुसार पाँच प्रकार के लवण—काँच, सेंधा, सामुद्र, विट और सोंचर ।

पंचलोह, पंचलोहक-संज्ञा पुं० दे० "पंचलौह" ।

पंचलौह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पांच धातुएँ—सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा और राँगा । (२) पांच प्रकार का लोहा—वज्रलौह, कांतलौह, पिंडलौह और क्रौंचलौह ।

पंचवटी-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार दंडकारण्य के अंतगत एक स्थान जहां रामचंद्र जी वनवास में रहे थे । यह स्थान गोदावरी के किनारे पर नासिक के पास है । सीताहरण यहीं हुआ था ।

पंचवदन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

पंचवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वस्तुओं का समूह । जैसे, पाँच प्रकार के चर, पाँच इंद्रियाँ ।

पंचवर्ण-संज्ञा पुं०[सं०] (१) प्रणव के पाँच वर्ण अर्थात् अ, उ, म, नाद और विंदु । (२) एक वन का नाम । (३) एक पर्वत का नाम ।

पंचवल्कल-संज्ञा पुं० [सं०] वट, गूलर, पीपल, पाकर और बेत वा सिरिस की छाल ।

पँचवाँसा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + मास] एक रीति जो गर्भ रहने से पाँचवें महीने में की जाती है । गर्भाधान से पंचम मास का कृत्य ।

पंचवाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव के पाँच बाण जिनके नाम ये हैं—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन । कामदेव के पाँच पुष्पबाणों के नाम ये हैं, कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल । (२) कामदेव ।

पंचवाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र, आनद्ध, सुशिर, धन और वीरों का गर्जन ।

पंचशब्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच मंगलसूचक बाजे जो मंगल कार्य्यों में बजाए जाते हैं—तंत्री, ताल, झाँझ, नगारा और तुरही । "दे० पंचमहाशब्द" । उ०—पंच सबद धुनि मंगल गाना । पट पाँवड़े परहिं विधि नाना ।—तुलसी । (२) व्याकरण के अनुसार सूत्र, वार्त्तिक, भाष्य, कोष और महाकवियों के प्रयोग । (३) पाँच प्रकार की ध्वनि—वेदध्वनि, बंदीध्वनि, जयध्वनि, शंखध्वनि, और निशानध्वनि ।

पंचशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव के पाँच बाण । (२) कामदेव ।

पंचशाख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ । (२) पनसाखा ।

पंचशाखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पनसाखा।

पंचशिख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंघा बाजा । (२) एक मुनि जो महाभारत के अनुसार महर्षि कपिल के पुत्र थे । सांख्य शास्त्र के ये एक प्रधान आचार्य्य थे । सांख्य सूत्रों में इनके मत का उल्लेख मिलता है । इनको लोग द्वितीय कपिल कहते हैं । ये कपिल की शिष्यपरंपरा में आसुरि के शिष्य थे ।

पंचशैरीषक-संज्ञा पुं० [सं०] सिरिस वृक्ष के पाँच अंग जो औषध के काम में आते हैं—जड़, छाल, पत्ते, फूल और फल ।

पंचशूरण-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में पाँच विशेष कंद—अत्यम्लपूर्णी, कांडवेल, मालाकंद, सूरन, सफेद सूरन ।

पंचषष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पैंसठ की संख्या ।

वि० पैंसठ ।

पंचसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याकरण में संधि के पाँच भेद-- स्वरसंधि, व्यंजनसंधि, विसर्गसंधि, स्वादिसंधि और प्रकृतिभाव ।

पंचसप्तति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पचहत्तर की संख्या ।

वि० पचहत्तर ।

पंचसिद्धौषधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में ये पाँच ओषधियाँ— सालिब मिस्री, बराहीकंद, रोदंती, सर्पाक्षी और सरहटी ।

पंचसुगंधक-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में ये पाँच सुगंध ओषधियाँ—लौंग, शीतलचीनी, अगर, जायफल, कपूर अथवा कपूर, शीतलचीनी, लौंग, सुपारी और जायफल ।

पंचसूना-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनु के अनुसार पाँच प्रकार की हिंसा जो गृहस्थों से गृहकार्य्य करने में होती है। वे पाँच काम जिनके करने में छोटे छोटे जीवों की हिंसा होती है। ये हैं—चूल्हा जलाना, आटा आदि पीसना, झाड़ू देना, कूटना और पानी का घड़ा रखना। इन्हें मनु ने चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कंडनी और उदकुंभ लिखा है। इन्हीं पाँच प्रकार की हिंसाओं के दोषों की निवृत्ति के लिये पंचमहायज्ञों का विधान किया गया है ।

पंचस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध दर्शन में गुणों की समष्टि को स्कंध कहते हैं। स्कंध पाँच हैं—रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध, और विज्ञानस्कंध। रूपस्कंध का दूसरा नाम वस्तुतन्मात्रा है। इस स्कंध के अंतर्गत ४ महाभूत, ५ ज्ञानेंद्रिय, ५ तन्मात्राएँ, २ लिंग (स्त्री और पुरुष), ३ अवस्थाएँ (चेतना, जीवितेंद्रिय और आकार), चेष्टा, वाणी, चित्तप्रसादन, स्थितिस्थापन, समता, समष्टि, स्थायित्व, ज्ञेयत्व और परिवर्तनशीलता नामक २८ गुण माने जाते हैं। रूपस्कंध से ही वेदनास्कंध की उत्पत्ति होती है। यह वेदनास्कंध पाँच ज्ञानेंद्रियों और मन के भेद से छ प्रकार का होता है जिनमें प्रत्येक के रुचि, अरुचि, स्पृहशून्यता ये तीन तीन भेद होते हैं। संज्ञास्कंध को अनुमिति तन्मात्रा भी कहते हैं। इंद्रिय और अंतःकरण के अनुसार इसके छ भेद हैं। वेदना होने पर ही संज्ञा होती है। चौथा संस्कारस्कंध है जिसके ५२ भेद हैं—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, मनसिकार, स्मृति, जीवितेंद्रिय, एकाग्रता, वितर्क, विकार, वीर्य्य, अधिमोक्ष, प्रीति, चंड, मध्यस्थता, निद्रा, तंद्रा, मोह, प्रज्ञा, लोभ, अलोभ, उत्ताप, अनुताप, ह्री, अह्री, दोष, अदोष, विचिकित्सा, श्रद्धा, दृष्टि, द्विविध प्रसिद्धि (शारीर और मानस), लघुता, मृदुता, कर्मज्ञता, प्राज्ञता, उद्योतना, साम्य, करुणा, मुदिता, ईर्ष्या, मात्सर्य, कार्कश्य, औद्धत्य और मान। पाँचवाँ विज्ञानस्कंध है। हिंदूशास्त्रों में कहे हुए चित्त आत्मा और विज्ञान इसके अंतर्भूत हैं। इस स्कंध के चेतना के धर्माधर्म भेद से ४९ भेद किए गए हैं। बौद्ध दर्शनों के अनुसार विज्ञानस्कंध के क्षय होने से ही निर्वाण होता है ।

पंचस्नेह-संज्ञा पुं० [सं०] घी, तेल, चरबी, मज्जा और मोम ।

पंचस्रोतस्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक तीर्थ । (२) एक यज्ञ ।

पंचस्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार लोष्टस्वेद, वालुकास्वेद, वाष्पस्वेद, घटस्वेद और ज्वालास्वेद ।

पंचहजारी-संज्ञा पुं० [फा० पंजहजारी] (१) पाँच हजार की सेना का अधिपति । (२) एक पदवी जो मुगल साम्राज्य में बड़े बड़े लोगों को मिलती थी ।

पंचांग†-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच अंग या पाँच अंगों से युक्त वस्तु । (२) वृक्ष के पाँच अंग—जड़, छाल, पत्ती, फूल और फल (वैद्यक) । (३) तंत्र के अनुसार ये पाँच कर्म— जप, होम, तर्पण, अभिषेक और विप्रभोजन जो पुरश्चरण में किए जाते हैं । (४) ज्योतिष के अनुसार वह तिथिपत्र जिसमें किसी संवत् के वार, तिथि, नक्षत्र, योग और करण ब्योरेवार दिए गए हों। पत्रा । (५) राजनीति शास्त्र के अंतर्गत सहाय, साधन, उपाय, देश-काल-भेद और विपद्-प्रतीकार । (६) प्रणाम का एक भेद जिसमें घुटना, हाथ, और माथा पृथ्वी पर टेककर आँख देवता की ओर करके मुँह से प्रणामसूचक शब्द कहा जाता है । (७) तांत्रिक उपासना में किसी इष्टदेव का कवच, स्तोत्र, पद्धति, पटल और सहस्रनाम । (८) वह घोड़ा जिसके चारों पैर टाप के पास सफेद हों और माथे पर सफेद टीका हो । पंचभद्र । पंचकल्याण । (९) कच्छप । कछुवा ।

पंचांगुल-वि० [सं०] जो परिणाम में पाँच अंगुल का हो या जिसमें पाँच उँगलियाँ हों ।

संज्ञा पुं० (१) एरंड । अंडी । रेंड़ । (२) तेजपत्ता ।

पंचांतरीय-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धमत के अनुसार पाँच प्रकार के पातक—माता, पिता, अर्हत और बुद्ध का घात और याजकों के साथ विवाद ।

पंचाइत†-संज्ञा स्त्री० दे० "पंचायत" ।

पंचाक्षर-वि० [सं०] जिसमें पाँच अक्षर हों । जैसे, पंचाक्षर मंत्र, पंचाक्षर शब्द, पंचाक्षर वृत्ति ।

संज्ञा पुं० (१) प्रतिष्ठा नामक वृत्ति जिसमें पाँच अक्षर होते हैं । (२) शिव का एक मंत्र जिसमें पाँच अक्षर हैं— ॐ नमः शिवाय ।

पंचाग्नि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अन्वाहार्य्य, पचन, गार्हपत्य, आहवनीय, आवसथ्य और सभ्य नाम की पाँच अग्नियाँ । (२) छांदोग्य उपनिषद के अनुसार सूर्य्य, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषित् । (३) एक प्रकार का तप जिसमें तप करनेवाला अपने चारों ओर अग्नि जलाकर दिन में धूप में बैठा रहता है । यह तप प्रायः ग्रीष्म ऋतु में किया जाता

है। (४) आयुर्वेद के अनुसार चीता, चिचड़ी, भिलावाँ, गंधक और मदार नामक ओषधियाँ जो बहुत गरम मानी जाती हैं।

वि० (१) पंचाग्नि की उपासना करनेवाला। (२) पंचाग्नि विद्या जाननेवाला। (३) पंचाग्नि तापनेवाला।

पंचातप-संज्ञा पुं० [सं०] चारों ओर आग जलाकर ग्रीष्मऋतु में धूप में बैठकर तप करना। पंचाग्नि।

पंचात्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पंचप्राण।

पंचानन-वि० [सं०] जिसके पाँच मुँह हों। पंचमुखी।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) सिंह।

विशेष—सिंह को पंचानन कहने का कारण लोग दो प्रकार से बतलाते हैं। कुछ लोग तो पंच शब्द का अर्थ 'विस्तृत' करके पंचानन का अर्थ "चौड़े मुँहवाला" करते हैं। कुछ लोग चारों पंजों को जोड़कर पाँच मुँह गिना देते हैं।

(३) संगीत में स्वरसाधन की एक प्रणाली—

सा रे ग म प। रे ग म प ध। ग म प ध नि। म प ध नि सा।

अवरोही—सा नि ध प म। नि ध प म ग। ध प म ग रे। प म ग रे सा।

पंचाननी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव की पत्नी, दुर्गा।

पंचानवे-[सं० पंचनवति, प्रा० पंचनवइ] नब्बे और पाँच। पाँच कम सौ।

संज्ञा पुं० नब्बे से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—९५।

पंचाप्सर-संज्ञा पुं० [सं० पंचाप्सरस] रामायण और पुराणों के अनुसार दक्षिण में पंपा नामक तालाब जहाँ शातकर्णि मुनि तप करते थे। इनके तप से भय खाकर इंद्र ने इनको तप से च्युत करने के लिये पाँच अप्सराएँ भेजी थीं। रामायण में शातकर्णि को मांडकर्णि लिखा है। पंपासर।

पंचामरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में दूर्वा, विजया, विल्वपत्र, निर्गुंडी और काली तुलसी।

पंचामृत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का स्वादिष्ट पेय द्रव्य जो दूध, दही, घी, चीनी और मधु मिलाकर बनाया जाता है। पुराण तंत्रादि के अनुसार यह देवताओं को स्नान कराने और चढ़ाने के काम में आता है। (२) वैद्यक में पाँच गुणकारी ओषधियाँ—गिलोय, गोखरू, मुसली, गोरखमुंडी और शतावरी।

पंचाम्ल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में ये पाँच अम्ल या खट्टे पदार्थ—अमलवेद, इमली, जँभीरी नीबू, कागजी नीबू और बिजौरा। मतांतर से—बेर, अनार, विषावलि, अमलवेद और बिजौरा नीबू।

पंचायत-संज्ञा स्त्री० [सं० पंचायतन] (१) किसी विवाद, झगड़े या और किसी मामले पर विचार करने के अधिकारियों या चुने हुए लोगों का समाज। पंचों की बैठक या सभा। कमेटी। जैसे, (क) बिरादरी की पंचायत। (ख) उन्होंने अदालत में न जाकर पंचायत से निबटेरा कराना ही ठीक समझा।

क्रि० प्र०—बैठना।—बैठाना।—बटोरना।

(२) बहुत से लोगों का एकत्र होकर किसी मामले या झगड़े पर विचार। पंचों का वाद-विवाद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) एक साथ बहुत से लोगों की बकवाद।

पंचायतन-संज्ञा [सं०] पाँच देवताओं की मूर्त्तियों का समूह, जैसे, शिव पंचायतन, राम पंचायतन इत्यादि।

पंचायती-वि० [हिं० पंचायत] (१) पंचायत का किया हुआ। पंचायत का। (२) पंचायत संबंधी। (३) बहुत से लोगों का मिला जुला। साझे का। जिस पर किसी एक आदमी का अधिकार न हो। जो कई लोगों का हो। जैसे, पंचायती अखाड़ा। (४) सब पंचों का। सर्वसाधारण का।

पंचाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का प्राचीन नाम जो ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों से लेकर पुराणों तक में पाया जाता है। इस देश की सीमा भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न रही हैं। यह देश हिमालय और चंबल के बीच गंगा नदी के दोनों ओर माना जाता था। गंगा के उत्तर प्रदेश को उत्तर पंचाल और दक्षिण प्रदेश को दक्षिण पंचाल कहते थे। इस देश को देवपंचाल से भिन्न समझना चाहिए जो सौराष्ट्र देश का एक भाग था।

इस देश का पंचाल नाम पड़ने के संबंध में पुराणों में यह कथा है—महाराज हर्यश्व अपने भाई से लड़कर अपनी सुसराल मधुपुरी चले गए और अपने ससुर मधु की सहायता से उन्होंने अयोध्या के पश्चिम के देशों पर अधिकार कर लिया। जब लोगों ने आकर उनसे अयोध्या के राजा के आक्रमण की बात कही तब उन्होंने पाँच पुत्रों (मुद्गण, सृंजय, वृहदिषु, प्रवीर और कांपिल्य) की ओर देखकर कहा कि ये पाँचों हमारे राज्य की रक्षा के लिये अलम् (पंचालम्) हैं। तभी से उनके अधिकृत देश का नाम पंचाल पड़ा।

हरिवंश में लिखा है कि हर्यश्व ने सौराष्ट्र देश में आनर्त्तपुर नामक नगर बसाया था। इसी आधार पर कुछ लोग देवपंचाल को ही पंचाल कहते हैं। पर महाभारत में हिमालय के अंचल से लेकर चंबल तक फैले हुए गंगा के उभय पार्श्वस्थ देश का ही वर्णन पंचाल के अंतर्गत आया है। पांडवों के समय में इस देश का राजा द्रुपद था जिससे द्रोणाचार्य ने उत्तरपंचाल छीन लिया था। महाभारत में उत्तरपंचाल की राजधानी अहिच्छत्रपुर और दक्षिण की

कंपिल लिखी है। द्रौपदी यहीं के राजा की कन्या होने के कारण पांचाली कही गई है। (२) [स्त्री० पंचाली] पंचाल देशवासी। (३) पंचाल देश का राजा। (४) एक ऋषि जो वाभ्रव्य गोत्र के थे। (५) महादेव। शिव। (६) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में एक तगण (SSI) होता है। (७) दक्षिण देश की एक जाति। इस जाति के लोग बढ़ई और लोहार का काम करते हैं और अपने को विश्वकर्मा के वंश का बतलाते हैं। ये जनेऊ पहनते हैं। (८) एक सर्प का नाम। (९) एक विषैला कीड़ा।

पंचालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुतली। गुड़िया।

पंचालिष्ठ-वि० दे० "पैंतालिस"।

पंचाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुतली। गुड़िया। (२) पांचाली। द्रौपदी। (३) एक गीत। पांचाली। (४) चौसर की बिसात।

पंचावी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जिसके तले ढाई वर्ष का बच्चा हो।

पंचास-वि० [सं०] पचासवाँ।

पंचाशत्-वि० [सं०] पचास।

पंचाशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पुस्तक जिसमें पचास श्लोक वा कवित्त आदि हों।

पंचाशीत-वि० [सं०] पच्चासीवाँ।

पंचाशीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पच्चासी की संख्या।

पंचाश्य-वि० [सं०] पाँच मुँहवाला।

संज्ञा पुं० (१) सिंह। विशेष—दे० "पंचानन"। (२) शिव।

पंचाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक यज्ञ का नाम जो पाँच दिन में होता था। (२) सोम याग के अंतर्गत वह कृत्य जो सुत्या के पाँच दिनों में किया जाता है।

पंचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच अध्यायों वा खंडों का समूह।

पंचीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत में पंचभूतों का विभाग विशेष।

विशेष—वेदांतसार के अनुसार प्रत्येक स्थूल भूत में शेष चार भूतों के अंश भी वर्तमान रहते हैं। भूतों की यह स्थूल स्थिति पंचीकरण द्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पाँचों भूतों को पहले दो बराबर बराबर भागों में विभक्त किया, फिर प्रत्येक के प्रथमार्द्ध को चार चार भागों में बाँटा। फिर इन सब बीसों भागों को लेकर अलग रक्खा। अंत में एक एक भूत के द्वितीयार्द्ध में इन बीस भागों में से चार चार भाग फिर से इस प्रकार रक्खे कि जिस भूत का द्वितीयार्द्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतों का एक एक भाग उसमें आ जाय।

पंचीकृत-वि० [सं०] (भूत) जिसका पंचीकरण हुआ हो।

पंचूरा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + चूना] लड़कों के खेलने का मिट्टी का एक बरतन या खिलौना जिसके पेंदे में बहुत से छेद होते हैं। पानी भरने से वह छेदों में से होकर टपकने लगता है।

पंचेंद्रिय-संज्ञा स्त्री० [सं०] पांच ज्ञानेंद्रियाँ जिनके द्वारा प्राणियों को बाह्य जगत् का ज्ञान होता है। दे० "इंद्रिय"।

पंचेषु-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव (जिसके पाँच इषु वा शर हैं)।

पंचो-संज्ञा पुं० [देश०] गुल्ली डंडे के खेल में डंडे से गुल्ली को मारकर दूर फेंकने का एक ढंग। इसमें गुल्ली को बाएँ हाथ से उछालकर दहने हाथ से मारते हैं।

पंचोषण-संज्ञा पुं० [सं०] पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, मिर्च और चित्रक नामक पाँच ओषधियाँ।

पंचोष्मा-संज्ञा पुं० [सं० पंचोष्मन्] शरीर के भीतर भोजन पचानेवाली पाँच प्रकार की अग्नि।

पंचौदन-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।

पंचौली-संज्ञा स्त्री० [सं० पंच + आवलि] एक पौधा जो पश्चिम भारत, मध्य प्रदेश, बंबई और बरार में मिलता है। इसकी पत्तियों और डंठलों से एक प्रकार का सुगंधित तेल निकलता है जिसका व्यवहार युरोप के देशों में होता है। इसकी खेती पान के भीटों में की जाती है। पौधे दो दो फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं। एक बार के लगाए हुए पौधों से दो बार छ छ महीने पर फसल काटी जाती है। दूसरी फसल कट जाने पर पौधे खोदकर फेंक दिए जाते हैं। डंठल सूख जाने पर बड़े बड़े गट्ठों में बाँधकर बिक्री के लिये भेज दिए जाते हैं। डंठलों से भबके द्वारा तेल निकाला जाता है। ६६ सेर लकड़ी से लगभग बारह से पंद्रह सेर तक तेल निकलता है। युरोप में इस तेल का व्यवहार सुगंध द्रव्य की भाँति होता है। इसे पंचपात और पंचपानड़ी भी कहते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पंचकुल, पंचकुली] वंशपरंपरा से चली आती हुई एक उपाधि।

विशेष—प्राचीन समय में किसी नगर या गाँव में व्यवस्था रखने और छोटे मोटे झगड़ों को निपटाने के लिये पाँच प्रतिष्ठित कुल के लोग चुन लिये जाते थे जो पंच कहलाते थे।

पंछा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + छाल] (१) पानी की तरह का एक स्राव जो प्राणियों के शरीर से या पेड़ पौधों के अंगों से चोट लगने पर या यों ही निकलता है। (२) छाले, फफोले, चेचक आदि के भीतर भरा हुआ पानी।

पंछाला-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + छाला] (१) फफोला। (२) फफोले का पानी। उ०—केतकी ने कहा काँटा अड़ा तो

अड़ा और छाला पड़ा तो पड़ा पर निगोड़ी तू क्यों पंछाला हुई।—इनशा०।

पंछी–संज्ञा पुं० [सं० पक्षी] चिड़िया। पत्ती। उ०—भई यह साँझ सबन सुखदाई। मानिक गोलक सम दिनमणि मनु संपुट दियो छिपाई। अलसानी दृग मूँदि मूँदि कै कमल-लता मन भाई। पंछी निज निज चले बसेरन गावत काम बधाई।—हरिश्चंद्र।

पँजड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० पंच, फा० पंज] चौसर के एक दाँव का नाम।

पँजना–क्रि० अ० [सं० पंज = दृढ़ होना, रुकना] धातु के बरतन में टाँके आदि द्वारा जोड़ लगना। झलना। झाल लगना।

पंजर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर का वह कड़ा भाग जो अणु-जीवों तथा बिना रीढ़ के और क्षुद्र जीवों में कोश या आवरण आदि के रूप में ऊपर होता है और रीढ़वाले जीवों में कड़ी हड्डियों के ढाँचे के रूप में भीतर होता ह। हड्डियों का ठट्टर या ढाँचा जो शरीर के कोमल भागों को अपने ऊपर ठहराए रहता है अथवा बंद या रक्षित रखता है। ठटरी। अस्थिसमुच्चय। कंकाल। (२) पसलियों से बना हुआ परदा। ऊपरी धड़ (छाती) का हड्डियों का घेरा। पार्श्व, वक्षस्थल आदि की अस्थिपंक्ति। उ०–जान जान कीने जो तैं नेहिन ऊपर वार। भरे जो नैन कटाच्छ के खंजर पंजर फार।—रसनिधि। (३) शरीर। देह। (४) पिँजड़ा। (५) गाय का एक संस्कार। (६) कलियुग। (७) कोल कंद।

पंजरक–संज्ञा पुं० [सं०] खाँचा। झाबा। बेंत या लचीले डंठलों आदि का बुना हुआ बड़ा टोकरा।

पंजरना–क्रि० अ० दे० "**पजरना**"।

पंजरी–संज्ञा स्त्री० [सं० पंजर = ठटरी] अर्थी। टिकठी।

पंजहजारी–संज्ञा पुं० [फा०] एक उपाधि जो मुसलमान राजाओं के समय में सरदारों और दरबारियों को मिलती थी। ऐसे लोग या तो पाँच हजार सेना रख सकते थे अथवा पाँच हजार सेना के नायक बनाए जाते थे।

पंजा–संज्ञा पुं० [फा०। वि० सं० पंचक] (१) पाँच का समूह। गाही। जैसे, चार पंजे आम। (२) हाथ या पैर की पाँचों उँगलियों का समूह, साधारणतः हथेली के सहित हाथ की, और तलवे के अगले भाग के सहित पैर की पाँचों उँगलियाँ। जैसे, हाथ या पैर का पंजा, बिल्ली या शेर का पंजा।

मुहा०—पंजा फेरना या मोड़ना = पंजा लड़ाने में दूसरे का पंजा मरोड़ देना। पंजे की लड़ाई में जीतना। **पंजा फैलाना या बढ़ाना** = लेने या अधिकार में करने के लिये हाथ बढ़ाना। हथियाने का डौल करना। लेने का उद्योग करना। **पंजा मारना** = लेने के लिये हाथ लपकाना। झपाटा मारना। **पंजे झाड़कर पीछे पड़ना या चिमटना** = हाथ धोकर पीछे पड़ना। जी जान से लगना या तत्पर होना। सिर हो जाना। **पंजे में** = (१) पकड़ में। मुट्ठी में। ग्रहण में। जैसे, **पंजे में आया हुआ शिकार**। (२) अधिकार में। कब्जे में। वश में। ऐसी स्थिति में जिसमें जो चाहे किया जा सके। जैसे, **अब तो तुम हमारे पंजे में फँस गए (या आ गए) हो; अब कहाँ जाते हो ? पंजे से** = पकड़ से। मुट्ठी से। अधिकार से। कब्जे से। जैसे, **पंजे से छूटना, पंजे से निकलना। पंजा लड़ाना** = एक प्रकार की कसरत या बलपरीक्षा जिसमें दो आदमी एक दूसरे की उँगलियों में उँगलियाँ फँसाकर मरोड़ने का प्रयत्न करते हैं। **पंजा लेना** = पंजा लड़ाना। **पंजों के बल चलना** = बहुत ऊँचा होकर चलना। इतराना। गर्व करना। जमीन पर पैर न रखना।

(३) पंजा लड़ाने की कसरत या बलपरीक्षा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—पंजा ले जाना = पंजा लड़ाने में जीत जाना। दूसरे का पंजा मरोड़ देना।

(४) उँगलियों के सहित हथेली का संपुट। चंगुल। जैसे, पंजा भर आटा। (५) जूते का अगला भाग जिसमें उँगलियाँ रहती हैं। जैसे, इस जूते का पंजा दबाता है। (६) बैल या भैंस की पसली की चौड़ी हड्डी जिससे भंगी मैला उठाते हैं। (७) पंजे के आकार का बना हुआ पीठ खुजलाने का एक औजार। (८) मनुष्य के पंजे के आकार का कटा हुआ टीन या और किसी धातु की चद्दर का टुकड़ा जिसे लंबे बाँस आदि में बाँधकर झंडे या निशान की तरह ताजिये के साथ लेकर चलते हैं। (९) पुट्ठे के ऊपर का मांस। (चिक या कसाई)। (१०) ताश का वह पत्ता जिसमें पाँच चिह्न या बूटियाँ हों। जैसे, ईंट का पंजा। (११) जुए का दाँव जिसे नक्की भी कहते हैं।

मुहा०—छक्कापंजा = दाँव पेच। चालबाजी। उ०—नीकी चाल काहू की सिखाई जो न मानै औ न जानै भली भाँति चलिबे को व्यवहार है। छक्का पंजा बंद कामादिक कै न चूकै सो न जीवन के रंग बदरंग को प्रचार है।—चरणचंद्रिका।

पंजातोड़ बैठक–संज्ञा स्त्री० [हिं० पंजा + तोड़ना + बैठक] कुश्ती का एक पेच जिसमें सलामी का हाथ मिलाते हुए जोड़ के पंजे को तिरछा लेते हैं, फिर अपनी कुहनी उसके पेट के नीचे रख पकड़े हुए हाथ को अपनी गर्दन या कंधे पर से लेजाकर बगल में दबाते हैं और झटके के साथ खींचकर जोड़ को चित गिराते हैं।

पंजाब–संज्ञा पुं० [फा०] [वि० पंजाबी] भारत के उत्तर पश्चिम का प्रदेश जहाँ सतलज, व्यास, रावी, चनाब और झेलम

नाम की पाँच नदियाँ बहती हैं। प्राचीन ग्रंथों में इसका नाम पंचनद आया है। विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में जिस सप्तसिंधु का उल्लेख है वह यही प्रदेश है। उसमें ंशुमती, अंजसी, अनितभा, अशमन्वती, आसिक्नी, ककुभा (काबुल नदी), क्रमु, शुतुद्री, वितस्ता, शिफा, शर्यणावती, सरस्वती, सुवास्तु (स्वात) इत्यादि जिन बहुत सी नदियों का उल्लेख है वे प्रायः सब पंजाब की ही हैं। सरस्वती के किनारे का सारस्वत प्रदेश वैदिक काल में बहुत पुनीत माना जाता था और वहाँ अनेक बड़े बड़े यज्ञ हुए हैं। मनुसंहिता का ब्रह्मर्षि देश भी पंजाब के ही अंतर्गत था। महाभारत में आए हुए मद्र, आरट्ट, सिंधु, गांधार आदि देश पंजाब में ही पड़ते थे। महाभारत में मद्रदेश-वासियों का आचार व्यवहार निंदित कहा गया है।

ंजाबल-संज्ञा पुं० [हिं० पंजा + बल] पालकी के कहारों की बोली, यह सूचित करने के लिये कि आगे की भूमि ऊँची है। यह वाक्य अगले कहार पिछले कहारों की सूचना के लिये बोलते हैं।

ंजाबी-वि० [फा०] पंजाब संबंधी। पंजाब का। जैसे, पंजाबी घोड़ा, पंजाबी भाषा, पंजाबी जूता।

संज्ञा पुं० [स्त्री० पंजाबिन] पंजाब का रहनेवाला। पंजाब निवासी।

ंजारा-संज्ञा पुं० [सं० पंजिकार] (१) रुई से सूत कातनेवाला। (२) रुई धुननेवाला। धुनिया।

जिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पंचांग।

ंजीरी-संज्ञा स्त्री० [हिं०पाँच + जीरा] एक प्रकार की मिठाई जो आटे के चूर्ण को घी में भूनकर उसमें धनिया, सोंठ, जीरा आदि मिलाकर बनाई जाती है। इसका व्यवहार विशेषतः नैवेद्य में होता है। जन्माष्टमी के उत्सव तथा सत्यनारायण की कथा में पंजीरी का प्रसाद बँटता है। पंजीरी प्रसूता स्त्री के लिये भी बनती है और पठावे में भी भेजी जाती है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] दक्षिण का एक पौधा जो मलाबार, मैसूर तथा उत्तरी सरकार में होता है और औषध के काम में आता है। यह उत्तेजक, स्वेदकारक और कफनाशक होता है। जुकाम या सर्दी में इसकी पत्तियों और डंठलों का काढ़ा दिया जाता है। संस्कृत में इसे इंदुपर्णी और अजपाद कहते हैं।

ंजेरा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँजना] बरतन झालने का काम करनेवाला। बरतन में टाँके आदि देकर जोड़ लगानेवाला।

ंड, पंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नपुंसक। हिजड़ा। (२) वह (पेड़) जिसमें फल न लगे।

ंडरा-संज्ञा पुं० [सं०] खोजा। नपुंसक।

पंडरा‡-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + ढरना (ढरा)] परनाला। पनाला। नाबदान।

पँड़रा†-संज्ञा पुं० दे० "पँड़वा"।

पँड़री†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़ना] वह भूमि जो ईख बोने के लिये रखी गई हो। उखाँव। पँडुवा।

क्रि० प्र०—रखना।—छोड़ना।

पँड़रू†-संज्ञा पुं० दे० "पँड़वा"।

पंडल-वि० [सं० पांडुर] पांडु वर्ण का। पीला। उ०—लोने मुख मंडल पै मंडल प्रकाश देव, जैसे चंद्र मंडल पै चंदन चढ़ाइयतु।—देव।

संज्ञा पुं० [सं० पिंड] पिंड। शरीर। उ०—(क) आसा एकहि नाम की जुग जुग पुरवै आस। ज्यों पंडल कोरो रहै बसे जो चंदन पास।—कबीर। (ख) पंडल पिंजर मन भँवर अरथ अनूपम बास। एक नाम सींचा अमी फल लागा विश्वास।—कबीर।

पंडव, पंडवा-संज्ञा पुं० दे० "पांडव"।

पँडवा-संज्ञा पुं० [?] भैंस का बच्चा।

पंडा-संज्ञा पुं० [सं० पंडित] [स्त्री० पंडाइन] (१) किसी तीर्थ वा मंदिर का पुजारी। घाटिया। पुजारी। उ०—माया महा ठगिन हम जानी। तिर्गुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी। केशव के कमला ह्वै बैठी शिव के भई भवानी। पंडा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ में भई पानी।—कबीर। (२) रोटी बनानेवाला ब्राह्मण। रसोइया।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विवेकात्मिका बुद्धि। विवेक। ज्ञान। बुद्धि। (२) शास्त्रज्ञान।

पंडापूर्व-संज्ञा पुं० [सं०] मीमांसा शास्त्रानुसार वह धर्माधर्मात्मक अदृष्ट जो अपने कर्म का फल देने में अयोग्य हो। मीमांसा का मत है कि प्रत्येक कर्म के करते ही चाहे वह अधर्म हो वा धर्म एक अदृष्ट उत्पन्न होता है। इस अदृष्ट में अपने कर्म के शुभाशुभ फल देने की योग्यता होती है। पर कितने कर्मों के शुभाशुभ फल तो मिलते हैं और उनके फलों के मिलने का वर्णन अर्थवाद वाक्यों में है पर कितने ऐसे भी कर्म हैं जिनका फल नहीं मिलता। ऐसे कर्मों की विधि तो शास्त्रों में है पर उनका अर्थवाद नहीं है। इस प्रकार के कर्मों के करने से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है उसे पंडापूर्व कहते हैं। मीमांसकों का मत है ऐसे अदृष्टों में स्पष्ट फल देने की योग्यता नहीं होती पर वे पाप व पुण्य का क्षय करते हैं। नैयायिक इस प्रकार के अदृष्ट को नहीं मानते।

पंडित-वि० [सं०] [स्त्री० पंडिता, पंडिताइन, पंडितानी] (१) विद्वान्। शास्त्रज्ञ। ज्ञानी।

विशेष—लोक में 'पंडित' शब्द का प्रयोग पढ़े लिखे ब्राह्मणों

ही के लिये होता है। शिष्टाचार में ब्राह्मणों के नाम के पहले यह शब्द रखा जाता है।

(२) कुशल। प्रवीण। चतुर। (३) संस्कृत भाषा का विद्वान्।

संज्ञा पुं० (१) पढ़ा-लिखा शास्त्रज्ञ ब्राह्मण। (२) ब्राह्मण।

पंडितक-संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

पंडितम्मन्य-वि० [सं०] अपने को विद्वान् माननेवाला। पांडित्याभिमानी। मूर्ख।

पंडिता-वि० स्त्री० [सं०] विदुषी।

पंडिताइन|-संज्ञा स्त्री० दे० "पंडितानी"।

पंडिताई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंडित + आई (प्रत्य०)] विद्वत्ता। पांडित्य।

पंडिताऊ-वि० [हिं० पंडित] पंडितों के ढंग का। जैसे, पंडिताऊ हिंदी।

पंडितानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंडित] (१) पंडित की स्त्री। (२) ब्राह्मणी।

पंडु-वि० [सं०] (१) पीलापन लिए हुए मटमैला। (२) श्वेत। सफेद। (३) पीला।

पंडुक-संज्ञा पुं० [सं० पांडु] [स्त्री० पंडुकी] कपोत या कबूतर की जाति का एक पक्षी जो ललाई लिए भूरे रंग का होता है। यह प्रायः जंगल झाड़ियों और उजाड़ स्थानों में होता है। नर की बोली कड़ी होती है और उसके गले में कंठा सा होता है जो नीचे की ओर अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है पर ऊपर साफ नहीं मालूम होता। पंडुक दो प्रकार का होता है, एक बड़ा, दूसरा छोटा। बड़े का रंग भूरा भूरा और खुलता होता है। छोटे का रंग मटमैला लिए ईंट सा लाल होता है। कबूतर की तरह पंडुक जल्दी पालतू नहीं होता। पंडुक और सफेद कबूतर के जोड़ से कुमरी पैदा होती है।

पर्या०—पिंडुक। पेंड़की। फाख्ता।

पंडोह|-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + दह] नाबदान। परनाला। पनाला।

पंथ-संज्ञा पुं० [सं० पथ] (१) मार्ग। रास्ता। राह। उ०—(क) जो न होत अस पुरुष उँजारा। सूझि न परत पंथ अँधियारा।—जायसी। (ख) बिरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी पूछै धाय। एक शब्द कहो पीव का कब रे मिलैंगे आय।—कबीर। (ग) खोजत पंथ मिलै नहिं धूरी।—तुलसी। (२) आचार पद्धति। व्यवहार का क्रम। चाल। रीति। व्यवस्था।

यौ०—कुपंथ। सुपंथ।

मुहा०—**पंथ गहना** = (१) रास्ता पकड़ना। चलने के लिये रास्ते पर होना। चलना। उ०—बिछुरत प्रान पयान करेंगे रहौ आजु पुनि पंथ गहौ।—सूर। (२) चाल पकड़ना। ढंग पर चलना। विशेष प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होना। आचरण ग्रहण करना। **पंथ दिखाना** = (१) रास्ता बताना। (२) धर्म या आचार की रीति बताना। उपदेश देना। उ०—गुरु सेवा जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत् को निर्गुन पावा ?—जायसी। **पंथ देखना या निहारना** = रास्ता देखना। बाट जोहना। प्रतीक्षा करना। इंतजार करना। उ०—(क) तुमरो पंथ निहारौं स्वामी। कबहिं मिलौगे अंतर्यामी।—सूर। (ख) माखन खाव लाल मेरे आई। खेलत आज अबार लगाई।.........मैं बैठी तुम पंथ निहारौं। आवो तुम पै तन मन वारौं।—सूर। **पंथ में या पंथ पर पाँव देना** = (१) चलना। चलने के लिये पैर उठाना या बढ़ाना। (२) रीति या ढंग पर चलना। विशेष प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होना। आचरण ग्रहण करना। जैसे, भूल कर भी बुरे पंथ में पाँव न देना। उ०—रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरैं न काऊ।—तुलसी। **पंथ पर लगना** = (१) रास्ते पर होना। (२) चाल ग्रहण करना। **किसी के पंथ लगना** = (१) किसी के पीछे होना। अनुसरण करना। अनुयायी होना। (२) किसी के पीछे पड़ना। बराबर तंग करना। लगातार कष्ट देना। उ०—किन्नर, सिद्ध, मनुज, सुर नागा। हठि सब ही के पंथहि लागा।—तुलसी। **पंथ पर लाना या लगाना** = (१) ठीक रास्ते पर करना। (२) अच्छी चाल पर ले चलना। उत्तम आचरण सिखाना। धर्मोपदेश करना। उ०—अगुआ भयउ सेख बुरहानू। पंथ लाय मोहिं दीन्ह गियानू।—जायसी। **पंथ सेना** = राह देखना। बाट जोहना। आसरा देखना। उ०—हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तोहि पठवों कौन परेवा।—जायसी।

(३) धर्ममार्ग। संप्रदाय। मत। जैसे, कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ। उ०—सैयद अशरफ पीर पियारा। जिन मोहि पंथ दीन उजियारा।—जायसी।

†-संज्ञा पुं० [सं० पथ्य] वह हलका भोजन जो रोगी को लंघन या उपवास के पीछे शरीर कुछ स्वस्थ होने पर दिया जाता है। जैसे, मूँग की दाल।

पंथान※-संज्ञा पुं० [सं० पंथ वा पथ] मार्ग। उ०—एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।—तुलसी।

पंथकी※-संज्ञा पुं० [सं० पथिक] राही। पथिक। राह चलता मुसाफिर। उ०—(क) मंदिरन्ह जगत दीप परगसी। पंथकि चलत बसेरन बसी।—जायसी। (ख) कौन हौ ? कितते चले ? कित जात हौ ? केहि काम ? जू। कौन की दुहिता, बहू, कहि कौन की यह बाम, जू। एक गाँव रहौ कि साजन

मित्र बंधु बखानिए। देश के ? परदेश के ? किधों पंथकी ? पहिचानिए।—केशव।

पंथिक*†-संज्ञा पुं० दे० "पथिक"।

पंथी-संज्ञा पुं० [सं० पाथिन्] (१) राही। बटोही। पथिक। उ०—(क) करहिं पयान भोर उठि नितहिं कोस दस जाहिं। पंथी पंथा जो चलहिँ ते कित रहैं ओटाहिं।—जायसी। (ख) बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे छाँह खजूर। पंथी छाँह न बैठहीँ फल लागा तो दूर।—कबीर। (२) किसी संप्रदाय का अनुयायी। जैसे, कबीरपंथी, दादूपंथी इत्यादि।

पंद-संज्ञा स्त्री० [फा०] शिक्षा। सीख। उपदेश। उ०—नफ़स नाँव सों मारिए गोसमाल दे पंद। दूई है सो दूरि करि तब घर में आनंद।—दादू।

पंद्रह-वि० [सं० पंचदश, पा० पण्णरस, प्रा० पण्णरह] जो संख्या में दस और पाँच हो।

संज्ञा पुं० दस और पाँच की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—१५।

पंद्रहवाँ-वि० [हिं० पंदरह] [स्त्री० पंदरहवीं] जो पंदरह के स्थान पर हो। जिसका स्थान चौदह और पदार्थों के पीछे हो।

पंपलाना-क्रि० सं० [देश०] फुसलाना। बहलाना।

पंप-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह नल जिसके द्वारा पानी ऊपर खींचा या चढ़ाया जाता है अथवा एक ओर से दूसरी ओर पहुँचाया जाता है। (२) पिचकारी।

क्रि० प्र०—करना।

(३) एक प्रकार का हलका अँगरेजी जूता जिसमें पंजे से इधर का ही भाग ढका रहता है।

पंपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण देश की एक नदी और उसी से लगा हुआ एक ताल और नगर जिनका उल्लेख रामायण और महाभारत में है।

विशेष—रामायण में लिखा है कि पंपा नदी से लगा हुआ ऋष्यमूक पर्वत है। ये दोनों कहाँ हैं इसका ठीक ठीक निश्चय नहीं हुआ है। विलसन साहब ने लिखा है कि पंपा नदी ऋष्यमूक पर्वत से निकलकर तुंगभद्रा नदी में मिल गई है। रामायण से इतना पता तो और लगता है कि मलय और ऋष्यमूक दोनों पर्वत पास ही पास थे। हनुमान् ने ऋष्यमूक से मलय गिरि पर जाकर राम से मिलने का वृत्तांत सुग्रीव से कहा था। आजकल त्रावंकोर राज्य में एक नदी का नाम पंबे है। यह पश्चिम घाट से निकलती है जिसे वहाँ वाले 'अनमलय' कहते हैं। अस्तु यही नदी पंपा नदी जान पड़ती है और ऋष्यमूक पर्वत भी वही हो सकता है जिससे यह नदी निकली है।

पंपासर-संज्ञा पुं० दे० "पंपा"।

पंबा-संज्ञा पुं० [फा० पुंबा=कपास] एक प्रकार का पीला रंग जो ऊन रँगने में काम आता है।

विशेष—४ छटाँक मोखा हलदी की बुकनी १½ छटाँक गंधक के तेजाब में मिलाई जाती है। हल हो जाने पर उसे ६ सेर उबलते हुए पानी में मिला देते हैं। इस जल में धुला हुआ ऊन एक घंटे तक छाया में सुखाया जाता है। यह रंग कच्चा होता है पर यदि हलदी की जगह अकलबीर मिलाया जाय तो रंग पक्का होता है।

पँवर-संज्ञा स्त्री० दे० "पँवरी"।

पँवरना†-क्रि० अ० [सं० प्लवन] (१) तैरना। (२) थाह लेना। पता लगाना। उ०—सूकर स्वान सियार सिंह सरप रहहिँ घट माहिं। कुंजर कीरी जीव सब पँवरहिँ जानहि नाहिं।—कबीर।

पँवरि-संज्ञा स्त्री० [सं० पुर=घर, वा पुरस=आगे] प्रवेशद्वार या गृह। वह फाटक या घर जिससे होकर किसी मकान में जायँ। ड्योढ़ी। उ०—(क) पँवरि पँवरि गढ़ लाग केवारा। औ राजा सों भई पुकारा.।—जायसी। (ख) उघरी पँवरि चला सुलतान।—जायसी। (ग) पँवरिहि पँवरि सिंह लिखि काढ़े।—जायसी।

पँवरिया-संज्ञा पुं० [हिं० पँवरी, पौरि] (१) द्वारपाल। दरबान। ड्योढ़ीदार। (२) पुत्र होने पर या किसी और मंगल अवसर पर द्वार पर बैठकर मंगल गीत गानेवाला याचक।

पँवरी-संज्ञा स्त्री० दे० "पँवरि"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव] खड़ाऊँ। पादत्राण। पाँवरी। उ०—पायन पहिरि लेहु सब पँवरी। काँट न चुभै गड़ै अँकरौरी।—जायसी।

पँवाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० प्रवाद] (१) लंबी चौड़ी कथा जिसे सुनते सुनते जी ऊबे। कल्पित आख्यान। कहानी। दास्तान। (२) बढ़ाई हुई बात। व्यर्थ विस्तार के साथ कही हुई बात। बात का बतक्कड़। (३) एक प्रकार का गीत।

पँवार-संज्ञा पुं० [सं० परमार] राजपूतों की एक जाति। दे० "परमार"।

पँवारना†-क्रि० स० [सं० प्रवारण=रोकना] हटाना। दूर करना। फेंकना। उ०—(क) सावज न होइ भाई सावज न होइ। वाकी मांसु भखै सब कोई। सावज एक सकल संसारा अविगति वाकी बाता। पेट फारि जो देखिए रे भाई आहि करेज न आँता। ऐसी वाकी मांसु रे भाई पल पल मांसु बिकाई। हाड़ गोड़ लै घूर पँवारै आगि धुवाँ नहिं खाई।—कबीर। (ख) देखि दशा सुकुमारि की युवती सब धाईं। तरु तमाल बूझत फिरैं कहि कहि मुरझाईं। नँदनंदन देखे कहूँ मुरली करधारी। कुंडल मुकुट बिराजै तनु कुंडल

भारी। लोचन चारु विलास हैं नासा अति लोनी। अरुन अधर दशनावली छबि बरनै कौनी। बिंब पँवारे लाजहिं दामिनि दुति थोरी। ऐसे हरि हम को कहो कहुँ देखे हो री।—सूर। (ग) सुआ सुनाक कठोर पँवारी। वह कोमल तिल कुसुम सँवारी।—जायसी। दे० "पवारना"।

पँवारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] लोहारों का एक औजार जिससे लोहे में छेद किया जाता है।

पँसरहट्टा–संज्ञा पुं० [हिं० पंसारी + हट्ट, हाट] वह बाजार जहाँ पंसारियों की दुकानें हों।

पंसारी–संज्ञा पुं० [सं० पण्यशाली] हलदी, धनिया, आदि मसाले तथा दवा के लिये जड़ी बूटी बेचनेवाला बनिया।

पंसासार–संज्ञा पुं० [सं० पाशक, हिं० पासा + सं० सारि = गोटी] पासे का खेल। उ०—(क) कोउ खेलत कहु पंसासारी। खेलत कौतुक की बलभारी।—सबलसिंह। (ख) अनिरुद्ध जी और राजकन्या निद्रा से चौंक पंसासार खेलने लगे। —लल्लू।

पँसियाना†–क्रि० स० [हिं० पासा] पासे से मारना।

पँसुरी–संज्ञा स्त्री० दे० "पँसुली"।

पँसुली†–संज्ञा स्त्री० दे० "पसली"।

पंसेरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + सेर] पाँच सेर की तोल।

पइग‡–संज्ञा पुं० दे० "पैग" "पग"।

पइज‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पैज"।

पइठ‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पैठ"।

पइठना‡–क्रि० अ० दे० "पैठना"।

पइता–संज्ञा पुं० [?] एक छंद जिसे पाईता भी कहते हैं। इसमें एक मगण, एक भगण और सगण होता है। जैसे—ताके दोनों कुल गनिये। औ दोनों लोचन मनिये। जेते नारी गुण गनियो। सो है लागे श्रुति सुनियो॥

पइना‡–संज्ञा पुं० दे० "पैना"।

पइला†–संज्ञा पुं० [देश०] अनाज मापने का एक बरतन जिसमें ५ सेर अनाज आता है।

पइसना†–क्रि० अ० दे० "पैठना"।

पइसार†–संज्ञा पुं० [हिं० पइसना] पैठ। प्रवेश। उ०—अति लघु रूप धरौं निसि नगर करउँ पइसार।—तुलसी।

पउँरि, पउँरी–संज्ञा स्त्री० दे० "पौरि"

पउनार†–संज्ञा स्त्री० दे० "पौनार"।

पउला†–संज्ञा पुं० [हिं० पावँ + ला (प्रत्य०)] भद्दे प्रकार की खड़ाऊँ जिसमें खूँटी के स्थान पर उँगलियाँ फँसाने के लिये रस्सी लगी रहती है।

पकड़–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रकृष्ट, प्रा० पक्कड़] (१) पकड़ने की क्रिया या भाव। धरने का काम। ग्रहण। जैसे, तुम उसकी पकड़ से नहीं छूट सकते।

यौ०—धर पकड़।

मुहा०—पकड़ में आना = (१) पकड़ा जाना। गृहीत होना। मिलना। हाथ लगना। (२) दाँव पर चढ़ना। घात में आना। वश में होना।

(२) पकड़ने का ढंग। (३) लड़ाई में एक एक बार आकर परस्पर गुथना। भिड़ंत। हाथापाई। जैसे, (क) हमारी तुम्हारी एक पकड़ हो जाय। (ख) वह कई पकड़ लड़ा। (४) दोष, भूल आदि ढूँढ़ निकालने की क्रिया या भाव। जैसे, उसकी पकड़ बड़ी जबरदस्त है, उसने कई जगह भूलें दिखाईं।

पकड़ धकड़–संज्ञा स्त्री० दे० "धर पकड़"।

पकड़ना–क्रि० स० [सं० प्रकृष्ट, प्रा० पक्कड्ढ] (१) किसी वस्तु को इस प्रकार दृढ़ता से स्पर्श करना या हाथ में लेना कि वह जल्दी छूट न सके अथवा इधर उधर जा वा हिल डोल न सके। धरना। थामना। गहना। ग्रहण करना। जैसे, (क) छड़ी पकड़ना। (ख) उसका हाथ पकड़े रहो, नहीं तो वह गिर पड़ेगा। (ग) किसी वस्तु को उठाने के लिये चिमटी से पकड़ना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) छिपे हुए या भागते हुए को पाना और अधिकार में करना। काबू में करना। गिरफ्तार करना। जैसे, चोर पकड़ना। (३) गति या व्यापार न करने देना। कुछ करने से रोक रखना। स्थिर करना। ठहराना। जैसे, बोलते हुए की जबान पकड़ना, मारते हुए का हाथ पकड़ना।

संयो० क्रि०—लेना।

(४) ढूँढ़ निकालना। पता लगाना। जैसे, गलती पकड़ना, चोरी पकड़ना। (५) कुछ करते हुए को कोई विशेष बात आने पर रोकना। टोकना। जैसे, जहाँ वह भूल करे वहाँ उसे पकड़ना। (६) दौड़ने, चलने या और किसी बात में बढ़े हुए के बराबर हो जाना। जैसे, (क) दौड़ में पहले तो दूसरा आगे बढ़ा था पर पीछे इसने पकड़ लिया। (ख) यदि तुम परिश्रम से पढ़ोगे तो दो महीने में उसे पकड़ लोगे। (७) किसी फैलनेवाली वस्तु में लगकर उसका अपने में संचार करना। जैसे, फूस का आग को पकड़ना, कपड़े का रंग पकड़ना। (८) लग कर फैलना या मिलना। संचार करना। जैसे, आग का फूस को पकड़ना। (९) अपने स्वभाव या वृत्ति के अंतर्गत करना। धारण करना। जैसे, चाल पकड़ना, ढंग पकड़ना। (१०) आक्रांत करना। ग्रसना। छोपना। घेरना। जैसे, रोग पकड़ना, गठिया पकड़ना।

पकड़वाना–क्रि० स० [हिं० पकड़ना का प्रे०] पकड़ने का काम

दूसरे से कराना। ग्रहण कराना। जैसे, चोर को सिपाही से पकड़वाना।

संयो॰ क्रि॰—देना।

पकड़ाना-क्रि॰ स॰ [हिं॰ पकड़ना का प्रे॰] (१) किसी के हाथ में देना या रखना। थमाना। जैसे, यह किताब उन्हें पकड़ा दो। (२) पकड़ने का काम कराना। ग्रहण कराना। जैसे, चोर पकड़ाना।

संयो॰ क्रि॰—देना।

पकना-क्रि॰ अ॰ [सं॰ पक्व, हिं॰ पक्का, पका + ना (प्रत्य॰)] (१) पक्वावस्था को पहुँच जाना। कच्चा न रहना। अनाज, फल आदि का पुष्ट होकर काटने या खाने के योग्य होना। ऐसी अवस्था को पहुँचना जिसमें स्वाद, पूर्णता आदि आ जाती है। जैसे, आम पकना, खेत में अनाज पकना।

संयो॰ क्रि॰—जाना।

मुहा॰—बाल पकना = (बुढ़ापे के कारण) बाल सफेद होना।

(२) आँच या गरमी खाकर गलना या तैयार होना। सिद्ध होना। सीझना। रिँधना। चुरना। जैसे, दाल पकना, रोटी पकना, रसोई पकना।

मुहा॰—(मिट्टी का) बरतन पकना = आँवे में आँच खाकर कड़ा होना। आँवे में तैयार होना। कलेजा पकना = जी जलना। संताप होना।

(३) फोड़े फुंसी घाव आदि का इस अवस्था में पहुँचना कि उनमें मवाद आ जाय। पीब से भरना। (४) चौसर में गोटियों का सब घरों को पार करके अपने घर में आ जाना। (५) कीमत ठहराना। सौदा पटना। मामला तै होना।

पकरना†*-क्रि॰ स॰ दे॰ "पकड़ना"।

पकरिया‡-संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पाकर"।

पकला†-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पकना] फोड़ा।

पकवान-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पक्वान्न] घी में तलकर बनाई हुई खाने की वस्तु। जैसे, पूरी, कचौरी।

पकवाना-क्रि॰ स॰ [हिं॰ पकाना का प्रे॰] (१) पकाने का काम कराना। पकाने में प्रवृत्त करना। (२) आँच पर तैयार कराना। जैसे, रसोई पकवाना।

पकसालू-संज्ञा पुं॰ [देश॰] एक प्रकार का बाँस जो पूर्व और उत्तर बंगाल, आसाम; चटगाँव तथा बरमा में होता है। पानी भरने के लिये इसके चोंगे बनते हैं। छाता बनाने के काम में भी यह आता है। इसकी पतली फट्टियों से टोकरे भी बनते हैं।

पकाई-संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पकाना] (१) पकाने की क्रिया या भाव। (२) पकाने की मजदूरी।

पकाना-क्रि॰ स॰ [हिं॰ पकना] (१) फल आदि को पुष्ट और तैयार करना। जैसे, पाल में आम पकाना।

संयो॰ क्रि॰—डालना।—देना।—लेना।

(२) आँच या गरमी के द्वारा गलाना या तैयार करना। रींधना। सिझाना। जैसे, खाना पकाना, रोटी पकाना।

मुहा॰—(मिट्टी का) बरतन पकाना = आँवे में आँच के द्वारा कड़ा और पुष्ट करना। कलेजा पकाना = जी जलाना। संताप पहुँचाना।

(३) फोड़े, फुंसी घाव आदि को इस अवस्था में पहुँचाना कि उसमें पीब या मवाद आ जाय। (४) मात्रा पूरी करना। सौदा पूरा करना। लगाना। जैसे, चार रुपए का गुड़ पका दो। (बनिये)

पकार-संज्ञा पुं॰ [प + कार] 'प' अक्षर।

पकाव-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पकना] (१) पकने का भाव। (२) पीब। मवाद।

पकौड़ा-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पका + वरी, बड़ी] [स्त्री॰ अल्प॰ पकौड़ी] घी या तेल में पकाकर फुलाई हुई बेसन या पीठी की बट्टी, बड़ी।

पकौड़ी-संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पकौड़ा"।

पक्करस-संज्ञा पुं॰ [सं॰] मदिरा।

पक्कवारि-संज्ञा पुं॰ [सं॰] काँजी।

पक्का-वि॰ [सं॰ पक्क] [स्त्री॰ पक्की] (१) अनाज या फल जो पुष्ट होकर खाने के योग्य हो गया हो। जो कच्चा न हो। पका हुआ। जैसे, पक्का आम। (२) जिसमें पूर्णता आ गई हो। जिसमें कसर न हो। पूरा। जैसे, पक्का चोर, पक्का धूर्त्त। (३) जो अपनी पूरी बाढ़ या प्रौढ़ता को पहुँच गया हो। पुष्ट। जैसे, पक्की लकड़ी।

मुहा॰—पक्का पान = वह पान जो कुछ दिन रखने से सफेद और खाने में स्वादिष्ट हो गया हो।

(४) जिसके संस्कार वा संशोधन की प्रक्रिया पूरी हो गई हो। साफ और दुरुस्त। तैयार। जैसे, पक्की चीनी, पक्का शोरा। (५) जो आँच पर कड़ा या मजबूत हो गया हो। जैसे, मिट्टी का पक्का बरतन। (६) जिसे अभ्यास हो। जो मँज गया हो। जो किसी काम को करते करते जमा या बैठा हो। पुख्ता। जैसे, पक्का हाथ। (७) जिसका पूरा अभ्यास हो। जो अभ्यस्त वा निपुण व्यक्ति के द्वारा बना हो। जैसे, पक्का खत, पक्के अक्षर। (८) अनुभवप्राप्त। तजरुबेकार। निपुण। दक्ष। होशियार। जैसे, हिसाब में अब वह पक्का हो गया। (९) आँच पर गलाया या तैयार किया हुआ। आँच पर पका हुआ।

मुहा॰—पक्का खाना या पक्की रसोई = घी में पका हुआ भोजन। जैसे, पूरी कचौरी, मालपूआ। पक्का पानी = (१) औटाया हुआ पानी। (२) स्वास्थ्यकर जल। नीरोग और पुष्ट जल।

(१०) दृढ़। मजबूत। टिकाऊ। जैसे, इस मंदिर का काम बहुत पक्का है, यह जल्दी गिर नहीं सकता।

मुहा०—पक्का काम = असली चाँदी सोने के तार के बने बेल बूटे का काम। असली कारचोबी का काम। जैसे, इस टोपी पर पक्का काम है। **पक्का घर या मकान** = सुरखी चूने के मसाले और ईंटों से बना हुआ घर। **पक्का रंग** = न छूटनेवाला रंग। बना रहनेवाला रंग।

(११) स्थिर। दृढ़। न टलनेवाला। निश्चित। जैसे, पक्की बात, पक्का इरादा, विवाह पक्का करना।

(१२) प्रमाणों से पुष्ट। प्रामाणिक। जिसे भूल या कसर के कारण बदलना न पड़े या जो अन्यथा न हो सके। ठीक जँचा हुआ। नपा तुला। जैसे, (क) वह बहुत पक्की सलाह देता है। (ख) पक्की दलील।

मुहा०—पक्का कागज = वह कागज जिस पर लिखी हुई बात कानून से दृढ़ समझी जाती है। स्टांप का कागज। **पक्की बही या खाता** = वह बही जिस पर ठीक जँचा हुआ या तै किया हुआ हिसाब उतारा जाता है। **पक्का चिट्ठा** = ठीक जँचा चिट्ठा।

(१३) जिसका मान प्रामाणिक हो। टकसाली। जैसे, पक्का मन, पक्की तोल, पक्का बीघा।

पक्काइत†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पक्का] दृढ़ता। मजबूती। निश्चय। पोढ़ाई।

पक्खर॰-संज्ञा स्त्री० दे० "पाखर"।

वि० [सं० पक्व] पक्का। पुखता। उ०—लक्ख में पक्खर तिक्खन तेज जे सूर समाज में गाज गने हैं।—तुलसी।

पक्खा†-संज्ञा पुं० दे० "पाखा"।

पक्तपौड-संज्ञा पुं० [सं०] पखौड़ा नाम का एक पेड़।

पक्व-वि० [सं०] (१) पका हुआ। (२) पक्का। (३) परिपुष्ट। दृढ़।

पक्वकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकानेवाले। (२) (फोड़े आदि को पकानेवाली) नीम।

पक्वता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पक्व होने का भाव। पक्कापन।

पक्वश-संज्ञा पुं० [सं०] एक अंत्यज नीच जाति।

पक्वातीसार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अतीसार। आमातीसार का उलटा।

विशेष—आमातीसार में मल के साथ आँव गिरती है, पक्वातीसार में नहीं।

पक्वान्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पका हुआ अन्न। (२) घी, पानी आदि के साथ आग पर पकाकर बनाई हुई खाने की चीज।

पक्वाशय-संज्ञा पुं० [सं०] पेट में वह स्थान जहाँ आमाशय में ढीला होकर अन्न जाता है और यकृत् और क्लोम ग्रंथियों से आए हुए रस से मिलता है। यह वास्तव में अंत्र का ही एक भाग है।

विशेष—थूक के साथ मिलकर खाया हुआ भोजन अन्न की नली से होकर नीचे उतरता है और आमाशय में जाता है जो मशक के आकार की थैली सा होता है। इस थैली में आकर भोजन इकट्ठा होता है और आमाशय के अम्लरस से मिलकर तथा मांस के आकुंचन प्रसारण द्वारा मथा जाकर ढीला और पतला होता है। जब भोजन अम्लरस से मिलकर ढीला हो जाता है तब पक्वाशय का द्वार खुल जाता है और आमाशय बड़े वेग से उसे उस ओर ढकेलता है। पक्काशय यथार्थ में छोटी आँत के ही प्रारंभ का बारह अंगुल तक का भाग है जिसके तंतुओं में एक विशेष प्रकार की कोष्ठाकार ग्रंथियाँ होती हैं। इसमें यकृत् से आकर पित्त रस और क्लोम से आकर क्लोम रस भोजन के साथ मिलता है। क्लोमरस में तीन विशेष पाचक पदार्थ होते हैं जो आमाशय से कुछ विश्लेषित होकर आए हुए (अधपचे) द्रव्य का और सूक्ष्म अणुओं में विश्लेषण करते हैं जिससे वह घुलकर श्लेष्ममयी कलाओं से होकर रक्त में पहुँचने के योग्य हो जाता है। पित्त रस के साथ मिलने से क्लोम रस में तीव्रता आती है और वसा या चिकनाई पचती है।

पक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान वा पदार्थ के वे दोनों छोर या किनारे जो अगले और पिछले से भिन्न हों। किसी विशेष स्थिति से दहने और बाएँ पड़नेवाले भाग। ओर। पार्श्व। तरफ। जैसे, सेना के दोनों पक्ष।

विशेष—'ओर' 'तरफ' आदि से 'पक्ष' शब्द में यह विशेषता है कि यह वस्तु के ही दो अंगों को सूचित करता है, वस्तु से पृथक् दिक् मात्र को नहीं।

(२) किसी विषय के दो या अधिक परस्पर भिन्न अंगों में से एक। किसी प्रसंग के संबंध में विचार करने की अलग अलग बातों में से कोई एक। पहलू। जैसे, (क) सब पक्षों पर विचार कर काम करना चाहिए। (ख) उत्तम पक्ष तो यही है कि तुम खुद जाओ। (३) किसी विषय पर दो या अधिक परस्पर भिन्न मतों में से एक। वह बात जिसे कोई सिद्ध करना चाहता हो और जो किसी दूसरे की बात के विरुद्ध हो। जैसे, (क) तुम्हारा पक्ष क्या है? (ख) तुम शास्त्रार्थ में एक पक्ष पर स्थिर नहीं रहते।

यौ०—उत्तर पक्ष। पूर्व पक्ष। पक्षखंडन। पक्षमंडन। पक्षसमर्थन।

मुहा०—पक्ष गिरना = मत का युक्तियों द्वारा सिद्ध न हो सकना। शास्त्रार्थ या विवाद में हार होना। **पक्ष निर्बल पड़ना** = मत का युक्तियों द्वारा पुष्ट न हो सकना। **पक्ष प्रबल पड़ना** = मत का युक्तियों द्वारा पुष्ट होना। दलील मजबूत होना। **पक्ष सँभालना** = किसी मत या बात का खंडन होने से बचाना। **पक्ष**

में = मत या बात के प्रमाण में। कोई बात सिद्ध करने के लिये।

(४) दो या अधिक बातों में से किसी एक के संबंध में (किसी की) ऐसी स्थिति जिससे उसके होने की इच्छा, प्रयत्न आदि सूचित हो। अनुकूल मत या प्रवृत्ति। जैसे, तुम देने के पक्ष में हो कि न देने के ?

मुहा०—किसी बात के पक्ष में होना = किसी बात का होना ठीक या अच्छा समझना।

(५) ऐसी स्थिति जिससे एक दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न करनेवालों में से किसी एक की कार्य्यसिद्धि की इच्छा या प्रयत्न सूचित हो। झगड़ा या विवाद करनेवालों में से किसी के अनुकूल स्थिति। जैसे, इस मामले में वह हमारे पक्ष में है।

मुहा०—(किसी का) पक्ष करना = दे० "पक्षपात करना"। पक्ष ग्रहण करना = पक्ष लेना। (किसी का) पक्ष लेना = (१) (झगड़े में) किसी की ओर होना। किसी की सहायता में खड़ा होना। सहायक होना। (२) पक्षपात करना। तरफदारी करना।

(६) निमित्त। लगाव। संबंध। जैसे, ऐसा करना तुम्हारे पक्ष में अच्छा न होगा। (७) वह वस्तु जिसमें साध्य की प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे, "पर्वत वह्निमान् है"। यहाँ पर्वत पक्ष है जिसमें साध्य वह्निमान् की प्रतिज्ञा की गई है। (न्याय)। (८) किसी की ओर से लड़नेवालों का दल। फौज। सेना। बल। (९) सहायकों या सवर्गों का दल। साथ रहनेवाला समूह। उ०—अंग पक्ष जाने बिना करिय न बैर विरोध।

यौ०—केशपक्ष = बालों का समूह।

(१०) सहायक। सखा। साथी। (११) किसी विषय पर भिन्न भिन्न मत रखनेवालों के अलग अलग दल। विवाद या झगड़ा करनेवालों की अलग अलग मंडलियाँ। वादियों प्रतिवादियों के अलग अलग समूह। जैसे, (क) दोनों पक्षों को सावधान कर दो कि झगड़ा न करें। (ख) तुम कभी इस पक्ष में मिलते हो कभी उस पक्ष में। (१२) चिड़ियों का डैना। पंख। पर। (१३) शरपक्ष। तीर में लगा हुआ पर। (१४) एक महीने के दो भागों में से कोई एक। चांद्रमास के पंद्रह पंद्रह दिनों के दो विभाग। पंद्रह दिन का समय। पाख।

विशेष—पक्ष दो होते हैं—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक कृष्ण पक्ष कहलाता है क्योंकि उसमें चंद्रमा की कला प्रति दिन घटती जाती है जिससे रात अँधेरी होती है। शुक्ल प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक शुक्ल पक्ष कहलाता है क्योंकि उसमें चंद्रमा की कला प्रति दिन बढ़ती जाती है जिससे रात उजेली होती है। कृष्ण पक्ष में सूर्यास्त से और शुक्ल पक्ष में सूर्योदय से तिथि ली जाती है।

(१५) गृह। घर। (१६) चूल्हे का छेद। (१७) राजा का हाथी। (१८) पक्षी। चिड़िया। (१९) हाथ में पहनने का कड़ा। (२०) महाकाल शिव।

पक्षधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्ष का आदमी। तरफदार। (२) पक्षी। चिड़िया।

पक्षपात–संज्ञा पुं० [सं०] बिना उचित अनुचित के विचार के किसी के अनुकूल प्रवृत्ति या स्थिति। तरफदारी।

पक्षपाती–संज्ञा पुं० [सं०] तरफदार। बिना उचित अनुचित के विचार के किसी के अनुकूल प्रवृत्त होनेवाला।

पक्षमूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) डैना। पर। (२) प्रतिपदा तिथि।

पक्षालि–संज्ञा पुं० [सं०] खिड़की।

पक्षरचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी का पक्ष साधन के लिये रचा हुआ आयोजन। षड्यंत्र। चक्र।

पक्षरूप–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

पक्षवर्द्धिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह द्वादशी तिथि जो सूर्योदय से लेकर सूर्योदय तक रहे।

पक्षवान्–वि० [सं० पक्षवत्] [स्त्री० पक्षवती] (१) पक्षवाला। परवाला। (२) उच्च कुल में उत्पन्न।

संज्ञा पुं० पर्वत। (पुराणों में कथा है कि पहले पर्वतों को पंख होते थे और वे उड़ते थे। पीछे इंद्र ने उनके पर काट लिए।)

पक्षविंदु–संज्ञा पुं० [सं०] कंकपक्षी।

पक्षसुंदर–संज्ञा पुं० [सं०] लोध्र।

पक्षाघात–संज्ञा पुं० [सं०] अर्द्धांग रोग जिसमें शरीर के दहने या बाएँ किसी पार्श्व के सब अंग (जैसे, हाथ, पैर, कंधा इत्यादि) क्रियाहीन हो जाते हैं। आधे अंग का लकवा। फालिज।

विशेष—वैद्यक के अनुसार इस रोग में कुपित वायु शरीर के अर्द्धांग में भरकर और उसकी शिराओं और स्नायुओं का शोषण करके संधिबंधनों और मस्तिष्क को शिथिल कर देती है जिससे उस पार्श्व के सब अंग निष्क्रिय और निश्चेष्ट हो जाते हैं। डाक्टरों के अनुसार पक्षाघात दो प्रकार का होता है, एक तो वह जिसमें अंगों की गति मारी जाती है, दूसरा वह जिसमें संवेदना नष्ट हो जाती है और अंग सुन्न हो जाते हैं।

पक्षाभास–संज्ञा पुं० [सं०] सिद्धांताभास।

पक्षालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी मातृका।

पक्षालु–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी।

पक्षावसर–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा।

पक्षिणी–वि० [सं०] पक्षवाली।

संज्ञा स्त्री० (१) चिड़िया। मादा चिड़िया। (२) पूर्णिमा। (३) दो दिन और एक रात का समय। (स्मृति)

पक्षितीर्थ--संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण का एक तीर्थ जो प्राचीन काल में हिंदुओं और बौद्धों के बीच प्रसिद्ध था। यह मदरास से १६-१७ कोस दक्षिण पड़ता है। आजकल इसका नाम तिरुक्कडुकुनरम् है।

पक्षिराज--संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों का राजा, गरुड़।

पक्षिलस्वामी--संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य। हेमचंद्र के मत से वात्स्यायन ही का नाम पक्षिल-स्वामी है।

पक्षी--संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिड़िया। (२) तरफदार।

पक्षेष्टि--वि० [सं०] एक पक्ष में होनेवाला। पाक्षिक।

संज्ञा पुं० [सं०] पाक्षिक याग। वह यज्ञ जो प्रति पक्ष किया जाय।

पक्ष्म--संज्ञा पुं० [सं० पक्ष्मन्] आँख की बिरनी। बरौनी।

पक्ष्मकोप--संज्ञा पुं० [सं०] आँख की बिरनी या पलकों का एक रोग।

पखंड--संज्ञा पुं० दे० "पाखंड"।

पखंडी--वि० दे० "पाखंडी"।

पख--संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष, प्रा० पक्खं] (१) वह बात जो किसी बात के साथ जोड़ दी जाय और जिसके कारण व्यर्थ कुछ और श्रम या कष्ट उठाना पड़े। ऊपर से व्यर्थ बढ़ाई हुई बात। तुर्रा। जैसे, (क) मैं आऊँगा अवश्य, पर साथ में कुछ लाने की पख न लगाइए। (ख) मैं कागज लिखने को तैयार हूँ पर वे गवाह की पख लगाते हैं।

क्रि० प्र०--लगना।--लगाना।

(२) ऊपर से बढ़ाई हुई शर्त। बाधक नियम। अड़ंगा। जैसे, इम्तहान की पख न होती तो ये उस जगह पर हो जाते। (३) झगड़ा। बखेड़ा। झंझट। हैरान करनेवाली बात। जैसे, तुमने मेरे पीछे अच्छी पख लगा दी है, वह रुपयों के लिये बराबर मुझे घेरा करता है।

क्रि० प्र०--करना।--फैलाना।--मचाना।

(४) दोष। त्रुटि। नुक्स। जैसे, वे इस हिसाब में यह पख निकालेंगे कि इसमें अलग अलग ब्योरा नहीं है।

पखड़ी--संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष्म] फूलों का रंगीन पटल जो खिलने के पहले आवरण के रूप में गर्भ या परागकेसर को चारों ओर से बंद किए रहता है और खिलने पर फैला रहता है। पुष्पदल। जैसे, गुलाब की पखड़ी, कमल की पखड़ी।

पखनारी†--संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष + नाल] चिड़ियों के पंखों की डंठी जिसे ढरकी के छेद में तिली रोकने के लिये लगाते हैं। (जुलाहे)

पखपान--संज्ञा पुं० [हिं० पग + पान] पैर में पहनने का एक गहना जिसे पाँवपोश भी कहते हैं।

पखराना--क्रि० स० [हिं० पखारना का प्रे०] धुलवाना। पखारने का काम कराना।

पखरी†--संज्ञा स्त्री० (१) दे० "पाखर"। (२) दे० "पँखड़ी"।

पखरैत--संज्ञा पुं० [हिं० पाखर + ऐत (प्रत्य०)] वह घोड़ा, बैल या हाथी जिस पर लोहे की पाखर पड़ी हो।

पखरौटा†--संज्ञा पुं० [हिं० पखड़ी + औटा (प्रत्य०)] सोने या चाँदी के वर्क से लपेटा हुआ पान का बीड़ा।

पखवाड़ा†--संज्ञा पुं० दे० "पखवारा"।

पखवारा--संज्ञा पुं० [सं० पक्ष + वार] (१) चांद्रमास का पूर्वार्द्ध वा उत्तरार्द्ध। महीने के पंद्रह पंद्रह दिन के दो विभागों में से कोई एक। (२) पंद्रह दिन का काल। उ०--परखेहु मोहिँ एक पखवारा। नहिँ आवौं तो जानेहु मारा।--तुलसी।

पखाउज--संज्ञा पुं० दे० "पखावज"।

पखाटा--संज्ञा पुं० [देश०] धनुष का कोना।

पखान*--संज्ञा पुं० दे० "पाषाण"।

पखाना--संज्ञा पुं० [सं० उपाख्यान] कहावत। कहनूत। कथा। मसल। उ०--बालापन ते निकट रहत ही सुन्यो न एक पखानो।--सूर।

†संज्ञा पुं० दे० "पाखाना"।

पखारना--क्रि० स० [सं० प्रक्षालन, प्रा० पक्खाड़न] पानी से मैल आदि साफ करना। धोकर साफ करना। धोना। जैसे, पैर पखारना। उ०--(क) पाँव पखारि निकट बैठारे समाचार सब बूझे।--सूर। (ख) जो प्रभु अवसि पार गा चहहू। तौ पद पदुम पखारन कहहू।--तुलसी।

पखाल--संज्ञा स्त्री० [सं० पय = पानी + हिं० खाल] (१) बैल के चमड़े की बनी हुई बड़ी मशक जिसमें पानी भरा जाता है। (२) धौंकनी।

पखालपेटिया--संज्ञा पुं० [हिं० पखाल + पेट] (१) वह जिसका पेट पखाल की तरह बढ़ा हो। बड़े पेटवाला। (२) बहुत खानेवाला आदमी। पेटू।

पखाली--संज्ञा पुं० [हिं० पखाल] पखाल या मशक में पानी भरनेवाला। भिश्ती।

पखावज--संज्ञा स्त्री० [सं० पक्ष + वाद्य] एक बाजा जो मृदंग से कुछ छोटा होता है।

पखावजी--संज्ञा पुं० [हिं० पखावज + ई] पखावज बजानेवाला।

पखिया--संज्ञा पुं० [हिं० पख] झगड़ालू। बखेड़ा मचानेवाला।

पखी*--संज्ञा पुं० दे० "पक्षी"।

पखीरी*--संज्ञा पुं० दे० "पक्षी"।

पखुड़ी, पखुरी--संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पखुवा--संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, हिं० पक्ख] बाहँ का वह भाग जो किनारे या बगल में पड़ता है। पखुरा। भुजमूल का पार्श्व। पार्श्व। बगल।

मुहा०--पखुवे से लगकर बैठना = बगल में सटकर बैठना।

खेरुवा†-संज्ञा पुं० दे० **"पखेरू"** ।

खेरू-संज्ञा पुं० [सं० पंक्षालु, प्रा० पक्खाडु] पक्षी । चिड़िया । उ०—मधुवन तुम कत रहत हरे । विरह वियोग श्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?...ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे । —सूर ।

खेव-संज्ञा पुं० [देश०] वह खाना जो भैंस या गाय को, बच्चा जनने पर, छः दिन तक दिया जाता है । इसमें सोंठ, गुड़, हलदी, मँगरैला और उर्द का आटा होता है ।

खौंड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] पक्तपौड़ वृक्ष । एक पेड़ का नाम ।

खौआ†-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष] पंख । पर ।

खौटा-संज्ञा पुं० [हिं० पंख] (१) डैना । पर । (२) मछली का पर ।

खौड़ा-संज्ञा पुं० दे० **"पखौरा"** ।

खौरा-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष + औरा (प्रत्य०)] कंधे और भुजदंड की संधि । कंधे पर की हड्डी ।

ग-संज्ञा पुं० [सं० पदक, प्रा० पअक, पक] (१) पैर । पाँव । (२) चलने में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर रखने की क्रिया की समाप्ति । डग । फाल । (३) चलने में जिस स्थान से पैर उठाया जाय और जिस स्थान पर रखा जाय दोनों के बीच की दूरी । डग । फाल ।

डंडी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + डंडी] जंगल या मैदान में वह पतला रास्ता जो लोगों के चलते चलते बन गया हो ।

ड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० पटक, हिं० पाग + ड़ी (प्रत्य०)] वह लंबा कपड़ा जो सिर पर लपेटकर बाँधा जाता है । पाग । चीरा । साफा । उष्णीष ।

क्रि० प्र०-बँधना ।—बाँधना ।

मुहा०—(किसी से) **पगड़ी अटकना** = बराबरी होना । मुकाबला होना । **पगड़ी उछलना** = दुर्गति होना । बुरी नौबत आना । **पगड़ी उछालना** = (१) बेइज्जती करना । दुर्दशा करना । (२) उपहास करना । हँसी उड़ाना । **पगड़ी उतरना** = मान या प्रतिष्ठा भंग होना । बेइज्जती होना । **पगड़ी उतारना** = (१) मान या प्रतिष्ठा भंग करना । बेइज्जती करना । (२) वस्त्र मोचन करना । ठगना । लूटना । धन संपत्ति हरण करना । (**किसी को**) **पगड़ी बँधना** = (१) उत्तराधिकार मिलना । वरासत मिलना । (२) उच्च पद या स्थान प्राप्त होना । सरदारी मिलना । अधिकार प्राप्त होना । (३) प्रातिष्ठा मिलना । सम्मान प्राप्त होना । (**किसी को**) **पगड़ी बाँधना** = (१) उत्तराधिकार देना । गद्दी देना । (२) उच्च पद या अधिकार देना । सरदार बनाना । (**किसी के साथ**) **पगड़ी बदलना** = भाईचारे का नाता जोड़ना । मैत्री करना । (**किसी की**) **पगड़ी रखना** = मानरक्षा करना । इज्जत बचाना । (**किसी के आगे**) **पगड़ी रखना** = बहुत नम्रता करना । विनती करना । गिड़गिड़ाना । हा हा खाना ।

पगतरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + तल] जूता ।

पगदासी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पग + दासी] (१) जूता । (२) खड़ाऊँ ।

पगना-क्रि० अ० [सं० पाक] (१) शरबत या शीरे में इस प्रकार पकना कि शरबत या शीरा चारों ओर लिपट और घुस जाय । रस के साथ परिपक्क होकर मिलना । जैसे, पेठे का चीनी में पगना । (२) किसी लसलसे पदार्थ के साथ इस प्रकार मिलना कि वह उसमें भर जाय । सनना । रस आदि के साथ ओतप्रोत होना । (३)बहुत अधिक अनुरक्त होना । किसी के प्रेम में डूबना । मग्न होना । उ०—कहै पदमाकर पगी यों पतिप्रेम ही में, पदमिनी तोसी, तिया तोही पेखियत है ।—पद्माकर ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पगनियाँ†-संज्ञा स्त्री० [सं० पग + नियाँ (प्रत्य०)] जूती । उ०—तनियाँ न तिलक सुथनिआँ पगनियाँ न घामै घुमराती छोड़ि सेजिया सुखन की ।—भूषण ।

पगपान-संज्ञा पुं० [हिं० पग + पान] पैर में पहनने का एक भूषण जिसे पलानी या गोड़संकर भी कहते हैं ।

पगरना-संज्ञा पुं० [देश०] सोने चाँदी के नक्काशों का एक औजार जो नक्काशी करते समय छोटा गड्ढा बनाने के काम में आता है ।

पगरा*†-संज्ञा पुं० [हिं० पग + रा (प्रत्य०)] पग । डग । कदम । उ०—सूर सनेह ग्वारि मन अटको छाँड़िहु दिए परत नहिं पगरो । परम मगन ह्वै रही चितै मुख सबहि ते भाग याहि को अगरो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [फा० पगाह = सवेरा] यात्रा आरंभ करने का समय । प्रभात । चलने का समय । सबेरा । तड़का । उ०-(क) पौ फाटी पगरा हुआ जागे जीवा जून । सब काहू को देत है चोंच समाना चून ।—कबीर । (ख) कबिरा पगरा दूर है, बीच परी है राति । ना जानो क्या होयगा ऊगंता परभात ।—कबीर ।

पगरी-संज्ञा स्त्री० दे० **"पगड़ी"** ।

पगला-वि० पुं० [स्त्री० पगली] दे० **"पागल"** ।

पगहा†-संज्ञा पुं० [सं० प्रग्रह, प्रा० पग्गह] [स्त्री० पगही] वह रस्सी जिससे पशु बाँधा जाता है । गिराँव । पघा ।

पगा†-संज्ञा पुं० [हिं० पाग] पटका । दुपट्टा । उ०—झँगा पगा अरु पाग पिछौरी ढाढ़िन को पहिराए ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० "पघा" उ०—तृण दशनन लै मिलु दसकंधर कंठहि मेलि पगा ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० **"पगरा"** ।

पगाना-क्रि० स० [सं० पक्क वा पाक] (१) पागने का काम कराना

(२) अनुरक्त करना। मग्न करना। उ०—का कियो योग अजामिल जू गनिका कःही मति प्रेम पगाई।—तुलसी।

पगार*-संज्ञा पुं० [सं० प्रकार] गढ़, प्रासाद या बाग बगीचे के रक्षार्थ बनी हुई चहारदीवारी। रखवाली के लिये बनी हुई दीवार। ओट की दीवार। उ०—(क) नांघती पगारन नगारन की घमकैं।—भूषण। (ख) बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिये।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [हिं० पग + गारना] (१) पैरों से कुचली हुई मिट्टी, कीचड़ वा गारा। (२) ऐसी वस्तु जिसे पैरों से कुचल सकें। (३) वह पानी वा नदी जिसे पैदल चलकर पार कर सकें। पायाब। उ०—गिरि ते ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार। वहै सदा पसु नरन कों प्रेम पयोधि पगार।

†संज्ञा पुं० वेतन। तनख्वाह।

पगाह-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] यात्रा आरम्भ करने का समय। प्रभात। भोर। तड़का। विशेष—दे० "पगरा"।

पगिआना*†-क्रि० स० दे० "पगाना"।

पगिया*†-संज्ञा स्त्री० दे० "पगड़ी"।

पगियाना*†-क्रि० स० दे० "पगाना"।

पगु*†-संज्ञा पुं० दे० "पग"।

पगुराना†-क्रि० अ० [हिं० पागुर] (१) पागुर करना। जुगाली करना। (२) हजम कर जाना। डकार जाना। ले लेना।

पगा†-संज्ञा पुं० [हिं० पागना या पकाना] पीतल वा ताँबा गलाने की घरिया। पागा।

पघा-संज्ञा पुं० [सं० प्रगृह] वह रस्सा जो गायों, बैलों आदि चौपायों के गले में बांधा जाता है। ढोरों को बांधने की मोटी रस्सी।

पघाल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत कड़ा लोहा।

पघिलना†-क्रि० अ० दे० "पिघलना"।

पघिलाना-क्रि० स० दे० "पिघलाना"।

पघैया†-संज्ञा पुं० [हिं० पग = पैर, पैदल + इया (प्रत्य०)] गांवों आदि में घूम घूमकर माल बेचनेवाला व्यापारी।

पचकना-क्रि० अ० दे० "पिचकना"।

पचकल्यान-संज्ञा पुं० दे० "पंचकल्याण"।

पचखना-वि० [हिं० पाँच + खंड] पांच खंडोंवाला या पँच मंजिला (मकान आदि)।

क्रि० अ० दे० "पचकना"।

पचखा†-संज्ञा पुं० दे० "पंचक"।

पचगुना-वि० [सं० पंचगुण] पांच बार अधिक। पांचगुना।

पचग्रह-संज्ञा पुं० [सं० पंचग्रह] मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि का समूह।

पचड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच (प्रपंच) + ड़ा (प्रत्य०)] (१) झंझट। बखेड़ा। पँवाड़ा। प्रपंच।

क्रि० प्र०—निकालना।—फैलाना।

(२) एक प्रकार का गीत जिसे प्रायः ओझा लोग देवी आदि के सामने गाते हैं। (३) लावनी या खयाल के ढंग का एक प्रकार का गीत जिसमें पांच पांच चरणों के टुकड़े होते हैं। ऐसे गीतों में प्रायः कोई कथा या आख्यान हुआ करता है।

पचतूरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा।

पचतोलिया-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + तोला + इया (प्रत्य०)] पांच तोले का बाट।

संज्ञा पुं० दे० "तौलिया"।

पचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकाने की क्रिया या भाव। पाक। (२) पकने की क्रिया या भाव। (३) अग्नि। (४) वह जो पकाता हो। पकानेवाला।

पचना-क्रि० अ० [सं० पचन] (१) खाई हुई वस्तु का जठराग्नि की सहायता से रसादि में परिणत होना। भुक्त पदार्थों का रसादि में परिणत होकर शरीर में लगने योग्य होना। हजम होना। जैसे, (क) रात का भोजन अभी तक नहीं पचा। (ख) जरा सा चूरण खा लो, भोजन पच जायगा। (२) क्षय होना। समाप्त या नष्ट होना। जैसे, बाई पचना, शेखी पचना, मोटाई पचना। (३) किसी चीज का मालिक के हाथ से निकलकर अनुचित रूप से किसी दूसरे के हाथ में इस प्रकार चला जाना कि फिर कोई उससे ले न सके। पराया माल इस प्रकार अपने हाथ में आ जाना कि फिर वापस न हो सके। हजम हो जाना। जैसे, उनके यहाँ अमानत में हजारों रुपए के जेवर रखे थे, सब पच गए। (४) अनुचित उपाय से प्राप्त किए हुए धन या पदार्थ का काम में आना। जैसे, उन्होंने लावारसी माल ले तो लिया, पर पचा न सके, सब चोर चुरा ले गए। (५) बहुत अधिक परिश्रम के कारण शरीर मस्तिष्क आदि का गलना, सूखना या क्षीण होना। ऐसा परिश्रम होना जिससे शरीर क्षीण हो। बहुत हैरान होना। दुःख सहना। उ०—ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।—तुलसी।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—पच मरना = किसी काम के लिये बहुत अधिक परिश्रम करना। जीतोड़ मिहनत करना। हैरान होना।

(६) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में पूर्ण रूप से लीन होना। खपना। जैसे, जरा से चावल में सारा घी पच गया।

पचनागार-संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला। रसोईंघर। बाबरचीखाना।

पचनाग्नि-संज्ञा पुं० [सं०] जठराग्नि । पेट की आग जिससे खाया हुआ पदार्थ पचता है ।

पचनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कड़ाही ।

पचनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बिहारी नीबू ।

पचनीय-संज्ञा पुं० [सं०] पचने योग्य । जो पच सकता हो ।

पचपच-संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) पचपच शब्द होने की क्रिया या भाव । (२) कीचड़ ।

पचपचा-वि० [हिं० पचपच] वह अधपका भोजन जिसका पानी ठीक तरह से सूखा या जला न हो ।

पचपचाना†-[हिं० पचपच] (१) किसी पदार्थ का आवश्यकता से अधिक गीला होना । (२) कीचड़ होना । (क्व०)

पचपन-वि० [सं० पंचपंचाश, पा० पंचपण्णासा] पचास और पाँच । पांच कम साठ ।

संज्ञा पुं० पचास और पाँच की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५५ ।

पचपनवाँ-वि० [हिं० पचपन + वाँ (प्रत्य०)] क्रम में पचपन के स्थान पर पड़नेवाला । जो गिनने में चौवन के बाद पचपन की जगह पड़े ।

पचपल्लव-संज्ञा पुं० दे० "पंचपल्लव" ।

पचमेल-वि० [हिं० पाँच + मेल] जिसमें कई या सब प्रकार (के पदार्थ आदि) हों । जिसमें कई या सब मेल (की चीजें) हों । जैसे, पचमेल मिठाई ।

पचरंग-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + रंग] चौक पूरने की सामग्री । मेंहदी का चूरा, अबीर, बुक्का, हल्दी और सुरवाली के बीज ।

विशेष—इस सामग्री में सर्वत्र ये ही ५ चीजें नहीं होतीं । इनमें से कुछ चीजों के स्थान पर दूसरी चीजें भी काम में लाई जाती हैं ।

वि० दे० "पचरंगा" ।

पचरंगा-वि० [हिं० पाँच + रंग] [स्त्री० पँचरँगी] (१) जिसमें भिन्न भिन्न पाँच रंग हों । पाँच रंग का या पाँच रंगोंवाला । (२) (कपड़ा) जो पाँच रंगों से रँगा या पाँच रंगों के सूतों से बुना हुआ हो । (३) जिसमें कई या बहुत से रंग हों । कई रंगों से रंजित ।

संज्ञा पुं० नवग्रह आदि की पूजा के निमित्त पूरा जानेवाला चौक जिसके खाने या कोठे पचरंग के पाँच रंगों से भरे जाते हैं ।

पचरा-संज्ञा पुं० दे० "पचड़ा" ।

पचलड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + लड़ी] माला की तरह का एक आभूषण जिसमें पाँच लड़ियाँ होती हैं । यह गले में पहना जाता है और इसकी अंतिम लड़ी प्रायः नाभि तक पहुँचती है । कभी कभी प्रत्येक लड़ी के और कभी कभी केवल अंतिम के बीचों बीच एक जुगनू लगा रहता है । इसके दाने सोने, मोती अथवा किसी अन्य रत्न के होते हैं ।

पचलोना-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + लोन (लवण)] (१) जिसमें पाँच प्रकार के नमक मिले हों । (२) दे० "पंचलवण" ।

पचवई†-संज्ञा स्त्री० दे० "पचवाई" ।

पचवाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + वाई] एक प्रकार की देशी शराब जो चावल, जौ, ज्वार आदि से चुआई जाती है ।

पचहत्तर-वि० [सं० पंचसप्तति, प्रा० पंचहत्तरि] सत्तर और पाँच । सत्तर से ५ अधिक ।

संज्ञा पुं० सत्तर और पाँच के जोड़ने से बननेवाली संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—७५ ।

पचहत्तरवाँ-वि० [हिं० पचहत्तर + वाँ (प्रत्य०)] गिनने में पचहत्तर के स्थान पर पड़नेवाला । क्रम में जिसका स्थान पचहत्तर पर हो ।

पचहरा-वि० [हिं० पाँच + हरा] (१) पाँच परतों या तहोंवाला । पाँच बार मोड़ा या लपेटा हुआ । पाँच आवृत्तियोंवाला । (२) पाँच बार किया हुआ । (अप्रयुक्त)

पचानक-संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जिसका शरीर एक बालिश्त लंबा होता है । इसके डैने और गर्दन काली होती है । दक्षिण भारत और बंगाल इसके स्थायी आवासस्थान हैं पर अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में भी यह पाया जाता है ।

पचाना-क्रि० स० [हिं० पचना] (१) पचना का सकर्मक रूप । पकाना । आँच पर गलाना । (२) खाई हुई वस्तु को जठराग्नि की सहायता से रसादि में परिणत कर शरीर में लगने योग्य बनाना । जीर्ण करना । हजम करना । जैसे, तुम चार चपातियाँ भी नहीं पचा सकते ।

संयो० क्रि०—जाना ।—डालना ।—लेना ।

(२) समाप्त या नष्ट कर देना । क्षय करना । जैसे, बाई पचाना, शेखी पचाना, मोटाई पचाना आदि ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

(३) किसी की कोई वस्तु अनुचित या अवैध उपाय से हस्तगत कर सदा अपने अधिकार में रखना । पराए माल को अपना कर लेना । हजम कर जाना । उगलने का उलटा । जैसे, किसी का माल चुराना सहज है पर पचाना सहज नहीं है ।

संयो० क्रि०—जाना ।—डालना ।—लेना ।

(४) अवैध उपाय से हस्तगत वस्तु को अपने काम में लाकर लाभ उठाना । जैसे, ब्राह्मण का धन है, ले तो लिया पर तुम पचा न सकोगे । (५) अत्यधिक परिश्रम लेकर या क्लेश देकर शरीर मस्तिष्क आदि को गलाना, सुखाना या क्षय करना । जैसे, (क) तपस्या करके देह पचा डाली । (ख) बेवकूफ से बहस करके कौन व्यर्थ माथा पचावे ?

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

(६) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ को अपने आप में पूर्ण

रूप से लीन कर लेना। खपाना। जैसे, यह चावल बहुत घी पचाता है।

पचार†–संज्ञा पुं० [हिं० पच्चर] बाँस या लकड़ी का वह छोटा डंडा जो जूए में बाँई ओर होता है और सीढ़ी के डंडे की तरह उसके ढाँचे में दोनों ओर ठुका रहता है।

पचारना†–क्रि० स० [सं० प्रचारण] किसी काम के करने के पहले उन लोगों के बीच उसकी घोषणा करना जिनके विरुद्ध वह किया जानेवाला हो। ललकारना। जैसे, हाँक पचारकर कोई काम करना।

पचाव†–संज्ञा पुं० [हिं० पचना + आव (प्रत्य०)] पचने की क्रिया या भाव।

पचास–वि० [सं० पञ्चाशत्, प्रा० पञ्चासा] चालीस और दस। चालीस से दस अधिक। साठ से दस कम।

संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो चालीस और दस के जोड़ से बने। चालीस और दस की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५०।

पचासवाँ–वि० [हिं० पचास + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचास के स्थान पर पड़नेवाला।

पचासा–संज्ञा पुं० [हिं० पचास] एक ही प्रकार की पचास वस्तुओं का समूह। जैसे, पजनेस पचासा (पचास पद्यों का संग्रह)।

पचासी–वि० [सं० पंचाशीति, प्रा० पंचासाई, पच्चासी] अस्सी और पाँच। अस्सी से पाँच अधिक। पाँच ऊपर अस्सी।

संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो अस्सी और पाँच के जोड़ से बने। अस्सी और पाँच के योग की फलरूप संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—८५।

पचासीवाँ–वि० [हिं० पचासी + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचासी के स्थान पर पड़नेवाला। जो क्रम में पचासी के स्थान पर हो।

पचि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पकाने की क्रिया या भाव। पाचन। (२) अग्नि। आग।

पचित–वि० [सं० पचित = पचा हुआ, अच्छी तरह घुला मिला हुआ] पच्ची किया हुआ। जड़ा हुआ। बैठाया हुआ। (क्व)। उ०–हरी लाल प्रबाल पिरोजा पंगति बहुमणि पचित पचावनो।—सूर।

पची–संज्ञा स्त्री० दे० "पच्ची"।

पचीस–वि० [सं० पञ्चविंशति, पा० पंचवीसति, अपभ्रंश प्रा० पचीस] पाँच और बीस। बीस से पाँच अधिक। पाँच ऊपर बीस।

संज्ञा पुं० वह संख्या या अंक जो पाँच और बीस के जोड़ने से प्रकट हो। ५ और २० के योगफलरूप संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२५।

पचीसवाँ–वि० [हिं० पचीस + वाँ (प्रत्य०)] गणना में पचीस के स्थान पर पड़नेवाला। जो क्रम में पचीस के स्थान पर हो।

पचीसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पचीस] (१) एक ही प्रकार की २५ वस्तुओं का समूह। जैसे, वैतालपचीसी (पचीस कहानियों का संग्रह)। (२) किसी की आयु के पहले २५ वर्ष। जैसे, अभी तो उन्होंने पचीसी भी नहीं पार की। (३) एक विशेष गणना जिसका सैकड़ा पचीस गाहियों अर्थात् १२५ का माना जाता है। आम अमरूद आदि सस्ते फलों की खरीद बिक्री में इसी का व्यवहार किया जाता है। (४) एक प्रकार का खेल जो चौसर की बिसात पर खेला जाता है। गोटियाँ भी उसी की सी होती हैं और उसी तरह चली जाती हैं। अंतर केवल यह है कि इसमें पासे की जगह ७ कौड़ियाँ होती हैं जो खड़खड़ाकर फेंकी जाती हैं। चित और पट कौड़ियों की संख्या के अनुसार दाँव का निश्चय होता है।

पचूका†–संज्ञा पुं० [हिं० पिच से अनु०] पिचकारी।

पचोतर–वि० [सं० पञ्चोत्तर] (किसी संख्या से) पाँच अधिक। पाँच ऊपर। जैसे, पचोतर सो।

पचोतर सो–संज्ञा पुं० [सं० पञ्चोत्तर शत] सौ और पाँच की संख्या या अंक। एक सौ पाँच। यह अंकों में इस प्रकार लिखा जाता है—१०५।

पचोतरा–संज्ञा पुं० [सं० पञ्चोत्तर] कन्या पक्ष के पुरोहित का एक नेग जिसमें उसे दायज में, विशेष कर तिलक के समय, वर-पक्ष को मिलनेवाले रुपयों आदि में से सैकड़े पीछे पाँच मिलता है।

पचौआ–संज्ञा पुं० [देश०] किसी कपड़े पर छींट छप चुकने के पीछे ८ या १२ दिन तक उसे धूप में खुला रखना। ऐसा करने से छापते समय सारे स्थान पर जो धब्बे आ जाते हैं वे छूट जाते हैं।

पचौनी†‡–संज्ञा स्त्री० [सं० पाचन] पाचन। पाचक।

पचौर†–संज्ञा पुं० [हिं० पंच या पचौली] गाँव का मुखिया। सरदार। सरगना। उ०—पहुँचे जाइ पचौर प्रवीन। छत्रसाल सो मुजरा कीन।—लाल।

पचौली†–संज्ञा पुं० [हिं० पंच + कुली] गाँव का मुखिया। सरदार। पंच।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पौधा जो मध्य भारत तथा बंबई में अधिकता से होता है। इसकी पत्तियों से एक प्रकार का तेल निकाला जाता है जो विलायती सुगंधियों (एसेंस आदि) में पड़ता है।

पचौवर–वि० [हिं० पाच + सं० आवर्त] जिसकी पाँच तहें की गई हों। पाँच परत का। पाँच तह या परत किया हुआ। पचहरा। उ०—चौवर पचौवर कै चादर निचोरै है।

पच्चड़–संज्ञा पुं० दे० "पच्चर"।

पच्चर-संज्ञा स्त्री० [सं० पचित या पच्ची] काठ का पैबंद। लकड़ी या बाँस की वह फट्टी या गुल्ली जिसे चारपाई, चौखट आदि लकड़ी की बनी चीजों में साल या जोड़ को कसने के लिये उसमें छूटे हुए दरार या रंध्र में ठोंकते हैं। छेद या खाली जगह भरने के लिये इसके एक सिरे को दूसरे से कुछ पतला कर लेते हैं। परन्तु जब इससे दो लकड़ियों को जोड़ने का काम लेना होता है तब इसे उतार चढ़ाव नहीं बनाते; एक फट्टी या गुल्ली बना लेते हैं।

क्रि० प्र०—ठोंकना।—देना।—करना।

मुहा०—पच्चर अड़ाना = बाधक होना। बाधा खड़ी करना। रुकावट डालना। अड़ंगा लगाना। जैसे, तुम नाहक इस काम में क्यों पच्चर अड़ाते हो? पच्चर ठोंकना = किसी को कष्ट पहुँचाने या पीड़ित करने के लिये कोई उपाय करना। ऐसा काम करना जिससे किसी को बहुत कष्ट पहुँचे या वह खूब तंग और परेशान हो। खूँटा ठोंकना। जैसे, घबड़ाते क्यों हो, ऐसी पच्चर ठोकूँगा कि सारी आई बाई पच जायगी। पच्चर मारना = होते काम को रोकना। बनती हुई बात को बिगाड़ देना। भाँजी मारना। जैसे, अगर तुम पच्चर न मारते तो यह संबंध अवश्य बैठ जाता।

पच्ची-संज्ञा स्त्री० [सं० पचित] (१) ऐसा जड़ाव या जमावट जिसमें जड़ी या जमाई जानेवाली वस्तु उस वस्तु के बिलकुल समतल हो जाय जिसमें वह जड़ी या जमाई जाय। किसी वस्तु के फैले हुए तल पर दूसरी वस्तु के टुकड़े इस प्रकार खोदकर बैठाना कि वे उस वस्तु के तल (सतह) के मेल में हो जायँ और देखने या छूने में उभरे या गड़े हुए न मालूम हों तथा दरज या सीम न दिखाई पड़ने के कारण आधार वस्तु के ही अंग जान पड़ें। जैसे, संगमर्मर पर रंग विरंग के पत्थर के टुकड़ों को जड़ना। (२) किसी धातु-निर्मित पदार्थ पर किसी अन्य धातु के पत्तर का जड़ाव। जैसे, किसी फर्शी या जस्ते की किसी चीज पर चाँदी के पत्तरों का जड़ाव।

मुहा०—(किसी में) पच्ची हो जाना = बिलकुल मिल जाना या वही हो जाना। लीन हो जाना। हल हो जाना। जैसे, यह कबूतर जब जब उड़ता है तब तब आसमान में पच्ची हो जाता है।

पच्चीकारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पच्ची + फा० कारी = करना] पच्ची करने की क्रिया या भाव। जड़ने जोड़ने की क्रिया या भाव।

पच्छ*†-संज्ञा पुं० दे० "पक्ष"।

पच्छकट-संज्ञा पुं० [देश०] आल की मझोली जड़ जो रँगाई के काम में आती है।

पच्छघात-संज्ञा पुं० दे० "पक्षाघात"।

पच्छम-संज्ञा पुं० दे० "पश्चिम"।

पच्छि†-संज्ञा पुं० दे० "पक्षी"।

पच्छिम-संज्ञा पुं० दे० "पश्चिम"।

वि० [सं० पश्चिम] पिछला। पीछे का। (डिं०)

पच्छिवँ-संज्ञा पुं० दे० "पश्चिम"।

पच्छी-संज्ञा पुं० दे० "पक्षी"।

पछटी*-संज्ञा स्त्री० [देश०] तलवार। (डिं०)

पछड़ना-क्रि० अ० [हिं० पाछा] (१) लड़ने में पटका जाना। पछाड़ा जाना। (२) दे० "पिछड़ना"।

पछताना-क्रि० अ० [हिं० पछताव] किसी किए हुए अनुचित कार्य के सम्बन्ध में पीछे से दुखी होना। किसी की हुई बात पर पीछे से खिन्न होना या खेद प्रकट करना। पश्चात्ताप करना। पछतावा करना।

पछतानि†*-संज्ञा स्त्री० [सं० पश्चात्ताप] पछताने का भाव। पछतावा। पश्चात्ताप।

पछताव†-संज्ञा पुं० दे० "पछतावा"।

पछतावना*-क्रि० अ० दे० "पछताना"।

पछतावा-संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्ताप, पा० पच्छाताव] वह संताप या दुःख जो किसी की की हुई बात पर पीछे से हो। अपने किए को बुरा समझने से होनेवाला रंज। पश्चात्ताप। अनुताप।

पछवत-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछे = वत] वह चीज जो फसिल के अंत में बोई जाय।

पछवाँ-वि० [सं० पश्चिम] पच्छिम की। पश्चिम दिशा की। पच्छिमी। पश्चिम दिशा संबंधी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] अँगिया का वह हिस्सा जो पीठ की तरफ मोढ़े के पीछे रहता है।

वि० दे० "पछुआँ"।

पछाँह-संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] पश्चिम पड़नेवाला प्रदेश। पच्छिम की ओर का देश।

पछाँहिया-वि० [हिं० पछाँह + इया (प्रत्य०)] पछाँह का। पश्चिम प्रदेश का।

पछाड़-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाछा] बहुत अधिक शोक आदि के कारण खड़े खड़े बेसुध होकर गिर पड़ना। अचेत होकर गिरना। मूर्छित होकर गिरना।

मुहा०—पछाड़ खाना = खड़े खड़े अचानक बेसुध होकर गिर पड़ना। उ०—परति पछाड़ खाइ छिन ही छिन अति आतुर है दीन। मानहु सूर काढ़ि है लीनी वारि मध्य ते मीन।—सूर।

पछाड़ना-क्रि० स० [हिं० पछाड़ी] कुश्ती या लड़ाई में पटकना। गिराना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० स० [सं० पूक्षालन] धोने के लिये कपड़े को जोर जोर से पटकना ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

पछाड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पिछाड़ी" ।

पछानना※–क्रि० स० दे० "पहचानना" ।

पछाया–संज्ञा पुं० [हिं० पाछा] किसी वस्तु के पीछे का भाग । पिछाड़ी । जैसे, अँगिया का पछाया ।

पछार‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पछाड़" ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पछारना] पछारने की क्रिया या भाव ।

पछारना–क्रि० स० [सं० प्रक्षालन, प्रा० पच्छाड़न] कपड़े को पानी से साफ करना । धोना ।

※ क्रि० स० दे० "पछाड़ना" ।

पछावरि†–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पकवान । उ०—पुनि भारि सो द्वै विधि स्वाद बने । विधि दोइ पछावरि सात पने ।—केशव ।

पछाहीं–वि० [हिं० पछाहँ] पछाहँ का । पश्चिम प्रदेश का । जैसे, पछाहीं पान, पछाहीं आदमी ।

पछिआना†–क्रि० स० [हिं० पाछे+आना] पीछे हो लेना । पीछे पीछे चलना । पीछा करना । उ०—लीनो व्यासदेव पछिआई । बारहि बार पुकारत जाई ।—रघुराज ।

पछिताना†–क्रि० अ० दे० "पछताना" ।

पछिताव–संज्ञा पुं० दे० "पछतावा" । उ०—सुनि सीतापति सील सुभाव ।........सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाव । दई सुगति सो न हेरि हरख हिय चरन छुए को पछिताव ।—तुलसी ।

पछिनाव†–संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं का एक रोग ।

पछियाना–क्रि० स० दे० "पछिआना" ।

पछियाव–संज्ञा पुं० [हिं० पच्छिड़+वाउ] पच्छिम की हवा ।

पछिलना†–क्रि० अ० दे० "पिछड़ना" ।

पछिला–वि० दे० "पिछला" ।

पछिवाँ–वि० [हिं० पच्छिम] पच्छिम की (हवा) ।

संज्ञा स्त्री० पच्छिम की हवा ।

पछीत–संज्ञा स्त्री० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] (१) घर का पिछवाड़ा । मकान के पीछे का भाग । (२) घर के पीछे की दीवार ।

पछुवाँ–वि० [हिं० पच्छिम] पच्छिम की (हवा) ।

संज्ञा स्त्री० पच्छिम की हवा ।

पछुवा–संज्ञा पुं० [हिं० पाछा] कड़े के आकार का पैर में पहनने का एक गहना ।

पछेड़ा†–संज्ञा पुं० [हिं० पाछ] पीछा ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पछेलना†–क्रि० स० [हिं० पाछ+एलना (प्रत्य०)] पीछे डालना । पीछे छोड़ना । आगे बढ़ जाना ।

पछेला†–संज्ञा पुं० [हिं० पाछ+एला (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्प० पछेली] (१) हाथ में एक साथ पहने जानेवाले बहुत से चिपटे कड़ों में से पिछला जो अगलों से बड़ा होता है । पीछे की मठिया । (२) हाथ में पहनने का स्त्रियों का एक प्रकार का कड़ा जिसमें उभरे हुए दानों की पंक्ति होती है ।

वि० पीछे का । पिछला ।

पछेलिया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पछेली" ।

पछेली–संज्ञा स्त्री० दे० "पछेला" ।

पछोड़ना†–क्रि० स० [सं० प्रक्षालन, प्रा० पच्छाड़ना] सूप आदि में रखकर (अन्न आदि के दानों को) साफ करना । फटकना । उ०—कहो कौन पै कढ़ै कनूका भुस की रास पछोरे । —सूर ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

मुहा०—**फटकना पछोड़ना** = उलट पलटकर परीक्षा करना । खूब देखना भालना । उ०—सूर जहाँ लौं श्यामगात हैं देखे फटकि पछोरी ।—सूर ।

पछोरना†–क्रि० स० दे० "पछोड़ना" ।

पछौरा–संज्ञा पुं० दे० "पिछौरा" ।

पछ्यावर†–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का सिखरन या शरबत । उ०—भूतल के सब भूपन को मद भोजन तो बहु भाँति कियोई । मोद सों तारकनंद को मेद पछ्यावरि पान सिरायो हियोई ।—केशव ।

पजर†–संज्ञा पुं० [सं० प्रक्षरण] (१) चूने या टपकने की क्रिया । (२) झरना ।

पजरना※–क्रि० अ० [सं० प्रज्वलन] जलना । दहकना । सुलगना । उ०—(क) पजरि पजरि तनु अधिक दहत है सुनत तिहारे बैन ।—सूर । (ख) याके उर औरै कछू लगी विरह की लाय । पजरै नीर गुलाब के पिय की बात सिराय । —बिहारी ।

पजहर–संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार का पत्थर जो पीलापन या हरापन लिए सफेद होता है और जिस पर नक्काशी होती है ।

पजामा‡–संज्ञा पुं० दे० "पायजामा" ।

पजारना※–क्रि० स० [हिं० पजरना] जलाना । दहकाना । सुलगाना ।

पजावा–संज्ञा पुं० [फा० पजावा] आवाँ । ईंट पकाने का भट्ठा ।

पजूसण–संज्ञा पुं० [देश०] जैन मत का एक व्रत ।

पजोखा–संज्ञा पुं० [?] किसी के मरने पर उसके संबंधियों से शोक प्रकाश । मातमपुरसी ।

पजोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पाजी+ओड़ा (प्रत्य०)] पाजी । दुष्ट ।

पज्ज※–संज्ञा पुं० [सं० पद्य] शूद्र ।

पज्जर–संज्ञा पुं० दे० "पाँजर" ।

पज्झटिका-संज्ञा पुं० [सं० पद्धटिका] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ इस नियम से होती हैं कि ८ वीं और छठी मात्रा पर एक एक गुरु होता है। इसमें जगण का निषेध है।

पटंबर*†-संज्ञा पुं० [सं० पाट + अंबर] रेशमी कपड़ा। कौषेय।

पट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्र। कपड़ा। (२) पर्दा। चिक। कोई आड़ करनेवाली वस्तु।

क्रि० प्र०—उठाना।—खोलना।—हटाना।

(३) लकड़ी, धातु आदि का वह चिकना चिपटा टुकड़ा या पट्टी जिस पर कोई चित्र या लेख खुदा हुआ हो। जैसे, ताम्रपट। (४) कागज का वह टुकड़ा जिस पर चित्र खींचा या उतारा जाय। चित्रपट। (५) वह चित्र जो जगन्नाथ, बदरिकाश्रम आदि मंदिरों से दर्शनप्राप्त यात्रियों को मिलता है। (६) छप्पर। छान। (७) सरकंडे आदि का बना हुआ वह छप्पर जो नाव या बहली के ऊपर डाल दिया जाता है। (८) चिरौंजी का पेड़। पियार। (९) कपास। (१०) गंधतृण। शरवान।

संज्ञा पुं० [सं० पट्ट] (१) साधारण दरवाजों के किवाड़।

क्रि० प्र०—उघड़ना।—खुलना।—खोलना।—देना।—बंद करना।—भिड़ाना।—भेड़ना।

मुहा०—**पट उघड़ना** = मंदिर का दरवाजा इसलिये खुलना कि लोग मूर्ति के दर्शन पा सकें। दर्शन का समय आरंभ होना। **पट खुलना** = दे० "पट उघड़ना"। **पट बंद होना** = मंदिर का दरवाजा बंद हो जाना। दर्शन का समय बीत जाना।

(२) पालकी के दरवाजे के किवाड़ जो सरकाने से खुलते और बंद होते हैं।

यौ०—पटदार = वह पालकी जिसमें पट हों।

क्रि० प्र०—खुलना।—खोलना।—देना।—बंद करना।—सरकाना।

मुहा०—**पट मारना** = किवाड़ बंद कर देना।

(३) सिंहासन।

यौ०—पटरानी।

(४) किसी वस्तु का तलप्रदेश जो चिपटा और चौरस हो। चिपटी और चौरस तलभूमि।

†संज्ञा पुं० [देश०] (१) टाँग।

मुहा०—**पट लेना** = पट नामक पेच करने के लिये जोड़ की टाँगें अपनी ओर खींचना।

(२) कुश्ती का एक पेच जिसमें पहलवान अपने दोनों हाथ जोड़ की आँखों की तरफ इसलिये बढ़ाता है कि वह समझे कि मेरी आँखों पर थप्पड़ मारा जायगा और फिर फुरती से झुककर उसके दोनों पैर अपने सिर की ओर खींचकर उसे उठा लेता और गिराकर चित कर देता है। यह पेच और भी कई प्रकार से किया जाता है।

वि० ऐसी स्थिति जिसमें पेट भूमि की ओर हो और पीठ आकाश की ओर। चित का उलटा। औंधा।

मुहा०—**पट पड़ना** = (१) औंधा पड़ना। (२) कुश्ती में नीचे के पहलवान का पेट के बल पड़कर मिट्टी थामना। (३) मंद पड़ना। धीमा पड़ना। न चलना। जैसे, रोजगार पट पड़ना, पासा पट पड़ना आदि। **तलवार पट पड़ना** = तलवार का औंधी गिरना। उस ओर से न पड़ना जिधर धार हो।

क्रि० वि० चट का अनुकरण। तुरत। फौरन। जैसे, चट मँगनी पट ब्याह।

[अनु०] किसी हलकी छोटी वस्तु के गिरने से होनेवाली आवाज। टप। जैसे, पट पट बूँदें पड़ने लगीं।

विशेष—खट, पट, धम धम आदि अन्य अनुकरण शब्दों के समान इसका प्रयोग भी 'से' विभक्ति के साथ क्रिया-विशेषणवत् ही होता है। संज्ञा की भाँति प्रयोग न होने के कारण इसका कोई लिंग नहीं माना जा सकता।

पटइन†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटवा] पटवा जाति की स्त्री। पटहार जाति की स्त्री।

पटक-संज्ञा पुं० [सं०](१)सूती कपड़ा। (२) शिविर। तंबू। खेमा।

पटकन*-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव। (२) चपत। तमाचा।

क्रि० प्र०—देना।

(३) छोटा डंडा। छड़ी।

क्रि० प्र०—खाना।—मारना।

पटकना-क्रि० स० [सं० पतन + करण] (१) किसी वस्तु को उठाकर या हाथ में लेकर भूमि पर जोर से डालना या गिराना। जोर के साथ ऊँचाई से भूमि की ओर झोंक देना। किसी चीज को झोंके के साथ नीचे की ओर गिराना। जैसे, हाथ का लोटा पटक देना, मेज पर हाथ पटकना। (२) किसी खड़े या बैठे व्यक्ति को उठाकर जोर से नीचे गिराना। दे मारना। उ०—पुनि नल नीलहिं अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट मारेसि।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।

विशेष—'पटकना' में ऊपर से नीचे की ओर झोंका देने या जोर करने का भाव प्रधान है। जहाँ बगल से झोंका देकर किसी खड़ी या ऊपर रखी चीज को गिरावें वहाँ ढकेलना या गिराना कहेंगे।

मुहा०—(**किसी पर, किसी के ऊपर या किसी के सिर**) **पटकना** = कोई ऐसा काम किसी के सुपुर्द करना जिसे करने की उसकी इच्छा न हो। किसी के बार बार इनकार करने पर भी कोई काम उसके गले मढ़ देना। जैसे, भाई तुम यह काम मेरे ही सिर क्यों पटकते हो, किसी और को क्यों नहीं ढूँढ़ लेते।

(२) कुश्ती में प्रतिद्वंद्वी को पछाड़ना, गिरा देना या दे मारना। जैसे, मैं उन्हें तीन बार पटक चुका।

† क्रि० अ० (१) सूजन बैठना या पचकना। वरम या आमास का कम होना। (२) गेहूँ, चने, धान आदि का सील या जल से भीगकर फिर सूखकर सिकुड़ना। (ऐसी स्थिति को प्राप्त होने के पश्चात् अन्न में बीजत्व नहीं रह जाता। वह केवल खाने के काम में आ सकता है, बोने के नहीं)। (३) पट शब्द के साथ किसी चीज का दरक या फट जाना। जैसे, हाँड़ी पटक गई।

पटकनिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव। पटकान।

क्रि० प्र०—देना।

(२) पटके जाने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—खाना।

(३) भूमि पर गिरकर लोटने या पछाड़ें खाने की क्रिया या अवस्था। लोटनिया। पछाड़।

क्रि० प्र०—खाना।

पटकनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव। जैसे, पहली ही पटकनी में बचा को छट्ठी का दूध याद आ गया।

क्रि० प्र०—देना।

(२) पटके जाने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—खाना।

(३) भूमि पर गिरकर लोटने या पछाड़ें खाने की क्रिया या अवस्था।

क्रि० प्र०—खाना।

पटकरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बेल।

पटका-संज्ञा पुं० [सं० पट्टक] (१) वह दुपट्टा या रूमाल जिससे कमर बाँधी जाय। कमरबंद। कमरपेच।

क्रि० प्र०—बाँधना।

मुहा०—पटका बाँधना = कमर कसना। किसी काम के लिये तैयार होना। पटका पकड़ना = किसी को कार्य विशेष के लिये उत्तरदायी या अपराधी मानकर रोकना। कार्य विशेष से अपना असंबंध बताकर जान बचाने का प्रयत्न करनेवाले को रोक रखना और उस काम का जिम्मेदार ठहराना। दामन पकड़ना।

(२) दीवार में वह बंद या पट्टी जो सुंदरता के लिये जोड़ी जाती है।

पटकान-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटकना] (१) पटकने की क्रिया या भाव। जैसे, मेरी एक ही पटकान में उसके होश ठिकाने हो गए।

क्रि० प्र०—देना।

(२) पटके जाने की क्रिया या अवस्था।

क्रि० प्र०—खाना।

(३) भूमि पर गिरकर लोटने या पछाड़ खाने की क्रिया या अवस्था।

क्रि० प्र०—खाना।

पटकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़ा बुननेवाला। जुलाहा। (२) चित्रपट बनानेवाला। चित्रकार।

पटकुटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पट + कुटी] रावटी। छोलदारी। खेमा। (डिं०)

पटच्चर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीर्ण वस्त्र। पुराना कपड़ा। (२) चोर। (३) महाभारत और पुराणों में वर्णित एक प्राचीन देश।

विशेष—महाभारत के टीकाकार नीलकंठ के मत से यह देश प्राचीन चोल है। पर महाभारत सभापर्व में सहदेव का दिग्विजय प्रकरण पढ़ने से इसका स्थान मत्स्य देश के दक्षिण चेदि के निकट कहीं पर जान पड़ता है। जैन हरिवंश के मत से यह मद्र देश का ही अंश विशेष है।

पटड़ा‡-संज्ञा पुं० दे० "पटरा"।

पटड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पटरी"।

पटतर*-संज्ञा पुं० [हिं० सं० पट्ट = पटरी + तल = पटरी के समान चौरस = बराबर] (१) समता। बराबरी। तुल्यता। समानता। (२) उपमा। सादृश्य कथन। तशबीह।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—लहना।

† वि० जिसकी सतह ऊँची नीची न हो। चौरस। समतल। बराबर।

पटतरना-क्रि० अ० [हिं० पटतर] बराबर ठहराना। उपमा देना। उ०—जो पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया?—तुलसी।

पटतारना-क्रि० स० [हिं० पटा + तारना = अंदाजना] खड्ग, भाले आदि को उस स्थिति में पकड़ना जिसमें उनसे वार किया जाता है। खाँड़ा, भाला आदि शस्त्रों को किसी पर चलाने के लिये पकड़ना या खींचना। सँभालना। उ०—(क) याके गर्भ अवतरैं जे सुत करिहैं प्रहारा हो। रथ ते उतरि केस गहि राजा कियो खड्ग परतारा हो।—सूर। (ख) फिर पठान सों जंग हित चल्यो सेल पटतारि।—सूदन।

क्रि० स० [हिं० पटतर] ऊँची नीची जमीन को चौरस करना। टीले को काटकर उसकी मिट्टी को इधर उधर इस प्रकार फैला देना कि जहाँ वह फैलाई जाय वहाँ का तल चौरस रहे। पड़तारना।

पटताल-संज्ञा पुं० [सं० पट्ट + ताल] मृदंग का एक ताल। यह ताल १ दीर्घ या २ ह्रस्व मात्राओं का होता है। इसमें एक

+
ताल और एक खाली रहता है। इसका बोल यों है—धा, केटे,
० +
दिंता, धा।

पटद-संज्ञा पुं० [सं०] कपास।

पटधारी-वि० पुं० [सं०] जो कपड़ा पहने हो। संज्ञा पुं० तोशाखाने का अधिकारी। तोशाखाने का मुख्य अफसर। उ०—बोलि सचिव सेवक सखा पटधारि भँडारी। तेहु जाहिं जोइ चाहिए सनमानि सँभारी!—तुलसी।

पटना-क्रि० अ० [हिं० पट = जमीन की सतह के बराबर] (१) किसी गड्ढे या नीचे स्थान का भरकर आस पास की सतह के बराबर हो जाना। समतल होना। जैसे, वह झील अब बिलकुल पट गई है। (२) किसी स्थान में किसी वस्तु की इतनी अधिकता होना कि उससे शून्य स्थान न दिखाई पड़े। परिपूर्ण होना। जैसे, रणभूमि मुर्दों से पट गई। (३) मकान, कुएँ आदि के ऊपर कच्ची या पक्की छत बनना। (४) मकान की दूसरी मंजिल या कोठा उठाया जाना। (५)† सींचा जाना। सेराब होना जैसे, वह खेत पट गया। (६) दो मनुष्यों के विचार, भाव, रुचि या स्वभाव में ऐसी समानता होना जिससे उनमें सहयोगिता या मित्रता हो सके। मन मिलना। बनना। जैसे, हमारी उनकी कभी नहीं पट सकती। (७) विचारों, भावों या रुचियों की समानता के कारण मित्रता होना। ऐसी मित्रता होना जिसका कारण मनों का मिल जाना हो। जैसे, आजकल हमारी उनकी खूब पटती है। (८) खरीद, बिक्री, लेन देन आदि में उभय पक्ष का मूल्य, सूद, शर्त्तों आदि पर सहमत हो जाना। तै हो जाना। बैठ जाना। जैसे, सौदा पट गया, मामिला पट गया आदि। (९) (ऋण या देना) चुकता हो जाना। (ऋण) भर जाना। पाई पाई अदा हो जाना। जैसे, ऋण पट गया।
संयो० क्रि०—जाना।

संज्ञा पुं० [सं० पट्टन] दे० "पाटलिपुत्र"।

पटनिया, पटनिहा-वि० [हिं० पटना+इया या इहा (प्रत्य०)] (१) वह वस्तु जो पटना नगर या प्रदेश में बनी हो। जैसे, पटनिया एक्का। (२) पटना नगर या प्रदेश से संबंध रखनेवाला।

पटनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाटना] वह कमरा जिसके ऊपर कोई और कमरा हो। कोठे के नीचे का कमरा। पटौंहा।
संज्ञा स्त्री० [हिं० पटना = तै होना] (१) जमींदारी का वह अंश जो निश्चित लगान पर सदा के लिये बंदोबस्त कर दिया गया हो। वह जमीन जो किसी को इस्तमरारी पट्टे के द्वारा मिली हो।
यौ०—पटनीदार।
विशेष—यदि काश्तकार इस जमीन या इसके अंश विशेष को वे ही अधिकार देकर जो उसे जमींदार से मिले हैं दूसरे मनुष्य के साथ बंदोबस्त कर दे तो उसे "दरपटनी" और ऐसे ही तीसरे बंदोबस्त के बाद उसे "सिपटनी" कहते हैं।
(२) खेत उठाने की वह पद्धति जिसमें लगान और किसान या असामी के अधिकार सदा के लिये निश्चित कर दिए जाते हैं। इस्तमरारी पट्टे द्वारा खेत का बंदोबस्त करने की पद्धति। (३) दो खूँटियों के सहारे लगाई हुई पटरी जिस पर कोई चीज रखी जाय।

पटपट-संज्ञा स्त्री० [अनु० पट] हलकी वस्तु के गिरने से उत्पन्न शब्द की बार बार आवृत्ति। 'पट' शब्द अनेक बार होने की क्रिया या भाव। पट शब्द की बार बार उत्पत्ति।

क्रि० वि० बराबर पट ध्वनि करता हुआ। 'पट पट' आवाज के साथ। जैसे, पटपट बूँदें पड़ने लगीं।

पटपटाना-क्रि० अ० [हिं० पटकना] (१) भूख प्यास या सरदी गरमी के मारे बहुत कष्ट पाना। बुरा हाल होना। (२) किसी चीज से पटपट ध्वनि निकलना। जैसे, ये चने खूब पटपटा रहे हैं।

क्रि० स० (१) किसी चीज को बजा या पीटकर 'पटपट' शब्द उत्पन्न करना। जैसे, व्यर्थ क्या पटपटा रहे हो? (२) खेद करना। शोक करना।

पटपर-वि० [हिं० पट + अनु० पर] समतल। बराबर। चौरस। हमवार।

संज्ञा पुं० (१) नदी के आस पास की वह भूमि जो बरसात के दिनों में प्रायः सदा डूबी रहती है। इसमें केवल रबी की खेती की जाती है। (२) ऐसा जंगल जहाँ घास, पेड़ और पानी तक न हो। अत्यन्त उजाड़ स्थान।

पटबंधक-संज्ञा पुं० [हिं० पटना+सं० बंधक] एक प्रकार का रेहन जिसमें महाजन या रेहनदार रेहन रखी हुई संपत्ति के लाभ में से सूद लेने के बाद जो कुछ बच जाता है उसे मूल ऋण में मिनहा करता जाता है और इस प्रकार जब सारा ऋण वसूल हो जाता है तब संपत्ति उसके वास्तविक स्वामी को लौटा देता है।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।—रखना।

पटबीजना†-संज्ञा पुं० [हिं० पट = बराबर + बिज्जु = बिजली] जुगुनू। खद्योत।

पटभाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक यंत्र जिससे आँख को देखने में सहायता मिलती थी।

पटमंजरी-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति की एक शुद्ध रागिनी जो हिंडोल राग की स्त्री है। हनुमत् के मत से इसका स्वरग्राम यह है—प ध नि सा रे ग म प। इसका गान समय ६ दंड से १० दंड तक है। एक और मत से यह

श्री राग की रागिनी है और इसका गान समय एक पहर दिन के बाद है।

विशेष—कोई कोई इसे संकर रागिनी भी मानते हैं। इनमें से कुछ के मत से यह नट और मालश्री के मिलाने से बनी है। दूसरे इसे मारु, धूलश्री, गांधारी और धनाश्री के संयोग से बनी हुई मानते हैं।

पटमंडप-संज्ञा पुं० [सं०] तंबू। खेमा।

पटम-वि० [हिं० पटपटाना] वह जिसकी आँखें भूख से पटपटा या बैठ गई हों। जो भूख के मारे अंधा हो गया हो।

पटरक-संज्ञा पुं० [सं०] पेटर। गोंदपटेर।

पटरा-संज्ञा पुं० [सं० पट्ट+हिं० रा (प्रत्य०) अथवा सं० पटल] [स्त्री० अल्प० पटरी] (१) काठ का लंबा चौकोर और चौरस चीरा हुआ टुकड़ा जो लंबाई चौड़ाई के हिसाब से बहुत कम मोटा हो। तख्ता। पल्ला।

विशेष-काठ के ऐसे भारी टुकड़े को जिसके चारों पहल बराबर या करीब करीब बराबर हों अथवा जिसका घेरा गोल हो 'कुन्दा' कहेंगे। कम चौड़े पर मोटे लंबे टुकड़े को 'बल्ला' या 'बल्ली' कहेंगे। बहुत ही पतली बल्ली को छुड़ कहेंगे।

मुहा०—**पटरा कर देना**=(१) किसी खड़ी चीज को गिराकर पटरी की तरह जमीन के बराबर कर देना। (२) मनुष्य वृक्ष आदि को काटकर गिरा देना। मार काटकर फैला देना या बिछा देना। जैसे, शाम तक उसने सारे का सारा जंगल काटकर पटरा कर दिया। (३) चौपट कर देना। तबाह कर देना। सर्वनाश कर देना। जैसे, इस वर्ष के अकाल ने तो पटरा कर दिया। **पटरा होना**=मरकर गिर जाना। मर जाना। नष्ट हो जाना। स्वाहा हो जाना। जैसे, इस साल हैजे से हजारों पटरा हो गए।

(२) धोबी का पाट। (३) हेंगा। पाटा।

मुहा०—**पटरा फेरना**=किसी के घर को गिराकर जुते हुए खेत की तरह चौरस कर देना। ध्वंस करना। तबाह कर देना।

पटरानी-संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट+रानी] पटरानी जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठने की अधिकारिणी हो। किसी राजा की विवाहिता रानियों में सर्वप्रधान। राजा की सबसे बड़ी रानी। राजा की मुख्य रानी। पट्टरानी। पाटमहिषी।

पटरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटरा] (१) काठ का पतला और लम्बोतरा तख्ता।

मुहा०—**पटरी जमाना**=घुड़सवारी में जीन पर सवार का रानों को इस प्रकार चिपकाना कि घोड़े के बहुत तेज चलने या शरारत करने पर भी उसका आसन स्थिर रहे। रान बैठाना या जमाना। **पटरी बैठना**=मन मिलना। मित्रता होना। मेल होना। पटना। जैसे, हमारी उनकी पटरी कभी न बैठेगी।

(२) लिखने की तख्ती। पटिया। (३) वह चौड़ा खपड़ा जिस पर नरिया जमाते हैं। (४) सड़क के दोनों किनारों का वह कुछ ऊँचा और कम चौड़ा भाग जो पैदल चलनेवालों के लिये होता है। (५) नहर के दोनों किनारों पर के रास्ते। (६) बगीचे में क्यारियों के इधर उधर के पतले पतले रास्ते जिनके दोनों ओर सुंदरता के लिये घास लगा दी जाती है। रविश। (७) सुनहरे या रुपहले तारों से बना हुआ वह फीता जिसे साड़ी, लहँगे या किसी कपड़े की कोर पर लगाते हैं। (८) हाथ में पहनने की एक प्रकार की पट्टीदार चौड़ी चूड़ी जिस पर नक्काशी बनी होती है। (९) जंतर। चौकी। तावीज।

पटल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छप्पर। छान। छत। (२) आवरण। पर्दा। आड़ करने या ढकनेवाली कोई चीज। (३) परत। तह। तबक। (४) पहल। पार्श्व। (५) आँख की बनावट की तहें। आँख के पर्दे। (६) मोतियाबिंद नामक आँख का रोग। पिटारा। (७) लकड़ी आदि का चौरस टुकड़ा। पटरा। तख्ता। (८) पुस्तक का भाग या अंश विशेष। परिच्छेद। (९) माथे पर का तिलक। टीका। (१०) समूह। ढेर। अंबार। (११) लाव-लश्कर। लवाजमा। परिच्छद।

पटलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आवरण। पर्दा। झिलमिली। बुरका। (२) कोई छोटा संदूक, डलिया या टोकरा। (३) समूह। राशि। ढेर। अंबार।

पटलप्रांत-संज्ञा पुं० [सं०] छप्पर का सिरा या किनारा।

पटली-संज्ञा स्त्री० [सं० पटल] छप्पर। छान। छत।

संज्ञा स्त्री० दे० **"पटरी"**।

पटवा-संज्ञा पुं० [सं० पाट+वाह (प्रत्य०)] [स्त्री० पटइन] रेशम या सूत में गहने गुथनेवाला। पटहार।

[देश०] एक प्रकार का बैल जिसका रंग नारंगी का सा होता है। यह बैल मजबूत और तेज चलनेवाला होता है।

पटवाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] झाँझ के आकार का एक प्राचीन बाजा जिसमें ताल दिया जाता था।

पटवाना-क्रि० स० [हिं० पाटना का प्रे०] (१) पाटने का काम दूसरे से कराना। (२) आच्छादित कराना। छत डलवाना। जैसे, घर पटवाना। (३) गड्ढे आदि को भरकर आसपास की जमीन के बराबर कराना। भरवा देना। पूरा करा देना। जैसे, गड्ढा पटवा देना।

† (४) सिंचवाना। पानी से तर कराना। (५) अदा करा देना। चुकवा देना। दाम दाम दिलवा देना। उ०—उसने अपने मित्र से वह ऋण पटवा दिया।

क्रि० स० [हिं० 'पटाना' का प्रे०] † (पीड़ा या कष्ट) दूर कर देना। मिटाना। बंद करना। शांत करना।

पटवारगरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पटवारी+फा० गरी] (१) पटवारी

का काम । जैसे, इन्होंने २० साल तक पटवारगरी की है । (२) पटवारी का पद । जैसे, उस गाँव की पटवारगरी इन्हीं को मिलनी चाहिए ।

पटवारी-संज्ञा पुं० [सं० पट्ट+सं० कार, हिं० वार] गाँव की जमीन और उसके लगान का हिसाब-किताब रखनेवाला एक छोटा सरकारी कर्मचारी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पट+वारी (प्रत्य०)] कपड़े पहनानेवाली दासी । उ०—पानदानवारी केती पीकदानवारी चौंरवारी पंखावारी पटवारी चलीं धाय कै ।—रघुराज ।

पटवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वस्त्रनिर्मित गृह । शिविर । तंबू । (२) वह वस्तु जिससे वस्त्र सुगंधित किया जाय । वे सुगंधियाँ जिनसे कपड़ा बसाने का काम लिया जाय । उ०—जल थल फल फूल भूरि अंबर पटवास धूरि स्वच्छ यच्छ कर्दम हिय देवन अभिलाषे ।—केशव । (३) लहँगा ।

पटवासक-संज्ञा पुं० [सं०] पटवास चूर्ण । वस्त्र बसानेवाली सुगंधियों का चूर्ण ।

पटसन-संज्ञा पुं० [सं० पाट + हिं० सन या सं० शण] (१) एक प्रसिद्ध पौधा जिसके रेशे से रस्सी, बोरे, टाट और वस्त्र बनाए जाते हैं । यह गरम जल-वायुवाले प्रायः सभी देशों में उत्पन्न होता है । इसके कुल ३६ भेद हैं जिनमें से ८ भारतवर्ष में पाए जाते हैं । इन ८ में से दो मुख्य हैं और प्रायः इन्हीं की खेती की जाती है । इसके कई भेद अब भी वन्य अवस्था में मिलते हैं । दो मुख्य भेदों में से एक को नरछा और दूसरे को वनपाट कहते हैं । नरछा विशेषतः बंगाल और आसाम में बोया जाता है । वनपाट की अपेक्षा इसके रेशे अधिक उत्तम होते हैं । नरछे का पौधा वनपाट के पौधे से ऊँचा होता है और पत्ती तथा कली लंबी होती है । वनपाट की पत्तियाँ गोल, फूल नरछे से बड़े और कली की चोंच भी नरछे से कुछ अधिक लंबी होती है । पटसन की बोआई भदई जिंसों के साथ होती है और कटाई उस समय होती है जब उसमें फूल लगते हैं । इस समय न काट लेने से रेशे कड़े हो जाते हैं । बीज के लिये थोड़े से पौधे खेत में एक किनारे छोड़ दिए जाते हैं, शेष काटकर और गट्ठों में बाँधकर नदी, तालाब या गड्ढे के जल में गाड़ दिए जाते हैं । तीन चार दिन बाद निकालकर डंठल से छिलके को अलग कर लेते हैं । फिर छिलकों को पत्थर के ऊपर पछाड़ते हैं और थोड़ी थोड़ी देर के बाद पानी में धोते हैं जिससे कड़ी छाल कटकर धुल जाती है और नीचे की मुलायम छाल निकल आती है । छिलके या रेशे अलग करने के लिये यंत्र भी है, परंतु भारतीय किसान उसका उपयोग नहीं करते । यंत्र द्वारा अलग किए हुए रेशों की अपेक्षा सड़ाकर अलग किए हुए रेशे अधिक मुलायम होते हैं । छुड़ाए और सुखाए जाने के अनंतर रेशे एक विशेष यंत्र में दबाए अथवा कुचले जाते हैं । जब तक यह क्रिया होती रहती है, रेशों पर जल और तेल के छींटे देते रहते हैं जिससे उनकी रुखाई और कठोरता दूर होकर कोमलता, चिकनाई और चमक आ जाती है । आजकल पटसन के रेशों से तीन काम लिए जाते हैं—मुलायम, लचीले रेशों से कपड़े तथा टाट बनाए जाते हैं, कड़े रेशों से रस्से रस्सियाँ और जो इन दोनों कामों के अयोग्य समझे जाते हैं उनसे कागज बनाया जाता है । रेशों की उत्तमता अनुत्तमता के विचार से भी पटसन के कई भेद हैं । जैसे, उत्तरिया, देसवाल, देसी, ड्योरा या डौरा, नारायनगंजी, सिराजगंजी आदि । इनमें उत्तरिया और देसवाल सर्वोत्तम हैं । पटसन के रेशे अन्य वृक्षों या पौधों के रेशों से कमजोर होते हैं, इसी से इनसे बुने हुए वस्त्र भी अपेक्षाकृत कमजोर होते हैं । रंग इसके रेशों पर चाहे जितना गहरा या हलका चढ़ाया जा सकता है । चमक, चिकनाई आदि में पटसन रेशम का मुकाबला करता है, जिस कारखाने में पटसन के सूत और कपड़े बनाए जाते हैं उनको 'जूट मिल' और जिस यंत्र में दाब पहुँचाकर रेशों को मुलायम और चमकीला बनाया जाता है उसे 'जूट प्रेस' कहते हैं । (२) पटसन के रेशे । पाट । जूट ।

विशेष—(क) पटसन से रस्से रस्सियाँ टाट और टाट ही की तरह का एक मोटा कपड़ा तो बहुत दिनों से लोग बनाते रहे हैं, पर उसका बारीक रेशम-तुल्य सूत और उनसे बहुमूल्य वस्त्र तैयार करने की ओर उनका ध्यान नहीं गया था । अब उसका खूब महीन सूत भी बनने लग गया है । (ख) कुछ लोगों का यह अनुमान है कि नरछा नामक उत्तम जाति के पटसन के बीज भारत में चीन से लाए गए हैं । बंगाल और आसाम के जिन जिन भागों में नरछे की खेती सफलता-पूर्वक की जा सकती है वहाँ की जलवायु में चीन की जलवायु से बहुत कुछ समानता है ।

पटसाली-संज्ञा पुं० [सं० पट्टशाली] धारवाड़ प्रांत की जुलाहों की एक जाति जो रेशमी वस्त्र बुनती है ।

पटहंसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । यह रागिनी १७ दंड से २० दंड तक के बीच में गाई जाती है ।

पटह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुंदुभी । नगाड़ा । डंका । आडंबर । (२) बड़ा ढोल ।

पटहार-वि० [सं० पाट + हिं० हार (प्रत्य०)] रेशम के डोरे बनानेवाला । रेशम के डोरों से गहना गूँथनेवाला । संज्ञा पुं० [स्त्री० पटहारिन वा पटेरिन] एक जाति जो रेशम या सूत के डोरे से गहने गूँथती है । पटवा ।

पटहारिन–संज्ञा स्त्री० [हिं० पटहार] (१) पटहार की स्त्री। (२) पटहार जाति की स्त्री।

पटा–संज्ञा पुं० [सं० पट] प्रायः दो हाथ लंबी किर्च के आकार की लोहे की फट्टी जिससे तलवार की काट और बचाव सीखे जाते हैं।

❊ संज्ञा पुं० [सं० पट्ट] पीढ़ा। पटरा।

मुहा०—पटाफेर = विवाह की एक रस्म जिसमें वर वधू के आसन परस्पर अदल बदल दिए जाते हैं। पटा बाँधना = पटरानी बनाना। उ०—चौदह सहस तिया में तोको पटा बँधाऊँ आज।—सूर।

(३) ❊ [सं० पट्ट] अधिकारपत्र। सनद। पट्टा। उ०—विधि के कर को जो पटो लिखि पायो।—तुलसी।

(४) ❊ [हिं० पटना] लेन देन। क्रयविक्रय। सौदा। उ०–मन के हटा में पुनि प्रेम को पटा भयो।—पद्माकर। (५) चौड़ी लकीर। धारी। (६) लगाम की मुहरी। (७) चटाई। (८) दे० "पट्टा"।

पटाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पटाना] (१) पटाने की क्रिया या भाव। सिंचाई। आबपाशी। (२) सिंचाई की मजदूरी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पाटना] (१) पाटने की क्रिया या भाव। (२) पाटने की मजदूरी।

पटाक–[अनु०] किसी छोटी चीज के गिरने का शब्द। जैसे, वह पटाक से गिरा।

विशेष—चटाक, धड़ाम आदि अनुकरण-शब्दों के समान इसका व्यवहार भी सदा 'से' विभक्ति के साथ क्रियाविशेषणवत् होता है। संज्ञा की भाँति प्रयुक्त न होने के कारण इसका कोई लिंग नहीं माना जा सकता।

पटाका–संज्ञा पुं० [हिं० पट (अनु०)] (१) पट या पटाक शब्द। (२) पट या पटाक शब्द करके छूटनेवाली एक प्रकार की आतशबाजी।

क्रि० प्र०—छोड़ना।

(३) पटाके की ध्वनि। कोड़े या पटाके की आवाज। (४) तमाचा। थप्पड़। चपत।

क्रि० प्र०—जमाना।—देना।—लगाना।

संज्ञा स्त्री० युवती अथवा कम अवस्थावाली स्त्री। (बाजारू)

पटाखा–संज्ञा पुं० दे० "पटाका"।

पटाना–क्रि० स० [हिं० पट = समतल] (१) पाटने का काम कराना। गड्ढे आदि को भरकर आसपास की जमीन के बराबर कराना। (२) छत को पीटकर बराबर कराना। (३) पाटन बनवाना। छत बनवाना। जैसे, कोठा पटाना। (४) ऋण चुका देना। अदा कर देना। जैसे, मैंने उनका सब पावना पटा दिया। (५) बेचनेवाले को किसी मूल्य पर सौदा देने के लिये राजी कर लेना। मूल्य तै कर लेना। जैसे, सौदा पटाना।

† क्रि० अ० शांत होकर बैठना। चुपचाप बैठना।

पटापट–क्रि० वि० [अनु० पट] लगातार बार बार 'पट' ध्वनि के साथ। निरंतर पट पट शब्द करते हुए। 'पट पट' की ऐसी आवृत्ति जिसमें दो ध्वनियों के मध्य बहुत ही कम अवकाश हो और एक सम्मिलित ध्वनि सी जान पड़े। जैसे, पटापट मार पड़ी।

संज्ञा स्त्री० निरंतर पटपट शब्द की आवृत्ति। ऐसी 'पटपट' ध्वनि जिसमें दो ध्वनियों के बीच इतना कम अवकाश हो कि अनुभव में न आ सके। जैसे, इस पटापट से तो तबीअत परेशान हो गई।

पटापटी–संज्ञा स्त्री० [अनु०] वह वस्तु जिसमें अनेक रंगों के फूल पत्ते कढ़े हों। वह वस्तु जो कई रंगों से रँगी हुई हो। चित्र विचित्र वस्तु।

मुहा०—पटापटी का पर्दा = वह पर्दा जिसमें रंग बिरंग के फूल पत्ते या समोसे आदि कढ़े हों। पटापटी की गोट = वह रंग बिरंगी गोट जिसमें सिंघाड़े आदि कढ़े हों।

पटार–संज्ञा स्त्री० [सं० पिटक] (१) पिटारा। पेटी। मंजूषा। (२) पिंजड़ा। (३) रेशम की रस्सी या निवार। (४) कनखजूरा। (बुंदेलखंडी)

पटालुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जोंक। जलौका।

पटाव–संज्ञा पुं० [हिं० पाटना] (१) पाटने की क्रिया। (२) पाटने का भाव। (३) पटा हुआ स्थान। पाट कर चौरस किया हुआ स्थान। (४) दीवारों के आधार पर पाटकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान। पाटन। (५) लकड़ी का वह मजबूत तखता जिसे दरवाजे के ऊपरी भाग पर रखकर उसके ऊपर दीवार उठाते हैं। भरेठा।

पटि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई छोटा वस्त्र या वस्त्रखंड। (२) जलकुंभी।

पटिआ–संज्ञा स्त्री० दे० "पटिया"।

पटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कोई छोटा वस्त्र या वस्त्रखंड।

पटिया†–संज्ञा स्त्री० [सं० पट्टिका] (१) पत्थर का प्रायः चौकोर और चौरस कटा हुआ टुकड़ा जिसकी मोटाई लंबाई चौड़ाई के हिसाब से बहुत कम हो। चिपटा चौरस शिलाखंड। फलक। (२) काठ का छोटा तख्ता। खाट या पलंग की पट्टी। पाटी। †(३) माँग। पट्टी।

क्रि० प्र०—काढ़ना।—पारना।—सँवारना।

(४) हेंगा। पाटा। (५) कम्मल या टाट की एक पट्टी। (६) लिखने की पट्टी। तखती। (७) सँकरा और लंबा खेत।

पटी–संज्ञा स्त्री० [सं० पट] (१) ❊कपड़े का पतला लंबा टुकड़ा।

पट्टी। उ०—मीत बिरह की पीर को सकै न पलहग काँध। रूप कपूर लगाइ कै प्रीति पटी सों बाँध।—रसनिधि। (२) पटका। कमरबंद। उ०—पीत पटी लपटी कटि में अरु साँवरो सुंदर रूप सँवारे।—देव। (३) पर्दा। (४) नाटक का पर्दा।

पटीमा-संज्ञा पुं० [हिं० पट्टी] छीपियों का वह तख्ता जिस पर वे छापते समय कपड़े को बिछा लेते हैं।

पटीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का चंदन। (२) कत्था। (३) कत्थे या खैर का वृक्ष। (४) मूली। (५) वटवृक्ष। उ०—जटिल पटीर कृपाल बट रक्तफला न्यग्रोध। यह बंसीबट देखु बलि सब सुख निरुपध बोध।—नंददास।

पटीलना-क्रि० अ० [हिं० पटाना] (१) किसी को उलटी सीधी बातें समझा बुझाकर अपने अनुकूल करना। ढंग पर लाना। हत्थे चढ़ाना। उतारना। (२) अर्जित करना। कमाना। प्राप्त करना। (३) ठगना। छलना। (४) मारना। पीटना। ठोंकना। (५) परास्त करना। नीचा दिखाना। (६) सफलतापूर्वक किसी काम को समाप्त करना। खतम करना। पूर्ण करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

पटु-वि० [सं०] (१) प्रवीण। निपुण। कुशल। दक्ष। (२) चतुर। चालाक। होशियार। (३) धूर्त। छलिया। मक्कार। फरेबी। (४) निष्ठुर। अत्यंत कठोर हृदयवाला। (५) रोगरहित। तन्दुरुस्त। स्वस्थ। (६) तीक्ष्ण। तीखा। तेज। (७) उग्र। प्रचंड। (८) स्फुट। प्रकाशित। व्यक्त। (९) सुंदर। मनोहर। उ०—(क) रघुपति पटु पालकी मँगाई।—तुलसी। (ख) पौढाये पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद।—तुलसी।

संज्ञा पुं० (१) नमक। (२) पांशुलवण। पाँगा नोन। (३) परवल। (४) परवल के पत्ते। (५) करेला। (६) चिरचिटा नाम की लता। (७) चीनी कपूर। (८) जीरा। (९) बच। (१०) नकछिकनी।

पटुआ-संज्ञा पुं० दे० "पटुवा (१) और (२)"।

पटुक-संज्ञा पुं० [सं०] परवल।

पटुकल्प-वि० [सं०] कुछ कम पटु। जो पूर्ण कुशल या चालाक न हो। कामचलाऊ दक्ष।

पटुका-संज्ञा पुं० [सं० पटिका] (१) दे० "पटका"। (२) चादर। गले में डालने का वस्त्र। (३) धारीदार चारखाना।

पटुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटु होने का भाव। प्रवीणता। निपुणता। होशियारी। (२) चतुराई। चालाकी।

पटुतूलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक घास। लवणतृण।

पटुतृणक-संज्ञा पुं० [सं०] लवणतृण नाम की घास।

पटुत्रय-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक का एक पारिभाषिक शब्द जिससे तीन नमकों का बोध होता है—विड़ नोन, सेंधा नोन और काला नोन।

पटुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] पटुता।

पटुपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटे चेंच का पौधा।

पटुपर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कटेहरी।

पटुपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कटेहरी। सत्यानाशी कटेहरी। स्वर्णक्षीरी। भँड़भाँड़।

पटुमात्-संज्ञा पुं० [सं०] आंध्र वंश का एक राजा। किसी किसी पुराण में इसका नाम पटुमान् या पटुमायि मिलता है।

पटुली-संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट] (१) काठ की पटरी जो झूले के रस्सों पर रखी जाती है। (२) चौकी। पीढ़ी। (३) गाड़ी या छकड़े में जड़ा हुआ लंबा चिपटा डंडा।

पटुवा-संज्ञा पुं० [सं० पाट] (१) पटसन। जूट। (२) करेमू।

संज्ञा पुं० [हिं० पटला] गून के सिरे पर बँधा हुआ डंडा जिसको पकड़े हुए माँझी लोग गून खींचते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] तोता। शुक।

पटूका*†-संज्ञा पुं० दे० "पटका"।

पटेबाज-संज्ञा पुं० [हिं० पटा + फा०बाज] (१) पटा खेलनेवाला। पटे से लड़नेवाला। पटैत। (२) एक खिलौना जो हिलाने से पटा खेलता है। (३) छिनाल स्त्री। कुलटा परंतु चतुरा स्त्री। (बाजारू)। (४) व्यभिचारी और धूर्त्त पुरुष। (बाजारू)।

पटेर-संज्ञा स्त्री० [सं० पटेरक] पानी में होनेवाली सरकंडे की जाति की एक प्रकार की घास जिसके पत्ते प्रायः एक इंच चौड़े और चार पाँच फुट तक लंबे होते हैं पत्ते बहुत मोटे होते हैं और पत्तों में से नए पत्ते निकलते हैं। इन पत्तों से चटाइयाँ आदि बनाई जाती हैं। इसमें बाजरे की बाल की तरह बालें लगती हैं, जिसके दानों का आटा सिंध देश के दरिद्र निवासी खाते हैं। वैद्यक में यह कसैली, मधुर, शीतल, रक्तपित्त-नाशक और मूत्र, शुक्र, रज तथा स्तनों के दूध को शुद्ध करनेवाली मानी जाती है। गोंदपटेर।

पर्या०—गुंद्र। पटेरक। रच्छ। शृंगवेराभमूलक।

पटेरा-संज्ञा पुं० (१) दे० "पटेला"। (२) दे० "पटैला"।

पटेल-संज्ञा पुं० [हिं० पट्टा + वाला] (१) गाँव का नंबरदार। (म० प्र०)। (२) गाँव का मुखिया। गाँव का चौधरी। (३) एक प्रकार की उपाधि। (यह उपाधि धारण करनेवाले प्रायः मध्य और दक्षिण भारत में होते हैं।)

पटेलना-क्रि० स० दे० "पटीलना"।

पटेला-संज्ञा पुं० [हिं० पाटना] [स्त्री० अल्प० पटेली] (१) वह नाव जिसका मध्य भाग पटा हो। बैल घोड़े आदि को ऐसी ही नाव पर पार उतारते हैं। (२) एक घास जिसकी चटाइयाँ बनाते हैं। दे० "पटेर"। (३) हेंगा। (४) सिल। पटिया।

(५) कुश्ती का एक पेंच जिससे नीचे पड़े हुए जोड़ को चित किया जाता है। बाएँ हाथ से जोड़ की गरदन पर कलाई जमाकर उसकी दाहिनी बगल पकड़ लेते और दाहिने हाथ से उसकी दाहिनी ओर का जाँघिया पकड़कर स्वयं पीछे हटते हुए उसे अपनी ओर खींचते हैं जिससे वह चित हो जाता है।

पटेली–संज्ञा स्त्री० [हिं० पटेला] छोटी पटेला नाव।

पटैत–संज्ञा पुं० [हिं० पटा + ऐत (प्रत्य०)] पटा खेलने या लड़ने-वाला। पटेबाज।

पटैला–संज्ञा पुं० [हिं० पटरा] (१) लकड़ी का बना हुआ चिपटा डंडा जो किवाड़ों को बंद करने के लिये दो किवाड़ों के मध्य आड़े बल लगाया जाता है। इसे एक ओर सरकाने से किवाड़ बंद होते और दूसरी ओर सरकाने से खुलते हैं। डंडा। ब्योंड़ा। (२) दे० "पटेला"।

पटोर–संज्ञा पुं० [सं० पटोल] (१) पटोल। (२) कोई रेशमी कपड़ा।

पटोरी–संज्ञा स्त्री० [सं० पाट + ओरी (प्रत्य०)] (१) रेशमी साड़ी या धोती। (२) रेशमी किनारे की धोती।

पटोल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो प्राचीन काल में गुजरात में बनता था। (२) परवल की लता। (३) परवल का फल।

पटोलक–संज्ञा पुं० [सं०] सीपी। शुक्ति। सुतही।

पटोलपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की पोई।

पटोलिका, पटोली–संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद फूल की तुरई या तरोई।

पटौनी†–संज्ञा पुं० [देश०] माँझी। मल्लाह।

पटौहाँ†–संज्ञा पुं० [हिं० पाटना + औहा (प्रत्य०)] (१) पटा हुआ स्थान। (२) पटाव के नीचे का स्थान। (३) वह कमरा जिसके ऊपर कोई और कमरा हो। (४) पटबंधक।

पट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीढ़ा। पाटा। (२) पट्टी। तख्ती। लिखने की पटिया। (३) ताँबे आदि धातुओं की वह चिपटी पट्टी जिस पर राजकीय आज्ञा या दान आदि की सनद खोदी जाती थी। (४) किसी वस्तु का चिपटा या चौरस तल भाग। (५) शिला। पटिया। (६) घाव पर बाँधने का पतला कपड़ा। पट्टी। (७) वह भूमिसंबंधी अधिकारपत्र जो भूमिस्वामी की ओर से असामी को दिया जाता है और जिसमें वे सब शर्तें लिखी होती हैं जिन पर वह अपनी जमीन उसे देता है। पट्टा। (८) ढाल। (९) पगड़ी। (१०) दुपट्टा। (११) नगर। (१२) चौराहा। चतुष्पथ। (१३) राजसिंहासन।

यौ०—पट्टमहिषी।

(१४) रेशम। (१५) लाल रेशमी पगड़ी। (१६) पाट। पटसन।

वि० [सं०] मुख्य। प्रधान।

वि० दे० "पट"।

अनु० दे० "पट"।

पट्टक–संज्ञा पुं० [?] (१) लिखने की पट्टी या पटिया। तख्ती। (२) ताम्रपट या चित्रपट। (३) ताम्रपट पर खुदी हुई राजाज्ञा या अन्य विषय। (४) वह रेशमी वस्त्र जिसकी पगड़ी बनाई जाय। (५) घाव पर बाँधने की पट्टी। (६) पटका। कमरबंद।

पट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] टसर का कपड़ा।

पट्टदेवी–संज्ञा पुं० [सं०] राजा की प्रधान रानी। पटरानी।

पट्टदोल–संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े का बना हुआ झूल या पालना।

पट्टन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर। (२) बड़ा नगर।

पट्टमहिषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पटरानी। प्रधान रानी।

पट्टरंग, पट्टरंजक, पट्टरंजन, पट्टरंजनक–संज्ञा पुं० [सं०] पतंग। बक्कम।

पट्टराज–संज्ञा पुं० महाराष्ट्र के उन ब्राह्मणों की उपाधि जो पुजारी का काम करते हैं।

पट्टराज्ञी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पटरानी।

पट्टशाक–संज्ञा पुं० [सं०] पटुवा।

पट्टांशुक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन पहनावा।

पट्टा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थावर संपत्ति विशेषतः भूमि के उपयोग का अधिकारपत्र जो स्वामी की ओर से असामी, किरायेदार या ठेकेदार को दिया जाय।

विशेष—मालिक अपनी जायदाद जिस काम के लिये और जिन शर्तों पर देता है और जिनके विरुद्ध आचरण करने से उसे अपनी वस्तु वापस ले लेने का अधिकार होता है वे इसमें लिख दी जाती हैं। साथ ही उसकी संपत्ति से लाभ उठाने के बदले असामी से वह वार्षिक या मासिक धन या लाभांश उसे देने की जो प्रतिज्ञा कराता है उसका भी इसमें निर्देश कर दिया जाता है। पट्टा साधारणतः दो प्रकार का होता है—(१) मियादी या मुद्दती और (२) इस्तमरारी। मियादी पट्टे के द्वारा मालिक एक विशेष अवधि तक के लिये असामी को अपनी चीज से लाभ उठाने का अधिकार देता है और उस अवधि के बीत जाने पर उसे उसको (असामी को) बेदखल कर देने का अधिकार होता है। इस्तमरारी, दवामी या सर्वकालिक पट्टे से वह असामी को सदा के लिये अपनी वस्तु के उपभोग का अधिकार देता है। असामी की इच्छा होने पर वह इस अधिकार को दूसरों के हाथ कीमत लेकर बेच भी सकता है। जमींदारी का अधिकार जिस पट्टे के द्वारा एक निर्दिष्ट काल तक के लिये दूसरे को दिया जाता है उसे ठेकेदारी या मुस्ताजिरी पट्टा कहते हैं।

असामी जिस पट्टे के द्वारा असल मालिक से प्राप्त अधिकार या उसका अंशविशेष दूसरे को देता है उसे शिकमी पट्टा कहते हैं। पट्टे की शर्त्तों की स्वीकृतिसूचक जो कागज असामी की ओर से लिखकर मालिक या जमींदार को दिया जाता है उसे कबूलियत कहते हैं। पट्टे पर मालिक के और कबूलियत पर असामी के हस्ताक्षर या सही अवश्य होनी चाहिए।

क्रि० प्र०—लिखना।

(२) कोई अधिकारपत्र। सनद। (३) चमड़े या बानात आदि की बद्धी जो कुत्तों, बिल्लियों के गले में पहनाई जाती है।

मुहा०—पट्टा तोड़ाना या तोड़ना = कुत्ते या बिल्ली का अपने पालनेवाले के यहाँ से भागकर अन्यत्र चला जाना।

(४) एक गहना जो चूड़ियों के बीच में पहना जाता है। (५) पीढ़ा। (६) कामदार जूतियों पर का वह कपड़ा जिस पर काम बना होता है। (७) घोड़े के मुँह पर का वह लंबा सफेद निशान जो नथुनों से लेकर मत्थे तक होता है। (८) घोड़ों के मस्तक पर पहनाने का एक गहना। (९) पुरुषों के सिर के बाल जो पीछे की ओर गिरे और बराबर कटे होते हैं। (१०) चपरास। (११) वह वृत्ताकार पट्टी जिसमें चपरास टँकी रहती है। (१२) चमड़े का कमरबंद। पट्टी। (१३) कन्यापक्ष के नाई, धोबी, कहार आदि का वह नेग जो विवाह में वरपक्ष से उन्हें दिलवाया जाता है।

क्रि० प्र०—चुकाना।—चुकवाना।

विशेष—देहात के हिंदुओं में यह रीति है कि नाई, धोबी, कहार, भंगी आदि की मजदूरी में से उतना अंश नहीं देते जितना पड़ते से अविवाहिता कन्या के हिस्से पड़ता है। कन्या का विवाह हो जाने पर यह सारी रकम इकट्ठी वर के पिता से उन्हें दिलवाई जाती है।

(१४) महाराष्ट्र देश में काम में लाई जानेवाली एक प्रकार की तलवार।

पट्टाचार्य-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण देश में बसनेवाले प्राचीन पंडितों की उपाधि।

पट्टार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश।

पट्टारक-वि० [सं०] पट्टार में उत्पन्न।

पट्टार्हा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पटरानी।

पट्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी तख्ती। पटिया। (२) छोटा ताम्रपट या चित्रपट। (३) कपड़े की छोटी पट्टी। (४) एक बित्ता लंबा कपड़ा। (५) रेशम का फीता। (६) पठानी लोध।

पट्टिकाख्य, पट्टिकालोध्र-संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोध।

पट्टिल-संज्ञा पुं० [सं०] पूतिकरंज। पलँग।

पट्टिलोध्र, पट्टिलोध्रक-संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोध।

पट्टिश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन शस्त्र या खाँड़ा इसकी लंबाई की तीन मापें थीं। उत्तम ४ हाथ, मध्यम ३॥ हाथ और अधम ३ हाथ लंबा होता था। मुठिया के ऊपर चलानेवाले की कलाई के बचाव के लिये लोहे की एक जाली बनी होती थी। धार इसमें दोनों ओर होती थी और नोक अत्यंत तीक्ष्ण होती थी। आजकल जिसे पटा कहते हैं वह इससे केवल लंबाई में कम होता है और सब बातें दोनों में समान हैं।

पट्टिशी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पट्टिश बाँधनेवाला। (२) पट्टिश से लड़नेवाला।

पट्टिस-संज्ञा पुं० [सं०] पट्टिश। पटा।

पट्टी-संज्ञा स्त्री० [सं० पट्टिका] (१) लकड़ी की वह लंबोतरी चौरस और चिपटी पटरी जिस पर प्राचीन काल में विद्यार्थियों को पाठ दिया जाता था और अब आरंभिक छात्रों को लिखना सिखाया जाता है। पाटी। पटिया। तख्ती।

मुहा०—पट्टी पढ़ना = गुरु से पाठ प्राप्त करना। सबक पढ़ना। पट्टी पढ़ाना = छात्र को पट्टी पर लिखकर पाठ देना। सबक पढ़ा देना।

(२) पाठ। सबक। जैसे, मैंने यह पट्टी नहीं पढ़ी है।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—पढ़ाना।

(३) उपदेश। शिक्षा। सिखावन। जैसे, (क) यह पट्टी तुम्हें किसने पढ़ाई थी? (ख) आजकल तुम किसकी पट्टी पढ़ते हो जी? (४) वह शिक्षा जो बुरी नीयत से दी जाय। वह उपदेश जो उपदेशक स्वार्थसाधन के लिये दे। बहकानेवाली शिक्षा। बहकावा। भुलावा। चकमा। झाँसा। दम। जैसे, तुम उनको जरा पट्टी पढ़ा देना, फिर मेरा काम बन जायगा।

क्रि० प्र०—देना।—पढ़ाना।

मुहा०—पट्टी में आना = किसी धूर्त्त के गुप्त अभिप्राय को न समझकर जो कुछ वह कहे उसे मान लेना। किसी के चकमे में आ जाना। किसी के दम में आ जाना।

(५) लकड़ी की वह बल्ली जो खाट के ढाँचे की लंबाई में लगाई जाती है। पाटी। (६) धातु, कागज या कपड़े की धज्जी।

क्रि० प्र०—उतारना।—काटना।—तराशना।

(७) कपड़े की वह धज्जी जो घाव या अन्य किसी स्थान में बाँधी जाय।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(८) पत्थर का पतला, चिपटा और लंबा टुकड़ा। (९) लकड़ी की लंबी बल्ली जो छत या छाजन के ठाठ में लगाई

जाती है। (१०) ठाठ के ओर की बल्लियों की पाँती। (११) सन की बुनी हुई धज्जियाँ जिनके जोड़ने से टाट तैयार होते हैं। (१२) कपड़े की कोर या किनारी। (१३) वह तख्ता जो नाव के बीचों बीच होता है। (१४) एक प्रकार की मिठाई जिसमें चाशनी में अन्य चीजें जैसे चना तिल मिलाकर जमाते और फिर उसके चिपटे, पतले और चौकोर टुकड़े काट लिए जाते हैं। (१५) सूती या ऊनी कपड़े की धज्जी जिसे सर्दी और थकावट से बचने के लिये टाँगों में बाँधते हैं। यह चार पाँच अंगुल चौड़ी और प्रायः पाँच हाथ लंबी होती है। इसके एक सिरे पर मजबूत कपड़े की एक और पतली धज्जी टँकी रहती है जिससे लपेटने के बाद ऊपर की ओर कसकर बाँध देते हैं। अन्य लोग इसे केवल जाड़े में बाँधते हैं, पर सेना और पुलिस के सिपाहियों को इसे सभी ऋतुओं में बाँधना पड़ता है। (१६) पंक्ति। पाँती। कतार। (१७) माँग के दोनों ओर के कंघी से खूब बैठाए हुए बाल जो पट्टी से दिखाई पड़ते हैं। पाटी। पटिया। (पट्टी अच्छी तरह बैठाने के लिये कुछ स्त्रियाँ बालों में भिगोया हुआ गोंद, अलसी का लुआब अथवा तेल और पानी भी लगाती हैं।)

क्रि० प्र०—बैठाना।—सँवारना।

मुहा०—**पट्टी जमाना** = माँग के दोनों ओर के बालों को गोंद या लुआव आदि की सहायता से इस प्रकार वैठाना कि वे सिर में विलकुल चिपक जायँ और पट्टी से मालूम होने लगें। पट्टी वैठाना या सँवारना।

(१८) किसी वस्तु विशेषतः किसी संपत्ति का एक एक भाग। हिस्सा। भाग। विभाग। पत्ती। (१९) ऐसी जमींदारी का एक भाग जो एक ही मूल पुरुष के उत्तराधिकारियों या उनके द्वारा नियत किए हुए व्यक्तियों की संयुक्त संपत्ति हो। किसी जमींदारी का उतना भाग जो एक पट्टीदार के अधिकार में हो। पट्टीदारी का एक मुख्य भाग। थोक का एक भाग। हिस्सा।

यौ०—पट्टीदार। पट्टीदारी।

मुहा०—**पट्टी का गाँव** = पट्टीदारी गाँव। वह गाँव जिसके वहुत से मालिक हों और इस कारण उसमें सुप्रवन्ध का अभाव हो।

उ०—पट्टी का गाँव और टट्टी का घर अच्छा नहीं होता।

(२०)* वह अतिरिक्त कर जो जमींदार किसी विशेष प्रयोजन के लिये आवश्यक धन एकत्र करने के लिये असामियों पर लगाता है। नेग। अबवाब।

संज्ञा स्त्री० [सं० पट] घोड़े की वह दौड़ जिसमें वह बहुत दूर तक सीधा दौड़ता चला जाय। लंबी और सीधी सरपट। जैसे, घोड़े को पट्टी दो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पठानी लोध। (२) एक गहना जो पगड़ी में लगाया जाता है। (३) तलसारक। तोबड़ा। (४) घोड़े की तंग।

पट्टीदार–संज्ञा पुं० [हिं० पट्टी + फा० दार] (१) वह व्यक्ति जिसका किसी संपत्ति में हिस्सा हो। वह जो किसी संपत्ति के अंश का स्वामी हो। हिस्सेदार। (२) पट्टीदारी के मालिकों में से एक। संयुक्त संपत्ति के अंशविशेष का स्वामी। (३) वह व्यक्ति जिसे किसी संपत्ति में हिस्सा बटाने का अधिकार हो। हिस्सा बटाने के लिये झगड़ा करने का अधिकार रखनेवाला। (४) वह व्यक्ति जो किसी विषय में दूसरे के बराबर अधिकार रखता हो। वह व्यक्ति जिसकी राय की उपेक्षा न की जा सकती हो। बराबर का अधिकारी। समान अधिकारयुक्त। जैसे, क्या आप कोई मेरे पट्टीदार हैं कि जो मैं करूँ वह आप भी करें?

पट्टीदारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पट्टीदार] (१) पट्टी होने का भाव। बहुत से हिस्से होना। किसी वस्तु का अनेक की संपत्ति होना। जैसे, इस गाँव में तो खासी पट्टीदारी है। (२) पट्टीदार होने का भाव। बराबर अधिकार रखने का भाव। हिस्सेदारी।

मुहा०—**पट्टीदारी अटकना** = ऐसा झगड़ा उपस्थित होना जिसका कारण पट्टी हो। पट्टीदारी विषयक या पट्टीदारी के कारण कोई झगड़ा खड़ा होना। पट्टीदारी के कारण विरोध होना। जैसे, मेरे आपके कोई पट्टीदारी थोड़े ही अटकी है। **पट्टीदारी करना** = (१) किसी के वरावर आधिकार जताना। पट्टीदार होने के कारण किसी के काम में रुकावट करना। पट्टीदारी के बल पर किसी का विरोध करना। पट्टीदारी के हक पर अड़ना। जैसे, आप तो बात बात में पट्टीदारी करते हैं। (२) वरावरी करना। जो कोई एक करे उसे आप भी करना।

(३) वह जमींदारी जो एक ही मूल पुरुष के उत्तराधिकारियों या उनके नियत किए हुए व्यक्तियों की संयुक्त संपत्ति हो। वह जमींदारी जिसके बहुत से मालिक होने पर भी जो अविभक्त संपत्ति समझी जाती हो। भाई चारा।

विशेष—पट्टीदारी जमींदारी में अनेक विभाग और उपविभाग होते हैं। प्रधान विभाग को थोक और उसके अंतर्गत उपविभागों को पट्टी कहते हैं। प्रत्येक पट्टी का मालिक अपने हिस्से की जमीन की स्वतंत्र व्यवस्था करता और सरकारी कर देता है। पर किसी एक पट्टी में मालगुजारी बाकी रह जाने पर वह सारी जायदाद से वसूल की जा सकती है। प्रायः प्रत्येक थोक में एक एक लंबरदार होता है। जिस पट्टीदारी की सारी जमीन हिस्सेदारों में बँट गई हो उसे मुकम्मल या पूर्ण पट्टीदारी और जिसमें कुछ जमीन तो उनमें बाँट दी गई हो, पर कुछ सरकारी कर और गाँव की व्यवस्था का खर्च देने के लिये साझे में ही अलग कर ली गई हो

उसे नामुकम्मल या अपूर्ण पट्टीदारी कहते हैं। नामुकम्मल पट्टीदारी में जब कभी अलग की हुई जमीन का मुनाफा सरकारी कर देने के लिये पूरा नहीं पड़ता तब पट्टीदारों के सिर पर अस्थायी कर लगाकर वह पूरा किया जाता है।

पट्टीवार-क्रि॰ वि॰ [हिं॰ पट्टी + फा॰ वार] प्रत्येक पट्टी का अलग अलग पट्टी के भेद के अनुसार या साथ। इस प्रकार जिसमें हर पट्टी का हिसाब अलग अलग आ जाय। जैसे, मुझे एक पट्टीवार जमाबंदी तैयार कराना है।

वि॰ (बही) जिसमें प्रत्येक पट्टी का हाल या हिसाब अलग अलग हो। (बही या लेख) जो पट्टी के भेद को ध्यान में रख कर तैयार किया गया हो। जैसे, (क) पट्टीवार खतौनी या जमाबंदी। (ख) पट्टीवार वासिलबाकी।

ू-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पट्टी] (१) एक ऊनी वस्त्र जो पट्टी के रूप में बुना जाता है। काश्मीर, अल्मोड़ा आदि पहाड़ी प्रदेशों में यह बनता है। यह खूब गरम होता है पर ऊन इसका मोटा और कड़ा होता है। (२) एक प्रकार का चारखाना जिसमें धारियाँ होती हैं।

संज्ञा पुं॰ [देश॰] सुवा। तोता। शुक।

ेपछाड़-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पट + पछाड़ना] कुश्ती का एक पेंच जो उस समय चित करने के लिये काम में लाया जाता है जिस समय जोड़ कुहनियाँ टेककर पट पड़ा हो और इस कारण उसे चित करने में कठिनाई पड़ती हो। इसमें उसके एक हाथ पर जोर से थाप मारी जाती है और साथ ही उसकी जाँघ को इस जोर से खींचा जाता है कि वह उलटकर चित हो जाता है। यदि छाप दाहिने हाथ पर मारी जाय तो बाईं जाँघ और यदि बाएँ हाथ पर मारी जाय तो दाहिनी जाँघ खींचनी पड़ेगी।

ैठक-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पट+बैठक] कुश्ती का एक पेंच जिसमें जोड़ का एक हाथ अपनी जाँघों में दबाकर और अपना एक हाथ उसकी जाँघों में डालकर अपनी छाती का बल देते हुए उसे चित फेंक दिया जाता है।

ैत-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पटैत] (१) पटैत। (२) बेवकूफ।

संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पट्टा + ऐत (प्रत्य॰)] वह कबूतर जो बिलकुल लाल काला या नीला हो और जिसके गले में सफेद कंठा हो।

ट्ठमान॰-वि॰ [सं॰ पठ्यमान] पढ़ने योग्य। जिसका पढ़ना उचित हो। उ॰—अपट्ठमान पापग्रंथ पट्ठमान वेद वै। —केशव।

ट्ठा-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पुष्ट, प्रा॰ पुट्ठ] [स्त्री॰ पठिया] (१) जवान। तरुण। पाठा।

यौ॰—जवान पट्ठा।

(२) मनुष्य पशु आदि चर जीवों का वह बच्चा जिसमें यौवन का आगमन हो चुका हो पर पूर्णता न आई हो। नवयुवक। उदंत। जैसे, अभी तो वह बिलकुल पट्ठा है।

विशेष—चौपायों में घोड़े, पक्षियों में कबूतर, उल्लू और मुर्ग और सरीसृपों में साँप के यौवनोन्मुख बच्चे को पट्ठा कहते हैं।

(३) कुश्तीबाज। लड़ाका। जैसे, उस पहलवान ने बहुत से पट्ठे तैयार किए हैं। (४) ऐसा पत्ता जो लंबा, दलदार या मोटा हो। जैसे, घीकुवार या तंबाकू का पट्ठा। (५) वे तंतु जो मांसपेशियों को परस्पर और हड्डियों के साथ बाँधे रखते हैं। मोटी नस। स्नायु।

मुहा॰—**पट्ठा चढ़ना** = किसी नस का तन जाना। नस पर नस चढ़ना। **पट्ठों में घुसना** = गहरी दोस्ती पैदा करना। अंतरंग बनना।

(६) एक प्रकार का चौड़ा गोटा जो सुनहला और रुपहला दोनों प्रकार का होता है। (७) अतलस, सासनलेट आदि की पट्टी पर बेल बुनकर बनाई हुई गोट। (८) पेड़ू के नीचे कमर और जाँघ के जोड़ का वह स्थान जहाँ छूने से गिल्टियाँ मालूम होती हैं।

पट्ठापछाड़-वि॰ [हिं॰ पट्ठा+पछाड़ना] इतनी बलवती (स्त्री) जो पुरुष को पछाड़ दे। खूब हृष्ट पुष्ट और बलवती (स्त्री)। जैसे, वह तो खासी पट्ठेपछाड़ औरत है।

पट्ठी-संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पठिया"।

पठ-संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पाठ] वह जवान बकरी जो ब्याई न हो। पाठ।

पठक-संज्ञा पुं॰ [सं॰] पढ़नेवाला।

पठन-संज्ञा पुं॰ [सं॰] पढ़ने की क्रिया। पढ़ना।

यौ॰—**पठन-पाठन** = पढ़ना पढ़ाना।

पठनीय-वि॰ [सं॰] पढ़ने योग्य।

पठनेटा-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पठान + एटा = बेटा (प्रत्य॰)] पठान का लड़का। वह जो पठान जाति में उत्पन्न हुआ हो। उ॰—परे रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।—भूषण।

पठमंजरी-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] श्री राग की चौथी रागिनी। इसका गान समय एक पहर दिन के बाद है। विशेष—दे॰ "पटमंजरी"।

पठवाना॰-क्रि॰ स॰ [हिं॰ पठाना का प्रे॰] भेजवाना। भेजने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को भेजने में प्रवृत्त करना।

पठान-संज्ञा पुं॰ [पश्तो॰ पुख्ताना] एक मुसलमान जाति जो अफगानिस्तान के अधिकांश और भारत के सीमांत प्रदेश पंजाब तथा रुहेलखंड आदि में बसती है। इस जाति के लोग कट्टर, क्रूर, हिंसाप्रिय और स्वाधीनताप्रिय होते हैं।

विशेष—यह जाति अनेक संप्रदायों और शाखाओं में विभक्त है जिनमें से प्रत्येक के नाम के साथ वंश या संप्रदाय का सूचक

"खेल" "जई" आदि कोई न कोई शब्द लगा रहता है। जैसे, ज़क्का-खेल; गिलज़ई आदि। प्रत्येक संप्रदाय में एक सरदार होता है जिसको मलिक कहते हैं। सीमांत प्रदेश के पठानों में यही सरदार शासक होता है। सीमांत प्रदेश के पठान प्रायः असभ्य हैं। आखेट, चोरी और डकैती ही उनकी जीविका के साधन हैं। अफगानिस्तान के पठान अपेक्षाकृत सभ्य हैं। भारत के पठान उपर्युक्त दोनों ही स्थानों के पठानों से अधिक सभ्य हैं और प्रायः खेती या नौकरी करके अपनी जीविका चलाते हैं। धर्म की अपेक्षा रूढ़ि और सभ्यता की अपेक्षा स्वाधीनता पठानों को अधिक प्रिय है। नीति-अनीति का वे बहुत कम विचार करते हैं। पठान प्रायः लंबे चौड़े डील डौलवाले, गोरे और क्रूराकृति होते हैं। जातिबंधन इनमें विशेष दृढ़ है। एक संप्रदाय के पठान का दूसरे में ब्याह नहीं हो सकता। स्त्रियों की सतीत्वरक्षा का इन्हें बहुत ज्यादा खयाल रहता है। इनके आपस के अधिकांश झगड़े स्त्रियों ही के लिये होते हैं। इनके उत्तराधिकार आदि के झगड़े कुरान के अनुसार नहीं बरन रूढियों के अनुसार फैसल होते हैं जो भिन्न भिन्न संप्रदायों में भिन्न भिन्न हैं। पठानों का प्राचीन इतिहास अनिश्चयात्मक है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकांश उन हिंदुओं के वंशज हैं जो गांधार, कांबोज, वाह्लीक आदि में रहते थे। फ़ारस के मुसलमान होने के बाद इन स्थानों के निवासी क्रमशः मुसलमान हुए। इनमें से अधिकांश राजपूत क्षत्रिय थे। परमार आदि बहुत से राजपूत वंश अपनी कई शाखाओं को सिंध पार बसनेवाले पठानों में बतलाते हैं। पूर्वज कहां से आए और कौन थे, इस विषय में कोई कल्पना अधिक साधार नहीं है। इनकी भाषा पश्तो आर्य प्राकृत ही से निकली है। पीछे तुर्क और यहूदी जातियाँ भी अफगानिस्तान में आकर बस गईं और पुराने पठानों से इस प्रकार हिलमिल गईं कि अब किसी पठान का वंश निश्चय करना प्रायः असंभव हो गया है। पठान शब्द की व्युत्पत्ति भी अनिश्चयात्मक है। इस विषय में अधिक ग्राह्य कल्पना यह है कि पहले पहल अफगानिस्तान के "पुखताना" स्थान में बसने के कारण इस जाति को "पुख़तून" और इसकी भाषा को पुख्तू कहते थे। फिर क्रमशः जाति को पठान और भाषा को पश्तो कहने लगे।

पठाना*–क्रि० स० [सं० प्रस्थान, प्रा० पट्ठान] भेजना।

पठानिन–संज्ञा स्त्री० दे० "पठानी"।

पठानी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पठान] (१) पठान जाति की स्त्री। पठान स्त्री। (२) पठान होने का भाव। (३) पठान जाति की चरित्रगत विशेषता। क्रूरता, शूरता, रक्तपात-प्रियता आदि पठानों के गुण। पठानपन।

वि० [हिं० पठान] (१) पठानों का। जैसे, पठानी राज्य। (२) जिसका पठान या पठानों से संबंध हो। पठानों से संबंध रखनेवाला।

पठानी लोध–संज्ञा पुं० [सं० पट्टिका लोध्र] एक जंगली वृक्ष जिसकी लकड़ी और फूल औषध और पत्तियाँ और छाल रंग बनाने के काम में आती है। यह उगाया या रोपा नहीं जाता, केवल जंगली रूप में पाया जाता है। इसकी छाल को उबालने से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है जो कपड़ा रँगने के काम में लाया जाता है। बिजनौर, कुमाऊँ और गढ़वाल के जंगलों में इसके वृक्ष बहुतायत से पाए जाते हैं। चमड़े पर रंग पक्का करने और अबीर बनाने में भी इसकी छाल का उपयोग किया जाता है। लोध के दो भेद होते हैं। एक को पठानी लोध और दूसरे को केवल लोध कहते हैं। औषध के काम में पठानी लोध ही अधिक आता है। दोनों लोधों को वैद्यक में कसैला, शीतल, वात-कफ-नाशक, नेत्रहितकारी, रुधिर और विष के विकारों का नाशक कहा है। लोध का फूल, कसैला, मधुर, शीतल, कड़ुवा, ग्राहक और कफ-पित्तनाशक माना गया है।

पर्य्या०—पट्टिकालोध्र। क्रमुक। स्थूल बल्कल। जीर्णपत्र। बृहत्पत्र। पट्टी। लाक्षाप्रसादन। पट्टिकाख्य। पट्टिलोध्र। पट्टिका। पट्टिलोध्रक। वल्कलोध्र। बृहद्दल। जीर्णबुध्न। बृहद्वल्क। शीर्णपत्र। अक्षिभेषज। शावर। श्वेतलोध्र। गालव। बहुलत्वच्। लाक्षाप्रसाद। वल्क।

पठार–संज्ञा पुं० [देश०] एक पहाड़ी जाति।

पठावन†–संज्ञा पुं० [हिं० पठाना] वह जो किसी के भेजने से कहीं जाय। वह मनुष्य जो किसी का भेजा हुआ कहीं गया या आया हो। दूत। संदेशवाहक।

पठावनि, पठावनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पठाना] (१) किसी को कहीं भेजने का भाव। किसी को कहीं कोई वस्तु या संदेश पहुँचाने के लिये भेजना। (२) किसी के भेजने से कहीं जाने का भाव। किसी के भेजने से कहीं कुछ लेकर जाना।

पठावर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास।

पठित–वि० [सं०] (१) पढ़ा हुआ (ग्रंथ)। जिसे पढ़ चुके हों। अधीत। (२) जिसने पढ़ा हो। पढ़ा-लिखा। शिक्षित। (इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार कुछ लोग करते हैं।) जैसे, पठित समाज। परंतु वास्तव में यह ठीक नहीं है।

पठियर†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाट] वह बल्ली या पटिया जो कुएँ के मुँह पर बीचोबीच या किसी एक ओर इसलिये रख दी जाती है कि पानी निकालनेवाला उसी पर पैर रख कर पानी निकाले। इस पर खड़े होकर पानी निकालने से घड़े के कुएँ की दीवार से टकराने का भय नहीं रहता।

पठिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पट्ठा + इया (प्रत्य०)] यौवनप्राप्त स्त्री । युवती और हृष्ट-पुष्ट स्त्री । जवान और तगड़ी स्त्री ।

पठोर-संज्ञा स्त्री० [हिं० पट्ठा + ओर (प्रत्य०)] (१) जवान पर बिना ब्याई बकरी । (२) जवान पर बिना ब्याई मुर्गी ।

पठौनी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पठाना + औनी (प्रत्य०)] (१) किसी को कुछ देकर कहीं भेजने की क्रिया या भाव । कोई वस्तु या संदेश पहुँचाने के लिये कहीं भेजना ।

क्रि० प्र०—भेजना ।

(२) किसी की कोई चीज लेकर कहीं जाने की क्रिया या भाव । किसी के भेजने से कहीं जाना ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।

पड़छती, पड़छत्ती-संज्ञा पुं० [सं० पटच्छदि] (१) वह छोटा छप्पर या टट्टी जिसे बरसात के आरंभ में कच्ची दीवार पर इसलिये लगा देते हैं कि बौछार से वह कट न जाय । भीत की रक्षा के लिये लगाया जानेवाला छप्पर या टट्टी ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।—लगाना ।

(२) कमरे आदि के बीच में लकड़ी के खंभों पर या दो दीवारों के बीच में तख्ते या लट्ठे आदि ठहरा कर बनाई हुई पाटन जिस पर चीज असबाब रखते हैं । टाँड़ ।

पड़तल†-संज्ञा स्त्री० दे० "पड़ता" ।

पड़ता-संज्ञा पुं० [हिं० पड़ना] (१) किसी वस्तु की खरीद या तैयारी का दाम । किसी माल को खरीदने, तैयार कराने या लाने आदि में पड़ा हुआ खर्च । लागत । सर्फे की कीमत ।

मुहा०—**पड़ता खाना या पड़ना** = लागत और अभीष्ट लाभ मिल जाना । खर्च और मुनाफा निकल आना । जैसे, (क) आपके साथ सौदा करने में हमारा पड़ता नहीं खायगा । (ख) इतने पर इस वस्तु के बेचने में हमारा पड़ता नहीं खाता । **पड़ता फैलाना** = किसी चीज को तैयार करने, खरीदने और मँगाने आदि में जो खर्च पड़ा हो उसे देखते हुए उसका भाव निश्चित करना । वस्तु की संख्या और उसके प्राप्त करने में पड़े हुए खर्च की रकम देखते हुए एक एक वस्तु का मूल्य मालूम करना । **पड़ता निकालना या बैठाना** = दे० "पड़ता फैलाना" ।

(२) दर । शरह । (३) भू-कर की दर । लगान की शरह । (४) सामान्य दर । औसत । सरदर शरह । एक एक वस्तु या एक एक निश्चित काल का मूल्य या आमदनी जो सब वस्तुओं के मूल्य या पूरे काल में वस्तु की संख्या या काल-विभाग की संख्या को भाग देने से निकले । जैसे, कलकत्ते में आपकी मासिक आय का क्या पड़ता है ।

मुहा०—**पड़ता रहना** = औसत होना ।

पड़ताल-संज्ञा स्त्री० [सं० परितोलन] (१) पड़तालना क्रिया का भाव । किसी वस्तु की सूक्ष्म छान बीन । भली भाँति जाँच या देखभाल । गौर के साथ किसी चीज की जाँच । अन्वीक्षण । अनुसंधान ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द प्रायः 'जाँच' के साथ यौगिक रूप में बोला जाता है, अकेले क्वचित् प्रयुक्त होता है । जैसे, वे हिसाब की जाँच-पड़ताल करने आए थे ।

(२) गाँव अथवा नहर के पटवारी द्वारा खेतों की एक विशेष प्रकार की जाँच । यह जाँच खरीफ, रबी और फस्ल जायद नामक तीनों कालों के लिये अलग अलग तीन बार होती है । खेत में कौन सी चीज बोई गई है, किसने बोई है, खेत सींचा गया है या नहीं, सींचा गया है तो कहाँ से जल लाकर सींचा गया है आदि बातें इस जाँच में लिखी जाती हैं । गाँव का पटवारी प्रत्येक पड़ताल के बाद जिंसवार एक नकशा बनाता है । इस नकशे से माल के अधिकारियों को यह मालूम होता है कि इस वर्ष कौन सी चीज कितने बीघे बोई गई है; उसकी क्या अवस्था है और वह कितनी उपजेगी, आदि । (३) मार । (क्व०) । इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा बालकों को ही मारने पीटने के संबंध में होता है ।

पड़तालना-क्रि० स० [हिं० पड़ताल + ना (प्रत्य०)] पड़ताल करना । जाँचना । अनुसंधान करना । छान बीन करना ।

पड़ती-संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़ना] बिना जुती हुई भूमि । पड़ी हुई जमीन । भूमि जिस पर कुछ काल से खेती न की गई हो ।

विशेष—माल के कागजात में पड़ती के दो भेद किए जाते हैं—पड़ती जदीद और पड़ती कदीम । जो भूमि केवल एक साल से न जोती बोई गई हो उसको पड़ती जदीद और जो एक से अधिक सालों से न जोती बोई गई हो उसको पड़ती कदीम मानते हैं ।

क्रि० प्र०—छोड़ना ।—पड़ना ।—रखना ।

मुहा०—**पड़ती उठना** = (१) पड़ती का जोता जाना । पड़ती पर खेती होना । जैसे, यह पड़ती बहुत दिनों पर उठी है । (२) पड़ती के जोते जाने का प्रबंध होना । पड़ती खेत का बंदोबस्त हो जाना । जैसे, इस साल हमारी बहुत सी पड़ती उठ गई । **पड़ती उठाना** = (१) पड़ती को जोतना । पड़ती पर खेती आरंभ करना । जमींदार का इस आशा पर किसी पड़ती को खेती के योग्य बनाना और उस पर खेती आरंभ करना कि दो एक साल के बाद कोई असामी उसे ले लेगा । जैसे, इस साल मैंने अपनी बहुत सी पड़ती उठाई है । (२) पड़ती का बंदोबस्त कर देना । पड़ती को लगान पर काश्तकार को दे देना । **पड़ती छोड़ना** = किसी खेत को कुछ समय तक यों ही

छोड़ना, उसे जोतना बोना नहीं, जिसमें उसकी उर्वरा शक्ति बढ़ जाय। जैसे, इस साल इस गाँव में बहुत सी जमीन पड़ती छोड़ी गई है।

पड़ना–क्रि० अ० [सं० पतन, प्रा० पडन] (१) एक स्थान से गिरकर, उछलकर अथवा और किसी प्रकार दूसरे स्थान पर पहुँचना या स्थित होना। कहीं से चलकर कहीं, प्रायः ऊँचे स्थान से नीचे, आना। गिरना। पतित होना। जैसे, जमीन पर पानी या ओला पड़ना, सिर पर पत्थर पड़ना, चिराग पर हाथ पड़ना, साँप पर निगाह पड़ना, कान में आवाज पड़ना, कुरते पर छींटा पड़ना, बिसात पर पासा पड़ना, आदि।

संयो० क्रि०—जाना।

विशेष—"गिरना" और "पड़ना" के अर्थों में यह अंतर है कि पहली क्रिया का विशेष लक्ष्य गति, व्यापार पर और दूसरी का प्राप्ति या स्थिति पर होता है। अर्थात् पहली क्रिया वस्तु का किसी स्थान से चलना या रवाना होना और दूसरी का किसी स्थान पर पहुँचना या ठहरना सूचित करती है। जैसे, पहाड़ से पत्थर गिरना और सिर पर पत्थर पड़ना।

(२) (कोई दुःखद घटना) घटित होना। अनिष्ट या अवांछनीय वस्तु या अवस्था प्राप्त होना। जैसे, डाका पड़ना, अकाल पड़ना, मुसीबत पड़ना, ईश्वरीय कोप पड़ना, इत्यादि।

मुहा०—(किसी पर) पड़ना = विपत्ति या मुसीबत आना। संकट या कठिनाई प्राप्त होना। जैसे, (क) जैसी मुझ पर पड़ी ईश्वर वैसी किसी पर न डाले। (ख) जिस पर पड़ती है वही जानता है।

(३) बिछाया जाना। फैलाया जाना। रखा जाना। डाला जाना। जैसे, दीवार पर छप्पर पड़ना; जनवासे में बिस्तर या भोज में पत्तल पड़ना। (४) छोड़ा या डाला जाना। पहुँचना या पहुँचाया जाना। दाखिल होना। प्रविष्ट होना। जैसे, पेट में रोटी पड़ना, दाल में नमक पड़ना, कान में शब्द या आँख में तिनका पड़ना, दूध में पानी पड़ना, किसी के घर में पड़ना (ब्याही जाना), फेर में पड़ना इत्यादि।

संयो० क्रि०—जाना।

(५) बीच में आना या जाना। हस्तक्षेप करना। दखल देना। जैसे, तुम चाहे जो करो, हम तुम्हारे मामले में नहीं पड़ते। (६) ठहरना। टिकना। विश्राम करने या रात बिताने के लिये अवस्थान करना। डेरा डालना। पड़ाव करना (बरात या सेना के लिये बोलते हैं)। जैसे, आज बारात कहाँ पड़ेगी?

मुहा०—पड़ा होना = (१) एक स्थान में कुछ समय तक स्थित रहना। एक ही जगह पर बने रहना। जैसे, (क) वे तीन रोज तक तो यहीं पड़े हुए थे, आज गए हैं। (ख) वह दस रुपए महीने पर बरसों से यहाँ पड़ा है। (२) एक ही अवस्था में रहना। रखा रहना। धरा रहना। अव्यवहृत रहना। जैसे, यह किताब तुम्हारे पास एक महीने से पड़ी है, पर शायद तुमने एक पन्ना भी न उलटा होगा। (३) बाकी रहना। शेष रहना। जैसे, (क) सारी किताब पढ़ने को पड़ी है। (ख) अभी ऐसे सैकड़ों लोग पड़े होंगे जिनके कानों में यह शुभ संदेश नहीं पड़ा।

(७) विश्राम के लिये सोना या लेटना। कल लेना। आराम करना। जैसे, थोड़ी देर पड़े रहो तो तबीअत हलकी हो जायगी।

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

मुहा०—पड़े रहना या पड़ा रहना = बराबर लेटे रहना। बिना कुछ काम किए लेटे रहना। लेटकर बेकारी काटना। निकम्मा रहना। जैसे, दिन भर पड़े रहते हो, क्या तुम्हारी तबीअत भी नहीं घबराती?

(८) बीमार होना। खाट पर पड़ना। जैसे, (क) अब की तुम किस बुरी साइत में पड़े कि अब तक न उठे। (ख) मैं तो आज चार रोज से पड़ा हूँ, तुमने कल बाजार में मुझे कैसे देखा?

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

(९) मिलना। प्राप्त होना। जैसे, तुम यह किताब लोगे, तभी तुम्हें चैन पड़ेगा।

संयो० क्रि०—जाना।

(१०) पड़ता खाना। जैसे, (क) चार आने में नहीं पड़ता, नहीं तो बेच न देता। (ख) हमें यह आलमारी १२) में पड़ी है। (ग) इकट्ठा सौदा कुछ सस्ता पड़ता है।

संयो० क्रि०—जाना।

(११) आय, प्राप्ति आदि की औसत होना। पड़ता होना। जैसे, यहाँ मुझे एक रुपए रोज से अधिक नहीं पड़ता।

संयो० क्रि०—जाना।

(१२) रास्ते में मिलना। मार्ग में मिलना। जैसे, (क) तुम्हारे रास्ते में चार नदियाँ और पाँच पड़ाव पड़ेंगे। (ख) घर से निकलते ही काना पड़ा, देखें कुशल से पहुँचते हैं या नहीं। (१३) उत्पन्न होना। पैदा होना। जैसे, बाल में दाने पड़ना। फल में कीड़े पड़ना। (१४) स्थित होना। जैसे, (क) बगीचे में डेरा पड़ा है। (ख) इस कुंडली के सातवें घर में मंगल पड़ा है। (१५) संयोग वश होना। उपस्थित होना। प्रसंग में आना। जैसे, बात पड़ना, मौका पड़ना, साथ पड़ना, काम पड़ना, पाला पड़ना, साबिका पड़ना इत्यादि। उ०—जब कभी बात पड़ती है वे तुम्हारी तारीफ ही करते हैं।

विशेष—जिन जिन स्थलों में 'होना' क्रिया बोली जाती है उनमें से बहुत से स्थलों में 'पड़ना' का भी प्रयोग हो सकता है। 'पड़ना' के प्रयोग में विशेषता यही होती है कि इससे व्यापार का अधिक संयोग वश होना प्रकट होता है। "साथ हुआ" और "साथ पड़ा" में से पिछला क्रिया-प्रयोग व्यापार में संयोग का भाव सूचित करता है।

(१६) जाँच या विचार करने पर ठहरना। पाया जाना। (क) दोनों में लाल घोड़ा कुछ मज़बूत पड़ता है। (ख) यह थान उससे कुछ बीस पड़ता है। (१७) (देशांतर या अवस्थांतर) होना। (पहली स्थिति या दशा त्यागकर नई स्थिति या दशा में) होना। (बदलकर) होना। जैसे, नरम पड़ना, ठंढा पड़ना, ढीला पड़ना, कमजोर पड़ना, सुस्त पड़ना, फीका पड़ना इत्यादि।

विशेष—'पड़ना' के प्रयोग से जिस दशांतर की प्राप्ति सूचित की जाती है वह प्रायः पूर्व दशा से अपेक्षाकृत हीन या निकृष्ट होती है। जहाँ पहली स्थिति से अच्छी स्थिति में जाने का भाव होता है वहाँ इसका व्यवहार कम स्थलों पर होता है।

(१८) मैथुन करना। संभोग करना। (पशुओं के लिये)। जैसे, यह घोड़ा जब जब किसी घोड़ी पर पड़ता है तब तब बीमार हो जाता है। (१९) अत्यंत इच्छा होना। धुन होना। चिंता होना। जैसे, तुम्हें तो यही पड़ रही है कि किसी प्रकार इस साल बी० ए० हो जायँ।

मुहा०—क्या पड़ी है = क्या प्रयोजन है। क्या मतलब है। जैसे, तुमको क्या पड़ी है जो तुम उसके लिये इतना कष्ट उठाते हो। उ०—परी कहा तोहिं प्यारि पाप अपने जरि जाहीं।—सूर।

विशेष—यह क्रिया अनेक क्रियाओं विशेषतः अकर्मक क्रियाओं से संयुक्त होती है। जब धातुरूप के साथ संयुक्त होती है तब मुख्य क्रिया के व्यापार में आकस्मिकता या संयोग सूचित करती है, जैसे, कह पड़ना, दे पड़ना, आ पड़ना, जा पड़ना आदि। और जब धातुरूप के बदले पूरी क्रिया ही से संयुक्त होती है तब उसके करने में कर्त्ता की बाध्यता, विवशता या परतंत्रता प्रकट करती है, जैसे, कहना पड़ा, देखना पड़ा, सहना पड़ा, आना पड़ा, जाना पड़ा इत्यादि। इसके अतिरिक्त कभी कभी किसी शब्द के साथ लगकर यह क्रिया कुछ विशेष अर्थ देने लगती है। जैसे, (क) कुछ रुपया तुम्हारे नाम पड़ा है। (ख) कई दिन से तुम उनके पीछे पड़े हो। (ग) सरदी के मारे गले पड़ गए हैं। (घ) अब तो यह किताब हमारे गले पड़ी है आदि। ऐसी दशा में यह मुहाविरे का रूप धारण कर लेती है। ऐसे अर्थों के लिये मुख्य शब्द अथवा संज्ञाएँ देखो। जिस प्रकार व्यापार के घटित होने के लगभग या सदृश व्यापार सूचित करने के लिये क्रिया का रूप भूतकालिक करके तब उसके साथ 'जाना' लगाते हैं (जैसे, हाथ जला जाता है, पैर कटा जाता था, चीज़ हाथ से गिरी जाती है) उसी प्रकार 'पड़ना' भी लगाते हैं, जैसे, छड़ी हाथ से गिरी पड़ती है, उ०—चूनरि चारु चुई सी परै चटकीली हरी अँगिया ललचावै।

पड़पड़—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) निरंतर पड़पड़ शब्द होना। (२) दे० "पटपट"।

संज्ञा पुं० [डिं०] पूँजी। मूलधन।

पड़पड़ाना—क्रि० अ० [अनु०] (१) पड़पड़ शब्द होना। (२) मिर्च, सोंठ आदि कड़वे पदार्थों के स्पर्श से जीभ पर जलन सी मालूम होना। अत्यंत कड़ुवे पदार्थ के भक्षण या स्पर्श से जीभ पर किंचित् दुःखद तीक्ष्ण अनुभूति होना। चरपराना। जैसे, तुमने ऐसी मिर्च खिलाई कि अब तक जीभ पड़पड़ा रही है।

पड़पड़ाहट—संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़पड़ाना] पड़पड़ाने की क्रिया या भाव। चरपराहट। जैसे, ऐसी तेज मिर्च खाई कि अब तक पड़पड़ाहट नहीं मिटी।

पड़पोता—संज्ञा पुं० [सं० प्रपौत्र] [स्त्री० पड़पोती] पुत्र का पोता। पोते का पुत्र। लड़के के लड़के का लड़का। प्रपौत्र।

पड़म—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मोटा सूती कपड़ा जो प्रायः खेमे वगैरः बनाने में काम आता है।

पड़वा—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पड़िवआ] प्रत्येक पक्ष की प्रथम तिथि।

संज्ञा पुं० दे० "पँड़वा"।

पड़वाना—क्रि० स० [हिं० पड़ना] गिरवाना। पड़ने का काम दूसरे से कराना।

पड़वी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की ईख जो बैसाख या जेठ में बोई जाती है।

पड़ाइन—संज्ञा स्त्री० दे० "पँड़ाइन"।

पड़ाका†—संज्ञा पुं० दे० "पटाका"।

मुहा०—पड़ाके की गोट = दे० "पटापटी" में "पटापटी की गोट"।

पड़ाना—क्रि० स० [हिं० पड़ना का सक०] गिराना। झुकाना। दूसरे को पड़ने में प्रवृत्त करना।

पड़ापड़—क्रि० वि० दे० "पटापट"।

संज्ञा स्त्री० दे० "पटापट"।

पड़ाव—संज्ञा पुं० [हिं० पड़ना + आव (प्रत्य०)] (१) सेना अथवा किसी यात्री-दल के यात्रा के बीच में प्रायः रात बिताने के लिये कहीं ठहरने का भाव। यात्री-समूह का यात्रा के बीच में अवस्थान। जैसे, आज यहीं पड़ाव पड़ेगा।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(२) वह स्थान जहाँ यात्री ठहरते हों। वह स्थान जो

यात्रियों के ठहरने के लिये निर्दिष्ट हो। चट्टी। टिकान। जैसे, आज हम लोग अमुक पड़ाव पर विश्राम करेंगे।

मुहा०—**पड़ाव मारना**=(१) पड़ाव डाले हुए किसी यात्रीदल को लूटना। कारवान या काफिला लूटना। (२) कोई बड़ा साहसपूर्ण कार्य करना। भारी शौर्य प्रकट करना। जैसे, कौन सा पड़ाव मार आए हो?

पड़ाशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] ढाक का पेड़।

पड़िया–संज्ञा स्त्री० [हिं० पँड़वा, पड़वा] भैंस का मादा बच्चा।

पड़ियाना†–क्रि० अ० [हिं० पड़िया+आना (प्रत्य०)] भैंस का भैंसे से संयोग हो जाना। भैंसाना।

क्रि० स० भैंस का भैंसे से संयोग कराना। भैंस को मैथुनार्थ भैंसे के समीप पहुँचाना।

पड़िवा†–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पड़िवआ] प्रत्येक पक्ष की प्रथम तिथि। पड़वा। प्रतिपदा।

पड़ेरू†–संज्ञा पुं० दे० "पड़रू"।

पड़ोरा†–संज्ञा पुं० दे० "परवल"।

पड़ोस–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवेश या प्रतिवास, प्रा० पड़िवेस, पड़िवास] (१) किसी के घर के आस पास के घर। किसी के घर के समीप के घर। प्रतिवेश।

यौ०—**पास पड़ोस**=आस पास। समीपवर्ती स्थान।

मुहा०—**पड़ोस करना**=पड़ोस में बसना। पड़ोसी होना। जैसे, पड़ोस तो मैंने आपका किया है, माँगने किससे जाऊँ।

(२) किसी स्थान के आस पास के स्थान। किसी स्थान के समीपवर्त्ती स्थान। जैसे, घर के पड़ोस में चमार बसते हैं।

पड़ोसी–संज्ञा पुं० [हिं० पड़ोस+ई (प्रत्य०)] [स्त्री० पड़ोसिन] वह मनुष्य जिसका घर पड़ोस में हो। पड़ोस में रहनेवाला। जिसका घर अपने घर के पास हो। प्रतिवासी। प्रतिवेशी। हमसाया।

यौ०—**अड़ोसी पड़ोसी**=पड़ोसी इत्यादि।

पड़ौसी–संज्ञा पुं० दे० "पड़ोसी"।

पढ़ंत–संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना+अंत (प्रत्य०)] (१) पढ़ने की क्रिया या भाव। (२) मंत्र। जादू।

पढ़ना–क्रि० स० [सं० पठन] (१) किसी लिखावट के अक्षरों का अभिप्राय समझना। किसी पुस्तक, लेख आदि को इस प्रकार देखना कि उसमें लिखी बात मालूम हो जाय। जैसे, इस पुस्तक को मैं तीन बार पढ़ गया।

संयो० क्रि०—जाना।—डालना।—लेना।

(२) किसी लिखावट के शब्दों का उच्चारण करना। उच्चारण-पूर्वक पाठ करना। बाँचना। किसी लेख के अक्षरों से सूचित शब्दों को मुँह से बोलना। जैसे, जरा और जोर से पढ़ो कि हमको भी सुनाई दे।

संयो० क्रि०—जाना।—देना।

(३) उच्चारण करना। मध्यम या धीमे स्वर से कहना। जैसे, तुम कौन सा मंत्र पढ़ रहे हो।

संयो० क्रि०—जाना।—देना।

(४) स्मरण रखने के लिये किसी विषय का बार बार उच्चारण करना। रटना। जैसे, पहाड़ा पढ़ना।

संयो० क्रि०—जाना।—डालना।

(५) मंत्र फूँकना। जादू करना।

संयो० क्रि०—देना।

(६) तोते, मैना आदि का मनुष्यों के सिखाए हुए शब्द उच्चारण करना। जैसे, बूढ़ा तोता भला क्या पढ़ेगा। (७) विद्या पढ़ना। शिक्षा प्राप्त करना। अध्ययन करना। जैसे, इस लड़के का मन पढ़ने में खूब लगता है।

संयो० क्रि०—जाना।—लेना।

यौ०—**पढ़ना लिखना**=शिक्षा पाना। पढ़ना पढ़ाना। पढ़ने लिखने या पढ़ने पढ़ाने का काम। **पढ़ा लिखा**=शिक्षित जिसने शिक्षा प्राप्त की हो।

(८) नया पाठ प्राप्त करना। नया सबक लेना। जैसे तुमने आज पढ़ लिया या नहीं?

संयो० क्रि०—लेना।

संज्ञा पुं० [सं० पाठीन] एक प्रकार की मछली। विशेष—दे० "पढ़िना"।

पढ़नी–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान।

पढ़नी-उड़ी–संज्ञा स्त्री० [पढ़नी (?)+उड़ी=उड़ान] कसरत में एक प्रकार का अभ्यास जिसमें आदमी टीला या अन्य कोई ऊँची चीज उछलकर लाँघी जाती है। इस अभ्यास के दो भेद हैं—एक में सामने की ओर और दूसरे में पीछे की ओर उछलते हैं। उछलनेवालों के अभ्यास के अनुसार टीला एक, दो या तीन हाथ तक ऊँचा होता है।

पढ़वाना–क्रि० स० [हिं० पढ़ना तथा पढ़ाना का प्रे०] (१) किसी से पढ़ने की क्रिया कराना। किसी को पढ़ने में प्रवृत्त करना। बँचवाना। जैसे, यह पत्र तुमने किससे पढ़वाया? (२) किसी से पढ़ाने की क्रिया कराना। किसी के द्वारा किसी को शिक्षा दिलाना। जैसे, मैंने अमुक पंडित से अपने लड़के को पढ़वाया है।

पढ़वैया†–संज्ञा पुं० [हिं० पढ़ना+ऐया (प्रत्य०)] पढ़नेवाला। शिक्षार्थी।

पढ़ाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना+आई (प्रत्य०)] (१) पढ़ने का काम। विद्याभ्यास। अध्ययन। पठन। (२) पढ़ने का भाव। जैसे, तुम्हारी पढ़ाई हमको तो ऐसी ही वैसी मालूम होती है। (३) वह धन जो पढ़ने के बदले में दिया जाय।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ाना+आई (प्रत्य०)] (१) पढ़ाने का काम। अध्यापन। पाठन। पढ़ौनी। (२) पढ़ाने का भाव। (३)

पढ़ाने का ढंग। अध्यापनशैली। जैसे, अमुक स्कूल की पढ़ाई बहुत अच्छी है। (४) वह धन जो पढ़ाने के बदले में दिया जाय।

पढ़ाना-क्रि॰ स॰ [हिं॰ पढ़ना का प्रे॰] (१) शिक्षा देना। पुस्तक की शिक्षा देना। अध्यापन करना।

संयो॰ क्रि॰—डालना।—देना।

यौ॰—पढ़ाना लिखाना।

(२) कोई कला या हुनर सिखाना। उ॰—(क) कुलिस कठोर कूर्म पीठि ते कठिन अति हठि न पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत टूट्यो मानों बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है।—तुलसी। (ख) परम चतुर जिन कीन्हे मोहन अल्प वयस ही थोरी। बारे ते जेहि यहै पढ़ायो बुधि-बल-कल बिधि चोरी।—सूर।

संयो॰ क्रि॰—डालना।—देना।

(३) तोते, मैना आदि पक्षियों को बोलना सिखाना। उ॰—सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पींजरन राखि पढ़ाए। —तुलसी।

संयो॰ क्रि॰—देना।

(४) सिखाना। समझाना। उ॰—जेहि पिनाक बिन नाक किए नृप सबहि विषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो।—तुलसी।

पढ़िना-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पाठीन] एक प्रकार की बिना सेहरे की मछली जो तालाब और समुद्र सभी स्थानों में पाई जाती है। यह मछली प्रायः अन्य सब मछलियों से अधिक दीर्घ-जीवी और डील डौलवाली होती है। किसी किसी पढ़िने का वजन दो मन से भी अधिक होता है। यह मांसाशी है। और मछलियों के अतिरिक्त अन्य छोटे छोटे जीव जंतुओं को ही निगल लिया करती है। इसके सारे शरीर के मांस में बारीक बारीक काँटे होते हैं जिन्हें दाँत कहते हैं। वैद्यक में इसे कफ-पित्तकारक, बलदायक, निद्राजनक, कोढ़ और रक्तदोष पैदा करनेवाला लिखा है। पाठीन। सहस्रदंष्ट्र। वोदालक। वदालक। पढ़ना। पहिना।

पढ़ैया†-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पढ़ना + ऐया (प्रत्य॰)] पढ़नेवाला। पढ़वैया। पाठक।

पण-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) कोई खेल जिसमें हारनेवाले को कुछ परिमित धन अथवा कोई निर्दिष्ट वस्तु जीतनेवाले को देनी पड़े। कोई कार्य जिसमें बाजी बदी गई हो। जूआ। द्यूत। (२) प्रतिज्ञा। शर्त्त। मुआहिदा। कौल करार। संधि। (३) वह वस्तु जिसके देने का करार या शर्त्त हो। जैसे, किराया, भाड़ा, पारिश्रमिक आदि। (४) मोल। कीमत। मूल्य। (५) फीस। शुल्क। (६) धन। संपत्ति। जायदाद। (७) क्रय विक्रय की वस्तु। सौदा। (८) व्यवहार। व्यापार। व्यवसाय। (९) स्तुति। प्रशंसा। (१०) किसी के मत से ११ और किसी के मत से २० माशे के बराबर ताँबे का टुकड़ा जिसका व्यवहार सिक्के की भाँति किया जाता था। (११) प्राचीन काल की एक विशेष नाप जो एक मुट्ठी अनाज के बराबर होती थी।

पणग्रंथि-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] बाजार। हाट।

पणन-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) खरीदने की क्रिया या भाव। (२) बेचने की क्रिया या भाव। (३) शर्त्त लगाने या बाजी बदने की क्रिया या भाव। (४) व्यापार या व्यवहार करने की क्रिया या भाव।

पणनीय-वि॰ [सं॰] (१) धन देकर जिससे काम लिया जा सके। (२) जिसे खरीदा या बेचा जा सके।

पणफर-संज्ञा पुं॰ [सं॰] कुंडली में लग्न से २ रा, ३ रा, ५ वाँ, ८ वाँ और ११ वाँ घर।

पणबंध-संज्ञा पुं॰ [सं॰] बाजी बदना। शर्त्त लगाना।

पणव-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) छोटा नगाड़ा। (२) छोटा ढोल। ढोलकी। (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक मगण, एक नगण, एक यगण और अंत में एक गुरु होता है। प्रत्येक चरण में १६, १६ मात्राएँ होने के कारण यह चौपाई के भी अंतर्गत आता है। उ॰—मानौ योग कथित तैं मोरा। जीतोगे अर्जुन जी कोरा।

पणवानक-संज्ञा पुं॰ [सं॰] नगाड़ा।

पणास-संज्ञा पुं॰ [सं॰] क्रय विक्रय की वस्तु। सौदा।

पणसुंदरी-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] बाजारी स्त्री। रंडी। वेश्या।

पणस्त्री-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] रंडी। वेश्या।

पणास्थि-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] कौड़ी। कपर्दक।

पणित-वि॰ [सं॰] (१) जिसकी प्रशंसा की गई हो। प्रशंसित। स्तुत। (२) क्रीत। (३) विक्रीत। (४) बाजी। (५) जुआ।

पणितव्य-वि॰ [सं॰] (१) खरीदने योग्य। (२) बेचने योग्य। (३) व्यवहार करने योग्य। (४) प्रशंसा करने योग्य।

पणी-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पणिन्] क्रयविक्रय करनेवाला।

पण्य-वि॰ [सं॰] (१) खरीदने योग्य। (२) बेचने योग्य। (३) व्यापार या व्यवहार करने योग्य। (४) प्रशंसा करने योग्य। संज्ञा पुं॰ (१) सौदा। माल। (२) व्यापार। व्यवसाय। रोजगार। (३) बाजार। हाट। (४) दूकान।

पण्यदासी-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] धन लेकर सेवा करनेवाली स्त्री। लौंडी। मजदूरनी। बाँदी। सेविका।

पण्यपति-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) भारी व्यापारी। बहुत बड़ा रोजगारी। (२) बहुत बड़ा साहूकार। नगर सेठ।

पण्यफल-संज्ञा पुं॰ [सं॰] व्यापार में प्राप्त लाभ। मुनाफा। नफा।

पण्यभूमि-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वह स्थान जहाँ माल या सौदा जमा किया जाता हो। कोठी। गोदाम। गोला।

पण्यविलासिनी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वेश्या। रंडी।

पण्यवीथी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] क्रय विक्रय का स्थान। बाजार। हाट।

पण्यशाला–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] दूकान। वह घर जिसमें चीजें बिकती हों।

पण्यस्त्री–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वेश्या। रंडी।

पण्यांधा–संज्ञा स्त्री॰ [?] कँगनी नाम का धान्य।

पण्या–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] मालकँगनी।

पण्याजीव–संज्ञा पुं॰ [सं॰] व्यापार से जीविका करनेवाला। रोजगारी। व्यापारी।

पतंखा–संज्ञा पुं॰ [देश॰] एक प्रकार का बगला जिसे पतोखा कहते हैं।

पतंग–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) शलभ। टिड्डी। (३) परवाना। पाँखी। भुनगा। फतिंगा। (४) कोई परदार कीड़ा। उड़नेवाला कीड़ा। (५) सूर्य। (६) एक प्रकार का धान। जड़हन। (७) जल-महुआ। जल-मधूक वृक्ष। (८) एक प्रकार का चंदन। (९) कंदुक। गेंद। पारा। (१०) जैनों के एक देवता जो वाण॰ंतर नामक देवगण के अंतर्गत हैं। (११) एक गंधर्व का नाम। (१२) एक पहाड़ का नाम। (१३) शरीर। (अने॰)। (१४) नौका। नाव। (अने॰)। (१५) चिनगारी।

संज्ञा पुं॰ [सं॰ पत्रंग] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जो मध्य-भारत तथा कटक प्रांत में अधिकता से होता है। बैसाख जेठ में जमीन को अच्छी तरह जोतकर इसके बीज बो दिए जाते हैं। प्रायः २० वर्ष में जब इसके पेड़ चालीस फुट ऊँचे हो जाते हैं तब काट लिए जाते हैं। इसकी लकड़ी को छोटे छोटे टुकड़ों में काटकर प्रायः दो पहर तक पानी में उबालते हैं जिससे एक प्रकार का बहुत बढ़िया लाल रंग निकलता है। पहले इस रंग की खपत बहुत होती थी और यह बहुत अधिक मान में भारत से विदेशों को भेजा जाता था। परंतु जब से विलायती नकली रंग तैयार होने लगे तब से इसकी माँग बहुत घट गई है। आजकल कई प्रकार के विलायती लाल रंग भी "पतंग" के नाम से ही बिकते हैं। कुछ लोग इसको "लालचंदन" ही मानते हैं, परंतु यह बात ठीक नहीं है। इसको बक्कम भी कहते हैं।

वि॰ उड़नेवाला।

संज्ञा पुं॰ [सं॰ पतंग = उड़ानेवाला] हवा में ऊपर उड़ाने का एक खिलौना जो बाँस की तीलियों के ढाँचे पर एक ओर चौकोना कागज और कभी कभी बारीक कपड़ा मढ़कर बनाया जाता है। गुड्डी। कनकौवा। चंग। तुक्कल। तिलंगी।

विशेष—इसका ढाँचा दो तीलियों से बनता है। एक बिलकुल सीधी रखी जाती है पर दूसरी को लचाकर मिहराबदार कर देते हैं। सीधी तीली को ढड्ढा और मिहराबदार को कमाँच या काँप कहते हैं। ढड्ढे के एक सिरे को पुछल्ला और दूसरे को मुड्ढा कहते हैं। पुछल्ले पर एक तिकोना कागज और मढ़ दिया जाता है। कमाँच के दोनों सिरे कुब्बे कहलाते हैं। ढड्ढे पर कागज की दो छोटी चौकोर चकतियाँ मढ़ी होती हैं। एक उस स्थान पर जहाँ ढड्ढा और कमाँच एक दूसरे को काटते हैं, दूसरी पुछल्ले की ओर कुछ निश्चित अंतर पर। इन्हीं में सूराख करके कन्ना अर्थात् वह डोरा बाँधा जाता है जिसमें चरखी या परेते की डोरी का सिरा बाँधकर पतंग उड़ाया जाता है। यद्यपि देखने में पतंग के चारों पार्श्वों की लंबाई बराबर जान पड़ती है, पर मुड्ढे और कुब्बे का अंतर कुब्बे और पुछल्ले के अंतर से अधिक होता है। जिस डोरी से पतंग उड़ाया जाता है वह नख, बाना, रील आदि कई प्रकार की होती है। बाँस के जिस विशेष ढाँचे पर डोरी लपेटी रहती है उसके भी दो प्रकार हैं—एक चरखी और दूसरा परेता। विस्तार-भेद से पतंग कई प्रकार की होती है। बहुत बड़ी पतंग को तुक्कल कहते हैं। बनावट का दोष, हवा की तेजी आदि कारणों से अक्सर पतंग हवा में चक्कर खाने लगती है। इसे रोकने के लिये पुछल्ले में कपड़े की एक धज्जी बाँध देते हैं, इसको भी पुछल्ला कहते हैं। भारतवर्ष में केवल मनोरंजन के लिये पतंग उड़ाया जाता है। परंतु पाश्चात्य देशों में इसका कुछ व्यावहारिक उपयोग भी किया जाने लगा है।

क्रि॰ प्र॰—उड़ाना।—लड़ाना।

यौ॰—पतंगबाज।

मुहा॰—**पतंग काटना** = अपने पतंग की डोरी से दूसरे के पतंग की डोरी को रगड़कर काट देना। **पतंग बढ़ाना** = डोरी ढीली करके पतंग को हवा में और ऊपर या आगे बढ़ाना।

पतंगछुरी†–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पतंग = उड़ानेवाला अथवा चिनगारी + हिं॰ छुरी] पीठ पीछे बुराई करनेवाला। दो व्यक्तियों या दलों में झगड़ा करानेवाला। चुगुलखोर। पिशुन। चवाई।

पतंगबाज–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पतंग + फा॰ बाज] (१) वह जिसको पतंग उड़ाने का व्यसन हो वह जिसका प्रधान कार्य्य पतंग उड़ाना हो। वह जिसका अधिकांश समय पतंग उड़ाने में जाता हो। (२) पतंग से क्रीड़ा करनेवाला। पतंग उड़ाकर मनोरंजन करनेवाला। पतंग का शौकीन।

पतंगबाजी–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पतंगबाज] (१) पतंगबाज होने का भाव। पतंग उड़ाने की क्रिया या भाव। पतंग उड़ाना। (२) पतंग उड़ाने की कला। जैसे, पतंगबाजी में वह अपना जोड़ नहीं रखता।

पतंगम–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) शलभ। पतंगा।

पतंगा-संज्ञा पुं० [सं० पतंग] (१) पतंग। कोई उड़नेवाला कीड़ा मकोड़ा। फतिंगा या पाँखी आदि। (२) परदार कीड़ों की जाति का एक विशेष कीड़ा जो प्रायः घासों अथवा वृक्ष की पत्तियों पर रहता है। फतिंगा। (३) चिनगारी। स्फुलिंग। अग्निकण। (४) दीये की बत्ती का वह अंश जो जलकर उससे अलग हो जाता है। फूल। गुल।

पतंगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मधुमक्खियों का एक भेद। बड़ी मधुमक्खी। पुत्तिका।

पतंगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षिराज। गरुड़।

पतंचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] धनुष की डोरी। कमान की ताँत। चिल्ला।

पतंजलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध ऋषि जिन्होंने योगशास्त्र की रचना की। (२) एक प्रसिद्ध मुनि जिन्होंने पाणिनीय सूत्रों और कात्यायन कृत उनके वार्त्तिक पर 'महाभाष्य' नामक बृहत् भाष्य की रचना की थी। इनकी माता का नाम गोणिका और जन्मस्थान गोनर्द था। डा० सर रामकृष्ण भांडारकर के मत से आधुनिक गोंडा ही प्राचीन गोनर्द है। गोणिकापुत्र, गोनर्दीय और चूर्णीकृत ये तीन नाम इनके और मिलते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये कुछ समय तक काशी में भी रहे थे। जिस स्थान पर इनका रहना माना जाता है उसे आजकल नागकुआँ कहते हैं। नागपंचमी के दिन वहाँ मेला होता है और बहुत से संस्कृत के पंडित और छात्र वहाँ एकत्र होकर व्याकरण पर शास्त्रार्थ करते हैं। ये अनंत भगवान् अथवा शेषनाग के अवतार माने जाते हैं।

विशेष—बहुत से लोग दर्शनकार पतंजलि और भाष्यकार पतंजलि को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परंतु यह मत किसी प्रकार ठीक नहीं है। दर्शनकार पतंजलि भाष्यकार पतंजलि के कई सौ वर्ष पहले हो गए हैं। महाभाष्य के रचनाकाल से सैकड़ों वर्ष पहले कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रों पर अपना वार्त्तिक रचा था। उसमें योगसूत्रकार पतंजलि का स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन के वार्त्तिक पर पतंजलि का भाष्य है। इससे स्पष्ट है कि दर्शनकार पतंजलि महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए हैं। महाभाष्यकार पतंजलि का समय निश्चित हो गया है। वे शुंगवंश के संस्थापक पुष्यमित्र के समय में वर्त्तमान थे। मौर्य्य राजा को मारकर जब पुष्यमित्र राजा हुआ तब उसने पाटलिपुत्र में एक बड़ा अश्वमेध यज्ञ किया। कहते हैं इस यज्ञ में पतंजलिजी भी थे।

पत*†-संज्ञा पुं० [सं० पति] (१) पति। खसम। खाविंद। (२) मालिक। स्वामी। प्रभु।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिष्ठा ?] (१) कानि। लज्जा। आबरू।

विशेष—दे० "पति"। उ०—मुख मेरा चूमत दिन रात। होठों लागत कहत न बात॥ जासे मेरी जग में पत। ए सखी साजन न सखी नथ।—खुसरो। (२) प्रतिष्ठा। इज्जत।

क्रि० प्र०—खोना।—गँवाना।—जाना।—रखना।

यौ०—पतपानी = लज्जा। आबरू।

मुहा०—**पत उतारना** = किसी की प्रतिष्ठा नष्ट करनेवाला काम करना। दस आदमियों के बीच में किसी का अपमान करना। बेइज्जती करना। आबरू लेना। **पत रखना** = प्रतिष्ठा भंग न होने देना। इज्जत बनी रहने देना। इज्जत बचाना। **पत लेना** = दे० "पत उतारना"।

पतई†-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] पत्ती। पत्र।

पतउड़*-संज्ञा पुं० [सं० पति + उडु] चंद्रमा। (डिं०)

पतखोवन†-संज्ञा पुं० [हिं० पत + खोवन = खोनेवाला] वह जो अपने वा अन्य के मान-संभ्रम की रक्षा न कर सके। वह जो प्रायः ऐसे कार्य करता फिरे जिससे अपनी या दूसरे की बेइज्जती हो।

पतग-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया। पखेरू।

पतगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] पक्षिराज। गरुड़।

पतचैली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पौधा।

पतझड़-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत = पत्ता + झड़ना] (१) वह ऋतु जिसमें पेड़ों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं। शिशिर ऋतु। माघ और फाल्गुन के महीने। कुंभ और मीन की संक्रांतियाँ।

विशेष—इस ऋतु में हवा अत्यंत रूखी और सर्राटे की हो जाती है जिससे वस्तुओं के रस और स्निग्धता का शोषण होता है और वे अत्यंत रूखी हो जाती हैं। वृक्षों की पत्तियाँ रूक्षता के कारण सूखकर झड़ जाती हैं और वे ठूँठे हो जाते हैं। सृष्टि का सौंदर्य और शोभा इस ऋतु में बहुत घट जाती है, वह वैभवहीन हो जाती है। इसी से कवियों को यह अप्रिय है। वैद्यक के मतानुसार इस ऋतु में कफ का संचय होता है और पाचकाग्नि प्रबल रहती है जिससे स्निग्ध और भारी आहार इसमें सरलता से पचता है और पथ्य है। हलके, वातवर्द्धक और तरल भोजनद्रव्य इसमें अपथ्य हैं।

सुश्रुत के मत से माघ और फाल्गुन ही पतझड़ के महीने हैं, पर अन्य अनेक वैद्यक ग्रंथों ने पूस और माघ को पतझड़ माना है। वैद्यक के अतिरिक्त सर्वत्र माघ और फाल्गुन ही पतझड़ माने गए हैं।

(२) अवनतिकाल। खराबी और तबाही का समय। वैभवहीनता या कंगाली का समय।

पतझर†-संज्ञा स्त्री० दे० "पतझड़"।

पतझल†-संज्ञा स्त्री० दे० "पतझड़"।

पतझाड़†–संज्ञा स्त्री० दे० "पतझड़"।

पतझार†–संज्ञा स्त्री० दे० "पतझड़"।

पतत्–वि० [सं०] (१) गिरता हुआ। उतरता हुआ। नीचे को जाता या आता हुआ। (२) उड़ता हुआ।

संज्ञा पुं० पक्षी। चिड़िया।

पतत्पतंग–संज्ञा पुं० [सं०] डूबता हुआ सूर्य। वह सूर्य जो अस्त हो रहा हो।

पततप्रकर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] काव्य में एक प्रकार का रसदोष।

पतत्र–संज्ञा पुं० (१) पक्ष। पंख। डैना। (२) पर। (३) वाहन। सवारी।

पतत्रि–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

पतत्रिकेतन–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पतत्री–संज्ञा पुं० [सं० पतत्रिन्] पक्षी।

पतद्ग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिग्राह। पीकदान। (२) वह कमंडलु जिसमें भिक्षुक भिक्षान्न लेते हैं। भिक्षापात्र। कासा।

पतद्भीरु–संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी। श्येन।

पतन्–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

पतन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिरने या नीचे आने की क्रिया या भाव। गिरना। (२) नीचे जाने, धँसने या बैठने की क्रिया या भाव। बैठना या डूबना। (३) अवनति। अधोगति। जवाल। तबाही। जैसे, दुष्टों की संगति करने से पतन अनिवार्य हो जाता है। (४) नाश। मृत्यु। जैसे, अमुक युद्ध में कुल दो लाख सैनिकों का पतन हुआ। (५) पाप। पातक। (६) जातिच्युति। पातित्य। जाति से बहिष्कृत होना। (७) उड़ने की क्रिया या भाव। उड़ान। उड़ना। (८) किसी नक्षत्र का अक्षांश।

वि० (१) गिरता हुआ या गिरनेवाला। (२) उड़ता हुआ या उड़नेवाला।

पतनशील–वि० [सं०] जिसका पतन निश्चित हो। जो बिना गिरे न रह सके। गिरनेवाला।

पतना–संज्ञा पुं० [?] योनि का तट भाग। योनि का किनारा।

पतनारा–संज्ञा पुं० [?] परनाला। नाबदान। मोरी।

पतनीय–वि० [सं०] जिसका गिरना अथवा अधोगत होना संभव हो। गिरने अथवा नष्ट, पतित या अधोगत होने के योग्य। गिरनेवाला। पतित होनेवाला।

संज्ञा पुं० वह पाप जिसके करने से जाति से च्युत होना पड़े। पतित करनेवाला पाप।

पतनोन्मुख–वि० [सं०] जो गिरने की ओर प्रवृत्त हो। जो गिरने के मार्ग पर लग चुका हो या बढ़ रहा हो। जिसका पतन, अधोगति या विनाश निकट आता जाता हो।

पतपानी–संज्ञा पुं० [हिं० पत + पानी] (१) प्रतिष्ठा। मान। इज्जत। (२) लाज। आबरू।

पतम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्र। (२) पक्षी। (३) फतिंगा।

पतयालु–वि० [सं०] पतनशील। गिरनेवाला।

तर※†–वि० [सं० पत्र] (१) पतला। कृश। (२) पत्ता। पर्ण। उ०—पेट पतर जनु चंदन लावा। कुंकुँह केसर बरन सुहावा।—जायसी। (३) पत्तल। पनवारा।

पतरा†–संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) वह पत्तल जिसे तँबोली लोग पान रखने के टोकरे या डलिया में बिछाते हैं। (२) सरसों का साग। सरसों का पत्ता।

वि० दे० "पतला"।

पतराई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पतला + ई (प्रत्य०)] पतलापन। सूक्ष्मता।

पतरिंग–संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जिसका सारा शरीर हरा और ठोर पतली तथा प्रायः दो अंगुल लंबी होती है। यह मकड़ियों को पकड़कर खाता है। इसकी गणना गानेवाले पक्षियों में की जाती है।

पतरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "पत्तल"।

पतरेंगा–संज्ञा पुं० [देश०] पतरिंगा पक्षी।

पतला–वि० [सं० पात्रट, प्रा० पात्तड़; अथवा पत्र, हिं० पत्तर] [स्त्री० पतली] (१) जिसका घेरा, लपेट अथवा चौड़ाई कम हो। जो मोटा न हो। जैसे, पतली छड़ी, पतला बल्ला, पतला खंभा, पतली रस्सी, पतली धज्जी, पतली गोट, पतली गली, पतला नाला। (बहुत पतली वस्तुओं को महीन, बारीक, या सूक्ष्म, भी कह सकते हैं, जैसे, पतला तार, पतला सूत, पतली सुई। इसी प्रकार कम चौड़ी बड़ी वस्तुओं के लिये पतला के स्थान पर 'संकीर्ण' या सँकरा भी कह सकते हैं, जैसे, सँकरी गली, सँकरा नाला।) (२) जिसके शरीर के इधर उधर का विस्तार कम हो। जिसकी देह का घेरा कम हो। जो स्थूल या मोटा न हो। कृश। जैसे पतला आदमी।

यौ०—दुबला पतला = जो मोटा ताज़ा न हो। कृश शरीर का।

(३) (पटरी, पत्तर या तह के आकार की वस्तु) जिसका दल मोटा न हो। दबीज का उलटा। झीना। हलका। जैसे, पतला कपड़ा या कागज। (४) गाढ़े का उलटा। अधिक तरल। जिसमें जलांश अधिक हो। जैसे, पतला दूध या रसा।

मुहा०—पतली चीज या पदार्थ = कोई तरल पदार्थ। कोई प्रवाही द्रव्य।

(५) अशक्त। असमर्थ। कमजोर। निर्बल। हीन। जैसे, भाई सभी मनुष्य मनुष्य ही हैं, किसी को इतना पतला क्यों समझते हो?

मुहा०—पतला पड़ना = दुर्दशाग्रस्त होना। दैन्यप्राप्त होना।

अशक्त या निर्बल पड़ जाना। **पतला हाल**=दुःख और कष्ट की अवस्था। शोचनीय या दयनीय दशा। करुणाजनक स्थिति। बुरा हाल। दुर्दशा-काल। दुर्दिन।

पतलाई†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पतला + ई (प्रत्य०)] पतला होने का भाव। पतलापन।

पतलापन-संज्ञा पुं० [हिं० पतला + पन (प्रत्य०)] पतला होने का भाव।

पतली-संज्ञा स्त्री० [लश०] जुआ। द्यूत।

पतलून-संज्ञा पुं० [अं० पैंटलून] वह पाजामा जिसमें मियानी नहीं लगाई जाती और पायँचा सीधा गिरता है। अँग्रेजी पाजामा।

पतलूननुमा-संज्ञा पुं० [हिं० पतलून + फा० नुमा = दर्शक] वह पाजामा जो पतलून से मिलता जुलता होता है।

वि० पतलून की तरह का। पतलून सा।

पतलो-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) सरकंडे की पताई। सरपत की पताई। (२) सरकंडा। सरपत।

पतवर-क्रि० वि० [सं० पंक्ति, हिं० पाँती + वार (प्रत्य०)] पंक्तिवार। पंक्तिक्रम से। बराबर बराबर। उ०—"हैथोरन" की झाड़ी छाया जासु मनोहर। परी भईं पीढिन की पंगति पतवर पतवर।—श्रीधर।

पतवा†-संज्ञा पुं० [हिं० पत्ता + वा (प्रत्य०)] एक प्रकार का मचान जिस पर बैठकर शिकार खेलते हैं। यह लकड़ी का बनाया जाता है और चार हाथ ऊँचा तथा उतना ही चौड़ा होता है। लंबा इतना होता है कि ८ आदमी रहकर निशाना मार सकें। चारों ओर पतली पतली लकड़ियों की टट्टियाँ लगी रहती हैं जिनमें निशाना मारने के लिये एक एक बित्ता ऊँचे और चौड़े सूराख बने रहते हैं। टट्टियों के ऊपर हरी हरी पत्तियों समेत टहनियाँ रख दी जाती हैं जिसमें बाघ आदि शिकारियों को न देख सकें।

क्रि० प्र०—बाँधना।

पतवार-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्रवाल, पात्रपाल, प्रा० पात्तवाड़] नाव का एक विशेष और मुख्य अंग जो पीछे की ओर होता है। इसी के द्वारा नाव मोड़ी या घुमाई जाती है। यह लकड़ी का और त्रिकोणाकार होता है। प्रायः आधा भाग इसका जल के नीचे रहता है और आधा जल के ऊपर। जो भाग जल के ऊपर रहता है उसमें एक चिपटा डंडा जड़ा रहता है जिस पर एक मल्लाह बैठा रहता है। पतवार को घुमाने के लिये यह डंडा मुठियों का काम देता है। यह डंडा जिस ओर घुमाया जाता है उसके विपरीत ओर नाव घूम जाती है। कन्हर। कर्ण। पतवाल। सुकान।

पतवारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाता, पत्ता] ऊख का खेत।

संज्ञा स्त्री० दे० "पतवार"।

पतवाल-संज्ञा स्त्री० दे० "पतवार"।

पतवास-संज्ञा स्त्री० [सं० पतत् = चिड़िया + वास] पक्षियों का अड्डा। चिक्कस।

पतस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। (२) फतिंगा, टिड्डी आदि। (३) चंद्रमा।

पतस्वाहा-संज्ञा पुं० [डिं०] अग्नि।

पता-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यय, प्रा० पत्तय = ख्याति] (१) किसी विशेष स्थान का ऐसा परिचय जिसके सहारे उस तक पहुँचा अथवा उसकी स्थिति जानी जा सके। किसी वस्तु या व्यक्ति के स्थान का ज्ञान करानेवाली वस्तु, नाम या लक्षण आदि। किसी का स्थान सूचित करनेवाली बात जिससे उसको पा सकें। किसी का अथवा किसी के स्थान का नाम और स्थिति-परिचय। जैसे, (क) आप अपने मकान का पता बतावें तब तो कोई वहाँ आवे। (ख) आपका वर्त्तमान पता क्या है?

क्रि० प्र०—जानना।—देना।—बताना।—पूछना।

यौ०—**पता ठिकाना** = किसी वस्तु का स्थान और उसका परिचय।

(२) चिट्ठी की पीठ पर लिखा हुआ वह लेख जिससे वह अभीष्ट स्थान को पहुँच जाती है। चिट्ठी की पीठ पर लिखी हुई पते की इबारत।

क्रि० प्र०—लिखना।

(३) खोज। अनुसंधान। सुराग। टोह। जैसे, आठ रोज से उसका लड़का गायब है, अभी तक कुछ भी पता नहीं चला।

क्रि० प्र०—चलना।—देना।—मिलना।—लगना।—लेना।

यौ०—**पता निशान** = (१) खोज की सामग्री। वे बातें जिनसे किसी के संबंध में कुछ जान सकें। जैसे, अभी तक हमको अपनी किताब का कुछ भी पता निशान नहीं मिला। (२) अस्तित्वसूचक चिह्न। नामानिशान। जैसे, अब इस इमारत का पता निशान तक नहीं रह गया।

(४) अभिज्ञता। जानकारी। खबर। जैसे, आप तो आठ रोज इलाहाबाद रहकर आ रहे हैं, आपको मेरे मुकदमे का अवश्य पता होगा?

क्रि० प्र०—चलना।—होना।

(५) गूढ़ तत्त्व। रहस्य। भेद। जैसे, इस मामले का पता पाना बड़ा ही कठिन है।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।

मुहा०—**पते की** = भेद प्रकट करनेवाली बात। रहस्य खोलनेवाली बात। रहस्य की कुंजी। जैसे, वह बहुत पते की कहता है। **पते की बात** = भेद प्रकट करनेवाली बात। रहस्य खोलनेवाला कथन।

पताई-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] किसी वृक्ष या पौधे की वे पत्तियाँ जो सूखकर झड़ गई हों। झड़ी हुई पत्तियों का ढेर।

मुहा०—**पताई लगाना** = दहकाने के लिये आग में सूखी पत्तियाँ झोंकना। (किसी के) **मुँह में पताई लगाना** = (किसी का) मुँह फूँकना। (किसी के) मुँह में आग लगाना। (स्त्रियों की गाली)

पताकरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो बंगाल आसाम और पश्चिमी घाट में होता है। इसकी लकड़ी सफेद रंग की और मजबूत होती है और गृहनिर्माण में उसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसके फल खाए जाते हैं।

पताकांक-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पताका-स्थान"।

पताकांशु-संज्ञा पुं० [सं०] झंडा। झंडी। पताका।

पताका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लकड़ी आदि के डंडे के एक सिरे पर पहनाया हुआ तिकोना या चौकोना कपड़ा, जिस पर कभी कभी किसी राजा या संस्था का खास चिह्न या संकेत चित्रित रहता है। झंडा। झंडी। फरहरा। विशेष—दे० "ध्वज"।

विशेष—साधारणतः मंगल या शोभा प्रकट करने के लिये पताका का व्यवहार होता है। देवताओं के पूजन में भी लोग पताका खड़ी करते या चढ़ाते हैं। युद्ध-यात्रा, मंगल यात्रा आदि में पताकाएँ साथ साथ चलती हैं। राजा लोगों के साथ उनके विशेष चिह्न से चित्रित पताकाएँ चलती हैं। कोई स्थान जीतने पर राजा लोग विजयचिह्न-स्वरूप अपनी पताका वहाँ गाड़ते हैं।

पर्या०—कंदुली। कदली। कदलिका। जयंती। चिह्न। ध्वजा। वैजयंती।

क्रि० प्र०—उड़ना।—उड़ाना।—फहराना।

मुहा०—(किसी स्थान में अथवा किसी स्थान पर) **पताका उड़ना** = (१) अधिकार होना। राज्य होना। जैसे, कोई समय था जब इस सारे देश में राजपूतों की ही पताका उड़ा करती थी। (२) समकक्षरहित होना। सर्वप्रधान होना। सबमें श्रेष्ठ माना जाना। जैसे, आज व्याकरण शास्त्र में अमुक पंडित की पताका उड़ रही है। (किसी वस्तु की) **पताका उड़ना** = प्रसिद्ध होना। धूम होना। जैसे, (क) आपकी दानशीलता की पताका चारों ओर उड़ रही है। (ख) उनकी विद्वत्ता की सर्वत्र पताका उड़ रही है। **पताका उड़ाना** = अधिकार करना। विजयी होना। जैसे, घबराने की बात नहीं, आज नहीं तो कल आप अवश्य ही इस दुर्ग पर अपनी पताका उड़ावेंगे। **पताका गिरना** = हार होना। पराजय होना। जैसे, दिन भर शत्रुओं के नाकों चने चबवाने के पीछे अंत को सायंकाल को पराक्रमी राजपूतों की पताका गिर गई। **पताका-पतन या पताका-पात** = पताका गिरना। **पताका फहराना** = (१) पताका उड़ना। (२) पताका उड़ाना। **विजय की पताका** = विजयी पक्ष की वह पताका जो विजित पक्ष की पताका गिराकर उसके स्थान पर उड़ाई जाय। विजयसूचक पताका।

(२) वह डंडा जिसमें पताका पहनाई हुई होती है। ध्वज। (३) सौभाग्य। (४) तीर चलाने में उँगलियों का एक विशेष न्यास वा स्थिति। (५) दस खर्ब की संख्या जो अंकों में इस प्रकार लिखी जायगी—१००००००००००००। (६) नाटक में वह स्थल जहाँ किसी पात्र के चिंतागत भाव या विषय का समर्थन या पोषण आगन्तुक भाव से हो। जहाँ एक पात्र एक विषय में कोई बात सोच रहा हो और दूसरा पात्र आकर दूसरे संबंध में कोई बात कहे, पर उसकी बात से प्रथम पात्र के चिंतागत विषय का मेल या पोषण होता हो वहाँ यह स्थल माना जाता है। विशेष—दे० "नाटक"। (७) पिंगल के ९ प्रत्ययों में से ८ वाँ जिसके द्वारा किसी निश्चित गुरुलघु वर्णों के छंद अथवा छंदों का स्थान जाना जाय। उदाहरणार्थ प्रस्तार द्वारा यह मालूम हुआ कि ८ मात्राओं के कुल ३४ छंदभेद होते हैं और मेरु प्रत्यय द्वारा यह भी जाना गया कि इनमें से ७ छंद १ गुरु और ६ लघु वर्ण के होंगे। अब यह जानना रहा कि ये सातों छंद किस किस स्थान के होंगे। पताका की क्रिया से यह ज्ञात होगा कि १३ वें, २१ वें, २६ वें, २९ वें, ३१ वें, ३२ वें, ३३ वें स्थान के छंद १ गुरु और ६ लघु के होंगे।

पताकादंड-संज्ञा पुं० [सं०] पताका का डंडा। झंडे का डंडा। ध्वज।

पताका-स्थान-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में वह स्थान जहाँ पताका हो। दे० "पताका (६)"।

पताकिक-संज्ञा पुं० [सं०] पताकाधारक। झंडाबरदार। झंडी उठानेवाला।

पताकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना। ध्वजिनी। (२) एक देवी।

पताकी-संज्ञा पुं० [सं० पताकिन्] [स्त्री० पताकिनी ?] (१) पताकाधारी। झंडी उठानेवाला। (२) रथ। (३) एक योद्धा जो महाभारत में कौरवों की ओर से लड़ा था। (४) फलित ज्योतिष में राशियों का एक विशेष वेध जिससे जातक के अरिष्टकाल की अवधि जानी जाती है।

पतामी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव।

पतार*† संज्ञा पुं० [सं० पाताल] (१) दे० "पाताल"। (२) जंगल। सघन वन। उ०—निकसि ताड़ुका बन ते रघुपति निरख्यो दूरि पहारा। ताके निकट मेघ इव मंडित देख्यो श्याम पतारा।—रघुराज।

पतारी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बत्तख की जाति का एक जल-

पक्षी जो उत्तर भारत में जलाशयों के किनारे पाया जाता है। ऋतु के अनुसार यह अपने रहने के स्थान में परिवर्तन करता रहता है। इसका शिकार किया जाता है।

पताल-संज्ञा पुं० दे० "पाताल"।

पताल आवँला--संज्ञा पुं० [सं० पाताल आमलकी अथवा भूम्यामलकी] औषध के काम में आनेवाला एक पौधा (क्षुप)। यह बहुत बड़ा नहीं होता। पत्ते के नीचे पतली डंडी निकलती है। इसी में फल लगते हैं। वैद्यक के अनुसार यह कड़ुवा, कषैला, मधुर, शीतल, वातकारक, प्यास, खाँसी, रक्तपित्त, कफ, पांडुरोग, क्षत और विष का नाशक तथा पुत्रप्रदायक है। पर्या०—भूम्यामलकी। शिवा। ताली। क्षेत्रामली। तामलकी। सूक्ष्मफला। अफला। अमला। बहुपुत्रिका। बहुवीर्या। भूधात्री आदि।

ताल कुम्हड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पताल + कुम्हड़ा] एक प्रकार का जंगली पौधा जिसकी बेल शकरकंद की लता की तरह जमीन पर फैलती है और शकरकंद ही की तरह जिसकी गाँठों से कंद फूटते हैं। कंदों का परिमाण एक सा नहीं होता, कोई छोटा और कोई बहुत बड़ा होता है। यह दवा के काम में आता है।

तालदंती-संज्ञा पुं० [सं० पातालदंती] वह हाथी जिसका दाँत नीचे की ओर झुका हो। वह हाथी जिसके दाँत का झुकाव भूमि की ओर हो। ऐसा हाथी ऐबी समझा जाता है।

तावर-संज्ञा पुं० [हिं० पत्ता] पेड़ के सूखे हुए पत्ते।

तासी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बढ़इयों का एक औजार। छोटी रुखानी।

तिंवरा-वि० [सं०] (१) जो अपना पति स्वयं चुने। स्वेच्छा से पति का वरण करनेवाली (स्त्री)। स्वयंवरा। (२) काला जीरा। कृष्णजीरक।

ति—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पत्नी] (१) किसी वस्तु का मालिक। स्वामी। अधिपति। प्रभु। जैसे, भूमिपति, गृहपति आदि। (२) स्त्री विशेष का विवाहित पुरुष। किसी स्त्री के संबंध में वह पुरुष जिसका उस स्त्री से ब्याह हुआ हो। पाणिग्राहक। भर्त्ता। कांत। दूल्हा। शौहर। खाविंद।

विशेष—साहित्य में पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल; दक्षिण, धृष्ट और शठ। अनुकूल वह पति है जो एक ही स्त्री पर पूर्णरूप से अनुरक्त हो और दूसरी की आकांक्षा तक न रखता हो। दक्षिण वह है जिसके प्रणय का आधार अनेक स्त्रियाँ हों, पर जिसकी उन सब पर समान प्रीति हो अथवा जो अनेक स्त्रियों का समान प्रीतिपात्र हो। धृष्ट वह है जो तिरस्कार और अपमान सहकर भी अपना काम बनाता है, जिसके लज्जा और मान नहीं होता। शठ वह कहलाता है जो छल कपट में निपुण हो, जो वचनचातुरी से या झूठ बोलकर अपना काम निकाले। इनके अतिरिक्त किसी किसी आचार्य ने "अनभिज्ञ" नाम से पति का पाँचवाँ भेद भी माना है। यह हाव भाव आदि शृंगार-चेष्टाओं का अर्थ समझने में असमर्थ होता है।

(३) पाशुपत दर्शन के अनुसार सृष्टि, स्थिति और संहार का वह कारण जिसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हो और ऐश्वर्य से जिसका नित्य संबंध हो। शिव या ईश्वर। (४) मर्यादा। प्रतिष्ठा। लज्जा। इज्जत। साख। दे० "पत"। उ०—(क) अब पति राखि लेहु भगवान।—सूर। (ख) तुम पति राखी प्रह्लाद दीन दुख टोरा।—गणेशप्रसाद। (५) मूल।

संज्ञा स्त्री० दे० "पत"।

पतिआना†-क्रि० स० [सं० प्रत्यय, प्रा० पत्तय + आना (हिं० प्रत्य०)] विश्वास करना। सच मानना। प्रतीत करना। एतबार करना। मानना।

पतिआर*†-संज्ञा पुं० [हिं० पतिआना] पतिआने का भाव। विश्वास। साख। एतबार। मातबरी।

पतिक-संज्ञा पुं० [सं० प्रतिकः] कार्षापण नाम का एक प्राचीन सिक्का।

पतिकामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पति की अभिलाषा करनेवाली (स्त्री)। पतिप्राप्ति की इच्छा रखनेवाली (स्त्री)।

पतिघातिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पति की हत्या करनेवाली (स्त्री)। पति को मार डालनेवाली स्त्री। (२) वह स्त्री, जिसका ज्योतिष या सामुद्रिक के अनुसार विधवा हो जाना संभव हो। वैधव्य योग अथवा लक्षणवाली स्त्री।

विशेष—कर्कट लग्न अथवा कर्कटस्थ चंद्रमा में मंगल के तीसवें अंश में जन्म ग्रहण करनेवाली, जिसकी हथेली पर अँगूठे के निचले भाग से छिंगुनी के निचले भाग तक सीधी रेखा हो, जिसकी आँखें लाल हों अथवा जिसकी नाक के सिरे पर काला मसा हो, जिसकी छाती अधिक उभरी या फैली हुई हो, जिसके ऊपर के ओंठ पर रोएँ हों—ऐसी सब स्त्रियाँ पतिघातिनी कही गई हैं।

(३) वैधव्यसूचक एक विशेष हस्तरेखा। स्त्री की हथेली पर वह रेखा जो अँगूठे की जड़ से छिंगुनी की जड़ तक होती है।

पतिघ्न-वि० [सं०] वैधव्यसूचक लक्षण या योग।

पतिघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पतिघ्न योग या लक्षणवाली स्त्री।

पतिजिया-संज्ञा स्त्री० [सं० पुत्रजीवा] जीयापोता नामक वृक्ष।

पतित-वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। ऊपर से नीचे आया हुआ। (२) आचार, नीति, या धर्म से गिरा हुआ। आचारच्युत। नीतिभ्रष्ट या धर्मत्यागी। (३) महापापी। अतिपातकी। नरकदायक पाप का कर्त्ता। (४) जाति से निकाला हुआ। समाजबहिष्कृत। जातिच्युत। जाति या समाज से खारिज।

विशेष—हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार आपद् काल न होने पर भी स्वधर्म के नियमों का उल्लंघन करनेवाला पतित होता है। आग लगानेवाला, विष देनेवाला, दूसरे का अपकार करने की नीयत से फाँसी लगाकर डूबकर या जलकर मर जानेवाला, ब्रह्महत्याकारी, गुरुपत्नीगामी, नास्तिक, चोर, मद्यप, चांडाल स्त्री से मैथुन करने अथवा चांडाल का दान लेने या अन्न खानेवाला ब्राह्मण तथा किसी अन्य महा या अति पातक का कर्त्ता पतित माना जाता है। शुद्धितत्त्व के अनुसार पतित का दाह, अंत्येष्टिक्रिया, अस्थिसंचय, श्राद्ध यहाँ तक कि उसके लिये आँसू बहाना तक अकर्त्तव्य है। पतित का संसर्ग, उसके साथ भोजन, शयन या बातचीत करनेवाला भी पतित होता है। पर पतित-संसर्ग के कारण पतित व्यक्ति का श्राद्ध तर्पण आदि निषिद्ध नहीं है। माता के अतिरिक्त अन्य सब व्यक्ति पतित दशा में त्याज्य हैं। गर्भधारण और पोषण के कारण माता किसी दशा में त्याज्य नहीं है। प्रायश्चित्त करने से पतित व्यक्ति की शुद्धि होती है।

(५) अत्यंत मलीन। महा अपावन। (६) अति नीच। अधम।

यौ०—पतितउधारन। पतितपावन।

पतित-उधारन*–वि० [सं० पतित + हिं० उधारनों सं० (उद्धरण)] जो पतित का उद्धार करे। पतितों को गति देनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। (२) सगुण ईश्वर। पतित जनों के उद्धार के लिये अवतार लेनेवाला ईश्वर।

पतितता– संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पतित होने का भाव। जाति या धर्म से च्युत होने का भाव। (२) अपवित्रता। (३) अधमता। नीचता।

पतितत्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] पतित होने का भाव।

पतितपावन–वि० सं० [स्त्री० पतितपावनी] पतित को पवित्र करनेवाला। पतित को शुद्ध करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। (२) सगुण ईश्वर।

पतितवृत्त–वि० [सं०] पतित दशा में रहनेवाला। जातिच्युत होकर जीवन बितानेवाला।

पतितव्य–वि० [सं०] पतन योग्य। गिरनेवाला।

पतित सावित्रीक–वि० [सं०] जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो या विधिपूर्वक न हुआ हो। सावित्रीभ्रष्ट (क्षत्रियादि)।

संज्ञा पुं० प्रथम तीन प्रकार के व्रात्यों में से एक।

पतित्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वामी, प्रभु या मालिक होने का भाव। स्वामित्व। प्रभुत्व। (२) पाणिग्राहक या पति होने का भाव। पाणिग्राहकता। वरत्व।

पतिदेवता, पतिदेवा–वि० [सं०] जिस (स्त्री) के लिये केवल पति ही देवता हो। जिस (स्त्री) का आराध्य या उपास्य एकमात्र पति हो। पतिव्रता। उ०—पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख।—तुलसी।

पतिधर्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति का धर्म। स्वामी का कर्त्तव्य। (२) पति के प्रति स्त्री का धर्म। पति के संबंध में पत्नी के कर्तव्य।

पतिधर्मवती–वि० [सं०] पति संबंधी कर्तव्यों का भक्तिपूर्वक पालन करनेवाली (स्त्री)। पति की भली भाँति सेवा शुश्रूषादि करनेवाली (स्त्री)। पतिव्रता।

पतिध्रुक–वि० [सं०] पति को न चाहनेवाली (स्त्री)।

पतिनी*–संज्ञा स्त्री० दे० "पत्नी"।

पतियान–वि० [सं०] पति का पदानुसरण करनेवाली। पति की अनुगामिनी।

पतियाना†–क्रि० स० [सं० प्रत्यय + हिं० आना (प्रत्य०)] विश्वास करना। सच मानना। प्रतीत करना।

पतियारा*–संज्ञा पुं० [हिं० पतियाना] पतियाने का भाव। विश्वास। एतबार।

पतिरिप्–वि० [सं०] पति से द्वेष करनेवाली (स्त्री)। पति से वैर रखनेवाली।

पतिलोक–संज्ञा पुं० [सं०] पति को प्राप्त स्वर्ग जो पतिव्रता स्त्री को प्राप्त होता है। पतिव्रता स्त्री को मिलनेवाला वह स्वर्ग जिसमें उसका पति रहता है।

पतिवंती–वि० [सं०] पतिवती। सधवा। सभर्तृका।

पतिवती–वि० [सं० पति + वती (प्रत्य०)] सधवा (स्त्री)। सौभाग्यवती।

पतिवेदन–वि० [सं०] जो पति प्राप्त करावे। पति लाभ करानेवाला।

संज्ञा पुं० महादेव। शिव।

पतिव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] पति में (स्त्री की) अनन्य प्रीति और भक्ति। पति में निष्ठापूर्वक अनुराग। पातिव्रत्य।

पतिव्रता–वि० [सं०] पति में अनन्य अनुराग रखनेवाली और यथाविधि पतिसेवा करनेवाली (स्त्री)। जिस (स्त्री) का प्रेमपात्र और उपास्य एकमात्र पति हो। सब प्रकार पति के अनुकूल आचरण करनेवाली (स्त्री)। सती। साध्वी। सच्चरित्रा।

विशेष—मन्वादि स्मृतियों के अनुसार पतिव्रता स्त्री को आजन्म पति की आज्ञा का अनुसरण करना चाहिए। कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जो पति को अप्रिय हो। पति कितना ही दुश्शील, दुर्गुणी, दुराचारी और पातकी क्यों न हो, पतिव्रता को सदा सर्वदा उसे अपना देवता मानना चाहिए। जो बातें पति को अप्रिय हों उसकी मृत्यु के पश्चात् भी वे पतिव्रता के लिये अकर्त्तव्य हैं। पति की मृत्यु के अनंतर पतिव्रता स्त्री को फल मूल आदि

खाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से रहना चाहिए। पति के विदेश होने की दशा में उसे श्रृंगार, हास परिहास, क्रीड़ा, सैर तमाशे में या दूसरे के घर जाना आदि कार्य त्याग देना चाहिए। संपूर्ण व्रत, पूजा, तपस्या, और आराधना त्याग-कर पतिसेवा में रत रहना ही पतिव्रता के लिये एक मात्र धर्म है। पुत्र की अपेक्षा पति को सौगुना अधिक प्यार करे। पति उसे सब पापों से छुड़ा देता है। पर पुरुष पर प्रेम कर पातिव्रत का उल्लंघन करनेवाली स्त्री श्रृगाल-योनि में जन्म पाती है।

पतिवर्त-संज्ञा पुं० दे० "पतिव्रत"।

पतिवर्त्ता-वि० दे० "पतिव्रता"।

पतिष्ठ-वि० [सं०] अत्यंत पतनशील। गिरनेवाला।

पती-संज्ञा पुं० दे० "पति"।

पतीजना*-क्रि० अ० [हिं० प्रतीत + ना (प्रत्य०)] पतिआना। एतबार करना। भरोसा करना। विश्वास करना। प्रतीत करना। उ०—(क) तब देवकी दीन ह्वै भाष्यो नृप को नाहिं पतीजै।—सूर। (ख) बोल्यो बिहँग बिहँसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै।—तुलसी।

पतीनना*-क्रि० स० [हिं० प्रतीत + ना (प्रत्य०)] विश्वास करना। सच मानना। यकीन करना। उ०—देवै गर्भ भई है कन्या राइ न बात पतीनी हो।—सूर।

पतीर†-संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] पाँति। कतार। पंक्ति।

पतीरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चटाई।

पतील, पतीला‡-वि० [हिं० पतला] दे० "पतला"।

पतीली-संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली = हाँडी] ताँबे या पीतल की एक प्रकार की बटलोई जिसका मुँह और पेंदी साधारण बटलोई की अपेक्षा अधिक चौड़ी और दल मोटा होता है। देगची।

पतुकी*†-संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली] हाँड़ी।

पतुरिया-संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली = स्त्रीविशेष] (१) नाचने गाने का व्यवसाय करनेवाली स्त्री। वेश्या। रंडी। (२) व्यभिचारिणी स्त्री। छिनाल स्त्री।

पतुली†-संज्ञा स्त्री० [देश०] कलाई में पहनने का एक आभूषण जिसको अवध प्रांत की स्त्रियाँ पहनती हैं।

पतुही†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्ता] मटर की वह फली जिसके दाने रोग, आधिदैविक बाधा या समय से पहले तोड़ लिए जाने के कारण यथेष्ट पुष्ट न हो सके हों। नन्हें नन्हें दानोंवाली छीमी।

पतूख, पतूखी†-संज्ञा स्त्री० दे० "पतोखी"।

पतोई†-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह फेन जो गुड़ बनाते समय खौलते रस से उठता है।

पतोखद-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्रोषध] वह ओषधि जो किसी वृक्ष, पौधे, या तृण का पत्ता या फूल आदि हो। घास पात की दवाई। खरबिरई।

संज्ञा पुं० [सं० ओषधिपति] चंद्रमा। (डिं०)

पतोखदी-संज्ञा स्त्री० दे० "पतोखद (१)"।

पतोखा-संज्ञा पुं० [हिं० पत्त] [अल्प० पतोखी] पत्ते का बना पात्र। दोना।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगला जो मलंग बगले से छोटा और किलचिपा से बड़ा होता है। इसका पर खूब सफेद, नरम, चिकना और चमकीला होता है। टोपियों आदि के बनाने में प्रायः इसी के पर काम में लाये जाते हैं। पतंखा।

पतोखी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पतोखा] (१) एक पत्ते का दोना। छोटा दोना। (२) पत्तों का बना छोटा छाता। घोघी।

पतोरा-संज्ञा पुं० दे० "पत्योरी"।

पतोह†-संज्ञा स्त्री० दे० "पतोहू"।

पतोहू†-संज्ञा स्त्री० [सं० पुत्रवधू, प्रा० पुत्तवहू] बेटे की स्त्री। पुत्रवधू।

पतौआ*‡-संज्ञा पुं० [सं० पत्र, हिं० पत्ता] पत्ता। पर्ण। उ०—एक बान बेग ही उड़ाने जातुधान जात, सूखि गए गात हैं पतउआ भए बाय के।—तुलसी।

पत्तंग-संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नामक लकड़ी। बक्कम।

पत्त†-संज्ञा पुं० दे० "पत्र"।

पत्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर। शहर।

विशेष—प्राचीन समय में नगरों के नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग होता था। जैसे, प्रभासपत्तन। अब इसका अपभ्रंश पाटन या पट्टन अनेक नगरों के नाम के साथ संयुक्त है। जैसे झालरापाटन, विजगापट्टन, मुसलीपट्टन आदि। (२) मृदंग।

पत्तर-संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) धातु का ऐसा चिपटा लंबोतरा टुकड़ा जो पीटकर तैयार किया गया हो और पत्ते की तरह पतला होने पर भी कड़ा हो तथा जिसकी तह या परत की जा सके। धातु की चादर। जैसे, (क) मंदिर के शिखर पर सोने का पत्तर चढ़ा है। (ख) यंत्र बनाने के लिये ताँबे का एक पत्तर ले आओ। विशेष—कागज की तरह महीन पत्तर जो झट मोड़ा और तह किया जा सके वर्क कहलाता है। (२) दे० "पत्तल"।

पत्तल-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र, हिं० पत्ता] (१) पत्तों को सींकों से जोड़कर बना हुआ एक पात्र जिससे थाली का काम लिया जाता है। पत्तल प्रायः बरगद, महुए, या पलास आदि के पत्तों की बनाई जाती है। इसकी बनावट गोलाकार होती है। व्यास की लंबाई एक हाथ से कुछ कम या अधिक होती है। हिंदुओं के यहाँ बड़े बड़े भोजों में इसी

पर भोजन परसा जाता है। अन्य अवसरों पर भी इसका थाली के स्थान पर उपयोग किया जाता है। जंगली मनुष्य तो सदा इसी में खाना खाते हैं।

मुहा०—**एक पत्तल के खानेवाले** = परस्पर घनिष्ठ सामाजिक संबंध रखनेवाले। परस्पर रोटी बेटी का व्यवहार करनेवाले। अत्यंत सवर्गीय या सजातीय। **किसी की पत्तल में खाना** = किसी के साथ खानपान आदि का संबंध करना या रखना। जैसे, बला से वह बुरा है, पर किसी की पत्तल में खाने तो नहीं जाता। **जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना** = उपकारक का अपकार करना। जिससे लाभ उठाना उसी की हानि करना। कृतघ्नता करना। जैसे, दुष्टों का यह स्वभाव ही है कि जिस पत्तल में खायँ उसी में छेद करें। **पत्तल पड़ना** = भोजन के लिये पत्तल बिछना। भोज के समय लोगों के सामने पत्तलों का रखा जाना। **पत्तल परसना** = (१) भोजन के सहित पत्तल सामने रखना। (२) पत्तल में भोजन की वस्तुएँ रखना। पत्तल में खाना परसना। **पत्तल लगाना** = दे० "पत्तल·परसना"।

(२) पत्तल में परसी हुई भोजन-सामग्री। जैसे, (क) उसने ऐसी बात कही कि सबके सब पत्तल छोड़कर उठ गए। (ख) पंडितजी तो आए नहीं, उनके घर पत्तल भेज दो।

मुहा०—**पत्तल खोलना** = वह कार्य कर डालना जिसके करने के पहले भोजन न करने की शपथ हो। बँधी पत्तल खोलना। **पत्तल बाँधना** = कोई पहेली कहकर उसके बूझने के पहले भोजन न करने की शपथ देना। (कहीं कहीं विवाह में बरातियों के सामने पत्तल परस जाने के पीछे कन्या पक्ष की कोई स्त्री एक पहेली कहती या प्रश्न करती है और जब तक बरातियों में से कोई एक उसको बूझ न ले अथवा उसका उत्तर न दे दे तब तक सबको भोजन न करने की कसम देती है। इसी को पत्तल बाँधना कहते हैं।) उ०—बाँधी पत्तल जो कोई खावे। मूरख पंचन माँह कहावे।—(कहावत)। **जूठी पत्तल** = उच्छिष्ट। जूठा। उ०—जूठी पातर भखत हैं बारी वायस स्वान।—रायप्रवीन।

(३) एक आदमी के खाने भर भोजन-सामग्री जो किसी को दी जाय या कहीं भेजी जाय। पत्तल भर दाल चावल वा पूरी लड्डू आदि। परोसा। जैसे, अमुक मंदिर से उसे प्रति दिन ४ पत्तलें मिलती हैं।

पत्ता-संज्ञा पुं० [सं० पत्र] [स्त्री० पत्ती] (१) पेड़ या पौधे के शरीर का वह हरे रंग का फैला हुआ अवयव जो कांड या टहनी से निकलता है और थोड़े दिनों के पीछे बदल जाता है। पलास। पत्रक। पर्ण। छदन। छादन। बर्ह। बर्हन।

विशेष—पत्ते के बीच की जो मोटी नस होती है वह पीछे की ओर टहनी से जुड़ी होती है। यह नस आगे की ओर उत्तरोत्तर पतली होती जाती है। इस नस के दोनों ओर अनेक पतली नसें निकलती हैं। ये खड़ी और आड़ी नसें ही पत्ते का ढाँचा होती हैं। नसों का यह जाल हरे आच्छादन से ढका होता है। बहुत से वृक्षों और पौधों के पत्तों का अंतिम भाग नोकदार अथवा कुछ कुछ गावदुम होता है, पर कुछ के पत्ते बिलकुल गोल भी होते हैं। नया निकला हुआ पत्ता हरापन लिए हुए लाल होता है। इस अवस्था में उसे कोंपल कहते हैं। कुछ पेड़ों के पत्ते प्रति वर्ष पतझड़ के दिनों में झड़ जाते हैं। इस समय वे प्रायः वर्णहीन होते हैं। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य सब समय पत्ता हरा ही होता है। पत्ता वृक्ष या पौधे के लिये बड़े काम का अंग है। वायु से उसे जो आहार मिलता है वह इसी के द्वारा मिलता है। निरिंद्रिय आहार का सेंद्रिय द्रव्य में परिवर्तित कर देना पत्ते ही का काम है। कुछ वृक्षों के पत्ते हाथ का भी काम देते हैं। इनके द्वारा पौधे वायु में उड़नेवाले कीड़ों को पकड़कर उनका रक्त चूसते हैं।

मुहा०—**पत्ता खड़कना** = किसी के पास आने की आहट मिलना। कुछ खटका या आशंका होना। आशंका की कोई बात होना। जैसे, पत्ता खड़का बंदा भड़का (कहावत)। **पत्ता तोड़कर भागना** = बड़े वेग से दौड़ते हुए भागना। सिर पर पैर रखकर भागना। **पत्ता न हिलना** = हवा में गति न होना। हवा का बिलकुल बंद होना। हब्स होना। जैसे, आज सारे दिन पत्ता न हिला। **पत्ता लगना** = पत्ते से सटे रहने के कारण फल में दाग पड़ जाना या उसका कुछ अंश सड़ जाना। **पत्ता हो जाना** = इतनी तेजी से दौड़कर जाना कि क्षण मात्र में अदृश्य हो जाना। उड़न छू हो जाना। काफूर हो जाना। उड़ जाना।

(२) कान में पहनने का एक गहना जो बालियों में लटकाया जाता है। (३) मोटे कागज का गोल या चौकोर खंड। जैसे, ताश का पत्ता, गंजीफे का पत्ता, तागे का पत्ता। (४) धातु की चादर। पत्तर।

वि० बहुत हलका।

पात्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैदल सिपाही। प्यादा। पदातिक। (२) शूर-वीर पुरुष। योद्धा। बहादुर। (३) प्राचीन काल में सेना का सबसे छोटा विभाग जिसमें १ रथ, १ हाथी, ३ घोड़े और ५ पैदल होते थे। किसी किसी के मत से पैदलों की संख्या ५५ होती थी।

पत्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में सेना का एक विशेष विभाग जिसमें १० घोड़े, १० हाथी, १० रथ और १० प्यादे होते थे। (२) उपर्युक्त विभाग का अफ़सर।

विशेष—प्राचीन काल में दस पत्तिक की 'सेना' संज्ञा थी जिसका नायक 'सेनापति' कहाता था। ऐसी १० सेनाओं का नाम "बल" था। इसके अधिकारी को 'बलाध्यक्ष' कहते थे।

वि०-पैदल चलनेवाला।

त्तिकाय-संज्ञा पुं० [सं०] पैदल सेना।

त्तिगण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन सेना में एक विशेष अधिकारी जिसका कर्त्तव्य पैदल सैनिकों की गणना करना तथा उन्हें एकत्र करना होता था।

त्ती-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्ता + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा पत्ता। (२) भाग। हिस्सा। साझे का अंश। जैसे, इस दूकान में मेरी भी एक पत्ती है।

यौ०-पत्तीदार = साझीदार। हिस्सेदार।

(३) फूल की पँखड़ी। दल। (४) भांग। (५) पत्ती के आकार की लकड़ी, धातु, आदि का कटा हुआ कोई टुकड़ा जो प्रायः किसी स्थान में जड़ने, लगाने या लटकाने आदि के काम में आता है। पट्टी।

त्तीदार-संज्ञा पुं० [हिं० पत्ती + फा० दार = रखनेवाला] जिसका किसी व्यवसाय में किसी के साथ साझा हो। साझीदार। हिस्सेदार।

त्तूर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शांति नामक शाक। शालिंच नामक शाक। (२) जलपीपल। (३) पाकड़ का वृक्ष। (४) शमी का वृक्ष। (५) पतंग की लकड़ी।

त्थ-संज्ञा पुं० दे० "पथ्य"।

त्थर-संज्ञा पुं० [सं० प्रस्तर, प्रा० पत्थर] [वि० पथरीला, क्रि० पथराना] (१) पृथ्वी के कड़े स्तर का पिंड या खंड। भूद्रव्य का कड़ा पिंड या खंड।

विशेष—भूगर्भ शास्त्र के अनुसार पृथ्वी की बनावट में अनेक स्तर या तहें हैं। इनमें से अधिक कड़ी कलेवरवाली तहों का नाम पत्थर है। पत्थरों के मुख्य दो भेद हैं—आग्नेय और जलज। आग्नेय पत्थरों की उत्पत्ति, भूगर्भस्थ ताप के उद्भेद से होती है। पृथ्वी के गर्भ से जो तरल पदार्थ अत्यंत उत्तप्त अवस्था में इस उद्भेद द्वारा ऊपर आता है वह कालांतर में सरदी से जमकर चट्टानों का रूप धारण करता है। इस रीति पर पत्थर बनने की क्रिया भूगर्भ के भीतर होती है। उपर्युक्त तरल पदार्थ भूगर्भ स्थित चट्टानों से टकराकर अथवा अन्य कारणों से भी अपनी गरमी खो देता और पत्थर के रूप में ठोस हो जाता है। जलज पत्थर जल के प्रवाह से बनते हैं। मार्ग में पड़नेवाले पत्थर आदि पदार्थों को चूर्ण करके जलधारा कीचड़ के रूप में उन्हें अपने प्रवाह के साथ बहा ले जाती है। जिस कीचड़ के उपादान में कड़े परमाणु अधिक होते हैं वह जमने पर पत्थर का रूप धारण करती है। जलज पत्थरों की बनावट प्रायः तह पर तह होती है। पर आग्नेय पत्थरों की ऐसी नहीं होती। उपादान के भेद से भी पत्थरों के कई भेद होते हैं, जैसे आग्नेय में संगखरा, शालिग्रामी या संगमूसा आदि और जलज में बलुआ, दुधिया, स्लेट का पत्थर, संगमरमर, स्फटिक आदि। आग्नेय और जलज के अतिरिक्त अस्थिज पत्थर भी होता है। घोंघे आदि सामुद्रिक जीवों की अस्थियाँ विश्लिष्ट होने के पश्चात् दबाव के कारण पुनः घनीभूत होकर ऐसे पत्थर की रचना करती हैं। खड़िया मिट्टी इसी प्रकार का पत्थर है। जिस प्रकार साधारण कीचड़ कठिन होकर पत्थर के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है उसी प्रकार साधारण पत्थर भी दबाव की अधिकता और आस पास की वस्तुओं तथा जलवायु के विशेष प्रभाव के कारण रासायनिक अवस्थांतर प्राप्त कर स्फटिक अथवा पारदर्शी पत्थर या मणि का रूप धारण करता है।

पत्थर मानव जाति के लिये अत्यंत उपयोगी पदार्थ है। आज जो काम विविध धातुओं से लिए जाते हैं आदिम अवस्था में वे सभी केवल पत्थर से लिए जाते थे। जब तक मनुष्यों ने धातुओं की प्राप्ति का उपाय और उनका उपयोग न जाना था तब तक उनके हथियार, औजार, बरतन भाँड़े सब पत्थर के ही होते थे। आजकल पत्थर का सबसे अधिक उपयोग मकान बनाने के काम में किया जाता है। इससे बरतन, मूर्त्तियाँ, टेबुल, कुर्सी आदि भी बनती हैं। संगमरमर आदि मुलायम और चमकीले पत्थरों से अनेक प्रकार की सजावट की वस्तुएँ और आभूषण आदि भी बनाए जाते हैं। भारतवासी बहुत प्राचीन काल से ही पत्थर पर अनेक प्रकार की कारीगरी करना सीख गए थे। बढ़िया मूर्त्तियाँ, बारीक जालियाँ, अनेक प्रकार के फूल पत्ते आदि बनाने में वे अत्यंत कुशल थे।

बौद्धों के समय में मूर्त्तितक्षण और मुगलों के समय में जाली, बेलबूटे आदि बनाने की कलाएँ विशेष उन्नत थीं। यद्यपि मुगलकाल के बाद से भारत के इस शिल्प का बराबर ह्रास हो रहा है, फिर भी अभी जयपुर में संगमरमर के बरतन और आगरे में अलंकार आदि बड़े साफ और सुंदर बनाए जाते हैं।

भारत के पहाड़ों में सब प्रकार के पत्थर मिलते हैं। विंध्य पर्वत इमारती पत्थरों के लिये और अरवली पर्वत संगमरमर के लिये प्रसिद्ध है। विशेष—दे० "संगमरमर"।

बोलचाल में पत्थर शब्द का प्रयोग अत्यंत कड़ी अथवा भारी, गतिशून्य अथवा अनुभूतिशून्य वस्तु, दयाकरुणाहीन, अत्यंत जड़बुद्धि अथवा परम कृपण व्यक्ति आदि के संबंध में होता है।

पर्य्या०—पाषाण । ग्रावन । उपल । अश्मन् । दृषत । पादारुक काचक । शिला।

यौ०—पत्थरकला । पत्थरचटा । पत्थरफोड़ा ।

मुहा०—**पत्थर का कलेजा, दिल या हृदय** = अत्यंत कठोर हृदय । वह हृदय जिसमें दया, करुणा आदि कोमल वृत्तियों का स्थान न हो । किसी के दुःख पर न पसीजनेवाला दिल या हृदय । **पत्थर का छापा** = (१) छपाई का वह प्रकार जिसमें ढले हुए अक्षरों से नहीं काम लिया जाता, बल्कि छापे जानेवाले लेख की एक पत्थर पर प्रतिलिपि उतारी जाती है और उसी पत्थर के ऊपर कागज रखकर छापते हैं । लीथोग्राफ । लीथो की छपाई । **विशेष–दे० "प्रेस"** । (२) पत्थर के छापे में छपा हुआ विषय या लेख । पत्थर के छापे का काम । पत्थर के छापे की छपाई । **जैसे, (किसी पुस्तक की छपाई के विषय में) यह तो पत्थर का छापा है । पत्थर की छाती** = कभी न टूटनेवाली हिम्मत अथवा कभी न हारनेवाला दिल । असफलता या कष्ट से विचलित न होनेवाला हृदय । बलवान् और दृढ़ हृदय । मजबूत दिल । पक्की तबीयत । **जैसे, सचमुच उस मनुष्य की पत्थर की छाती है, इतना भारी दुःख सह लिया, आह तक नहीं की । पत्थर की लकीर** = सदा सर्वदा बनी रहनेवाली (वस्तु) । सर्वकालिक । अमिट । पक्की । स्थायी । **जैसे, ओछों की मित्रता पानी की लकीर और सज्जनों की मित्रता पत्थर की लकीर है । (कहावत) । पत्थर को जोंक लगाना** = अनहोनी या असंभव बात करना । वह कार्य करना जो औरों के लिये असाध्य हो । **जैसे, अत्यंत कृपण से दान दिलाना, अत्यंत निर्दय के हृदय में दया उत्पन्न कर देना, वज्रमूर्ख को समझा देना आदि । पत्थर चटाना** = पत्थर पर घिसकर धार तेज करना । छुरी, कटार आदि की धार पत्थर पर रगड़कर तेज करना । **पत्थर तले हाथ आना** = ऐसे संकट में फँस जाना जिससे छूटने का उपाय न दिखाई पड़ता हो । बुरी तरह फँस जाना । भारी संकट में फँस जाना । **पत्थर तले हाथ दबना** = दे० "पत्थर तले हाथ आना" । **पत्थर तले से हाथ निकालना**=संकट या मुसीबत से छूटना । **पत्थर निचोड़ना** = (१) जो वस्तु जिससे मिलना असंभव हो वह वस्तु उससे प्राप्त करना । किसी से उसके स्वभाव के अत्यंत विरुद्ध कार्य्य कराना । (२) अनहोनी बात या असंभव कार्य करना । (**विशेष—इस मुहावरे का प्रयोग विशेषतः कृपण के मन में दान की इच्छा या निर्दय के हृदय में दया का भाव उत्पन्न करने के अर्थ में होता है ।) पत्थर पर दूब जमना**=अनहोनी बात या असंभव काम होना । ऐसी बात होना जिसके होने की आशा सर्वथा छोड़ दी गई हो । **जैसे, बंध्या समझी जानेवाली के पुत्र होना आदि । पत्थर पसीजना** = अनहोनी बात होना । अत्यंत कठोर चित्त में नरमी, कृपण के मन में दानेच्छा, अत्याचारी के मन में दया उत्पन्न होना आदि । **जैसे, तीन वर्ष की तपस्या से यह पत्थर पसीजा है । पत्थर पिघलना** = दे० "पत्थर पसीजना" । **पत्थर मारे भी न मरना** = मरने के कारण या सामान होने पर भी न मरना । बेहयाई से जीना । निहायत सख्त जान होना । **पत्थर सा खींच या फेंक मारना** = बहुत कड़ी बात कहना या उत्तर देना । ऐसी बात कहना जो सुननेवाले को असह्य हो । लट्ठमार बात कहना या उत्तर देना । **पत्थर से सिर फोड़ना या मारना** = असंभव बात के लिये प्रयत्न करना । व्यर्थ सिर खपाना । अत्यंत मूर्ख को समझाने में श्रम करना ।

(२) सड़क के किनारे गड़ा हुआ वह पत्थर जिस पर मील के संख्यासूचक अंक खुदे होते हैं । सड़क की नाप सूचित करनेवाला पत्थर । मील का पत्थर । जैसे, तीन घंटे से **हम लोग चल रहे हैं, लेकिन सिर्फ चार पत्थर आए हैं ।**

(३) ओला । बिनौली । इंद्रोपल ।

क्रि० प्र०—गिरना ।—पड़ना ।

मुहा०—पत्थर पड़ना = (१) चौपट हो जाना । नष्ट भ्रष्ट हो जाना । मारा जाना । **जैसे, तुम्हारी बुद्धि पर** पत्थर पड़ **गया है** । (२) कुछ न पाना । मनोरथ भंग होने का सामान मिलना । सियापा पड़ जाना या पड़ा पाना । जैसे, **भाग्य की बात है कि जहाँ जहाँ जाता हूँ वहीं पत्थर पड़ जाते हैं । पत्थर पड़े** = चौपट हो जाय । नष्ट हो जाय । मारा जाय । ईश्वर का कोप पड़े । (**अभिशाप और अकसर तिरस्कार या निन्दा के अर्थ में भी बोलते हैं । जैसे, पत्थर पड़े ऐसी ओछी समझ पर**) । **पत्थर पानी** = महाभूतों की प्रतिकूलता अथवा प्रकोप का काल । आँधी पानी आदि का काल । तूफानी समय । **जैसे, भला इस** पत्थर पानी **में कौन जान देने जायगा ?**

(४) रत्न । जवाहिर । हीरा, लाल, पन्ना आदि । (५) पत्थर का सा स्वभाव रखनेवाली वस्तु । पत्थर की तरह **कठोर, भारी अथवा हटने गलने आदि के अयोग्य वस्तु । जैसे, अत्याचारी का हृदय, जड़बुद्धि का** मस्तिष्क, बड़ा **ऋण, दुर्जर भोज्य आदि ।**

क्रि० प्र०—बनना ।— बन जाना ।—होना ।

(६) कुछ नहीं । बिलकुल नहीं । खाक । (तुच्छता या तिरस्कार के साथ अभाव सूचित करता है) । जैसे, (क) **तुम इस किताब को क्या पत्थर समझोगे । (ख) वहाँ क्या पत्थर रखा है ?**

पत्थरकला–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + कल] **पुरानी चाल की बंदूक जिसमें बारूद सुलगाने के लिये चकमक पत्थर लगा रहता था । तोड़ेदार या पलीतेदार बंदूक । चाँपदार बंदूक । विशेष—दे० "बंदूक" ।**

पत्थरफूल–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फूल] छरीला। शैलाख्य।

पत्थरचटा–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + अनु० चट चट। या हिं० चाटना] (१) एक प्रकार की घास जिसकी टहनियाँ नरम और पतली होती हैं। इसकी पत्ती को लड़के मुट्ठी के गड्ढे के मुँह पर मारते हैं तो चट चट शब्द होता है। (२) एक प्रकार का साँप जो पत्थर चाटता है। (३) एक प्रकार की मछली जो सामुद्रिक चट्टानों से चिपटी रहती है। (४) कंजूस। मक्खीचूस।

वि०–जो घर की चारदीवारी से बाहर न निकला हो। कूपमंडूक।

पत्थरचूर–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + चूर] एक प्रकार का पौधा।

पत्थरफोड़–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फोड़ना] हुद हुद पत्ती।

पत्थरफोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फोड़ना] पत्थर तोड़ने का पेशा करनेवाला। संगतराश।

पत्थरवाज–संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + फा० वाज = खेलनेवाला] (१) पत्थर फेंककर किसी को मारनेवाला। (२) वह जो प्रायः पत्थर या ढेला फेंका करे। (३) वह जिसे पत्थर फेंकने का अभ्यास हो। ढेलवाह।

पत्थरवाजी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थरवाज] पत्थर फेंकने की क्रिया। पत्थर फेंकाई। ढेलवाही।

पत्थल†–संज्ञा पुं० दे० "पत्थर"।

पत्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] विधिपूर्वक विवाहिता स्त्री। वह स्त्री जिसके साथ किसी पुरुष का शास्त्र की रीति से विवाह हुआ हो।

पर्या०–जाया। भार्या। दयिता। कलत्र। वधू। सहधर्मिणी। दारा। दार। गृहिणी। पाणिगृहीता। क्षेत्र। जनि। सहचरी। गृह।

पत्नीमंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक मंत्र।

पत्नीयूप–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में देवपत्नियों के लिये निश्चित स्थान।

पत्नीव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त और किसी स्त्री से गमन न करने का संकल्प या नियम।

पत्नीशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ में वह गृह जो पत्नी के लिये वनाया जाता है। यह यज्ञशाला के पश्चिम ओर होता है।

पत्नी संयाज, पत्नी संयाजन–संज्ञा पुं० [सं०] विवाह के पश्चात् होनेवाला एक वैदिक कर्म।

पत्य–संज्ञा पुं० [सं०] पति होने का भाव। जैसे, सैनापत्य।

पत्याना*†–क्रि० स० दे० "पतिआना"। उ०—दरसत अति सुकुमार तन परसत मन न पत्यात।—बिहारी।

पत्यारा–संज्ञा पुं० दे० "पतिआरा"। उ०—(क) नैनन तें निचुरयो परै नेह रुखाई के बैनन कौन पत्यारो।—देव। (ख) पी को उठाय कह्यो हिय लाय कै है कपटीन को कौन पत्यारो।—देव।

पत्यारी*–संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] पंक्ति। कतार। उ०—(क) चूनरी सी छिति मानो बिछी इमि सोहति इंद्रबधू की पत्यारी।—द्विजदेव। (ख) अवलोकति इंद्रबधू की पत्यारी, बिलोकति है खिन कारी घटा।—द्विजदेव।

पत्योरा†–संज्ञा पुं० [हिं० पत्ता+और (प्रत्य०)] एक पकवान जो अच्चू के पत्तों को पीठी में लपेटकर घी या तेल में तलने से तैयार होता है। एक प्रकार का रिकवच।

पत्रंग–संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नाम की लकड़ी या पेड़। बक्कम।

पत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वृक्ष का पत्ता। पत्ती। दल। पर्ण।

यौ०—पत्रपुष्प।

(२) वह वस्तु जिस पर कुछ लिखा हो। लेखाधार। लिखा हुआ कागज।

विशेष–कागज का आविष्कार होने के पहले बहुत दिनों तक भारतवर्ष में ताड़ के पत्तों पर लेख, पुस्तकें आदि लिखी जाती थीं। इसी अभ्यासवश लेखयुक्त कागज, ताम्रपट आदि को भी लोग पत्र कहने लगे।

(३) वह कागज या ताम्रपट आदि जिस पर किसी विशेष व्यवहार के प्रमाण-स्वरूप कुछ लिखा गया हो। वह कागज जिस पर किसी ख़ास मामले की सनद या सबूत के लिये कुछ लिखा हो। जैसे, दानपत्र, प्रतिज्ञापत्र आदि।

क्रि० प्र०—लिखना।

(४) वह लेख जो किसी व्यवहार या घटना के प्रमाण या सनद के लिये लिखा गया हो। कोई वसीका, पट्टा या दस्तावेज।

क्रि० प्र०–लिखना।

(५) चिट्ठी। पत्री। खत।

क्रि० प्र०—लिखना।

(६) समाचारपत्र। खबर का कागज। अखबार।

क्रि० प्र०—चलाना।—निकालना।

यौ०–पत्रसंपादक।

(७) पुस्तक या लेख का एक पन्ना। पृष्ठ। सफा। पन्ना। (८) धातु की चद्दर। पत्तर। वरक़। जैसे, स्वर्णपत्र। (९) तीर या पत्ती के पंख। पत्त। (१०) तेजपात। (११) चिड़िया। पखेरू। (१२) कोई वाहन या सवारी। जैसे, रथ, बहल, घोड़ा, ऊँट आदि।

पत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ता। (२) पत्तों की लड़ी। पत्रावली। (३) शांतिशाक। (४) तेजपत्ता।

पत्रकृच्छ्र–संज्ञा [सं०] एक व्रत जिसमें पत्तों का काढ़ा पीकर रहा जाता है।

पत्रगुप्त–संज्ञा पुं० [सं०] तिधारा। थूहर। त्रिकंटक।

पत्रघ्ना–संज्ञा स्त्री० [सं०] सेंहुड़। थूहर।

पत्रज–संज्ञा पुं० [सं०] तेजपात।

पत्रतंडुली–संज्ञा स्त्री० [सं०] यवतिक्ता लता।

पत्रतरु–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध खैर।

पत्रतालक–संज्ञा पुं० [सं०] वंसपत्र हरताल।

पत्रद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ का पेड़।

पत्रनाडिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्ते की नस।

पत्रपाल–संज्ञा पुं० [सं०] लंबा छुरा या कटार।

पत्रपाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाण का पिछला भाग। (२) कैंची। कतरनी।

पत्रपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल तुलसी। (२) एक विशेष प्रकार की तुलसी जिसकी पत्तियाँ छोटी छोटी होती हैं। (३) किसी के सत्कार या पूजा की बहुत मामूली सामग्री। लघु उपहार। छोटी भेंट। उ०–मेरा पत्रपुष्प स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिए।

पत्रपुष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र।

पत्रपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी। (२) छोटे पत्ते की तुलसी।

पत्रभंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे चित्र या रेखाएँ जो सौंदर्य-वृद्धि के लिये स्त्रियाँ कस्तूरी केसर आदि के लेप अथवा सुनहले रुपहले पत्तरों के टुकड़ों से भाल, कपोल, आदि पर बनाती हैं। माथे और गाल पर की जानेवाली चित्रकारी अथवा बेल बूटे। साटी। (२) पत्रभंग बनाने की क्रिया।

पत्रभंगि, पत्रभंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पत्रभंग"।

पत्रभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पौधा।

पत्रमंजरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का तिलक जो पत्रयुक्त मंजरी के आकार का होता है।

पत्रयौवन–संज्ञा पुं० [सं०] नया पत्ता। पल्लव। कोंपल।

पत्ररचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग।

पत्ररथ–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया।

पत्ररेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पत्ररचना"।

पत्रलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह लता जिसमें प्रायः पत्ता ही पत्ता हो। (२) पत्रभंग। साटी।

पत्रलवण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नमक जो एरंड, मोरवा, अडूसा, कंज, अमिलतास और चीते के हरे पत्तों से निकाला जाता है। इन सब पत्तों को खरल में कूट कर घी या तेल के किसी बरतन में रखते और ऊपर से गोबर लीपकर आग में जलाते हैं। यह नमक वात रोगों में लाभदायक होता है।

पत्रलेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग। साटी।

पत्रवल्लरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रभंग। साटी।

पत्रवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंकरजटा। (२) पान। (३) पलासी लता। (४) पर्ण लता।

पत्रवाज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षी। चिड़िया। (२) बाण। तीर।

पत्रवाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरकारा। चिट्ठीरसाँ। (२) बाण। तीर। (३) पक्षी। चिड़िया।

पत्रवाहक–संज्ञा पुं० [सं०] पत्र ले जानेवाला। चिट्ठीरसाँ। हरकारा।

पत्रविशेषक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिलक। (२) पत्रभंग। साटी।

पत्रविष–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्रों से निकलनेवाला विष।

पत्रवृश्चिक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा उड़नेवाला कीड़ा जिसके काटने से बड़ी जलन होती है। पतबिछिया। पनबिछिया।

पत्रवेष्ट–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तरकी। ताटंक। (२) करनफूल नाम का कान में पहनने का गहना।

पत्रव्यवहार–संज्ञा पुं० [सं०] चिट्ठी लिखते और उत्तर पाते रहने की क्रिया या भाव। चिट्ठी आने जाने का क्रम। लिखा-पढ़ी। खत-किताबत। जैसे, साल भर से मैं उनसे पत्रव्यवहार कर रहा हूँ।

पत्रशवर–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक अनार्य जाति।

पत्रशाक–संज्ञा पुं० [सं०] वह पौधा जिसके पत्तों का साग बना कर खाया जाता हो। जैसे, पालक, चौलाई।

पत्रशिरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्ते की नस।

पत्रशृंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी नाम की लता।

पत्रश्रेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूसाकानी। (२) पत्तों की पंक्ति। पत्रावली।

पत्रश्रेष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पत्ता। विल्वपत्र।

पत्रसूची–संज्ञा स्त्री० [सं०] काँटा। कंटक।

पत्रांग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लालचंदन। (२) पतंग। बक्कम। (३) भोजपत्र। (४) कमलगट्टा।

पत्रा–संज्ञा पुं० [सं० पत्र] (१) तिथिपत्र। जंत्री। पंचांग। उ०–पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।–बिहारी। (२) पन्ना। वर्क। पृष्ठ। सफ़हा।

पत्राख्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेजपात। (२) तालीश पत्र।

पत्राढ्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीपलामूल। (२) पर्वततृण। (३) तृणाख्य। (४) पतंग। बक्कम। (५) नरसल। (६) तालीस पत्र।

पत्रान्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतंग। (२) लाल चंदन।

पत्रालु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कासालु। (२) इक्षुदर्भ।

पत्रावली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पत्ररचना। साटी। उ०–

रवि पत्रावलि माँग सिंदूरी। भरि मोतिन औ मानिक पूरी।—जायसी। (२) गेरू। (३) पत्रों की पंक्ति या श्रेणी।

त्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिट्ठी। खत। (२) कोई छोटा लेख या लिपि। जैसे, जन्मपत्रिका, लग्नपत्रिका आदि। (३) कोई सामयिक पत्र या पुस्तक। समाचारपत्र। अखबार। रिसाला।

त्रिकाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कपूर। पर्णकपूर। पानकपूर।

त्रिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा पत्ता। पल्लव। कोंपल।

त्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिट्ठी। खत। (२) कोई छोटा लेख या लिपिपत्रिका। जैसे, जन्मपत्री, लग्नपत्री। (३) दोना। (४) धमासा। हिंगुवा। जवसा। (५) खैर का पेड़। (६) ताड़। (७) महा तेजपत्र।

वि० [सं० पत्रिन्] जिसमें पत्ते हों। पत्रयुक्त। पत्रविशिष्ट।

संज्ञा पुं० (१) बाण। तीर। (२) पक्षी। चिड़िया। (३) श्येन। बाज। (४) वृक्ष। पेड़। (५) रथी। (६) पर्वत। पहाड़। (७) ताड़।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्तर] हाथ में पहनने का जहाँगीरी नाम का गहना।

ोपस्कर-संज्ञा पुं० [सं०] कसौंदी।

ोर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा।

थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्ग। रास्ता। राह। (२) व्यवहार या कार्य्य आदि की रीति। विधान। उ०—व्यास सुमन पथ अनुसरै सोई भले पहिचानिहै।—नाभादास।

संज्ञा पुं० [सं० पथ्य] रोग के लिये उपयुक्त हलका आहार। पथ्य। जूस। उ०—मोहन जौ दृग जिहि मतन उझकाई दै जाय। ज्यौं थोरौ पथ देत हैं वैद रोगियै आय।—रसनिधि।

थक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पथ जानने या बतलानेवाला। (२) प्रांत।

थकल्पना-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजाल। जादू का खेल।

थगामी-संज्ञा पुं० [सं० पथगामिन्] रास्ता चलनेवाला। पथिक।

थचारी-संज्ञा पुं० [सं० पथचारिन्] रास्ता चलनेवाला।

थदर्शक-संज्ञा पुं० [सं०] राह दिखानेवाला। रास्ता बतलानेवाला।

थनार-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाथना] (१) गोबर के उपले बनाना या थापना। पाथना। (२) पीटने या मारने की क्रिया।

थप्रदर्शक-संज्ञा पुं० [सं०] मार्गदर्शक। रास्ता दिखानेवाला।

थरकला-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर या पथरी + कल] एक प्रकार की बंदूक या कड़ाबीन जो चकमक पत्थर के द्वारा अग्नि उत्पन्न करके चलाई जाती थी। वह बंदूक जिसकी कल वा घोड़े में पथरी लगी रहती हो। इस प्रकार की बंदूक का व्यवहार पहले होता था।

पथरचटा-संज्ञा पुं० [हिं० पत्थर + चाटना] (१) पाषाणभेद या पखानभेद नाम की ओषधि। (२) एक प्रकार की छोटी मछली जो भारत और लंका की नदियों में पाई जाती है। इसकी लंबाई प्रायः एक बालिश्त होती है।

पथरना†-क्रि० स० [हिं० पत्थर + ना (प्रत्य०)] औज़ारों को पत्थर पर रगड़कर तेज करना।

पथराना-क्रि० अ० [हिं० पत्थर + आना (प्रत्य०)] (१) सूखकर पत्थर की तरह कड़ा हो जाना। (२) ताज़गी न रहना। नीरस और कठोर हो जाना। (३) स्तब्ध हो जाना। जड़ हो जाना। सजीव न रहना। जैसे, आँखें पथराना।

पथरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थर + ई (प्रत्य०)] (१) कटोरे या कटोरी के आकार का पत्थर का बना हुआ कोई पात्र। (२) एक प्रकार का रोग जिसमें मूत्राशय में पत्थर के छोटे बड़े कई टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं। ये टुकड़े मूत्रोत्सर्ग में बाधक होते हैं जिसके कारण बहुत पीड़ा होती है और मूत्रेंद्रिय में कभी कभी घाव भी हो जाता है। मूत्राशय के अतिरिक्त यह रोग कभी कभी गले, फेफड़े और गुरदे में भी होता है। (३) चकमक पत्थर जिस पर चोट पड़ने से तुरंत आग निकल आती है। (४) पत्थर का वह टुकड़ा जिस पर रगड़कर उस्तरे आदि की धार तेज करते हैं। सिल्ली। (५) कुरंड पत्थर जिसके चूर्ण को लाख आदि में मिलाकर औजार तेज करने की सान बनाते हैं। (६) पक्षियों के पेट का वह पिछला भाग जिसमें अनाज आदि के बहुत कड़े दाने जाकर पचते हैं। पेट का यह भाग बहुत ही कड़ा होता है। (७) एक प्रकार की मछली। (८) जायफल की जाति का एक वृक्ष जो कोंकण और उसके दक्षिणी प्रांत के जंगलों में होता है। इस वृक्ष की लकड़ी साधारण कड़ी होती है और इमारत बनाने के काम में आती है। इसमें जायफल से मिलते जुलते फल लगते हैं जिन्हें उबालने या पेरने से पीले रंग का तेल निकलता है। यह तेल औषध के काम में भी आता है और जलाने के काम में भी।

पथरीला-वि० [हिं० पत्थर + ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० पथरीली] पत्थरों से युक्त। जिसमें पत्थर हों। जैसे, पथरीली जमीन।

पथरौटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पत्थर + औटी (प्रत्य०)] पत्थर की कटोरी। पथरी। कूँड़ी।

पथरौड़ा†-संज्ञा पुं० दे० "पथौरा"।

पथिक-संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग चलनेवाला। यात्री। मुसाफिर। राहगीर।

पथिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुनक्का।

पथिकाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] पथिकों के रहने का स्थान। धर्मशाला।

पथिचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में एक चक्र जिससे यात्रा का शुभ और अशुभ फल जाना जाता है।

पथिदेय–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर जो किसी विशिष्ट पथ पर चलनेवालों से लिया जाता है।

पथिद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

पथी–संज्ञा पुं० [सं० पथिन्] रास्ता चलनेवाला। मुसाफिर। यात्री। पथिक।

पथीय–वि० [सं०] (१) पथ-संबंधी। (२) संप्रदाय-संबंधी।

पथु*†–संज्ञा पुं० [सं० पथ] पथ। मार्ग। रास्ता। राह। उ०— बिधि करतब विपरीत वाम गति राम प्रेम पथु न्यारो।—तुलसी।

पथेरा–संज्ञा पुं० [हिं० पाथना + एरा (प्रत्य०)] ईंटें पाथनेवाला, कुम्हार।

पथौरा–संज्ञा पुं० [हिं० पाथना + औरा (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ उपले पाथे जाते हों। गोबर पाथने की जगह।

पथ्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिकित्सा के कार्य्य अथवा रोगी के लिये हितकर वस्तु, विशेषतः आहार। वह हलका और जल्दी पचनेवाला खाना जो रोगी के लिये लाभदायक हो। उपयुक्त आहार। उचित आहार।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मुहा०—पथ्य से रहना = संयम से रहना। परहेज से रहना।

(२) सेंधा नमक। (३) छोटी हड़ का पेड़। (४) हित। मंगल। कल्याण।

पथ्यका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

पथ्यशाक–संज्ञा पुं० [सं०] चौई का साग।

पथ्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी। हड़। (२) बनककोड़ा। (३) आर्य्या छंद का एक भेद जिसके और कई अवांतर भेद हैं। (४) सैंधनी। (५) चिर्भिटा। (६) गंगा।

पथ्यादि क्वाथ–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का पाचक काढ़ा जो त्रिफला, गुडुच, हलदी, चिरायते और नीम आदि को उबालकर बनाया जाता है।

पथ्यापंक्ति–संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पदों का एक प्रकार का वैदिक छंद जिसके प्रत्येक पाद में आठ आठ वर्ण होते हैं।

पद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यवसाय। काम। (२) त्राण। रक्षा। (३) योग्यता के अनुसार नियत स्थान। दर्जा। (४) चिह्न। निशान। (५) पैर। पाँव। (६) वस्तु। चीज। (७) शब्द। (८) प्रदेश। (९) पैर का निशान। (१०) श्लोक वा किसी छंद का चतुर्थांश। श्लोकपाद। (११) उपाधि। (१२) मोक्ष। निर्वाण। (१३) ईश्वरभक्ति संबंधी गीत। भजन। (१४) पुराणानुसार दान के लिये, जूते, छाते, कपड़े, अँगूठी, कमंडलु, आसन, बरतन और भोजन का समूह। जैसे, ५ ब्राह्मणों को पददान मिला है।

पदक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि का नाम। (२) एक प्रकार का गहना जिसमें किसी देवता के पैरों के चिह्न अंकित होते हैं, और जो प्रायः बालकों को रक्षा के लिये पहनाया जाता है। (३) पूजन आदि के लिये किसी देवता के पैरों के बनाए हुए चिह्न। (४) वह जो वेदों का पदपाठ करने में प्रवीण हो। (५) सोने चाँदी या किसी और धातु का बना हुआ सिक्के की तरह का गोल या चौकोर टुकड़ा जो किसी व्यक्ति अथवा जनसमूह को कोई विशेष अच्छा या अद्भुत कार्य्य करने के उपलक्ष में दिया जाता है। इस पर प्रायः दाता और गृहीता का नाम तथा दिए जाने का कारण और समय आदि अंकित रहता है। यह प्रशंसासूचक और योग्यता का परिचायक होता है।

पदग–संज्ञा पुं० [सं०] पैदल चलनेवाला। प्यादा।

पदचतुरर्द्ध–संज्ञा पुं० [सं०] विषम वृत्तों का एक भेद जिसके प्रथम चरण में ८, दूसरे में १२, तीसरे में १६ और चौथे में २० वर्ण होते हैं। इसमें गुरु लघु का नियम नहीं होता। इसके अपीड़, प्रत्यापीड़, मंजरी, लवली और अमृतधारा ये पाँच अवांतर भेद होते हैं।

पदचर–संज्ञा पुं० [सं०] पैदल। प्यादा।

पदचारी–वि० [सं०] पैदल चलनेवाला।

पदचिह्न–संज्ञा पुं० [सं०] वह चिह्न जो चलने के समय पैरों से जमीन पर बन जाता है।

पदच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] संधि और समासयुक्त किसी वाक्य के प्रत्येक पद को व्याकरण के नियमों के अनुसार अलग अलग करने की क्रिया।

पदच्युत–वि० [सं०] जो अपने पद या स्थान से हट गया हो। अपने स्थान से हटा या गिरा हुआ। जैसे, किसी राजकर्मचारी का पदच्युत होना।

पदच्युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपने पद से हटने या गिरने की अवस्था।

पदज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर की उँगलियाँ। (२) शूद्र।
वि० [सं०] जो पैर से उत्पन्न हो।

पदतल–संज्ञा पुं० [सं०] पैर का तलवा।

पदत्याग–संज्ञा पुं० [सं०] अपने पद या ओहदे को छोड़ने की क्रिया।

पदत्राण–संज्ञा पुं० [सं०] पैरों की रक्षा करनेवाला, जूता।

पदत्रान–संज्ञा पुं० दे० "पदत्राण"।

पदत्री–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षी। चिड़िया। (अनेकार्थ)।

पददलित–वि० [सं०] (१) पैरों से रौंदा हुआ। पैरों से कुचला हुआ। (२) जो दबाकर बहुत हीन कर दिया गया हो।

पददारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बिवाई नाम का पैर का रोग।

पदन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर रखना। चलना। गमन

करना। कदम रखना। उ०—मृदु पदन्यास मंद मलया-निल विगलत शीश निचोल।—सूर। (२) पैर रखने की एक मुद्रा। (३) चलन। ढंग। (४) पद रचने का काम। (५) गोखरू।

पदपंक्ति-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसके पाँच पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में पाँच वर्ण होते हैं।

पदपलटी-संज्ञा स्त्री० [सं० पद + हिं० पलटना] एक प्रकार का नाच।

पदम-संज्ञा पुं० दे० "पद्म"।

संज्ञा पुं० [सं० पद्मकाष्ठ] बादाम की जाति का एक जंगली पेड़ जो सिंधु से आसाम तक २५०० से ७००० फुट की ऊँचाई तक तथा खासिया की पहाड़ियों और उत्तर बरमा में अधिकता से पाया जाता है। कहीं कहीं यह पेड़ लगाया भी जाता है। इसमें बहुत अधिक गोंद निकलता है जो किसी काम में नहीं लाया जाता। इसमें एक प्रकार का फल होता है जिसमें से कड़ुए बादाम के तेल की तरह का तेल निकलता है। इन फलों को लोग कहीं कहीं खाते और कहीं फकीर लोग उनकी मालाएँ बनाकर गले में पहनते हैं। यह फल शराब बनाने के लिये विलायत भी भेजा जाता है। इस वृक्ष की लकड़ी छड़ियाँ और आरायशी सामान बनाने के काम में आती है। कहते हैं कि गर्भ न रहता हो तो इसकी लकड़ी घिसकर पीने से गर्भ रह जाता है और यदि गर्भ गिर जाता है तो स्थिर हो जाता है। वैद्यक के अनुसार इसकी लकड़ी ठंढी, कड़वी, कसैली, हलकी, वादी, रक्तपित्त-नाशक, दाह, ज्वर, कोढ़ और विस्फोटक आदि को दूर करने-वाली और रुचिकारक मानी गई है। अमलगुच्छ। पद्माख।

पर्य्या०-पद्मक। मलय। पीतरक्त। सुप्रभ। पीतक। शीतल। हिम। शुभ। केदारज। पद्मगंधि। शीतवीर्य्य।

पदमकाठ-संज्ञा पुं० दे० "पदम"।

पदमचल-संज्ञा पुं० [देश०] रेवंद चीनी।

पदमण-संज्ञा स्त्री० [सं० पद्मिनी] स्त्री। (डिं०)

पदमनाभ-संज्ञा पुं० [सं० पद्मनाभ] (१) विष्णु। (२) सूर्य्य। (डिं०)

पदमाकर-संज्ञा पुं० [सं० पद्माकर] तालाब। (डिं०)

पदमूल-संज्ञा पुं० [सं०] पैर का तलवा।

पदमैत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कविता में एक ही शब्द या अक्षर का इस प्रकार बार बार आना जिसमें उसमें एक प्रकार का चमत्कार आ जाय। अनुप्रास। वर्णमैत्री। वर्णसाम्य। जैसे, मल्लिकान मंजुल मलिंद मतवारे मिले मंद मंद मारुत सुहीम मनसा की है।

पदम्मी-संज्ञा पुं० [सं० पद्मी] हाथी (डिं०)

पदयोजना-संज्ञा स्त्री० [सं०] कविता के लिये पदों का जोड़ना। पद बनाने के लिये शब्दों को मिलाना।

पदर-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का पेड़। (२) ड्योढ़ी-दारों के बैठने का स्थान। (डिं०)

पदरिपु-संज्ञा पुं० [सं० पद + रिपु] कंटक। काँटा। उ०—पदरिपु पर अटक्यो आतुर ज्यों उलटत पलट मरी।—सूर।

पदवाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल।

पदवाना-क्रि० स० [हिं० पदाना का प्रे०] 'पदाना' का प्रेरणार्थक रूप। पदाने का काम दूसरे से कराना।

पदवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंथ। रास्ता। (२) पद्धति। परिपाटी। तरीका। (३) वह प्रतिष्ठा या मानसूचक पद जो राज्य अथवा किसी संस्था आदि की ओर से किसी योग्य व्यक्ति को मिलता है। उपाधि। खिताब। जैसे, राजा, राय बहादुर, डाक्टर, महामहोपाध्याय आदि।

विशेष—पदवी नाम के पहले अथवा पीछे लगाई जाती है।

(४) ओहदा। दरजा।

पदस्थ-वि० [सं०] (१) जो अपने पैरों के बल खड़ा हो। (२) जो पैरों के बल चल रहा हो। (३) जो किसी पद पर नियुक्त हो।

पदांक-संज्ञा पुं० [सं०] पैरों का चिह्न जो प्रायः चलने के कारण बालू या कीचड़ आदि पर बन जाता है।

पदांगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग का लजालू।

पदात*†-संज्ञा पुं० दे० "पदाति"।

पदाति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पैदल चलता हो। प्यादा। (२) पैदल सिपाही। (३) नौकर। सेवक। (४) जनमेजय के एक पुत्र का नाम।

पदातिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पैदल चलता है। (२) पैदल सिपाही।

पदादिका-संज्ञा पुं० [सं० पदातिक] पैदल सेना। उ०—प्रभु-कर सेन पदादिका बालक राजसमाज।—तुलसी।

पदाधिकारी-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी पद पर नियुक्त हो। ओहदेदार। अफसर।

पदाध्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] पद-पाठ के अनुसार वेद का पठन।

पदाना-क्रि० स० [हिं० पादना का प्रे०] (१) पादने का काम दूसरे से कराना। (२) बहुत अधिक दिक करना। तंग करना। छकाना। जैसे, क्यों उसे बार बार पदाते हो।

पदानुग-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी का अनुगमन करता हो। अनुकरण करनेवाला। अनुयायी।

पदार-संज्ञा पुं० [सं०] पैरों की धूल। उ०—आरद होत पहार द पारस पारद पुण्य पदारन हूँ में।—देव।

पदार्घ्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जो किसी अतिथि या पूज्य को पैर धोने के लिये दिया जाय।

पदार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद का अर्थ। शब्द का विषय।

वह जिसका कोई नाम हो और जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सके। (२) उन विषयों में कोई विषय जिनका किसी दर्शन में प्रतिपादन हो और जिनके संबंध में यह माना जाता हो कि उनके ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेष—वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ हैं और इन्हीं छः पदार्थों का उसमें निरूपण है। कुल चीजें इन्हीं छः पदार्थों के अंतर्गत मानी गई हैं। ये छः "भाव" पदार्थ हैं और "भाव" की विद्यमानता में "अभाव" का होना भी स्वाभाविक है। अतः नवीन वैशेषिकों ने इन सब पदार्थों के विपरीत एक नया और सातवाँ पदार्थ "अभाव" भी मान लिया है। इसके अतिरिक्त कुछ और लोगों ने "तम" अथवा अंधकार को भी एक पदार्थ माना है। परंतु अंधकार वास्तव में प्रकाश का अभाव ही होता है, इसलिये स्वयं अंधकार कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हो सकता। विशेष—दे० "वैशेषिक"। गौतम के न्यायसूत्र में सोलह पदार्थ कहे गए हैं जिनके नाम ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। नैयायिकों के अनुसार विचार के जितने विषय हैं वे सब इन्हीं सोलह पदार्थों के अंतर्गत हैं। विशेष—दे० "न्याय"। सांख्यदर्शन में संख्या में, पुरुष, प्रकृति और महत् आदि उसके विकारों को लेकर २५ पदार्थ हैं। दे० "सांख्य"। वेदांत दर्शन के अनुसार आत्मा और अनात्मा केवल येही दो पदार्थ हैं। दे० "वेदांत"। इसके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानों और सांप्रदायिकों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अलग अलग पदार्थ माने हैं। जैसे, रामानुजाचार्य के मत से चित्, अचित् और ईश्वर, शैव दर्शन के अनुसार पति, पशु और पाश (यहाँ पति का तात्पर्य शिव, पशु का जीवात्मा और पाश का मल, कर्म्म, माया और रोध शक्ति है।)। जैन दर्शनों में भी पदार्थ माने गए हैं परन्तु उनकी संख्या आदि के संबंध में बहुत मतभेद हैं। कोई दो पदार्थ मानता है, कोई तीन, कोई पाँच, कोई सात और कोई नौ।

(३) पुराणानुसार धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष। (४) वैद्यक में भावप्रकाश के अनुसार रस, गुण, वीर्य्य, विपाक और शक्ति। (५) चीज। वस्तु।

पदार्थवाद-संज्ञा पुं० [सं०] वह वाद या सिद्धांत जिसमें पदार्थ, विशेषतः भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ माना जाता हो और आत्मा अथवा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार न होता हो।

पदार्थवादी-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आत्मा या ईश्वर आदि का अस्तित्व न मानकर केवल भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मानता हो।

पदार्थविज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या जिसके द्वारा भौतिक पदार्थों और व्यापारों का ज्ञान हो। विज्ञानशास्त्र।

पदार्थविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसमें विशिष्ट संज्ञाओं द्वारा सूचित पदार्थों का तत्त्व बतलाया गया हो। जैसे, वैशेषिक।

पदार्पण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान में पैर रखने या जाने की क्रिया। (इस शब्द का प्रयोग प्रायः प्रतिष्ठित व्यक्तियों के संबंध में ही होता है। जैसे, श्रीमान् के पदार्पण करते ही सब लोग उठ खड़े हुए)।

पदावनत-वि० [सं०] (१) जो पैरों पर झुका हो। (२) जो प्रणाम कर रहा हो। (३) नम्र। विनीत।

पदावली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वाक्यों की श्रेणी। (२) भजनों का संग्रह।

पदाश्रित-वि० [सं०] (१) जिसने पैरों में आश्रय लिया हो। शरण में आया हुआ। (२) जो आश्रय में रहता हो।

पदास-संज्ञा स्त्री० [हिं० पादना + आस (प्रत्य०)] (१) पादने का भाव। (२) पादने की प्रवृत्ति।

पदासा-संज्ञा पुं० [हिं० पदास] जिसकी पादने की इच्छा या प्रवृत्ति हो।

पदिक-संज्ञा पुं० पैदल सेना।

* † संज्ञा पुं० [सं० पदक] (१) गले में पहनने का वह गहना जिस पर किसी देवता आदि के चरण अंकित हों। (२) जुगनू नाम का गले में पहनने का गहना। (३) हीरा। (४) रत्न।

यौ०—पदिकहार = रत्नहार। मणिमाल।

(५) दे० "पदक"।

पदी*-संज्ञा पुं० [सं० पद] पैदल। पदाति। प्यादा।

पदु*-संज्ञा पुं० दे० "पद"।

पदुम-संज्ञा पुं० [सं० पद्म] (१) घोड़ों का एक चिह्न या लक्षण जो मोरवों के पास होता है। भारतवासी इसे दोष नहीं मानते, पर ईरान के लोग इसे दोष मानते हैं। (२) दे० "पद्म"।

पदुमिनी-संज्ञा स्त्री० दे० "पद्मिनी"।

पदोड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पाद+ओड़ा (प्रत्य०)] (१) जो बहुत पादता हो। अधिक पादनेवाला। (२) कायर। डरपोक। (क्व०)

पदोदक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिससे पैर धोया गया हो। (२) चरणामृत।

पदौक-संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो बरमा में अधिकता से होता है। इसकी लकड़ी मजबूत और कुछ लाली लिए सफेद रंग की होती है।

पद्दू†-संज्ञा पुं० दे० "पदोड़ा"।

पद्धटिका–संज्ञा पुं० [सं०] एक मातृक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है। जैसे, श्रीकृष्णचंद्र अरबिंद नैन। धरि अधर बजावत मधुर बैन। (इसी को 'पद्धरि' वा 'पज्झटिका' भी कहते हैं)।

पद्धड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पद्धटिका"।

पद्धति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राह। पथ। मार्ग। सड़क। (२) पंक्ति। कतार। (३) रीति। रस्म। रिवाज। परिपाटी। चाल। (४) वह पुस्तक जिसमें किसी प्रकार की प्रथा या कार्य्यप्रणाली लिखी हो। कर्म या संस्कार विधि की पोथी। जैसे, विवाह पद्धति। (५) वह पुस्तक जिसमें किसी दूसरी पुस्तक का अर्थ या तात्पर्य्य समझा जाय। (६) ढंग। तरीका। (७) कार्य प्रणाली। विधि विधान।

पद्धरि, पद्धरी–संज्ञा पुं० दे० "पद्धटिका"।

पद्धीं–संज्ञा स्त्री० [देश०] खेल में किसी लड़के का, जीतने पर, दाँव लेने के लिये, हारनेवाले लड़के की पीठ पर चढ़ना। क्रि० प्र०—देना।—लेना।

पद्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का फूल या पौधा। (२) सामुद्रिक के अनुसार पैर में का एक विशेष आकार का चिह्न जो भाग्यसूचक माना जाता है। (३) किसी स्तंभ के सातवें भाग का नाम। (वास्तुविद्या)। (४) विष्णु के एक आयुध का नाम। (५) कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि। (६) गले में पहनने का एक प्रकार का गहना। (७) शरीर पर का सफेद दाग। (८) हाथी के मस्तक या सूँड़ पर बने हुए चित्रविचित्र चिह्न। (९) पदम या पदमाख वृक्ष। (१०) साँप के फन पर बने हुए चित्र विचित्र चिह्न। (११) एक ही कुरसी पर बना हुआ, एक ही शिखर का आठ हाथ चौड़ा घर। (वास्तुविद्या)। (१२) एक नाग का नाम। (१३) सीसा। (१४) पुष्करमूल। (१५) गणित में सोलहवें स्थान की संख्या (१०० नील) जो इस प्रकार लिखी जाती है–१००००००००००००००००। (१६) बौद्धों के अनुसार एक नक्षत्र का नाम। (१७) पुराणानुसार एक कल्प का नाम। (१८) तंत्र के अनुसार शरीर के भीतरी भाग का एक कल्पित कमल जो सोने के रंग का और बहुत ही प्रकाशमान माना जाता है। (१९) सोलह प्रकार के रतिबंधों में से एक। (२०) बलदेव का एक नाम। (२१) पुराणानुसार एक नरक का नाम। (२२) एक प्राचीन नगर का नाम। (२३) पुराणानुसार जंबू द्वीप के दक्षिण-पश्चिम का एक देश। (२४) कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२५) जैनों के अनुसार भारत के नवें चक्रवर्ती का नाम। (२६) एक पुराण का नाम। दे० "पुराण"। (२७) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण, एक सगण और अंत में लघु-गुरु होते हैं। जैसे–कब पहुँचे सद्म री। लखहुँ पद पद्म री। (२८) दे० "पद्मव्यूह"। (२९) दे०"पद्मासन"। (३०) दे० "पद्मा" (नदी)।

पद्मक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पदम या पदमकाठ नाम का पेड़। (२) सेना का पद्मव्यूह। (३) सफेद कोढ़। (४) कुट नाम की ओषधि।

पद्मकंद–संज्ञा पुं० [सं०] कमल की जड़। मुरार। भिस्सा भसीड़।

पद्मकाह्वय–संज्ञा पुं० [सं०] पद्माख या पदम नाम का वृक्ष।

पद्मकिंजल्क–संज्ञा पुं० [सं०] कमल का केसर।

पद्मकी–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का पेड़।

पद्मकीट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जहरीला कीड़ा।

पद्मकेतन–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार गरुड़ के एक पुत्र का नाम।

पद्मकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक पुच्छल तारा जो मृणाल के आकार का होता है। यह केतु पश्चिम की ओर एक ही रात भर दिखलाई पड़ता है।

पद्मकोश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का संपुट। (२) कमल के बीच का छत्ता जिसमें बीज होते हैं।

पद्मक्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] उड़ीसा प्रांत के एक तीर्थ का नाम।

पद्मगंधि–संज्ञा पुं० [सं०] पद्माख या पदम नाम का वृक्ष।

पद्मगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का भीतरी भाग। (२) ब्रह्मा। (३) सूर्य। (४) बुद्ध। (५) एक बोधिसत्व।

पद्मगृहा--संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मी का एक नाम।

पद्मचारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गेंदा। (२) शमीवृक्ष। (३) हल्दी। (४) लाख।

पद्मज–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पद्मतंतु–संज्ञा पुं० [सं०] कमल की नाल।

पद्मदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] लोहबान।

पद्मनाभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु के फेंके हुए अस्त्र को निष्फल करने का एक मंत्र या युक्ति। (२) विष्णु। (३) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) जैनों के अनुसार भावी उत्सर्पिणी के पहले अर्हत का नाम।

पद्मनाभि–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पद्मनिधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुबेर की नौ निधियों में से एक निधि का नाम।

पद्मनेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पक्षी। (२) बौद्धों के अनुसार एक बुद्ध का नाम जिनका अवतार अभी होने को है।

पद्मपत्र, पद्मपर्णी–संज्ञा पुं० [सं०] पुहकरमूल। पुष्करमूल।

पद्मपाणि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) बुद्ध की एक विशेष मूर्ति। (३) एक बोधिसत्व जो अमिताभ बुद्ध के दैवपुत्र

कहे गए हैं । इनकी उपासना नैपाल, तिब्बत चीन आदि देशों में होती है । (४) सूर्य ।

पद्मपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर का पेड़ । (२) एक प्रकार का पक्षी ।

पद्मप्रभ–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बौद्ध का नाम जिनका अवतार अभी होने को है ।

पद्मबंध–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चित्रकाव्य जिसमें अक्षरों को ऐसे क्रम से लिखते हैं जिससे एक पद्म या कमल का आकार बन जाता है ।

पद्मभास–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पद्मभू–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

पद्ममाली–संज्ञा पुं० [सं० पद्ममालिन्] एक राक्षस का नाम ।

पद्ममुखी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुरालभा या धमासा नामक कटीला पौधा ।

पद्ममुद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की पूजा में एक मुद्रा जिसमें दोनों हथेलियों को सामने करके उँगलियाँ नीचे रखते हैं और अँगूठे मिला देते हैं ।

पद्मयोनि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) बुद्ध का एक नाम ।

पद्मराग–संज्ञा पुं० [सं०] मानिक या लाल नामक रत्न ।

पद्मरेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सामुद्रिक के अनुसार हथेली की एक प्रकार की प्राकृतिक रेखा जो बहुत भाग्यवान् होने का लक्षण मानी जाती है ।

पद्मलांछन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) कुबेर । (३) सूर्य्य ।

पद्मलांछना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती का एक नाम । (२) तारा का एक नाम ।

पद्मवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार यदु के एक पुत्र का नाम ।

पद्मवर्णक–संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल ।

पद्मवीज–संज्ञा पुं० [सं०] कमलगट्टा ।

पद्मवीजाभ–संज्ञा पुं० [सं०] मखाना ।

पद्मवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] पदमकाठ । पदम । पद्माख ।

पद्मव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल में युद्ध के समय किसी वस्तु या व्यक्ति की रक्षा के लिये सेना को रखने की एक विशेष स्थिति जिसमें सारी सेना कमल के आकार की हो जाती थी । (२) एक प्रकार की समाधि ।

पद्मश्री–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

पद्मस्नुषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा का एक नाम । (२) दुर्गा का एक नाम ।

पद्मस्वस्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्वस्तिक चिह्न जिसमें कमल भी बना हो ।

पद्महस्त–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की लंबाई नापने की एक प्रकार की नाप ।

पद्महास–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पद्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । (२) बंगाल में बहनेवाली गंगा की पूर्वी शाखा । (३) भादों सुदी एकादशी तिथि । (४) गेंदे का वृक्ष । (५) कुसुम का फूल । (६) लौंग । (७) मनसा देवी का एक नाम । (८) बृहद्रथ की कन्या का नाम जो कल्कि देव के साथ ब्याही गई थी । (९) पद्मचारिणी लता ।

पद्माकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा तालाब वा झील जिसमें कमल पैदा होते हों । (२) हिंदी के एक प्रसिद्ध कवि का नाम । विशेष–दे० "जीवनीकोश" ।

पद्माक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमलगट्टा । कमल के बीज । (२) विष्णु ।

पद्माख–संज्ञा पुं० [सं० पद्मकाष्ठ] पदुमकाठ या पदम नामक वृक्ष । विशेष–दे० "पदम" ।

पद्माचल–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम ।

पद्माट–संज्ञा पुं० [सं०] चकवँड़ ।

पद्माधीश–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पद्मालय–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

पद्मालया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी । (२) लौंग ।

पद्मावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटना नगर का प्राचीन नाम । (२) पन्ना नगर का प्राचीन नाम । (३) उज्जयिनी का एक प्राचीन नाम । (४) एक मात्रिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में १०,८ और १४ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं और अंत में दो गुरु होते हैं । जैसे, यद्यपि जगकर्ता पालक हर्ता परिपूरण वेदन गाए । अति तदपि कृपा करि मानुष वपु धरि थल पूँछन हम सों आए ।—केशव । (५) गेंदे का वृक्ष । (६) लक्ष्मी, (जरत्कारु ऋषि की स्त्री का नाम) । (७) मनसा देवी का एक नाम । (८) पुराणानुसार स्वर्ग की एक अप्सरा का नाम । (९) पुराणानुसार राजा शृगाल की स्त्री का नाम । (१०) युधिष्ठिर की एक रानी का नाम । (११) प्राचीन काल की एक नदी का नाम । (१२) लोकप्रचलित कथा के अनुसार सिंहल की एक राजकुमारी जिसे चित्तौर के राजा रत्नसेन ब्याहे थे । चित्तौर की रानी पद्मिनी का सिंहल से कोई संबंध नहीं था, और न उसके पति का नाम रत्नसेन था जैसा कि जायसी ने लिखा है ।

पद्मासन--संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगसाधन का एक आसन जिसमें पालथी मारकर सीधे बैठते हैं । (२) वह जो इस आसन में बैठा हो । (३) स्त्री के साथ प्रसंग करने का एक आसन । (४) ब्रह्मा । उ०—स्वास उदर उलसति यों मानो दुग्ध सिंधु छवि पावै । नाभि सरोज प्रकट पदमासन उतरि नाल पछितावै । (५) शिव । (६) सूर्य्य ।

पद्मासनडंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का डंड (कसरत) जो पालथी मारकर और घुटने जमीन पर टेककर किया जाता है। इससे दम सधता है और घुटने मजबूत होते हैं।

पद्माह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गेंदा।

पद्मिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी। छोटा कमल। यौ०-पद्मिनीवल्लभ = सूर्य्य। ("पद्मिनी" शब्द में पतिवाची शब्द लगाने से उसका अर्थ "सूर्य्य" होता है)। (२) वह तालाब या जलाशय जिसमें कमल हों। (३) कोकशास्त्र के अनुसार स्त्रियों की चार जातियों में से सर्वोत्तम जाति। कहते हैं कि इस जाति की स्त्री अत्यंत, कोमलांगी, सुशीला, रूपवती और पतिव्रता होती है। (४) मादा हाथी। हथिनी। (५) चित्तौर की इतिहास-प्रसिद्ध रानी।

पद्मिनीकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का क्षुद्र रोग जो कुष्ट के अंतर्गत माना जाता है। इसमें दानेदार चकत्ते पड़ जाते हैं।

पद्मी-संज्ञा पुं० [सं० पद्मिन] (१) पद्मयुक्त देश। (२) पद्मधारी, विष्णु। (३) पद्मसमूह। (४) बौद्धों के अनुसार एक लोक का नाम। (५) उक्त लोक में रहनेवाले एक बुद्ध का नाम जिनका अवतार अभी इस संसार में होने को है।

पद्मेशय-संज्ञा पुं० [सं०] पद्मों पर सोनेवाले, विष्णु।

पद्मोत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुसुम। (२) एक बुद्ध का नाम

पद्मोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

पद्मोद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मनसा देवी का एक नाम।

पद्य-वि० [सं०] (१) पद या पैर संबंधी। जिसका संबंध पैरों से हो। (२) जिसमें कविता के पद या चरण हों।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिंगल के नियमों के अनुसार नियमित मात्रा वा वर्ण का चार चरणोंवाला छंद। कविता। गद्य का उलटा। (२) शूद्र जिनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के चरणों से मानी जाती है। (३) शठता।

पद्यात्मक-वि० [सं०] जो पद्यमय हो। जो छंदोबद्ध हो।

पधरना-क्रि० अ० [हिं० पधारना] किसी बड़े, प्रतिष्ठित या पूज्य का आगमन। आना। उ०—लाख भिलाषन साथ लिए जसवंत तहाँ पधरे गिरधारी।—जसवंत।

पधराना-क्रि० स० [सं० प्र + धारण] (१) आदरपूर्वक ले जाना। इज्जत से बैठाना। (२) प्रतिष्ठित करना। स्थापित करना।

पधरावनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पधराना] (१) किसी देवता की स्थापना। (२) किसी को आदरपूर्वक ले जाकर बैठाने की क्रिया या भाव। पधराने की क्रिया।

पधारना-क्रि० अ० [हिं० पग + धारना] (१) जाना। चला जाना। गमन करना। उ०—हाय! इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम देखन न पाई वह मूरति सुधामई।—द्विजदेव। (२) आ पहुँचना। आना। उ०—भले पधारे पाहुने ह्वै गुडहल के फूल।—बिहारी। (३) गमन करना। चलना।

क्रि० स० आदरपूर्वक बैठाना। पधराना। प्रतिष्ठित करना। उ०—(क) तिल पिंडिन में हरिहि पधारै। विविध भाँति पूजा अनुसारै।—रघुनाथ। (ख) एक दिन स्वप्न ही में कह्यो भगवान हम कूप परे हम को पधारिए निकास कै।—रघुराज।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल बड़े या प्रतिष्ठित के आने अथवा जाने के संबंध में आदरार्थ होता है।

पनंग-संज्ञा पुं० [सं० पन्नग] सर्प। साँप। (डिं०)

पन-संज्ञा पुं० [सं० पण वा० सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पइण्णा] प्रतिज्ञा। संकल्प। अहद।

संज्ञा पुं० [सं० पर्वन् = विशेष अवस्था] आयु के चार भागों में से एक। (साधारणतः लोग आयु के चार भाग अथवा अवस्थाएँ मानते हैं। पहली बाल्यावस्था, दूसरी युवावस्था, तीसरी प्रौढ़ावस्था और चौथी वृद्धावस्था)। उ०—सत्त कहहिं अस नीति दशानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन।—तुलसी।

प्रत्य० जिसे नामवाचक या गुणवाचक संज्ञाओं में लगाकर भाववाचक संज्ञा बनाते हैं। जैसे, लड़कपन, छिछोरापन।

पनकटा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + काटना] वह मनुष्य जो खेतों में इधर उधर पानी ले जाता या सींचता हो।

पनकपड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + कपड़ा] वह गीला कपड़ा जो शरीर के किसी अंग पर चोट लगने या कटने या छिलने आदि पर बाँधा जाता है।

पनकाल-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + काल या अकाल] वह अकाल जो अतिवर्षा के कारण हो।

पनकुकड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पनकौवा"।

पनकुट्टी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + कूटना] वह छोटा खरल जिसमें प्रायः वृद्ध या टूटे हुए दाँतवाले लोग खाने के लिये पान कूटते हैं।

पनकौवा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + कौवा] एक प्रकार का जल-पक्षी। जलकौवा। विशेष—दे० "जलकौवा"।

पनखट-संज्ञा पुं० [हिं० पनहा + काठ] जुलाहों की वह लचीली धुनकी जिस पर उनके सामने बुना हुआ कपड़ा फैला रहता है।

पनगाचा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + गाछी (बाग)] पानी से भरा या सींचा हुआ खेत।

पनगोटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + गोटी] मोतिया शीतला।

पनघट-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + घाट] पानी भरने का घाट। वह घाट जहाँ से लोग पानी भरते हों। उ०—निर्दयी श्याम ने फोर दई पनघट पर मोरी गागरिया।—गीत।

पनच–संज्ञा स्त्री० [सं० पतंचिका] धनुष का रोदा या डोरी। प्रत्यंचा।

पनचक्की–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + चक्की] पानी के जोर से चलनेवाले चक्की या और कोई कल।

विशेष—प्रायः लोग नदी या नहर आदि के किनारे जहाँ पानी का वेग कुछ अधिक होता है, कोई चक्की या दूसरी कल लगा देते हैं, और उसका संबंध एक ऐसे बड़े चक्कर के साथ कर देते हैं जो बहते हुए जल में प्रायः आधा डूबा रहता है। जब बहाव के कारण वह चक्कर घूमता है तब उसके साथ संबंध करने के कारण वह चक्की या कल चलने लगती है और इस प्रकार केवल पानी के बहाव के द्वारा ही सब काम होता है।

पनची–संज्ञा स्त्री० [देश०] गेंड़ी के खेल में खेलने के लिये पतली लकड़ी या गेंड़ी।

पनचोरा–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + चोर] वह बरतन जिसका पेट चौड़ा और मुँह बहुत छोटा हो।

पनडुब्बा–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + डूबना] (१) पानी में गोता लगानेवाला। गोताखोर। (पनडुब्बे प्रायः कूएँ या तालाब में गोता लगाकर गिरी हुई चीज ढूँढ़ते अथवा समुद्र आदि में गोते लगाकर सीप और मोती आदि निकालते हैं।) (२) वह पक्षी जो पानी में गोता लगाकर मछलियाँ पकड़ता हो। (३) मुरगाबी। (४) एक प्रकार का कल्पित भूत जिसका निवास जलाशयों में माना जाता है और जिसके विषय में लोगों का यह विश्वास है कि वह नहानेवाले आदमियों को पकड़कर डुबा देता है।

पनडुब्बी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + डूबना] (१) वह जलपक्षी जो पानी में डुबकी लगाकर मछलियाँ आदि पकड़ता हो। (२) मुरगाबी। (३) एक प्रकार की नाव जो प्रायः पानी के अंदर डूबकर चलती है। इसका आविष्कार अभी हाल में पाश्चात्य देशों में हुआ है। सब-मेरीन।

पनपना–क्रि० अ० [सं० पर्ण + पर्ण = पत्ता। वा पर्णय = हरा होना] (१) पानी पाने के कारण फिर से हरा हो जाना। पुनः अंकुरित या पल्लवित होना। (२) फिर से तंदुरुस्त होना। रोगमुक्त होने के उपरांत स्वस्थ तथा हृष्ट पुष्ट होना।

पनपनाहट–संज्ञा स्त्री० [अनु०] 'पन' 'पन' होने का शब्द जो प्रायः बाण चलने के कारण होता है।

पनपाना–क्रि० स० [हिं० पनपना] पनपने का सकर्मक रूप। ऐसा कार्य करना जिससे कोई पनपे।

पनबट्टा–संज्ञा पुं० [हिं० पान + बट्टा (डिब्बा)] वह छोटा डिब्बा जिसमें पान के लगे हुए बीड़े रखे जाते हैं।

पनबिछिया, पनबिच्छी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + बीछी] पानी में रहनेवाला एक प्रकार का कीड़ा जो डंक मारता है।

पनबुड़वा†–संज्ञा पुं० दे० "पनडुब्बा"।

पनभता–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + भात] केवल पानी में उबाले हुए चावल। साधारण भात।

पनमड़िया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + माँड़ी] पतली माँड़ जो जुलाहे लोग बुनते समय टूटे तागों को जोड़ने के काम में लाते हैं।

पनलगवा, पनलगा†–संज्ञा पुं० [हिं० पानी+लगाना] वह मनुष्य जो खेत में पानी सींचता या लगाता हो। पनकटा।

पनलोहा–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + लोहा ?] एक प्रकार का जलपक्षी जो ऋतु के अनुसार रंग बदलता है।

पनव*–संज्ञा पुं० दे० "प्रणव"।

पनवाँ†–संज्ञा पुं० [हिं० पान + वाँ (प्रत्य०)] हमेल आदि में लगी हुई बीचवाली चौकी जो पान के आकार की होती है। टिकड़ा। पान।

पनवाड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + वाड़ी] वह खेत जिसमें पान पैदा होता है। बरेजा।

संज्ञा पुं० [हिं० पान + वाला] पान बेचनेवाला। तमोली।

पनवारा–संज्ञा पुं० [हिं० पान+वार (प्रत्य०)] (१) पत्तों की बनी हुई पत्तल जिस पर रखकर लोग भोजन करते हैं। उ०–अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो टारो।—तुलसी।

मुहा०—पनवारा लगाना = पत्तल पर खाना सजाना।

(२) एक पत्तल भर भोजन जो एक मनुष्य के खाने भर को हो। (३) एक प्रकार का साँप।

पनवारी–संज्ञा स्त्री० दे० "पनवाड़ी"।

संज्ञा पुं० दे० "पनवाड़ी"।

पनस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटहल का वृक्ष। (२) कटहल का फल। (३) रामदल का एक बंदर। (४) विभीषण के चार मंत्रियों में से एक।

पनसखिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + शाखा] (१) एक प्रकार का फूल। (२) इस फूल का वृक्ष।

पनसतालिका–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

पनसनालका–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

पनसल्ला†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + शाला] वह स्थान जहाँ पर राह-चलतों को पानी पिलाया जाता हो। पौसरा। पनसाल। प्याऊ।

पनसाखा–संज्ञा पुं० [हिं० पाँच + शाखा] एक प्रकार की मशाल जिसमें तीन या पाँच बत्तियाँ साथ जलती हैं।

विशेष—इसमें बाँस के एक लंबे डंडे पर लोहे का एक पंजा बँधा रहता है जिसकी पाँचों शाखाओं को कपड़ा लपेटकर और तेल से चुपड़कर मशाल की भाँति जलाते हैं।

पनसार†–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + सं० आसार = धार बाँधकर पानी

गिराना] पानी से किसी स्थान को सराबोर करने की क्रिया या भाव। भरपूर सिँचाई।

पनसारी-संज्ञा पुं० दे० "पंसारी"।

पनसाल-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + शाला] वह स्थान जहाँ सर्व साधारण को पानी पिलाया जाता है। पौसरा।

देश० (१) पानी की गहराई नापने का उपकरण। वह लकड़ी जिसमें इंच फुट आदि के सूचक अंक खुदे होते हैं और जिसको गाड़कर पानी की गहराई अथवा उसका चढ़ाव उतार देखते हैं। (२) पानी की गहराई नापने की क्रिया या भाव।

पनसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कान में होनेवाली एक प्रकार की फुंसी जो कटहल के काँटे की तरह नोकदार होती है।

पनसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल का फल। (२) पनसिका।

पनसुइया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + सूई] एक प्रकार की छोटी नाव जिस पर एक ही खेनेवाला दो डाँड़ चला सकता है।

पनसूर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा।

पनसेरी-संज्ञा स्त्री० दे० "पंसेरी"।

पनसोई†-संज्ञा स्त्री० "पनसुइया"।

पनस्यु-वि० [सं०] प्रशंसा या तारीफ सुनने का इच्छुक। जिसे प्रशंसित होने की इच्छा हो।

पनहड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पान + हाँड़ी] वह हाँड़ी जिसमें तंबोली पान अथवा हाथ धोने के लिये पानी रखते हैं।

पनहरा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० पनहारन, पनहारिन, पनहारी] वह जो पानी भरने पर नौकर हो या पानी भरने का काम करता हो। पनभरा।

[हिं० पानी + हरा (प्रत्य०)] वह अथरी जिसमें सोनार गहने धोने आदि के लिये पानी रखते हैं।

पनहा-संज्ञा पुं० [सं० परिणाह = विस्तार, चौड़ाई] (१) कपड़े या दीवार आदि की चौड़ाई। (२) गूढ़ आशय या तात्पर्य। मर्म। भेद। जैसे, तुम्हारी बात का पनहा मिले तब तो कोई जवाब दें।

संज्ञा पुं० [पण = रुपया पैसा + हार] (१) चोरी का पता लगानेवाला। उ०—सीस चढ़े पनहा प्रकट कहैं पुकारे नैन। —बिहारी। (२) वह पुरस्कार जो चुराई हुई वस्तु लौटा या दिला देने के लिये दिया जाय।

पनहारा-संज्ञा पुं० [हिं० पानी + हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० पनहारन, पनहारिन, पनहारी] वह जो पानी भरने पर नौकर हो। पानी भरनेवाला। पनभरा।

पनहिया†-संज्ञा स्त्री० दे० "पनही"।

पनहियाभद्र-संज्ञा पुं० [हिं० पनही + भद्र = मुंडन] सिर पर इतने जूते पड़ना कि बाल उड़ जायँ। जूतों की वर्षा। यथेष्ट उपानह-प्रहार।

पनही†-संज्ञा स्त्री० [सं० उपानह] जूता।

पना-संज्ञा पुं० [सं० प्रपानक या पानीय] आम इमली आदि के रस से बनाया जानेवाला एक प्रकार का शरबत। प्रपानक। पन्ना।

विशेष—पना कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के फलों से तैयार किया जाता है। पक्के फल का रस या गूदा यों ही अलग कर लिया जाता है और कच्चे का गूदा अलग करने के पहले उसे भूना या उबाला जाता है। फिर उसको खूब मसलकर मीठा मिला देते हैं। लौंग, कपूर और कभी कभी नमक तथा लालमिर्च भी पन्ने में मिलाई जाती है और हींग, जीरे आदि का बघार दिया जाता है। वैद्यक के अनुसार पना रुचिकारक, तत्काल बलवर्द्धक और इंद्रियों को तृप्ति देनेवाला है।

पनाती-संज्ञा पुं० [सं० प्रनप्तृ] [स्त्री० पनातिन] पुत्र अथवा कन्या का नाती। पोते अथवा नाती का पुत्र।

पनारा-संज्ञा पुं० दे० "परनाला"।

पनाला-संज्ञा पुं० दे० "परनाला"।

पनासना†-क्रि० स० [सं० पानाशन] पोषण करना। पोसना। परवरिश करना। उ०—कन्व जी इसके पिता इसलिये कहाते हैं कि पड़ी हुई को उठा लाए थे और उन्होंने पाली पनासी है।

पनाह-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) शत्रु से, संकट या कष्ट से बचाव या रक्षा पाने की क्रिया या भाव। त्राण। बचाव।

क्रि० प्र०—पाना।—माँगना।

मुहा०—(किसी से) पनाह माँगना = किसी बहुत ही अप्रिय या अनिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति से दूर रहने की कामना करना। किसी से बहुत बचने की इच्छा करना। जैसे, आप दूर रहिए, मैं आपसे पनाह माँगता हूँ।

(२) रक्षा पाने का स्थान। बचाव का ठिकाना शरण। आड़।

क्रि० प्र०—ढूँढ़ना।—देना।—पाना।—माँगना।

मुहा०—पनाह लेना = विपत्ति से बचने के लिये रक्षित स्थान में पहुँचना। शरण लेना।

पनिक†-संज्ञा पुं० [देश०] जोलाहों का एक कैंचीनुमा औजार जिस पर ताना फैलाकर पाई करते हैं। कंडाल। विशेष—दे० "कंडाल"।

पनिखा†-संज्ञा पुं० दे० "पनिक"।

पनिगर‡-वि० दे० "पानीदार"।

पनिघट-संज्ञा पुं० दे० "पनघट"।

पनिड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० पंडरीक] पुंडरिया। पंडरीक वृक्ष।

पनियाँ†–संज्ञा पुं० [हिं० पीना + इया (प्रत्य०)] (१) पानी के संबंध का। (२) पानी में उत्पन्न। (३) जिसमें पानी मिला हो। (४) पानी में रहनेवाला। (५) दे० "पनिहा"।

पनियाना†‡–क्रि० स० [हिं० पानी + आना (प्रत्य०)] (१) पानी से सींचना या तर करना। (२) तंग करना। परेशान करना। दिक करना। (बाजारू)।

पनियार† ‡–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + यार (प्रत्य०)] (१) वह स्थान जहाँ पानी ठहरता हो। (२) वह दिशा जिसकी ओर पानी बहता हो।

पनियारा†‡–संज्ञा पुं० [हिं० पानी] बाढ़।

पनियाला–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + इयाल (प्रत्य०)] एक प्रकार का फल।

पनिया सोत†–वि० [हिं० पानी + सोत] (तालाब खाईं आदि) जिसमें पानी का सोता निकला हो। अत्यंत गहरा। जैसे, पनियासोत खाईं।

पनिवा–संज्ञा पुं० दे० "पनुआँ"।

पनिसिगा–संज्ञा पुं० [हिं०] "जलपीपल"।

पनिहा–वि० [हिं० पानी + हा (प्रत्य०)] (१) पानी में रहनेवाला। जैसे, पनिहा साँप। (२) जिसमें पानी मिला हो। पनमेल। जैसे, पनिहा दूध। (३) पानी संबंधी।

संज्ञा पुं० दे० "पनुआँ"।

पनिहार–संज्ञा पुं० दे० "पनहरा"।

पनी†*–संज्ञा पुं० [सं० पण] प्रण करनेवाला। प्रतिज्ञा करनेवाला। उ०—बाँह पगार उदार सिरोमनि नतपालक पावन पनी। सुमन बरषि रघुपति गुन गावत हरषि देव दुंदुभि हनी।—तुलसी।

पनीर–संज्ञा पुं० [फा०] (१) फाड़कर जमाया हुआ दूध। छेना। इसे बनाने के लिये पहले दूध को फाड़ लेते हैं। फिर छेने में नमक और मिर्च मिलाकर साँचे में भर देते हैं जिससे उसकी चकतियाँ बन जाती हैं।

मुहा०—**पनीर चटाना** = काम निकालने के लिये किसी की खुशामद करना। हत्थे चढ़ाने के लिये किसी को परचाना। **पनीर जमाना** = (१) ऐसी बात करना जिससे आगे चलकर बहुत से काम निकलें। (२) किसी वस्तु पर अधिकार करने या पाने के लिये कोई आरंभिक कार्य करना।

(२) वह दही जिसका पानी निचोड़ लिया गया हो।

पनीरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) फूल पत्तों के वे छोटे पौधे जो दूसरी जगह ले जाकर रोपने के लिये उगाए गए हों। फूल पत्तों के बेहन।

क्रि० प्र०—जमाना।

(२) वह क्यारी जिसमें पनीरी जमाई गई हो। बेहन की क्यारी। (३) गलगल नीबू की फाँकों के ऊपर का गूदा।

पनीला–वि० [हिं० पानी + इला (प्रत्य०)] जिसमें पानी हो। पानी मिला हुआ। जलयुक्त।

पनुआँ–संज्ञा पुं० [हिं० पानी+उआ (प्रत्य०)] वह शरबत जो गुड़ के कड़ाहे से पाग निकाल लेने के पीछे उसे धोकर तैयार किया जाता है। गुड़ के कड़ाहे की धोवन का शरबत। पनियाँ।

विशेष—पाग निकाल लेने के पश्चात् कड़ाहे में तीन तीन घड़े पानी छोड़ देते हैं। फिर कड़ाहे को उससे अच्छी तरह धोकर थोड़ी देर तक उसे गरमाते हैं। उबलना आरंभ होने पर प्रायः शरबत तैयार समझा जाता है।

पनेथी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी + पोथी] पानी लगाकर पोई हुई रोटी। मोटी रोटी।

पनेरी–संज्ञा स्त्री० दे० "**पनीरी**"।

संज्ञा पुं० [हिं० पान + एरी (प्रत्य०)] पान बेचनेवाला। तँबोली।

पनेहड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पनहड़ा"।

पनेहरा–संज्ञा पुं० दे० "पनहरा"।

पनैला–संज्ञा पुं० [हिं० मनीला = एक प्रकार का सन] एक प्रकार का गाढ़ा चिकना और चमकीला कपड़ा जो प्रायः गरम कपड़ों के नीचे अस्तर देने के काम आता है।

विशेष—जिस पौधे के रेशे से यह कपड़ा बुना जाता है वह फिलिपाइन द्वीपपुंज में होता है। मनीला इस द्वीपपुंज की राजधानी है। संभवतः वहाँ से चालान किए जाने के कारण पहले रेशे ने और फिर उससे बुने जानेवाले कपड़े ने मनीला नाम पाया है।

पनौआ†–संज्ञा पुं० [हिं पान + ओआ (प्रत्य०)] एक पकवान जो पान के पत्ते को बेसन या चौरीठे में लपेटकर घी या तेल में तलने से बनता है।

पनौटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पान+औटी (प्रत्य०)] पान रखने की पिटारी। बाँस की फट्टियों का बुना हुआ पानदान। बेलहरा।

पन्न–वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। पड़ा हुआ। जैसे, शरणापन्न। (२) नष्ट। गत।

संज्ञा पुं० रेंगना। सरकते हुए चलना।

यौ०—पन्नग।

पन्नई–वि० [हिं० पन्ना + ई (प्रत्य०)] पन्ने के रंग का। जिसका रंग पन्ने का सा हो। पन्ने की तरह हरा।

पन्नग–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पन्नगी] (१) सर्प। साँप। (२) पद्माख। (३) एक बूटी।

* [हिं० पन्ना] पन्ना। मरकत।

पन्नगकेशर–संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

पन्नगारि–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

पन्नगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागिन। सर्पिणी। सांपिन। (२) एक बूटी। सर्पिणी।

पन्ना-संज्ञा पुं० [सं० पर्ण ?] पिरोजे की जाति का हरे रंग का एक रत्न जो, प्रायः स्लेट और ग्रेनाइट की खानों से निकलता है। मरकत। जमुर्रद।

विशेष—क्रोमियम नामक एक रंगवर्द्धक तत्त्व के कारण अन्य सजातीय रत्नों की अपेक्षा इसका रंग अधिक गहरा और नेत्राकर्षक होता है। जो पन्ना जितना ही गहरा हरा और आभायुक्त होता है वह उतना ही मूल्यवान् समझा जाता है। भूरे अथवा पीलापन या श्यामता लिए हुए टुकड़े अल्प मूल्य के समझे जाते हैं। सर्वोत्तम पन्ना दक्षिण अमेरिका की कोलंबिया रियासत की खानों से निकलता है। भारत की पन्ना रियासत की खानों से भी प्राचीन काल से पन्ना निकलता है। भारतवासी बहुत प्राचीन काल से इसका व्यवहार करते आते हैं। अर्थात् प्राचीन पुस्तकों में मरकत शब्द और उसके पर्य्याय पाये जाते हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार इसके अधिष्ठाता देवता बुध हैं। इसके धारण करने से उनकी कोपशांति होती है।

वैद्यक में पन्ना शीतल मधुररसयुक्त, रुचिकारक, पुष्टिकर, वीर्य्यवर्द्धक और प्रेतबाधा, अम्लपित्त, ज्वर, वमन, श्वास, मंदाग्नि, बवासीर, पांडुरोग और विशेष रूप से विष का नाश करनेवाला माना गया है।

पर्या०—मरकत। मरक्त। गारुत्मक। गारुत्मत। गरुडाश्य। गरुडांकित। राजनील। अश्मगर्भ। हरित्मणि। रौहिणेय। सौपर्ण। गरुडोद्गीर्ण। बुधरत्न। अश्मगर्भज। गरलारि। वापबोल। गरुड। गारुड। गारुडोत्तीर्ण। वाप्रबोल।

[हिं० पान] (१) पुस्तक आदि का पृष्ठ। वरक। पत्र। (२) भेड़ों के कान का वह चौड़ा भाग जहाँ का ऊन काटा जाता है। (३) देशी जूते के एक ऊपरी भाग का नाम जिसे पान भी कहते हैं।

पन्निक-संज्ञा पुं० दे० "पनिक"।

पन्नी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पन्ना = पत्रा] (१) रांगे या पीतल के कागज की तरह पतले पत्तर जिन्हें सौंदर्य और शोभा के लिये छोटे छोटे टुकड़ों में काटकर अन्य वस्तुओं पर चिपकाते हैं।

पर्या०—पन्नीसाज। पन्नीसाजी।

(२) वह कागज या चमड़ा जिस पर सोने या चाँदी का लेप किया हुआ रहता है। सोने या चाँदी के पानी में रँगा हुआ कागज या चमड़ा। सुनहला या रुपहला कागज।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पना] एक भोज्य पदार्थ। उ०—पन्नी पूप पटकरी पापर पाक पिराक पनारी जी।—रघुनाथ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) बारूद की एक तौल जो आध सेर के बराबर होती है। उ०—तफन तोप खानै पुनि भूपा। गए लेख युग तोय अनूपा। रहैं अठैार पन्नी केरी। तिनहि सराहत भो नृप ढेरी।—रघुराज। (२) एक लंबी घास जिसे प्रायः छप्पर छाने के काम में लाते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] पठानों की एक जाति।

पन्नीसाज-संज्ञा पुं० [हिं० पन्नी + फा० साज = बनानेवाला] वह मनुष्य जिसका व्यवसाय पन्नी बनाना हो। पन्नी बनानेवाला। पन्नी बनाने का काम करनेवाला।

पन्नीसाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पन्नी + साज] पन्नी बनाने का काम। पन्नी बनाने का धंधा या पेशा।

पन्नू-संज्ञा पुं० [देश०] एक फूल का पौधा। एक पुष्पवृक्ष।

पन्यारी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो मझोले कद का होता है और सदा हरा रहता है। मध्य प्रदेश में यह अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी टिकाऊ और चमकदार होती है। उससे गाड़ियाँ, कुर्सियाँ और नावें बनती हैं।

पन्हाना‡-क्रि० अ० दे० "पिन्हाना"।

क्रि० स० (१) दे० "पिन्हाना"। (२) दे० "पहनाना"।

पन्हारा†-संज्ञा पुं० [हिं० पान + हारा] एक तृणधान्य जो गेहूँ के खेतों में आपसे आप होता है। अँकरा।

पन्हैयाँ†-संज्ञा स्त्री० दे० "पनही"।

पपटा--संज्ञा पुं० [देश०] (१) दे० "पपड़ा"। (२) छिपकली।

पपड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पर्पट] [स्त्री० अल्प० पपड़ी]। (१) लकड़ी का रूखा करकरा और पतला छिलका। चिप्पड़।

क्रि० प्र०—छुड़ाना।

(२) रोटी का छिलका।

क्रि० प्र०—छुड़ाना।

पपड़िया-वि० [हिं० पपड़ी + इया (प्रत्य०)] पपड़ी संबंधी। जिसमें पपड़ी हो। पपड़ीदार। पपड़ीवाला। जैसे, पपड़िया कत्था।

पपड़िया कत्था-संज्ञा पुं० [हिं० पपड़ी + कत्था] सफेद कत्था। श्वेतसार।

विशेष—यह कत्था साधारण कत्थे से अच्छा समझा जाता है और खाने में अधिक स्वादु होता है। वैद्यक में इसको कड़वा, कषैला, और चरपरा तथा व्रण, कफ, रुधिरदोष, मुखरोग, खुजली, विष, कृमि, कोढ़ और ग्रह तथा भूत की बाधा में लाभदायक लिखा है।

पपड़ियाना-क्रि० अ० [हिं० पपड़ी + ना (प्रत्य०)] (१) किसी चीज की परत का सूखकर सिकुड़ जाना। (२) अत्यंत सूख जाना। इतना सूख जाना कि ऊपर पपड़ी की तरह तह जम जाय। तरी न रह जाना। जैसे, क्यारियाँ पपड़िया गईं। ओठ पपड़िया गए।

पपड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पपड़ा का अल्प०] (१) किसी वस्तु की ऊपरी परत जो तरी या चिकनाई के अभाव के कारण कड़ी और सिकुड़कर जगह जगह से चिटक गई हो और नीचे की सरस और स्निग्ध तह से अलग मालूम होती हो। ऊपर की सूखी और सिकुड़ी हुई परत। (वृक्ष की छाल के अतिरिक्त मिट्टी या कीचड़ की परत और ओठ के लिये अधिकतर बोलते हैं।)

क्रि० प्र०—पड़ना।

यौ०—पपड़ीदार।

मुहा०—पपड़ी छोड़ना = (१) मिट्टी की तह का सूख और सिकुड़कर चिटक जाना। पपड़ी पड़ना। (२) बिलकुल सूख जाना। तरी न रह जाना। रस का अभाव हो जाना। जैसे, चार दिन से पानी नहीं पड़ा है, इतने ही में क्यारियों ने पपड़ी छोड़ दी।

(२) घाव के ऊपर मवाद के सूख जाने से बना हुआ आवरण या परत। खुरंड।

क्रि० प्र०—छुड़ाना।—पड़ना।

(३) सोहन पपड़ी या अन्य कोई मिठाई जिसकी तह जमाई गई हो। (४) छोटा पापड़। (यौ०)। (५) वृक्ष की छाल की ऊपरी परत जिसमें सूखने और चिटकने के कारण जगह जगह दरारें सी पड़ी हों। बनाया घड़ा। त्वचा।

पपड़ीला-वि० [हिं० पपड़ी+ईला (प्रत्य०)] जिसमें पपड़ी हो। पपड़ीदार।

पपनी†-संज्ञा स्त्री० [देश०] बरौनी। पलक के बाल।

पपरिया कत्था-संज्ञा स्त्री० दे० "पपड़िया कत्था"।

पपरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पर्पट](१) एक पौधा जिसकी जड़ दवा के काम में आती है। (२) दे० "पपड़ी"।

पपहा†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक कीड़ा जो धान की फसल को हानि पहुँचाता है। (२) एक प्रकार का घुन जो जौ, गेहूँ आदि में घुसकर उनका सार खा जाता है और केवल ऊपर का छिलका ज्यों का त्यों रहने देता है।

पपिहा‡-संज्ञा पुं० दे० "पपीहा"।

पपीहरा‡-संज्ञा पुं० दे० "पपीहा"।

पपीहा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) कीड़े खानेवाला एक पक्षी जो वसंत और वर्षा में प्रायः आम के पेड़ों पर बैठकर बड़ी सुरीली ध्वनि में बोलता है। चातक।

विशेष—देशभेद से यह पक्षी कई रंग, रूप और आकार का पाया जाता है। उत्तर भारत में इसका डील प्रायः श्यामा पक्षी के बराबर और रंग हलका काला या मटमैला होता है। दक्षिण भारत का पपीहा डील में इससे कुछ बड़ा और रंग में चित्रविचित्र होता है। अन्यान्य स्थानों में और भी कई प्रकार के पपीहे मिलते हैं, जो कदाचित् उत्तर और दक्षिण के पपीहे की संकर संतानें हैं। मादा का रंगरूप प्रायः सर्वत्र एक ही सा होता है। पपीहा पेड़ से नीचे प्रायः बहुत कम उतरता है और उस पर भी इस प्रकार छिपकर बैठा रहता है कि मनुष्य की दृष्टि कदाचित् ही उस पर पड़ती है। इसकी बोली बहुत ही रसमय होती है और उसमें कई स्वरों का समावेश होता है। किसी किसी के मत से इसकी बोली में कोयल की बोली से भी अधिक मिठास है। हिंदी कवियों ने मान रखा है कि यह अपनी बोली में "पी कहाँ ?" "पी कहाँ ?" अर्थात् "प्रियतम कहाँ है ?" बोलता है। वास्तव में ध्यान देने से इसकी रागमय बोली से इस वाक्य के उच्चारण के समान ही ध्वनि निकलती जान पड़ती है। यह भी प्रवाद है कि यह केवल वर्षा की बूँद का ही जल पीता है, प्यास से मर जाने पर भी नदी तालाब आदि के जल में चोंच नहीं डुबोता। जब आकाश में मेघ छा रहे हों, उस समय यह माना जाता है कि यह इस आशा से कि कदाचित् कोई बूँद मेरे मुँह में पड़ जाय बराबर चोंच खोले उनकी ओर टक लगाए रहता है। बहुतों ने तो यहाँ तक मान रखा है कि यह केवल स्वाती नक्षत्र में होनेवाली वर्षा का ही जल पीता है, और यदि यह नक्षत्र न बरसे तो साल भर प्यासा रह जाता है। इसकी बोली कामोद्दीपक मानी गई है। इसके अटल नियम, मेघ पर अनन्य प्रेम और इसकी बोली की कामोद्दीपकता को लेकर संस्कृत और भाषा के कवियों ने कितनी ही अच्छी अच्छी उक्तियाँ की हैं। यद्यपि इसकी बोली चैत से भादों तक बराबर सुनाई पड़ती रहती है; परंतु कवियों ने इसका वर्णन केवल वर्षा के उद्दीपनों में ही किया है।

वैद्यक में इसके मांस को मधुर, कषाय, लघु, शीतल, कफ, पित्त और रक्त का नाश तथा अग्नि की वृद्धि करनेवाला लिखा है।

पर्या०—चातक। नोकक। मेघजीवन। शारंग। सारंग। स्तोतक।

(२) सितार के छः तारों में से एक जो लोहे का होता है। (३) आल्हा के बाप का घोड़ा जिसे माँड़ा के राजा ने हर लिया था। (४) दे० "पपैया"।

पपीता-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रसिद्ध वृक्ष जो बहुधा बगीचों में लगाया जाता है। पपैया। अंडखरबूज़ा। वातकुंभ। एरंडचिमिट। नलिकादल। मधुकर्कटी।

विशेष—इसका वृक्ष ताड़ की तरह सीधा बढ़ता है और प्रायः बिना डालियों का होता है। उँचाई २० फुट के लगभग होती है। पत्तियाँ इसकी अंडी की पत्तियों की तरह कटावदार होती हैं। छाल का रंग सफेद होता है। इसका फल

अधिकतर लंबोतरा और कोई कोई गोल भी होता है। फल के ऊपर मोटा हरा छिलका होता है। गूदा कच्चा होने की दशा में सफेद और पक जाने पर पीला होता है। बीचों बीच में काले काले बीज होते हैं। बीज और गूदे के बीच एक बहुत पतली झिल्ली होती है, जो बीजकोष या बीजाधार का काम देती है। कच्चा और पक्का दोनों तरह का फल खाया जाता है। कच्चे फल की प्रायः तरकारी पकाते हैं। पक्का फल मीठा होता है और खरबूजे की तरह यों ही या शकर आदि के साथ खाया जाता है। इसके गूदे, छाल, फल और पत्ते में से भी एक प्रकार का लसदार दूध निकलता है जिसमें भोज्य द्रव्यों विशेषतः मांस के गलाने का गुण माना जाता है। इसी कारण इसको मांस के साथ प्रायः पकाते हैं। यहाँ तक माना जाता है कि यदि मांस थोड़ी देर तक इसके पत्तो में लपेटा रखा रहे तो भी बहुत कुछ गल जाता है। इसके अधपके फल से दूध एकत्र कर 'पपेन' नाम की एक औषध भी बनाई गई है, जो मंदाग्नि में उपकारक होती है। फल भी पाचन गुण विशिष्ट समझा जाता है और अधिकतर इसी गुण के लिये उसे खाते हैं।

पपीते का देश दक्षिण अमेरिका है। अन्यान्य देशों में वहीं से गया है। भारत में यह पुर्तगालियों के संसर्ग से आया और कुछ ही बरसों में भारत के अधिकांश में फैलकर चीन पहुँच गया। इस समय विषुवत रेखा के समीपस्थ सभी देशों में इसके वृक्ष अधिकता से पाए जाते हैं। भारत में इसके दो भेद दिखाई पड़ते हैं। एक का फल अधिक बड़ा और मीठा होता है, दूसरे का छोटा और कम मीठा। पहले प्रकार का पपीता प्रायः आसाम के गोहाटी और छोटा नागपुर विभाग के हजारीबाग स्थानों में होता है। वैद्यक में इसको मधुर, स्निग्ध, वातनाशक, वीर्य और कफ का बढ़ानेवाला, हृदय को हितकर और उन्माद तथा वर्ध्म रोगों का नाशक लिखा है।

पपैया†–संज्ञा पुं० [अनु०] (१) सीटी। (२) वह सीटी जिसे लड़के आम की अंकुरित गुठली को घिसकर बनाते हैं। (३) आम का नया पौधा। अमोला।

पपोटन–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पौधा जिसके पत्ते बाँधने से फोड़ा पकता है। इसका फल मकोय की तरह होता है।

पपोटा–संज्ञा पुं० [सं० प्र + पट] आँख के ऊपर का चमड़े का वह पर्दा जो डेले को ढके रहता है और जिसके गिरने से आँख बंद होती है और उठने से खुलती है। पलक। दृगंचल।

पपोरना†–क्रि० स० [देश०] अपनी बाहें ऐंठना और उनका भराव या पुष्टता देखना। (इस क्रिया से बलाभिमान सूचित होता है।) उ०—कंस लाज भय गर्वजुत चल्यो पपोरत बाँह।—व्यास।

पपोलना–क्रि० अ० [हिं० पोपला] पोपले का चुभलाना; चबाना या मुँह चलाना। बिना दाँत का चुभलाना या मुँह चलाना।

पपता–संज्ञा स्त्री० [देश०] बाम मछली। गुंगबहरी।

पबई–संज्ञा स्त्री० [देश०] मैना की जाति का एक पक्षी जिसकी बोली बहुत मीठी होती है।

पबलिक–संज्ञा स्त्री० [अं०] सर्वसाधारण। जनता। आम लोग। जैसे, अब पबलिक को यह बात अच्छी तरह मालूम हो गई है।

वि०–सर्वसाधारण संबंधी। सार्वजनिक। जैसे, कल टाउनहाल में एक पबलिक मीटिंग होनेवाली है।

पबलिक वर्क्स–संज्ञा पुं० [अं०] (१) निर्माण संबंधी वे कार्य जो सर्वसाधारण के लाभ के लिये सरकार की ओर से किए जायँ। पुल, नहर आदि बनाने का कार्य्य। (२) इंजीनियरी का मुहकमा।

पबारना‡–क्रि० स० [?] फेंकना।

पबि–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पवि"।

पब्बय*–संज्ञा पुं० [सं० पर्वत] (१) पहाड़। (२) पत्थर।

संज्ञा पुं० [देश०] एक चिड़िया का नाम।

पमरा–संज्ञा स्त्री० [देश०] शल्लुकी नामक सुगंधित पदार्थ।

पमार–संज्ञा पुं० [सं० प्रमार] अग्निकुल के क्षत्रियों की एक शाखा। प्रमार। पवार। दे० "परमार"।

संज्ञा पुं० [सं० पामारि] चकवँड़। चक्रमर्दक। चकौंड़ा।

पम्मन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गेहूँ जो बड़ा और बढ़िया होता है। कठिया गेहूँ।

पयःकंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरविदारी। भूकुम्हड़ा।

पयःपयोष्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

पयःपुर–संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करिणी। छोटा तालाब।

पयःपेटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नारियल।

पयःफेनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुग्धफेनी।

पय–संज्ञा पुं० [सं० पयस्] (१) दूध। (२) जल। पानी। (३) अन्न।

पयज†–संज्ञा स्त्री० दे० "पैज"

पयद*–संज्ञा पुं० दे० "पयोद"।

पयधि*–संज्ञा पुं० दे० "पयोधि"।

पयना†–वि० दे० "पैना"।

संज्ञा पुं० दे० "पैना"।

पयनिधि*–संज्ञा पुं० दे० "पयोनिधि"।

पयस्य–वि० [सं०] दूध से निकला या बना हुआ।

संज्ञा पुं० दूध से निकली या प्राप्त वस्तु, दुग्ध विकार। जैसे, घी, मट्ठा, दही आदि।

पयस्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुग्धिका। दुधिया घास। (२) क्षीरकाकोली। अर्कपुष्पी।

पयस्वती–संज्ञा स्त्री० [सं०] नदी।

पयस्वल–वि० [सं०] (१) जलयुक्त (२) जिसमें दूध हो।

पयस्वान्–वि० [सं० पयस्वत्] [स्त्री० पयस्वती] पानीवाला।

पयस्विनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय। दूध देती हुई गाय। (२) बकरी। (३) नदी। (४) चित्रकूट की एक नदी। (५) क्षीरकाकोली। (६) दूधफेनी। (७) दूधबिदारी। (८) जीवंती।

पयस्वी–वि० [सं० पयस्विन्] [स्त्री० पयस्विनी] पानीवाला। जिसमें जल हो।

पयहारी–संज्ञा पुं० [सं० पयस् + आहारी] दूध पीकर रह जानेवाला तपस्वी या साधु।

पयादा–संज्ञा पुं० दे० "प्यादा"।

वि० दे० "प्यादा"।

पयान–संज्ञा पुं० [सं० प्रयाण] गमन। जाना। यात्रा। रवानगी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पयार†–संज्ञा पुं० दे० "पयाल"। उ०—धान को गाँव पयार ते जानौ ज्ञानविषय रस भोरे।—सूर।

पयाल–संज्ञा पुं० [सं० पलाल] धान, कोदों आदि के सूखे डंठल जिनके दाने झाड़ लिए गए हों। पुराल।

मुहा०—पयाल गाहना या झाड़ना = (१) ऐसा श्रम करना जिसका कुछ फल न हो। व्यर्थ मिहनत करना। उ०—फिरि फिरि कहा पयारहि गाहे।—सूर। (२) ऐसे की सेवा करना या ऐसे को घेरना जिससे कुछ मिलने की आशा न हो।

पयोगड़–संज्ञा पुं० दे० "पयोगल"।

पयोगल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओला। (२) द्वीप।

पयोग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञपात्र।

पयोघन–संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

पयोज–संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पयोजन्मा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) मोथा।

पयोद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। मेघ। (२) मोथा। मुस्तक। (३) एक यदुवंशी राजा।

पयोदन–संज्ञा पुं० [सं० पयस् + ओदन] दूधभात।

पयोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मातृका।

पयोदेव–संज्ञा पुं० [सं०] वरुण।

पयोधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तन। (२) बादल। (३) नागरमोथा। (४) कसेरू। (५) तालाब। तड़ाग। (६) गाय का आयन। (७) नारियल। (८) मदार। अकौवा। (९) एक प्रकार की ऊख। (१०) पर्वत। पहाड़। (११) कोई दुग्धवृक्ष। (१२) दोहा छंद का ११ वाँ भेद। (१३) समुद्र। (डिं०)। (१४) छप्पय छंद का २७ वाँ भेद।

पयोधा–संज्ञा पुं० [सं० पयोधस्] (१) जलाधार। (२) समुद्र।

पयोधि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पयोधिक–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्रफेन।

पयोनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पयोमुख–वि० [सं०] दूधपीता। दुधमुँहाँ (बच्चा)।

पयोमुच–संज्ञा पुं०[सं०] (१) बादल। (२) मोथा।

पयोर–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

पयोलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूधबिदारी कंद।

पयोवाह–संज्ञा पुं० [सं०](१) मेघ। बादल। (२) मोथा।

पयोव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मत्स्यपुराण के अनुसार एक व्रत जिसमें एक दिन रात या तीन रात केवल जल पीकर रहना पड़ता है। (२) भागवत के अनुसार कृष्ण का एक व्रत जिसमें बारह दिन दूध पीकर रहना और कृष्ण का स्मरण और पूजन करना होता है।

पयोष्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] विंध्याचल से निकलकर दक्षिण की ओर को बहनेवाली एक नदी।

पयोष्णीजाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी।

परंच–अव्य० [सं०] (१) और भी। (२) तो भी। परंतु। लेकिन।

परंज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेल पेरने का कोल्हू। (२) छूरी का फल। (३) फेन।

परंजन–संज्ञा पुं० [सं०] (पश्चिम दिशा के स्वामी) वरुण।

परंजय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु को जीतनेवाला। (२) वरुण।

परंतप–वि० [सं०] (१) शत्रुओं को ताप देनेवाला। वैरियों को दुःख देनेवाला। (२) जितेंद्रिय।

संज्ञा पुं०(१)चिंतामणि। (२) तामस मनु के एक पुत्र।

परंतु–अव्य० [सं० पर+तु] एक शब्द जो किसी वाक्य के साथ उससे कुछ अन्यथा स्थिति सूचित करनेवाला दूसरा वाक्य कहने के पहले लाया जाता है। पर। तो भी। किंतु। लेकिन। मगर। जैसे,(क) वह इतना कहा जाता है परंतु नहीं मानता। (ख) जी तो नहीं चाहता है परंतु जाना पड़ेगा।

परंदा–संज्ञा पुं० [फा० परंद = चिड़िया] (१) चिड़िया। पक्षी। (२) एक प्रकार की हवादार नाव जो कश्मीर की झीलों में चलती है।

परंपर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक के पीछे दूसरा ऐसा क्रम। अनुक्रम। चला आता हुआ सिलसिला। (२) पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि। बेटा, पोता, परपोता आदि। वंश। संतति। (३) मृगमद। कस्तूरी।

परंपरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक के पीछे दूसरा ऐसा क्रम (विशेषतः कालक्रम)। अनुक्रम। पूर्वापर क्रम। चला आता हुआ सिलसिला। जैसे,परंपरा से ऐसा होता आ रहा है।

यौ०—वंशपरंपरा। शिष्यपरंपरा।

(२) वंशपरंपरा। संतति। औलाद। (३) बराबर चली आती हुई रीति। प्रथा। परिपाटी। जैसे, हमारे यहाँ इसकी परंपरा नहीं है। (४) हिंसा। वध।

परंपराक–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञार्थ पशुहनन। यज्ञ के लिये पशुओं का वध।

परंपरागत–वि० [सं०] परंपरा से चला आता हुआ। जो सब दिन से होता आता हो। जिसे एक के पीछे दूसरा बराबर करता आया हो। जैसे, परंपरागत नियम।

पर–वि० [सं०] (१) दूसरा। अन्य। और। अपने को छोड़ शेष। स्वातिरिक्त। गैर। परलोक। उ०—पर उपदेस कुसल बहुतेरे।—तुलसी।

यौ०—परपीड़न। परोपकार।

(२) पराया। दूसरे का। जो अपना न हो। जैसे, पर द्रव्य, पर पुरुष, पर पीड़ा। (३) भिन्न। जुदा। अतिरिक्त। (४) पीछे का। उत्तर। बाद का। जैसे, पूर्व और पर। (५) जो परे हो। दूर। अलग। तटस्थ। जो सीमा के बाहर हो।

यौ०—परब्रह्म।

(६) आगे बढ़ा हुआ। सबके ऊपर। श्रेष्ठ। (७) प्रवृत्त। लीन। तत्पर। जैसे, स्वार्थपर (केवल समास में)।

प्रत्य० [सं० उपरि] सप्तमी या अधिकरण का चिह्न। जैसे, (क) वह घर पर नहीं है। (ख) कुरसी पर बैठो।

संज्ञा पुं० (१) शत्रु। वैरी। दुश्मन।

यौ०—परंतप।

(२) शिव। (३) ब्रह्म। (४) ब्रह्मा। (५) मोक्ष। (६) न्याय में जाति या सामान्य के दो भेदों में से एक। द्रव्य, गुण और कर्म की वृत्ति या सत्ता।

अव्य० [सं० परम्] (१) पश्चात्। पीछे। जैसे, इस पर वे उठकर चले गये। (२) एक शब्द जो किसी वाक्य के साथ उससे अन्यथा स्थिति सूचित करनेवाला वाक्य कहने के पहले लाया जाता है। परंतु। किंतु। लेकिन। तो भी। जैसे, (क) मैंने उसे बहुत समझाया पर वह नहीं मानता। (ख) तबीयत तो नहीं अच्छी है पर जायँगे।

संज्ञा पुं० [फा०] चिड़ियों का डैना और उस पर के घुए या रोएँ। पंख। पक्ष।

मुहा०—**पर कट जाना** = शक्ति या बल का आधार न रह जाना। अशक्त हो जाना। कुछ करने धरने लायक न रह जाना। **पर काट देना** = अशक्त कर देना। कुछ करने धरने लायक न रखना। **पर कैंच करना** = पंख कतरना। (कबूतरबाज) **पर जमना** = (१) पर निकलना। (२) जो पहले सीधा सादा रहा हो उसे शरारत सूझना। धूर्तता, चालाकी, दुष्टता आदि पहले पहल आना। (कहीं जाते हुए) **पर जलना** = (१) हिम्मत न होना। ताब न होना। साहस न होना। (२) गति न होना। पहुँच न होना। जैसे, वहाँ जाते बड़े बड़ों के पर जलते हैं, तुम्हारी क्या गिनती है? **पर झाड़ना** = (१) पुराने परों का गिराना। (२) पंख फटफटाना। डैनों को हिलाना। **पर टूटना** = दे० "पर जलना"। **पर टूट जाना** = दे० "पर कट जाना"। **पर न मारना** = पैर न रख सकना। जा न सकना। फटक न सकना। **चिड़िया पर नहीं मार सकती** = कोई जा नहीं सकता। किसी की पहुँच नहीं हो सकती। **पर निकालना** = (१) पंखों से युक्त होना। उड़ने योग्य होना। (२) बढ़कर चलना। इतराना। अपने को कुछ प्रकट करना। **पर और बाल निकालना** = (१) सीधा सादा न रहना। बहुत सी बातों को समझने बूझने लगना। कुछ कुछ चालाक होना। (२) उपद्रव करना। ऊधम मचाना।

परई†–संज्ञा स्त्री० [सं० पार = कटोरा, प्याला] दीए के आकार का पर उससे बड़ा मिट्टी का एक बरतन। पारा। सराव।

परकटा–वि० [फा० पर + हिं० कटना] जिसके पर या पंख कटे हों। जैसे, परकटा कबूतर।

परकना*†–क्रि० अ० [हिं० परचना] (१) परचना। हिलना मिलना। (२) जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिस बात को कई बार बे रोक टोक करने पाये हों उसकी ओर प्रवृत्त होना। धड़क खुलना। अभ्यास पड़ना। चसका लगना। उ०—माखन चोरी सों अरी, परकि रह्यो नँदलाल। चोरन लाग्यो अब लखौ नेहिन को मन माल।—रसनिधि।

परकसना*–क्रि० अ० [हिं० परकासना] (१) प्रकाशित होना। जगमगाना। (२) प्रकट होना।

परकाजी–वि० [हिं० पर + काज] दूसरों का कार्य्य साधन करनेवाला। परोपकारी।

परकान–संज्ञा पुं० [हिं० पर + कान] तोप का कान या मूठ। तोप का वह स्थान जहाँ रंजक रखी जाती है या बत्ती दी जाती है। (लश०)

परकाना†–क्रि० स० [हिं० परकना] (१) परचाना। हिलाना मिलाना। (२) (किसी को) कोई लाभ पहुँचाकर या कोई बात बे रोक टोक करने देकर उसकी ओर प्रवृत्त करना। धड़क खोलना। अभ्यास डालना। चसका लगाना।

परकायप्रवेश–संज्ञा पुं० [सं०] अपनी आत्मा को दूसरे के शरीर में डालने की क्रिया जो योग की एक सिद्धि समझी जाती है।

परकार–संज्ञा पुं० [फा०] वृत्त या गोलाई खींचने का औजार जो पिछले सिरों पर परस्पर जुड़ी हुई दो शलाकाओं के रूप का होता है।

* † संज्ञा पुं० दे० "प्रकार"।

परकाल–संज्ञा पुं० दे० "परकार"।

परकाला–संज्ञा पुं० [सं० प्राकार या प्रकोष्ठ] (१) सीढ़ी। ज़ीना। (२) चौखट। देहली। दहलीज।

संज्ञा पुं० [फा० परगालः] (१) टुकड़ा। खंड। (२) शीशे का टुकड़ा। (३) चिनगारी। अग्निकण।

मुहा०—**आफत का परकाला** = गजब करनेवाला। अद्भुत शक्तिवाला। प्रचंड या भयंकर मनुष्य।

परकास–संज्ञा पुं० दे० "प्रकाश"।

परकासना*–क्रि० स० [सं० प्रकाशन] (१) प्रकाशित करना। (२) प्रकट करना।

परकिति*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रकृति"।

परकीय–वि० [सं०] पराया। दूसरे का। बेगाना।

परकीया–संज्ञा स्त्री० [सं०] पति को छोड़ दूसरे पुरुष से प्रीति-संबंध रखनेवाली स्त्री। नायिकाओं के दो प्रधान भेदों में से एक।

विशेष—परकीया दो प्रकार की कही गई हैं। अनूढा (अविवाहित) और ऊढा (विवाहित)। स्वेच्छापूर्वक परपुरुष से प्रेम करनेवाली परकीया को उद्बुद्धा और पर-पुरुष की चतुराई या प्रयत्न से उसके प्रेम में फँसनेवाली को उद्बोधिता कहते हैं। परकीया के छः और भेद किए गए हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता। (विवरण प्रत्येक शब्द के अंतर्गत देखो।)

परकीरति*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रकृति"।

परकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूसरे की कृति। दूसरे का किया हुआ काम। (२) दूसरे की कृति का वर्णन। (३) कर्मकांड में दो परस्पर विरुद्ध वाक्यों की स्थिति।

परकोटा–संज्ञा पुं० [सं० परिकोट] (१) किसी गढ़ या स्थान की रक्षा के लिये चारों ओर उठाई हुई दीवार।

आदि की दीवार। (२) पानी आदि की रोक के लिये खड़ा किया हुआ धुस। बाँध। चह।

परक्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराया खेत। (२) दूसरे का शरीर। (३) पराई स्त्री। दूसरे की भार्य्या।

परख–संज्ञा स्त्री० [सं० परीक्षा, प्रा० परिक्ख] (१) गुण दोष स्थिर करने के लिये अच्छी तरह देख भाल। जाँच। परीक्षा। जैसे, अभी उस सोने की परख हो रही है। (२) गुण दोष का ठीक ठीक पता लगानेवाली दृष्टि। गुण दोष विवेचन करनेवाली अंतःकरण वृत्ति। कोई वस्तु भली है या बुरी यह जान लेने की शक्ति। पहचान। जैसे, (क) तुम्हें सोने की परख नहीं है। (ख) उसे आदमी की परख नहीं है।

क्रि० प्र०—होना।

परखना–क्रि० स० [सं० परीक्षण, प्रा० परीक्खण] (१) गुण दोष स्थिर करने के लिये अच्छी तरह देखना भालना। परीक्षा करना। जाँच करना। जैसे, रत्न परखना, सोना परखना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) अच्छी तरह देख भालकर गुण दोष का पता लगाना। भला और बुरा पहचानना। कौन वस्तु कैसी है यह ताड़ना। जैसे, मैं देखते ही परख लेता हूँ कि कौन कैसा है।

क्रि० स० [सं० पर + ईक्षण = परेक्षण, हिं० परेखना] प्रतीक्षा करना। इंतजार करना। आसरा देखना।

परखवाना–क्रि० स० दे० "परखाना"।

परखवैया–संज्ञा पुं० [हिं० परख + वैया (प्रत्य०)] परखनेवाला। जाँचनेवाला। पहिचाननेवाला।

परखाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० परख] (१) परखने का काम। (२) परखने की मजदूरी।

परखाना–क्रि० स० [हिं० 'परखना' का प्रे०] (१) परखने का काम दूसरे से कराना। परीक्षा कराना। जँचवाना। (२) कोई वस्तु देते या सौंपते समय उसे गिनकर या उलट पलटकर दिखा देना। सहेजवाना। सँभलवाना।

परखुरी†– संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

परखैया–संज्ञा पुं० [सं०] परखनेवाला।

परग–संज्ञा पुं० [सं० पदक] पग। डग। कदम।

परगटना*–क्रि० अ० [हिं० प्रगट] प्रगट होना। खुलना। जाहिर होना।

क्रि० स० प्रकट करना। जाहिर करना।

परगन्–संज्ञा पुं० दे० "परगना"। उ०—व्रज परगन सरदार महरि तू ताकी करत नन्हाई।—सूर।

परगना–संज्ञा पुं० [फा०। मि० सं० परिगण = घर] एक भूभाग जिसके अंतर्गत बहुत से ग्राम हों। जमीन का वह हिस्सा जिसमें कई गाँव हों।

विशेष—आजकल एक तहसील के अंतर्गत कई परगने होते हैं। बड़े परगने कई तप्पों या टप्पों में बँटे होते हैं।

परगनी–संज्ञा स्त्री० दे० "परगहनी"।

परगसना*–क्रि० अ० [सं० प्रकाशन] प्रकाशित होना। प्रकट होना।

परगहनी–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रग्रहण] नली के आकार का सुनारों का एक औजार जिसमें करछी की सी डाँड़ी लगी होती है। इस नली में तेल देकर उसमें चाँदी या सोने की गुल्लियाँ ढालते हैं। परगनी।

परगाछा–संज्ञा पुं० [हिं० पर = दूसरा + गाछ = पेड़] एक प्रकार के पौधे जो प्रायः गरम देशों में दूसरे पेड़ों पर उगते हैं। इनकी पत्तियाँ लंबी और खड़ी नसों की होती हैं। फूल सुंदर तथा अद्भुत वर्ण और आकृति के होते हैं। एक ही फूल में

गर्भकोश और परागकेसर दोनों होते हैं। परगाछे की जाति के बहुत से पौधे जमीन पर भी होते हैं और फूलों की सुंदरता के लिये बगीचों में प्रायः लगाए जाते हैं। ऐसे पौधे दूसरे पेड़ों की डालियों आदि पर उगते अवश्य हैं पर सब परपुष्ट (दूसरे पेड़ों के रस धातु से पलनेवाले) नहीं होते। परगाछे की कोई टहनी या गाँठ भी बीज का काम देती है, उससे भी नया पौधा अंकुर फोड़कर (गन्ने की तरह) निकल आता है। परगाछे को संस्कृत में बंदाक और हिंदी में बाँदा भी कहते हैं।

परगाछी–संज्ञा स्त्री० [हिं० परगाछा] अमरबेल। आकाशबौंर।

परगाढ़*–वि० दे० "प्रगाढ़"।

परगास*–संज्ञा पुं० दे० "प्रकाश"।

परगासना*‡–क्रि० अ० [सं० प्रकाशन] प्रकाशित होना।

क्रि० स० प्रकाशित करना।

परघट*†–वि० दे० "प्रगट", "प्रकट"।

परघनी–संज्ञा स्त्री० दे० "परगहनी"।

परचंड*–वि० दे० "प्रचंड"।

परचइ*–संज्ञा स्त्री० दे० "परचै"।

परचतां*–संज्ञा स्त्री० [सं० परिचित] जान पहचान। जानकारी।

उ०—कबलगि फिरिहै दीन भयो। सुरत सरित भ्रम भँवर परथो तन मन परचत न लह्यो।—सूर।

परचना–क्रि० अ० [सं० परिचयन] (१) किसी को इतना अधिक जान बूझ लेना कि उससे व्यवहार करने में कोई संकोच या खटका न रहे। हिलना मिलना। घनिष्ठता प्राप्त करना। जैसे, (क) बच्चा जब परच जायगा तब तुम्हारे पास रहने लगेगा। (ख) परच जाने पर यह तुम्हारे साथ साथ फिरेगा। (२) जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिस बात को दो एक बार बे रोकटोक मनमाना करने पाए हों उसकी ओर प्रवृत्त रहना। चसका लगना। धड़क खुलना। टेव पड़ना। जैसे, इसे कुछ न दो, परच जायगा तो नित्य आया करेगा।

संयो० क्रि०—जाना।

परचर–संज्ञा पुं० [देश०] बैलों की एक जाति जो अवध के खीरी जिले के आस पास पाई जाती है।

परचा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) कागज का टुकड़ा। चिट। कागज। पत्र। (२) पुरजा। खत। रुक्का। चिट्ठी। (३) परीक्षा में आनेवाला प्रश्नपत्र। जैसे, इम्तहान में हिसाब का परचा बिगड़ गया।

संज्ञा पुं० [सं० परिचय] (१) परिचय। जानकारी।

मुहा०—परचा देना = ऐसा लक्षण या चिह्न बताना जिससे लोग जान जायँ। नाम ग्राम बताना।

(२) परख। परीक्षा। जाँच।

(३) प्रमाण। सबूत।

मुहा०—परचा माँगना = (१) प्रमाण देने के लिये कहना। (२) किसी देवी देवता से अपनी शक्ति दिखाने को कहना। (ओझा)।

संज्ञा पुं० [देश०] जगन्नाथ जी के मंदिर का वह प्रधान पुजारी जो मंदिर की आमदनी और खर्च का प्रबंध करता और पूजा सेवा आदि की देख रेख रखता है।

परचाना–क्रि० स० [हिं० परचना] (१) किसी से इतना अधिक लगाव पैदा करना कि उससे व्यवहार करने में कोई संकोच या खटका न रहे। हिलाना मिलाना। आकर्षित करना। जैसे, बच्चे को परचाना, कुत्ता परचाना।

संयो० क्रि०—लेना।

(२) दो एक बार किसी के अनुकूल कोई बात करके या होने देकर उसको इस बात की ओर प्रवृत्त करना। धड़क खोलना। चसका लगाना। टेव डालना। जैसे, इन्हें कुछ देकर परचाओ मत, नहीं तो बराबर तंग करते रहेंगे।

संयो० क्रि०—देना।

परचार*–संज्ञा पुं० दे० "प्रचार"।

परचारना*–क्रि० स० दे० "प्रचारना"।

परचित्तपर्यायज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] अपने चित्त में दूसरे के चित्त का भाव जानना। (बौद्ध)

परचून–संज्ञा पुं० [सं० पर = अन्य, और + चूर्ण = आटा] आटा, चावल, दाल, नमक, मसाला आदि भोजन का फुटकर सामान। जैसे, परचून की दुकान।

परचूनी–संज्ञा पुं० [हिं० परचून] परचूनवाला। आटा, दाल, नमक आदि बेचनेवाला बनिया। मोदी।

संज्ञा स्त्री० परचून या परचूनी का काम या भाव।

परचे*–संज्ञा पुं० दे० "परिचय"।

परचै–संज्ञा पुं० दे० "परिचय", "परचा"।

परच्छंद–वि० [सं०] पराधीन।

परछत्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० परि = अधिक, ऊपर + छत = पटाव] (१) घर या कोठरी के भीतर दीवार से लगाकर कुछ दूर तक बनाई हुई पाटन जिस पर सामान रखते हैं। टाँड़। पाटा। (२) हलका छप्पर जो दीवारों पर रख दिया जाता है। फूस आदि की छाजन।

परछन–संज्ञा स्त्री० [सं० परि + अर्चन] विवाह की एक रीति जिसमें बारात द्वार पर आने पर कन्यापक्ष की स्त्रियाँ वर के पास जाती हैं और उसे दही, अक्षत का टीका लगातीं, उसकी आरती करतीं तथा उसके ऊपर से मूसल बट्टा आदि घुमाती हैं।

परछना–क्रि० स० [हिं० परछन] द्वार पर बारात लगने पर कन्यापक्ष की स्त्रियों का वर की आरती आदि करना। परछन

करना। उ०—निगम नीति कुल रीति अरघ पाँवड़े देत। बधुन सहित सुत परछि सब चलीं लिवाइ निकेत।—तुलसी।

परछा–संज्ञा पुं० [सं० प्रणिच्छद] (१) वह कपड़ा जिससे तेली कोल्हू के बैल की आँखों में अँधोटी बाँधते हैं। (२) जुलाहों की नली जिस पर वे सूत लपेटते हैं। सूत की फिरकी। घिरनी।

संज्ञा पुं० [?] [स्त्री० अल्प० परछी] (१) बड़ी बटलोई। बड़ा देग। (२) कड़ाई। कड़ाही। (३) मिट्टी का मझोला बरतन।

संज्ञा पुं० [सं० परिच्छेद] (१) बहुत सी वस्तुओं के घने समूह में से कुछ के निकल जाने से पड़ा हुआ अवकाश। विरलता। छीड़। (२) घनेपन या भीड़ की कमी। भीड़ का छँटाव।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) समाप्ति। निबटेरा। चुकाव। फैसला।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

परछाईं–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिच्छाया] (१) प्रकाश के मार्ग में पड़नेवाले किसी पिंड का आकार जो प्रकाश से भिन्न दिशा की ओर छाया या अंधकार के रूप में पड़ता है। किसी वस्तु की आकृति के अनुरूप छाया जो प्रकाश के अवरोध के कारण पड़ती है। छायाकृति। जैसे, लड़का दीवार पर अपनी परछाईं देखकर डर गया।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—परछाईं से डरना या भागना=(१) बहुत डरना। अत्यंत भयभीत होना। (२) पास तक आने से डरना। (३) दूर रहने की इच्छा करना। कोई लगाव रखना न चाहना। (घृणा या आशंका से)।

(२) जल, दर्पण आदि पर पड़ा हुआ किसी पदार्थ का पूरा प्रतिरूप। प्रतिबिंब। अक्स।

क्रि० प्र०—पड़ना।

परज–संज्ञा स्त्री० [सं० पराजिका] एक रागिनी जो गांधार, धनाश्री और मारू के मेल से बनी हुई मानी जाती है। रात ११ दंड से लेकर १५ दंड तक इसके गाने का समय है। स्वर इसमें ऋषभ और धैवत कोमल, तथा मध्यम तीव्र लगता है। यह हिंदोल राग की सहचरी मानी जाती है।

वि० [सं०] परजात। दूसरे से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० कोकिल।

परजन*–संज्ञा पुं० दे० "परिजन"।

परजरना*–क्रि० अ० [सं० प्रज्वलन] (१) जलना। दहकना। सुलगना। (२) क्रुद्ध होना। कुढ़ना। उ०—सुनत वचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा।—तुलसी। (३) ईर्ष्या द्वेष से संतप्त होना। डाह करना।

परजवट–संज्ञा पुं० दे० "परजौट"।

परजन्य*–संज्ञा पुं० दे० "पर्जन्य"।

परजा–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रजा] (१) प्रजा। रैयत। (२) आश्रित जन। काम धंधा करनेवाला। जैसे, नाई, बारी, धोबी इत्यादि। (३) जमींदार की जमीन पर बसनेवाला या खेती आदि करनेवाला। असामी।

परजात–वि० [सं०] दूसरे से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) कोकिल। कोयल। (२) दूसरी जाति का मनुष्य। दूसरी बिरादरी का आदमी। जैसे, परजात को न्योता देने का क्या काम ?

परजाता–संज्ञा पुं० [सं० पारिजात] मझोले आकार का एक पेड़ जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है। इसकी पत्तियाँ पाँच छ अंगुल लंबी और चार अंगुल चौड़ी होती हैं। ये आगे की ओर बहुत नुकीली होती हैं और इनके किनारे नीम की पत्ती के किनारों की तरह कुछ कुछ कटावदार होते हैं। यह पेड़ फूलों के लिये लगाया जाता है जो गुच्छों में लगते हैं। फूल छोटे छोटे और डाँड़ीदार होते हैं। डाँड़ी का रंग लाल या नारंगी और दलों का रंग सफेद होता है। सूखी हुई डाँड़ियों को उबालकर पीला रंग निकाला जाता है। परजाता शरद ऋतु में फूलता है। फूल बराबर झड़ते रहते हैं; पेड़ में कम ठहरते हैं। पत्तियाँ दवा के काम आती हैं और बहुत गरम होती हैं। ज्वर में प्रायः लोग परजाते की पत्ती देते हैं। इसे हरसिंगार भी कहते हैं।

परजाति–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरी जाति।

परजाय*–संज्ञा पुं० दे० पर्याय"।

परजौट–संज्ञा पुं० [हिं० परजा + और या औत (प्रत्य०)] (१) घर बनाने के लिये सालाना किराए पर जमीन लेने देने का नियम। जैसे, यह जमीन मैंने परजौट पर ली है। (२) वह सालाना जो मकान बनाने के लिये ली हुई जमीन पर लगे।

परणना*–क्रि० स० [सं० परिणयन] ब्याहना। विवाह करना।

परतंगण–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम। (महाभारत)

परतंचा–संज्ञा स्त्री० दे० "पतंचिका"।

परतंत्र–वि० [सं०] पराधीन। परवश।

संज्ञा पुं० (१) उत्तम शास्त्र। (२) उत्तम वस्त्र।

परतः–अव्य० [सं० परतस] (१) दूसरे से। अन्य से। (२) पश्चात्। पीछे। (३) परे। आगे।

परतःप्रमाण–संज्ञा पुं० [सं०] जो स्वतः प्रमाण न हो। जिसे दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा हो। जो दूसरे प्रमाणों के अनुकूल होने पर ही सबूत में कहा जा सके।

परत–संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र, हिं० पत्तर वा सं० पटल] (१) मोटाई का फैलाव जो किसी सतह के ऊपर हो। स्तर। तह। जैसे,

(क) इस पर गीली मिट्टी की एक परत चढ़ा दो। (ख) बालू की परत पर परत जमने से ये चट्टानें बनी हैं।—शिवप्रसाद। (२) लपेटी जा सकनेवाली फैलाव की वस्तुओं (जैसे, कागज, कपड़ा, चमड़ा, इत्यादि) का इस प्रकार का मोड़ जिससे उनके भिन्न भिन्न भाग ऊपर नीचे हो जायँ। तह। जैसे, इस कपड़े को परत लगाकर रख दो।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) कपड़े, कागज आदि के भिन्न भिन्न भाग जो जोड़ने से नीचे ऊपर हो गए हों। तह।

परतच्छ*- वि० दे० "प्रत्यक्ष"।

परतल-संज्ञा पुं० [सं० पट = वस्त्र + तल = नीचे] लादनेवाले घोड़ों की पीठ पर रखने का बोरा या गून।

यौ०—परतल का टट्टू। लद्दू घोड़ा।

परतला-संज्ञा पुं० [सं० परितन = चारों ओर खींचा हुआ] चमड़े या मोटे कपड़े की चौड़ी पट्टी जो कंधे से लेकर कमर तक छाती और पीठ पर से तिरछी होती हुई आती है और जिसमें तलवार लटकाई जाती है।

परता-संज्ञा पुं० दे० "पड़ता"।

परताजना-संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों का एक औजार जिससे वे गहनों पर मछली के सेहरे का आकार बनाते हैं।

परताप*- संज्ञा पुं० दे० "प्रताप"।

परताल-संज्ञा स्त्री० दे० "पड़ताल"।

परतिंचा*-संज्ञा स्त्री० दे० "पतंचिका"।

परतिज्ञा*-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिज्ञा"।

परती-संज्ञा स्त्री० [हिं० परना = पड़ना] (१) वह खेत या जमीन जो बिना जोती हुई छोड़ दी गई हो।

क्रि० प्र०—छोड़ना।—डालना।—पड़ना।

(२) वह चद्दर जिससे हवा करके भूसा उड़ाते हैं।

मुहा०—परती लेना = चद्दर से हवा करके भूसा उड़ाना। बरसाना। ओसाना।

परतीत*-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतीति"।

परतेजना*-क्रि० स० [सं० परित्यजन] परित्याग करना। छोड़ना। उ०—जैसे उन मोकों परतेजी कबहूँ फिरि न निहारत हैं।—सूर।

परतेला-वि० [हिं० पड़ना] वह रंग जो तैयार होने के लिये कुछ समय तक घोल या उबालकर रखा जाय। (रंगरेज)

परतोली-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतोली] गली। (डिं०)

परत्र-क्रि० वि० [सं०] (१) और जगह। (२) पर काल में। परलोक में।

परत्रभीरु- वि० [सं०] जिसे परलोक का भय हो। धार्मिक।

परत्व-संज्ञा पुं० [सं०] पर होने का भाव। पहले या पूर्व होने का भाव।

यौ०—परत्व अपरत्व = पहले पीछे का भाव।

विशेष—वैशेषिक में द्रव्य के जो २४ गुण माने गए हैं उनमें 'परत्व' 'अपरत्व' भी हैं। 'परत्व' 'अपरत्व' देश और काल के भेद से दो प्रकार के होते हैं—कालिक और दैशिक। जैसे, 'उसका जन्म तुमसे पहले का है' यह कालसंबंधी 'परत्व' हुआ। 'उसका घर पहले पड़ता है' यह देशसंबंधी परत्व हुआ। देशसंबंधी परत्व अपरत्व का विपर्यय हो सकता है, पर कालसंबंधी परत्व अपरत्व का नहीं।

परथन†-संज्ञा पुं० दे० "पलेथन"।

परदच्छिना*†-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रदक्षिणा"।

परदा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कपड़ा, टट्टी आदि जिसके सामने पड़ने से कोई स्थान या वस्तु लोगों की दृष्टि से छिपी रहे। आड़ करने के काम में आनेवाला कपड़ा, टाट, चिक आदि। पट। जैसे, खिड़की में जो परदा लटक रहा है उस पर बहुत अच्छा काम है।

क्रि० प्र०—उठाना।—खड़ा करना।—गिराना।—डालना।

मुहा०—परदा उठाना = दे० "परदा खोलना"। परदा खोलना = छिपी बात प्रकट करना। भेद का उद्घाटन करना। परदा डालना = छिपाना। प्रकट न होने देना। जैसे, किसी के ऐबों पर परदा डालना। आँख पर परदा पड़ना = सुझाई न देना। बुद्धि पर परदा पड़ना = बुद्धि मंद होना। समझ में न आना। ढँका परदा = (१) छिपा हुआ दोष या कलंक। (२) बनी हुई प्रतिष्ठा या मर्य्यादा। जैसे, ढँका परदा रह जाय तो अच्छी बात है। (किसी का) परदा रखना = किसी की बुराई आदि लोगों पर प्रकट न होने देना। किसी की प्रतिष्ठा बनी रहने देना। उ०—मधुकर जाहि कहो सुन मेरो। पीत वसन तन श्याम जानि कै राखत परदा तेरो।—सूर। (२) आड़ करनेवाली कोई वस्तु। बीच में इस प्रकार पड़नेवाली वस्तु कि उसके इस पार से उस पार तक आना जाना देखना आदि न हो सके। दृष्टि या गति का अवरोध करनेवाली वस्तु। व्यवधान। (३) रोक जिससे सामने की वस्तु कोई देख न सके या उसके पास तक पहुँच न सके। आड़। ओट। ओझल। (४) लोगों की दृष्टि के सामने न होने की स्थिति। आड़। ओट। छिपाव।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

यौ०—परदानशीन।

मुहा०—परदा रखना = (१) परदे के भीतर रहना। सामने न होना। जैसे, स्त्रियाँ मरदों से परदा रखती हैं। (२) छिपाव रखना। दुराव रखना। (किसी को) परदा लगाना = परदे में रहने की स्थिति प्राप्त होना। किसी के सामने न होने का नियम होना। जैसे, (क) पहले तो मारी मारी फिरती

थी अब इसे परदा लगा है। (ख) सामने आकर क्यों नहीं कहते, क्या तुम्हें परदा लगा है ? **परदा होना** =(१) परदा रखे जाने का नियम होना। स्त्रियों को सामने न होने देने का नियम होना। जैसे, तुम बेधड़क भीतर चले आओ तुम्हारे लिये यहाँ परदा नहीं है। (२) छिपाव होना। दुराव होना। जैसे, तुमसे क्या परदा है तुम तो सब हाल जानते ही हो। **परदे बिठाना** = (स्त्री को) परदे के भीतर रखना। **परदे में रखना** =(१) स्त्रियों को घर के भीतर रखना, बाहर लोगों के सामने न होने देना। (२) छिपा रखना। प्रकट न होने देना। **परदे में रहना** =(१) स्त्रियों का घर के भीतर ही रहना, लोगों के सामने न होना। अंतःपुर में रहना। जनानखाने में रहना। (२) छिपा रहना। प्रकट न होना। **परदे परदे** = छिपे छिपे। चुपचाप। गुप्त रूप से। **परदे में छेद होना** = परदे के भीतर भीतर व्यभिचार होना।

(५) स्त्रियों को घर के भीतर रखने का नियम। स्त्रियों को बाहर निकलकर लोगों के सामने न होने देने की चाल। जैसे, हिंदुस्तान में जब तक परदा नहीं उठेगा, स्त्री-शिक्षा का प्रचार अच्छी तरह नहीं हो सकता। (६) वह दीवार जो विभाग करने या ओट करने के लिये उठाई जाय। (७) तह। परत। तल। जैसे, जमीन का परदा, दुनिया का परदा। (८) वह झिल्ली चमड़ा आदि जो कहीं पर आड़ या व्यवधान के रूप में हो, जैसे, आँख का परदा, कान का परदा। (९) अँगरखे का वह भाग जो छाती के ऊपर रहता है। (१०) फारसी के बारह रागों में से प्रत्येक। (११) सितार, हारमोनियम आदि बाजों में वह स्थान जहाँ से स्वर निकाला जाता है। (१२) नाव की पतवार।

परदादा–संज्ञा पुं० [सं० प्र + हिं० दादा] [स्त्री० परदादी] प्रपितामह। दादा का बाप। पड़दादा।

परदानशीन–वि० [फा०] परदे में रहनेवाली। अंतःपुरवासिनी। जैसे, परदानशीन औरत।

परदुम्भ*–संज्ञा पुं० दे० "प्रद्युम्न"। उ०—तुम परदुम्भ औ अनरुध दोऊ। तुम अभिमन्यु बोल सब कोऊ।—जायसी।

रदेश–संज्ञा पुं० [सं०] विदेश। दूसरा देश। पराया शहर।

मुहा०—**परदेश में छाना**=दूसरे देश में निवास करना। घर पर न रहना। (गीत)

परदेशी–वि० [सं०] विदेशी। दूसरे देश का। अन्य देशनिवासी।

परदोस*–संज्ञा पुं० दे० "प्रदोष"।

परधान*–वि० दे० "प्रधान"।

संज्ञा पुं० दे० "परिधान"। उ०—मथि मृगमद मलय कपूर सबनि के तिलक किए। उर मणिमाला पहिराय सब विचित्र ठए। दान मान परधान पूरण काम किए।—सूर।

परधाम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैकुंठ धाम। परलोक। (२) ईश्वर। विष्णु। उ०—अज सच्चिदानंद परधामा।—तुलसी।

परन–संज्ञा पुं० [?] मृदंग, आदि बाजों को बजाते समय मुख्य बोलों के बीच बीच में बजाए जानेवाले बोलों के खंड।

संज्ञा पुं० [सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पडिण्णा, अथवा सं० पण=बाजी, शर्त्त] प्रतिज्ञा। टेक।

क्रि० प्र०—करना।—बाँधना।— होना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़ना, पड़न] पड़ी हुई बान। आदत। उ०—राखौं हटकि उतै को धावै उनकी वैसिय परन परी री !—सूर।

संज्ञा पुं० * दे० "पर्ण"।

परना*†–क्रि० अ० दे० "पड़ना"।

परनाना–संज्ञा पुं० [सं० पर + हिं० नाना] [स्त्री० परनानी] नाना का बाप।

परनानी–संज्ञा स्त्री० [हिं० परनाना] नानी की माँ।

परनाम–संज्ञा पुं० दे० "प्रणाम"।

परनाला–संज्ञा पुं० [सं० प्रणाली] [स्त्री० अल्प० परनाली] वह मार्ग जिससे घर में का मल या पानी बहकर बाहर निकलता है। पनाला। नाबदान। मोरी।

परनाली–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रणाली] (१) छोटा परनाला। मोरी। (२) अच्छे घोड़ों की पीठ का (पुट्ठों और कंधों की अपेक्षा) नीचापन जो उनकी तेजी प्रकट करता है।

क्रि० प्र०—पड़ना।

परनि–संज्ञा स्त्री० [हिं० पड़ना, पड़न] पड़ी हुई बान। आदत। टेव। उ०—(क) सूरदास तैसहि ये लोचन का धौं परनि परी।—सूर। (ख) ऐसी परनि परी, री ! जाको लाज कहा ह्वै है तिनको ?—सूर। (ग) राखौं हटकि उतै को धावै उनकी वैसिय परनि परी री।—सूर।

परनी–संज्ञा स्त्री० [सं० पर्ण, हिं० परन] राँगे का महीन पत्तर जिसमें सुनहली या रुपहली चमक होती है और जिसे सजावट के लिये चिपकाते हैं। पन्नी।

परनौत*–संज्ञा स्त्री० [हिं० परनवना] प्रणति। प्रणाम। नमस्कार। उ०—ताते तुमको करत दंडौत। अरु सब नरहूँ को परनौत।—सूर।

परपंच*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रपंच"।

परपंचक*–वि० [सं० प्रपंचक] बखेड़िया। फसादी। जालिया। मायावी।

परपंची*†–वि० [सं० प्रपंची] (१) बखेड़िया। फसादी। (२) धूर्त्त। मायावी। उ०—सब दल होहु हुस्यार चलहु अब घेरहिं जाई। परपंची है कान्ह कछू मति करै ढिठाई।—सूर।

परपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरुद्ध पक्ष। विरोधियों का

दल। (२) विपक्षी की बात। मत का विरोध करनेवाले की बात।

परपट-संज्ञा पुं० [हिं० पर + सं० पट = चादर] चौरस मैदान। समतल भूमि।

परपटी-संज्ञा स्त्री० दे० "पर्पटी"।

परपराना-क्रि० अ० [देश०] मिर्च आदि कड़ुई चीजों का जीभ या शरीर के और किसी भाग में एक विशेष प्रकार का उग्र संवेदन उत्पन्न करना। तीक्ष्ण लगना। चुनचुनाना।

परपराहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० परपराना + आहट (प्रत्य०)] परपराने का भाव। चुनचुनाहट।

परपाकनिवृत्त-वि० [सं०] जो दूसरे के उद्देश्य से भोजन न निकाले। पंचयज्ञ न करनेवाला। (गृहस्थ)

विशेष—ऐसे मनुष्य का अन्न भोजन करनेवाले ब्राह्मण को प्रायश्चित करना चाहिए। (मिताक्षरा)

परपाकरत-वि० [सं०] जो स्वयं पंचयज्ञ करके दूसरे का दिया अन्न भोजन करके रहे।

विशेष—ऐसे का अन्न भोजन करनेवाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त करना चाहिए। (मिताक्षरा)

परपाजा-संज्ञा पुं० [सं० पर+पर + हिं० आजा] [स्त्री० परपाजी] आजा या दादा का बाप। पितामह का पिता। प्रपितामह।

परपार-संज्ञा पुं० [सं०] उस ओर का तट। दूसरी तरफ का किनारा। उ०—सील सुधा के अगार सुखमा के पारावार पावत न परपार पैरि पैरि थाके हैं।—तुलसी

परपिंडाद-संज्ञा पुं० [सं०] परान्नोपजीवी। दूसरे का अन्न खाकर जीनेवाला।

परपीड़क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरे को पीड़ा या दुःख पहुँचानेवाला। (२) पराई पीड़ा को समझनेवाला। दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देनेवाला। उ०—मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक।—सूर।

परपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष। (२) परम पुरुष। विष्णु।

परपुष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (जिसका दूसरे ने पोषण किया हो) कोकिल। कोयल।

विशेष—कहते हैं कि कोयल के बच्चे को कौआ अपना बच्चा समझ पालता है।

परपुष्टमहोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ (जिससे कोयल को बड़ा आनंद होता है।)

परपुष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पराश्रया। वेश्या। (२) परगाछा। बाँदा।

परपूठा-वि० [सं० परिपुष्ट, प्रा० परिपुट्ठ] पक्का। उ०—कबिरा तहाँ न जाइए जहाँ कपट को चित्त। परपूठा अवगुन घना मुँहड़े ऊपर मित्त।—कबीर।

परपूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो अपने पहले पति को छोड़ दूसरा पति करे।

विशेष—क्षता और अक्षता दो प्रकार की परपूर्वा कही गई हैं। नारद ने सात भेद बतलाये हैं—तीन प्रकार की पुनर्भू और चार प्रकार की स्वैरिणी।

परपैठ-संज्ञा स्त्री० [हिं० पर = दूसरा + पैठ = बाजार] हुंडी की तीसरी नकल। हुंडी की तीसरी प्रतिलिपि।

परपोता-संज्ञा पुं० [सं० प्रपौत्र] पोते का बेटा। पुत्र के पुत्र का पुत्र।

परपौत्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्रपौत्र का पुत्र। पोते के बेटे का बेटा।

परफुल्ल*-वि० दे० "प्रफुल्ल"।

परफुल्लित-वि० दे० "प्रफुल्ल"।

परबंद-संज्ञा पुं० [सं० पदबंध] नाच की एक गत जिसमें दोनों पैर इस प्रकार खड़े रखते हैं कि कमर पर दोनों कुहनियां सटी रहती हैं।

परबंध*-संज्ञा पुं० दे० "प्रबंध"।

परब-संज्ञा पुं० दे० "पर्व"।

संज्ञा स्त्री० [सं० पर्व=पोर, खंड] किसी रत्न वा जवाहिर का छोटा टुकड़ा।

परबत-संज्ञा पुं० दे० "पर्वत"।

परबत्ता-संज्ञा पुं० [सं० पर्वत] पहाड़ी तोता या सुग्गा जो देशी तोते से बड़ा होता है और जिसके डैनों पर लाल दाग होते हैं। करमेल।

परबल*-वि० दे० "प्रबल"।

परबस-संज्ञा पुं०। वि० दे० "परवश"।

परबसताई*-संज्ञा स्त्री० [सं० परवश्यता + ई (प्रत्य०)] पराधीनता। परतंत्रता। उ०—हरि विरंचि हर हेरि राम प्रेम परबसताई। सुख समाज रघुराज के बरनत विसुद्ध मन सुरनि सुमन झरि लाई।—तुलसी।

परबाल-संज्ञा पुं० [हिं० पर = दूसरा + बाल = रोयाँ] आँख की पलक पर वह फालतू निकला हुआ बाल या बिरनी जिसके कारण बहुत पीड़ा होती है।

*संज्ञा पुं० दे० "प्रवाल"।

परबी-संज्ञा स्त्री० [सं० पर्व] पर्व का दिन। उत्सव का दिन। पुण्यकाल।

परबीन*-वि० दे० "प्रवीण"।

परबेस*-संज्ञा पुं० दे० "प्रवेश"।

परबोध-संज्ञा पुं० दे० "प्रबोध"।

परबोधना*-क्रि० स० [सं० प्रबोधन] (१) जगाना। (२) ज्ञानोपदेश करना। (३) प्रबोध देना। दिलासा देना। तसल्ली देना। ढाढ़स बँधाना। समझाना। उ०—पुनि यह कहा मोहिं परबोधत धरनि गिरी मुरझैया।—सूर।

परब्रह्म–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म जो जगत् से परे है। निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म।

परभव–संज्ञा पुं० [सं०] जन्मांतर। दूसरा जन्म।

परभा–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रभा"।

परभाइ*–संज्ञा पुं० दे० "प्रभाव"।

परभाग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरी ओर का भाग। (२) पश्चिम भाग। (३) शेष भाग। बचा हुआ भाग। (४) गुणोत्कर्ष। अच्छापन। (५) सुसंपदा।

परभाग्योपजीवी–वि० [सं०] दूसरे की कमाई खाकर रहनेवाला।

परभात*–संज्ञा पुं० दे० "प्रभात"।

परभाती–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रभाती"।

परभाव*–संज्ञा पुं० दे० "प्रभाव"। उ०—यह सब कलियुग को परभाव। जो नृप के मन भयो कुठाव।—सूर।

परभुक्ता–वि० स्त्री० [सं०] दूसरे की भोगी हुई। (स्त्री) जिसके साथ पहले दूसरा समागम कर चुका हो।

परभृत–संज्ञा स्त्री० [सं०] कोयल। कोकिल। (जो कौए के द्वारा पाली जाती है)।

परम–वि० [सं०] (१) सबसे बढ़ा चढ़ा। अत्यंत। हद से ज्यादा। (२) जो बढ़ चढ़कर हो। उत्कृष्ट। (३) प्रधान। मुख्य। (४) आद्य। आदिम।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) विष्णु।

परमगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तम गति। मोक्ष। मुक्ति।

परमजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रकृति।

परमज्या–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

परमट–संज्ञा पुं० [देश०] संगीत में एक ताल।

परमतत्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल तत्त्व जिससे संपूर्ण विश्व का विकाश है। मूल सत्ता। (२) ब्रह्म। ईश्वर।

परमद–संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत मद्य पीने से होनेवाला एक रोग जिसमें शरीर भारी रहता है, मुँह का स्वाद बिगड़ा रहता है; प्यास अधिक लगती है, माथे और शरीर के जोड़ों में दर्द होता है।

परमधाम–संज्ञा पुं० [सं०] वैकुंठ।

परमन्यु–संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंशी कक्षेयु के एक पुत्र का नाम।

परम पद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सबसे श्रेष्ठ पद वा स्थान। (२) मोक्ष। मुक्ति।

परम पिता–संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

परम पुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमात्मा। (२) विष्णु।

परम फल–संज्ञा पुं० [स०] (१) सबसे उत्तम फल या परिणाम। (२) मोक्ष। मुक्ति।

परम ब्रह्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परब्रह्म। (२) ईश्वर।

परम ब्रह्मचारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

परमभट्टारक–संज्ञा पुं० [सं०] एकछत्र राजाओं की एक प्राचीन उपाधि।

परमभट्टारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] रानियों की एक सम्मानसूचक उपाधि।

परम महत्–वि० [सं०] सबसे बड़ा और व्यापक।

विशेष—काल, आत्मा, आकाश और दिक् ये सर्वगत होने के कारण परम महत् कहलाते हैं।

परम रस–संज्ञा पुं० [सं०] पानी मिला हुआ मट्ठा। जलमिश्रित तक्र।

परमर्दि देव–संज्ञा पुं० [सं०] महोबे के एक चंदेलवंशी राजा जो आल्हा में राजा परमाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। पृथ्वीराज ने इन पर चढ़ाई करके इन्हें अधीन किया था।

परमल–संज्ञा पुं० [सं० परिमल = कूटा हुआ, मला हुआ ?] ज्वार या गेहूँ का एक प्रकार का भुना हुआ दाना या चबेना। (ज्वार को भिगोकर कूटते हैं और फिर भाड़ में भून लेते हैं)।

संज्ञा पुं० दे० "परिमल"।

परमहंस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संन्यासियों का एक भेद। वह संन्यासी जो ज्ञान की परमावस्था को पहुँच गया हो अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म मैं ही हूँ इसका पूर्ण रूप से अनुभव जिसे हो गया हो।

विशेष—कुटीचक्र, बहूदक, हंस और परमहंस जो चार प्रकार के अवधूत कहे गए हैं उनमें परमहंस सब से श्रेष्ठ है। जिस प्रकार संन्यासी होने पर शिखा-सूत्र का त्यागकर दंड ग्रहण करते हैं उसी प्रकार परमहंस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर दंड की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। निर्णय-सिंधु में लिखा है कि जो परमहंस विद्वान न हों उन्हें एक दंड धारण करना चाहिए पर जो विद्वान् हों उन्हें दंड की कोई आवश्यकता नहीं। परमहंस आश्रम में प्रवेश करने पर मनुष्य सब प्रकार के बंधनों से मुक्त समझा जाता है, उसके लिये श्राद्ध, संध्या, तर्पण आदि आवश्यक नहीं। देवार्चन आदि भी उसके लिये नहीं है, किसी को नमस्कार आदि करने से उसे कोई प्रयोजन नहीं। उसे अध्यात्मनिष्ठ होकर निर्द्वंद्व और निराग्रह भाव से ब्रह्म में स्थित रहना चाहिए। पर आजकल कुछ परमहंस देवमूर्त्तियों का पूजन आदि करते हैं, पर नमस्कार नहीं करते।

(२) परमात्मा। उ०—परमहंस तुम सबके ईस। वचन तुम्हारो श्रुति जगदीस।—सूर।

परमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] चव्य।

संज्ञा स्त्री० शोभा। छबि। खूबसूरती। उ०—बानी मधुरी वास बन परमा परम बिसाल।—दीनदयाल।

विशेष—यह प्रयोग अमरकोश के 'सुषमा परमा शोभा' में 'परमा' विशेषण को पर्य्याय समझने के कारण चल पड़ा है।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रमेह] प्रमेह रोग ।

परमाटा-संज्ञा पुं० [देश०] संगीत में एक ताल।

संज्ञा पुं० [अं० परमटा] एक प्रकार का चिकना, चमकीला और दबीज कपड़ा ।

विशेष—परमाटा आस्ट्रेलिया में एक स्थान है । वहाँ से जो ऊन आता था उससे एक प्रकार का कपड़ा बनता था जिसका ताना सूत का और बाना ऊन का होता था। उसी को परमाटा कहते थे । पर अब परमाटा सूत का ही बनता है ।

परमाणु-संज्ञा पुं० [सं०] अत्यंत सूक्ष्म अणु । पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों का वह छोटे से छोटा भाग जिसके फिर विभाग नहीं हो सकते ।

विशेष—वैशेषिक में चार भूतों के चार तरह के परमाणु माने हैं—पृथ्वी परमाणु, जल परमाणु, तेज परमाणु और वायु परमाणु । पाँचवाँ भूत आकाश विभु है। इससे उसके टुकड़े नहीं हो सकते । परमाणु इसलिये मानने पड़े हैं कि जितने पदार्थ देखने में आते हैं सब छोटे छोटे टुकड़ों से बने हैं । इन टुकड़ों में से किसी एक को लेकर हम बराबर टुकड़े करते जायँ तो अंत में ऐसे टुकड़े होंगे जो हमें दिखाई न पड़ेंगे। किसी छेद से आती हुई सूर्य की किरणों में जो छोटे छोटे कण दिखाई पड़ते हैं उनके टुकड़े करने से अणु होंगे। ये अणु भी जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों से मिलकर बने होंगे उन्हीं का नाम परमाणु रक्खा गया है । न्याय और वैशेषिक के मत से इन्हीं परमाणुओं के संयोग से पृथ्वी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है जिसका क्रम प्रशस्तपाद भाष्य में इस प्रकार लिखा गया है ।

जब जीवों के कर्मफल के भोग का समय आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है । इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु-परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है । इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है । दो दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं । तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु, चार द्व्यणुक मिलने से चतुरणुक इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं । इस प्रकार एक महान् वायु उत्पन्न होता है । उसी वायु में जल-परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक जलत्रसरेणु आदि की योजना होते होते महान् जलनिधि उत्पन्न होता है । इस जलनिधि में पृथ्वी परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथ्वी उत्पन्न होती है । उसी जलनिधि में तेजस परमाणुओं के परस्पर संयोग से महान् तेजोराशि की उत्पत्ति होती है । इसी क्रम से चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं । यही संक्षेप में वैशेषिकों का परमाणुवाद है ।

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म और केवल अनुमेय है । अतः तर्कामृत नाम के एक नवीन ग्रंथ में जो यह लिखा गया है कि सूर्य की आती हुई किरणों के बीच जो धूल के कण दिखाई पड़ते हैं उनके छठें भाग को परमाणु कहते हैं वह प्रामाणिक नहीं है । वैशेषिकों का सिद्धांत है कि कारणगुणपूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं, अतः जैसे गुण परमाणु में होंगे वैसे ही गुण उनसे बनी हुई वस्तुओं में होंगे । जैसे, गंध गुरुत्व आदि जिस प्रकार पृथ्वीपरमाणु में रहते हैं उसी प्रकार सब पार्थिव वस्तुओं में होते हैं ।

आधुनिक रसायन और भूत विज्ञान द्वारा प्राचीनों के मूल भूत और परमाणुसंबंधी धारणा का बहुत कुछ निराकरण हो गया है । प्राचीन लोग पंचमहाभूत मानते थे जिनमें से आकाश को छोड़ शेष चार भूतों के अनुसार चार प्रकार के परमाणु भी उन्हें मानने पड़े थे । पर इन चार भूतों में से अब तीन तो कई मूल भूतों के योग से बने पाए गए । जैसे, जल दो गैसों (वायु से भी सूक्ष्म भूत) के योग से बना सिद्ध हुआ । इसी प्रकार वायु में भी भिन्न भिन्न गैसों का संयोग विश्लेषण द्वारा पाया गया। रहा तेज उसे विज्ञान भूत नहीं मानता केवल भूत की शक्ति (गति शक्ति) का एक रूप मानता है । ताप से परिमाण की वृद्धि नहीं होती । ठंढे लोहे का जो वजन रहेगा वही उसे तपाने पर भी रहेगा । अस्तु आधुनिक रसायनशास्त्र में ७५ मूल भूत माने गए हैं, जिनमें से कुछ तो धातुएँ हैं, जैसे ताँबा, सोना, लोहा, सीसा, चाँदी, राँगा, जस्ता; कुछ और खनिज हैं जैसे, गंधक, फासफर, पोटाश, अंजन, पारा, हड़ताल तथा कुछ गैस हैं, जैसे आक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि । इन्हीं पचहत्तर मूल भूतों के अनुसार पचहत्तर प्रकार के परमाणु आधुनिक रसायन में माने जाते हैं ।

परमाणुवाद-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय और वैशेषिक का यह सिद्धांत कि परमाणुओं से जगत् की सृष्टि हुई है ।

विशेष—वैशेषिक और न्याय दोनों पृथ्वी आदि चार महाभूतों की उत्पत्ति चार प्रकार के परमाणुओं के योग से मानते हैं (दे० परमाणु) । जिस परमाणु में जो गुण होते हैं वे उससे बने हुए पदार्थों में भी होते हैं । पृथ्वी, वायु इत्यादि के परमाणुओं के योग से बने हुए पदार्थ जो नाना रूप रंग और आकृति के होते हैं, वह इस कारण कि भिन्न भिन्न भूतों द्व्यणुकों या त्रसरेणुकों का सन्निवेश और संघटन तरह तरह का होता है । दूसरी बात यह है कि तेज के संबंध से वस्तुओं के गुणों में फेरफार हो जाता है । जैसे कच्चा घड़ा पकाए जाने पर लाल हो जाता है । इसके संबंध में वैशेषिकों की यह धारणा है कि आँवे में जाकर अग्नि

के प्रभाव से घड़े के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं अर्थात् उसके परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। अलग होने पर प्रत्येक परमाणु तेज के योग से रंग बदलकर लाल हो जाता है। फिर जब सब अणु जुड़कर फिर घड़े के रूप में हो जाते हैं तब घड़े का रंग लाल निकल आता है। वैशेषिक कहते हैं कि आँवे में जाकर घड़े का एक बार नष्ट होकर फिर बन जाना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि हम लोग देख नहीं सकते। इसी विलक्षण मत को "पीलुपाकमत" कहते हैं। नैयायिकों का मत इस विषय में ऐसा नहीं है। वे कहते हैं कि इस प्रकार अदृश्य नाश और उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में परमाणुओं या द्व्यणुकों का संयोग इस प्रकार का रहता है कि उनके बीच बीच में कुछ अवकाश रह जाता है। इसी अवकाश में भरकर अग्नि का तेज अणुओं का रंग बदलता है। वेदांत में नैयायिकों और वैशेषिकों के परमाणुवाद का खंडन किया गया है।

परमाणुवादी–संज्ञा पुं० [सं० परमाणुवादिन्] परमाणुओं के योग से सृष्टि की उत्पत्ति माननेवाला। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में न्याय और वैशेषिक का मत माननेवाला।

परमात्मा–संज्ञा पुं० [सं० परमात्मन्] ब्रह्म। परब्रह्म। ईश्वर।

परमाद्वैत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सर्वभेदरहित परमात्मा। (२) विष्णु।

परमानंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा सुख। (२) ब्रह्म के अनुभव का सुख। ब्रह्मानंद। (३) आनंद स्वरूप ब्रह्म।

परमान*†–संज्ञा पुं० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण। सबूत। (२) यथार्थ बात। सत्य बात। (३) सीमा। मिति। अवधि। हद। उ०—तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहैं इहाँ बरष परमाना।—तुलसी।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः अव्ययवत् रहता है।

परमानना*–क्रि० स० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण मानना। ठीक समझना। (२) स्वीकार करना। सकारना।

परमान्न–संज्ञा पुं० [सं०] खीर। पायस।

विशेष—देवताओं को अधिक प्रिय होने के कारण यह नाम पड़ा।

परमायु–संज्ञा स्त्री० [सं० परमायुस्] अधिक से अधिक आयु। जीवित काल की सीमा।

विशेष—मनुष्य की परमायु १२० वर्ष की मानी जाती है। फलित ज्योतिष में मनुष्य की परमायु चार प्रकार से निकाली जाती है जिसे क्रमशः अंशायु, पिंडायु, निसर्गायु और जीवायु कहते हैं। लग्न बलवान् हों तो निसर्गायु और यदि तीनों दुर्बल हों तो जीवायु निकालनी चाहिए।

परमायुष–संज्ञा पुं० [सं०] वियसाल का पेड़।

परमार–संज्ञा पुं० [सं० पर = शत्रु + हिं० मारना] राजपूतों का एक कुल जो अग्निकुल के अंतर्गत है। पँवार।

विशेष—परमारों की उत्पत्ति शिलालेखों तथा नवसाहसांकचरित में इस प्रकार मिलती है। महर्षि वसिष्ठ अर्बुदगिरि (आबू पहाड़) पर निवास करते थे। विश्वामित्र उनकी गाय वहाँ से छीन ले गए। वसिष्ठ ने यज्ञ किया और अग्निकुंड से एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने बात की बात में विश्वामित्र की सारी सेना नष्ट करके गाय लाकर वशिष्ठ के आश्रम पर बाँध दी। वसिष्ठ ने प्रसन्न होकर कहा "तुम परमार (शत्रुओं को मारनेवाले) हो और तुम्हारा राज्य चलेगा।" इसी परमार के वंश के लोग परमार कहलाए।

टाड साहब ने परमारों की अनेक शाखाएँ गिनाई हैं, जैसे, मोरी (जो गहलोतों के पहले चित्तौर के राजा थे), सोड़ा, संकल, खैर, उमरा सुमरा (आजकल मुसलमान हैं) विहिल, महीपावत, बलहार, कावा, ओमता इत्यादि। इनके अतिरिक्त चावँड़, खेजर, सगरा, वरकोटा, संपाल, भीवा, कोहिला, धंद, देवा, बरहर, निकुंभ, टीका इत्यादि और भी कुल हैं जिनमें से कुछ सिंध पार रहते हैं और पठान मुसलमान हो गए हैं।

परमारों का राज्य मालवा में था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अनेक स्थानों पर मिले हुए शिलालेखों तथा पद्मगुप्त के नवसाहसांकचरित से मालवा के परमार राजाओं की वंशावली इस प्रकार निकलती है—

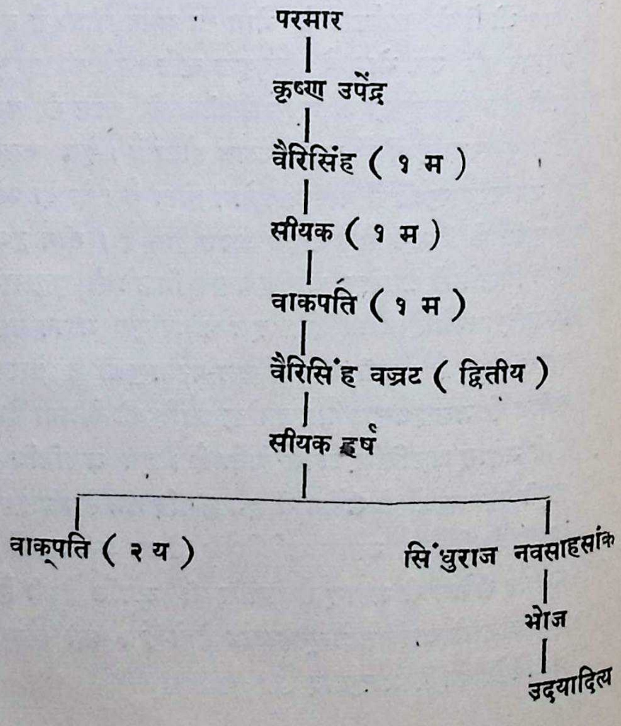

ईसा की आठवीं शताब्दी में कृष्ण उपेंद्र ने मालवा का राज्य प्राप्त किया। सीयक (द्वितीय) या श्रीहर्षदेव के संबंध में पद्मगुप्त ने लिखा है कि उसने एक हूण राजा को पराजित किया। उदयपुर की प्रशस्ति से यह भी जाना जाता है कि उसने राष्ट्रकूट वंशीय मान्यखेट (मानखेड़ा) के राजा खोट्टिगदेव का राज्य ले लिया। पाइअलच्छी नाममाला नाम का धनपाल का लिखा एक प्राकृत कोश है जिसमें लिखा है कि "विक्रम संवत् १०२६ में मालवा के राजा ने मान्यखेट पर चढ़ाई की और उसे लूटा। उसी समय में यह ग्रंथ लिखा गया।" श्रीहर्षदेव या सीयक (द्वितीय) के पुत्र वाक्पतिराज (द्वितीय) का पहला ताम्रपत्र १०३१ वि० संवत् का मिलता है। ताम्रपत्रों, शिलालेखों और नवसाहसांकचरित में वाकपतिराज के कई नाम मिलते हैं, जैसे, मुंज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ, श्रीवल्लभ। यह बड़ा विद्वान् और कवि था। मुंज वाक्पतिराज के अनेक श्लोक प्रबंधचिंतामणि, भोजप्रबंध, तथा अलंकारग्रंथों में मिलते हैं। इसकी सभा में कवि धनंजय, पिंगल टीकाकार हलायुध, कोशकार धनपाल, और पद्मगुप्त आदि अनेक पंडित थे। इसने दक्षिण के कर्णाट, लाट, केरल, चोल, आदि अनेक देशों को जय किया। प्रबंधचिंतामणि में लिखा है कि वाक्पतिराज ने चालुक्यराज द्वितीय तैलप को सोलह बार हराया, पर अंत में एक चढ़ाई में उसके यहाँ बंदी हो गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। चालुक्य राजाओं के शिलालेखों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है। मुंज के उपरांत उसका छोटा भाई सिंधुराज या सिंधुल गद्दी पर बैठा। इसकी एक उपाधि नवसाहसांक भी थी। नवसाहसांकचरित में पद्मगुप्त ने इसी का वृत्तांत लिखा है। सिंधुराज का पुत्र महाप्रतापी विद्वान् और दानी भोज हुआ जिसका नाम भारत में घर घर प्रसिद्ध है। उदयपुर-प्रशस्ति में लिखा है कि भोज ने गुर्जर, लाट, कर्णाट, तुरुष्क आदि अनेक देशों पर चढ़ाई की। भोज ने कल्याण के चालुक्य राजा तृतीय जयसिंह पर भी चढ़ाई की थी। पर जान पड़ता है कि इसमें उसे सफलता नहीं हुई। विल्हण के विक्रमांकदेवचरित में लिखा है कि जयसिंह के उत्तराधिकारी चालुक्यराज सोमेश्वर (द्वितीय) ने भोज की राजधानी धारा नगरी पर चढ़ाई की और भोज को भागना पड़ा। प्रबंधचिंतामणि तथा नागपुर की प्रशस्ति में भी लिखा है कि चेदिराज कर्ण और गुर्जरराज चालुक्य भीम ने मिलकर भोज पर चढ़ाई की जिससे भोज का अधःपतन हुआ। भोज की मृत्यु कब हुई यह ठीक नहीं मालूम। पर इतना अवश्य पता चलता है कि ९६४ शक (सन् १०४२—४३ ई०) तक वह विद्यमान था। राजतरंगिणी में लिखा है कि काश्मीरपति कलस और मालवाधिप भोज दोनों कवि थे और एक ही समय में वर्त्तमान थे। इससे जान पड़ता है कि सन् १०६२ ई० के कुछ काल पीछे ही उसकी मृत्यु हुई होगी। भोज के पीछे उदयादित्य का नाम मिलता है जिसने धारा नगरी को शत्रुओं के हाथ से निकाला और धरणीवराह के मंदिर की मरम्मत कराई। इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं।

भूपाल में प्राप्त उदयवर्म के ताम्रपत्र तथा पिपलिया के ताम्रपत्र में ये नाम और मिलते हैं—भोजवंशीय महाराज यशोवर्मदेव, उसका पुत्र जयधर्मदेव, उसके पीछे महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव, उसके पीछे हरिश्चंद्र का पुत्र उदयवर्मदेव। पिछले दोनों कुमार भोजवंशीय थे या नहीं, नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि ये सामंत राजा थे जो जयधर्मदेव के बहुत पीछे हुए।

अवध में भुकसा नाम के कुछ क्षत्रिय हैं जो अपने को भोजवंशी बतलाते हैं। उनका कहना है कि भोज के पीछे उदयादित्य निर्विघ्न राज नहीं कर पाया। उसके भाई जगत्राव ने उसे निकाल दिया और वह कुछ अनुचरों और पुरोहितों के साथ वनवास नाम के गाँव में आ बसा। उसी के वंश के ये भुकसा क्षत्रिय हैं।

परमारथ*—संज्ञा पुं० दे० "परमार्थ"।

परमार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्कृष्ट पदार्थ। सबसे बढ़कर वस्तु। (२) सार वस्तु। वास्तव सत्ता। नाम रूपादि से परे यथार्थ तत्व। (३) मोक्ष। (४) दुःख का सर्वथा अभावरूप सुख (न्याय)।

परमार्थता—संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्य भाव। याथार्थ्य।

परमार्थवादी—संज्ञा पुं० [सं० परमार्थवादिन्] ज्ञानी। वेदांती। तत्त्वज्ञ।

परमार्थी—वि० [सं० परमार्थिन्] (१) यथार्थ तत्त्व को ढूँढ़नेवाला। तत्त्व जिज्ञासु। उ०—परमार्थी प्रपंच वियोगी।—तुलसी। (२) मोक्ष चाहनेवाला। मुमुक्षु।

परमाह—संज्ञा पुं० [सं०] शुभ दिन। अच्छा दिन।

परमीकरणमुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र के अनुसार देवताओं के आह्वान की एक मुद्रा जिसमें हाथ के दोनों अँगूठों को एक में गाँठकर उँगलियों को फैलाते हैं। इसे महामुद्रा भी कहते हैं।

परमुख*—वि० [सं० पराङ्मुख] (१) विमुख। पीछे फिरा हुआ। (२) जो ध्यान न दे। जो प्रतिकूल आचरण करे।

परमृत्यु—संज्ञा पुं० [सं०] काक। कौआ। (प्रवाद है कि कौए आप से आप नहीं मरते।)

परमेश—संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

परमेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार का कर्त्ता और परिचालक सगुण ब्रह्म । (२) विष्णु । (३) शिव ।

परमेश्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा या देवी का नाम ।

परमेष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] चतुर्मुख ब्रह्मा । प्रजापति । (शुक्ल यजु०) ।

परमेष्ठिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परमेष्ठी की शक्ति । देवी । (२) श्री । (३) वाग्देवी । (४) ब्राह्मी जड़ी ।

परमेष्ठी–संज्ञा पुं० [सं० परमेष्ठिन्] (१) ब्रह्मा अग्नि आदि देवता । (२) विष्णु । (३) शिव । (४) एक जिन का नाम । (५) शालिग्राम का एक विशेष भेद । (६) विराट् पुरुष । (७) चाक्षुष मनु । (८) गरुड़ ।

परमेसर, परमेसुर*‡–संज्ञा पुं० दे० "परमेश्वर" ।

परमोद*–संज्ञा पुं० दे० "प्रमोद" ।

परयंक*–संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक" ।

परयस्तापह्नुति–संज्ञा स्त्री० दे० "पर्यस्तापह्नुति" ।

पररु–संज्ञा पुं० [सं०] नील भृंगराज । नीली भंगरैया ।

परतल–संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली पेड़ जिसकी जड़ और छाल दवा के काम में आती हैं और लकड़ी इमारतों में लगती है ।

परलउ*‡–संज्ञा पुं० दे० "प्रलय" ।

परलय*–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रलय] प्रलय । सृष्टि का नाश वा अंत । उ०—पल में परलय होयगी बहुरि करोगे कब्ब ?—कबीर ।

परला–वि० [सं० पर = उधर का, दूसरा + ला (प्रत्य०)] [स्त्री० परली] उस ओर का । दूसरी तरफ का । उरला का उलटा ।

मुहा०–**परले दरजे का** = दे० "परले सिरे का"। **परले सिरे का** = हद दरजे का । अत्यंत । बहुत अधिक । **परले पार होना** = (१) अंत तक पहुँचना । बहुत दूर तक जाना । (२) समाप्त होना ।

परलै*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रलय" ।

परलोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा लोक । वह स्थान जो शरीर छोड़ने पर आत्मा को प्राप्त होता है । जैसे, स्वर्ग, वैकुंठ आदि ।

यौ०—**परलोकवासी** = मृत । मरा हुआ । (आदरार्थ)

मुहा०—**परलोकगामी होना** = मरना । **परलोक सिधारना** = मरना ।

(२) मृत्यु के उपरांत आत्मा की दूसरी स्थिति की प्राप्ति । जैसे, जो ईश्वर और परलोक में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक कहलाते हैं ।

परलोकगमन–संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु ।

परलोकप्राप्ति–संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु ।

परवर*–संज्ञा पुं० [सं० पटोल] परवल ।

संज्ञा पुं० [?] आँख का एक रोग ।

संज्ञा पुं० दे० "प्रवर" ।

परवरदिगार–संज्ञा पुं० [फा०] (१) पालन करनेवाला । (२) ईश्वर ।

परवरिश–संज्ञा स्त्री० [फा०] पालन पोषण ।

परवल–संज्ञा पुं० [सं० पटोल] (१) एक लता जो टट्टियों पर चढ़ाई जाती और जिसके फलों की तरकारी होती है । यह सारे उत्तरीय भारत में पंजाब से लेकर बंगाल आसाम तक होती है । पूरब में पान के भीटों पर परवल की बेलें चढ़ाई जाती हैं । फल चार पाँच अंगुल लंबे और दोनों सिरों की ओर पतले या नुकीले होते हैं । फलों के भीतर गूदे के बीच गोल बीजों की कई पंक्तियाँ होती हैं । परवल की तरकारी पथ्य मानी जाती है और ज्वर के रोगियों को दी जाती है । वैद्यक में परवल के फल कटु, तिक्त, पाचन, दीपन, हृद्य, वृष्य, उष्ण, सारक तथा कफ, पित्त, ज्वर, दाह को हटानेवाले माने जाते हैं । जड़ विरेचक और पत्ते तिक्त और पित्तनाशक कहे गए हैं ।

पर्या०—कुलक । तिक्तक । पटु । कर्कशफल । फुलंज । वाजिमान । लताफल । राजफल । वरतिक्त । अमृताफल । कटुफल । राजनामा । वीजगर्भ । नागफल । कुष्ठारि । कासमर्दन । ज्योत्स्नी । कच्छुघ्नी ।

(२) चिचड़ा जिसके फलों की तरकारी होती है ।

परवश–वि० [सं०] जो दूसरे के वश में हो । पराधीन ।

परवश्य–वि० [सं०] जो दूसरे के वश में हो । पराधीन ।

परवश्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पराधीनता ।

परवस्ती*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "परवरिश" ।

परवा–संज्ञा पुं० [सं० पुट, वा पूर, हिं० पुर, पुरवा] [स्त्री० अल्प० परई] मिट्टी का बना हुआ कटोरे के आकार का बरतन । कोसा ।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा०पडिवा] पक्ष की पहली तिथि । पड़वा । परिवा ।

संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) चिंता । व्यग्रता । खटका । आशंका । जैसे, (क) उसकी धमकी की मुझे परवा नहीं है । (ख) तुम मेरा साथ न दोगे तो कुछ परवा नहीं । (२) ध्यान । ख्याल । किसी बात की ओर दत्तचित्त होने का भाव । जैसे, (क) तुम उस लड़के की पढ़ाई लिखाई की कुछ परवा नहीं रखते । (ख) उसे इतना लोग समझाते हैं पर वह कुछ परवा नहीं करता । (३) आसरा । भरोसा । जैसे, जिसके घर में सब कुछ है उसे दूसरे की क्या परवा ? उ०—दे० "परवाह" ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास ।

परवाई*–संज्ञा स्त्री० दे० "परवा" या "परवाह" ।

परवाच्य-वि० [सं०] जिसे दूसरे बुरा कहते हों। निंदित।

परवाज-संज्ञा स्त्री० [फा०] उड़ान।

परवाणि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्माध्यच्च। (२) वत्सर। (३) कार्त्तिकेय का वाहन, मयूर।

परवान*-संज्ञा पुं० [सं० प्रमाण] (१) प्रमाण। सबूत। (२) यथार्थ बात। सत्य बात। (३) सीमा। मिति। अवधि। हद। उ०—तपबल तेहि करि आपु समाना। रखिहौं इहाँ बरष परवाना।—तुलसी।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग प्रायः अव्ययवत् रहता है।

मुहा०—परवान चढ़ना=(१) पूरी आयु तक पँहुचना। सब सुखों का पूरा भोग करना। जैसे, फले फूले परवान चढ़े (स्त्रि० आशीर्वाद)। (२) विवाहित होना। ब्याहने जाना। (स्त्रि०)।

परवानगी-संज्ञा स्त्री० [फा०] इजाजत। आज्ञा। अनुमति।

परवाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) आज्ञापत्र।

यौ०—परवाने नवीस=परवाना लेखक।

(२) फतिंगा। पंखी। पतंग।

परवाया-संज्ञा पुं० [हिं० पैर+पाया] चारपाई के पायों के नीचे रखने की चीज।

परवाल*-संज्ञा पुं० दे० "प्रवाल"।

परवासिका, परवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँदा। बंदाक। परगाछा।

परवाह-संज्ञा स्त्री० [फा० परवा](१) चिंता। व्यग्रता। खटका। आशंका। उ०—चित्र के से लिखे दोऊ ठाढ़े रहे कासीराम, नाहीं परवाह लोग लाख करो लरिबो।—काशीराम। (२) ध्यान। ख्याल। किसी बात की ओर चित्त देना। (३) आसरा। भरोसा। उ०—जग में गति जाहि जगत्पत्ति की परवाह सो ताहि कहा नर की।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० प्रवाह] बहने का भाव।

मुहा०—परवाह करना= बहाना। धारा में छोड़ना। जैसे, इस मुर्दे को परवाह कर दो।

परवीन*-वि० दे० "प्रवीण"।

परवेख*-संज्ञा पुं० [सं० परिवेष] बहुत हलकी बदली के बीच दिखाई पड़नेवाला चंद्रमा के चारों ओर पड़ा हुआ घेरा। मंडल। चाँद की अथाई। उ०—सारी सहित किनारी मुख छवि देख। मनहुँ शरद निशि चहुँ दिशि दुति परवेख।—रहीम।

परवेश*-संज्ञा पुं० दे० "प्रवेश"।

परवेश्म-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग।

परव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र।

परश-संज्ञा पुं० [सं०] स्पर्शमणि। पारस पत्थर।

संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श] स्पर्श। छूना।

परशाला-संज्ञा पुं० [सं०] परगाछा। बाँदा।

परशु-संज्ञा पुं० [सं०] एक अस्त्र जिसमें एक डंडे के सिरे पर एक अर्द्धचंद्राकार लोहे का फल लगा रहता है। एक प्रकार की कुल्हाड़ी जो पहले लड़ाई में काम आती थी। तबर। भलुवा।

परशुधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परशु धारण करनेवाला। (२) परशुराम।

परशुराम-संज्ञा पुं० [सं०] जमदग्नि ऋषि के एक पुत्र जिन्होंने २१ बार चत्रियों का नाश किया था। ये ईश्वर के छठें अवतार माने जाते हैं। 'परशु' इनका मुख्य शस्त्र था इसी से यह नाम पड़ा।

विशेष—महाभारत के शांतिपर्व में इनकी उत्पत्ति के संबंध में यह कथा लिखी है। कुशिक पर प्रसन्न होकर इंद्र उनके यहाँ गाधि नाम से उत्पन्न हुए। गाधि को सत्यवती नाम की एक कन्या हुई जिसे उन्होंने भृगु के पुत्र ऋचीक को ब्याहा। ऋचीक ने एक बार प्रसन्न होकर अपनी स्त्री और सास के लिये दो चरु प्रस्तुत किए और सत्यवती से कहा "इस चरु को तुम खाना। इससे तुम्हें परम शांत और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। इस दूसरे चरु को अपनी माता को देना। इससे उन्हें अत्यंत वीर और प्रबल पुत्र उत्पन्न होगा जो सब राजाओं को जीतेगा। पर भूल से सत्यवती ने अपनी मातावाला चरु खा लिया और गाधि की स्त्री सत्यवती की माता ने सत्यवती का चरु खाया। जब ऋचीक को यह पता चला तब उन्होंने सत्यवती से कहा "यह तो उलटा हो गया। तुम्हारे गर्भ से अब जो बालक उत्पन्न होगा वह बड़ा क्रूर, प्रचंड चात्र तेज से युक्त होगा और तुम्हारी माता के गर्भ से जो पुत्र होगा वह परम शांत तपस्वी और ब्राह्मण के गुणों से युक्त होगा"। सत्यवती ने बहुत विनती की कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, मेरा पौत्र हो तो हो। वनपर्व में यही कथा कुछ दूसरे प्रकार से है।

कुछ दिनों में सत्यवती के गर्भ से जमदग्नि की उत्पत्ति हुई जो तप और स्वाध्याय में अद्वितीय हुए और जिन्होंने समस्त वेद वेदांग का तथा धनुर्वेद का अध्ययन किया। प्रसेनजित् राजा की कन्या रेणुका से उनका विवाह हुआ। रेणुका के गर्भ से पाँच पुत्र हुए—समन्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु और राम या परशुराम। इसके आगे वनपर्व में कथा इस प्रकार है। एक दिन रेणुका स्नान करने के लिये नदी में गई थी। वहाँ उसने राजा चित्ररथ को अपनी स्त्री के साथ जलक्रीड़ा करते देखा और कामवासना से उद्विग्न होकर घर आई। जमदग्नि उसकी यह दशा देख बहुत कुपित हुए और उन्होंने अपने चार पुत्रों को एक एक करके रेणुका के वध की आज्ञा दी। पर स्नेहवश किसी से ऐसा न हो सका। इतने में परशु-

राम आए। परशुराम ने आज्ञा पाते ही माता का सिर काट डाला। इस पर जमदग्नि ने प्रसन्न होकर वर माँगने के लिये कहा। परशुराम बोले "पहले तो मेरी माता को जिला दीजिए और फिर यह वर दीजिए कि मैं परमायु प्राप्त करूँ और युद्ध में मेरे सामने कोई न ठहर सके।" जमदग्नि ने ऐसा ही किया। एक दिन राजा कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन जमदग्नि के आश्रम पर आया। आश्रम पर रेणुका को छोड़ और कोई न था। कार्त्तवीर्य आश्रम के पेड़ पौधों को उजाड़ होमधेनु का बछवा लेकर चल दिया। परशुराम ने आकर जब यह सुना तब वे तुरंत दौड़े और जाकर कार्त्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को फरसे से काट डाला। सहस्रार्जुन के कुटुंबियों और साथियों ने एक दिन आकर जमदग्नि से बदला लिया और उन्हें बाणों से मार डाला। परशुराम ने आश्रम पर आकर जब यह देखा तब पहले तो बहुत विलाप किया, फिर संपूर्ण क्षत्रियों के नाश की प्रतिज्ञा की। उन्होंने शस्त्र लेकर सहस्रार्जुन के पुत्र पौत्रादि का वध करके क्रमशः सारे क्षत्रियों का नाश किया। परशुराम की इस क्रूरता पर ब्राह्मण समाज में उनकी निंदा होने लगी और परशुराम दया से खिन्न हो वन में चले गए। एक दिन विश्वामित्र के पौत्र परावसु ने परशुराम से कहा "अभी जो यज्ञ हुआ था उसमें न जाने कितने प्रतापी राजा आए थे, आपने पृथ्वी को जो क्षत्रियविहीन करने की प्रतिज्ञा की थी वह सब व्यर्थ थी।" परशुराम इस पर क्रुद्ध होकर फिर निकले और जो क्षत्रिय बचे थे उन सबका बाल बच्चों के सहित संहार किया। गर्भवती स्त्रियों ने बड़ी कठिनता से इधर उधर छिपकर अपनी रक्षा की। क्षत्रियों का नाश करके परशुराम ने अश्वमेध यज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यप को दान दे दी। पृथ्वी क्षत्रियों से सर्वथा रहित न हो जाय इस अभिप्राय से कश्यप ने परशुराम से कहा "अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी अब तुम दक्षिण समुद्र की ओर चले जाओ।" परशुराम ने ऐसा ही किया।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि जब रामचंद्र शिव का धनुष तोड़ सीता को ब्याहकर लौट रहे थे तब परशुराम ने उनका रास्ता रोका और वैष्णव धनु उनके हाथ में देकर कहा "शैव धनुष तो तुमने तोड़ा अब इस वैष्णव धनुष को चढ़ाओ। यदि इस पर बाण चढ़ा सकोगे तो मैं तुम्हारे साथ युद्ध करूँगा।" राम धनुष पर बाण चढ़ा बोले "बोलो अब इस बाण से मैं तुम्हारी गति का अवरोध करूँ या तप से अर्जित तुम्हारे लोकों का हरण करूँ।" परशुराम ने हततेज और चकित होकर कहा "मैंने सारी पृथ्वी कश्यप को दान में दे दी है इससे मैं रात को पृथ्वी पर नहीं सोता। मेरी गति का अवरोध न करो, लोकों का हरण कर लो।"

परशुवन–संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम जिसके पेड़ों के पत्ते परशु की सी तीखी धार के हैं।

परश्वध–संज्ञा पुं० [सं०] परशु। तब्बर। कुठार। कुल्हाड़ी।

परसंग*–संज्ञा पुं० दे० "प्रसंग"।

परसंसा*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रशंसा"।

परस–संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श] छूना। छूने की क्रिया या भाव। स्पर्श। उ०—दरस परस मंजन अरु पाना। हरै पाप कह वेद पुराना।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० परश] पारस पत्थर। स्पर्शमणि। उ०—रूपवंत धनवंत सभागे। परसपखान पवँरि तिन लागे।—जायसी।

परसन*–संज्ञा पुं० [सं० स्पर्शन] (१) छूना। छूने का काम। (२) छूने का भाव।

वि० [सं० प्रसन्न] प्रसन्न। खुश। आनंदित। उ०—तबहिं असीस दई परसन ह्वै सफल होहु तुव कामा।—सूर।

परसना*–क्रि० स० [सं० स्पर्शन] (१) छूना। स्पर्श करना। (२) छुलाना। स्पर्श कराना। उ०—साधन हीन दीन निज अघ बस शिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर साप तें तारी।—तुलसी।

क्रि० स० [सं० परिवेषण] भोज्य पदार्थ किसी के सामने रखना। परोसना। (इस क्रिया का प्रयोग भोजन और भोजन करनेवाले दोनों के लिये होता है। जैसे, खाना परसना; किसी को परसना)।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

परसन्न*–वि० दे० "प्रसन्न"।

परसन्नता*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रसन्नता"।

परसवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] पर या उत्तरवर्त्ती वर्ण के समान वर्ण।

परसा–संज्ञा पुं० [सं० परशु] फरसा। परशु। तब्बर। कुल्हाड़ा। कुठार।

संज्ञा पुं० [हिं० परसना] एक मनुष्य के खाने भर का भोजन जो पात्र में रखकर दिया जाय। पत्तल।

परसाद*‡–संज्ञा पुं० दे० "प्रसाद"।

परसादी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रसाद"।

परसाना*–क्रि० स० [हिं० परसना] छुलाना। स्पर्श कराना। उ०—सुरसरि जब भुव ऊपर आवै। उनको अपनो जल परसावै।—सूर।

क्रि० स० [हिं० परसना] भोजन बँटवाना। भोजन सामने रखवाना। उ०—महर गोप सब ही मिल बैठे पनवारे परसाये।—सूर।

परसामान्य–संज्ञा पुं० [सं०] गुण कर्म समवेत सत्ता (जैन दर्शन)।

परसाल-अव्य० [सं० पर + फा० साल] (१) गत वर्ष । पिछले साल । (२) आगामी वर्ष । अगले साल ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पानी+सार] एक प्रकार की घास जो पानी में पैदा होती है । इसे 'पससारी' भी कहते हैं ।

परसिद्ध*-वि० दे० "**प्रसिद्ध**" ।

परसिया-संज्ञा स्त्री० [सं० परशु, हिं० परसा] हँसिया ।

परसी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली जो नदियों में होती है ।

परसीया-संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जिसकी लकड़ी से मेज़, कुरसी इत्यादि बनाई जाती हैं और जो मदरास और गुजरात में बहुतायत से होता है । इसकी लकड़ी स्याह, सख्त और मजबूत होती है ।

परसु*-संज्ञा पुं० दे० "**परशु**" ।

परसूक्ष्म-संज्ञा पुं० [सं०] एक सूक्ष्म परिमाण जो आठ परमाणुओं के बराबर माना गया है ।

परसूत*‡-वि०, संज्ञा पुं० दे० "**प्रसूत**" ।

परसेद*-संज्ञा पुं० दे० "**प्रस्वेद**" ।

परसों-अव्य० [सं० परश्वः] (१) गत दिन से पहले दिन । बीते हुए कल से एक दिन पहले । जैसे, मैं परसों वहाँ गया था । (२) आगामी दिन से आगे के दिन । आनेवाले कल से एक दिन आगे । जैसे, वह परसों जायगा ।

परसोतम*‡-संज्ञा पुं० दे० "**पुरुषोत्तम**" ।

परसोर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है ।

परस्त्रीगमन-संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री के साथ संभोग ।

परस्पर-क्रि० वि० [सं०] एक दूसरे के साथ । आपस में । जैसे, (क) उनमें परस्पर बड़ी प्रीति है । (ख) यह तो परस्पर का व्यवहार है ।

परस्परोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें उपमान की उपमा उपमेय को और उपमेय की उपमा उपमान को दी जाती है । इसे "उपमेयोपमा" भी कहते हैं ।

परहार‡-संज्ञा पुं० (१) दे० "**प्रहार**" । (२) दे० "**परिहार**" ।

परहारी-संज्ञा पुं० [सं० प्रहरी] जगन्नाथजी के मंदिर के पुजारी जो मंदिर ही में रहते हैं ।

परहेज-संज्ञा पुं० [फा०] (१) स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाली बातों से बचना । रोग उत्पन्न करनेवाली या बढ़ानेवाली वस्तुओं का त्याग । खाने पीने आदि का संयम । जैसे, वह परहेज नहीं करता, दवा क्या फायदा करे ? (२) बुरी बातों से बचने का नियम । दोषों और बुराइयों से दूर रहना ।
क्रि० प्र०—करना ।—से रहना ।—होना ।

परहेजगार-संज्ञा पुं० [फा०] (१) परहेज करनेवाला । संयमी । कुपथ्य न करनेवाला । (२) बुराइयों से बचनेवाला । दोषों से दूर रहनेवाला ।

परहेजगारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) परहेज करने का काम । संयम । (२) दोषों और बुराइयों का त्याग ।

परहेलना*-क्रि० स० [सं० प्रहेलन] निरादर करना । तिरस्कार करना । उ०—मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माँह । तेहि रिस हौं परहेली रूसेउ नागर नाह ।—जायसी ।

परांगद-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

परांगव-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

परांचा-संज्ञा पुं० [फा० प्राँच] (१) तख्ता । पटरी । (२) तख्तों की पाटन जो आस पास के तल से ऊँचाई पर हो और जिस पर उठ बैठ सकते हों । पाटन । (३) बेड़ा ।

परांज, परांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तेल निकालने का यंत्र । कोल्हू । (२) फेन । (३) छुरी का फल ।

पराँठा-संज्ञा पुं० [हिं० पलटना] घी लगाकर तवे पर सेंकी हुई चपाती ।

परा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चार प्रकार की वाणियों में पहली वाणी जो नादस्वरूपा और मूलाधार से निकली हुई मानी जाती है । (२) वह विद्या जो ऐसी वस्तु का ज्ञान कराती है जो सब गोचर पदार्थों से परे हो । ब्रह्मविद्या । उपनिषद् विद्या । (३) एक प्रकार का सामगान । (४) एक नदी का नाम । (५) गंगा । (६) बाँझ ककोड़ा । बंध्या ककोंटकी।

वि० स्त्री० [सं०] (१) जो सबसे परे हो । (२) श्रेष्ठ । उत्तम ।

संज्ञा पुं० [हिं० पारना] रेशम खोलनेवालों का लकड़ी का बारह चौदह अंगुल लंबा एक औज़ार ।

संज्ञा पुं० [?] पंक्ति । कतार । दे० "परी" । उ०—राजकुमार कला दरसावत पावत परम प्रसंसा । सखा प्रमोदित परा मिलावत जहँ रघुकुल अवतंसा ।—रघुराज ।

पराक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु आदि स्मृतियों के अनुसार एक प्रकार का कृच्छ्र व्रत जो यतात्मा और प्रमादरहित होकर और चार दिनों तक निराहार रहकर किया जाता था । इसका विधान धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त के प्रकरण में है । (२) खड्ग । (३) एक रोग का नाम । (४) एक क्षुद्र जंतु ।

पराकाश-संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार दूरदर्शिता।

पराकाष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरम सीमा । सीमांत । हद । अंत । (२) गायत्री का एक भेद । (३) ब्रह्मा की आधी आयु ।

पराकोटि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पराकाष्ठा । (२) ब्रह्मा की आधी आयु ।

पराक्पुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपामार्ग । चिचड़ी । चिरचिटा ।

पराक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पराक्रमी] (१) बल। शक्ति। सामर्थ्य। (२) पुरुषार्थ। पौरुष। उद्योग।

मुहा०—पराक्रम चलना = पुरुषार्थ या उद्योग हो सकना।

पराक्रमी–वि० [सं० पराक्रमिन्] (१) बलवान्। बलिष्ठ। (२) वीर। बहादुर। (३) पुरुषार्थी। उद्योगी। उद्यमी।

पराग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रज वा धूलि जो फूलों के बीच लंबे केसरों पर जमा रहती है। पुष्परज।

विशेष—इसी पराग के फूलों के बीच के गर्भकोशों में पड़ने से गर्भाधान होता और बीज पड़ते हैं।

(२) धूलि। रज। (३) एक प्रकार का सुगंधित चूर्ण जिसे लगाकर स्नान किया जाता है। (४) चंदन। (५) उपराग। (६) कपूररज। कपूर की धूल वा चूर्ण। (७) विख्याति। (८) एक पर्वत। (९) स्वच्छंद गति वा गमन।

परागकेसर–संज्ञा पुं० [सं०] फूलों के बीच में वे पतले लंबे सूत जिनकी नोक पर पराग लगा रहता है। इन्हें पौधों की पुं० जननेंद्रिय समझना चाहिए।

परागति—संज्ञा स्त्री० [सं०] गायत्री।

परागना*–क्रि० अ० [सं० उपराग] अनुरक्त होना। उ०—ऊधो तुम हो अति बड़ भागी। अपरस रहत सनेह तगाते नाहिन मन अनुरागी। पुरइन पात रहत जल भीतर ता रस देह न दागी। ज्यों जल माहँ तेल की गागरि बूँद न ताको लागी। प्रीति नदी महँ पाँव न बोरयो दृष्टि न रूप परागी। सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी।—सूर।

पराङ्मुख–वि० [सं०] (१) मुँह फेरे हुए। विमुख। (२) जो ध्यान न दे। उदासीन। (३) विरुद्ध।

पराच्–वि० [सं०] (१) प्रतिलोमगामी। उलटा चलनेवाला। (२) ऊर्द्ध्वगामी! (३) अप्रत्यक्षगम्य। परोक्षगम्य। (४) वाह्योन्मुख।

पराजय–संज्ञा स्त्री० [सं०] विजय का उलटा। हार। शिकस्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पराजिका–संज्ञा स्त्री० [उपराजिका वा हिं० परज] परज नाम की रागिनी।

पराजित–वि० [सं०] परास्त। पराभूत। हारा हुआ।

परात–संज्ञा स्त्री० [सं० पात्र। मि० पुर्त्त० प्राट] थाली के आकार का एक बड़ा बरतन जिसका किनारा थाली के किनारे से ऊँचा होता है। यह आटा गूँधने, हाथ पैर धोने आदि के काम आता है। उ०—कोउ परात कोउ लोटा लाई। शाह सभा सब हाथ धोवाई।—जायसी।

परात्पर–वि० [सं०] जिसके परे कोई दूसरा न हो। सर्वश्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० (१) परमात्मा। (२) विष्णु।

परात्प्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] उलपतृण। एक घास जो कुश की तरह की होती है और जिसमें जौ या गेहूँ के से दाने पड़ते हैं। इसकी बालों में टूँड़ नहीं होते।

परात्मा–संज्ञा पुं० [सं० परात्मन्] परमात्मा। परब्रह्म।

परादन–संज्ञा पुं० [सं०] फारस का घोड़ा।

पराधीन–वि० [सं०] परवश। जो दूसरे के अधीन हो। जो दूसरे के ताबे हो। उ०—पराधीन सुख सपनेहु नाहीं।—हरिश्चंद्र।

पर्या०—परतंत्र। परवश।

पराधीनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] परतंत्रता। दूसरे की अधीनता।

परान–संज्ञा पुं० दे० "प्राण"।

पराना*†–क्रि० अ० [सं० पलायन] भागना। उ०—(क) आज जो तरवर चलभल नाहीं। आवहु यहि बन छाँड़ि पराहीं।—जायसी। (ख) भाई रे गैया एक विरंचि दियो है भार अमर भो भाई। नौ नारी को पानी पियत है तृषा तऊ न बुझाई। कोठा बहत्तरि औ लौ लाये वज्र केवार लगाई। खूँटा गाड़ि डोर दृढ़ बाँधो तउ वह तोरि पराई।—कबीर। (ग) देखि विकट भट अति विकटाई। जच्छ जीव लइ गयउ पराई।—तुलसी। (घ) नयनन मिलत लई कर गहि के फाल्गुन चले पराय। सुनि बलदेव क्रोध अति बाढ़ेउ कृष्ण शांत कियो आय।—सूर। (ङ) जासु देस नृप लीन्ह छोड़ाई। समर सेन तजि गयउ पराई।—तुलसी।

परान्न–संज्ञा पुं० [सं०] पराया धान्य। दूसरे का दिया हुआ भोजन।

परापर–संज्ञा पुं० [सं०] फालसा।

पराभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराजय। हार।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) तिरस्कार। मानध्वंस। (३) विनाश। (४) वैश्य युग के अंतर्गत पाँचवाँ वर्ष। बृहत्संहिता के अनुसार इस वर्ष अग्नि शस्त्रपीड़ा रोग आदि होते हैं और गो ब्राह्मण को विशेष भय होता है।

पराभिक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वानप्रस्थ जो गृहस्थों के घर से थोड़ी भिक्षा लेकर वन में अपना कालक्षेप करते हैं।

पराभूत–वि० [सं०] (१) पराजित। हारा हुआ। (२) ध्वस्त। नष्ट।

परामर्श–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकड़ना। खींचना। जैसे, केश परामर्श। (२) विवेचन। विचार। (३) निर्णय। (४) अनुमान। (५) स्मृति। याद। (६) युक्ति। (७) सलाह। मंत्रणा। उ०—तुम्हारा चित्त कुछ और ही परामर्श देता है।—अयोध्या।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।—मिलना।—होना।

परामर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खींचना। (२) स्मरण। चिंतन। (३) विचार करना। (४) सलाह करना। मशवरा करना।

परामृत-वि० [सं०] जो मृत्यु आदि के बंधन से छूट गया हो। मुक्त।

परामृष्ट-वि० [सं०] (१) पकड़कर खींचा हुआ। (२) पीड़ित। (३) विचारा हुआ। निर्णय किया हुआ। (४) जिसकी सलाह दी गई हो।

परायचा-संज्ञा पुं० [फा० पारचः = कपड़ा] (१) कपड़ों के कटे टुकड़ों की टोपियाँ इत्यादि बनाकर बेचनेवाला। (२) सिले सिलाए कपड़े बेचनेवाला।

परायण-वि० [सं०] (१) गत। गया हुआ। (२) निरत। प्रवृत्त। तत्पर। लगा हुआ। जैसे, धर्मपरायण, नीतिपरायण।
संज्ञा पुं० (१) भागकर शरण लेने का स्थान। आश्रय। (२) विष्णु।

परायत्त-वि० [सं०] पराधीन।

पराया-वि० पुं० [सं० पर] [स्त्री० पराई] (१) दूसरे का। अन्य का। जैसे, पराया माल, पराया धन, पराई स्त्री। उ०—(क) औ जानहि तन होइहि नासू। पोखैं मास पराये मासू।—जायसी। (ख) बिनु जोबन भई आस पराई। कहाँ सो पूत खंभ होय आई।—जायसी। (ग) मुनिहिं मोह मन हाथ पराये। हँसहिं संभु गन अति सचुपाये।—तुलसी। (घ) तोहिं कौन मति रावन आई। आजु कालि दिन चारि पाँच में लंका होत पराई।—सूर। (२) जो आत्मीय न हो। जो स्वजनों में न हो। गैर। बिराना। उ०—बिगरत अपनो काज है हँसत पराये लोग।

मुहा०—अपना पराया समझना = (१) यह ज्ञान होना कि कौन अपना है कौन बिराना। शत्रु मित्र, भला बुरा पहचानना। (२) भेदभाव रखना।

परायु-संज्ञा पुं० [सं० परायुस्] ब्रह्मा।

परार*-वि० [सं० पर + आर] [स्त्री० परारी] दूसरे का। पराया। बिराना। उ०—बादर की छाँही वैसे जीवन जग माँहीं। उठि देखु नाहीं कौन आपनो परार है।

परारध*-संज्ञा पुं० दे० "परार्द्ध"।

परारु-संज्ञा पुं० [सं०] करेला।

परार्थ-वि० [सं०] दूसरे का काम। दूसरे का उपकार।
वि० जो दूसरे के अर्थ हो। परनिमित्तक।

परार्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सबसे बड़ी संख्या। वह संख्या जिसे लिखने में अठारह अंक लिखने पड़ें। एक शंख। (१०००००००००००००००००)। (२) ब्रह्मा की आयु का आधा काल।

परार्द्धि-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

परालब्ध‡-संज्ञा पुं० दे० "प्रारब्ध"।

परावत-संज्ञा पुं० [सं०] फालसा।

परावन-संज्ञा पुं० [पलायन, हिं० पराना] एक साथ बहुत से लोगों का भागना। भगदड़। भागड़। पलायन। उ०—(क) फिरत लोग जहँ तहँ बिललाने। को हैं अपने कौन बिराने। ग्वाल गए जे धेनु चरावन। तिन्हैं परयो वन माँझ परावन।—सूर। (ख) जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर तिनहिं परावन होई।—तुलसी।
संज्ञा पुं० [हिं० पड़ना, पड़ाव] गाँव के लोगों का घर के बाहर डेरा डालकर पूजा और उत्सव करने की रीति।

परावर-वि० [सं०] [स्त्री० परावरा] (१) सर्वश्रेष्ठ। (२) अगला पिछला। निकट का दूर का। इधर का उधर का।

परावर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रत्यावर्त्तन। पलटने का भाव। लौटना। पलटाव। (२) अदल बदल। लेन देन।

परावर्तन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रत्यावर्तन। पलटना। लौटना। पीछे फिरना। (२) जैन दर्शन के अनुसार ग्रंथों का दोहराना। उद्धरणी। आम्नाय।

परावर्त्त व्यवहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुकदमे की फिर से जाँच। मुकदमे के फैसले का फिर से विचार। (२) मुकदमे का फिर से फैसला।

परावर्त्तित-वि० [सं०] पलटाया हुआ। पीछे फेरा हुआ।

परावसु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शतपथ ब्राह्मण के अनुसार असुरों के पुरोहित का नाम। (२) महाभारत के अनुसार रैभ्य मुनि के एक पुत्र का नाम। (३) एक गंधर्व का नाम। (४) विश्वामित्र के एक पौत्र का नाम।

परावह-संज्ञा पुं० [सं०] वायु के सात भेदों में से एक।

परावा†-वि० दे० "पराया"।

परावृत्त-वि० [सं०] (१) पलटा या पलटाया हुआ। फेरा हुआ। (२) बदला हुआ।

परावृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पलटने या पलटाने का भाव। पलटाव। (२) मुकदमे का फिर से विचार या फैसला।

परावेदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कटाई। भटकटैया।

पराशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रकार ऋषि जो पुराणानुसार वसिष्ठ और शक्ति के पुत्र थे। इनके पिता का देहांत इनके जन्म के पूर्व हो चुका था अतः इनका पालन पोषण इनके पितामह वसिष्ठजी ने किया था। यही व्यास कृष्ण द्वैपायन के पिता थे। (२) चरक संहिता के अनुसार आयुर्वेद के एक आचार्य्य का नाम। (३) एक प्रसिद्ध स्मृतिकार। इनकी स्मृति पराशर स्मृति के नाम से प्रख्यात है और कलियुग के लिये प्रमाणभूत मानी जाती है। (४) एक नाग का नाम। (५) ज्योतिष शास्त्र के एक आचार्य्य जिनकी रची पाराशरी संहिता है।

पराश्रय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरे का सहारा। पराया भरोसा। दूसरे का अवलंब। (२) पराधीनता।

पराश्रया–संज्ञा स्त्री० [सं०] बांदा। बंदाक। परगाछा।

पराश्रित–वि० [सं०] (१) जिसे दूसरे का ही आसरा हो। जिसका काम दूसरे से चलता हो। (२) दूसरे का अधीन।

परास–संज्ञा पुं० [सं०] किसी स्थान से उतनी दूरी जितनी दूरी पर उस स्थान से फेंकी हुई वस्तु गिरे।

*†–संज्ञा पुं० दे० "पलाश"।

परासी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम। दे० "पलाश्री"।

परासु–वि० [सं०] जिसका प्राण निकल गया हो। मरा हुआ। मृत।

परास्त–वि० [सं०] (१) पराजित। हारा हुआ। (२) विजित। ध्वस्त। (३) प्रभावहीन। दबा हुआ। जैसे, ज्ञान अज्ञान से परास्त हो गया।

पराहत–वि० [सं०] (१) आक्रांत। ध्वस्त। मिटाया हुआ। दूर किया हुआ। (२) निराकृत। खंडित। (३) जोता हुआ।

पराह्न–वि० [सं०] अपराह्न। दोपहर के बाद का समय। तीसरा पहर।

परि–उप० [सं०] एक संस्कृत उपसर्ग जिसके लगने से शब्द में इन अर्थों की वृद्धि होती है—

(१) चारों ओर—जैसे, परिक्रमण, परिवेष्टन, परिभ्रमण, परिधि।

(२) सर्वतोभाव, अच्छी तरह—जैसे, परिकल्पन, परिपूर्ण।

(३) अतिशय—जैसे परिवर्द्धन।

(४) पूर्णता—जैसे, परित्याग, परिताप।

(५) दोषाख्यान—जैसे, परिहास, परिवाद।

(६) नियम, क्रम—जैसे, परिच्छेद।

परिक–संज्ञा स्त्री० [देश०] खराब चाँदी। खोटी चाँदी। (सुनार)

परिकथा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक कहानी के अंतर्गत उसी के संबंध की दूसरी कहानी।

परिकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्यंक। पलंग। (२) परिवार। (३) वृंद। समूह। (४) घेरनेवालों का समूह। अनुयायियों का दल। अनुचर वर्ग। लवाजमा। (५) समारंभ। तैयारी। (६) कमरबंद। पटुका। (७) विवेक। (८) एक अर्थालंकार जिसमें अभिप्राय भरे हुए विशेषणों के साथ विशेष्य आता है। उ०—हिमकर बदनी तिय निरखि पिय दृग शीतल होत।

परिकरमा*–संज्ञा स्त्री० दे० "परिक्रमा"।

परिकरांकुर–संज्ञा पुं० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें किसी विशेष्य या शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय लिए हो। उ०—वामा, भामा, कामिनी, कहि बोलो प्राणेश। प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेश। यहाँ वामा (जो वाम हो) आदि शब्द विशेष अभिप्राय लिए हुए हैं। नायिका कहती है कि जब आप मुझे छोड़ विदेश जा रहे हैं तब इन्हीं नामों से पुकारिए, प्यारी कहकर न पुकारिए।

परिकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] देह में चंदन, केसर उबटन आदि लगाना। शरीरसंस्कार।

परिकर्मा–संज्ञा पुं० [सं० परिकर्मन्] परिचारक। सेवक।

परिकल्कन–संज्ञा पुं० [सं०] प्रवंचना। दगाबाजी।

परिकल्पन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिकल्पित] (१) मनन। चिंतन। (२) बनावट। रचना।

परिकल्पित–वि० [सं०] (१) कल्पना किया हुआ। सोचा हुआ। (२) मन में गढ़ा हुआ। मनगढ़ंत। (३) निश्चित। ठहराया हुआ। (४) मन में सोचकर बनाया हुआ। रचित।

परिकीर्ण–वि० [सं०] (१) व्याप्त। विस्तृत। फैला हुआ। (२) समर्पित।

परिकीर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँचे स्वर से कीर्त्तन। खूब गाना। (२) गुणों का विस्तृत वर्णन। अधिक प्रशंसा।

परिकूट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर या दुर्ग के फाटक पर की खाईं। (२) एक नागराज।

परिक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) टहलना। (२) फेरी देना। चारों ओर घूमना। परिक्रमा।

परिक्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) टहलना। मन बहलाने के लिये घूमना। (२) चारों ओर घूमना। फेरी देना।

परिक्रमा–संज्ञा स्त्री० [सं० परिक्रम] (१) चारों ओर घूमना। फेरी। चक्कर।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

विशेष—किसी तीर्थस्थान या मंदिर के चारों ओर जो घूमते हैं उसे परिक्रमा कहते हैं।

(२) किसी तीर्थ या मंदिर के चारों ओर घूमने के लिये बना हुआ मार्ग।

परिक्रय–संज्ञा स्त्री० [सं०] मोल। खरीद।

परिक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खाईं आदि से घेरने की क्रिया। (२) एक प्रकार का एकाह यज्ञ जो स्वर्ग की कामना से किया जाता है।

परिक्लिष्ट–वि० [सं०] (१) नष्ट। भ्रष्ट। परिक्षत। (२) अतिक्लिष्ट।

परिक्वणन–संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

परिक्षत–वि० [सं०] नष्ट। भ्रष्ट।

परिक्षव–संज्ञा पुं० [सं०] छींक।

परिक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कीचड़।

संज्ञा स्त्री० दे० "परीक्षा"।

परिक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा। दे० "परीक्षित"।

परिक्षिप्त-वि० [सं०] खाईं आदि से घेरा हुआ।

परिक्षीण-वि० [सं०] निर्धन।

परिखना†-क्रि० स० [सं० परीक्षा] पहचानना। जाँचना। परीक्षा करना। इम्तहान करना। [सं० प्रतीक्षा] इंतजार करना। राह देखना। मार्ग प्रतीक्षा करना। आसरा देखना। उ०—परिखेसि मोहिं एक पखवारा। नहिं आवउँ तब जानेसि मारा।—तुलसी।

परिखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गहरा गड्ढा जो किसी नगर या दुर्ग के चारों ओर इसलिये खोदा जाता था कि शत्रु उसमें सहज में न घुस सकें। किसी नगर या दुर्ग को घेरनेवाली खाईं। खंदक। खाईं।

परिखान-संज्ञा स्त्री० [सं० परिखात] गाड़ी के पहिये की लीक।

परिख्यात-वि० [सं०] विख्यात। प्रसिद्ध। मशहूर।

परिगणन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिगणित, परिगणनीय, परिगण्य] (१) भली भांति गिनना। सम्यक् रीति से गिनना। (२) गिनना। गणना करना। शुमार करना।

परिगणना-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिगणन।

परिगणित-वि० [सं०] गिना हुआ। जिसकी गिनती हो चुकी हो।

परिगत-वि० [सं०] (१) गत। बीता हुआ। गया गुजरा। (२) मरा हुआ। मृत। (३) विस्मृत। जिसे भूल गए हों। (४) ज्ञात। जाना हुआ। (५) प्राप्त। मिला हुआ। (६) वेष्टित। घेरा हुआ।

परिगर्भिक-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार बालकों का एक रोग जो गर्भिणी माता का दूध पीने से होता है। इसमें बालक को खाँसी, कै, अरुचि और तंद्रा होती है, उसका शरीर दुबला हो जाता है, भोजन नहीं पचता, और पेट बढ़ जाता है। वैद्यक में इस रोग में अग्निदीपक औषधों के सेवन का विधान है।

परिगर्वित-वि० [सं०] बहुत गर्ववाला। भारी घमंडी।

परिगह-संज्ञा पुं० [सं० परिग्रह] कुटुंबी। संगी साथी या आश्रित जन। उ०—राजपाट दर परिगह तुमहीं सउँ उँजियार। बइठि भोग रस मानहु कइ न चलहु अँधियार।—जायसी।

परिगुंठित-वि० [सं०] छिपाया हुआ। ढका हुआ।

परिगुंडित-वि० [सं०] धूल से छिपा हुआ। गर्द से ढका हुआ।

परिगृहीत-वि० [सं०] (१) स्वीकृत। मंजूर किया हुआ। (२) मिला हुआ। शामिल।

परिगृह्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] विवाहिता स्त्री। धर्मपत्नी।

परिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिग्रह। ग्रहण। लेना। दान लेना। (२) पाना। (३) धनादि का संग्रह। (४) स्वीकार। अंगीकार। आदरपूर्वक कोई वस्तु लेना। (५) स्त्री को अंगीकार करना। विवाह। (६) पत्नी। स्त्री। भार्या। (७) सेना का पिछला भाग। (८) परिजन। परिवार। स्त्री पुत्र आदि। (९) राहुग्रस्त सूर्य। (१०) मूल। कंद। (११) शाप। (१२) शपथ। कसम। (१३) विष्णु। (१४) अनुग्रह। मिहरबानी। (१५) जैन शास्त्रों के अनुसार तीन प्रकार के गतिनिबंधन कर्म—द्रव्यपरिग्रह, भावपरिग्रह, द्रव्यभाव-परिग्रह। (१६) कुछ विशिष्ट वस्तुएँ संग्रह न करने का व्रत।

परिग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सब प्रकार से ग्रहण। पूर्ण रूप से ग्रहण करना। (२) कपड़े पहनना।

परिग्राम-संज्ञा पुं० [सं०] गाँव के सामने का भाग।

परिग्राह-संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष प्रकार की यज्ञवेदी।

परिग्राह्य-वि० [सं०] ग्रहण करने योग्य। जो ग्रहण किया जा सके।

परिघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहाँगी। गँड़ासा। (२) २७ योगों के अंतर्गत १९ वाँ योग।

विशेष—इस योग को आधा छोड़कर शुभ कर्म करने चाहिएँ। जन्मकाल में यह योग पड़ने से मनुष्य वंशकुठार, असत्यसाक्षी, क्षमाहीन, स्वल्पानुभोक्ता और शत्रुदल को जीतनेवाला होता है।

(३) अर्गला। अगड़ी। (४) मुद्गर। (५) शूल। भाला। बर्छी। (६) कलस। घोड़ा। (७) घड़ा। (८) गोपुर। फाटक। (९) घर। (१०) स्वामिकार्त्तिक का एक अनुचर। (११) तीर। (१२) पर्वत। (१३) वज्र। (१४) शेषनाग। (१५) जल। (१६) चंद्र। (१७) सूर्य। (१८) नदी। (१९) स्थल। (२०) आनंद और सुख की निवारक अविद्या। (२१) बाधा। प्रतिबंध। (२२) महाभारत के अनुसार एक चांडाल का नाम। (२३) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का मूढ़गर्भ। (२४) वे बादल जो सूर्य के उदय वा अस्त होने के समय उसके सामने आ जायँ।

परिघमूढ़गर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] वह बालक जो प्रसव के समय योनि के द्वार पर आकर अगड़ी की तरह अटक जाय।

परिघस्र्य-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाला एक विशेष पात्र।

परिघात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हत्या। हनन। मार डालना। (२) वह अस्त्र जिससे किसी की हत्या की जा सकती हो।

परिघाती-वि० [सं० परिघातिन्] परिघात करनेवाला। हत्याकारी। मार डालनेवाला।

परिघोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन। बादल का गरजना। (२) शब्द। आवाज।

परिचक्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम ।

परिचना–क्रि० अ० दे० "परचना" ।

परिचपल–वि० [सं०] अति चंचल । जो किसी समय स्थिर न रहे । जो हर समय हिलता डुलता या घूमता फिरता रहे ।

परिचय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी विषय या वस्तु के संबंध की प्राप्त की हुई अथवा मिली हुई जानकारी। ज्ञान। अभिज्ञता । विशेष जानकारी । जैसे, थोड़े दिनों से मुझे भी उनके स्वभाव का परिचय हो गया है । (२) प्रमाण । लक्षण । जैसे, उस पद पर थोड़े ही दिनों तक रहकर उन्होंने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया था । (३) किसी व्यक्ति के नाम-धाम या गुणकर्म आदि के संबंध की जानकारी । जैसे, मुझे आपका परिचय नहीं मिला ।

क्रि० प्र०—कराना ।—देना ।—दिलाना ।—पाना ।—मिलना ।—होना ।

(४) जान पहचान । जैसे, यहाँ तो बहुत से आदमियों के साथ आपका परिचय है । (५) अभ्यास । मश्क । (६) हठयोग में नाद की चार अवस्थाओं में से तीसरी अवस्था ।

परिचर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक । खिदमतगार । टहलुआ । (२) रोगी की सेवा करनेवाला । शुश्रूषाकारी । (३) वह सैनिक जो रथ पर शत्रु के प्रहार से उसकी रक्षा करने के लिये बैठाया जाता था । (४) दंडनायक । सेनापति । परिधिस्थ ।

परिचरजा*–संज्ञा स्त्री० दे० "परिचर्या" ।

परिचरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचरणीय, परिचरितव्य] सेवा करना या सेवा । परिचर्या । खिदमत । टहल ।

परिचरत–संज्ञा स्त्री० [डिं०] प्रलय । क़यामत ।

परिचरिता–संज्ञा पुं० [सं० परिचरितृ] सेवक । सेवा करनेवाला । शुश्रूषाकारी ।

परिचरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दासी । सेविका । लौंडी ।

परिचर्जा–संज्ञा स्त्री० दे० "परिचर्या" ।

परिचर्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवा । टहल । खिदमत । (२) रोगी की सेवा शुश्रूषा ।

परिचायक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिचय करानेवाला । जान पहचान करानेवाला । (२) सूचित करनेवाला । जतानेवाला ।

परिचाय्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ की अग्नि । (२) यज्ञकुंड ।

परिचार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवा । टहल । खिदमत । (२) वह स्थान जो टहलने या घूमने फिरने के लिये निर्दिष्ट हो ।

परिचारक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक । नौकर । भृत्य । टहलू । (२) वह जो किसी रोगी की सेवा करने पर नियुक्त हो । शुश्रूषाकारी । (३) वह जो देवमंदिर आदि का कार्य अथवा प्रबंध करता हो ।

परिचारण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचारी, परिचार्य] (१) सेवा करना । टहल या खिदमत करना । सेवकाई । खिदमतगारी । (२) सहवास करना । संग करना या रहना ।

परिचारना*–क्रि० स० [सं० परिचारण] सेवा करना । खिदमत करना ।

परिचारिक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० परिचारिका] सेवक । खिदमतगार ।

परिचारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दासी । सेविका । मजदूरनी ।

परिचारी–वि० [सं० परिचारिन्] (१) टहलनेवाला । वह जो भ्रमण करता हो । (२) सेवा करनेवाला । टहलू । चाकर ।

परिचार्य–वि० [सं०] सेव्य । सेवा करने योग्य । जिसकी सेवा करना उचित हो ।

परिचालक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलानेवाला । चलने के लिये प्रेरित करनेवाला । (२) किसी काम को जारी रखने तथा आगे बढ़ानेवाला । संचालक । (३) गति देनेवाला । हिलानेवाला ।

परिचालकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] परिचालन करने की क्रिया, भाव अथवा शक्ति ।

परिचालन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचालित] (१) चलाना । चलने के लिये प्रेरित करना । चलने में लगाना । (२) कार्य्य का निर्वाह करना । कार्य्यक्रम को जारी रखना । जैसे, इस पत्र का परिचालन उन्होंने बड़ी ही उत्तमता के साथ किया । (३) हिलाना । गति देना । हरकत देना ।

परिचालित–वि० [सं०] (१) चलाया हुआ । चलने में लगाया हुआ । (२) निर्वाह किया हुआ । बराबर जारी रक्खा हुआ । (३) हिलाया हुआ । जिसे गति दी गई हो ।

परिचित–वि० [सं०] (१) जिसका परिचय हो चुका हो । जाना बूझा । ज्ञात । मालूम । जैसे, इस पुस्तक का विषय मेरा परिचित नहीं है । (२) जिसको परिचय हो चुका हो । वह जो किसी को जान चुका हो । अभिज्ञ । वाक़िफ़ । जैसे, मैं उनके स्वभाव से बिलकुल परिचित नहीं हूँ । (३) जान पहचान रखनेवाला । मिलने जुलनेवाला । मुलाकाती । जैसे, मेरी परिचित मंडली अब इतनी बड़ी हो गई है कि मिलने जुलने में ही प्रायः मेरा सारा समय लग जाता है । (४) जैनदर्शन के अनुसार वह स्वर्गीय आत्मा जो दो बार किसी चक्र में आ चुकी हो । (५) इकट्ठा किया हुआ । ढेर लगा हुआ । संचित ।

परिचिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] परिचय । ज्ञान । अभिज्ञता । जानकारी ।

परिचुंबन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिचुंबित] प्रेमपूर्वक चुंबन । भरपूर प्रेम या स्नेह से चुंबन करना ।

परिचेय–वि० [सं०] (१) परिचय योग्य । जान पहचान करने योग्य । साहब सलामत या राह रस्म रखने योग्य ।

(२) एकत्र करने योग्य। ढेर लगाने के योग्य। संचय करने योग्य।

परिचौ†–संज्ञा स्त्री० [सं० परिचय] परिचय। ज्ञान। उ०—करतल निरखि कहत सब गुन गन बहुतनि परिचो पायो।—तुलसी।

परिच्छंद–संज्ञा पुं० [सं०] वस्त्र। पहरावा। पोशाक।

परिच्छद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपड़ा जो किसी वस्तु को ढक या छिपा सके। आच्छादन। ढाकनेवाली वस्तु। पट। जैसे, लिहाफ, खोल, झूल आदि। (२) वस्त्र। पहनावा। पोशाक। (३) राजचिह्न। (४) राजा आदि के सब समय साथ रहनेवाले नौकर। अनुचर। (५) परिजन। परिवार। कुटुंब। (६) असबाब। सामान।

परिच्छन्न–वि० [सं०] (१) ढका हुआ। छिपा हुआ। (२) जो कपड़े पहने हो। वस्त्रयुक्त। वस्त्रादि से सज्जित। (३) जो साफ किया हुआ हो।

परिच्छिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीमा। अवधि। इयत्ता। हद। (२) दो पदार्थों को बिलकुल अलग अलग कर देना। सीमा द्वारा दो वस्तुओं को एक दूसरी से बिलकुल जुदा कर देना। (३) विभाग। बाँट।

परिच्छिन्न–वि० [सं०] (१) परिच्छेदविशिष्ट। सीमायुक्त। परिमित। मर्यादित। (२) विभक्त। विभाजित। अलग अलग किया हुआ।

परिच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काटकर विभक्त करने का भाव। खंड या टुकड़े करना। विभाजन। (२) ग्रंथ या पुस्तक का ऐसा विभाग या खंड जिसमें प्रधान विषय के अंगभूत पर स्वतंत्र विषय का वर्णन या विवेचन होता है। ग्रंथ का कोई स्वतंत्र विभाग। ग्रंथविच्छेद। ग्रंथसंधि। अध्याय। प्रकरण। जैसे, अमुक पुस्तक में कुल १० परिच्छेद हैं।

विशेष—ग्रंथ के विषय के अनुसार उसके विभागों के नाम भी भिन्न भिन्न होते हैं। काव्य में प्रत्येक विभाग को सर्ग, कोष में वर्ग, अलंकार में परिच्छेद तथा उच्छ्वास, कथा में उद्घात, पुराण और संहिता आदि में अध्याय, नाटक में अंक, तंत्र में पटल, ब्राह्मण में कांड, संगीत में प्रकरण और भाष्य में आह्निक कहते हैं। इसके अतिरिक्त पाद, तरंग, स्तवक, प्रपाठक, स्कंध, मंजरी, लहरी, शाखा आदि भी परिच्छेद के स्थानापन्न हुआ करते हैं। परिच्छेद का नाम विषय के अनुसार नहीं किंतु संख्या के अनुसार होता है। जैसे, नवाँ परिच्छेद, दसवाँ परिच्छेद।

(३) सीमा। इयत्ता। अवधि। हद। (४) दो वस्तुओं को स्पष्ट रूप से अलग अलग कर देना। सीमानिर्द्धारण द्वारा दो वस्तुओं को बिलगाना। परिभाषा द्वारा दो वस्तुओं या भावों का अंतर स्पष्ट कर देना। जैसे, सत्यासत्य का परिच्छेद, धर्माधर्म का परिच्छेद। (५) निर्णय। निश्चय। फैसला। (६) विभाग। बँटवारा।

परिच्छेदक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीमा या इयत्ता निर्धारित करनेवाला। हद मुकर्रर करनेवाला। (२) बिलगानेवाला। पृथक् करनेवाला। (३) सीमा। हद। (४) परिमाण, गिनती, नाप या तोल।

परिच्छेदकर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि।

परिच्छेद्य–वि० [सं०] (१) गिनने, नापने या तोलने योग्य परिमेय। (२) अलग करने योग्य। बिलगाने योग्य। (३) बाँटने योग्य। विभाज्य।

परिच्युत–वि० [सं०] (१) सब भाँति गिरा हुआ। सर्वथा भ्रष्ट या पतित। (२) जाति या पंक्ति से बहिष्कृत। बिरादरी से निकाला हुआ।

परिच्युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] गिरना। पतन। स्खलन। भ्रंश।

परिछन–संज्ञा पुं० दे० "परछन"।

परिछाहीं–संज्ञा स्त्री० दे० "परछाईं"। उ०—मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जान राम परिछाहीं।—तुलसी।

परिछिन्न–वि० दे० "परिच्छिन्न"।

परिजंक*–संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक"।

परिजटन*–संज्ञा पुं० दे० "पर्यटन"।

परिजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिवार। आश्रित या पोष्य वर्ग। वे लोग जो अपने भरण पोषण के लिये किसी एक व्यक्ति पर अवलंबित हों। जैसे, स्त्री, पुत्र, सेवक आदि। (२) सदा साथ रहनेवाले सेवक। अनुचरवर्ग।

परिजनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिजन। होने का भाव (२) अधीनता।

परिजन्मा–संज्ञा पुं० [सं० परिजन्मन्] (१) चंद्रमा। (२) अग्नि।

परिजप्त–वि० [सं०] मुग्ध। मोहित।

परिजय्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो चारों ओर जय करने में समर्थ हो। सब ओर जीत सकनेवाला।

परिजल्पित–संज्ञा पुं० [सं०] चित्रजल्प का दूसरा भेद। दे० "चित्रजल्प"

परिजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] आदि जन्मभूमि। उद्गम। निकास।

परिजात–वि० [सं०] उत्पन्न। जन्मा हुआ।

परिज्ञप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बातचीत। कथोपकथन। (२) पहचान या पहचानना।

परिज्ञा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञान। (२) सूक्ष्म ज्ञान। निश्चयात्मक ज्ञान। संशयरहित ज्ञान।

परिज्ञात–वि० [सं०] (१) जाना हुआ। विशेष या सम्यक् रूप से जाना हुआ। (२) निश्चित रूप से जाना हुआ।

परिज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का भली भाँति ज्ञान। पूर्ण ज्ञान। सम्यक् ज्ञान। (२) निश्चयात्मक ज्ञान। ऐसा ज्ञान जिस पर पूरा भरोसा हो। (३) सूक्ष्म ज्ञान। भेद अथवा अंतर का ज्ञान। किसी वस्तु के सूक्ष्म से सूक्ष्म गुण दोषों का ज्ञान।

परिज्वा-संज्ञा पुं० [सं० परिज्वन्] (१) चंद्रमा। (२) अग्नि। (३) सेवक। (४) यज्ञ करनेवाला। (५) इंद्र।

परिडीन-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पक्षी की वृत्ताकार गति में उड़ान। किसी पक्षी का चक्कर काटते हुए उड़ना।

परिणत-वि० [सं०] [संज्ञा परिणति] (१) बिलकुल या बहुत झुका हुआ। अति नम्र या नत। (२) जिसका परिणाम हुआ हो। जो बदलकर और का और हो गया हो। बदला हुआ। विकारयुक्त। रूपांतरित। अवस्थांतरित जैसे, दूध का दही के रूप में परिणत होना। (३) पका हुआ। पक्का। जैसे, परिणत फल। (४) पचा हुआ। रसादि में परिवर्तित (भोजन)। (५) प्रौढ़। पुष्ट। बढ़ा हुआ। पक्का। कच्चा का उलटा (बुद्धि या वय)।

परिणति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झुकाव। नीचे की ओर झुकना। अवनति। (२) बदलना। रूपांतर होना। अवस्थांतर-प्राप्ति। परिणयन। विकृति। (३) पकना या पचना। परिपाक। (४) प्रौढ़ावस्था। प्रौढ़ता। पक्वता। पुष्टि। पुख्तगी। (५) वृद्धता। बुढ़ाई। (६) अंत। अवसान।

परिणद्ध-वि० [सं०] (१) लपेटा हुआ। मढ़ा हुआ। आवृत। (२) बाँधा हुआ। जकड़ा हुआ। (३) विस्तीर्ण। चौड़ा। विशाल।

परिणय-संज्ञा पुं० [सं०] ब्याह। विवाह। उद्वाह। दार-परिग्रह। शादी।

परिणयन-संज्ञा पुं० [सं०] ब्याहना। विवाह करने की क्रिया। दारपरिग्रह।

परिणाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चारों ओर से बाँधने का भाव। (२) लपेटने या आवृत करने का भाव।

परिणाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदलने का भाव या कार्य। बदलना। एक रूप या अवस्था को छोड़कर दूसरे रूप या अवस्था को प्राप्त होना। रूपांतर-प्राप्ति। (२) प्राकृतिक नियमानुसार वस्तुओं का रूपांतरित या अवस्थांतरित होना। स्वाभाविक रीति से रूप परिवर्त्तन या अवस्थांतर-प्राप्ति। मूल प्रकृति का उलटा। विकृति। विकार प्राप्ति। (सांख्य)।

विशेष—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम अर्थात् एक रूप या अवस्था से च्युत होकर दूसरे रूप या अवस्था को प्राप्त होते रहना है और उसका यह स्वभाव ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है। जिस परिणाम के कारण जगत् की रचना होती है उसे विरूप अथवा विसदृश परिणाम और जिसके कारण उसका अभाव या प्रलय होता है उसे स्वरूप अथवा सदृश परिणाम कहते हैं। सत्व, रज, तम की साम्यावस्था भंग होकर उनके परस्पर विषम परिणाम में संयुक्त होने से क्रमशः असंख्य कार्यों अथवा जगत् के पदार्थों का उत्पन्न होना विरूप परिणाम है और फिर इसी कार्य्यशृंखला का अपने अपने कारण में लीन होते हुए व्यक्त जगत का अभाव प्रस्तुत करना स्वरूप परिणाम है। विरूप परिणाम से त्रिगुणों की साम्यावस्था विनष्ट होती है और वे स्वरूप से च्युत होते हैं और स्वरूप परिणाम से उन्हें पुनः साम्यावस्था तथा स्वरूप स्थिति प्राप्त होती है। पुरुष अथवा आत्मा के अतिरिक्त संसार में और जो कुछ है सब परिणामी है अर्थात् रूपांतरित होता रहता है। तथापि कुछ पदार्थों का परिणाम शीघ्र दिखाई पड़ जाता है। कुछ का बहुत समय में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जो परिणाम शीघ्र उपलब्ध होता है उसे तीव्र परिणाम और जिसकी उपलब्धि बहुत देर में होती है उसे मृदु परिणाम कहते हैं। सदृश अथवा विसदृश परिणाम में से जब एक की मृदुता चरम अवस्था को पहुँच जाती है, तब दूसरा परिणाम आरंभ होता है।

(३) प्रथम या प्रकृत रूप या अवस्था से च्युत होने के उपरांत प्राप्त हुआ दूसरा रूप या अवस्था। किसी वस्तु का कार्य रूप या कार्यावस्था। विकृति। विकार। रूपांतर। अवस्थांतर। जैसे, दूध का परिणाम दही,लकड़ी का राख आदि। (४) किसी वस्तु के एक धर्म के निवृत्त होने पर दूसरे धर्म की प्राप्ति। एक धर्म या संस्कार-समुदाय का तिरोभाव या क्षय होकर दूसरे धर्म या संस्कारों का प्रादुर्भाव या उदय। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्राप्ति। (योग)।

पातंजल दर्शन में चित्त के निरोध, समाधि और एकाग्रता नाम से तीन विशेष परिणाम माने हैं। व्युत्थान अर्थात राजस भूमियों के संस्कारों का प्रति क्षण अधिकाधिक अभिभूत, लुप्त या निरुद्ध अथवा 'परवैराग्य' अर्थात् शुद्ध सात्विक संस्कारों का उदित और वर्द्धित होते जाना चित्त का निरोध परिणाम है। चित्त की सर्वार्थता या विक्षेप रूप धर्म का क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होना अर्थात् उसकी चंचलता का सर्वांश में लोप होकर एकाग्रता धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश होना समाधि परिणाम है। एक ही विषय में चित्त के शांत और उदित दोनों धर्म अर्थात् भूत

और वर्त्तमान दोनों वृत्तियाँ एकाग्रता परिणाम हैं। समाधि परिणाम में चित्त का विक्षेप धर्म शांत हो जाता है अर्थात् अपना व्यापार समाप्त करके भूत काल में प्रविष्ट हो जाता है और केवल एकाग्रता-धर्म उदित रहता है अर्थात् व्यापार करनेवाले धर्म की अवस्था में रहता है। परंतु एकाग्रता परिणाम की अवस्था में चित्त एक ही विषय में इन दोनों प्रकार के धर्मों या वृत्तियों से संबंध रखता हुआ स्थित होता है। चित्त के परिणामों की तरह स्थूल सूक्ष्म भूतों तथा इंद्रियों के भी उक्त दर्शन में तीन परिणाम बताए गए हैं—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम। द्रव्य अथवा धर्मी का एक धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म स्वीकार करना धर्म-परिणाम है; जैसे, मृत्तिका रूप धर्मी का पिंड-रूप-धर्म को छोड़कर घट-रूप-धर्म को स्वीकार करना। एक काल या सोपान में स्थिति धर्म का दूसरे काल या सोपान में आना लक्षण-परिणाम है। जैसे, पिंड रूप में रहने के समय मृत्तिका का घट रूप धर्म भविष्यत् या अनागत सोपान में था, परंतु उसके घटाकार हो जाने पर वह तो वर्त्तमान सोपान में आ गया और उसका पिंडताधर्म भूत सोपान में स्थित हो गया। किसी धर्म का नवीन प्राचीन होना अवस्था परिणाम है। जैसे, घड़े का नया या पुराना होना। इसी प्रकार दृष्टि श्रवण आदि इंद्रियों का एक रूप या शब्द का ग्रहण छोड़कर दूसरे रूप या शब्द का ग्रहण करना उसका धर्म-परिणाम है। दर्शन श्रवण आदि धर्म का वर्त्तमान भूत आदि होकर स्थित होना लक्षण-परिणाम है और उनमें अस्पष्टता स्पष्टता होना अवस्था-परिणाम है। (५) एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय के कार्य का उपमान द्वारा किया जाना अथवा अप्रकृत (उपमान) का प्रकृत (उपमेय) से एक रूप होकर कोई कार्य करना कहा जाता है। जैसे, "कर कमलन धनु शायक फेरत" अथवा "हरे हरे पद कमल तें फूलन बीनति बाल"। इन उदाहरणों में "धनुशायक फेरना" और 'फूल चुनना' वस्तुतः कर के कार्य हैं, पर कवि ने उसके उपमान कमल द्वारा इनका किया जाना कहा है।

रूपक अलंकार से इसमें यह भेद है कि इसके उपमान से कोई विशेष कार्य कराकर अर्थ में चमत्कार पैदा किया जाता है परंतु रूपक के उपमान से कोई कार्य कराने की ओर लक्ष्य ही नहीं होता। केवल उपमेय पर उसका आरोप भर कर दिया जाता है। "कर कमलन धनुशायक फेरत", "अपने करकंज लिखी यह पाती", "मुख शशि हरत अँधार" आदि परिणाम के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। (६) पकने या पचने का भाव। पाक। (७) बाढ़। विकास। वृद्धि। परिपुष्टि। (८) वृद्ध होना। बूढ़ा होना। (९) बीतना। समाप्त होना। अवसान। (१०) नतीजा। फल।

परिणामदर्शी–वि० [सं० परिणामदर्शिन्] जिसे काम करने के पहले उसका नतीजा मालूम हो जाय। फल को सोचकर कार्य करनेवाला। सोच समझकर काम करनेवाला। भविष्य या होनहार को जान सकनेवाला। सूक्ष्मदर्शी। दूरदर्शी।

परिणामदृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी कार्य के परिणाम को जान लेने की शक्ति। आगामी फल की ओर दृष्टि।

परिणामन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिणत करना। पूर्ण पुष्ट तथा वर्द्धित करना। (२) जाति या संघ का उद्दिष्ट वस्तु को अपने काम में लाना। (बौद्ध)।

परिणामवाद–संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जिसमें जगत् की उत्पत्ति नाश आदि नित्यपरिणाम के रूप में माने जाते हैं। सांख्य मत।

परिणामशूल–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें भोजन पचने के समय पेट में पीड़ा होती है।

परिणामित्व–संज्ञा पुं० [सं०] बदलने का स्वभाव या धर्म। परिवर्त्तनशीलता।

परिणामिनित्य–वि० [सं०] जो नित्य हो, पर बदलता रहे। जो परिणामशील होकर नित्य या अविनाशी हो। जिसकी सत्ता स्थिर रहे पर रूप आकार आदि बदलता रहे। जो एकरस न होकर भी अविनाशी हो।

विशेष—सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति परिणामिनित्य है और पुरुष अथवा आत्मा अपरिणामिनित्य।

परिणामी–वि० [सं० परिणामिन्] [स्त्री० परिणामिनी] (१) जो बराबर बदलता रहे। जिसका बदलने का स्वभाव हो। रूपांतरित होने वा रहनेवाला। परिवर्त्तनधर्मी। (२) जो परिवर्तन स्वीकार करे। बदलनेवाला।

परिणाय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु को जिस दिशा में चाहे चलाना। सब ओर चलाना। (२) चौसर, शतरंज आदि के गोटों को चलाना। (३) विवाह। ब्याह।

परिणायक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नेता। चलानेवाला। पथ-प्रदर्शक। (२) सेनापति। (३) स्वामी। पति। भर्ता।

परिणायकरत्न–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध चक्रवर्ती राजाओं के सप्तधन अथवा सात कोषों में से एक।

परिणाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विस्तार। फैलाव। विशालता। चौड़ाई। (२) लंबी साँस। दीर्घ श्वास।

परिणाहवान–वि० [सं० परिणाहवत्] विस्तार-युक्त। फैला हुआ। प्रशस्त।

परिणाही–वि० [सं० परिणाहिन्] विस्तारयुक्त। फैला हुआ। विस्तृत ।

परिणिंसक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूमनेवाला । चुंबनकारी । (२) खानेवाला । भक्षणकारी ।

परिणिंसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चूमना । चुंबन । (२) खाना । भक्षण ।

परिणीत–वि० [सं०] (१) विवाहित। जिसका ब्याह हो चुका हो । (२) समाप्त । सम्पन्न-कृत । पूर्ण ।

परिणीतरत्न–संज्ञा पुं० [सं०] परिणायकरत्न ।

परिणेता–संज्ञा पुं० [सं० परणेतृ] स्वामी । पति । भर्ता ।

परिणेया–वि० [सं०] ब्याहने योग्य (स्त्री)। पति या भार्या बनाने के उपयुक्त ।

परितः–अव्य० [सं० परितम्] (१) सब ओर। चारों ओर । (२) सब प्रकार । संपूर्ण रूप से । सर्वतोभाव से ।

परितच्छ*–संज्ञा पुं० दे० "प्रत्यक्ष" ।

परितत्नु–वि० [सं०] सब कहीं फैला हुआ। सर्वत्र व्याप्त । सर्वतो व्याप्त [अथर्ववेद] ।

परितप्त–वि० [सं०] (१) तपा हुआ। अत्यंत गरम । जलता हुआ। (२) क्लेश का अनुभव करता हुआ। दुखित । संतप्त।

परितप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तपन । जलन । दाह । गरमी । (२) दुःख । क्लेश । व्यथा । मनस्ताप ।

परिताप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत जलन । गरमी । आँच । ताव । (२) दुःख । क्लेश। पीड़ा। व्यथा । दर्द । तकलीफ । (३) मानसिक दुःख या क्लेश । संताप । मनस्ताप। क्षोभ । उद्वेग । रंज । (४) पश्चात्ताप । पछतावा । (५) भय । डर । (६) कंप । कँपकपी । (७) एक विशेष नरक का नाम ।

परितापी–वि० [सं० परितापिन्] (१) जिसको परिताप हो । परितापयुक्त । दुखित या व्यथित । (२) परितापकर्त्ता । पीड़ा देनेवाला । सतानेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं०] परितापकर्त्ता । पीड़ा देनेवाला । उत्पीड़क। सतानेवाला ।

परितिक्त–वि० [सं०] अत्यंत तीता । बहुत तिक्त ।

संज्ञा पुं० नीम । निंब ।

परितुष्ट–वि० [सं०] (१) खूब संतुष्ट । जिसका पूर्ण रीति से संतोष हो गया हो । (२) प्रसन्न । खुश ।

परितुष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परितुष्ट होने का भाव। संतुष्टता । संतोष । परितोष । (२) प्रसन्नता । खुशी ।

परितृप्त–वि० [सं०] अघाया हुआ । संतुष्ट । तृप्त ।

परितृप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अघाना । संतुष्टि । तृप्ति ।

परितोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संतोष। तृप्ति। (२) प्रसन्नता, खुशी । वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छा के पूर्ण होने से उत्पन्न हो ।

परितोषक–संज्ञा पुं० [सं०] परितोष करनेवाला। संतुष्ट करनेवाला । प्रसन्न या खुश करनेवाला ।

परितोषण–संज्ञा पुं० [सं०] परितुष्टि । संतोष ।

परितोषवान्–वि० [सं० परितोषवत्] परितोषयुक्त । संतुष्ट । परितुष्ट ।

परितोषी–वि० [सं० परितोषिन्] संतोषशील । संतोषी ।

परितोस*–संज्ञा पुं० दे० "परितोष" ।

परित्यक्त–वि० [सं०] जो त्याग दिया गया हो । छोड़ा, फेंका, निकाला या दूर किया हुआ ।

परित्यक्ता–संज्ञा पुं० [सं० परित्यक्तृ] परित्याग करनेवाला। त्यागने, छोड़ने या फेंकनेवाला ।

वि० [स्त्री०] त्यागी हुई । छोड़ी हुई ।

परित्यजन–संज्ञा पुं० [सं०] परित्याग की क्रिया । त्यागना। छोड़ना । फेंकना । निकालना ।

परित्यज्य–वि० [सं०] परित्याग-योग्य । फेंकने, छोड़ने या निकालने योग्य ।

परित्याग–संज्ञा पुं० [सं०] त्यागने का भाव । त्याग । निकालना । अलग कर देना । छोड़ना ।

परित्यागी–वि० [सं० परित्यागिन्] परित्यागशील । त्याग करनेवाला । छोड़नेवाला ।

परित्याजन–संज्ञा पुं० [सं०] परित्याग की क्रिया । छोड़ना। निकालना ।

परित्याज्य–वि० [सं०] परित्याग-योग्य । त्यागने या छोड़ देने के योग्य । खारिज करने के क़ाबिल ।

परित्राण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी की रक्षा करना, विशेषतः ऐसे समय में जब कोई उसे मार डालने को उद्यत हो । बचाव । हिफाजत । रक्षा । (२) आत्मरक्षण । अपनी रक्षा । (३) शरीर के बाल । रोंगटे ।

परित्रात–वि० [सं०] जिसकी रक्षा की गई हो । रक्षाप्राप्त ।

परित्राता–संज्ञा पुं० [सं० परित्रातृ] परित्राणकर्ता । रक्षा करनेवाला । बचानेवाला ।

परित्रापक–संज्ञा पुं० [सं०] परित्राता । रक्षक । रक्षा करनेवाला।

परिदंशित–वि० [सं०] बक्तर से भली भाँति ढँका हुआ। जिरहपोश ।

परिदर–संज्ञा पुं० [सं०] दाँतों का एक रोग जिसमें मसूढ़े दाँतों से अलग हो जाते हैं और थूक के साथ रक्त निकलता है । वैद्यक के अनुसार यह रोग पित्त, रुधिर और कफ के प्रकोप से होता है ।

परिदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सम्यक् रूप से अवलोकन। भली भाँति देखना। (२) दर्शन । अवलोकन । देखना ।

परिदिष्ट-वि० [सं०] (१) जो काटकर टुकड़े टुकड़े कर दिया गया हो । (२) काटा हुआ । दंशित ।

परिदान-संज्ञा पुं० [सं०] लौटा देना । वापस कर देना । फिर दे देना । फेर देना ।

परिदाप—संज्ञा पुं० [सं०] सुगंधि । परिमोद । खुशबू ।

परिदायी-संज्ञा पुं० [सं० परिदायिन्] वह व्यक्ति जो ऐसे व्यक्ति को अपनी कन्या दान करे जिसका बड़ा भाई अविवाहित हो । परिवेत्ता का ससुर ।

परिदाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत दाह या जलन । (२) मानसिक पीड़ा या व्यथा । शोक । संताप ।

परिदीन-वि० [सं०] जिसको अतिशय मानसिक दुःख हो । अत्यंत खिन्नचित्त ।

परिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] विलाप । रोना-धोना ।

परिदेवन-संज्ञा पुं० [सं०] विलाप करना । कलपना । रोकर आंतरिक दुःख जताना । अनुशोचन । अनुतापन ।

परिद्रष्टा—संज्ञा पुं० [सं० परिद्रष्टृ] परिदर्शनकारी । दर्शन करनेवाला । देखनेवाला । अवलोकन करनेवाला ।

परिद्वीप—संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ का एक पुत्र ।

परिध—संज्ञा पुं० दे० "परिधि" ।

परिधन*—संज्ञा पुं० [सं० परिधान] नीचे पहनने का कपड़ा । धोती आदि । उ०—(क) कुंद-इंदु-दर-गौर सरीरा । भुज प्रलंब, परिधन मुनि चीरा ।—तुलसी । (ख) सीस जटा सरसीरुह लोचन, बने परिधन मुनि चीर ।—तुलसी ।

परिधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु से अपने शरीर को चारों ओर से छिपाना । कपड़े लपेटना । (२) कपड़ा पहनना । (३) वह जो पहना जाय । वस्त्र । कपड़ा । पोशाक । पहनावा । (४) धोती आदि नीचे पहनने के वस्त्र । (५) स्तुति, प्रार्थना, गायन आदि का समाप्त करना ।

परिधानीय-वि० [सं०] [स्त्री० परिधानीया] (१) परिधान योग्य । पहनने योग्य । (२) जो पहना जाय । वस्त्र । परिधेय ।

परिधाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहनावा । परिधेय । वस्त्र । (२) जलस्थान ।

परिधायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढकने, लपेटने या चारों ओर से घेरनेवाला । (२) घेरा । बाड़ा । रुँधान । (३) चहारदीवारी ।

परिधारण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिधार्य, परिधृत] (१) उठाना । सहारना । धारण करना । (२) बचा रखना । रक्षा करना ।

परिधावन—संज्ञा पुं० [सं०] पहनने की प्रेरणा करना । पहनवाना ।

परिधावी-वि० [सं० परिधाविन्] दौड़नेवाला । संज्ञा पुं० बृहस्पति के ६० वर्ष के युगचक्र या फेरे में से ४६ वाँ या २० वाँ वर्ष ।

परिधि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रेखा जो किसी गोल पदार्थ के चारों ओर खींचने से बने । गोल वस्तु की चौहद्दी बनानेवाली रेखा । गोल पदार्थ का विस्तार नियमित करनेवाली रेखा । घेरा । (२) रेखागणित में वह रेखा जो किसी वृत्त के चारों ओर खींची हुई हो । वृत्त की चतुःसीमा प्रस्तुत करनेवाली रेखा । दायरे की शक्ल या चौहद्दी बनानेवाली रेखा । घेरा । (३) सूर्य चंद्र आदि के आस पास देख पड़नेवाला घेरा । परिवेश । मंडल । (४) किसी प्रकार का विशेषतः किसी वस्तु की रक्षा के लिये बनाया हुआ घेरा । बाड़ा, रुँधान या चहारदीवारी । (५) यज्ञकुंड के आस पास गाड़े जानेवाले तीन खूँटे ।

विशेष—इन खूँटों के नाम दक्षिण, उत्तर और मध्यम होते थे। (६) कक्षा । नियत या नियमित मार्ग । (७) परिधेय । कपड़ा । वस्त्र । पोशाक ।

परिधिस्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिचारक । परिचर । सेवक । खिदमतगार । (२) वे सैनिक जो रथ के चारों ओर इसलिये खड़े कराए जाते थे कि शत्रु के प्रहार से रथ और रथी की रक्षा करते रहें । रथ और रथी की रक्षक सेना ।

परिधीर—वि० [सं०] अतिशय धीर । गंभीर ।

परिधूमन—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार तृष्णा रोग का एक उपद्रव जिसमें एक विशेष प्रकार की कै आती है ।

परिधूमायन—संज्ञा पुं० [सं०] परिधूमन ।

परिधेय—वि० [सं०] पहनने के योग्य । परिधान के उपयुक्त । संज्ञा पुं० वस्त्र । पोशाक । कपड़ा ।

परिध्वंस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अत्यंत नाश । बिलकुल मिट जाना । (२) नाश । मिटना ।

परिनय-संज्ञा पुं० दे० "परिणय" ।

परिनाय-संज्ञा पुं० दे० "परिणाय" ।

परिनामी-वि० दे० "परिणामी" ।

परिनिर्वाण-संज्ञा पुं० [सं०] अति निर्वाण । पूर्ण निर्वाण । पूर्ण मोक्ष ।

परिनिर्वाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्वाण-मुक्ति । निर्वाण-गति ।

परिनिर्वृत-वि० [सं०] जिसको परिनिर्वाण प्राप्त हुआ हो । परिमुक्त । मुक्त ।

परिनिर्वृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिमुक्ति । मोक्ष । मुक्ति ।

परिनिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरम सीमा या अवस्था । अंतिम सीमा । पराकाष्ठा । (२) पूर्णता । (३) अभ्यास अथवा ज्ञान की पूर्णता ।

परिनिष्ठित-वि० [सं०] (१) पूर्ण । संपन्न । समाप्त (२) पूर्ण अभ्यस्त । पूर्ण कुशल ।

परिनैष्ठिक-वि० [सं०] सर्वश्रेष्ठ । सर्वोच्च । सर्वोत्कृष्ट ।

परिन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काव्य में वह स्थल जहाँ कोई विशेष अर्थ पूरा हो । (२) नाटक में आख्यान बीज अर्थात् मुख्य कथा की मूलभूत घटना की संकेत से सूचना करना ।

परिपंच-संज्ञा पुं० दे० "प्रपंच" ।

परिपंथ-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रास्ता रोके हुए हो ।

परिपंथक, परिपंथिक-संज्ञा पुं० [सं०] शत्रु । दुश्मन ।

परिपंथी-संज्ञा पुं० [सं० परिपंथिन्] (१) शत्रु । दुश्मन । (२) विरुद्ध कार्य करनेवाला । प्रतिकूल आचरण करनेवाला । (वैदिक)

परिपक्व-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह पका हुआ । पूर्ण पक्व । सम्यक् रीति से पक्व । खूब पका हुआ । जैसे, ईंट, फल, अन्न आदि । (२) अच्छी तरह पचा हुआ । सम्यक् रीति से जीर्ण । जो बिलकुल हज़म हो गया हो । (३) पूर्ण विकसित । परिणत । प्रौढ़ । पका । पुख्ता । जैसे, परिपक्व बुद्धि या ज्ञान । (४) जो बहुत कुछ देख सुन चुका हो । बहुदर्शी । तजुरबेकार । (५) निपुण । कुशल । प्रवीण । उस्ताद । पूरा ।

परिपक्वता-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपक्व होने की क्रिया या भाव ।

परिपण-संज्ञा पुं० [सं०] मूलधन । पूँजी ।

परिपति-संज्ञा पुं० [सं०] सर्वव्यापी । वह जो हर स्थान में उपस्थित हो ।

परिपांडु-वि० [सं०] (१) बहुत हलका पीला । सफेदी लिए हुए पीला । (२) दुर्बल । कृश । क्षीण ।

परिपाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकने का भाव । पकना या पकाया जाना । (२) पचने का भाव । पचना । पचाया जाना । (३) प्रौढ़ता । पूर्णता । परिणति (बुद्धि, अनुभव आदि के लिये) । (४) बहुदर्शिता । तजुर्बेकारी । (५) कुशलता । निपुणता । प्रवीणता । उस्तादी । (६) कर्मफल । विपाक । परिणाम । फल । नतीजा ।

परिपाकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ ।

परिपाचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह पचना । भली भाँति पचना । (२) वह जो पूरी तरह से पच जाय ।

परिपाचना-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी पदार्थ को पूर्ण पक्व अवस्था में लाना ।

परिपाटल-वि० [सं०] जिसका रंग पीलापन लिए लाल हो । जर्दी लिए हुए लाल रंग का ।

परिपाटलित-वि० [सं०]पीले और लाल रंग में रँगा हुआ । जो पीला और लाल रंग मिलाकर रँगा गया हो ।

परिपाटि-संज्ञा स्त्री० दे० "परिपाटी" ।

परिपाटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्रम । श्रेणी । सिलसिला । (२) प्रणाली । रीति । शैली । तरीका । चाल । ढंग । (३) अंकगणित । (४) पद्धति । रीति । चाल । नियम । संप्रदाय । उ०—जेतिक हरि अवतार सबै पूरण करि जाने । परिपाटी ध्वज विजय सदृश भागवत बखाने ।—नाभाजी ।

परिपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] पार्श्व । बगल ।

परिपालन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करना । बचाना । (२) रक्षा । बचाव ।

परिपाल्य-वि० [सं०] जो रक्षा या पालन करने के योग्य हो ।

परिपिंजर-वि० [सं०] हलके लाल रंग का । पिंगलवर्ण ।

परिपिच्छ—संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक आभूषण जो मोर की पूँछ के परों से बनता था ।

परिपिष्टक—संज्ञा पुं० [सं०] सीसा ।

परिपीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिपीड़ित] (१) अत्यंत पीड़ा पहुँचाना या देना । (२) पीसना । (३) अनिष्ट करना ।

परिपीवर-वि० [सं०] अति मोटा । बहुत मोटा या तगड़ा ।

परिपुष्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोंडुबककड़ी । गोंडुबा ।

परिपुष्ट-वि० [सं०] (१) जिसका पोषण भली भाँति किया गया हो । सम्यक् रीति से पोषित । (२) जिसकी वृद्धि पूर्ण रीति से हुई हो । खूब हृष्ट पुष्ट । पूर्ण पुष्ट ।

परिपूजन-संज्ञा पुं० [सं०] सम्यक् प्रकार से पूजन या उपासना ।

परिपूत-वि० [सं०] अति पवित्र ।

संज्ञा पुं० ऐसा अन्न जिसकी भूसी या छिलका अलग कर लिया गया हो । छाँटा हुआ अन्न ।

परिपूरक-वि० [सं०] (१) परिपूर्ण कर देनेवाला । भर देनेवाला । लबालब कर देनेवाला । (२) समृद्धिकर्त्ता । धनधान्य से भरनेवाला । (३) संपूर्ण ।

परिपूरन-वि० दे० "परिपूर्ण" ।

परिपूरित-वि० [सं०] (१) परिपूर्ण । खूब भरा हुआ । लबालब । (२) संपूर्ण । समाप्त किया हुआ । पूरा किया हुआ ।

परिपूर्ण-वि० [सं०] (१) खूब भरा हुआ । सम्यक् रीति से व्याप्त । (२) पूर्ण तृप्त । अघाया हुआ । (३) समाप्त किया हुआ । संपूर्ण । पूरा किया हुआ ।

परिपूर्णचंद्रविमलप्रभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि जिसका वर्णन बौद्ध शास्त्रों में मिलता है ।

परिपूर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपूर्ण होने की क्रिया या भाव । परिपूर्णता ।

परिपृच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] पूछनेवाला । जिज्ञासा करनेवाला ।

वि० पूछनेवाला । जिज्ञासा करनेवाला ।

परिपृच्छनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बात जिसको लेकर वाद विवाद किया जाय । वाद का विषय ।

परिपृच्छा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जिज्ञासा। पूछना। प्रश्न करना।

परिपेल–संज्ञा पुं० [सं०] केवटी मोथा। कैवर्त्त मुस्तक।

परिपेलव–वि० [सं०] अति सुकुमार या कोमल।
संज्ञा पुं० केवटी मोथा।

परिपोट, परिपोटक–संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिसमें लौक का चमड़ा सूजकर स्याही लिए हुए लाल रंग का हो जाता है और उसमें पीड़ा होती है। प्रायः कान में भारी बाली आदि पहनने से यह रोग होता है।

परिपोटन–संज्ञा पुं० [सं०] परिपोटक।

परिपोटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] परिपोटक।

परिपोष–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्ण पुष्टि या वृद्धि।

परिपोषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन। परवरिश करना। (२) पुष्ट या वर्धित करना।

परिप्राप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राप्ति। मिलना।

परिप्रेषण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिप्रेषित, परिप्रेष्य] (१) चारों ओर भेजना। जिधर इच्छा हो उधर भेजना। दूत या हरकारा बनाकर भेजना। (२) निर्वासन। किसी विशेष स्थान या देश से निकाल देना। (३) त्याग देना। परित्याग करना।

परिप्रेषित–वि० [सं०] (१) भेजा हुआ। प्रेरित। (२) निर्वासित। निकाला हुआ। (३) त्यागा हुआ। परित्यक्त।

परिप्रेष्य–वि० [सं०] भेजने योग्य। प्रेरणा करने योग्य।
संज्ञा पुं० नौकर। दास। टहलुआ। अनुचर।

परिप्लव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तैरना। (२) बाढ़। प्लावन। (३) अत्याचार। जुल्म। (४) नौका। नाव। जहाज। (५) पुराणानुसार एक राजकुमार का नाम जो सुखीनल राजा का लड़का था।
वि० [सं०] (१) हिलता हुआ। काँपता हुआ। चंचल। अस्थिर। (२) बहता हुआ। चलता हुआ। गतियुक्त।

परिप्लवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाली एक प्रकार की करछी या चिमचा। एक प्रकार की दर्वी।

परिप्लुत–वि० [सं०] (१) जिसके चारों ओर जल ही जल हो। प्लावित। डूबा हुआ। (२) गीला। भीगा हुआ। तराबोर। आर्द्र। स्नात। (३) काँपता हुआ। कंपित।
संज्ञा पुं० फलाँग। छलाँग।

परिप्लुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) वह योनि जिसमें मैथुन या मासिक रजःस्राव के समय पीड़ा हो।

परिप्लुष्ट–वि० [सं०] जला हुआ। भुना हुआ।

परिप्लोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जलन। दाह। (२) जलना। भुनना। तपना। (३) शरीर के भीतर की गरमी।

परिफुल्ल–वि० [सं०] (१) अच्छी तरह खिला हुआ। सम्यक् विकसित। खूब खिला हुआ। (२) खूब खुला हुआ। अच्छी तरह खुला हुआ। जैसे, परिफुल्लनेत्र। (३) जिसके रोंगटे खड़े हों। रोमांचयुक्त।

परिबंधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिबद्ध] चारों ओर से बाँधना। अच्छी तरह बाँधना। जकड़कर बाँधना।

परिबर्ह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजाओं के हाथी घोड़ों पर डाली जानेवाली झूल। (२) राजा के छत्र, चँवर आदि। राजचिह्न या राजा का साज सामान। (३) नित्य के व्यवहार की वस्तुएँ। घर में नित्य काम आनेवाली चीजें। वे चीजें जिनकी गृहस्थी में अत्यावश्यकता हो। (४) संपत्ति। दौलत। माल असबाब।

परिबर्हण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूजा। उपासना। (२) बढ़ती। समृद्धि। परिवृद्धि।

परिबाधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीड़ा। कष्ट। बाधा। (२) श्रम। श्रांति। मिहनत।

परिबृंहण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिबृंहित] (१) समृद्धि। उन्नति। बढ़ती। (२) वह ग्रंथ अथवा शास्त्र जो किसी अन्य ग्रंथ या शास्त्र के विषय की पूर्ति या पुष्टि करता हो। किसी ग्रंथ के अंगस्वरूप अन्य ग्रंथ। जैसे, ब्राह्मण आदि ग्रंथ वेद के परिबृंहण हैं।

परिबृंहित–वि० [सं०] (१) समृद्ध। उन्नत। (२) किसी से जुड़ा या मिला हुआ। युक्त। अंगीभूत।

परिबोध–संज्ञा पुं० [सं०] ज्ञान।

परिबोधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिबोधनीय] (१) दंड की धमकी देकर या कुफल-भोग का भय दिखाकर कोई विशेष कार्य करने से रोकना। चिताना। (२) ऐसी धमकी या भयप्रदर्शन। चितावनी।

परिबोधना–संज्ञा स्त्री० [सं०] परिबोधन।

परिभक्ष–वि० [सं०] दूसरों का माल खानेवाला।

परिभक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभाक्षित] बिल्कुल खा डालना। खूब खा जाना। सफाचट कर देना।

परिभक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] आपस्तंब सूत्र के अनुसार एक विशेष विधान।

परिभव–संज्ञा पुं० [सं०] अनादर। तिरस्कार। अपमान। हतक।

परिभवन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभवनीय] अनादर या तिरस्कार करना। अपमान करना। हतक या तौहीन करना।

परिभवी–वि० [सं० परिभाविन्] अपमानकारी। तिरस्कार करनेवाला।

परिभाव–संज्ञा पुं० [सं०] परिभव। अनादर। तिरस्कार। अपमान।

परिभावन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभावित] (१) मिलाप। मिलन। संयोग। (२) चिंता। फिक्र।

परिभावी–वि० [सं० परिभाविन्] परिभावकारी। तिरस्कार या अपमान करनेवाला।

संज्ञा पुं० तिरस्कार या अपमान करनेवाला।

परिभाषक–संज्ञा पुं० [सं०] निंदक। बदगोई करनेवाला। निंदा द्वारा किसी का अपमान करनेवाला।

परिभावना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चिंता। सोच। फिक्र। (२) साहित्य में वह वाक्य या पद जिससे कुतूहल या अतिशय उत्सुकता सूचित अथवा उत्पन्न हो।

विशेष—नाटक में ऐसे वाक्य जितने अधिक हों उतना ही अच्छा समझा जाता है।

परिभाषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निंदा करते हुए उलाहना देना। निंदा के सहित उपालंभ देना। किसी को दोष देते या लानत मलामत करते हुए उसके कार्य पर असंतोष प्रकट करना। (२) ऐसा उलाहना जिसके साथ निंदा भी हो। निंदा सहित उपालंभ। लानत मलामत। फटकार।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार गर्भिणी, आपद्ग्रस्त, वृद्ध और बालक को और किसी प्रकार का दंड न देकर केवल परिभाषण का दंड देना चाहिए।

(३) बोलना चालना या बातचीत करना। भाषण। आलाप। (४) नियम। दस्तूर। कायदा।

परिभाषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिष्कृत भाषण। स्पष्ट कथन। संशयरहित कथन या बात। (२) पदार्थ-विवेचना-युक्त अर्थ-कथन। किसी शब्द का इस प्रकार अर्थ करना जिसमें उसकी विशेषता और व्याप्ति पूर्ण रीति से निश्चित हो जाय। ऐसा अर्थ-निरूपण जिसमें किसी ग्रंथकार या वक्ता द्वारा प्रयुक्त किसी विशेष शब्द या वाक्य का ठीक ठीक लक्ष्य प्रकट हो जाय। किसी शब्द के वाच्य का इस रीति से वर्णन जिसमें उसके समझने में किसी प्रकार का भ्रम या संदेह न हो सके। लक्षण। तारीफ। जैसे, तुम उदारता उदारता तो बार बार कह गए, पर जब तक तुम अपनी उदारता की परिभाषा न कर दो, मैं उससे कुछ भी नहीं समझ सकता।

विशेष—परिभाषा संक्षिप्त और अतिव्याप्ति, अव्याप्ति रहित होनी चाहिए। जिस शब्द की परिभाषा हो वह उसमें न आना चाहिए। जिस परिभाषा में ये दोष हों वह शुद्ध परिभाषा नहीं होगी बल्कि दुष्ट परिभाषा कहलावेगी।

क्रि० प्र०—कहना।—करना।

(३) किसी शास्त्र, ग्रंथ, व्यवहार आदि की विशिष्ट संज्ञा। ऐसा शब्द जो शास्त्र विशेष में किसी निर्दिष्ट अर्थ या भाव का संकेत मान लिया गया हो। ऐसा शब्द जो स्थान विशेष में ऐसे अर्थ में प्रयुक्त हुआ या होता हो जो उसके अवयवों या व्युत्पत्ति से भली भाँति न निकलता हो। पदार्थ-विवेचकों या शास्त्रकारों की बनाई हुई संज्ञा। जैसे, गणित की परिभाषा, वैद्यक की परिभाषा, जुलाहों की परिभाषा। (४) ऐसे शब्द का अर्थ निर्देश करनेवाला वाक्य या रूप। (५) ऐसी बोलचाल जिसमें वक्ता अपना आशय पारिभाषिक शब्दों में प्रकट करे। ऐसी बोल चाल जिसमें शास्त्र या व्यवसाय की विशेष संज्ञाएँ काम में लाई गई हों। जैसे, यदि यही बात विज्ञान की परिभाषा में कही जाय तो इस प्रकार होगी। (६) सूत्र के ६ लक्षणों में से एक। (७) निंदा। परिवाद। शिकायत। बदनामी।

परिभाषित–वि० [सं०] (१) जो अच्छी तरह कहा गया हो। जिसका स्पष्टीकरण किया गया हो। (२) (वह शब्द) जिसकी परिभाषा की गई हो। जिसका अर्थ किसी विशेष सूत्र या नियम द्वारा निर्दिष्ट तथा परिमित कर दिया गया हो।

परिभाषी–वि० [सं० परिभाषिन्] बोलनेवाला। भाषणकारी।

संज्ञा पुं० बोलनेवाला। भाषणकारी।

परिभाष्य–वि० [सं०] कहने योग्य। बताने योग्य।

परिभुक्त–वि० [सं०] जिसका भोग किया जा चुका हो। जो काम में आ चुका हो। उपभुक्त।

परिभू–वि० [सं०] (१) जो चारों ओर से घेरे या आच्छादित किए हो। (२) नियामक। (३) परिचालक।

विशेष—यह शब्द ईश्वर का विशेषण है।

परिभूत–वि० [सं०] (१) हारा या हराया हुआ। पराजित। (२) जिसका अनादर या अपमान किया गया हो। तिरस्कृत। अपमानित।

परिभूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निरादर। तिरस्कार। अपमान। (२) श्रेष्ठता।

परिभूषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सजाने की क्रिया या भाव। सजावट या सजाना। बनाव सँवार या बनाना सँवारना। (२) वह शांति जो किसी विशेष प्रदेश या भूखंड का राजस्व किसी को देकर स्थापित की जाय। वह संधि जो किसी विशेष प्रांत या प्रदेश की सारी मालगुजारी किसी शत्रु राजा आदि को देकर की जाय। (कामंदकीय नीति) (३) ऐसी शांति या संधि की स्थापना। पूर्वोक्त प्रकार की शांति या संधि स्थापित करने का कार्य।

परिभूषित–संज्ञा पुं० [सं०] सजाया हुआ। बनाया या सँवारा हुआ। श्रृंगार सहित।

परिभेद–संज्ञा पुं० [सं०] शस्त्रादि का आघात। तलवार तीर आदि का घाव। जख्म।

परिभेदक–संज्ञा पुं० [सं०] फाड़ने या छेदनेवाला व्यक्ति या शस्त्र। खूब गहरा घाव करनेवाला मनुष्य या हथियार।

वि० काटने फाड़ने या छेदनेवाला। आघातकारी।

परिभोग-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिभोग्य] (१) भोग। उपभोग। (२) मैथुन। स्त्री प्रसंग।

परिभोक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह मनुष्य जो दूसरे के धन का उपभोग करे। (२) वह मनुष्य जो गुरु के धन का उपभोग करे।

परिभ्रंश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराव या गिराना। पतन। च्युति। स्खलन। (२) भगदड़। भागना। पलायन।

परिभ्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इधर उधर टहलना। घूमना। भटकना। पर्यटन। भ्रमण। (२) घुमा फिराकर कहना। सीधे सीधे न कहकर और प्रकार से कहना। किसी वस्तु के प्रसिद्ध नाम को छिपाकर उपयोग, गुण, संबंध आदि से उसका संकेत करना, जैसे, पत्र (चिट्ठी) को "बकरी का भोज्य" या "माता" को "पिता की पत्नी" कहना। (३) भ्रम। भ्रांति। प्रमाद।

परिभ्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमना। (पहिये आदि का) चक्कर खाना। (२) परिधि। घेरा। (३) इधर उधर टहलना। घूमना फिरना। मटरगश्ती करना। भटकना।

परिभ्रष्ट-वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। पतित। च्युत। स्खलित। (२) भागा हुआ। पलायित।

परिभ्रामी-वि० [सं०] परिभ्रमण करनेवाला। भटकनेवाला। टहलने या घूमनेवाला।

परिमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्कर। घेरा। दायरा। परिधि। (२) एक प्रकार का विषैला मच्छर।

वि० (१) गोल। वर्त्तुलाकार। (२) जिसका मान परमाणु के बराबर हो।

परिमंडलकुष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का महाकुष्ठ। मंडल कुष्ठ।

विशेष—दे० "मंडल"।

परिमंडलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोलाई।

परिमंडलित-वि० [सं०] जो गोल किया गया हो। वर्त्तुलाकार बनाया हुआ। मंडलीकृत।

परिमंथर-वि० [सं०] अत्यंत मंद, धीरा या धीमा। जैसे, परिमंथर गति।

परिमंद-वि० [सं०] (१) अत्यंत श्रांत या थकित। (२) अत्यंत शिथिल या सुस्त। अत्यंत क्लांत।

परिमन्यु-वि० [सं०] क्रोध से भरा हुआ। अत्यंत कोपयुक्त।

परिमल-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमलित] (१) सुवास। उत्तम गंध। खुशबू। (२) वह सुगंधि जो कुमकुम आदि सुगंधित पदार्थों के मले जाने से उत्पन्न हो। (३) मलने का कार्य। मलना। उबटना। (४) कुमकुम आदि का मलना या उबटना। (५) मैथुन। सहवास। संभोग। (६) पंडितों का समुदाय।

परिमलज-वि० [सं०] (सुख) जो मैथुन से प्राप्त हो। संभोगजनित (सुख)।

परिमर-संज्ञा पुं० [सं०] हवा। वायु।

परिमर्श-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमृष्ट] (१) छू जाना। लग जाना। लगाव होना। (२) अच्छी तरह विचार करना। किसी बात के सब पक्षों पर विचार करना।

परिमर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] ईर्ष्या। कुढ़न। चिढ़।

परिमाण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमित, परिमेय] (१) वह मान जो नाप या तौल के द्वारा जाना जाय। वह विस्तार, भार या मात्रा जो नापने या तौलने से जानी जाय।

विशेष—वैशेषिक के अनुसार मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के द्रव्यों के संख्यादि पाँच गुणों में से परिमाण भी एक है।

(२) घेरा। चारों ओर का विस्तार।

परिमाणवान्-वि० [सं० परिमाणवत्] परिमाणयुक्त। परिमाणविशिष्ट।

परिमाणी-वि० [सं० परिमाणिन्] परिमाणयुक्त। परिमाणविशिष्ट।

परिमाता-संज्ञा पुं० [सं० परिमातृ] नापनेवाला। नापने का काम करनेवाला। पैमाइश करनेवाला।

परिमान-संज्ञा पुं० दे० "परिमाण"।

परिमार्गन-संज्ञा पुं० [सं०] खोजने या ढूँढ़ने का कार्य। खोजना ढूँढ़ना। अन्वेषण। अनुसंधान।

परिमार्गी-वि० [सं०] खोजने या खोज में किसी के पीछे जानेवाला। अनुसंधानकारी। अनुसरणकर्त्ता।

परिमार्जक-संज्ञा पुं० [सं०] धोने या माँजनेवाला। परिशोधक या परिष्कारक।

परिमार्जन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमार्जित, परिमृज्य, परिमृष्ट (१) धोने या माँजने का कार्य। अच्छी तरह धोना। माँजना। परिशोधन। परिष्करण। (२) एक विशेष मिठाई जो घी मिले हुए शहद के शीरे में डुबाई हुई होती है।

परिमार्जित-वि० [सं०] (१) धोया या माँजा हुआ। (२) साफ किया हुआ। परिष्कृत।

परिमित-वि० [सं०] (१) जिसका परिमाण हो ज्ञात या हो। जिसकी नाप तोल की गई हो या मालूम हो। सीमा, संख्या आदि से बद्ध। नपा तुला हुआ। (२) न अधिक न कम। जितने की आवश्यकता हो उतना ही। हिसाब या अंदाज से। उचित मात्रा या परिमाण में। जैसे, वे सदा परिमित भोजन करते हैं। (३) कम। थोड़ा। अल्प। जैसे उनका वैद्यकज्ञान बहुत ही परिमित है।

परिमितकथा–वि० [सं०] (१) जो उचित से अधिक न बोलता हो। नपे तुले शब्द बोलकर काम चलानेवाला। (२) कम बोलनेवाला। अल्पभाषी।

परिमिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाप, तोल, सीमा आदि।

[सं० परिमिति = सीमा, अंत] मर्यादा। इज्जत। उ०—परिमिति गए लाज तुमही को हंसिनि ब्याहि काग लै जाइ।—सूर।

परिमुक्त–वि० [सं०] पूर्ण रूप से स्वाधीन। सम्यक् रूप से मुक्त।

परिमूढ़–वि० [सं०] (१) व्याकुल। (२) विचलित। मथित। (३) क्षोभित।

परिमृष्ट–वि० [सं०] (१) धोया या साफ किया हुआ। परिमार्जित। (२) जिसको छुआ गया हो। स्पृष्ट। (३) पकड़ा हुआ। अधिकृत। (४) जिससे परामर्श किया गया हो।

परिमृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] धोना। माँजना। परिष्करण। परिमार्जन।

परिमेय–वि० [सं०] (१) जो नापा या तोला जा सके। नापने या तोलने के योग्य। (२) थोड़ा। ससीम। संकुचित। (३) जिसके नापने या तोलने का प्रयोजन हो। जिसे नापना या तोलना हो।

परिमोक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण मोक्ष। सम्यक् मुक्ति। निर्वाण। (२) परित्याग। छोड़ना। (३) मलपरित्याग। हगना। (४) विष्णु।

परिमोक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्त करना या होना। (२) परित्याग करना या किया जाना। (३) मल त्याग करना। (४) धौति क्रिया द्वारा अँतड़ियों को धोकर साफ करना।

परिमोष–संज्ञा पुं० [सं०] चोरी। स्तेय।

परिमोषक–संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

परिमोषी–वि० [सं० परिमोषिन्] जिसकी स्वभाव से चोरी करने की प्रवृत्ति हो।

परिमोहन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिमोहित] किसी की बुद्धि या मन को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में कर लेना। सम्यक् वशीकरण।

परिम्लान–वि० [सं०] मुरझाया हुआ। उदास। कुम्हलाया हुआ। मलिन। निस्तेज। हतप्रभ।

परिम्लायी–वि० [सं० परिम्लायिन्] मलिनतायुक्त। उदास। कुम्हलाया या मुरझाया हुआ।

संज्ञा पुं० तिमिर रोग का एक भेद। इसका कारण रुधिर में मूर्च्छित पित्त होता है। इसमें रोगी को सभी दिशाएँ पीली या प्रज्वलित दिखाई पड़ती हैं।

परियज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] वह छोटा यज्ञ या विधान जिसको अकेले करने की विधि न हो, किंतु जो किसी अन्य यज्ञ के साथ उसके पहले या पीछे किया जाय।

परियंक*–संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक"।

परियंत*–अव्य० दे० "पर्यंत"।

परियत्त–वि० [सं०] चारों ओर से घिरा हुआ। परिवेष्टित।

परियष्टा–संज्ञा पुं० [सं० परियष्टि] वह मनुष्य जो अपने बड़े भाई से पहले सोम याग करे।

परिया–संज्ञा पुं० [तामिल परैयान] दक्षिण भारत की एक प्राचीन जाति को अस्पृश्य मानी जाती है। इस जाति के लोग अधिकतर चौकीदारी, भंगी या मेहतर का काम अथवा शूद्र किसान के खेत में मजदूरी करते हैं। स्वभाव से ये शांत, नम्र और परिश्रमी होते हैं। ये देवी के उपासक होते हैं और अधिकतर पार्वती या काली की मूर्त्तियों की पूजा करते हैं। सामाजिक संबंध में ये बड़े रक्षणशील हैं; अपने से उच्च भिन्न जाति से भी किसी प्रकार का सामाजिक संबंध नहीं रखना चाहते। कई दक्षिणी राज्यों में इनको ब्राह्मणों के सामने से निकलने तक का निषेध है। कहते हैं कि इनका सामना हो जाने से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है और उसे स्नान करना पड़ता है। जिस गाँव में ब्राह्मणों की बस्ती हो उसमें जाना भी परिया के लिये निषिद्ध है।

विशेष—परिया लोगों का कहना है कि हमारी उत्पत्ति ब्राह्मणी के गर्भ से है और हम ब्राह्मणों के बड़े भाई होते हैं। वेंकटाचार्य ने कुलशंकरमाला में लिखा है कि उर्वशी के पुत्र वशिष्ठ ने अरुंधती नाम की एक चांडाली से विवाह किया था। इस चांडाली के गर्भ से १०० पुत्र जन्मे। इनमें से पिता का आदेश मान लेनेवाले ४ पुत्र तो चार वर्णों के मूल पुरुष हुए और पिता की आज्ञा की अवज्ञा करनेवाले ९६ पुत्रों को पंचमवर्ण या परिया की संज्ञा मिली।

संज्ञा स्त्री० [देश०] ताना तानने की लकड़ियाँ। (जुलाहा)

परियाण–संज्ञा पुं० [सं०] घुमाई फिराई। भ्रमण। पर्यटन।

परियाणिक–संज्ञा पुं० [सं०] चलती हुई गाड़ी।

परियात–वि० [सं०] (१) जो भ्रमण या पर्यटन कर चुका हो। (२) आया हुआ। कहीं से लौटा हुआ।

परियार–संज्ञा पुं० [देश०] (१) बिहार शाकद्वीपीय ब्राह्मणों का एक उपभेद। (२) मदरास में बसनेवाली एक नीच जाति।

परियोग्य–संज्ञा पुं० [सं०] वेद की एक शाखा।

परिरंभ, परिरंभण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिरंभित, परिरंभी] गले से गला या छाती से छाती लगाकर मिलना। आलिंगन।

परिरंभना*–क्रि० स० [सं० परिरंभ + ना (प्रत्य०)] परिरंभण करना। आलिंगन करना। गले लगाना। उ०—धुव तन

परिमल परसि जब गवनत धीर समीर। ताकहँ बहु सनमान करि परिरंभत बलवीर।—नंददास।

परिरक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] सब प्रकार या सब ओर से रक्षा करना।

परिरथ्य–संज्ञा स्त्री० [सं०] रथ का एक अंग।

परिरथ्या–संज्ञा पुं० [सं०] चौड़ा रास्ता। सड़क।

परिरोध–संज्ञा पुं० [सं०] रुकावट। अड़ंगा। अवरोध।

परिलंघ, परिलंघन–संज्ञा पुं० [सं०] फलांग या छलांग मारना। कूद या उछलकर लाँघ जाना।

परिलंबन–संज्ञा पुं० [सं०] भाचक्र का २७° विषुवद्रेखा से एक ओर हिंडोले की तरह जाकर फिर लौट आना और इसी प्रकार दूसरी ओर २७° तक की पेंग लेकर पुनः अपने स्थान पर चला आना। इसे अँगरेजी में लाइब्रेशन (Libration) कहते हैं।

परिलघु–वि० [सं०] (१) अत्यंत छोटा। (२) अत्यंत शीघ्र पचने के कारण अति लघु पाक।

परिलिखन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रगड़ या घिसकर किसी चीज का खुरदरापन दूर करना। (२) चिकना और चमकदार करना। पालिश करना।

परिलिखित–वि० [सं०] रेखा से घिरा हुआ। जो किसी घेरे या दायरे के बीच में हो। रेखा से परिवेष्टित।

परिलुप्त–वि० [सं०] (१) नाशप्राप्त। नष्ट। विनष्ट। (२) जिसकी क्षति या अपकार किया गया हो। क्षतिग्रस्त। अपकृत।

परिलेख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्र का स्थूल रूप जिसमें केवल रेखाएँ हों, रंग न भरा गया हो। ढाँचा। खाका। (२) चित्र। तसवीर। (३) कूँची या कलम जिससे रेखा या चित्र खींचा जाय। (४) उल्लेख। वर्णन। (हिंदी में)। उ०—तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसाल हो गयो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और काहू की समझ ही में न आवैगो।—हरिश्चंद्र।

परिलेखन–संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु के चारों ओर रेखाएँ बनाना।

परिलेखना–क्रि० स० [सं० परिलेख + ना (प्रत्य०)] समझना। मानना। खयाल करना। उ०—औ जेइ समुद प्रेम कर देखा। तेइ यह समुद बुंद परिलेखा।—जायसी।

परिलेही–संज्ञा पुं० [सं० परिलेहिन्] कान का एक रोग जिसमें कफ और रुधिर के प्रकोप से कान की लोलक पर छोटी छोटी फुंसियाँ निकल आती हैं और उनमें जलन होती है।

परिलोप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षति। हानि (२) विलोप। नाश।

परिवंश–संज्ञा पुं० [सं०] धोखा। छल। प्रतारण।

परिवक्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोलाकार वेदी।

परिवत्सर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष के पाँच विशेष संवत्सरों में से एक। इसका अधिपति सूर्य होता है। (२) एक समस्त वर्ष। एक पूरा साल।

परिवत्सरीण, परिवत्सरीय वि० [सं०] जिसका संबंध सारे वर्ष से हो। जो पूरे वर्ष भर रहे। समस्त वर्षव्यापी। समस्त वर्ष संबंधी।

परिवदन–संज्ञा पुं० [सं०] किसी के दोष का वर्णन या कथन। निंदा। बदगोई।

परिवर्जन, परिवर्ज्जन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परित्याग करना। त्यागना। छोड़ना। तजना। (२) मारण। मार डालना। हत्या करना।

परिवर्जनीय–वि० [सं०] त्यागने योग्य। परित्याज्य।

परिवर्जित–वि० [सं०] त्यागा हुआ। परित्यक्त।

परिवर्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिराव। फेरा। घुमाव। चक्कर। विवर्त्तन। आवृत्ति। (२) अदल बदल। बदला। विनिमय। (३) जो बदले में लिया या दिया जाय। बदल। (४) किसी काल या युग का अंत। किसी काल या युग का बीत जाना। (५) (ग्रंथ का) परिच्छेद। अध्याय। बयान। (६) पुराणानुसार मृत्यु के पुत्र दुस्सह के पुत्रों में से एक।

विशेष—मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि मृत्यु के दुस्सह नाम का एक पुत्र था जिसका विवाह कलि की कन्या निर्मार्ष्टि के साथ हुआ था। निर्मार्ष्टि के गर्भ से अनेक पुत्र जन्मे, परिवर्त इनमें तीसरा था। यह एक स्त्री के गर्भ को दूसरी स्त्री के गर्भ से बदल दिया करता था; किसी वाक्य का भी वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध या भिन्न अर्थ कर दिया करता था। इसी से इसे परिवर्त कहने लगे। इसके उपद्रव से गर्भ की रक्षा करने के लिये सफेद सरसों और रक्षोघ्न मंत्र से इसकी शांति की जाती है। इसके पुत्र विरूप और विकृति भी उपद्रव करके गर्भपात कराते हैं। इनके रहने के स्थान डालियों के सिरे, चहारदीवारी, खाई और समुद्र हैं। जब गर्भिणी स्त्री इनमें से किसी के पास पहुँचती है तब ये उसके गर्भ में घुस जाते हैं और फिर बराबर एक से दूसरे गर्भ में जाया करते हैं। इनके बार बार जाने आने से गर्भ गिर जाता है। इसी कारण गर्भावस्था में स्त्री को वृक्ष, पर्वत, प्राचीर, खाई और समुद्र आदि के पास घूमने फिरने का निषेध है।

(७) स्वरसाधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—आरोही—सा ग म रे, रे म प ग, ग प ध म, म ध नि प, प नि सा ध, ध सा रे नि, नि रे ग सा। अवरोही—सा ध प नि, नि प सा ध, ध म ग प, प ग रे म, म रे सा ग, ग सा नि रे, रे नि ध सा।

परिवर्तक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमनेवाला। फिरनेवाला। चक्कर खानेवाला। (२) घुमानेवाला। फिरानेवाला। चक्कर

देनेवाला । उलटने पलटनेवाला । (३) बदलनेवाला । विनिमय करनेवाला । (४) जो बदला जा सके । परिवर्तन योग्य । (५) युग का अंत करनेवाला । (६) मृत्यु के पुत्र दुस्सह का एक पुत्र ।

परिवर्तन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवर्तनीय, परिवर्तित, परिवर्ती] (१) घुमाव । फेरा । चक्कर । आवर्तन । (२) दो वस्तुओं का परस्पर अदल बदल । अदला बदली । हेर फेर । विनिमय । तबादला । (३) जो किसी वस्तु के बदले में लिया या दिया जाय । बदल । (४) बदलने या बदल जाने की क्रिया या भाव । दशांतर । स्थित्यंतर । रूपांतर । तबदीली । (५) किसी काल या युग की समाप्ति ।

परिवर्तनीय–वि० [सं०] घूमने, बदलने या बदले जाने के योग्य । परिवर्त्तन योग्य ।

परिवर्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक क्षुद्र रोग जिसमें अधिक खुजलाने, दबाने या चोट लगने के कारण लिंगचर्म उलटकर सूज आता है । कभी कभी यह सूजन गाँठ की तरह हो जाती है और पक जाती है । यह रोग वायु के कोप से होता है । कफ अथवा पित्त का भी संबंध होने से त्वचा में क्रम से अधिक खुजली या जलन होती है ।

परिवर्तित–वि० [सं०] (१) जिसका आकार या रूप बदल गया हो । बदला हुआ । रूपांतरित । (२) जो बदले में मिला हुआ हो ।

परिवर्तिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों शुक्ल पक्ष की एकादशी ।

परिवर्ती–वि० [सं० परिवर्तिनी] (१) परिवर्तन स्वभाववाला । परिवर्तनशील । बार बार बदलनेवाला । (२) किसी चीज का बदलनेवाला, विनिमय करनेवाला । (३) जिसका घूमने का स्वभाव हो । जो बराबर घूमता रहता हो ।

परिवर्तुल–वि० [सं०] खूब गोल । पूर्ण गोलाकार ।

परिवर्त्मन्–वि० [सं०] जो किसी वस्तु के चारों ओर घूम रहा हो । प्रदक्षिणा करता हुआ ।

परिवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवर्धित] संख्या, गुण आदि में किसी वस्तु की खूब बढ़ती होना । सम्यक् प्रकार से वृद्धि । खूब या खासी बढ़ती । परिवृद्धि ।

परिवर्द्धित–वि० [सं०] (१) बढ़ा हुआ । (२) बढ़ाया हुआ ।

परिवर्म्म–वि० [सं० परिवर्मन्] वर्म से ढका हुआ । बक्तर से ढका हुआ । जिरहपोश ।

परिवर्ह–संज्ञा पुं० [सं०] चँवर, छत्र आदि राजत्व की सूचक वस्तुएँ । राजचिह्न । शाही लवाजमा ।

परिवसथ–संज्ञा पुं० [सं०] ग्राम । गाँव ।

परिवह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सात पवनों में से छठा पवन । कहते हैं कि यह सुबह पवन के ऊपर रहता है और आकाशगंगा को बहाता तथा शुक्र तारे को घुमाता है । (२) अग्नि की सात जीभों में से एक ।

परिवा–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिपदा, प्रा० पडिवआ] किसी पक्ष की पहली तिथि । द्वितीया के पहले पड़नेवाली तिथि । अमावस्या या पूर्णिमा के दूसरे दिन की तिथि । पड़िवा ।

परिवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निंदा । दोषकथन । अपवाद । बुराई करना । (२) मनुस्मृति के अनुसार ऐसी निंदा जिसकी आधारभूत घटना या तथ्य सत्य न हो । झूठी निंदा । (३) लोहे के तारों का वह छल्ला जिससे वीणा या सितार बजाया जाता है । मिजराब ।

परिवादक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिवाद करनेवाला मनुष्य । निंदा करनेवाला व्यक्ति । (२) बीनकार । बीन बजानेवाला । वि० परिवाद करनेवाला । निंदक ।

परिवादिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह बीन जिसमें सात तार होते हैं ।

परिवादी–वि० [सं०] निंदा करनेवाला । परिवाद करनेवाला । संज्ञा पुं० निंदक व्यक्ति । अपवाद या परिवाद करनेवाला ।

परिवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई ढकनेवाली चीज । परिच्छद । आवरण । (२) म्यान । नियाम । कोष । तलवार की खोली । (३) वे लोग जो किसी राजा या रईस की सवारी में उसके पीछे उसे घेरे हुए चलते हैं । परिषद । (४) वे लोग जो अपने भरण पोषण के लिये किसी विशेष व्यक्ति के आश्रित हों । आश्रित वर्ग । पोष्य जन । (५) एक ही कुल में उत्पन्न और परस्पर घनिष्ठ संबंध रखनेवाले मनुष्यों का समुदाय । भाई, बेटे आदि और सगे संबंधियों का समुदाय । स्वजनों या आत्मीयों का समुदाय । परिजन-समूह । कुटुंब । कुनबा । खानदान । (६) एक स्वभाव या धर्म की वस्तुओं का समूह । कुल । उ०—अमिय मूरिमय चूरन चारू । समन सकल भवरुज परिवारू ।—तुलसी ।

परिवारण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवारित] (१) ढकने या छिपाने की क्रिया । आवरण । आच्छादन । (२) कोष । खोल । म्यान ।

परिवारवान्–वि० [सं० परिवारवत्] जिसके परिवार हो । परिवारवाला । जिसके बहुत से परिषद्, कुटुंबी या आश्रित हों ।

परिवास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ठहरना । टिकना । टिकाव । अवस्थान । (२) घर । गृह । मकान । (३) सुवास । सुगंध । (४) बौद्ध संघ में से किसी अपराधी भिक्षु का बाहर किया जाना या बहिष्करण ।

परिवासन–संज्ञा पुं० [सं०] खंड । टुकड़ा ।

परिवाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा प्रवाह या बहाव जिसके कारण पानी ताल तालाब आदि की समाई से अधिक हो जाता हो । उतराकर बहना । बाँध, मेंड़ या दीवार के ऊपर से छलककर बहना । (२) [वि० परिवाहित] वह

नाली या प्रवाह-मार्ग जिससे किसी स्थान का आवश्यकता से अधिक जल निकाला जाय। फालतू पानी निकालने का मार्ग। अतिरिक्त पानी का निकास।

परिवाही-वि० [सं० परिवाहिन्] [स्त्री० परिवाहिनी] उतराकर बहनेवाला। बाँध, मेंड़ आदि से छलककर बहनेवाला। उबल या उफनकर बहनेवाला।

परिविंदक-संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यक्ति जो जेठे भाई से पहले अपना विवाह कर ले। परिवेत्ता।

परिविंदन-संज्ञा पुं० [सं०] परिवेत्ता। परिविंदक।

परिवितर्क-संज्ञा पुं० [सं०] प्रश्न। जिज्ञासा। परीक्षा।

परिवित्त-संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जिसका छोटा भाई, उससे पहले अपना विवाह कर ले।

परिवित्ति-संज्ञा पुं० [सं०] परिवित्त।

परिविद्ध-वि० [सं०] भली भाँति या सम्यक् रीति से विद्ध। सब ओर या सब प्रकार से बिधा हुआ।

संज्ञा पुं० कुबेर। (देवता)

परिविविदान-संज्ञा पुं० [सं०] बड़े भाई से पहले विवाह करनेवाला छोटा भाई। परिवेत्ता।

परिविष्ट-वि० [सं०] (१) घेरा हुआ। परिवेष्टित। (२) परोसा हुआ (भोजन)।

परिविष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेवा। टहल। परिचर्या। (२) घेरा। वेष्टन।

परिवीक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घिरा हुआ। लपेटा हुआ। (२) ढका हुआ। छिपाया हुआ। आच्छादित। आवृत।

परिवीत—वि० [सं०] (१) घिरा हुआ। लपेटा हुआ। (२) ढका हुआ। छिपाया हुआ। आच्छादित। आवृत।

परिवृत-वि० [सं०] ढका, छिपाया या घिरा हुआ। वेष्टित। आवृत।

परिवृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] ढकने, घेरने या छिपानेवाली वस्तु। वेष्टन।

परिवृत्त-वि० [सं०] (१) घुमाया हुआ। उलटा पलटा हुआ। (२) घेरा हुआ। वेष्टित। (३) समाप्त।

परिवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घुमाव। चक्कर। गरदिश। (२) घेरा। वेष्टन। (३) अदला बदला। विनिमय। तबादला। (४) समाप्ति। अंत। (५) एक शब्द या पद को दूसरे ऐसे शब्द या पद से बदलना जिससे अर्थ वही बना रहे। ऐसा शब्द-परिवर्तन जिसमें अर्थ में कोई अंतर न आने पावे। जैसे, 'कमललोचन' के 'कमल' अथवा 'लोचन' को 'पद्म' या 'वयन' से बदलना (व्याकरण)।

संज्ञा पुं० एक अर्थालंकार जिसमें एक वस्तु को देकर दूसरी के लेने अर्थात् लेन देन या अदल बदल का कथन होता है। इस अलंकार के दो प्रधान भेद हैं—एक सम परिवृत्ति, दूसरा विषम परिवृत्ति। पहले में समान गुण या मूल्य की और दूसरे में असमान गुण या मूल्य की वस्तुओं के अदल बदल का वर्णन होता है। इन दोनों के दो दो अवांतर भेद होते हैं। सम के अंतर्गत एक उत्तम वस्तु का उत्तम से विनिमय; दूसरा न्यून वस्तु का न्यून से विनिमय है। इसी प्रकार विषय के अंतर्गत उत्तम वस्तु का न्यून से और न्यून का उत्तम से विनिमय होता है। उ०—(क) मन मानिक दीन्हों तुम्हें लीन्हीं विरह बलाय। (वि०परि०—उत्तम का न्यून से विनिमय)। (ख) तीन मूठी भरि आज देकर अनाज आपु लीन्हों जदुपति जू सों राज तीनों लोक को। (वि० परि० न्यून का उत्तम से विनिमय)

विशेष—हिंदी कविता में प्रायः विषम परिवृत्ति के ही उदाहरण मिलते हैं। कई आचार्यों ने इसी कारण न्यून या थोड़ा देकर उत्तम या अधिक लेने के कथन को ही इस अलंकार का लक्षण माना है, सम का सम के साथ विनिमय के कथन को नहीं। परंतु अन्य कई आचार्यों तथा विशेषतः साहित्यदर्पण आदि के साहित्य ग्रंथों ने देन लेन या अदल बदल के कथन मात्र को इस अलंकार का लक्षण प्रतिपादित किया है।

परिवृद्ध-वि० [सं०] खूब बढ़ा हुआ। सब प्रकार वर्द्धित। परिवर्द्धित।

परिवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] सब प्रकार से वृद्धि। परिवर्द्धन। खूब बढ़ती या वृद्धि।

परिवेत्ता-संज्ञा पुं० [सं० परिवेतृ] वह व्यक्ति जो बड़े भाई से पहले अपना विवाह कर ले या अग्निहोत्र ले ले।

विशेष—बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे का विवाह होना धर्मशास्त्रों से निषिद्ध और निंदित है। परंतु नीचे लिखी हुई अवस्थाएँ अपवाद हैं। इनमें बड़े भाई से पहले विवाह करनेवाले छोटे भाई को दोष नहीं लगता। बड़ा भाई देशांतर या परदेश में हो (शास्त्रों ने देशांतर उस देश को माना है जहाँ कोई और भाषा बोली जाती हो, जहाँ जाने के लिये नदी या पहाड़ लाँघना पड़े, जहाँ का संवाद दस दिन के पहले न सुन सकें अथवा जो साठ, चालीस या तीस योजन दूर हो), नपुंसक हो, एक ही अंडकोष रखता हो, वेश्यासक्त हो, (शास्त्र-परिभाषा के अनुसार) शूद्रतुल्य या पतित हो, अति रोगी हो, जड़, गूँगा, अंधा, बहरा, कुबड़ा, बौना या कोढ़ी हो, अति वृद्ध हो गया हो, उसने ऐसी स्त्री से संबंध कर लिया हो जो शास्त्रनिषिद्ध हो, जो शास्त्र की विधियों को न मानता हो, अपने पिता का औरस पुत्र न हो, चोर हो या विवाह करना ही न चाहता हो और छोटे भाई को विवाह करने की उसने अनुमति दे दी हो। बड़े भाई के देशांतरस्थ होने की दशा

में तीन वर्ष अथवा विशेष अवस्थाओं में कुछ अधिक वर्षों तक प्रतीक्षा करने की शास्त्रों की आज्ञा है, पर कोढ़ी, पतित, आदि होने की दशा में नहीं।

परिवेद–संज्ञा पुं० [सं०] पूरा ज्ञान। सम्यक् ज्ञान। परिज्ञान।

परिवेदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूरा ज्ञान। सम्यक् ज्ञान। परिज्ञान। (२) विचरण। (३) लाभ। प्राप्ति। (४) विद्यमानता। मौजूदगी। (५) वादविवाद। बहस। (६) भारी दुःख या कष्ट। (७) बड़े भाई के पहले छोटे भाई का ब्याह होना। (८) अग्निहोत्र के लिये अग्नि की स्थापना। अग्न्याधान।

परिवेदना–संज्ञा स्त्री० [सं०] तीक्ष्णबुद्धिता। विचक्षणता। विदग्धता। चतुराई।

परिवेदिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] उस मनुष्य की स्त्री जिसने बड़े भाई से पहले अपना ब्याह कर लिया हो। परिवेत्ता की स्त्री।

परिवेश–संज्ञा पुं० [सं०] वेष्टन। परिधि। घेरा।

परिवेष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परसना या परोसना। परिवेषण। (२) घेरा। परिधि। (३) हलकी। सफेद बदली का वह घेरा जो कभी चंद्रमा या सूर्य्य के इर्द गिर्द बन जाता है। मंडल। (४) कोई ऐसी वस्तु जो चारों ओर से घेरकर किसी वस्तु की रक्षा करती हो। (५) शहरपनाह की दीवार। परकोटा। कोट।

परिवेषक–संज्ञा पु० [सं०] [स्त्री० परिवेषिका] परसनेवाला। परिवेषण करनेवाला।

परिवेषण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवेष्टव्य, परिवेष्य] (१) (खाना) परसना। परोसना। (२) घेरा। परिधि। वेष्टन। (३) सूर्य या चंद्र आदि के चारों ओर का मंडल।

परिवेष्टन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिवेष्टित] (१) चारों ओर से घेरना या वेष्टन करना। (२) छिपाने, ढकने या लपेटनेवाली चीज। आच्छादन। आवरण। (३) परिधि। घेरा। दायरा।

परिवेष्टा–संज्ञा पुं० [सं० परिवेष्टृ] परसनेवाला। परिवेषक।

परिव्यक्त–वि० [सं०] खूब स्पष्ट या प्रकट। सम्यक् रूप से प्रकाशित।

परिव्याध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चारों ओर से बेधने या छेदनेवाला। (२) जलबेंत। (३) कनेर। द्रुमोत्पल। (४) एक ऋषि का नाम।

परिव्रज्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इधर उधर भ्रमण। (२) तपस्या। (३) भिक्षुक की भाँति जीवन बिताना। लोहे की चूड़ी आदि धारण करना और सदा भ्रमण करते रहना। भिक्षुक वृत्ति से जीवननिर्वाह।

परिव्राज, परिव्राजक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह संन्यासी जो सदा भ्रमण करता रहे। (२) संन्यासी। यती। परमहंस।

परिव्राजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी। मुंडी।

परिव्राट्–संज्ञा पुं० [सं०] परिव्राज। परिव्राजक।

परिशिष्ट–वि० [सं०] बचा हुआ। छूटा हुआ। अवशिष्ट। संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पुस्तक या लेख का वह भाग जिसमें वे बातें दी गई हों जो किसी कारण यथास्थान नहीं जा सकी हों और जिनके पुस्तक में न आने से वह अपूर्ण रह जाती हो। पुस्तक या लेख का वह अंश जिसमें ऐसी बातें लिखी गई हों जो यथास्थान देने से छूट गई हों और जिनके देने से पुस्तक के विषय की पूर्ति होती हो, जैसे छांदोग्यपरिशिष्ट, गृह्य परिशिष्ट आदि। (२) किसी पुस्तक के अंत में जोड़ा हुआ वह लेख जिसमें ऐसे अंक, व्याख्याएँ, कथाएँ, हवाले, अथवा अन्य कोई बात दी गई हो जिससे पुस्तक का विषय समझने में सहायता मिलती हो। किसी पुस्तक का वह अतिरिक्त अंश जिसमें कुछ ऐसी बातें दी गई हों जिनसे उसकी उपयोगिता या महत्त्व बढ़ता हो। जमीमा।

परिशीलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिशीलित] (१) विषय को खूब सोचते हुए पढ़ना। सब बातों या अंगों को सोच समझकर पढ़ना। मननपूर्वक अध्ययन। (२) स्पर्श। लग जाना या छू जाना।

परिशुद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्ण शुद्धि। सम्यक् शुद्धि। (२) छुटकारा। रिहाई।

परिशुष्क–वि० [सं०] बिलकुल सूखा हुआ। अत्यंत रसहीन। संज्ञा पुं० तला हुआ मांस।

परिशेष–वि० [सं०] बाकी बचा हुआ। अवशिष्ट। संज्ञा पुं० (१) जो कुछ बच रहा हो। बच रहनेवाला। (२) परिशिष्ट। (३) समाप्ति। अंत।

परिशेषण–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बाकी बच रहा हो।

परिशोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्ण शुद्धि। पूरी सफाई। (२) ऋण की बेबाकी। चुकता। ऋणशुद्धि।

परिशोधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिशुद्ध, परिशोधनीय, परिशोधित] (१) पूरी तरह साफ या शुद्ध करना। पूर्ण रीति से शुद्धि करना। अंग प्रत्यंग की सफाई करना। सर्वतोभाव से शोधन। (२) ऋण का दाम दाम दे डालना। कर्ज की बेबाकी। चुकता।

परिश्रम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उद्यम। आयास। श्रम। क्लेश। मेहनत। मशक्कत। (२) थकावट। श्रांति। माँदगी।

परिश्रमी–वि० [सं० परिश्रमिन्] जो बहुत श्रम करे। उद्यमी। श्रमशील। मेहनती।

परिश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आश्रय। रक्षा-स्थान। पनाह की जगह। (२) सभा। परिषद्।

परिश्रांत-वि० [सं०] थका हुआ। श्रमित। क्लांतियुक्त। थका माँदा।

परिश्रांति-संज्ञा स्त्री० [सं०] थकावट। क्लांति। माँदगी।

परिश्रित्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपड़े की दीवार या चिक आदि का घेरा। कनात। (२) यज्ञ में काम आनेवाला पत्थर का एक विशिष्ट टुकड़ा।

परिश्रुत-वि० [सं०] जिसके विषय में यथेष्ट सुना या जाना जा चुका हो। विश्रुत। विख्यात। प्रसिद्ध। मशहूर।

परिश्लेष-संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन। गले मिलना।

परिषत्-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "परिषद्"।

परिषत्व-संज्ञा पुं० [सं०] परिषद का भाव या धर्म्म।

परिषद्-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राचीन काल की विद्वान् ब्राह्मणों की वह सभा जिसे राजा समय समय पर राजनीति, धर्म-शास्त्र आदि के किसी विषय पर व्यवस्था देने के लिये आवाहित किया करता था और जिसका निर्णय सर्वमान्य होता था। (२) सभा। मजलिस। (३) समूह। समाज। भीड़।

परिषद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सवारी या जुलूस में चलनेवाले वे अनुचर जो स्वामी को घेरकर चलते हैं। पारिषद। (२) सदस्य। सभासद। (३) मुसाहब। दरबारी।

परिषद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सदस्य। सभासद। (२) दर्शक। प्रेक्षक।

परिषद्वल-संज्ञा पुं० [सं०] सभासद। सदस्य। परिषद।

परिषिक्त-वि० [सं०] (१) जो सींचा गया हो। सिंचित। (२) जिस पर छिड़काव किया गया हो।

परिषीवण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाँठ देना। (२) सीना।

परिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंचाई। तर करना। (२) छिड़काव। (३) स्नान।

परिषेचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सींचनेवाला। (२) छिड़कनेवाला।

परिषेचन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिषिक्त] (१) सींचना। (२) छिड़कना।

परिष्कंद-संज्ञा पुं० [सं०] वह संतति जिसको उसके माता पिता के अतिरिक्त किसी और ने पाला पोसा हो। परपोषित संतति।

परिष्कार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संस्कार। शुद्धि। सफाई। (२) स्वच्छता। निर्मलता। (३) अलंकार। आभूषण। गहना। जेवर। (४) शोभा। (५) सजावट। बनाव। सिंगार। (६) संयम (बौद्ध दर्शन)।

परिष्कारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पाला पोसा गया हो। (२) दत्तक पुत्र।

परिष्क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुद्ध करना। शोधन। (२) माँजना धोना। (३) सँवारना। सजाना।

परिष्कृत-वि० [सं०] (१) साफ किया हुआ। शुद्ध किया हुआ। (२) माँजा या धोया हुआ। (३) सँवारा वा सजाया हुआ।

परिष्टवन-संज्ञा पुं० [सं०] भली भाँति प्रशंसा करना। खूब तारीफ करना। सम्यक् प्रकार से स्तुति करना।

परिष्टोभ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्तुतियुक्त सामगीत।

परिष्टोम-संज्ञा पुं० [सं०] वह कपड़ा जिसे हाथी आदि की पीठ पर शोभा के लिये डाल देते हैं। झूल। परिस्तोम।

परिष्यंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवाह। धारा। (२) नदी। दरिया। (३) द्वीप। टापू।

परिष्यंदी-वि० [सं० परिष्यंदिन्] बहता हुआ। जिसका प्रवाह हो।

परिष्वंग-संज्ञा पुं० [सं०] आलिंगन।

परिष्वंजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिष्वक्त, परिष्वाय आदि] आलिंगन। गले मिलना या गले से लगाना। छाती से लगना या लगाना।

परिष्वक्त-वि० [सं०] जिसका आलिंगन किया गया हो। आलिंगित।

परिसंख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गणना। गिनती। (२) एक अर्थालंकार जिसमें पूछी या बिना पूछी हुई बात उसी के सदृश दूसरी बात को व्यंग्य या वाच्य से वर्जित करने के अभिप्राय से कही जाय। यह कही हुई बात और प्रमाणों से सिद्ध विख्यात होती है। परिसंख्या अलंकार दो प्रकार का होता है—प्रश्नपूर्वक और बिना प्रश्न का। उ०—(क) सेव्य कहा ? तट सुरसरित, कहा ध्येय ? हरिपाद। करन उचित कह धर्म नित चित तजि सकल विषाद। (प्रश्नपूर्वक) उसमें 'सेव्य क्या है ?' आदि प्रश्नों के जो उत्तर दिए गए हैं उनमें व्यंग्य से 'स्त्री आदि सेव्य नहीं' यह बात भी सूचित होती है। (ख) इतनोई स्वारथ बड़ो लहि नरतनु जग माहिं। भक्ति अनन्य गोविंद पद लखहि चराचर ताहि॥

परिसंचर-संज्ञा पुं० [सं०] सृष्टि के प्रलय का काल।

परिसंतान-संज्ञा पुं० [सं०] तार। तंत्री।

परिसभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] सभासद। सदस्य।

परिसमंत-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वृत्त के चारों ओर की सीमा।

परिसमाप्त-वि० [सं०] बिलकुल समाप्त। निश्शेष।

परिसमूहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तृण आदि को आग में झोंकना। यज्ञ की अग्नि में समिधा डालना।

परिसर-वि० [सं०] मिला हुआ। जुड़ा या लगा हुआ। संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी स्थान के आस पास

की भूमि। किसी घर के निकट का खुला मैदान। प्रांत-भूमि। नदी या पहाड़ के आस पास की भूमि। (२) मृत्यु। (३) विधि। (४) शिरा या नाड़ी।

परिसरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिसारी, परिसृत] (१) चलना। टहलना। पर्यटन। (२) पराभव। हार। (३) मृत्यु। मौत।

परिसर्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के चारों ओर घूमना। परिक्रिया। परिक्रमण। (२) टहलना। चलना। घूमना फिरना। (३) किसी की खोज में जाना। किसी के पीछे उसे ढूँढ़ते हुए जाना। (४) साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक में किसी का किसी की खोज में भटकना जब कि खोजी जानेवाली वस्तु के जाने की दिशा या अवस्थिति का स्थान अज्ञात हो, केवल मार्ग के चिह्नों आदि के सहारे उसका अनुमान किया जाय, जैसे शकुंतला नाटक के तीसरे अंक में दुष्यंत का शकुंतला की खोज करना और निम्न-लिखित दोहों में वर्णित चिह्नों से उसके जाने के रास्ते और ठहरने के स्थान का निश्चय करना। उ०—(क) जिन डारन तें मम प्रिया लुने फूल अस पात। सूख्यो दूध न छत भरयो तिनकौ अजौं लखात। (ख) लिए कमल रज-गंधि अस कर मालिनी तरंग। आय पवन लागत भली मदन देत मम अंग। (ग) दीखत पंडू रेत में नए खोज या द्वार। आगे उठि, पाछे धसकि रहे नितंबन भार। —शकुंतला नाटक। (५) एक प्रकार का साँप। (६) सुश्रुत के अनुसार ११ क्षुद्र कुष्टों में से एक। इसमें छोटी छोटी फुंसियाँ निकलती हैं जो फूटकर फैलती जाती हैं। फुंसियों से पंछा या पीव भी निकलता है।

परिसर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चलना। टहलना। घूमना। (२) रेंगना।

परिसाम–संज्ञा पुं० [सं० परिसामन्] एक विशेष साम।

परिसारक–संज्ञा पुं० [सं०] चलनेवाला। घूमनेवाला। भट-कनेवाला।

परिसारी–संज्ञा पुं० [सं० परिसारिन्] परिसारक।

परिसिद्धिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार की चावल की लपसी।

परिसीमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चारों ओर की सीमा। चौहद्दी। चतुःसीमा। (२) सीमा। हद। काष्ठा। अवधि।

परिस्कंद–वि० [सं०] दूसरे के द्वारा पालित (व्यक्ति)। जिसका पालन पोषण उसके माता पिता के अतिरिक्त किसी और ने किया हो। पर-पुष्ट।

परिस्तरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छितराना। फेंकना या डालना (जैसे, आग पर फूस का)। (२) फैलाना। तानना। (३) लपेटना। आवरण करना।

परिस्तान–संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह कल्पित लोक या स्थान जहाँ परियाँ रहती हों। परियों का लोक। (२) वह स्थान जहाँ सुंदर मनुष्यों विशेषतः स्त्रियों का जमघटा हो। सौंदर्य का अखाड़ा।

विशेष—यह शब्द 'परी' और 'स्तान' शब्दों का समास है। ये दोनों ही शब्द फारसी के हैं। तथापि 'परिस्तान' शब्द फारसी किताबों में नहीं मिलता। अतएव यह समास उर्दूवालों का ही रचा जान पड़ता है। अर्थात् यह शब्द फारस में नहीं किंतु भारत में बना है।

परिस्तोम–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी आदि की पीठ पर डाला जानेवाला चित्रित वस्त्र। झूल।

परिस्पंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँपने का भाव। कंप। कँपकँपी। बहुत जल्दी जल्दी हिलना। (२) दबाना। मर्दन।

परिस्पंदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत अधिक हिलना। खूब काँपना। सम्यक् कंपन। (२) काँपना। कंपन।

परिस्पर्द्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] धन, बल, यश आदि में किसी के बराबर होने की इच्छा। प्रतिस्पर्धा। प्रतियोगिता। मुका-बिला। लागडाट।

परिस्पर्द्धी–संज्ञा पुं० [सं० परिस्पर्द्धिन्] परिस्पर्धा करनेवाला। प्रतियोगिता करनेवाला। मुकाबला या लागडाट करनेवाला।

परिस्फुट–वि० [सं०] (१) भली भाँति व्यक्त। सम्यक् प्रकार से प्रकाशित। बिलकुल प्रकट या खुला हुआ। (२) व्यक्त। प्रकाशित। प्रकट। (३) खूब खिला हुआ। सम्यक् रूप से विकसित। (४) विकसित। खिला हुआ।

परिस्मापन–संज्ञा पुं० [सं०] आश्चर्य, विस्मय या कुतूहल उत्पन्न करना।

परिस्यंद–संज्ञा पुं० [सं०] झरना। क्षरण। जैसे, हाथी के मस्तक से मद का परिस्यंद।

परिस्रप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) टपकना। चूना या रसना। (२) धीरे धीरे बहना। मंद प्रवाह। झिरझिराकर बहना या झिरझिरा बहाव। मंथर प्रवाह।

परिस्राव–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक रोग जिसमें गुदा से पित्त और कफ मिला हुआ पतला मल निकलता रहता है। कड़े कोठेवाले को मृदु विरेचन देने से जब उभारा हुआ सारा दोष शरीर के बाहर नहीं हो सकता तब वही दोष उपर्युक्त रीति से निकलने लगता है। दस्त में कुछ कुछ मरोड़ भी होता है। इससे अरुचि और सब अंगों में थकावट होती है। कहते हैं कि यह रोग वैद्य अथवा रोगी की अज्ञता के कारण होता है।

परिस्रावण–संज्ञा पुं० [सं०] वह बरतन जिसमें से साफ करने के लिये पानी टपकाया जाय। वह बरतन जिससे पानी टपकाकर साफ किया जाय।

परिस्रावी–वि० [सं० परिस्राविन्] (१) चूने, रसने या टपकने-वाला। क्षरणशील। (२) बहनेवाला। स्रावशील।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का भगंदर जिसमें फोड़े से हर समय गाढ़ा मवाद बहता रहता है। कहते हैं कि यह कफ के प्रकोप से होता है। फोड़ा कुछ कुछ सफेद और बहुत कड़ा होता है। पीड़ा बहुत नहीं होती। दे० भगंदर।

परिस्रुत्–वि० [सं०] जिससे कुछ टपक या चू रहा हो। स्रावयुक्त।

संज्ञा स्त्री० मदिरा। मद्य। शराब। (वैदिक)

परिस्रुत–वि० [सं०] (१) जो चू या टपक रहा हो। स्रावयुक्त। (२) टपकाया हुआ। निचोड़ा हुआ। जिसमें से जल का अंश अलग कर लिया गया हो।

संज्ञा पुं० फूलों का सार। पुष्पसार। इत्र। (वैदिक)

परिस्रुत दधि–संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा दही जिसका पानी निचोड़ लिया गया हो। निचोड़ा हुआ दही। वैद्यक में ऐसे दही को वातपित्तनाशक, कफकारी और पोषक लिखा है।

परिस्रुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मद्य। शराब। (२) अंगूरी शराब। द्राक्षा मद्य।

परिहत–संज्ञा स्त्री० [सं० मि० पराहत = जुता हुआ (वैदिक)] (१) हल के अंतिम और मुख्य भाग की वह सीधी खड़ी लकड़ी जिसमें ऊपर की ओर मुठिया होती है और नीचे की ओर हरिस तथा तरेली या चौभी ठुँकी रहती है। नगरा। (२) वह नगरा जिसमें तरेली की लकड़ी अलग से नहीं लगानी पड़ती किंतु जिसका निचला भाग स्वयं ही इस प्रकार टेढ़ा होता है कि उसी को नोकदार बनाकर उसमें फाल ठोंक दिया जाता है।

वि० [सं०] मृत। मुरदा। नष्ट। मरा हुआ।

परिहरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परिहरणीय, परिहर्त्तव्य, परिहृत] (१) किसी के बिना पूछे अपने अधिकार में कर लेना। जबरदस्ती ले लेना। छीन लेना। (२) त्याग। परित्याग। छोड़ना। तजना। (३) दोष अनिष्टादि का उपचार या उपाय करना। किसी प्रकार के ऐब, खराबी या बुराई को दूर करना, छुड़ाना या हटाना। निवारण। निराकरण।

परिहरणीय–वि० [सं०] (१) हरणयोग्य। छीन लेने योग्य। हरणीय। (२) त्यागयोग्य। त्याज्य। छोड़ या तज देने योग्य। (३) उपचारयोग्य। निवार्य। हटाने योग्य या दूर करने योग्य।

परिहरना*–क्रि० स० [सं० परिहरण] त्यागना। छोड़ना। तज देना। उ०—(क) बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ।—तुलसी। (ख) परिहरि सोच रहो तुम सोई। बिनु औषधिहि ब्याधि बिधि खोई।—तुलसी।

परिहस*–संज्ञा पुं० [सं० परिहास] परिहास। हँसी दिल्लगी। मसखरी।

संज्ञा पुं० रंज। खेद। दुःख। उ०—कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन। नैन जल भरि रोइ दीन्हों, ग्रसित आपद दीन।—सूर।

परिहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दोष, अनिष्ट, खराबी आदि का निवारण या निराकरण। दोषादि के दूर करने या छुड़ाने का कार्य। (२) दोषादि के दूर करने की युक्ति या उपाय। इलाज। उपचार। (३) त्याग। परित्याग। तजने या त्यागने का कार्य। (४) गाँव के चारों ओर परती छोड़ी हुई वह भूमि जिसमें प्रत्येक ग्रामवासी को अपना पशु चराने का अधिकार होता था और जिसमें खेती करने की मनाई होती थी। पशुओं के चरने के लिये परती छोड़ी हुई सार्वजनिक भूमि। चरहा। (५) लड़ाई में जीता हुआ धनादि। शत्रु से छीनकर ली हुई वस्तुएँ। विजित द्रव्य। (६) कर या लगान की माफी। छूट। (७) खंडन। तरदीद। (८) नाटक में किसी अनुचित या अविधेय कर्म का प्रायश्चित्त करना। (साहित्यदर्पण)। (९) अवज्ञा। तिरस्कार। (१०) उपेक्षा। (११) मनु के अनुसार एक स्थान का नाम।

संज्ञा पुं० [सं०] राजपूतों का एक वंश जो अग्निकुल के अंतर्गत माना जाता है। इस वंश के राजपूतों द्वारा कोई बड़ा राज्य हस्तगत या स्थापित किए जाने का प्रमाण अब तक नहीं मिला है, तथापि छोटे छोटे अनेक राज्यों पर इनका आधिपत्य रह चुका है। सन् २४९ ई० में कालिंजर का राज्य इसी वंशवालों के हाथ में था जिसको कलचुरि वंश के किसी राजा ने जीतकर छीन लिया। सन् ११२९ से १२११ तक इस वंश के ७ राजाओं ने ग्वालियर पर राज्य किया था। कर्नल टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में जोधपुर के समीपवर्त्ती मंदारव (मंदोद्रि) स्थान के विषय में वहाँ मिले हुए चिह्नों आदि के आधार पर निश्चित किया है कि वह किसी समय इस वंश के राजाओं की राजधानी था। आजकल इस वंश के राजपूत अधिकतर बुंदेलखंड, अवध आदि प्रदेशों में बसे हैं और उनमें अनेक बड़े जमींदार हैं।

परिहारक–वि० [सं०] परिहार करनेवाला।

परिहारी–संज्ञा पुं० [सं० परिहारिन्] परिहरण करनेवाला। हरणकारी। निवारण, त्याग, दोषक्षालन, हरण या गोपन करनेवाला।

परिहार्य–वि० [सं०] (१) जिसका परिहार किया जा सके।

जिससे बचा सके। जिसका त्याग किया जा सके। जो दूर किया जा सके। (२) परिहार योग्य। जिसका निवारण, त्याग या उपचार करना उचित हो।

परिहास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हँसी। दिल्लगी। मजाक। ठट्ठा। (२) क्रीड़ा। खेल।

परिहास्य–वि० [सं०] परिहास योग्य।

परिहित–वि० [सं०] (१) चारों ओर से छिपाया हुआ। ढका हुआ। आवृत। आच्छादित। (२) पहना हुआ (वस्त्र)। ऊपर डाला हुआ (कपड़ा)।

परिहीण–वि० [सं०] (१) अत्यंत हीन। सब प्रकार से हीन। दीन-हीन। दुखी और दरिद्र। फटे हालवाला। (२) त्यागा हुआ। फेंका, ढकेला या निकाला हुआ। परित्यक्त।

परिहृत–वि० [सं०] (१) पतित। भ्रष्ट। गिरा हुआ। अवनत। पामाल। (२) नष्ट। ध्वस्त। तबाह। बरबाद।

परिहृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाश। क्षय। ध्वंस। मिटना। जवाल।

परी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) फारसी की प्राचीन कथाओं के अनुसार कोहकाफ पहाड़ पर बसनेवाली कल्पित स्त्रियाँ जो आग्नेय नाम की कल्पित सृष्टि के अंतर्गत मानी गई हैं। इनका सारा शरीर तो मानव स्त्री का सा ही माना गया है पर विलक्षणता यह बताई गई है कि इनके दोनों कंधों पर पर होते हैं जिनके सहारे ये गगनपथ में विचरती फिरती हैं। इनकी सुंदरता फारसी उर्दू साहित्य में आदर्श मानी गई है, केवल बहिश्तवासिनी हूरों को ही सौंदर्य की तुलना में इनसे ऊँचा स्थान दिया गया है। फारसी उर्दू की कविता में ये सुंदर रमणियों का उपमान बनाई गई हैं। उ०—हेरि हिंडोरे गगन तें, परी परी सी टूटि। धरी धाय पिय बीचही, करी खरी रस लूटि।—बिहारी।

यौ०—परीजाद। परीपैकर। परीबंद।

(२) परी सी सुंदर स्त्री। परम सुंदरी। अत्यंत रूपवती। निहायत खूबसूरत औरत। जैसे, उसकी सुंदरता का क्या कहना, खासी परी है।

संज्ञा स्त्री० दे० "पली"।

परीक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० परीक्षिका] परीक्षा करने या लेनेवाला। आजमाइश, जाँच या समीक्षा करनेवाला। इम्तहान करने या लेनेवाला। परखने या जाँचनेवाला।

परीक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० परीक्षित, परीक्ष्य] परीक्षा की क्रिया या कार्य। देख भाल, जाँच पड़ताल, आजमाइश या इम्तहान लेने की क्रिया या कार्य। निरीक्षण, समीक्षण अथवा आलोचन।

परीक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी के गुण दोष आदि जानने के लिये उसे अच्छी तरह से देखने भालने का कार्य। निरीक्षा। समीक्षा। समालोचना। (२) वह कार्य जिससे किसी की योग्यता, सामर्थ्य आदि जाने जायँ। इम्तहान।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।

(३) वह कार्य जो किसी वस्तु के संबंध में कोई विशेष बात निश्चित करने के लिये किया जाय। आजमाइश। अनुभवार्थ प्रयोग। (४) मुआयना। निरीक्षण। जाँच पड़ताल। (५) किसी वस्तु के जो लक्षण माने या जो गुण कहे गए हों उनके ठीक होने न होने का प्रमाण द्वारा निश्चय करने का कार्य। (६) वह विधान जिससे प्राचीन न्यायालय किसी विशेष अभियुक्त के अपराधी या निरपराध अथवा विशेष साक्षी के सच्चे या झूठे होने का निश्चय करते थे।

विशेष—अभियुक्त की परीक्षा को दिव्य और साक्षी की परीक्षा को लौकिक परीक्षा कहते थे। दिव्य परीक्षाएँ कुल नौ प्रकार की होती थीं। दे० "दिव्य"। इनमें से अभियुक्त को उसकी अवस्था ऋतु आदि के अनुसार कोई एक देनी होती थी। लौकिक परीक्षा में गवाह से कई प्रकार के प्रश्न किए जाते थे।

परीक्षित–वि० [सं०] (१) जिसकी जाँच की गई हो। जिसका इम्तहान लिया गया हो। कसा, तपाया हुआ। (२) जिसकी आजमाइश की गई हो। प्रयोग द्वारा जिसकी जाँच की गई हो। समीक्षित। समालोचित। जिसके गुण आदि का अनुभव किया गया हो। जैसे, परीक्षित औषध।

संज्ञा पुं० (१) अर्जुन के पोते और अभिमन्यु के पुत्र पांडुकुल के एक प्रसिद्ध राजा। इनकी कथा अनेक पुराणों में है। महाभारत में इनके विषय में लिखा है कि जिस समय ये अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में थे, द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने गर्भ में ही इनकी हत्या कर पांडुकुल का नाश करने के अभिप्राय से ऐषीक नाम के महास्त्र को उत्तरा के गर्भ में प्रेरित किया जिसका फल यह हुआ कि उत्तरा के गर्भ से परीक्षित का झुलसा हुआ मृत पिंड बाहर निकला। भगवान् कृष्णचंद्र को पांडुकुल का नामशेष हो जाना मंजूर न था, इसलिये उन्होंने अपने योगबल से मृत भ्रूण को जीवित कर दिया। परिक्षीण या विनष्ट होने से बचाए जाने के कारण इस बालक का नाम परीक्षित रखा गया। परीक्षित ने महाभारत युद्ध में कुरुदल के प्रसिद्ध महारथी कृपाचार्य्य से अस्त्र-विद्या सीखी थी। युधिष्ठिरादि पांडव संसार से भली

भाँति उदासीन हो चुके थे और तपस्या के अभिलाषी थे। अतः वे शीघ्र ही इन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर बिठा द्रौपदी समेत तपस्या करने चले गए। राज्यप्राप्ति के अनंतर कहते हैं कि गंगातट पर इन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ किए जिनमें अंतिम बार देवताओं ने प्रत्यक्ष आकर बलि ग्रहण किया था।

इनके विषय में सबसे मुख्य बात यह है कि इन्हीं के राज्यकाल में द्वापर का अंत और कलियुग का आरंभ होना माना जाता है। इस संबंध में भागवत में यह कथा है—एक दिन राजा परीक्षित ने सुना कि कलियुग उनके राज्य में घुस आया है और अधिकार जमाने का मौका ढूँढ़ रहा है। ये उसे अपने राज्य से निकाल बाहर करने के लिये ढूँढ़ने निकले। एक दिन इन्होंने देखा कि एक गाय और एक बैल अनाथ और कातर भाव से खड़े हैं और एक शूद्र जिसका वेष, भूषण और ठाट बाट राजा के समान था, डंडे से उनको मार रहा है। बैल के केवल एक पैर था, पूछने पर परीक्षित को बैल, गाय और राजवेषधारी शूद्र तीनों ने अपना अपना परिचय दिया। गाय पृथ्वी थी, बैल धर्म था और शूद्र कलिराज। धर्मरूपी बैल के सत्य, तप और दयारूपी तीन पैर कलियुग ने मारकर तोड़ डाले थे, केवल एक पैर दान के सहारे वह भाग रहा था, उसको भी तोड़ डालने के लिये कलियुग बराबर उसका पीछा कर रहा था। यह वृत्तांत जानकर परीक्षित को कलियुग पर बड़ा क्रोध हुआ और वे उसको मार डालने को उद्यत हुए। पीछे उसके गिड़गिड़ाने पर उन्हें उस पर दया आ गई और उन्होंने उसके रहने के लिये ये स्थान बता दिए—जुआ, स्त्री, मद्य, हिंसा और सोना। इन पाँच स्थानों को छोड़कर अन्यत्र न रहने की कलि ने प्रतिज्ञा की। राजा ने पाँच स्थानों के साथ साथ ये पाँच वस्तुएँ भी उसे दे डालीं—मिथ्या, मद, काम, हिंसा और वैर।

इस घटना के कुछ समय बाद महाराज परीक्षित एक दिन आखेट करने निकले। कलियुग बराबर इस ताक में था कि किसी प्रकार परीक्षित का खटका मिटाकर अकंटक राज करें। राजा के मुकुट में सोना था ही, कलियुग उसमें घुस गया। राजा ने एक हिरन के पीछे घोड़ा डाला। बहुत दूर तक पीछा करने पर भी वह न मिला। थकावट के कारण उन्हें प्यास लग गई थी। एक वृद्ध मुनि मार्ग में मिले। राजा ने उनसे पूछा कि बताओ हिरन किधर गया है। मुनि मौनी थे, इसलिये राजा की जिज्ञासा का कुछ उत्तर न दे सके। थके और प्यासे परीक्षित को मुनि के इस व्यवहार से बड़ा क्रोध हुआ। कलियुग सिर पर सवार था ही, परीक्षित ने निश्चय कर लिया कि मुनि ने घमंड के मारे हमारी बात का जवाब नहीं दिया है और इस अपराध का उन्हें कुछ दंड होना चाहिए। पास ही एक मरा हुआ साँप पड़ा था। राजा ने कमान की नोक से उसे उठाकर मुनि के गले में डाल दिया और अपनी राह ली। मुनि के शृंगी नाम का एक महातेजस्वी पुत्र था। वह किसी काम से बाहर गया था। लौटते समय रास्ते में उसने सुना कि कोई आदमी उसके पिता के गले में मृत सर्प की माला पहना गया है। कोपशील शृंगी ने पिता के इस अपमान की बात सुनते ही हाथ में जल लेकर शाप दिया कि जिस पापात्मा ने मेरे पिता के गले में मृत सर्प पहनाया है आज से सात दिन के भीतर तक्षक नाम का सर्प उसे डस ले। आश्रम में पहुँचकर शृंगी ने पिता से अपमान करनेवाले को उपर्युक्त उग्र शाप देने की बात कही। ऋषि को पुत्र के अविवेक पर दुःख हुआ और उन्होंने एक शिष्य द्वारा परीक्षित को शाप का समाचार कहला भेजा जिसमें वे सतर्क रहें।

परीक्षित ने ऋषि के शाप को अटल समझकर अपने लड़के जनमेजय को राज पर बिठा दिया और सब प्रकार मरने के लिये तैयार होकर अनशन व्रत करते हुए श्रीशुकदेवजी से श्रीमद्भागवत की कथा सुनी। सातवें दिन तक्षक ने आकर उन्हें डस लिया और विष की भयंकर ज्वाला से उनका शरीर भस्म हो गया। कहते हैं कि तक्षक जब परीक्षित को डसने चला तब मार्ग में उसे कश्यप ऋषि मिले। पूछने पर मालूम हुआ कि वे उसके विष से परीक्षित की रक्षा करने जा रहे हैं। तक्षक ने एक वृक्ष पर दाँत मारा, वह तत्काल जलकर भस्म हो गया। कश्यप ने अपनी विद्या से उसे फिर हरा कर दिया। इस पर तक्षक ने बहुत सा धन देकर उन्हें लौटा दिया।

देवी भागवत में लिखा है कि शाप का समाचार पाकर परीक्षित ने तक्षक से अपनी रक्षा करने के लिये एक सात मंजिल ऊँचा मकान बनवाया और उसके चारों ओर अच्छे अच्छे सर्पमंत्रज्ञाता और मुहरा रखनेवालों को तैनात कर दिया। तक्षक को जब यह मालूम हुआ तब वह घबराया। अंत को परीक्षित तक पहुँचने का उसे एक उपाय सूझ पड़ा। उसने एक अपने सजातीय सर्प को तपस्वी का रूप देकर उसके हाथ में कुछ फल दे दिए और एक फल में एक अति छोटे कीड़े का रूप धर कर आप जा बैठा। तपस्वी बना हुआ सर्प तक्षक के आदेश के अनुसार परीक्षित के उपर्युक्त सुरक्षित प्रासाद तक पहुँचा। पहरेदारों ने इसे अंदर जाने से रोका पर राजा को खबर होने पर उन्होंने उसे अपने पास बुलवा लिया और फल लेकर उसे बिदा

कर दिया। एक तपस्वी मेरे लिये यह फल दे गया है, अतः इसके खाने से अवश्य उपकार होगा, यह सोचकर उन्होंने और फल तो मंत्रियों में बाँट दिए पर उसको अपने खाने के लिये काटा। उसमें से एक छोटा कीड़ा निकला जिसका रंग तामड़ा और आँखें काली थीं। परीक्षित ने मंत्रियों से कहा—सूर्य्य अस्त हो रहा है, अब तक्षक से मुझे कोई भय नहीं। परंतु ब्राह्मण के शाप की मानरक्षा करनी चाहिए, इसलिये इस कीड़े से डसने की विधि पूरी करा लेता हूँ। यह कहकर उन्होंने उस कीड़े को गले से लगा लिया। परीक्षित के गले से स्पर्श होते ही यह नन्हा सा कीड़ा भयंकर सर्प हो गया और उसके दंशन के साथ परीक्षित का शरीर भस्मसात् हो गया।

परीक्षित की मृत्यु के बाद, कहते हैं कि फिर कलियुग को रोक टोक करनेवाला कोई न रहा और वह उसी दिन से अकंटक भाव से शासन करने लगा। पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये जनमेजय ने सर्पसत्र किया जिसमें सारे संसार के सर्प मंत्रबल से खिंच आए और यज्ञ की अग्नि में उनकी आहुति हुई।

(२) कंस का एक पुत्र। (३) अयोध्या का एक राजा। (४) अनश्व का एक पुत्र।

परीक्षितव्य–वि० [सं०] (१) परीक्षा करने योग्य। जिसका इम्तहान या आजमाइश या जाँच की जा सके। (२) जिसकी परीक्षा करना उचित या कर्त्तव्य हो।

परीक्ष्य–वि० [सं०] (१) जिसकी परीक्षा की जा सके। परीक्षा करने योग्य। (२) जिसकी परीक्षा करना उचित या कर्त्तव्य हो।

परीखना*–क्रि० स० [सं० परीक्षण] परखना। जाँचना। परीक्षा लेना।

परीछत*–संज्ञा पुं० दे० "परीक्षित"।

परीछम–संज्ञा पुं० [हिं० परी + छम छम (अनु०)] चाँदी का एक गहना जिसे स्त्रियाँ पैर में पहनती हैं।

परीछा–संज्ञा स्त्री० दे० "परीक्षा"।

परीजाद–वि० [फा०] अत्यंत सुंदर। अत्यंत रूपवान्।

परीज्य–संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञांग। परियज्ञ।

परीणाय–संज्ञा पुं० [सं०] गाँव के चारों ओर की वह भूमि जो गाँव के सब लोगों की संपत्ति समझी जाती थी। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

परीताप–संज्ञा पुं० दे० "परिताप"।

परीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों से बनाया हुआ सुरमा। पुष्पांजन।

परीतोष–संज्ञा पुं० [सं०] परितोष।

परीत्त–वि० [सं०] (१) सीमाबद्ध। मर्यादित। महदूद। (२) संकीर्ण। संकुचित। तंग।

परीदाह–संज्ञा पुं० [सं०] परिदाह।

परीबंद–संज्ञा पुं० [फा०] (१) स्त्रियों का एक गहना जो कलाई पर पहना जाता है। (२) बच्चों के पाँव में पहनाने का एक आभूषण जिसमें घुँघरू होते हैं। (३) कुश्ती का एक पेच।

परीभाव–संज्ञा पुं० [सं०] परिभाव।

परीरंभ–संज्ञा पुं० [सं०] परिरंभ।

परीरू–वि० [फा० परी + रू = मुख] अति सुंदर। बहुत रूपवान्। खूबसूरत।

परीवर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] परिवर्त्त।

परीवाद–संज्ञा पुं० [सं०] परिवाद।

परीवार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खड्गकोष। म्यान। (२) परिवार। परिजन। (३) छत्र, चँवर आदि सामग्री।

परीवाह–संज्ञा पुं० दे० "परिवाह"।

परीशान–वि० [फा०] परेशान। हैरान।

परीशानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] परेशानी।

परीषह–संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रों के अनुसार त्याग या सहन। ये नीचे लिखे २२ प्रकार के हैं—(१) क्षुधापरीषह या क्षुत्परीषह। (२) पिपासापरीषह। (३) शीतपरीषह। (४) उष्णपरीषह। (५) दंशमशकपरीषह। (६) अचेलपरीषह या चेलपरीषह। (७) अरतिपरीषह। (८) स्त्रीपरीषह। (९) चर्यापरीषह। (१०) निषद्यापरीषह या नैषधि का परीषह। (११) शय्यापरीषह। (१२) आक्रोशपरीषह। (१३) वधपरीषह। (१४) याचनापरीषह वा यंचापरीषह। (१५) अलाभपरीषह। (१६) रोगपरीषह। (१७) तृणपरीषह। (१८) मलपरीषह। (१९) सत्कारपरीषह। (२०) प्रज्ञापरीषह। (२१) अज्ञानपरीषह। (२२) दर्शनपरीषह या संपक्तपरीषह।

परीहार–संज्ञा पुं० दे० "परिहार"।

परीहास–संज्ञा पुं० दे० "परिहास"।

परु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत। पहाड़। (२) समुद्र। (३) स्वर्गलोक। (४) ग्रंथि। गाँठ।

परुआ‡–संज्ञा पुं० [देश०] बेइज्जती या अपमान का बदला। संज्ञा स्त्री० दे० "पड़िया"।

परुई–संज्ञा स्त्री० [देश०] भड़भूँजे की वह नाँद जिसमें डालकर वह अन्न भूनता है।

परुख*–वि० दे० "परुष"।

परुखाई*– संज्ञा स्त्री० [हिं० परुख + आई] परुषता। कठोरता। कर्कशता। कड़ापन। नीरसता।

परुष–वि० [सं०] [स्त्री० परुषा] (१) कठोर। कड़ा। कर्कश। सख्त। अत्यंत रूखा या रसहीन। (२) अप्रिय लगनेवाला। बुरा लगनेवाला। जिसका ग्रहण दुःखदायक

हो। (शब्द, वचन, उक्ति या इनके पर्यायों के साथ)। (२) निष्ठुर। निर्दय। न पिघलनेवाला।
संज्ञा पुं० (१) नीली कटसरैया। (२) फालसा। (३) खरदूषण का एक सेनापति। (४) तीर। वाण। (५) सरकंडा। सरपत। (६) परुष वचन। कठोर बात। लगनेवाली या अप्रिय बात।

परुषता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठोरता। कड़ाई। कर्कशता। (२) (वचन या शब्द की) कर्कशता। श्रुतिकटुता। (३) निर्दयता। निष्ठुरता।

परुषत्व-संज्ञा पुं० [सं०] परुषता।

परुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काव्य में वह वृत्ति, रीति या शब्दयोजना की प्रणाली जिसमें टवर्गीय द्वित्त, संयुक्त, रेफ और श, ष आदि वर्ण तथा लंबे लंबे समास अधिक आए हों। उ०—(क) वक्र वक्त्र करि, पुच्छ करि, रुष्ट ऋच्छ कपि गुच्छ। सुभट ठट्ट घन घट्ट सम मर्दहिं रच्छन तुच्छ। (ख) मुंड कटत, कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन। गिद्ध लसत, कहुँ सिद्ध हँसत, सुख वृद्धि रसत मन। भूत फिरत करि बूत भिरत, सुर दूत विरत तहँ। चंडि नचत गन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ। इमि ठानि घोर घमसान अति 'भूषण' तेज कियो अटल। सिवराज साहि सुव खग्गबल दलि अडोल बहलोल दल।

विशेष-वीर, रौद्र और भयानक रसों की कविता इस वृत्ति में अच्छी बनती है, अर्थात् इस वृत्ति में इन रसों की कविता करने से रस का अच्छा परिपाक होता है।

(२) रावी नदी। (३) फालसा।

परूँगा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का शाहबलूत जो हिमालय पर होता है।

परूष, परूषक-संज्ञा पुं० [सं०] फालसा।

परे-अव्य० [सं० पर] (१) दूर। उस ओर। उधर। (२) अतीत। बाहर। अलग। जैसे, ब्रह्म जगत् से परे है।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।—होना।

(३) ऊपर। ऊँचे। बढ़कर। उत्तर। (४) बाद। पीछे।

मुहा०—**परे परे करना** = दूर हटाना। हट जाने के लिये कहना। †**परे बैठाना** = मात करना। बाजी लेना। तुच्छ वा छोटा साबित करना। उ०—उसने ऐसा भोजन पकाया कि रसोइए को भी परे बिठा दिया।

परेई-संज्ञा स्त्री० [हिं० परेवा] (१) पंडुकी। फाखता। डौकी। उ०—पट पाँखे भख काँकरे, सदा परेई संग। सुखी परेवा जगत में तूही एक विहंग। (२) मादा कबूतर। कबूतरी।

परेखना-क्रि० स० [सं० परीक्षण या प्रेक्षण] (१) सब ओर या सब पहलुओं से देखना। परखना। जाँचना। परीक्षा करना। (२) प्रतीक्षा करना। आसरा देखना। उ०—तब लगि मोहि परेखहु भाई।—तुलसी।

परेखा*-संज्ञा पुं० [सं० परीक्षा] (१) परीक्षा। जाँच। (२) विश्वास। प्रतीति। उ०—(क) समुझि सो प्रीति कि रीति श्याम की सोइ बावर जो परेखो उर आनै।—तुलसी। (ख) दूत हाथ उन लिखि जो पठयो ज्ञान कह्यो गीता को। तिनको कहा परेखो कीजै कुबिजा के मीता को।—सूर। (३) पछतावा। अफसोस। खेद। विषाद। उ०—(क) दृग रिझवार न हिय रहै, यहै परेखो एक। वारन को मन एक इत, उत है अदा अनेक।—रसनिधि। (ख) इतनो परेखो समरथ सब भाँति आजु कपिराज साँची कहौ को तिलोक तोसो है।—तुलसी। (ग) अरे परेखो को करै तुही विलोकि विचार। केहि नर केहि सर राखियो खरे बढ़े पर पार।—बिहारी।

परेग-संज्ञा स्त्री० [अं० पेग] लोहे की कील। छोटा काँटा।

परेट-संज्ञा पुं० दे० "परेड"।

परेड-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह मैदान जहाँ सैनिकों को युद्ध-शिक्षा दी जाती है। (२) सैनिक शिक्षा। कवायद। युद्धशिक्षा का अभ्यास।

परेत-संज्ञा पुं० [सं० प्रेत] (१) एक भूत योनि का नाम। (२) प्रेत। (३) मुरदा। मृतक।

परेता-संज्ञा पुं० [सं० परितः = चारों ओर] (१) जुलाहों का एक औजार जिस पर वे सूत लपेटते हैं। (२) पतंग की डोर लपेटने का बेलन जो बाँस की गोल और पतली चिपटी तीलियों से बनता है। बीचों बीच एक लंबी और कुछ मोटी बाँस की छड़ होती है, जिसके दोनों किनारों पर गोल चक्कर होते हैं। इन चक्करों के बीच पतली पतली तीलियों का ढाँचा होता है। इसी ढाँचे पर डोरी लपेटी जाती है। परेता दो प्रकार का होता है। एक का ढाँचा सादा और खुला होता है और दूसरे का ढाँचा पतली चिपटी तीलियों से ढँका रहता है। पहले को चरखी और दूसरे को परेता कहते हैं।

परेर†-संज्ञा पुं० [सं० पर = दूर, ऊँचा + एर] आकाश। आसमान। उ०—(क) सूर ज्यौं सुमेर को, नक्षत्र ध्रुव फेर को, ज्यौं पारद परेर को ज्यौं सागर मयंक को।.........। (ख) कागा कर कंकन चूँथि रे उड़ि रे परेरो जाय। मैं दुख दाधी विरह की तू दाधा माँस न खाय।—कबीर।

परेली-संज्ञा पुं० [?] तांडव नृत्य का प्रथम भेद जिसमें अंग संचालन अधिक और अभिनय थोड़ा होता है। इसका एक नाम 'देसी' भी है।

परेवा-संज्ञा पुं० [सं० पारावत] [स्त्री० परेई] (१) पंडुक पक्षी।

पेंडुकी। फाखता। (२) कबूतर। उ०—हरिल भई पंथ मैं सेवा। अब तोहिं पठवों कौन परेवा।—जायसी। (३) कोई तेज उड़नेवाला पक्षी। (४) तेज चलनेवाला पत्रवाहक। चिट्ठीरसाँ। हरकारा।

परेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर। उ०—परमानंद परेश पुराना।—तुलसी। (२) विष्णु। (३) ब्रह्मा।

परेशान-वि० [फा०] [संज्ञा परेशानी] दुःख या संताप के कारण व्यग्र। व्याकुल। उद्विग्न।

परेशानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] व्याकुलता। उद्विग्नता। व्यग्रता। बहुत अधिक घबराहट। हैरानी।

परेहा-संज्ञा पुं० [देश०] वह जमीन जो हल चलाने के बाद सींची गई हो।

परैना†-संज्ञा पुं० दे० "पैना"।

परों*†-क्रि० वि० दे० "परसों"। उ०—काल्हि परों फिर साजनी स्यान सु आजु तो नैन सो नैन मिलाय लें।—पद्माकर।

परोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुपस्थिति। अभाव। गैर-हाजिरी। (२) वह जो तीनों काल की बातें जानता हो। परम ज्ञानी।

वि० [सं०] (१) जो देख न पड़े। जो प्रत्यक्ष न हो। जो सामने न हो। (२) गुप्त। छिपा हुआ।

परोक्षत्व-संज्ञा पुं० [सं०] अदृश्य होने की क्रिया या भाव। परोक्ष में होने की क्रिया या भाव।

परोजन-संज्ञा पुं० दे० "प्रयोजन"।

परोता-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का टोकरा जो गेहूँ के पयाल से पंजाब के हजारा जिले में बहुत बनता है। (२) आटा, गुड़, हल्दी, पान आदि जो किसी शुभ कार्य में हज्जाम, भाँट आदि को दिए जाते हैं।

संज्ञा पुं० दे० "पड़पोता"।

परोना-क्रि० स० दे० "पिरोना"।

परोपकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह काम जिससे दूसरों का भला हो। वह उपकार जो दूसरों के साथ किया जाय। दूसरों के हित का काम।

परोपकारक-संज्ञा पुं० [सं०] दूसरे की भलाई करनेवाला। वह जो दूसरों का हित करे।

परोपकारी-संज्ञा पुं० [सं० परोपकारिन्] [स्त्री० परोपकारिणी] दूसरों की भलाई करनेवाला। औरों का हित करनेवाला।

परोरना†-क्रि० स० [?] अभिमंत्रित करना। मंत्र पढ़कर फूँकना। जैसे, पानी परोरकर पिलाने से शीघ्र ही गर्भ-मोचन होता है।

परोल-संज्ञा पुं० [अं० परोल] वह संकेत का शब्द जिसे सेना का अफसर अपने सिपाहियों को बतला देता है और जिसके बोलने से चौकी या पहरे पर के सिपाही बोलनेवाले को अपने दल का समझकर आने या जाने से नहीं रोकते।

मुहा०-परोल मिलाना = भेदिया बनाना। अपनी तरफ मिलाना।

परोष्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तेलचटा नाम का कीड़ा। (२) पुराणानुसार काश्मीर देश की एक नदी।

परोस-संज्ञा पुं० दे० "पड़ोस"।

परोसना†-क्रि० स० [सं० परिवेषण] खाने के लिये किसी के सामने तरह तरह के भोजन रखना। परसना। दे० "परसना"।

परोसा†-संज्ञा पुं० [हिं० परोसना] एक मनुष्य के खाने भर का भोजन जो थाली या पत्तल पर लगाकर कहीं भेजा जाता है।

परोसी-संज्ञा पुं० दे० "पड़ोसी"।

परोसैया-संज्ञा पुं० [हिं० परोसना + ऐया (प्रत्य०)] खाने के लिये भोजन सामने रखनेवाला। वह जो भोजन परसता हो।

परोहन-संज्ञा पुं० [सं० प्ररोहण] वह जिस पर सवार होकर यात्रा की जाय। वह जिस पर कोई सवार हो, या कोई चीज लादी जाय। जैसे, घोड़ा, बैल, रथ, गाड़ी आदि।

परोहा†-संज्ञा पुं० [देश०] चमड़े का बड़ा थैला जिससे किसान कुओं से पानी निकालकर खेत सींचते हैं। पुर। मोट। चरस।

परौं‡-संज्ञा पुं० दे० "परसों"।

परौका†-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह भेड़ जो पूरी जवान होने पर भी बच्चा न दे। बाँझ भेड़।

परौता-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह चादर वा कपड़ा जिससे अनाज बरसाते समय हवा करते हैं। इसे "परती" भी कहते हैं।

क्रि० प्र०—लेना।

परौती†-संज्ञा स्त्री० दे० "पड़ती"।

पर्कट-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बगला।

पर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाकर वृक्ष।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पर्कट] पर्कट बगले की मादा।

पर्कार, पर्काल-संज्ञा पुं० दे० "परकार"।

पर्काला-संज्ञा पुं० दे० "परकाला"।

पर्गना-संज्ञा पुं० दे० "परगना"।

पर्चा-संज्ञा पुं० दे० "परचा"।

पर्चाना-क्रि० स० दे० "परचाना"।

पर्चून-संज्ञा पुं० दे० "परचून"।

पर्चूनिया-संज्ञा पुं० दे० "परचूनी"।

पर्चूनी-संज्ञा स्त्री० दे० "परचूनी"।

पर्छा†-संज्ञा पुं० दे० "परछा"।

पर्ज-संज्ञा स्त्री० दे० "परज"।

पर्जंक*†-संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक"।

पर्जनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दारुहल्दी ।

पर्जन्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल । मेघ । (२) विष्णु । (३) इंद्र । (४) कश्यप ऋषि की स्त्री के एक पुत्र का नाम जिसकी गिनती गंधर्वों में होती है ।

पर्जन्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] दारुहल्दी ।

पर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ता । यौ०—पर्णकुटी । पर्णशाला । (२) पान । (३) पलास का पेड़ ।

पर्णक–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम जो पार्णकि गोत्र के प्रवर्तक थे ।

पर्णकपूर–संज्ञा पुं० [सं०] पानकपूर ।

पर्णकार–संज्ञा पुं० [सं०] पान बेचनेवाली एक जाति जो तंबोली या बरई कहलाती है ।

पर्णकुटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] केवल पत्तों की बनी हुई कुटी । पर्णशाला ।

पर्णकूर्च–संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें तीन दिन तक ढाक, गूलर, कमल और बेल के पत्तों का क्वाथ पीना होता है ।

पर्णकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें पहले दिन ढाक के पत्तों का, दूसरे दिन गूलर के पत्तों का, तीसरे दिन कमल के पत्तों का और चौथे दिन बेल के पत्तों का क्वाथ पीकर पाँचवें दिन कुश का जल पिया जाता है ।

पर्णखंड–संज्ञा पुं० [सं०] वह वनस्पति जिसमें फूल न लगते हों ।

पर्णचोरक–संज्ञा पुं० [सं०] चोरक नाम का गंधद्रव्य । भटेउर ।

पर्णनर–संज्ञा पुं० [सं०] पलास के पत्तों का किसी मृत व्यक्ति का वह पुतला जो उसकी अस्थियाँ आदि न मिलने की दशा में दाहकर्म आदि के लिये बनवाया जाता है ।

पर्णभोजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो केवल पत्ते खाकर रहता हो । (२) बकरी ।

पर्णमणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पन्ना । (२) एक प्रकार का अस्त्र ।

पर्णमाचल–संज्ञा पुं० [सं०] कमरख का पेड़ ।

पर्णमृग–संज्ञा पुं० [सं०] पेड़ों पर रहनेवाले पशु, जैसे बंदर आदि ।

पर्णय–संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम जिसे इंद्र ने मारा था ।

पर्णरुह–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु ।

पर्णलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पान की बेल ।

पर्णवल्क–संज्ञा पुं० [सं०]एक ऋषि का नाम ।

पर्णवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] पालाशी नाम की लता ।

पर्णशबर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक देश का नाम । (२) इस देश की रहनेवाली आदिम अनार्य जाति जो कदाचित् अब नष्ट हो गई हो ।

पर्णशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्तों की बनी हुई कुटी । पर्णकुटी ।

पर्णशालाग्र–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भद्राश्ववर्ष के एक पर्वत का नाम ।

पर्णसि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल । (२) पानी में बना हुआ घर । (३) साग ।

पर्णाटक–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

पर्णाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी व्रत के उद्देश्य से पत्ते खाकर रहता हो । (२) एक ऋषि का नाम ।

पर्णाशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ । बादल । (२) वह जो केवल पत्ते खाकर रहता हो ।

पर्णास–संज्ञा पुं० [सं०] तुलसी ।

पर्णाहार–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो व्रत के उद्देश्य से पत्ते खाकर रहता हो ।

पर्णिक–संज्ञा पुं० [सं०] पत्ते बेचनेवाला ।

पर्णिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानकंद । शालपर्णी । सरिवन । (२) पिठवन नाम की लता । (३) अग्निमंथ । अरणी ।

पर्णिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मषवन ।

पर्णी–संज्ञा पुं० [सं० पर्णिन्] (१) वृक्ष । पेड़ । (२) शालपर्णी । सरिवन । (३) पिठवन । (४) तेजपत्ता । संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की अप्सराएँ ।

पर्णीर–संज्ञा पुं० [सं०] सुगंधबाला ।

पर्त–संज्ञा स्त्री० दे० "परत" ।

पर्दनी†–संज्ञा स्त्री० [सं० परिधानी] धोती ।

पर्दा–संज्ञा पुं० दे० "परदा" ।

पर्दानशीन–वि० दे० "परदानशीन" ।

पर्द–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर के बाल । (२) अधोवायु । पाद ।

पर्दन–संज्ञा पुं० [सं०] अधोवायु छोड़ना । पादना ।

पर्पट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्तपापड़ा । (२) पापड़ ।

पर्पटद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] जलकुंभी ।

पर्पटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सौराष्ट्र देश की मिट्टी । गोपीचंदन । (२) पानड़ी । (३) पपड़ी ।

पर्पटीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) अग्नि । (३) जलाशय ।

पर्पटीरस–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जो पारे और गंधक को भँगरैया के रस में खरल करके और ताँबे तथा लोहे की भस्म मिलाकर बनाते हैं ।

पर्ब–संज्ञा पुं० दे० "पर्व" ।

पर्बत–संज्ञा पुं० दे० "पर्वत"।

पर्बती–वि० [सं० पर्वतीय] पहाड़ी। पहाड़ संबंधी।

पर्यंक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलंग। (२) योग का एक आसन। (३) एक प्रकार का वीरासन। (४) नर्मदा नदी के उत्तर ओर के एक पर्वत का नाम जो विंध्य पर्वत का पुत्र माना जाता है।

पर्यंकपादिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुअरा सेम। काले रंग की सेम।

पर्यंत–अव्य० [सं०] तक। लौं।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतिम सीमा। (२) समीप। पास। (३) पार्श्व। बगल।

पर्यग्नि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ के लिये छोड़े हुए पशु की अग्नि लेकर परिक्रमा करना। (२) वह अग्नि जो हाथ में लेकर यज्ञ की परिक्रमा की जाती है।

पर्यटन-संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमण। घूमना फिरना।

पर्यन्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) गरजता हुआ बादल। (३) बादल की गरज।

पर्यय–संज्ञा पुं० [सं०] किसी नियम या क्रम का उल्लंघन। विपर्यय। गड़बड़ी।

पर्यवरोध–संज्ञा पुं० [सं०] बाधा। विघ्न।

पर्यवसान–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पर्य्यवसित] (१) अंत। समाप्ति। खातमा। (२) अंतर्भाव। अंतर्गत आ जाना। शामिल हो जाना। स्वतंत्र सत्ता का न रहना। (३) राग। क्रोध। (४) ठीक ठीक अर्थ निश्चित करना।

पर्यस्तापह्नुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अर्थालंकार जिसमें वस्तु का गुण गोपन करके उस गुण का किसी दूसरे में आरोपित किया जाना वर्णन किया जाय। जैसे—नहीं शक्र सुरपति अहैं सुरपति नंदकुमार। रतनाकर सागर न है, मथुरा नगर बजार। दे० "अपह्नुति"।

पर्य्याकुल–वि० [सं०] बहुत अधिक व्याकुल। बहुत घबराया हुआ।

पर्याचांत–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन के समय पत्तलों आदि पर रखा हुआ वह भोजन जो एक पंक्ति में बैठकर खानेवालों में से किसी एक व्यक्ति के बीच में ही आचमन कर लेने अथवा उठ खड़े होने के बाद बच रहता है। ऐसा अन्न जूठा और दूषित समझा जाता है और खाने योग्य नहीं माना जाता।

पर्याण–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की पीठ पर का पालान।

पर्याप्त–वि० [सं०] (१) पूरा। काफी। यथेष्ट। (२) प्राप्त। मिला हुआ। (३) जिसमें शक्ति हो। (४) जिसमें सामर्थ्य हो। समर्थ। (५) परिमित।

संज्ञा पुं० (१) तृप्ति। संतोष। (२) शक्ति। (३) सामर्थ्य। (४) योग्यता। (५) यथेष्ट होने का भाव। प्रचुरता।

पर्याय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समानार्थवाची शब्द। समानार्थक शब्द। जैसे, 'इंद्र' का पर्याय 'पाकशासन' और 'विष' का पर्याय 'हलाहल'। (२) क्रम। सिलसिला। परंपरा। (३) वह अर्थालंकार जिसमें एक वस्तु का क्रम से अनेक आश्रय लेना वर्णित हो या अनेक वस्तुओं का एक ही के आश्रित होने का वर्णन हो। जैसे, (क) हलाहल तोहि नित नए किन सिखए ये ऐन। हिय अंबुधि हरगर लग्यो बसत अवै खल-बैन। (ख) हुती देह में लरिकई, बहुरि तरुणई जोर। विरधाई आई अबैं भजत न नंदकिशोर। (४) प्रकार। तरह। (५) अवसर। मौका। (६) बनाने का काम। निर्माण। (७) द्रव्य का धर्म। (८) दो व्यक्तियों का वह पारस्परिक संबंध जो दोनों के एक ही कुल में उत्पन्न होने के कारण होता है।

पर्यायक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मान या पद आदि के विचार से क्रम। बड़ाई छोटाई आदि के विचार से सिलसिला। (२) क्रम से बढ़ती। उत्तरोत्तर वृद्धि का विधान।

पर्यायवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक को त्यागकर दूसरे को ग्रहण करने की वृत्ति। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना।

पर्यायशयन–संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदारों आदि का क्रम से अपनी अपनी बारी से सोना।

पर्यायान्न–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पर्याचांत"।

पर्यायिक–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत या नृत्य का एक अंग।

पर्यायोक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें कोई बात साफ साफ न कहकर कुछ दूसरी वचनरचना या घुमाव फिराव से कही जाय, अथवा जिसमें किसी रमणीय मिस या व्याज से कार्य साधन किए जाने का वर्णन हो। जैसे, (क) लोभ लगे हरि रूप के करी साँट जुरि जाय। हैं। इन बेची बीचही लोयन बुरी बलाय।—बिहारी। यहाँ यह न कहकर कि मैं कृष्ण के प्रेम में फँसी हूँ यह कहा गया है कि इन आँखों ने मुझे कृष्ण के हाथ बेच दिया। (ख) भ्रमर कोकिल माल रसाल पै। करत मंजुल शब्द रसाल हैं॥ वन प्रभा वह देखन जात हैं। तुम दोऊ तब लौं इत ही रहौ॥ यहाँ नायक और नायिका को अवसर देने के लिये सखी बहाने से टल जाती है।

पर्यालोचन–संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह देख भाल। समीक्षा।

पर्यालोचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी वस्तु की पूरी देख भाल। समीक्षा। पूरी जाँच पड़ताल।

पर्यावर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वापस आना। लौटना। (२) संसार में फिर से आकर जन्मग्रहण।

पर्यावर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आना। लौटना। (२) संसार में विचारपूर्वक जन्मग्रहण।

पर्यास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतन। गिरना। (२) मार डालना। बध। (३) नाश।

पर्यासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी को घेर कर बैठना। चारों ओर बैठना। (२) चारों ओर घूमना। परिक्रमा करना।

पर्युक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] श्राद्ध, होम या पूजा आदि के समय योंही अथवा कोई मंत्र पढ़कर चारों ओर जल छिड़कना।

पर्युक्षणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह पात्र जिससे पर्युक्षण का जल छिड़का जाय।

पर्युदय-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्योदय समीप होने का समय।

पर्युपासक-संज्ञा पुं० [सं०] सेवा करनेवाला। सेवक।

पर्युपासन-संज्ञा पुं० [सं०] सेवा।

पर्युषण-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार तीर्थंकरों की सेवा या पूजा।

पर्युषित-वि० [सं०] एक दिन पहले का। जो ताजा न हो। बासी। (फूल या भोजन के लिये)।

पर्येषण-संज्ञा पुं० [सं०] अन्वेषण। छानबीन।

पर्व-संज्ञा पुं० [सं० पर्वन्] (१) धर्म, पुण्यकार्य अथवा उत्सव आदि करने का समय। पुण्यकाल।

विशेष-पुराणानुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा और संक्रांति ये सब पर्व हैं। पर्व के दिन स्त्रीप्रसंग करना अथवा मांस मछली आदि खाना निषिद्ध है। जो ये सब काम करता है, कहते हैं, वह विन्मूत्रभोजन नामक नरक में जाता है। पर्व के दिन उपवास, नदीस्नान, श्राद्ध, दान और जप आदि करना चाहिए।

(२) चातुर्मास्य। (३) प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा अथवा अमावास्या तक का समय। पक्ष। (४) दिन। (५) क्षण। (६) अवसर। मौका। (७) उत्सव। (८) संधि-स्थान। वह स्थान जहाँ दो चीजें, विशेषतः दो अंग, जुड़े हों। जैसे, कुहनी अथवा गन्ने में की गाँठ। (९) यज्ञ आदि के समय होनेवाला उत्सव अथवा कार्य्य। (१०) अंश। खंड। भाग। टुकड़ा। हिस्सा। जैसे, महाभारत के अठारह पर्व, उँगली के पर्व (पोर) आदि। (११) सूर्य अथवा चंद्रमा का ग्रहण।

पर्वक-संज्ञा पुं० [सं०] पैर का घुटना।

पर्वकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्राह्मण जो धन के लोभ से पर्व के दिन का काम और दिनों में करे।

पर्वकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्व का समय। वह समय जब कि कोई पर्व हो। पुण्यकाल। (२) चंद्रमा के क्षय का समय। जैसे, अमावास्या आदि।

पर्वगामी-संज्ञा पुं० [सं० पर्वगामिन्] वह जो किसी पर्व के दिन स्त्री के साथ भोग करे। ऐसा मनुष्य नरक का अधिकारी होता है।

पर्वण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूरा करने की क्रिया या भाव। (२) एक राक्षस का नाम।

पर्वणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पर्वणी नाम का आँख का रोग।

पर्वणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार आँख की संधि में होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें आँख की संधि में जलन और कुछ सूजन होती है। (२) पूर्णिमा। पौर्णमासी।

पर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जमीन के ऊपर वह बहुत अधिक उठा हुआ प्राकृतिक भाग जो आसपास की जमीन से बहुत अधिक ऊँचा होता है और जो प्रायः पत्थर ही पत्थर होता है। पहाड़।

विशेष-बहुत अधिक ऊँची सम भूमि पर्वत नहीं कहलाती। पर्वत उसी को कहते हैं जो आस पास की भूमि को देखते हुए बहुत अधिक ऊँचा हो। कई देशों में अनेक ऐसी अधित्यकाएँ या ऊँची समतल भूमियाँ हैं जो दूसरे देशों के पहाड़ों से कम ऊँची नहीं हैं, परंतु न तो वे आस पास की भूमि से ऊँची हैं और न कोणाकार; अतः वे पर्वत के अंतर्गत नहीं हैं। साधारण पर्वतों पर प्रायः अनेक प्रकार की धातुएँ, वनस्पतियाँ और वृक्ष आदि होते हैं और बहुत ऊँचे पर्वतों का ऊपरी भाग, जिसे पर्वत की चोटी या शिखर कहते हैं, बहुधा बरफ से ढँका रहता है। कुछ पर्वत ऐसे भी होते हैं जिन पर वनस्पतियाँ तो बिलकुल नहीं या बहुत कम होती हैं परंतु जिनकी चोटी पर गड्ढा होता है जिसमें से सदा अथवा कभी कभी आग निकला करती है। ऐसे पर्वत ज्वालामुखी कहलाते हैं। (दे० "ज्वालामुखी पर्वत")। पर्वत प्रायः श्रेणी के रूप में बहुत दूर तक गए हुए मिलते हैं।

पुराणों में पर्वतों के संबंध में अनेक कथाएँ हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा यह है कि पहले पर्वतों के पंख होते थे। अग्नि पुराण में लिखा है कि एक बार सब पर्वत उड़कर असुरों के निवासस्थान समुद्र में पहुँचकर उपद्रव करने लगे, जिसके कारण असुरों ने देवताओं से युद्ध ठान दिया। युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपरांत देवताओं ने पर्वतों के पर काट दिए और उन्हें यथास्थान बैठा दिया। कालिका पुराण में लिखा है कि जगत् की स्थिति के लिये विष्णु ने पर्वतों को कामरूपी बनाया था—वे जब जैसा रूप चाहते थे, तब वैसा रूप धारण कर लेते थे। पौराणिक भूगोल में अनेक पर्वतों के नाम आए हैं और उनके विस्तार आदि का भी उनमें बहुत कुछ वर्णन है। उनके वर्ष-पर्वत और कुल-पर्वत आदि कुछ भेद भी हैं। वराह पुराण में लिखा है कि श्रेष्ठ पर्वतों पर देवता लोग और दूसरे पर्वतों पर दानव आदि निवास करते हैं। इसके

अतिरिक्त किसी पर्वत पर नागों का, किसी पर सप्तर्षियों का, किसी पर ब्रह्मा का, किसी पर अग्नि का, किसी पर इंद्र का निवास माना गया है। पर्वत कहीं कहीं पृथ्वी को धारण करनेवाले और कहीं कहीं उसके पति भी माने गए हैं।

पर्या०—महीध्र। शिखरी। धर। अद्रि। गोत्र। गिरि। ग्रावा। अचल। शैल। स्थावर। पृथुशेखर। धरणी। कीलक। कुट्टार। जीमूत। भूधर। स्थिर। कटकी। शृंगी। अग। नग। भूभृत्। अवनीधर। कुधर। धराधर। वृत्तयान्।

(२) पर्वत की तरह किसी चीज का लगा हुआ बहुत ऊँचा ढेर। जैसे, देखते देखते उन्होंने पुस्तकों का पर्वत लगा दिया। (३) पुराणानुसार एक देवर्षि का नाम जिनकी नारद ऋषि के साथ बहुत मित्रता थी। (४) एक प्रकार की मछली जिसका मांस वायुनाशक, स्निग्ध, बलर्द्धक और शुक्रकारक माना जाता है। (५) वृक्ष। पेड़। (६) एक प्रकार का साग। (७) दशनामी संप्रदाय के अंतर्गत एक प्रकार के संन्यासी। ऐसे संन्यासी पुराने जमाने में ध्यान और धारण करके पर्वतों के नीचे रहा करते थे। (८) महाभारत के अनुसार एक गंधर्व का नाम। (९) संभूति के गर्भ से उत्पन्न मरीचि के एक पुत्र का नाम।

पर्वतकाक—संज्ञा पुं० [सं०] द्रोणकाक। डोम कौआ।

पर्वतज–वि० [सं०] जो पर्वत से उत्पन्न हुआ हो।

पर्वतजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती। गिरजा।

पर्वततृण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तृण जो पशु बड़े चाव से खाते हैं और जो पशुओं के लिये बहुत बलकारक होता है। तृणाख्य।

पर्वतमोचा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पहाड़ी केला।

पर्वतराज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा पहाड़। (२) हिमालय पर्वत।

पर्वतवासिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी जटामासी। (२) काली। (३) गायत्री।

पर्वतात्मजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

पर्वताधारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

पर्वतारि–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

विशेष—कहते हैं कि इंद्र ने एक वार पहाड़ों के पर काट डाले थे। इसी से उनका यह नाम पड़ा।

पर्वताशय–संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

पर्वतास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र जिसके फेंकते ही शत्रु की सेना पर बड़े बड़े पत्थर बरसने लगते थे, अथवा अपनी सेना के चारों ओर पहाड़ खड़े हो जाते थे। जिससे शत्रु का प्रभंजनास्त्र रुक जाता था।

पर्वतिया–संज्ञा पुं० [सं० पर्वत + इया (प्रत्य०)] नैपालियों की एक जाति।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कद्दू। (२) एक प्रकार का तिल।

पर्वती–वि० [सं० पर्वत + ई (प्रत्य०)] (१) पहाड़ी। पहाड़ संबंधी। (२) पहाड़ों पर रहनेवाला। पहाड़ों पर पैदा होनेवाला।

पर्वतीय–वि० [सं०] (१) पहाड़ी। पहाड़ संबंधी। (२) पहाड़ पर रहने या बसनेवाला। (३) पहाड़ पर पैदा होनेवाला।

पर्वतेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय।

पर्वतोद्भव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा। (२) शिंगरफ।

पर्वतोद्भूत–संज्ञा पुं० [सं०] अबरक।

पर्वतोर्मि–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

पर्वधि–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

पर्वपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदंती नामक क्षुप। (२) रामदूती तुलसी।

पर्वभेद–संज्ञा पुं० [सं०] संधिभंग नामक रोग का एक भेद।

पर्वमूला–संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद दूब।

पर्वयोनी–संज्ञा पुं० [सं०] वह वनस्पति आदि जिसमें गाँठ हों। जैसे, ऊँख।

पर्वर–संज्ञा पुं० दे० "परवल"।

पर्वरिश–संज्ञा स्त्री० [फा०] पालन पोषण। पालना पोसना।

पर्वरीण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्व। (२) मृतक। मुर्दा। (३) अभिमान। घमंड।

पर्वरुह–संज्ञा पुं० [सं०] अनार।

पर्ववल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब।

पर्वसंधि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्णिमा अथवा अमावास्या और प्रतिपदा के बीच का समय। वह समय जब कि पूर्णिमा अथवा अमावास्या का अंत हो चुका हो और प्रतिपदा का आरंभ होता हो। (२) सूर्य्य अथवा चंद्रमा को ग्रहण लगने का समय। वह समय जब कि सूर्य्य अथवा चंद्रमा ग्रस्त हो। (३) घुटने पर का जोड़।

पर्वा–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "परवाह"। (२) दे० "प्रतिपदा"।

पर्वानगी–संज्ञा पुं० दे० "परवानगी"।

पर्वाना–संज्ञा पुं० दे० "परवाना"।

पर्वाह–संज्ञा पुं० [सं०] पर्व का दिन। वह दिन जिसमें कोई पर्व हो।

संज्ञा स्त्री० दे० "परवाह"।

पर्विणी–संज्ञा स्त्री० दे० "पर्व"।

पर्वित–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली

पर्वेश–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार काल भेद से ग्रहण समय के अधिपति देवता ।

विशेष—बृहत्संहिता के अनुसार ब्रह्मा, चंद्र, इंद्र, कुबेर, वरुण, अग्नि और यम ये सात देवता क्रमशः छः छः महीने के ग्रहण के अधिपति देवता हुआ करते हैं । ये ही सातों देवता पर्वेश कहलाते हैं । भिन्न भिन्न पर्वेश के समय ग्रहण होने का भिन्न भिन्न फल होता है । ग्रहण के समय ब्रह्मा अधिपति हो तो द्विज और पशुओं की वृद्धि, मंगल, आरोग्य और धन संपत्ति की वृद्धि चंद्रमा हो तो आरोग्य और धन संपत्ति की वृद्धि के साथ साथ पंडितों को पीड़ा और अनावृष्टि, इंद्र हो तो राजाओं में विरोध, शरद ऋतु के धान्य का नाश और असंगल, कुबेर हो तो धनियों के धन का नाश और दुर्भिक्ष, वरुण हो तो राजाओं का अशुभ, प्रजा का मंगल और धान्य की वृद्धि, अग्नि हो तो धान्य, आरोग्य, अभय और अच्छी वर्षा और यम हो तो अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और धान्य की हानि होती है । इसके अतिरिक्त यदि और समय में ग्रहण हो तो क्षुधा, महामारी और अनावृष्टि होती है ।

पर्शनीय†–वि० [सं० स्पर्शनीय] छूने योग्य । स्पर्श करने योग्य ।

पर्शु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन योद्धा जाति का नाम जो वर्त्तमान अफगानिस्तान के एक प्रदेश में रहती थी ।

पर्शुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] छाती पर की हड्डियाँ । पिंजर ।

पर्शुपाणि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गणेश । (२) परशुराम ।

पर्शुराम–संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम ।

पर्शुस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम जिसमें पर्शु जाति के लोग रहा करते थे । आजकल यह प्रांत वर्त्तमान अफगानिस्तान के अंतर्गत है ।

पर्श्वध–संज्ञा पुं० [सं०] कुठार ।

पर्षद्–संज्ञा स्त्री० [सं०] परिषद् ।

पर्षद्वल–संज्ञा पुं० [सं०] परिषद् का सदस्य । परिषद् ।

पर्हेज–संज्ञा पुं० [फा०] (१) रोग आदि के समय अपथ्य वस्तु का त्याग । रोग के समय संयम । जैसे, दवा तो खाते ही हो पर साथ में पर्हेज भी किया करो । (२) बचना । अलग रहना । दूर रहना । जैसे, बुरे कामों से हमेशः पर्हेज करना चाहिए ।

पर्हेजगार–वि० [फा०] पर्हेज करनेवाला ।

पलंकट–वि० [सं०] डरपोक । भीरु । भयशील ।

पलंकर–संज्ञा पुं० [सं०] पित्त ।

पलंकष–संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल । गूगल ।

पलंकषा, पलंकषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोखरू । (२) रास्ना । (३) गुग्गुल । (४) टेसू । पलास । (५) लाख । (६) गोरखमुंडी । (७) मक्खी ।

पलंका‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० पर + लंका] बहुत दूर का स्थान । अति दूरवर्त्ती स्थान । उ०—तेहि की आग ओहू पुनि जरा । लंका छोड़ि पलंका परा ।—जायसी ।

विशेष—प्राचीन भारतवासी लंका को बहुत दूर समझते थे इस कारण अत्यंत दूर के स्थान को पलंका (परलंका) जिसका अर्थ है "लंका से दूर" या "दूर का देश" बोलने लगे । अब भी गाँवों में इस शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार होता है ।

पलंग–संज्ञा पुं० [सं० पल्यंक] (१) अच्छी चारपाई । अच्छे गोड़े, पाटी और बुनावट की चारपाई । अधिक लंबी चौड़ी चारपाई । पर्यंक । पल्यंक । खाट ।

क्रि० प्र०—बिछाना ।

मुहा०—**पलंग को लात मारकर खड़ा होना** = (१) छठी, बरही आदि के उपरांत सौरी से किसी स्त्री का भली चंगी बाहर आना । नीरोग और भली चंगी सौरी से बाहर आना । सौरी काल समाप्त कर बाहर निकलना (बोलचाल) । (२) कोई बड़ी बीमारी झेलकर अच्छा होना । बीमारी से उठना । खाट सेकर उठना । (बोलचाल) । **पलंग तोड़ना** = बिना कोई काम किए सोया या पड़ा रहना । कुछ काम न करते हुए समय काटना । निठल्ला रहना । खाट तोड़ना । **पलंग लगाना** = बिछौना बिछाना । किसी के सोने के लिये पलंग पर बिछौना बिछाना और तकिया आदि को यथास्थान रखना । बिस्तर दुरुस्त करना ।

पलंगड़ो†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पलंग + ड़ी (प्रत्य०)] (१) पलंग (२) छोटा पलंग ।

पलंगतोड़–संज्ञा पुं० [हिं० पलंग + तोड़ना] एक औषधि जिसका मुख्य गुण स्तंभन है । यह वीर्य्यवृद्धि के लिये भी खाई जाती है ।

वि० निठल्ला । आलसी । निकम्मा ।

पलंगदंत–संज्ञा पुं० [फा० पलंग = चीता + दाँत] जिसके दाँत चीते के दाँतों की तरह कुछ कुछ टेढ़े होते हैं ।

पलंगपोश–संज्ञा पुं० [हिं० पलंग + फा० पोश] पलंग पर बिछाने की चादर ।

पलंगिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पलंग + इया (प्रत्य०)] छोटा पलंग । खटिया । उ०—पौढ़हु पीय पलँगिया मीजँहुँ पाय । रैनि जगे की निंदिया सब मिटि जाय ।—रहीम ।

पलंजी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास ।

पलंडी–संज्ञा स्त्री० [देश०] नाव में का वह बाँस जिससे पाल खड़ी की जाती है । (मल्लाह) ।

पल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समय का एक बहुत प्राचीन विभाग जो २/५ मिनट या २४ सेकंड के बराबर होता है । घड़ी या दंड का ६० वाँ भाग । ६० विपल के बराबर समय

आन। (२) एक तौल जो ४ कर्ष के बराबर होती है।

विशेष—कर्ष प्रायः एक तोले के बराबर होता है, पर यह मान इसका बिलकुल निश्चित नहीं है। इसी कारण पल के मान में भी मतभेद है। वैद्यक में इसका मान ८ तोला और अन्यत्र चार तोला या तीन तोला ४ माशा भी माना जाता है।

(३) मांस। (४) धान का सूखा डंठल जिससे दाने अलग कर लिए गए हों। पयाल। (५) धोखेबाजी। प्रतारणा। (६) चलने की क्रिया। गति। (७) मूर्ख। (८) तराजू। तुला।

[सं॰ पलक] (१) पलक। दृगंचल। उ॰—झुकि झुकि झपको हैं पलन फिरि फिरि जरि जमुहाय। जानि पियागम नींद मिस दी सब सखी उठाय।

विशेष—पहले साधारण लोग पल और निमेष के कालमान में कोई अंतर नहीं समझते थे। अतः आँख के परदे का प्रत्येक पल में एक बार गिरना मानकर उसे भी पल या पलक कहने लगे।

मुहा॰—**पल मारते या पल मारने में** = बहुत ही जल्दी। आँख झपकते। तुरंत। जैसे, पल मारते वह अदृश्य हो गया।

(२) समय का अत्यंत छोटा विभाग। क्षण। आन। लहजा। दम।

विशेष—कहीं इसे स्त्रीलिंग भी बोलते हैं।

मुहा॰—**पल के पल या पल की पल में** = बहुत ही अल्प काल में। बात की बात में। क्षण भर में।

पलई†–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ कोंपल] (१) पेड़ की नरम डाली या टहनी। (२) पेड़ के ऊपर का भाग। सिरा। नोक।

पलक–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पल + क] (१) क्षण। पल। लहमा। दम। उ॰—कोटि कर्म फिरे पलक में जो रेचक आए नाँव। अनेक जन्म जो पुन्य करे नहीं नाम बिनु ठाँव।—कबीर। (२) आँख के ऊपर का चमड़े का परदा जिसके गिरने से आँख बंद होती और उठने से खुलती है। पपोटा तथा बरौनी। उ॰—लोचन मगु रामहिं उर आनी। दीन्हें पलककपाट सयानी।—तुलसी।

क्रि॰ प्र॰—गिरना। झपकना।

मुहा॰—**पलक झपकते** = अत्यंत अल्प समय में। बात कहते। एक निमेष मात्र में। जैसे, पलक झपकते पुस्तक गायब हो गई। **पलक पसीजना** = (१) आँखों में आँसू आना। (२) दया या करुणा उत्पन्न होना। द्रवित होना। आर्द्र होना। **किसी के रास्ते में या किसी के लिये पलक बिछाना** = किसी का अत्यंत प्रेम से स्वागत करना। पूर्ण योग से किसी का स्वागत तथा सत्कार करना। **पलक भँजना** = (१) पलक का गिरना या हिलाना। (२) पलक का इस प्रकार हिलाना कि उससे कोई संकेत सूचित हो। इशारा या संकेत होना। जैसे, उनकी पलक भँजते ही वह नौ दो ग्यारह हो गया। **पलक भाँजना** = (१) पलक गिराना या हिलाना। (२) पलक से कोई इशारा करना। **पलक मारना** = (१) आँखों से संकेत या इशारा करना। (२) पलक झपकाना या गिराना। **पलक लगाना** = (१) आँखें मुँदना। पलक झपकना। पलक गिरना। उ॰—पलक नहीं कहुँ नेकु लागति रहति इक टक हेरि। तऊ कहुँ त्रिपितात नाहीं रूप रस के ढेरि।—सूर। (२) नींद आना। झपकी लगना। जैसे, आज तीन दिन से एक छन के लिये भी पलक न लगी। **पलक लगाना** = (१) आँख झपकाना। आँखें मूँदना। (२) सोने के लिये आँखें बंद करना। सोने की इच्छा से आँखें मूँदना। **पलक से पलक न लगाना** = (१) पलक न झपकना। टकटकी बँधी रहना। (२) आँख न लगना। नींद न आना। **पलकों से तिनके चुनना** = अत्यंत श्रद्धा तथा भक्ति से किसी की सेवा करना। किसी को सुख पहुँचाने के लिये पूर्ण मनोयोग से प्रयत्न करना। जैसे, मैं आपके लिये पलकों से तिनके चुनूँगा। **पलकों से जमीन झाड़ना** = पलकों से तिनके चुनना।

पलकर्ण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] धूपघड़ी के शंकु की उस समय की छाया की लंबाई जब मेष संक्रांति के मध्याह्नकाल में सूर्य ठीक विषुवत् रेखा पर होता है।

पलकदरिया†–वि॰ [हिं॰ पलक + फा॰ दरिया] बड़ा दानी। अति उदार।

पलकदरियाव‡–वि॰ दे॰ "पलकदरिया"।

पलकनेवाज†–वि॰ [हिं॰ पलक + फा॰ नेवाज] छन में निहाल कर देनेवाला। बड़ा दानी। पलकदरिया।

पलकपीटा–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पलक + पीटना] (१) आँख का एक रोग जिसमें बरौनियाँ प्रायः झड़ जाती हैं, आँखें बराबर झपकती रहती हैं और रोगी धूप या रोशनी की ओर नहीं देख सकता। (२) वह मनुष्य जिसे पलकपीटा हुआ हो। पलकपीटे का रोगी।

पलका✻–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पर्यंक वा पल्यंक] [स्त्री॰ पलकी] पलंग। चारपाई। उ॰—(क) अजिर प्रभा तेहि श्याम को पलका पौढायो। आप चली गृह काज को तहँ नंद बुलायो।—सूर। (ख) और जो कहो तो तेरो ह्वै कै सेवों गाढ़ो बन जो कहो तो चेरी ह्वै कै पलकी उसाई दों।—हनुमान।

पलक्या–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] पालक का साग। पालंकशाक।

पलक्ष–संज्ञा पुं॰ [सं॰] सफेद रंग। श्वेत वर्ण।

वि॰ जिसका रंग सफेद हो। श्वेतवर्ण युक्त।

पलक्षार–संज्ञा पुं॰ [सं॰] रक्त। खून। लहू।

पलखन–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पलक्ष] पाकर का पेड़।

पलगंड–संज्ञा पुं॰ [सं॰] कच्ची दीवार में मिट्टी का लेप करनेवाला। मिट्टी का लेप करनेवाला। लेपक।

पलचर-संज्ञा पुं०[सं० पल + चर] (१) एक उपदेवता जिसका वर्णन राजपूतों की कथाओं में है। इसके संबंध में लोगों का विश्वास है कि यह युद्ध में मरे हुए लोगों का रक्त पीता और आनंद से नाचता कूदता है। उ०—मिली परस्पर डीठ बीर पग्गिय रिस अग्गिय। जग्गिय जुद्ध विरुद्ध उद्ध पलचर खग खग्गिय। भग्गिय सद्य श्रृगाल काल दै ताल उमग्गिय। लग्गिय प्रेत पिशाच पत्र जुग्गिन लै नग्गिय। रग्गिय सुरगारंभादि गण रुद्र रहस आवज घमिय। सन्नाह करहि उच्छाह भट दुहुँ सिपरह जब झमझमिय।—सूदन।

पलटन-संज्ञा स्त्री० [अं० बटालियन, फ० बटेलन] (१) अँगरेजी पैदल सेना का एक विभाग जिसमें दो वा अधिक कंपनियाँ अर्थात् २०० के लगभग सैनिक होते हैं। (२) सैनिकों अथवा अन्य लोगों का समूह जो एक उद्देश्य या निमित्त से एकत्र हो। दल। समुदाय। झुंड। जैसे, वहाँ की भीड़ भाड़ का क्या कहना, पलटन की पलटन खड़ी मालूम होती थी।

पलटना-क्रि० अ० [सं० प्रलोठन अथवा प्रा० पलोठन] (१) किसी वस्तु की स्थिति उलटना। ऊपर के भाग का नीचे या नीचे के भाग का ऊपर हो जाना। उलट जाना। (क्व०)। (२) अवस्था या दशा बदलना। किसी दशा की ठीक उलटी या विरुद्ध दशा उपस्थित होना। बुरी दशा का अच्छी में या अच्छी का बुरी में बदल जाना। आमूल परिवर्त्तन हो जाना। काया पलट हो जाना। जैसे, दो साल हुए मैंने तुमको कितना खुश देखा था; पर अब तो तुम्हारी हालत ही पलट गई है।

विशेष—इस अर्थ में यह क्रिया 'जाना' के साथ सदा संयुक्त रहती है; अकेले नहीं प्रयुक्त होती।

(३) अच्छी स्थिति या दशा प्राप्त होना। इष्ट या वांछित दशा आना या मिलना। किसी के दिन फिरना या लौटना। जैसे, (क) धैर्य रखो, तुम्हारे भी दिन अवश्य पलटेंगे। (ख) बरसों बाद इस घर के दिन पलटे हैं। (ग) आधी रात तक तो उनका पासा बराबर पर रहा पर इसके बाद जो पलटा तो सारी कसर निकल आई। (४) मुड़ना। घूमना। पीछे फिरना। जैसे, मैंने पलटकर देखा तो तुम भी पैर पीछे आ रहे थे। (५) लौटना। वापस होना। जैसे, तुम कलकत्ते से कब तक पलटोगे। (क्व०)।

क्रि० स० (१) किसी वस्तु की स्थिति को उलटना। किसी वस्तु के निचले भाग को ऊपर या ऊपर के भाग को नीचे करना। उलटी वस्तु को सीधी या सीधी को उलटी करना। उलटना। औंधाना। जैसे, (किसी बरतन आदि के लिये) अच्छी तरह तो रखा था, तुमने व्यर्थ ही पलट दिया।

संयो० क्रि०—देना।

(२) किसी वस्तु की अवस्था उलट देना। किसी वस्तु को ठीक उसकी उलटी दशा में पहुँचा देना। अवनत को उन्नत या उन्नत को अवनत करना। काया पलट देना। जैसे, दो ही वर्ष में तुम्हारी प्रबंध-कुशलता ने इस गाँव की दशा पलट दी।

विशेष—इस अर्थ में यह क्रिया सदा ''देना'' या ''डालना'' के साथ संयुक्त होती है, अकेले नहीं आती।

(३) फेरना। बार बार उलटना। उ०—देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगैं, ज्यों ज्यों सीरे पानी पीरे पान सो पलटियत।—देव। (४) बदलना। एक वस्तु को त्यागकर दूसरी को ग्रहण करना। एक को हटाकर दूसरी को स्थापित करना। उ०—मृगनैनी दृग की फरक कर उछाह तन फूल। बिन ही प्रिय आगमन के पलटन लगी दुकूल।—बिहारी। (५) बदलना। एक चीज देकर दूसरी लेना। बदले में लेना। बदला करना। (अप्रयुक्त) उ०—(क) नरतनु पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।—तुलसी। (ख) व्रजजन दुखित अति तन छीन। रटत इकटक चित्र चातक श्यामघन तनु लीन। नाहिं पलटत वसन भूषन दृगन दीपक तात। पलिन बदन विलखि रहत जिमि तरनि हीन जलजात।—सूर। (६) कही हुई बात को अस्वीकार कर दूसरी बात कहना। एक बात को अन्यथा करके दूसरी कहना। एक बात से मुकरकर दूसरी कहना। जैसे, तुम्हारा क्या ठिकाना, तुम तो रोज ही कहकर पलटा करते हो। (७)*लौटाना। फेरना। वापस करना। उ०—फिरि फिरि नृपति चलावत बात। कहो सुमंत कहाँ तोहिं पलटी प्राण जीवन कैसे बन जात।—सूर।

पलटा-संज्ञा पुं० [हिं० पलटना] (१) पलटने की क्रिया या भाव। नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे होने की क्रिया या भाव। घूमने, उलटने या चक्कर खाने की क्रिया या भाव। परिवर्त्तन।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।

मुहा०—**पलटा खाना** = दशा वा स्थिति का उलट जाना। घूमकर या बदलकर विपरीत स्थिति या दशा में पहुँच जाना। चक्कर खाना। उ०—उसके बाद ही न जाने ग्रह चक्र ने कैसा पलटा खाया।—दुर्गाप्रसाद।

(२) बदला। प्रतिफल। जैसे, उसने अपनी करनी का पलटा पा लिया।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।

(३) नाव में वह पटरी जिस पर नाव का खेनेवाला बैठता है। (४) गान में जलदी जलदी थोड़े से स्वरों पर

चक्कर लगाना। गाते समय ऊँचे स्वर तक पहुँचकर खूबसूरती के साथ फिर नीचे स्वरों की तरफ मुड़ना। (५) लोहे या पीतल की बड़ी खुरचनी जिसका फल चौकोर न होकर गोलाकार होता है। इससे बटलोही में से चावल निकालते और पूरी आदि उलटते हैं। (६) कुश्ती का एक पेंच जिसमें जब ऊपरवाला पहलवान नीचे पड़े हुए पहलवान की कमर पकड़ता है तब नीचेवाला पट्ठा अपने दहिने पैर के पंजे ऊपरवाले की टाँगों के बीच से डालकर उसकी बाईं टाँग को फँसा लेता है और दहिने हाथ से उसकी बाईं कलाई पकड़कर झटके के साथ अपनी दहिनी ओर मुड़ जाता है और ऊपर का पहलवान चित गिर जाता है।

पलटाना—क्रि० स० [हिं० पलटना] (१) लौटाना। फेरना। वापस करना। उ०—(क) तब सारथि स्यंदन पलटावा। लै नरेश के आगे आवा।—सबल। (२) बदलना। [अप्रयुक्त]। उ०—काया कंचन जतन कराया। बहुत भाँति कै मन पलटाया।—कबीर।

पलटी†—संज्ञा स्त्री० दे० "पलटा"।

पलटे†—क्रि० वि० [हिं० पलटा] बदले में। एवज में। प्रतिफल स्वरूप। उ०—(क) आपु दयो मन फेरि लै; पलटे दीनी पीठ। कौन बानि वह रावरी लाल लुकावत दीठ।—बिहारी। (ख) जे सुर सिद्ध मुनीस योगि बुध वेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने।—तुलसी।

विशेष—असल में यह अव्यय नहीं है बल्कि "पलटा" संज्ञा का सप्तमी विभक्ति युक्त रूप है। परंतु अन्य बहुत से सप्तम्यंत पदों की भाँति इसका भी बिना विभक्ति के व्यवहार होने लगा है, इस कारण इसका रूप अव्यय का सा हो गया है।

पलड़ा†—संज्ञा पुं० [सं० पटल] तराजू का पल्ला। तुलापट।

पलथा—संज्ञा पुं० [हिं० पलटना] (१) कलाबाजी, विशेषतः पानी में मारने की क्रिया या भाव। कलैया मारने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—मारना।

(२) दे० "पलथी"।

पलथी†—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्य्यस्त, प्रा० पल्लत्थ] एक आसन जिसमें दहिने पैर का पंजा बाएँ और बाएँ पैर का पंजा दहिने पट्ठे के नीचे दबा कर बैठते हैं और दोनों टाँगे ऊपर नीचे होकर दोनों जाँघों से दो त्रिकोण बना देती हैं। स्वस्तिकासन। पालती।

क्रि० प्र०—मारना।—लगाना।

विशेष—जिस आसन में पंजों की स्थापना उपर्युक्त प्रकार से न होकर दोनों जाँघों के ऊपर अथवा एक के ऊपर दूसरे के नीचे हो उसे भी पलथी ही कहते हैं।

पलना—क्रि० अ० [सं० पालना] (१) पालने का अकर्मक रूप। ऐसी स्थिति में रहना जिसमें भोजन वस्त्र आदि आवश्यकताएँ दूसरे की सहायता या कृपा से पूरी हो रही हों। दूसरे का दिया भोजन वस्त्रादि पाकर रहना। भरित पोषित होना। परवरिश पाना। पाला या पोसा जाना। जैसे, (क) उसी अकेले की कमाई पर सारा कुनबा पलता था। (ख) यह शरीर आप ही के नमक से पला है। (२) खा पीकर हृष्ट पुष्ट होना। मोटा ताजा होना। तैयार होना। जैसे, (क) आजकल तो तुम खूब पले हुए हो। (ख) यह बकरा खूब पला हुआ है।

क्रि० स० [देश०] कोई पदार्थ किसी को देना। (दलाल)

संज्ञा पुं० दे० "पालना"।

पलनाना†*—क्रि० स० [हिं० पलान = जीन + ना (प्रत्य०)] घोड़े पर जीन कसकर उसे चलने के लिये तैयार करना। घोड़े को जोतने या चलाने के लिये तैयार करना। कसना। उ०—(क) भोर भयो व्रज लोगन को। ग्वाल सखा सखि व्याकुल सुनि के श्याम चलत हैं मधुवन को। सुफलकसुत स्यंदन पलनावत देखें तहँ बल मोहन को।—सूर। (ख) गहर जनि लावहु गोकुल आइ। अपनोई रथ तुरत मँगायो दियो तुरत पलनाइ।—सूर।

पलप्रिय—वि० [सं०] मांसभक्षी। मांस खाकर रहनेवाला। संज्ञा पुं० डोम कौआ। द्रोण काक।

पलभक्षी—वि० [सं० पलभक्षिन्] [स्त्री० पलभक्षिणी] मांसाहारी। मांसभक्षी।

पलभा—संज्ञा स्त्री० [सं०] धूपघड़ी के शंकु की उस समय की छाया की चौड़ाई जब मेष संक्रांति के मध्याह्न में सूर्य ठीक विषुवत् रेखा पर होता है। पलविभा। विषुवत्प्रभा।

पलरा—संज्ञा पुं० दे० "पलड़ा"।

पलल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मांस। (२) कीचड़, गिलावा या गाव। (३) तिल का चूर्ण। (४) तिल और गुड़ अथवा चीनी के योग से बनाया हुआ लड्डू, कतरा आदि। तिलकुट। (५) तिल का फूल। (६) राक्षस। (७) सिवार। शैवाल। (८) पत्थर। (९) मल। मैल। गंदगी। (१०) दूध। (११) बल। (१२) शव। लाश। वि० पुलपुला या पिलपिला। गीला और मुलायम।

पललज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] पित्त।

पललप्रिय—वि० [सं०] मांसभक्षी। मांस खाकर रहनेवाला। संज्ञा पुं० द्रोण काक। डोम कौआ।

पललाशय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोड़ा। गंडरोग। (२) अजीर्ण। बदहजमी।

पलव—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का झाबा जिसमें मछलियाँ

फँसाई जाती हैं।

पलवल–संज्ञा पुं० दे० **"परवल"**।

पलवा†–संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] (१) ऊख के ऊपर का नीरस भाग जिसमें गाँठें पास पास होती हैं। अगौरा। कौंचा। †(२) ऊख के गाड़े जो बोने के लिये पाल में लगाए जाते हैं। †(३) एक घास जिसको भैंस बड़े चाव से खाती है। यह हिसार के आस पास पंजाब में होती है। पलवान।

*संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] अंजुली। चुल्लू। उ०—पीवत नहीं अघात छिन नाहीं कहत बनै न। पलवो कै बाँधै रहै छबि रस प्यासे नैन।—रसनिधि।

पलवान–संज्ञा पुं० दे० **"पलवा"**।

पलवाना–क्रि० स० [हिं० पालना का प्रेरणा० रूप] किसी से पालन कराना। पालन में किसी को प्रवृत्त करना। उ०–बड़े यत्न से उन्हें पलवावै।–लल्लू।

पलवार–संज्ञा पुं० [हिं० पल्लव] ईख बोने का एक ढंग जिसमें अँखुए निकलने के बाद खेत को रूखे पत्तों, रहट्टों आदि से अच्छी तरह ढक देते हैं। इस तरह ढकने से खेत की तरी बनी रहती है जिससे सिँचाई की आवश्यकता नहीं होती। करैली या काली मिट्टी में यही ढंग बरता जाता है। अन्यत्र भी यदि सींचने का सुभीता या आवश्यकता न हो तो इसी ढंग को काम में लाते हैं। नगरवा।

[हिं० पाल + वार (प्रत्य०)] एक प्रकार की बड़ी नाव जिस पर माल असबाब लादकर भेजते हैं। पटैला।

पलवारी†–संज्ञा पुं० [हिं० पलवार] नाव खेनेवाला मल्लाह।

पलवाल†–वि० [सं० पल=मांस+वाल (प्रत्य०)] हृष्ट पुष्ट। बलवान्।

पलवैया†–संज्ञा पुं० [हिं० पालना+ वैया (प्रत्य०)] पालन करनेवाला। भरण पोषण करनेवाला। खिलाने पिलानेवाला। पालक।

पलस्तर–संज्ञा पुं० [अं० प्लास्टर। मि०सं०पल=कीचड़+स्तर = तह] मिट्टी चूने आदि के गारे का लेप जो दीवार आदि पर उसे बराबर सीधी और सुडौल करने के लिये किया जाता है। लेट।

क्रि० प्र०—करना।

मुहा०—पलस्तर ढीला होना=तंग होना। नसें ढीली हो जाना। **पलस्तर बिगड़ना या बिगड़ जाना**=दे० "पलस्तर ढीला होना"। **पलस्तर ढीला करना**=तंग करना। नसें ढीली कर देना। **पलस्तर बिगाड़ना या बिगाड़ देना**=दे० "पलस्तर ढीला करना"।

पलस्तरकारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पलस्तर + फा० कारी] पलस्तर करने या किए जाने की क्रिया या भाव। पलस्तर करने या होने का काम।

पलहना*–क्रि० अ० [सं० पल्लव] पल्लवित होना। पल्लव फूटना। पनपना। लहलहाना। उ०—(क) प्रीति बेल ऐसे तन डाढ़ा। पलहत सुख बाढ़त दुख बाढ़ा।—जायसी। (ख) वही भाँति पलही सुखबारी। उठी करलि नइ कोंप सँवारी।—जायसी। (ग) पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई।—तुलसी।

पलहा*–संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] पल्लव। कोमल पत्ते। कोंपल। उ०—पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पलहा उपने होय राते।–जायसी।

पलांग–संज्ञा पुं० [सं०] सूँस। शिशुमार।

पलांडु–संज्ञा पुं० [सं०] प्याज।

पला–संज्ञा पुं० [सं० पल] पल। निमिष।

* संज्ञा पुं० [सं० पटल] (१) तराजू का पलड़ा। पल्ला। उ०—बरुनी जोती पल पला डाँड़ी भौंह अनूप। मन पसंग तौलै सुद्दग हरुवौ गरुवौ रूप।–रसनिधि। *(२) पल्ला। आँचल। उ०–समुझि बूझि दृढ़ ह्वै रहे बल तजि निर्बल होय। कह कबीर ता संत को पला न पकड़े कोय।—कबीर।

संज्ञा पुं० [हिं० पली] तेल की पली।

पलाग्नि–संज्ञा पुं० [सं०] पित्त।

पलाद, पलादन–संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

पलान–संज्ञा पुं० [सं० पल्याण या पल्ययन। मि० फा० पालाम] गद्दी या चारजामा जो जानवरों की पीठ पर लादने या चढ़ने के लिये कसा जाता है। उ०–(क) हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी वासुकि पीठ पलान। चाँद सुरुज दोउ पायड़ा चढ़सी संत सुजान।—कबीर। (ख) वर्षा गयो अगस्त्य की डीठी। परे पलान तुरंगन पीठी।—जायसी।

क्रि० प्र०—कसना। बाँधना।

पलानना*–क्रि० स० [हिं० पलान + ना (प्रत्य०)] (१) घोड़े आदि पर पलान कसना। गद्दी या चारजामा कसना या बाँधना। उ०–उए अगस्त हस्ति तन गाजा। तुरग पलान चढ़े रन राजा। (२) चढ़ाई की तैयारी करना। धावा करने के लिये तैयार या सन्नद्ध होना। उ०—(क) मो पर पलानत है बल को न जानत है अंगद! बिना ही आग या ही ते जरत हैं। (ख) अब मोहिं कछू समुझो न परै भई काहे को काल पलानत है।—हनुमान।

पलाना*†–क्रि० अ० [सं० पलायन] भागना। पलायन करना।

क्रि० स० पलायन कराना। भगाना। उ०—जरासंध इन बहुत बारही करि संग्राम पलायो। ताको पल कछू नहिं मान्यो मथुरा में चलि आयो।—सूर।

पलानी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पलान] (१) छप्पर (२) पान के आकार का एक गहना जिसे स्त्रियाँ पैर में पंजे के ऊपर पहनती हैं। (३) दे० **"पलान"**।

पलान्न–संज्ञा पुं० [सं०] चावल और मांस के मेल से बना

हुआ भोजन। पुलाव।

पलाप–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी का गंडस्थल। हाथी का कपोल, कनपटी आदि।

पलायक–संज्ञा पुं० [सं०] भागनेवाला। भग्गू।

पलायन–संज्ञा पुं० [सं०] भागने की क्रिया या भाव। भागना।

पलायमान–वि०[सं०] भागता हुआ। पलायन करता हुआ।

पलायित–वि० [सं०] भागा हुआ।

पलाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धान का रूखा डंठल। पयाल। (२) अन्य किसी धान्य या पौधे का सूखा डंठल। तृण। तिनका।

पलालदोहद–संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

पलाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] उन सात राक्षसियों में से एक जो लड़कों को बीमार करनेवाली मानी जाती हैं।

पलाश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास। ढाक। टेसू। (२) पत्र। पत्ता। (३) राक्षस। (४) कचूर। (५) मगध देश। (६) शासन। (७) परिभाषण। (८) एक पक्षी। (९) विदारी कंद।

वि० (१) मांसाहारी। (२) निर्दय। (३) हरित। हरा।

पलाशक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास। ढाक। (२) टेसू। किंशुक। पलास का फूल। (३) कपूर। (४) लाख। लाक्षा।

पलाशगंधजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वंशलोचन।

पलाशच्छदन–संज्ञा पुं० [सं०] तमालपत्र।

पलाशतरुज–संज्ञा पुं० [सं०] पलास का कोमल पत्ता। पलास की कोंपल।

पलाशन्–संज्ञा पुं० [सं०] मैना। शारिका।

पलाशपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

पलाशांता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बनकचूर। गंधपत्रा।

पलाशाख्य–संज्ञा पुं० [सं०] नाड़ी। हींग।

पलाशिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] विदारी कंद।

पलाशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुक्तिमान् पर्वत से निकली हुई एक नदी। (२) रैवतक पर्वत से निकली हुई एक नदी।

पलाशी–वि० [सं० पलाशिन्] (१) मांसाहारी। (२) पत्रविशिष्ट। पत्रयुक्त।

संज्ञा पुं० (१) राक्षस। (२) क्षीरिका। खिरनी। (३) कचूर। शठी।

संज्ञा स्त्री० (१) कचरी। (२) लाख।

पलाशीय–वि० [सं०] पत्रयुक्त। पत्रविशिष्ट।

पलास–संज्ञा पुं० [सं० पलाश] (१) प्रसिद्ध वृक्ष जो भारतवर्ष के सभी प्रदेशों और सभी स्थानों में पाया जाता है। मैदानों और जंगलों ही में नहीं; ४००० फुट ऊँची पहाड़ियों की चोटियों तक पर यह किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। यह तीन रूपों में पाया जाता है—वृक्ष रूप में, क्षुप रूप में और लता रूप में। बगीचों में यह वृक्ष रूप में और जंगलों और पहाड़ों में अधिकतर क्षुप रूप में पाया जाता है। लता रूप में यह कम मिलता है। पत्ते, फूल और फल तीनों भेदों के समान ही होते हैं। वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता, मझोले आकार का होता है। क्षुप झाड़ियों के रूप में अर्थात् एक स्थान पर पास पास बहुत से उगते हैं पत्ते इसके गोल और बीच में कुछ नुकीले होते हैं जिनका रंग पीठ की ओर सफेद और सामने की ओर हरा होता है। पत्ते सींकों में निकलते हैं और एक में तीन तीन होते हैं। इसकी छाल मोटी और रेशेदार होती है। लकड़ी बड़ी टेढ़ी मेढ़ी होती है। कठिनाई से चार पाँच हाथ सीधी मिलती है। इसका फूल छोटा, अर्द्धचंद्राकार और गहरा लाल होता है। फूल को प्रायः टेसू कहते हैं और उसके गहरे लाल होने के कारण अन्य गहरी लाल वस्तुओं को "लाल टेसू" कह देते हैं। फूल फागुन के अंत और चैत के आरंभ में लगते हैं। उस समय पत्ते तो सब के सब झड़ जाते हैं और पेड़ फूलों से लद जाता है जो देखने में बहुत ही भला मालूम होता है। फूल झड़ जाने पर चौड़ी चौड़ी फलियाँ लगती हैं जिनमें गोल और चिपटे बीज होते हैं। फलियों को पलास पापड़ा या पलास पापड़ी कहते और बीजों को पलासबीज कहते हैं। इसके पत्ते प्रायः पत्तल और दोने आदि के बनाने के काम आते हैं। राजपुताने और बंगाल में इनसे तमाकू की बीड़ियाँ भी बनाते हैं। फूल और बीज ओषधिरूप में व्यवहृत होते हैं। बीज में पेट के कीड़े मारने का गुण विशेष रूप से है। फूल को उबालने से एक प्रकार का ललाई लिए हुए पीला रंग भी निकलता है जिसका खासकर होली के अवसर पर व्यवहार किया जाता है। फली की बुकनी कर लेने से वह भी अबीर का काम देती है। छाल से एक प्रकार का रेशा निकलता है जिसको जहाज के पटरों की दरारों में भरकर भीतर पानी आने की रोक की जाती है। जड़ की छाल से जो रेशा निकलता है उसकी रस्सियाँ बटी जाती हैं। दरी और कागज भी इससे बनाया जाता है। इसकी पतली डालियों को उबालकर एक प्रकार का कत्था तैयार किया जाता है जो कुछ घटिया होता है और बंगाल में अधिक खाया जाता है। मोटी डालियों और तनों को जलाकर कोयला तैयार करते हैं। छाल पर बछने लगाने से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जिसको चुनियाँ गोंद या पलास का गोंद कहते हैं। वैद्यक में इसके फूल को स्वादु, कड़वा, गरम, कषैला, वातवर्धक, शीतल, चरपरा, मलरोधक, तृषा, दाह, पित्त, कफ, रुधिरविकार, कुष्ठ और

मूत्रकृच्छ्र का नाशक; फल को रूखा, हलका, गरम, पाक में चरपरा, कफ, वात, उदररोग, कृमि, कुष्ठ, गुल्म, प्रमेह, बवासीर और शूल का नाशक; बीज को स्निग्ध, चरपरा, गरम, कफ और कृमि का नाशक और गोंद को मलरोधक, ग्रहणी, मुखरोग, खाँसी और पसीने का दूर करनेवाला लिखा है। पलास। ढाक। टेसू। केसू। धारा। काँवरिया।

विशेष—यह वृक्ष हिंदुओं के पवित्र माने हुए वृक्षों में से है। इसका उल्लेख वेदों तक में मिलता है। श्रौतसूत्रों में कई यज्ञपात्रों के इसी की लकड़ी से बनाने की विधि है। गृह्य सूत्र के अनुसार उपनयन-समय में ब्राह्मण कुमार को इसी की लकड़ी का दंड ग्रहण करने की विधि है। वसंत में इसका पत्रहीन पर लाल फूलों से लदा हुआ वृक्ष अत्यंत नेत्र-सुखद होता है। संस्कृत और भाषा के कवियों ने इस समय के इसके सौंदर्य्य पर कितनी ही उत्तम-उत्तम कल्पनाएँ की हैं। इसका फूल अत्यंत सुंदर तो होता है पर उसमें गंध नहीं होती। इस विशेषता पर भी बहुत सी उक्तियाँ कही गई हैं।

पर्याय०—किंशुक। पर्ण। याज्ञिक। रक्तपुष्पक। क्षारश्रेष्ठ। वातपोथ। ब्रह्मवृक्ष। ब्रह्मवृक्षक। ब्रह्मोपनेता। समिद्वर। करक। त्रिपत्रक। ब्रह्मपादप। पलाशक। त्रिपर्ण। रक्तपुष्प। पुतद्रु। काष्ठद्रु। बीजस्नेह। कृमिघ्न। वक्रपुष्पक। सुपर्णी।

(२) एक मांसाहारी पक्षी जो गीध की जाति का होता है। संज्ञा पुं० [अं० स्प्लाइस] वह गाँठ जो दो रस्सियों या एक ही रस्सी के दो छोरों या भागों को परस्पर जोड़ने के लिये दी जाय। (लश०)।

क्रि० प्र०—करना।

पलासना–क्रि० स० [देश०] सिल जाने के बाद जूते को काट छाँट कर ठीक करना। जूते का फालतू चमड़ा आदि काटना।

पलास पापड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पलास + पापड़ा]। पलास की फली जो औषध के काम में आती है। पलास पापड़ी। ढकपन्ना। दे० "पलास"।

पलास पापड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पलास + पापड़ी] पलास पापड़ा।

पलिंजी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक घास जिसके दानों को दुर्भिक्ष के दिनों में अकसर गरीब लोग खाते हैं।

पलिक–वि० [सं०] जो तोल में एक पल हो। एक पल या पलभर (कोई पदार्थ)।

पलिका–संज्ञा पुं० दे० "पलका"।

पलिक्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जो पहली ही बार गाभिन हुई हो।

वि० स्त्री जिसके बाल पक गए हों। बुड्ढी। (वैदिक)

पलिघ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँच का घड़ा। कराबा। (२) घड़ा। (३) प्राकार। चार-दीवारी। (४) गोपुर। फाटक। (५) अगरी या ब्योंड़ा। अर्गल।

पलित–वि० [सं०] [स्त्री० पलिता] (१) वृद्ध। बुड्ढा। (२) पका हुआ (बाल)। सफेद (बाल)।

संज्ञा पुं० (१) सिर के बालों का उजला होना। बाल पकना। (२) वैद्यक के अनुसार एक क्षुद्र रोग जिसमें क्रोध, शोक और श्रम के कारण शारीरिक अग्नि और पित्त सिर पर पहुँच कर वहाँ के बालों को वृद्ध होने के पहले उजला कर देते हैं। (३) शैलज। भूरि छरीला। (४) ताप। गरमी। (५) कर्दम। कीचड़। (६) गुग्गुल। (७) मिर्च।

पलितग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] तगर। गुलचाँदनी।

पलिती–वि० [सं० पलितिन्] जिसको पलित रोग हुआ हो। पलित रोगयुक्त। पके बालोंवाला।

पलिया–संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं का एक रोग जिसमें उनका गला फूल आता है। घटेरुआ।

पलिहर†–संज्ञा पुं० [सं० परिहर = छोड़ देना, बचा देना, बचा रखना] वह खेत जिसमें चैती फसल में कोई जिंस बोने के लिये अगहनी या भदई फसल में कुछ न बोया जाय और जो केवल जोतकर छोड़ दिया जाय। वह खेत जो बरसात में बिना कुछ बोए केवल जोतकर छोड़ दिया गया हो। चौमासा।

क्रि० प्र०–छोड़ना।—रखना।

विशेष—ईख, शकरकंद, गेहूँ, अफीम आदि बोने के लिये प्रायः ऐसा करते हैं। अन्य धान्यों के लिये बहुत कम पलिहर छोड़ते हैं।

पली–संज्ञा स्त्री० [सं० पलिघ] तेल घी आदि द्रव पदार्थों को बड़े बरतन से निकालने का लोहे का एक उपकरण। इसमें छोटी करछी के बराबर एक कटोरी होती है जो एक खड़ी डंडी से जुड़ी होती है।

मुहा०—**पली पली जोड़ना** = थोड़ा थोड़ा करके संचय या संग्रह करना। पैसा पैसा जोड़कर धन एकत्र करना। उ०—मियाँ जोड़े पली पली खुदा लुढावें कुप्पा।—(कहावत)।

पलित–संज्ञा पुं० [सं० प्रेत। मि० फा० पलीद] भूत। प्रेत। शैतान। वि० [फा० पलीद] (१) दुष्ट। पाजी। (२) धूर्त्त। चालाक। काइयाँ।

पलीता–संज्ञा पुं० [फा० फतीलः] (१) बत्ती के आकार में लपेटा हुआ वह कागज जिस पर कोई यंत्र लिखा हो। इस बत्ती की धूनी प्रेतग्रस्त लोगों को दी जाती है।

क्रि० प्र०—जलाना।—सुँघाना।—सुलगाना।

(२) बररोह को कूट और बटकर बनाई हुई वह बत्ती जिससे बंदूक या तोप के रंजक में आग लगाई जाती है। उ०—(क) काल तोपची, तुपक महि दारू अनय कराल। पाय पलीता, कठिन गुरु गोला पुहमी पाल।—तुलसी।

(ख) जलधि कामना वारि दास भरि तड़ित पलीता देत। गर्जन औ तर्जन मानो जो पहरक में गढ़ लेत।—सूर।

क्रि० प्र०—दागना।—देना।

मुहा०—पलीता चाटना = भड़ककर बल उठना। जल उठना। (क्व०)।

(३) एक विशेष प्रकार की कपड़े की बत्ती जिसे कहीं कहीं पनशाखे पर रखकर जलाते हैं।

क्रि० प्र०—जलाना।

वि० (१) बहुत क्रुद्ध। क्रोध से लाल। आग बबूला।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) तेज दौड़ने या भागनेवाला। द्रुतगामी।

पलीती-संज्ञा स्त्री० [हिं० पलीता] बत्ती। छोटा पलीता।

पलीद—वि० [फा०] (१) अशुचि। अपवित्र। गंदा। (२) घृणास्पद। (३) नीच। दुष्ट। उ०—इस पलीद से बिना छेड़े कब रहा जाता था।—शिवप्रसाद।

संज्ञा पुं० [हिं० पलीत। मि० सं० प्रेत] भूत। प्रेत।

पलुआ-संज्ञा पुं० [देश०] सन की जाति का एक पौधा।

†संज्ञा पुं० [हिं० पलना + उआ (प्रत्य०)] पालतू। पाला हुआ।

पलुहना*†-क्रि० अ० [सं० पल्लव] पल्लवित होना। पत्रयुक्त होना। हरा भरा होना। उ०—(क) भोर होत तब पलुह सरीरू। पाय घुमरहा सीतल नीरू।—जायसी। (ख) पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर ऋतु पाई।—तुलसी।

पलुहाना*†-क्रि० स० [हिं० पलुहना] पल्लवित करना। हरा भरा करना। उ०—(क) जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहि बूँद औ सौंध बसाई।—जायसी। (ख) कबहुँक कपि राघव आवहिंगे। विरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि जल पलुहावहिंगे।—तुलसी।

पलूघना-क्रि० स० [हिं० पलना] देना। (दल्लाल)

पलेट-संज्ञा स्त्री० [अं० प्लेट] (१) लंबी पट्टी। पटरी। (२) कपड़े की वह पट्टी जो कोट, कुरते आदि में नीचे की ओर उनके किसी विशेष अंश को कड़ा या सुंदर बनाने के लिये लगाई जाय। पट्टी। जैसे, कुरते का पलेट, कमीज का पलेट।

पलेटन-संज्ञा पुं० [अं० प्लेटेन] छापे के यंत्र में लोहे का वह चिपटा भाग जिसके दवाव से कागज आदि पर अक्षर छपते हैं।

पलेड़ना*†-क्रि० स० [सं० प्रेरण] ढकेलना। धक्का देना। उ०—तू अलि कहा पर्यो केहि पैड़ै ? या आदर पर अजहूँ वैठो टरत न सूर पलेड़े।—सूर।

पलेथन-संज्ञा पुं० [सं० परिस्तरण = लेपटना]। (१) वह सूखा आटा जिसे रोटी बेलने के समय इसलिये लोई पर लपेटते और पाटे पर बखेरते हैं कि गीला आटा हाथ या बेलन आदि में न चिपके। परथन।

क्रि० प्र०—निकालना।—लगाना।

मुहा०—पलेथन निकलना = (१) खूब मार पड़ना या खाना। भुरकुस निकलना। कचूमर निकलना। (२) परेशान होना। तंग होना। हार जाना। **पलेथन निकालना** = (१) खूब मारना या ठोंकना। पीटना। कचूमर निकालना। (२) तंग करना। परेशान करना। बुरा हाल करना।

(२) किसी हानि या अपकार के पश्चात् उसी के संबंध से होनेवाला अनावश्यक व्यय। किसी बड़े खर्च के पीछे होनेवाला छोटा पर फ़जूल ख़र्च। जैसे, माल तो चोरी गया ही था, तहकीकात कराने में १००) और पलेथन लगा।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

पलेनर-संज्ञा पुं० [अं० प्लेन] काठ का एक वह छोटा चिपटा टुकड़ा जिससे प्रेस में कसे हुए फ़रमे के उभरे हुए टाइपों को बराबर करते हैं। (इसको फ़रमे के ऊपर रखकर काठ के हथौड़े से कई बार ठोंकते हैं जिससे उभरे हुए अक्षर दबकर बराबर हो जाते हैं)।

पलेना-संज्ञा पुं० दे० "पलेनर"।

पलेव-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पलिहर की वह सिंचाई या छिड़काव जिसे बोने के पहले तरी की कमी के कारण करते हैं। हलकी सिँचाई। पटकन। (२) जूस। शोरबा। (३) आटा या पिसा हुआ चावल जो शोरबे में उसे गाढ़ा करने के लिये डाला जाता है। जहाँ मसाला नहीं या कम डालना होता है वहाँ इसको डालकर काम चलाते हैं।

पलोटना-क्रि० स० [सं० प्रलोठन] (१) पैर दबाना या दाबना। उ०-(क) तीन लोक नारी को कहियत जो दुर्लभ बल बीर। कमला हू नित पायँ पलोटत हम तो हैं आभीर।—सूर। (ख) ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु पद कमल पलोटत प्रीते।—तुलसी। (२) दे० "पलटमा"।

क्रि० अ० [हिं० पलटना] कष्ट से लोटना पोटना। तड़फड़ाना। उ०—सेज पड़ी सफरी सी पलोटन ज्यों ज्यों घटा घन की गरजै री।—पद्माकर।

पलोथन-संज्ञा पुं० दे० "पलेथन"।

पलोवना*-क्रि० स० [सं० प्रलोठन] (१) पैर दबाना। पैर मलना। उ०-चरण कमल नित रमा पलोवै। चाहत नेक नैन भरि जोवै—सूर। (२) सेवा करना। किसी को प्रसन्न करने का उपाय करना। उ०—प्रथमै चरण कमल को ध्यावैं। तासु महातम मन में लावैं। गंगा परसि इनहिं को भई।

शिव शिवता इन ही सों लई । लक्ष्मी इन को सदा पलोवै । बारंबार प्रीति को जोवै ।—सूर ।

पलोसना*-क्रि० स० [सं० स्पर्श ? हिं० परसना] (१) धोना । उ०—अड़सठ तीरथ निंदक न्हाय । देह पलोसे मैल न जाय ।—कबीर । (२) मीठी मीठी बातें करके गाहक को ढंग पर लाना । तरह तरह की बातें करके गाहक या शिकार फँसाना । (दलाल)

पल्टन-संज्ञा स्त्री० दे० "पलटन" ।

पल्टा-संज्ञा पुं० दे० "पलटा" ।

पल्थी-संज्ञा स्त्री० दे० "पलथी" ।

पल्यंक-संज्ञा पुं० [सं०] पलंग । खाट ।

पल्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की पीठ पर बिठाने की गद्दी । पलान ।

पल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न रखने का स्थान । बखार । कोठार । (२) पाल जिसमें पकने के लिये फल रखे जाते हैं ।

पल्लव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नए निकले हुए कोमल पत्तों का समूह या गुच्छा । टहनी में लगे हुए नए नए कोमल पत्ते जो प्रायः लाल होते हैं । कोंपल । कल्ला । उ०—नव पल्लव भए विटप अनेका ।—तुलसी ।

पर्या०—किशलय । किसलय । नवपत्र । प्रबाल । बल । किसल ।

विशेष—हाथ के वाचक शब्दों के साथ "पल्लव" का समास होने से इसका अर्थ "उँगली" होता है । जैसे, करपल्लव, पाणिपल्लव ।

(२) हाथ में पहनने का कड़ा वा कंकण । (३) नृत्य में हाथ की एक विशेष प्रकार की स्थिति । (४) विस्तार । (५) बल । (६) चपलता । चंचलता । (७) अाल का रंग । (८) पह्लव देश । (९) पह्लव देश का निवासी । (१०) दक्षिण का एक राजवंश जिसका राज्य किसी समय उड़ीसा से लेकर तुंगभद्रा नदी तक फैला था । कुछ लोगों का मत है कि ये पह्लव ही थे और कुछ लोग कहते हैं कि यह स्वतंत्र राजवंश था । वराहमिहिर के अनुसार पल्लव दक्षिण पश्चिम में बसते थे । अशोक के समय में गुजरात में पल्लवों का राज्य था ।

पल्लवक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली ।

पल्लवग्राही-संज्ञा पुं० [सं०] किसी विषय का सम्यक् ज्ञान न रखनेवाला । जो किसी विषय का पूरा या यथेष्ट ज्ञान न रखता हो । रहस्य से अनभिज्ञ, केवल ऊपरी या मोटी मोटी बातों का जाननेवाला ।

पल्लवद्रु-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़ ।

पल्लवना*-क्रि० अ० [सं० पल्लव + ना (प्रत्य०)] पल्लवित होना । पत्ते फेकना । पनपना । उ०—(क) सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास । फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँपास ।—तुलसी ।

पल्लवाद-संज्ञा पुं० [सं०] हरिण । हिरन ।

पल्लवाधार-संज्ञा पुं० [सं०] शाखा । डाली ।

पल्लवास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

पल्लवाह्वय-संज्ञा पुं० [सं०] तालीस पत्र ।

पल्लवित-वि० [सं०] (१) पल्लवयुक्त । जिसमें नए नए पत्ते निकले या लगे हों । (२) हरा भरा । लहलहाता । (३) विस्तृत । लंबा चौड़ा । (४) अाल में रँगा हुआ । लाख के रंग में रँगा हुआ । (५) रोमांचयुक्त । जिसके रोंगटे खड़े हों । उ०—कहि प्रनाम कछु कहन लिय पै भय शिथिल सनेह । थकित वचन लोचन सजल, पुलक-पल्लवित देह ।—तुलसी ।

पल्लवी-संज्ञा पुं० [सं० पल्लविन्] वृक्ष । पेड़ ।
वि० जिसमें पल्लव हों । पल्लवयुक्त ।

पल्ला-क्रि० वि० [सं० पर या पार = दूर या छोर + ला (प्रत्य०)] (१) दूर । (२) दूरी ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कपड़े का छोर । अाँचल । दामन । उ०—एक बड़े से कुत्ते ने जो इस बाग का रखवाला था लपककर उसका पल्ला पकड़ लिया ।—शिवप्रसाद ।

मुहा०—**पल्ला छूटना** = पीछा छूटना । छुटकारा मिलना । निष्कृति मिलना । छुटकारा पाना । **पल्ला छुड़ाना** = पीछा छुड़ाना । निष्कृति पाना । **पल्ला पकड़ना** = किसी के लिये किसी को पकड़ना । **पल्ला पसारना** = किसी से कुछ माँगना । आँचल पसारना । दामन फैलाना । **पल्ला लेना** = †शोक करना । किसी की मृत्यु पर रोना । (स्त्रियाँ) **पल्ले पड़ना** = प्राप्त होना । मिलना । हाथ लगना । **(किसी के) पल्ले बँधना** = (१) ब्याही जाना । हाथ पकड़ना । (२) जिम्मे किया जाना । **पल्ले बाँधना** = (१) जिम्मे लेना । (२) गाँठ बाँधना । (३) ब्याहना । हाथ पकड़ना । **पल्ले से बाँधना** = जिम्मे लगाना । (२) ब्याह देना । हाथ पकड़ा देना ।

(२) दूरी । जैसे, इनका घर यहाँ से पल्ले पर है । उ०—दो सौ कोस के पल्ले तक बरफीले पहाड़ नजर पड़ते हैं । (३) † पास । अधिकार में । जैसे, उसके पल्ले क्या है ? (४) तरफ ।

संज्ञा पुं० [सं० पटल] (१) दुपल्ली टोपी का एक भाग । दुपल्ली टोपी का आधा भाग । (२) चद्दर वा गोन जिसमें अन्न बाँधकर ले जाते हैं ।

यौ०—पल्लेदार ।

(३) किवाड़ । पटल । (४) पहल । (५) तीन मन का बोझ । (६) बौरा ।

संज्ञा पुं० [सं० पल] तराजू में एक ओर का टोकरा या डलिया । पलड़ा ।

मुहा०—**पल्ला झुकना** = पक्ष बलवान् होना । **पल्ला भारी**

होना = पक्ष बलवान् होना। भारी पल्ला = (१) बलवान् पक्ष। (२) ऐसा पक्ष जिस पर बड़े बोझ हों।

संज्ञा पुं० [सं० फल] कैंची के दो भागों में एक भाग।

वि० [फा० पल्ला] दे० "परला"।

पल्लिवाह–संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग की एक घास।

पल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा गाँव। पुरवा। खेड़ा। (२) गाँव। (३) कुटी। (४) छिपकली।

पल्लू†–संज्ञा पुं० [हिं० पल्ला] (१) अँचल। छोर। दामन। (२) चौड़ी गोट। पट्टा।

पल्ले†*–वि० दे० (१) "परलय"। (२) दे० "पल्ला"।

पल्लेदार–संज्ञा पुं० [हिं० पल्ला + फा० दार] (१) वह मनुष्य जो गल्ले के बाजार में दूकानों पर गल्ले को गाँठ में बाँधकर दूकान से मोल लेनेवालों के घर पर पहुँचा देता है। अनाज ढोनेवाला मजदूर। (२) गल्ले की दूकान पर वा कोठियों में गल्ला तौलनेवाला आदमी। बया।

पल्लेदारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पल्लेदार + ई (प्रत्य०)] (१) गल्ले की दूकान वा कोठियों से गल्ले का बोझ दूकान से उठाकर खरीदार के यहाँ पहुँचाने का काम। पल्लेदार का काम। (२) अनाज की दूकान पर अनाज तौलने का काम।

पल्लौ†–संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] पल्लव।

संज्ञा पुं० पल्ला। चद्दर या गोन जिसमें अनाज बाँधते हैं। उ०—पल पल्लौ भरि इन लिया तेरा नाज उठाय। नैन हमालन दै अरे दरस मजूरी आय।—रसनिधि।

पल्वल–संज्ञा पुं० [सं०] छोटा तालाब वा गड्ढा।

पल्वलावास–संज्ञा पुं० [सं०] कछुआ।

पव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोबर। (२) वायु। हवा। (३) अनाज की भूसी साफ करना। ओसाना। बरसाना।

संज्ञा पुं० दे० "पौ"।

पवई†–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया जिसकी छाती खैरे रंग की, पीठ खाकी और चोंच पीली होती है।

पवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा।

मुहा०—पवन का भूसा होना = उड़ जाना। न ठहरना। कुछ न रहना। उ०—माधो जू सुनिए व्रज ब्योहार। मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नंदकुमार —सूर।

(२) कुम्हार का आँवा। (३) जल। पानी। (४) श्वास। साँस। (५) अनाज की भूसी अलग करना। (६) प्राण वायु। (७) विष्णु। (८) पुराणानुसार उत्तम मनु के एक पुत्र का नाम।

पवन-अस्त्र–संज्ञा पुं० [सं० पवनास्त्र] वायु देवता का अस्त्र। कहते हैं इसके चलाने से बड़े वेग से वायु चलने लगती है।

पवन-कुमार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीमसेन।

पवन-चक्की–संज्ञा स्त्री० [सं० पवन + हिं० चक्की] हवा के जोर से चलनेवाली चक्की या कल। वह चक्की या कल जो हवा के जोर से चलती हो।

विशेष—प्रायः चक्की पीसने अथवा कुएँ आदि से पानी निकालने के लिये यह उपाय करते हैं कि चलाई जानेवाली कल का संयोग किसी ऐसे चक्कर के साथ कर देते हैं जो बहुत ऊँचाई पर रहता है और हवा के झोंकों से बराबर घूमता रहता है। उस चक्कर के घूमने के कारण नीचे की कल भी अपना काम करने लगती है।

पवन-चक्र–संज्ञा पुं० [सं०] चक्कर खाती हुई जोर की हवा। चक्रवात। बवंडर।

पवनज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीमसेन।

पवन-तनय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीम।

पवन-नंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीम।

पवन-नंदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान (२) भीमसेन।

पवन-पति–संज्ञा पुं० [सं०] वायु के अधिष्ठाता देवता। उ०—अखिल ब्रह्मांडपति तिहुँ भुवनपति नीरपति पवनपति अगम बानी।—सूर।

पवन-परीक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिषियों की एक क्रिया जिसके अनुसार वे व्यास पूनों अर्थात् आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा के दिन वायु की दिशा को देखकर ऋतु का भविष्य कहते हैं।

पवन-पुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीमसेन।

पवन-पूत*–संज्ञा पुं० दे० "पवनपुत्र"।

पवन-वाण–संज्ञा पुं० [सं०] वह बाण जिसके चलाने से हवा वेग से चलने लगे।

पवन-वाहन–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

पवन-व्याधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वायुरोग।

संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण के सखा उद्धव का एक नाम।

पवन-संघात–संज्ञा पुं० [सं०] दो ओर से वायु का आकर आपस में जोर से टकराना जो दुर्भिक्ष और दूसरे राजा के आक्रमण का लक्षण माना जाता है।

पवन-सुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीमसेन।

पवना†–संज्ञा पुं० [देश०] झरना। पौना। दे० "झरना(२)"।

पवनात्मज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान्। (२) भीमसेन। (३) अग्नि।

पवनाल–संज्ञा पुं० [सं०] पुनेरा नाम का धान्य।

पवनाश-पवनाशन–संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

पवनाशनाश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़। (२) मोर।

पवनाशी–संज्ञा पुं० [सं० पवनाशिन्] (१) वह जो हवा खाकर रहता हो। (२) साँप।

पवनास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का अस्त्र। कहते हैं कि इसके चलाने से बहुत तेज हवा चलने लगती थी।

पवनी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाना = प्राप्त करना] गाँवों में रहनेवाली वह छोटी प्रजा या नीच जाति जो अपने निर्वाह के लिये क्षत्रियों, ब्राह्मणों अथवा गाँव के दूसरे रहनेवालों से नियमित रूप से कुछ पाती है। जैसे नाऊ, बारी, भाट, धोबी, चमार, चुड़िहारी आदि।

संज्ञा स्त्री० दे० "पौना"।

पवनेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] बकायन।

पवनोंबुज-संज्ञा पुं० [सं०] फालसा।

पवमान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवन। वायु। समीर। (२) स्वाहा देवी के गर्भ से उत्पन्न अग्नि के एक पुत्र का नाम। (३) गार्हपत्य अग्नि। (४) चंद्रमा का एक नाम। (५) ज्योतिष्टोम यज्ञ में गाया जानेवाला एक प्रकार का स्तोत्र।

पवर†-संज्ञा स्त्री० दे० "पँवरि"।

पवरिया-संज्ञा पुं० दे० "पौरिया"।

पवरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "पँवरि"।

पवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] वर्णमाला का पाँचवाँ वर्ग जिसमें प, फ, ब, भ, म, ये पाँच अक्षर हैं। वर्णमाला में प से लेकर म तक के अक्षर।

पवाँर-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पमार। पवाड़। चकवड़। (२) क्षत्रियों की एक शाखा विशेष। दे० "परमार"।

पवाँरना†-क्रि० स० [सं० प्रवारण] (१) फेंकना। गिराना। (२) खेत में छितराकर बीज बोना।

पवाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पावँ०] (१) एक फर्द जूता। एक पैर का जूता। (२) चक्की का एक पाट।

पवाड़-संज्ञा पुं० [देश०] चकवड़।

पवाड़ा-संज्ञा पुं० दे० "पँवाड़ा"।

पवाना†-क्रि० स० [पाना (भोजन करना) का सकर्मक रूप] खिलाना। भोजन कराना। उ०—सहित प्रीति ते अशन बनावै। परसि दूरि ते ताहि पवावै।—रघुनाथ।

पवार-संज्ञा पुं० दे० "परमार"।

पवि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वज्र। (२) बिजली। गाज। (३) वाक्य। (४) थूहर। सेहुँड़। (५) मार्ग। रास्ता। (डिं०)

पवित-संज्ञा पुं० [सं०]। मिर्च।

वि० पवित्र। शुद्ध।

पविताई-वि० स्त्री० [सं० पवित्रता] शुद्धि। सफाई। पवित्रता।

पवित्तर‡-वि० दे० "पवित्र"।

पवित्र-वि० [सं०] जो गंदा मैला या खराब न हो। शुद्ध। निर्मल। साफ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेंह। बारिश। वर्षा। (२) कुशा। (३) ताँबा। (४) जल। (५) दूध। (६) घर्षण। रगड़। (७) अर्घा। अर्घपात्र। (८) यज्ञोपवीत। जनेऊ। (९) घी। (१०) शहद। (११) कुशा की बनी हुई पवित्री जिसे श्राद्धादि में अँगुलियों में पहनते हैं। (१२) विष्णु। (१३) महादेव। (१४) तिल का पेड़। (१५) पुत्रजीवा का वृक्ष। (१६) कार्त्तिकेय का एक नाम।

पवित्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुशा। (२) दौने का पेड़। (३) गूलर का पेड़। (४) पीपर का पेड़। (५) जाला। (६) क्षत्रिय का यज्ञोपवीत।

पवित्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पवित्र या शुद्ध होने का भाव। शुद्धि। स्वच्छता। पावनता। सफाई। पाकीजगी।

पवित्रधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] जौ।

पवित्रवति-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रौंच द्वीप की एक वनस्पति।

पवित्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी। (२) एक नदी का नाम। (३) हलदी। (४) अश्वत्थ। पीपल। (५) रेशम के दानों की बनी हुई रेशमी माला जो कुछ धार्मिक कृत्यों के समय पहनी जाती है। (६) श्रावण के शुक्ल पक्ष की एकादशी।

पवित्रात्मा-वि० [सं० पवित्रात्मन्] जिसकी आत्मा पवित्र हो। शुद्ध अंतःकरणवाला। शुद्धात्मा।

पवित्रारोपण-संज्ञा पुं० [सं०] श्रावणशुक्ल १२ को होनेवाला वैष्णवों का एक उत्सव जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण को सोने, चाँदी, ताँबे या सूत आदि का यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।

पवित्रारोहण-संज्ञा पुं० दे० "पवित्रारोपण"।

पवित्राश-संज्ञा पुं० [सं०] सन का बना हुआ डोरा, जो प्राचीन काल में भारत में बहुत पवित्र माना जाता था।

पवित्रित-वि० [सं०] शुद्ध किया हुआ। निर्मल किया हुआ।

पवित्री-संज्ञा स्त्री० [सं० पवित्र = कुश] कुश का बना हुआ एक प्रकार का छल्ला जो कर्मकांड के समय अनामिका में पहिना जाता है।

पविद-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

पविधर-संज्ञा पुं० [सं०] वज्र धारण करनेवाले, इंद्र।

पवीनव-संज्ञा पुं० [सं०] अथर्ववेद के अनुसार एक प्रकार के असुर जिनके विषय में लोगों का विश्वास था कि ये स्त्रियों का गर्भ गिरा देते हैं।

पवीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हल की फाल। (२) शस्त्र। हथियार। (३) वज्र।

पवेरना†-क्रि० स० [हिं० पवारना] छितराकर बीज बोना।

पवेरा†–संज्ञा पुं० [हिं० पवेरना] वह बोआई जिसमें हाथ से छितरा या फेंककर बीज बोया जाय।

पव्य–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्र।

पशम–संज्ञा स्त्री० [फा० पश्म] (१) बहुत बढ़िया और मुलायम ऊन जो प्रायः पंजाब, कश्मीर और तिब्बत की बकरियों पर से उतरता है और जिससे बढ़िया दुशाले और पशमीने आदि बनते हैं।

विशेष—कश्मीर, तिब्बत और नैपाल आदि ठंढे देशों की बकरियों में उनके रोएँ के नीचे की तह में और एक प्रकार के बहुत मुलायम चिकने और बारीक रोएँ होते हैं जिन्हें 'पशम' कहते हैं। इसका मूल्य बहुत अधिक होता है और प्रायः बढ़िया दुशाले, चादरें और जामेवार आदि बनाने में इनका उपयोग होता है। विशेष—दे० "ऊन"।

(२) पुरुष या स्त्री की मूत्रेंद्रिय पर के बाल। उपस्थ पर के बाल। शष्प। झाँट।

मुहा०—पशम उखाड़ना = (१) व्यर्थ समय नष्ट करना। (२) कुछ भी हानि या कष्ट न पहुँचा सकना। **पशम न उखड़ना** = (१) कुछ भी काम न हो सकना। (२) कुछ भी कष्ट या हानि न होना। **पशम पर मारना** = बिलकुल तुच्छ समझना। **पशम न समझना** = कुछ भी न समझना। पशम के बराबर भी न समझना।

(३) बहुत ही तुच्छ वस्तु।

पशमीना–संज्ञा पुं० [फा०] (१) पशम। (२) पशम का बना हुआ कपड़ा या चादर आदि।

पशु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लांगूल विशिष्ट चतुष्पद जंतु। चार पैरों से चलनेवाला कोई जंतु जिसके शरीर का भार खड़े होने पर पैरों पर रहता हो। रेंगनेवाले, उड़नेवाले, जल में रहनेवाले जीवों तथा मनुष्यों को छोड़ कोई जानवर जैसे, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, ऊँट, बैल, हाथी, हिरन, गीदड़, लोमड़ी, बंदर इत्यादि।

विशेष—भाषारत्न में लोम और लांगूल (रोएँ और पूँछ) वाले जंतु पशु कहे गए हैं—अमरकोश में पशु शब्द के अंतर्गत इन जंतुओं के नाम आए हैं—सिंह, बाघ, लकड़बग्घा (चरग), सूअर, बंदर, भालू, गैंडा, भैंसा, गीदड़, बिल्ली, गोह, साही, हिरन (सब जाति के), सुरागाय, नीलगाय, खरहा, गंधबिलाव, बैल, ऊँट, बकरा, मेढ़ा, गदहा, हाथी और घोड़ा। इन नामों में गोह भी है जो सरीसृप या रेंगनेवाला है। पर साधारणतः छिपकली गिरगिट आदि को पशु नहीं कहते।

(२) जीवमात्र। प्राणी।

यौ०—पशुपति।

विशेष—शैव दर्शन और पाशुपत दर्शन में 'पशु' जीवमात्र की संज्ञा मानी गई है।

(३) देवता। (४) प्रमथ। (५) यज्ञ। (६) यज्ञ उडुंबर।

पशुकर्म–संज्ञा पुं० [सं० पशुकर्मन्] यज्ञ आदि में पशु का बलिदान।

पशुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का हिरन।

पशुगायत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र की रीति से बलिदान करने में एक मंत्र जिसका बलिपशु के कान में उच्चारण किया जाता है।

पशुचर्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पशु के समान विवेकहीन आचरण। जानवरों की सी चाल। (२) स्वेच्छाचार।

पशुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पशु का भाव। (२) जानवरपन। मूर्खता और औद्धत्य।

पशुत्व–संज्ञा पुं० [सं०] पशु का भाव। जानवरपन।

पशुदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मातृका देवी।

पशुधर्म–संज्ञा पुं० [सं०] पशुओं का सा आचरण। जानवरों का सा व्यवहार। मनुष्य के लिये निंद्य व्यवहार। जैसे, स्त्रियों का जिसके पास चाहे उसके पास गमन करना, पुरुषों का अगम्या आदि का विचार न करना इत्यादि। (मनु०)

पशुनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सिंह।

पशुप–संज्ञा पुं० [सं०] पशुपाल। गोपाल। पशुओं का पालनेवाला।

पशुपतास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव का शूलास्त्र।

पशुपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं का स्वामी। (२) जीवों का ईश्वर या मालिक। (३) शिव। महादेव।

विशेष—शैवदर्शन और पाशुपत दर्शन में जीवमात्र 'पशु' कहे गए हैं और सब जीवों के अधिपति 'शिव' ही परमेश्वर माने गए हैं।

(४) अग्नि। (५) ओषधि।

पशुपल्वल–संज्ञा पुं० [सं०] कैवर्त्तमुस्तक। केवटी मोथा।

पशुपाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं को पालनेवाला। (२) ईशान कोण में एक देश जहाँ के निवासी पशुपालन ही द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। (बृहत्संहिता)

पशुपालक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पशुपालिका] पशु पालनेवाला।

पशुपाश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुओं का बंधन। (२) शैव दर्शन के अनुसार जीवों के चार प्रकार के बंधन।

पशुपाशक–संज्ञा पुं० [सं०] एक रतिबंध का नाम।

पशुभाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशुत्व। जानवरपन। हैवानपन। (२) तंत्र में मंत्र के साधन के तीन प्रकारों में से एक।

विशेष—साधक लोग तीन भाव से मंत्र का साधन करते हैं—दिव्य, वीर और पशु। इनमें से प्रथम दो भाव उत्तम और पशुभाव निकृष्ट माना जाता है। जो लोग तंत्र के सब विधानों का (घृणा, आचार विचार आदि के कारण) पूरा पूरा पालन नहीं कर सकते उनका साधन पशुभाव से समझा जाता है। तांत्रिकों के अनुसार वैष्णव पशु

भाव से नारायण की उपासना करते हैं क्योंकि वे मद्य मांस आदि का संपर्क नहीं रखते। कुब्जिका तंत्र में लिखा है कि जो रात को यंत्रस्पर्श और मंत्र का जप नहीं करते, जिन्हें बलिदान में संशय, तंत्र में संदेह और मंत्र में अक्षर बुद्धि (अर्थात् ये अक्षर मात्र हैं इनसे क्या होगा) और प्रतिमा में शिलाज्ञान रहता है, जो देवता की पूजा बिना मांस के करते हैं, जो बार बार नहाया करते हैं उन्हें पशु-भावावलंबी और अधम समझना चाहिए।

पशुयज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ। [आश्वला० श्रौतसूत्र।]

पशुराज–संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

पशुलंब–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम।

पशुहरीतकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] आम्रातक फल। आमड़े का फल।

पशू—संज्ञा पुं० दे० "पशु"।

पश्चात्—अव्य० [सं०] पीछे। पीछे से। बाद। फिर। अनंतर। संज्ञा पुं० [सं०] (१) पश्चिम दिशा। (२) शेष। अंत। (३) अधिकार।

पश्चात्कर्म्म–संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्कर्म्मन्] वैद्यक के अनुसार वह कर्म्म जिससे शरीर के बल, वर्ण और अग्नि की वृद्धि हो। ऐसा कर्म्म प्रायः रोग की समाप्ति पर शरीर को पूर्व और प्रकृत अवस्था में लाने के लिये किया जाता है। भिन्न भिन्न रोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के पश्चात्कर्म्म होते हैं।

पश्चात्ताप–संज्ञा पुं० [सं०] वह मानसिक दुःख वा चिंता जो किसी अनुचित काम को करने के उपरांत उसके अनौचित्य का ध्यान करके अथवा किसी उचित या आवश्यक काम को न करने के कारण होती है। अनुताप। अफसोस। पछतावा।

पश्चात्तापी–संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्तापिन्] पछतावा करनेवाला।

पश्चानुताप–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चात्ताप। अनुताप। पछतावा।

पश्चारुज–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक रोग जो कदन्न खानेवाली स्त्रियों का दूध पीनेवाले बालकों को होता है। इस रोग में बालकों की गुदा में जलन होती है, उनका मल हरे वा पीले रंग का हो जाता है और उन्हें बहुत तेज ज्वर आने लगता है।

पश्चिम–संज्ञा पुं० [सं०] वह दिशा जिसमें सूर्य अस्त होता है। पूर्व दिशा के सामने की दिशा। प्रतीची। वारुणी। पच्छिम।

वि० (१) जो पीछे से उत्पन्न हुआ हो। (२) अंतिम। पिछला। अंत का।

पश्चिम घाट–संज्ञा पुं० दे० "पश्चिमी घाट"।

पश्चिमप्लव–संज्ञा पुं० [सं०] वह भूमि जो पश्चिम की ओर झुकी हो।

पश्चिमयामकृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार रात के पिछले पहर का कृत्य या कर्त्तव्य।

पश्चिमवाहिनी–वि० [सं०] पश्चिम दिशा की ओर बहनेवाली। पश्चिम तरफ बहनेवाली (नदी आदि)

पश्चिम सागर–संज्ञा पुं० [सं०] आयरलैंड और अमेरिका के बीच का समुद्र। एटलांटिक महासागर।

पश्चिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्यास्त की दिशा। प्रतीची। वारुणी। पच्छिम।

पश्चिमाचल–संज्ञा पुं० [सं०] एक कल्पित पर्वत जिसके संबंध में लोगों की यह धारणा है कि अस्त होने के समय सूर्य्य उसी की आड़ में छिप जाता है। अस्ताचल।

पश्चिमी–वि० [सं०] (१) पश्चिम की ओर का। पश्चिम-वाला। (२) पश्चिम-संबंधी। जैसे, पश्चिमी हिंदी।

पश्चिमी घाट–संज्ञा पुं० [हिं० पश्चिमी + घाट] बंबई प्रांत के पश्चिम ओर की एक पर्वतमाला जो विंध्य पर्वत की पश्चिमी शाखा की अंतिम सीमा से, समुद्र के किनारे किनारे ट्रावंकोर की उत्तरी सीमा तक चली गई है। पश्चिम घाट।

पश्चिमोत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम और उत्तर के बीच का कोना। वायुकोण।

पश्त–संज्ञा पुं० [लश०] खंभा।

पश्ता–संज्ञा पुं० [फा० पुश्ता] किनारा। तट। (लश०)

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।

पश्तो–संज्ञा पुं० [देश०] (१) ३॥ मात्राओं का एक ताल जिसमें दो आघात होते हैं। इसके बोल इस प्रकार हैं। तिं, तक, धिं, धा, गे। (२) भारत की आर्यभाषाओं में से एक देशी भाषा जिसमें फारसी आदि के बहुत से शब्द मिल गए हैं। यह भाषा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से अफगानिस्तान तक बोली जाती है।

पश्म–संज्ञा पुं० [फा०] बकरी भेड़ आदि का रोआँ। ऊन।

विशेष–दे० "ऊन", "पशम"।

पश्मीना–संज्ञा पुं० [फा० पश्मीनः] एक प्रकार का बहुत बढ़िया और मुलायम ऊनी कपड़ा जो कश्मीर और तिब्बत आदि पहाड़ी और ठंढे देशों में बहुत अच्छा और अधिकता से बनता है। दे० "पशमीना"।

पश्यंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाद की उस समय की अवस्था या स्वरूप जब कि वह मूलाधार से उठकर हृदय में जाता है।

विशेष—भारतीय शास्त्रों में वाणी या सरस्वती के चार चक्र माने गए हैं—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैश्वरी। मूलाधार से उठनेवाले नाद को "परा" कहते हैं, जब वह मूलाधार से हृदय में पहुँचता है तब "पश्यंती" कहलाता है, वहाँ से आगे बढ़ने और बुद्धि से युक्त होने पर उसका नाम "मध्यमा" होता है और जब वह कंठ में आकर सब

के सुनने योग्य होता है तब उसे "वैश्वरी" कहते हैं ।

पश्यतोहर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो आँखों के सामने से चीज चुरा ले । जैसे, सुनार आदि ।

पश्वयम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का दैविक यज्ञ ।

पश्वाचार-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार कामना और संकल्पपूर्वक वैदिक रीति से देवी का पूजन । वैदिकाचार ।

विशेष—तांत्रिकों के अनुसार दिव्य, वीर और पशु इन तीन भावों से साधना की जाती है । इनमें से केवल अंतिम ही कलियुग में विधेय है, और इसी पशु-भाव से पूजा करने से सिद्धि होती है । पश्वाचारी को नित्य स्नान, संध्या, पूजन, श्राद्ध और विप्र कर्म करना चाहिए, सबको समान भाव से देखना चाहिए, किसी का अन्न न लेना चाहिए, सदा सत्य बोलना चाहिए, मद्य-मांस व्यवहार न करना चाहिए, आदि आदि ।

पश्वाचारी-संज्ञा पुं० [सं० पश्वाचारिन्] पश्वाचार करनेवाला । कामना और संकल्पपूर्वक, वैदिक रीति से देवी का पूजन करनेवाला ।

पश्विज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ ।

पश्वेकादशिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जिसमें ग्यारह देवताओं के उद्देश्य से पशुओं की बलि की जाती है ।

पष*†-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष] (१) पंख । डैना । (२) तरफ । ओर । (३) पक्ष । पाख ।

पषा-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष] दाढ़ी । डाढ़ी । श्मश्रु । उ०—रघुराज सुनत सखा सो पषा पोंछि पाणि, त्रिसखा त्रिशूल लिए चषा अरुणारे हैं ।—रघुराज ।

पषाण, पषान-संज्ञा पुं० दे० "पाषाण" ।

पषारना*†-क्रि० स० [सं० प्रक्षालन] धोना । उ०—जो प्रभु पार अवसि गा चहहू । मोहि पद पदुम पषारन कहहू ।—तुलसी ।

पष्षान-संज्ञा पुं० दे० "पाषाण" ।

पसंगा†-संज्ञा पुं० [फा० पासँग] (१) वह बोझ जिसे तराजू के पल्लों का बोझ बराबर करने के लिये तराजू की जोती में हलके पल्ले की तरफ बाँध देते हैं । पासंग । (२) तराजू के दोनों पल्लों के बोझ का अंतर जिसके कारण उस तराजू पर तौली जानेवाली चीज की तौल में भी उतना ही अंतर पड़ जाता है ।

वि० बहुत ही थोड़ा । बहुत कम ।

मुहा०—पसँगा भी न होना = कुछ मी न होना । बहुत ही तुच्छ होना । जैसे, यह कपड़ा उस थान का पसँगा भी नहीं है ।

पसंती*-संज्ञा स्त्री० दे० "पश्यंती" । उ०—बानिहु चारि भाँति की करी । परा पसंती मध्य बैश्वरी ।—विश्राम ।

पसंद-वि० [फा०] (१) रुचि के अनुकूल । मनोनीत । जो अच्छा लगे । जैसे, अगर यह चीज आपको पसंद हो तो आप ही ले लीजिए ।

क्रि० प्र०—आना ।—करना ।—होना ।

विशेष—इस शब्द के साथ जो यौगिक क्रियाएँ जुड़ती हैं वे अकर्मक होती हैं । जैसे, (क) वह किताब मुझे पसंद आ गई । (ख) हमें यह कपड़ा पसंद है ।

संज्ञा स्त्री० अच्छा लगने की वृत्ति । अभिरुचि । जैसे, आपकी पसंद भी बिलकुल निराली है ।

पसंदा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) मांस के एक प्रकार के कुचले हुए टुकड़े । पारचे का गोश्त । (२) एक प्रकार का कबाब जो उक्त प्रकार के मांस से बनता है ।

पस-अव्य० [फा०] इसलिये । अतः । इस कारण ।

पसई-संज्ञा स्त्री० [देश०] पहाड़ी राई जो हिमालय की तराई और विशेषतः नेपाल तथा कमाऊँ में होती है । इसकी पत्तियाँ गोभी के पत्तों की तरह होती हैं और इसकी फसल जाड़े में तैयार होती है । बाकी बहुत सी बातों में यह साधारण राई की ही तरह होती है ।

पसकरण-वि० [डिं०] कायर । डरपोक ।

पसघा†-संज्ञा पुं० दे० "पसँगा" ।

पसताल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो पानी के आसपास अधिकता से होती है और जिसे पशु बड़े चाव से खाते हैं । कहीं कहीं गरीब लोग इसके दानों या बीजों का व्यवहार अनाज की भाँति भी करते हैं ।

पसनी†-संज्ञा स्त्री० [सं० प्राशन] अन्नप्राशन नामक संस्कार जिसमें बच्चों को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है । उ०—भै पसनी पुनि छठयें मासा । बालक बढ़यो भानु सम भासा ।—रघुराज ।

पसर-संज्ञा पुं० [सं० प्रसर] गहरी की हुई हथेली । एक हथेली को सुकोड़ने से बना हुआ गड्ढा । करतलपुट । आधी अंजली । जैसे, इस भिखमंगे को पसर भर आटा दे दो ।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रसार] विस्तार । प्रसार । फैलाव ।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) रात के समय पशुओं को चराने का काम ।

क्रि० प्र०—चराना ।

(२) आक्रमण । धावा । चढ़ाई ।

पसरकटाली-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसरकटाली] भटकटैया । कटाई ।

पसरन-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसारिणी] गंधप्रसारणी । पसारनी ।

परसना-क्रि० अ० [सं० प्रसरण] (१) आगे की ओर बढ़ना । फैलना । (२) विस्तृत होना । बढ़ना । (३) पैर फैलाकर सोना । हाथ पैर फैलाकर लेटना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पसरट्टा†–संज्ञा पुं० दे० "पसरहट्टा"।

पसरहट्टा–संज्ञा पुं० [हिं० पसारी + हट्टा = हाट] वह हाट या बाज़ार जिसमें पंसारियों आदि की दूकानें हों। वह स्थान जहाँ वन औषधियाँ और मसाले आदि मिलते हैं।

पसराना–क्रि० स० [सं० प्रसारण] पसारने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को पसारने में प्रवृत्त करना।

पसरौंहाँ*†–वि० [हिं० पसरना + औंहाँ (प्रत्य०)] फैलनेवाला। जो पसरता हो। जिसका पसरने का स्वभाव हो।

पसली–संज्ञा स्त्री० [सं० पर्शुका] मनुष्यों और पशुओं आदि के शरीर में छाती पर के पंजर की आड़ी और गोलाकार हड्डियों में से कोई हड्डी।

विशेष—साधारणतः मनुष्यों और पशुओं में गले के नीचे और पेट के ऊपर हड्डियों का एक पंजर होता है। मनुष्य में इस पंजर में दोनों ओर बारह बारह हड्डियाँ होती हैं। ये हड्डियाँ पीछे की ओर रीढ़ में जुड़ी रहती हैं और उसके दोनों ओर से निकलकर दोनों बगलों से होती हुईं आगे छाती और पेट की ओर आती हैं। पसलियों के अगले सिरे सामने आकर छाती की ठीक मध्य रेखा तक नहीं पहुँचते बल्कि उससे कुछ पहले ही खतम हो जाते हैं। ऊपर की सात सात हड्डियाँ कुछ बड़ी होती हैं और छाती के मध्य की हड्डी से जुड़ी रहती हैं। इसके बाद की नीचे की ओर की हड्डियाँ या पसलियाँ क्रमशः छोटी होती जाती हैं और प्रत्येक पसली का अगला सिरा अपने से ऊपरवाली पसली के नीचे के भाग से जुड़ा रहता है। इस प्रकार अंतिम या सबसे नीचे की पसली जो कोख के पास होती है सबसे छोटी होती है। नीचे की दोनों पसलियों के अगले सिरे छाती की हड्डी तक तो पहुँचते ही नहीं, साथ ही वे अपने ऊपर की पसलियों से भी जुड़े हुए नहीं होते। इन पसलियों के बीच में जो अंतर होता है उसमें मांस तथा पेशियाँ रहती हैं। साँस लेने के समय मांस पेशियों के सुकड़ने और फैलने के कारण ये पसलियाँ भी आगे बढ़ती और पीछे हटती दिखाई देती हैं। साधारणतः इन पसलियों का उपयोग हृदय और फेफड़े आदि शरीर के भीतरी कोमल अंगों को बाहरी आघातों से बचाने के लिये होता है। पशुओं, पक्षियों और सरीसृपों आदि की पसली की हड्डियों की संख्या में प्रायः बहुत कुछ अंतर होता है और उनकी बनावट तथा स्थिति आदि में भी बहुत भेद होता है। पसली की हड्डियों की सबसे अधिक संख्या साँपों में होती है। उनमें कभी कभी दोनों ओर दो दो सौ हड्डियाँ होती हैं।

मुहा०—**पसली फड़कना या फड़क उठना** = मन में उत्साह होना। उमंग पैदा होना। जोश आना। **पसलियाँ ढीली करना** = बहुत मारना पीटना। **हड्डी पसली तोड़ना** = दे० पसलियाँ ढीली करना।

यौ०—**पसली का रोग** = बच्चों का एक प्रकार का रोग जिसमें उनका साँस बहुत जोर से चलता है।

पश व पेश–संज्ञा पुं० दे० "पसोपेश"।

पसवा†–संज्ञा पुं० [देश०] हलका गुलाबी रंग।

पसही†–संज्ञा पुं० [देश०] तिन्नी का चावल।

पसा†–संज्ञा पुं० [हिं० पसर] अंजली।

पसाई–संज्ञा स्त्री० [देश०] पसताल नाम की घास जो तालों में होती है।

पसाउ†*–संज्ञा पुं० [सं० प्रसाद, प्रा० पसाव] प्रसाद। प्रसन्नता। कृपा। अनुग्रह। उ०—चारिउ कुँअर बिआहि पुर गवने दशरथ राउ। भए मंजु मंगल सगुन गुरु सुर संभु पसाउ।—तुलसी।

पसाना–क्रि० स० [सं० प्रस्रावण, हिं० पसावना] (१) पकाया हुआ चावल गल जाने पर उसका बचा हुआ पानी निकालना या अलग करना। भात में से माँड़ निकालना। (२) किसी पदार्थ में मिला हुआ जल का अंश चुआ या बहा देना। पसेव निकालना या गिराना।

†*क्रि० अ० [सं० प्रसन्न या प्रसाद] प्रसन्न होना। खुश होना।

पसार–संज्ञा पुं० [सं० प्रसार] (१) पसरने की क्रिया या भाव। प्रसार। फैलाव। (२) विस्तार। लंबाई और चौड़ाई आदि।

पसारना–क्रि० स० [सं० प्रसारण] फैलाना। आगे की ओर बढ़ाना। विस्तार करना। जैसे, किसी के आगे हाथ पसारना, बैठने की जगह पाकर पैर पसारना।

पसारी–संज्ञा पुं० [देश०] (१) तिन्नी का धान। पसवन। पसेही। (२) दे० "पंसारी"।

पसाव–संज्ञा पुं० [हिं० पसाना + आव (प्रत्य०)] वह जो पसाने पर निकले। पसाने पर निकलनेवाला पदार्थ। माँड़। पीच।

पसावन–संज्ञा पुं० [सं० प्रस्रावण] (१) किसी उबाली हुई वस्तु में का गिराया हुआ पानी। (२) माँड़। पीच।

पसिंजर–संज्ञा पुं० [अं० पैसेंजर] (१) यात्री, विशेषतः रेल या जहाज का यात्री। (२) मुसाफिरों के सवार होने की वह रेल गाड़ी जो प्रत्येक स्टेशन पर ठहरती चलती है और जिसकी चाल डाकगाड़ी की चाल से कुछ धीमी होती है।

पसित*–वि० [सं० पस = बाँधना] बँधा या बाँधा हुआ।

पसीजना–क्रि० अ० [सं० प्र + स्विद्, प्रस्विद्यति, प्रा० पसिज्जइ] (१) किसी घन पदार्थ में मिले हुए द्रव अंश का गरमी पाकर या और किसी कारण से रस रस कर बाहर निकलना

रसना। जैसे पत्थर में से पानी पसीजना। (२) चित्त में दया उत्पन्न होना। दयार्द्र होना। जैसे, आप लाख बातें बनाइए, पर वे कभी न पसीजेंगे। उ०—दुखित धरनि लखि बरसि जल घनहु पसीजे आय। द्रवत न क्यों घनश्याम तुम नाम दयानिधि पाय।

पसीना—संज्ञा पुं० [सं० प्रस्वेदन, हिं० पसीजना] शरीर में मिला हुआ जल जो अधिक परिश्रम करने अथवा गरमी लगने पर सारे शरीर से निकलने लगता है। प्रस्वेद। स्वेद। श्रमवारि।

विशेष—पसीना केवल स्तनपायी जीवों को होता है। ऐसे जीवों के सारे शरीर में त्वचा के नीचे छोटी छोटी ग्रंथियाँ होती हैं जिनमें से रोमकूपों में से होकर जलकणों के रूप में पसीना निकलता है। रासायनिक विश्लेषण से सिद्ध होता है कि पसीने में प्रायः वे ही पदार्थ होते हैं जो मूत्र में होते हैं। परंतु वे पदार्थ बहुत ही थोड़ी मात्रा में होते हैं। पसीने में मुख्यतः कई प्रकार के क्षार, कुछ चर्बी और कुछ प्रोटीन (शरीरधातु) होती है। ग्रीष्म ऋतु में व्यायाम या अधिक परिश्रम करने पर शरीर में अधिक गरमी के पहुँचने पर या लज्जा, भय, क्रोध आदि गहरे आवेगों के समय अथवा अधिक पानी पीने पर बहुत पसीना होता है। इसके अतिरिक्त जब मूत्र कम आता है तब भी पसीना अधिक होता है। औषधों के द्वारा अधिक पसीना लाकर कई रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। शरीर स्वस्थ रहने की दशा में जो पसीना आता है, उसका न तो कोई रंग होता है और न उसमें दुर्गंध होती है। परंतु शरीर में किसी प्रकार का रोग हो जाने पर उसमें से दुर्गंध निकलने लगती है।

क्रि० प्र०—आना।—छूटना।—निकलना।—होना।

मुहा०—**पसीने पसीने होना** = बहुत अधिक पसीना होना। पसीने से तर होना। **गाढ़े पसीने की कमाई** = कठिन परिश्रम से अर्जित किया हुआ धन। बड़ी मेहनत से कमाई हुई दौलत।

पसु*—संज्ञा पुं० दे० "पशु"।

पसुरी, पसुली*†—संज्ञा स्त्री० दे० "पसली"।

पसू†—संज्ञा पुं० दे० "पशु"।

पसूज—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह सिलाई जिसमें सीधे तोपे भरे जाते हैं।

पसूजना—क्रि० स० [देश०] सीना। सिलाई करना।

पसूता†—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसूता] जिस स्त्री ने अभी हाल में बच्चा जना हो। प्रसूता। ज़च्चा।

पसूस—वि० [डिं०] कठोर।

पसेउ†—संज्ञा पुं० दे० "पसेव"।

पसेरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँच + सेर + ई (प्रत्य०)] पाँच सेर का बाट। पंसेरी।

पसेव—संज्ञा पुं० [सं० प्रस्राव] (१) वह द्रव पदार्थ जो किसी पदार्थ के पसीजने पर निकले। किसी चीज में से रसकर निकला हुआ जल। (२) पसीना। (३) वह तरल पदार्थ जो कच्ची अफीम को सुखाने के समय उसमें से निकलता है। इस अंश के निकल जाने पर अफीम सूख जाती है और खराब नहीं होती।

पसेवा†—संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों की अँगीठी पर चारों ओर रहनेवाली चारों ईंटें।

पसोपेश—संज्ञा पुं० [फ़ा० पस व पेश] (१) आगा पीछा। सोच विचार। हिचक। दुबिधा। जैसे, जरा से काम में तुम इतना पसोपेश करते हो? (२) भला बुरा। हानि लाभ। ऊँच नीच। परिणाम। जैसे, इस काम का सब पसोपेश सोच लो तब इसमें हाथ लगाओ।

पस्त—वि० [फ़ा०] (१) हारा हुआ। (२) थका हुआ। (३) दबा हुआ।

पस्तक़द—वि० [फ़ा०] नाटा। वामन। बौना।

पस्तहिम्मत—वि० [फ़ा०] हिम्मत हारा हुआ। भीरु। डरपोक। कायर।

पस्ताना†—क्रि० अ० दे० "पछताना"।

पस्तावा†—संज्ञा पुं० दे० "पछतावा"।

पस्ती—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) नीचे होने का भाव। निचाई। (२) कमी। न्यूनता। अभाव।

पस्तो—संज्ञा स्त्री० दे० "पश्तो"।

पस्सर—संज्ञा पुं० [अं० परसर] जहाज का वह कर्मचारी जो खलासियों आदि को वेतन और रसद बाँटता है। जहाज का ख़जानची या भंडारी (लश०)।

पस्सी बबूल—संज्ञा पुं० [हिं० पस्सी ? + हिं० बबूल] एक प्रकार का पहाड़ी विलायती बबूल जो जंगली नहीं होता बल्कि बोने और लगाने से होता है। हिमालय में यह ५००० फुट की ऊँचाई तक बोया जा सकता है। प्रायः घेरा बनाने या बाढ़ लगाने के लिये यह बहुत ही उत्तम और उपयोगी होता है। जाड़े में इसमें खूब फूल लगते हैं जिनमें से बहुत अच्छी सुगंध निकलती है। युरोप में इन फूलों से कई प्रकार के इत्र और सुगंधित द्रव्य बनाए जाते हैं।

पहँसुल—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रह = झुका हुआ + शूल] हँसिया के आकार का तरकारी काटने का एक औजार।

पह*†—संज्ञा स्त्री० दे० "पौ"। उ०—प्रफुलित कमल गुँजार करत अलि पह फाटी कुमुदिनि कुँभिलानी।—सूर।

पहचनवाना—क्रि० स० [हिं० पहचानना का प्रेरण०] पहचानने का काम कराना।

पहचान—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रत्यभिज्ञानं वा परिचयन] (१) पहचानने

की क्रिया या भाव। यह ज्ञान कि यह वही व्यक्ति या वस्तु विशेष है जिसे मैं पहले से जानता हूँ। देखने पर यह जान लेने की क्रिया या भाव कि यह अमुक व्यक्ति या वस्तु है। जैसे, गवाह मुलजिमों की पहचान न कर सका।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) भेद या विवेक करने की क्रिया या भाव। किसी का गुण, मूल्य या योग्यता जानने की क्रिया या भाव। जैसे, (क) तुम भले बुरे की पहचान नहीं कर सकते। (ख) जवाहिरात की पहचान जौहरी कर सकता है। (३) पहचानने की सामग्री। किसी वस्तु से संबंध रखनेवाली ऐसी बातें जिनकी सहायता से वह अन्य वस्तुओं से अलग की जा सके। किसी वस्तु की विशेषता प्रकट करनेवाली बातें। लक्षण। निशानी। जैसे, (क) मुझे उनके मकान की पहचान बताओ तो मैं वहाँ जा सकता हूँ। (ख) अगर यह कमीज तुम्हारी है तो इसकी कोई पहचान बतलाओ। (४) पहचानने की शक्ति या वृत्ति। अंतर या भेद समझने की शक्ति। एक वस्तु को दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओं से पृथक् करने की योग्यता। किसी वस्तु का गुण, मूल्य अथवा योग्यता समझने की शक्ति। विवेक। तमीज। जैसे, (क) तुममें खोटे खरे की पहचान नहीं है। (ख) तुममें आदमी की पहचान नहीं है। (५) जान पहचान। परिचय। (क्व०)। जैसे, (क) हमारी उनकी पहचान बिलकुल नई है। (ख) तुम्हारी पहचान का कोई आदमी हो तो उससे मिलो।

पहचानना-क्रि० स० [हिं० पहचान] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति को देखते ही जान लेना कि यह कौन व्यक्ति क्या वस्तु है। यह ज्ञान करना कि यह वही वस्तु या व्यक्ति विशेष है जिसे मैं पहले से जानता हूँ। चीन्हना। जैसे, (क) दिनों पीछे मिलने पर भी उसने मुझे पहचान लिया। (ख) पहचानो तो यह कौन फल है। (२) वस्तु या व्यक्ति के स्वरूप को इस प्रकार जानना कि वह जब कभी इंद्रियगोचर हो तब इस बात का निश्चय हो सके कि वह कौन अथवा क्या है। किसी वस्तु की शरीराकृति, रूप रंग अथवा शक्ल सूरत से परिचित होना। जैसे, (क) मैं उन्हें चार बरस से पहचानता हूँ। (ख) तुम इनका मकान पहचानते हो, तो चलकर बता न दो। (३) एक वस्तु का दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओं के भेद करना। अंतर समझना या करना। बिलगाना। विवेक करना। तमीज करना। जैसे, असल और नकल को पहचानना जरा टेढ़ा काम है। (४) किसी वस्तु का गुण या दोष जानना। किसी की योग्यता या विशेषता से अभिज्ञ होना। किसी व्यक्ति के स्वभाव अथवा चरित्र की विशेषता को जानना। जैसे, तुम्हारा उनका इतने दिनों तक साथ रहा, लेकिन तुम उन्हें पहचान न सके।

पहटना†-क्रि० स० [सं० प्रखेट, प्रा० पहेट = शिकार] भगा देने अथवा पकड़ लेने के लिये किसी के पीछे दौड़ना। पीछा करना। खदेड़ना।

क्रि० स० [देश०] पैना करना। धार को रगड़कर तेज़ करना।

पहटा†-संज्ञा पुं० (१) दे० "पाटा"। (२) दे० "पेठा"।

पहन*-संज्ञा पुं० दे० "पाहन" वा "पाषाण"। उ०—(क) अदिन आय जो पहुँचे काऊ। पहन उड़ाय बहै सो बाऊ।—जायसी। (ख) अब की घड़ी चिनग तेहि छूटे। जरहिं पहाड़ पहन सब फूटे।—जायसी।

संज्ञा पुं० [फा०] वह दूध जो बच्चे को देखकर वात्सल्य भाव के कारण माँ की छातियों में भर आवे और टपकने को हो।

पहनना-क्रि० स० [सं० परिधान] (कपड़े अथवा गहने को) शरीर पर धारण करना। परिधान करना।

पहनवाना-क्रि० स० [हिं० 'पहनना' का प्रे०] किसी के द्वारा किसी को वस्त्र या आभूषण धारण कराना। किसी और के द्वारा किसी को कुछ पहनाना।

पहना†-संज्ञा पुं० दे० "पनहा"।

संज्ञा पुं० [फा० पहन] वह दूध जो बच्चे को देखकर वात्सल्य भाव के कारण माँ के स्तनों में भर आया हो और टपकता सा जान पड़े।

क्रि० प्र०—फूटना।

पहनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पहनना] (१) पहनने की क्रिया या भाव। जैसे, जरा आपकी पहनाई देखिए। (२) जो पहनाने के बदले में दिया जाय। पहनाने की मजदूरी या उजरत। जैसे, चूड़ी पहनाई।

पहनाना-क्रि० स० [हिं० पहनना] दूसरे को कपड़े, आभूषण आदि धारण कराना। किसी के शरीर पर पहनने की कोई चीज धारण कराना। दूसरे के शरीर पर यथास्थान रखना या ठहराना। जैसे, कुर्ता, अँगूठी, माला, जूता आदि पहनाना।

पहनावा-संज्ञा पुं० [हिं० पहनना] (१) ऊपर पहनने के मुख्य मुख्य कपड़े। सिले या बिन सिले सब कपड़े जो ऊपर पहने जायँ। परिच्छद। परिधेय। पोशाक। (२) सिर से पैर तक के ऊपर पहनने के सब कपड़े। पाँचों कपड़े। सिरोपाव। (३) विशेष अवस्था, स्थान अथवा समाज में ऊपर पहने जानेवाले कपड़े। वे कपड़े जो किसी खास अवसर पर देश या समाज में पहने जाते हों। जैसे, दरबारी पहनावा, फौजी पहनावा, ब्याह का पहनावा, काबु-

लियों का पहनावा, चीनियों का पहनावा आदि। (४) कपड़े पहनने का ढंग या चाल। रुचि अथवा रीति की भिन्नता के कारण विशेष देश या समाज के पहनावे की विशेषता।

पहपट-संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का गीत जो स्त्रियाँ गाया करती हैं। (२) शोरगुल। हल्ला। कोलाहल। (३) किसी की बदनामी का शोर। बदनामी या अपवाद का शोर। बदनामी की जोर शोर से चर्चा। (४) ऐसी बदनामी जो कानाफूसी द्वारा की जाय। गुप्त अपवाद या निंदा। किसी के दोष की ऐसी चर्चा जो उससे छिपा कर की जाय। (बुंदेलखंड तथा अवध)। (५) छल। ठगी। धोखा। फरेब।

पहपटबाज-संज्ञा पुं० [हिं० पहपट + फा० बाज] [संज्ञा पहपटबाजी] (१) शोर गुल करने या करानेवाला। हल्ला करने या करानेवाला। फसादी। शरारती। झगड़ालू। (२) छलिया। ठग। धोखेबाज। फरेबी।

पहपटबाजी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पहपट + फा० बाजी] (१) झगड़ालूपन। कलहप्रियता। शोर गुल कराने का काम या आदत। (२) छलियापन। ठगी। मक्कारी।

पहपटहाई†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पहपट + हाई (प्रत्य०)] पहपट करानेवाली। बात का बतंगड़ करनेवाली। झगड़ा कराने या लगानेवाली।

पहर-संज्ञा पुं० [सं० प्रहर] (१) एक दिन का चतुर्थांश। अहोरात्र का आठवाँ भाग। तीन घंटे का समय। (२) समय। जमाना। युग। जैसे, (क) कलिकाल का पहर न है? (ख) किसी का क्या दोष पहर ही ऐसा चढ़ा है।

क्रि० प्र०—चढ़ना।—लगना।

पहरना†-क्रि० स० दे० "पहनना"।

पहरा-संज्ञा पुं० [हिं० पहर] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति के आसपास एक या अधिक आदमियों का यह देखते रहने के लिये बैठना (अथवा बैठाया जाना) कि वह निर्दिष्ट स्थान से हटने या भागने न पावे। रक्षकनियुक्ति। रक्षा अथवा निगहबानी का प्रबंध। चौकी।

यौ०—पहरा चौकी।

मुहा०-**पहरा बदलना** = (१) नए रक्षक या रक्षकों की नियुक्ति करना। नया रक्षक नियुक्त कर पुराने को छुट्टी देना। रक्षक बदलना। (२) नए रक्षकों का नियुक्त होना। रक्षा का नया प्रबंध होना। रक्षक बदलना। **पहरा बैठना** = किसी वस्तु या व्यक्ति के आस पास रक्षक बैठाया जाना। चौकीदार नियुक्त होना। **पहरा बैठाना** = चौकीदार बैठाना। रक्षक नियुक्त करना।

(२) किसी व्यक्ति या वस्तु के संबंध में यह देखते रहने की क्रिया कि वह निर्दिष्ट स्थान से हट न सके। निर्दिष्ट स्थान में किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति की रक्षा करने का कार्य। रखवाली। हिफाजत। निगहबानी।

यौ०—पहरा चौकी।

मुहा०-**पहरा देना** = रखवाली करना। निगहबानी करना। चौकी देना। **पहरा पड़ना** = रक्षक बैठा रहना। संतरी या चौकीदार का किसी स्थान पर खड़ा रहना। रक्षा का प्रबंध रहना। जैसे, उनके दरवाजे पर आठ पहर पहरा पड़ता है।

(३) उतना समय जितने में एक रक्षक अथवा रक्षकदल को रक्षाकार्य करना पड़ता है। एक पहरेदार या पहरेदारों के एक दल का कार्यकाल। तैनाती। नियुक्ति। जैसे, अपने पहरे भर जाग लो फिर जो आवेगा वह चाहे जैसा करे।

विशेष—एक व्यक्ति अथवा एक रक्षकदल की नियुक्ति पहले एक पहर के लिये होती थी। उसके बाद दूसरे व्यक्ति या दल की नियुक्ति होती थी और पहले को छुट्टी मिलती थी। उपर्युक्त प्रबंध, कार्य और कार्यकाल की "पहरा" संज्ञा होने का यही कारण जान पड़ता है।

(४) वे रक्षक या चौकीदार जो एक समय में काम कर रहे हों। एक साथ काम करते हुए चौकीदार। रक्षकदल। गारद। (क्व०)। जैसे, (क) पहरा खड़ा है। (ख) पहरा आ रहा है। (५) चौकीदार का गश्त या फेरा। रात में निश्चित समय पर रक्षक का भ्रमण या चक्कर।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(६) चौकीदार की आवाज। फेरे में चौकीदार का सोतों को सावधान करने के लिये कोई वाक्य बार बार उच्च स्वर से कहना। जैसे, आज क्या बात है जो अब तक पहरा सुनाई न दिया? (७) पहरे में रहने की स्थिति। किसी मनुष्य की ऐसी स्थिति जिसमें उसके इर्द गिर्द रक्षक या सिपाही तैनात हों। हिरासत। हवालात। नजरबंदी।

मुहा०-**पहरे में देना** = हिरासत में देना। हवालात भेजना। नजरबंद कराना। **पहरे में रखना** = हिरासत में रखना। हवालात में रखना। नजरबंद रखना। **पहरे में होना** = हिरासत में होना। नजरबंद होना। हवालात में होना। जैसे, आज चार रोज से वे बराबर पहरे में हैं।

(८) *† समय। युग। जमाना। उ०—कहें कबीर सुनो भाई साधो ऐसा 'पहरा' आवेगा। बहन भाँजी कोई न पूछे साली न्योत जिमावेगा।—कबीर।

संज्ञा पुं० [हिं० पावँ + रा, पौरा] पैर रखने का फल। आ जाने का शुभ या अशुभ प्रभाव। पौर। जैसे, बहू का पौहरा अच्छा नहीं है, जब से आई है एक न एक आफत लगी रहती है। (स्त्रि०)

मुहा०-**अच्छा पहरा** = ऐसा पहरा जिसमें आरंभ किया हुआ कार्य शीघ्र पूरा हो जाय। **बुरा पहरा** = ऐसा पहरा जिसमें आरंभ किया हुआ कार्य जल्दी समाप्त न हो। **भारी पहरा** = बुरा पहरा। **हलका पहरा** = अच्छा पहरा।

पहराना†–क्रि० स० दे० "पहनाना"।

पहरावनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पहरावना] वह पहनावा या पोशाक जो कोई व्यक्ति किसी पर प्रसन्न होकर उसे दान करे। वह पोशाक जो कोई बड़ा छोटे को दे। खिलअत।

पहरावा–संज्ञा पुं० दे० "पहनावा"।

पहरी–संज्ञा पुं० [सं० प्रहरी] (१) पहरेदार। चौकीदार। रक्षक। पहरा देनेवाला। (२) एक जाति जिसका काम पहरा देना होता था।

विशेष–आजकल इस जाति के लोग विविध व्यवसाय और काम धंधे में लगे हैं। परंतु प्राचीन समय में इस जाति के लोग विशेषतः पहरा देने का ही काम करते थे। गाँव में रहनेवाले पहरी अब तक अधिकतर चौकीदार ही होते हैं। ये लोग सूअर भी पालते हैं। प्रायः चतुर्वर्ण के हिंदू इनका स्पर्श किया हुआ जल नहीं पीते।

पहरुआ†–संज्ञा पुं० दे० "पहरू"।

पहरू–संज्ञा पुं० [हिं० पहरा + ऊ (प्रत्य०)] पहरा देनेवाला। चौकीदार। रक्षक। पहरी। संतरी।

पहल–संज्ञा पुं० [फा० पहलू, सं० पटल] (१) किसी घन पदार्थ के तीन या अधिक कोरों अथवा कोनों के बीच की समतल भूमि। किसी वस्तु की लंबाई चौड़ाई और मोटाई अथवा गहराई के कोनों अथवा रेखाओं से विभक्त समतल अंश। किसी लंबे चौड़े और मोटे अथवा गहरे पदार्थ के बाहरी फैलाव की बँटी हुई सतह पर की चौरस कटाव या बनावट। बगल। पहलू। बाजू। तरफ। जैसे, खंभे के पहल, डिबिया के पहल आदि।

क्रि० प्र०—काटना।—तराशना।—बनाना।

यौ०—पहलदार। चौपहल। अठपहल।

मुहा०–पहल निकालना = पहल बनाना। किसी पदार्थ के पृष्ठ देश या बाहरी सतह को तराश या छीलकर उसमें त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि पैदा करना। पहल तराशना।

(२) धुनी रूई या ऊन की मोटी और कुछ कड़ी तह या परत। जमी हुई रूई अथवा ऊन। रजाई तोशक आदि में भरी हुई रूई की परत। (३) रजाई तोशक आदि से निकाली हुई पुरानी रूई जो दबने के कारण कड़ी हो जाती है। पुरानी रूई। *(४) तह। परत। उ०–मायके की सखी सों। मँगाइ फूल मालती के चादर सों ढाँपे छवाइ तोसक पहल में।—रघुनाथ।

संज्ञा पुं० [हिं० पहला] किसी कार्य, विशेषतः ऐसे कार्य का आरंभ जिसके प्रतिकार या जवाब में कुछ किए जाने की संभावना हो। छेड़। जैसे, इस मामले में पहल तो तुमने ही की है, उनका क्या दोष ?

पहलदार–वि० [हिं० पहल + फा० दार] जिसमें पहल हों। पहलूदार। जिसमें चारों ओर अलग अलग बँटी हुई सतहें हों।

पहलनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पहल] सोनारों का एक औजार जिसमें कोढ़े को पहनाकर उसे गोल करते हैं। यह लोहे का होता है।

पहलवान–संज्ञा पुं० [फा०] [संज्ञा पहलवानी] (१) कुश्ती लड़नेवाला बली पुरुष। कुश्तीबाज। बलवान और दाँव पेच में अभ्यस्त। मल्ल। (२) बलवान तथा डील डौलवाला। वह जिसका शरीर यथेष्ट हृष्ट पुष्ट और बलसंयुक्त हो। मोटा तगड़ा और ठोस शरीर का आदमी। जैसे, वह तो खासा पहलवान दिखाई पड़ता है।

पहलवानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कुश्ती लड़ने का काम। कुश्ती लड़ना। (२) कुश्ती लड़ने का पेशा। मल्लव्यवसाय। जैसे, उनके यहाँ तीन पीढ़ियों से पहलवानी होती आ रही है। (३) पहलवान होने का भाव। बल की अधिकता और दाव पेच आदि में कुशलता। शरीर, बल और दाव पेच आदि का अभ्यास। जैसे, मुकाबिला पड़ने पर सारी पहलवानी निकल जायगी।

पहलवी–संज्ञा पुं० [फा०] दे० "पह्लवी"।

पहला–वि० [सं० प्रथम, प्रा० पहिलो] [स्त्री० पहली] जो क्रम के विचार से आदि में हो। किसी क्रम (देश या काल) में प्रथम गणना में एक के स्थान पर पड़नेवाला। एक की संख्या का पूरक। घटना, अवस्थिति, स्थापना आदि के विचार से जिसका स्थान सब से आगे हो। प्रथम। औवल। जैसे, पानीपत का पहला युद्ध, ग्रंथमाला की पहली पुस्तक, पाँत का पहला आदमी आदि।

† संज्ञा पुं० [हिं० पहल] जमी हुई पुरानी रूई। पहल।

पहलू–संज्ञा पुं० [फा०] (१) शरीर में काँख के नीचे वह स्थान जहाँ पसलियाँ होती हैं। बगल और कमर के बीच का वह भाग जहाँ पसलियाँ होती हैं। कक्ष का अधोभाग। पार्श्व। पाँजर।

मुहा०–**(किसी का)पहलू गरम करना**=किसी के शरीर से विशेषतः प्रेयसी या प्रेमपात्र का प्रेमी के शरीर से सटकर बैठना। किसी के पहलू से अपना पहलू सटा या लगाकर बैठना। किसी के अति समीप बैठकर उसे सुखी करना। **(किसी से) पहलू गरम करना** = किसी को विशेषतः प्रेयसी या प्रेमपात्र को शरीर से सटा कर बैठाना। किसी को अपनी बगल में इस प्रकार बैठाना कि उसका पहलू अपने पहलू से लगा रहे। मुहब्बत में बैठाना। **पहलू में बैठना** = किसी के पहलू से अपना पहलू लगाकर बैठना। **किसी का पहलू गरम करना** = बिलकुल सटकर बैठना। अति समीप बैठना। **पहलू में बैठाना** = किसी के पहलू को अपने पहलू से लगाकर बैठाना। बिलकुल सटाकर बैठाना। अति समीप बैठाना। **पहलू में रहना** = पहलू में बैठा रहना। पहलू गरम करना। लग या सटकर रहना। आस पास रहना। अति समीप

रहना। (२) किसी वस्तु का दायाँ अथवा बायाँ भाग। पार्श्व भाग। बाजू। बगल। (३) सेना का दाहना या बायाँ भाग। सैन्यपार्श्व। फौज का पहलू। जैसे, वह अपने दो हजार सवारों के साथ शत्रु-सेना के दायें पहलू पर बाज की तरह टूट पड़ा।

मुहा०–पहलू दबाना =(१) आक्रमणकारी सेना का विपक्षी की सेना अथवा नगर को एक ओर बराबर में पहुँच जाना या जा पड़ना। अपनी सेना को बढ़ाते हुए विपक्ष की सेना या नगर के दाहने या बाएँ पहुँच जाना। शत्रु की सेना या नगर पर एक ओर से आक्रमण कर देना। जैसे, सायंकाल से कुछ पहले ही उसने शाही फौज का पहलू जा दबाया। (२) अपनी सेना के एक पहलू को कुछ पीछे रखते और दूसरे को आगे करते हुए, चढ़ाई में आगे बढ़ना। एक पहलू को दबाते और दूसरे को उभारते हुए आगे बढ़ना। **पहलू बचाना** =(१) मुठभेड़ बचाते हुए निकल जाना। कतराकर निकल जाना। (२) किसी काम से जी चुराना। टाल जाना। जैसे, जब जब ऐसा मौका आता है तब तब आप पहलू बचा जाते हैं। **पहलू पर होना** = सहायक होना। मददगार होना। पक्ष पर होना। जैसे, तुम्हारे पहलू पर आज कौन है?

(४) करवट। बल। दिशा। तरफ। जैसे, (क) किसी पहलू चैन नहीं पड़ता। (ख) हर पहलू से देख लिया, चीज अच्छी है। (५) पड़ोस। आसपास। किसी के अति निकट का स्थान। पार्श्व।

मुहा०–पहलू बसाना = किसी के समीप में जा रहना। पड़ोस आबाद करना। पड़ोसी बनना।

(६) [वि० पहलूदार] किसी वस्तु के पृष्ठदेश पर का समतल कटाव। पहल। जैसे, इस खंभे में आठ पहलू निकालो।

क्रि० प्र०–तराशना।–निकालना।

(७) विचारणीय विषय का कोई एक अंग। किसी वस्तु के संबंध में उन बातों में से एक जिन पर अलग अलग विचार किया जा सकता हो अथवा करने का प्रयोजन हो। किसी विषय के उन कई रूपों में से एक जो विचार-दृष्टि से दिखाई पड़े। गुण दोष, भलाई बुराई आदि की दृष्टि से किसी वस्तु के भिन्न भिन्न अंग। पक्ष। जैसे, (क) अभी आपने इस मामले के एक ही पहलू पर विचार किया है, और पहलुओं पर भी विचार कर लीजिए तब कोई मत स्थिर कीजिए। (ख) उठ चलने का सोचता था पहलू।—नसीम। (८) संकेत। गुप्त सूचना। गूढ़ाशय। वाक्य का ऐसा आशय जो जान बूझकर गुप्त रखा गया हो और बहुत सोचने पर खुले। किसी वाक्य या शब्द के साधारण अर्थ से भिन्न और किंचित् छिपा हुआ दूसरा अर्थ। ध्वनि। व्यंग्यार्थ। उ०–खोटी बातें हैं और पहलूदार। हाँ तेरे दिल में सीमवर है।—कोई उर्दू कवि।

पहले–अव्य० [हिं० पहला] (१) आरंभ में। सर्व-प्रथम। आदि में। शुरू में। जैसे, यहाँ आने पर पहले आप किसके यहाँ गए?

यौ०–पहले पहल।

(२) देश-क्रम में प्रथम। स्थिति में पूर्व। जैसे, उनका मकान मेरे मकान से पहले पड़ता है। (३) काल-क्रम में प्रथम। पूर्व में। आगे। पेश्तर। जैसे, (क) पहले नमकीन खा लो तब मीठा खाना। (ख) यहाँ आने के पहले आप कहाँ रहते थे? (४) बीते समय में। पूर्वकाल में। गत काल में। प्राचीन काल में। अगले जमाने में। जैसे, (क) पहले ऐसी बातें सुनने में भी नहीं आती थीं। (ख) अजी पहले के लोग अब कहाँ हैं?

पहलेज–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का खरबूजा जो कुछ लंबोतरा होता है। यह स्वाद में गोल खरबूजे की अपेक्षा कुछ हीन होता है।

पहले पहल–अव्य० [हिं० पहले] पहली बार। सब से पहले। सर्वपूर्व। सर्वप्रथम। अौवल या पहली मरतबा। जैसे, जब मैंने पहले पहल आपके दर्शन किए थे तब से आप बहुत कुछ बदल गए हैं।

पहलौंठा–वि० दे० ‘‘पहलौठा’’।

पहलौंठी–संज्ञा स्त्री० दे० ‘‘पहलौठी।

पहलौठा–वि० [हिं० पहल + औठा (प्रत्य०)] [स्त्री० पहलौठी] पहली बार के गर्भ से उत्पन्न (लड़का)। प्रथम गर्भजात।

पहलौठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पहलौठा] सबसे पहली जनन-क्रिया। सब से पहला गर्भमोचन। प्रथम प्रसव। पहले पहल बच्चा जनना। जैसे, यह उनका पहलौठी का लड़का है।

पहाड़–संज्ञा पुं० [सं० पाषाण] [स्त्री० अल्प० पहाड़ी] (१) पत्थर चूने मिट्टी आदि की चट्टानों का ऊँचा और बड़ा समूह जो प्राकृतिक रीति से बना हो। पर्वत। गिरि। (विवरण के लिये दे० ‘‘पर्वत’’)।

मुहा०–पहाड़ उठाना =(१) भारी काम सिर पर लेना। (२) भारी काम पूरा करना। **पहाड़ कटना** = बहुत भारी और कठिन काम हो जाना। ऐसे काम का हो जाना जो असंभव जान पड़ता रहा हो। बड़ी भारी कठिनाई दूर होना। संकट कटना। **पहाड़ काटना** = असंभव काम कर डालना। बहुत भारी काम कर डालना। ऐसा काम कर डालना जिसके होने की बहुत कम आशा रही हो। संकट से पीछा छुड़ाना। **पहाड़ टूटना या टूट पड़ना** = अचानक कोई भारी आपत्ति आ पड़ना। महान संकट उपस्थित होना। एकाएक भारी

मुसीबत आ पड़ना। जैसे, बैठे बैठाए बेचारे पर पहाड़ टूट पड़ा। **पहाड़ से टक्कर लेना** = अपने से बहुत अधिक बलवान् व्यक्ति से शत्रुता ठानना। बड़े से बैर करना। जबरदस्त से मुकाबिला करना।

(२) किसी वस्तु का बहुत भारी ढेर। किसी वस्तु का बहुत बड़ा समूह। पहाड़ के समान ऊँची राशि या ढेर। जैसे, बात की बात में वहाँ पुस्तकों का पहाड़ लग गया।

वि० (३) पहाड़ की तरह भारी चीज़। बहुत बोझल चीज। अतिशय गुरु वस्तु। जैसे, तुम्हें तो पाव भर का बोझ भी पहाड़ मालूम पड़ता है। (४) वह जिससे निस्तार न हो सके। वह जिसका कुछ अंत या ठौर ठिकाना न किया जा सके। वह जिसको समाप्त या शेष न कर सके। जैसे, (क) आज की रात हमारे लिये पहाड़ हो गई है। (ख) यह कन्या हमारे लिये पहाड़ हो गई है। (५) अति कठिन कार्य्य। दुष्कर काम। दुस्साध्य कर्म। जैसे, तुम तो हर एक काम ही को पहाड़ समझते हो।

पहाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० प्रस्तार ?] किसी अंक के गुणनफलों की क्रमागत सूची या नकशा। किसी अंक के एक से लेकर दस तक के साथ गुणा करने के फल जो सिलसिले के साथ दिए गए हों। गुणनसूची। जैसे, दो का पहाड़ा, चार का पहाड़ा आदि।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—लिखना।—सुनाना।

पहाड़िया†-वि० दे० "पहाड़ी"।

पहाड़ी-वि० [हिं० पहाड़ + ई (प्रत्य०)] (१) पहाड़ पर रहने या होनेवाला। जो पहाड़ पर रहता या होता हो। जैसे, पहाड़ी जातियाँ, पहाड़ी मैना, पहाड़ी आलू। (२) पहाड़ संबंधी। जिसका संबंध पहाड़ से हो। जैसे, पहाड़ी नदी, पहाड़ी देश।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पहाड़ + ई (प्रत्य०)] (१) छोटा पहाड़। (२) पहाड़ के लोगों की गाने की एक धुन। (३) संपूर्ण जाति की एक प्रकार की रागिनी जिसके गाने का समय आधी रात है।

पहार†-संज्ञा पुं० दे० "पहाड़"।

पहारी-वि० दे० "पहाड़ी"।

संज्ञा स्त्री० दे० "पहाड़ी"।

पहिचान-संज्ञा स्त्री० दे० "पहचान"।

पहिचानना-क्रि० स० दे० "पहचानना"।

पहित, पहिती*†-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रहित = सालन] पकी हुई दाल। उ०-(क) दधि मधु मिठाई खीर षटरस विविध व्यंजन जे सबै। लाडू जलेबी पहित भात सुभाँति सिद्ध किए तबै।-पद्माकर। (ख) मूँग माष अरहर की पहिती चनक कनक सम दारी जी।-रघुराज।

पहिनना-क्रि० स० दे० "पहनना"।

पहिनाना-क्रि० स० दे० "पहनाना"।

पहिनावा-संज्ञा पुं० दे० "पहनावा"।

पहियाँ*‡-अव्य० दे० "पहँ"। उ०-कहै कवि तोष जब जैसो जैसो कीन्हों अब कहत न बतियाँ वै, तैसी हम पहियाँ।-तोष।

पहिया-संज्ञा पुं० [सं० परिधि ?] (१) गाड़ी, इंजन अथवा अन्य किसी कल में लगा हुआ लकड़ी या लोहे का वह चक्कर जो अपनी धुरी पर घूमता है और जिसके घूमने पर गाड़ी या कल भी चलती है। गाड़ी या कल में वह चक्राकार भाग जो गाड़ी या कल के चलने में घूमते हैं। चक्का। चाका। चक्र। (२) किसी कल का वह चक्राकार भाग जो अपनी धुरी पर घूमता है, व जिसके घूमने से समस्त कल को गति नहीं मिलती किंतु उसके अंश विशेष अथवा उससे संबद्ध अन्य वस्तु या वस्तुओं को मिलती है। चक्कर।

विशेष—यद्यपि धुरी पर घूमनेवाले प्रत्येक चक्र को पहिया कहना उचित होगा तथापि बोलचाल में किसी चलनेवाली चीज अथवा गाड़ी के जमीन से लगे हुए चक्र को ही पहिया कहते हैं। घड़ी के पहिये और प्रेस या मिल के इंजन के पहिये आदि को, जिनसे सारी कल को नहीं, उसके भाग विशेष अथवा उससे संबद्ध अन्य वस्तुओं को गति मिलती है, साधारणतः चक्का कहने की चाल है। पहिया कल का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका उपयोग केवल गति देने ही में नहीं होता, गति का घटाना बढ़ाना, एक प्रकार की गति से दूसरे प्रकार की गति उत्पन्न करना आदि कार्य भी उससे लिए जाते हैं। पुट्ठी, आरा, बेलन, आवन, धुरा, खोपड़ा, तितुला, लाग, हाल आदि गाड़ी के पहिये के खास खास पुर्जे हैं। इन सबके संयोग से वह बनता और काम करता है। इनके विवरण मूल शब्दों में देखो।

पहिरना†-क्रि० स० दे० "पहनना"।

पहिराना†-क्रि० स० दे० "पहनाना'।

पहिरावना†-क्रि० स० दे० "पहनाना"।

पहिरावनि, पहिरावनी-संज्ञा स्त्री० दे० "पहनावा (२)"। उ०-(क) सनमाने सुर सकल दीन पहिरावनि।-तुलसी। (ख) सब विचार पहिरावनि दीन्हीं।-तुलसी। (ग) केशवकंस दिवान पितान बराबर ही पहिरावनि दीन्हीं।-केशव।

पहिल*†-वि० दे० "पहला"।

क्रि० वि० दे० "पहले"।

पहिला-वि० [हिं० पहला] [स्त्री० पहिली] (१) दे० "पहला"। (२) प्रथम प्रसूता। पहले पहल ब्याई हुई। उ०-पहिला छेरी दुहला गाय। त्यहला भैंस पन्हातै जाय।—कोई कवि।

पहिले–अव्य० दे० "पहले"।

पहिलो*†–वि० दे० "पहला"।

पहिलौठा–वि० दे० "पहलौठा"।

पहिलौठी–वि० दे० "पहलौठी"।
संज्ञा स्त्री० दे० "पहलौठी"।

पहीति*†–संज्ञा स्त्री० दे० "पहिती" उ०—षट भाँति पहीति बनाय सची। पुनि पाँच सो व्यंजन रीति रची।—केशव।

पहुँच–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रभूत = ऊपर गया हुआ, प्रा० पहूच] (१) किसी स्थान तक गति। किसी स्थान तक अपने को ले जाने की क्रिया या शक्ति। जैसे, टोपी बहुत ऊँचे पर है, मेरी पहुँच के बाहर है। (२) किसी स्थान तक लगातार फैलाव। किसी स्थल पर्य्यंत विस्तार। (३) समीप तक गति। गुजर। पैठ। प्रवेश। रसाई। जैसे, यदि उन तक आपकी पहुँच हो तो मेरी यह विनय अवश्य सुनाइए। (४) किसी वस्तु या व्यक्ति के कहीं पहुँचने की सूचना। प्राप्तिसूचना। प्राप्ति। रसीद। जैसे, कृपया पत्र की पहुँच लिखिएगा।

क्रि० प्र०—भेजना।—लिखना।

(५) किसी विषय को समझने या ग्रहण करने की शक्ति। मर्म या आशय समझने की शक्ति। पकड़। दौड़। जैसे, यह विषय बुद्धि की पहुँच के बाहर है। (६) जानकारी का विस्तार। अभिज्ञता की सीमा। परिचय। प्रवेश। दखल। जैसे, इस विषय में इनकी अच्छी पहुँच है।

पहुँचना–क्रि० अ० [सं० प्रभूत = ऊपर गया हुआ, प्रा० पहूच + ना (प्रत्य०)] (१) एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान में प्रस्तुत या प्राप्त होना। गति द्वारा किसी स्थान में प्राप्त या उपस्थित होना। जैसे, लड़कों का पाठशाला में पहुँचना, घड़े के अंदर हाथ पहुँचना। उ०—सारँग ने सारँग गह्यो सारँग पहुँच्यो आय।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—**पहुँचनेवाला** = बड़े बड़े लोगों के यहाँ जानेवाला। जहाँ साधारण लोग नहीं जा सकते उन स्थानों में जानेवाला। जिसकी गति या प्रवेश बड़े बड़े स्थानों या लोगों में हो। **पहुँचा हुआ** = ईश्वर के निकट पहुँचा हुआ। ईश्वर की समीपता प्राप्त। सिद्ध। जैसे, वह पहुँचा हुआ महात्मा है।

(२) किसी स्थान तक लगातार फैलना। कहीं तक विस्तृत होना। जैसे, (क) वहाँ समुद्र पहाड़ के निकट तक पहुँचा है। (ख) मेरा हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता। (३) एक स्थिति या अवस्था से दूसरी स्थिति या अवस्था को प्राप्त होना। एक हालत से दूसरी हालत में जाना। जैसे, वे एक निर्धन किसान के लड़के होकर भी प्रधान मंत्री के पद पर पहुँच गए।

संयो० क्रि०—जाना।

(४) घुसना। पैठना। प्रविष्ट होना। समाना। जैसे, कपड़ों में सील पहुँचना। दिमाग में ठंढक पहुँचना। (५) किसी के अभिप्राय या आशय को जान लेना। किसी बात का मुख्य अर्थ समझ में आ जाना। गूढ़ अर्थ अथवा आंतरिक आशय को ज्ञात कर लेना। ताड़ना। मर्म जान लेना। समझना। जैसे, अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, मैं आपके मतलब तक पहुँच गया।

संयो० क्रि०—जाना।

(६) समझने में समर्थ होना। किसी विषय की कठिन बातों के समझने की सामर्थ्य रखना। दूर तक डूबना। जानकारी रखना। जैसे, (क) कानून में वे अच्छा पहुँचते हैं। (ख) इस विषय में वे कुछ भी नहीं पहुँचते।

मुहा०–**पहुँचनेवाला** = पता या खबर रखनेवाला। जानकार। भेद या रहस्य जानने में समर्थ। छिपी बातों का ज्ञान रखनेवाला। जैसे, वह बड़ा पहुँचनेवाला है, उससे यह बात अधिक दिनों छिपी न रहेगी। **पहुँचा हुआ** = (१) जिसे सब कुछ मालूम हो। गुप्त और प्रकट सब का जाननेवाला। अभिज्ञ। पता रखनेवाला। (२) दक्ष। निपुण। उस्ताद।

(७) आई अथवा भेजी हुई चीज किसी को मिलना। प्राप्त होना। मिलना। जैसे, खबर पहुँचना, सलाम पहुँचना। (८) परिणाम के रूप में प्राप्त होना। अनुभव में आना। अनुभूत होना। जैसे, (क) आपके वचनों से मुझे बड़ा सुख पहुँचा। (ख) आपकी दवा से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा। (९) किसी विषय में किसी के बराबर होना। समकक्ष होना। तुल्य होना। जैसे, किसी हिंदी कवि की कविता तुलसीदास की कविता को नहीं पहुँचती।

पहुँचा–संज्ञा पुं० [सं० प्रकोष्ठ अथवा हिं० पहुँचाना] हाथ की कुहनी के नीचे का भाग। बाहु के नीचे का वह भाग जो जोड़ पर मोटा और आगे की ओर पतला होता है। अग्रबाहु और हथेली के बीच का भाग। कलाई। गट्टा। मणिबंध।

मुहा०–**पहुँचा पकड़ना** = बलात् कुछ माँगने, पूछने अथवा तकाजा या झगड़ा करने के लिये किसी की कलाई पकड़ना। बलपूर्वक किसी से कोई काम करने के लिये उसे रोक रखना। जैसे, जब तुमने किसी का कर्ज नहीं खाया है तब तुम्हारा पहुँचा कौन पकड़ सकता है।

पहुँचाना–क्रि० स० [हिं० पहुँचन का सकर्मक रूप] (१) किसी वस्तु या व्यक्ति को एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान पर प्राप्त या प्रस्तुत कराना। किसी उद्दिष्ट स्थान तक गमन

कराना। उपस्थित कराना। ले जाना। जैसे, उनका नौकर मेरी किताब पहुँचा गया। (२) किसी के साथ जाना। किसी के साथ इसलिये जाना जिसमें वह अकेला न पड़े। (शिष्टाचार के लिये भी ऐसा किया जाता है)। उ०—जरा आप ही चलकर मुझे वहाँ पहुँचा आइए।

संयो० क्रि०—देना।

(३) किसी को स्थिति-विशेष में प्राप्त कराना। किसी को विशेष अवस्था तक ले जाना। जैसे, (क) उन्हें इस उच्च पद तक पहुँचानेवाले आप ही हैं। (ख) उन्होंने चिकित्सा न करके अपने भाई को इस दुरवस्था को पहुँचा दिया।

संयो० क्रि०—देना।

(४) प्रविष्ट कराना। घुसाना। पैठाना। जैसे, आँखों में तरी पहुँचाना। बरतन की पेंदी में गरमी पहुँचाना। (५) कोई चीज लाकर या ले जाकर किसी को प्राप्त कराना। जैसे, संध्या तक यह खबर उन्हें पहुँचा देना। (६) परिणाम के रूप में प्राप्त कराना। अनुभव कराना। जैसे, उन्होंने अपने उपदेशों से मुझे बड़ा लाभ पहुँचाया। आपकी लापरवाही ने उन्हें बहुत हानि पहुँचाई। (७) किसी विषय में किसी के बराबर कर देना। समकक्ष कर देना। समान बना देना।

संयो० क्रि०—देना।

पहुँची-संज्ञा स्त्री० [हिं० पहुँचा] हाथ की कलाई पर पहनने का एक आभूषण जिसमें बहुत से गोल या कँगूरेदार दाने कई पंक्तियों में गूँथे हुए होते हैं। उ०—पग नूपुर औ पहुँची कर कंजन, मंजु बनी बनमाल हिये।—तुलसी।

पहुनई†-संज्ञा स्त्री० दे० "पहुनाई"।

पहुना†-संज्ञा पुं० दे० "पाहुना"।

पहुनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पहुना + ई (प्रत्य०)] (१) किसी के पाहुने होने का भाव। अतिथि रूप में कहीं जाना या आना। मेहमान होकर जाना या आना। उ०—बारंबार पहुनई ऐहैं राम लखन दोउ भाई।—तुलसी।

क्रि० प्र०—आना।—जाना।

मुहा०—पहुनाई करना = दूसरों के यहाँ खाते फिरना। आतिथ्य पर चैन करना। भोज या दावतें उड़ाना। जैसे, आजकल तो तुम खूब पहुनाई करते हो।

(२) आए हुए व्यक्ति का भोजन पान आदि से सत्कार करना। अतिथि-सत्कार। मेहमानदारी। खातिर तवाजा। उ०—(क) घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जहँ जहँ पहुनाई।—तुलसी। (ख) विविध भाँति होइहि पहुनाई।—तुलसी।

पहुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "पहुनाई"।

पहुन्नी†-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह पच्चर जो पल्ला या धरन आदि चीरते समय चिरे हुए अंश के बीच में इसलिये दे देते हैं कि आरे के चलाने के लिये यथेष्ट अंतर रहे।

पहुप*†-संज्ञा पुं० दे० "पुष्प"।

पहुम, पहुमि, पहुमी-संज्ञा स्त्री० दे० "पुहमी"।

पहुरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह चिपटी टाँकी जिससे गढ़े हुए पत्थर चिकने किए जाते हैं। मठरनी।

पहेरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "पहेली"।

पहेली-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रहेलिका] (१) ऐसा वाक्य जिसमें किसी वस्तु का लक्षण घुमा फिराकर अथवा किसी भ्रामक रूप में दिया गया हो और उसी लक्षण के सहारे उसे बूझने अथवा उसका नाम बताने का प्रस्ताव हो। किसी वस्तु या विषय का ऐसा वर्णन जो दूसरी वस्तु या विषय का वर्णन जान पड़े और बहुत सोच विचार से उस पर घटाया जा सके। बुझौवल।

क्रि० प्र०—बुझाना।—बूझना।

विशेष—पहेलियों की रचना में प्रायः ऐसा करते हैं कि जिस विषय की पहेली बनानी होती है उसके रूप, गुण, कार्य आदि को किसी अन्य वस्तु के रूप, गुण, कार्य बनाकर वर्णन करते हैं जिससे सुननेवाले को थोड़ी देर तक वही वस्तु पहेली का विषय मालूम होती है। पर समस्त लक्षण और और जगह घटाने से वह अवश्य समझ सकता है कि इसका लक्ष्य कुछ दूसरा ही है। जैसे, पेड़ में लगे हुए भुट्टे की पहेली है—"हरी थी मन भरी थी। राजा जी के बाग में दुशाला ओढ़े खड़ी थी"। श्रावण मास से यह किसी स्त्री का वर्णन जान पड़ता है। कभी कभी ऐसा भी करते हैं कि कुछ प्रसिद्ध वस्तुओं की प्रसिद्ध विशेषताएँ पहेली के विषय की पहचान के लिये देते हैं और साथ ही यह भी बता देते हैं कि वह इन वस्तुओं में से कोई नहीं है। जैसे, धागे से संयुक्त सुई की पहेली—"एक नयन वायस नहीं, बिल चाहत नहिं नाग। घटै बढ़ै नहिं चंद्रमा, चढ़ी रहत सिर पाग।" कुछ पहेलियों में उनके विषय का नाम भी रख देते हैं, जैसे "देखी एक अनोखी नारी। गुण उसमें एक सबसे भारी। पढ़ी नहीं यह अचरज आवै। मरना जीना तुरत बतावै।" इस पहेली का उत्तर नाड़ी है जो पहेली के नारी शब्द के रूप में वर्तमान है। जिन शब्दों द्वारा पहेली बनानेवाला उसका उत्तर देता है वे द्व्यर्थक होते हैं जिसमें दोनों ओर लगकर बूझने की चेष्टा करनेवालों को बहका सकें। अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने इस प्रकार की रचना को एक अलंकार माना है जिसका विवरण "प्रहेलिका" शब्द में मिलेगा।

बुद्धि के अनेक व्यायामों में पहेली बूझना भी एक अच्छा

व्यायाम है। बालकों को पहेलियों का बड़ा चाव होता है। इससे मनोरंजन के साथ उनकी बुद्धि की सामर्थ्य भी बढ़ती जाती है। युवक, प्रौढ़ और वृद्ध भी अकसर पहेलियाँ बूझ बुझाकर अपना मनोरंजन करते हैं।

(२) कोई बात जिसका अर्थ न खुलता हो। कोई घटना या कार्य जिसका कारण, उद्देश्य आदि समझ में न आते हों। घुमाव फिराव की बात। गूढ़ अथवा दुर्ज्ञेय व्यापार। कोई घटना जिसका भेद न खुलता हो। समझ में न आनेवाला विषय। समस्या। जैसे, (क) तुम्हारी तो हर एक बात ही पहेली होती है। (ख) कल रात की घटना सचमुच ही एक पहेली है।

मुहा०—पहेली बुझाना = अपने मतलब को घुमा फिराकर कहना। किसी अभिप्राय को ऐसी शब्दावली में कहना कि सुननेवाले को उसके समझने में बहुत हैरान होना पड़े। चक्करदार बात करना। जैसे, तुम्हारी तो आदत ही पहेली बुझाने की पड़ गई है, सीधी बात कभी मुँह से निकलती ही नहीं।

पह्लव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति। प्रायः प्राचीन पारसी या ईरानी।

विशेष—मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुस्तकों में जहाँ जहाँ, खश, यवन, शक, कांबोज, वाह्लीक, पारद आदि भारत के पश्चिम में बसनेवाली जातियों का उल्लेख है वहाँ वहाँ पह्लवों का भी नाम आया है। उपर्युक्त तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों में 'पह्लव' शब्द सामान्य रीति से पारस निवासियों या ईरानियों के लिये व्यवहृत हुआ है। मुसलमान ऐतिहासिकों ने भी इसको प्राचीन पारसीकों का ही नाम माना है। प्राचीन काल में पारस के सरदारों का 'पहलवान' कहलाना भी इस बात का समर्थक है कि 'पह्लव' पारसीकों का ही नाम है। शाशानीय सम्राटों के समय में पारस की प्रधान भाषा और लिपि का नाम पह्लवी पड़ चुका था। तथापि कुछ युरोपीय इतिहासविद् 'पह्लव' सारे पारस निवासियों की नहीं केवल पार्थिया निवासियों—पारदों—की अपभ्रंश संज्ञा मानते हैं। पारस के कुछ पहाड़ी स्थानों में प्राप्त शिलालेखों में 'पार्थव' नाम की एक जाति का उल्लेख है। डा० हाग आदि का कहना है कि यह 'पार्थव' पार्थियंस (पारदों) का ही नाम हो सकता है और 'पह्लव' इसी पार्थव का वैसा ही फारसी अपभ्रंश है जैसा आवेस्ता के मिथ्र (वै० मित्र) का 'मिहिर'। अपने मत की पुष्टि में ये लोग दो प्रमाण और भी देते हैं। एक यह कि अरमनी भाषा के ग्रंथों में लिखा है कि अरसक (पारद) राजाओं की राज-उपाधि 'पह्लव' थी। दूसरा यह कि पार्थिया-वासियों को अपनी शूर-वीरता और युद्धप्रियता का बड़ा घमंड था, और फारसी के 'पहलवान' और अरमनी के 'पहलवीय' शब्दों का अर्थ भी शूरवीर और युद्धप्रिय है। रही यह बात कि पारसवालों ने अपने आपके लिये यह संज्ञा क्यों स्वीकार की और आस पासवालों ने उनका इसी नाम से क्यों उल्लेख किया। इसका उत्तर उपर्युक्त ऐतिहासिक यह देते हैं कि पार्थियावालों ने पाँच सौ वर्ष तक पारस में राज्य किया और रोमनों आदि से युद्ध करके उन्हें हराया। ऐसी दशा में पह्लव शब्द का पारस से इतना घनिष्ट संबंध हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संस्कृत पुस्तकों में सभी स्थलों पर पारद और पह्लव को अलग अलग दो जातियाँ मानकर उनका उल्लेख किया है। हरिवंश पुराण में महाराज सगर के द्वारा दोनों की वेशभूषा अलग अलग निश्चित किए जाने का वर्णन है। पह्लव उनकी आज्ञा से 'श्मश्रुधारी' हुए और पारद मुक्तकेश रहने लगे। मनुस्मृति के अनुसार 'पह्लव' पारद, शक आदि के समान आदिम क्षत्रिय थे और ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण उन्हीं की तरह संस्कारभ्रष्ट हो शूद्र हो गए। हरिवंश पुराण के अनुसार महाराज सगर ने इन्हें बलात् क्षत्रियधर्म से पतित कर म्लेच्छ बनाया। इसकी कथा यों है कि हैहयवंशी क्षत्रियों ने सगर के पिता बाहु का राज्य छीन लिया था। पारद, पह्लव, यवन, कांबोज आदि क्षत्रियों ने हैहयवंशियों की इस काम में सहायता की थी। सगर ने समर्थ होने पर हैहयवंशियों को हराकर पिता का राज्य वापस लिया। उनके सहायक होने के कारण पह्लव आदि भी उनके कोपभाजन हुए। ये लोग राजा सगर के भय से भागकर उनके गुरु वशिष्ठ की शरण गए। वशिष्ठ ने इन्हें अभयदान दिया। गुरु का वचन रखने के लिये सगर ने इनके प्राण तो छोड़ दिए पर धर्म ले लिया, इन्हें क्षात्रधर्म से वहिष्कृत करके म्लेच्छत्व को प्राप्त करा दिया। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार 'पह्लवों' की उत्पत्ति वशिष्ठ की गौ शबला के हुंभारव (रंभाने) से हुई है। विश्वामित्र के द्वारा हरी जाने पर उसने वशिष्ठ की आज्ञा से लड़ने के लिये जिन अनेक क्षत्रिय जातियों को अपने शब्द से उत्पन्न किया, पह्लव उनमें पहले थे।

(२) एक प्राचीन देश जो पह्लव जाति का निवासस्थान था। वर्त्तमान पारस या ईरान का अधिकांश।

विशेष—फारसी कोशों में 'पह्लव' प्राचीन पारस के अंतर्गत एक प्रदेश तथा नगर का नाम है। कुछ लोगों के मत से इस्फाहान, राय, हमदान, निहावंद और आजरवाय-जान का सम्मिलित भूभाग ही उस काल का पह्लव प्रदेश है। पर ऐसा होने से 'पह्लव' को मीडिया या माद का ही

नामांतर मानना पड़ेगा। परंतु किसी भी पारसी या अराब इतिहासलेखक ने उसका पह्लव के नाम से उल्लेख नहीं किया है। पारद और पह्लव को एक कहनेवाले युरोपीय विद्वान् 'पह्लव' को पार्थिया प्रदेश का ही फारसी नाम मानते हैं। संस्कृत पुस्तकों में जिस तरह जाति के अर्थ में पह्लव का साधारणतः पारस निवासियों के लिये प्रयोग हुआ है उसी तरह देश के अर्थ में भी मोटे प्रकार से पारस के लिये ही उसका व्यवहार हुआ है।

पह्लवी–संज्ञा स्त्री० [फा० अथवा सं० 'पह्लव'] फारस या ईरान की एक प्राचीन भाषा। अति प्राचीन पारसी या ज़ंद अवस्ता की भाषा और आधुनिक फारसी के मध्यवर्ती काल की फारस की भाषा।

विशेष–पारसियों के प्राचीन धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रंथ इसी भाषा में मिलते हैं। उनकी मूलधर्म पुस्तक 'जंद अवस्ता' की टीका अनुवाद आदि के रूप में जितनी प्राचीन पुस्तकें मिलती हैं सब इसी भाषा में हैं। शाशान वंशीय सम्राटों के समय में यही राज-काज की भाषा थी। अतः इसकी उत्पत्ति का काल पारद सम्राटों का शासनकाल हो सकता है। इस भाषा में सेमिटिक शब्दों की बहुत भरमार है। शाशानीय काल के पहले की पह्लवी में ये शब्द और भी अधिक हैं। इसमें व्यवहृत प्रायः समस्त सर्वनाम अव्यय, क्रियापद बहुत से क्रियाविशेषण और संज्ञापद अनार्य्य या शामी हैं। इसके लिखने की दो शैलियाँ थीं। एक में शामी शब्दों की विभक्तियाँ भी शामी होती थीं; दूसरी में शामी शब्दों के साथ खाल्दीय विभक्ति लगती थी। इन दोनों रीतियों में यह भी प्रभेद था कि पहली में क्रियापदों का कोई रूपांतर न होता था परंतु दूसरी में उनके साथ अनेक प्रकार के पारसी प्रत्यय जोड़े जाते थे। पह्लवी ग्रंथसमूह मुख्यतः दो भागों में विभक्त हैं। एक भाग अवस्ता शास्त्र का अनुवाद मात्र है। दूसरे भाग के ग्रंथों में धर्म की व्याख्या और ऐतिहासिक उपाख्यान हैं। शामी शब्दों की अधिकता और विशेषतः उपर्युक्त शैलीभेद के कारण कुछ विद्वान् यह मानने लगे हैं कि पह्लवी किसी काल में किसी जाति की बोलचाल की भाषा नहीं थी, पारसवालों ने जब शामी (यहूदी, अरब) लोगों से लिपिविद्या सीखी और शामी वर्णमाला के द्वारा वे अपनी भाषा लिखने लगे, उस समय उन लोगों ने अपनी भाषा के उन सब शब्दों को लिखने का प्रयास नहीं किया जिनके समानार्थक शब्द उन्हें शामी भाषा में मिल सके। ऐसे शब्द उन्होंने शामी के ही ज्यों के त्यों उठाकर अपनी भाषा में धर लिए। पर वे लिखते तो थे शामी शब्द और पढ़ते उस शब्द का समानार्थक अपनी भाषा का शब्द। जैसे, वे लिखते 'मालिक' जिसका अर्थ शामी में 'राजा' है और पढ़ते थे अपनी भाषा का 'शाह' शब्द। बहुत दिनों तक इस प्रकार लिखते पढ़ते रहने से जिस विलक्षण संकर भाषा का गठन हुआ वही उक्त विद्वानों की सम्मति में पह्लवी है।

पह्लिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी।

पाँ※–संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाँव] पैर। पाँव। उ०–(क) प्राणपियारी के पाँ परिकै करि सौंह गरे की गरे लपटाने।—पद्माकर। (ख) सभा समेत पाँ परे विशेष पूजियो सबै।—केशव।

पाँइ※–संज्ञा पुं० [सं० पाद] पैर। पाँव।

पाँइता※–संज्ञा पुं० दे० "पाँयता"। उ०–कहा कहौं और राति सोवै जब रानी तब आपु बैठ्यो पाँइते कहानी भावतो कहै।–रघुनाथ।

पाँईबाग–संज्ञा पुं० [फा०] महलों के आस पास या चारों ओर बना हुआ वह छोटा बाग जिसमें प्रायः राजमहल की स्त्रियाँ सैर करने को जाती हैं। ऐसे बागों में प्रायः सर्व साधारण के जाने की मनाही होती है।

पाँउ※†–संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाँव] पाँव। पैर।

मुहा०–**पाँउ पसारे सोना** = निर्भय रहना। निश्चिंत। बेखौफ रनहा। उ०—मारुत बहहु आज अपने मन सूरज तपहु सुखारे। इंद्र वरुण कुबेर यम सुर गण सोवहु पाँउ पसारे।–रघुराज।

पाँक–संज्ञा पुं० [सं० पंक] कीचड़।

पाँका†–संज्ञा पुं० दे० "पाँक"।

पाँख, पाँखड़ा†–संज्ञा पुं० [सं० पक्ष] पंख। पर। पक्षी का डैना।

पाँखड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पाँखी※†–संज्ञा स्त्री० [सं० पक्षी] (१) वह पंखदार कीड़ी जो दीपक पर गिरती है। पतिंगा। (२) कोई पक्षी। (३) वह औजार जिससे खेतों में क्यारियाँ बनाई जाती हैं।

पाँखुरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "पखड़ी"।

पाँग–संज्ञा पुं० [सं० पंक] वह नई जमीन जो किसी नदी के पीछे हट जाने से उसके किनारे पर निकलती है। कछार। खादर। गंगबरार।

पाँगल–संज्ञा पुं० [सं० पांगुल्य] ऊँट। (डिं०)

पाँगा†–संज्ञा पुं० [देश०] दे० "पांगानोन"।

पाँगानोन–संज्ञा पुं० [सं० पंक, हिं० पाँग + नोन] समुद्री नोन। वैद्यक में इसे स्वाद में चरपरा और मधुर, भारी, न बहुत गरम और न बहुत शीतल, अग्निप्रदीपक, वातनाशक और कफकारक माना है।

पाँच–वि० [सं० पंच] जो गिनती में चार और एक हो। जो तीन और दो हो। चार से एक अधिक।

मुहा०–**पाँचों उँगलियाँ घी में होना** = सब तरह का लाभ या आराम होना। खूब बन आना। जैसे, इस समय तो आपकी

पांचों उँगलियाँ घी में होंगी। पांचों सवारों में नाम लिखाना = जबरदस्ती अपने से अधिक योग्य व श्रेष्ठ मनुष्यों में मिल जाना। औरों के साथ अपने को भी श्रेष्ठ गिनाना।

विशेष—इस मुहावरे के संबंध में एक किस्सा है। कहते हैं कि एक बार चार अच्छे सवार कहीं जा रहे थे। उनके पीछे पीछे एक दरिद्र आदमी भी एक गधे पर सवार जा रहा था। थोड़ी दूर जाने पर एक आदमी मिला जिसने उस दरिद्र गधे-सवार से पूछा कि क्यों भाई,ये सवार कहाँ जा रहे हैं ? उसने बहुत बिगड़कर कहा—हम पांचों सवार कहीं जा रहे हैं, तुम्हें पूछने से मतलब ?

संज्ञा पुं० [सं० पंच] (१) पाँच की संख्या। (२) पाँच का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—५। (३) कई एक आदमी। बहुत लोग। उ०—मोरि बात सब विधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई।—तुलसी। (४) जाति बिरादरी के मुखिया लोग। पंच। उ०—साँचे परे पाँवों पान पाँच में परै प्रमान, तुलसी चातक आस राम स्यामघन की।—तुलसी।

पाँचक—संज्ञा पुं० दे० "पंचक"।

पांचजनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भागवत के अनुसार पंचजन नामक प्रजापति की कन्या का नाम। इसका दूसरा नाम असिकी भी था।

पांचजन्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण के बजाने का शंख जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह उन्हें पंचजन नामक दैत्य के पास उस समय मिला था जब वे गुरुदक्षिणा में अपने गुरु सांदीपन मुनि को उनका मृत पुत्र ला देने के लिये समुद्र में घुसे थे। कृष्ण ने पंचजन को मारकर अपने गुरु के पुत्र को भी छुड़ाया था और उसका शंख भी ले लिया था। (२) विष्णु के शंख का नाम। (३) पुराणानुसार हारीत मुनि के वंश के दीर्घवृद्धि नामक ऋषि का एक नाम। (४) अग्नि। (५) पुराणानुसार जंबूद्वीप के एक भाग का नाम।

पांचभौतिक—संज्ञा पुं० [सं०] पाँचो भूतों या तत्वों से बना हुआ शरीर।

पाँचर—संज्ञा स्त्री० [सं० पंजर] कोल्हू के बीच में जड़े हुए लकड़ी के वे छोटे छोटे टुकड़े जो गन्ने के टुकड़ों को दबाने में जाठ के सहायक होते हैं। (जाठ और पाँचर के बीच में दबने से ही गन्ने के टुकड़ों में से रस निकलता है)

पांचलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कपड़े की बनी हुई गुड़िया।

पाँचवाँ—वि० पुं० [हिं० पाँच+वाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० पाँचवीं] जो क्रम में पाँच के स्थान पर पड़े। पाँच के स्थान पर पड़नेवाला।

पांचशाब्दिक—संज्ञा पुं० [सं०] करताल, ढोल,बीन, घंटा और भेरी आदि पाँच प्रकार के बाजे।

पाँचा—संज्ञा पुं० [हिं० पाँच] किसानों का एक औजार जिससे वे भूसा घास इत्यादि समेटते वा हटाते हैं। इसमें चार दाँते और एक बेंट होता है इसी से इसे पाँचा कहते हैं। पचंगुरा।

पांचाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बढ़ई, नाई, जुलाहा, धोबी और चमार इन पाँचों का समुदाय। (२) भारत के पश्चिमोत्तर का एक देश। विशेष—दे० "पंचाल"। वि० (१) पंचाल देश का रहनेवाला। (२) पंचाल-देश संबंधी।

पांचालिका—संज्ञा स्त्री० दे० "पांचाली"।

पांचाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुड़िया। कपड़े की पुतली। पंचालिका। पंचाली। (२) साहित्य में एक प्रकार की रीति या वाक्य-रचना-प्रणाली जिसमें बड़े बड़े पाँच छः समासों से युक्त और कांतिपूर्ण पदावली होती है। इसका व्यवहार सुकुमार और मधुर वर्णन में होता है। किसी किसी के मत से गौड़ी और वैदर्भी वृत्तियों के सम्मिश्रण को भी पांचाली कहते हैं। (३) पांडवों की स्त्री द्रौपदी का एक नाम जो पंचाल देश की राजकुमारी थी। (४) छोटी पीतल। (५) इंद्रताल के छः भेदों में से एक। (६) स्वर-साधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—

आरोही—सा रे सा रे ग, रे ग रे ग म, ग म ग म प, म प म प ध, प ध प ध नि, ध नि ध नि सा। अवरोही—सा नि सा नि ध, नि ध नि ध प, ध प ध प म, प म प म ग, म ग म ग रे, ग रे ग रे सा।

पाँची—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास जो तालाबों में होती है।

पाँचैं†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पंचमी] किसी पक्ष की पाँचवीं तिथी। पंचमी। उ०—(क) जब वसंत फागुन सुदि पाँचैं गुरुदिन।—तुलसी। (ख) नाचे बनैगी वसंत की पाँचैं।—देव।

पाँजना—क्रि० स० [सं० प्रणद्ध, प्रा० पणज्झ, पँज्झ] टीन, लोहे, पीतल आदि धातु के दो या अधिक टुकड़ों को टाँके लगाकर जोड़ना। झालना। टाँका लगाना।

पाँजर—संज्ञा पुं० [सं० पंजर] (१) बगल और कमर के बीच का वह भाग जिसमें पसलियाँ होती हैं। छाती के अगल बगल का भाग। (२) पसली। (३) पार्श्व। पास। बगल। सामीप्य।

पाँजी—संज्ञा स्त्री० [सं० पदाति, हिं० पाजी = पैदल। सं० पाद्य ?] किसी नदी का इतना सूख जाना कि लोग उसे हलकर पार कर सकें। नदी का पानी घुटनों तक या

उससे भी कम हो जाना। उ०—अब कबीर पाँजी परे पंथी आवैं जायँ।—कबीर।

क्रि० प्र०-पड़ना।

पाँझ-वि० दे० "पाँजी"। उ०—नदियों को पाँझ और मार्ग को सूखा करनेवाली शरद ने उसको मन के उत्साह से पहले ही यात्रा निमित्त प्रेरणा की।—लक्ष्मणसिंह।

पाँडक-संज्ञा पुं० दे० "पंडुक"।

पांडर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंद का वृक्ष। (२) कुंद का फूल। (३) पानड़ी। (४) सफेद रंग। (५) सफेद रंग का कोई पदार्थ। (६) मरुवा वृक्ष। (७) महाभारत के अनुसार ऐरावत के कुल में उत्पन्न एक हाथी का नाम। (८) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो मेरु पर्वत के पश्चिम में है। (९) एक प्रकार का पक्षी।

पांडर मुष्टिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शीतला वृक्ष।

पांडरा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ईख।

पांडव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंती और माद्री के गर्भ से उत्पन्न राजा पांडु के पाँचों पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव। (इनके जन्मवृत्तांत के लिये दे० "पांडु" और इनके विशेष चरित के लिये पृथक् पृथक् इन सबके नाम।) (२) प्राचीन काल में पंजाब का एक प्रदेश जो वितस्ता (झेलम) नदी के तीर पर बसा था। (३) उस प्रदेश में रहनेवाले।

पांडव नगर-संज्ञा पुं० [सं०] दिल्ली।

पांडवायन-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पांडवेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पांडव। (२) अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित।

पांडित्य-संज्ञा पुं०[सं०] पंडित होने का भाव। विद्वत्ता। पंडिताई।

पांडीस-संज्ञा स्त्री० [?] तलवार। (डिं०)

पांडु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पांडुफली। पारली। (२) परमल। (३) कुछ लाली लिए पीला रंग। (४) वह जिसका रंग लाली लिए पीला हो। (५) एक नाग का नाम। (६) सफेद हाथी। (७) सफेद रंग। (८) एक रोग का नाम जिसमें रक्त के दूषित हो जाने से शरीर का चमड़ा पीले रंग का हो जाता है। सुश्रुत में लिखा है कि अधिक स्त्रीगमन करने, खटाई और नमक खाने, शराब पीने, मिट्टी खाने, दिन को सोने तथा इसी प्रकार के और कुपथ्य करने से यह रोग हो जाता है। चमड़े का फटना, आँख के गोलक का सूजना और पेशाब पैखाने के रंग का पीला पड़ जाना इस रोग का पूर्व लक्षण है। यह कफज, वातज, पित्तज और सन्निपातज चार प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त भावप्रकाश में इसका एक पाँचवाँ प्रकार मृत्तिकाभक्षण-जात भी माना गया है। सुश्रुत ने कामला, कुंतकामला, हलीमक और लाघरक आदि रोगों को इसी के अंतर्गत माना है। इस रोग में रोगी को कंप, पीड़ा, शूल, भ्रम, तंद्रा, आलस्य, खाँसी, श्वास, अरुचि और अंगों में सूजन आदि भी होती है। (९) प्राचीन काल के एक राजा का नाम जो पांडव वंश के आदि पुरुष थे। महाभारत में इनकी कथा बहुत ही विस्तार के साथ दी हुई है। उसमें लिखा है कि जिस समय राजा विचित्रवीर्य युवावस्था में ही क्षय रोग के कारण मर गए और अंबिका तथा अंबालिका नाम की उनकी दोनों स्त्रियाँ विधवा हो गईं उस समय विचित्रवीर्य की माता सत्यवती ने अपना वंश चलाने के उद्देश्य से अपने दूसरे पुत्र भीष्म से कहा था कि तुम अंबिका और अंबालिका के साथ नियोग करके संतान उत्पन्न करो। परंतु भीष्म इससे बहुत पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके थे कि मैं आजन्म क्वारा और ब्रह्मचारी रहूँगा। अतः उन्होंने माता की यह बात तो नहीं मानी पर उन्हें सम्मति दी कि किसी योग्य ब्राह्मण को बुलवाकर और उसे कुछ धन देकर विचित्रवीर्य की स्त्रियों का गर्भाधान करा लो। इस पर सत्यवती ने अपने पहले पुत्र व्यास का, जो पराशर ऋषि से उत्पन्न हुए थे, स्मरण किया और उनके आ जाने पर कहा कि तुम एक प्रकार से विचित्रवीर्य के बड़े भाई हो। अतः तुम ही उसकी दोनों विधवाओं से वंशवृद्धि के लिये संतान उत्पन्न करो। व्यास ने अपनी माता की यह बात स्वीकार करते हुए कहा कि पहले दोनों विधवा स्त्रियाँ व्रतपूर्वक रहें तब मैं उन्हें मित्रावरुण के सदृश पुत्र प्रदान करूँगा। लेकिन सत्यवती ने कहा कि राज्य में राजा के न रहने से अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं अतः तुम अभी इन दोनों को गर्भ धारण कराओ। तदनुसार व्यास ने पहले तो अंबिका के गर्भ से धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया। और तब अंबालिका की बारी आई। जब अंबालिका भी ऋतुमती हो चुकी तब व्यासदेव आधी रात के समय उनके पास गए। उनका उग्र रूप देखकर अंबालिका मारे डर के पीली पड़ गई। समय पूरा होने पर अंबालिका को पीले रंग का एक लड़का हुआ जिसका नाम पांडु रखा गया। बाल्यावस्था में धृतराष्ट्र, पांडु, और विदुर तीनों को भीष्म ने ही पाला पोसा और पढ़ाया लिखाया था। पांडु का विवाह राजा कुंतिभोज की कन्या कुंती से हुआ था। पीछे से भीष्म ने मद्र-कन्या माद्री से इनका एक और विवाह कर दिया था। विवाह के कुछ दिनों के उपरांत पांडु ने समस्त भूमंडल के राजाओं को परास्त करके दिग्विजय किया और बहुत सा धन एकत्र किया। इसके धन से धृतराष्ट्र ने पाँच महायज्ञ किए थे।

इनमें से प्रत्येक महायज्ञ में उन्होंने इतना धन दान किया था कि जिससे सैकड़ों बड़े बड़े अश्वमेध यज्ञ किए जा सकते थे। कुछ दिनों तक राज्य करने के उपरांत पांडु अपनी दोनों स्त्रियों को साथ लेकर जंगल में जा रहे और वहीं आमोद प्रमोद और शिकार आदि करके रहने लगे। एक बार शिकार में उन्होंने हिरन को हिरनी के साथ मैथुन करते हुए देखा और तुरंत तीर से उस हिरन को मार गिराया। कहते हैं कि वे हिरन और हिरनी दोनों वास्तव में ऋषिपुत्र किमिंदय और उनकी पत्नी थे। तीर लगते ही उस मृग ने मनुष्यों की बोली में कहा कि तुमने मुझे स्त्री के साथ भोग करते में मारा है अतः तुम भी जब अपनी स्त्री के साथ भोग करोगे तब उसी समय तुम्हारी भी मृत्यु हो जायगी और जिस स्त्री के साथ भोग करते हुए तुम मरोगे वह तुम्हारे साथ सती होगी। इस पर पांडु बहुत दुखी हुए और अपनी दोनों स्त्रियों के साथ लेकर नागशत पर्वत पर चले गए। वे सब प्रकार का भोग विलास आदि छोड़कर कठोर तपस्या करने लगे। वहीं एक बार पांडु ने बहुत से ऋषियों के साथ स्वर्ग जाना चाहा था परंतु ऋषियों ने उन्हें मना किया और कहा कि जिसके कोई संतान न हो वह स्वर्ग नहीं जा सकता। इस पर पांडु ने अपनी स्त्री के गर्भ से किसी ब्राह्मण के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराने का विचार किया और अपनी स्त्री कुंती से सब हाल कहा। इस पर कुंती ने, जिसे जिस देवता का चाहे स्मरण करके पुत्र प्राप्त करने का वरदान था, धर्म, वायु और इंद्र को आह्वान कर क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक तीन पुत्र जने और माद्री ने अश्विनीकुमार के अनुग्रह से नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र पाए। पीछे से ये ही पाँचों पुत्र पांडव कहलाए और इन्होंने कौरवों से युद्ध किया था। (दे० "पांडव")। इसके कुछ दिनों के उपरांत एक बार वसंत ऋतु में पांडु को बहुत अधिक कामपीड़ा हुई। उस समय उन्होंने माद्री के बहुत मना करने पर भी नहीं माना और वे बलपूर्वक उसके साथ भोग करने लगे। किमिंदय ऋषि के शाप के अनुसार उसी समय उनके प्राण निकल गए और माद्री ने भी वहीं अपने प्राण दे दिए। पीछे से लोग पांडु और माद्री को हस्तिनापुर ले गए और वहीं धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर ने दोनों का प्रेत-संस्कार किया।

पाँडुकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] अपामार्ग। चिचड़ा।

पांडुकंबल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पत्थर जो सफेद होता है।

पांडुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "पंडुक"। (२) दे० "पांडु"। (३) पांडु वर्ण। पीला रंग। (४) परवल।

पांडुकर्म–संज्ञा पुं० [सं० पांडुकर्म्मन्] सुश्रुत के अनुसार वर्ण-चिकित्सा का एक अंग जिसमें फोड़े के अच्छे हो जाने पर उसके काले दाग को औषध की सहायता से दूर करते और वहाँ के चमड़े को फिर शरीर के वर्ण का कर देते हैं।

विशेष—सुश्रुत का मत है कि यदि फोड़े के अच्छे हो जाने पर दुरूढ़ता के कारण उसके स्थान पर काला दाग रह गया हो तो कड़वी तूँबी को तोड़कर उसमें बकरी का दूध डाल दे और उस दूध में सात दिन तक रोहिणी फल भिगोए। इसके बाद उस फल को गीला ही पीसकर फोड़े के दाग पर लगावे तो वह दाग दूर हो जायगा।

पांडुद्मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] हस्तिनापुर का एक नाम।

पांडुतरु–संज्ञा पुं० [सं०] धौ का पेड़।

पांडुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पांडु होने का भाव, धर्म या क्रिया। पांडुत्व। पीलापन।

पांडुतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

पांडुनाग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुन्नाग वृक्ष। (२) सफेद रंग का हाथी। (३) सफेद रंग का साँप।

पांडुपंचानन रस–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जिसे त्रिकटु, त्रिफला, दंतीमूल, चितामूल, हलदी, मान मूल, इंद्रजौ, वच, मोथा आदि ओषधियों को गोमूत्र में पकाकर बनाते हैं और जो पांडु तथा हलीमक आदि रोगों के लिये बहुत ही उपकारक माना जाता है।

पांडुपत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] रेणुका नामक गंध-द्रव्य।

पांडुपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] पांडव।

पांडुपृष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिसकी पीठ सफेद हो। (२) अयोग्य। अकर्मण्य। निकम्मा।

पांडुफूल–संज्ञा पुं० [सं०] परवल।

पांडुमृत, पांडुमृत्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड़िया। स्वेत-खरी। दुधिया मिट्टी। (२) पीली मिट्टी। रामरज।

पांडुरंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साग जो वैद्यक के अनुसार तिक्त और लघु तथा कृमि, श्लेष्मा और कफ को नाश करनेवाला माना जाता है। (२) पुराणानुसार विष्णु का एक अवतार।

पांडुर–वि० [सं०] (१) पीला। जर्द। (२) सफेद। संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो पीला हो। (२) वह जो सफेद हो। (३) धौ का पेड़। (४) सफेद ज्वार। (५) कबूतर। (६) बगला। (७) सफेद खड़िया। (८) कामला रोग। (९) सफेद कोढ़। (१०) कात्तिकेय के एक गण का नाम।

पांडुरद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] कुड़े का वृक्ष। कुटज। कुरैया।

पांडुरपृष्ठ–संज्ञा पुं० दे० "पांडुपृष्ठ"।

पांडुरफली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का छोटा क्षुप ।

पांडुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मषवन । माषपर्णी । (२) ककड़ी । (३) बौद्धों में एक देवी या शक्ति का नाम ।

पांडुराग–संज्ञा पुं० [सं०] दौना ।

पांडुरेखु–संज्ञा पुं० [सं०] सफेद ईख ।

पांडुलिपि–संज्ञा स्त्री० [सं०] लेख आदि का वह पहला रूप जो काट छांट या घटाने बढ़ाने आदि के लिये तैयार किया जाय । मसौदा ।

पांडुलेख–संज्ञा पुं० [सं०] पांडुलिपि । मसौदा ।

पांडुलोमशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मषवन । माषपर्णी ।

वि० स्त्री०—जिसके रोएँ सफेद हों ।

पांडुलोमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पांडुलोमशा" ।

पांडुवा–संज्ञा पुं० [सं०] वह जमीन जिसकी मिट्टी में बालू भी मिली हो । बलुई मिट्टीवाली जमीन । दोमट जमीन ।

पांडुशर्करा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह ।

पांडुशर्मिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी ।

पांडुसोपाक–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जिसकी उत्पत्ति मनु के अनुसार वैदेही माता और चांडाल पिता से है । कहते हैं कि इस जाति के लोग बांस की चीजें, दौरियां, टोकरे आदि बनाकर अपना निर्वाह करते थे ।

पांड़े–संज्ञा पुं० [सं० पंडित] (१) सरयूपारी, कान्यकुब्ज और गुजराती आदि ब्राह्मणों की एक शाखा । (२) कायस्थों की एक शाखा । (३) पंडित । विद्वान् । (क्व०) (४) अध्यापक । शिक्षक । (५) रसोइया । भोजन बनानेवाला ।

यौ०—पानीपांड़े ।

पांडेय–संज्ञा पुं० दे० " पांड़े " ।

पांति–संज्ञा स्त्री० [सं० पंक्ति] (१) कतार । पंगत । (२) अवली । समूह । (३) एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरी के लोग । परिवार-समूह । उ०—(क) जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुण चतुराई ।—तुलसी । (ख) मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को ।—तुलसी ।

पांथ–वि० [सं०] (१) पथिक । (२) वियोगी । बिरही ।

पांथनिवास–संज्ञा पुं० [सं०] सराय । चट्टी ।

पांथशाला–संज्ञा पुं० [सं०] सराय । चट्टी ।

पांयँ*†–संज्ञा पुं० [सं० पाद] चरण । पाद । पैर । कदम । उ०—सौंपे सुत गहि पानि पाँयँ परि हरषाने जाने शेष-सयन ।

पांयँचा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) पाखानों आदि में बना हुआ पैर रखने का वह स्थान जिस पर पैर रखकर शौच से निवृत्त होने के लिये बैठते हैं । (२) पायजामे की मोहरी जिससे जांघ से लेकर टखने तक का अंग ढका जाता है ।

मुहा०—पाँयँचों के बाहर होना = दे० "पाजामे के बाहर होना" ।

पायँता–संज्ञा पुं० [हिं० पाँय + तल] [स्त्री० अल्प० पाँयती] पलँग या खाट का वह भाग जिसकी ओर पैर किए जाते हैं । पैताना ।

पाँवँ–संज्ञा पुं० दे० "पावँ" ।

पाँवँड़ा–संज्ञा पुं० दे० "पावँड़ा" ।

पाँवँड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पावँड़ी" ।

पाँवर*†–वि० [सं० पामर] पतित । पापी । नीच । अधम ।

पाँवरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पावँ + ड़ा (प्रत्य०)] (१) दे० "पांवड़ी" । (२) सोपान । सीढ़ी । (३) पैर रखने का स्थान । (४) जूता । उ०—भो रैदास नाम अस ताको । करै कर्म रचिबो जूता को । रचि पांवरी संत कहँ देवै । संत चरण जल शिर धरि लेवै ।—रघुराज ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पैरि, पौरी] (१) पौरी । वह कोठरी जो किसी घर के भीतर घुसते ही रास्ते में पड़ती हो । ड्योढ़ी । (२) बैठक । दालान । उ०—पैग पैग पर कुवां बावरी । साजी बैठक और पांवरी ।

पांशव–संज्ञा पुं० [सं०] रेह का नमक ।

पांशु–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूलि । रज । (२) बालू ।

यौ०—पांशुज ।

(३) गोबर की खाद । (४) पित्तपापड़ा । (५) एक प्रकार का कपूर । (६) रज । (७) भू-संपत्ति ।

पांशुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] केवड़े का पौधा ।

पांशुकासीस–संज्ञा पुं० [सं०] कसीस ।

पांशुकूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चीथड़ों आदि को सीकर बनाया हुआ बौद्ध भिक्षुओं के पहनने का वस्त्र । (२) वह दस्तावेज या कागज जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम न लिखा गया हो ।

पांशुचत्वर–संज्ञा पुं० [सं०] ओला ।

पांशुज–संज्ञा पुं० [सं०] नोनी मिट्टी से निकाला हुआ नमक ।

पांशुपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] बथुआ (साग) ।

पांशुरागिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेदा ।

पांशुराष्ट्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का प्राचीन नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है ।

पांशूल–वि० [सं०] (१) परस्त्रीगामी । लंपट । व्यभिचारी । (२) धूल या मिट्टी से ढका हुआ । जिस पर गर्द पड़ी हो । मलिन । मैला ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूतिकरंज । (२) शिव ।

पांशुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलटा । (२) रजस्वला ।

(३) केतकी । (४) भूमि ।

पाँस-संज्ञा स्त्री० [सं० पांशु] (१) राख, गोबर, मल, मूत्र, अस्थि, क्षार, सड़ी गली चीजें आदि जो खेतों को उपजाऊ करने के लिये उनमें डाली जाती हैं । खाद ।

क्रि० प्र०—डालना ।—देना ।

(२) किसी वस्तु को सड़ाने पर उठा हुआ खमीर । (३) शराब निकाला हुआ महुआ ।

पाँसना†-क्रि० स० [हिं० पाँस + ना (प्रत्य०)] खेत में खाद देना ।

पाँसा-संज्ञा पुं० [सं० पाशक] हाथीदाँत वा किसी हड्डी के बने चार पाँच अंगुल लंबे बत्ती के आकार के चौपहल टुकड़े जिससे चौसर का खेल खेलते हैं । ये संख्या में ३ होते हैं । प्रत्येक पहल में कुछ विंदु से बने रहते हैं । उन्हीं विंदुओं की गणना से दाँव समझा जाता है । उ०—(क) चौपर खेलत भवन आपने हरि द्वारिका मँझार । पाँसे डार परम आतुर सों किन्हें अनत उचार ।—सूर । (ख) कौरव पाँसा कपट बनाए । धर्मपुत्र को जुवा खेलाए ।—सूर ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—फेंकना ।

मुहा०—पाँसा उलटना = किसी प्रयत्न का उलटा फल होना ।

पाँसी-संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] सूत या डोरी आदि का बना हुआ वह जाल या जाला जिसमें घास भूसा आदि बाँधते हैं ।

पांसु†-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "पांशु" । (२) दे० "पसली" ।

पांसुक्षार-संज्ञा पुं० [सं०] पाँक्ष नमक ।

पांसुखुर-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक रोग जो उनके पैरों में होता है ।

पांसुचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव । महादेव ।

पांसुचामर-संज्ञा पुं० [सं०] तंबू । बड़ा खेमा ।

पांसुभित्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] धौ का पेड़ ।

पांसुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बड़ा मच्छड़ । दंश । डाँस । (२) लूला लँगड़ा ।

पांसुरी†-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पसली" ।

पांसुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलयुक्त । मलिन । (२) पापी । (३) पूति करंज । कंजा । (४) परस्त्री से प्रेम करनेवाला । (५) शिव ।

पांसुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलटा । (२) रजस्वला । (३) भूमि । (४) केतकी ।

पाँही*†-क्रि० वि० [हिं० पँह] निकट । पास । समीप ।

पाइ*-संज्ञा पुं० दे० "पाद" ।

पाइक*-संज्ञा पुं० दे० "पायक" ।

पाइका-संज्ञा पुं० [अं०] नाप के विचार से छापे के टाइपों का एक प्रकार जिसकी चौड़ाई ⅙ इंच होती है । अक्षरों की मोटाई आदि के विचार से इसके और भी कई भेद होते हैं । साधारण पाइका टाइप का नमूना यह है—**यह पाइका टाइप है ।**

यौ०—स्माल पाइका ।

पाइतरी*†-संज्ञा स्त्री० [सं० पादस्थली] पलंग का वह भाग जहाँ सोनेवाले के पैर रहते हैं । पैताना । उ०—भारतादि दुर्योधन अर्जुन भेटन गए द्वारका पुरी । कमल-नैन बैठे सुख शय्या पारथ पाइतरी ।—सूर ।

पाइप-संज्ञा पुं० [अं०] (१) नल या नली । (२) पानी की कल । नल । (३) बाँसुरी के आकार का एक प्रकार का अँगरेजी बाजा । (४) हुक्के का नल ।

पाइरा†-संज्ञा पुं० [हिं० पाँव + रा (प्रत्य०)] रकाब, जिस पर घोड़े की सवारी के समय पैर रखते हैं । विशेष-दे० "रकाब" ।

पाइल*-संज्ञा स्त्री० दे० "पायल" ।

पाई-संज्ञा स्त्री० [सं० पाद हिं० पाय] (१) किसी एक ही निश्चित घेरे या मंडल में नाचने या चलने की क्रिया । मंडल घूमना । गोड़ापाही । उ०—नीर के निकट रेणु रंजित लसै यों तट एक पट चादर की चाँदनी बिछाई सी । कहै पद्माकर त्यों करत कलोल लोक आवरत पूरे रासमंडल की पाई सी ।—पद्माकर । (२) पतली छड़ियों वा बेतों का बना हुआ जोलाहों का एक ढाँचा जिस पर ताने के सूत को फैलाकर उसे खूब माँजते हैं । टिकठी । अड्डा ।

मुहा०—पाई करना = पाई पर फैले हुए ताने को कूँची से माँजना ।

(३) घोड़ों की एक बीमारी जिसमें उनके पैर सूज जाते हैं और वे चल नहीं सकते । (४) एक छोटा सिक्का जो एक आने का १२ वाँ, वा एक पैसे का तीसरा भाग होता है । (५) एक पैसा । (क्व०) (६) छोटी सीधी लकीर जो किसी संख्या के आगे लगाने से एकाई का चतुर्थांश प्रकट करती है, जैसे, ४। से चार और एक एकाई का चौथा भाग । अर्थात् सवा चार । (७) दीर्घ आकार-सूचक मात्रा जिसे अक्षर को दीर्घ करने के लिये लगाते हैं, जैसे क से का, द से दा । (८) छोटी खड़ी रेखा जो किसी वाक्य के अंत में पूर्ण विराम सूचित करने के लिये लगाई जाती हो ।

क्रि० प्र०—देना ।—लगाना ।

(९) पिटारी जिसमें स्त्रियाँ अपने आभूषणादि रखती हैं। (१०) छापे के घिसे हुए और रद्दी टाइप । (प्रेस०)। संज्ञा स्त्री० [हिं० पापा = पाई कीड़ा] एक छोटा लंबा कीड़ा जो घुन की तरह अन्न को-विशेषतः धान को खा जाता अथवा खराब कर देता है और उसे जमने योग्य नहीं रहने देता ।

क्रि० प्र०—लगना ।

पाईता-संज्ञा पुं० [देश०] एक वर्णवृत्त जिसमें एक मगण, एक भगण और एक सगण होता है।

पाउँ*†-संज्ञा पुं० दे० "पाँव"।

पाउंड-संज्ञा पुं० [अं०] (१) सोने का एक अँगरेजी सिक्का जो २० शिलिंग का होता है और पहले १५) का माना जाता था परंतु अब १०) का ही माना जाता है। इसका भाव घटता बढ़ता रहता है। (२) एक अँगरेजी तौल जो लगभग सात छटाँक के होता है।

पाउडर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) कोई वस्तु जो पीसकर धूल के समान कर दी गई हो। चूर्ण। बुकनी। (२) एक प्रकार का विलायती बना हुआ मसाला या चूर्ण जो प्रायः स्त्रियाँ और नाटक के पात्र अपने चेहरे पर उसकी रंगत बदलने और शोभा बढ़ाने के लिये लगाते हैं।

पाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पकाने की क्रिया। रींधना। (२) पकने व पकाने की क्रिया या भाव। (३) पका हुआ अन्न। रसोई। पकवान।

यौ०—पाकागार। पाकभांड।

(४) वह औषध जो मिस्त्री, चीनी वा शहद की चाशनी में मिलाकर बनाई जाय। जैसे, शुंठी सटक। (५) खाए हुए पदार्थ के पचने की क्रिया। पचन।

यौ०—पाकस्थली।

(६) एक दैत्य जिसे इंद्र ने मारा था।

यौ०—पाकरिपु। पाकशासन।

(७) वह खीर जो श्राद्ध में पिंडदान के लिये पकाई जाती है।

वि० [फा०] (१) पवित्र। शुद्ध। सुथरा। परिमार्जित।

मुहा०—पाक करना = (१) धार्मिक विधि के अनुसार किसी वस्तु को धोकर शुद्ध करना। (२) जबह किए हुए पशु या पक्षी के पास से पर, रोएँ आदि दूर करना।

(२) पापरहित। निर्मल। निर्दोष।

यौ०—पाकदामन। पाक साफ।

(३) जिसका कोई अंश शेष न रह गया हो। समाप्त। बेबाक।

मुहा०—झगड़ा पाक करना = (१) किसी ऐसे कार्य को समाप्त कर डालना जिसके लिये विशेष चिन्ता रही हो। (२) किसी बाधा को हटाकर या शत्रु को मारकर निश्चित हो जाना। झगड़ा तै होना। कोई कार्य समाप्त हो जाना। कोई बाधा दूर हो जाना। (३) मार डालना।

(४) साफ। उ०—यह सब झगड़ा से पाक है।

पाककृष्ण-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगली करौंदा। (२) करंज।

पाकज-संज्ञा पुं० [सं०] कचिया नमक।

पाकट—संज्ञा स्त्री० [अं० पाकेट] जेब। खीसा। थैली।

मुहा०—पाकट गरम करना = (१) घूस लेना। (२) घूस देना।

संज्ञा पुं० दे० "पैकेट"।

पाकठ†-वि० [हिं० पकना, पकेठ] (१) पका हुआ। (२) पुराना। तजरबेकार। (३) बली। मजबूत।

पाकड़-संज्ञा पुं० दे० "पाकर"।

पाकदामन-वि० [फा०] [संज्ञा पाकदामनी] स्त्री जिसका चरित्र सब प्रकार निष्कलंक और विशुद्ध हो। पतिव्रता। सती।

पाकदामिनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] सतीत्व। पातिव्रत्य। शुद्ध-चरित्रता।

पाकद्विष-संज्ञा पुं० [सं०] पाकशासन। इंद्र।

पाकपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह बरतन जिसमें भोजन पकाया या रखा जाय। जैसे, बटलोई, थाली आदि।

पाकफल-संज्ञा पुं० [सं०] करौंदा।

पाकभांड-संज्ञा पुं० [सं०] वह बरतन जिसमें कुछ पकाया या खाया जाय। जैसे, बटलोई थाली आदि।

पाकयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृषोत्सर्ग और गृहप्रतिष्ठा आदि के समय किया जानेवाला होम जिसमें खीर की आहुति दी जाती है। (२) पंच महायज्ञ में ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त अन्य चार यज्ञ—वैश्वदेव, होम, बलि-कर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथि-भोजन।

विशेष—धर्म्मशास्त्रों के अनुसार शूद्र को भी पाकयज्ञ का अधिकार है।

पाकयाज्ञिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाकयज्ञ करनेवाला। (२) वह पुस्तक जिसमें पाकयज्ञ का विधान हो।

वि०-(१) पाकयज्ञ संबंधी। (२) पाकयज्ञ से उत्पन्न।

पाकरंजन-संज्ञा पुं० [सं०] तेजपत्ता।

पाकर-संज्ञा पुं० [सं० पर्कटी, प्रा० पक्कड़ी] एक वृक्ष जो पंचवटों में माना जाता है। इसके वृक्ष समस्त भारतवर्ष में वर्षा में अधिकता से बोये जाते हैं। इसकी पत्तियाँ खूब हरी और आम की तरह लंबी पर उससे कुछ अधिक चौड़ी होती हैं। यह वृक्ष आपसे आप कम उगता है, प्रायः लगाने से ही होता है। यह ७-८ वर्ष में तैयार हो जाता है। इसकी छाया बहुत घनी होती है। कवियों ने इसकी घनी छाया की बड़ी प्रशंसा की है। इसकी छाल से बड़े बारीक और मुलायम सूत तैयार किए जा सकते हैं। नरम फलों या गोदों को जंगली और देहाती मनुष्य प्रायः खाते हैं और पत्तियाँ हाथी और अन्य पशुओं के चारे के काम में आती हैं। लकड़ी और किसी काम में नहीं आती; केवल उससे कोयला तैयार किया जाता है। वैद्यक में इसे कषाय, कटु, शीतल, व्रण, योनिरोग, दाह, पित्त, कफ, रुधिर-विकार, सूजन और रक्तपित्त को दूर करनेवाला माना है। छोटे

पत्तियोंवाले वृत्त को अधिक गुणदायक लिखा है। रामअंजीर। पाखर। जंगली पिपली। पलखन।

पाकरिपु–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पाकल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुष्ठ की दवा। वह दवा जिससे कुष्ठ अच्छा होता हो। (२) फोड़े को पकानेवाली दवा। (३) वह सन्निपात ज्वर जिसमें पित्त प्रबल, वात मध्य और कफ हीन अवस्था में होता है और इनके बलाबल के अनुसार इन तीनों ही की उपाधियाँ उसमें प्रकट होती हैं। इसका रोगी प्रायः तीन दिन में मर जाता है। (४) हाथी का बुखार। (५) अग्नि। आग।

पाकलि, पाकली–संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासिंगी। कर्कटी।

पाकशाला–संज्ञा पुं० [सं०] रसोई का घर। बावरचीखाना।

विशेष—मुहूर्त्त चिंतामणि के अनुसार घर के पूर्व दक्षिण के कोण में पाकशाला बनाना उत्तम है। सुश्रुत के मतानुसार धुआँ बाहर निकलने के लिये ऊपर की ओर इसमें एक छोटी खिड़की भी होनी चाहिए।

पाकशासन–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पाकशुक्ला–संज्ञा स्त्री० [सं०] खड़िया मिट्टी।

पाकस्थली–संज्ञा स्त्री० [सं०] उदर का वह स्थान जहाँ आहारद्रव्य जठराग्नि या पाचक रस की क्रिया से पचता है। पक्वाशय।

पाकहंता–संज्ञा पुं० [सं० पाकहंतृ] पाकशासन। इंद्र।

पाका‡–संज्ञा पुं० [हिं० पकना] फोड़ा।

पाकागार–संज्ञा पुं० [सं०] रसोईघर।

पाकात्यय–संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें आँख का काला भाग सफेद हो जाता है। आरंभ में इसमें एक फोड़ा होता है और आँखों से गरम गरम आँसू गिरते हैं। पुतली का सफेद हो जाना त्रिदोष का कोप सूचित करता है। इस दशा में यह रोग असाध्य समझा जाता है।

पाकारि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) सफेद कचनार का वृक्ष।

पाकी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) निर्मलता। पवित्रता। शुद्धता। (२) परहेजगारी।

मुहा०–पाकी लेना = उपस्थ पर के बाल साफ करना।

पाकीज़ा–वि० [फा०] [संज्ञा पाकीज़गी] (१) पाक। पवित्र। शुद्ध। (२) खूबसूरत। सुंदर। (३) बेऐब। निर्दोष।

पाकुक–संज्ञा पुं० [सं०] रसोइया। पाचक।

पाकेट–संज्ञा पुं० [अं०] जेब। खीसा।

मुहा०–पाकेट गरम करना = (१) घूस लेना। (२) घूस देना।

संज्ञा पुं० दे० "पैकेट"।

संज्ञा पुं० [डिं०] ऊँट।

पाक्य–वि० [सं०] जो पच सके। पचने योग्य। पचनीय।

संज्ञा पुं० (१) काला नमक। (२) साँभर नमक। (३) जवाखार। (४) शोरा।

पाक्यक्षार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवाखार। (२) शोरा।

पाक्यज–संज्ञा पुं० [सं०] कचिया नमक।

पाक्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सज्जी। (२) शोरा।

पाक्षायण–वि० [सं०] (१) जो पक्ष में एक बार हो या किया जाय। (२) जो पक्ष से संबंध रखता हो।

पाक्षिक–वि० [सं०] (१) पक्ष या पखवाड़े से संबंध रखनेवाला। (२) जो पक्ष या प्रतिपक्ष में एक बार हो या किया जाय। जैसे, पाक्षिक पत्र या बैठक। (३) किसी विशेष व्यक्ति का पक्ष करनेवाला। पक्षवाही। तरफ़दार। (४) दो मात्राओं का (छंद)।

संज्ञा पुं० पक्षियों को मारनेवाला। व्याध। बहेलिया।

पाखंड–संज्ञा पुं० [सं० पाषंड] (१) वेद-विरुद्ध आचार। (२) वह भक्ति या उपासना जो केवल दूसरों के दिखाने के लिये की जाय और जिसमें कर्त्ता की वास्तविक निष्ठा वा श्रद्धा न हो। ढोंग। आडंबर। ढकोसला। (३) वह व्यय जो किसी को धोखा देने के लिये किया जाय। वकभक्ति। छल। धोखा। (४) नीचता। शरारत।

मुहा०—पाखंड फैलाना = किसी को ठगने के लिये उपाय रचना। बुरे हेतु से ऐसा काम करना जो अच्छे इरादे से किया हुआ जान पड़े। मकर फैलाना। ढकोसला खड़ा करना। **जैसे**, (क) उस (साधु) ने कैसा पाखंड फैला रखा है। (ख) वह तुम्हारे पाखंड को ताड़ गया।

वि० पाखंड करनेवाला। पाखंडी।

पाखंडी–वि० [सं० पाषंडिन्] (१) वेद-विरुद्ध आचार करनेवाला। वेदाचार का खंडन या निंदा करनेवाला।

विशेष—पद्मपुराण में लिखा है—जो नारायण के अतिरिक्त अन्य देवता को भी वंदनीय कहता है, जो मस्तक आदि में वैदिक चिह्नों को धारण न कर अवैदिक चिह्नों को धारण करता है, जो वेदाचार को नहीं मानता, जो सदा अवैदिक कर्म करता रहता है, जो वानप्रस्थाश्रमी न होकर जटावल्कल धारण करता है, जो ब्राह्मण होकर हरि के अत्यंत प्रिय शंख चक्र ऊर्ध्वपुंड्र आदि चिह्न धारण नहीं करता, जो बिना भक्ति के वैदिक यज्ञ करता है, जीवहिंसक, जीवभक्षक, अप्रशस्त दान लेनेवाला, पुजारी, ग्रामयाजक (पुरोहित), अनेक देवताओं की पूजा करनेवाला, देवता के जूठे वा श्राद्ध के अन्न पर पेट पालनेवाला, शूद्र के से कर्म करनेवाला, निषिद्ध पदार्थों को खानेवाला, लोभ मोह आदि से युक्त, परस्त्रीगामी, आश्रमधर्म का पालन न करनेवाला, जो ब्राह्मण सभी वस्तुओं को खाता

वा बेचता हो, पीपल तुलसी तीर्थस्थान आदि की सेवा न करनेवाला, सिपाही लेखक दूत रसोइया आदि के व्यवसाय और मादक पदार्थों का सेवन करनेवाला ब्राह्मण पाखंडी है। पाखंडी के साथ उठना बैठना, उसके घर जल पीना वा भोजन करना विशेष रूप से निषिद्ध है। यदि किसी प्रकार एक बार भी इस निषेध का उल्लंघन हो जाय तो परम वैष्णव भी इस पाप से पाखंडी हो जायगा। मनुस्मृति के मत से पाखंडी का वाणी से भी सत्कार न करे और राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे।

(२) बनावटी धार्मिकता दिखानेवाला। जो बाहर से परम धार्मिक जान पड़े पर गुप्त रीति से पापाचार में रत रहता हो। कपटाचारी। बगला भगत। (३) दूसरों को ठगने के निमित्त अनेक प्रकार के आयोजन करनेवाला। ठग। धोखेबाज। धूर्त।

पाख-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष] (१) महीने का आधा। पंद्रह दिन। पखवाड़ा। (२) मकान की चौड़ाई की दीवारों के वे भाग जो ठाठ के सुभीते के लिये लंबाई की दीवारों से त्रिकोण के आकार में अधिक ऊँचे किए जाते हैं और जिन पर लकड़ी का वह लंबा मोटा और मजबूत लट्ठा रखा जाता है जिसको 'बड़ेर' कहते हैं। कच्चे मकानों में प्रायः और पक्के में भी कभी कभी पाख बनाए जाते हैं। इनसे ठाठ को ढालू करने में सहायता होती है। पाख के सबसे ऊँचे भाग पर बड़ेर रखी जाती है जिस पर सारे ठाठ और खपरैलों का भार होता है। पाख का आकार इस प्रकार का होता है।

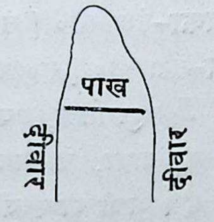

पाखर-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रक्षर, प्रक्खर] (१) लोहे की वह झूल जो लड़ाई के समय रक्षा के लिये हाथी वा घोड़े पर डाली जाती है। चार आईना। (२) राल चढ़ाया हुआ टाट या उससे बनी हुई पोशाक।

संज्ञा पुं० दे० "पाकर"।

पाखरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाखर = झूल] टाट का बना हुआ वह बिस्तरा जिसको गाड़ी में पहले बिछाकर तब अनाज भरा जाता है।

पाखा-संज्ञा पुं० [सं० पक्ष, प्रा० पक्ख] (१) कोना। छोर। उ०—पावक भाष्यो विष्णुपदी सो शंभु तेज अति घोरा। तजहु हिमाचल के पाखा में यह सम्मत है मोरा।—रघुराज। (२) दे० "पाख (२)"।

पाखान*†-संज्ञा पुं० [सं० पाषाण] पत्थर।

पाखानभेद-संज्ञा पुं० दे० "पखानभेद"।

पाखाना-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह स्थान जहाँ मल त्याग किया जाय। (२) भोजन के पाचन के उपरांत बचा हुआ मल जो अधोमार्ग से निकल जाता है। गू। गलीज। पुरीष।

मुहा०-पाखाने जाना=मलत्याग के लिये जाना। पाखाना निकलना = मारे भय के बुरा होना। जैसे, उन्हें देखते ही इनका पाखाना निकलता है। पाखाना फिरना=मल त्याग करना। पाखाना फिर देना = डर से घबरा जाना। भय से अत्यंत व्याकुल हो जाना। जैसे, शेर को देखते ही डर के मारे पाखाना फिर दोगे। पाखाना लगना = मल निकलने की आवश्यकता जान पड़ना। मल का वेग जान पड़ना।

पाग-संज्ञा स्त्री० [हिं० पग = पैर] पगड़ी।

विशेष-कहते हैं कि पगड़ी पहले पैर के घुटने पर बाँधकर तब सिर पर रखी जाती थी, इसी से यह नाम पड़ा।

संज्ञा पुं० [सं० पाक] (१) दे० "पाक"। (२) वह शीरा या चाशनी जिसमें मिठाइयाँ वा दूसरी खाने की चीजें डुबाकर रखी जाती हैं। उ०-आखर अरथ मंजु मदु मोदक राम प्रेम पाग पागिहै।-तुलसी। (३) चीनी के शीरे में पकाया हुआ फल आदि। जैसे, कुम्हड़ा पाग। (४) वह दवा या पुष्टई जो चीनी या शहद के शीरे में पकाकर बनाई जाय और जिसका सेवन जलपान के रूप में भी कर सकें।

पागना-क्रि० स० [सं० पाक] शीरे वा किवाम में डुबाना। मीठी चाशनी में सानना वा लपेटना। उ०—आखर अरथ मंजु मृदु मोदक राम प्रेम पाग पागिहै।—तुलसी।

क्रि० अ० किसी विषय में अत्यंत अनुरक्त होना। डूबना। मग्न होना। तन्मय होना। उ०—(क) पिय पागे परोसिन के रस में बस में न कहूँ बस मेरे रहैं।—पद्माकर। (ख) तब वसुदेव देवकी निरखत परम प्रेम रस पागे।—सूर।

पागल-वि० [सं०] [स्त्री० पगली] (१) विक्षिप्त। बौड़हा। सनकी। बावला। सिड़ी। जिसका दिमाग़ ठीक न हो।

यौ०-पागलखाना। पागलपन।

(२) क्रोध, शोक वा प्रेम आदि के उद्वेग में जिसकी भला बुरा सोचने की शक्ति जाती रही हो। जिसके होश हवास दुरुस्त न हों। आपे से बाहर। जैसे, (क) वे उनके प्रेम में पागल हो रहे हैं। (ख) वे मारे क्रोध के पागल हो गए हैं। (३) मूर्ख। नासमझ। बेवकूफ। जैसे, तुम निरे पागल हो।

पागलखाना-संज्ञा पुं० [हिं० पागल + फा० खाना] वह स्थान जहाँ

पागलों को रखकर उनका इलाज किया जाता है। पागलों के रखने का स्थान।

पागलपन–संज्ञा पुं० [हिं० पागल + पन (प्रत्य०)] (१) वह भीषण मानसिक रोग जिससे मनुष्य की बुद्धि और इच्छा शक्ति आदि में अनेक प्रकार के विकार होते हैं। उन्माद। बावलापन। विक्षिप्तता। चित्तविभ्रम। विशेष—दे० "उन्माद"। (२) मूर्खता। बेवकूफी।

पागली–संज्ञा स्त्री० दे० "पगली"।

पागुर†–संज्ञा पुं० दे० "जुगाली"।

पाचक–वि० [सं०] जो किसी कच्ची वस्तु को पचावे वा पकावे। पचाने वा पकानेवाला।

संज्ञा पुं० (१) वह नमकीन वा क्षारयुक्त औषध जो भोजन को पचाने और भूख तथा पाचन शक्ति को बढ़ाने के लिये खाई जाती है। (२) [स्त्री० पाचिका] भोजन पकानेवाला। रसोइया। बावर्ची। (३) पाँच प्रकार के पित्तों में से एक पित्त।

विशेष–वैद्यक में इसका स्थान आमाशय और पक्वाशय माना गया है। यही भोजन को पचाता और उससे उत्पन्न रस-वायु, पित्त, कफ, मूत्र, पुरीष आदि को अलग अलग करता है। अपने में स्थित अग्नि द्वारा यह अन्य चार पित्त स्थानों की क्रियाओं में सहायता करता है।

(४) पाचक पित्त में रहनेवाली अग्नि। (शरीर की गरमी का घटना बढ़ना इसी अग्नि की सबलता और निर्बलता पर निर्भर है)।

पाचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पचाने या पकाने की क्रिया। पचाना वा पकाना। (२) खाए हुए आहार का पेट में जाकर शरीर की धातुओं के रूप में परिवर्त्तन। अन्न आदि का पेट में जाकर उस रूप में आना जिस रूप में वह शरीर का पोषण करता है। विशेष–दे० 'पक्वाशय'।

यौ०—पाचनशक्ति।

(३) वह औषधि जो आम अथवा अपक्व दोष को पचावे।

विशेष—पाचन औषध प्रायः काढ़ा करके दी जाती है। यह औषध १६ गुने पानी में पकाई जाती है और चौथाई रह जाने पर व्यवहार में लाई जाती है। वैद्यक में प्रत्येक रोग के लिये अलग अलग पाचन लिखा है जो कुल मिलाकर ३०० से अधिक होते हैं।

(४) प्रायश्चित्त। (५) खट्टा रस। (६) अग्नि। (७) लाल एरंड।

वि० (१) पचानेवाला। हाज़िम। (२) किसी विशेष वस्तु के अजीर्ण को नाश करनेवाली औषधि।

विशेष—विशेष विशेष वस्तुओं के खाने से उत्पन्न अजीर्ण विशेष पदार्थों के खाने से नष्ट होता है। जो वस्तु जिसके अजीर्ण को नष्ट करती है उसे उसका पाचन कहते हैं। जैसे, कटहल का पाचन केला, केले का घी और घी का जँभीरी नीबू पाचक है। इसी प्रकार आम और भात के अजीर्ण का दूध, दूध के अजीर्ण का अजवायन, मछली तथा मांस के अजीर्ण का मट्ठा पाचन है। गरम मसाला हल्दी, हींग, सोंठ, नमक आदि साधारण रीति से सभी द्रव्यों के पाचन हैं।

पाचनक–संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

पाचनगण–संज्ञा पुं० [सं०] पाचन ओषधियों का वर्ग। जैसे, काली मिर्च, अजवायन, सोंठ, चव्य, गजपीपल, काकड़ासिंगी आदि।

पाचनशक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शक्ति जो भोजन को पचावे। आमाशय और पक्वाशय में रहनेवाले पित्त तथा अग्नि की शक्ति। हाजमा।

पाचना*–क्रि० स० [सं० पाचन] (१) पकाना। (२) अच्छी तरह पकाना। परिपक्व करना। उ०—निसि दिन स्याम सुमिरि यश गावे कलपन मेटि प्रेमरस पाचै।—सूर

पाचनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] हड़।

पाचनीय–वि० [सं०] जो पचाई या पकाई जा सके। पचाने या पकाने योग्य। पाच्य।

पाचयिता–वि० [सं० पाचयतृ] (१) पाक करनेवाला। रसोइया। (२) पचानेवाला। हाजिम।

पाचर†–संज्ञा पुं० [देश०] दे० "पच्चर"।

पाचिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] रसोईदारिन। रसोई करनेवाली।

पाची–संज्ञा स्त्री० [सं० पत्री] एक प्रकार की लता जिसे वैद्यक में कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, वातविकार, प्रेत और भूत की बाधा, चर्मरोग और फोड़े फुंसियों में उपकारक माना है। पाची या पच्ची लता। मर्कतपत्री। हरित पत्रिका।

पाच्छा, पाच्छाह†–संज्ञा पुं० दे० "बादशाह"।

पाच्य–वि० [सं०] जो पचाया या पकाया जा सके। पचाने या पकाने योग्य। पचनीय।

पाछ–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाछना] (१) जंतु या पौधे के शरीर पर छुरी की धार आदि मारकर ऊपर ऊपर किया हुआ घाव जो गहरा न हो। (२) पोस्ते के डोडे पर नहरनी से लगाया हुआ चीरा जिससे गोंद के रूप में अफीम निकलती है। (३) किसी वृक्ष पर उसका रस निकालने के लिये लगाया हुआ चीरा।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

‡ संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] पीछा। पिछला भाग।

क्रि० वि० पीछे। उ०—ब्रह्म लोक लगि गयउँ मैं चितयउँ

पाछ उड़ात। जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहिं मोहिं तात।—तुलसी।

पाछना–क्रि० स० [हिं० पंछा] जंतु या पौधे के शरीर पर छुरी की धार इस प्रकार मारना कि वह दूर तक न धँसे और जिससे केवल ऊपर ऊपर का रक्त आदि निकल जाय। छुरा वा नहरनी आदि से रक्त, पंछा या रस निकालने के लिये हलका चीरा लगाना। चीरना। उ०—सुनि सुत वचन कहत कैकेई। मरमु पाछि जनु माहुर देई।—तुलसी।

पाछल, पाछलु*–वि० दे० "पिछला"।

पाछा*–संज्ञा पुं० दे० "पीछा"।

पाछिल, पाछिलो*–वि० दे० "पिछला"। उ०—पाछिल मोह समुझि पछताना। ब्रह्म अनादि मनुज कर माना।—तुलसी।

पाछी*–क्रि० वि० [हिं० पाछ] पीछे की ओर। पीछे। उ०—यक दिन सूनक राखि यक बाछी। नंददास घर के कछु पाछी।—रघुराज।

पाछू‡–क्रि० वि० दे० "पीछे"।

पाछें, पाछे*‡–क्रि० वि० दे० "पीछे"।

पाज–संज्ञा पुं० [सं० पाजस्य] पाँजर। उ०—निरखि छबि फूलत हैं व्रजराज। उत जसुदा इत आपु परस्पर आडे रहे कर पाज।—सूर।

पाजरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक वनस्पति जिससे रंग निकाला जाता है।

पाजस्य–संज्ञा पुं० [सं०] पाँजर। छाती और पेट की बगल का भाग। पार्श्व।

पाजा–संज्ञा पुं० [देश०] दे० "पायजा"।

पाजामा–संज्ञा पुं० [फा०] पैर में पहनने का एक प्रकार का सिला हुआ वस्त्र जिससे टखने से कमर तक का भाग ढका रहता है। इसके टखने की ओर के अंतिम भाग को मुहरी या मोरी, जितना भाग एक एक पैर में होता है उसे पायचा, दोनों पायचों के मिलानेवाले भाग को मियानी, कमर की ओर के अंतिम भाग को जिसमें इजारबंद रहता है नेफा और जिस सूत या रेशम के बंधनों को नेफे में डालकर कसते हैं, उसे इजारबंद कहते हैं। पाजामे के कई भेद हैं—(क) चूड़ीदार, जो घुटने के नीचे इतना तंग होता है कि सहज में पहना या उतारा नहीं जा सकता। पहनने पर घुटने के नीचे इसमें बहुत से मोड़ पड़ जाते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं—आड़ा और खड़ा। आड़े की काट नीचे से ऊपर तक आड़ी और खड़े की खड़ी होती है। कभी कभी इसमें मोहरी की तरफ तीन बटन लगते हैं। उस दशा में मोहरी और भी तंग रखी जाती है। (ख) बरदार, जो घुटने के नीचे और ऊपर बराबर चौड़ा होता है। इसकी एक एक मुहरी एक हाथ से कम चौड़ी नहीं होती। (ग) अरबी, जिसकी मोहरी चूड़ीदार से अधिक ढीली होती है और जो अधिक लंबा न होने के कारण सहज में पहन लिया जाता है। (घ) पतलूननुमा जिसकी मोहरी बरदार से कम और अरबी से अधिक चौड़ी होती है। आजकल इसी पाजामे का रवाज अधिक है। (ङ) कलीदार या जनाना पाजामा जो नेफे की तरफ कम और मोहरी की तरफ अधिक चौड़ा रहता है। इसके नेफे का घेरा १ गज और मोहरी का २½ गिरह होता है। इसमें बहुत सी कलियाँ होती हैं जिनका चौड़ा भाग मोहरी की ओर और तंग भाग नेफे की ओर होता है। (च) पेशावरी, जो कलीदार का प्रायः उलटा होता है अर्थात् नेफा १¼ गज और मोहरी प्रायः २½ गिरह चौड़ी होती है। (छ) काबुली और (ज) नेपाली भी इसी प्रकार के होते हैं। पहले के नेफे का घेरा ४ गज और दूसरे का २½ गज होता है। इनमें कलियों की स्थापना कलीदार की उलटी होती है। सुथना। तमान। इजार।

विशेष–पाजामे का व्यवहार इस देश में कब से आरंभ हुआ, उपलब्ध इतिहासों से इसका निश्चय नहीं होता। अधिकतर लोगों का ख्याल है कि यह मुसलमानों के साथ यहाँ आया। पहले यहाँ के लोग धोती ही पहना करते थे। परंतु पहाड़ियों और शीतप्रधान प्रदेशों के रहनेवालों में आजकल इसका जितना व्यवहार है उससे संदेह हो सकता है कि पहले भी उनका काम इसके बिना न चलता रहा होगा। आजकल हिंदू मुसलमान दोनों पाजामा पहनते हैं, पर मुसलमान अधिक पहनते हैं।

पाजी–संज्ञा पुं० [सं० पदाति] (१) पैदल सेना का सिपाही। प्यादा। (२) रक्षक। चौकीदार। उ०—पउरी नवउ बजर कइ साजी। सहस सहस तहँ बइठे पाजी।—जायसी।

वि० [सं० पाय्य] दुष्ट। लुच्चा। खोटा। कमीना।

पाजीपन–संज्ञा पुं० [हिं० पाजी + पन (प्रत्य०)] दुष्टता। खुटाई। कमीनापन। नीचता।

पाजेब–संज्ञा स्त्री० [फा०] स्त्रियों का एक गहना जो पैरों में पहना जाता है। यह चाँदी का होता है और इसमें घुँघरू टके होते हैं। मंजीर। नूपुर।

पाटंबर–संज्ञा पुं० [सं०] रेशमी वस्त्र। रेशमी कपड़ा।

पाट–संज्ञा पुं० [सं० पट्ट, पाट] (१) रेशम।

यौ०—पाटंबर। पाटकृमि।

(२) बटा हुआ रेशम। नख। (३) रेशम के कीड़े का एक भेद। (४) पटसन या पाटसन के रेशे। जैसे, पाट की धोती। विशेष–दे० "पटसन"। (५) राज्यासन। सिंहासन। गद्दी।

यौ०–राजपाट । पाटरानी । पाटमहिषी ।

(६) चौड़ाई । फैलाव । जैसे, नदी का पाट, धोती का पाट । (७) पल्ला । पीढ़ा । तख्ता । (८) कोई शिला या पटिया । (९) वह शिला जिस पर धोबी कपड़े धोता है । (१०) चक्की का एक ओर का भाग । (११) वह चिपटा शहतीर जिस पर कोल्हू हाँकनेवाला बैठता है । (१२) वह शहतीर जो कुएँ के मुँह पर पानी निकालनेवाले के खड़े होने के लिये रखा जाता है । (१३) मृदंग के चार वर्णों में से एक । (१४) बैलों का एक रोग जिसमें उनके रोओं से रक्त बहता है ।

क्रि० प्र०—फूटना ।

पाटक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक स्वरवाद्य । (२) गाँव का आधा भाग । (३) तट । किनारा । (४) पासा ।

पाटकरण–संज्ञा पुं० [सं०] शुद्ध जाति के रागों का एक भेद ।

पाटच्चर–संज्ञा पुं० [सं०] चोर ।

पाटद–संज्ञा पुं० [सं०] कपास ।

पाटन–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाटना] (१) पाटने की क्रिया वा भाव । पटाव । (२) जो कुछ पाटकर बनाया जाय । कच्ची या पक्की छत । (३) मकान की पहली मंजिल से ऊपर की मंजिलें । (४) सर्प का विष उतारने के मंत्र का एक भेद । जिसको साँप ने काटा हो उसके कान के पास पाटन मंत्र चिल्लाकर पढ़ा जाता है । उ०—काम भुवंग विषय लहरी सी । मणि मयूर पाटन गहरी सी ।—विश्राम । (५) कई प्राचीन नगरों के नाम ।

संज्ञा पुं० [सं०] पाटने की क्रिया या भाव ।

पाटना–क्रि० स० [हिं० पाट] (१) किसी नीचे स्थान को उसके आस पास के धरातल के बराबर कर देना । किसी गहराई को मिट्टी, कूड़े आदि से भर देना । (२) किसी चीज की रेल पेल कर देना । ढेर लगा देना । उ०—नाटक नाट्य धार घाटनं में सुख पाटत कमनीया ।—रघुराज । (३) दो दिवारों के बीच या किसी गहरे स्थान के आर पार धरन, लकड़ी के बल्ले आदि बिछाकर आधार बनाना । छत बनाना । (४) तृप्त करना । सींचना ।

पाटमहिषी–संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट = सिंहासन+महिषी=रानी] वह रानी जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठ सकती हो । पटरानी । प्रधान रानी ।

पाटरानी–संज्ञा स्त्री० [सं० पट्ट = सिंहासन + रानी] पटरानी । प्रधान रानी ।

पाटल–संज्ञा पुं० [सं०] पाड़र या पाढर का पेड़ जिसके पत्ते बेल के समान होते हैं । लाल और सफेद फूलों के भेद से यह दो प्रकार का होता है । वैद्यक में इसे उष्ण, कषाय, स्वादिष्ट तथा अरुचि, सूजन, रुधिरविकार, श्वास और तृषा आदि को दूर करनेवाला माना है ।

पर्या०—पाटला । कबुंरा । अमोघा । फलेरुहा । अंबुवासिनी । कृष्णवृंता । कालवृंता । कुंभी । ताम्रपुष्पी । कुबेराक्षी । तोयपुष्पी । वसंतदूती । स्थाली । स्थिरगंधा । अंबुवासी । कोकिला ।

पाटलकीट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा ।

पाटलद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] पुन्नाग वृक्ष । राजचंपक ।

पाटला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर का वृक्ष । (२) लाल लोध । (३) जलकुंभी । (४) दुर्गा का एक रूप ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बढ़िया सोना जो भारत में ही शुद्ध करके काम में लाया जाता है । वह बंक के सोने से कुछ हलका और सस्ता होता है ।

पाटलावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) प्राचीन काल की एक नदी का नाम ।

पाटलि, पाटली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर का वृक्ष । (२) पांडुफली ।

पाटलिपुत्र, पाटलीपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] मगध का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर जो इस समय भी विहार का मुख्य नगर है । आजकल यह पटने के नाम से प्रसिद्ध है । प्राचीन पाटलिपुत्र वर्त्तमान पटने से प्रायः २$\frac{1}{2}$ मील पूर्व गंगा के तट पर जहाँ इस समय कुम्हरार नामक ग्राम है स्थित था । खुदाई से वहाँ उसके बहुत से चिह्न मिले हैं । बुद्ध की परवर्त्ती कई शताब्दियों में यह नगर भारत का सर्वप्रधान नगर और अत्यंत उन्नत तथा समृद्ध था । विदेशी यात्रियों ने अपने यात्रा-वृत्तांतों में इसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है । प्राचीन पुस्तकों में इसका नाम पुष्पपुर और कुसुमपुर भी लिखा है । वर्तमान पटना शेरशाह सूर का बसाया हुआ है ।

विशेष—ब्रह्मपुराण में लिखा है कि महाराज उदायी या उदयन ने गंगा के दाहिने किनारे पर इस नगर को बसाया । यह मगधराज अजातशत्रु का पुत्र था जो बुद्ध का समकालिक था । बौद्धों के "महानिब्बाहनसुत्त" नामक ग्रंथ में इसके निर्माण के विषय में यह कथा लिखी है—भगवान बुद्ध नालंद से वैशाली जाते हुए पाटली ग्राम में पहुँचे । वहाँ के निवासियों ने उनके लिये एक विश्रामागार बनवा दिया । उन्होंने आशीर्वाद दिया कि यह ग्राम एक विशाल नगर होगा और अग्नि, जल तथा विश्वासघातकता के आघात सहन करेगा । मगधराज के दो मंत्री कोई ऐसा नगर बसाने के लिये उपयुक्त स्थान ढूँढ़ रहे थे जिसमें रहकर निशिव नामक व्रात्य क्षत्रियों के उप-आक्रमण से देश की रक्षा की जा सके ।

युक्त आशीर्वाद की बात सुनते ही उन्होंने पाटली में नगर बसाना आरंभ कर दिया। इसी का नाम पाटलिपुत्र पड़ा। भविष्य पुराण के अनुसार विश्वामित्र के पिता गाधि की कन्या पाटली के इच्छानुसार कौंडिल्य मुनि के पुत्र ने मंत्र-बल से इस नगर को बसाया और इसी से पाटलीपुत्र नाम रखा।

पाटली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाडर। (२) पांडुफली। (३) पटने की अधिष्ठात्री देवी। (४) गाधि की पुत्री जिसके अनुरोध से पाटलीपुत्र बसा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पाट] लकड़ी की एक बल्ली जिसमें बहुत से छेद होते हैं और प्रत्येक छेद में से मस्तूल की एक एक रस्सी निकाली जाती है। इससे रात में किसी विशेष रस्सी को अलग करने में कठिनाई नहीं पड़ती। (लश०)

पाटली तैल-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध-तैल जिसके लगाने से जले हुए स्थान की जलन, पीड़ा और चेप बहना दूर होता है, इससे चेचक की भी शांति होती है। इसके बनाने की विधि इस प्रकार है—पाडर या पाढर की छाल के ८ सेर का ६४ सेर पानी में काढ़ा किया जाय। चौथाई रह जाने पर ८ सेर सरसों के तेल में डालकर फिर धीमी आँच में वह पकाया जाय। तेलमात्र रह जाने पर छानकर काम में लाए।

पाटलोपल-संज्ञा पुं० [सं०] एक मणि जिसका रंग सफेदी लिए हुए लाल होता है। लाल।

पाटव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पटुता। चतुराई। कुशलता। चालाकी। (२) दृढ़ता। मज़बूती। पक्कापन। (३) आरोग्य।

पाटविक-वि० [सं०] (१) पटु। कुशल। (२) धूर्त्त।

पाटवी-वि० [हिं० पाट] (१) पटरानी से उत्पन्न (राजकुमार)। उ०—तैं मम प्रभु सुत पाटवी मैं तुव पितु पद दास।—रघुराज। (२) रेशमी। कौषेय। रेशम से बुना हुआ (वस्त्र)। उ०—गल हैकल सिर सुवरण श्रृंगा। पीठ पाटवी झूल अभंगा।—रघुराज।

पाटसन-संज्ञा पुं० [सं० पट्टशण] पटसन। पटुआ।

पाटहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पटह बजानेवाला। उस बड़े ढोल का बजानेवाला जो लड़ाई आदि में बजता है। (२) गुंजा। घुँघची।

पाटा-संज्ञा पुं० [हिं० पाट] (१) पीढ़ा।

मुहा०—**पाटा फेरना** = पीढ़ा बदलना। विवाह में वर के पीढ़े पर कन्या को और कन्या के पीढ़े पर वर को बिठाना।

(२) दो दीवारों के बीच बाँस, बल्ली, पटिया, आदि देकर बनाया हुआ आधारस्थान जिस पर चीजें रखी जाती हैं। टाँड़। दासा।

पाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक दिन की मजदूरी। (२) एक पौधा। (३) छाल या छिलका।

पाटित-वि० [सं०] काटा हुआ।

पाटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिपाटी। अनुक्रम। रीति। (२) गणनादि का क्रम। जोड़, बाकी, गुणा, भाग आदि का क्रम।

यौ०—पाटीगणित।

(३) श्रेणी। आवलि। पंक्ति। पाँत। (४) वला नामक क्षुप। खरैंटी।

हिं० [सं० पाट, पाटी] (१) लकड़ी की वह प्रायः लंबोतरी पट्टी जिस पर विद्यारंभ करनेवाले छात्र गुरु से पाठ लेते वा लिखने का अभ्यास करते हैं। तख्ती। पटिया। (२) पाठ। सबक।

मुहा०—**पाटी पढ़ना** = पाठ पढ़ना। सबक लेना। शिक्षा पाना। उ०—तुम कौन धों पाटी पढ़े हो लला मन लेत हौ देत छटाँक नहीं।—घनानंद। **पाटी पढ़ाना** = पाठ पढ़ाना। शिक्षा देना। कोई बात सिखा देना।

(३) माँग के दोनों ओर तेल, गोंद वा जल की सहायता से कंघी द्वारा बैठाए हुए बाल जो देखने में बराबर मालूम हों। पट्टी। पटिया। उ०—मुँड़ली पाटी पारन चाहैं, नकटी पहिरै बेसर।—सूर।

क्रि० प्र०—पारना।—बैठाना।

(४) लकड़ी का वह गोला, चिपटा वा चौकोर पतला बल्ला जो खाट की लंबाई के बल में दोनों ओर रहता है। चारपाई के ढाँचे में लंबाई की ओर की पट्टी। चारपाई के ढाँचे का पार्श्वभाग। (५) चटाई।

यौ०—शीतलपाटी।

(६) शिला। चट्टान। (७) मछलियाँ पकड़ने के लिये बहते पानी को मिट्टी के बाँध वा वृक्षों की टहनियों आदि से रोककर एक पतले मार्ग से निकालने और वहाँ पहरा बिछाने की क्रिया।

क्रि० प्र०—बिछाना।—लगाना।

(८) खपरैल की नरिया का प्रत्येक आधा भाग। (९) जंती।

पाटीर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चंदन।

पाटूनी†-संज्ञा पुं० [देश०] वह मल्लाह जो किसी घाट का ठेकेदार हो। घटवार।

पाट्य-संज्ञा पुं० [सं०] पटसन।

पाठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पढ़ने की क्रिया या भाव। पढ़ाई। (२) किसी पुस्तक विशेषतः धर्मपुस्तक को नियमपूर्वक पढ़ने की क्रिया वा भाव। जैसे, वेदपाठ, स्तोत्रपाठ।

यौ०—पाठदोष। पाठप्रणाली।

(३) जो कुछ पढ़ा या पढ़ाया जाय। पढ़ने वा पढ़ाने

का विषय। (४) उक्त विषय का उतना अंश जो एक दिन में वा एक बार पढ़ा जाय। सबक। संथा।

क्रि० प्र०—देना।—पढ़ना।—पाना।

मुहा०—**पाठ पढ़ना** = कुछ सीखना; विशेषतः कोई बुरी बात। जैसे, आजकल वे जुए का पाठ पढ़ रहे हैं। **पाठ पढ़ाना** = अपने मतलब के लिये किसी को बहकाना। पट्टी पढ़ाना। **उलटा पाठ पढ़ाना** = कुछ का कुछ समझा देना। असलियत के विरुद्ध विश्वास करा देना। बहका देना।

(५) पुस्तक का एक अंश। परिच्छेद। अध्याय। (६) शब्दों या वाक्यों का क्रम वा योजना। जैसे, अमुक पुस्तक में इस दोहे का यह पाठ है।

यौ०—पाठभेद। पाठांतर।

† [हिं० पट्ठा] जवान गाय, भैंस या बकरी।

पाठक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो पढ़े। पढ़नेवाला। वाचक। (२) जो पढ़ावे। पढ़ानेवाला। अध्यापक। (३) धर्मोपदेशक। (४) गौड़, सारस्वत, सर्यूपारीण, गुजराती आदि ब्राह्मणों का एक वर्ग।

पाठदोष—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ने का वह ढंग वा पढ़ने के समय की वह चेष्टा जो निंद्य और वर्जित है। जैसे, विकृत वा कठोर स्वर से पढ़ना, अव्यक्त अस्पष्ट, सानुनासिक वा बहुत ठहर ठहरकर उच्चारण करना, गाकर पढ़ना, शिरादि अंगों को हिलाना। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में ऐसे दोषों की संख्या अट्ठारह मानी गई है।

पाठन—संज्ञा पुं० [सं०] पढ़ाने की क्रिया वा भाव। पढ़ाना। अध्यापन।

पाठना*—संज्ञा स्त्री० [सं० पाठन] पढ़ाना।

पाठपद्धति—संज्ञा स्त्री० [सं०] पढ़ने की रीति वा ढंग।

पाठप्रणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] पढ़ने की रीति वा ढंग।

पाठभू—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जगह जहाँ वेदादि का पाठ किया जायं। (२) ब्रह्मारण्य।

पाठभेद—संज्ञा पुं० [सं०] वह भेद या अंतर जो एक ही ग्रंथ की दो प्रतियों के पाठ में कहीं कहीं हो। पाठांतर।

पाठमंजरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मैना।

पाठशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पढ़ा वा पढ़ाया जाय। मदरसा। स्कूल। विद्यालय। चटसाल।

पाठशालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मैना। शारिका।

पाठांतर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही पुस्तक की दो प्रतियों के लेख में किसी विशेष स्थल पर भिन्न शब्द वाक्य अथवा क्रम। भिन्न भिन्न स्थलों में लिखे हुए एक ही वाक्य के कुछ शब्दों वा एक ही शब्द के कुछ अक्षरों का अदल बदल। जैसे, अमुक दोहे के कई पाठांतर मिलते हैं। अन्य पाठ। दूसरा पाठ। पाठभेद। (२) पाठांतर होने का भाव। पाठ का भेद। पाठभिन्नता।

पाठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता। पाढ़। इसके पत्ते कुछ नोकदार गोल, फूल छोटे सफेद और फल मकोय के से होते हैं। फलों का रंग लाल होता है। यह दो प्रकार की होती है—छोटी और बड़ी। गुण दोनों के समान हैं। वैद्यक में यह कड़वी, चरपरी, गरम, तीखी, हलकी, टूटी हड्डियों को जोड़नेवाली, पित्त, दाह, शूल, अतिसार, वातपित्त, ज्वर, वमन, विष, अजीर्ण, त्रिदोष, हृदयरोग, रक्तकुष्ट, कंडु, श्वास, कृमि, गुल्म, उदर रोग, व्रण और कफ वात का नाश करनेवाली मानी गई है।

विशेष—बहुधा लोग घाव पर इसकी टहनी को बाँधे रहते हैं। वे समझते हैं कि इसके रहने से घाव बिगड़ या सड़ न सकेगा। इसकी सूखी जड़ मूत्राशय की जलन में लाभदायक होती है। पक्वाशय की पीड़ा में भी इसका व्यवहार किया जाता है। जहां सांप ने काटा या बिच्छू ने डंक मारा हो वहाँ भी ऊपर से इसके बांधने से लाभ होता है।

पर्या०—पाठिका। अंबष्ठा। अंबष्ठिका। यूथिका। स्थापनी। विद्धकर्णिका। दीपनी। वनतिक्तिका। तिक्तपुष्पा। बृहत्तिक्ता। मालती। वरा। प्रतानिनी। रक्तघ्न। विषहंत्री। महौजसी। वीरा। वल्लिका।

संज्ञा पुं० [सं० पुष्ट, हिं० पट्ठा] [स्त्री० पाठी] (१) वह जो जवान और परिपुष्ट हो। हृष्टपुष्ट। मोटा तगड़ा। जैसे, जब साठा तब पाठा। (२) जवान बैल, भैंसा या बकरा।

पाठालय—संज्ञा पुं० [सं०] पाठशाला।

पाठिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पढ़नेवाली। (२) पढ़ानेवाली। (३) पाठा। पाढ़।

पाठित—वि० [सं०] पढ़ाया हुआ। सिखाया हुआ।

पाठी—संज्ञा पुं० [सं० पाठिन्] (१) पाठ करनेवाला। पाठक। पढ़नेवाला।

यौ०—वेदपाठी। त्रिपाठी।

(२) चीता। चित्रक वृक्ष।

पाठीकुट—संज्ञा पुं० [सं०] चीते का पेड़।

पाठीन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहिना वा पढिना नाम की मछली। (२) गूगल का पेड़।

पाठ्य—वि० [सं०] (१) जो पढ़ने योग्य हो। पठनीय। पठितव्य। (२) जो पढ़ाया जाय।

पाड़—संज्ञा पुं० [हिं० पाट] (१) धोती साड़ी आदि का किनारा। (२) मचान। पायठ। (३) लकड़ी की जाली या ठटरी जो कुए के मुँह पर रखी रहती है। कटकर। चह। (४) बाँध। पुश्ता। (५) वह तखता जिस पर खड़ा कराके फाँसी दी जाती है। तिकठी। (६) दो दीवारों के बीच

पटिया देकर या पाटकर बनाया हुआ आधारस्थान । पाटा । दासा ।

पाड़ई-संज्ञा स्त्री० [सं० पाटल] पाटल नामक वृक्ष । उ०—जहाँ निवारी सेवती मिलि झूमक हो । बहु पाड़इ विपुल गँभीर मिलि झूमक हो ।—सूर ।

पाडल-संज्ञा पुं० दे० "पाटल" ।

पाडलीपुर-संज्ञा पुं० [सं० पाटलिपुत्र] दे० "पाटलीपुत्र" ।

पाडसाली-संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण भारत में रहनेवाली जुलाहों की एक जाति । बाघल कोट आदि स्थानों में इस जाति के जुलाहे पाए जाते हैं । लिंगायतों से इनमें बहुत कम अंतर है । ये भी गले में लिंग पहनते और सिर में भस्म रमाते हैं । ये मांस मद्य आदि का सेवन नहीं करते । ये एक गोत्र में विवाह नहीं करते ।

पाड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पट्टन] पुरवा । टोला । महल्ला ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक सामुद्रिक मछली जो भारतीय महासागर में पाई जाती है । यह प्रायः तीन फुट लंबी होती है ।

पाडिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मिट्टी का बरतन । हाँडी ।

पाढ़-संज्ञा पुं० [सं० पाटा] (१) पाटा । (२) सुनारों का एक औज़ार जिससे नक्काशी करते हैं । (३) वह पीढ़ा या पाटा जिस पर बैठकर सुनार लुहार आदि काम करते हैं (४) लकड़ी की वह छोटी सीढ़ी जिसके डंडे कुछ ढालू होते हैं । (५) वह मचान जिस पर फसल की रखवाली के लिये खेतवाला बैठता है । (६) कुएँ के मुँह पर रखी हुई लकड़ी की चह । पाड़ ।

पाढ़त*-संज्ञा स्त्री० [हिं० पढ़ना] (१) जो कुछ पढ़ा जाय । जिसका पाठ किया जाय । (२) मंत्र । जादू । पढंत । उ०—आई कुमोदिनी-चितौर चढ़ी । जोहन मोहन पाढ़त पढ़ी ।—जायसी ।

पाढर-संज्ञा पुं० [सं० पाटल] पाडर का पेड़ ।

पाढल-संज्ञा पुं० दे० "पाटल" ।

पाढा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का हिरन । इसकी खाल पर सफेद चित्तियाँ होती हैं । चित्रमृग ।

संज्ञा स्त्री० दे० "पाठा" ।

पाढी-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) सूत की एक लच्छी । (२) वह नाव जो यात्रियों को पार पहुँचाने के लिये नियत हो ।

पाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यापार । तिजारत । खरीद बिकरी । (२) दाँव । बाजी । (३) हाथ । कर । (४) प्रशंसा ।

पाणि-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ । कर ।

यौ०—पाणिग्रह । पाणिग्राहक ।

पाणिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो खरीदा जा सके । सौदा । (२) हाथ । (३) कार्त्तिकेय का एक गण ।

पाणिकच्छपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कूर्ममुद्रा ।

पाणिकर्म्मा-संज्ञा पुं० [सं० पाणिकर्म्मन्] (१) शिव । (२) हाथ से बाजा बजानेवाला ।

पाणिकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव ।

पाणिका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का गीत वा छंद । (२) चम्मच के आकार का एक पात्र ।

पाणिकुर्च्चा-संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय का एक गण ।

पाणिखात-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थस्थान ।

पाणिगृहीती-वि० स्त्री० [सं०] जिसका ब्याह में पाणिग्रहण किया गया हो । धर्मशास्त्रानुसार ब्याही हुई ।

पाणिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह ।

पाणिग्रहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह की एक रीति जिसमें कन्या का पिता उसका हाथ वर के हाथ में देता है । विशेष-दे० "विवाह" । (२) विवाह । ब्याह ।

पाणिग्रहणिक-वि० [सं०] (१) विवाह संबंधी । (२) विवाह में दिया जानेवाला (उपहार) । (३) विवाह में पढ़ा जानेवाला (मंत्र) ।

विशेष-आश्वलायन गृह्यसूत्र के "अर्य्यमनं नु देवं कन्या अग्निमयाक्षत" से लगाकर १६ वें सूत्र तक के मंत्र "पाणिग्रहणिक" कहाते हैं ।

पाणिग्रहणीय-वि० [सं०] (१) विवाह संबंधी । (२) विवाह में दिया जानेवाला (उपहार) ।

पाणिग्राह, पाणिग्राहक-संज्ञा पुं० [सं०] पति ।

पाणिघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो हाथ से कोई बाजा बजावे । मृदंग ढोल आदि बजानेवाला । (२) हाथ से बजाए जानेवाले मृदंग ढोल आदि बाजे । (३) कारीगर । शिल्पी ।

पाणिघात-संज्ञा पुं० [सं०] थप्पड़ । मुक्का । चपत । घूँसा ।

पाणिज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उँगली । (२) नख । नाखून । (३) नखी ।

पाणितल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हथेली । (२) वैद्यक में एक परिमाण जो दो तोले के बराबर होता है ।

पाणिताल-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में एक विशेष ताल ।

पाणिधर्म्म-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह संस्कार ।

पाणिन-संज्ञा पुं० दे० "पाणिनि" ।

पाणिनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध मुनि जिन्होंने अष्टाध्यायी नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ की रचना की । पेशावर के समीपवर्ती शालातुर (सलात्) नामक ग्राम इनका जन्मस्थान माना जाता है । इनकी माता का नाम दाक्षी और दादा का देवल था । माता के नाम पर इन्हें दाक्षीपुत्र या दाक्षेय तथा ग्राम के नाम पर शाला-

तुरीय कहते हैं। आहिक, प्राणिन, शालंकी आदि इनके और भी कई नाम हैं। इनके समय के विषय में पुरातत्वज्ञों में मतभेद है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इन्हें ईसा के पाँच सौ, चार सौ और तीन सौ वर्ष पहले का माना है। किसी किसी के मत से ये ईसा की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे। अधिकतर लोगों ने ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी को ही आपका समय माना है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ और विद्वान् डा० सर रामकृष्ण भांडारकर भी इसी मत के पोषक हैं। पाणिनि के पहले शाकल्य, बाभ्रव्य, गालव, शाकटायन आदि आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणों की रचना की थी; पर उनके व्याकरण सर्वांगसुंदर तो क्या पूर्ण भी न थे। इन्होंने बड़े परिश्रम से सब प्रकार के वैदिक और अपने समय तक प्रचलित सब शब्दों को एकट्ठा कर उनकी व्युत्पत्ति तथा रूप आदि के व्यापक नियम बनाए। इनकी "अष्टाध्यायी" इतनी उत्तम और सर्वांगसुंदर बनी कि आज प्रायः ढाई हजार वर्षों से व्याकरण विषय पर संस्कृत में जो कुछ लिखा गया प्रायः उसी के भाष्य, टीका या व्याख्यान के रूप में लिखा गया; एकाध को छोड़कर किसी वैयाकरण को नया ग्रंथ बनाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। अष्टाध्यायी इनके प्रकांड शब्दशास्त्र-ज्ञान और असाधारण प्रतिभा का प्रमाण है। संस्कृत ऐसी भाषा के व्याकरण को जितने संक्षेप में इन्होंने निबटाया है उसे देखकर शब्दशास्त्रज्ञों को दाँतों उँगली दबानी पड़ती है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त "शिक्षा सूत्र" "गणपाठ" "धातुपाठ" और "लिंगानुशासन" नामक पुस्तकों की भी इन्होंने रचना की है। राजशेखर आदि कई कवियों ने जांबवती-विजय नामक पाणिनि के एक काव्य का भी उल्लेख किया है जिससे उद्धृत श्लोक इधर उधर मिलते हैं।

विशेष—ह्वेनसांग ने इनकी व्याकरण रचना के विषय में लिखा है कि प्राचीन काल में विविध ऋषियों के आश्रमों में विविध वर्णमालाएँ प्रचलित थीं। ज्यों ज्यों लोगों की आयु-मर्यादा घटती गई त्यों त्यों उनके समझने और याद रखने में कठिनाई होने लगी। पाणिनि को भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस पर उन्होंने एक सुशृंखलित और सुव्यवस्थित शब्दशास्त्र बनाने का निश्चय किया। शब्दविद्या की प्राप्ति के लिये उन्होंने शंकर का आराधन किया जिस पर उन्होंने प्रकट होकर यह विद्या उन्हें प्रदान की। घर आकर पाणिनि ने भगवान् शंकर से पढ़ी हुई विद्या को पुस्तक रूप में निबद्ध किया। तत्कालीन राजा ने उनके ग्रंथ का बड़ा आदर किया। राज्य की समस्त पाठशालाओं में उसके पठन पाठन की आज्ञा की और घोषणा की कि जो कोई उसे आदि से अंत तक पढ़ेगा उसे एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ इनाम दी जायँगी। इनके विषय में एक कथा यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार ये जंगल में बैठे हुए अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। इतने में एक जंगली हाथी आकर इनके और शिष्यों के बीच से होकर निकल गया। कहते हैं कि यदि गुरु और शिष्य के बीच में से जंगली हाथी निकल जाय तो बारह वर्ष का अनध्याय हो जाता है—१२ वर्ष तक गुरु को अपने शिष्यों को न पढ़ाना चाहिए। इसी कारण इन्होंने बारह वर्ष के लिये शिष्यों को पढ़ाना छोड़ दिया और इसी बीच में अपने प्रसिद्ध व्याकरण की रचना कर डाली।

पाणिनीय–वि० [सं०] (१) पाणिनिकृत (ग्रंथ आदि)। (२) पाणिनि प्रोक्त। पाणिनि का कहा हुआ। (३) पाणिनि में भक्ति रखनेवाला। पाणिनि-भक्त। (४) पाणिनि का ग्रंथ पढ़नेवाला।

पाणिनीय दर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] पाणिनि का अष्टाध्यायी व्याकरण। "सर्वदर्शनसंग्रह" कार ने पाणिनीय व्याकरण को भी दर्शन की श्रेणी में स्थान दिया है। इस दर्शन के मत से स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द ही जगत् का आदि कारण रूप परब्रह्म है। अनादि अनंत अक्षर शब्द रूप ब्रह्म से जगत् की सारी क्रियाएँ अर्थ रूप से निकली हैं। इस दर्शन ने शब्द के दो भेद माने हैं। नित्य और अनित्य। नित्य शब्द स्फोट मात्र ही है, संपूर्ण वर्णात्मक शब्द अनित्य हैं। अर्थ बोधन-सामर्थ्य केवल स्फोट में है। वर्ण उस (स्फोट) की अभिव्यक्ति मात्र के साधन हैं। अग्नि शब्द में अकार, गकार, नकार और इकार ये चारों वर्ण मिलकर अग्नि नामक पदार्थ का बोध कराते हैं। अब यदि चारों ही में अग्नि-वाचकता मानी जाय तो एक ही वर्ण के उच्चारण से सुननेवाले को अग्नि का ज्ञान हो जाना चाहिए था, दूसरे वर्ण तक के उच्चारण की आवश्यकता न होनी चाहिए थी पर ऐसा नहीं होता। चारों वर्णों के एकत्र होने ही से उनमें अग्निवाचकता आती हो तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पर वर्ण के उत्पत्ति काल में पूर्व वर्ण का नाश हो जाता है। उनका एकत्र अवस्थान संभव ही नहीं। अतः मानना पड़ेगा कि उनके उच्चारण से जिस स्फोट की अभिव्यक्ति होती है वस्तुतः वही अग्नि का बोधक है। एक वर्ण के उच्चारण से भी यह अभिव्यक्ति होती है, पर यथेष्ट पुष्टि नहीं होती। इसी लिये चारों का उच्चारण करना पड़ता है। जिस प्रकार नीले, पीले, लाल आदि रंगों का प्रतिबिंब पड़ने से एक ही स्फटिक मणि में समय समय पर अनेक रंग उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार एक ही

स्फोट भिन्न भिन्न वर्णों द्वारा अभिव्यक्त होकर भिन्न भिन्न अर्थों का बोध कराता है। इस स्फोट को ही शब्दशास्त्रज्ञों ने सच्चिदानंद ब्रह्म माना है। अतः शब्दशास्त्र की आलोचना करते करते क्रमशः अविद्या का नाश होकर मुक्ति प्राप्त होती है। "सर्वदर्शनसंग्रह"कार के मत से व्याकरण शास्त्र अर्थात् 'पाणिनीय दर्शन' सब विद्याओं से पवित्र, मुक्ति का द्वारस्वरूप और मोक्ष मार्गों में राजमार्ग है। सिद्धि के अभिलाषी को सबसे पहले इसी की उपासना करनी चाहिए।

पाणिपल्लव-संज्ञा पुं० [सं०] उँगलियाँ।

पाणिपीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पणिग्रहण। विवाह। (२) क्रोध, पश्चात्ताप आदि के कारण हाथ मलना।

पाणिबंध-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिग्रहण। विवाह।

पाणिभुक्, पाणिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर वृक्ष।

पाणिमर्द-संज्ञा पुं० [सं०] करमर्द। करौंदा।

पाणिमूल-संज्ञा पुं० [सं०] कलाई।

पाणिरुह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उँगली। (२) नख। नाखून।

पाणिरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] हथेली पर की लकीरें।

पाणिवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृदंग, ढोल आदि बजानेवाला। (२) मृदंग ढोल आदि बाजे। (३) ताली बजाना। (४) ताली बजानेवाला।

पाणिवादक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृदंग आदि बजानेवाला। (२) ताली बजानेवाले।

पाणिहता-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललित विस्तर के अनुसार एक छोटा तालाब जिसे देवताओं ने बुद्ध भगवान् के लिये तैयार किया था। कहते हैं कि देवताओं ने एक बार हाथ से पृथ्वी को ठोंक दिया जिससे वहाँ एक पुष्करिणी निकल आई।

पाणिहोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष होम जो अधिकारी ब्राह्मण के हाथ से किया जाता है।

पाणी-संज्ञा पुं० दे० "पाणि"।

पाणीतक-संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय का एक गण।

पाणीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] विवाह। पाणिग्रहण।

पातंजल-वि० [सं०] पतंजलि रचित (ग्रंथ)। पतंजलि का बनाया हुआ (योगसूत्र वा व्याकरण महाभाष्य)।

यौ०—पातंजल दर्शन। पातंजल भाष्य। पातंजल सूत्र।

संज्ञा पुं० (१) पतंजलिकृत योगसूत्र। (२) पतंजलिप्रणीत महाभाष्य। (३) पातंजल योगसूत्र के अनुसार योग साधन करनेवाले।

पातंजल दर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] योगदर्शन।

पातंजल भाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] महाभाष्य नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ।

पातंजलसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] योगसूत्र।

पातंजलीय-वि० [सं०] दे० "पातंजल"।

पात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिरने की क्रिया या भाव। पतन। जैसे, अधःपात।

यौ०—प्रपात।

(२) गिराने की क्रिया या भाव। जैसे, अश्रुपात। रक्तपात। (३) टूटकर गिरने की क्रिया या भाव। झड़ने की क्रिया या भाव। जैसे, उल्कापात। द्रुमपात। (४) नाश। ध्वंस। मृत्यु। जैसे, देहपात। (५) पड़ना। जा लगना। जैसे, दृष्टिपात, भूमिपात। (६) खगोल में वह स्थान जहाँ नक्षत्रों की कक्षाएँ क्रांतिवृत्त को काटकर ऊपर चढ़ती या नीचे आती हैं। यह स्थान बराबर बदलता रहता है और इसकी गति वक्र अर्थात् पूर्व से पश्चिम को है। इस स्थान का अधिष्ठाता देवता राहु है। (७) राहु।

[सं० पत्र] * (१) पत्ता। पत्र।

मुहा०—पातों आ लगना = पतझड़ होना या उसका समय आना।

विशेष—उर्दू की पुरानी कविता में इस मुहावरे का प्रयोग मिलता है।

† (२) कान में पहनने का एक गहना। पत्ता। (३) चाशनी। क़िवाम। पत्त।

संज्ञा पुं० [सं० पात्र] कवि। (डिं०)

पातक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म जिसके करने से नरक जाना पड़े। कर्त्ता को नीचे ढकेलनेवाला कर्म। पाप। किल्विष। कल्मष। अघ। गुनाह। बदकारी।

विशेष—"प्रायश्चित्त" के मतानुसार पातक के ९ भेद हैं। (१) अतिपातक। (२) महापातक। (३) अनुपातक (४) उपपातक। (५) सँकरीकरण। (६) अपात्रीकरण। (७) जातिभ्रंशकर (८) मलावह और (९) प्रकीर्णक।

पातकी-वि० [सं० पातकिन्] पातक करनेवाला। पापी। कुकर्मी। बदकार। अधर्मी।

पातघाबरा†-वि० [हिं० पात + घबराना] वह मनुष्य जो पत्ते के खड़कने पर भी घबड़ा जाय। बहुत अधिक डरपोक।

पातन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गिराने की क्रिया। नीचे ढकेलने की क्रिया। (२) पारे के आठ संस्कारों में से पाँचवाँ संस्कार। इसके तीन भेद हैं—ऊर्ध्वपातन, अधःपातन और तिर्यक्पातन। विशेष—दे० "पारा"।

पातबंदी-संज्ञा स्त्री० [सं० पात = पड़ना + फ़ा० बंदी] वह नकशा जिसमें किसी जायदाद की अंदाजन मालियत और उस पर जितना देना या कर्ज हो वह लिखा रहता है।

पातर†*-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] (१) पत्तल। पनवारा।

उ०—जूठी पातर भखत हैं बारी बायस स्वान ।—रायप्रबीन ।

[सं० पातली = स्त्री विशेष] वेश्या । रंडी । पतुरिया ।

वि० *†-[हिं० पत्तर, वा सं० पात्रट = पतला] (१) पतला । सूक्ष्म । (२) क्षीण । बारीक ।

संज्ञा स्त्री० तितली ।

पातराज-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सर्प ।

पातरि-संज्ञा स्त्री०, वि० दे० "पातर" ।

पातरी-संज्ञा स्त्री० दे० "पातर" ।

पातल-संज्ञा स्त्री० दे० "पातर" ।

पातव्य-वि० [सं०] (१) रक्षा करने योग्य । (२) पीने योग्य ।

पातशाह-संज्ञा पुं० दे० "पादशाह" ।

पातशाही-संज्ञा पुं० दे० "पादशाही" ।

पाता-वि० [सं० पातृ] (१) रक्षा करनेवाला । (२) पीनेवाला ।

* संज्ञा पुं० [सं० पत्र] पत्ता । पत्र ।

पाताबा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) मोजा । (२) चमड़े का वह लंबा टुकड़ा जो ढीले जूते को चुस्त करने के लिये उसमें डाला जाता है । सुखतला ।

पातार-संज्ञा पुं० दे० "पाताल" ।

पाताल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार पृथ्वी के नीचे के सात लोकों में से सातवाँ । (२) पृथ्वी से नीचे के लोक । अधोलोक । नागलोक । उपस्थान ।

विशेष—पाताल सात माने गए हैं । पहला अतल, दूसरा वितल, तीसरा सुतल, चौथा तलातल, पाँचवाँ महातल, छठा रसातल और सातवाँ पाताल । पुराणों में लिखा है कि प्रत्येक पाताल की लंबाई चौड़ाई १० । १० हजार योजन है । सभी पाताल धन, सुख और शोभा से परिपूर्ण हैं । इन विषयों में ये स्वर्ग से भी बढ़कर हैं । सूर्य और चंद्रमा यहाँ प्रकाश मात्र देते हैं; गरमी, तथा सरदी नहीं देने पाते । पृथ्वी या भूलोक के बाद ही जो पाताल पड़ता है उसका नाम अतल है । यहाँ की भूमि का रंग काला है । यहाँ मय दानव का पुत्र बल रहता है जिसने ९६ प्रकार की माया की सृष्टि कर रखी है । दूसरा पाताल वितल है । इसकी भूमि सफेद है । यहाँ भगवान् शंकर पार्षदों और पार्वती जी के साथ निवास करते हैं । उनके वीर्य्य से हाटकी नाम की नदी निकली है जिससे हाटक नाम का सोना निकलता है । दैत्यों की स्त्रियाँ इस सोने को बड़े यत्न से धारण करती हैं । तीसरा अधोलोक सुतल है । इसकी भूमि लाल है । यहाँ प्रह्लाद के पौत्र बलि राज करते हैं जिनके दरवाजे पर स्वयं भगवान् विष्णु आठ पहर चक्र लेकर पहरा देते हैं । यह अन्य पातालों से अधिक समृद्ध, सुखपूर्ण और श्रेष्ठ है । तलातल चौथा पाताल है । दानवेंद्र मय यहाँ का अधिपति है । इसकी भूमि पीले रंग की है । यह मायाविदों का आचार्य और विविध मायाओं में निपुण है । पाँचवाँ पाताल महातल कहाता है । यहाँ की मिट्टी खांड़ मिली हुई है । यहाँ कद्रु के महाक्रोधी पुत्र सर्प निवास करते हैं जिनमें से सभी कई कई सिरवाले हैं । कुहक, तक्षक, सुषेन और कालिय इनमें प्रधान हैं । छठा पाताल रसातल है । इसकी भूमि पथरीली है । इसमें दैत्य दानव और पाणिनाम के असुर इंद्र के भय से निवास करते हैं । सातवाँ पाताल पाताल नाम से ही प्रसिद्ध है । यहाँ की भूमि स्वर्णमय है । यहाँ का अधिपति वासुकि नामक प्रसिद्ध सर्प है । शंख, शंखचूड़, कूलिक, धनंजय आदि कितने ही विशालकाय सर्प यहाँ निवास करते हैं । इसके नीचे तीस सहस्र योजन के अंतर पर अनंत या शेष भगवान् का स्थान है ।

(३) विवर । गुफा । बिल । (४) बड़वानल । (५) बालक के लग्न से चौथा स्थान । (६) छंदःशास्त्र में वह चंद्र जिसके द्वारा मात्रिक छंद की संख्या, लघु, गुरु, कला आदि का ज्ञान होता है । (७) पातालयंत्र । दे० "पातालयंत्र" ।

पातालकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] पाताल में रहनेवाला एक दैत्य ।

पातालखंड-संज्ञा पुं० [सं०] पाताल लोक ।

पाताल गरुड़, पाताल गरुड़ी-संज्ञा पुं० [सं०] छिरिहटा । छिरेंटा ।

पाताल तुंबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता जो प्रायः खेतों में होती है । इसमें पीले रंग के बिच्छू के डंक के से काँटे होते हैं । वैद्यक में इसे चरपरी, कड़वी, विषदोषविनाशक, तथा प्रसूतकालीन अतिसार, दाँतों की जड़ता और सूजन; पसीना तथा प्रलापवाले, ज्वर को दूर करनेवाली माना है । पातालतोंबी ।

पर्या०—गर्त्तालाबु । भूतुंबी । देवी । वल्मीकसंभवा । दिव्यतुंबी । नागतुंबी । शक्रचापसमुद्भवा ।

पाताल तोंबी-संज्ञा स्त्री० दे० "पाताल तुंबी" ।

पाताल निलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दैत्य । (२) सर्प ।

पातालनृपति-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा ।

पाताल यंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह यंत्र जिसके द्वारा कड़ी औषधियाँ पिघलाई जाती हैं या उनका तेल बनाया जाता है इस यंत्र में एक शीशी या मिट्टी का बरतन ऊपर और एक नीचे रहता है । दोनों के मुँह एक दूसरे से मिले रहते हैं और संधिस्थल पर कपड़-मिट्टी कर दी जाती है । ऊपर की शीशी या बरतन में औषधि

रहती है और उसके मुँह पर कपड़े की ऐसी डाट लगा दी जाती है 'जिसमें बहुत से बारीक सूराख होते हैं। नीचे पात्र के मुँह पर डाट नहीं रहती। फिर नीचे के पात्र को एक गढ़े में रख देते हैं और उसके गले तक मिट्टी या बालू भर देते हैं। ऊपर के पात्र को सब ओर से कंडों या उपलों से ढककर आग लगा देते हैं। इस गरमी से औषधि पिघलकर नीचे के पात्र में आ जाती है। (२) वह यंत्र जिसमें ऊपर के पात्र में जल रहता है, नीचे के पात्र को आँच दी जाती है और बीच में रस की सिद्धि होती है।

पातालवासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली लता।

पाताली-संज्ञा स्त्री० [देश०] ताड़ के फल के गूदे की बनाई हुई टिकिया जो प्रायः गरीब लोग सुखाकर खाने के काम में लाते हैं।

पातालौकस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका घर पाताल में हो। (२) शेष नाग। (३) बलि।

पाताखत†-संज्ञा पुं० [हिं० पात + आखत] पत्र और अक्षत। पूजा की स्वल्प सामग्री। तुच्छ भेंट। उ०—सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे। दइ जग जहाँ लगि संपदा सुख गज रथ घोरे।—तुलसी।

पाती†-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्र] (१) पत्ती। पर्ण। दल। (२) चिट्ठी। पत्रिका। पत्र।

पातिक-संज्ञा पुं० [सं०] सूँस नामक जलजंतु।

पातिक-वि० [सं०] (१) जो फेंका गया हो। (२) जो नीचे गिराया या ढकेला गया हो।

पातित्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतित होने या गिरने का भाव। गिरावट। (२) अधःपतन। नीच या कुमार्गी होने का भाव।

पातिव्रत-संज्ञा पुं० दे० "पातिव्रत्य"।

पातिव्रत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पतिव्रता होने का भाव।

पातिसाहि-संज्ञा पुं० दे० "पादशाह"

पाती*-संज्ञा स्त्री० [सं० पत्री, प्रा० पत्ती] (१) चिट्ठी। पत्री। पत्र। उ०-तात कहाँ ते पाती आई ?—तुलसी। (२) पत्ती। वृक्ष के पत्ते।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पति] लज्जा। इज्जत। प्रतिष्ठा। उ०—ह्याँ ऊधो काहे को आए कौन सी अटक परी। सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु सब पाती उघरी।—सूर

पातुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पतनशील। गिरनेवाला। (२) प्रपात। झरना। (३) जलहाथी।

पातुर†-संज्ञा स्त्री० [सं० पातली = स्त्री विशेष] वेश्या। रंडी।

पातुरनी†-संज्ञा स्त्री० दे० "पातुर"।

पात्त-संज्ञा पुं० [सं०] पापियों का उद्धार करनेवाला। पापियों का त्राता।

पात्य-वि० [सं०] (१) पतनीय। गिरने योग्य। (२) पतित होने का भाव। गिरावट।

पात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिसमें कुछ रखा जा सके। आधार। बरतन। भाजन। (२) वह व्यक्ति जो किसी विषय का अधिकारी हो, जो किसी वस्तु को पाकर उसका उपभोग कर सकता हो। जैसे, दानपात्र, शिक्षापात्र आदि। (३) नदी के दोनों किनारों के बीच का स्थान। पाट। (४) नाटक के नायक, नायिका आदि। (५) वे मनुष्य जो नाटक खेलते हैं। अभिनेता। नट। (६) राजमंत्री। (७) वैद्यक में एक तौल जो चार सेर के बराबर होती है। आढक। (८) पत्ता। पत्र। (९) स्रुवा आदि यज्ञ के उपकरण।

पात्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) थाली, हाँड़ी आदि पात्र। (२) वह पात्र जिसमें भीख माँगकर रखी जाय। भिखमंगों का भीख माँगने का पात्र। भिक्षापात्र।

पात्रतरंग-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का ताल देने का एक प्रकार का बाजा।

पात्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पात्र होने का भाव। अधिकार। योग्यता। लियाकत।

पात्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] पात्रता। पात्र होने का भाव।

पात्रदुष्टरस-संज्ञा पुं० [सं०] केशवदास के मत से एक प्रकार का रस-दोष जिसमें कवि जिस वस्तु को जैसा समझता है रचना में उसके विरुद्ध कर जाता है। एक ही वस्तु के विषय में ऐसी बातें कह जाना जो एक दूसरे के विरुद्ध या बे-मेल हों। रचना में उटपटाँग अविचार-युक्त बातें कह जाना। उ०—कपट कृपानी मानी, प्रेमरस-लपटानी, प्राननि को गंगा जी को पानी सम जानिए। स्वारथ निधानी परमारथ की रजधानी, काम की कहानी केशोदास जग मानिए। सुबरन उरझानी, सुधा सो सुधार मानी सकल सयानी सानी ज्ञानी सुख दानिए। गौरा और गिरा लजानी मोहे, पुनि मूढ़ प्रानी, ऐसी बानी मेरी रानी विषु कै बखानिए।—केशव।

पात्रशेष-संज्ञा पुं० [सं०] रोटी के जूठे टुकड़े आदि जो भोजन के उपरांत थाली में बच रहे हों। खाकर छोड़ा हुआ अन्नादि। जूठा। उच्छिष्ट।

पात्रासादन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्रों को यथास्थान रखना।

पात्रिय-वि० [सं०] जिसके साथ एक थाली में भोजन किया जा सके। जिसके साथ एक ही बरतन में भोजन करना बुरा न समझा जाय। सहभोजी।

पात्री-वि० [सं० पात्रिन्] (१) जिसके पास बरतन हो। पात्रवाला। (२) जिसके पास सुयोग्य मनुष्य हों।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटे छोटे बरतन। (२) एक

छोटी भट्टी जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर ले जा सकते हैं।

पात्रीय-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाला एक बरतन। वि० पात्रसंबंधी।

पात्रोपकरण-संज्ञा पुं० [सं०] कौड़ी आदि पदार्थ जिन्हें टाँककर बरतनों को सजाते हैं।

पात्र्य-वि० दे० "पात्रिय"।

पाथ-संज्ञा पुं० [सं० पाथस्] (१) जल। (२) सूर्य। (३) अग्नि। (४) अन्न। (५) आकाश। (६) वायु।

यौ०-पाथोरुह। पाथोधि। पाथोज्। पाथोनिधि।

संज्ञा पुं० [सं० पथ] मार्ग। रास्ता। राह। उ०-तेहि वियोग ते भए अनाथा। परि निकुंज बन पावन पाथा।-कबीर।

पाथना-क्रि० स० [सं० प्रथन या थापना का आद्यंत विपर्यय] (१) ठोंक पीटकर सुडौल करना। गढ़ना। बनाना। उ०—लाडली के बरनै को नितंबन हानि रही रसना कवि जेत के। कै नृप संभु जू मेरु की भूमि में रेत के कूर भए नदी सेत के। कै धौं तमूरन के तबला रँगि औंधि धरे करि रंभा के लेत के। कंचन कीच के पाथे मनोहर कै भरना द्वै मनोज के खेत के।—सुंदरीसर्वस्व। (२) किसी गीली वस्तु से साँचे के द्वारा वा बिना साँचे के हाथों से थोप, पीट वा दबाकर बड़ी बड़ी टिकिया या पटरी बनाना। जैसे, उपले पाथना, ईंट पाथना। (३) किसी को पीटना। ठोंकना। मारना। जैसे, आज इनको अच्छी तरह पाथ दिया।

पाथनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथनिधि-संज्ञा पुं० दे० "पाथोनिधि"।

पाथर*†-संज्ञा पुं० दे० "पत्थर"।

पाथरुपति-संज्ञा पुं० [सं०] वरुण।

पाथा-संज्ञा पुं० [सं० पाथस्] (१) जल। (२) अन्न। (३) आकाश।

संज्ञा पुं० [सं० प्रस्थ] (१) एक तौल जो एक दोन वा कच्चे चार सेर की होती है। इसका व्यवहार देहरादून प्रांत में अन्न नापने के लिये होता है। (२) उतनी भूमि जितनी में एक पाथा अन्न बोया जा सकता हो। (३) एक बड़ा टोकरा जिससे खलिहान में राशि नापते हैं। प्रायः यह टोकरा किसी नियत मान का नहीं होता। लोग इच्छानुसार भिन्न भिन्न मानों का व्यवहार करते हैं। यह बेत का बना होता है और इसकी बाढ़ बिलकुल सीधी होती है। कहीं कहीं इसे लोग चमड़े से मढ़ भी लेते हैं। इसे पाथी और नली भी कहते हैं। (४) हल की खोंपी जिसमें फाल जड़ा रहता है।

संज्ञा पुं० [हिं० पथ] कोल्हू हाँकनेवाला।

[सं० प्रथक] एक छोटा कीड़ा जो अन्न में लगता है।

पाथ-संज्ञा पुं० [सं० पाथिस्] (१) समुद्र। (२) आँख। (३) घाव पर की पपड़ी। खुरंड। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का शरबत जो भट्ठे के पानी और दूध आदि को मिलाकर बनाया जाता था और जिससे पितृ-तर्पण किया जाता था। कीलाल।

पाथेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह भोजन जो पथिक अपने साथ मार्ग में खाने के लिये बाँधकर ले जाता है। रास्ते का कलेवा। (२) वह द्रव्य जो पथिक राहखर्च के लिये ले जाता है। संबल। राहखर्च। (३) कन्याराशि।

पाथोज-संज्ञा पुं० [सं०] कमल।

पाथोद-संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

पाथोधर-संज्ञा पुं० [सं०] बादल। मेघ।

पाथोधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथोन-संज्ञा पुं० [यू० पथेयनस] कन्याराशि।

पाथोनिधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

पाथ्य-वि० [सं०] (१) आकाश में रहनेवाला। (२) हवा में रहनेवाला। (३) हृदयाकाश में रहनेवाला।

पाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरण। पैर। पाँव।

यौ०—पादत्राण।

विशेष—यह शब्द जब किसी के नाम या पद के अंत में लगाया जाता है तब वक्ता का उसके प्रति अत्यंत सम्मान भाव तथा श्रद्धा प्रगट करता है। जैसे, कुमारिलपाद, गुरुपाद, आचार्य्यपाद, आदि।

(२) मंत्र श्लोक या अन्य किसी छंदोबद्ध काव्य का चतुर्थांश। पद। चरण। (३) किसी चीज का चौथा भाग। चौथाई। (४) पुस्तक का विशेष अंश। जैसे, पातंजल का समाधिपाद, साधनपाद आदि। (५) वृक्ष का मूल। (६) किसी वस्तु का नीचे का भाग। तल। जैसे, पाददेश। (७) बड़े पर्वत के समीप में छोटा पर्वत। (८) चिकित्सा के चार अंग—वैद्य, रोगी, औषध और उपचारक। (९) किरण। रश्मि। (१०) पद की क्रिया। गमन। (११) एक ऋषि। (१२) शिव।

संज्ञा पुं० [सं० पर्द] वह वायु जो गुदा के मार्ग से निकले। अपानवायु। अधोवायु। गोज़।

पादक-वि० [सं०] (१) जो खूब चलता हो। चलनेवाला। (२) चौथाई। चतुर्थांश। (३) छोटा पैर।

पादकटक-संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादकीलिका-संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रायश्चित्त व्रत जो चार दिन का होता है। इसमें पहले दिन एक बार दिन में, दूसरे दिन एक बार रात में, खाकर फिर तीसरे दिन अपाचित अन्न भोजन करके चौथे दिन उपवास किया जाता है।

विशेष—इस व्रत की दूसरी विधि भी मिलती है। उसमें पहले दिन रात में एक बार का परसा हुआ भोजन कर दूसरे दिन उपवास किया जाता है। तीसरे और चौथे दिन फिर यही विधि क्रम से दुहराई जाती है।

पादगंडिर–संज्ञा पुं॰ [सं॰] श्लीपद रोग। पीलपाँव।

पादग्रंथि–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] एड़ी और घुट्टी के बीच का स्थान। गुल्फ।

पादग्रहण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैर छूकर प्रणाम करना।

विशेष—जिसके हाथ में समिधा, जल, जल का घड़ा, फूल, अन्न तथा अक्षत में से कोई पदार्थ हो, जो अशुचि हो, जो जप या पितृकार्य्य करता हो उसका पैर न छूना चाहिए।

पादचत्वर–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) बकरा। (२) बालू का भीटा। (३) ओला। (४) पीपल का पेड़।

वि॰ दूसरे का दोष कहनेवाला। निंदा करनेवाला। चुगलखोर।

पादचारी–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पैदल। (२) वह जो पैरों से चलता हो।

पादज–संज्ञा पुं॰ [सं॰] शूद्र।

वि॰ जो पैर से उत्पन्न हुआ हो।

पादजल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) वह जल जिसमें किसी के पैर धोए गए हों। चरणोदक। (२) मठा।

पादटीका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वह टिप्पनी जो किसी ग्रंथ के पृष्ठ के नीचे लिखी गई हो। फुटनोट।

पादतल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैर का तलवा!

पादत्र, पादत्राण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता।

वि॰ जो पैर की रक्षा करे।

पादत्रान–संज्ञा पुं॰ [सं॰] दे॰ "पादत्राण"।

पाददलित–वि॰ [सं॰] पैर से कुचला हुआ। पादाक्रांत। पददलित।

पाददारिका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] बिवाई नाम का रोग जिसमें पैर का तलवा स्थान स्थान में फट जाता है।

पाददाह–संज्ञा पुं॰ [सं॰] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जो पित्त रक्त के साथ वायु मिलने के कारण होता है। इसमें पैरों के तलवों में जलन होती है। तलवों का जलना।

पादधावन–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पैर धोने की क्रिया। (२) वह बालू या मिट्टी जिसको लगाकर पैर धोया जाय।

पादनख–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैर की उँगलियों का नाखून।

पादना–क्रि॰ अ॰ [हिं॰ पाद] गुदा से वायु बाहर निकालना। वायु छोड़ना। अपानवायु का त्याग करना। गोज़ करना।

संयो॰ क्रि॰—देना।

पादन्यास–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) चलना। पैर रखना। (२) नाचना।

पादप–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) वृक्ष। पेड़।

विशेष—वृक्ष अपनी जड़ या पैर के द्वारा रस खींचते हैं अतः वे पादप कहलाते हैं।

(२) पीढ़ा।

पादपखंड–संज्ञा पुं॰ [सं॰] जंगल।

पादपद्धति–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) रास्ता। (२) पगडंडी।

पादपरुहा–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] बंदाक या बाँदा नामक वृक्ष।

पादपा–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता।

पादपाश–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह रस्सी जिससे घोड़ों के पिछले दोनों पैर बाँधे जाते हैं। पिछाड़ी।

पादपाशी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) कोई सिकड़ी या सिक्कड़। (२) बेड़ी।

पादपीठ–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैर का आसन। पीढ़ा।

पादपीठिका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) नाई की सिल्ली। (२) पीढ़ा।

पादपूरण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) किसी श्लोक वा कविता के किसी चरण को पूरा करना। (२) वह अक्षर या शब्द जो किसी पद को पूरा करने के लिये उसमें रखा जाय।

पादप्रक्षालन–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैर धोना।

पादप्रणाम–संज्ञा पुं॰ [सं॰] साष्टांग दंडवत्। पाँव पड़ना।

पादप्रतिष्ठान–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पीढ़ा।

पादप्रधारण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] खड़ाऊँ।

पादप्रहार–संज्ञा पुं॰ [सं॰] लात मारना। ठोकर मारना।

पादबंध–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पैरों में बाँधने की जंजीर। बेड़ी।

पादबंधन–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) घोड़े, गधे, बैल आदि जानवरों के पैर बाँधना। (२) वह चीज जिससे पैर बाँधे जायँ।

पादभाग–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पैर के नीचे का भाग। (२) चतुर्थांश। चौथाई।

पादभुज–संज्ञा पुं॰ [सं॰] शिव।

पादमुद्रा–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] पैर के चिह्न या दाग।

पादमूल–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) पैर का निचला भाग। (२) पहाड़ की तराई।

पादरक्ष, पादरक्षक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह जिससे पैरों की रक्षा हो। जैसे, जूता, खड़ाऊँ आदि।

पादरज–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पादरजस्] चरणों की धूल।

पादरज्जु–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वह रस्सी या सिक्कड़ आदि जिसमें पैर, विशेषतः हाथी के, बाँधे जायँ।

पादरथी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] खड़ाऊँ।

पादरी–संज्ञा पुं॰ [पुर्त्त॰ पैड्रे] ईसाई-धर्म का पुरोहित जो अन्य

ईसाइयों का जातकर्म आदि संस्कार और उपासना कराता है।

पादरोह, पादरोहण–संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़।

पादलेप–संज्ञा पुं० [सं०] वह लेप आदि जो पैरों में लगाया जाय। जैसे, अलता, महावर आदि।

पादवंदन–संज्ञा पुं० [सं०] पैर पकड़कर प्रणाम करना।

पादवल्मीक–संज्ञा पुं० [सं०] श्लीपद या पीलपाँव नामक रोग।

पादविक–संज्ञा पुं० [सं०] पथिक। मुसाफिर।

पादविदारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनके पैरों के निचले भाग में गाँठें हो जाती हैं।

पादविन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] पैर रखने की क्रिया या ढंग।

पादशाखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पैर की उँगली। (२) पैर की नोक।

पादशाह–संज्ञा पुं० [फा०] बादशाह।

पादशाहज़ादा–संज्ञा पुं० [फा०] बादशाहज़ादा। राजकुमार।

पादशिष्टजल–संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जो औटाने पर चौथाई रह जाय। (वैद्यक में ऐसा जल त्रिदोषनाशक माना जाता है)।

पादशीली–संज्ञा पुं० [सं०] बूचर। कसाई।

पादशुश्रूषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] चरणसेवा। पैर दवाना।

पादशोथ–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रोग जिसमें पैर में सूजन आ जाती है। यह रोग आपसे आप भी होता है और कभी कभी दूसरे रोगों के कारण भी होता है। विशेष—दे० "शोथ"।

पादशलाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पैर की नली।

पादस्तंभ–संज्ञा पुं० [सं०] वह लकड़ी जो किसी चीज को गिरने से रोकने के लिये सहारे के तौर पर लगा दी जाय।

पादस्फोट–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार ग्यारह प्रकार के क्षुद्र कुष्ठों में से एक प्रकार का कुष्ठ। इसमें पैरों में काले रंग की फुंसियाँ होती हैं जिनमें से बहुत पानी बहता है। इसे विपादिका भी कहते हैं, और यदि यही रोग हाथों में हो जाय तो उसे विचर्चिका कहते हैं।

पादहर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें पैरों में प्रायः झुनझुनी होती है।

पादहीन–वि० [सं०] (१) जिसके तीन ही चरण हों। (२) जिसके चरण न हों।

पादांकुलक–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पादाकुलक"।

पादांगद–संज्ञा पुं० [सं०] नूपुर।

पादांबु–संज्ञा पुं० [सं०] मठा।

पादाकुल–संज्ञा पुं० [सं० पादांकुलक] दे० "पादाकुलक"।

पादाकुलक–संज्ञा पुं० [सं०] चौपाई (छंद)।

पादाक्रांत–वि० [सं०] पददलित। पैर से कुचला हुआ। पामाल।

पादाति, पादातिक–संज्ञा पुं० [सं०] पैदल सिपाही।

पादानोन–संज्ञा पुं० [देश०] काला नमक।

पादाभ्यंजन–संज्ञा पुं० [सं०] वह घी या तेल जो पैर में मला जाय।

पादायन–संज्ञा पुं० [सं०] पाद नामक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

पादारक–संज्ञा पुं० [सं०] नाव की लंबाई में दोनों ओर लकड़ी की पट्टियों से बना हुआ वह ऊँचा और चौरस स्थान जिस पर यात्री बैठते हैं। कुर्सी।

पादारघ*–संज्ञा पुं० दे० "पाद्यार्घ"।

पादालिंदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नौका।

पादावर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] कुएँ आदि से पानी निकालने का यंत्र। अरहट या रहट।

पादिक–वि० [सं०] किसी वस्तु का चौथाई भाग। चतुर्थांश।

संज्ञा पुं० [सं०] पादकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त व्रत।

पादी–संज्ञा पुं० [सं० पादिन्] पैरवाले जलजंतु। जैसे, गोह, मगर, घड़ियाल आदि। भावप्रकाश के अनुसार ऐसे जानवरों का मांस मधुर, चिकना तथा वात-पित्तनाशक, मलवर्द्धक, शुक्रजनक और बलकारक होता है।

वि० जो चौथाई का हिस्सेदार हो।

पादीय–वि० [सं०] पदवाला। मर्यादावाला। जैसे, कुमारपादीय।

विशेष—जिस शब्द के आगे यह लगाया जाता है उसके समान पदवाला सूचित करता है। प्राचीन काल में अभिजात वर्ग के लोगों को जो पदवियाँ दी जाती थीं वे उसी प्रकार की होती थीं जैसे, कुमारपादीय अर्थात् राजसभा में राजकुमार की बराबरी का आसन पानेवाला।

पादुक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो चलता हो। चलनेवाला। गमनशील।

पादुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खड़ाऊँ। (२) जूता।

पादू–संज्ञा स्त्री० [सं०] पादुका। खड़ाऊँ।

पादोदक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिसमें पैर धोया गया हो। (२) चरणामृत।

पादोदर–संज्ञा पुं० [सं०] साँप।

पाद्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह जल जिससे पूजनीय व्यक्ति या देवता के पैर धोए जायँ। पैर धोने का पानी।

विशेष—षोडशोपचार पूजा में आसन और स्वागत के पश्चात् और दशोपचार पूजा में सर्वप्रथम पाद्य ही की विधि है। जिस जल से देवता के पैर धोए जाते हैं उससे हाथ नहीं धोए जा सकते। इसी से पैर धोने के जल को पाद्य और हाथ धोने के जल को "अर्घ" कहते हैं।

पाद्यक-संज्ञा पुं० [सं०] पाद्य देने का एक भेद ।

पाद्यार्घ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैर तथा हाथ धोने या धुलाने का जल । (२) पूजासामग्री । (३) वह धन या संपत्ति जो किसी की पूजा में दी जाय । भेंट या नजर । उ०—पादारघ हमको दियो मथुरा मंडल आय । वासों वसन न पावहीं बिना बास अति पाय ।—केशव ।

पाधा-संज्ञा पुं० [सं० उपाध्याय] (१) आचार्य । उपाध्याय । (२) पंडित । उ०—गिरिधर लाल छबीले को यह कहा पठायो पाधै ।—सूर ।

पान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी द्रव पदार्थ को गले के नीचे घूँट घूँट करके उतारना । पीना । उ०—(क) राम कथा ससि किरन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना । —तुलसी । (ख) पकरि लियो छन माँझ असुर बल डारथो नखन बिदारी । रुधिर पान करि आतमाल धरि, जय जय शब्द उचारी ।—सूर ।

यौ०—जलपान । मद्यपान । विषपान आदि ।

(२) मद्यपान । शराब पीना । उ०—करसि पानि सोवसि दिन राती । सुधि नहिं तव सिर पर आराती ।—तुलसी । (३) पीने का पदार्थ । पेय द्रव्य । जैसे, जल, मद्य आदि । (४) मद्य । उ०—संग ते यती कुमंत्र ते राजा । मान ते ज्ञान पान ते लाजा ।—तुलसी । (५) पानी । उ०— (क) सीस दीन मैं अगमन प्रेम पान सिर मेलि । अब सो प्रीति निबाहउ चलो सिद्ध होइ खेलि ।—जायसी । (ख) गुरु को मानुष जो गिनै चरणामृत को पान । ते नर नरके जायँगे जन्म जन्म होइ स्वान ।—कबीर । (६) वह चमक जो शस्त्रों को गरम करके द्रव पदार्थ में बुझाने से आती है । पानी । आब । (७) पीने का पात्र । कटोरा । प्याला । (८) कुल्या । नहर । (९) कलवार । (१०) रक्षा । रक्षण । (११) प्याऊ । पौसाला । (१२) निःश्वास । (१३) जय ।

*संज्ञा पुं० [सं० प्राण] प्राण । उ०—पान अपान व्यान उदान और कहियत प्राण समान । तक्षक धनंजय पुनि देवदत्त और पौंड्रक संख द्युमान ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं० पर्ण, प्रा० पण्ण] (१) पत्ता । उ०—औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मंगल जाना ।—तुलसी । (२) एक प्रसिद्ध लता जिसके पत्तों का बीड़ा बनाकर खाते हैं । तांबूल बल्ली । तांबूली । नागिनी । नागरवल्ली ।

विशेष—यह लता सीमांत प्रदेश और पंजाब को छोड़कर संपूर्ण भारतवर्ष तथा सिंहल, जावा, स्याम आदि उष्ण जलवायुवाले देशों में अधिकता से होती है । भारत में पान का व्यवहार बहुत अधिक है । कत्था, चूना, सुपारी आदि मसालों के योग से बना हुआ इसका बीड़ा खाकर मन प्रसन्न तथा अतिथि आदि का सत्कार करते हैं । देवताओं और पितरों के पूजन में इसे चढ़ाते हैं और इसका रस अनेक रोगों में औषध का अनुपान होता है । पान की जड़ भी जिसे कुलंजन या कुलींजन कहते हैं दवाई के काम आती है । उपर्युक्त दो प्रांतों को छोड़कर भारत के सभी प्रांतों में खपत और जलवायु की अनुकूलता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में इसकी खेती की जाती है । इसकी खेती में बड़ा परिश्रम और झंझट होता है । अत्यंत कोमल होने के कारण अधिक सरदी गरमी यह नहीं सहन कर सकती । इसकी खेती प्रायः तालाब या झील आदि के किनारे भीटा बनाकर की जाती है । धूप और हवा के तीखे झोंकों से बचाव के लिये भीटे के ऊपर बाँस, फूस आदि का मंडप छा देते हैं जिसके चारों ओर टट्टियाँ लगा दी जाती हैं । मंडप के भीतर बेलें चढ़ाई जाती हैं । इस मंडप को पान का बँगला, बरेव या बरौजा कहते हैं । इसके छाने में इस बात का ख़याल रखा जाता है कि पौधे तक थोड़ी सी धूप छनकर पहुँच सके । भीटा बीच में ऊँचा, चौरस और अगल बगल कभी कभी एक ही ओर ढालू होता है, इससे वर्षा का जल उस पर रुकने नहीं पाता । भीटे पर आधा फ़ुट गहरी और दो फ़ुट चौड़ी सीधी क्यारियाँ बनाई जाती हैं । इन्हीं में थोड़ी थोड़ी दूर पर कलमें रोपी जाती हैं । जो पौधे पूरी बाढ़ को पहुँच चुकते हैं और जिनमें पत्ते निकलना बंद हो जाता है वे ही कलमें तैयार करने के काम में आते हैं । उड़ीसा में इससे भी अधिक समय तक उससे अच्छे पत्ते निकलते जाते हैं । इसलिये पान की खेती वहाँ सबसे अधिक लाभदायक है । कहीं कहीं पान की बेलें भीटे पर नहीं किंतु किसी पेड़, अधिकतर सुपारी, के नीचे लगाई जाती हैं । पान की अनेक जातियाँ हैं । जैसे—बँगला, मगही, साँची, कपूरी, महोबी, अछुवा, कलकतिहा आदि । गया का मगही पान सबसे अच्छा समझा जाता है । इसकी नसें बहुत पतली और मुलायम होती हैं । इसका बीड़ा मुँह में रखते ही गल जाता है । इसके बाद बँगला पान का नंबर है । महोबी पान कड़ा पर मीठा होता है और अच्छे पानों में गिना जाता है । कलकतिहा कड़ा और कड़वा होता है । कपूरी बहुत कडुवा होता है, उसके पत्ते लंबे लंबे होते हैं और उससे कपूर की सी सुगंधि आती है । वैद्यक के अनुसार पान उत्तेजक, दुर्गंधिनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त, कषाय, कफनाशक, वातघ्न, श्रमहारक, शांतिजनक, अंगों को सुंदर करनेवाला और दाँत, जीभ आदि का शोधक है ।

वेदों, सूत्रग्रंथों, वाल्मीकिरामायण और महाभारत में पान का नाम नहीं आया है, परंतु पुराणों और वैद्यक ग्रंथों में इसका उल्लेख बार बार मिलता है। विदेशी पर्यटकों ने भारतवासियों की पान खाने की आदत का उल्लेख किया है। अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में इसका नाम न आने से यह सूचित होता है कि इसका व्यवहार पहले से पूर्व और दक्षिण में ही था। वैदिक पूजन में पान नहीं है पर आज कल प्रचलित तांत्रिक पद्धति में पान का काम पड़ता है।

यौ०—पानदान।

मुहा०—**पान उठाना** = कोई काम करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होना। बीड़ा उठाना या लेना। **पान कमाना** = पान को उलटना पुलटना और सड़े अंश या पत्तों का अलग करना। **पान चीरना** = व्यर्थ के काम करना। ऐसे काम करना जिनसे कोई लाभ न हो। **पान खिलाना** = वर कन्या के ब्याह संबंध में उभय पक्ष का वचनबद्ध होना। मँगनी करना। सगाई करना। **पान देना** = किसी काम विशेषतः किसी साहसपूर्ण काम के कर डालने के लिये किसी को प्रतिज्ञाबद्ध करना। कोई काम कर डालने के लिये किसी से हामी भरवाना। बीड़ा देना। उ०—**बाम वियोगिनि के बध कीबे को काम बसंतिहिं पान दियो है।—रघुनाथ।** **पान पत्ता** = (१) लगा या बना हुआ पान। (२) तुच्छ पूजा या भेंट। पान फूल। **पान फूल** = (१) सामान्य उपहार या भेंट। (२) अत्यंत कोमल वस्तु। **पान फेरना** = पान कमाना। **पान बनाना** = (१) पान में चूना, कत्था, सुपारी आदि रखकर बीड़ा तैयार करना। पान लगाना। खीली या गिलौरी बनाना। (२) पान कमाना। **पान लेना** = किसी काम के कर डालने की प्रतिज्ञा करना या हामी भरना। बीड़ा लेना। उ०—**नृपति के लै पान मन कियो अभिमान करत अनुमान चहुँपास धाऊँ।—सूर।**

(३) पान के आकार की चौकी या ताबीज जो हार में रहती है। (४) जूते में पान के आकार का वह रंगीन या सादे चमड़े का टुकड़ा जो एँड़ी के पीछे लगता है। (५) ताश के पत्तों के चार भेदों में से एक जिसमें पत्ते पर पान के आकार की लाल लाल बूटियाँ बनी रहती हैं।

✽ संज्ञा पुं० दे० "पानि" वा "पाणि"।

संज्ञा पुं० लड़ी। गून। [लश०]

संज्ञा स्त्री० सूत को माँड़ी से तर करके ताना करना। (जुलाहा)।

पानक–संज्ञा पुं० [सं०] विशेष क्रिया से बनाया हुआ खट्टा तरल पदार्थ जो पीने के काम में आता है। पना।

विशेष—पके नीबू आम या इमली के रस में पानी और चीनी मिलाकर पना या पानक बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त और अनेक पदार्थों का भी पना बनाया जाता है।

पानगोष्ठिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ तांत्रिक लोग एकत्र होकर मद्यपान तथा कुछ पूजन आदि करते हैं। मद्यपान चक्र।

पानगोष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह सभा या मंडली जो शराब पीने के लिये बैठी हो। पानसभा। शराब की मजलिस।

पानड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पान + ड़ी (प्रत्य०)] एक प्रकार की सुगंधित पत्ती जो प्रायः मीठे पेय पदार्थों तथा तेल और उबटन आदि में उन्हें सुगंधित करने के लिये छोड़ी जाती है।

पानदान–संज्ञा पुं० [हिं० पान + फा० दान (प्रत्य०)] (१) वह डिब्बा जिसमें पान और उसके लगाने की सामग्री रखी जाती है। पनडब्बा। (२) वह डिबिया जिसमें पान के बीड़े रखे जाते हैं। गिलौरीदान। खासदान।

मुहा०–**पानदान का खर्च** = वह रकम जो स्त्रियों को पान तथा दूसरी निजी आवश्यकताओं के लिये दी जाय। पिटारी का खर्च।

पानदोष–संज्ञा पुं० [सं०] मद्यपान का व्यसन। शराबखोरी की लत।

पानन–संज्ञा पुं० [हिं० पान] मझोले आकार का एक प्रकार का पेड़ जो हिमालय की तराई और उत्तरीय भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में होता है। इसकी पत्तियाँ जाड़ों में झड़ जाती हैं। लकड़ी पकने पर लाल रंग की चिकनी और भारी होती है और बहुत दिन तक रहती है। इस लकड़ी से सजावट की चीजें, गाड़ी तथा घर के सामान बनाए जाते हैं। इसका गोंद दवा के काम में आता है।

पानप-संज्ञा पुं० [सं०] मद्यप। शराबी। पियक्कड़।

पानपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पात्र जिसमें मद्यपान किया जाता है। (२) गिलास।

पानभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ एकत्र होकर लोग शराब पीते हैं।

पानमंगल–संज्ञा पुं० [सं०] पानगोष्ठी।

पानरा†–संज्ञा पुं० दे० "पनारा"। उ०–**पाकी को मन पानरै कै गोबर कै गार। और जनम कहाँ पाइए, यह तो चालाहार।—कबीर।**

पानवणिज–संज्ञा पुं० [सं०] मद्य बेचनेवाला। कलवार।

पानविभ्रम–संज्ञा पुं० [सं०] पानात्यय नामक रोग।

विशेष–दे० "पानात्यय"।

पानस–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक प्रकार की शराब जो पनस (कटहल) से बनाई जाती थी।

वि० (कटहल) से संबंध रखनेवाला।

पानही†–संज्ञा स्त्री० [सं० उपानह, हिं० पनही] जूता। उ०—**बिनु पानहिंह पियादेहि पाये। संकरु साखि रहेउँ यहि घाये।—तुलसी।**

पाना–क्रि० स० [सं० प्रापण, प्रा० पावण] (१) अपने

पास या अधिकार में करना। ऐसी स्थिति में करना जिससे अपने उपयोग या व्यवहार में आ सके। उपलब्ध करना। लाभ करना। प्राप्त करना। हासिल करना। जैसे, उसके हाथ में गई वस्तु कोई नहीं पा सकता। (२) फल या पुरस्कार रूप में कुछ पाना। कृतकर्म का भला या बुरा परिणाम भोगना। जैसे, (क) जागे सो पावे, सोवे सो खोवे। (ख) जैसा किया वैसा पाया। (३) किसी को दी हुई चीज वापस मिलना या कोई खोई हुई चीज फिर मिलना। जैसे, (क) यह किताब तुमसे हमने तीन बरस बाद आज पाई है। (ख) यह अँगूठी मैंने चार बरस के बाद आज पाई है। (४) पता पाना। भेद पाना। तह तक पहुँचना। समझना। जैसे, (क) आपने उनका रोग भी पाया है या यों ही नुसखा लिखते हैं? (ख) मैंने तुम्हारे मन की बात पा ली। (५) किसी की कोई बात अपने तक पहुँचना। कुछ सुन या जान लेना। जैसे, सुध पाना, समाचार पाना, सँदेसा पाना। (६) देखना। साक्षात् करना। जैसे, (क) तुमको जैसा सुना था वैसा ही पाया। (ख) भारत में अब सिंह प्रायः नहीं पाए जाते। (७) अनुभव करना। भोगना। उठाना। जैसे, दुःख पाना, सुख पाना। (८) समर्थ होना। सकना।

विशेष–इस अर्थ में पाना क्रिया संयोज्य होती है और जिस क्रिया या धातु के आगे लगाई जाती है उससे शक्यता या समाप्ति की शक्यता का अर्थ निकलता है। जहाँ समाप्ति का भाव होता है वहाँ धातु के आगे यह क्रिया आती है। जैसे, "तुम वहाँ जाने नहीं पाओगे"; "मैं अभी यह चीठी नहीं लिख पाया"।

(९) पास तक पहुँचना। जैसे, (क) मत दौड़ो, तुम उसे नहीं पा सकते। (ख) इस डाल को तुम उछलकर नहीं पा सकते। (१०) किसी बात में किसी के बराबर पहुँचना। बराबर होना। जैसे, पढ़ने में तुम उसे नहीं पा सकते। (११) भोजन करना। आहार करना। खाना। जैसे, प्रसाद पाना। (साधु) उ०—तेहि छन तहँ सिसु पावत देखा। पलना निकट गई तहँ पेखा।—विश्राम। (१२) ज्ञान प्राप्त करना। अनुभव करना। जानना। समझना। जैसे, किसी का मतलब पाना। उ०—समरथ सुभ जो पावई पीर पराई।—तुलसी।

वि० (१) पाने का हक। पावना। (२) जिसे पाने का हक हो। प्राप्तव्य। पावना।

नागार–संज्ञा पुं० [सं०] वह जहाँ बहुत से लोग मिलकर शराब पीते हों।

नात्यय–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जो बहुत अधिक मद्यपान करने से हो जाता है। वैद्यक में अन्य रोगों के समान वात, पित्त, कफ और सन्निपात भेद से इसके भी चार भेद माने गए हैं। इसमें हृदय में दाह और पीड़ा होती है, मुँह पीला हो जाता और सूख जाता है। रोगी को मूर्छा आती है, वह अंडबंड बकता है और उसके मुँह से झाग गिरने लगती है।

पानि‡–संज्ञा पुं० [सं० पाणि] हाथ। उ०–जड़ चेतन जग जीव जन सकल राममय जानि। बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।—तुलसी।

* संज्ञा पुं० दे० "पानी"।

पानिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो शराब बेचता हो। (२) कलवार।

पानिग्रहण*–संज्ञा पुं० दे० "पाणि ग्रहण"।

पानिप–संज्ञा पुं० [हिं० पानी + प (प्रत्य०)] (१) ओप। द्युति। कांति। चमक। आब। उ०—पानिप के भारन सँभारति न गात, लंक लचि लचि जात कच भारन के हलके।—द्विजदेव। (२) पानी।

पानी–संज्ञा पुं० [सं० पानीय] (१) एक प्रसिद्ध द्रव द्रव्य जो पारदर्शक, निर्गंध और स्वादरहित होता है। स्थावर और जंगम सब प्रकार की जीव-सृष्टि के लिये इसकी अनिवार्य्य आवश्यकता है। वायु की तरह इसके अभाव में भी कोई जीवधारी जीवित नहीं रह सकता। इसी से इसका एक पर्याय 'जीवन' है। पानी यौगिक पदार्थ है। अम्लज और उद्‌जन नामक दो गैसों के योग से इसकी उत्पत्ति हुई है। विस्तार के विचार से इसमें दो भाग उद्‌जन और एक भाग अम्लजन और गुरुत्व के विचार से १६ भाग अम्लजन और १ भाग उद्‌जन होता है, क्योंकि अम्लजन का परमाणु उद्‌जन के परमाणु से १६ गुना अधिक भारी होता है। गरमी की अधिकता से भाप बनकर उड़ जाने और कमी से पत्थर की तरह ठोस हो जाने का द्रव पदार्थों का धर्म जितना पानी में प्रत्यक्ष होता है उतना औरों में नहीं होता। तापमान की ३२ अंश की गरमी रह जाने पर यह जमकर बर्फ और २१२ अंश की गरमी पाने पर भाप हो जाता है। इनके मध्यवर्त्ती अंशों की गर्मी में ही वह अपने अप्रकृत रूप—द्रव रूप—में रहता है। पानी में कोई रंग नहीं होता पर अधिक गहरा पानी प्रायः नीला दिखाई पड़ता है जिसका कारण गहराई है। स्वाद और गंध भी उसमें उन द्रव्यों के कारण जो उसमें घुले होते हैं उत्पन्न होता है। ३९ अंश की गरमी में पानी का गुरुत्व अन्य द्रव्यों के सापेक्ष गुरुत्व के निश्चय के लिये प्रमाण रूप माना जाता है; सब तरल और ठोस द्रव्यों का गुरुत्व इसी से तुलना करके स्थिर किया जाता है।

अवस्थाभेद से पानी के अनेक नाम हैं। यथा—भाप, मेघ, बूँद, ओला, कुहिरा, पाला, ओस, बर्फ आदि। बूँद, कुहिरा, पाला, ओस आदि उसके तरल रूपांतर हैं, भाप और बादल वायव या अर्धवायव और ओला तथा बर्फ घनीभूत रूपांतर हैं।

संसार को पानी मुख्यतः वृष्टि से प्राप्त होता है। झरनों और कुओं से भी थोड़ा बहुत मिलता है। पानी विशुद्ध अवस्था में बहुत ही कम पाया जाता है। प्रायः कुछ न कुछ खनिज, जांतव और वायव द्रव्य उसमें अवश्य मिले रहते हैं। वृष्टि का जल यदि पृथ्वी से ऊँचाई पर और कुछ दिनों तक वृष्टि हो चुकने अर्थात् वायुमंडल स्वच्छ हो जाने पर किसी बरतन में एकत्र किया जाय तो शुद्ध होता है अन्यथा उसमें भी उपर्युक्त द्रव्य मिल जाते हैं। प्राकृतिक बर्फ़ का पानी भी प्रायः शुद्ध होता है। भभके में से खींचा हुआ पानी भी सब प्रकार के मिश्रणों से शुद्ध होता है, दवाइयों में यही पानी मिलाया जाता है। जो नदियाँ उजाड़ स्थानों, कठोर चट्टानों और कँकरीली भूमि से होकर जाती हैं उनका जल भी प्रायः शुद्ध होता है पर जिनका रास्ता नरम भूमि और चट्टानों तथा घनी आबादी के बीच से है उनके पानी में कुछ न कुछ अन्य द्रव्य मिले रहते हैं। समुद्र के जल में क्षार और नमक के अंश अन्य प्रकार के जलों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं जिससे वह इतना खारा होता है कि पिया नहीं जा सकता। भभके के द्वारा उड़ा लेने से सब प्रकार का पानी शुद्ध हो जाता है। समुद्र का पानी भी इस क्रिया से पेय बनाया जा सकता है।

वैद्यक के अनुसार पानी शीतल, हलका, रस का कारण-रूप, श्रमनाशक, ग्लानिहारक, बलकारक, तृप्तिदायक, हृदय को प्रिय, अमृत के समान जीवनदायक, मूर्च्छा, पिपासा, तंद्रा, वमन, निद्रा और अजीर्ण को नाश करनेवाला है। खारा जल पित्तकारक और वायु तथा कफ का नाशक है, मीठा, कफकारक और वायु तथा पित्त को घटानेवाला है। भादों या क्वार में विधिपूर्वक एकत्र किया हुआ वृष्टिजल अमृत के समान गुणकारी, त्रिदोषशांतिकर, रसायन, बलदायक, जीवनरूप, पाचन और बुद्धिवर्द्धक है। वेग से बहनेवाली और हिमालय से निकली हुई नदियों का जल उत्तम होता है, तथा मंद गति से बहनेवाली और सह्याद्रि से निकली हुई नदियों का पानी कोढ़, कफ, वात आदि विकारों को उत्पन्न करता है। झरने का और प्राकृतिक बर्फ़ के पिघलने से उत्पन्न जल उत्तम है। कुएँ का जल यदि उसके सोते अधिक गहराई और कड़ी कँकरीली मिट्टी पर से निकले हों तो, उत्तम होता है, अन्यथा दोषकारक होता है। जिस पानी में कोई गंध या विशेष स्वाद न हो उसे उत्तम और जिसमें ये बातें हों उसे सदोष समझना चाहिए। पकाने से पानी के सब दोष मिट जाते हैं।

यौ०–पनचक्की। पानी पाँड़े। पानी फल।

विशेष–प्राचीन आर्य तत्त्वज्ञानियों ने पानी को पाँच महाभूतों अर्थात् उन मूल तत्त्वों में जिनके योग से जगत् के और सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, चौथा माना है। रस तन्मात्र से उत्पन्न होने के कारण रस इसका प्रधान गुण और तीन पूर्ववर्ती तत्त्वों के गुण शब्द स्पर्श और रूप को गौण गुण कहा है। पाँचवें महाभूत या मूलतत्त्व पृथ्वी के गंध गुण का इसमें अभाव माना है। इसका रूप अर्थात् वर्ण सफेद, रस अर्थात् स्वाद मधुर और स्पर्श शीतल माना है। परमाणु में इसे नित्य और सावयव अर्थात् स्थूल रूप में अनित्य कहा है। पाश्चात्य देशों के द्रव्यशास्त्रविद् भी वर्त्तमान विज्ञान युग के आरंभ के पहले सहस्रों साल तक पानी को अपने माने हुए चार मूल तत्त्वों—अग्नि, वायु, पानी और मिट्टी में से एक मानते रहे हैं।

पर्या०–अर्ण। क्षोद। पद्म। नभ। अंभ। कबंध। सलिल। वाः। वन। घृत। मधु। पुरीष। पिप्पल। क्षीर। विष। रेत। कश। बुस्। तुग्या। सुक्षेम। धरुण। सुरा। अरविंद। धनुंधतु। जामि। आयुध। क्षय। अहि। अक्षर। स्रोत। तृप्ति। रस। उदक। पय। सर। भेषज। सह। ओज। सुख। क्षत्र। शुभ। यादु। भूत। भुवन। भविष्यत्। महत्। अप। व्योम। यश महः। सर्णीक। स्वृतीक। सतीन। गहन। गभीर। गंभलंग। ईम्। अन्न। हवि। सदन। ऋत। योनि। सत्य। नीर। रयि। सत्। पूर्ण। सर्व। अक्षित। वर्हि। नाम। सर्पि। पवित्र। अमृत। इंदु। स्वः। सर्ग। संवर। वसु। अंबु। तोय। तूप। शुक्र। तेजः। वारि। जल। जलाष। कमल। कीलाल। पाथ। पुष्कर। सर्वतोमुख। पानीय। मेघपुष्प। सल। जड़। क। अंध। उद। नार। कुश। कांड। सवर। सर। कर्बुर। व्योम। संब। इरा। वाज। तामर। कंवल। स्यंदन। क्षर। ऊर्ज। सोम।

मुहा०–**पानी आना**=(१) पानी का रस रस कर एकत्र होना। (२) कूएँ या तालाव में पानी का सोता खुलना। (३) घाव या आँख नाक आदि में पानी भर आना। (४) घाव, आँख, नाक आदि से पानी गिरना। **पानी उठाना**=(१) पानी सोखना। पानी चूसना। **जैसे, मुलायम आटा खूब पानी उठाता है।** (२) पानी अँटाना। (दौरी या हत्थे में जितना पानी अँटता है किसान लोग उसे उतना पानी उठाना बोलते हैं। जैसे, यह हत्था खूब पानी उठाता है।) **पानी उतरना**=

पानी की तल वा सतह का नीचा होना । पानी घटना । उतार होना । बाढ़ पर न रहना । **(काम को) पानी करना** = साध्य या सरल कर देना । सहज कर डालना । जैसे, मैंने इस काम को पानी कर दिया । **पानी का श्रासरा** = नाव की बारी पर लगा हुआ कुछ कुछ झुका हुआ तख्ता जिस पर छाजन की ओलती का पानी गिरता है । आधी बारी । (लश०) । **पानी काटना** = (१) पानी का बाँध काट देना । (२) एक नाली से दूसरी में पानी ले जाना । (३) तैरते समय हाथ से पानी को हटाना । पानी चीरना । **पानी का बतासा** = (१) बुलबुला । बुदबुद । (२) क्षणभंगुर वस्तु । क्षणस्थायी पदार्थ । **पानी का बुलबुला** = (१) बुलबुले की तरह क्षण में नष्ट या रूपांतरित होनेवाला । क्षणभंगुर । (२) नाशवान् । विनाशशील । **पानी की तरह बहाना** = अंधाधुंध खर्च करना । किसी चीज का आवश्यकता से बहुत अधिक मात्रा में खर्च करना । उड़ाना या लुटाना । **जैसे, उन्होंने लाखों रुपए पानी की तरह बहा दिए । पानी की पोट** = (१) जिसमें पानी ही पानी हो । जिसमें पानी के सिवा और कुछ न हो । (२) वे साग पात तरकारियाँ आदि जिनमें जलीय अंश ही अधिक होता है; ठोस पदार्थ बहुत ही कम होता है । **पानी के मोल** = पानी की तरह सस्ता । बहुत सस्ता । कौड़ियों के मोल । **पानी के रेले में बहाना** = (१) पानी में फेंक देना । नष्ट कर देना । उड़ा देना । (२) पानी के मोल बेंच देना । कौड़ियों में लुटा देना । **पानी चढ़ना** = (१) पानी का ऊपर चढ़ना या ऊँचाई की ओर जाना । पानी की गति ऊँचाई की ओर होना । **जैसे, इस नल में ऊपर पानी नहीं चढ़ता । उ०—सावर उबट शिखर की पाटी । चढ़ा पानि पाहन हिय फाटी ।—जायसी ।** (२) पानी बढ़ना । (३) सींचे जानेवाले खेत तक पानी पहुँचना । (४) सींचा जाना । **(इस मुहावरे का प्रयोग केवल खेती के लिये किया जाता है, बारी-बगीचे श्रादि के लिये नहीं ।) पानी चढ़ाना** = (१) पानी को ऊँचाई पर ले जाना । (२) पानी को चूल्हे पर रखना । अदहन देना । (३) सिंचाई के लिये खेत तक पानी ले जाना । (४) सींचना । **पानी चलाना†** = पानी फेरना । नष्ट करना । चौपट करना । (क्व०) । **उ०—ऐसे समय लखेउ ठकुरानी । पतिव्रत माफ़ चलायो पानी ।—लाल । पानी छानना** = एक विशेष कृत्य जो हिंदुओं के यहाँ किसी को शीतला या चेचक रोग होने पर किया जाता है । नाम धरने अर्थात् रोगी के चेचक होना मान लिए जाने के तीसरे, पाँचवें और सातवें दिनों में जिस दिन शुक्रवार या सोमवार हो स्त्रियाँ रोगी के सिर से कपड़ा छुला कर उससे पानी छानती हैं । इस पानी में पहले से चना भिगोया रहता है । यदि वर्षा होती हो तो उसी का पानो लेकर छाना जाता है । इस कृत्य के हो जाने पर उन निषेधों का पालन नहीं करना पड़ता जिनका पालन नाम धरने के दिन से आवश्यक समझा जाता है । **पानी छूटना** = रस रसकर पानी निकलना । थोड़ा थोड़ा पानी निकलना । रसना । **पानी छूना** = मलत्याग के अनंतर जल से गुदा को धोना । आबदस्त लेना (ग्राम्य) । **(किसी वस्तु का) पानी छोड़ना** = किसी चीज का रसना । थोड़ा थोड़ा पानी निकालना या देना । **जैसे, किसी तरकारी का श्राग पर चढ़ाने पर पानी छोड़ना । पानी टूटना** = कुएँ, ताल आदि में इतना कम पानो रह जाना कि निकाला न जा सके । कुएँ, ताल आदि का पानी खर्च होकर बहुत थोड़ा रह जाना । **पानी तोड़ना** = पानी का डाँड़ या वल्ली से चीरना या हटाना । पानी काटना । (मल्लाह) **पानी थामना** = धार की ओर नाव ले जाना । धार पर चढ़ना । (लश०) । **पानी दिखाना** = (१) घोड़े, बैल आदि को पानी पिलाने के लिये उनके सामने पानी भरा बरतन रखना या उन्हें पानी तक ले जाना । (२) पशुओं को पानी पिलाना । **पानी देना** = (१) सींचना । पानी से भरना । पानी से तर करना । (२) पितरों के नाम अंजलि में लेकर गिराना । तर्पण करना । जैसे, उसके कुल में कोई पानी देनेवाला भी नहीं रह गया । **पानी न माँगना** = किसी आघात या विष आदि से इतनी जल्दी मर जाना कि एक शब्द भी मुँह से न निकले । चटपट दम तोड़ देना । तत्क्षण मर जाना । **उ०—साँप इस मुल्क के बाजे ऐसे जहरीले होते हैं कि जिनका काटा श्रादमी फिर पानी न माँगे ।—शिवप्रसाद । पानी पड़ा**=ढीला ढाला । जो कसा या तना न हो । **जैसे, कनौवा पानी पड़ा है, श्रर्थात् उसकी डोर ढीली है । पानी पर नींव डालना या देना**=ऐसा काम आरंभ करना जो टिकाऊ न हो । ऐसी वस्तु को आधार बनाना जिसकी स्थिति दृढ़ न हो । **पानी पर नींव होना** = किसी काम या आयोजन का आधार दृढ़ न होना । किसी काम या वस्तु का टिकाऊ न होना । **पानी पढ़ना** = जल अभिमंत्रित करना । मंत्र पढ़कर पानी फूँकना । पानी पर दम करना । पानी फूँकना । **पानी पाड़ना** = दे० "पानी छानना" । **पानी पर बुनियाद होना** = दे० "पानी पर नींवँ होना" । **पानी परोरना** = पानी पढ़ना या फूँकना । **पानी पानी करना** = अत्यंत लज्जित करना । लज्जाभिभूत करना । **पानी पानी होना** = लज्जित होना । लज्जा के मारे पसीने पसीने हो जाना । लज्जा से कट जाना । **जैसे, वह इस बात को सुनकर पानी पानी हो गया । पानी पीकर जाति पूछना** = काम कर चुकने पर उसके औचित्य की विवेचना करना । **पानी पी पीकर** = निरंतर । अविराम । हर समय । लगातार । **(विशेष–इस मुहावरे का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कोई घंटों तक लगातार किसी को गालियाँ देता या कोसता रहता है । भाव यह होता है कि उसने इतनी श्रधिक गालियाँ दीं कि कई बार उसका गला सूख गया श्रौर उसे पानी पीकर उसे तर करना पड़ा । जैसे, वह उन्हें पानी पी पीकर कोसता रहा ।) (किसी वस्तु पर) पानी फिरना या फिर**

जाना = नष्ट होना । चौपट हो जाना । मिट्टी में मिल जाना । वरवाद हो जाना । **पानी फूँकना** = मंत्र पढ़कर पानी पर फूँक मारना । पानी पढ़ना । **पानी फूटना** = (१) बाँध या मेड़ को तोड़ कर पानी को निकालना । (२) पानी में उबाल आ जाना। पानी खौलने लगना । **(किसी पर) पानी फेरना या फेर देना** = ऐसा कुछ करना जिससे किया कराया उद्योग या परिश्रम विफल हो जाय या कोई बनी बात विगड़ जाय । चौपट कर देना । मिट्टी कर देना । मटियामेट कर देना । मिटा देना । **जैसे, इस एक बात ने आज तक के हमारे सारे परिश्रम पर पानी फेर दिया ।** **पानी बराना** = (१) छोटी नालियाँ बनाकर और क्यारियाँ काटकर खेत को सींचना । (२) जिसमें नालियाँ तोड़कर पानी बह न जाय इसलिये इसकी रखवाली करना । **पानी बाँधना** = (१) जिस मार्ग से पानी वह रहा हो उसे बंद करना । पानी का वहाव रोकना । (२) बाँध बाँधकर या मेंड़ बनाकर पानी को ताल या खेत में एकत्र करके बाहर न जाने देना। पानी का रोकना या एकत्र करना । (३) जादू से वरसते या वहते हुए पानी की धार रोकना । जलस्तंभ करना । **पानी बुझाना** = लोहे, ईंट या सोने चाँदी आदि के टुकड़े को आग में लाल करके पानी में बुझाना । पानी बघारना । **(विशेष—इस प्रकार बुझाया हुआ पानी विकाररहित होता है और रोगी के लिये पथ्य समझा जाता है ।)** **(किसी के सामने) पानी भरना** = (किसी से तुलना में उसके) दास के बराबर ठहरना । अत्यंत तुच्छ प्रतीत होना । फीका पड़ना । लज्जित होना । **उ०—चूना उसका ऐसा सफेद, साफ और चमकदार है कि संगमरमर भी उसके सामने पानी भरे ।—शिवप्रसाद ।** **पानी भरी खाल** = अनित्य शरीर । क्षणभंगुर देह । क्षणिक जीवन । **उ०—रावरी सपथ राम नाम ही गति मेरे इहाँ झूठों मूठों सो तिलोक तिहुँ काल है । तुलसी को भलो पै तुम्हारेई किए कृपाल कीजे न विलंब बलि ! पानी भरी खाल है ।—तुलसी ।** **पानी मरना** = किसी स्थान पर पानी का एकत्र होकर सोखा जाना या जज्ब होना । **जैसे, (क) जहाँ पानी मरता है वहीं धान होता है । (ख) इस दीवार की जड़ में बरसात का पानी मरता है ।** **(किसी के सिर) पानी मरना** = दोषी या अपराधी सिद्ध होना । कसूरवार या गुनहगार सावित होना । **जैसे, देखिए, इस मामले में किसके सिर पानी मरता है ।** **पानी में आग लगाना** = (१) असंभव को संभव करना । जो बात दूसरे से न हो सकती हो उसे कर डालना । (२) जहाँ झगड़ा होना असंभव हो वहाँ झगड़ा करा देना । शांति भक्तों में कलह करा देना । **(विशेष—मुख्य अर्थ पहला होने पर भी दूसरे अर्थ में इस मुहावरे का अधिक प्रयोग होने लगा है । आग लगाने का अर्थ है चुगुलखोरी करके झगड़ा करा देना । कदाचित् यही इसका दूसरे अर्थ में अधिक प्रयुक्त होने का कारण है) ।** **पानी में फेंकना या बहाना** = नष्ट करना । बरबाद करना । खो देना । पानी में फेंक देना । **पानी लगना** = (१) पानी इकट्ठा होना । पानी जमा होना । (२) पानी की ठंढक से दाँतों में टीस होना । पानी का स्पर्श दाँतों को असह्य होना । (३) स्थान विशेष की परिस्थिति के कारण बुरी वासनाएँ उत्पन्न होना । स्थान विशेष के गुण से शरारत सूझना । **जैसे, अब इनको बनारस का पानी लग चला ।** **पानी लेना** = (१) कुएँ, ताल आदि से खेत को सींचने के लिये पानी ले जाना । (२) पानी छूना । आबदस्त लेना । **पानी से पतला** = (१) जिसका कुछ भी महत्व या मान न हो । अत्यंत तुच्छ । निहायत अदना । (२) अत्यंत अपमानित । सर्वथा मानच्युत । सख्त बदनाम । (३) अत्यंत सुगम । निहायत आसान । **पानी से पहले पुल, पाड़ या बाँध बाँधना** = असंभव संकट की आशंका से कोई यत्न करना । जिस बात का होना असंभव हो उसके प्रतीकार का उपाय करना । अकारण सिर खपाना । व्यर्थ कष्ट करना । **सूखे में पानी में डूबना** = भ्रम में पड़ना । धोखा खाना । **उ०—धनी संग न संगे पूरे । पानी बूड़ रात दिन झूरे ।—जायसी ।** **कच्चा पानी** = वह पानी जो पकाया हुआ न हो । **पक्का पानी** = पकाया हुआ पानी । औटाया हुआ पानी । **भभके का पानी** = वह पानी जो भभके की सहायता से साधारण पानी को भाफ के रूप में परिणत करके तैयार किया गया हो । उड़ाया या खींचा हुआ पानी । **नरम पानी** = वह पानी जिसके बहाव में अधिक वेग न हो । ठहरा हुआ पानी (लश०) । **मीठा पानी** = वह पानी जो पीने में खारा न हो । सुस्वादु पानी । पेय जल । **खारा पानी** = वह पानी जिसका स्वाद नमकीन लिए हुए तीखा होता है । अपेय जल । **भारी पानी** = वह पानी जिसमें खनिज पदार्थ अधिक मात्रा में मिले हुए हों । **हलका पानी** = वह पानी जिसमें खानिज पदार्थ बहुत थोड़े हों । **पानी भरना या भर आना** = पंछा या राल का किसी स्थान में एकत्र होना । **जैसे, मुँह या आँख में पानी भर आना ।** **उ०—मेरी आँखों में आँसू न थे । यह निशीथ काल की शीतल और तीव्र वायु का कारण है कि उनमें पानी भर आया, नहीं तो आँसू कैसे, रोने के दिन अब गए ।—अयोध्यासिंह ।** **मुहँ में पानी आना या छूटना** = (१) स्वाद लेने का गहरा लालच होना । चखने के लिये जीभ का आकुल होना । (२) गहरा लोभ होना । लालच के मारे रहा न जाना ।

(२) वह पानी का सा पदार्थ सो जीभ, आँख, त्वचा, घाव आदि से रसकर निकले । जैसे, पसीना, पसेव, राल 'लार, पंछा' ।

मुहा०—पानी आना = किसी चीज से पसेव लार आदि निकलना । **जैसे, घाव में पानी आना । मुँह में पानी आना ।**

(३) मेहँ । वर्षा । वृष्टि । जैसे, इस वर्ष इतना कम पानी पड़ा कि पृथ्वी की प्यास एक बारगी न बुझी ।

मुहा०—पानी आना = (१) पानी बरसने पर होंना। मेंह पड़ने का सामान होना। (२) मेंह पड़ना। वर्षा होना। **पानी उठना** = घटा घिरना। बादल छा जाना। अभ्र उठना। **पानी टूटना** = झड़ी गिरना = मेंह पड़ना। वर्षा होंना। **पानी निकलना** = बूँदें रुकना। मेंह थमना। वर्षा बंद होना। **पानी पड़ना**=मेह बरसना। वर्षा होना। टूटना। वृष्टि बंद होना।

(४) तेल, घी, चरबी आदि के अतिरिक्त कोई द्रव पदार्थ। कोई वस्तु जो पानी जैसी पतली हो। जैसे, पाचक का पानी, केले का पानी, नारियल का पानी।

मुहा०—पानी उतरना = (१) अंडकोष में पानी जैसी पतली चीज का नसों के द्वारा आकर एकत्र हो जाना जिससे उसका परिमाण बढ़ जाता है। अंडवृद्धि। (२) आँखों से प्रायः हर समय कुछ कुछ गरम पानी गिरना जिससे देखने की शक्ति मारी जाती है। नजला। **पानी करना** = लोहे या किसी ऐसे ही कड़े पदार्थ को गलाकर पानी की तरह तरल करना। **पानी होना** = किसी पदार्थ का गलकर पानी की तरह पतला हो जाना। जैसे, सारा नमक गलकर पानी हो गया। **मीठा पानी** = लेमनेड। **खारा पानी** = सोडावाटर। **विलायती पानी** = लेमनेड या सोडा वाटर। **गरम पानी** = मद्य। शराब।

(५) वह द्रव पदार्थ जो किसी चीज के निचोड़ने से या उससे निथरकर निकले। किसी वस्तु का वह अंश जो जल के रूप में हो। रस। अर्क। जूस। जैसे, नीम का पानी, दाल का पानी। (६)चमक। ओप। आब। कांति। छबि। जैसे, मोती का पानी। उ०—मोतिन मलिन जो होइ गइ कला। पुनि सो पानि कहाँ निरमला।—जायसी।

मुहा०—पानी देना = जला करना। चमकाना।

(७) तलवार आदि धारदार हथियारों के लोहे का वह हलका स्याह रंग और उस पर चींटी के पैर के चिह्नों के से अकृत्रिम चिह्न जिनसे उसकी उत्तमता की पहचान होती है। (ऐसे लोहे की धार खूब तीक्ष्ण और कड़ी होती है)। आब। जौहर। (८) मान। प्रतिष्ठा। इज्जत। आबरू। साख। उ०—(क) महमद हाशिम शंका मानी। चपे चौधरी उतर्यो पानी।—लाल। (ख) बोली वचन हास करि रानी। राख्यो तुम पांडव कर पानी।—सबलसिंह।

यौ०—पतपानी।

मुहा०—पानी उतारना = अपमानित करना। इज्जत उतारना। उ०—जिन नहिं नेकु कानि मम मानी। दीन उतारि छनक में पानी।—सबलसिंह। **पानी जाना** = प्रतिष्ठा नष्ट होना। इज्जत जाना। मान न रह जाना। **पानी बचाना** = किसी की प्रतिष्ठा या आबरू की रक्षा करना। किसी की इज्जत बचाना। **पानी रखना** = दे० "पानी बचाना"। **पानी लेना** = किसी की प्रतिष्ठा या इज्जत नष्ट करना। किसी की बेआबरूई करना। आबरू लेना। उ०—सुंदर नयन निहारि लियो कमलन को पानी।—सूर। **बे पानी करना** = दे० "पानी लेना"।

यौ०—पानी-देवा।

(९) वर्ष। साल। जैसे, पाँच पानी का सूअर—अर्थात् ऐसा सूअर जिसने ५ बरसातें देखी हैं अर्थात् जिसके पाँच साल पूरे हो चुके हों। (१०) मुलम्मा।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—फेरना।

(११) वीर्य्य। शुक्र। नुत्फा। (बाजारू)।

मुहा०—पानी गिराना=स्त्री प्रसंग करना। (बाजारू)।

(१२) पुंस्त्व। मरदानगी। जीवट। हिम्मत। स्वाभिमान। जैसे, उसमें तनिक भी पानी नहीं। (१३) घोड़े आदि पशुओं की वंशगत विशेषता या कुलीनता। घोड़े आदि की नस्ल। जैसे, यह जानवर पानी और खेत का अच्छा है। (१४) पानी की तरह ठंढा पदार्थ। जैसे, तवा तो पानी हो रहा है।

मुहा०—पानी करना या कर देना=किसी के चित्त को ठंढा कर देना। किसी का गुस्सा उतार देना। जैसे, मैंने दो बातों में उन्हें पानी कर दिया। **(किसी का) पानी होना या हो जाना** = (१) क्रोध उतर जाना। गुस्सा जाता रहना। जैसे, मुझे देखते ही वे पानी हो गए। (२) उग्रता या तेजी न रह जाना। मंद पड़ जाना। धीमा हो जाना।

(१५) एकबारगी, गीली, नरम या मुलायम चीज़ (अत्युक्ति)। (१६) पानी की तरह फीका या स्वादहीन पदार्थ। जैसे, (क) शोरबे में बस पानी का मजा है। (ख) दाल क्या है, बिलकुल पानी है। (१७) कुश्ती या लड़ाई आदि। द्वंद्वयुद्ध। जैसे, (क) यह बटेर दो पानी हार चुका। (ख) इन दोनों में भी एक पानी हो जाने दो। (१८) बार। बेर। दफा। जैसे, अब की उन्हें जहाँ दो पानी पीटा की वे दुरुस्त हुए। (बाजारू)। (१९) मद्य। शराब। (बोलचाल)। (२०) अवसर। समय। मौका। जैसे, अब वह पानी गया। (२१) जलवायु। आब-हवा। जैसे, यहाँ का पानी हमारे अनुकूल नहीं।

मुहा०—कड़ा पानी = ऐसा जलवायु जिसमें उत्पन्न या पले मनुष्य या पशु फुरतीले, शूर, साहसी, जीवटवाले, सहिष्णु तथा कट्टर स्वभाव के हों। **नरम पानी** = ऐसा जलवायु जिसमें उत्पन्न या पले मनुष्य या पशु मंद, ढीले बदन के, जीवटहीन और असहिष्णु हों। **पानी लगना** = स्थानविशेष के जलवायु के कारण स्वास्थ्य बिगड़ना या रोग होना। उ०—लागत अति पहार कर पानी। विपिन विपति नहिं जाय बखानी।—तुलसी।

(२२) परिस्थिति। सामाजिक दशा। लोगों की

चाल ढाल या रंग ढंग। जैसे, (क) बनारस का पानी ही ऐसा है कि रंग ढंग बदल जाता है। (ख) अब इन्हें कलकत्ते का पानी लग चला। (इस शब्द से केवल बुरी परिस्थिति, बदमाशी चालढाल या चरित्र बिगड़नेवाली सामाजिक दशा व्यंजित होती है, अच्छी सामाजिक परिस्थिति नहीं।)।

मुहा०—पानी लगना = परिस्थिति का प्रभाव पड़ना। नए नए लोगों के साथ का असर पड़ना।

* संज्ञा पुं० दे० "पाणि"।

पानीतराश—संज्ञा पुं० [फा०] जहाज या नाव के पेंदे में वह बड़ी लकड़ी जो पानी को चीरती है। (लश०)

पानीदार—वि० [हिं० पानी + फा० दार (प्रत्य०)] (१) आबदार। चमकदार। (२) इज़्ज़तदार। माननीय। आबरूदार। (३) जीवटवाला। मरदाना। आनवाला। आत्माभिमानी।

पानीदेवा—वि० [हिं० पानी + देवा = देनेवाला] (१) तर्पण या पिंडदान करनेवाला। (२) पुत्र। (३) अपने कुल का। स्ववंशीय।

मुहा०—पानीदेवा न रह जाना = वंश का उच्छेद हो जाना। वंश का समूल नाश हो जाना। कुल में एक भी व्यक्ति का जीवित न रह जाना। जैसे, उसके वंश में न कोई नामलेवा रहा न पानीदेवा।

पानीपत—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र जो दिल्ली और अंबाले के बीच में है। यहाँ कई प्रसिद्ध और राज्य पलटनेवाले युद्ध हुए हैं। इसी के पास कुरुक्षेत्र है जिसमें महाभारत का युद्ध हुआ था। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का वह युद्ध इसी के पास हुआ था जिससे भारत में मुसलमानी राज्य का आरंभ हुआ। पठानों के हाथ से राजलक्ष्मी इसी मैदान में मोगलों के हाथ गई। मरहठों के साथ अहमदशाह दुर्रानी का युद्ध इसी मैदान में हुआ था और हिंदू साम्राज्य फिर स्थापित होते होते रह गया।

पानीफल—संज्ञा पुं० [हिं० पानी + सं० फल] सिंघाड़ा।

पानीय—संज्ञा पुं० [सं०] जल।

वि० (१) पीने योग्य। जो पीया जा सके। (२) रक्षा करने योग्य। रक्षा संबंधी। रक्षा करने का। उ०—सभा मांझ द्रुपदी पति राखी पानिय गुण है जाकी। वसन ओट करि कोटि विश्वंभर परन न पायो झांकी।—सूर।

पानीय कल्याण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में त्रिफला, एलुआ, हलदी, अनंतमूल, मजीठ, नागकेसर, लालचंदन आदि अनेक ओषधियों के योग से बनाया हुआ एक प्रकार का घृत जो अपस्मार, उन्माद, ज्वर, खाँसी, क्षय, आदि रोगों को दूर करनेवाला माना जाता है।

पानीय नकुल—संज्ञा पुं० [सं०] ऊदबिलाव।

पानीय चूर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू।

पानीय पृष्ठज—संज्ञा पुं० [सं०] जलकुंभी।

पानीय फल—संज्ञा पुं० [सं०] मखाना।

पानीय मूलक—संज्ञा पुं० [सं०] बकुची।

पानीय वर्णिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू।

पानीय शाल, पानीय शालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ प्यासों को पानी पिलाया जाता है। जलसत्र। पौसरा। प्याऊ।

पानीयामलक—संज्ञा पुं० [सं०] पानी आँवला।

पानीयालु—संज्ञा पुं० [सं०] पानी आलू नामक कंद। यह त्रिदोषनाशक और तृप्तिकारक माना जाता है।

पर्या०—अनुपालु। जलालु। क्षुपालु। अपालुक।

पानीयाश्ना—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास। बल्वजा।

पानौरा†—संज्ञा पुं० [हिं० पान + बरा] पान के पत्ते की पकौड़ी। उ०—पानौरा, रायता, पकौरी। डुभकौरी मुंगछी सुठि सौंरी।—सूर।

पान्हर—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सरपत।

पाप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कर्म जिसका फल इस लोक और परलोक में अशुभ हो। वह आचरण जो अशुभ अदृष्ट उत्पन्न करे। कर्त्ता का अधःपात करनेवाला कर्म। ऐसा काम जिसका परिणाम कर्त्ता के लिये दुःख हो। व्यक्ति और समाज के लिये अहितकर आचरण। धर्मशास्त्र या नीति-शास्त्र से निंदित आचरण। धर्म या पुण्य का उलटा। बुरा काम। निंदित काम। अकल्याणकर कर्म। अनाचार। गुनाह।

पर्या०—अधर्म। दुरिदृष्ट। पंक। किल्विष। कल्मष। वृजिन। एनस। अघ। अंहस। दुष्कृत। पातक। शल्यक। पापक।

विशेष—जिस प्रकार अकर्त्तव्य कर्म का करना पाप है, उसी प्रकार अवश्य कर्त्तव्य का न करना भी पाप है। धर्मशास्त्रानुसार निषिद्ध कार्यों का अनुष्ठान और विहित कर्मों का अननुष्ठान दोनों ही पाप हैं। पाप का फल पतन और दुःख है। वह कर्त्ता का अनेक जन्मों में अहित करता है। पापी से संसर्ग रखनेवाला भी पापभागी और दुःख का अधिकारी होता है। प्रायश्चित्त और भोग इन्हीं दो उपायों से पाप की निवृत्ति मानी गई है। यदि इन उपायों से उसके संस्कार भली भाँति क्षीण न हुए तो वह मरणोपरांत कर्त्ता को नरक और जन्मांतर में अनेक प्रकार के रोग शोक आदि प्राप्त कराता है। स्वानिष्टजनन-पाप अर्थात् ऐसे पाप जिनसे तत्काल या कालांतर में केवल कर्त्ता का ही अनिष्ट होता है जैसे अभक्ष्यभक्षण अगम्यागमन आदि यथाविधि प्रायश्चित्त करने से नष्ट होते हैं। परंतु परानिष्टजनन-पाप अर्थात् तत्काल कर्त्ता के अतिरिक्त किसी

और व्यक्ति का और कालांतर में कर्त्ता का अपकार करनेवाले पाप जैसे, चोरी, हिंसा आदि ऐसे हैं जिनके संस्कार यथोचित राजदंड भुगत लेने से क्षीण होते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि समाज के सामने अपना पाप प्रकट कर देने और उसके लिये अनुताप करने से वह क्षीण हो जाता है।

यौ०—पाप पुण्य।

मुहा०—**पाप उदय होना** = संचित पाप का फल मिलना। पिछले जन्मों के पाप का बदला मिलना। कोई भारी हानि या अनिष्ट होना जिसका कारण पिछले जन्मों के बुरे कर्म समझे जायँ। जैसे, कोई भारी पाप उदय हुआ है तभी उसको इस बुढ़ापे में लड़के का शोक सहना पड़ा है। **पाप कटना** = पाप का नाश होना। प्रायश्चित्त या दंडभोग से पापसंस्कारों का क्षय होना। **पाप कमाना या बटोरना** = पाप कर्म करना। लगातार या बहुत से पाप करना। ऐसे बुरे कर्म करते जाना जिनका फल बुरा हो। भविष्यत् या जन्मांतर में दुःख भोगने का सामान करना। **पाप काटना** = पाप से मुक्त करना। किसी के पाप का नाश कर देना। निष्पाप करना। पापरहित कर देना। **पाप की गठरी या मोट** = पापों का समूह। किसी व्यक्ति के संपूर्ण पाप। किसी के जन्म भर के पाप। **पाप लगना** = पाप पड़ना। पाप होना। दोष होना। जैसे, (क) पापी के संसर्ग से भी पाप लगता है। (ख) ऐसे महात्मा की निंदा करने से पाप लगता है।

(२) अपराध। कसूर। जुर्म। (३) वध। हत्या। (४) पापबुद्धि। बुरी नीयत। बदनीयती। खोट। बुराई। जैसे, उसके मन में अवश्य कुछ पाप है। (५) अनिष्ट। अहित। बुराई। खराबी। नुकसान। (६) कोई क्लेशदायक कार्य या विषय। परेशान करनेवाला काम या बात। बखेड़े का काम। झंझट। जंजाल। (केवल हिंदी में)।

मुहा०—**पाप कटना** = बाधा कटना। झगड़ा दूर होना। जंजाल छूटना। जैसे, वह आप ही यहाँ से चला गया—अच्छा हुआ, पाप कटा। **पाप काटना** = झगड़ा मिटाना। बला काटना। जंजाल छुड़ाना। **पाप मोल लेना** = जान बूझकर किसी बखेड़े के काम में फँसना। दर्द सर खरीदना। झगड़े में पड़ना। **पाप गले या पीछे लगना** = अनिच्छापूर्वक किसी बखेड़े या झंझट के काम में बहुत समय के लिये फँस जाना। कोई बाधा साथ लगना।

(७) कठिनाई। मुश्किल। संकट। (क्व०)

मुहा०—**पाप पड़ना*** = सामर्थ्य से बाहर हो जाना। मुश्किल पड़ जाना। कठिन हो जाना। उ० = सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि विरहिन तनु ताप। बसिबे को ग्रीषम दिननि पर्‍यो परोसिनि पाप।—बिहारी।

(८) पापग्रह। क्रूरग्रह। अशुभग्रह।

वि० (१) पापयुक्त। पापिष्ठ। पापी। (२) दुष्ट। दुराचारी। बदमाश। (३) नीच। कमीना। (४) अशुभ। अमंगल।

विशेष—पाप शब्द का विशेषण के रूप में अकेले केवल संस्कृत में व्यवहार होता है, हिंदी में वह समास के साथ ही आता है, जैसे, पापपुरुष, पापग्रह आदि।

पापक–संज्ञा पुं० [सं०] पाप।

वि० पापयुक्त।

पापकर्म–संज्ञा पु० [सं०] अनुचित कार्य्य। बुरा काम। वह काम जिसके करने में पाप हो।

पापकर्मा–वि० [सं० पापकर्मन्] पापी। पातकी।

पापकर्मी–वि० [सं० पापकर्मिन्] [स्त्री० पापकर्मिणी] पाप करनेवाला। पापी।

पापकल्प–वि० [सं०] पापी का सा आचरण रखनेवाला। पापी तुल्य। दुष्कर्मी। पापकर्म से जीविका करनेवाला। बदमाश।

पापक्षय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पापों का नष्ट होना। (२) वह स्थान जहाँ जाने से पापों का नाश हो। तीर्थ।

पापगण–संज्ञा पुं० [सं०] छंदःशास्त्र के अनुसार ठगण का आठवाँ भेद।

पापग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फलित ज्योतिष के अनुसार कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक का चंद्रमा। वह चंद्रमा जो देखने में आधे से कम हो। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार सूर्य्य, मंगल, शनि और राहु केतु ये ग्रह; अथवा इनमें से किसी ग्रह से युक्त बुध। ये ग्रह अशुभ फलकारक माने जाते हैं।

पापघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] तिल।

वि० पापनाशक। जिससे पाप नष्ट हो।

पापघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी।

पापचंद्रमा–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार विशाखा और अनुराधा नक्षत्र के दक्षिण भाग में स्थित चंद्रमा।

पापचर–वि० [सं०] [स्त्री० पापचरा] पापाचारी। पापी।

पापचारी–वि० [सं० पापचारिन्] [स्त्री० पापचारिणी] पापी। पाप करनेवाला। पातकी।

पापचेता–वि० [सं० पापचेतस्] बुरे चित्तवाला। जिसके चित्त में सदा पाप बसता हो। दुष्टचित्त।

पापचेलिका, पापचेली–संज्ञा स्त्री० [सं०] पाठा।

पापचैल–वि० [सं०] जो बुरे वस्त्र पहने हो। अशुभ या अभद्र वस्त्रधारी।

पापजीव–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार स्त्री, शूद्र, हूण और शवर आदि जीव।

पापड़–संज्ञा पुं० [स० पर्पट, प्रा० पप्पड़] उर्द अथवा मूँग की धोई के आटे से बनाई हुई मसालेदार पतली चपाती। इसके बनाने की विधि यह है कि पहले आटे को केले, लटजीरे आदि के क्षार अथवा सोडा मिले हुए पानी में गूँधते हैं। फिर उसमें नमक, जीरा, मिर्च आदि मसाला देकर और तेल चुपड़ चुपड़ कर बट्टे आदि से खूब कूटते हैं। अच्छी तरह कुट जाने पर एक तोले के बराबर आटे की लोई करके बेलन से उसे खूब बारीक बेलते हैं। फिर छाया में सुखाकर रख लेते हैं। खाने के पहले इसे घी या तेल में तलते वा यों ही आग पर सेंक लेते हैं। पापड़ दो प्रकार का होता है–सादा और मसालेदार। सादे पापड़ में केवल नमक जीरा, आदि मसाले ही पड़ते हैं और वह भी थोड़ी मात्रा में। परंतु मसालेदार में बहुत से मसाले डाले जाते हैं और उनकी मात्रा भी अधिक होती है। दिल्ली, आगरा, मिर्जापुर आदि नगरों का पापड़ बहुत काल से प्रसिद्ध है। अब कलकत्ते आदि में भी अच्छा पापड़ बनने लगा है। हिंदुओं, विशेषतः नागरिक हिंदुओं के भोज में पापड़ एक आवश्यक व्यंजन है। उ०—फेनी पापर भूजे भये अनेक प्रकार। भइ जाउर भिजयावर सीझी सब ज्योनार।–जायसी।

मुहा०–पापड़ बोलना = (१) कठोर परिश्रम करना। भारी प्रयास करना। बड़ी मिहनत करना। जैसे, आपसे किसने कहा था कि इस काम में आप इतने पापड़ बेलें? (२) कठिनाई या दुःख से दिन काटना। बहुत से पापड़ बेलना = बहुत तरह के काम कर चुकना। बहुत जगह भटक चुकना। जैसे, उसने बहुत से पापड़ बेले हैं।

वि० (१) बारीक। पतला। कागज सा। (२) सूखा। शुष्क।

पापड़ा–संज्ञा पुं० [सं० पर्पट] (१) छोटे आकार का एक पेड़ जो मध्यप्रदेश, बंगाल, मद्रास आदि में उत्पन्न होता है। इसकी पत्तियाँ हर साल झड़कर नई निकलती हैं। इसकी लकड़ी भीतर से चिकनी, साफ और पीलापन लिए भूरे रंग की तथा कड़ी और मजबूत होती है। उससे कंघी और खराद की चीजें बनाई जाती हैं। खुदाई का काम भी उस पर अच्छा होता है। इसे वनएडालु भी कहते हैं। (२) दे० "पित्तपापड़ा"।

पापड़ाखार–संज्ञा पुं० [सं० पर्पटक्षार] केले के पेड़ का क्षार।

पापड़ा–संज्ञा स्त्री० [हिं० पापड़ा] एक पेड़ जो मध्यप्रदेश, पंजाब और मद्रास में बहुत होता है। इसका धड़ लंबा होता है। इसकी पत्तियाँ हर वर्ष झड़ जाती हैं। इसकी लकड़ी पीलापन लिए सफेद होती है और घर, संगहे तथा गाड़ियों के बनाने में काम आती है।

पापदर्शी–वि० [सं० पापदर्शिन्] बुरी नीयत या निगाह से देखने वाला। अनिष्ट करने की इच्छा से देखनेवाला।

पापदृष्टि–वि० [सं०] (१) जिसकी दृष्टि पापमय हो। (२) अशुभ या अमंगल दृष्टिवाला। जिसकी दृष्टि पड़ने से हानि पहुँचे। निंदित दृष्टि।

पापधी–वि० [सं०] जिसकी बुद्धि पापमय या पापासक्त हो। पापमति। पापचेता। निंदित या दुष्ट बुद्धिवाला।

पापनक्षत्र–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में ज्येष्ठा आदि कुछ नक्षत्र जो बुरे या निंदित माने जाते हैं।

पापनामा–वि० [सं० पापनामन्] (१) जिसका नाम बुरा हो। अमंगल या अभद्र नामवाला। (२) बदनाम। अपकीर्तियुक्त। जिसकी निंदा या बदनामी हुई हो।

पापनाशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप का नाश करनेवाला। पापनाशी। (२) वह कर्म जिससे पाप का नाश हो। प्रायश्चित्त। (३) विष्णु। (४) शिव। (५) पापनाश का भाव अथवा क्रिया। पाप का नाश होना या करना।

पापनाशिनी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शमीवृक्ष। (२) कृष्ण तुलसी।

पापनिश्चय–वि० [सं०] जिसने पाप करने का निश्चय किया हो। पाप करने को कृतसंकल्प। दुष्कर्म करने का निश्चय करनेवाला। खोटा काम करने को तैयार।

पापपति–संज्ञा पुं० [सं०] उपपति। जार।

पापपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पापमय पुरुष। पाप प्रकृति पुरुष। दुष्ट। (२) तंत्र में माना हुआ एक पुरुष जिसके संपूर्ण शरीर का उपादान केवल पाप होता है। इसके सिर से लेकर रोएँ तक संपूर्ण अंग प्रत्यंग किसी न किसी महापातक या उपपातक से बने माने जाते हैं। इसका वर्ण काजल की तरह काला और आँखें लाल होती हैं। यह सर्वदा क्रुद्ध और तलवार और ढाल लिए रहता है।

पापफल–वि० [सं०] वह (कर्म) जिसका फल पाप हो। पापोत्पादक। अशुभ फल देनेवाला।

पापभक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] कालभैरव।

पापमति–वि० [सं०] जिसकी मति सदा पाप में रहे। पापबुद्धि। पापचेता।

पापमय–वि० [सं०] [स्त्री० पापमयी] जिसमें सर्वत्र पाप ही पाप हो। पाप से ओतप्रोत। पाप से भरा हुआ। जो सर्वदा पापवासना या पापचेष्टा में लिप्त रहे।

पापमोचनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र कृष्णपक्ष की एकादशी।

पापयक्ष्मा–संज्ञा पुं० [सं०] राजयक्ष्मा। क्षय रोग। तपेदिक।

पापयोनि–संज्ञा स्त्री० [सं०] निकृष्ट या निंदित योनि। पाप से प्राप्त होनेवाली योनि। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशु, पक्षी, वृक्ष आदि की योनि।

पापर–संज्ञा पुं० दे० "पापड़"।

पापरोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रोग जो कोई विशेष पाप करने से होता है। पापविशेष के फल से उत्पन्न रोग। धर्मशास्त्रानुसार कुष्ठ, यक्ष्मा, कुनख, श्यावदंत (दाँतों का काला या बदरंग होना), पीनस, पूतिवक्त्र (श्वासवायु से दुर्गंध निकलना), हीनांगता, श्वित्र, श्वेतकुष्ठ, पंगुत्व, मूकता, लोलजिह्वता, उन्माद, अपस्मार, अंधत्व, काणत्व, भ्रामर (सिर में चक्कर आना), गुल्म, श्लीपद (फीलपा) आदि रोग पापरोग माने गए हैं जो ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णहरण आदि विशेष विशेष पापों के कर्त्ता को नरक और पशु कीट पतंग आदि की योनियों से पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर होते हैं।

(२) मसूरिका। वसंत रोग। छोटी माता।

पापरोगी-वि० [सं० पापरोगिन्] [स्त्री० पापरोगिणी] पापरोग-युक्त। जिसे कोई पापरोग हुआ हो।

पापर्द्धि-संज्ञा स्त्री०[सं०] मृगया। आखेट। शिकार।

विशेष—मृगया से पाप की ऋद्धि (बढ़ती) होना माना गया है, इसी से उसकी पापर्द्धि संज्ञा हुई।

पापलेन-संज्ञा पुं० [फा० पापलिन] एक सूती कपड़ा। एक प्रकार का डोरिया।

पापलोक-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पापलोक्य] पापियों के रहने का स्थान। पापी को मिलनेवाला लोक। नरक।

पापवाद-संज्ञा पुं० [सं०] अशुभसूचक शब्द। अमंगल ध्वनि। कौवे आदि की ऐसी बोली जो अशुभसूचक मानी जाय।

पापशमनी-वि० स्त्री० [सं०] पापनाशिनी। पापनिवारिणी।

संज्ञा स्त्री० शमीवृक्ष।

पापशोधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाप से शुद्ध होने की क्रिया या भाव। पापनिवारण। (२) तीर्थस्थान।

पापसंकल्प-वि० [सं०] पापनिश्चय। जिसने पाप करने का पक्का इरादा कर लिया हो।

पापसूदनतीर्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थस्थान।

पापहर-वि० पुं० [सं०] पापनाशक। पापहारक।

संज्ञा पुं० एक नदी का नाम।

पापहा-वि० [सं० पापहन्] पापनाशक। पाप का हनन करनेवाला।

पापांकुशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन मास की शुक्ला एकादशी।

पापांत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

पापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुध की उस समय की गति जब वह हस्त, अनुराधा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र में रहता है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा कीड़ा जो ज्वार बाजरे आदि की फसल में प्रायः उस वर्ष लग जाता है जिस वर्ष बरसात अधिक होती है।

संज्ञा पुं० [अनु०] (१) बच्चों की एक स्वाभाविक बोली या शब्द जिससे वे बाप को संबोधित करते हैं। बाबा। बाबू।

विशेष—इस समय प्रायः युरोपियनों ही के बच्चे इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

(२) प्राचीन काल में बिशप पादरियों और वर्त्तमान में केवल यूनानी पादरियों के एक विशेष वर्ग की सम्मान-सूचक उपाधि।

पापाख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुध की उस समय की गति जब वह हस्त, अनुराधा अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र में रहता है।

पापाचार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पापाचारी] पाप का आचरण, पापकार्य। दुराचार।

वि० पाप का आचरण करनेवाला। पापी। दुराचारी।

पापात्मा-वि० [सं० पापात्मन्] जिसकी आत्मा सदा पापकर्म में बसे या लिप्त रहे। पाप में अनुरक्त। पापी। दुष्टात्मा।

पापाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अशौच का दिन। सूतक काल। (२) निंदित दिन। अशुभ दिन।

पापाही-संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

पापिष्ठ-वि० [सं०] अतिशय पापी। बहुत बड़ा पापी। जो सदा पाप करता रहता हो। बहुत बड़ा गुनहगार।

पापी-वि० [सं० पापिन्] [स्त्री० पापिनी] (१) पाप में रत या अनुरक्त। पाप करनेवाला। पापयुक्त। अघी। पातकी। उ०—(क) परगट गुपुत सरब बिआपी। धर्मी चीन्ह न चीन्है पापी।—जायसी। (२) क्रूर। निर्दय। नृशंस। परपीड़क।

संज्ञा पुं० पाप करनेवाला। पापकारी। अपराधी। दुराचारी।

पापोश-संज्ञा पुं० [फा०] जूता। उपानह।

पाप्मा-संज्ञा पुं० [सं० पाप्मन्] पाप।

वि० पापी।

पाबंद-वि० [फा०] [संज्ञा स्त्री० पाबंदी] (१) बँधा हुआ। बद्ध। अस्वाधीन। कैद। (२) किसी नियम, आज्ञा, वचन आदि के पूर्ण रूप से अधीन होकर काम करनेवाला। आचरण में किसी विशेष बात की नियमपूर्वक रक्षा करनेवाला। किसी बात का नियमित रूप से अनुसरण करनेवाला। नियम प्रतिज्ञा आदि का पालनकर्त्ता। जैसे, (क) मैं तो सदा आपके हुक्म का पाबंद रहता हूँ। (ख) वे जन्म भर में कभी अपने वादे के पाबंद नहीं हुए। (३) नियमतः अथवा न्यायतः कोई विशेष कार्य करने के लिये बाध्य या लाचार। जो किसी वस्तु का अनुसरण करने के लिये बाध्य हो। नियम, प्रतिज्ञा, विधि, आदेश आदि का पालन करने के लिये विवश। जैसे, (क) जो प्रतिज्ञा मुझ पर दबाव डालकर कराई गई उसका पाबंद मैं क्यों होऊँ ? (ख) आपका हर एक हुक्म मानने के लिये मैं पाबंद नहीं हूँ।

संज्ञा पुं० (१) घोड़े की पिछाड़ी। (२) नौकर। दास। सेवक।

पाबंदी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पाबंद होने का भाव। बद्धता। अधीनता। (२) मजबूरी। लाचारी। (३) किसी वस्तु के अधीन होकर काम करने का भाव। नियमित रूप से किसी बात का अनुसरण। नियम, प्रतिज्ञा, आदेश, विधि आदि का पालन। जैसे, वे सदा अपने वादों की पाबंदी करते हैं। (४) कोई विशेष कार्य करने की बाध्यता या लाचारी। किसी वस्तु के अनुसरण की आवश्यकता। किसी कार्य का अवश्य कर्त्तव्य या फर्ज होना। जैसे, आपकी सभी आज्ञाओं की मुझ पर कोई पाबंदी नहीं है।

पाबोर–संज्ञा पुं० [हिं० पा+बोरना] कहारों अथवा डोली ढोनेवालों की बोलचाल में वह स्थान जहाँ कुछ अधिक पानी हो। वह स्थान जहाँ घुटने तक या घुटना डूबने भर पानी भरा हो।

विशेष—रास्ते में जब कहीं ऐसा स्थान पड़ता है जिसमें कुछ अधिक पानी भरा होता है तब अगले कहार इस शब्द को कहकर पिछले कहारों को सावधान करते हैं।

पाम–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह डोरी जो गोटे किनारी आदि के किनारों पर मजबूती के लिये बुनते समय डाल दी जाती है। (२) लड़। रस्सी। डोरी। (लश०)

संज्ञा पुं० [सं० पामन्] (१) दानेदार चकत्ते या फुंसियां जो चमड़े पर हो जाती हैं। (२) खाज। खुजली।

पामघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पामघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी।

पामड़ा–संज्ञा पुं० दे० "पावँड़ा"। उ०—सी सी कै उझकै झुकै चलत रुकै यदुराय। नव मखमल के पामड़े हाय गड़े ये पाय।—श्रृंगारसतसई।

पामन्–संज्ञा पुं० दे० "पाम"।

पामन–वि० [सं०] जिसे या जिसमें पाम रोग हुआ हो।

पामर–वि० [सं०] (१) खल। दुष्ट। कमीना। पाजी। (२) पापी। अधम। दुश्चरित्र। (३) नीच कुल या वंश में उत्पन्न। (४) मूर्ख। उल्लू। निर्बुद्धि।

पामरयोग–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निकृष्ट योग जिसके द्वारा भारतवर्ष के नट, बाजीगर आदि अद्भुत अद्भुत लाग के खेल किया करते हैं। इसके साधन से अनेक रोगों का नाश और अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति होना माना जाता है। कुछ लोग इसे मिस्मेरिजम के अंतर्गत मानते हैं।

पामरी–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रावार] उपरना। दुपट्टा। उ०–(क) मोही सांवरे सजनी तब ते गृह मोको न सोहाई। द्वार अचानक होइ गए री सुंदर बदन दिखाई। ओढ़े पीरी पामरी पहिरे लाल निचोल। भौंहें कांट कटीलियां सिख कीन्हीं बिन मोल।—सूर। (ख) सांवरी पामरी की दै खुदी बलि सांवरे पै चली सांवरी ह्वै के।—पद्माकर।

संज्ञा स्त्री० दे० "पावँड़ी"। उ०—छोटे छोटे नूपुर सो छोटे छोटे पायँन में छोटी जरकसी लसी सामरी सुपामरी।—रघुराजसिंह।

पामारि–संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पामाल–वि० [फा०पा+माल=मलना,दलना,रौंदना] [संज्ञा पामाली] (१) पैर से मला हुआ। रौंदा हुआ। पादाक्रांत। पददलित। (२) तबाह। बरबाद। चौपट। सत्यानाश।

पामाली–संज्ञा स्त्री० [फा०] तबाही। बरबादी। नाश।

पामोज़–संज्ञा पुं० [हिं० पा + मोज़ा ?] (१) एक प्रकार का कबूतर जिसके पैर की उँगलियाँ तक परों से ढँकी रहती हैं। (२) वह घोड़ा जो सवारी के समय सवार की पिंडली को अपने मुँह से पकड़ता है।

पायँ*†–संज्ञा पुं० दे० "पावँ"।

पायँजेहरि*–संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ + जेहरी] पैर में पहनने का घुँघरूदार गहना। पायजेब।

पायँत–संज्ञा स्त्री० दे० पायँती"।

पायँता–संज्ञा पुं० [हिं० पायँ + सं०स्थान, हिं० थान] (१) पलँग या चारपाई का वह भाग जिधर पैर रहता है। सिरहाने का उलटा। पैताना। (२) वह दिशा जिधर सोनेवाले के पैर हों। जैसे, तुम्हारे पायँते रखा हुआ है, उठकर ले लो।

पायँती–संज्ञा स्त्री० [हिं० पायंता] पायँता। पैताना।

पायंदाज–संज्ञा पुं० [फा०] पैर पोंछने का बिछावन। फर्श के किनारे का वह मोटा कपड़ा जिस पर पैर पोंछकर तब फर्श पर जाते हैं। उ०—दगपग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।—बिहारी।

पायँपसारी--संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्मली का पौधा और फल।

पायक–संज्ञा पुं० [सं० पादातिक, पायिक] (१) धावन। दूत! हरकारा। उ०—है दससीस मनुज रघुनायक ? जाके हनूमान से पायक।—तुलसी। (२) दास। सेवक। अनुचर। (३) पैदल सिपाही।

संज्ञा पुं० [सं०] पान करनेवाला। पीनेवाला।

पायखाना–संज्ञा पुं० दे० "पाखाना"।

पायजामा–संज्ञा पुं० दे० "पाजामा"।

पायजेब–संज्ञा स्त्री० दे० "पाजेब"।

पायठ–संज्ञा स्त्री० दे० "पाइट"।

पायड़ा†–संज्ञा पुं० दे० "पैंड़ा"।

पायताबा–संज्ञा पुं० [फा०] खोली की तरह का पैर का एक पहनावा जिससे उँगलियों से लेकर पूरी या आधी टाँगें ढकी रहती हैं। मोजा। जुर्राब।

पायदार–वि० [फा०] बहुत दिनों तक टिकनेवाला। बहुत

दिनों तक चलनेवाला। जल्दी न टूटने फूटने या नष्ट होनेवाला। टिकाऊ। दृढ़। मजबूत।

यदारी-संज्ञा स्त्री० [फा०] मजबूती। दृढ़ता।

यपोश-संज्ञा पुं० दे० "पापोश"।

यमाल-वि० [फा०] (१) पैरों से रौंदा हुआ। (२) विनष्ट। बरबाद। ध्वस्त। उ०—तुलसी गरब तजि, मिलिबे को साज सजि, देहि सिय नतु पिय पायमाल जाहिगो।—तुलसी।

यमाली-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दुर्गति। अधोगति। (२) खराबी। बरबादी। नाश।

रा-संज्ञा पुं० [हिं० पाय+रा (= रखना)] घोड़े की जीन या चारजामे के दोनों ओर लटकता हुआ पट्टी या तसमे में लगा हुआ लोहे का आधार जिस पर सवार के पैर टिके रहते हैं। रकाब।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कबूतर।

ल-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाय + ल (प्रत्य०)] (१) पैर में पहनने का स्त्रियों का एक गहना जिसमें घुँघरू लगे होते हैं। नूपुर। पाजेब। (२) तेज चलनेवाली हथनी। (३) वह बच्चा जन्म के समय जिसके पैर पहले बाहर हों। (४) बाँस की सीढ़ी।

स-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) खीर। (२) सरलनिर्यास। सलई का गोंद जो बिरोजे की तरह का होता है।

सा*†-संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व, हिं० पास] पड़ोस। आस पास का स्थान। उ०—द्यौरानी जेठानी सासु ननद सहेली दासी पायसे की बासी तिय तिनके हो गोल में।—रघुनाथ।

-संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाय, फा० पायः] (१) पलंग, कुरसी, चौकी, तख्त आदि में खड़े डंडे या खंभे के आकार का वह भाग जिसके सहारे उसका ढाँचा या तल ऊपर ठहरा रहता है। गोड़ा। पावा। जैसे, तख्त का पाया, पलंग के चारों पाये। (२) खंभा। स्तंभ। (३) पद। दरजा। रुतबा। ओहदा। (४) घोड़ों के पैर में होनेवाली एक बीमारी। (५) सीढ़ी। जीना।

-संज्ञा पुं० [सं०] [वास्तव में "पादातिक" का प्रा० रूप] (१) पादातिक। पैदल सिपाही। (२) दूत। चर।

-वि० [सं० पायिन्] पीनेवाला।

-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलद्वार। गुदा।

शेष—पायु कर्मेंद्रियों में माना गया है।

(२) भरद्वाज ऋषि के एक पुत्र का नाम।

-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रग्रहण के मोक्ष का एक प्रकार जिसमें मोक्ष या तो नैर्ऋत कोण या वायु कोण से होता है। यदि नैर्ऋत कोण से मोक्ष हो तो उसे दक्षिण पायुभेद और यदि वायु कोण से हो तो वाम पायुभेद कहते हैं, इन दोनों प्रकार के मोक्षों से सामान्य गुह्य पीड़ा और सुवृष्टि होती है।

पाय्य-वि० [सं०] पान करने के योग्य। पीने के लायक। संज्ञा पुं० [सं०] जल।

पारंगत-वि० [सं०] (१) पार गया हुआ। (२) जिसने किसी शास्त्र या विद्या को पढ़ कर पार किया हो। जिसने किसी विषय को आदि से अंत तक पूरा पढ़ा हो। पूर्ण पंडित। पूरा जानकार।

पारंपरीण-वि० [सं०] परंपरागत। एक के पीछे दूसरा इस क्रम से बराबर चला आता हुआ।

पारंपर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परंपरा का भाव। (२) परंपराक्रम। (३) कुलक्रम। वंशपरंपरा। (४) आम्नाय। परंपरा से चली आती हुई रीति।

पार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी दूर तक फैली हुई वस्तु के विशेषतः नदी, समुद्र, झील, ताल आदि जलाशयों के आमने सामने के दोनों किनारों में उस किनारे से भिन्न किनारा जहाँ (या जिसकी ओर) अपनी स्थिति हो। दूसरी ओर का किनारा। अपर तट या सीमा। जैसे, (क) यह नाव पार जायगी। (ख) जंगल के पार गाँव मिलेगा। (ग) वे पार से आ रहे हैं। (घ) नदी पार के आम अच्छे होते हैं। उ०—अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संशय कछु फिरती बारा।—तुलसी।

विशेष—इस शब्द के साथ सप्तमी की विभक्ति 'में' प्रायः लुप्त ही रहती है इससे इसका प्रयोग अव्ययवत् ही जान पड़ता है।

यौ०—आरपार = (१) यह किनारा और वह किनारा। (२) इस किनारे से उस किनारे तक। जैसे, नाले के आरपार लकड़ी का एक बल्ला रख दो। वारपार = यह किनारा और वह किनारा। जैसे, जब नाव बीच धार में पहुँची तब वारपार नहीं सूझता था।

मुहा०—पार उतरना = (१) नदी आदि के बीच से होते हुए दूसरे किनारे पर पहुँचना। (२) जिस काम में लगे रहे हों उसे पूरा कर चुकना। किसी काम से छुट्टी पाना। (३) मतलब को पहुँचना। सिद्धि या सफलता प्राप्त करना। (४) मरकर समाप्त होना। मर मिटना (स्त्रि०)। **पार उतर जाना** = दे० "पार उतरना (१) (२) (३) (४)।" (५) मतलब साधकर अलग हो जाना। किनारे हो जाना। जैसे, **तुम तो ले देकर पार उतर गए, बोझ मेरे सिर पड़ा। पार उतारना** = (१) दूसरे किनारे पर पहुँचाना। जल आदि के ऊपर का रास्ता तै कराना। (२) पूरा कर चुकना। समाप्ति पर पहुँचाना। (३) उद्धार करना। दुःख या कष्ट से बाहर

करना । उबारना । **उ०—रघुबर पार उतारिए अपनी ओर निहारि ।** (४) समाप्त करना । ठिकाने लगाना । मार डालना । **(नदी आदि) पार करना**=(१) नदी आदि के बीच से होते हुए उसेक दूसेर किनारे पर पहुँचना । जल आदि का मार्ग तै करना । (२) पूरा करना । समाप्ति पर पहुँचाना । तै करना । निबटाना । भुगताना । (३) निबाहना । बिताना । **जैसे, जिंदगी पार करना ।** **(किसी वस्तु या व्यक्ति को नदी आदि के) पार करना**=(१) नदी आदि के बीच से ले जाकर दूसरे किनारे पर पहुँचाना । **जैसे, नाव को पार करना, किसी आदमी को पार करना ।** (२) दुर्गम मार्ग तै कराना । (३) कष्ट या दुःख के बाहर करना । उद्धार करना । **पार लगना**= नदी आदि के बीच से होते हुए उसेक दूसरे किनारे पर पहुँचना । **किसी का पार लगना**=निर्वाह होना । जीवन के दिन काटना । कालक्षेप होना । **जैसे, तुम्हारा कैसे पार लगेगा ? (इस मुहा० में 'बेड़ा' शब्द लुप्त समझना चाहिए) ।** **किसी से पार लगना**=पूरा हो सकना । हो सकना । **जैसे, तुम्हारा काम हमसे नहीं पार लगेगा ।** **पार लगाना**=(१) किसी वस्तु के बीच से ले जाकर उसके दूसरे किनारे पर पहुँचाना । **उ०—हरि मोरी नैया पार लगा ।—गीत ।** (२) कष्ट या दुःख के बाहर करना । उद्धार करना । **जैसे, ईश्वर ही पार लगावे ।** (३) पूरा करना । समाप्ति पर पहुँचाना । खतम करना । **जैसे, किसी प्रकार इस काम को पार लगाओ ।** **किसी का पार लगाना**=निर्वाह करना । जीवन व्यतीत कराना । **पार होना**=(१) किसी दूर तक फैली हुई वस्तु के बीच से होते हुए उसके दूसरे किनारें पर पहुँचना । **जैसे, नदी पार होना, जंगल पार होना ।** (२) किसी काम को पूरा कर चुकना । किसी काम से छुट्टी पा जाना । (३) मतलब साध कर अलग हो जाना । **जैसे, तुम तो अपना ले देकर पार हो जाओ, काम चाहे हो या न हो ।** **पार हो जाना** = दे० "पार होना (१), (२) और (३)" । (४) छुट्टी पा जाना । मुक्त हो जाना । रिहाई पा जाना । फँसाव, झंझट, जवाबदेही आदि से छूट जाना । निकल जाना । **जैसे, तुम तो दूसरों के सिर दोष मढ़कर पार हो जाओगे । लड़की पार होना ।** = लड़की का ब्याह हो जाना । कन्या के विवाह से छुट्टी पा जाना ।

(२) सामनेवाला दूसरा पार्श्व । दूसरी ओर । दूसरी तरफ । जैसे, (क) तीर कलेजे से पार होना । (ख) गेंद का दीवार के पार जाना ।

यौ०—आर पार = किसी वस्तु से होता हुआ उसके इस ओर से उस ओर तक । किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होता हुआ उसकी एक तरफ से दूसरी तरफ तक । **जैसे, (क) दीवार के आरपार छेद हो गया । (ख) यह सड़क पहाड़ के आर पार गई है । (ग) बाँध के आरपार सुरंग खोदी गई ।**

मुहा०—पार करना = किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होते हुए उसकी दूसरी ओर पहुँचना । किसी वस्तु से होते हुए उसके आगे निकल जाना । लाँघते, भेदते या ऊपर से होते हुए दूसरे पार्श्व में जाना । **जैसे, (क) मनुष्य या रास्ते का पहाड़ को पार करना । (ख) गेंद का दीवार को पार करना । (ग) सुरंग का बाँध को पार करके निकलना । (घ) तीर का कलेजे को पार करना । (यदि कोई दूसरे मार्ग से जहाँ वह वस्तु न पड़ती हो जाकर उस वस्तु की दूसरी ओर पहुँच जाय तो उसे 'पार करना' न कहेंगे । पार करने का अभिप्राय है वस्तु से होकर उसकी दूसरी तरफ पहुँचना ।) (किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के) पार करना** = (१) किसी वस्तु के ऊपर, नीचे, या भीतर से ले जाकर उसका दूसरी ओर पहुँचाना । लँघाकर या घुसाकर दूसरी ओर निकालना या ले जाना । **जैसे, (क) इस अंधे को हाथ पकड़ाकर टीले के पार कर दो । (ख) इस बार तीर पेड़ के पार कर देंगे । (ग) भाला कलेजे के पार कर दिया ।** (२) कष्ट या दुःख से बाहर करना । उबारना । उद्धार करना । **जैसे, किसी प्रकार इस विपत्ति से पार करो ।** **पार होना**=किसी वस्तु के ऊपर, नीचे या भीतर से होते हुए उसकी दूसरी ओर पहुँचना । किसी वस्तु पर से जाकर, उसे लाँघकर या उसमें घुसकर उसकी दूसरी तरफ निकलना । **जैसे, (क) गेंद का दीवार के पार होना । (ख) कटार का कलेजे के पार होना । उ०—इत मुख तें गग्गा कढ़ी उतै कढ़ी जमधार । 'वार' कहन पायो नहीं भई करेजे पार ॥**

(३) आमने सामने के दोनों किनारों में से एक दूसरे की अपेक्षा से कोई एक । किसी वस्तु के पूरे विस्तार के बीचों बीच से गई हुई कल्पित रेखा के दोनों छोरों पर पड़नेवाले तटों या पार्श्वों में से कोई एक । ओर । तरफ । जैसे, (क) नदी के इस पार से उस पार तुम नहीं जा सकते । (ख) दीवार में इस पार से उस पार तक छेद हो गया । (ग) जब पोस्ती ने पी पोस्त तब कूँड़ी के इस पार या उस पार ।—हरिश्चंद्र ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग उसी किनारे या पार्श्व के अर्थ में होगा जिसका कथन सामने के दूसरे किनारे या पार्श्व का संबंध लिए हुए होगा । जैसे, 'इस पार' कहने से यह समझा जाता है कि कहनेवाले के ध्यान में दोनों किनारे हैं जिनमें से वह एक की ओर इंगित करता है । यही कारण है जिससे 'इस' और 'उस' की जगह 'एक' और 'दो' संख्यावाचक पदों का प्रयोग इस शब्द के पहले नहीं करते । 'एक पार से दूसरे पार तक' नहीं बोला जाता । इसी प्रकार 'दोनों किना[illegible] के अर्थ में 'दोनों पार' बोलना भी ठीक नहीं जान पड़ता । संख्या-

वाचक शब्द तब रख सकते जब 'पार' का व्यवहार सामान्यतः (बिना किसी विशेषता के) 'किनारा' के अर्थ में होता है। पर उसका प्रयोग सापेक्ष है। (४) छोर। अंत। अखीर। हद। परिमिति।

मुहा०–पार पाना = अंत तक पहुँचना। समाप्ति तक पहुँचना। आदि से अंत तक जाना या पूरा करना। उ०—शेष शारदा सहस श्रुति कहत न पावैं पार।—तुलसी। किसी से पार पाना = किसी के विरुद्ध सफलता प्राप्त करना। जीतना। जैसे, वह बड़ा चालाक है, तुम उससे नहीं पार पा सकते।

अव्य० परे। आगे। दूर। लगाव से अलग। उ०—विप्र, धेनु, सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।—तुलसी।

पारक्–संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

पारक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पारकी] (१) पालन करनेवाला। (२) प्रीति करनेवाला। (३) पूर्त्ति करनेवाला। (४) पार करनेवाला। (५) उद्धार करनेवाला।

पारक्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुण्य कार्य्य जिससे परलोक सुधरता है।

वि० पराया। परकीय। दूसरे का।

पारख*†–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "पारिख" "परख"। (२) दे० "पारखी"।

पारखद*–संज्ञा पुं० दे० "पार्षद"।

पारखी–संज्ञा पुं० [हिं० पारिखं + ई (प्रत्य०)] (१) वह जिसे परख या पहचान हो। वह जिसमें परीक्षा करने की योग्यता हो। (२) परखनेवाला। जाँचनेवाला। परीक्षक। जैसे, रतन-पारखी।

पारग–वि० [सं०] (१) पार जानेवाला। (२) काम को पूरा करनेवाला। समर्थ। (३) पूरा जानकार।

पारगत–वि० [सं०] (१) जिसने पार किया हो। (२) जिसने किसी विषय को आदि से अंत तक पूरा किया हो। (३) समर्थ। (४) पूरा जानकार। (५) जिन (जैन)।

पारचा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) टुकड़ा। खंड। धज्जी। (विशेषतः कपड़े कागज आदि की)। (२) कपड़ा। पट। वस्त्र। (३) एक प्रकार का रेशमी कपड़ा। (४) पहरावा। पोशाक। (५) कूएँ के मुहँ के किनारे पर भीतर की ओर कुछ बढ़ाकर रखी हुई पटिया या लकड़ी जिसके उस पार से डोरी लटका कर पानी खींचा जाता है। (यह इसलिये रखी जाती है जिसमें नीचे या ऊपर आते समय पानी का बर्तन कूएँ की दीवार से दूर रहे, उससे बार बार टकराया न करे। इस पर पानी खींचते समय कभी कभी पैर भी रख देते हैं)।

पारज्–संज्ञा पुं० [सं०] सोना। सुवर्ण।

पारजात*–संज्ञा पुं० दे० "पारिजात"।

पारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी व्रत या उपवास के दूसरे दिन किया जानेवाला पहला भोजन और तत्संबंधी कृत्य।

विशेष—व्रत के दूसरे दिन ठीक रीति से पारण न करे तो पूरा फल नहीं होता। जन्माष्टमी को छोड़ और सब व्रतों में पारण दिन को किया जाता है। देवपूजन करके और ब्राह्मण खिलाकर तब भोजन या पारण करना चाहिए। पारण के दिन काँसे के बर्तन में न खाना चाहिए, मांस, मद्य, मधु न खाना चाहिए; मिथ्या भाषण, व्यायाम, स्त्री-प्रसंग आदि भी न करना चाहिए। ये सब बातें वैष्णवों के लिये विशेष रूप से निषिद्ध हैं।

(२) तृप्त करने की क्रिया या भाव। (३) मेघ। बादल। (४) समाप्ति। खातमा। पूरा करने की क्रिया या भाव।

पारणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पारण।

पारणीय–वि० [सं०] पूरा करने योग्य। (क्व०)

पारतंत्र्य–संज्ञा पुं० [सं०] परतंत्रता। पराधीनता।

पारत–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश और एक प्राचीन म्लेच्छ जाति का नाम। पारद।

पारत्रिक–वि० [सं०] (१) परलोक संबंधी। पारलौकिक। (२) (कर्म) जिससे परलोक बने। मरने पीछे उत्तम गति देनेवाला।

पारथ–संज्ञा पुं० दे० "पार्थ"।

पारथिव*–संज्ञा पुं० दे० "पार्थिव"। उ०—तब मज्जन करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा।—तुलसी।

पारद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारा। (२) एक प्राचीन जाति जो पारस के उस प्रदेश में निवास करती थी जो कस्पियन सागर के दक्षिण के पहाड़ों को पार करके पड़ता था। इसके हाथ में बहुत दिनों तक पारस साम्राज्य रहा। दे० "पारस"।

विशेष—महाभारत, मनुस्मृति, बृहत्संहिता इत्यादि में पारद देश और पारद जाति का उल्लेख मिलता है। यथा–पौंड्रकाश्चौंड्रद्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ (मनु० १०। ४४)। इसी प्रकार बृहत्संहिता में पश्चिम दिशा में बसनेवाली जातियों में "पारत" और उनके देश का उल्लेख है—"पञ्चनद रमठ पारत तारक्षिति जृंग वैश्य कनक शकाः" ॥ पुराने शिलालेखों में "पार्थव" रूप मिलता है जिससे युनानी 'पार्थिया' शब्द बना है। युरोपीय विद्वानों ने 'पह्लव' शब्द को इसी 'पार्थव' का अपभ्रंश या रूपांतर मानकर पह्लव और पारद को एक ही ठहराया है। पर संस्कृत

साहित्य में ये दोनों जातियाँ भिन्न लिखी गई हैं। मनुस्मृति के समान महाभारत और बृहत्संहिता में भी 'पह्लव' 'पारद' से अलग आया है। अतः 'पारद' का 'पह्लव' से कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। पारस में पह्लव शब्द शाशानवंशी सम्राटों के समय से ही भाषा और लिपि के अर्थ में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में पारसियों के लिये भारतीय ग्रंथों में हुआ है। किसी समय में पारस के सरदार 'पहलवान' कहलाते थे। संभव है इसी शब्द से 'पह्लव' शब्द बना हो। मनुस्मृति में 'पारदों' और 'पह्लवों' आदि को आदिम क्षत्रिय कहा है जो ब्राह्मणों के अदर्शन से संस्कारभ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो गए।

पारदर्शक–वि० [सं०] जिसके भीतर से होकर प्रकाश की किरनों के जा सकने के कारण उस पार की वस्तुएँ दिखाई दें। जिससे आरपार दिखाई पड़े, जैसे शीशा पारदर्शक पदार्थ है।

पारदर्शी–वि० [सं० पारदर्शिन्] (१) उस पार तक देखनेवाला। (२) दूर तक देखनेवाला। परिणाम-दर्शी। दूरदर्शी। चतुर। बुद्धिमान्। (३) जिसका खूब देखा-सुना हो। जो पूरा पूरा देख चुका हो।

पारदारिक–संज्ञा पुं० [सं०] परस्त्रीगामी। जार।

पारदार्य–संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री के साथ गमन। व्यभिचार।

पारधी–संज्ञा पुं० [सं० परिधान = आच्छादन] (१) टट्टी आदि की ओट से पशु पक्षियों को पकड़ने या मारनेवाला। बहेलिया। व्याध। (२) शिकारी। (३) अहेरी। हत्यारा। बधिक।

†संज्ञा स्त्री० ओट। आड़।

मुहा०—पांरधी पड़ना = ओट में होकर कोई व्यापार देखना या किसी की बात सुनना।

पारन–संज्ञा पुं० दे० " पारण "।

पारवती–संज्ञा स्त्री० दे० " पार्वती "।

पारना–क्रि० स० [हिं० पारना (पड़ना) का क्रि० स० रूप] (१) डालना। गिराना। (२) खड़ा या उठा न रहने देना। जमीन पर लंबा डालना। (३) लेटाना। उ०—(क) पारिगो न जाने कौन सेज पै कन्हैया को। (ख) धन्य भाग तिहि रानि कौशिला छोट सूप महँ पारै।—रघुराज। (४) कुश्ती या लड़ाई में गिराना। पछाड़ना। उ०—सोइ भुज जिन रण विक्रम पारे।—हरिश्चंद्र। (५) किसी वस्तु को दूसरी वस्तु में रखने, ठहराने या मिलाने के लिये उसमें गिराना या रखना। (६) रखना। उ०—मन न धरति मेरो कह्यो तू आपनो सयान। अहे परनि परि प्रेम की परहथ पार न प्रान।—बिहारी।

यौ०—पिंडा पारना = पिंड-दान करना। उ०—जाय बनारस जारयो कया। पारयो पिंड नहायो गया।—जायसी।

(७) किसी के अंतर्गत करना। किसी वस्तु या विषय के भीतर लेना। शामिल करना। उ०—जे दिन गए तुमहिँ बिनु देखे। ते विरंचि जनि पारहिं लेखे।—तुलसी। (८) शरीर पर धारण करना। पहनाना। उ०—श्याम रंग धारि पुनि बाँसुरी सुधारि कर, पीत पट पारि बानी मधुर सुनावैगी।—श्रीधर। (९) बुरी बात घटित करना। अव्यवस्था आदि उपस्थित करना। उत्पात मचाना। उ०—औरै भाँति भएऽब ये चौसर चंदन चंद। पति बिनु अति पारत बिपति, मारत मारू चंद।—बिहारी। (१०) साँचे आदि में डालकर या किसी वस्तु पर जमाकर कोई वस्तु तैयार करना। जैसे, ईंटें या खपड़े पारना, काजल पारना।

* † क्रि० अ० [सं० पारय = योग्य, वा हिं० पार, जैसे पार लगना = हो सकना] सकना। समर्थ होना। उ०—प्रभु सम्मुख कछु कहइ न पारइ। पुनि पुनि चरन सरोज निहारइ।—तुलसी।

* ‡ क्रि० स० दे० "।पालना "।

पारमार्थिक–वि० [सं०] (१) परमार्थसंबंधी। जिससे परमार्थ सिद्ध हो। जिससे मनुष्य को पारलौकिक सुख हो। (२) वास्तविक। जो केवल प्रतीति या भ्रम न हो। जो परिणामी या परिवर्त्तनशील न हो। सदा ज्यों का त्यों रहनेवाला। नाम रूप से भिन्न शुद्ध सत्य। जैसे, पारमार्थिकी सत्ता, पारमार्थिक ज्ञान।

पारलौकिक–वि० [सं०] (१) परलोकसंबंधी। (२) परलोक में शुभ फल देनेवाला।

पारवश्य–संज्ञा पुं० [सं०] परवशता। परतंत्रता।

पारशव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता से उत्पन्न पुरुष या जाति। (याज्ञवल्क्य०) (२) पराई स्त्री से उत्पन्न पुत्र। (३) लोहा। (४) एक देश का नाम जहाँ मोती निकलते थे।

पारश्वय–संज्ञा पुं० [सं०] सुवर्ण। सोना।

पारषद*–संज्ञा पुं० दे० "पार्षद"।

पारस–संज्ञा पुं० [सं० स्पर्श, हिं० परस] (१) एक कल्पित पत्थर जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उससे छुलाया जाय तो सोना हो जाता है। स्पर्शमणि। (२) अत्यंत लाभदायक और उपयोगी वस्तु। जैसे, अच्छा पारस तुम्हारे हाथ लग गया है।

विशेष—इस प्रकार के पत्थर की बात फारस, अरब तथा योरप में भी रसायनियों अर्थात् कीमिया बनानेवालों के बीच प्रसिद्ध थी। योरप में कुछ लोग इसकी खोज में कुछ हैरान भी हुए। इसके रूप रंग आदि तक कुछ लोगों ने लिखे। पर अंत में सब ख्याल ही ख्याल निकला। हिंदुस्तान में अब तक बहुत से लोग नैपाल में इसके होने का विश्वास रखते हैं।

वि० (१) पारस पत्थर के समान स्वच्छ और।उत्तम। चंगा। नीरोग। तंदुरुस्त। जैसे, थोड़े दिन यह दवा खाओ, देखो देह कैसी पारस हो जाती है।

संज्ञा पुं० [हिं० परसना] (१) खाने के लिये लगाया हुआ भोजन। परसा हुआ खाना। (२) पत्तल जिसमें खाने के लिये पकवान, मिठाई, आदि हो। जैसे, जो लोग बैठकर नहीं खायँगे उन्हें पारस दिया जायगा।

* संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व] पास। निकट। समीप। उ०—(क) भृकुटी कुटिल निकट नैनन के चपल होत यहि भाँति। मनहु तामरस पारस खेलत बाल भृंग की पाँति।—सूर। (ख) उत श्यामा इत सखा मंडली, इत हरि उत ब्रजनारि। मनो तामरस पारस खेलत मिलि मधुकर गुंजारि।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० पलाश] बादाम या खूबानी की जाति का एक मझोला पहाड़ी पेड़ जो देखने में ढाक के पेड़ सा जान पड़ता है। यह हिमालय पर सिंधु के किनारे से लेकर सिकिम तक होता है। इसमें से एक प्रकार का गोंद और जहरीला तेल निकलता है जो दवा के काम में आता है। इसे गीदड़-ढाक और जामन भी कहते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पारस्य] हिंदुस्तान के पश्चिम सिंधु नद और अफगानिस्तान के आगे पड़नेवाला एक देश। प्राचीन कांबोज और वाह्लीक के पश्चिम का देश जिसका प्रताप प्राचीन काल में बहुत दूर दूर तक विस्तृत था और जो अपनी सभ्यता और शिष्टाचार के लिये प्रसिद्ध चला आता है।

विशेष—अत्यंत प्राचीन काल से पारस देश आर्यों की एक शाखा का वासस्थान था जिसका भारतीय आर्यों से घनिष्ट संबंध था। अत्यंत प्राचीन वैदिक युग में तो पारस से लेकर गंगा सरयू के किनारे तक की सारी भूमि आर्य्य भूमि थी जो अनेक प्रदेशों में विभक्त थी। इन प्रदेशों में भी कुछ के साथ आर्य्य शब्द लगा था। जिस प्रकार यहाँ आर्यावर्त्त एक प्रदेश था उसी प्रकार प्राचीन पारस में भी आधुनिक अफगानिस्तान से लगा हुआ पूर्वीय प्रदेश 'अरियान' वा 'ऐर्यान' (यूनानी—एरियाना) कहलाता था जिससे ईरान शब्द बना। ईरान शब्द आर्यावास के अर्थ में सारे देश के लिये प्रयुक्त होता था। शाशान-वंशी सम्राटों ने भी अपने को 'ईरान के शाहंशाह' कहा है। पदाधिकारियों के नामों के साथ भी 'ईरान' शब्द मिलता है—जैसे, "ईरान-स्पाहपत" (ईरान के सिपाहपति या सेनापति), "ईरान-अंबारक-पत" (ईरान के भंडारी) इत्यादि। प्राचीन पारसी अपने नामों के साथ (आर्य्य) शब्द बड़े गौरव के साथ लगाते थे। प्राचीन सम्राट् दारयबहु (दारा) ने अपने को 'अरियपुत्र' लिखा है। सरदारों के नामों में भी 'आर्य्य' शब्द मिलता है जैसे, अरिय-शम्न, अरियोवर्जनिस, इत्यादि।

प्राचीन पारस जिन कई प्रदेशों में बँटा था उनमें पारस की खाड़ी के पूर्वी तट पर पड़नेवाला पार्स वा पारस्य प्रदेश भी था जिसके नाम पर आगे चलकर सारे देश का नाम पड़ा। इसकी प्राचीन राजधानी पारस्यपुर (यूनानी–पर्सिपोलिस) थी जहाँ पर आगे चलकर "इश्तख" बसाया गया। वैदिक काल में 'पारस' नाम प्रसिद्ध नहीं हुआ था। यह नाम हखामनीय वंश के सम्राटों के समय से, जो पारस्य प्रदेश के थे, सारे देश के लिये व्यवहृत होने लगा। यही कारण है जिससे वेद और रामायण में इस शब्द का पता नहीं लगता। पर महाभारत, रघुवंश, कथासरित्सागर आदि में पारस्य और पारसीकों का उल्लेख बराबर मिलता है।

अत्यंत प्राचीन युग के पारसियों और वैदिक आर्यों में उपासना, कर्मकांड आदि में भेद नहीं था। वे अग्नि, सूर्य्य, वायु आदि की उपासना और अग्निहोत्र करते थे। मिथ (मित्र = सूर्य्य), वयु (वायु), होम (सोम), अरमइति (अमति), अहमन् (अर्यमन्), नइर्य-संह (नराशंस) आदि उनके भी देवता थे। वे भी बड़े बड़े यश्न (यज्ञ) करते, सोमपान करते और अथ्रवन (अथर्वन्) नामक याजक काठ से काठ रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते थे। उनकी भाषा भी उसी एक मूल आर्य्य भाषा से उत्पन्न थी जिससे वैदिक और लौकिक संस्कृत निकली हैं। प्राचीन पारसी और वैदिक संस्कृत में कोई विशेष भेद नहीं जान पड़ता। अवस्ता में भारतीय प्रदेशों और नदियों के नाम भी हैं। जैसे, हप्तहिंदु (सप्तसिंधु = पंजाब), हरख्वेती (सरस्वती), हरयू (सरयू) इत्यादि।

वेदों से पता लगता है कि कुछ देवताओं को 'असुर संज्ञा भी दी जाती थी। वरुण के लिये इस संज्ञा का प्रयोग कई बार हुआ है। सायणाचार्य्य ने भाष्य में 'असुर' शब्द का अर्थ किया है—"असुरः सर्वेषां प्राणदः"। इंद्र के लिये भी इस संज्ञा का प्रयोग दो एक जगह मिलता है, पर यहाँ भी लिखा पाया जाता है कि यह पद प्रदान किया हुआ है। इससे जान पड़ता है कि यह एक विशिष्ट संज्ञा

हो गई थी। वेदों में क्रमशः वरुण पीछे पड़ते गए हैं और इंद्र को प्रधानता प्राप्त होती गई है। साथ ही साथ असुर शब्द भी कम होता गया है। पीछे तो असुर शब्द राक्षस दैत्य के अर्थ में ही मिलता है। इससे जान पड़ता है कि देवोपासक और असुरोपासक ये दो पक्ष आर्य्यों के बीच हो गए थे।

पारस की ओर जरथुस्त्र (आधु० फा० जरतुश्त) नामक एक ऋषि या ऋत्विक् (जोता, सं० होता) हुए जो असुरोपासकों के पक्ष के थे। इन्होंने अपनी शाखा ही अलग कर ली और "जंद-अवस्ता" के नाम से उसे चलाया। यही 'जंद-अवस्ता' पारसियों का धर्मग्रंथ हुआ। इसमें 'देव' शब्द दैत्य के अर्थ में आया है। इंद्र वा वृत्रहन् (जंद, वेरेथ्रघ्न) दैत्यों का राजा कहा गया है। शओर्व (शर्व) और नाहंइत्य (नासत्य) भी दैत्य कहे गए हैं। अंग्र (अंगिरस् ?) नामक अग्नियाजकों की प्रशंसा की गई है और सोमपान की निंदा। उपास्य अहुरमज्द (सर्वज्ञ असुर) है जो धर्म और सत्यस्वरूप है। अहमन (अर्यमन्) अधर्म और पाप का अधिष्ठाता है। इस प्रकार जरथुस्त्र ने धर्म और अधर्म दो द्वंद्व शक्तियों की सूक्ष्म कल्पना की और शुद्धाचार का उपदेश दिया। जरथुस्त्र के प्रभाव से पारस में कुछ काल के लिये एक अहुर्मज्द की उपासना स्थापित हुई और बहुत से देवताओं की उपासना और कर्मकांड कम हुआ। पर जनता का संतोष इस सूक्ष्म विचारवाले धर्म से पूरा पूरा नहीं हुआ। शाशानों के समय में जब मगयाजकों और पुरोहितों का प्रभाव बढ़ा तब बहुत से स्थूल देवताओं की उपासना फिर ज्यों की त्यों जारी हो गई और कर्मकांड की जटिलता फिर वही हो गई। ये पिछली पद्धतियाँ भी "जंद-अवस्ता" में ही मिल गईं।

'जंद-अवस्ता' में भी वेद के समान गाथा (गाथ) और मंथ् (मंथ) हैं। इसके कई विभाग हैं जिनमें 'गाथ' सबसे प्राचीन और जरथुस्त्र के मुँह से निकला हुआ माना जाता है। एक भाग का नाम "यश्न" है जो वैदिक 'यज्ञ' शब्द का रूपांतर मात्र है। विस्पर्द, यश्त (वैदिक इष्टि), वंदिदाद् आदि इसके और विभाग हैं। वंदिदाद् में जरथुस्त्र और अहुरमज्द का धर्मसंबंध में संवाद है। 'अवस्ता' की भाषा, विशेषतः गाथ की, पढ़ने में एक प्रकार की अपभ्रंश वैदिक संस्कृत सी प्रतीत होती है। कुछ मंत्र तो वेदमंत्रों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं। डाक्टर हाग ने यह समानता उदाहरणों से बताई है और डा० मिल्स ने कई गाथाओं का वैदिक संस्कृत में ज्यों का त्यों रूपांतर किया है। जरथुस्त्र ऋषि कब हुए थे इसका निश्चय नहीं हो सका है। पर इसमें संदेह नहीं कि वे अत्यंत प्राचीन काल में हुए थे। शाशानों के समय में जो "अवस्ता" पर भाष्यस्वरूप अनेक ग्रंथ बने उनमें से एक में व्यास हिंदो का पारस में जाना लिखा है। संभव है वेदव्यास और जरथुस्त्र समकालीन हों।

पारसनाथ-संज्ञा पुं० दे० "पार्श्वनाथ"।

पारसव॰-संज्ञा पुं० दे० "पारशव"।

पारसी-वि० [फा० पारस] पारस देश का। पारस देश संबंधी। जैसे, पारसी भाषा, पारसी बिल्ली।

संज्ञा पुं० (१) पारस का रहनेवाला। पारस का आदमी। (२) हिंदुस्तान में बंबई और गुजरात की ओर हजारों वर्ष से बसे हुए वे पारसी जिनके पूर्वज मुसलमान होने के डर से पारस छोड़कर आए थे।

विशेष-सन् ६४० ई० में नहावंद की लड़ाई के पीछे जब पारस पर अरब के मुसलमानों का अधिकार हो गया, और पारसी मुसलमान बनाए जाने लगे तब अपने आर्य्यधर्म की रक्षा के लिये बहुत से पारसी खुरासान में आकर रहे। खुरासान में भी जब उन्होंने उपद्रव देखा तब वे पारस की खाड़ी के मुहाने पर उरमुज नामक टापू में जा बसे। यहाँ पंद्रह वर्ष रहे। आगे बाधा देख अंत में सन् ७२० में वे एक छोटे जहाज पर भारतवर्ष की ओर चले आए जो शरणागतों की रक्षा के लिये बहुत काल से दूर देशों में प्रसिद्ध था। पहले वे दीऊ नामक टापू में उतरे, फिर गुजरात के एक राजा जदुराणा ने उन्हें संजान नामक स्थान में बसाया और उनकी अग्निस्थापना और मंदिर के लिये बहुत सी भूमि दी। भारत के वर्त्तमान पारसी उन्हीं की संतति हैं। पारसी लोग अपने संवत् का आरंभ अपने अंतिम राजा यज्दगर्द के पराभव-काल से लेते हैं।

पारसीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारस देश। (२) पारस देश का निवासी। (३) पारस देश का घोड़ा।

पारसीक यमानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] खुरासानी अजवायन।

पारसीक वचा-संज्ञा स्त्री० [सं०] खुरासानी वच।

पारसीकेय-संज्ञा पुं० [सं०] कुंकुम।

पारस्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देश का प्राचीन नाम। (२) एक गृह्यसूत्रकार मुनि।

पारस्त्रैणेय-संज्ञा पुं० [सं०] पराई स्त्री से उत्पन्न पुत्र। जारज पुत्र।

पारस्परिक-वि० [सं०] परस्परवाला। परस्पर में होनेवाला। आपस का।

पारस्य-संज्ञा पुं० [सं०] पारस देश।

पारा-संज्ञा पुं० [सं० पारद] चाँदी की तरह सफेद और चम-

कीली एक धातु जो साधारण गरमी या सरदी में द्रव अवस्था में रहती है।

विशेष—खूब सरदी पाकर पारा जमकर ठोस हो जाता है। यह कभी कभी खानों में विशुद्ध रूप में भी बहुत सा मिल जाता है, पर अधिकतर और द्रव्यों के साथ मिला हुआ पाया जाता है। जैसे, गंधक और पारा मिला हुआ जो द्रव्य मिलता है उसे ईंगुर कहते हैं। गंधक और पारा ईंगुर से अलग कर लिए जाते हैं। पारा पृथ्वी पर के बहुत कम प्रदेशों में मिलता है। भारतवर्ष में पारे की खानें अधिक नहीं है, केवल नैपाल में हैं। अधिकतर पारा चीन, जापान और स्पेन से ही यहाँ आता है। पारा यद्यपि द्रव अवस्था में रहता है, पर बहुत भारी होता है।

ईंगुर से पारा निकालने में स्वेदनविधि काम में लाई जाती है। ईंगुर का टुकड़ा तेज गरमी द्वारा भाप के रूप में कर दिया जाता है जिससे विशुद्ध पारे के परमाणु अलग हो जाते हैं। भाप रूप से फिर पारा अपने असली द्रव-रूप में लाया जाता है। पारा बहुत से कामों में आता है। इसके द्वारा खान से निकले हुए अनेक द्रव्य मिश्रित खंडों से सोना चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ अलग करके निकाली जाती हैं। यह इस प्रकार किया जाता है कि खंड या टुकड़े का चूर्ण कर लेते हैं, फिर उसके साथ युक्ति से पारे का संसर्ग करते हैं। इससे यह होता है कि सोने या चाँदी के परमाणु पारे के साथ मिल जाते हैं। फिर इस सोने या चाँदी में मिले हुए पारे को स्वेदनविधि से भाप के रूप में अलग कर देते हैं और खालिस सोना या चाँदी रह जाती है। बात यह है कि इन धातुओं में पारे के प्रति रासायनिक प्रवृत्ति या राग होता है। इसी विशेषता के कारण पारा रसराज कहलाता है और इसके योग से धातुओं पर अनेक प्रकार की क्रियाएँ की जाती हैं। पारे के योग से राँगे, सोने, चाँदी आदि को दूसरी धातु पर कलई या मुलम्मे के रूप में चढ़ाते हैं। जिस धातु पर मुलम्मा चढ़ाना होता है उस पर पहले पारे-शोरे से संघटित रस मिलते हैं फिर १ भाग सोने और ८ भाग पारे का मिश्रण तैयार करके हलका लेप कर देते हैं। गरमी पाकर पारा तो उड़ जाता है, सोना लगा रह जाता है। पारे पर गरमी का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है इसी से गरमी नापने के यंत्र में उसका व्यवहार होता है। इन सब कामों के अतिरिक्त औषध में भी पारे का बहुत प्रयोग होता है।

पुराणों और वैद्यक की पोथियों में पारे की उत्पत्ति शिव के वीर्य से कही गई है और उसका बड़ा माहात्म्य गाया गया है, यहाँ तक कि वह ब्रह्म या शिवस्वरूप कहा गया है। पारे को लेकर एक रसेश्वर दर्शन ही खड़ा किया गया है। जिसमें पारे ही से सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है और पिंडस्थैर्य (शरीर को स्थिर रखना) तथा उसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति के लिये रससाधन ही उपाय बताया गया है। भावप्रकाश में पारा चार प्रकार का लिखा गया है—श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण। इनमें श्वेत श्रेष्ठ है।

वैद्यक में पारा कृमि और कुष्ठनाशक, नेत्रहितकारी, रसायन, मधुर आदि छः रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, योगवाही, शुक्रवर्द्धक और एक प्रकार से संपूर्ण रोगनाशक कहा गया है। पारे में मल, वह्नि, विष, नाग इत्यादि कई दोष मिले रहते हैं इससे उसे शुद्ध करके खाना चाहिए। पारा शोधने की अनेक विधियाँ वैद्यक के ग्रंथों में मिलती हैं। शोधन कर्म आठ प्रकार के कहे गए हैं—स्वेदन, मर्दन, उत्थापन, पातन, बोधन, नियामन, और दीपन। भावप्रकाश में मूर्च्छन भी कहा गया है जो कुछ ओषधियों के साथ मर्दन का ही परिणाम है।

पर्या०—रसराज। रसनाथ। महारस। रस। महातेजस्। रसलेह। रसोत्तम। सुतराट। चपल। जैत्र। शिवबीज। शिव। अमृत। रसेंद्र। लोकेश। दुर्द्धर। प्रभु। रुद्रज। हरतेजः। रसधातु। स्कंद। देव। दिव्यरस। यशोद। सूतक। सिद्धधातु। पारत। हरबीज।

मुहा०—पारा पिलाना = (१) किसी वस्तु में पारा भरना। (२) किसी वस्तु को इतना भारी करना जैसे उसमें पारा भरा हो। भारी करना। वजनी करना।

संज्ञा पुं० [सं० पारि = प्याला] दीये के आकार का पर उससे बड़ा मिट्टी का बरतन। परई।

संज्ञा पुं० [फा० पारः] (१) टुकड़ा। (२) वह छोटी दीवार जो चूने गारे से जोड़कर न बनी हो, केवल पत्थरों के टुकड़े एक दूसरे पर रखकर बनाई गई हो। ऐसी दीवार प्रायः बगीचे आदि की रक्षा के लिये चारों ओर बनाई जाती है।

पारायण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समाप्ति। पूरा करने का कार्य। (२) समय बाँधकर किसी ग्रंथ का आद्योपांत पाठ।

पारायणिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाठ करनेवाला। आद्योपांत पढ़नेवाला। (२) छात्र।

पारारुत—संज्ञा पुं० [सं०] चट्टान। शिला।

पारावत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) परेवा। पंडुक। (२) कबूतर। कपोत। (३) बंदर। (४) तेंदू का पेड़। (५) गिरि। पर्वत। (६) एक नाग का नाम (महाभारत)। (७) एक प्रकार का खट्टा पदार्थ (सुश्रुत)। (८) दत्तात्रेय के गुरु।

पारावतक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान ।

पारावतकालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकँगनी । महा ज्योतिष्मती लता ।

पारावत पदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालकँगनी । (२) काकजंघा ।

पारावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लवली फल । हरफा रेवड़ी । (२) गोपगीत । ग्वालों का गीत । (३) एक नदी का नाम ।

पारावार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आर पार । वार पार । दोनों तट । (२) सीमा । अंत । हद । जैसे, आपकी महिमा का पारावार नहीं । (३) समुद्र ।

पाराशर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराशर का पुत्र या वंशज । (२) व्यास ।

वि० (१) पराशर संबंधी । (२) पराशर का बनाया हुआ । जैसे, पाराशर स्मृति ।

पाराशरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पराशर के पुत्र वेदव्यास । (२) शुकदेव ।

पाराशरी-संज्ञा पुं० [सं० पाराशरिन्] वेदव्यास के भिक्षुसूत्र का अध्ययन करनेवाला । संन्यासी । चतुर्थाश्रमी ।

पाराशरीय-वि० [सं०] पराशर के पास का प्रदेश आदि ।

पाराशर्य-संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास ।

पारि*-संज्ञा स्त्री० [हिं० पार] (१) हद । सीमा । (२) ओर । तरफ । दिशा । उ०—मोचि दृग बारि सोच सोचती बिचारि देव चितै चहूँ पारि घरी चार लौं चकि रही ।—देव । (३) जलाशय का तट ।

संज्ञा पुं० [सं०] मद्य पीने का पात्र । प्याला ।

पारिकांक्षी-संज्ञा पुं० [सं० पारिकांक्षिन्] ब्रह्मज्ञान का अभिलाषी । तपस्वी ।

पारिकुट-संज्ञा पुं० [सं०] सेवक । भृत्य । नौकर ।

पारिक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] परिक्षित के पुत्र जनमेजय ।

पारिख-वि० [सं०] परिखा संबंधी । परिखा का ।

*†-संज्ञा स्त्री० दे० "परख" ।

पारिगर्भिक-संज्ञा पुं० [सं०] कबूतर ।

पारिजात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देववृक्ष जो स्वर्गलोक में इंद्र के नंदनकानन में है । इसके फूल जिस प्रकार का कोई गंध चाहे दे सकते हैं । इसकी भिन्न भिन्न शाखाओं में अनेक प्रकार के रत्न लगते हैं । इसी प्रकार इस वृक्ष के अनेक गुण पुराणों में कहे गए हैं । सत्यभामा की प्रसन्नता के लिये इसे श्रीकृष्ण स्वर्ग से इंद्र से युद्ध करके लाए थे और फिर उसका पूरा भोग करके इसे स्वर्ग में रख आए थे । यह समुद्रमथन के समय में निकला था । (२) परजाता । हरसिंगार । (३) कोविदार । कचनार । (४) पारिभद्र । फरहद । (५) ऐरावत के कुल का एक हाथी । (६) सितोद पर्वत । (७) एक मुनि का नाम ।

पारिजातक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परजाता । हरसिंगार । (२) फरहद । पारिभद्र ।

पारिणाय्य-वि० [सं०] विवाह में पाया हुआ (धन) ।

पारिणाह्य-संज्ञा पुं० [सं०] घर गृहस्थी का सामान । जैसे, चारपाई, बरतन, घड़ा इत्यादि ।

पारितथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] सिर पर बालों के ऊपर पहनने का स्त्रियों का एक गहना ।

पारितोषिक-वि० [सं०] आनंदकर । प्रीतिकर ।

संज्ञा पुं० वह धन या वस्तु जो किसी पर परितुष्ट या प्रसन्न होकर उसे दी जाय अथवा जो किसी को प्रसन्न करने के लिये उसे दी जाय । इनाम ।

पारिपंथिक-संज्ञा पुं० [सं०] बटपार । डाकू । चोर ।

पारिपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] सप्तकुल पर्वतों में से एक जो विंध्य के अंतर्गत है ।

विशेष—इससे निकली हुई ये नदियाँ बताई गई हैं—वेदस्मृति, वेदवती, वृत्रघ्नी, सिंधु, सानंदिनी, सदानीरा, मही, पारा, चर्मण्वती, नृपी, विदिशा, वेत्रवती, शिप्रा इत्यादि (मार्कंडेय पु०) । विष्णुपुराण में लिखा है कि मरुक और मालव जाति इस पर्वत पर निवास करती थी । कहीं कहीं 'पारियात्र' भी इसका नाम मिलता है । चीनी यात्री हुएन्सांग ने दक्षिण के 'पारिपात्र' राज्य का उल्लेख किया है ।

पारिपार्श्व-संज्ञा पुं० [सं०] पारिषद् । अनुचर । अरदली ।

पारिपार्श्विक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पास खड़ा रहनेवाला सेवक । पारिषद् । अरदली । (२) नाटक के अभिनय में एक विशेष नट जो स्थापक का अनुचर होता है । यह भी प्रस्तावना में सूत्रधार, नटी आदि के साथ आता है ।

पारिप्लव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक जलपक्षी । (२) अश्वमेधादि यज्ञों में कहा जानेवाला एक आख्यान (शतपथ ब्राह्मण) । (३) नाव । जहाज । (४) एक तीर्थ (महाभारत) ।

पारिभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फरहद का पेड़ । (२) देवदार । (३) सरल वृक्ष । सलई का पेड़ । (४) कुट ।

पारिभद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फरहद । (२) देवदार । (३) नीम । कुट ।

पारिभाव्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिभू या जामिन होने का भाव । (२) कुट नामक ओषधि ।

पारिभाषिक-वि० [सं०] जिसका अर्थ परिभाषा द्वारा सूचित किया जाय । जिसका व्यवहार किसी विशेष अर्थ के संकेत के रूप में किया जाय । जैसे, पारिभाषिक शब्द ।

पारिमांडल्य-संज्ञा पुं० [सं०] अणु या परमाणु का परिमाण ।

पारियात्र-संज्ञा पुं० दे० " पारिपात्र " ।

पारिरक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] तपस्वी । साधु ।

पारिव्राज्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिव्राजक का कर्म या भाव । (२) एक प्रकार का अश्वत्थ ।

पारिश-संज्ञा पुं० [सं०] पारिस पीपल । परास पीपल ।

पारिशील-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पूआ या मालपूआ ।

पारिषद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिषद में बैठनेवाला । सभा में बैठनेवाला । सभासद । सभ्य । पंच । (२) अनुयायिवर्ग । गण । जैसे, शिव के पारिषद; विष्णु के पारिषद ।

पारिस पीपल-संज्ञा पुं० [सं० पारीश पिप्पल] भिंडी की जाति का एक पेड़ जिसमें कपास के डोडे के आकार का फल लगता है। यह फल खाने में खट्टा होता है ।। इसमें भिंडी के समान ही सुंदर पाँच दलों के बड़े बड़े फूल लगते हैं । इसकी जड़ मीठी और छाल का रेशा मीठा कसैला होता है। वैद्यक में इसके फल गुरुपाक, कृमिघ्न, शुक्रवर्द्धक और कफकारक कहे गए हैं ।

पारिसीर्य्य-वि० [सं०] जो बिना जोते हुए हो । जो हल की खेती से न उपजा हो । जैसे, तिन्नी का चावल ।

पारिहारिक-वि० [सं०] परिहार करनेवाला ।

पारिहार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिहारत्व । (२) वलय । हाथ का कड़ा ।

पारींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह । (२) अजगर ।

पारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० वार, वारी] किसी बात का अवसर जो कुछ अंतर देकर क्रम से प्राप्त हो । बारी । ओसरी । दे० "बारी" ।

क्रि० प्र०—आना ।—पड़ना ।—होना ।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० पारना] गुड़ आदि का जमाया हुआ बड़ा ढोका ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुरवा । चुक्कड़ । प्याला । (२) जलसमूह । (३) हाथी के पैर की रस्सी ।

पारीक्षित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परीक्षित का पुत्र या वंशज । (२) जनमेजय ।

पारीरण-संज्ञा पुं० [सं०] कछुआ ।

पारीश-संज्ञा पुं० [सं०] पारिस पीपल का पेड़ ।

पारु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) सूर्य्य ।

पारुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वचन की कठोरता । वाक्य की अप्रियता । बात का कड़वापन । (२) इंद्र का वन । (३) अगर । (४) बृहस्पति ।

पारेरक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की तलवार या कटार ।

पारेवत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की खजूर ।

पार्क-संज्ञा पुं० [अं०] बड़ा बगीचा । उपवन ।

पार्घट-संज्ञा पुं० [सं०] राख । भस्म ।

पार्टी-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) मंडली । दल । (२) दावत । भोज ।

क्रि० प्र०—देना ।

पार्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वीपति । (२) (पृथा का पुत्र) अर्जुन । (३) युधिष्ठिर और भीम ।

विशेष—कुंती का नाम 'पृथा' भी था इसी से कुंती की तीन संतानों में से प्रत्येक को 'पार्थ' कहते थे ।

(४) अर्जुन वृक्ष ।

पार्थक्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथक् होने का भाव । भेद । (२) जुदाई । वियोग ।

पार्थव-संज्ञा पुं० [सं०] पृथु होने का भाव । भारीपन । बड़ाई । विशालता । स्थूलता । मोटाई ।

वि० पृथुसंबंधी ।

पार्थिव-वि० [सं०] (१) पृथिवी संबंधी । (२) पृथ्वी से उत्पन्न । पृथिवी का विकाररूप । मिट्टी आदि का बना हुआ । जैसे, पार्थिव शरीर । (३) राजा के योग्य । राजसी ।

संज्ञा पुं० (१) राजा । (२) तगर का पेड़ । (३) एक संवत्सर । (४) मंगल ग्रह । (५) मिट्टी का बर्तन । (६) पार्थिव लिंग । मिट्टी का शिवलिंग जिसके पूजन का बड़ा फल माना जाता है ।

पार्थिवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) (पृथिवी से उत्पन्न) सीता । (२) उमा । पार्वती ।

पार्पर-संज्ञा पुं० [सं०] यम ।

पार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम (शुक्ल यजु०) ।

पार्लमेंट-संज्ञा स्त्री० [अं०] वह सभा जो देश या राज्य के शासन के लिये नियम बनावे । कानून बनानेवाली सबसे बड़ी सभा ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विशेषतः अँगरेजी राज्य की शासन-व्यवस्था निर्धारित करनेवाली महासभा के लिये होता है जिसके सदस्य जनता के भिन्न भिन्न वर्गों द्वारा चुने जाते हैं । अँगरेजी साम्राज्य के भीतर कनाडा आदि स्वराज्यप्राप्त देशों की ऐसी सभाओं के लिये भी यह शब्द आता है ।

पार्वण-संज्ञा पुं० [सं०] वह श्राद्ध जो किसी पर्व में किया जाय । जैसे, अमावास्या या ग्रहण आदि के दिन किया जानेवाला श्राद्ध ।

पार्वत-वि० [सं०] (१) पर्वत संबंधी । (२) पर्वत पर होनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) महानिंब । बकायन । (२) ईंगुर । (३) शिलाजतु । सिलाजीत । (४) सीसा धातु । (५) एक अस्त्र ।

पार्वत पीलु-वि० [सं०] अखोट । अखरोट ।

पार्वती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिमालय पर्वत की कन्या,

शिव की अर्द्धांगिनी देवी जो गौरी, दुर्गा आदि अनेक नामों से पूजी जाती हैं। शिवा। भवानी।

पर्या०–उमा। गिरिजा। गौरी।

(२) शल्लकी। सलई। (३) गोपीचंदन। (४) सिंहली पीपल। (५) छोटा पखानभेद। (६) धाय का पौधा। (७) अलसी। तीसी।

पार्वतीय–संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत संबंधी। पहाड़ का। पहाड़ी।

पार्वतीलोचन–संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ भेदों में से एक।

पार्वतेय–वि० [सं०] पर्वत पर होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) अंजन। सुरमा। (२) हुरहुर का पौधा। (३) जिंगिनी। जिगनी। (४) धाय का पेड़।

पार्शव–संज्ञा पुं० [सं०] पर्शु से युद्ध करनेवाला।

पार्शुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्श्व की हड्डी। पसली। पंजर की हड्डी।

पार्श्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कक्ष का अधो भाग। काँख के नीचे का भाग। छाती के दाहिने बायें का भाग। बगल। (२) इधर उधर पड़नेवाला स्थान। अगल बगल की जगह। पास। निकटता। समीपता।

यौ०–पार्श्ववर्ती = पास में बैठनेवाला। साथी या मुसाहिब।

(३) पार्श्वास्थि। पसली। (४) कुटिल उपाय। टेढ़ी चाल।

पार्श्वक–संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार के कुटिल उपाय रचकर धन कमानेवाला। चालबाजी के सहारे अपनी बढ़ती चाहनेवाला।

पार्श्वग–वि० [सं०] बगल में चलनेवाला। साथ में रहनेवाला।

संज्ञा पुं० सहचर।

पार्श्वनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के तेईसवें तीर्थंकर।

विशेष—वाराणसी में अश्वसेन नाम के इक्ष्वाकुवंशीय राजा थे जो बड़े धर्मात्मा थे। उनकी रानी वामा भी बड़ी विदुषी और धर्मशीला थी। उनके गर्भ से पौष कृष्ण दशमी को एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका वर्ण नील था और जिसके शरीर पर सर्पचिह्न था। सब लोकों में आनंद फैल गया। वामा देवी ने गर्भ-काल में एक बार अपने पार्श्व में एक सर्प देखा था इससे पुत्र का नाम 'पार्श्व' रक्खा गया। पार्श्व दिन दिन बढ़ने लगे और नौ हाथ लंबे हुए। कुशस्थान के राजा प्रसेनजित की कन्या प्रभावती 'पार्श्व' पर अनुरक्त हुई। यह सुन कलिंग देश के यवन नामक राजा ने प्रभावती का हरण करने के विचार से कुशस्थान को आ घेरा। अश्वसेन के यहाँ जब यह समाचार पहुँचा तब उन्होंने बड़ी भारी सेना के साथ पार्श्व को कुशस्थल भेजा। पहले तो कलिंगराज युद्ध के लिये तैयार हुआ पर जब अपने मंत्री के मुख से उसने पार्श्व का प्रभाव सुना तब आकर क्षमा माँगी। अंत में प्रभावती के साथ पार्श्व का विवाह हुआ। एक दिन पार्श्व ने अपने महल से देखा कि पुरवासी पूजा की सामग्री लिये एक ओर जा रहे हैं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक तपस्वी पंचाग्नि ताप रहा है और अग्नि में एक सर्प मरा पड़ा है। पार्श्व ने कहा—"दयाहीन धर्म किसी काम का नहीं"। एक दिन बगीचे में जाकर उन्होंने देखा कि एक जगह दीवार पर नेमिनाथ चरित्र अंकित है। उसे देख उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने दीक्षा ली और स्थान स्थान पर उपदेश और लोगों का उद्धार करते घूमने लगे। वे अग्नि के समान तेजस्वी, जल के समान निर्मल और आकाश के समान निरवलंब हुए। काशी में जाकर उन्होंने चौरासी दिन तपस्या करके ज्ञानलाभ किया और त्रिकालज्ञ हुए। पुंड्र, ताम्रलिप्त आदि अनेक देशों में उन्होंने भ्रमण किया। ताम्रलिप्त में उनके अनेक शिष्य हुए। अंत में अपना निर्वाणकाल समीप जानकर समेत शिखर (पारसनाथ की पहाड़ी जो हजारीबाग में है) पर चले गए जहाँ श्रावण शुक्ला अष्टमी को योग द्वारा उन्होंने शरीर छोड़ा।

पार्श्वमौलि–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर का एक मंत्री।

पार्श्ववर्त्ती–संज्ञा पुं० [सं० पार्श्ववर्तिन्] [स्त्री० पार्श्ववर्तिनी] पास रहनेवाला। निकटस्थजन। मुसाहब।

पार्श्वशूल–संज्ञा पुं० [सं०] पसली का दर्द।

विशेष—सुश्रुत में लिखा है कि इसमें सूई छेदने की सी पीड़ा होती है और साँस कष्ट से निकलती है। यह कफ और वायु के बिगड़ने से होता है।

पार्श्वसूचक–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक आभूषण।

पार्श्वस्थ–वि० [सं०] पास खड़ा रहनेवाला।

संज्ञा पुं० अभिनय के नटों में से एक।

पार्श्वास्थि–संज्ञा पुं० [सं०] पसली की हड्डी।

पार्श्विक–वि० [सं०] (१) बगलवाला। पार्श्वसंबंधी। (२) अन्याय से रुपया कमाने की फिक्र में रहनेवाला।

पार्श्वैकादशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्र शुक्ल एकादशी जिस दिन विष्णु भगवान करवट लेते हैं।

पार्षत–वि० [सं०] पृषत संबंधी। द्रुपद राजा संबंधी।

संज्ञा पुं० द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न।

पार्षती–संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी।

पार्षद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पास रहनेवाला सेवक। पारिषद। (२) मुसाहब। मंत्री। (३) विख्यात पुरुष।

पार्ष्णि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एँड़ी। (२) पृष्ठ। (३) सैन्यपृष्ठ।

पार्ष्णिक्षेम–संज्ञा पुं० [सं०] विश्वेदेवा में से एक।

पार्सल–संज्ञा पुं० [अं०] (१) पुलिंदा। बँधी हुई गठरी।

पैकेट। (२) डाक से रवाना करने के लिये बँधा हुआ पुलिंदा या गठरी।

मुहा०—पार्सल करना = बाँधकर या लपेटकर डाक द्वारा भेजना। पार्सल लगाना = बँधी हुई गठरी या पुलिंदे को डाकघर में बाहर भेजने के लिये देना।

लंक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक शाक। पालकी। (२) बाज पक्षी। (३) एक रत्न जो काला, हरा और लाल होता है।

लंकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पालक शाक। पालकी। (२) कुंदुरु नाम का गंध द्रव्य।

लंक्य-संज्ञा पुं० [सं०] पालक का साग।

ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक। पालनकर्त्ता। (२) पीकदान। ओगालदान। (३) चित्रक वृक्ष। चीते का पेड़। (४) बंगाल का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसने साढ़े तीन सौ वर्ष तक वंग और मगध में राज्य किया।

संज्ञा पुं० [हिं० पालना] (१) फलों को गरमी पहुँचाकर पकाने के लिये पत्ते बिछाकर रखने की विधि।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(२) फलों को पकाने के लिये भूसा या पत्ते आदि बिछाकर बनाया हुआ स्थान। जैसे, पाल का पका आम अच्छा होता है।

संज्ञा पुं० [सं० पट या पाट] (१) वह लंबा चौड़ा कपड़ा जिसे नाव के मस्तूल से लगाकर इसलिये तानते हैं जिसमें हवा भरे और नाव को ढकेले।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—तानना।—उतारना।

(२) तंबू। शामियाना। चँदोवा। (३) गाड़ी या पालकी आदि ढाकने का कपड़ा। ओहार।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि] (१) पानी को रोकनेवाला बाँध या किनारा। मेड़। उ०—सत गुरु बरजै शिष्य करै क्योंकर बाँचे काल। दुहु दिसि देखत बहि गया पानी छूटी पाल।—कबीर। (२) भीटा। ऊँचा किनारा। कगार। उ०—खेलत मानसरोदक गई। जाइ पाल पर ठाढ़ी भई।—जायसी।

संज्ञा पुं० [?] कबूतरों का जोड़ा खाना। कपोत-मैथुन।

क्रि० प्र०—खाना।

लउं-संज्ञा पुं० दे० "पालव", "पल्लव"।

लक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालनकर्ता। (२) अश्वरक्षक। साईस। (३) चीते का पेड़। (४) पाला हुआ लड़का। दत्तक पुत्र।

संज्ञा पुं० [सं० पालक] एक प्रकार का साग। इसके पौधे में टहनियाँ नहीं होतीं, लंबे लंबे पत्ते एक केंद्र से चारों ओर निकलते हैं। केंद्र के बीच से एक सीधा डंठल निकलता है जिसमें फूलों का गुच्छा लगता है।

पालक जूही-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटा पौधा जो दवा के काम में आता है।

पालकरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पलँग] लकड़ी का टुकड़ा जो चारपाई के सिरहाने के पायों के नीचे उसे ऊँचा करने के लिये रखा जाता है।

पालकी-संज्ञा स्त्री० [सं० पल्यंक] एक प्रकार की सवारी जिसे आदमी कंधे पर लेकर चलते हैं और जिसमें आदमी आराम से लेट सकता है। म्याना। खड़खड़िया। अच्छी डोली।

विशेष—पीनस, चौपाल, तामदान इत्यादि, इसके कई भेद होते हैं। कहार इसे कंधे पर लेकर चलते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालंक] पालक का शाक।

पालकी गाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पालकी + गाड़ी] वह गाड़ी जिस पर पालकी के समान छत हो।

पालघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छत्राक। खुमी। (२) जलतृण।

पालट-संज्ञा स्त्री० [देश०] पटेबाजी की एक चोट का नाम।

संज्ञा पुं० [सं० पालन] पाला हुआ लड़का। दत्तक पुत्र।

पालड़ा-संज्ञा पुं० दे० "पलड़ा"।

पालती-संज्ञा स्त्री० [अं० प्लेट ?] जोड़ या सीमन के तख्ते। (लश०)

पालतू-वि० [सं० पालना] पाला हुआ। पोसा हुआ। जैसे, पालतू कुत्ता।

पालथी-संज्ञा स्त्री० [सं० पर्य्यस्त = फैला हुआ] एक प्रकार का बैठना जिसमें दोनों जंघे दोनों ओर फैलाकर जमीन पर रखे जाते हैं और घुटनों पर से दोनों टाँगें मोड़कर बायाँ पैर दाहिने जंघे पर और दाहिना बाएँ पर टिका दिया जाता है। पद्मासन। कमलासन।

क्रि० प्र०—मारना।—लगाना।

पालन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पालनीय, पालित, पाल्य] (१) भोजन वस्त्र आदि देकर जीवनरक्षा। भरण पोषण। रक्षण। परवरिश। (२) तुरत की ब्याई गाय का दूध। (३) लड़कों को बहलाने का गीत। (४) अनुकूल आचरण द्वारा किसी बात की रक्षा या निर्वाह। भंग न करना। न टालना। जैसे आज्ञापालन, प्रतिज्ञापालन, वचन का पालन।

पालना-क्रि० स० [सं० पालन] (१) पालन करना। भोजन वस्त्र आदि देकर जीवनरक्षा करना। रक्षा करना। भरण पोषण करना। परवरिश करना। जैसे, इसी के लिये माँ बाप ने तुम्हें पालकर इतना बड़ा किया। (२) पशु पक्षी आदि को रखना। जैसे, कुत्ता पालना, तोता पालना। (३) भंग न करना। न टालना। अनुकूल आचरण

द्वारा किसी बात की रक्षा या निर्वाह करना। जैसे, आज्ञा पालना, प्रतिज्ञा पालना।

संज्ञा पुं० [सं० पल्यंक] रस्सियों के सहारे टँगा हुआ एक प्रकार का गहरा खटोला या बिस्तरा जिस पर बच्चों को सुलाकर इधर से उधर झुलाते हैं। एक प्रकार का झूला या हिंडोला। पिँगूरा। गहवारा।

पाल वंश–संज्ञा पुं० [सं०] बंगाल का एक प्रसिद्ध राजवंश जिसने साढ़े तीन सौ वर्ष तक मगध और वंग देश पर राज्य किया था। इस वंश के संस्थापक गोपाल थे जो सन् ७७५ ई० से लेकर ७८५ ई० तक रहे। अंतिम राजा गोविंद पाल थे जिन्होंने सन् ११४० ई० से लेकर ११६१ ई० तक राज्य किया। एक ताम्रपत्र में लिखा है कि पाल राजा मिहिर या सूर्य्यवंशी क्षत्रिय थे। डा० हार्नले का मत है कि पाल वंश गहरवारों की ही एक शाखा थी। पाल वंश के राजा बौद्ध थे।

पालव†–संज्ञा पुं० [सं० पल्लव] (१) पल्लव। पत्ता। (२) कोमल पत्ता।

पाला–संज्ञा पुं० [सं० प्रालेय] (१) हवा में मिली हुई भाप के अत्यंत सूक्ष्म अणुओं की तह जो पृथ्वी के बहुत ठंढा हो जाने पर उस पर सफेद सफेद जम जाती है। हिम।

क्रि० प्र०—गिरना।—पड़ना।

मुहा०–पाला मार जाना=पौधे या फसल का पाला गिरने से नष्ट हो जाना।

(२) हिम। ठंढ से ठोस जमा हुआ पानी। बर्फ। (३) ठंढ। सरदी।

संज्ञा पुं० [हिं० पल्ला] संबंध का अवसर। लगाव का मौका। व्यवहार करने का संयोग। वास्ता। साबिक़ा। (केवल 'पड़ना' के साथ मुहा० के रूप में आता है)

मुहा०–(किसी से) पाला पड़ना=व्यवहार करने का संयोग होना। वास्ता पड़ना। काम पड़ना। जैसे, बड़े भारी दुष्ट से पाला पड़ा है। (किसी के) पाले पड़ना=वश में होना। काबू में आना। पकड़ में आना। उ०–परेहु कठिन रावण के पाले।–तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० पल्लव; हिं० पालो] झड़बेरी की पत्तियाँ जो राजपूताने आदि में चारे के काम में आती हैं।

संज्ञा पुं० [सं० पट्ट, हिं० पाड़ा] (१) प्रधान स्थान। पीठ। सदर मुकाम। (२) सीमा निर्दिष्ट करने के लिये मिट्टी का उठाया हुआ मेड़ या छोटा भीटा। धुस। (३) कबड्डी के खेल में हद के निशान के लिये उठाया हुआ मिट्टी का धुस। (४) अनाज भरने का बड़ा बरतन जो प्रायः कच्ची मिट्टी का गोल दीवार के रूप में होता है। डेहरी। (५) अखाड़ा। कुश्ती लड़ने या कसरत करने की जगह। (६) दस पाँच आदमियों के उठने बैठने की जगह।

पालागन–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँय + लागना] प्रणाम। दंडवत। नमस्कार।

विशेष—प्रणाम करने में, विशेषतः ब्राह्मणों को, इस शब्द का मुँह से उच्चारण भी किया जाता है, जैसे, पंडित जी, पालागन।

पालान–संज्ञा पुं० दे० "पलान"।

पालाश–संज्ञा पुं० [सं०] तमालपत्र। तेजपत्ता।

पालिंद–संज्ञा पुं० [सं०] कुँदुरु नामक सुगंध द्रव्य।

पालिंदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरिवन। सालसा। (२) काला निसोथ। कृष्ण निसोथ।

पालिंधी–संज्ञा स्त्री० दे० "पालिंदी"।

पालि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कर्णलताग्र। कान की लौ। कान के पुट के नीचे का मुलायम चमड़ा।

विशेष–पुट के जिस निचले भाग में छेद करके बालियां आदि पहनी जाती हैं उसे पालि कहते हैं। इस स्थान पर कई प्रकार के रोग हो जाते हैं जैसे उत्पाटक जिसमें चिरचिराहट होती है, कंडु जिसमें खुजली होती है, ग्रंथिक जिसमें जगह जगह गांठें सी पड़ जाती हैं, श्याव जिसमें चमड़ा काला हो जाता है, स्नावी जिसमें बराबर खुजली होती और पनछा बहा करता है।

(२) कोना। (३) पंक्ति। श्रेणी। कतार। (४) किनारा। (५) सीमा। हद। (६) मेंढ़। बाँध। (७) पुल। करारा। कगार। भीटा। उ०—खेलत मानसरोदक गई। जाइ पालि पर ठाढ़ी भई।–जायसी। (८) देग। बटलोई। (९) एक तौल जो एक प्रस्थ के बराबर होती थी। (१०) वह बँधा हुआ भोजन जो छात्र या ब्रह्मचारी को गुरुकुल में मिलता था। (११) अंक। गोद। उत्संग। (१२) परिधि। (१३) जूँ या चीलर। (१४) स्त्री जिसकी दाढ़ी में बाल हों। (१५) अंक। चिह्न।

पालिक–संज्ञा पुं० [सं० पल्यंक] (१) पलँग। चारपाई। (२) पालकी।

पालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पालन करनेवाली।

पालित–वि० [सं०] पाला हुआ। रक्षित।

पालिता मंदार–संज्ञा पुं० [सं० पालित + मंदार] एक मझोला पेड़ जिसकी शाखाओं और टहनियों में काले रंग के काँटे होते हैं। इसकी पत्तियाँ एक सींके के दोनों ओर लगती हैं और तीन तीन एक साथ रहती हैं। फूल के दल छोटे बड़े और क्रमविहीन होते हैं। यह पेड़ बंगाल में समुद्र तट के पास होता है। मदरास और बरमा में भी इसकी कई जातियाँ होती हैं। इसे बाड़ की भांति लगाते हैं। कुछ लोग इसी पेड़ को मंदार कहते हैं।

पालिधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पारिभद्र वृक्ष। फरहद का पेड़।

ालिनी-वि० स्त्री० [सं०] पालन करनेवाली ।

ालिश-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) चिकनाई और चमक । ओप । (२) रोगन या मसाला जिसके लगाने से चिकनाई और चमक आ जाय ।

ुहा०-**पालिश करना** = रोगन या मसाला रगड़कर चमकाना । रोगन से चिकना और साफ करना । जैसे, जूते पर पालिश कर दो । **पालिश होना** = रोगन से चिकना और चमकीला किया जाना । **पालिश देना** = दे० "पालिश करना" ।

ालिसी-संज्ञा स्त्री० [अं०] नीति । कार्य्य साधन का ढंग ।

ाली-वि० [सं० पालिन्] [स्त्री० पालिनी] (१) पालन करनेवाला । पोषण करनेवाला । (२) रखनेवाला । रक्षा करनेवाला ।

संज्ञा पुं० पृथु के पुत्र का नाम । (हरिवंश)

संज्ञा स्त्री० [सं० पल्लि = विशिष्ट स्थान] वह स्थान जहाँ तीतर बुलबुल बटेर आदि पक्षी लड़ाए जाते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि = बरतन] बरतन का ढक्कन । पारा । परई ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पालि = पंक्ति] एक प्राचीन भाषा जिसमें बौद्धों के धर्मग्रंथ लिखे हुए हैं और जिसका पठन पाठन स्याम, बरमा, सिंहल आदि देशों में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार भारतवर्ष में संस्कृत का । बौद्ध धर्म के अभ्युदय के समय में इस भाषा का प्रचार वाह्लीक (बलख़) से लेकर स्याम देश तक और उत्तर भारत से लेकर सिंहल तक हो गया था । कहते हैं बुद्ध भगवान् ने इसी भाषा में धर्मोपदेश दिया था । बौद्ध धर्मग्रंथ त्रिपिटक इसी भाषा में है ।

पाली का सबसे पुराना व्याकरण कच्चायन (कात्यायन) का सुगंधिकल्प है । ये कात्यायन कब हुए थे ठीक पता नहीं । सिंहल आदि के बौद्धों में यह प्रसिद्ध है कि कात्यायन बुद्ध भगवान् के शिष्यों में से थे और बुद्ध भगवान् ने ही उनसे उस भाषा का व्याकरण रचने के लिये कहा था जिसमें भगवान् के उपदेश होते थे । पर कात्यायन के व्याकरण में ही एक स्थान पर सिंहल द्वीप के राजा तिष्य का नाम आया है जो ईसा से ३०७ वर्ष पहले राज्य करता था । इस बाधा का उत्तर लोग यह देते हैं कि पाली भाषा का अध्ययन बहुत दिनों तक गुरु शिष्य परंपरानुसार ही होता आया था । इससे संभव है कि 'तिष्य' वाला उदाहरण पीछे से किसी ने दे दिया हो । कुछ लोग वररुचि को, जिनका एक नाम कात्यायन भी था, पाली व्याकरणकार कात्यायन समझते हैं, पर यह भ्रम है ।

कात्यायन ने अपने व्याकरण में पाली को मागधी और मूल भाषा कहा है । पर बहुत से लोगों ने मागधी से पाली को भिन्न माना है । कुछ पाली ग्रंथकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि पाली बुद्धों, बोधिसत्वों और देवताओं की भाषा है और मागधी मनुष्यों की । बात यह मालूम होती है कि मागधी शब्द का व्यवहार मगध की प्राकृत के लिये बहुत पीछे तक बराबर होता रहा है । जैसे साहित्यदर्पणकार ने नाटकों के लिये यह नियम किया है कि अंतःपुरचारी लोग मागधी में बातचीत करते दिखाए जायँ और चेट, राजपुत्र तथा वणिक् लोग अर्द्धमागधी में । पर पाली भाषा एक विशेष प्राचीनतर काल की मागधी का नाम है जिसे व्याकरणबद्ध करके कात्यायन आदि ने उसी प्रकार अचल और स्थिर कर दिया जिस प्रकार पाणिनि आदि ने संस्कृत को । इससे परवर्ती काल के पढ़े लिखे बौद्ध भी उसी प्राचीन मागधी का व्यवहार अपनी शास्त्रचर्चा में बराबर करते रहे ।

'पाली' शब्द कहाँ से आया इसका संतोषप्रद उत्तर कहीं से नहीं प्राप्त होता है । लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं । कुछ लोग उसे सं० पल्लि = (बस्ती, नगर) से निकालते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि 'पालाश' से जो मगध का एक नाम है पाली बना है । कुछ महात्मा पह्लवी तक जा पहुँचे हैं । पटने का प्राचीन नाम पाटलिपुत्र था इससे कुछ लोगों का अनुमान है पाटलि की भाषा ही पाली कहलाने लगी । पर सबसे ठीक अनुमान यह जान पड़ता है कि 'पाली' शब्द का प्रयोग पंक्ति के अर्थ में था । अब भी संस्कृत के छात्र और अध्यापक किसी ग्रंथ में आए हुए वाक्य को 'पंक्ति' कहते हैं जैसे, यह पंक्ति नहीं लगती है । मागधी का बुद्ध के समय का रूप बौद्धशास्त्रों में लिपिबद्ध हो जाने के कारण पाली (सं० पालि = पंक्ति) कहलाने लगा । हीनयान शाखा में तो पाली का प्रचार बराबर एक सा चलता रहा पर महायान शाखा के बौद्धों ने अपने ग्रंथ संस्कृत में कर लिए ।

पालीवत-संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ का नाम ।

विशेष—बृहत्संहिता में द्राक्षा, बिजौरा आदि कांडरोप्य (जिसकी डाल लगाने से लग जाय) पेड़ों में इसका नाम आया है ।

पालीशोष-संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग ।

पालू-वि० [हिं० पालना] पाला हुआ । पालतू ।

पालो-संज्ञा पुं० [सं० पालि ?] ४ रुपये भर का बाट या तौल । (सुनार)

पाल्य-वि० [सं०] पालन के योग्य ।

पाल्वल-वि० [सं०] (१) तलैया या गड्ढा संबंधी । तलैया संबंधी । (२) तलैया में होनेवाला । तलैया का ।

संज्ञा पुं० क्षुद्र जलाशय का जल । तलैया का पानी ।

पाँव-संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय, पाव] पैर । वह अंग जिससे चलते हैं ।

मुहा०–(किसी काम या बात में) पाँव अड़ाना = किसी बात में व्यर्थ सम्मिलित होना। मामले के बीच में व्यर्थ पड़ना। फजूल दखल देना। **पाँव उखड़ जाना** = (१) पैर जमे न रहना। पैर हट जाना। स्थिर होकर खड़ा न रह सकना। (२) ठहरने की शक्ति या साहस न रह जाना। लड़ाई में न ठहरना। सामने खड़े होकर लड़ने का साहस न रहना। भागने की नौबत आना। **जैसे, दूसरा आक्रमण ऐसे वेग से हुआ कि सिक्खों के पाँव उखड़ गए।** **पाँव उखाड़ना** = (१) पैर जमा न रहने देना। हटा देना। भगा देना। (२) किसी बात पर स्थिर न रहने देना। दृढ़ता का भंग करना। **पाँव उठ जाना** = दे० "पाँव उखड़ जाना"। **पाँव उठाना** = (१) चलने के लिए कदम बढ़ाना। डग आगे रखना। चलना आरंभ करना। (२) जल्दी जल्दी पैर आगे रखना। डग भरना। **पाँव उठाकर चलना** = जल्दी जल्दी पैर बढ़ाना। तेज चलना। **पाँव उड़ाना** = शत्रु के आघात से पैरों की रक्षा करना। दुश्मन के वार से पैर बचाना। **पाँव उतरना** = (१) चोट आदि से पैर का गट्ठे से सरक जाना। पैर का जोड़ उखड़ जाना। (२) पैर धँसना। पैर समाना। **पाँव कट जाना** = (१) आने जाने की शक्ति या योग्यता न रहना। आना जाना बंद होना। (२) अन्न जल उठ जाना। रहने या ठहरने का अंत हो जाना। (३) संसार से उठ जाना। जीवन का अंत हो जाना। **(जब कोई मर जाता है तब उसके विषय में दुःख के साथ कहते हैं "आज यहाँ से उसके पाँव कट गए")।** **पाँव काँपना** = दे० "पाँव थरथराना"। **पाँव का खटका** = पैर रखने की आहट। चलने का शब्द। **पाँव की जूती** = अत्यंत क्षुद्र सेवक या दासी। **पाँव की जूती सिर को लगना** = छोटे आदमी का बड़े के मुकाबले में आना। क्षुद्र या नीच का सिर चढ़ना। छोटे आदमी का बड़े से बराबरी करना। **पाँव की बेड़ी** = बंधन। जंजाल। **पाँव की मेहँदी न घिस जायगी** = कहीं जाने या कोई काम करने से पैर न मैले हो जायँगे अर्थात् कुछ बिगड़ न जायगा। **(जब कोई आदमी कहीं जाने या कुछ करने से नहीं करता है तब यह व्यंग्य बोलते हैं)** **पाँव खींचना** = घूमना फिरना छोड़ देना। इधर उधर फिरना बंद करना। **पाँव गाड़ना** = (१) पैर जमाना। जमकर खड़ा रहना। (२) लड़ाई में स्थिर रहना। डटा रहना। (३) किसी बात पर दृढ़ होना। किसी बात पर जम जाना। **पाँव घिसना** = चलते चलते पैर थकना। **जैसे, तुम्हारे यहाँ दौड़ते दौड़ते पाँव घिस गए पर तुमने रुपया न दिया।** **पाँव चलना** = दे० "पाँव पाँव चलना"। **पाँव छूटना** = रजःस्राव होना। रजस्वला होना। **पाँव छोड़ना** = उपचार औषध से रजःस्राव कराना। रुका हुआ मासिक धर्म जारी करना। **पाँव जमना** = (१) पैर ठहरना। स्थिर भाव से खड़ा होना। (२) दृढ़ता रहना। हटने या विचलित होने की अवस्था न आना। **पैर जमाना** = (१) स्थिर भाव से खड़ा रहना। (२) दृढ़ता से ठहरा रहना। डटा रहना। न हटना। (३) स्थिर हो जाना। अपने ठहरने या रहने का पूरा बंदोबस्त कर लेना। **जैसे, अभी से उसे हटाने का यत्न करो, पाँव जमा लेगा तो मुश्किल होगी।** **पाँव जोड़ना** = दो आदमियों का झूले में आमने सामने बैठकर एक विशेष रीति से झूले की रस्सी में पैर उलझाना। पाग जोड़ना। **पाँव टिकना** = दे० "पाँव जमना"। **पाँव टिकाना** = (१) खड़ा होना। स्थिर होना। (२) ठहर जाना। विराम करना। **पाँव ठहरना** = (१) पैर का जमना। पैर न हटना। **जैसे, पानी का ऐसा तोड़ा था कि पाँव नहीं ठहरते थे।** (२) ठहराव होना। स्थिरता होना। **पाँव डगमगाना** = (१) पैर स्थिर न रहना। पैर ठहरा न रहना। पैर का ठीक न पड़ना, इधर उधर हो जाना। लड़खड़ाना। **जैसे, उस पतले पुल पर से मैं नहीं जा सकता, पाँव डगमगाते हैं।** (२) दृढ़ न रहना। विचलित हो जाना। †**पाँव डालना** = किसी काम में हाथ डालना। किसी काम के लिये तत्पर होना। **पाँव डिगना** = पैर ठीक स्थान पर न रहना; इधर उधर हो जाना। स्थिर न रहना। विचलित होना। **जैसे, राजा के पाँव सत्य के पथ से न डिगे।** **पाँव तले की चींटी** = क्षुद्र से क्षुद्र जीव। अत्यंत दीन हीन प्राणी। **पाँव तले की धरती सरकी जाती है** = (ऐसा घोर मर्मभेदी दुःख या आपत्ति है जिसे सुनकर) पृथ्वी कँपी जाती है। (स्त्रि०)। **पाँव तले की मिट्टी निकल जाना** = (किसी भयंकर बात को सुनकर) स्तब्ध सा हो जाना। होश उड़ जाना। होश ठिकाने न रहना। ठक हो जाना। सन हो जाना। सन्नाटे में आ जाना। **पाँव तोड़ना** = (१) बहुत चलकर पैर थकाना। **जैसे, मैं क्यों इतनी दूर जाकर पाँव तोड़ूँ।** (२) बहुत दौड़ धूप करना। इधर उधर बहुत हैरान होना। घोर प्रयत्न करना। **(किसी के) पाँव तोड़ना** = (१) बहुत चलाकर थकाना। (२) दौड़ाकर हैरान करना। **पाँव तोड़ कर बैठना** = (१) कहीं न जाना। अचल होना। स्थिर हो जाना। **जैसे, भारत में दरिद्रता पाँव तोड़कर बैठी है।** (२) प्रयत्न करते करते थककर बैठना। हारकर बैठना। **पाँव थरथराना** = (१) (भय, आशंका, निर्बलता आदि से) पैर काँपना। (२) किसी काम में भय आशंका से आगे पैर न उठना। अग्रसर होने का साहस न होना। **पाँव दबाना या दाबना** = (१) थकावट दूर करने या आराम पहुँचाने के लिये जंघे से लेकर पंजे तक हथेली रख रखकर दबाव पहुँचाना। पाँव पलोटना। (२) सेवा करना। **पाँव धरना** = पैर रखना। किसी स्थान पर जाना। पधारना। **जैसे, अब उसके दरवाजे पर पाँव नहीं धरेंगे।** **किसी काम में पाँव धरना** = किसी कार्य में अग्रसर होना। किसी कार्य में प्रवृत्त होना। **किसी का पाँव धरना** = (१) पैर छूकर प्रणाम करना। (२) दीनता से विनय करना। हा हा खाना। **पाँव धरना** = दे० "पाँव धरना"। उ०—**धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा।**—तुलसी। **बुरे पथ पर पाँव धरना** = बुरे काम में प्रवृत्त होना।

उ०–रघुवंशिन कर सहज सुभाऊ। **मन कुपंथ पग धरैं न काऊ।—तुलसी।** **पाँव धो धोकर पीना** = चरणामृत लेना। बड़े आदर भाव से पूजा करना। **पाँव निकलना** = दुश्चरित्रता की बात फैलना। बदचलनी की बदनामी फैलना। **पाँव निकालना** = (१) बढ़कर चलना। जिस स्थिति में हो उससे बढ़कर प्रकट करनेवाले काम करना। ऐसी चाल चलना जो अपने से ऊँचे पद और वित्त के लोगों को शोभा दे। इतरा कर चलना। जैसे, किसी सामान्य मनुष्य का अमीरों का सा ठाट बाट रखना। (२) बे-कहा होना। निरंकुश होना। स्वेच्छाचारी होना। नटखटी और उपद्रव करना। **जैसे, तुमने बहुत पाँव निकाले हैं चलो तुम्हारे बाप से कहता हूँ।** (३) व्यभिचार करना। बदचलनी करना। (४) उस्ताद होना। चालाक होना। इधर उधर की बातें समझने बूझने योग्य हो जाना। पक्का होना। **जैसे, तुम तो बहुत सीधे और भोले भाले थे, अब तुमने भी पाँव निकाले।** **किसी काम से पाँव निकालना** = किसी काम से किनारे हो जाना। तटस्थ हो जाना। शामिल न रहना। **पाँव पकड़ना** = (१) विनती करके किसी को कहीं जाने से रोकना। **उ०—जानित जो न श्याम ऐहैं पुनि पाँव पकरि घर राखती।—सूर।** पैर छूना। बड़ी दीनता और विनय करना। हा हा खाना। **उ०—अब यह बात कहौ जनि ऊधो, पकरति पाँव तिहारे।—सूर।** (२) पैर छूकर नमस्कार करना। भक्ति और आदरपूर्वक प्रणाम करना। **पाँव पखारना** = पैर धोना। **पाँव पड़ना** = (१) पैरों पर गिरना। साष्टांग दंडवत् करना। (२) अत्यंत दीनता से विनय करना। **†(भूत प्रेत आदि का) पाँव पड़ना** = भूत प्रेत की छाया पड़ना। प्रभाव पड़ना। **पाँव पर गिरना** = दे० "पाँव पड़ना"। **पाँव पर पाँव रखकर बैठना या सोना** = (१) काम धंधा छोड़ आराम से बैठना या पड़ा रहना। चैन से चुपचाप पड़ा रहना। हाथ पैर न चलाना। उद्योग न करना। (२) गाफिल पड़ा रहना। सावधान न रहना। **(पाँव पर पाँव रखकर बैठना या सोना कुलक्षण समझा जाता है। लोग कहते हैं कि जब यादवों का नाश हो गया तब श्रीकृष्ण पाँव पर पाँव रखकर लेटे)।** **किसी के पाँव पर पाँव रखना** = किसी के कदम ब कदम चलना। किसी की एक एक बात का अनुकरण करना। दूसरा जो कुछ करता जाय वही करते जाना। **पाँव पर सिर रखना** = दे० "पाँव पड़ना"। **॥† पाँव पलोटना** = पैर दबाना। पावँचप्पी करना। **पाँव पसारना** = (१) पैर फैलाना। (२) आराम से पड़ना या सोना। (३) मरना। (४) आडंबर बढ़ाना। ठाट बाट करना। **उ०—तेतो पाँय पसारिए जेती लाँबी सौर।** **पावँ पावँ** = अपने पैरों से, सवारी आदि पर नहीं। पैदल। पा प्यादा। **पाँव पाँव चलना** = पैरों से चलना। पैदल चलना। **पाँव पाँव चंदन के**

पाँव = एक वाक्य जिसे बच्चे के पहले पहल खड़े होने पर घर की स्त्रियाँ या खेलानेवाली दासियाँ प्रसन्न हो होकर कहती हैं। **पाँव पीटना** = (१) क्लेश या पीड़ा से पैर उठाना। बेचैनी से पैर पटकना। छटपटाना। तड़फना। (२) मृत्यु की यंत्रणा भोगना। (३) घोर प्रयत्न करना। हैरान होना। **जैसे, बहुत पाँव पीटा पर एक न चली।** **पाँव पूजना** = (१) बड़ा आदर सत्कार करना। बड़ी श्रद्धा भक्ति करना। बहुत पूज्य मानना। (२) विवाह में कन्यादान के समय कन्याकुल के लोगों का वर का पूजन करना और कन्यादान में योग देना। **पाँव फिसलना** = पैर का जमा न रहना, सरक जाना। रपटना। **जैसे, काई पर पाँव फिसल गया और गिर पड़े।** **पाँव फूँक फूँककर रखना** = बहुत बचाकर काम करना। कुछ करते हुए इस बात का बहुत ध्यान रखना कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे कोई हानि या बुराई हो। बहुत सावधानी से चलना। **पाँव फूलना** = (१) पैरों का भय आशंका आदि से अशक्त हो जाना। पैर आगे न उठना। (२) पैर में थकावट आना। थकावट से पैर दुखना। **पाँव फेरने जाना** = (१) विवाह पीछे दुलहिन का पहले पहल ससुराल में जाना। (२) दुलहिन का ससुराल से पहले पहल अपने मायके या और किसी संबंधी के यहाँ जाना और वहाँ से मिठाई नारियल का गोला आदि लेकर लौटना। इसके पहले वह और किसी के यहाँ नहीं जा आ सकती। (३) बच्चा होने के पीछे प्रसूता का कुछ दिनों के लिये अपने माँ बाप या और संबंधियों के यहाँ जाना। **पाँव फैलाना** = (१) अधिक पाने के लिये हाथ बढ़ाना। मुँह बाना। पाकर भी अधिक का लोभ करना। **जैसे, बहुत पांव न फैलाओ अब और न देंगे।** (२) बच्चों की तरह अड़ना। हठ करना। जिद करना। मचलना। **(विशेष–दे० "पावँ पसारना")।** **पाँव बढ़ाना** = (१) चलने में पैर आगे रखना। (२) बड़े बड़े डग रखना। फाल भरना। जल्दी जल्दी चलना। (३) अधिकार बढ़ाना। अतिक्रमण करना। **पाँव बाहर निकलना** = दे० "पाँव निकलना"। **पाँव बाहर निकालना** = दे० "पाँव निकालना"। **पाँव विचलना** = (१) पैर इधर उधर हो जाना। पैर का ठीक न पड़ना या जमा न रहना। पैर फिसलना। पैर रपटना। **जैसे, कीचड़ में पावँ विचल गया।** (२) स्थिर न रहना। दृढ़ता न रहना। (३) धर्म पर स्थिरता न रहना। ईमान डिगना। नीयत में फर्क आना। **पाँव भर जाना** = थकावट से पैर में बोझ सा मालूम होना। पैर थकना। **पाँव भारी होना** = पेट होना। गर्भ रहना। हमल होना। **(किसी से) पाँव भी न धुलवाना** = किसी को अपनी तुच्छ सेवा के योग्य भी न समझना। अत्यंत तुच्छ और छोटा समझना। **पाँव में क्या मेंहदी लगी है?** = क्या पैर में मेंहदी लगाकर बैठे हो कि छूटने के डर से जाना या कोई काम करना नहीं चाहते? **(व्यंग्य)।** **पांव में बेड़ी पड़ना**

= किसी प्रकार के बंधन या जंजाल में फँसना, जैसे, गृहस्थी या बाल बच्चों के। **पांव में सिर देना** = दे० “पाँव पर सिर रखना”। **पांव रगड़ना** = (१) क्लेश या पीड़ा से पैर हिलाना या पीटना। छटपटाना। (२) बहुत दौड़ धूप करना। बहुत हैरान होना। बहुत कोशिश करना। **पांव रह जाना** = (१) पैरों का अशक्त हो जाना। पैरों का काम देने लायक न रहना। (२) थकावट से पैरों का बेकाम हो जाना। **जैसे, चलते चलते पांव रह गए। पांव रोपना** = अड़ना। पण करना। प्रतिज्ञा करना। **पांव लगना** = (१) पैर छूना। प्रणाम करना। चरणस्पर्श पूर्वक नमस्कार करना। (२) पैर पड़ना। विनती करना। **पांव लगा होना** = ऐसा स्थान होना जहाँ अनेक बार पैर पड़ चुके हों, अर्थात् आना जाना हो चुका हो। घूमा फिरा हुआ होना। बार बार आते जाते रहने के कारण परिचित होना। **जैसे, वहाँ की जमीन पांव लगी हुई है ठीक जगह आपसे आप पहुँच जाता हूँ। पांव समेटना** = (१) पैर खींचकर मोड़ना जिससे वह दूर तक फैला न रहे। पैर सुकेड़ना। (२) किनारा खींचना। दूर रहना। लगाव न रखना तटस्थ होना। (३) मरना। (४) इधर उधर घूमना छोड़ना। **पांव सुकेड़ना** = पाँव समेटना। पैर फैला न रहने देना। **पांव से पांव बांधकर रखना** = (१) बराबर अपने पास रखना। पास से अलग न होने देना। (२) बड़ी चौकसी रखना। निगाह के बाहर न होने देना। **पांव सो जाना** = (१) पैर सुन हो जाना। स्तब्ध हो जाना। (२) पैर झन्नां उठना। **(किसी के) पांव न होना** = ठहरने की शक्ति या साहस न होना। दृढ़ता न होना। **जैसे, चोर या शराबी के पांव नहीं होते। धरती पर पांव न रहना** = (१) बहुत घमंड होना। घमंड या शेखी के मारे सीधे पैर न पड़ना। (२) आनंद के मारे अंग स्थिर न रहना। फूले अंग न समाना। **धरती पर पांव न रखना** = (१) घमंड के मारे सीधे पैर न रखना। बहुत ऊँचा होकर चलना। घमंड या शेखी से फूलना। इतराना। (२) आनंद के मारे उछलना। बहुत प्रसन्न होना।

पाँव चप्पी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + चापना = दबाना] थकावट दूर करने या आराम पहुँचाने के लिये पैर दबाने की क्रिया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पावँड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पाँव + ड़ा (प्रत्य०)] वह कपड़ा या बिछौना जो आदर के लिये किसी के मार्ग में बिछाया जाता है। पैर रखने के लिये फैलाया हुआ कपड़ा। पायंदाज। उ०—(क) देत पांवड़ अरघ सुहाए। सादर जनक मंडपहि लाए।—तुलसी। (ख) पौरि के दुवारे तें लगाय केलि मंदिर लौं पदमिनि पांवड़े पसारे मखमल के।

क्रि० प्र०—डालना।—देना।—पसारना।—बिछाना।

पावँड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + ड़ी (प्रत्य०)] (१) पादत्राण। खड़ाऊँ। (२) जूता। उ०—सपनेहु में बर्राय के जो रे कहेगा राम। वाके पग की पावँड़ी सेरे तन को चाम।—कबीर। (३) गोटा पट्ठा बुननेवालें का एक औजार जिसे बुनते समय पैरों से दबाना पड़ता है और जिससे ताने का बादला नीचे ऊपर होता है।

विशेष—यह काठ का पटरा सा होता है जिसमें दो खूँटियां लगी रहती हैं। इन दोनों खूँटियों के बीच लोहे की एक छड़ लगी रहती है जिसमें एक एक बालिश्त लंबी, नुकीले सिरे की ५-६ लकड़ियाँ लगी रहती हैं। बादला बुनने में यह प्रायः वही काम देता है जो करघे में राछ देती है।

पावँर*–वि० [सं० पामर] (१) तुच्छ। खल। नीच। दुष्ट। (२) मूर्ख। निर्बुद्धि। उ०—(क) तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना। आन जीव पावँर का जाना।—तुलसी। (ख) छूँछो मसक पवन पानी ज्यों तैसोई जन्म विकारी हो। पाखंड धर्म करत हैं पावँर नाहिन चलत तुम्हारी हो।—सूर।

संज्ञा पुं० दे० “पांवड़ा”। उ०—कुंडल गहे सीस भुइ लावा। पावँर होउँ जहाँ देइ पावा।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० दे० “पावँड़ी”।

पावँरी–संज्ञा स्त्री० दे० “पावड़ी”।

पाव–संज्ञा पुं० [सं० पाद = चतुर्थांश] (१) चैाथाई। चतुर्थ भाग। जैसे, पाव घंटा, पाव कोस, पाव सेर, पाव आना। (२) एक सेर का चैाथाई भाग। एक तौल जो सेर की चैाथाई होती है। चार छटाँक का मान जैसे, पाव भर आटा।

पावक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। आग। तेज। ताप।

विशेष—महाभारत वन पर्व में लिखा है कि २७ पावक ऋषि ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुए जिनके नाम ये हैं—अंगिरा, दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, निर्मंथ्य, विद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जाठर, विषग, क्रव्य, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शांत, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान्। क्रियाभेद से अग्नि के ये भिन्न भिन्न नाम हैं।

(२) सदाचार। (३) अग्निमंथ वृक्ष। अगेथू का पेड़। (४) चित्रक वृक्ष। चीते का पेड़। (५) भल्लातक। भिलावाँ। (६) विडंग। वायविडंग। (७) कुसुम। (८) वरुण। (९) सूर्य्य।

वि० शुद्ध करनेवाला। पावन करनेवाला। पवित्र करनेवाला।

पावकमणि–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्यकांत मणि। आतशी शीशा।

पावका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती। (वेद)

पावकात्मज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। (२) इक्ष्वाकुवंशीय दुर्योधन की कन्या सुदर्शना का पुत्र।

पावकि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पावक का पुत्र। कार्त्तिकेय।

(२) इक्ष्वाकुवंशीय दुर्योधन की कन्या सुदर्शना का पुत्र सुदर्शन।

विशेष—मनु के पुत्र इक्ष्वाकुवंशीय सुदुर्जय के दुर्योधन नाम का एक पुत्र हुआ जिसे सुदर्शना नाम की एक कन्या थी। उसके रूप लावण्य पर मुग्ध होकर पावक या अग्नि-देव रूप बदलकर दुर्योधन के यहाँ आए और उन्होंने कन्या के लिये प्रार्थना की। दुर्योधन सम्मत न हुए। पावक देवता निराश होकर चले गए। एक बार राजा ने यज्ञ किया। यज्ञ में अग्नि ही प्रज्वलित न हुई। राजा और ऋत्विक लोगों ने अग्नि की बहुत उपासना की। पावक ने प्रकट होकर फिर कन्या मांगी। दुर्योधन ने कन्या का विवाह उनके साथ कर दिया। अग्नि देवता उस कन्या के साथ मूर्ति धारण कर माहिष्मती पुरी में रहने लगे। पावक से जो पुत्र सुदर्शना को हुआ उसका नाम सुदर्शन पड़ा। वह बड़ा धर्मात्मा और ज्ञानी था।

पावकुलक-संज्ञा पुं० [सं० पादाकुलक] पादाकुलक छंद। चौपाई।

पावदान-संज्ञा पुं० [हिं० पाव + दान (प्रत्य०)] (१) पैर रखने के लिये बना हुआ स्थान या वस्तु। (२) काठ की छोटी चौकी जो कुरसी पर बैठे हुए आदमी के पैर रखने के लिये मेज के नीचे रखी जाती है। (३) इक्के गाड़ी आदि की बगल में लटकाई हुई लोहे की छोटी पटरी जिस पर पैर रखकर नीचे से गाड़ी पर चढ़ते हैं। (४) गाड़ी के भीतर पैर लटकाने का स्थान।

पावन-वि० [सं०] (१) पवित्र करनेवाला। शुद्ध करनेवाला। (२) पवित्र। शुद्ध। पाक। (३) पवन या हवा पीकर रहनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) पावकाग्नि। अग्नि। (२) प्रायश्चित्त। शुद्धि। (३) जल। (४) गोबर। (५) रुद्राक्ष। (६) कुष्ट। कुट। (७) पीली भँगरैया। पीत भृंगराज। (८) चित्रक वृक्ष। चीता। (९) चंदन। (१०) सिह्लक। शिलारस। (११) सिद्ध पुरुष। (१२) व्यास का एक नाम। (१३) विष्णु।

पावनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पवित्रता।

पावनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] पवित्रता।

पावनध्वनि-संज्ञा पुं० [सं०] शंख।

पावना†*-क्रि० स० [सं० प्रापण, प्रा० पावण] (१) पाना। प्राप्त करना। (२) ज्ञान प्राप्त करना। अनुभव करना। जानना। समझना। उ०—समरथ सुभ जो पावई पीर पराई।—तुलसी। (३) भोजन करना। आहार करना। जीमना। उ०—तेहि छन तहँ शिशु पावत देखा। पलना निकट गईं तहँ पेखा।—विश्राम। विशेष—दे० "पाना"।

संज्ञा पुं० (१) दूसरे से रुपया आदि पाने का हक। लहना। (२) रुपया जो दूसरे से पाना हो। रकम जो दूसरे से वसूल करनी हो। जैसे, देना पावना ठीक करके हिसाब साफ कर दो। (बाजारू)

पावनि-संज्ञा पुं० [सं०] पवन के पुत्र हनुमान आदि।

पावनी-वि० स्त्री० [सं०] (१) पवित्र करनेवाली। शुद्ध या साफ करनेवाली। (२) पवित्र।

संज्ञा स्त्री० (१) हरीतकी। हड़। (२) तुलसी। (३) गाय। (४) गंगा। (५) शाकद्वीप की एक नदी का नाम (मत्स्य पु०)।

पावमानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक ऋचा।

पाव मुहर-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव = चौथाई + मुहर] शाहजहाँ के समय का सोने का एक सिक्का जिसका मूल्य एक अशरफी या एक मुहर का चौथाई होता था।

पावल†-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पायल"।

पावली-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव = चौथाई + ला (प्रत्य०)] एक रुपये का चौथाई सिक्का। चार आने का सिक्का। चवन्नी।

पावस†-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रावृष, प्रा० पाउस] वर्षा काल। सावन भादों का महीना। बरसात। उ०—गिरिधारन पावस आवत ही बकवृंद अकाश उड़ान लगे। धुरवा सब ओर दिखान लगे मोरवान के शोर सुनान लगे।—गोपाल।

पावा†-संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पावँ] चारपाई, पलँग, चौकी, कुरसी आदि का पाया। दे० "पाया"।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्राचीन गाँव जो वैशाली से पश्चिम और गंगा के उत्तर था। यहाँ बुद्ध भगवान् कुछ दिन ठहरे थे और बुद्ध के निर्वाण पीछे पावा के लोगों को भी बुद्ध के शरीर का कुछ अंश मिला था जिसके ऊपर उन्होंने एक स्तूप उठाया था। यह गाँव अब भी इसी नाम से पुकारा जाता है और गोरखपुर जिले में गंडक नदी से ६ कोस पर है। गोरखपुर से यह बीस कोस उत्तर-पश्चिम पड़ता है।

पावी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मैना जिसकी लंबाई १७-१८ अंगुल होती है। यह ऋतु के अनुसार रंग बदला करती है और पंजाब के अतिरिक्त सारे भारत में पाई जाती है। यह प्रायः ४ या ५ अंडे देती है।

पाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रस्सी, तार, ताँत आदि के कई प्रकार के फेरों और सरकनेवाली गाँठों आदि के द्वारा बनाया हुआ घेरा जिसके बीच में पड़ने से जीव बँध जाता है और कभी कभी बंधन के अधिक कसकर बैठ जाने से मर भी जाता है। फंदा। फाँस। बंधनजाल।

विशेष—प्राचीन काल में पाश का व्यवहार युद्ध में होता था और यह अनेक प्रकार का बनता था। इसे शत्रु के ऊपर

डालकर उसे बाँधते या अपनी ओर खींचते थे। अग्नि पुराण में लिखा है कि "पाश दस हाथ का होना चाहिए, गोल होना चाहिए। उसकी डोरी, सूत, गून, मूँज, ताँत चमड़े आदि की हो। तीस रस्सियाँ होनी चाहिए इत्यादि"। वैशंपायनीय धनुर्वेद में जिस प्रकार के पाश का उल्लेख है वह गला कसकर मारने के लिये उपयुक्त प्रतीत होता है। उसमें लिखा है कि पाश के अवयव सूक्ष्म लोहे के त्रिकोण हों, परिधि पर सीसे की गोलियाँ लगी हों। युद्ध के अतिरिक्त अपराधियों को प्राणदंड देने में भी पाश का व्यवहार होता था, जैसे कि आज कल भी फाँसी में होता है। पाश द्वारा वध करनेवाले चांडाल पाशी कहलाते थे जिनकी संतान आजकल उत्तरीय भारत में पासी कहलाते हैं।

(२) पशु पक्षियों को फँसाने का जाल या फंदा।

विशेष—जिस प्रकार किसी शब्द के आगे 'जाल' शब्द रखकर समूह का अर्थ निकालते हैं उसी प्रकार सूत के आकार की वस्तुओं के सूचक शब्दों के आगे 'पाश' शब्द रहने से समूह का अर्थ लेते हैं, जैसे, केशपाश। कर्ण के आगे पाश शब्द से उत्तम या शोभित अर्थ समझा जाता है। जैसे, कर्णपाश अर्थात् सुंदर कान।

(३) बंधन। फँसानेवाली वस्तु। उ०—प्रभु हो मोह पाश क्यों छूटै।—तुलसी।

विशेष—शैव दर्शन में छः पदार्थ कहे गए हैं—पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण। पाश चार प्रकार के कहे गए हैं—मल, कर्म, माया और रोध शक्ति। (सर्व दर्शन-संग्रह)। कुलार्णव तंत्र में 'पाश' इतने बतलाए गए हैं—घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति। मतलब यह कि तांत्रिकों को इन सबका त्याग करना चाहिए। (४) फलित ज्योतिष में एक योग जो उस समय माना जाता है जब सब राशि ग्रहपंचक में रहती हैं।

पाशक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खेल या जूआ। पासा। चौपड़।

पाशकेरली–संज्ञा पुं० [सं० पाश + केरल (देश)] ज्योतिष की एक गणना जो पासे फेंक कर की जाती है। यूनान, फारस आदि पश्चिमी देशों में पुराने समय में इसका बहुत प्रचार था। वहीं से शायद दक्षिण भारत के केरल प्रदेश में यह विद्या आई हो।

पाशधर–संज्ञा पुं० [सं०] वरुण देवता (जिनका अस्त्र पाश है)।

पाशमुद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक मुद्रा जो दहने और बाएँ हाथ की तर्जनी को मिलाकर प्रत्येक के सिरे पर अँगूठा रखने से बनती है।

पाशव–वि० [सं०] (१) पशुसंबंधी। पशुओं का। (२) पशुओं का जैसा। जैसे, पाशव व्यवहार।

पाशवान्–वि० [सं०] [स्त्री० पाशवती] पाशवाला। पाशधारी। संज्ञा पुं० वरुण।

पाशहस्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण। (२) शतभिषा नक्षत्र।

पाशा–संज्ञा पुं० [तु० फा० पादशाह] तुर्की सरदारों की उपाधि।

पाशिक–संज्ञा पुं० [सं०] फंदे या जाल में चिड़िया फँसानेवाला बहेलिया।

पाशित–संज्ञा पुं० [सं०] बँधा हुआ। पाशबद्ध।

पाशी–वि० [सं० पाशिन्] पाशवाला। पाश धारण करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) वरुण। (२) व्याध। बहेलिया। (३) यम। (४) प्राणदंड पाए हुए अपराधियों के गले में फाँसी का फंदा लगानेवाला चांडाल।

पाशुक–वि० [सं०] पशुसंबंधी।

पाशुपत–वि० [सं०] (१) पशुपति संबंधी। शिवसंबंधी। (२) पशुपति का।

संज्ञा पुं० (१) पशुपति या शिव का उपासक। एक प्रकार का शैव। (२) शिव का कहा हुआ तंत्रशास्त्र। (३) अथर्ववेद का एक उपनिषद्। (४) वक पुष्प। अगस्त का फूल।

पाशुपत दर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] एक सांप्रदायिक दर्शन जिसका उल्लेख सर्वदर्शन-संग्रह में है। इसे नकुलीश पाशुपति दर्शन भी कहते हैं।

विशेष–इस दर्शन में जीव मात्र की 'पशु' संज्ञा है। सब जीवों के अधीश्वर पशुपति शिव हैं भगवान् पशुपति ने बिना किसी कारण, साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया, इससे वे स्वतंत्र कर्ता हैं। हम लोगों से भी जो कार्य्य होते हैं उनके भी मूल कर्ता परमेश्वर ही हैं, इससे पशुपति सब कार्यों के कारण स्वरूप हैं। इस दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की कही गई है–एक तो सब दुःखों की अत्यंत निवृत्ति, दूसरी पारमैश्वर्य्य प्राप्ति। और दार्शनिकों ने दुःख की अत्यंत निवृत्ति को ही मोक्ष कहा है। किंतु पाशुपत दर्शन कहता है कि केवल दुःख की निवृत्ति ही मुक्ति नहीं है, जब तक साथ ही पारमैश्वर्य प्राप्ति भी न हो तब तक केवल दुःख-निवृत्ति से क्या ? पारमैश्वर्य्य मुक्ति दो प्रकार की शक्तियों की प्राप्ति है–दृक् शक्ति और क्रिया शक्ति। दृक् शक्ति द्वारा सब वस्तुओं और विषयों का ज्ञान हो जाता है, चाहे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म, दूर से दूर, व्यवहित से व्यवहित हों। इस प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने पर क्रिया शक्ति सिद्ध होती है जिसके द्वारा चाहे जिस बात की इच्छा हो वह तुरंत हो जाती है। उसकी इच्छा की देर रहती है। इन दोनों शक्तियों का सिद्ध हो जाना ही पारमैश्वर्य मुक्ति है।

पूर्ण प्रज्ञ आदि दार्शनिकों तथा भक्तों का यह कहना कि भगवद्दासत्व-प्राप्ति ही मुक्ति है विडंबना मात्र है। दासत्व

किसी प्रकार का हो बंधन ही है, उसे मुक्ति (छुटकारा) नहीं कह सकते ।

इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने गए हैं । धर्मार्थसाधक व्यापार को विधि कहते हैं। विधि दो प्रकार की होती है–व्रत और द्वार। भस्मस्नान भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा, उपहार आदि को व्रत कहते हैं । शिव का नाम लेकर ठहा कर हँसना, गाल बजाना, गाना, नाचना, जप करना आदि उपहार हैं। व्रत सब के सामने न करना चाहिए, गुप्तस्थान में करना चाहिए। 'द्वार' के अंतर्गत क्राथन, स्पंदन, मंदन, शृंगारण, अवितत्करण और अवितद्भाषण हैं । सुंप्त न होकर भी सुप्त के से लक्षण-प्रदर्शन को क्राथन, जैसे हवा के धक्के से शरीर झोंके खाता है उसी प्रकार झोंके खिलाने को स्पंदन, उन्मत्त के समान लड़खड़ाते हुए पैर रखने को मंदन, सुंदरी स्त्री को देख वास्तव में कामार्त न होकर कामुकों की सी चेष्टा करने को शृंगारण, अविवेकियों के समान लोक-निंदित कर्मों की चेष्टा को अवितत्करण तथा अर्थहीन और व्याहत शब्दों के उच्चारण को अवितद्भाषण कहते हैं। चित्त द्वारा आत्मा और ईश्वर के संबंध का नाम योग है ।

पाशुपतरस–संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो इस प्रकार तैयार होती है—एक भाग पारा, दो भाग गंधक, तीन भाग लोह-भस्म और तीनों के बराबर विष लेकर चीते के काढ़े में भावना दे, फिर उसमें ३२ भाग धतूरे के बीज का भस्म मिलावे। इसके उपरांत सोंठ, पीपल, मिर्च, लौंग, तीन तीन भाग, जावित्री और जायफल आधा आधा भाग, तथा विट्, सैंधव, सामुद्र, उद्भिद, सोंचर, सज्जी, एरंड (अंडी), इमली की छाल का भस्म, चिचड़ीक्षार, अश्वत्थ-क्षार, हड़, जवाखार, हींग, जीरा, सोहागा, सब एक एक भाग मिलाकर नीबू के रस में भावना दे और घुँघची के बराबर गोली बना ले । भिन्न भिन्न अनुपान के साथ सेवन करने से अग्निमंद, अपच, और हृदय के रोग दूर होते हैं तथा हैजे में तुरंत फायदा होता है। तालमूली के रस में देने से उदरामय, मोचरस के साथ अतीसार, मट्ठे और सेंधा नमक के साथ ग्रहणी इत्यादि रोग दूर होते हैं। (रसेंद्रसार संग्रह)

पाशुपतास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] शिव का शूलास्त्र जो बड़ा प्रचंड था। अर्जुन ने बहुत तप करके इसे प्राप्त किया था ।

पाशुबंधक–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ का बलिपशु बाँधा जाता था ।

पाश्चात्य–वि० [सं०] (१) पीछे का । पिछला । (२) पीछे होनेवाला। (३) पश्चिम दिशा का । पश्चिम में रहनेवाला। पश्चिम संबंधी ।

पाषंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद का मार्ग छोड़कर अन्य मत ग्रहण करनेवाला । वेदविरुद्ध आचरण करनेवाला । झूठा मत माननेवाला । मिथ्याधर्मी ।

विशेष—बौद्धों और जैनों के लिये प्रायः इस शब्द का व्यवहार हुआ है। कौलिक आदि भी इस नाम से पुकारे गए हैं। पुराणों में लिखा है कि पाषंड लोग अनेक प्रकार के वेश बनाकर इधर उधर घूमा करते हैं। पद्मपुराण में लिखा है कि "पाषंडों का साथ छोड़ना चाहिए और भले लोगों का साथ सदा करना चाहिए" । मनु ने भी लिखा है कि "कितव, जुआरी, नटवृत्तिजीवी, क्रूरचेष्ट और पाषंड इनको राज्य से निकाल देना चाहिए। ये राज्य में रहकर भलेमानुसों को कष्ट दिया करते हैं।"

(२) झूठा आंडबर खड़ा करनेवाला । लोगों को ठगने और धोखा देने के लिये साधुओं का सा रूप रंग बनानेवाला । धर्मध्वजी। ढोंगी आदमी । कपट वेशधारी ।

(३) संप्रदाय । मत । पंथ ।

विशेष–अशोक के शिलालेखों में इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में प्रतीत होता है । यह अर्थ प्राचीन जान पड़ता है, पीछे इस शब्द को बुरे अर्थ में लेने लगे । 'पाषंड' का विशेषण 'पाषंडी' बनता है । इससे इसका संप्रदायवाचक होना सिद्ध होता है । नए नए संप्रदायों के खड़े होने पर शुद्ध वैदिक लोग सांप्रदायिकों को तुच्छ दृष्टि से देखते थे ।

पाषंडी–वि० [सं० पाषंडिन्] (१) पाषंड । वेदाचार परित्यागी। वेदविरुद्ध मत और आचरण ग्रहण करनेवाला। झूठा मत माननेवाला ।

विशेष—मनुस्मृति में लिखा है कि पाषंडी, विकर्मस्थ (निषिद्ध कर्म से जीविका करनेवाले), वैड़ालव्रतिक, हेतुवाद द्वारा वेदादि का खंडन करनेवाले, वकव्रती यदि अतिथि होकर आवें तो वाणी से भी उनका सत्कार न करे। अवैदिक लिंगी (वेदविरुद्ध सांप्रदायिक चिह्न धारण करनेवाले) आदि को पाषंडी कहने में तो स्मृति पुराण आदि एकमत हैं, पर पद्मपुराण आदि घोर सांप्रदायिक पुराणों में कहीं शैव और कहीं वैष्णव भी पाषंडी कहे गए हैं। जैसे पद्मपुराण में लिखा है कि "जो कपाल भस्म और अस्थि धारण करें, जो शंख, चक्र, ऊर्ध्वपुंड्रादि न धारण करें, जो नारायण को शिव और ब्रह्मा के ही बराबर समझें...वे सब पाषंडी हैं" । दे० "पाषंड" ।

(२) वेश बनाकर लोगों को धोखा देने और ठगनेवाला। धर्म आदि का झूठा आडंबर खड़ा करनेवाला । ढोंगी। धूर्त ।

पाषक–संज्ञा पुं० [सं०] पैर में पहनने का एक गहना ।

पाषर–सं० स्त्री० दे० "पाखर" ।

पाषाण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर । प्रस्तर । शिला । (२) पन्ने और नीलम का एक दोष । (रत्नपरीक्षा) । (३) गंधक ।

पाषाणगर्दभ—संज्ञा पुं० [सं०] हनुसंधिजात एक क्षुद्र रोग । दाढ़ सूजने का रोग ।

पाषाणगैरिक—संज्ञा पुं० [सं०] गेरू । गिरिमाटी ।

पाषाणचतुर्दशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्रहायण शुक्ला चतुर्दशी । अगहन सुदी चौदस (तिथितत्त्व) ।

विशेष—इस तिथि को स्त्रियाँ गौरी का पूजन करके रात को पाषाण (पत्थर के ढोंकों) के आकार की बड़ियाँ बनाकर खाती हैं ।

पाषाणभेद—संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा जो अपनी पत्तियों की सुंदरता के लिये बगीचों में लगाया जाता है । पखानभेद । पथरचूर । पथरचट ।

विशेष—वैद्यक में पखानभेद भारी, चिकना तथा मूत्रकृच्छ्र, पथरी, दाद, वात और अतीसार को दूर करनेवाला माना जाता है ।

पाषाणभेदन–संज्ञा पुं० [सं०] पाषाणभेद ।

पाषाणभेदी–संज्ञा पुं० [सं० पाषाणभेदिन्] पखानभेद । पथरचूर ।

पाषाण रोग–संज्ञा पुं० [सं०] अश्मरी । पथरी ।

पाषाणसंभव वल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रवाल । मूँगा ।

पाषाणांतक–संज्ञा पुं० [सं०] अश्मंतक तृण ।

पाषाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्थर का टुकड़ा जो तौलने के काम में आवे । बाट । बटखरा ।

पासंग–संज्ञा पुं० [फा०] (१) तराजू की डंडी बराबर न होने पर उसे बराबर करने के लिये उठे हुए पलरे पर रखा हुआ पत्थर या और कोई बोझ । पसंघा ।

मुहा०–(किसी का) **पासंग भी न होना** = किसी के मुकाबले में बहुत कम या कुछ न होना । **किसी के पासंग बराबर न होना** = "पासंग भी न होना ।"

(२) तराजू की डाँड़ी बराबर न होना । डाँड़ी या पलड़ों का अंतर ।

पास–संज्ञा पुं० [सं० पार्श्व] (१) बगल । ओर । तरफ । उ०—(क) बेंत पानि रक्षक चहुँ पासा । चले सकल मन परम हुलासा ।—तुलसी । (ख) अति उतुंग जलनिधि चहुँ पासा ।—तुलसी । (२) सामीप्य । निकटता । समीपता । जैसे, (क) उनके पास में भी तो किसी को रहना चाहिए । (ख) बुरे लोगों का पास ठीक नहीं । (ग) उसके पास से हट जाओ ।

यौ०—पास पड़ोस । आसपास ।

(३) अधिकार । कब्जा । रक्षा । पल्ला । (केवल 'के' 'में' और 'से' विभक्तियों के साथ) जैसे, (क) जब आदमी के पास में धन नहीं रह जाता तब उसकी कोई नहीं सुनता । (ख) दे दो, तुम्हारे पास का क्या जाता है । (ग) हम क्या अपने पास से रुपया देंगे ।

अव्य०–(१) बगल में । निकट । समीप । नज़दीक । दूर नहीं । जैसे, (क) उसके पास जाकर बैठो । (ख) यहाँ से उसका घर पास ही पड़ता है ।

यौ०—**आस पास** = (१) अगल बगल । इधर उधर । समीप । जैसे, घर के आस पास कोई पेड़ नहीं है । (२) लगभग । करीब । जैसे, ठीक देना नहीं मालूम, १०) के आस पास होगा ।

मुहा०–(किसी स्त्री के) **पास आना या जाना** = समागम करना । संयोग करना । **पास पास** = (१) एक दूसरे के समीप । परस्पर निकट । जैसे, दोनों पुस्तकें पास पास रक्खी हैं । (२) लगभग । (किसी के) **पास बैठना** = (१) बगल में बैठना । निकट बैठना । (२) संगत में रहना । सुहबत में रहना । साथ करना । जैसे, भले आदमियों के पास बैठने से शिष्टता आती है । (३) पहुँचना । फल या दशा को प्राप्त होना । जैसे, अब अपने किए के पास बैठ, रोता क्या है ? **पास बैठनेवाला** = (१) संगत में रहनेवाला । साथ करनेवाला । मेल जोल रखनेवाला । (२) मुसाहिब । पार्श्ववर्ती । (किसी स्त्री के) **पास रहना** = समागम करना । संयोग करना । **पास फटकना** = निकट जाना । जैसे, तुम उसके पास न फटकने पाओगे (विशेषतः निषेध वाक्यों में) ।

(२) अधिकार में । कब्जे में । रक्षा में । पल्ले । जैसे, तुम्हारे पास कितने रुपए हैं ? (३) निकट जाकर, संबोधन करके । किसी के प्रति । किसी से । उ०—(क) माँगत है प्रभु पास दास यह बार बार कर जोरी ।—सूर । (ख) सोई बात भई, बहु बाज्यो नाहिं सोच पर्‌यो, पूछै प्रभु पास याकी न्यूनता बताइए ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [अं०] कहीं जाने का अधिकार-चिह्न या पत्र । वह टिकट या आज्ञापत्र जिसे लेकर कहीं बेरोकटोक जा सकें । गमनाधिकार पत्र । राहदारी का परवाना । जैसे, (क) उन्हें हिंदुस्तान से बाहर जाने का पास मिल गया । (ख) रेलवे के नौकरों को रेल में आने जाने के लिये पास मिलता है ।

वि० (१) पार किया हुआ । तै किया हुआ । निकल गया हुआ । जैसे, ट्रेन स्टेशन पास कर गई । (२) किसी अवस्था, श्रेणी, कक्षा आदि के आगे निकला हुआ । उन्नति-क्रम में कोई निर्दिष्ट स्थिति पार किया हुआ । किसी दरजे के आगे गया हुआ । जैसे, आठवाँ दरजा तुमने कब पास किया ? (३) जाँच या परीक्षा में ठीक उतरा

हुआ। उत्तीर्ण। सफलीभूत। इम्तहान में कामयाब। फेल का उलटा। जैसे, (क) वह इस साल इम्तहान में पास हो जायगा। (ख) उन्होंने सब लड़कों को पास कर दिया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(४) स्वीकृत। मंजूर। जैसे, (क) सभा ने प्रस्ताव पास कर दिया। (ख) कलक्टर ने बिल पास कर दिया। (५) जारी। चलता। प्रचलित।

*संज्ञा पुं० दे० "पाश"।

*संज्ञा पुं० दे० "पासा"।

†संज्ञा पुं० [सं० प्रास = बिछाना, डालना] आवें के ऊपर उपले जमाने का काम।

संज्ञा पुं० [देश०] भेड़ों के बाल कतरने की कैंची का दस्ता।

पासना–क्रि० अ० [सं० पयस् = दूध] इस अवस्था में होना कि थनों में दूध उतर आवे। थनों में दूध आना। जैसे, भैंस देर में पासती है। (ग्वाले)।

पासनी†–संज्ञा स्त्री० [सं० प्राशन] अन्नप्राशन। बच्चे को पहले पहल अनाज चटाने की रीति। उ०—प्रगट पासनी में छबि छाई। भुव भर सहित कृपान उठाई।—लाल।

विशेष—अन्नप्राशन के दिन बालक के सामने अनेक वस्तुएँ रखकर शकुन देखते हैं कि किस वस्तु पर उसका पहले हाथ पड़ता है। उससे यह समझा जाता है कि वही उसकी जीविका होगी।

पासबंद–संज्ञा पुं० [हिं० पास+फा० बंद] दरी बुनने के करघे की वह लकड़ी जिससे बै बँधी रहती है और जो नीचे ऊपर जाया करती है।

पास-बुक–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) वह पुस्तक जिसमें किसी प्रकार के लेन देन का हिसाब किताब हो। (२) वह बही या किताब जिसमें सौदागर उधार ली गई चीजों के नाम लिखकर खरीदार के पास दस्तखत कराने के लिये भेजता है। (३) वह किताब जिसमें किसी बंक का हिसाब किताब रहता है।

पासमान*–संज्ञा पुं० [हिं० पास+मान (प्रत्य०)] पास रहनेवाला दास। पार्श्ववर्ती। उ०—ताकी रानी नाम की रत्नावली प्रसिद्ध। पासमान ताकी रही गही भक्ति तजि सिद्ध।—रघुराज।

पासवर्त्ती*–दे० "पार्श्ववर्त्ती"।

पाससार*–संज्ञा पुं० दे० "पासासार"।

पासा–संज्ञा पुं० [सं० पाशक, प्रा० पासा] (१) हाथीदांत या हड्डी के उँगली के बराबर छःपहले टुकड़े जिनके पहलों पर बिंदियाँ बनी होती हैं और जिन्हें चौसर के खेलने में खेलाड़ी बारी बारी फेंकते हैं। जिस बल ये पड़ते हैं उसी के अनुसार बिसात पर गोटियाँ चली जाती हैं और अंत में हार जीत होती है। उ०—राजा करै सो न्याव। पासा पड़े सो दावँ।

मुहा०—(किसी का) **पासा पड़ना** = (१) पासे का किसी के अनुकूल गिरना। जीत का दाँव पड़ना। बाजी मारने का दाँव पड़ना। (२) भाग्य अनुकूल होना। किसमत जोर करना। **पासा पलटना** = (१) जिसके अनुकूल पहले पासा गिरता रहा हो उसके प्रतिकूल गिरना। पासे का इस प्रकार पड़ने लगना कि हार होने लगे। दाँव फिरना। (२) अच्छे से मंद भाग्य होना। जमाना बदलना। दिन का फेर होना। (३) युक्ति या तदबीर का उलटा फल होना। **पासा फेंकना** = (१) अनुकूल या प्रतिकूल दाँव निश्चित करने के लिये पासे का गिराना। भाग्य की परीक्षा करना। किस्मत आजमाना। ऐसे काम में हाथ डालना जिसका फल कुछ भी निश्चित न हो।

(२) वह खेल जो पासों से खेला जाता है। चौसर का खेल। विशेष दे०—"चौसर"। (३) मोटी बत्ती के आकार में लाई हुई वस्तु। कामी। गुल्ली। जैसे, सोने के पासे। (४) पीतल या काँसे का चौखूँटा लंबा ठप्पा जिसमें छोटे छोटे गोल गड्ढे बने होते हैं। घुँघरू या गोल घुंडी बनाने में सुनार सोने के पत्तर को इसी पर रखकर ठोंकते हैं जिससे वह कटोरी के आकार का गहरा हो जाता है। (सुनार)।

पासासार–संज्ञा पुं० [सं० पाशक, हिं० पासा + सारि = गोटी] (१) पासे की गोटी। (२) पासे का खेल।

पासिक*–संज्ञा पुं० [सं० पाश] पाश। फंदा। जाल। बंधन। उ०—खैंचत लोभ दसौं दिसि को महि, मोह महा हत पासिक डारे।—केशव।

पासिका–संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] पाश। फंदा। जाल। बंधन। उ०—भ्रुव तेग, सुनैन के बान लिये मति बेसरि की सँग पासिका है। बहु भावन की परकासिका है तुव नासिका धीर विनासिका है।—मतिराम।

पासी–संज्ञा पुं० [सं० पाशिन्, पाशी] (१) जाल या फंदा डालकर चिड़िया पकड़नेवाला। (२) एक नीच और अस्पृश्य जाति जो मथुरा से पूरब की ओर पाई जाती है। इस जाति के लोग सूअर पालते तथा कहीं कहीं ताड़ पर से ताड़ी निकालने का काम करते हैं। प्राचीन काल में इनके पूर्वज प्राणदंड पाए हुए अपराधियों के गले में फाँसी का फंदा लगाते थे, इसी से यह नाम पड़ा।

संज्ञा स्त्री० [सं० पाश, हिं० पास + ई (प्रत्य०)] (१) फंदा। फाँस। पाश। फाँसी। (२) घास बाँधने की जाली। (३) घोड़े के पैर बाँधने की रस्सी। पिछाड़ी।

पासुरी*–संज्ञा स्त्री० दे० "पसली"।

पाहँ*–अव्य० [सं० पार्श्व, प्रा० पास, पाह] (१) निकट।

समीप। पास। (२) पास जाकर संबोधन करके। किसी के प्रति । किसी से। उ०—जाइ कहौ उन पाहँ सँदेसू।—जायसी।

पाह–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाहन] एक प्रकार का पत्थर जिससे लौंग फिटकरी और अफीम को घिसकर आंख पर चढ़ाने का लेप बनाते हैं।

पाहन*–संज्ञा पुं० [सं० पाषाण, प्रा० पाहाण] पत्थर। प्रस्तर। उ०—(क) महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी।—तुलसी। (ख) पाहन ते हरि कठिन कियो हिय कहत न कछु बनि आई।—सूर।

पाहरू*†–संज्ञा पुं० [हिं० पहर, पहरा] पहरा देनेवाला। पहरेदार। चौकसी करनेवाला। रखवाली करनेवाला। उ०—(क) नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद-यंत्रिका प्रान जाहिं केहि बाट।—तुलसी। (ख) जागत कामी चिंतित चकोर, बिरही बिरहिन पाहरू चोर।—तुलसी।

पाहा*†–संज्ञा पुं० [सं० पथ] पान की बेलों या किसी ऊँची फसल के खेतों के बीच का रास्ता। मेंड़।

पाहात–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मदारु वृक्ष। शहतूत का पेड़।

पाहिँ*–अव्य० [सं० पार्श्व, प्रा० पास, पाह] (१) पास। निकट। समीप। (२) पास जाकर संबोधन करके। किसी के प्रति। किसी से। उ०—कोउ न बुझाइ कहै नृप पाहीं। ये बालक, अस हठ भल नाहीं।—तुलसी।

पाहि–एक संस्कृत पद जिसका अर्थ है 'रक्षा करो'—"बचाओ"। उ०—पाहि पाहि! रघुबीर गुसाईं।—तुलसी।

पाहीं*–अव्य० दे० "पाहिँ"।

पाही–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाह] वह खेती जिसका किसान दूसरे गावँ में रहता हो।

पाहुँच†–संज्ञा स्त्री० दे० "पहुँच"। उ०—आपनी आपनी भाँति सब काहू कही है। मंदोदरी, महोदर, मालिवान, महामति राजनीति पाहुँच जहाँ लौं जाकी रही है।—तुलसी।

पाहुना–संज्ञा पुं० [सं० प्राघूर्ण, प्राघुण = अतिथि। अथवा सं० उप० प्र+आह्वयनेय + प्राह्वयनेय, पा० पाहुणेय्य][स्त्री० पाहुनी] (१) अतिथि। मेहमान। अभ्यागत। संबंधी, इष्टमित्र या कोई अपरिचित मनुष्य जो अपने यहाँ आ जाय और जिसका सत्कार उचित हो। (२) दामाद। जामाता।

विशेष—इस शब्द की व्युत्पत्ति यों तो प्राघुण से सुगम जान पड़ती है। पर प्राघुण शब्द प्राघूर्ण से ही बनाया गया है। प्राघूर्ण शब्द का प्रयोग भी प्राचीन नहीं है। कथा-सरित्सागर में प्राघुण और पंचतंत्र में प्राघूर्ण शब्द आया है। नैषध में भी प्राघुणिक मिलता है। कोशों में तो 'प्राहुण' तक संस्कृत शब्दवत् आया है। पाली का "पाहुणेय" शब्द इन सबसे पुराना प्रतीत होता है और उसकी व्युत्पत्ति वही है जो ऊपर दी गई है।

पाहुनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पाहुना] (१) स्त्री अतिथि। अभ्यागत स्त्री। मेहमान औरत। उ०—पाहुनी करि दै तनक मह्यो। हौं लागी गृहकाज रसोई जसुमति विनय कह्यो।—सूर। (२) आतिथ्य। मेहमानदारी। अतिथि का आदर सत्कार। खातिर तवाजा।

पाहुर†–संज्ञा पुं० [सं० प्राभृत, प्रा० पाहुड़=भेंट] (१) भेंट। नजर। वह द्रव्य जो किसी के सम्मानार्थ उसे दिया जाय। (२) वह वस्तु या धन जो किसी संबंधी या इष्टमित्र के यहाँ व्यवहार में भेजा जाय। सौगात।

पाहू†–संज्ञा पुं० [?] मनुष्य। व्यक्ति। शख्स।

पिंग–वि० [सं०] (१) पीला। पीलापन लिए भूरा। (२) भूरापन लिए लाल। तामड़ा। दीपशिखा के रंग का। (३) सुँघनी रंग का। भूरापन लिए पीला।

यौ०—पिंगाक्ष। पिंगास्य।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैंसा। (२) चूहा। मूसा। (३) हरताल।

पिंगकपिशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुबरैले के आकार का एक कीड़ा जिसका रंग काला और तामड़ा होता है। तेलपायी। तेलचटा।

पिंगचक्षु–वि० [सं० पिंगचक्षुस्] जिसकी आँखें भूरे या तामड़े रंग की हों।

संज्ञा पुं० नक्र नामक जलजंतु। नाक।

पिंगल—वि० [सं०] (१) पीला। पीत। (२) भूरापन लिए लाल। दीपशिखा के रंग का। तामड़ा। (३) भूरापन लिए पीला। सुंघनी रंग का। ऊदे रंग का।

संज्ञा पुं० (१) एक प्राचीन मुनि या आचार्य्य जिन्होंने छंदःसूत्र बनाए। ये छंदःशास्त्र के आदि आचार्य्य माने जाते हैं और इनके ग्रंथ की गणना वेदांगों में है। (२) उक्त मुनि का बनाया छंदःशास्त्र। (३) छंदःशास्त्र। (४) साठ संवत्सरों में से ५१ वाँ संवत्सर। (५) एक नाग का नाम। (६) भैरव राग का एक पुत्र अर्थात् एक राग जो सबेरे गाया जाता है। (७) सूर्य्य का एक पारिपार्श्विक या गण। (८) एक निधि का नाम। (९) बंदर। कपि। (१०) अग्नि। (११) नकुल। नेवला। (१२) एक यज्ञ का नाम। (१३) एक पर्वत का नाम। (१४) भारत के उत्तर-पश्चिम में एक देश (मार्कंडेय पु०)। (१५) पीतल। (१६) हरताल। (१७) उल्लू पक्षी। (१८) उशीर। खस। (१९) रास्ना। (२०) एक प्रकार का फनदार साँप।

(२१) एक प्रकार का स्थावर विष।

पिंगला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हठ योग और तंत्र में जो तीन प्रधान नाड़ियाँ मानी गई हैं उनमें से एक।

विशेष—दस नाड़ियों में से इला, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन प्रधान मानी गई हैं। शरीर के बाएँ भाग में इला, मध्य भाग में सुषुम्ना और दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी होती है। ये तीनों क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूपिणी हैं। तंत्रसार में लिखा है कि इला नाड़ी में चंद्र और पिंगला नाड़ी में सूर्य्य का निवास रहता है। जिस समय पिंगला नाड़ी कार्य्य करती है उस समय साँस दहने नथने से निकलती है। प्राणतोषिणी में बहुत से कार्य्य गिनाए गए हैं जो यदि पिंगला नाड़ी के कार्य्यकाल में किए जायँ तो शुभ फल देते हैं—जैसे, कठिन विषयों का पठन पाठन, स्त्री-प्रसंग, नाव पर चढ़ना, सुरापान, शत्रु के नगर ढाना, पशु बेचना, जुआ खेलना, इत्यादि।

(२) लक्ष्मी का नाम। (३) गोरोचन। (४) शीशम का पेड़। (५) एक चिड़िया। (६) राजनीति। (७) दक्षिण दिग्गज की स्त्री। (८) एक वेश्या का नाम जिसकी कथा भागवत में इस प्रकार है। विदेह नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी। उसने एक दिन एक सुंदर धनिक को जाते देखा। उसके लिये वह बेचैन हो उठी, पर वह न आया। रात भर वह उसी की चिंता में पड़ी रही। अंत में उसने विचार किया कि मैं कैसी नासमझ हूँ कि पास में कांत रहते दूर के कांत के लिये मर रही हूँ। इस प्रकार उसे यह ज्ञान हो गया कि आशा ही सारे दुःखों का मूल है। जिन्होंने सब प्रकार की आशा छोड़ दी है वे ही सुखी हैं। उसने भगवान् के चरणों में चित्त लगाया और शांति प्राप्त की। महाभारत में भी जहाँ भीष्म ने युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश किया है वहाँ इस पिंगला वेश्या का उदाहरण दिया है। सांख्यसूत्र में भी "निराशः सुखी पिंगलावत्" आया है।

पिंगलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बगला। वलाका। (२) मक्खी की जाति का एक कीड़ा जिसके काटने से जलन और सूजन होती है (सुश्रुत)।

पिंगलित-वि० [सं०] पिंगल वर्ण का।

पिंगसार-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

पिंगस्फटिक-संज्ञा पुं० [सं०] गोमेदक मणि।

पिंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन। (२) हींग। (३) हलदी। (४) बंसलोचन। (५) चंडिका देवी। (६) एक रक्तवाहिनी नाड़ी।

संज्ञा पुं० [सं० पंगु] वह पुरुष जिसके पैर टेढ़े हों।

पिंगाक्ष-वि० [सं०] [स्त्री० पिंगाक्षी] जिसकी आँखें भूरी या तामड़े रंग की हों।

संज्ञा पुं० (१) शिव। (२) कुंभीर। नक्र नामक जल-जंतु। नाक। (३) बिल्ली।

पिंगाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुमार की अनुचरी एक मातृका।

पिंगाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली जिसे बंगाल में पांगाश कहते हैं। (२) गाँव का मुखिया या चौधरी। (३) चोखा सोना।

पिंगाशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पेड़।

पिंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शमी का पेड़।

पिंगूरा-संज्ञा पुं० [हिं० पेंग] रस्सियों के आधार पर टँगा हुआ खटोला जिस पर बच्चों को सुलाकर इधर से उधर झुलाते हैं। झूला पालना।

पिंगेक्षण-संज्ञा पुं० दे० "पिंगाक्ष"।

पिंगेश-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक नाम।

पिंज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बल। (२) वध। (३) एक प्रकार का कपूर।

वि० व्याकुल।

पिंजक-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

पिंजट-संज्ञा पुं० [सं०] आँख का मल। कीचड़।

पिँजड़ा-संज्ञा पुं० दे० "पिंजरा"।

पिंजन-संज्ञा पुं० [सं०] वह धनुष् या कमान जिससे धुनिए रूई धुनते हैं। धुनकी।

पिंजर-वि० [सं०] (१) पीला। पीतवर्ण का। (२) भूरापन लिए लाल रंग का। (३) ललाई या भूरापन लिए पीला। सुँघनिया ऊदे रंग का।

संज्ञा पुं० (१) पिंजड़ा। (२) शरीर के भीतर का हड्डियों का ठट्ठर। पंजर। (३) हरताल। (४) सोना। (५) नाग-केसर। (६) भूरापन लिए लाल रंग का घोड़ा।

पिंजरक-संज्ञा पुं० [सं०] हरताल।

पिँजरा-संज्ञा पुं० [सं० पंजर] लोहे, बाँस आदि की तीलियों का बना हुआ झावा जिसमें पक्षी पाले जाते हैं।

पिंजरापोल-संज्ञा पुं० [हिं० पिंजरा + पोल = फाटक] वह स्थान जहाँ पालने के लिये गाय, बैल आदि चौपाए रखे जाते हैं। पशुशाला। गोशाला।

पिंजल-वि० [सं०] जिसका चेहरा पीला या फीका पड़ गया हो। व्याकुल। घबराया हुआ।

संज्ञा पुं० (१) कुश पत्र। (२) हरताल। (३) अंबु-वेतस। जलबेंत।

पिंजली-संज्ञा स्त्री० [सं०] नोक सहित एक एक बीते के एक में बँधे हुए दो कुशों की जूरी जिसका काम श्राद्ध या होम में पड़ता है।

पिंजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी । (२) रूई ।

पिंजान–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण । सोना ।

पिंजारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] त्रायमाण नाम की श्रोषधि । गुरबियानी ।

पिंजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] रूई की पोली बत्ती जिससे कातने पर बढ़ बढ़कर सूत निकलते हैं । पूनी ।

पिंजियारा–संज्ञा पुं० [सं० पिंजिका = रूई की बत्ती] रूई श्रोटनेवाला ।

पिंजिल–संज्ञा पुं० [सं०] रूई की बत्ती ।

पिंजूष–संज्ञा पुं० [सं०] कान की मैल । खूँट ।

पिंजेट–संज्ञा पुं० [सं०] नेत्रमल । श्रांख का कीचड़ ।

पिंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई गोल द्रव्यखंड । गोल मटोल टुकड़ा । गोला । (२) कोई द्रव्यखंड । ठोस टुकड़ा । ढेला या लोंदा । लुगदा । थुवा । जैसे, मृत्तिका-पिंड, लोह-पिंड । (३) ढेर । राशि । (४) पके हुए चावल खीर श्रादि का हाथ से बाँधा हुश्रा गोल लोंदा जो श्राद्ध में पितरों को श्रर्पित किया जाता है ।

विशेष–पिता, पितामह श्रादि को पिंड दान देना पुत्रादिकों का प्रधान कर्त्तव्य माना जाता है । पिंडदान पाकर पित्रों का पुन्नाम नरक से उद्धार होता है । इसी से पुत्र नाम पड़ा । दे० "श्राद्ध" ।

यौ०—पिंडदान । सपिंड ।

(५) भोजन । श्राहार । जीविका । (६) शरीर । देह ।

मुहा०—**पिंड छोड़ना** = साथ न लगा रहना या संबंध न रखना । तंग न करना । **पिंड पड़ना** = पीछे पड़ना ।

पिंडकंद–संज्ञा पुं० [सं०] पिंडालु ।

पिंडक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बोल । मुर मक्की । (२) शिलारस । (३) पिंडालू ।

पिंडकर्कटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] विलायती पेठा ।

पिंडका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मसूरिका रोग । छोटी चेचक ।

पिँडकी–संज्ञा स्त्री० दे० "पंडुकी" ।

पिंडखजूर–संज्ञा स्त्री० [सं० पिंडखर्जूर] एक प्रकार की खजूर जिसके फल मीठे होते हैं । इन फलों का गुड़ भी बनता है । खरक । सेंधी । विशेष—दे० "खजूर" ।

पिंडगोल–संज्ञा पुं० [सं०] गंधरस ।

पिंडज–संज्ञा पुं० [सं०] सब श्रंगों के बनने पर गर्भ से सजीव निकलनेवाला जंतु, जैसे, चमगादर, नेवला, कुत्ता, बिल्ली, बैल, मनुष्य इत्यादि । वह जंतु जो गर्भ से श्रंडे के रूप में न निकले, बने बनाए शरीर के रूप में निकले ।

पिंडतैलक–संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस ।

पिंडद–संज्ञा पुं० [सं०] पिंडा देनेवाला ।

पिंडदान–संज्ञा पुं० [सं०] पितरों को पिंड देने का कर्म जो श्राद्ध में किया जाता है ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पिंडपात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिंडदान । (२) भिक्षादान ।

पिंडपाद–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी ।

पिंडपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रशोक का फूल । (२) जपापुष्प । श्रड़हुल । देवी फूल । (३) तगर का फूल ।

पिंडपुष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] बथुश्रा शाक ।

पिंडफल–संज्ञा पुं० [सं०] कद्दू ।

पिंडफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] कड़ुई तूँबी । कड़ुश्रा घीश्रा । तितलौकी ।

पिंडबीजक–संज्ञा पुं० [सं०] कनेर का पेड़ ।

पिंडमुस्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

पिंडमूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाजर । (२) शलजम ।

पिंडरी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "पिँडली" ।

पिंडरोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोग जो शरीर में घर किए हो । (२) कोढ़ ।

पिंडरोगी–वि० [सं०] रुग्ण शरीर का ।

पिंडली–संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड] टाँग का ऊपरी पिछला भाग जो मांसल होता है । घुटने के पीछे के गट्ठे से नीचे का भाग जिसमें चढ़ाव उतार होता है ।

मुहा०—**पिंडली हिलना** = पैर थर्राना । भय से कँपकँपी होना ।

पिंडलेप–संज्ञा पुं० [सं०] पिंडदान में पिंड का एक विशेष भाग जो वृद्ध पितामह श्रादि तीन पुरखों को दिया जाता है ।

पिंडलोप–संज्ञा पुं० [सं०] पिंड देनेवाले वंशजों का लोप । निर्वंश ।

पिंडवाही–संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार का कपड़ा । उ०—पठवहिं चीर श्रानि सब छोरी । सारी कंचुकि पहिरि पटोरी । फुँदिया श्रौर कंसिया राती । छायल पिंड़वाही गुजराती ।—जायसी ।

पिंडस–संज्ञा पुं० [सं०] भिक्षा द्वारा निर्वाह करनेवाला ।

पिंडा–संज्ञा पुं० [सं० पिंड] [स्त्री० अल्प० पिंडी] (१) ठोस या गीली वस्तु का टुकड़ा । (२) गोल मटोल टुकड़ा । ढेला या लोंदा । लुगदा । जैसे, श्राटे का पिंडा, तंबाकू या मिट्टी का पिंडा । (३) मधु, तिल मिली हुई खीर श्रादि का गोल लोंदा जो श्राद्ध में पितरों को श्रर्पित किया जाता है ।

क्रि० प्र०—देना ।

यौ०–पिंडा पानी ।

मुहा०—**पिंडा पानी देना** = श्राद्ध और तर्पण करना ।

(४) शरीर । देह ।

मुहा०—**पिंडा फीका होना** = जी अच्छा न होना । तबियत खराब होना । **पिंडा धोना** = स्नान करना । नहाना ।

(५) स्त्रियों की गुप्तेंद्रिय । धरन ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की कस्तूरी । (२) वंशपत्री । (३) इसपात । (४) हलदी ।

ंडाकार-वि० [सं०] गोल बँधे हुए लोंदे के आकार का । गोल ।

ंडात-संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस ।

ंडान्वाहार्य्यक-संज्ञा पुं० [सं०] एक श्राद्ध जो पितृपिंडयज्ञ के उपरांत होता है ।

डापा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ीहिंगु ।

डायस-संज्ञा पुं० [सं०] इसपात ।

डार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का फल । शाक । (२) क्षपणक । (३) गोप । भैंस का पिंडारा । चरवाहा । (४) विकंकत वृक्ष ।

डारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम । (२) वसुदेव और रोहिणी के एक पुत्र का नाम । (३) एक पवित्र नद का नाम । (४) एक प्राचीन तीर्थ जो गुजरात में समुद्रतट से कोस भर पर है । इसका उल्लेख महाभारत, स्कंदपुराण और लिंगपुराण में है । कहा जाता है कि इस तीर्थ में स्नान करके पांडव गोहत्या से छूटे थे ।

डारा-संज्ञा पुं० [सं० पिंडार] एक शाक जो वैद्यक में शीतल और पित्तनाशक माना गया है ।

संज्ञा पुं० दक्षिण की एक जाति जो बहुत दिनों तक मध्यप्रदेश तथा और और स्थानों में लूटपाट किया करती थी । दे० "पिंडारी" ।

डारी-संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण की एक जाति जो पहले कर्णाट, महाराष्ट्र आदि में बसती थी, और खेती करती थी, पीछे अवसर पाकर लूट मार करने लगी और मुसलमान हो गई । मुसलमानों से पिंडारियों में यह भेद है कि ये गोमांस नहीं खाते और देवताओं की पूजा और व्रत उपवास आदि करते हैं । पिंडारी लोग बहुत दिनों तक मरहटों की सेवा में थे और लूट पाट में उनका साथ देते थे, यहाँ तक कि पानीपत की लड़ाई में मरहटों की सेना में उनके दो सरदार अठारह हजार सवारों के साथ थे । पीछे मध्यप्रदेश में बसकर पिंडारी चारों ओर घोर लूटपाट करने लगे और प्रजा इनके अत्याचारों से तंग आ गई । जब सन् १८०० के पीछे ये अँगरेजी राज्य में भी उपद्रव करने लगे तब लार्ड हेस्टिंग्ज ने सेनाएँ भेजकर इनका दमन किया ।

डालू-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड + आलु] (१) एक प्रकार का कंद या सकरकंद जिसके ऊपर कड़े कड़े सूत से होते हैं । यह खाने में भी मीठा होता है और उबालकर खाया जाता है । सुथनी पिंडिया । (२) एक प्रकार का शफतालू या रतालू ।

डाहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाड़ी हिंगु ।

पिंडिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा पिंड । पिंडी । छोटा गोल मटोल टुकड़ा । (२) छोटा ढेला या लोंदा । लुगदी । (३) पहिए के बीच का वह गोल भाग जिसमें धुरी पहनाई रहती है । चक्रनाभि । (४) पिंडली । (५) श्वेताम्लिका । इमली । (६) वह पिंडी जिस पर देवमूर्ति स्थापित की जाती है । वेदी ।

पिंडित-वि० [सं०] (१) पिंड के रूप में बँधा हुआ । दबाकर घनीभूत किया हुआ । (२) पिंडी के रूप में लपेटा हुआ । संहत । (३) गुणित । गुणा किया हुआ । (४) शिलारस । (५) काँसा । (६) गणित ।

पिंडनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराजिता लता ।

पिंड़िया-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंडिक] (१) गीली भुरभुरी वस्तु का मुट्ठी से बाँधा हुआ लंबोतरा टुकड़ा । लंबोतरी पिंडी । जैसे, मिठाई की पिंड़िया, अचार की पिंड़िया ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

(२) गुड़ की लंबोतरी भेली । मुट्ठी । (३) लपेटे हुए सूत, सुतली या रस्सी का छोटा गोला ।

क्रि० प्र०—करना ।—बनाना ।

पिंडरिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ । (२) चौलाई का शाक ।

पिंडिल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेतु । (२) गणक ।

पिंडिला-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी ।

पिंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ठोस या गीली वस्तु का छोटा गोल मटोल टुकड़ा । छोटा ढेला या लोंदा । लुगदी । जैसे, आटे की पिंडी, तंबाकू की पिंडी ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

(२) गीली या भुरभुरी वस्तु का मुट्ठी में दबाकर बाँधा हुआ लंबोतरा टुकड़ा । जैसे, खाँड़ की पिंडी, गुड़ की पिंडी । (३) चक्रनेमि । पिंडिका । (४) घीया । कद्दू । लौकी । (५) पिंड खजूर । (६) एक प्रकार का तगर फूल । हजारा तगर । (७) वेदी जिस पर बलिदान किया जाता है । (८) कसकर लपेटे हुए सूत, रस्सी आदि का गोल लच्छा ।

क्रि० प्र०—करना ।

पिंडीतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदन वृक्ष । मैनफल । (२) पिंडी तगर । हजारा तगर ।

पिंडीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] अशोक वृक्ष ।

पिंडीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनार । (२) समुद्रफेन ।

पिंडीशूर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर ही में बैठे बैठे बहादुरी दिखलानेवाला । बाहर आकर कुछ न कर सकनेवाला । (२) खाने में बहादुर । पेटू ।

पिंडुरी, पिंडुली*†-संज्ञा स्त्री० दे० "पिंडली" ।

पिंडोल–संज्ञा स्त्री० [सं० पांडु] पीली मिट्टी । पोतनी मिट्टी ।

पिंडोलि–संज्ञा स्त्री० [सं०] थाली या पत्तल पर का अन्न जो खाने से बचा हो । जूठन ।
संज्ञा पुं० ऊँट ।

पिंशन–संज्ञा स्त्री० दे० "पेनशन" ।

पिअ–वि० दे० "प्रिय" ।
संज्ञा पुं० दे० "पिय" ।

पिअना †–क्रि० स० दे० "पीना" ।

पिअर‡–वि० दे० "पीला" ।

पिअरवा‡–वि० दे० "प्यारा" ।
संज्ञा पुं० दे० "पति" ।

पिअराई*†–संज्ञा स्त्री० [सं० पीत] पीलापन ।

पिअरिया†–संज्ञा पुं० [हिं० पिअर = पीला+इया (प्रत्य०)] पीले रंग का बैल जो बहुत मजबूत और तेज चलनेवाला होता है ।

पिअरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीली] (१) हल्दी के रंग से रँगी हुई वह धोती जो विवाह के समय में वर वा वधू को पहनाई जाती है । (२) इसी प्रकार पीली रँगी हुई वह धोती जो प्रायः देहाती स्त्रियाँ गंगाजी को चढ़ाती हैं ।
क्रि० प्र०—चढ़ाना ।
वि० स्त्री० दे० "पीली" । उ०—पिअरी झीनी झँगूली साँवरे शरीर खुली बालकदामिनी ओढ़ी मानो वारे बारिधर ।—तुलसी ।

पिआज–संज्ञा पुं० दे० "प्याज" ।

पिआना†–क्रि० स० दे० "पिलाना" ।

पिआनो–संज्ञा पुं० दे० "पिआनो" ।

पिआर†–संज्ञा पुं० दे० "प्यार" ।

पिआरा†–वि० दे० "प्यारा" ।

पिआस†–संज्ञा स्त्री० दे० "प्यास" ।

पिआसा†–वि० दे० "प्यासा" ।

पिउ–संज्ञा पुं० [सं० प्रिय] पति । खाविंद ।

पिउनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "पूनी" ।

पिक–संज्ञा पुं० [सं०] कोयल । कोकिल ।
यौ०—पिकबंधुर । पिकबल्लभ ।
विशेष—मीमांसा के भाष्यकार शबर स्वामी ने पिक, तामरस, नेम आदि कुछ शब्दों को म्लेच्छ भाषा से गृहीत बतलाया है ।

पिकप्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा जामुन ।

पिकबंधु, पिकबंधुर–संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकराग–संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकवल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़ ।

पिकांग–संज्ञा पुं० [सं०] चातक पक्षी ।

पिकाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] ताल-मखाना ।

पिकानंद–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु ।

पिकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कोयल ।

पिकेक्षण–संज्ञा स्त्री० [सं०] ताल-मखाना ।

पिघलना–क्रि० अ० [सं० प्र+गलन] (१) ताप के कारण किसी घन पदार्थ का द्रव रूप में होना । गरमी से किसी चीज का गलकर पानी सा हो जाना । द्रवीभूत होना । जैसे, मोम पिघलना, राँगा पिघलना, घी पिघलना । (२) चित्त में दया उत्पन्न होना । किसी की दशा पर करुणा उत्पन्न होना । पसीजना । जैसे, महीनों तक प्रार्थना करने पर अब वे कुछ पिघले हैं ।

पिघलाना–क्रि० स० [हिं० पिघलना का प्रे०] (१) किसी कड़े पदार्थ को गरमी पहुँचाकर द्रव रूप में लाना । किसी चीज को गरमी पहुँचाकर पानी के रूप में लाना । (२) किसी के मन में दया उत्पन्न करना । दयार्द्र करना ।

पिचक†–संज्ञा स्त्री० दे० "पिचकारी" ।

पिचकना–क्रि० अ० [सं० पिच्च = दबना] किसी फूले या उभरे हुए तल का दब जाना । जैसे, गाल पिचकना । गिरने के कारण लोटे का पिचकना ।

पिचकवाना–क्रि० स० [हिं० पिचकाना का प्रे०] पिचकाने का काम दूसरे से कराना । किसी दूसरे को पिचकाने में प्रवृत्त करना ।

पिचका†–संज्ञा पुं० [हिं० पिचकना] बड़ी पिचकारी ।

पिचकाना–क्रि० स० [हिं० पिचकना का प्रे०] फूले या उभरे हुए तल को भीतर की ओर दबाना ।

पिचकारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचकना] एक प्रकार का नलदार यंत्र जिसका व्यवहार जल या किसी दूसरे तरल पदार्थ को (नल में) खींचकर जोर से किसी ओर फेंकने में होता है ।
विशेष—पिचकारी साधारणतः बाँस, शीशे, लोहे, पीतल, टीन आदि पदार्थों की बनाई जाती है । इसमें एक लंबा खोखला नल होता है जिसमें एक ओर बहुत महीन छेद होता है और दूसरी ओर का मुँह खुला रहता है । इस नल में एक डाट लगा दी जाती है जिसके ऊपर उसे आगे पीछे हटाने या बढ़ाने के लिये दस्ते समेत कोई छड़ लगी रहती है । जब पिचकारी का बारीक छेदवाला सिरा पानी अथवा किसी दूसरे तरल पदार्थ में रखकर दस्ते की सहायता से भीतरवाली डाट को ऊपर की ओर खींचते हैं तब नीचे के बारीक छेद में से तरल पदार्थ उस नल में भर जाता है और जब पीछे से उस डाट को दबाते हैं तब नल में भरा हुआ तरल पदार्थ जोर से निकलकर कुछ दूरी पर जा गिरता है । साधारणतः इसका प्रयोग

होलियों में रंग अथवा महफिलों में गुलाब-जल आदि छोड़ने के लिये होता है परंतु आजकल मकान आदि धोने और आग बुझाने के लिये बड़ी बड़ी पिचकारियों और जख्म आदि धोने के लिये छोटी पिचकारियों का भी उपयोग होने लगा है। इसके अतिरिक्त इधर एक ऐसी पिचकारी चली है जिसके आगे एक छेददार सूई लगी होती है। इस पिचकारी की सूई को शरीर के किसी अंग में जरा सा चुभाकर अनेक रोगों की औषधों का रक्त में प्रवेश भी कराया जाता है।

क्रि० प्र०—चलाना।—छोड़ना।—देना।—मारना। —लगाना।

मुहा०—**पिचकारी छूटना या निकलना** = किसी स्थान से किसी तरल पदार्थ का बहुत वेग से बाहर निकलना। जैसे, सिर से लहू की पिचकारी छूटना। **पिचकारी छोड़ना** = किसी तरल पदार्थ को वेग से पिचकारी की भाँति बाहर निकालना। जैसे, पान खाकर पीक की पिचकारी छोड़ना।

पिचकी*†-संज्ञा स्त्री० दे० "पिचकारी"।

पिचपिचा-वि० दे० "चिपचिपा"।

पिचपिचाना-क्रि० अ० [अनु०] घाव या किसी और चीज में से बराबर थोड़ा थोड़ा पदार्थ रसना। पानी निकलना।

पिचपिचाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचपिचाना] गीले वा आर्द्र रहने का भाव। पिचपिचाने का भाव।

पिचरिया†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचलना] एक प्रकार का छोटा कोल्हू जिसकी कोठी बहुत छोटी होती है।

पिचलना†-क्रि० अ० दे० "कुचलना"।

पिचवय*-संज्ञा पुं० [?] वटवृक्ष। (डिं०)

पिचु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुई। (२) एक प्रकार का कोढ़। (३) एक तौल जो दो तोले के बराबर होती है। (४) एक असुर का नाम।

पिचुक-संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल का वृक्ष।

पिचुकिया†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिचकी] (१) छोटी पिचकारी। (२) वह गुझिया (कवा) जिसमें केवल गुड़ और सोंठ भरी जाती है।

पिचुक्का†-संज्ञा पुं० [हिं० पिचकना] (१) पिचकारी। (२) गोलगप्पा।

पिचुमर्द-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का पेड़।

पिचुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झाऊ का पेड़ (डिं०)। (२) समुद्रफल। (३) रूई। (४) गोताखोर।

पिचू-संज्ञा पुं० [?] १६ माशे की तौल। कर्ष।

पर्या०—अक्ष। तिंदुक। विडाल। परडक। सुवर्ण। हंसपद। उदुंबर।

पिचूका-संज्ञा पुं० दे० "पिचुक्का"।

पिचोतरसो-संज्ञा पुं० [सं० पंचोत्तरशत] एक सौ पाँच की संख्या। सौ और पाँच। (पहाड़ा)।

पिच्चर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार आँख का एक रोग। (२) सीसा। राँगा।

पिच्चित-वि० [सं० पिच्च = दबना, पिचकना] पिचका हुआ। दबा हुआ। जो दबकर चिपटा हो गया हो।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्तु जो दबकर पिचक गई हो, चिपटी हो गई हो। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का घाव या क्षत। यह शरीर के किसी भाग पर किसी भारी वस्तु की चोट लगने अथवा दाब पड़ने के कारण होता है। जो स्थान दबता है वह फैलकर चिपटा हो जाता है और प्रायः उस स्थान की हड्डी की भी यही दशा होती है, त्वचा कट जाती है और कटा हुआ भाग रुधिर और मज्जा से चिपचिपा बना रहता है।

पिच्ची-वि० दे० "पिच्चित"।

पिच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पशु की पूँछ। ऐसी पूँछ जिस पर बाल हों। लांगूल। (२) मोर की पूँछ। मयूर-पुच्छ। (३) मोर की चोटी। चूड़ा। (४) मोचरस।

पिच्छक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लांगूल। पूँछ। (२) मोचरस।

पिच्छतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शीशम। शिंशिपा।

पिच्छन-संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु को अत्यंत दबाना। दबाकर चिपटा करने की क्रिया। अत्यंत पीड़न।

पिच्छपाद-संज्ञा पुं० [सं०] पैरों में होनेवाला एक रोग।

पिच्छपादी-वि० [सं० पिच्छपादिन्] जिसको पिच्छपाद हो गया हो। पिच्छपाद रोगयुक्त (घोड़ा)।

पिच्छबाण-संज्ञा पुं० [सं०] बाज। श्येन।

पिच्छभार-संज्ञा पुं० [सं०] मोर की पूँछ।

पिच्छल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोचरस। (२) आकास-बेल। आकाशवल्ली। (३) शीशम। शिंशिपा वृक्ष। (४) वासुकि के वंश का एक सर्प।

वि० जिस पर से पैर रपट या फिसल जाय। रपटनवाला। चिकना।

वि० दे० "पिछला"।

पिच्छलच्छदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेर। बदरीवृक्ष। (२) पोय। उपोदकी शाक।

पिच्छलदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पिच्छलच्छदा"।

पिच्छा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोचरस। (२) सुपारी। पुंगवृक्ष। (३) शीशम। (४) नारंगी का वृक्ष। (५) निर्मली का पेड़। (६) आकाशलता। आकाशबेल। (७) पिच्छलपाद। (८) भात या चावल का माँड़।

पिच्छिलपाद–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के पैर में होनेवाला रोग ।

पिच्छिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चँवर । चामर । (२) ऊन की चँवरी जो जैनी साधु अपने पास रखते हैं । (३) मोरछल ।

पिच्छितिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] शीशम ।

पिच्छिल–वि० [सं०] [स्त्री० पिच्छिला] (१) सरस और स्निग्ध (पदार्थ) । गीला और चिकना । (२) फिसलनेवाला । जिस पर कोई वस्तु ठहर न सके । जिस पर पड़ने से पैर रपटे । (३) चावल के मांड़ से चुपड़ा हुआ । (४) चूड़ायुक्त (पक्षी) । जिसके सिर पर चूड़ा हो । (५) खट्टा, कोमल, फूला हुआ और कफकारी (पदार्थ) । (वैद्यक) संज्ञा पुं० (१) लसोड़ा । श्लेष्मांतक । (२) स्निग्ध सरस व्यंजन (दाल कढ़ी आदि) ।

पिच्छिलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोचरस । (२) धामिन का पेड़ ।

पिच्छिलच्छदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बेर । बदरी वृक्ष । (२) पोय । उपोदकी शाक ।

पिच्छिलत्वक्, पिच्छिलत्वच्–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारंगी का पेड़ । (२) धामिन का पेड़ ।

पिच्छिलदला–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पिच्छिलच्छदा" ।

पिच्छिलवस्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] निरूढ़वस्ति का एक भेद । विशेष–दे० "निरूढ़वस्ति" ।

पिच्छिलसार–संज्ञा पुं० [सं०] "मोचरस" ।

पिच्छिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई । (२) शीशम । (३) सेमल । शाल्मली वृक्ष । (४) तालमखाना । कोकिलाक्ष । (५) वृश्चिकाली जड़ी । वृश्चिकाक्षुप । (६) शूली घास । (७) अगर । (८) अलसी । (९) अरवी ।

वि० दे० "पिच्छिल" ।

पिछड़ना–क्रि० अ० [हिं० पिछाड़ी + ना (प्रत्य०)] (१) पीछे रह जाना । साथ साथ, बराबर या आगे न रहना । (२) श्रेणी में आगे या बराबर न रहना ।

संयो० क्रि०-जाना ।

पिछलगा–संज्ञा पुं० [हिं० पीछे + लगना] (१) वह मनुष्य जो किसी के पीछे पीछे चले । अधीन । आश्रित । (२) वह आदमी जो अपने स्वतंत्र विचार या सिद्धांत न रखता हो बल्कि सदा किसी दूसरे के विचारों या सिद्धांतों के अनुसार काम करे । किसी का मतानुयायी । अनुवर्ती । अनुगामी । शिष्य । शागिर्द । चेला । (३) सेवक । नौकर । खिदमतगार ।

पिछलगी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिछलगा] दे० "पिछलगा" । पिछलगा होने का भाव । अनुयायी होना । अनुगमन करना । अनुवर्त्तन । अनुसरण ।

पिछलगू†–संज्ञा पुं० दे० "पिछलगा" ।

पिछलग्गू†–संज्ञा पुं० दे० "पिछलगा" ।

पिछलना†–क्रि० अ० [हिं० पीछा] पीछे की ओर हटना या मुड़ना । (क्व०)

पिछलपाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा + पाई = पैरवाली] (१) चुड़ैल ।

विशेष—चुड़ैलों के संबंध में लोगों की धारणा है कि इनके पैरों में ऐड़ी आगे और पंजे पीछे की ओर होते हैं । (२) जादूगरनी ।

पिछला–वि० [हिं० पीछा] [स्त्री० पिछली] (१) जो किसी वस्तु की पीठ की ओर पड़ता हो । पीछे की ओर का । "अगला" का उलटा । जैसे, (क) इस मकान का पिछला हिस्सा कुछ कमजोर है । (ख) इस घोड़े की पिछली दोनों टाँगें खराब हैं । (२) जो घटना, स्थिति आदि के क्रम में किसी के अथवा सबके पीछे पड़ता हो । जिसके पहले या पूर्व में कुछ और हो या हो चुका हो । बाद का । अनंतर का । पहला का उलटा । जैसे, अभियुक्त ने अपना पहला बयान तो वापस ले लिया, लेकिन पिछले को ज्यों का त्यों रखा है । (३) किसी वस्तु के उत्तर भाग से संबंध रखनेवाला । अंत के भाग या अर्द्धांश का । पश्चाद्वर्ती । अंत की ओर का । जैसे, (क) इस पुस्तक के पिछले प्रकरण अधिक उपादेय हैं । (ख) अपने पिछले प्रयत्नों में उन्हें वैसी सफलता नहीं हुई जैसी पहले प्रयत्नों में हुई थी ।

मुहा०—पिछला पहर = दो पहर या आधी रात के बाद का समय । दिन अथवा रात का उत्तर काल । पिछली रात = रात्रि का उत्तर काल । रात में आधी रात के बाद का समय ।

(४) बीता हुआ । गत । जो भूत काल का विषय हो गया हो । पुराना । गुजरा हुआ । जैसे, पिछली बातों को भूल जाना ही अच्छा होगा । (५) सबसे निकटस्थ भूत काल का । उस भूत काल का जो वर्त्तमान के ठीक पहले रहा हो । गत बातों में से अंतिम या अंत की ओर का । जैसे, पिछले साल आदि ।

मुहा०—पिछला दिन = वह दिन जो वर्त्तमान से एक दिन पहले बीता हो । पिछली रात = कल की रात । आज से एक दिन पहले बीती हुई रात । गत रात्रि ।

संज्ञा पुं० (१) पिछले दिन पढ़ा हुआ पाठ । एक दिन पहले पढ़ा हुआ पाठ । आमोख्ता । जैसे, तुमको अपना पिछला दुहराने में देर लगती है ।

क्रि० प्र०—दुहराना ।

(२) वह खाना जो रोजे के दिनों में मुसलमान लोग कुछ रात रहते खाते हैं । सहरी ।

पिछवाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] पीछे की ओर लटकाने का परदा ।

पिछवाड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० पीछा + वाड़ा (प्रत्य०)] (१) किसी मकान का पीछे का भाग। घर का पृष्ठभाग। घर का वह भाग जो मुख्य द्वार की विरुद्ध दिशा में हो। (२) घर के पीछे का स्थान या जमीन। किसी मकान के पृष्ठ-भाग से मिली हुई जमीन। घर की पीठ की ओर का खाली स्थान।

पिछवारा-संज्ञा पुं० दे० "पिछवाड़ा"।

पिछाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछा] (१) पिछला भाग। पीछे का हिस्सा। पृष्ठ भाग। (२) पंक्ति में सबसे अंत का व्यक्ति। (३) वह रस्सी जिससे घोड़े के पिछले पैर बाँधते हैं।

क्रि० प्र०—लगाना।—बाँधना।

पिछान†-संज्ञा स्त्री० दे० "पहचान"।

पिछानना*-क्रि० स० दे० "पहचानना"। उ०—छला परोसिनि हाथ तें छल करि लियो पिछानि।—बिहारी।

पिछारी-संज्ञा स्त्री० दे० "पिछाड़ी"।

पिछौंड़†-वि० [हिं० पीछे + औंड़ (प्रत्य०)] जिसने अपना मुँह पीछे कर लिया हो। किसी के मुँह की ओर जिसकी पीठ पड़ती हो। किसी वस्तु को न देखता हुआ।

पिछौंड़ा†-क्रि० वि० [हिं० पीछा + औंड़ा (प्रत्य०)] पीछे की ओर।

पिछौंता†-क्रि० वि० [हिं० पीछा + औंता] पीछे की ओर।

पिछौंहा†-संज्ञा स्त्री० दे० "पिछौरी"।

पिछौंहैं*†-क्रि० वि० [हिं० पीछा] पीछे की ओर। पीछे की ओर से। उ०—कहै पदमाकर पिछौंहैं आय आदर से छलिया छबीलो छैल बासर बितै बितै।—पद्माकर।

पिछौरा†-संज्ञा पुं० [सं० पक्षपट, प्रा० पच्छवड़, हिं० पछेवड़ा] मरदाना दुपट्टा। पुरुषों की चादर।

पिछौरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिछौरा] (१) स्त्रियों का वह वस्त्र जिसे वे सबसे ऊपर ओढ़ती हैं। स्त्रियों की चादर। (२) ओढ़ने का वस्त्र। कोई कपड़ा जो ऊपर से डाल लिया जाय।

पिटंकोकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रायन। इंद्रवारुणी।

पिटंत-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना + अंत (प्रत्य०)] पीटने की क्रिया या भाव। मारपीट। मारकूट।

पिटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिटारा। (२) फुड़िया। फुंसी। (३) आभूषण जो ध्वजा में लगाया जाता है। (४) किसी ग्रंथ का एक भाग। ग्रंथ-बिभाग। खंड। हिस्सा। जैसे, त्रिपिटक = तीन भागोंवाला (बौद्ध) ग्रंथ।

पिटका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिटारी। (२) फुंसी।

पिटना-क्रि० अ० [हिं० पीटना] (१) मार खाना। ठोंका जाना। आघात सहना। उ०—पाछे पर न कुसंग के पदमाकर यहि डीठ। पर धन खात कुपेट ज्यों पिटत बिचारी पीठ।—पद्माकर। (२) बजना। आघात पाकर आवाज करना। जैसे, डौंड़ी पिटना, ताली पिटना आदि।

†संज्ञा पुं० [हि० पीटना] वह औजार जिससे किसी वस्तु को विशेषतः चूने आदि की बनी हुई छत को राज लोग पीटते हैं। पीटने का औजार। थापी।

पिटपिट-संज्ञा स्त्री० [अनु०] पिट पिट शब्द। किसी छोटी वस्तु के गिरने का या हलके आघात का शब्द।

पिटरिया†-संज्ञा स्त्री० दे० "पिटारी"।

पिटवाना-क्रि० स० [हिं० पीटना] (१) किसी के पिटने या मारे जाने का कारण होना। अन्य के द्वारा किसी पर आघात कराना। ठोंकवाना। कुटवाना। मार खिलवाना। (२) बजवाना। जैसे, डौंडी पिटवाना। (३) पीटने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को पीटने में प्रवृत्त करना।

पिटाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना] (१) पीटने का काम या भाव। जैसे, छत की पिटाई। (२) आघात। प्रहार। मार। मारकूट। (३) पीटने की मजदूरी। (४) मारने का पुरस्कार। (५) पिटवाने की मजदूरी।

पिटापिट †-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीटना] मारपीट। मारकूट। किसी वस्तु को कुछ समय तक बराबर पीटना। जैसे, वहाँ खूब पिटापिट मची रही।

पिटारा-संज्ञा पुं० [सं० पिटक] [स्त्री० पिटारी] बाँस, बेंत, मूँज आदि के नरम छिलकों से बना हुआ एक प्रकार का बड़ा संपुट या ढकनेदार पात्र। झाँपा जिसका घेरा गोल, तल बिलकुल चिपटा और ढकना ढालुवाँ गोल अथवा बीच में उठा हुआ होता है। पहले इसका व्यवहार बहुत था, पर तरह तरह के ट्रंकों के प्रचार के कारण इसका व्यवहार घटता जाता है। बाँस आदि की अपेक्षा मूँज और बेंत का पिटारा अधिक मजबूत होता है। मजबूती के लिये अकसर इसको चमड़े या किसी मोटे कपड़े से मढ़वा देते हैं। आजकल लोहे के पतले गोल तारों से भी पिटारे बनते हैं।

पिटारी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिटारा का स्त्री० और अल्प०] (१) छोटा पिटारा। झाँपो। (२) पान रखने का बरतन। पानदान।

मुहा०—पिटारी का खर्च = (१) वह धन जो स्त्रियों को पान के खर्चे के लिये दिया जाय। पानदान का खर्च। (२) वह धन जो किसी स्त्री को व्यभिचार से प्राप्त हो। व्यभिचार की कमाई।

पिट्टक-संज्ञा पुं० [सं०] दाँत की मैल।

पिट्टस–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिटना + स (प्रत्य०)] शोक या दुःख से छाती पीटने की क्रिया। (स्त्री०)।

मुहा०—पिट्टस पड़ना या मचना=शोक या दुःख में छाती पीटा जाना। रोना धोना होना। हाय हाय मचना। जैसे, यह खबर सुनते ही वहाँ पिट्टस पड़ गई।

पिट्टू–वि० [हिं० पीटना] जो प्रायः पीटा जाय। मार खाने का अभ्यस्त।

पिट्ठी–संज्ञा स्त्री० दे० "पीठी"।

पिट्ठू–संज्ञा पुं० [हिं० पिठ + ऊ (प्रत्य०)] (१) पीछे चलनेवाला। पिछलगा। अनुयायी। (२) सहायक। मददगार। पृष्ठपोषक। हिमायती। (३) किसी खिलाड़ी का वह कल्पित साथी जिसकी बारी में वह स्वयं खेलता है।

विशेष—जब दोनों पक्षों के खेलाड़ियों की संख्या बराबर नहीं होती तब न्यूनसंख्यक पक्ष के एक दो खिलाड़ी अपने अपने साथ एक एक पिट्ठू मान लेते हैं और अपनी बारी खेल चुकने पर दूसरी बार उस पिट्ठू की बारी लेकर खेलते हैं। (४) खेल में साथ रहनेवाला। एक साथ मिलकर खेलनेवाला।

पिठर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोथा। मुस्तक। (२) मथानी। मथनदंड। (३) थाली। (४) एक प्रकार का घर। (५) एक अग्नि। (६) एक दानव।

पिठरक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) थाली। (२) एक नाग का नाम।

पिठरपाक–संज्ञा पुं० [सं०] भिन्न भिन्न परमाणुओं के गुणों में तेज के संयोग से फेरफार होना। जैसे, घड़े का पककर लाल होना।

पिठरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] थाली।

पिठरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) थाली। (२) राजमुकुट।

पिठवन–संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठपर्णी] एक प्रसिद्ध लता जो औषध के काम आती है। पिठौनी। पृष्ठिपर्णी। यह पश्चिम और बङ्गाल में अधिकता से पाई जाती है। परंतु दक्षिण में नहीं दिखाई पड़ती। इसके पत्ते छोटे, गोल गोल होते हैं और एक एक डाँड़ी में तीन तीन लगते हैं। फूल गोल और सफेद होते हैं। जड़ कम मिलने के कारण इसकी लता ही प्रायः काम में लाई जाती है। वैद्यक में इसको कटु, तिक्त, उष्ण, मधुर, क्षारक, त्रिदोषनाशक, वीर्यजनक, तथा दाह, ज्वर, श्वास, तृषा, रक्तातिसार, वमन, वातरक्त, व्रण और उन्माद आदि का नाशक लिखा है।

पर्या०—कंकशत्रु। कदला। कलशी। व्याघ्रक मेखला। क्रोष्टुक। पच्छिका। चक्रकुल्या। चक्रपर्णी। तन्वी। धमनी। दीर्घपर्णी। पृथक्पर्णी। पृश्निपर्णी। चित्रपर्णी। त्रिपर्णी। सिंहपुच्छी। गुहा। पिष्टपर्णी। लांगुली। शृगालवृंता। मेखला। लांगुलिका। ब्रह्मपर्णी। सिंहपुष्पी। अंघ्रिपर्णी। विष्णुपर्णी। अतिगुहा। घष्टिला।

पिठी–संज्ञा स्त्री० दे० "पिट्ठी"।

पिठीनस–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि।

पिठौनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "पिठवन"।

पिठौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिट्ठी + औरी (प्रत्य०)] पीठी की बनी हुई खाने की कोई चीज, जैसे, बरी, पकौरी।

पिड़क–संज्ञा पुं० [सं०] छोटा फोड़ा। फुंसी। स्फोटक।

पिड़का–संज्ञा स्त्री० [सं०] दे० "पिड़क"।

पिढ़ई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीढ़ा + अई (प्रत्य०)] (१) छोटा पीढ़ा या पाटा। (२) किसी छोटे यंत्र का आधार जो छोटे पीढ़े के समान हो। वह ढाँचा जिस पर कोई छोटा यंत्र रखा रहे, जैसे, रहँट का।

पिढ़ी†–संज्ञा स्त्री० [सं० पीठिका] (१) मचिया। (२) दे० "पीढ़ी"।

पिण्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] मालकँगनी।

पिण्याक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिल या सरसों की खली; (२) हींग। (३) शिलाजीत। (४) शिलारस। सिहलक। (५) केशर।

पितंबर–संज्ञा पुं० दे० "पीतांबर"।

पितपापड़ा–संज्ञा पुं० [सं० पर्पट] एक झाड़ या क्षुप जिसका उपयोग औषध के रूप में होता है। इसे दवनपापड़ा भी कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—एक में लाल फूल लगते हैं; दूसरे में नीले। लाल फूलवाला अधिक गुणदायक माना जाता है। वैद्यक में इसको शीतल, कडुवा, मलरोधक, वात को कुपित करनेवाला, हलका तथा भ्रम, मद, प्रमेह, तृषा, पित्त, कफ, ज्वर, रक्तविकार, अरुचि, दाह, ग्लानि और रक्त पित्त को नष्ट करनेवाला माना है।

पर्या०—पर्पट। वरतिक्त। पांशुपर्याय। कवचनामक। त्रियष्टि। तिक्त। चरक। वरक। अरक। रेणु। तृष्णारि। शीत। शीतप्रिय। पांशु। कलपांग। वर्मकंटक। कृष्णशाख। प्रगंध। सुतिक्त। रक्तपुष्पक। पित्तारि। कटुपत्र। नक्र। शीतवल्लभ।

पितर–संज्ञा पुं० [सं० पितृ, पितर] मृत पूर्वपुरुष। मरे हुए पुरखे जिनके नाम पर श्राद्ध वा जलदान किया जाता है। विशेष–दे० "पितृ (२)"।

पितरपति–संज्ञा पुं० [सं० पितृ + सं० पति] यमराज।

पितराइँध†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीतल + गंध] किसी खाद्य वस्तु के स्वाद और गंध में वह विकार जो पीतल के बरतन में अधिक समय तक रक्खे रहने से उत्पन्न हो जाय। पीतल का कसाव।

पितराई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीतल + आई (प्रत्य०)] पीतल का कसाव। पीतल का स्वाद। पितराइँध। जैसे, दही में पितराई उतर आई है।

पितरिहा†–वि० [हिं० पीतल + हा] पीतल का। पीतल का बना हुआ।

संज्ञा पुं० [हिं० पीतल] पीतल का घड़ा ।

पितससुर†-संज्ञा पुं० दे० "पितिया ससुर" ।

पिता-संज्ञा पुं० [सं० पितृ का कर्त्ता०] जन्म देकर पालन पोषण करनेवाला । बाप । जनक ।

पर्य्या०—तात । जनक । प्रसविता । वप्ता । जनयिता । गुरु । जन्य । जनित । वीजी ।

पितामह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पितामही] (१) पिता का पिता । दादा । (२) भीष्म । (३) ब्रह्मा । (४) शिव । (५) एक ऋषि जिन्होंने एक धर्मशास्त्र बनाया था ।

पितिया†-संज्ञा पुं० [सं० पितृव्य] [स्त्री० पितियानी] चचा । चाचा । बाप का भाई ।

पितियानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पितिया + नी (प्रत्य०)] चाचा की स्त्री । चची । चाची ।

पितिया ससुर-संज्ञा पुं० [हिं० पितिया + ससुर] चचिया ससुर । ससुर का भाई । स्त्री या पति का चाचा ।

पितिया सास†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पितिया + सास] चचिया सास । ससुर के भाई की स्त्री । स्त्री या पति की चाची ।

पितु*-संज्ञा पुं० दे० "पिता" ।

पितृ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "पिता" । (२) किसी व्यक्ति के मृत बाप, दादा, परदादा आदि । (३) किसी व्यक्ति का ऐसा मृत पूर्वपुरुष जिसका प्रेतत्व छूट चुका हो ।

विशेष—प्रेतकर्म्म वा अंत्येष्टि कर्म्म संबंधी पुस्तकों में माना गया है कि मरण और शवदाह के अनंतर मृत व्यक्ति को आतिवाहिक शरीर मिलता है । इसके उपरांत जब उसके पुत्रादि उसके निमित्त दशगात्र का पिंड दान करते हैं तब दश पिंडों से क्रमशः उसके शरीर के दश अंग गठित होकर उसको एक नया शरीर प्राप्त होता है । इस देह में उसकी प्रेतसंज्ञा होती है । षोडश श्राद्ध और सपिंडन के द्वारा क्रमशः उसका यह शरीर भी छूट जाता है और वह एक नया भोगदेह प्राप्त कर अपने बाप दादा और परदादा आदि के साथ पितृलोक का निवासी बनता है अथवा कर्मसंस्कारानुसार स्वर्ग नरक आदि में सुख दुःखादि भोगता है । इसी अवस्था में उसको पितृ कहते हैं । जब तक प्रेत भाव बना रहता है तब तकमृत व्यक्ति पितृ संज्ञा पाने का अधिकारी नहीं होता । इसी से सपिंडीकरण के पहले जहाँ जहाँ आवश्यकता पड़ती है प्रेत नाम से ही उसका संबोधन किया जाता है । पितरों अर्थात् प्रेतत्व से छूटे हुए पूर्वजों की तृप्ति के लिये श्राद्ध,तर्पण आदि करना पुत्रादि का कर्त्तव्य माना गया है । दे० "श्राद्ध "।

(४) एक प्रकार के देवता जो सब जीवों के आदिपूर्वज माने गए हैं ।

विशेष—मनुस्मृति में लिखा है कि ऋषियों से पितर, पितरों से देवता और देवताओं से संपूर्ण स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति हुई है । ब्रह्मा के पुत्र मनु हुए । मनु के मरीचि, अग्नि आदि पुत्रों की पुत्रपरंपरा ही देवता,दानव, दैत्य, मनुष्य आदि के मूलपुरुष या पितर हैं । विराट्पुत्र सोमसद्गण साध्यगण के; अत्रिपुत्र वर्हिषद्गण दैत्य, दानव, यक्ष, गंधर्व, सर्प,राक्षस, सुपर्ण, किन्नर और मनुष्यों के; कविपुत्र सोमपा ब्राह्मणों के; अंगिरा के पुत्र हविर्भुज क्षत्रियों के; पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा वैश्यों के और वशिष्ठपुत्र कालिन शूद्रों के पितर हैं । ये सब मुख्य पितर हैं । इनके पुत्र पौत्रादि भी अपने अपने वर्गों के पितर हैं । द्विजों के लिये देवकार्य्य से पितृकार्य का अधिक महत्त्व है । पितरों के निमित्त जलदान मात्र करने से भी अक्षय सुख मिलता है । (मनु० ३ । १९४–२०३)

पितृऋण-संज्ञा पुं० [सं०] धर्मशास्त्रानुसार मनुष्य के तीन ऋणों में से एक जिनको लेकर वह जन्म ग्रहण करता है । पुत्र उत्पन्न करने से इस ऋण से मुक्ति होती है ।

पितृक—वि० [सं०] (१) पितृसंबंधी । पिता का । पैतृक । (२) पितृदत्त । पिता का दिया हुआ ।

पितृकर्म-संज्ञा पुं० [सं० पितृकर्मन्] वह कर्म जो पितरों के उद्देश्य से किया जाय । श्राद्ध तर्पण आदि कर्म ।

पितृकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] श्राद्धादि कर्म ।

पितृकानन-संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान ।

पितृकार्य-संज्ञा पुं० "पितृकर्म" ।

पितृकुल-संज्ञा पुं० [सं०] बाप, दादा, परदादा या उनके भाई बंधुओं आदि का कुल । बाप की ओर के संबंधी । पिता के वंश के लोग ।

पितृकुल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत में वर्णित एक तीर्थस्थान ।

पितृकृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पितृकर्म । श्राद्धादि ।

पितृक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पितृकर्म । श्राद्धादि कार्य ।

पितृगण-संज्ञा पुं० [सं०] मनुपुत्र मरीचि आदि के पुत्र । दे० "पितृ (३)" ।

पितृगाथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पितरों द्वारा पठित कुछ विशेष श्लोक या गाथा । भिन्न भिन्न पुराणों के मत से ये गाथाएँ भिन्न भिन्न हैं ।

पितृगीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक विशेष गीता जिसमें पितरों का माहात्म्य दिया गया है । यह वाराह पुराण के अंतर्गत है ।

पितृगृह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाप का घर । नैहर । पीहर । मायका । (स्त्रियों के लिये) । (२) श्मशान ।

पितृग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार कार्तिकेय के उन अनुचरों में से एक जो कुछ रोगों के उत्पादक माने गए हैं ।

पितृघात-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पितृघातक, पितृघाती, पितृघ्न] बाप को मार डालना । पिता की हत्या करना ।

पितृतर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला जलदान। विशेष–दे० "तर्पण"। (२) पितृतीर्थ। (३) तिल।

पितृतिथि–संज्ञा स्त्री० [सं०] अमावास्या। (कहते हैं कि पितरों को अमावास्या बहुत प्रिय है और श्राद्ध आदि कार्य्य इसी तिथि को करने चाहिएँ, और इसी लिये इसका नाम पितृतिथि है)।

पितृतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गया। गया तीर्थ। (२) मत्स्यपुराण के अनुसार गया, वाराणसी, प्रयाग, विमलेश्वर आदि २२२ तीर्थ। (३) अँगूठे और तर्जनी के बीच का भाग जिसका उपयोग पितृकर्म में दान किया हुआ पिंड अथवा संकल्प का जल छोड़ने में होता है।

पितृत्व–संज्ञा पुं० [सं०] पिता या पितृ होने का भाव। पितृ या पिता होने की स्थिति।

पितृदान–संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के उद्देश्य से किया जानेवाला दान। वह दान जो मृत पूर्वजों के उद्देश्य से किया जाय।

पितृदाय-संज्ञा पुं० [सं०] पिता से प्राप्त धन या संपत्ति। बपौती।

पितृदिन–संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या।

पितृदेव–संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के अधिष्ठाता देवता। अग्निष्वात्तादि पितरगण।

पितृदेवत–वि० [सं०] पितृदेवता संबंधी। पितरों की प्रसन्नता के लिये किया जानेवाला (यज्ञ आदि)। (यज्ञ का अनुष्ठान) जो पितृदेवों की प्रसन्नता के लिये किया जाय।

पितृदेवत्य–वि० [सं०] पितृदेवत।

पितृदैवत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मघा नक्षत्र। (२) यम।

पितृदैवत्य–वि० [सं०] पितृदेवत।

पितृनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) अर्यमा नामक पितर जो सब पितरों में श्रेष्ठ माने जाते हैं।

पितृपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुआर या आश्विन का कृष्ण पक्ष। कुआर की कृष्ण प्रतिपदा से अमावास्या तक का समय।

विशेष—यह पक्ष पितरों को अतिशय प्रिय माना गया है। कहा जाता है कि इसमें उनके निमित्त श्राद्ध आदि करने से वे अत्यंत संतुष्ट होते हैं। इसी से इसका नाम पितृपक्ष हुआ है। प्रतिपदा से अमावास्या तक नित्य उनके निमित्त तिलतर्पण और अमावास्या को पार्वणविधि से तीन पीढ़ी ऊपर तक के मृत पूर्वजों का श्राद्ध किया जाता है। भिन्न भिन्न पूर्वजों की मृत्युतिथियों को भी उनके निमित्त इस पक्ष में श्राद्ध करते हैं। पर यह श्राद्ध एकोद्दिष्ट न होकर त्रैपुरुषिक ही होता है। इन पंद्रह दिनों में आहार और विहार में प्रायः अशौच के नियमों का सा पालन किया जाता है।

(२) पिता की ओर के लोग। पिता के संबंधी। पितृकुल।

पितृपति–संज्ञा पुं० [सं०] यम।

पितृपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों का देश। पितरों का लोक। (२) पितर होने की स्थिति या भाव। पितृत्व।

पितृपितु–संज्ञा पुं० [सं०] पितरों के पिता, ब्रह्मा।

पितृपैतामह–वि० [सं०] जिसका संबंध बाप दादों से हो। बाप दादों का।

पितृप्रसू–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दादी। बाप की माँ। पितामही। (२) संध्या।

विशेष—पितृकृत्य में संध्यागामिनी अथवा सूर्यास्त समय में वर्त्तमान तिथि ही ग्रहण की जाती है; तथा प्रेतकृत्य में संध्या माता के समान उपकार करनेवाली मानी गई है। ये ही दो उसके पितृप्रसू संज्ञा प्राप्त करने के कारण हैं।

पितृप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भँगरा। भँगरैया। भृंगराज। (२) अगस्त वृक्ष।

पितृभक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिता की भक्ति। पिता में पूज्य बुद्धि। (२) पुत्र का पिता के प्रति कर्त्तव्य।

पितृभोजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उरद। माष। (२) पितरों की भोज्य वस्तु।

पितृमेध–संज्ञा पुं० [सं०] वैदिक काल के अंत्येष्टि कर्म का एक भेद जिसमें अग्नि दान और दस पिंड दान आदि सम्मिलित होते थे और जो श्राद्ध से भिन्न होता था।

पितृयज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] तर्पणादि। पितृतर्पण।

पितृयाण–संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु के अनंतर जीव के जाने का वह मार्ग जिससे वह चंद्रमा को प्राप्त होता है। वह मार्ग जिससे जाकर मृत व्यक्ति को निश्चित काल तक स्वर्ग आदि में सुख भोगकर पुनः संसार में आना पड़ता है।

विशेष—ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयास न कर अनेक प्रकार के अग्निहोत्र आदि विस्तृत पुण्य कर्म करनेवाले व्यक्ति जिस मार्ग से ऊपर के लोकों को जाते हैं वही पितृयाण है। इसमें से जाते हुए वे पहले धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। फिर रात्रि, फिर कृष्ण पक्ष, फिर दक्षिणायन षण्मास के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। इसके पीछे पितृलोक और वहाँ से चंद्रमा को प्राप्त होते हैं। अनंतर वहाँ से पतित होकर संसार में कर्म-संस्कार के अनुसार किसी एक योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। देवयान अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपासकों के मार्ग से यह उलटा है। दे० "देवयान"।

पितृराज–संज्ञा पुं० [सं०] यम।

पितृरिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार वह योग जिसमें बालक का जन्म होने से पिता की मृत्यु होती है।

(भिन्न भिन्न आचार्यों के मत से भिन्न भिन्न अवस्थाओं में ऐसे योग पड़ते हैं ।)

तृरूप-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

विशेष—शिव संपूर्ण प्राणियों के पिता माने गए हैं इसी लिए उन्हें पितृरूप कहा जाता है ।

तृलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पितरों का लोक । वह स्थान जहाँ पितृगण रहते हैं ।

विशेष—छांदोग्योपनिषद् में पितृयाण का वर्णन करते हुए पितृलोक को चंद्रमा से ऊपर कहा है । अथर्व वेद में जो उदन्वती, पीलुमती और प्रद्यौ ये तीन कक्षाएँ द्युलोक की कही गई हैं उनमें चंद्रमा प्रथम कक्षा में और पितृलोक या प्रद्यौ तीसरी कक्षा में कहा गया है ।

तृवन-संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान ।

तृवनेचर-संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान में बसनेवाले, शिव ।

तृवर्त्ती-संज्ञा पुं० [सं० पितृवर्तिन्] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

तृवसति-संज्ञा स्त्री० [सं०] श्मशान ।

तृवित्त-संज्ञा पुं० [सं०] बाप दादों की संपत्ति । पैतृक धन । मौरूसी जायदाद ।

तृव्य-संज्ञा पुं० [सं०] बाप का भाई । चचा । चाचा । काका ।

तृषद्-संज्ञा पुं० [सं०] पितृगृह । बाप का घर । मैका । पीहर । (स्त्रियों के लिये) ।

तृषदन-संज्ञा पुं० [सं०] कुश ।

तृष्वसा-संज्ञा स्त्री० [सं० पितृष्वसृ] बाप की बहन । बूआ ।

तृष्वस्रीय-संज्ञा पुं० [सं०] बूआ का बेटा । फुफेरा भाई ।

तृसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दादी । पितामही । (२) संध्या ।

तृसूक्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक मंत्रसमूह ।

तृहा-संज्ञा पुं० [सं० पितृहन्] पिता की हत्या करनेवाला । पितृहंता । पितृघाती ।

तृहू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पितरों के देने योग्य वस्तु । (२) दाहिना कान ।

तृह्वय-संज्ञा पुं० [सं०] पितरों का आह्वान करना । पितरों को बुलाना ।

त्त-संज्ञा पुं० [सं०] एक तरल पदार्थ जो शरीर के अंतर्गत यकृत में बनता है । इसका रंग नीलापन लिए पीला और स्वाद कड़ुवा होता है । इसकी बनावट में कई प्रकार के लवण और दो प्रकार के रंग पाए गए हैं । यह यकृत के कोषों से रसकर दो विशेष नालियों द्वारा पक्वाशय में आकर आहार-रस से मिलता है और वसा या चिकनाई के पाचन में सहायक होता है । यदि पक्वाशय में भोजन नहीं रहता तो यह लौटकर फिर यकृत को चला जाता है और पित्ताशय या पित्ता नामक उससे संलग्न एक विशेष अवयव में एकत्र होता रहता है । वसा या स्नेहतत्त्व को पचाने के लिये पित्त का उसमें यथेष्ट मात्रा में मिलना अतीव आवश्यक है । यदि इसकी कमी हो तो वह बिना पचे ही विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर हो जाता है । इसके अतिरिक्त इसके और भी कई कार्य्य हैं, जैसे आमाशय से पक्वाशय में आए हुए आहार-रस की खटाई दूर करना, आँतों में भोजन को सड़ने न देना, शरीर का तापमान स्थिर रखना आदि । पित्त की कमी से पाचनक्रिया बिगड़ जाती है और मंदाग्नि, कब्ज, अतीसार आदि रोग होते हैं । इसी प्रकार इसकी वृद्धि से ज्वर, दाह, वमन, श्वास, मूर्च्छा और अनेक चर्मरोग होते हैं । जिसका पित्त बढ़ गया हो उसका रंग बिलकुल पीला हो जाता है । पित्त के बढ़े या बिगड़े हुए होने की दशा में वह अकसर वमन द्वारा पेट से बाहर भी निकलता है ।

वैद्यक के अनुसार पित्त शरीर के स्वास्थ्य और रोग के कारणभूत तीन प्रधान तत्त्वों अथवा दोषों में से एक है । जिस प्रकार रस का मल कफ है उसी प्रकार रक्त का मल पित्त है जो यकृत या जिगर में उससे अलग किया जाता है । भावप्रकाश के अनुसार यह ऊष्ण, द्रव्य, आमरहित दशा में पीला और आमसहित दशा में नीला, सारक, लघु, सत्वगुणयुक्त, स्निग्ध, रस में कटु परंतु विपाक के समय अम्ल है । अग्नि स्वभाववाला तो स्वयं अग्नि है । शरीर में जो कुछ उष्णता तत्त्व है उसका आधार यही है । इसी से अग्नि, उष्ण, तेजस आदि पित्त के पर्याय हैं । इसमें एक प्रकार की दुर्गंधि भी आती है । शरीर में इसके पाँच स्थान हैं जिनमें यह अलग अलग पाँच नामों से स्थित रहकर पाँच प्रकार के कार्य करता है । ये पाँच स्थान हैं—आमाशय (कहीं कहीं आमाशय और पक्वाशय का मध्य स्थान भी मिलता है), यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र, और त्वचा । इनमें रहनेवाले पित्तों का नाम क्रम से पाचक, रंजक, साधक, आलोचक और भ्राजक हैं । पाचक पित्त का कार्य्य खाए हुए द्रव्यों को अपनी स्वाभाविक उष्णता से पचाना और रस, मूत्र और मल को पृथक् पृथक् करना है । रंजक पित्त आमाशय से आए हुए आहार-रस को रंजित कर रक्त में परिणत करता है । साधक पित्त कफ और तमोगुण को दूर करता और मेधा तथा बुद्धि उत्पन्न करता है । आलोचक पित्त रूप के प्रतिबिंब को ग्रहण करता है । यह पुतली के बीचोबीच रहता है और मात्रा में तिल के बराबर है । भ्राजक पित्त शरीर की कांति चिकनाई आदि का उत्पादक तथा रक्षक है । आमाशय या अग्न्याशय में स्थित पाचक पित्त अपनी स्वाभाविक शक्ति से अन्य चार पित्तों की क्रिया में भी सहायक होता है । पाचक पित्त को ही पाचकाग्नि या जठराग्नि

भी कहा है । गरम, तीखी, खट्टी, आदि चीजें खाने से पित्त बढ़ता और कुपित होता है, शीतल, मधुर, कसैली, कड़वी, स्निग्ध, वस्तुओं से वह कम और शांत होता है। अरबी में पित्त को सफ़रा और फारसी में तलख़ा कहते हैं । उपादान उसका अग्नि और स्वभाव गरम खुश्क माना है ।

जिस प्रकार शारीरिक उष्णता का कारण पित्त माना गया है उसी प्रकार मनोवृत्तियों के तीव्र होने अर्थात् क्रोध आदि मनोविकारों के पैदा करने में भी वह कारण माना गया है। पित्त खौलना, पित्त उबलना, आदि मुहावरों की—जिनका अर्थ क्रुद्ध हो जाना है—उत्पत्ति में इसी कल्पना का आधार जान पड़ता है। अँगरेजी में भी पित्तार्थक Bile शब्द का एक अर्थ क्रोध और क्रोधशीलता है ।

पर्या०—मायु । पलज्वल । तेजस् । तिक्त । धातु । उष्मा । अग्नि। अनल । रंजन ।

मुहा०—पित्त उबलना या खौलना = दे० "पित्ता उबलना या खौलना" । पित्त गरम होना = शीघ्र क्रुद्ध होने का स्वभाव होना। क्रोधशील होना। मिजाज में गरमी होना। क्रोध की अधिकता होना । जैसे, अभी तुम जवान हो इसी से तुम्हारा पित्त इतना गरम है। पित्त डालना = कै करना । वमन करना। उलटी आना ।

पित्तकर-वि० [सं०] पित्त को बढ़ाने या उत्पन्न करनेवाला द्रव्य । जैसे, बाँस का नया कल्ला आदि ।

पित्तकास--संज्ञा पुं० [सं०] पित्त के दोष से उत्पन्न खाँसी या कास रोग । छाती में दाह; ज्वर, मुँह सूखना, मुँह का स्वाद तीता होना, प्यास लगना, शरीर भर में जलन होना, खाँसी के साथ पीला और कड़वा कफ निकलना; क्रमशः शरीर का पांडुवर्ण होते जाना आदि इस रोग के लक्षण हैं ।

पित्तघ्न-वि० [सं०] पित्तनाशक (द्रव्य) ।

विशेष—वैद्यक ग्रंथों के अनुसार मधुर, तिक्त और कषाय रसवाले संपूर्ण द्रव्य पित्तनाशक हैं ।

संज्ञा पुं० घी । घृत ।

पित्तघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच ।

पित्तज्वर-संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो पित्त के दोष या प्रकोप से उत्पन्न हो । पित्तवृद्धि से उत्पन्न ज्वर । पैत्तिक ज्वर ।

विशेष—वैद्यक ग्रंथों के अनुसार आहार विहार के दोष से बढ़ा हुआ पित्त आमाशय में जाकर स्थित हो जाता है और कोष्ठस्थ अग्नि को वहाँ से निकालकर बाहर की ओर फेंकता है। अतीसार, निद्रा की अल्पता, कंठ, ओठ, मुँह और नाक का पका सा जान पड़ना, पसीना निकलना, प्रलाप, मुँह का स्वाद कड़वा हो जाना, मूर्छा, दाह, मत्तता, प्यास, भ्रम, मल, मूत्र और आँखों में हल्दी की सी रंगत होना आदि इस ज्वर के लक्षण हैं ।

पित्तद्रावी-वि० [सं० पित्तद्राविन्] पित्त को पिघलानेवाला (द्रव्य) ।

संज्ञा पुं० मीठा नीबू ।

पित्तधरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार आमाशय और पक्वाशय के बीच में स्थित एक कला या झिल्ली। ग्रहणी ।

पित्तनाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का नाड़ी-व्रण जो पित्त के कुपित होने से होता है ।

पित्तपथरी-संज्ञा स्त्री० [सं० पित्त + हिं० पथरी] एक रोग जिसमें पित्ताशय अथवा पित्तवाहक नालियों में पित्त की कंकड़ियां बन जाती हैं। ये कंकड़ियाँ पित्त के अधिक गाढ़े हो जाने, उसमें कोलस्ट्राई नामक द्रव्य की अधिकता अथवा उसके उपादानों में कोई विशेष परिवर्त्तन होने से उत्पन्न होती हैं । यद्यपि ये पित्ताशय में बनती हैं पर यकृत और पित्तप्रणालियों में भी पाई जाती हैं। इस रोग में आहार के अंत में पेट में पीड़ा होती है, और पित्ताशय में जलन मालूम होती है। स्पर्श करने से उसमें छोटी-छोटी पथरियाँ सी जान पड़ती हैं और वह कड़ा, बढ़ा हुआ और पत्थर का सा मालूम होता है । कुछ काल तक इस रोग की स्थिति होने से कामला, आँतों के कार्य्य में रुकावट और यकृत में फोड़ा आदि अन्य रोग होते हैं ।

विशेष—यह रोग आयुर्वेदीय ग्रंथों में नहीं मिलता, इसका पता पाश्चात्य डाक्टरों ने लगाया है ।

पित्तपांडु-संज्ञा पुं० [सं०] एक पित्तजनित रोग जिसमें रोगी के मूत्र, विष्ठा, नेत्र विशेष रूप से और संपूर्ण शरीर सामान्य रूप से पीला हो जाता है और उसे दाह, तृष्णा तथा ज्वर रहता है ।

पित्तपापड़ा-संज्ञा पुं० दे० "पितपापड़ा" ।

पित्तप्रकृति-वि० [सं०] जिसकी प्रकृति पित्त की हो । जिसके शरीर में वात और कफ की अपेक्षा पित्त की अधिकता हो ।

विशेष—वैद्यक के अनुसार पित्तप्रकृति व्यक्ति को भूख और प्यास बहुत लगती है । उसका रंग गोरा होता है, हथेली, तलुवे और मुँह पर ललाई होती है, केश पांडुवर्ण और रोएँ कम होते हैं, वह बहुत शूर, मानी, पुष्प चंदनादि के लेप से प्रीति करनेवाला, सदाचारी, पवित्र, आश्रितों पर दया करनेवाला, वैभव साहस और बुद्धिबल से युक्त होता है, भयभीत शत्रु की भी रक्षा करता है, उसकी स्मरण शक्ति उत्तम होती है, शरीर खूब कसा हुआ नहीं होता, मधुर, शीतल, कड़वे और कसैले भोजन पर रुचि रहती है, शरीर में बहुत पसीना और दुर्गंधि निकलती है । विष्ठा, भोजन, जलपान, क्रोध, और ईर्ष्या अधिक होती है, वह धर्म का द्वेषी और स्त्रियों को प्रायः अप्रिय होता है, नेत्रों की पुतलियाँ पीली और पलकों में बहुत थोड़े बाल होते हैं, स्वप्न में कनेर, ढाक आदि के पुष्प, दिग्दाह,

उल्कापात, बिजली, सूर्य तथा अग्नि को देखता है, क्लेशभीत, मध्यम आयु और बलवाला होता है और बाघ, रीछ, बंदर, बिल्ली, भेड़िए आदि से उसका स्वभाव मिलता है।

पित्तप्रकोपी–वि० [सं० पित्तप्रकोपिन्] पित्त को बढ़ाने या कुपित करनेवाला (द्रव्य)। (वस्तु) जिसके भोजन से पित्त की वृद्धि हो।

विशेष—तक्र, मद्य, मांस, उष्ण, खट्टी, चरपरी आदि वस्तुएँ पित्तप्रकोपी हैं।

पित्तभेषज–संज्ञा पुं० [सं०] मसूर। मसूर की दाल।

पित्तरक्त–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "रक्तपित्त"।

पित्तल–वि० [सं० पित्त] जिससे पित्त का उभाड़ हो। जिससे पित्तदोष बढ़े। पित्तकारी (द्रव्य)।

संज्ञा पुं० (१) भोजपत्र। (२) हरताल। (३) पीतल धातु।

संज्ञा स्त्री० (१) जल पीपल। (२) सरिवन। शालपर्णी।

पित्तला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलपीपल। (२) योनि का एक रोग जो दूषित पित्त के कारण उत्पन्न होता है। 'भावप्रकाश' के मत से योनि में अत्यंत दाह, पाक तथा ज्वर इस रोग के लक्षण हैं।

पित्तवर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] मछली, गाय, घोड़े, रुरु और मोर के पित्तों का समूह। पंचविध पित्त।

विशेष—मतांतर से सुअर, बकरे, भैंसे, मछली और मोर के पित्त पित्तवर्ग के अंतर्गत माने गए हैं।

पित्तवल्लभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] काला अतीस।

पित्तविदग्ध दृष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग जो दूषित पित्त के दृष्टि-स्थान में आ जाने से होता है। इसमें दृष्टि-स्थान पीतवर्ण हो जाता है और साथ ही सारे पदार्थ भी पीले दिखाई पड़ने लगते हैं। दोष आँख के तीसरे परदे या पटल में रहता है इससे रोगी को दिन में नहीं सुझाई पड़ता, वह केवल रात में देखता है।

पित्तविसर्प–संज्ञा पुं० [सं०] विसर्प रोग का एक भेद।

पित्तव्याधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पित्तदोष से उत्पन्न रोग। पित्त के बिगड़ने से पैदा हुई बीमारी।

पित्तशूल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शूल रोग जो पित्त के प्रकोप से होता है। इसमें नाभि के आसपास पीड़ा होती है। प्यास लगना, पसीना निकलना, दाह, भ्रम और शोष इस रोग के लक्षण हैं। डाक्टरों के मत से पित्त के अधिक गाढ़े होने अथवा उसकी पथरियों के आँतों में जाने से यह रोग उत्पन्न होता है। ऐसे पित्त या पथरियों के संचार में जो पीड़ा होती है वही पित्तशूल है।

पित्तश्लेश्मज्वर–संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो पित्त और कफ दोनों के प्रकोप अथवा अधिकता से हुआ हो। मुख का कड़ुवापन, तंद्रा, मोह, खाँसी, अरुचि, तृष्णा, क्षणिक दाह और कुछ ठंढ लगना आदि इसके लक्षण हैं।

पित्तश्लेश्माल्वण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात ज्वर। इसमें शरीर के भीतर दाह और बाहर ठंढा रहता है। प्यास बहुत अधिक लगती है; दाहिनी पसलियों, छाती, सिर और गले में दर्द रहता है; कफ और पित्त बहुत कष्ट से बाहर निकलता है। मल पतला होकर निकलता है; साँस फूलती है और हिचकियाँ आती हैं।

पित्तसंशयन–संज्ञा पुं० [सं०] आयुर्वेदोक्त ओषधियों का एक वर्ग या समूह जिसमें की ओषधियाँ प्रकुपित पित्त को शांत करनेवाली मानी जाती हैं। सुश्रुत के अनुसार इस वर्ग में निम्नलिखित ओषधियाँ हैं—चंदन, लालचंदन, नेत्रबाला, खस, अर्कपुष्पी, बिदारीकंद, सतावर, गोंदी, सिवार, सफेद कमल, कुईं, नील कमल, केला, कँवलगट्टा, दूब, मरोरफली (मूर्वा), काकोल्यादिगण, न्यग्रोधादिगण और तृणपंचमूल।

पित्तस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के वे पाँच स्थान जिनमें वैद्यक-ग्रंथों के अनुसार पाचक, रंजक आदि ५ प्रकार के पित्त रहते हैं। ये स्थान आमाशय-पक्वाशय, यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र और त्वचा हैं।

पित्तस्राव–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक नेत्ररोग जिसमें नेत्रसंधि से पीला या नीला और गरम पानी बहता है।

पित्तहर–संज्ञा पुं० [सं०] खस। उशीर।

पित्तहा–संज्ञा पुं० [सं० पित्तहन्] (१) पित्तपापड़ा।

वि० पित्तनाशक (द्रव्य)।

पित्तांड–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के अंडकोश में होनेवाला एक रोग।

पित्ता–संज्ञा पुं० [सं० पित्त] (१) जिगर में वह थैली जिसमें पित्त रहता है। पित्ताशय। विवरण के लिये दे० "पित्ताशय"।

मुहा०—पित्ता उबलना = दे० "पित्ता खौलना"। **पित्ता खौलना** = बड़ा क्रोध आना। मिजाज भड़क उठना। जैसे, तुम्हारी बातें सुनकर तो उनका पित्ता खौल गया! (पित्त का नाम अग्नि तथा तेज भी है, इन्हीं कारणों से इन मुहाविरों की उत्पत्ति हुई है। पित्ता उबलना, पित्ता खौलना आदि पित्त उबलना या पित्त खौलना का लक्षणात्मक रूप है)। **पित्ता निकालना**†‡ = काम कराके अथवा और किसी प्रकार से किसी को अत्यंत पीड़ित करना। बहुत आधिक परिश्रम का काम कराना। **पित्ता पानी करना** = बहुत परिश्रम करना। जान लड़ाकर काम करना। अति कठोर प्रयास करना। जैसे, इस काम में बड़ा पित्ता पानी करना पड़ेगा। **पित्ता मरना** =

क्रुद्ध या उत्तेजित होने की आदत छूट जाना। गुस्सा न रह जाना।
जैसे, अब उसका पित्ता बिलकुल मर गया। **पित्ता मारना** =
(१) क्रोध दबाना। क्रोध होने पर चित्त शांत रखना। सहना।
उत्तेजना को दबा रखना। जब्त करना। जैसे, मैं पित्ता मार-
कर रह गया नहीं तो अनर्थ हो जाता। (२) बिना उद्विग्न
हुए या ऊबे कोई कठिन काम करते रहना। कोई अरुचिकर या
कठिन काम करने में न ऊबना। जैसे, जो बड़ा पित्ता मारे
वह इस काम को कर सकता है। **पित्तामार काम** = वह
काम जो रुचिकर न हो और बहुत देर में होनेवाला हो। अरुचिकर
और कठिन काम। कर्त्ता को उबा देनेवाला काम। मन मारकर
किया जानेवाला काम।

(२) हिम्मत। साहस। हौसला। जैसे, उसका कितना पित्ता है जो दो दिन भी तुम्हारे मुकाबले ठहर सके।

पित्तातिसार–संज्ञा पुं० [सं०] वह अतिसार रोग जिसका कारण पित्त का प्रकोप या दोष होता है। मल का लाल, पीला अथवा हरा और दुर्गंधयुक्त होना, गुदा पक जाना, तृषा, मूर्छा और दाह की अधिकता इस रोग के लक्षण हैं।

पित्ताभिस्यंद–संज्ञा पुं० [सं०] आँख का एक रोग। पित्तकोप से आँख आना। आँखों का उष्ण और पीत वर्ण होना, उनमें दाह और पकाव होना, उनसे धुआँ उठता सा जान पड़ना और बहुत अधिक आँसू गिरना इस रोग के लक्षण हैं।

पित्तारि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्तपापड़ा। (२) लाख। (३) पीला चंदन।

पित्ताशय–संज्ञा पुं० [सं०] पित्त की थैली। पित्तकोष। यह यकृत या जिगर में पीछे और नीचे की ओर होता है। इसका आकार अमरूद या नासपाती का सा होता है। यकृत में पित्त का जितना अंश भोजनपाक की आवश्यकता से अधिक होता है वह इसी में आकर संचित रहता है।

पित्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक ओषधि। एक प्रकार की शतपदी।

पित्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० पित्त + ई] (१) एक रोग जो पित्त की अधिकता अथवा रक्त में बहुत अधिक उष्णता होने के कारण होता है। इसमें शरीर भर में छोटे छोटे ददोरे पड़ जाते हैं और उनके कारण त्वचा में इतनी खुजली होती है कि रोगी जमीन पर लोटने लगता है।

क्रि० प्र०—उछलना।

(२) लाल लाल महीन दाने जो पसीना मरने से गरमी के दिनों में शरीर पर निकल आते हैं। अँभौरी।

†‡ संज्ञा पुं० पितृव्य। चचा। काका। बाप का भाई।

पित्तोत्क्लिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] आँख की पलकों का एक रोग जिसमें पलकों में दाह, क्लेद और अत्यंत पीड़ा होती है, आँखें लाल और देखने में असमर्थ हो जाती हैं।

पित्तोदर–संज्ञा पुं० [सं०] पित्त के बिगड़ने से होनेवाला एक उदर रोग। इसमें शरीर का वर्ण, नेत्र, नख और मलमूत्र सब पीला हो जाता है और शोष, तृषा, दाह और ज्वर का प्रकोप होता है।

पित्तोल्वण सन्निपात–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपातिक ज्वर। आशुकारी ज्वर। इसका लक्षण है—अतिसार, भ्रम, मूर्छा, मुँह में पकाव, देह में लाल दानों का निकल आना और अत्यंत दाह होना।

पित्र्य–वि० [सं०] (१) पितृ संबंधी। (२) श्राद्ध करने योग्य। जिसका श्राद्ध हो सके।

संज्ञा पुं० (१) शहद। मधु। (२) उरद। (३) बड़ा भाई। (४) पितृतीर्थ। (५) तर्जनी और अँगूठे का अंतिम भाग।

पित्र्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मघा नक्षत्र। (२) पूर्णिमा। (३) अमावास्या।

पिदड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पिद्दी"।

पिद्दा–संज्ञा पुं० [हिं० पिद्दी] (१) पिद्दी का पुल्लिंग। विशेष दे० "पिद्दी"।

(२) गुलेले की ताँत में वह निवाड़ आदि की गद्दी जिस पर गोली को फेंकने के समय रखते हैं। फटकना।

पिद्दी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिद्दा] (१) बया की जाति की एक सुंदर छोटी चिड़िया जो बया से कुछ छोटी और कई रंगों की होती है। आवाज इसकी मीठी होती है। अपने चंचल स्वभाव के कारण यह एक स्थान पर क्षण भर भी स्थिर होकर नहीं बैठती, फुदकती रहती है इसी से इसे 'फुदकी' भी कहते हैं। (२) बहुत ही तुच्छ और अगण्य जीव।

पिधान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन। आवरण। पर्दा। गिलाफ। (२) ढक्कन। ढकना। (३) तलवार का म्यान। खड्ग-कोष। (४) किवाड़ा। उ०—सुख के निधान पाए हिय के पिधान लाए ठग के से लाड़ू खाए प्रेम मधु छाके हैं।—तुलसी।

पिधानक–संज्ञा पुं० [सं०] म्यान। कोष।

पिन–संज्ञा स्त्री० [अं०] लोहे या पीतल आदि की बहुत छोटी कील जिससे कागज इत्यादि नत्थी करते हैं। आलपीन।

पिनकना–क्रि० अ० [हिं० पीनक] (१) अफीम के नशे में सिर का झुका पड़ना। अफीमची का नशे की हालत में आगे की ओर झुकना या ऊँघना। पीनक लेना। (२) नींद में आगे को झुकना। ऊँघना। जैसे, शाम हुई और तुम लगे पिनकने।

पिनकी–संज्ञा पुं० [हिं० पीनक] वह व्यक्ति जो अफीम के नशे में पीनक लिया करे। पिनकनेवाला अफीमची।

पिनपिन†–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) बच्चों का अनुनासिक और अस्पष्ट स्वर में ठहर ठहरकर रोने का शब्द। नकियाकर

धीमे धीमे और थोड़ा रुक रुककर रोने की आवाज। रोगी या दुर्बल बच्चे के रोने का शब्द। (२) पिनपिन करके रोना। बार बार धीमी और अनुनासिक आवाज में रोना। नकियाकर और ठहर ठहरकर रोना। रोगी या दुर्बल बच्चे का रोना।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।

नपिनहाँ†-संज्ञा पुं० [हिं० पिनपिन + हा (प्रत्य०)] (१) पिनपिन करनेवाला बच्चा। रोना लड़का। वह बालक जो हर समय रोया करे। (२) रोगी या दुर्बल बालक। कमजोर या बीमार बच्चा।

नपिनाना†-क्रि० अ० [हिं० पिनपिन] (१) पिनपिन शब्द करना। रोते समय नाक से स्वर निकालना। (२) धीमे स्वर में और रुक रुककर रोना। रोगी अथवा कमजोर बच्चे का रोना। चिल्लाकर रोने में असमर्थ बालक का रोना।

नपिनाहट†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिनपिनाना] (१) पिनपिन करके रोने का शब्द। (२) पिनपिन करके रोने की क्रिया या भाव।

नसन‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पेंशन"।

नसिन‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पेंशन"।

नाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव का धनुष जिसे श्रीरामचंद्रजी ने जनकपुर में तोड़ा था। अजगव।

मुहा०—पिनाक होना = (किसी काम का) अत्यंत कठिन होना। (किसी काम का) दुष्कर या असाध्य होना। उ०—तुम्हारे लिये यह जरा सा काम भी पिनाक हो रहा है।

(२) कोई धनुष। (३) त्रिशूल। (४) एक प्रकार का अभ्रक। नीला अभ्रक। नीलाभ्र।

नाकी-संज्ञा पुं० [सं० पिनाकिन्] (१) महादेव। शिव। (२) एक प्रकार का प्राचीन बाजा जिसमें तार लगा रहता था और जो उसी तार को छेड़ने से बजता था।

न्नस†-संज्ञा स्त्री दे० "पीनस"।

न्ना†-वि० [हिं० पिनपिनाना] जो सदा रोता रहे। रोनेवाला। रोना।

संज्ञा पुं० (१) दे० "पींजन"। (२) धनुकी। (३) दे० "पीना"।

न्नी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मिठाई, जो आटे या और अन्नचूर्ण में चीनी या गुड़ मिलाकर बनाई जाती है।

न्यास-संज्ञा पुं० [सं०] हींग।

न्हाना†-क्रि० स० दे० "पहनाना"।

परमिंट-संज्ञा पुं० [अं०] पुदीने की जाति का पर रूप में उससे भिन्न एक पौधा जो युरोप और अमेरिका में होता है। इसकी पत्तियों में एक विशेष प्रकार की गंध और ठंढक होती है जिसका अनुभव त्वचा और जीभ पर बड़ा तीव्र होता है। इसका व्यवहार औषध में होता है। पेट के दर्द में यह विशेषतः दिया जाता है। इसका पौधा देखने में भाँग के पौधे से मिलता जुलता होता है। टहनियाँ दूर तक सीधी जाती हैं जिनमें थोड़े थोड़े अंतर पर दो दो पत्तियाँ और फूलों के गुच्छे होते हैं। पत्तियाँ भाँग की पत्तियों की सी होती हैं।

पिपरामूल-संज्ञा पुं० [सं०] पिप्पली मूल। पीपल की जड़।

पिपराही†-संज्ञा पुं० [हिं० पीपर + आही (प्रत्य०)] पीपल का वन। पीपल का जंगल।

पिपली-संज्ञा स्त्री० [देश० नैपाली] एक पेड़ जो नैपाल, दार्जिलिंग आदि में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत होती है और किवाड़, चौकठे, चौकियाँ आदि बनाने के काम में आती है।

पिपासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पानेच्छा। तृष्णा। तृषा। प्यास। (२) लालच। लोभ। जैसे, धन की पिपासा।

पिपासित-वि० [सं०] तृषित। प्यासा।

पिपासु-वि० [सं०] (१) तृषित। पानेच्छु। प्यासा। (२) उग्र इच्छा रखनेवाला। तीव्र इच्छुक। लालची। जैसे, रक्तपिपासु, अर्थपिपासु।

पिपीतक-संज्ञा पुं० [सं०] भविष्य पुराण के अनुसार एक ब्राह्मण जिसने पिपीत की द्वादशी का व्रत पहले पहल किया था।

पिपीतकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ल द्वादशी। भविष्य पुराण में यह एक व्रत का दिन कहा गया है। पहले पहल इस व्रत को पिपीतक नाम के एक ब्राह्मण ने किया था जिसकी कथा इस प्रकार है। पिपीतक को यमदूत ले गए। यमलोक में उसे बड़ी प्यास लगी और वह व्याकुल होकर चिल्लाने लगा। अंत में उसने यमराज की बड़ी स्तुति की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसे फिर मर्त्यलोक में भेजा और वैशाख शुक्ल द्वादशी का व्रत बताया। इस व्रत में ठंढे पानी से भरे हुए घड़े ब्राह्मण को दिए जाते हैं।

पिपीलक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० अल्प० पिपीलिका] चींटा। चिउँटा।

पिपीलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिउँटी। चींटी। कीड़ी।

पिपीलिकाभक्षी-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण अफ्रिका का एक जंतु जिसे बहुत लंबा थूथन और बहुत बड़ी जीभ होती है। इसे दाँत नहीं होते। अगले पंजे बहुत दृढ़ होते हैं जिनसे यह चींटियों के बिल खोदता है। यह उँगलियों के बल चलता है, तलवों के बल नहीं। इसके कंधे मोटे और भद्दे होते हैं। गरदन से रीढ़ तक लंबे लंबे बाल होते हैं। यह चींटियों के बिलों में अपने थूथन को डालकर उन्हें खींच लेता है। चींटी के आहार के बिना यह जंतु नहीं रह सकता।

पिपीलिका मातृका दोष–संज्ञा पुं० [सं०] एक बालरोग जो जन्म के दिन से ग्यारहवें दिन, ग्यारहवें महीने या ग्यारहवें वर्ष होता है। इसमें बालक को ज्वर होता है और उसका आहार छूट जाता है।

पिप्पटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मिठाई।

पिप्पल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीपल का पेड़। अश्वत्थ। (२) एक पक्षी। (३) रेवती से उत्पन्न मित्र का एक पुत्र। (भागवत)। (४) नंगा आदमी। नग्न व्यक्ति। (५) जल। (६) वस्त्रखंड। (७) अंगे आदि की बाँह या आस्तीन। (८) एक पक्षी।

पिप्पलक–संज्ञा पुं० [सं०] स्तनमुख।

पिप्पलयांग–संज्ञा पुं० [सं०] चीन और जापान में होनेवाला एक पौधा जो अब भारतवर्ष में भी फैल गया है और गढ़वाल, कमाऊँ और काँगड़े की पहाड़ियों में पाया जाता है। इसके फलों के बीज के ऊपर चरबी सा चिकना पदार्थ होता है जिसे चीनी मोम कहते हैं। मोमचीना।

पिप्पलाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो अथर्ववेद की एक शाखा के प्रवर्त्तक थे और जिनका नाम पुराणों में आया है।

पिप्पली–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीपल।

पिप्पलीखंड–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रस्तुत औषध। पीपल का चूर्ण ४ पल, घी ६ पल, शतमूली का रस ८ पल, चीनी दो सेर, दूध ८ सेर एक साथ पकावे, फिर पाग में इलायची, मोथा, तेजपत्ता, धनियाँ, सोंठ, बंशलोचन, जीरा, हड़, आँवला और मिर्च डाले और ठंढे होने पर ३ पल मधु भी मिला दे।

पिप्पलीमूल–संज्ञा पुं० [सं०] पिपरामूल। पीपलामूल।

पिप्पल्यादिगण–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार ओषधियों का एक वर्ग जिसके अंतर्गत पिप्पली, चीता, अदरख, मिर्च, इलायची, अजवायन, इंद्रजौ, जीरा, सरसों, बकायन, हींग, भार्गी, अतिविषा, बच, बिडंग और कुटकी हैं।

पिप्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों की मैल।

पिप्पीक–संज्ञा पुं० [सं०] एक पक्षी।

पिप्लु–संज्ञा पुं० [सं०] जतुमणि।

पिय※–संज्ञा पुं० [सं० प्रिय] स्त्री का पति। स्वामी। उ०—बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।—तुलसी।

पियर†–वि० दे० "पीयर", "पीला"।

पियरई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर] पीलापन।

पियरवा‡–संज्ञा पुं० दे० "पियारा", "प्यारा"।

पियराई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर, पीयर + आई (प्रत्य०)] पीलापन। जर्दी।

पियराना*†–क्रि० अ० [हिं० पियर] पीला पड़ना। पीला होना।

पियरी*†–वि० स्त्री० दे० "पीली"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पियर] (१) पीली रँगी हुई धोती। (२) पीलापन। (३) एक प्रकार का पीला रंग जो गाय को आम की पत्तियाँ खिलाकर उसके मूत्र से बनाया जाता है।

पियरोला–संज्ञा पुं० [हिं० पीयर] पीले रंग की एक चिड़िया जो मैना से कुछ छोटी होती है और जिसकी बोली बहुत मीठी होती है।

पियली–संज्ञा स्त्री० [हिं० प्याली] नारियल की खोपरी का वह टुकड़ा जिसे बढ़ई आदि बरमे के ऊपरी सिरे के काँटे पर इसलिये रख लेते हैं जिसमें छेद करने के लिये बरमा सहज में घूम सके।

पियल्ला‡–संज्ञा पुं० [हिं० पीना] दूध का बच्चा। उ०––तियन को तल्ला पिय, तियन पियल्ला त्यागे ढौसत प्रबल्ला मल्ला धाये राजद्वार को।—रघुराज।

संज्ञा पुं० दे० "पियरोला"।

पियवास–संज्ञा पुं० दे० "पियाबाँसा"।

पिया*-संज्ञा पुं० दे० "पिय"।

पियाज‡–संज्ञा पुं० दे० "प्याज"।

पियाजी†–वि० दे० "प्याजी"।

पियादा†–संज्ञा पुं० दे० "प्यादा"।

पियाना†–क्रि० स० दे० "पिलाना"।

पियानो–संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का बड़ा अँगरेजी बाजा जो मेज के आकार का होता है। इसके भीतर स्वरों के लिये कई मोटे पतले तार होते हैं जिनका संबंध ऊपर की पटरियों से होता है। पटरियों पर ठोकर लगने से स्वर निकलते हैं।

पियाबाँसा–संज्ञा पुं० [सं० प्रिय, हिं० पिय + बाँस] कटसरैया। कुरवक।

पियार–संज्ञा पुं० [सं० पियाल] मझोले आकार का एक पेड़ जो देखने में महुवे के पेड़ सा जान पड़ता है। पत्ते भी इसके महुवे के पत्तों से मिलते जुलते होते हैं। वसंत ऋतु में इसमें आम की सी मंजरियाँ लगती हैं जिनके झड़ने पर फालसे के बराबर गोल गोल फल लगते हैं। इन फलों में मीठे गूदे की पतली तह होती है जिसके नीचे चिपटे बीज होते हैं। इन बीजों की गिरी स्वाद में बादाम और पिस्ते के समान मीठी होती है और मेवों में गिनी जाती है। यह गिरी चिरौंजी के नाम से बिकती है। पियार के पेड़ भारतवर्ष भर के विशेषतः दक्षिण के जंगलों में होते हैं। हिमालय के नीचे भी थोड़ी उँचाई तक इसके

पेड़ मिलते हैं, पर यह विशेषतः विंध्य पर्वत के जंगलों में पाया जाता है। इसके धड़ में चीरा लगाने से एक प्रकार का बढ़िया गोंद निकलता है जो पानी में बहुत कुछ घुल जाता है। कहीं कहीं यह गोंद कपड़े में माड़ी देने के काम में आता है, और छीपी इसका व्यवहार करते हैं। छाल और फल अच्छे वारनिश का काम दे सकते हैं। इसकी लकड़ी उतनी मजबूत नहीं होती पर लोग उससे खिलौने, मुठिया, और दरवाजे के चौखटे आदि भी बनाते हैं। पत्तियाँ चारे के काम में आती हैं। इस वृक्ष के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि यह जंगलों में आपसे आप उगता है, कहीं लगाया नहीं जाता। इसे कहीं कहीं अचार भी कहते हैं।

†वि॰ दे॰ "प्यारा"।

†संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्यार"।

पियारा†–वि॰ दे॰ "प्यारा"।

पियाल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] चिरौंजी का पेड़। दे॰ "पियार"।

पियाला–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्याला"।

पियास†–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "प्यास"।

पियासा†–वि॰ दे॰ "प्यासा"।

पियासाल–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पीतसाल, प्रियसालक] बहेड़े या अर्जुन की जाति का एक बड़ा पेड़ जो भारतवर्ष के जंगलों में प्रायः सर्वत्र होता है। पत्ते भी बहेड़े के पत्तों के समान चौड़े चौड़े होते हैं जो शिशिर ऋतु में झड़ जाते हैं। फल भी बहेड़े के समान होते हैं और कहीं कहीं चमड़ा सिझाने के काम में आते हैं। लकड़ी इसकी मजबूत होती है और मकानें में लगती है। गाड़ी, नाव और मूसल आदि भी इस लकड़ी के अच्छे होते हैं। इसकी छाल से पीला रंग बनता है। रंग के अतिरिक्त छाल दवा में काम आती है। लाख भी इसमें लगता है। छोटा नागपुर और सिंहभूमि के आसपास टसर के कोए पियासाल के पेड़ों पर पाले जाते हैं। वैद्यक में पियासाल कोढ़, विसर्प, प्रमेह, कृमि, कफ और रक्तपित्त को दूर करनेवाला तथा त्वचा और केशों को हितकारी माना गया है। इसे सज भी कहते हैं।

पर्या॰—पीतसार। पीतसालक। प्रियक। असन। पीतशाल। महासर्ज।

पियूख*–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पियूष"।

पियूष*–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पियूष"।

पिरकी†–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पिड़क, पिड़का] फोड़िया। फुंसी।

पिरता–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पट्ट] काठ या पत्थर का टुकड़ा जिस पर रूई की पूनी रखकर दबाते हैं।

पिरथी‡*–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पृथ्वी"।

पिरन†–संज्ञा पुं॰ [देश॰] चौपायों का लँगड़ापन।

पिराई‡*–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पियराई"। उ॰—यों उजराई, पिराई, ललाई मलाई हू के न मुलायमी है तन।

पिराक–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पिष्टक, प्रा॰ पिट्ठक, पिड़क] एक पकवान। गोझा। गोझिया। मैदे की पतली लोई के भीतर सूजी, खोवा, मेवे आदि मीठे के साथ भरते हैं और उसे अर्द्धचंद्राकार मोड़कर घी में तलकर निकाल लेते हैं।

पिराना†*–क्रि॰ अ॰ [सं॰ पीडन] (१) पीड़ित होना। दर्द करना। दुखना। उ॰—चलत चलत पग पाँय पिराने।—सूर। (२) पीड़ा अनुभव करना। दुःख समझना। सहानुभूति करना। उ॰—सेइ साधु सुनि समुझि कै पर-पीर पिरातो।—तुलसी।

पिरारा‡*–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पिंड़ारा"। उ॰—रूप रस रासि पास पथिक! पिरारे ऐन नैन ये तिहारे ठग ठाकुर मदन के। —रघुनाथ।

पिरिच†–संज्ञा पुं॰ [देश॰] कटोरा। तश्तरी।

पिरिया†–संज्ञा पुं॰ [देश॰] (१) कुएँ से पानी निकालने का रहँट। (२) एक प्रकार का बाजरा।

पिरीतम‡*–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रियतम"।

पिरीता*–वि॰ [सं॰ प्रीत = प्रसन्न] प्रिय। प्यारा। उ॰—हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते। —तुलसी।

पिरोज†–संज्ञा पुं॰ [फा॰ फीरोज ?] कटोरा। तश्तरी।

पिरोजन–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पिरोना] बालक के कान छेदने की रीति। कनछेदन।

पिरोजा–संज्ञा पुं॰ [फा॰ फीरोजा] हरापन लिए एक प्रकार का नीला पत्थर। दे॰ "फ़ीरोजा"।

पिरोड़ा†–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] पीली कड़ी मिट्टी की भूमि।

पिरोना–क्रि॰ स॰ [सं॰ प्रोत, प्रा॰ पोइअ, प्रोअ+ना (प्रत्य॰)] (१) छेद के सहारे सूत तागे आदि में फँसाना। सूत तागे आदि में पहनाना। गूथना। पोहना। जैसे, तागे में मोती पिरोना, माला पिरोना। (२) सूत, तागे आदि को किसी छेद के आरपार निकालना। तागे आदि को छेद में डालना। जैसे, सुई में तागा पिरोना।

संयो॰ क्रि॰—देना।—लेना।

पिरोला–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पीला] पियरोला पक्षी।

पिरोहना†–क्रि॰ स॰ दे॰ "पिरोना"।

पिलई†–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ प्लीहा] बरवट। तापतिल्ली।

पिलक–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पीला] (१) पीले रंग की एक चिड़िया जो मैना से कुछ छोटी होती है और जिसका कंठस्वर बहुत मधुर होता है। यह ऊँचे पेड़ों पर घोंसला बनाती है और तीन या चार अंडे देती है। पियरोला। जर्दक। (२) अबलक कबूतर।

पिलकना–क्रि॰ स॰ [सं॰ पिल = प्रेरित करना] (१) गिराना । (२) लुढ़काना । ढकेलना ।

पिलकिया–संज्ञा पुं॰ [देश॰] पीलापन लिए खाकी रंग की एक छोटी चिड़िया जो जाड़े के दिनों में पंजाब से आसाम तक दिखाई देती है । यह चट्टानों के नीचे बच्चे देती है ।

पिलखन†–संज्ञा पुं॰ [सं॰ प्लक्ष] पाकर का पेड़ ।

पिलड़ीं†–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] कीमा । मसालेदार कीमा ।

पिलचना–क्रि॰ अ॰ [सं॰ पिल = प्रेरणा] (१) दो आदमियों का खूब भिड़ना । गुथना । लिपटना । (२) (किसी काम आदि में) खूब लग जाना । तत्पर होना । लीन होना ।

पिलना–क्रि॰ अ॰ [सं॰ पिल = प्रेरण] (१) किसी ओर एकबारगी टूट पड़ना । ढल पड़ना । झुक पड़ना । धँस पड़ना । जैसे, सब लोग उस मंदिर में पिल पड़े ।

संयो॰ क्रि॰—पड़ना ।

(२) एकबारगी प्रवृत्त होना । एकबारगी लग जाना । लिपट जाना । भिड़ जाना । जैसे, किसी काम में पिल पड़ना । (३) पेरा जाना । तेल निकालने के लिये दबाना ।

संयो॰ क्रि॰—जाना ।

पिलपिल†–वि॰ दे॰ "पिलपिला" ।

पिलपिला–वि॰ [अनु॰] इतना नरम और ढीला कि दबाने से भीतर का रस या गूदा बाहर निकलने लगे । भीतर से गीला और नरम । जैसे, आम पककर पिलपिला हो गया है, फोड़ा पिलपिला हो गया है ।

पिलपिलाना–क्रि॰ स॰ [हिं॰ पिलपिला] भीतर से रसदार या गूदेदार वस्तु को दबाना जिससे रस या गूदा ढीला होकर बाहर निकलने लगे । जैसे, (क) आम को पिलपिलाओ मत । (ख) फोड़े को पिलपिलाने से मवाद आता है ।

संयो॰ क्रि॰—डालना ।—देना ।

पिलपिलाहट–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पिलपिला] दबकर गूदे या रस के ढीले होने के कारण आई हुई नरमी ।

पिलवाना–क्रि॰ स॰ [हिं॰ "पिलाना" का प्रे॰] पिलाने का काम करना । दूसरे को पिलाने में लगाना । जैसे, थोड़ा पानी पिलवा दो ।

संयो॰ क्रि॰—देना ।

क्रि॰ स॰ [हिं॰ पेलना] पेलने या पेरने का काम कराना । पेरवाना । जैसे, कोल्हू में पिलवाना ।

पिलाना–क्रि॰ स॰ [हिं॰ पीना] (१) पीने का काम कराना । पान कराना । जैसे, तुम्हें ज़बरदस्ती दवा पिलाएँगे । (२) पीने को देना । जैसे, पानी पिलाओ ।

संयो॰ क्रि॰—देना ।

(३) किसी छेद में ढाल देना । भीतर भरना । जैसे, (क) कान में सीसा पिलाना । (ख) दीवार के दराजों में सीसा या राँगा पिलाना । (ग) यह छड़ी इतनी भारी है मानो भीतर लोहा पिलाया है ।

मुहा॰—(कोई बात) पिलाना = कान में भरना । जी में जमाना ।

पिलुंडा†–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पुलिंदा" ।

पिलुक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पीलू का पेड़ ।

पिलुनी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] मूर्वा ।

पिलुपर्णी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] मूर्वा ।

पिल्ल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक नेत्ररोग जिसमें आँखों से थोड़ा थोड़ा कीचड़ बहा करता है और वे चिपचिपाती रहती हैं ।

पिल्लका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] हस्तिनी । हथिनी ।

पिल्ला–संज्ञा पुं॰ [देश॰] कुत्ते का बच्चा ।

पिल्लू–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पील्लू = कृमि] बिना पैर का सफेद लंबा कीड़ा जो सड़े हुए फल या घाव आदि में देखा जाता है । ढोला ।

पिव*–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पिय" ।

पिवाना†–क्रि॰ स॰ दे॰ "पिलाना" ।

पिशंग–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पीलापन लिए भूरा रंग । धूमला रंग । वि॰ उक्त रंग का । भूरे रंग का ।

पिशाच–संज्ञा पुं॰ [सं॰] [स्त्री॰ पिशाची] एक हीन देवयोनि । भूत ।

विशेष—यक्षों और राक्षसों से पिशाच हीन कोटि के कहे गए हैं और इनका स्थान मरुस्थल बताया गया है । ये बहुत अशुचि और गंदे कहे गए हैं । युद्ध क्षेत्रों आदि में इनके वीभत्स कांडों का वर्णन कवि लोगों ने किया है, जैसे, खोपड़ी में रक्त पीना आदि ।

पिशाचक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] भूत । पिशाच ।

पिशाचकी–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पिशाचकिन्] कुबेर ।

पिशाचद्रु–संज्ञा पुं॰ [सं॰] सिहोर का पेड़ । शाखोट वृक्ष ।

पिशाचघ्न–वि॰ [सं॰] पिशाचों को नष्ट या दूर करनेवाला । संज्ञा पुं॰ पीली सरसों । (प्रेत उतारनेवाले ओझा प्रायः पीली सरसों फेंकते हैं) ।

पिशाचचर्या–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] श्मशान-सेवन जैसा शिवजी करते हैं ।

पिशाचवृक्ष–संज्ञा पुं॰ [सं॰] शाखोट वृक्ष । सिहोर का पेड़ ।

पिशाचिका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] छोटी जटामासी ।

पिशाची–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) पिशाच स्त्री । (२) जटामासी ।

पिशिक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक देश का नाम । (बृहत्संहिता)

पिशित–संज्ञा पुं॰ [सं॰] मांस । गोश्त ।

पिशिता–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] जटामासी ।

पिशी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] जटामासी ।

पिशील–संज्ञा पुं॰ [सं॰] मिट्टी का प्याला या कटोरा । (शतपथ ब्रा॰) ।

पिशुन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक की बुराई दूसरे से करके भेद डालनेवाला। चुगलखोर। इधर की उधर लगानेवाला। दुर्जन। खल। (२) कुंकुम। केसर। (३) कपिवक्त्र। नारद। (४) काक। कौआ। (५) तगर। (६) कपास।

पिशुना–संज्ञा स्त्री० [सं०] चुगलखोरी।

पिशुनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] असबर्ग।

पिशोन्माद–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उन्माद या पागलपन जिसमें रोगी प्रायः ऊपर को हाथ उठाए रहता है; अधिक बकता और भोजन करता है, रोता तथा गंदा रहता है।

पिशोर–संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय की एक झाड़ी जिसकी टहनियों से बोझ बाँधते हैं और टोकरे आदि बनाते हैं।

पिष्ट–वि० [सं०] पिसा हुआ। चूर्ण किया हुआ।

संज्ञा पुं० (१) पानी के साथ पिसा हुआ अन्न, विशेषतः दालें। पीठी। पिट्ठी। (२) कचौरी या पूआ। रोट।

पिष्टक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिष्ट। पीठी। पिट्ठी। (२) कचौरी या पूआ। रोट। (३) एक नेत्ररोग। फूला। फूली। (४) विशेष प्रकार का अस्थिभंग। (सुश्रुत)। (५) सीसा धातु।

पिष्टप–संज्ञा पुं० [सं०] लोक। भुवन।

पिष्टपेषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिसे हुए का पीसना। (२) कही बात को फिर फिर कहना।

पिष्टप्रमेह*–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह जिसमें चावल के पानी के समान पदार्थ मूत्र के साथ गिरता है।

पिष्टमेह–संज्ञा पुं० [सं०] पिष्टप्रमेह।

पिष्टसौरभ–संज्ञा पुं० [सं०] चंदन। (जिसे पीसने से सुगंध निकलती है)।

पिष्टात–संज्ञा पुं० [सं०] गुलाल। अबीर।

पिष्टालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] चंदन।

पिष्टिक–संज्ञा पुं० [सं०] चावलों से बनाई हुई तवासीर या बंसलोचन।

पिष्टोडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्वेताम्ली का पौधा।

पिसंग–वि० दे० "पिशंग"।

पिसनहारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना + हारी (प्रत्य०)] आटा पीसनेवाली। वह स्त्री जिसकी जीविका आटा पीसने से चलती हो।

पिसना–क्रि० अ० [हिं० पीसना] (१) रगड़ या दबाव से टूटकर महीन टुकड़ों में होना। दाब या रगड़ खाकर सूक्ष्म खंडों में विभक्त होना। चूर्ण होना। चूर होकर धूल सा हो जाना। जैसे, गेहूँ पिसना, मसाला पिसना।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) पिसकर तैयार होनेवाली वस्तु का तैयार होना। जैसे, आटा पिसना, पिट्ठी पिसना।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) दब जाना। कुचल जाना। जैसे, पहिये के नीचे पैर पड़ेगा तो पिस जायगा।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

(४) घोर कष्ट, दुःख या हानि उठाना। पीड़ित होना। जैसे, (क) एक दुष्ट के साथ न जाने कितने निरपराध पिस गए। (ख) महाजन के दिवाले से न जाने कितने गरीब पिस गए।

संयो० क्रि०—जाना।

(५) परिश्रम से अत्यंत क्लांत होना। अत्यंत शांत होना। थककर बेदम होना।

पिसवाना–क्रि० स० [हिं० "पीसना" का प्रे०] पीसने का काम कराना।

पिसाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना] (१) पीसने की क्रिया या भाव। (२) पीसने का काम या व्यवसाय। (३) चक्की पीसने का काम। आटा पीसने का धंधा। जैसे, वह पिसाई करके अपना पेट चलाती है। (४) पीसने की मजदूरी। (५) अत्यंत अधिक श्रम। बड़ी कड़ी मिहनत। जैसे, वहाँ नौकरी करना बड़ी पिसाई है।

पिसाच*–संज्ञा पुं० दे० "पिशाच"।

पिसान†–संज्ञा पुं० [हिं० पिसना, पिसा + अन्न] अन्न का बारीक पिसा हुआ चूर्ण। धूल की तरह पिसी हुई अनाज की बुकनी। आटा।

मुहा०—पिसान होना = दबकर चूर होना।

पिसिया†–संज्ञा पुं० [हिं० पिसना] एक प्रकार का छोटा और मुलायम लाल गेहूँ।

पिसी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिसना] गेहूँ।

पिसुन*–संज्ञा पुं० दे० "पिशुन"।

पिसुराई–संज्ञा स्त्री० [देश०] सरकंडे का एक छोटा टुकड़ा जिस पर रुई लपेटकर पूनी बनाते हैं।

पिसेरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का हिरन जिसके ऊपर का हिस्सा भूरा और नीचे का काला होता है। इसकी उँचाई १ फुट और लंबाई २ फुट होती है। यह दक्षिण भारत में पाया जाता है। यह बड़ा डरपोक होता है और सुगमता से पाला जा सकता है। यह पत्थरों की चट्टानों की आड़ में रहता है और दिन को बाहर कहीं नहीं निकलता।

पिसौनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीसना] (१) पीसने का काम। चक्की पीसने का धंधा। (२) कठिन काम। परिश्रम का काम।

पिस्तई–वि० [फा० पिस्तः] पिस्ते के रंग का। पीलापन लिए हरा।

पिस्ता–संज्ञा पुं० [फा० पिस्तः] काकड़ा की जाति का एक छोटा पेड़ जो शाम, दमिश्क, इराक और खुरासान से लेकर

अफगानिस्तान तक थोड़ा बहुत होता है और जिसके फल की गिरी अच्छे मेवों में है। इसके पत्ते गुलचीनी के पत्तों के से चौड़े चौड़े होते हैं और एक सींक में तीन तीन लगे रहते हैं। पत्तों पर नसें बहुत स्पष्ट होती हैं। फल देखने में महुवे के से लगते हैं। रूमी मस्तगी के समान एक प्रकार का गोंद उस पेड़ से भी निकलता है। पिस्ते के पत्तों पर भी काकड़ासींगी के समान एक प्रकार की लाही सी जमती है जो विशेषतः रेशम की रँगाई में काम आती है। पिस्ते के बीज से तेल भी बहुत सा निकलता है जो दवा के काम में आता है।

पिस्तौल–संज्ञा स्त्री० [अं० पिष्टल] तमंचा। छोटी बंदूक।

पिस्सी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पिसना] एक प्रकार का गेहूँ।

पिस्सू–संज्ञा पुं० [फा० पश्शः] एक छोटा उड़नेवाला कीड़ा जो मच्छड़ों की तरह काटता और रक्त पीता है। कुटकी।

पिहकना–क्रि० अ० [अनु०] कोयल, पपीहे, मोर आदि सुंदर कंठवाले पक्षियों का बोलना।

पिहरा–संज्ञा पुं० [हिं० पिहान] पास के ऊपर जो पत्ती बिछाई जाती है। (कुम्हार)

पिहान†–संज्ञा पुं० [सं० पिधान] बरतन का ढक्कन। ढकना। ढाँकने की वस्तु।

पिहित–वि० [सं०] छिपा हुआ।

संज्ञा पुं० एक अर्थालंकार जिसमें किसी के मन का कोई भाव जानकर क्रिया द्वारा अपना भाव प्रकट करना वर्णन किया जाय। उ०—गैर मिसिल ठाढ़ौ शिवा अंतरजामी नाम। प्रकट करी रिस साह को, सरजा करि न सलाम। यहाँ शिवाजी ने औरंगजेब का उपेक्षाभाव जानकर उसे सलाम न कर अपना क्रोध प्रकट किया।

पिहुवा†–संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी।

पिहोली–संज्ञा पुं० [देश०] एक पौधा जो मध्य प्रदेश और बरार से लेकर बंबई के आस पास तक होता है। यह पान के बाड़ों में लगाया जाता है। इसकी पत्तियों से बड़ी अच्छी सुगंध निकलती है। इन पत्तियों से इत्र बनाया जाता है, जो पचौली के नाम से प्रसिद्ध है। दे० "पचौली"।

पींग†–संज्ञा स्त्री० दे० "पेंग"।

पींजना–क्रि० स० [सं० पिंजन = धुनकी] रूई धुनना।

पींजर*†–संज्ञा पुं० दे० "पिंजड़ा" या "पंजर"।

पींजरा*–संज्ञा पुं० दे० "पिंजड़ा"।

पींड†–संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) शरीर। देह। पिंड। उ०—विन जिव पिंड छार करि कूरा। छार मिलावइ सो हित पूरा।—जायसी। (२) वृक्ष का धड़। वृक्ष देह। तना। पेड़ी। (३) किसी गीली वस्तु का गोला। पिंड। पिंडी। (४) कोल्हू के चारों ओर गीली मिट्टी का बनाया हुआ घेरा जिससे ईख की अंगारियाँ या छोटे टुकड़े छटककर बाहर नहीं निकलने पाते। (५) चरखे का मध्य भाग। बेलन। (६) दे० "पीढ़"। उ०—(क) शिखी की भाँति शिर पींड डोलत सुभग चाप ते अधिक नवमाल शोभा।—सूर। (ख) पींड श्रीखंड शिर भेष नटवर कसे अंग इक छठा मैं ही भुलाई।—सूर। (७) पिंड खजूर नामक फल। उ०—खरिक दाख अरु गिरी चिरारी, पींड़ बदाम लेत बनवारी।—सूर।

पींड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "पिंडी"।

पींडुरी–संज्ञा स्त्री० दे० "पिंडुली"।

पी*–संज्ञा पुं० दे० "पिय"।

[अनु०] पपीहे की बोली। उ०—पी पी करत पपीहा पापी प्राण त्याग कर दैहैं।—श्रीनिवासदास।

पीक–संज्ञा स्त्री० [सं० पिच्च = दवाना, निचोड़ना] (१) थूक से मिला हुआ पान का रस। चबाए हुए बीड़े या गिलौरी का रस। पान के रंग से रँगा हुआ थूक।

यौ०—पीकदान। पीकलीक।

(२) पहली बार का रंग। वह रंग जो कपड़े को पहली बार रंग में डुबोने से चढ़ता है। (रँगरेज)।

[लश०] ऊँचनीच। ऊबड़खाबड़। असमतल। नाहमवार।

पीकदान–संज्ञा पुं० [हिं० पीक + फा० दान = आधार; पात्र] एक विशेष प्रकार का बना हुआ वह बरतन या पात्र जिसमें पान की पीक थूकी या डाली जाती है। उगालदान।

पीकना†–क्रि० अ० [सं० पिक अथवा पपीहे की बोली 'पी' से अनुकृत] पिहिकना। पपीहे या कोयल का बोलना। उ०—अब न धीर धारत बनत सुरत बिसारी कंत। पिक पापी पीकन लगे बगरेउ बाग बसन्त।

पीका†–संज्ञा पुं० [देश०] किसी वृक्ष का नया कोमल पत्ता। कोंपल। पल्लव। उ०—कहै पदमाकर परागन में पानहू में पातन में पीकन पलासन पतंग है।—पद्माकर।

मुहा०—पीका फूटना = पनपना। पल्लवित होना। कोंपलें फेंकना। उ०—जासु चरन जल सींचन पाई। पीका फूटि हरित ह्वै जाई।—रघुराज।

पीच–संज्ञा स्त्री० [सं० पिच्च] भात का पसाव। माँड़।

पीचू–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का झाड़। चीलू। जरदालू। (२) करील का पका फल। पक्का कचड़ा या टेंटी।

पीछ†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीच] पीच माँड़।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पीछे वा पिछला] पक्षियों की दुम।

पीछा–संज्ञा पुं० [सं० पश्चात्, प्रा० पच्छा] (१) किसी व्यक्ति

या वस्तु का वह भाग जो सामने की विरुद्ध दिशा में हो। किसी व्यक्ति या वस्तु के पीछे की ओर का भाग। पश्चात् भाग। पुश्त। "आगा" का उलटा। जैसे, (क) **इस इमारत का आगा जितना अच्छा बना है उतना अच्छा पीछा नहीं बना है।** (ख) **इस अँगरखे का पीछा ठीक नहीं बना है।**

मुहा०—**पीछा दिखाना**=(१) भागना। हारकर घर का रास्ता लेना। पीठ दिखाना। जैसे, **कुल दो ही घंटे की लड़ाई के बाद शत्रु ने पीछा दिखाया।** (२) दे० "पीछा देना"। **पीछा देना**=किसी काम में पहले साथ देकर फिर किनारा करना। पीछे जाना। मौके पर हट जाना या धोखा देना। पहले भरोसा दिलाकर पीछे सहायता न देना। **पीछा भारी होना**=(१) पीछे की ओर शत्रु का होना। पीछे की ओर से भय या खतरा होना। (२) कुमुक आ जाने से सेना का पश्चात् भाग सबल हो जाना।

(२) किसी घटना का पश्चात्वर्त्ती काल। किसी घटना के बाद का समय। जैसे, (क) **ब्याह का पीछा है, इसी से हाथ इतना तंग है।** (ख) **इतने बड़े रईस (की मृत्यु) का पीछा है, हजारों रुपए लग जायँगे।** (३) पीछे पीछे चलकर किसी के साथ लगे रहने का भाव। जैसे, (क) **बड़े का पीछा है, कुछ न कुछ दे ही जायगा।** (ख) **चार साल तक इस साधु का पीछा किया पर इसने कुछ भी न बताया।**

मुहा०—**पीछा करना**=(१) किसी के पीछे पीछे जाना या फिरना। हर समय किसी के साथ या समीप बने रहना। कोई काम निकालने के लिये या किसी आशा से किसी के साथ लगे रहना। (२) अनिच्छुक व्यक्ति से कोई काम कराने के लिये अत्यंत आग्रह करना या बहुत समय तक आग्रह करते रहना। किसी बात के लिये किसी को तंग या दिक करना। गले पड़ना। जैसे, **अब तो तुम इस काम के लिये मेरा पीछा न करते तो मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता।** (३) किसी को पकड़ने, मारने या भगाने आदि के लिये उसके पीछे पीछे चलना। खदेड़ना। **पीछा छुड़ाना**=(१) पीछा करनेवाले से छुटकारा प्राप्त करना। किसी बात के आग्रह से तंग या दुखी करनेवाले से अपने आपको दूर कर लेना। गले पड़े हुए व्यक्ति से जान छुड़ाना। जैसे, **बड़ी कठिनाई से इस आदमी से पीछा छुड़ाया है।** (२) अप्रिय या इच्छाविरुद्ध संबंध का अंत करना। दुःखदायी संबंध से छुटकारा प्राप्त करना। दुःखद प्रतीत होनेवाले कार्य को समाप्त कर सकना या कर लेना। जैसे, **किसी आशंका से पीछा छुड़ाना, किसी काम से पीछा छुड़ाना।** **पीछा छूटना**=(१) पीछा करनेवाले से छुटकारा मिलना। अप्रिय साथ का कष्ट दूर होना। गले पड़े हुए का साथ छूटना। पिंड छूटना। जान छूटना। (२) अप्रिय कार्य या संबंध से छुटकारा मिलना। दुःखद वस्तु का अंत या समाप्ति होना। रिहाई मिलना। **पीछा छोड़ना**=(१) पीछा करने का काम बंद करना। किसी आशा या प्रयोजन से किसी के साथ फिरना बंद करना। सहारा छोड़ना। (२) किसी बात के लिये किसी से अत्यंत आग्रह करना बंद करना। जान खाना छोड़ना। तंग करना बंद करना। (३) जिस बात में बहुत देर से लगे हों उसे छोड़ देना। **पीछा पकड़ना**=किसी आशा से किसी का समीपवर्ती, दरबारी या साथी बनना। आश्रय का आकांक्षी बनना। सहारा बनाना। जैसे, **किसी रईस का पीछा पकड़ना।**

पीछू*†—क्रि० वि० दे० **"पीछे"।**

पीछे—अव्य० [हिं० पीछा] **(१) पीठ की ओर। जिधर मुँह हो उसकी विरुद्ध दिशा में। आगे या सामने का उलटा। पश्चात्।** जैसे, **जरा अपने पीछे तो देखो कि कौन खड़ा है।**

मुहा०—(किसी के) पीछे चलना=(१) किसी विषय में किसी को पथदर्शक, नेता या गुरु मानना। कार्यविशेष में किसी का पदानुसरण करना। किसी का अनुयायी या अनुगामी होना। अनुकरण करना। जैसे, **वह ऐसा वैसा आदमी नहीं है, उसके पीछे चलनेवालों की संख्या हजारों से ऊपर है।** (२) एक आदमी ने जैसा किया हो वैसा ही करना। किसी का अनुकरण करना। नकल करना। जैसे, **खोज के विषय में भारतीय विद्वान् भी बहुधा युरोपीय पंडितों के पीछे चले हैं।** **(किसी के) पीछे छूटना**=(१) किसी के साथ रहकर उसका भेद लेने या उसकी गतिविधि पर दृष्टि रखने के लिये नियुक्त किया जाना। जासूस बनाकर किसी के साथ लगाया जाना। जैसे, **आजकल उनके पीछे कई आदमी छूटे हैं।** (२) किसी भागे हुए आदमी को पकड़ने के लिये नियुक्त किया जाना। **(किसी के) पीछे छोड़ना या भेजना**=(१) जासूस या भेदिया बनाकर किसी को किसी के साथ लगाना। गुप्त रूप से किसी के साथ रहकर उसका भेद लेने या उसके कामों से जानकारी रखने के लिये किसी को नियत करना। साथ लगाना। (२) किसी आदमी को पकड़ने के लिये किसी को भेजना या दौड़ाना। किसी का पीछा करने के लिये किसी को भेजना। **(धन) पीछे डालना**=खर्च से बचाकर भविष्यत् की आवश्यकता के लिये कुछ रखना। आगे के लिये बटोरना। संचय करना। जैसे, **प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपनी कमाई में से कुछ न कुछ पीछे डालता जाय।** **(किसी के) पीछे डालना**=पीछे छोड़ना। पीछे दौड़ाना। जैसे, **उसने चोरों के पीछे सवार डाले।** **(किसी के) पीछे दौड़ाना**=(१) गए या जाते हुए आदमी को फेर लाने के लिये किसी को रवाना करना। किसी को लौटा लाने के लिये किसी को दौड़ाना या भेजना। (२) भागे या भागते हुए को पकड़ लाने के लिये किसी को भेजना। भागे या भागते हुए का पीछा करने के लिये किसी को रवाना करना। **(किसी काम के) पीछे पड़ना**

= किसी काम को कर डालने पर तुल जाना। किसी कार्य के लिये अविराम उद्योग करना। किसी कार्य की सिद्धि के लिये आग्रहयुक्त होना। वार वार विफल होने पर भी किसी काम के लिये उत्साह के साथ प्रयत्न करते रहना। **(किसी व्यक्ति के) पीछे पड़ना** = (१) कोई काम करने के लिये किसी से बार बार कहना। किसी से कोई प्रार्थना करते हुए आग्रहयुक्त होना। किसी के पीछे लग कर उससे कोई अनुरोध करना। घेरना। जान खाना। तंग करना। (२) किसी के संबंध में कोई ऐसा कार्य बार बार आग्रहपूर्वक करना जिससे उसे कष्ट पहुँचे या उसका अपकार हो। मौका या संधि ढूँढ़ ढूँढ़ कर किसी की बुराई करते रहना। किसी को हानि पहुँचाने के लिये आग्रहयुक्त होना। जैसे, **बरसों से यह दुष्ट न जाने क्यों मेरे पीछे पड़ रहा है। पीछे लगना** = (१) किसी आशा या प्रयोजन से किसी के पीछे पीछे चला करना। साथ हो लेना। साथ साथ चलना। पीछे पीछे घूमना। पीछा करना। जैसे, **तुम तो कितने दिनों से उनके पीछे लगे हो पर अभी तक हाथ कुछ न आया।** (२) अनिष्ट या अप्रिय वस्तु का संबंध हो जाना। दुःखजनक वस्तु का साथ हो जाना। रोग कष्टादि का देर तक बना रहना। जैसे, **रोग पीछे लगना, मुसीबत पीछे लगना आदि। (अपने) पीछे लगाना** = (१) आश्रय देना। साथ कर लेना। (२) रोग दुःख आदि की प्राप्ति और स्थिति में स्वतः कारण होना। अनिष्ट वस्तु से संबंध कर लेना। पालना। जैसे, **मुसीबत पीछे लगाना; झंझट पीछे लगाना आदि। (किसी और के) पीछे लगाना** = (१) साथ लगा देना। अनिष्ट या अप्रिय वस्तु से संबंध करा देना। मढ़ देना। जैसे, **तुमने यह अच्छी मुसीबत हमारे पीछे लगा दी।** (२) भेद लेने या निगाह रखने के लिये किसी को साथ कर देना। किसी आदमी को किसी का पीछा करने के लिये नियुक्त करना या भेजना। कार्रवाइयाँ देखते रहने के लिये किसी आदमी को उसके साथ कर देना। किसी के साथ रहने के लिये नियुक्त करना।

विशेष—'धीरे' आदि कितने ही अन्य अव्ययों के समान 'पीछे' भी प्रायः आवृत्ति के साथ आता है; जैसे, पीछे पीछे आना, पीछे पीछे चलना, पीछे पीछे घूमना आदि। इस रूप में अर्थात् आवृत्तिपूर्वक यह जिस क्रिया का विशेषण होता है उसका लगातार अधिक समय तक होना सूचित होता है।

(२) पीछे की ओर कुछ दूर पर। पीठ की अथवा आगे की विरुद्ध दिशा में। कुछ दूर पर। जैसे, (क) **उनके मकान को तुम बहुत पीछे छोड़ आए।** (ख) **वह गाँव बहुत पीछे छूट गया।**

मुहा०—**पीछे छूटना, पड़ना या होना** = (१) किसी विषय में किसी से कम होना। गुण, योग्यता आदि की तुलना में किसी से न्यून रह जाना। किसी विषय में किसी व्यक्ति की अपेक्षा घट कर होना। पिछड़ा होना। जैसे, **और विषयों की तो मैं नहीं कह सकता, पर रचनाभ्यास में तुम उससे बहुत पीछे छूट गए हो।** (२) किसी विषय में किसी ऐसे आदमी से घट जाना जिससे किसी समय बराबरी रही हो। पिछड़ जाना। जैसे, **बीमारी के कारण वह अपने सहपाठियों से बहुत पीछे छूट गया** (प्रायः इस अर्थ में यह क्रिया 'जाना' से संयुक्त ही होकर आती है)। **(किसी को) पीछे छोड़ना** = (१) किसी विषय में किसी से बढ़कर या अधिक होना। किसी विषय में किसी की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान् होना या योग्यता रखना। जैसे, **इस विषय में वह हजारों को पीछे छोड़ गया है।** (२) किसी विषय में किसी से बढ़ जाना। किसी से आगे निकल जाना। किसी विषय में किसी विशेष व्यक्ति की अपेक्षा अधिक योग्य या सामर्थ्यवान् हो जाना।

(३) देश या कालक्रम में किसी के पश्चात् या उपरांत। स्थिति या घटना के विचार से किसी के अनंतर कुछ दूर या कुछ देर बाद। किसी वस्तु या व्यापार के पश्चाद्वर्ती स्थान या काल में। पश्चात्। उपरांत। अनंतर। जैसे, (क) **पचास हाथ लंबी पाँत में सब लोग एक दूसरे के पीछे खड़े थे।** (ख) **तुम्हारे काशी आने के कितना पीछे यह घटना हुई?** (४) अंत में। आखिर में। (क्व०)। जैसे, **पहले तो वे बहुत दिनों तक पढ़ते रहे पीछे बीमार पड़ने के कारण उनका पढ़ना लिखना छूट गया।** (५) किसी की अनुपस्थिति या अभाव में। किसी की अविद्यमानता में। पीठ पीछे। जैसे, **किसी के पीछे उसकी बुराई करना अच्छा काम नहीं।** (६) मर जाने पर। इस लोक में न रह जाने की दशा में। मरणोपरांत। जैसे, (क) **आदमी के पीछे उसका नाम ही रह जाता है।** (ख) **वे अपने पीछे चार बच्चे, एक विधवा और प्रायः पचास हजार का ऋण छोड़ गए।** (७) लिये। वास्ते। कारण। अर्थ। खातिर। जैसे, **इस आदमी के पीछे मैंने क्या क्या कष्ट न सहा पर यह ऐसा कृतघ्न निकला कि सब भूल गया।** (८) कारण। निमित्त। बदौलत। जैसे, **तुम्हारे पीछे हमें भी दस बात सुननी पड़ी।**

पीजन—संज्ञा पुं० [सं० पिंजन] **भेड़ों के बाल धुनकने की धुनकी। (गड़ेरिए)।**

पीजर†—संज्ञा पुं० दे० "**पिँजड़ा**"।

पीजरा†—संज्ञा पुं० दे० "**पिँजड़ा**"।

पीटन†—संज्ञा पुं० दे० "**पिटना**"।

पीटना—क्रि० स० [सं० पीडन] (१) **किसी वस्तु पर चोट पहुँचाना। मारना।**

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

मुहा०—छाती पीटना = दुःख या शोक प्रकट करने के लिये छाती पर हाथ से आघात करना। **किसी बात को पीटना** = किसी बात या कार्य पर तीव्र दुःख प्रकाश करना। किसी बात को सोच सोच कर दुःखित होना। हाय हाय करना। सिर धुनना। (खि०)। **किसी व्यक्ति को या के लिये पीटना** = किसी व्यक्ति की मृत्यु का शोक करना। किसी के मरने पर छाती पीटना। मातम करना। उ०—आँख फूटे जो भर नजर देखे। मुझको पीटे अगर इधर देखे।—एक उर्दू कवि।

(२) आघात पहुँचाकर किसी वस्तु को फैलाना या बढ़ाना। चोट से चिपटा या चौड़ा करना। जैसे, पत्तर पीटना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(३) किसी जीवधारी पर आघात करना। किसी के शरीर को चोट अथवा पीड़ा पहुँचाना। मारना। प्रहार करना। ठोंकना। जैसे, आज तुमने भारी अपराध किया है; तुम्हारे बाप तुम्हें अवश्य पीटेंगे।

संयो० क्रि०—डालना।

(४) किसी न किसी प्रकार कर डालना या कर लेना। भले या बुरे प्रकार से कर डालना। येन केन प्रकारेण किसी काम को समाप्त या संपन्न कर लेना। निबटा देना। जैसे, शाम तक इस काम को अवश्य पीट डालूँगा।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(५) किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर लेना। येन केन प्रकारेण उपार्जित करना। फटकार लेना। जैसे, शाम तक चार रुपए पीट लेता हूँ।

संयो० क्रि०—लेना।

संज्ञा पुं० (१) मृत्युशोक। मातम। पिट्टस। जैसे, यहाँ यह कैसा पीटना पड़ा हुआ है? (२) आपद्। मुसीबत। आफत।

पीठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लकड़ी, पत्थर या धातु का बना हुआ बैठने का आधार या आसन। पीढ़ा। चौकी। विशेष—दे० "पीढ़ा"। (२) व्रतियों विद्यार्थियों आदि के बैठने का आसन। कुशासन आदि। (३) किसी मूर्त्ति के नीचे का आधारपिंड। मूर्त्ति का वह आसनवत् भाग जिसके ऊपर वह खड़ी रहती है। मूर्त्ति का आधार। (४) किसी वस्तु के रहने की जगह। अधिष्ठान। जैसे, विद्यापीठ। (५) सिंहासन। राजासन। तख़्त। (६) वेदी। देवपीठ। (७) वह स्थान जहाँ पुराणानुसार दक्षपुत्री सती का कोई अंग वा आभूषण विष्णु के चक्र से कटकर गिरा है।

विशेष—ऐसे स्थान भिन्न भिन्न पुराणों के मत से ५१, ५३, ७७ अथवा १०८ हैं। इनमें से कुछ को महापीठ और कुछ की उपपीठ संज्ञा है। शिवचरित नामक ग्रंथ में, जिसमें कुल ७७ पीठ गिनाए गए हैं, ५१ को महापीठ और २६ को उपपीठ कहा है। ये सब स्थान तांत्रिक तथा शाक्तधर्म के अनुसार अति पुनीत और सिद्धिदायक माने गए हैं। इन स्थानों में जपादि करने से शीघ्र सिद्धि और दान होम स्नान आदि करने से अक्षय पुण्य होना माना गया है। इन स्थानों की उत्पत्ति के संबंध में पुराणों में यह कथा है—शिव से अप्रसन्न होकर उनके ससुर दक्ष ने उनको अपमानित करने का निश्चय किया। उन्होंने बृहस्पति नामक यज्ञ आरंभ किया जिसमें त्रिभुवन के यावत् देवी देवताओं को निमंत्रित किया पर शिव और अपनी कन्या सती को न पूछा। सती बिना बुलाए भी पिता के समारंभ में सम्मिलित होने को तैयार हो गईं और शिव ने भी अंत को उनकी हठ रख ली। सती जब बाप के यज्ञस्थान में पहुँचीं तब दक्ष ने उनका आदर अभ्यर्थना तो न की, वे भगवान् भूतनाथ की जी भरकर निंदा करने लगे। सती को पूज्य पति की निंदा सुनना असह्य हुआ। वे यज्ञकुंड में कूद पड़ीं और जल मरा। उनके साथ शिव के जो अनुचर गए थे उन्होंने लौटकर शिव को यह समाचार सुनाया जिसे सुनकर शिवजी क्रोध से पागल हो उठे और उन्होंने वीरभद्रादि अनुचरों के द्वारा दक्ष को मरवा डाला और उनका यज्ञ विध्वंस करा दिया। सती के विछोह का उनको इतना दुःख हुआ कि वे उनकी मृत देह को कंधे पर रखकर चारों ओर नाचते हुए घूमने लगे। अंत को भगवान् विष्णु ने इस दशा से उनका उद्धार करने के अभिप्राय से अपने चक्र द्वारा धीरे धीरे सती के सारे शव को काटकर गिरा दिया। जिन जिन स्थानों पर उनका कोई अंग या आभूषण कटकर गिरा उन सब में एक एक शक्ति और भैरव भिन्न भिन्न नाम तथा रूप से अवस्थान करते हैं। जिन स्थानों में कोई एक अंग गिरा वे महापीठ और जिनमें किसी अंग का अंश या कोई अलंकार मात्र गिरा वे उपपीठ हुए। इन महापीठों, उपपीठों और उनमें अवस्थान करनेवाली शक्तियों और भैरवों के नाम तंत्रचूड़ामणि आदि तंत्रग्रंथों और देवीभागवत, कालिकापुराण आदि पुराणों में दिए हुए हैं। काशी में कान के कुंडल का गिरना कहा गया है। यहाँ की शक्ति का नाम मणिकर्णी, अन्नपूर्णा या विशालाक्षी और भैरव का कालभैरव है।

(८) प्रदेश। प्रांत। (९) बैठने का एक विशेष ढंग। एक आसन। (१०) कंस के एक मंत्री का नाम। (११) एक विशेष असुर। (१२) वृत्त के किसी अंश का पूरक।

संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठ] प्राणियों के शरीर में पेट की दूसरी ओर का भाग जो मनुष्य में पीछे की ओर और तिर्यक् पशुओं,

पक्षियों, कीड़े मकोड़ों आदि के शरीर में ऊपर की ओर पड़ता है। पृष्ठ। पुश्त।

मुहा०—पीठ का = दे० "पीठ पर का"। **पीठ का कच्चा** = (घोड़ा) जो देखने में हृष्ट पुष्ट और सजीला हो पर सवारी में ठीक न हो। (ऐसा घोड़ा) जिसकी चाल से सवार प्रसन्न न हो। चाल न जाननेवाला (घोड़ा)। **पीठ का सच्चा** = (घोड़ा) जिसमें अच्छी चाल हो। चालदार (घोड़ा)। (ऐसा घोड़ा) जो सवारी के समय सुख दे। **पीठ की** = दे० "पीठ पर की"। **पीठ चारपाई से लग जाना** = बीमारी के कारण अत्यंत दुबला और कमजोर हो जाना। उठने बैठने में असमर्थ हो जाना। **पीठ खाली होना** = सहायक हीन होना। कोई सहारा देनेवाला या हिमायती न होना। पीठ पर किसी का न होना। **पीठ ठोंकना** = (१) कोई उत्तम कार्य करने के लिये अभिनंदन करना। किसी के कार्य से प्रसन्नता प्रकट करना। किसी के कार्य की प्रशंसा करना। शाबासी देना। **जैसे, तुम्हारे पीठ ठोंकने से ही वे आज मुझसे लड़ गए।** (२) किसी कार्य में अग्रसर होने के लिये साहस देना। हिम्मत बढ़ाना। प्रोत्साहित करना। (३) प्यार से किसी की पीठ पर थपथपाना। किसी पर प्यार जताना या करना। पीठ पर हाथ फेरना। **पीठ तोड़ना** = कमर तोड़ना। हिम्मत तोड़ना। हताश कर देना। **पीठ दिखाना** = युद्ध या मुकाबिले से भाग जाना। मैदान छोड़ देना। पीछा दिखाना। **जैसे, कुल एक ही घंटे लोहा बजने के बाद शत्रु ने पीठ दिखाई।** **पीठ दिखाकर जाना** = स्नेह तोड़कर या ममता छोड़कर जाना। घरवालों या प्रियवर्ग से विदा होना। परदेश के लिये प्रस्थान करना। **पीठ देना** = (१) यात्रार्थ किसी या कहीं से विदा होना। रुखसत होना। (२) विमुख होना। मुँह मोड़ना। (३) भाग जाना। पीठ दिखाना। (४) किनारा खींचना। साथ न देना। पीछा देना। (५) चारपाई पर पीठ रखना। सोना। लेटना। आराम करना। **जैसे, (क) आज तीन दिन से दो मिनट के लिये भी मैं पीठ न दे सका। (ख) काम के मारे आजकल मुझे पीठ देना हराम हो रहा है। (यह मुहावरा निषेधार्थ या निषेधार्थक वाक्य में ही प्रयुक्त होता है जैसा कि उदाहरणों से प्रकट होता है)** **किसी की ओर पीठ देना** = (१) किसी की ओर पीठ करके बैठना। मुँह फेर लेना। (२) अरुचिपूर्वक उपेक्षा प्रकट करना। किसी की ओर ध्यान देने या उसकी बात सुनने से अनिच्छा दिखाना। **पीठ पर** = एक ही माता द्वारा जन्मक्रम में पीछे। एक ही माता के संतानों में से किसी विशेष के जन्म के अनंतर। **जैसे, इस लड़के के पीठ पर क्या तुम्हारे कोई संतान नहीं हुई?** **पीठ पर का** = जन्म क्रम में अपने सहोदर के अनंतर का। **पीठ पर खाना** = भागते हुए मार खाना। भागने की दशा में पिटना। कायरता प्रकट करते हुए घायल होना। **पीठ मींजना**† = दे० "पीठ पर हाथ फेरना"। **पीठ पर हाथ फेरना** = दे० "पीठ ठोंकना"। **पीठ पर होना** = (१) सहायक होना। सहायता के लिये तैयार होना। मदद पर होना। हिमायत पर होना। **जैसे, आज मेरी पीठ पर कोई होता तो मैं इस प्रकार दीन हीन बनकर क्यों भटकता फिरता?** (२) जन्म क्रम में अपने किसी भाई या बहिन के पीछे होना। अपने सहोदरों में से किसी के पीछे जन्म ग्रहण करना। **पीठ पीछे** = किसी के पीछे। अनुपस्थिति में। परोक्ष में। **जैसे, पीठ पीछे किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए।** **पीठ फेरना** = (१) विदा होना। चला जाना। रुखसत होना। (२) भाग जाना। पीठ दिखाना। (३) किसी की ओर पीठ कर देना। मुँह फेर लेना। (४) अरुचि या अनिच्छा प्रकट करना। उपेक्षा सूचित करना। **(किसी की) पीठ लगना** = चित होना। कुश्ती में हार खाना। पटका जाना। पछाड़ा जाना। **(घोड़े बैल आदि की) पीठ लगना** = पीठ पर घाव हो जाना। पीठ पक जाना। **(चारपाई आदि से) पीठ लगना** = लेटना। सोना। पड़ना। कल लेना। आराम करना। **(किसी की) पीठ लगाना** = चित कर देना। कुश्ती में हरा देना। पछाड़ देना। पटकना। **(घोड़े बैल आदि की) पीठ लगाना** = घोड़े या बैल को इस प्रकार कसना या लादना कि उसकी पीठ पर घाव हो जाय। सवारी या पीठ पर घाव कर देना।

(१३) किसी वस्तु की बनावट का ऊपरी भाग। किसी वस्तु की बाहरी बनावट। पृष्ठ भाग। भीतरी भाग या पेट का उलटा।

पीठक—संज्ञा पुं० [सं०] **पीढ़ा।**

पीठ का मोजा—संज्ञा पुं० [हिं० पीठ + फा० मोजा] **कुश्ती का एक पेंच। इसमें जब जोड़ कंधे पर बायाँ हाथ रखने आता है तब दाहिने हाथ से उसको उड़ाकर उलटा कर देते हैं और कलाई के ऊपर के भाग को इस प्रकार पकड़ते हैं कि अपनी कोहनी उसके कंधे के पास जा पहुँचती है, फिर झट पैतरा बदलकर जोड़ की पीठ पर जाने के इरादे से बढ़ते हुए बाएँ हाथ से बाएँ पाँव का मोजा उठाकर गिरा देते हैं।**

पीठ के डंडे-संज्ञा पुं० [हिं० पीठ + हिं० डंडा] **कुश्ती का एक पेंच। इसमें जब खिलाड़ी जोड़ की पीठ पर होता है तब शत्रु की बगल से ले जाकर दोनों हाथ गर्दन पर चढ़ाने चाहिएँ और गर्दन को दबाते हुए भीतरी अड़ानी टाँग मारकर गिराना चाहिए।**

पीठकेलि-संज्ञा पुं० [सं०] **पीठमर्द नायक।**

पीठगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] **वह गड्ढा जो मूर्ति को जमाने के लिये पीठ (आसन) पर खोदकर बनाया जाता है।**

पीठचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] **प्राचीनकाल का एक प्रकार का रथ।**

पीठदेवता-संज्ञा पुं० [सं०] **आधार शक्ति। आदि देवता।**

पीठनायिका देवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] **(१) पुराणानुसार किसी पीठस्थान की अधिष्ठात्री देवी। (२) दुर्गा। भगवती।**

पीठन्यास-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तंत्रोक्त न्यास जो प्रायः सभी तांत्रिक पूजाओं में आवश्यक है।

पीठभू-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीर के आसपास का भूभाग। चहारदीवारी के आसपास की जमीन।

पीठमर्द-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नायक के चार सखाओं में से एक जो वचनचातुरी से नायिका का मानमोचन करने में समर्थ हो। यह शृंगार रस के उद्दीपन विभाग के अंतर्गत है। (२) वह नायक जो कुपित नायिका को प्रसन्न कर सके। मानमोचन में समर्थ नायक।

विशेष—संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने पीठमर्द को नायक का भेद भी माना है परंतु कुछ रसाचार्यों ने इसकी गणना सखाओं में की है।

पीठविवर-संज्ञा पुं० [सं०] "पीठगर्भ"।

पीठसर्प-वि० [सं०] लँगड़ा।

पीठसर्पी-वि० [सं० पीठसर्पिन्] लँगड़ा।

पीठस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "पीठ (७)"। (२) सिंहासनबत्तीसी के अनुसार 'प्रतिष्ठान' (आधुनिक झूँसी) का एक नाम।

पीठा-संज्ञा पुं० दे० "पीढा"। उ०—आवत पीठा बैठन दीन्हों कुशल बूझि अति निकट बुलाई।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० पिष्टक, प्रा० पिठ्ठक] एक पकवान जो आटे की लोइयों में चने या उरद की पीठी भरकर बनाया जाता है। पीठी में नमक, मसाला आदि देकर आटे की लोइयों में उसे भरते हैं और फिर लोई का मुँह बंद कर उसे गोल, चौकोर, या चिपटा कर लेते हैं। फिर उन सब को एक वर्तन में पानी के साथ आग पर चढ़ा देते हैं। कोई कोई उसे पानी में न उबालकर केवल भाप पर पकाते हैं। घी में चुपड़कर खाने से यह अधिक स्वादिष्ट हो जाता है। पूरब की तरफ इसको फरा या फारा भी कहते हैं। कदाचित् इस नामकरण का कारण यह हो कि पक जाने पर लोई का पेट फट जाता है और पीठी झलकने लगती है।

संज्ञा पुं० दे० "पठा"।

पीठि*-संज्ञा स्त्री० दे० "पीठ"।

पीठिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीढ़ा। (२) मूर्त्ति खंभे आदि का मूल या आधार। (३) अंश। अध्याय।

पीठी-संज्ञा स्त्री० [सं० पिष्ट या पिष्टक, प्रा० पिट्ठा] पानी में भिगोकर पीसी हुई दाल विशेषतः उरद या मूँग की दाल जो बरे, पकौड़ी आदि बनाने अथवा कचौरी में भरने के काम में आती है।

क्रि० प्र०—पीसना।—भरना।

पीड़-संज्ञा पुं० [देश०] मिट्टी का आधार जिसे घड़े को पीटकर बढ़ाते समय उसके भीतर रख लेते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं० आपीड़] सिर या बालों पर बाँधा जानेवाला एक प्रकार का आभूषण। उ०—करधर कै धरमैर-सखी री। कै सृक् सीपज की बगपंगति, कै मयूर की [illegible] पखीरी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "पीड़ा"।

पीड़क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़ा देने या पहुँचानेवाला। दुःखदायी। यंत्रणादाता। (२) अत्याचारी। उत्पीड़क। सतानेवाला।

पीड़न-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पीड़क, पीड़नीय, पीड़ित] (१) दबाने की क्रिया। किसी वस्तु को दबाना। चापना। (२) पेरना। पेलना। (३) दुःख देना। यंत्रणा पहुँचाना। तकलीफ देना। (४) अत्याचार करना। उत्पीड़न। (५) आक्रमण द्वारा किसी देश को बर्बाद करना। (६) फोड़े को पीव निकालने के लिये दबाना। (७) किसी वस्तु को भली भाँति पकड़ना। दबोचना। (८) सूर्य्य चंद्र आदि का ग्रहण। (९) उच्छेद। नाश। (१०) अभिभव। तिरोभाव। लोप।

पीड़नीय-वि० [सं०] पीड़न करने योग्य। दुःख पहुँचाने योग्य।

संज्ञा पुं० (१) मंत्री और सेना से रहित राजा। (याज्ञवल्क्य स्मृति)। (२) चार प्रकार के शत्रुओं में से एक। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

पीड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी प्रकार का दुःख पहुँचने का भाव। शारीरिक या मानसिक क्लेश का अनुभव। वेदना। व्यथा। तकलीफ। दर्द। (२) रोग। व्याधि। (३) सिर में लपेटी हुई माला। शिरोमाला। (४) एक सुगंधित ओषधि। धूप सरल। सरल।

पीड़ास्थान-संज्ञा पुं० [सं०] कुंडली में उपचय अर्थात् लग्न से तीसरे, छठे, दसवें और ग्यारहवें स्थान के अतिरिक्त स्थान। अशुभ ग्रहों के स्थान।

पीड़ित-वि० [सं०] (१) पीड़ायुक्त। जिसे व्यथा या पीड़ा पहुँची हो। दुःखित। क्लेशयुक्त। (२) रोगी। बीमार। (३) दबाया हुआ। जिस पर दाब पहुँचाया गया हो। (४) उच्छिन्न। नष्ट किया हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों के कान का छेद। कर्णभेद। (२) तंत्रसार में दिए हुए एक प्रकार के मंत्र।

पीडुरी*-संज्ञा स्त्री० दे० "पिँडली"।

पीढ़ा†-संज्ञा पुं० [सं० पीठ अथवा पीठक] चौकी के आकार का वह आसन जिस पर हिंदू लोग विशेषतः भोजन करते समय बैठते हैं। इसकी लंबाई डेढ़ दो हाथ, चौड़ाई पौन या एक हाथ और उँचाई चार छ अंगुल से प्रायः अधिक नहीं होती। अधिकतर यह आम की लकड़ी से बनाया जाता है। अमीर लोग संगमरमर और

राजा महाराज सोने चांदी आदि के भी पीढ़े बनवाते हैं। पाटा। पीठ। पीठक।

पीढ़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० पीठिका] (१) किसी विशेष कुल की परंपरा में किसी विशेष व्यक्ति की संतति का क्रमागत स्थान। किसी कुल या वंश में किसी विशेष व्यक्ति से आरंभ करके उससे ऊपर या नीचे के पुरुषों का गणना-क्रम से निश्चित स्थान। किसी व्यक्ति से या उसकी कुलपरंपरा में किसी विशेष व्यक्ति से आरंभ करके बाप, दादे, परदादे आदि अथवा बेटे, पोते, परपोते आदि के क्रम से पहला दूसरा चौथा आदि कोई स्थान। पुश्त। जैसे, (क) ये राजा कृष्णसिंह की चौथी पीढ़ी में हैं। (ख) यदि वंशोन्नति संबंधी नियमों का भली भाँति पालन किया जाय तो हमारी तीसरी पीढ़ी की संतान अवश्य यथेष्ट बलवान् और दीर्घजीवी होगी।

विशेष—पीढ़ी का हिसाब ऊपर और नीचे दोनों ओर चलता है। किसी व्यक्ति के पिता और पितामह जिस प्रकार क्रम से उसकी पहली और दूसरी पीढ़ी में हैं उसी प्रकार उसके पुत्र और पौत्र भी। परंतु अधिकतर स्थलों में अकेला पीढ़ी शब्द नीचे के क्रम का ही बोधक होता है; ऊपर के क्रम का सूचक बनाने के लिये प्रायः उसके आगे "ऊपर की" विशेषण लगा देते हैं। यह शब्द मनुष्यों ही के लिये नहीं अन्य सब पिंडज और अंडज प्राणियों के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है।

(२) उपर्युक्त किसी विशेष स्थान अथवा पीढ़ी के समस्त व्यक्ति या प्राणी। किसी विशेष व्यक्ति अथवा प्राणी का संतति समुदाय। जैसे, (क) हमारे पूर्वजों ने कदापि न सोचा होगा कि हमारी कोई पीढ़ी ऐसे कर्म करने पर भी उतारू हो जायगी। (ख) यह संपत्ति हमारे पास तीन पीढ़ियों से चली आ रही है। (३) किसी जाति, देश अथवा लोकमंडल मात्र के बीच किसी कालविशेष में होनेवाला समस्त जन-समुदाय। कालविशेष में किसी विशेष जाति, देश अथवा समस्त संसार में वर्तमान व्यक्तियों अथवा जीवों आदि का समुदाय। किसी विशेष समय में वर्ग विशेष के व्यक्तियों की समष्टि। संतति। संतान। नस्ल। जैसे, (क) भारतवासियों की अगली पीढ़ी के कर्तव्य बहुत ही गुरुतर होंगे। (ख) उपाय करने से गोवंश की दूसरी पीढ़ी अधिक दुधारी और हृष्टपुष्ट बनाई जा सकती है।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० पीढ़ा] छोटा पीढ़ा।

पीत–वि० [सं०] [स्त्री० पीता] (१) पीला। पीतवर्णयुक्त। (२) भूरा रंग। कपिलवर्ण। (क्व०)।

[सं० पान] पिया हुआ। जिसका पान किया गया हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीला रंग। हल्दी का रंग। (२) भूरे रंग का। कापिल। (३) हरताल। (४) हरिचंदन। (५) कुसुम। (६) अंकोल या ढेरे का पेड़। (७) सिहोरा का पेड़। (८) धूपसरल। (९) बेंत। (१०) पुखराज। (११) तुन। नंदिवृत्त। (१२) एक प्रकार की सोमलता। (१३) पीली कटसरैया। (१४) पदमाख। पद्मकाष्ठ। (१५) पीला खस। (१६) मूँगा।

पीतकंद–संज्ञा पुं० [सं०] गाजर।

पीतक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) केशर। (३) अगर। (४) पद्माख। (५) सोनामाखी। (६) तुन। (७) विजयसार। (८) सोनापाठा। (९) हलदुआ। हरिद्र। (१०) किंकिरात। (११) पीतल। (१२) पीला चंदन। (१३) एक प्रकार का बबूल। (१४) शहद। (१५) गाजर। (१६) सफेद जीरा। पीतजीरक। (१७) पीली लोध। (१८) चिरायता। (१९) सोनापाठा।

वि० पीला। पीले रंग का। पीतवर्ण।

पीतकदली–संज्ञा पुं० [सं०] सोनकेला। स्वर्णकदली। चंपककदली।

पीतकद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] हलदुआ। हरिद्रवृत्त।

पीत-करवीरक–संज्ञा पुं० [सं०] पीला कनेर। पीले फूल की केना।

पीतका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठसरैया। (२) हलदी।

पीतकावर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केशर। (२) पीतल।

पीतकाष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीला चंदन। (२) पद्माख।

पीतकीला–संज्ञा स्त्री० [सं०] आवर्तकी लता। भागवतवल्ली।

पीतकुरवक–संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकुरुंट–संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकुष्मांड–संज्ञा पुं० [सं०] कुम्हड़ा। पीला कुम्हड़ा। वह कुम्हड़ा जिसकी तरकारी खाई जाती है।

पीतकुसुम–संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतकेदार–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का धान।

पीतगंध–संज्ञा पुं० [सं०] पीला चंदन। हरिचंदन।

पीतगंधक–संज्ञा पुं० [सं०] गंधक।

पीतघोषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की तुरई।

पीतचंदन–संज्ञा पुं० [सं०] द्रविड़देशीय पीले रंग का चंदन। हरिचंदन। वैद्यक के अनुसार यह शीतल, तिक्त तथा कुष्ट, श्लेष्म, कंडु, विचर्चिका, दाद, और कृमि का नाशक और कांतिकर है।

पर्या०—हरिचंदन। पीतगंध। कालेय। कालीय। कालीयक। पीताभ। हरिप्रिय। माधवप्रिय। पीतक। पीतकाष्ठ। वर्ब्बर। कालसार। कालानुसार्दक।

पीतचंपक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीली चंपा । (२) दीया । प्रदीप । चिराग ।

पीतचोप–संज्ञा पुं० [सं०] टेसू । पलास का फूल ।

पीतझिंटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीले फूलवाली कटसरैया । (२) एक प्रकार की कटाई ।

पीततंडुल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँगुनवृक्ष । (२) सालवृक्ष ।

पीततंडुलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] साल । शाल या सर्ज्ज वृक्ष ।

पीतता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीत का भाव । पीलापन । जर्दी ।

पीततुंड–संज्ञा पुं० [सं०] बया पक्षी ।

पीततैला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालकँगनी । (२) बड़ी मालकँगनी ।

पीतत्व–संज्ञा पुं० दे० "पीतता" ।

पीतदंतता–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों का एक पित्तज रोग जिसमें दांत पीले हो जाते हैं ।

पीतदारु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवदार । (२) धूप सरल । (३) हलदुआ । (४) हलदी । (५) चिरायता । (६) कायकरंज ।

पीतदीप्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के एक देवता ।

पीतदुग्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की कटेहरी । (२) ऊँटकटीला । ऊँटकटारा । भँड़भाँड़ । (३) एक प्रकार का थूहड़ । सातला ।

पीतद्रु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दारु हलदी । (२) एक प्रकार का देवदार । धूपसरल ।

पीतधातु*–संज्ञा पुं० [सं० पीत + धातु] रामरज । गोपीचंदन । उ०—श्याम हू अति श्यामहि भावै । बैठत उठत चलत गउ चारत तेरियै लीला गावै । पीतै पीत वसन भूषण सजि पीतधात अँग लावै ।—सूर ।

पीतन, पीतनक–संज्ञा पुं० [हिं०] (१) केशर । (२) धूपसरल । (३) हरताल । (४) आमड़ा । (५) पाकड़ ।

पीतनाश–संज्ञा पुं० [सं०] लकुच । बड़हर । क्षुद्र पनस ।

पीतनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरिवन । शालपर्णी ।

पीतनील–संज्ञा पुं० [सं०] नीले और पीले रंग के संयोग से बना हुआ रंग । हरा रंग ।

वि० हरे रंग का । हरितवर्ण (पदार्थ) ।

पीतपराग–संज्ञा पुं० [सं०] पद्मकेशर । कमल का केसर । किंजल्कक ।

पीतपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली ।

पीतपादप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा । श्योनाक वृक्ष । (२) लोध का पेड़ ।

पीतपादा–संज्ञा स्त्री० [सं० पीत + पाद] मैना । शारिका ।

वि० स्त्री० जिसके चरण पीले हों ।

पीतपिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] सीसा धातु ।

पीतपुष्प, पीतपुष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर । (२) घिया तोरई । (३) पीले फूल की कटसरैया । (४) चंपा । (५) रग नामक क्षुप । (६) पेठा । (७) तगर । (८) हिंगोट । (९) लाल कचनार ।

पीतपुष्पका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जंगली ककड़ी ।

पीतपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झिंझरीटा । (२) इंद्रायण । (३) सहदेवी । (४) अरहर । (५) तोरई । (६) पीलें फूल की कटसरैया । (७) पीले फूल का कनेर । (८) सोनजुही । यूथिका ।

पीतपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखाहुली । (२) सहदेई । (३) बड़ी तोरई । (४) खीरा । (५) इंद्रायण । (६) सोनजुही ।

पीतपृष्ठा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की कौड़ी । वह कौड़ी जिसकी पीठ पीली होती है ।

पीतप्रसव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंगुपत्री । (२) पीला कनेर ।

पीतफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिहोर । शाखोट वृक्ष । (२) कमरख । कर्मरंग । (३) धव वृक्ष ।

पीतफलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिहोर । (२) रीठा । (३) कमरख । (४) धव वृक्ष ।

पीतफेन–संज्ञा पुं० [सं०] रीठा । अरिष्टक वृक्ष ।

पीतबलि–संज्ञा पुं० [सं०] गंधक ।

पीतबालुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी ।

पीतबीजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी ।

पीतभद्रक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बबूल । देवबब्बुर ।

पीतभृंगराज*–संज्ञा पुं० [सं०] पीला भँगरा ।

पीतम*–वि० दे० "प्रियतम" ।

संज्ञा पुं० दे० "प्रियतम" ।

पीतमणि–संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज । पुष्पराग मणि ।

पीतमस्तक–संज्ञा पुं० [सं०] बड़ी जाति का बाज । श्येन पक्षी ।

पीतमाक्षिक–संज्ञा पुं० [सं०] सोनामाखी ।

पीतमुंड–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हरिन ।

पीतमूलक–संज्ञा पुं० [सं०] गाजर ।

पीतमूली–संज्ञा स्त्री० [सं०] रेवंदचीनी ।

पीतयूथी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सोनजूही । स्वर्णयूथिका ।

पीतर†–संज्ञा पुं० दे० "पीतल" ।

पीतरक्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुखराज । (२) पद्माख ।

पीतरत्न–संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज । पीतमणि ।

पीतरस–संज्ञा पुं० [सं०] कसेरू ।

पीतराग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्मकेसर । (२) मोम । (३) पीला रंग ।

वि० पीला । पीले रंग का ।

पीतरोहिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंभीरी । कुंभेर । (२) पीली कुटकी ।

पीतल–संज्ञा पुं० [सं० पित्तल] एक प्रसिद्ध उपधातु जो ताँबे और जस्ते के संयोग से बनती है। कभी कभी इसमें राँगे या सीसे का भी कुछ अंश मिलाया जाता है। यह ताँबे की अपेक्षा कुछ अधिक दृढ़ होती है। इसका व्यवहार बहुधा थाली, कटोरे, गिलास, गगरे, हंडे आदि बरतन बनाने में होता है। देवताओं की मूर्तियाँ, उनके सिंहासन, घंटे, अनेक प्रकार के वाद्य, यंत्र, ताले, कलों के कुछ पुरजे और गरीबों के लिये गहने भी पीतल से बनाए जाते हैं। पीतल की चीजें लोहे की चीजों से कुछ अधिक टिकाऊ होती हैं, क्योंकि उनमें मोरचा नहीं लगता। यह पीतल दो प्रकार का होता है—एक कुछ सफेदी लिए पीले रंग का और दूसरा कुछ लाली लिए पीले रंग का। राँगे का भाग अधिक होने से इसमें कुछ सफेदी और सीसे का भाग अधिक होने से लाली आ जाती है। यदि इसमें निकल का मेल दिया जाय तो इसका रंग जर्मन सिलवर के समान हो जाता है। इस पर कलई बहुत अच्छी होती है।

पीतलोह–संज्ञा पुं० [सं०] पीतल।

पीतवर्ण–वि० [सं०] पीले रंग का। पीला।

संज्ञा पुं० (१) पीला मेढक। स्वर्णमंडूक। (२) ताड़। तालवृक्ष। (३) कदंब। (४) हलदुआ। (५) लाल कचनार। (६) मैनसिल। (७) पीतचंदन। (८) केसर।

पीतवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाश बेल।

पीतवान–संज्ञा पुं० [देश०] हाथी की दोनों आँखों के बीच की जगह।

पीतवालुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

पीतवास–संज्ञा पुं० [सं० पीतवासस्] श्रीकृष्ण।

वि० जो पीले कपड़े पहने हो। पीतवसनयुक्त।

पीतविंदु–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु के चरण-चिह्नों में से एक।

पीतवीजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

पीतवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा। (२) धूपसरल।

पीतशाल, पीतशालक–संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार।

पीतसरा–संज्ञा पुं० [सं० पितृव्य, हिं० पितिया + ससुर] चचिया ससुर। ससुर का भाई।

पीतसार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतचंदन। हरिचंदन। (२) मलयागिर चंदन। सफेद चंदन। (३) गोमेद मणि। (४) अंकोल। ढेरा। (५) विजयसार। (६) शिलारस।

पीतसारक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नीम का पेड़। (२) ढेरे का पेड़।

पीतसारिका–संज्ञा पुं० [सं०] काला सुरमा।

पीतसाल, पीतसालक–संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार।

पीतस्कंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूअर। शूकर। (२) एक वृक्ष।

पीतस्फटिक–संज्ञा पुं० [सं०] पुखराज।

पीतस्फोट–संज्ञा पुं० [सं०] खुजली। खसरा रोग।

पीतांग–संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा।

पीतांबर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीले रंग का वस्त्र। पीला कपड़ा। (२) मरदानी रेशमी धोती जिसे हिंदू लोग पूजा-पाठ, संस्कार, भोजन आदि के समय पहनते हैं। इस वस्त्र का व्यवहार भारत में बहुत प्राचीन काल से होता है। पहले कदाचित् पीली रेशमी धोती को ही पीतांबर कहते थे; पर अब लाल, नीली, हरी आदि रंगों की रेशमी धोतियाँ भी पीतांबर कहलाती हैं। (३) श्रीकृष्ण। (४) नट। शैलूष।

वि० पीले कपड़ेवाला। पीतवसनयुक्त। पीतांबरधारी।

पीता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) दारु हलदी। (३) बड़ी मालकँगनी। (४) भूरे रंग का शीशम। (५) फलप्रियंगु। (६) गोरोचन। (७) अतीस। (८) पीला केला। स्वर्णकदली। (९) जंगली बिजौरा नीबू। (१०) जर्द चमेली। (११) देवदार। (१२) राल। (१३) असगंध। (१४) शालिपर्णी। (१५) अकासबेल।

वि० पीले रंग की। पीले रंगवाली (स्त्री अथवा वस्तु)।

पीताब्धि–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र को पी जानेवाले, अगस्त्य मुनि।

पीताभ–वि० [सं०] जिसमें से पीली आभा निकलती हो पीला। पीतवर्ण।

संज्ञा पुं० पीला चंदन। पीत चंदन।

पीताभ्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अभ्रक जो पीला होता है।

पीताम्लान–संज्ञा पुं० [सं०] पीली कटसरैया।

पीतारुण–संज्ञा पुं० [सं०] पीलापन लिए हुए लाल रंग।

वि० पीलापन लिए हुए लाल रंग का। पीतारुण वर्णविशिष्ट।

पीताश्म–संज्ञा पुं० [सं० पीताश्मन्] पुखराज। पुष्पराग मणि।

पीताह्व–संज्ञा पुं० [सं०] राल।

पीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पीना। पान। (वैदिक)। (२) गति।

संज्ञा पु० (१) घोड़ा। (२) सूँड़।

पीतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) दारु हलदी। सोनजूही। स्वर्णयूथी।

पीतिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] शालपर्णी।

पीती–संज्ञा पुं० [सं० पीतिन्] घोड़ा।

संज्ञा स्त्री० दे० "प्रीति"।

पीतु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) अग्नि। (३) यूथपति

पातुदारु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गूलर। (२) देवदार।

पीथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी। (२) घी। (३) अग्नि। (४) सूर्य्य। (५) काल।

पीथि—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा ।

पीदड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "पिद्दी" ।

पीन-वि० [सं०] (१) स्थूल । मोटा । (२) पुष्ट । प्रवृद्ध । परिवर्धित । (३) संपन्न । भरा पूरा ।

संज्ञा पुं० स्थूलता । मोटाई ।

पीनक-संज्ञा स्त्री० [हिं० पिनकना] (१) अफीम के नशे में ऊँघना । नशे की हालत में अफीमची का आगे की ओर झुक झुक पड़ना ।

क्रि० प्र०—लेना ।

मुहा०—पीनक में आना = अफीमची का नशे में ऊँघने लगना ।

(२) ऊँघना। नींद के आने से आगे की ओर झुक झुक पड़ना। जैसे, तुम्हें शाम हुई कि लगे पीनक लेने ।

क्रि० प्र०—लेना ।

पीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोटाई । स्थूलता ।

पीनना†-क्रि० स० दे० "पींजना" ।

पीनस-संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें उसकी घ्राण या वास पहचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है । इस रोग में नाक के नथने शुष्क, कफ से भरे हुए और क्लिन्न अर्थात् गीले रहते हैं तथा उनमें जलन भी रहती है । बात और कफ के प्रकोपवाले जुकाम के लक्षण प्रायः इसमें मिलते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा० फ़ीनस] पालकी ।

पीनसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी ।

पीनसी-वि० [सं० पीनसिन्] जिसे पीनस रोग हुआ हो । पीनस से पीड़ित ।

पीना-क्रि० स० [सं० पान] (१) किसी तरल वस्तु को घूँट घूँट करके गले के नीचे उतारना । जल या जलसदृश वस्तु को मुँह के द्वारा पेट के भीतर पहुँचाना । पेय पदार्थ को मुख द्वारा ग्रहण करना । घूँटना । पान करना । जैसे, पानी पीना, शरबत पीना, दूध पीना आदि ।

सं० क्रि०—जाना ।— डालना ।—लेना ।

(२) किसी बात को दबा देना । किसी कार्य के संबंध में वचन या कार्य से कुछ न करना। किसी संबंध में सर्वथा मौन धारण कर लेना । पूर्ण उपेक्षा करना । किसी घटना के संबंध में अपनी स्थिति ऐसी कर लेना जिससे उससे पूर्ण असंबंध प्रकट हो । जैसे, इस मामले को वह इस प्रकार पी जायगा ; ऐसी आशा तो नहीं थी । (३) (गाली, अपमान आदि पर) क्रोध या उत्तेजना न प्रकट करना । सह जाना । बरदाश्त करना । जैसे, इस भारी अपमान को वह इस तरह पी गया मानों कुछ हुआ ही नहीं। (४) किसी मनोविकार को भीतर ही भीतर दबा देना । मनोभाव को बिना प्रकट किये ही नष्ट कर देना । मारना । जैसे, गुस्सा पीना । (५) किसी मनोविकार का कुछ भी अनुभव न करना । मनोभाव ही न रहने देना । कुछ भी शेष या बाकी न रखना । जैसे, लज्जा पी जाना । (६) मद्य पीना । शराब पीना । सुरापान करना । जैसे, जब जब वह पीता है तब तब उसकी यही दशा होती है ।

संयो० क्रि०—जाना ।—डालना ।—लेना ।

(७) हुक्के, चुरुट आदि का धुआँ भीतर खींचना । धूम्रपान करना । जैसे, हुक्का पीना, चुरुट पीना, गाँजा पीना, चंडू पीना आदि ।

संयो० क्रि०—जाना ।—डालना ।—लेना ।

(८) सोखना । शोषण करना । जज़्ब करना । जैसे, (क) यह जूता इतना तेल पिएगा, यह मैंने नहीं समझा था । (ख) मिट्टी का बरतन तो सारा घी पी जायगा ।

संयो० क्रि०—जाना ।—डालना ।

संज्ञा पुं० [सं० पीडन = पेरना] तिल, तीसी आदि की खली।

संज्ञा पुं० [देश०] डाट । डट्टा । (लश०)

पीनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पोस्त, तीसी या तिल आदि की खली ।

पीप-संज्ञा स्त्री० [सं० पूय] फूटे फोड़े या घाव के भीतर से निकलनेवाला सफेद लसदार पदार्थ जो दूषित रक्त का रूपांतर होता है । इसमें रक्त के श्वेत कण ही अधिकता से होते हैं । उनके अतिरिक्त इसमें शरीर के सड़े हुए और नष्ट घटकों और तंतुओं का भी कुछ लाल अंश होता है । शरीर के किसी भाग में इस पदार्थ के एकत्र हो जाने से ही व्रण या फोड़ा होता है और जब तक यह निकल नहीं जाता तब तक बहुत कष्ट होता है ।

पीपर-संज्ञा पुं० दे० "पीपल" ।

पीपरपर्न ⁕-संज्ञा पुं० [हिं० पीपल + पर्न = सं० पर्ण] कान में पहनने का एक आभूषण । उ०—पीपरपर्न मुलमुली तीखन बहु खलेल झूमिका झुमरमन ।—सूदन ।

पीपरामूल-संज्ञा पुं० [सं० पिप्पल + मूल] दे० "पीपलामूल" ।

पीपरि-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा पाकड़ ।

संज्ञा पुं० दे० "पीपल (२)" ।

पीपल-संज्ञा पुं० [सं० पिप्पल] बरगद की जाति का एक प्रसिद्ध वृक्ष जो भारत में प्रायः सभी स्थानों में अधिकता से पाया जाता है । यह ऊँचाई में बरगद के समान ही होता है, पर इसमें उसकी तरह जटाएँ नहीं फूटतीं । पत्ते इसके गोल होते हैं और आगे की ओर लंबी गावदुम नोक होती है । इसकी छाल सफेद और चिकनी होती है । लकड़ी पोली और कमजोर होती है और जलाने के सिवा और किसी काम की नहीं होती । इसका गोदा (फल) बरगद के गोदे की अपेक्षा छोटा और चिपटा तथा पकने पर यथेष्ट मीठा होता है । गोदे लगने का समय बैसाख जेठ है । इसकी

डालियों पर लाख के कीड़े पैदा होते और पाले जाते हैं। बस यही इसका एक विशेष उपयोग है। गोदे बच्चे खाते हैं और पत्ते बकरियों और ऊँटों, हाथियों आदि को खिलाए जाते हैं। छाल के रेशों से ब्रह्मावाले एक प्रकार का हरा कागज बनाते हैं।

पुराणानुसार पीपल अत्यंत पवित्र और पूजनीय है। इसके रोपण करने का अक्षय्य पुण्य लिखा है। पद्मपुराण के अनुसार पार्वती के शाप से जिस प्रकार शिव को बरगद और ब्रह्मा को पाकड़ के रूप में अवतार लेना पड़ा उसी प्रकार विष्णु को पीपल का रूप ग्रहण करना पड़ा। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि वृक्षों में मुझे पीपल जानो। हिन्दू लोग बड़ी श्रद्धा से इसकी पूजा और प्रदक्षिणा करते हैं और इसकी लकड़ी काटना या जलाना पाप समझते हैं। दो तीन विशेष संस्कारों में जैसे, मकान की नीवँ रखना, उपनयन आदि में इसकी लकड़ी काम में लाई जाती है। बौद्ध लोग भी पीपल को परम पवित्र मानते हैं क्योंकि बुद्ध को संबोधि की प्राप्ति पीपल के पेड़ के नीचे ही हुई थी। वह वृक्ष बोधिद्रुम के नाम से प्रसिद्ध है।

वैद्यक के अनुसार इसके पके फल शीतल, अतिशय हृद्य तथा रक्तपित्त, विष, दाह, छर्दि, शोष, अरुचि और योनि-दोष के नाशक हैं। छाल संकोचक है। मुलायम छाल और नए निकले हुए पत्ते पुराने प्रमेह की उत्तम औषध है। फल का चूर्ण सेवन करने से क्षुधावृद्धि और कोष्ठ-शुद्धि होती है। फलों के भीतर के बीज शीतल और धातु परिवर्द्धक माने जाते हैं।

पर्य्या०—बोधिद्रुम। चलदल। पिप्पल। कुंजराशन। अच्युतावास। चलपत्र। पवित्रक। शुभद। याज्ञिक। गजभक्षण। श्रीमान्। क्षीरद्रुम। विप्र। मांगल्य। श्यामल। गुह्यपुण्य। सेव्य। सत्य। शुचिद्रुम। धनुवृक्ष।

संज्ञा स्त्री० [सं० पिप्पली] एक लता जिसकी कलियाँ प्रसिद्ध ओषधि हैं। इसके पत्ते पान के समान होते हैं। कलियाँ तीन चार अंगुल लंबी शहतूत के आकार की होती हैं और उनका पृष्ठभाग भी वैसा ही दानेदार होता है। रंग मटमैला और स्वाद तीखा, छोटी कलियों को छोटी पीपल और बड़ी तथा किंचित् मोटी कलियों को बड़ी पीपल कहते हैं। औषध के लिए अधिकतर छोटी ही काम में लाई जाती है। वैद्यक के अनुसार पीपल (फली) किंचित् उष्ण, चरपरी, स्निग्ध, पाक में स्वादिष्ट, वीर्य्य-वर्द्धक, दीपन, रसायन, हलकी, रेचक तथा कफ, वात-श्वास, कास, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, क्षयरोग, बवासीर, प्लीहा, शूल और आमवात को दूर करनेवाली मानी जाती है।

पर्य्या०—पिप्पली। मागधी। कृष्णा। चपला। चंचला। उपकुल्या। कोल्या वैदेही। तिक्ततंडुला। कोल्या। उष्णा। शौंडी। कोला। कटी। एरंडा। मगधा। कृकला। कटुबीजा। कारंगी। दंतकफा। मगधोद्भवा।

पीपलामूल–संज्ञा पुं० [सं० पिप्पलीमूल] एक प्रसिद्ध ओषधि जो पीपल ओषधि की जड़ है। आयुर्वेद के अनुसार पीपलामूल चरपरा, तीखा, गरम, रूखा, दस्तावर, पित्त को कुपित करनेवाला, पाचक, रेचक तथा कफ, वात, उदररोग, आनाह, प्लीहा, गुल्म, कृमि, श्वास, क्षयरोग, खांसी, आम और शूल को दूर करनेवाला माना जाता है। पीपरामूल नाम से भी यह प्रसिद्ध है।

पीपा–संज्ञा पुं० [?] बड़े ढोल के आकार का या चौकोर काठ वा लोहे का पात्र जिसमें मद्य, तेल आदि तरल पदार्थ रखे और चालान किए जाते हैं। (बरसात के अतिरिक्त अन्य दिनों में बड़े बड़े पीपों को पंक्ति में बिछाकर नदियों पर पुल भी बनाए जाते हैं)।

पीब–संज्ञा पुं० दे० "पीप"।

पीय*–संज्ञा पुं० दे० "पिय"।

पीयर†–वि० दे० "पीला"।

पीया*–संज्ञा पुं० दे० "पिय"।

पीयु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल। (२) सूर्य्य। (३) थूक। (४) कौआ। काक। (५) उल्लू। पेचक। वि० (१) हिंसा करनेवाला। हिंसक। (२) प्रतिकूल। विरुद्ध।

पीयूक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पाकर।

पीयूख–संज्ञा पुं० दे० "पीयूष"।

पीयूष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अमृत। सुधा। (२) दूध। (३) नई ब्याई हुई गाय का प्रथम से सातवें दिन तक का दूध। उस गाय का दूध जिसे ब्याए सात दिन से अधिक न हुआ हो। नवप्रसूता गाय का दूध।

विशेष—वैद्यक के अनुसार ऐसा दूध रूखा, दाहकारक, रक्त को कुपित करनेवाला और पित्तकारक होता है। साधारणतः ऐसा दूध लोग नहीं पीते क्योंकि वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक माना जाता है।

पीयूषरुचि–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

पीयूषवर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) कपूर। (३) एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में १०—९ विश्राम से १९ मात्राएँ और अंत में गुरु लघु होता है। इसको "आनंदवर्द्धक" भी कहते हैं।

पीर–संज्ञा स्त्री० [सं० पीड़ा] (१) पीड़ा। दुःख। दर्द। तकलीफ। उ०—जाके पैर न फटी बिवाई। सो का जानै पीर पराई।—तुलसी। (२) दूसरे की पीड़ा या कष्ट

देखकर उत्पन्न पीड़ा। दूसरे के दुःख से दुःखानुभव। सहानुभूति। हमदर्दी। दया। करुणा।

मुहा०—पीर न आना = दूसरे के दुःख से दुखी न होना। पराए कष्ट पर न पसीजना। सहानुभूति या हमदर्दी न पैदा होना।

(३) बच्चा जनने के समय की पीड़ा। प्रसव पीड़ा।

उ०—कमर उठी पीर मैं तो लाला जनूँगी।—गीत।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।

विशेष—यद्यपि व्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू तीनों भाषाओं के कवियों ने बहुतायत से इस शब्द का प्रयोग किया है और स्त्रियों की बोलचाल में अब भी इसका बहुत व्यवहार होता है तथापि गद्य में इसका व्यवहार प्रायः नहीं होता।

वि० [फा०] [संज्ञा पीरी] (१) वृद्ध। बूढ़ा। बड़ा। बुजुर्ग। (२) महात्मा। सिद्ध। (३) धूर्त। चालाक। उस्ताद। (बोलचाल)

संज्ञा पुं० (१) धर्मगुरु। परलोक का मार्ग-दर्शक। (२) मुसलमानों के धर्मगुरु।

संज्ञा पुं० [फा० पीर = गुरु] सोमवार का दिन। चंद्रवार।

पीरज़ादा–संज्ञा पुं० [फा०] किसी पीर या धर्मगुरु की संतान।

पीरनाबालिग़–वि० [फा० पीर + अ० नाबालिग़] ऐसा वृद्ध जो बच्चों के से काम और बातें करे। सठियाया हुआ बुड्ढा। बुद्धिभ्रष्ट बूढ़ा।

पीरमान–संज्ञा पुं० [लश०] मस्तूल के ऊपर बँधे हुए वे डंडे जिनके दोनों सिरों पर लट्टू बने रहते हैं और जिन पर पाल चढ़ाई जाती है। अड़डंडा। परवान।

पीरमुरशिद–संज्ञा पुं० [फा०] गुरु, महात्मा, पूजनीय अथवा अपने से दरजे में बहुत बड़ा। महात्माओं के अतिरिक्त राजाओं, बादशाहों और बड़ों के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है।

पीरा‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पीड़ा"।

वि० दे० "पीला"।

पीराई–संज्ञा पुं० [फा० पीर + आई (प्रत्य०)] वह जाति जिसकी जीविका पीरों के गीत गाने से चलती है। डफाली।

पीरी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बुढ़ापा। वृद्धावस्था। (२) चेला मूड़ने का धंधा या पेशा। गुरुवाई। (३) चालाकी। धूर्तता। (क्व०)। (४) इजारा। ठेका। हुकूमत। जैसे, क्या तुम्हारे बाबा की पीरी है। (५) अमानुषिक शक्ति या उसके कार्य्य। चमत्कार। करामात। (क्व०)।

वि० [हिं०] दे० "पीली"।

पीरू–संज्ञा पुं० [फा० पील मुर्ग] एक प्रकार का मुर्ग।

विशेष–इस शब्द का पुराना रूप "पीलू" है। पर अब इसी रूप में ही अधिक प्रचलित है।

पीरोज़ा–संज्ञा पुं० दे० "फीरोज़ा"।

पील–संज्ञा पुं० [फा०] (१) हाथी। गज। हस्ति। (२) शतरंज के खेल का एक मोहरा। यह तिरछा चलता है और तिरछा ही मरता है। इसको पीला, फील, फीला तथा ऊँट भी कहते हैं। विशेष—दे० "शतरंज"।

संज्ञा पुं० [हिं० पीलू] कीड़ा।

संज्ञा पुं० दे० "पीलु (१)"।

पीलक–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पीले रंग का पक्षी जिसके डैने काले और चोंच लाल होती है।

पीलखाँ–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष।

पीलपाल*†–संज्ञा पुं० [फा० पील, सं० पीलु + सं० पाल] पीलवान। महावत। हाथीवान।

पीलपाँव–संज्ञा पुं० [फा० पीलपा] एक प्रसिद्ध रोग। फीलपा। श्लीपद।

विशेष—इसमें घुटने के नीचे एक या दोनों पैर सूजे रहते हैं। सूजन पुरानी होने पर उसमें खुजली और घाव भी हो जाता है। सूजन पहले टाँग के पिछले भाग से आरंभ होती है फिर धीरे धीरे सारी टाँग में व्याप्त हो जाती है। आरंभ में ज्वर और जिस पैर में यह रोग होनेवाला रहता है उसके पट्ठे में गिलटी निकलती है जिसमें असह्य पीड़ा होती है। वात की अधिकता में सूजन काली, रूखी, फटी और तीव्र वेदनायुक्त, पित्त की अधिकता में कोमल, पीली और दाहयुक्त और कफ की अधिकता में कठिन, चिकनी, सफेद या पांडुवर्ण और भारी होती है। बहुत जल्दी उपाय न करने से यह रोग असाध्य हो जाता है। सीड़वाले देशों में यह रोग अधिक होता है। कई आचार्यों के मत से हाथ, गला, कान, नाक, होठ आदि की सूजन भी इसी के अंतर्गत है।

पीलबान–संज्ञा पुं० दे० "पीलवान"।

पीलवान–संज्ञा पुं० [फा० पीलबान] हाथीवान। महावत। फीलबान।

पीला–वि० [सं० पीत] [स्त्री० पीली] (१) हलदी, सोने या केसर के रंग का (पदार्थ)। जिसका रंग पीला हो। पीतवर्ण। जर्द। (२) ऐसा सफेद जिसमें सुर्खी या चमक न हो। रक्त का अभाव सूचक श्वेत। जिससे वर्ण की आभा न निकलती हो। कांतिहीन। निस्तेज। धुँधला सफेद। जैसे, पीला चेहरा।

मुहा०—पीला पड़ना या होना = (१) रक्त के अभाव के कारण (मनुष्य के शरीर या चेहरे के) रंग में चमक या कांति न रह जाना। बीमारी के कारण चेहरे या शरीर से रक्त का अभाव सूचित होना। ललाई, तेज या दमक न रह जाना। जैसे, तुम दिन ब दिन पीले हुए जा रहे हो, आखिर तुम्हें कौन सा रोग

लगा है। (२) भय के कारण चेहरे पर सफेदी आ जाना। खून सूख जाना। रंग उड़ जाना या फीका पड़ जाना। जैसे, मेरी सूरत देखते ही वह एकदम पीला पड़ गया।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का रंग जो हलदी या सोने के रंग से मिलता जुलता होता है और जो हलदी, हरसिंगार आदि से बनाया जाता है।

मुहा०—पीली फटना = पौ फटना। तड़का होना।

संज्ञा पुं० [फा० पील] शतरंज का एक मोहरा। दे० "पील"।

पीला कनेर–संज्ञा पुं० [हिं० पीला + कनेर] कनेर के दो भेदों में से एक जिसका फूल पीला और आकार में घंटी के समान होता है। लाल कनेर की अपेक्षा इसका पेड़ कुछ अधिक ऊँचा होता है। वैद्यक के अनुसार इसके गुण भी सफेद कनेर के समान ही होते हैं। विशेष–दे० "कनेर"।

पीला धतूरा–संज्ञा पुं० [हिं० पीला + धतूरा] भँड़भाँड़। सत्यानासी। घमोय। ऊँटकटारा।

पीलापन–संज्ञा पुं० [हिं० पीला + पन (प्रत्य०)] पीला होने का भाव। पीतता। जर्दी।

पीला बरेला–संज्ञा पुं० [देश०] बरियारा। बनमेथी।

पीलाम–संज्ञा पुं० [?] साटन नाम का कपड़ा।

पीला शेर–संज्ञा पुं० [हिं० पीला + फा० शेर] एक प्रकार का बाघ जो अफ्रिका में पाया जाता है और जिसका रंग कुछ पीला होता है।

पीलिया–संज्ञा पुं० [हिं० पीला + इया (प्रत्य०)] कमल रोग जिसमें मनुष्य की आँखें और शरीर पीला हो जाता है।

पीली चमेली–संज्ञा स्त्री० दे० "चमेली"।

पीली चिट्ठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीला + चिट्ठी] विवाह का निमंत्रणपत्र जिस पर प्रायः केसर आदि छिड़का रहता है।

पीली जुही–संज्ञा स्त्री० दे० "सोनजुही"।

पीलीमिट्टी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पीला + मिट्टी] एक प्रकार की मिट्टी जो चिकनी, कड़ी और रंग में पीली होती है।

पीलु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक फलदार वृक्ष जिसे पील या पीलू कहते हैं। वैद्यक के अनुसार इसका फल स्वादु, कटु, तिक्त, उष्ण, भेदक तथा वायु, कफ, पित्त, गुल्म, प्रमेह, संधिवात आदि का नाशक माना गया है। मीठा पीलु कम गरम और त्रिदोषनाशक माना जाता है। (२) फूल। पुष्प। (३) परमाणु। (४) हाथी। (५) हड्डी का टुकड़ा। अस्थिखंड। (६) तालवृक्ष का तना। तालकांड। (७) बाण। (८) कृमि। (९) चने का साग। (१०) सरपत या सरकंडे का फूल। शरतृणपुष्प। (११) लाल कटसरैया। किंकिरातवृक्ष। (१२) अखरोट का पेड़। (१३) कांवन देश का अखरोट। (१४) हथेली। करतल।

पीलुआ†–संज्ञा पुं० [देश०] मछली पकड़ने का बहुत बड़ा जाल।

पीलुक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा।

पीलुनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चुरनहार। मूर्वा। (२) चने का साग। कंचूकशाक।

पीलुपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] क्षीर मोरट। मोरट लता।

पीलुपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चुरनहार। मूर्वा। (२) कुँदरू। कंदूरी।

पीलुमूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीलुवृक्ष की जड़। (२) सतावर। (३) शालपर्णी।

पीलुमूला–संज्ञा स्त्री० [सं०] जवान गाय।

पीलुसार–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

पीलू–संज्ञा पुं० [सं० पीलु] (१) एक प्रकार का काँटेदार वृक्ष जो दक्षिण भारत में अधिकता से होता है। यह दो प्रकार का होता है—एक छोटा और दूसरा बड़ा। इसमें एक प्रकार के छोटे छोटे लाल या काले फल लगते हैं जो वैद्यक के अनुसार वायु और गुल्मनाशक, पित्तद और भेदक माने जाते हैं। इसकी हरे डंठलों की दतवन अच्छी होती है। पुराणानुसार इसके फूले हुए वृक्षों को देखने से मनुष्य नीरोग होता है। (२) सफेद लंबे कीड़े जो सड़ने पर फलों आदि में पड़ जाते हैं।

मुहा०—पीलू पड़ना = कीड़े उत्पन्न होना।

संज्ञा पुं० एक राग जिसके गाने का समय दिन को २१ दंड से २४ दंड तक अर्थात् तीसरा पहर है। इसमें गांधार और ऋषभ का मेल होता है और सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

पीव–वि० [सं० पीवन] स्थूल। मोटा। पुष्ट।

संज्ञा स्त्री० दे० "पीप"।

पीवना*–क्रि० स० दे० "पीना"।

पीवर–वि० [सं०] [स्त्री० पीवरा] [संज्ञा पीवरता, पीवरत्व] (१) मोटा। स्थूल। तगड़ा। (२) भारी। गुरु। (३) कछुवा। (४) जटा। (५) तामस मन्वंतर के सप्तर्षि में से एक ऋषि का नाम।

पीवरस्तनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़े स्तनवाली गाय।

पीवरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) असगंध। (२) सतावर।

वि० दे० "पीवर"।

पीवरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सतावर। (२) सरिवन। शालपर्णी। (३) बर्हिषद नामक पितृ की मानसी कन्याओं में से एक। (४) युवती स्त्री। (५) गाय।

पीवस–संज्ञा पुं० [सं०] मोटा तगड़ा। स्थूल। (वैदिक)

पीवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जल। पानी।

† वि० [सं० पीवर] पुष्ट। मोटा। स्थूल।

पीविष्ठ–वि० [सं०] अतिशय स्थूल। बहुत मोटा।

पीसना–क्रि० स० [सं० पेषण] (१) सूखी या ठोस वस्तु को रगड़ या दबाव पहुँचाकर चूर चूर करना। किसी वस्तु को आटे, बुकनी या धूल के रूप में करना। चक्की आदि में दलकर या सिल आदि पर रगड़कर किसी वस्तु को अत्यंत बारीक़ टुकड़ों में करना। जैसे, गेहूँ पीसना, सुर्खी पीसना आदि।

विशेष—इसका प्रयोग पीसी जानेवाली, पीसनेवाली तथा पिसकर तैयार वस्तुओं के साथ भी होता है। जैसे, गेहूँ पीसना, चक्की पीसना और आटा पीसना।

(२) किसी वस्तु को जल की सहायता से रगड़कर मुलायम और बारीक करना। जैसे, चटनी पीसना, भंग पीसना आदि। (३) कुचल देना। दबाकर भुरकुस कर देना। पिलपिला कर देना। जैसे, तुमने तो पत्थर गिराकर मेरी उँगली बिलकुल पीस डाली।

मुहा०—**किसी (आदमी) को पीसना** = बहुत भारी अपकार करना या हानि पहुँचाना। नष्टप्राय कर देना। चौपट कर देना। कुचलना। जैसे, वह उन्हें कुछ नहीं समझता, चुटकी बजाते पीस डालेगा।

(४) कड़ी मिहनत करना। कठोर श्रम करना। जान लड़ाना। जैसे, सारा दिन पीसता हूँ फिर भी काम पूरा नहीं होता।

संज्ञा पुं० (१) वह वस्तु जो किसी को पीसने को दी जाय। पीसी जानेवाली वस्तु। जैसे, गेहूँ का पीसना तो इसे दे दो, चने का और किसी को दिया जायगा। (२) उतनी वस्तु जो किसी एक आदमी को पीसने को दी जाय। एक आदमी के हिस्से का पीसना। जैसे, तुम अपना पीसना ले जाओ। (३) किसी एक आदमी के हिस्से या जिम्मे का काम। उतना काम जो किसी एक आदमी के लिये अलग कर दिया गया हो (व्यंग्य में)।

मुहा०—**पीसना पीसना** = कठिन परिश्रम का काम लगातार करते रहना।

पीसू†–संज्ञा पुं० [हिं० पिस्सू] एक प्रकार का परदार छोटा कीड़ा जो मच्छरों की तरह काटता है। यह पशुओं को बहुत तंग करता है और उनके रोएँ में बड़ी शीघ्रता से रेंगता है।

पीह†–संज्ञा स्त्री० [?] चरबी।

पीहर–संज्ञा पुं० [सं० पितृ+गृह, हिं० घर] स्त्रियों का मायका। स्त्रियों के माता पिता का घर। मैका।

पीहू–संज्ञा पुं० दे० "पीसू"।

पुंख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाण का पिछला भाग जिसमें पर खोंसे रहते थे। (२) मंगलाचार।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाज पक्षी।

पुंखित–वि० [सं०] (बाण) जिसमें पर लगे हों।

पुंग–संज्ञा पुं० [सं०] समूह।

पुंगफल–संज्ञा पुं० दे० "पुंगीफल"।

पुंगल–संज्ञा पुं० [सं०] आत्मा।

पुंगव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल। वृष।

विशेष—किसी पद या शब्द के आगे लगने से यह शब्द श्रेष्ठ का अर्थ देता है, जैसे, नरपुंगव, वीरपुंगव।

(२) एक औषध का नाम।

पुंगवकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] वृषभध्वज। शिव।

पुंगीफल–संज्ञा पुं० दे० "पूँगीफल"।

पुँछल्ला–संज्ञा पुं० दे० "पुँछाला"।

पुँछवाना–क्रि० स० दे० "पुछवाना"।

पुँछार*†–संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + आर (प्रत्य०)] मयूर। मोर। उ०—(क) जानि पुँछार जो भय बनबासू। रोवँ रोवँ परि फाँद न आँसू।—जायसी। (ख) कूँडैं फेरि जानु गिउ गाढ़े। हरे पुँछार ठगे जनु ठाढ़े।—जायसी। (ग) कुटी में मेरी रक्खी है। पुँछार जो मिट्टी की है।—प्रतापनारायण।

विशेष—यह शब्द पुं० ही मिलता है। स्त्री० प्रयोग उ०—(ग) को छोड़ और कहीं देखने में नहीं आया।

पुँछाला–संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + ला (प्रत्य०)] (१) पुछल्ला। दुंबाला। पूँछ की तरह जोड़ी हुई वस्तु। जैसे, (क) पतंग या कनकौवे के नीचे बँधी हुई लंबी धज्जी जो लटकती रहती है। (ख) टोपी के पीछे टँकी हुई धज्जी जो नीचे लटकती रहती है। (२) बराबर पीछे लगा रहनेवाला। साथ न छोड़नेवाला। बराबर साथ में दिखाई पड़नेवाला। जैसे, वह जहाँ जाता है यह पुँछाला उनके साथ रहता है। (३) साथ में जुड़ी या लगी हुई वस्तु या व्यक्ति जिसकी उतनी आवश्यकता न हो। जैसे, तुम आप तो जाते ही हो एक पुँछाला क्यों पीछे लगाए जाते हो। (४) पिछलग्गू। खुशामद से पीछे लगा रहनेवाला। चापलूस। आश्रित।

पुंज–संज्ञा पुं० [सं०] समूह। ढेर।

पुंजदल–संज्ञा पुं० [सं०] सुसना का साग। सूनिषण्ण शाक

पुंजशः–अव्य० [सं०] ढेर का ढेर। बहुत सा।

पुंजा†–संज्ञा पुं० [सं० पुंज] (१) गुच्छा। समूह। (२) पूला। गट्ठा।

पुंजि–संज्ञा पुं० [सं०] समूह।

पुंजिक–संज्ञा पुं० [सं०] जमी हुई बर्फ़।

पुंजी *–संज्ञा स्त्री० दे० "पूँजी"।

पुंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तिलक। चंदन, केसर आदि पोतकर मस्तक या शरीर पर बनाया हुआ चिह्न। टीका।

यौ०—ऊर्द्ध्वपुंड। त्रिपुंड।

(२) दक्षिण की एक जाति जो पहले पहल रेशम के कीड़े पालने का काम करती थी।

पुंडरिया–संज्ञा पुं० [सं० पुंडरीक] पुंडरी का पौधा।

पुंडरी–संज्ञा पुं० [सं० पुंडरिन्] एक प्रकार का पौधा जिसकी पत्तियाँ शालपर्णी की पत्तियों की सी होती हैं। इसमें एक प्रकार की सुगंध होती है। इसका रस आँख में लगाने से आँख के रोग दूर होते हैं। वैद्यक में यह मीठा, कड़ुवा, कसैला, वीर्य्यवर्द्धक, शीतल और नेत्रों को हितकारी माना गया है।

पर्या०–श्रीपुष्प। शीत। पुंडरीयक। प्रपौंडरीक। चाक्षुष्य। तालपुष्पक। सालपुष्प। स्थलपद्म। सानुज। अनुज।

पुंडरीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्वेत कमल। (२) कमल।

यौ०—पुंडरीकाक्ष।

(३) रेशम का कीड़ा। पाट-कीट। (४) शेर। बाघ। नाहर। (५) एक प्रकार का सुगंधयुक्त पौधा। पुँडरिया। (६) सफेद छाता। (७) कमंडलु। (८) तिलक। (९) एक यज्ञ। (१०) एक प्रकार का आम। सफेदा। (११) एक प्रकार का धान। (१२) सफेद रंग का हाथी। (१३) एक प्रकार की ईख। पौंड़ा। (१४) चीनी। शर्करा। (१५) सफेद रंग का साँप। (१६) एक प्रकार का बाज पक्षी। (१७) श्वेत कुष्ठ। सफेद कोढ़। (१८) हाथियों का ज्वर। (१९) एक नाग का नाम। (२०) अग्निकोण के दिग्गज का नाम। (२१) क्रौंचद्वीप का एक पर्वत। (२२) एक तीर्थस्थान। (महाभारत)। (२३) अग्नि। आग। (२४) बाण। शर। (अनेकार्थ)। (२५) आकाश। (अनेकार्थ)। (२६) जैनियों के एक गणधर। (२७) रघुवंश का एक राजा। (रघुवंश)। (२८) दौने का पौधा। (२९) श्वेत वर्ण। सफेद रंग।

पुंडरीकाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु भगवान्। नारायण। (जिनके नेत्र कमल के समान हैं)। (२) रेशम के कीड़े पालनेवाली एक जाति।

वि० जिसके नेत्र कमल के समान हों।

पुंडरीयक–संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरी का पौधा। स्थलपद्म।

पुंडर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरी का पौधा।

पुंड्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की ईख। पौंड़ा। (२) बलि के पुत्र एक दैत्य का नाम जिसके नाम पर देश का नाम पड़ा। (३) अतिमुक्तक। तिनिश वृक्ष। (४) माधवी लता। (५) ह्रस्वप्लक्ष। पाकर। पक्कड़। (६) श्वेत कमल। (७) चंदन केसर आदि की रेखाओं से शरीर पर बनाया हुआ चिह्न या चित्र। तिलक। टीका। जैसे, ऊर्द्ध्व-पुंड्र। (८) तिलक वृक्ष। (९) भारत के एक भाग का प्राचीन नाम जो इतिहास पुराणादि में मिलता है। महाभारत के अनुसार अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म, बलि के इन पाँच पुत्रों के नाम पर देशों के नाम पड़े। (१०) एक प्राचीन जाति जिसका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार है। विश्वामित्र के सौ पुत्रों में से पचास तो मधुच्छंदा से बड़े और पचास छोटे थे। विश्वामित्र ने जब शुनःशेफ का अभिषेक किया तब ज्येष्ठ पुत्र बहुत असंतुष्ट हुए। इस पर विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया कि तुम्हारे पुत्र अंत्यज होंगे। अंध्र, पुंड्र, शवर, मूतिव इत्यादि उन्हीं पुत्रों के वंशज हुए जिनकी गिनती दस्युओं में हुई। महाभारत में एक स्थान पर यवन, किरात, गांधार, चीन, शवर आदि दस्यु जातियों के साथ पौंड्रकों का नाम भी है। पर दूसरे स्थान पर 'पौंड्रकों' और सुपुंड्रकों में भेद किया है। पौंड्रकों और पुंड्रों को तो अंग, वंग, गय आदि के साथ शस्त्रधारी क्षत्रिय लिखा है जिन्होंने युधिष्ठिर के लिए बहुत सा धन इकट्ठा किया था। उनके जाने पर युधिष्ठिर के द्वारपाल ने उन्हें नहीं रोका था। पर वंग, कलिंग, मगध, ताम्रलिप्त आदि के साथ सुपुंड्रकों का द्वारपाल द्वारा रोका जाना लिखा है जिससे वे वृषलत्वप्राप्त क्षत्रिय जान पड़ते हैं। मनुस्मृति में जिन पौंड्रकों का उल्लेख है वे भी संस्कारभ्रष्ट क्षत्रिय थे जो म्लेच्छ हो गए थे। इससे पौंड्र या पुंड्र सुपुंड्रों से भिन्न और क्षत्रिय प्रतीत होते हैं। महाभारत कर्णपर्व में भी कुरु, पांचाल, शाल्व, मत्स्य, नैमिष, कलिंग, मागध आदि शाश्वत धर्म जाननेवाले महात्माओं के साथ पौंड्रों का भी उल्लेख है, आदिपर्व में बलि के पाँच पुत्रों (अंग, वंग आदि) में जिस पुंड्र का नाम है उसी के वंशज संभवतः ये पुंड्र या पौंड्र हों। ब्रह्मांड और मत्स्यपुराण के अनुसार पुंड्र लोग प्राच्य (पूरबी भारत के) थे, पर विष्णु पुराण में और मार्कंडेय पुराण में उन्हें दाक्षिणात्य लिखा है।

पुंड्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) माधवी लता। (२) तिलक। टीका। (३) तिलकवृक्ष। (४) एक प्रकार की ईख। पौंड़ा। (५) घोड़े के शरीर का एक चिह्न जो रोएँ के रंग के भेद से होता है। शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग, अंकुश और धनुष के ऐसे चिह्न को पुंड्रक कहते हैं।

पुंड्रवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] पुंड्र देश की प्राचीन राजधानी। यह नगर किसी समय में हिंदुओं और बौद्धों दोनों का तीर्थ था। स्कंदपुराण में यहाँ 'मंदार' नामक शिवमूर्ति का होना लिखा है। देवी भागवत के अनुसार सती के देहांश गिरने से जो पीठ हुए उनमें एक यह भी है। चीनी यात्री हुएन्सांग ने इस नगर को एक समृद्ध नगर लिखा है। इसकी स्थिति कहाँ है इस पर मतभेद है। कोई इसे रंगपुर के पास कहते हैं और कोई पबना को ही प्राचीन पुंड्रवर्द्धन के स्थान पर मानते हैं। पर कुछ लोगों का कहना है कि

यह नगर गंगातट के पास होना चाहिए जैसा कि कथा-सरित्सागर और हुएन्सांग के उल्लेख से पाया जाता है। अतः मालदह से दो कोस उत्तरपूर्व जो फीरोजाबाद नाम का स्थान है वही प्राचीन पुंड्रवर्द्धन हो सकता है। वहाँ के लोग उसे अब तक पोंड़ोवा, पांडुया या बड़पूँड़ो कहते हैं।

पुंमंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह मंत्र जिसके अंत में "स्वाहा" या "नमः" न हो।

पुंलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का चिह्न। (२) शिश्न। (३) पुरुषवाचक शब्द। (व्याकरण)।

पुंदूष-संज्ञा पुं० [सं०] छछूँदर।

पुंश्चली-वि० स्त्री० [सं०] अनेक पुरुषों के पास जानेवाली (स्त्री)। व्यभिचारिणी। कुलटा। छिनाल।

संज्ञा स्त्री० कुलटा स्त्री।

पुंश्चलीय-संज्ञा पुं० [सं०] कुलटा या वेश्या का पुत्र।

पुंस*‡-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुष। नर। मर्द।

पुंसवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुग्ध। दूध। (२) द्विजातियों के सोलह संस्कारों में से दूसरा संस्कार जो गर्भाधान से तीसरे महीने में किया जाता है। गर्भिणी पुत्र प्रसव करे इस अभिप्राय से यह किया जाता है।

विशेष—गर्भ हिलने डोलने से पहले ही यह संस्कार होना चाहिए। अच्छे दिन में और मुहूर्त में अग्निस्थापना करके स्त्री और पुरुष कुशासन पर बैठते हैं। पति उठकर स्त्री का दहना कंधा स्पर्श करता है, फिर दहने हाथ से स्त्री के नाभि को स्पर्श करता हुआ कुछ मंत्र पढ़ता है। यहाँ तक तो प्रथम पुंसवन हुआ। फिर दूसरे दिन या उसी दिन किसी वटवृत्त की पूर्वोत्तर शाखा की टहनी के दो फलोंवाले सिरे (शुंगा फुनगी) को जौ या उरद देकर सात बार मंत्र पढ़कर क्रय करते हैं और मंत्र पढ़ते हुए नोचकर लाते हैं। वट की फुनगी को साफ सिल पर ओस के पानी से पीसते हैं। फिर इस बरगद के रस को पश्चिम ओर मुँह करके बैठी हुई स्त्री के पीछे खड़ा होकर पति उसकी नाक के दहने नथने में डाल देता है।

(३) वैष्णवों का एक व्रत। (भागवत)।

वि० पुत्रोत्पादक।

पुंसवान्-वि० [सं० पुंसवत्] [स्त्री० पुंसवती] पुत्रवाला।

पुंस्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषत्व। पुरुष का धर्म। (२) पुरुष की स्त्रीसहवास की शक्ति। (३) शुक्र। वीर्य्य। (४) गंधतृण।

पुंस्त्वविग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] भूतृण। एक सुगंधयुक्त घास।

पुआ-संज्ञा पुं० [सं० पूप] मीठे के रस में सने हुए आटे की मोटी पूरी या टिकिया।

पुआई-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक सदाबहार पेड़ जिसकी लकड़ी दृढ़ चिकनी और पीले रंग की होती है। यह घरों में लकड़ी, मेज, कुरसी आदि बनाने के काम में आती है। लकड़ी प्रति घन फुट १७ या १८ सेर तोल में होती है। यह पेड़ दारजिलिंग, सिकम, भोटान आदि पहाड़ी प्रदेशों में आठ हज़ार फुट की ऊँचाई तक होता है। इसी से मिलता जुलता एक और पेड़ होता है जिसे डिडिया कहते हैं और जिसके पत्तों में एक प्रकार की सुगंध होती है।

पुआल-संज्ञा पुं० [देश०] एक ऊँचा जंगली पेड़ जिसकी लकड़ी बहुत मजबूत और पीले रंग की होती है और इमारतों में लगती है। यह दार्जिलिंग, सिकिम और भोटान के जंगलों में होता है।

संज्ञा० पुं० दे० "पयाल"।

पुकार-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुकारना] (१) किसी का नाम लेकर बुलाने की क्रिया या भाव। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये किसी के प्रति ऊँचे स्वर से संबोधन। सुनाने के लिये जोर से किसी का नाम लेना या कोई बात कहना। हाँक। टेर। (२) रक्षा या सहायता के लिये चिल्लाहट। बचाव या मदद के लिये दी हुई आवाज। दुहाई। उ०—असुर महा उत्पात कियो तब देवन करी पुकार।—सूर।

क्रि० प्र०—करना। —मचना। —मचाना।—होना।

(३) प्रतिकार के लिये चिल्लाहट। किसी से पहुँचे हुए दुःख या हानि का उससे निवेदन जो दंड या पूर्ति की व्यवस्था करे। फरियाद। नालिश। जैसे, उसने दरबार में पुकार की। (४) माँग की चिल्लाहट। गहरी मांग। जैसे, जहाँ जाओ वहाँ 'पानी पानी' की पुकार सुनाई पड़ती थी।

क्रि० प्र०—करना। —मचना। —मचाना।—होना।

पुकारना-क्रि० स० [सं० संप्लुतकरण = आवाज को खींचना वा प्रक्रुश = पुकारना] (१) नाम लेकर बुलाना। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये ऊँचे स्वर से संबोधन करना। किसी का इसलिये जोर से नाम लेना जिसमें वह ध्यान दे या सुनकर पास आए। हाँक देना। टेरना। आवाज लगाना। जैसे, (क) नौकर को पुकारो वह आकर ले जायगा। (ख) उसने पीछे से पुकारा मैं खड़ा हो गया।

संयो० क्रि०—देना।

(२) नाम का उच्चारण करना। रटना। धुन लगाना। जैसे, हरिनाम पुकारना। (३) ध्यान आकर्षित करने के लिये कोई बात जोर से कहना। चिल्लाकर कहना। घोषित करना। जैसे, (क) ग्वालिन का 'दही दही' पुकारना। (ख) मंगन का द्वार पर पुकारना। उ०—कारे कबहुँ न होयँ आपने मधुबन कहौं पुकारि।—सूर। (४) चिल्लाकर माँगना। किसी वस्तु को पाने के लिये आकुल होकर बार बार उसका नाम लेना। जैसे, प्यास के मारे सब 'पानी पानी'

पुकार रहे हैं। (५) रक्षा के लिए चिल्लाना। गोहार लगाना। छुटकारे के लिये आवाज लगाना। उ०—पाँव पयादे धाय गए गज जबै पुकारयो।—सूर। (६) प्रतिकार के लिये किसी से चिल्लाकर कहना। किसी से पहुँचे हुए दुःख या हानि को उससे कहना जो दंड या पूर्ति की व्यवस्था करे। फरियाद करना। नालिश करना। जैसे, जाय पुकारयो नृप दरबार।—सबल। (७) नामकरण करना। अभिहित करना। संज्ञा द्वारा निर्देश करना। जैसे, (क) तुम्हारे यहाँ इस चिड़िया को किस नाम से पुकारते हैं। (ख) यहाँ मुझे लोग यही कहकर पुकारते हैं।

पुक्कश, पुक्कष, पुक्कस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चांडाल।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार निषाद पुरुष और शूद्रा के गर्भ से और उशना के अनुसार शूद्र पुरुष और क्षत्रिया स्त्री के गर्भ से इस जाति की उत्पत्ति है।

(२) अधम। नीच।

पुक्कसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कालापन। कालिमा। (२) नील का पौधा।

पुख†*–संज्ञा पुं० दे० "पुष्प"।

पुखता–वि० दे० "पुख्ता"।

पुखराज–संज्ञा पुं० [सं० पुष्पराग] एक प्रकार का रत्न या बहुमूल्य पत्थर जो प्रायः पीला होता है पर कभी कभी कुछ हलका नीलापन या हरापन लिए भी होता है। यह अलुमीनियम का एक प्रकार का सैकत छार है। यह हीरे से भारी पर कम कड़ा होता है। पुखराज अधिकतर ग्रेनाइट की चट्टानों और कभी कभी ज्वालामुखी पर्वतों के दरारों में मिलता है। कार्नवाल (इँगलैंड), स्काटलैंड, ब्रेजिल, मैक्सिको, साइबेरिया और अमेरिका के संयुक्त राज में यह पाया जाता है। एशिया में यूराल पर्वत से बहुत निकाला जाता है। ब्रेजिल का गहरे पीले रंग का पुखराज सबसे अच्छा माना जाता है। यों तो भारतवर्ष तथा और पूर्वीय देशों में भी यह थोड़ा बहुत पाया जाता है।

हमारे यहाँ के रत्नपरीक्षा के ग्रंथों में पुष्पराग के कई भेद लिखे हैं। जो पुष्पराग कुछ पीलापन लिए लाल रंग का हो उसे कौरंट और जो कुछ ललाई लिए पीले रंग का हो उसे कापायक कहते हैं। जो कुछ ललाई लिए सफ़ेद हो वह सोमलक, जो बिलकुल लाल हो वह पद्मराग और जो नीला हो वह इंद्रनील है। इस प्रकार प्राचीन ग्रंथों में पुखराज भी कुरंड जाति के पत्थरों में माना गया है।

पुगाना–क्रि० स० [हिं० पुजाना] (१) पूरा करना। पुजाना। जैसे, मिति पुगाना; रुपया पुगाना। (२) गोली के खेल में गोली का गड्ढे में डालना। (लड़के)।

पुचकार–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुचकारना] प्यार जताने के लिए ओठों से निकाला हुआ चूमने का सा शब्द। चुमकार।

पुचकारना–क्रि० सं० [अनु० पुच = ओठों को दबाकर छोड़ने से निकला हुआ शब्द + हिं० कार + ना (प्रत्य०)] चूमने का सा शब्द निकालकर प्यार जताना। चुमकारना। जैसे,(क) बच्चे को पुकारना। (ख) कुत्ते को पुचकारना। उ०–(क) ठोंकि पीठ पुचकारि बहोरी। कीन्हों बिदा सिद्धि कहि तोरी।–रघुराज। (ख) सुनि बैठाय अंक दानवपति पोंछि बदन पुचकारी। बेटा, पढ़ौ कौन विद्या तुम देहु परीक्षा सारी।—रघुराज।

पुचकारी–संज्ञा स्त्री० [सं० पुचकारना] प्यार जताने के लिये ओठों से निकाला हुआ चूमने का सा शब्द। चुमकार। जैसे, जानवर या बच्चे को पुचकारी देकर बुलाना।

क्रि० प्र०–देना।

पुचरस†–संज्ञा पुं० [देश०] कई धातुओं का मेल। ऐसी धातु जिसमें मिलावट हो।

पुचारना–क्रि० स० [हिं० पुचारा] पुचारा देना। पोतना।

पुचारा–संज्ञा पुं० [अनु० पुचपुच = भीगे कपड़े को दबाने का शब्द। वा पुतारा] (१) किसी वस्तु के ऊपर पानी से तर कपड़ा फेरने की क्रिया। भीगे कपड़े से पोंछने का काम। जैसे, बरतन आँच पर चढ़ाकर ऊपर से पानी का पुचारा देते जाना।

क्रि० प्र०–देना।

(२) पतला लेप करने का काम। हलकी पुताई या लिपाई। पोता।

क्रि० प्र०–फेरना।

(३) किसी वस्तु के ऊपर कोई गीली वस्तु फेरकर चढ़ाई हुई पतली तह। हलका लेप। जैसे, चूने का पुचारा, मिट्टी या गोबर का पुचारा। (४) वह गीला कपड़ा जिससे पोतते या पुचारा देते हैं। जैसे, जुलाहों का पुचारा जिससे पाई के ऊपर मांड़ या पानी पोतते हैं। (५) लेप करने या पोतने के लिये पानी में घोली हुई कोई वस्तु (जैसे, रंग, चूना आदि)। (६) दगी हुई तोप या बंदूक की गरम नली को ठंढी करने के लिये उस पर गीला कपड़ा डालने की क्रिया। (७) किसी को अनुकूल करने या मनाने के लिये कहे हुए मीठे और सुहाते वचन। प्रसन्न करनेवाले वचन। जैसे, कड़ाई से नहीं बनेगा, पुचारा देकर काम लेना चाहिए।

क्रि० प्र०—देना।

(८) झूठी प्रशंसा। चापलूसी। ठकुरसुहाती। खुशामद।

क्रि० प्र०–देना।

(९) उत्साह बढ़ानेवाले वचन। किसी ओर प्रवृत्त करनेवाले वचन। बढ़ावा। जैसे, जरा पुचारा दे दो; देखो वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।

पुच्छ-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुम। पूँछ। (२) किसी वस्तु का पिछला भाग।

पुच्छदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मणाकंद।

पुच्छफल-संज्ञा पुं० [सं०] बेर का पेड़।

पुच्छल-वि० [हिं० पुच्छ] दुमदार। पूँछदार।

यौ०—पुच्छल तारा = कभी कभी उदित होनेवाला वह तारा जिससे लगा हुआ भाप या कुहरे सा द्रव्य झाड़ू के आकार में दूर तक फैला दिखाई देता है। विशेष—दे० "केतु"।

पुच्छिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी।

पुच्छी-वि० [सं० पुच्छिन्] पूँछवाला। दुमदार।

संज्ञा पुं० (१) आक। मदार। (२) कुक्कुट। मुर्ग।

पुछल्ला-संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ + ला (प्रत्य०)] (१) बड़ी पूँछ। लंबी दुम। (२) पूँछ की तरह जोड़ी हुई वस्तु। जैसे, (क) पतंग या कनकौवे के नीचे बँधी हुई लंबी धज्जी जो लटकती रहती है, (ख) टोपी में टँकी हुई धज्जी जो अलग लटकती रहती है। (३) बराबर पीछे लगा रहनेवाला। साथ न छोड़नेवाला। बराबर साथ में दिखाई पड़नेवाला। जैसे, वह जहाँ जाता है यह पुछल्ला उसके साथ रहता है। (४) साथ में जुड़ी या लगी हुई वस्तु या व्यक्ति जिसकी उतनी आवश्यकता न हो। जैसे, तुम आप तो जाते ही हो, एक पुछल्ला क्यों पीछे लगाए जाते हो। (५) पिछलग्गू। खुशामद से पीछे लगा रहनेवाला। चापलूस। आश्रित। जैसे, अमीरों का पुछल्ला। (६) लपेटन की बाईं ओर का खूँटा। (जुलाहे)

पुछार †*-संज्ञा पुं० [हिं० पूछना] पूछनेवाला। खोज खबर लेनेवाला। आदर करनेवाला।

संज्ञा पुं० दे० "पुँछार"।

पुछिया-संज्ञा पुं० [हिं० पूँछ] दुंबा मेढ़ा।

पुछैया †-संज्ञा पुं० [हिं० पूछना] पूछनेवाला। खोज खबर लेनेवाला। ध्यान देनेवाला।

पुजना-क्रि० अ० [हिं० पूजना] (१) पूजा जाना। आराधना का विषय होना। जैसे, वहाँ अनेक देवता पुजते हैं। (२) आदृत होना। सम्मानित होना।

पुजवना †*-क्रि० स० [हिं० पूजना] (१) पुजामा। भरना। (२) पूरा करना। (३) सफल करना। उ०—जिन व्रज बीथिन में सदा बिहरत स्यामा स्याम। सकल मनोरथ मंजु मम ते पुजवहु सुख धाम।

पुजवाना-क्रि० स० [हिं० 'पूजना' का प्रे०] (१) पूजन कराना। पूजा करने में प्रवृत्त करना। आराधन कराना। जैसे हम अपने ठाकुर दूसरे से पुजवा लेंगे। (२) अपनी पूजा कराना। पूजा प्रतिष्ठा लेना। जैसे, ये देवता ऐसे हैं जों सबसे पुजवाते हैं। (३) अपनी सेवा-शुश्रूषा कराना। आदर सम्मान कराना। जैसे, गाँवों में साधु अपने को खूब पुजवाते हैं।

पुजाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजना] (१) पूजने का भाव या क्रिया। जैसे, गंगापुजाई। (२) पूजने का दाम या मजदूरी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजना = पूरा होना] (१) पूरा करने की क्रिया या भाव। (२) पूरा करने की मजदूरी।

पुजाना-क्रि० स० [हिं० पूजना का प्रे०] (१) दूसरे से पूजा कराना। पूजा में प्रवृत्त या नियुक्त करना। जैसे, पुजारी से ठाकुर पुजाना। (२) अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराना। आदर सम्मान प्राप्त करना। भेंट चढ़वाना। (३) धन वसूल करना। जैसे, (क) गाँवों में बैरागी खूब पुजाते हैं। (ख) आज ५) उससे पुजाए।

संयो० क्रि०—लेना।

क्रि० स० [हिं० पूजना = पूरा होना, भरना] (१) भर देना। किसी घाव गड्ढे आदि को बराबर करना। जैसे, यह दवा घाव को बहुत जल्दी पुजा देगी।

संयो० क्रि०—देना।

(२) पूरा करना। पूर्त्ति करना। कमी दूर करना। उ०—पंडुवधू पटहीन सभा में कोटिन वसन पुजाए।—सूर। (३) परिपूर्ण करना। सफल करना। उ०—करि विवाह ताही लै आयो। तासु मनोरथ सकल पुजायो।—सूर।

पुजापा-संज्ञा पुं० [सं० पूजा + पात्र] (१) देवपूजन की सामग्री। जैसे, फूलपत्र, नैवेद्य, पंचपात्र, अरघा इत्यादि। पूजा का सामान।

मुहा०—पुजापा फैलाना = (१) वस्तुओं को बिना किसी क्रम के इधर उधर फैलाकर रखना। (२) आँडंबर फैलाना। बखेड़ा फैलाना।

(२) पूजा की सामग्री रखने की झोली। पुजाही।

पुजारी-संज्ञा पुं० [सं० पूजा + कारी] पूजा करनेवाला। जो पूजा करता हो। किसी देवमूर्ति की सेवा शुश्रूषा करनेवाला।

पुजाही-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूजा + आही (प्रत्य०)] पूजन की सामग्री रखने की थैली वा पात्र।

पुजेरी-संज्ञा पुं० दे० "पुजारी"। उ०—आप देव आप ही पुजेरी। आपुहि भोजन जेंवत ढेरी।—सूर।

पुजैया †-संज्ञा पुं० [हिं० पूजना] पूजा करनेवाला।

संज्ञा पुं० [हिं० पूजना = भरना] पूरा करनेवाला। भरनेवाला।

‡ संज्ञा स्त्री० दे० "पुजाई"।

पुजौरा-संज्ञा पुं० [हिं० पूजा] (१) पूजन। अर्चा। (२) पूजा के समय देवता को अर्पित करने की सामग्री।

पुट-संज्ञा पुं० [अनु० पुटपुट = छींटा गिरने का शब्द] (१) किसी वस्तु से तर करने या उसका हलका मेल करने के लिये डाला हुआ छींटा। हलका छिरकाव। जैसे, (क) पकाते वक्त ऊपर से पानी का हलका पुट दे देना।

क्रि० प्र०—देना ।

(२) रंग या हलका मेल देने के लिये घुले हुए रंग या और किसी पतली चीज में डुबाना । बोर । जैसे, इसमें एक पुट लाल रंग का दे दो । उ०—ज्यों बिन पुट पट गहत न रँग को, रंग न रसै परै ।—सूर ।

क्रि० प्र०—देना ।

(३) बहुत हलका मेल । अल्प मात्रा में मिश्रण । भावना । जैसे, भांग में संखिया का भी पुट है ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) आच्छादन । ढाकनेवाली वस्तु । जैसे, रदपुट, नेत्रपुट । (२) दोना । कटोरा । गोल गहरा पात्र । उ०—(क) पियत नैन पुटरूप पियूखा ।—तुलसी । (ख) जलपुट आनि धरो आंगन में मोहन नेक तौ लीजै । —सूर । (३) दोने के आकार की वस्तु । कटोरे की तरह की चीज । जैसे, अंजलिपुट । (४) मुँहबंद बरतन । औषध पकाने का पात्र विशेष ।

विशेष—दो हाथ लंबा, दो हाथ चौड़ा, दो हाथ गहरा एक चौखूँटा गड्ढा खोदकर उसमें बिना पथे हुए उपले डाल दे । उपलों के ऊपर औषध का मुहँबंद बरतन रख दे और ऊपर से भी चारों ओर उपले डालकर आग लगा दे । दवा पक जायगी । यह महापुट है । इसी प्रकार गड्ढे के विस्तार के हिसाब से गजपुट, कौक्कुटपुट, कपोतपुट, भांडपुट, इत्यादि हैं; जैसे, सवा हाथ विस्तार के गड्ढे में जो पात्र रखा जाय वह गजपुट है ।

(५) कटोरे के आकार के दो बराबर बरतनों को मुँह मिलाकर जोड़ने से बना हुआ बंद घेरा । संपुट । (६) घोड़े की टाप । (७) अंतःपट । अँतरौटा । (८) जायफल । (९) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और एक यगण होता है । उ०—श्रवणपुट करी ना जान रानी । रघुपति कर याकी मीचु ठानी ।

पुटकंद—संज्ञा पुं० [सं०] कोलकंद । बाराही कंद ।

पुटक—संज्ञा पुं० [सं०] कमल ।

विशेष—शेष अर्थ पुट के समान ।

पुटकिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पद्मिनी । कमलिनी । (२) पद्मसमूह । (३) कमलों से भरा देश ।

पुटकी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुटक = दोना] पोटली । गठरी ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पटपटाना = मरना] (१) आकस्मिक मृत्यु । मौत जो एकबारगी आ पड़े । (२) वज्रपात । दैवी आपत्ति । आफत । गजब ।

मुहा०—(किसी पर) पुटकी पड़ना = (१) मौत आना । अकाल मृत्यु होना । (२) वज्र पड़ना । आफत आना । गजब गिरना । (स्त्रि० शाप) ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पुट = हलका मेल] बेसन या आटा जो तरकारी के रसे में उसे गाढ़ा करने के लिये मिला दिया जाता है । आलन ।

पुटग्रीव—संज्ञा पुं० [सं०] गगरा । कलसा ।

पुटपाक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्ते के दोने में रखकर औषध पकाने का विधान (वैद्यक) ।

विशेष—पकाई जानेवाली औषध को गंभारी, बरगद, जामुन, आदि के पत्तों में चारों ओर से लपेट दे और कसकर बाँध दे । फिर पत्तों के ऊपर गीली मिट्टी का अंगुल दो अंगुल मोटा लेप कर दे । फिर उस पिंड को उपले की आग में डाल दे । जब मिट्टी पककर लाल हो जाय तब समझे कि दवा पक गई । नेत्ररोगों में भी पुटपाक की रीति से औषध पकाकर उसका रस आँख में डालने का विधान है । स्निग्ध मांस और कुछ औषध लेकर द्रव पदार्थ मिलाकर पीस डाले फिर सबको ऊपर लिखी रीति से पकाकर उसका रस निचोड़कर आँख में डाले ।

(२) मुँहबंद बरतन में दवा रखकर उसे गड्ढे के भीतर पकाने का विधान । (भस्म बनाने के लिये धातुएँ प्रायः इस रीति से फूँकी जाती हैं ।) (३) पुटपाक द्वारा सिद्ध रस या औषध । उ०—रावण सो रसराज सुभट रस सहित लंक खल खलतो । करि पुटपाक नाकनायक हित घने घने घर घलतो ।—तुलसी ।

पुटभेद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल का भँवर । (२) नगर । पत्तन ।

पुटभेदक—संज्ञा पुं० [सं०] परतदार पत्थर जो आधा पुरसा खोदने पर जमीन के भीतर मिले । (बृहत्संहिता)

विशेष—कहाँ खोदने से जल निकलेगा इसका विचार जिस उदकार्गल प्रकरण में है उसी में इसका उल्लेख है ।

पुटरिया‡—संज्ञा स्त्री० दे० "पोटली" ।

पुटरी†—संज्ञा स्त्री० दे० "पोटली" ।

पुटालु—संज्ञा पुं० [सं०] कोलकंद ।

पुटास—संज्ञा पुं० दे० "पोटाश" ।

पुटिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संपुट । पुड़िया । (२) इलायची ।

पुटित—वि० [सं०] (१) जो सिमटकर दोने के आकार का हो गया हो । (२) संकुचित । सुकड़ा हुआ । (३) फटा हुआ । (४) सिला हुआ । (५) बंद ।

पुटनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] फेनी नाम की मिठाई ।

पुटिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली ।

पुटी—संज्ञा स्त्री० [सं० पुट] (१) छोटा दोना । छोटा कटोरा । उ०—भरि भरि परनपुटी रचि रूरी ।—तुलसी । (२) खाली स्थान जिसमें कोई वस्तु रक्खी जा सके । जैसे, चंचुपुटी । (३) पुड़िया । (४) कौपीन । लँगोटी ।

पुटीन—संज्ञा पुं० [अं० पुटी] किवाड़ों में शीशे बैठाने या लकड़ी

के जोड़, छेद, दरार आदि भरने में काम आनेवाला एक मसाला जो अलसी के तेल में खरिया मिट्टी मिलाकर बनाया जाता है।

पुट्ठी-संज्ञा स्त्री० [देश०] मछलियों के पकड़ने का झाबा।

पुट्ठा-संज्ञा पुं० [सं० पुष्ट वा पृष्ठ] (१) चूतड़ का ऊपरी कुछ कड़ा भाग। (२) चौपायों विशेषतः घोड़ों का चूतड़।

मुहा०—पुट्ठे पर हाथ न रखने देना = चंचलता और तेजी के कारण सवार को पास न आने देना (घोड़ो के लिये)।

(३) घोड़ों की संख्या के लिये शब्द। जैसे, (क) इस साल कितने पुट्ठे लाए ? (ख) फी पुट्ठा १००) के हिसाब से दाम ले लो। (४) किसी पुस्तक की जिल्द का पिछला भाग। (५) पुट्ठे पर का मजबूत चमड़ा। (चमार)

पुट्ठी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुट्ठा] बैलगाड़ी के पहिये के घेरे का एक भाग जिसमें आरा और गज घुसे रहते हैं। किसी पहिये में ४ किसी में ६ ऐसे भाग मिलकर पूरा घेरा बनाते हैं।

पुठवाल-संज्ञा पुं० [हिं० पुट्ठा + वाला] (१) चोरों के दल का वह बलिष्ठ आदमी जो सेंध के मुँह पर पहरे के लिये खड़ा रहता है। (२) भले बुरे काम में किसी का साथ देनेवाला। मददगार। पृष्ठरक्षक।

पुड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पुट] [स्त्री० अल्प० पुड़िया] बड़ी पुड़िया या बंडल।

संज्ञा पुं० [हिं० पुट्ठा] वह चमड़ा जिससे ढोल मढ़ा जाता है।

पुड़िया-संज्ञा स्त्री० [सं० पुटिका, प्रा० पुड़िया] (१) मोड़ या लपेटकर संपुट के आकार का किया हुआ कागज या पत्ता जिसके भीतर कोई वस्तु रखी जाय। जैसे, पंसारी ने एक पुड़िया बाँधकर दी।

क्रि० प्र०—बांधना।

(२) पुड़िया में लपेटी हुई दवा की एक खुराक या मात्रा। जैसे, एक पुड़िया सुबह खाना एक शाम। (३) आधार स्थान। खान। भंडार। घर। जैसे, यह बुढ़िया आफत की पुड़िया है।

पुड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुड़ा] वह चमड़ा जिससे ढोल मढ़ा जाता है।

पुण्य-वि० [सं०] पवित्र। शुभ। अच्छा। भला। धर्मविहित। जैसे, पुण्य कार्य्य।

संज्ञा पुं० (१) वह कर्म जिसका फल शुभ हो। शुभादृष्ट। सुकृत। भला काम। धर्म का कार्य्य। जैसे, दीनों को दान देना बड़े पुण्य का कार्य्य है।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) शुभ कर्म का संचय। जैसे, ऐसा करने से बड़ा पुण्य होता है।

क्रि० प्र०—होना।

पुण्यक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्रत, अनुष्ठान आदि जिनसे पुण्य होता है। (२) वह व्रत या उपचार जो पुत्रवती स्त्री अपने पुत्र के कल्याण के लिये करती है। (३) विष्णु।

पुण्यकाल-संज्ञा पुं० [सं०] दान पुण्य का समय।

पुण्यक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ जाने से पुण्य हो। तीर्थ।

पुण्यगंध-संज्ञा पुं० [सं०] चंपा।

पुण्यगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोनजुही का फूल।

पुण्यजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) धर्मात्मा। सज्जन। (२) राक्षस। (३) यक्ष।

पुण्यजनेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

पुण्यजित-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रलोक आदि (जिनकी प्राप्ति पुण्य द्वारा होती है)।

पुण्यदर्शन-वि० [सं०] जिसके दर्शन से पुण्य हो। जिसके दर्शन का फल शुभ या अच्छा हो।

संज्ञा पुं० नीलकंठ। चाषपक्षी। (विजयादशमी के दिन इसके दर्शन से लोग पुण्य मानते हैं।)

पुण्यभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आर्यावर्त्त देश। (२) पुत्रवती स्त्री।

पुण्यवान्-वि० [सं० पुण्यवत्] [स्त्री० पुण्यवती] पुण्य करनेवाला। धर्मात्मा।

पुण्यश्लोक-वि० [सं०] [स्त्री० पुण्यश्लोका] जिसका सुंदर चरित्र या यश हो। पवित्र चरित्र या आचरणवाला। जिसका जीवनवृत्तांत पवित्र और शिक्षादायक हो।

संज्ञा पुं० (१) नल। (२) युधिष्ठिर। (३) विष्णु।

पुण्यश्लोका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीता। (२) द्रौपदी।

पुण्यस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पवित्र स्थान। तीर्थस्थान। (२) जन्मकुंडली में लग्न से नवाँ स्थान जिसमें कुछ ग्रहों के होने से पुण्यवान् या पुण्यहीन होने का विचार किया जाता है।

पुण्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुलसी। (२) पुनपुना नदी।

पुण्याई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पुण्य + आई (प्रत्य०)] पुण्य का फल वा पुण्य का प्रभाव। उ०—आज तो वह पुरखों की पुण्याई से बच गया।

पुण्यात्मा-वि० [सं० पुण्यात्मन्] जिसकी प्रवृत्ति पुण्य की ओर हो। पुण्यशील। धर्मात्मा।

पुण्याह-संज्ञा पुं० [सं०] शुभ दिन। मंगल का दिन।

पुण्याहवचन-संज्ञा पुं० [सं०] देवकार्य्य के अनुष्ठान के पहले मंगल के लिये 'पुण्याह' शब्द का तीन बार कथन।

पुत्-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम जिससे पुत्र होने पर उद्धार होता है।

पुतरा†*-संज्ञा पुं० दे० "पुतला"।

पुतरिका*-संज्ञा स्त्री० दे० "पुत्तलिका"।

पुतरिया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पुतरी", "पुतली"।

पुतरी–संज्ञा स्त्री० दे० "पुतली"।

पुतला–संज्ञा पुं० [सं० पुत्रक, पुत्तल] [स्त्री० पुतली] लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े आदि का बना हुआ पुरुष का आकार या मूर्ति विशेषतः वह जो विनोद या क्रीड़ा (खेल) के लिये हो।

मुहा०—किसी का पुतला बाँधना = किसी की निंदा करते फिरना। किसी की अपकीर्त्ति फैलाना। बदनामी करना। (भाट जिसके यहाँ कुछ नहीं पाते हैं उसके नाम का एक पुतला बाँस में बाँधकर घूमते हैं और उसे कंजूस कह कहकर गालियाँ देते हैं)। उ०—तौ तुलसी पूतरा बाँधिहै। —तुलसी।

पुतली–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुतला] (१) लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े आदि की बनी हुई स्त्री की आकृति या मूर्ति विशेषतः वह जो विनोद या क्रीड़ा (खेल) के लिये हो। गुड़िया। (२) आँख का काला भाग जिसके बीच में वह छेद होता है जिससे होकर प्रकाश की किरणें भीतर जाती हैं और पदार्थों का प्रतिबिंब उपस्थित करती हैं। नेत्र के ज्योतिष्केंद्र के चारों ओर का कृष्णमंडल। (दूसरे की आँख पर दृष्टि गड़ाकर देखनेवाले को इस काले मंडल के बीच के तिल में अपना प्रतिबिंब पुतली के आकार का दिखाई देता है इसी से यह नाम पड़ा)।

मुहा०—पुतली फिर जाना = (१) आँखें पथरा जाना। नेत्र स्तब्ध होना। (मरण चिह्न)। (२) घमंड हो जाना।

(३) कपड़ा बुनने की कल या मशीन।

यौ०—पुतलीघर।

(४) किसी स्त्री की सुकुमारता और सुंदरता सूचित करने के लिये व्यवहृत शब्द। जैसे, वह स्त्री क्या है पुतली है। (५) घोड़े की टाप का वह मांस जो मेढक की तरह निकला होता है।

पुताई–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना + आई (प्रत्य०)] (१) किसी गीली वस्तु की तह चढ़ाने का काम। पोतने की क्रिया या भाव। (२) दीवार आदि पर मिट्टी गोबर चूना आदि पोतने का काम। (३) पोतने की मजदूरी।

पुतारा–संज्ञा पुं० [हिं० पुतना, पोतना] (१) किसी वस्तु के ऊपर पानी से तर कपड़ा फेरने की क्रिया। भीगे कपड़े से पोछने का काम। (२) पोतने का तर कपड़ा।

पुत्त*–संज्ञा पुं० दे० "पुत्र"।

पुत्तरी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "पुत्री"।

पुत्तल–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुतली] पुतला।

पुत्तलक–संज्ञा स्त्री० [सं०] [स्त्री० पुत्तालिका] पुतला।

पुत्तलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुतली। (२) गुड़िया।

पुत्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की मधुमक्खी। (२) दीमक।

पुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुत्री] लड़का। बेटा।

विशेष—'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति के लिये यह कल्पना की गई है कि जो पुन्नाम नरक से उद्धार करे उसकी संज्ञा पुत्र है। पर यह व्युत्पत्ति कल्पित है। मनु ने बारह प्रकार के पुत्र कहे हैं—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र। विवाहिता सवर्णा स्त्री के गर्भ से जिसकी उत्पत्ति हुई हो वह औरस कहलाता है। औरस ही सबसे श्रेष्ठ और मुख्य पुत्र है। मृत, नपुंसक आदि की स्त्री देवर आदि से नियोग द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे वह क्षेत्रज है। गोद लिया हुआ पुत्र दत्तक कहलाता है। किसी पुत्रगुणों से युक्त व्यक्ति को यदि कोई अपने पुत्र के स्थान पर नियत करे तो वह कृत्रिम पुत्र होगा। जिसकी स्त्री को किसी स्वजातीय या घर के पुरुष से ही पुत्र उत्पन्न हो, पर यह निश्चित न हो कि किससे तो वह उसका गूढ़ोत्पन्न पुत्र कहा जायगा। जिसे माता पिता दोनों ने या एक ने त्याग दिया हो और तीसरे ने ग्रहण किया हो वह उस ग्रहण करनेवाले का अपविद्ध पुत्र होगा। जिस कन्या ने अपने बाप के घर कुमारी अवस्था में ही गुप्त संयोग से पुत्र उत्पन्न किया हो उस कन्या का वह पुत्र उसके विवाहित पति का कानीन पुत्र कहा जायगा। पहले से गर्भवती कन्या का जिस पुरुष के साथ विवाह होगा गर्भजात पुत्र उस पुरुष का सहोढ पुत्र होगा। माता पिता को मूल्य देकर जिसे मोल लें वह मोल लेनेवाले का क्रीत पुत्र कहा जायगा। पति द्वारा त्यागी जाकर अथवा विधवा या स्वेच्छाचारिणी होकर जो परपुरुष संयोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करे वह पुत्र उस पुरुष का पौनर्भव पुत्र होगा। मातृपितृविहीन अथवा माता पिता का त्यागा हुआ यदि किसी से आप आकर कहे कि "मैं आपका पुत्र हुआ" तो वह स्वयंदत्त पुत्र कहलाता है। विवाहिता शूद्रा और ब्राह्मण के संयोग से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण का पार्शव या शौद्र पुत्र कहलाएगा।

पुत्रकंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] लक्ष्मणाकंद जिसके सेवन से गर्भदोष दूर होते हैं।

पुत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र। बेटा। (२) पतंग। फतिंगा। टिड्डा। (३) दाने का पौधा। (४) एक प्रकार का चूहा जिसके काटने से बड़ी पीड़ा और सूजन होती है।

पुत्रकामेष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक यज्ञ जो पुत्र की इच्छा से किया जाता है।

पुत्रघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योनिरोग जिसके कारण गर्भ नहीं ठहरता।

पुत्रजीव-संज्ञा पुं० [सं०] इंगुदी से मिलता जुलता एक बड़ा और सुंदर पेड़ जो हिमालय से लेकर सिंहल तक होता है। इसकी लकड़ी कड़ी और मजबूत होती है। यह चैत बैसाख में फूलता है। फल भी इसके इंगुदी के फलों के ऐसे होते हैं। बीज सूखकर रुद्राक्ष की तरह के हो जाते हैं, इससे बहुत से साधु उसकी माला पहनते हैं। बीजों से तेल भी निकलता है जो जलाने के काम में आता है। छाल, बीज और पत्ते दवा के काम में आते हैं। वैद्यक में पुत्रजीव भारी, वीर्य्यवर्द्धक, गर्भदायक, कफकारक, मलमूत्रकारक, रूखा और शीतल माना जाता है।

पर्या०-जियापोता। पुतजिया। पवित्र। गर्भद। सिद्धिद। यष्टीपुष्प।

पुत्रजीवक-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रजीव वृक्ष।

पुत्रदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंध्या कर्कोटकी। बाँझ ककोड़ा या खेखसा। (२) लक्ष्मण कंद। (३) सफेद भटकटैया। श्वेत कंटकारि। (४) जीवंती।

पुत्रदात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक लता जो मालवा में होती है। (२) श्वेत कंटकारि।

पुत्रप्रदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्वेतकंटकारि। (२) क्षुविका।

पुत्रभद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी जीवंती।

पुत्रभाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्र का भाव। पुत्रत्व। (२) फलित ज्योतिष में लग्न से पंचम स्थान का विचार जिसके द्वारा ज्योतिषी यह निश्चित करते हैं कि किसके कितने पुत्र या कन्याएँ होंगी।

पुत्रवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] जिसके पुत्र हो। पुत्रवाली। पूती।

पुत्रवधू-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुत्र की स्त्री। पतोहू। पुतऊ।

पुत्रशृंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ा।

पुत्रश्रेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी।

पुत्रसहम-संज्ञा पुं० [सं० पुत्र + अ० सहम] नीलकंठ ताजिक में जो ५० प्रकार के सहम कहे गए हैं उनमें से एक।

विशेष—बृहस्पतिस्फुट में से चंद्रस्फुट निकाल देने से जो अंक बचे उसे लग्नस्फुट के साथ जोड़ने से पुत्रसहम आता है। इसके द्वारा पुत्रलाभ आदि का विचार किया जाता है।

पुत्रादी-वि० [सं० पुत्रादिन्] [स्त्री० पुत्रादिनी] पुत्रभक्षक। बेटे को खानेवाला। (गाली)

पुत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लड़की। बेटी। उ०—जनक सुखद गीता। पुत्रिका पाइ सीता। —केशव। (२) पुत्र के स्थान पर मानी हुई कन्या।

विशेष—जिसे पुत्र न हो वह कन्या को इस प्रकार पुत्र रूप से ग्रहण कर सकता है। विवाह के समय वह जामाता से यह निश्चय कर ले कि "कन्या का जो पुत्र होगा वह मेरा 'स्वधाकर' अर्थात् मुझे पिंड देनेवाला और मेरी संपत्ति का अधिकारी होगा।" (मनु)

(३) गुड़िया। मूर्ति। पुतली। (४) आँख की पुतली। उ०—महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी। कि संग्राम की भूमि में चंडिका सी। —केशव। (५) स्त्री का चित्र। [illegible] की तसवीर। उ०—चित्र की सी पुत्रिका की रूरे बगरूरे माहिं, शंबर छोड़ाय लई कामिनी की काम की।—केशव।

पुत्रिकापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कन्या का पुत्र जो पुत्र के समान माना गया हो और संपत्ति का अधिकारी हो।

पुत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] कन्या। लड़की। बेटी।

वि० [सं० पुत्रिन्] [स्त्री० पुत्रिणी] पुत्रवाला। जिसे पुत्र हो

पुत्रेष्टि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो पुत्र की इच्छा से किया जाता है।

पुदीना-संज्ञा पुं० [फा० पोदीनः] एक छोटा पौधा जो या तो जमीन ही पर फैलता है अथवा अधिक से अधिक एक या डेढ़ बीता ऊपर जाता है। इसकी पत्तियाँ दो ढाई अंगुल लंबी और डेढ़ पौने दो अंगुल तक चौड़ी तथा किनारे पर कटावदार और देखने में खुरदरी होती हैं। पत्तियों में बहुत अच्छी गंध होती है इससे लोग उन्हें चटनी आदि में पीसकर डालते हैं। पुदीने को यहाँ डंठलों से ही लगाते हैं, उसका बीज नहीं बोते। पुदीने का फूल सफेद होता है और बीज छोटे छोटे होते हैं। पुदीना तीन प्रकार का होता है—साधारण, पहाड़ी और जल पुदीना। जलपुदीने की पत्तियाँ कुछ बड़ी होती हैं। पुदीना रुचिकारक, अजीर्ण-नाशक और वमन को रोकनेवाला है। यह पौधा हिंदुस्तान में बाहर से आया है, प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं है। यह पिपरमिंट की जाति का ही पौधा है।

पुद्गल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनशास्त्रानुसार ६ द्रव्यों में से एक। जगत् के रूपवान् जड़ पदार्थ। स्पर्श, रस और वर्णवाला पदार्थ।

विशेष—जैन दर्शन में षड्द्रव्य माने गए हैं—जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

(२) शरीर। देह। (बौद्ध)। (३) परमाणु। (४) आत्मा। (५) गंधतृण।

पुद्गलास्तिकाय-संज्ञा पुं० [सं०] संसार के सब रूपवान् जड़ पदार्थों की समष्टि।

पुनः-अव्य० [सं० पुनर] (१) फिर। दोबारा। दूसरी बार। (२) उपरांत। पीछे। अनंतर।

पुनःखुरी-संज्ञा पुं० [सं० पुनःखुरिन्] घोड़ों के पैर का एक रोग जिसमें उनकी टाप फैल जाती है और वे लड़खड़ाते चलते हैं।

पुनः पुनः-क्रि० वि० [सं०] बार बार।

पुनःपुना-संज्ञा स्त्री० [सं०] गया की पुनपुना नदी।

पुनःसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] फिर से किया जानेवाला संस्कार। उपनयन आदि संस्कार जो फिर से किए जायँ।

विशेष—जैसे, अनजाने अभक्ष्य, मलमूत्र मद्य लगा हुआ अन्न आदि मुँह में पड़ जाने से ब्राह्मण का फिर से उपनयन होना चाहिए। इस पुनः संस्कार में शिरोमुंडन, मेखला, दंड, भैक्ष्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं होती।

पुन–संज्ञा पुं० [सं० पुण्य] पुण्य। धर्म। सबाब।

पुनना–क्रि० स० [हिं० पूरना] बुरा भला कहना। उघटना। बखानना। बुराई खोल खोलकर कहना। (स्त्री०)

पुनपुना–संज्ञा स्त्री० [सं० पुनःपुना] विहार या मगध की एक छोटी नदी जो गया से बहती है और पवित्र मानी जाती है। इसके किनारे लोग पिंडदान करते हैं। वर्षा को छोड़ और ऋतुओं में इसमें जल नहीं रहता।

पुनरपि–क्रि० वि० [सं०] फिर भी।

पुनरबस, पुनरबसु*‡–संज्ञा पुं० दे० "पुनर्वसु"।

पुनरागमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिर से आना। दोबारा आना। (२) संसार में फिर आना। फिर जन्म लेना।

पुनराधान–संज्ञा पुं० [सं०] श्रौत या स्मार्त अग्नि का फिर से ग्रहण। फिर से अग्निस्थापन।

विशेष—पत्नी की मृत्यु हो जाने पर उसके दाहकर्म में अग्नि अर्पित करके गृहस्थ फिर से विवाह और अग्नि ग्रहण कर सकता है।

पुनरावृत्त–वि० [सं०] (१) फिर से घूमा हुआ। फिर से घूमकर आया हुआ। (२) दोहराया हुआ। फिर से किया या कहा हुआ।

पुनरावृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फिर से घूमना। फिर से घूमकर आना। (२) किए हुए काम को फिर करना। दोहराना। (३) पुनः पाठ। एक बार पढ़कर फिर पढ़ना। दोहराना।

पुनरुक्त–वि० [सं०] (१) फिर से कहा हुआ। (२) एक बार का कहा हुआ। जो फिर कहा गया हो।

पुनरुक्तवदाभास–संज्ञा पुं० [सं०] वह शब्दालंकार जिसमें शब्द सुनने से पुनरुक्ति सी जान पड़े परंतु यथार्थ में न हो। उ०—वंदनीय केहि के नहीं वे कविंद मतिमान। स्वर्ग गए हू काव्यरस जिनको जगत जहान। इसमें 'जगत' और 'जहान' इन दोनों शब्दों के प्रयोग में पुनरुक्ति जान पड़ती है, पर है नहीं, क्योंकि 'जगत' का अर्थ है जगता है।

पुनरुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक बार कही हुई बात को फिर कहना। कहे हुए वचन को फिर लाना।

विशेष—साहित्य की दृष्टि से रचना का यह एक दोष माना जाता है।

पुनर्ग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] पुनरुक्ति।

पुनर्जन्म–संज्ञा पुं० [सं०] मरने के बाद फिर दूसरे शरीर में उत्पत्ति। एक शरीर छूटने पर दूसरा शरीर धारण।

पुनर्णव–संज्ञा पुं० [सं०] नख। नाखून।

पुनर्नव–वि० [सं०] जो फिर से नया हो गया हो।

पुनर्नवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटा पौधा जिसकी पत्तियाँ चौलाई की पत्तियों की सी गोल गोल होती हैं। फूलों के रंग के भेद से यह पौधा तीन प्रकार का होता है—श्वेत, रक्त और नील। श्वेत पुनर्नवा विषखपरा और रक्त पुनर्नवा को साँठ या गदहपूरना कहते हैं। श्वेत पुनर्नवा या विषखपरे का पौधा जमीन पर फैला होता है, ऊपर की ओर बहुत कम जाता है। फूल सफेद होते हैं। साँठ या गदहपूरना ऊसर और कंकरीली जमीन पर अधिक होती है। फूल लाल होते हैं, डंठल लाल होते हैं और पत्तियाँ भी किनारे पर कुछ ललाई लिए होती हैं। पुनर्नवा की जड़ मूसला होती है और नीचे दूर तक गई होती है। औषध में इसी जड़ का व्यवहार अधिकतर होता है। पुनर्नवा कड़वी, गरम, चरपरी, कसैली, रुचिकारक, अग्निदीपक, रूखी, खारी, दस्तावर, हृदय और नेत्र को हितकारी, तथा सूजन, कफ, वात, खाँसी, बवासीर, सूल, पांडु रोग इत्यादि को दूर करनेवाली मानी जाती है। नेत्र रोगों में तो यह बहुत उपकारी मानी जाती है। इसकी जड़ को पीते भी हैं और घिसकर घी आदि के साथ अंजन की तरह लगाते भी हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि इसके सेवन से आँखें नई हो जाती हैं।

पर्या०—(क) श्वेत पुनर्नवा। श्वेत मूला। कठिल्ल। चिराटिका। वृश्चीरा। सितवर्षाभू। वर्षांगी। वर्षाही। विसाख। शशिवाटिका। पृथ्वा। घनपत्र। शोथघ्नी। दीर्घपत्रिका। (ख) रक्तपुनर्नवा। रक्तपत्रिका। रक्तकांडा। वर्षकेतु। वर्षाभू। रक्तपुष्पा। लोहिता। क्रूरा। मंडलपत्रिका। विकस्वरा। विषघ्नी। सारिणी। शोणपत्र। भौम। पुनर्भव। नव। नव्य। (ग) नीलपुनर्नवा। नीला। श्यामा। नीलवर्षाभू। नीलिनी।

पुनर्भव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फिर होना। पुनर्जन्म। (२) नख। नाखून। (३) रक्तपुनर्नवा।

वि० जो फिर हुआ हो। फिर उत्पन्न।

पुनर्भू–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विधवा स्त्री जिसका विवाह पहले पति के मरने पर दूसरे पुरुष से हो।

विशेष—मिताक्षरा के अनुसार पुनर्भू तीन प्रकार की होती हैं। जिसका पहले पति से केवल विवाह भर हुआ हो, समागम न हुआ हो, दूसरा विवाह होने पर वह अक्षतयोनि स्त्री प्रथमा पुनर्भू होगी। विधवा हो जाने पर जिसके चरित्र के बिगड़ने का डर गुरुजनों को हो उसका यदि वे पुनर्विवाह कर दें तो वह द्वितीया पुनर्भू होगी। विधवा

होकर व्यभिचार करनेवाली स्त्री का यदि फिर विवाह कर दिया जाय तो तृतीया पुनर्भू होगी।

पुनर्वसु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्ताईस नक्षत्रों में से सातवाँ नक्षत्र। दे० "नक्षत्र"। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) कात्यायन मुनि। (५) एक लोक।

पुनवाँसी‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पूर्णमासी"।

पुनि|*-क्रि० वि० [सं० पुनः] फिर फिर से। दोबारा।

मुहा०—पुनि पुनि = बार बार। उ०—पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारा।—तुलसी।

पुनी*-संज्ञा पुं० [सं० पुण्य, हिं० पुन] पुण्य करनेवाला। पुण्यात्मा। उ०—सब निर्दंभ, धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्ण] पूर्णिमा। पूनो। उ०—चित्र में विलोकत ही लाल को बदन बाल, जीते जेहि कोटि चंद शरद पुनीन को।—मतिराम।

पुनीत-वि० [सं०] पवित्र किया हुआ। पवित्र। पाक।

पुन्न-संज्ञा पुं० दे० "पुण्य"।

पुन्नाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुलताना चंपा।

विशेष—इसका पेड़ बड़ा और सदाबहार होता है। पत्तियाँ इसकी गोल अंडाकार, दोनों सिरों पर प्रायः बराबर चौड़ी और चंपा की पत्तियों से मिलती जुलती होती हैं। टहनियों के सिरे पर लाल रंग के फूल गुच्छों में लगते हैं। फूलों में केसर होता है जो पुन्नागकेसर कहलाता है और दवा के काम में आता है। फल भी गुच्छों में ही लगते हैं। इस पेड़ की लकड़ी बहुत मजबूत ललाई लिए बादामी रंग की होती है। यह इमारतों में लगती है, जहाज के मस्तूल बनाने, रेल की पटरी के नीचे देने तथा और बहुत से कामें में आती है। छाल को छीलने से एक प्रकार का रस या गोंद निकलता है जिसमें सुगंध होती है। फलों के बीज से तेल निकलता है। पुन्नाग के पेड़ दक्षिण मदरास प्रांत में समुद्रतट पर बहुत अधिक होते हैं। उड़ीसा, सिंहल और बरमा में भी यह पेड़ आपसे आप होता है। समुद्रतट की रेतीली भूमि में जहाँ और कोई बड़ा पेड़ नहीं होता वहाँ यह अपने फल फूल की बहार दिखाता है। वैद्यक में पुन्नाग मधुर, शीतल, सुगंध और पित्तनाशक माना जाता है।

पर्या०—पुरुषाख्य। रक्तवृक्ष। देववल्लभ। पुरुष। तुंग। केसर। केसरी।

(२) श्वेत कमल। (३) जायफल। (४) पुरुषश्रेष्ठ। मनुष्यों में बड़ा।

पुन्नाट, पुन्नाड़-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्रमर्द। चकवँड़ का पैाधा। (२) कर्नाटक के पास एक देश। (३) दिगंबर जैन संप्रदाय का एक संघ। जैन हरिवंश के कर्त्ता जिनसेनाचार्य्य इसी संघ के थे।

पुन्य-संज्ञा पुं० दे० "पुन्य"।

पुपली†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पोपला] बाँस की पतली पोली नली।

पुप्फुल-संज्ञा पुं० [सं०] उदरस्थ वायु। जठरबात।

पुप्फुस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पद्मबीज कोश। कँवलगट्टे का छत्ता। (२) फुप्फुस।

पुमान्-संज्ञा पुं० [सं०] मर्द। नर। पुरुष।

पुरंजन-संज्ञा पुं० [सं०] जीवात्मा।

विशेष—भागवत में विस्तृत रूपकाख्यान के रूप में शरीररूपी पुर, उसके नवद्वार, त्वक्रूपी प्राचीर और उसमें पुरंजन नाम से जीवात्मा के निवास आदि का वर्णन किया गया है।

पुरंजय-वि० [सं०] पुर को जीतनेवाला।

संज्ञा पुं० एक सूर्यवंशी राजा। काकुत्स्थ।

विशेष—विष्णुपुराण में लिखा है कि एक बार दैत्यों से हारकर जब देवता विष्णु भगवान् के पास गए तब उन्होंने उनसे राजा पुरंजय के पास जाने के लिये कहा। भगवान् ने अपना कुछ अंश पुरंजय में डाल दिया। पुरंजय ने इंद्र से बैल बनने के लिये कहा। बैल के ककुद (डीले) पर बैठकर पुरंजय ने युद्ध किया और दैत्यों को परास्त कर दिया इसी से उनका नाम काकुत्स्थ पड़ा।

पुरंदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुर, नगर या घर को तोड़नेवाला। (२) इंद्र (जिन्होंने शत्रु का नगर तोड़ा था)। (३) (घर को फोड़नेवाला) चोर। (४) चविका। चव्य। चई। (५) मिर्च। (६) ज्येष्ठा नक्षत्र। (७) विष्णु।

पुरंदरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

पुरंध्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पति, पुत्र कन्या आदि से भरी पूरी स्त्री। (२) स्त्री।

पुरः-अव्य० [सं० पुरस्] (१) आगे। (२) पहले।

पुरःसर-वि० [सं०] (१) अग्रगंता। अगुआ। (२) संगी। साथी। (३) समन्वित। सहित।

संज्ञा पुं० (१) अग्रगमन। (२) साथ।

पुर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुरी] (१) वह बड़ी बस्ती जहाँ कई ग्रामों या बस्तियों के लोगों को व्यवहार आदि के लिये आना पड़ता हो। नगर। शहर। कसबा। (२) आगार। घर।

यौ०—अंतःपुर। नारीपुर।

(३) गृहोपरि गृह। कोठा। अटारी। (४) लोक। भुवन। (५) नक्षत्र। पुंज। राशि। (६) देह। शरीर। (७) मोथा। (८) चर्म। चरसा। पुरवट। मोट। (९) पीली कटसरैया। (१०) गुरगुल नाम गंध द्रव्य। (११) दुर्ग। किला। गढ़। (१२) चोंगा।

वि० पूर्ण । भरा हुआ ।

पुरइन†※–संज्ञा स्त्री० [सं० पुटकिनी, प्रा० पुड़इनी = कमलिनी, पुं० हिं० पुरइनि] (१) कमल का पत्ता । उ०–(क) पुरइन सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म । मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुण ब्रह्म ।—तुलसी । (ख) देखो भाई रूप सरोवर साज्यो । व्रज बनिता वर वारि वृंद में श्री व्रजराज विराज्यो । पुरइन कपिश निचोल विविध रँग विहसत सचु उपजावै । सूर श्याम आनंदकंद की सोभा कहत न आवै ।—सूर । (२) कमल । उ०—(क) सरवर चहुँ दिसि पुरइनि फूली । देखा वारि रहा मन भूली ।—जायसी । (ख) ऊधो तुम हैा अति बड़ भागी । अपरस रहत सनेहतगा तें नाहिन मन अनुरागी । पुरइन-पात रहत जल भीतर ता रस देह न दागी । ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताको लागी ।—सूर ।

पुरखा–संज्ञा पुं० [सं० पुरुष] [स्त्री० पुरखिन] (१) पूर्वज । पूर्व पुरुष । उत्पत्ति-परंपरा में पहले पड़नेवाले पुरुष । जैसे, बाप दादा परदादा इत्यादि । जैसे, ऐसी चीज उसके पुरखों ने भी न देखी होगी । उ०—चलत लीक पुरखान की करत तिनहिं के काज ।—लक्ष्मण ।

मुहा०—पुरखे तर जाना = पूर्व पुरुषों को (पुत्र आदि के कृत्य से) परलोक में उत्तम गति प्राप्त होना । बड़ा भारी पुण्य या फल होना । कृतकृत्य होना । जैसे, एक दिन वे तुम्हारे घर आ गए, बस पुरखे तर गए ।

(२) घर का बड़ा बूढ़ा ।

पुरगुर–संज्ञा पुं० [देश०] बंगाल के उत्तरपूर्व होनेवाला एक पेड़ जो धौली से मिलता जुलता होता है । इसकी लकड़ी खेती के सामान और खिलौने आदि बनाने के काम आती है ।

पुरचक–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुचकार] (१) चुमकार । पुचकार । (२) बढ़ावा । उत्साह दान । जैसे, तुम्हीं ने तो पुरचक दे देकर लड़के को गाली बकना सिखाया है ।

क्रि० प्र०—देना ।

(३) प्रेरणा । उसकावा । उभारने का काम । जैसे, उसने पुरचक देकर उसे लड़ा दिया । (४) पृष्ठपोषण । वाहवाही । समर्थन । पक्षमंडन । हिमायत । तरफदारी । जैसे, पुरचक पाकर ही पुलिसवालों ने यह सब उपद्रव किया ।

क्रि० प्र०—देना । —पाना । —लेना ।

पुरजा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) टुकड़ा । खंड । उ०—सूरा सोइ सराहिए लड़े धनी के खेत । पुरजा पुरजा ह्वै परै तऊ न छाँड़ै खेत ।—कबीर ।

मुहा०—पुरजे पुरजे करना वा उड़ाना = खंड खंड करना । टूक टूक करना । धज्जियाँ उड़ाना । **पुरजे पुरजे होना** = खंड खंड होना । टूट फूटकर टुकड़े टुकड़े होना ।

(२) कतरन । धज्जी । कटा टुकड़ा । कत्तल । (३) अवयव । अंग । अंश । भाग । जैसे, कल के पुरजे, घड़ी के पुरजे ।

मुहा०—चलता पुरजा = चालाक आदमी । तेज आदमी । उद्योगी ।

(४) चिड़ियों के महीन पर । रोईं ।

पुरजित्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) । शिव । (२) एक राजा । (३) कृष्ण का एक पुत्र जो जांबवती से उत्पन्न हुआ था ।

पुरट–संज्ञा पुं० [सं०] सुवर्ण । सोना ।

पुरण–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

पुरतः–अव्य० [सं०] आगे ।

पुरत्राण–संज्ञा पुं० [सं०] शहरपनाह । प्राकार । कोट । परकोटा । उ०—कनक रचित मणि खचित दिवाला । अष्ट द्वार पुरत्राण विशाला ।

पुरद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] नगरद्वार । शहरपनाह का फाटक ।

पुरनियाँ†–वि० [हिं० पुरान] वृद्ध । वयोवृद्ध । बुड्ढा ।

पुरनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूरना = भरना] (१) छल्ला । अँगूठे में पहनने का गहना । (२) तुरही । सिंहा । (३) बंदूक का गज ।

पुरपाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नगर का रक्षक । कोतवाल । (२) जीव ।

पुरबला†, **पुरबुला**–वि० [सं० पूर्व + ला प्रत्य०)] [स्त्री० पुरबली, पुरबुली] (१) पूर्व का । पहले का । (२) पूर्व-जन्म का । पूर्वजन्म संबंधी । जैसे, पुरबुले का पाप । उ०—रही न रानी केकयी अमर भई यह बात । कवन पुरबुले पाप ते वन पठयो जगतात ।

पुरबा–संज्ञा स्त्री० दे० "पुरवा" ।

पुरबिया–वि० [हिं० पूरब] [स्त्री० पुरबिनी] पूर्वदेश में उत्पन्न वा रहनेवाला । पूरब का । जैसे, पुरबिये लोग ।

संज्ञा पुं० पूरब का रहनेवाला । जैसे, पुरबियों की फौज ।

पुरबिहा†–वि० दे० "पुरबिया" ।

पुरबी†–वि० दे० "पूरबी" ।

पुरभिद्–संज्ञा पुं० [सं०] (असुरों के त्रिपुर का नाश करनेवाले) शिव ।

पुरमथन–संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

पुरला–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

पुरवइया, पूरवैया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पुरवाई" ।

पुरवट†–संज्ञा पुं० [सं० पूर] चमड़े का बहुत बड़ा डोल जिसे कुएँ में डालकर बैलों की सहायता से खेत की सिंचाई आदि के लिये पानी खींचते हैं । चरसा । मोट ।

क्रि० प्र०—चलना । —खींचना ।

मुहा०—पुरवट नाधना = पुरवट की रस्सी में बैल जोतना । **पुरवट हाँकना** = पुरवट के बैलों को चलाना ।

पुरवना*†-क्रि० स० [हिं० पूरना] (१) पूरना। भरना। पूर्ण करना। जैसे, घाव पुरवना। (२) पूरा करना। पूर्ण करना। उ०—(क) जौं विधि पुरव मनोरथ काली। करउँ तोहि चषपूतरि आली।—तुलसी। (ख) मा सो कहा दुरावति राधा। कहाँ मिली नँदनंदन को निज पुरयो मन की साधा।—सूर।

मुहा०-साथ पुरवना = साथ देना। साथी होना। उ०—पुरवहु साथ तुम्हार बड़ाई।—जायसी।

क्रि० अ० (१) पूरा होना। (२) यथेष्ट होना। (३) उपयोग के योग्य होना।

मुहा०-बल पुरवना = पूरी शक्ति या सामर्थ्य होना। बलवीर्य का काम करना।

पुरवा-संज्ञा पुं० [सं० पुर] छोटा गाँव। पुरा। खेड़ा। उ०—नदी नद सागर डगरि मिलि गए देव, डगर न सूझत नगर पुरवान को।—देव।

संज्ञा पुं० [सं० पूर्व + वात, हिं० पूरब+बाव] (१) पूरब की हवा। पूर्व दिशा से चलनेवाली वायु। (२) एक रोग जो पुरवा वायु चलने से उत्पन्न होता है। यह पशुओं को होता है। इसमें पशु का गला फूल आता है और उसके पेट में पीड़ा होती है।

संज्ञा पुं० [सं० पुटक] मिट्टी का कुल्हड़। कुल्हिया। उ०—बूट के केदार सम लूटि है त्रिलोक काल पुरवा के फूट सम ब्रह्म अंड फूटिहै।—हनुमान।

पुरवाई-संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्व + वायु, हिं० पूरब + वाई] पूर्व की वायु। वह वायु जो पूर्व से चलती है।

पुरवाना-क्रि० स० [हिं० पुरवना का प्रे०] पूरा कराना।

पुरवैया‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पुरवाई"।

पुरशासन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। (दैत्यों के त्रिपुर का ध्वंस करनेवाले)।

पुरश्चरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कार्य की सिद्धि के लिये पहले से ही उपाय सोचना और अनुष्ठान करना। (२) किसी मंत्रस्तोत्र आदि को किसी अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये किसी नियत समय और परिमाण तक नियमपूर्वक जपना वा पाठ करना। प्रयोग।

पुरश्छद-संज्ञा पुं० [सं०] कुश या डाभ की तरह की एक घास।

पुरषा-संज्ञा पुं० दे० "पुरखा"।

पुरस†-संज्ञा पुं० [सं० पुरीष] खाद। पाँस।

पुरसा-संज्ञा पुं० [सं० पुरुष] ऊँचाई या गहराई की एक माप जिसका विस्तार हाथ ऊपर उठाकर खड़े हुए मनुष्य के बराबर होता है। साढ़े चार या पाँच हाथ की एक माप। जैसे, चार पुरसा गहरा, छः पुरसा ऊँचा।

पुरस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पुरस्कृत] (१) आगे करने की क्रिया। (२) आदर। पूजा। (३) प्रधानता। (४) स्वीकार। (५) पारितोषिक। उपहार। इनाम।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।

पुरस्कृत-वि० [सं०] (१) आगे किया हुआ। (२) आदृत। पूजित। (३) स्वीकृत। (४) जिसने इनाम पाया हो। जिसे पुरस्कार मिला हो।

पुरस्तात्-अव्य० [सं०] (१) आगे। सामने। (२) पूर्व दिशा में। (३) पहले। पूर्वकाल में।

पुरहत-संज्ञा पुं०[सं० पुरः + अक्षत] वह अन्न और द्रव्यादि जो विवाह आदि मंगल कार्यों में पुरोहित या प्रजा को किसी कृत्य के करने के प्रारंभ में दिया जाता है। आखत।

पुरहन्-संज्ञा पुं०[सं०] (१) विष्णु। (२) शिव।

पुरहा†-संज्ञा पुं०[सं० हिं० पुर] वह पुरुष जो पुर चलते समय कुएँ पर पुर के पानी को गिराने के लिये नियत रहता है।

पुरहूत*-संज्ञा पुं० दे० "पुरुहूत"।

पुरांतक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

पुरा-अव्य० [सं०] (१) पुराने समय में। पहले। पूर्वकाल में। प्राचीन काल में। उ०—रहे चक्रवर्ती नृपति विश्वामित्र महान। कियो राज शासन पुरा जाहिर भयो जहान।—रघुराज। (२) प्राचीन। अतीत। पुराना। जैसे, पुरावृत्त, पुराकल्प, पुराविद्, पुराकथा।

संज्ञा स्त्री० (१) पूर्व दिशा। (२) एक सुगंध द्रव्य। मुरा। वैद्यक में यह कसैली, शीतल तथा कफ, श्वास, मूर्च्छा और विष को दूर करनेवाली मानी जाती है।

संज्ञा पुं० [सं० पुर] गाँव। बस्ती।

पुराकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्वकल्प। पहले का कल्प। (२) प्राचीन काल। (३) एक प्रकार का अर्थवाद जिसमें प्राचीन काल का इतिहास कहकर किसी विधि के करने की ओर प्रवृत्त किया जाय। जैसे, ब्राह्मणों ने इससे हविः पवमान सामस्तोम की स्तुति की थी।

पुराकृत-वि० [सं०] (१) पूर्व काल में किया हुआ। (२) पूर्वजन्म में किया हुआ।

संज्ञा पुं० पूर्वजन्म में किया हुआ पाप या पुण्यकर्म।

पुराण-वि० [सं०] पुरातन। प्राचीन। जैसे, पुराण पुरुष।

संज्ञा पुं० (१) प्राचीन आख्यान। पुरानी कथा। सृष्टि, मनुष्य, देवों, दानवों, राजाओं, महात्माओं आदि के ऐसे वृत्तांत जो पुरुषपरंपरा से चले आते हों। (२) हिंदुओं के धर्म-संबंधी आख्यान ग्रंथ जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषियों, मुनियों और राजाओं के वृत्तांत आदि रहते हैं। पुरानी कथाओं की पोथी।

विशेष-पुराण अठारह हैं। विष्णु पुराण के अनुसार उनके नाम ये हैं—विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद,

मार्कंडेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्मांड और भविष्य। पुराणों में एक विचित्रता यह है कि प्रत्येक पुराण में अठारहों पुराणों के नाम और उनकी श्लोकसंख्या है। नाम और श्लोकसंख्या प्रायः सबकी मिलती है, कहीं कहीं भेद है। जैसे, कूर्मपुराण में अग्नि के स्थान में वायुपुराण, मार्कंडेय पुराण में लिंगपुराण के स्थान में नृसिंहपुराण, देवीभागवत में शिवपुराण के स्थान में नारदपुराण और मत्स्य में वायुपुराण है। भागवत के नाम से आजकल दो पुराण मिलते हैं—एक श्रीमद्भागवत, दूसरा देवीभागवत। कौन वास्तव में पुराण है इस पर झगड़ा रहा है। रामाश्रम स्वामी ने 'दुर्जनमुखचपेटिका' में सिद्ध किया है कि श्रीमद्भागवत ही पुराण है। इस पर काशीनाथ भट्ट ने 'दुर्जनमुखमहाचपेटिका' तथा एक और पंडित ने 'दुर्जनमुखपद्मपादुका' देवीभागवत के पक्ष में लिखी थी। पुराण के पाँच लक्षण कहे गए हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग (अर्थात् सृष्टि और फिर सृष्टि), वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित।

पुराणों में विष्णु, वायु, मत्स्य और भागवत में ऐतिहासिक वृत्त, राजाओं की वंशावली आदि के रूप में, बहुत कुछ मिलते हैं। ये वंशावलियाँ यद्यपि बहुत संक्षिप्त हैं और इनमें परस्पर कहीं कहीं विरोध भी हैं पर हैं बड़े काम की। पुराणों की ओर ऐतिहासिकों ने इधर विशेष रूप से ध्यान दिया है और वे इन वंशावलियों की छानबीन में लगे हैं। पुराणों में सबसे पुराना विष्णुपुराण ही प्रतीत होता है। उसमें सांप्रदायिक खींच-तान और रागद्वेष नहीं है। पुराण के पाँचों लक्षण भी उस पर ठीक ठीक घटते हैं। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति और लय, मन्वंतरों, भरतादि खंडों और सूर्य्यादि लोकों, वेदों की शाखाओं तथा वेदव्यास द्वारा उनके विभाग, सूर्य्य चंद्र वंश आदि का वर्णन है। कलि के राजाओं में मगध के मौर्य्य राजाओं तथा गुप्तवंश के राजाओं तक का उल्लेख है। श्रीकृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन है पर बिलकुल उस रूप में नहीं जिस रूप में भागवत में है। कुछ लोगों का कहना है कि वायुपुराण ही शिवपुराण है क्योंकि आजकल जो शिवपुराण नामक पुराण या उपपुराण है उसकी श्लोकसंख्या २४००० नहीं है, केवल ७००० ही है। वायुपुराण के चार पाद हैं जिनमें सृष्टि की उत्पत्ति, कल्पों और मन्वंतरों, वैदिक ऋषियों की गाथाओं, दक्ष प्रजापति की कन्याओं से भिन्न भिन्न जीवोत्पत्ति, सूर्य्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं की वंशावली तथा कलि के राजाओं का प्रायः विष्णुपुराण के अनुसार वर्णन है। मत्स्यपुराण में मन्वंतरों और राजवंशावलियों के अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म का बड़े विस्तार के साथ वर्णन है और मत्स्यावतार की पूरी कथा है। इसमें मय आदिक असुरों के संहार, मातृलोक, पितृलोक, मूर्ति और मंदिर बनाने की विधि का वर्णन विशेष ढंग का है।

श्रीमद्भागवत का प्रचार सब से अधिक है क्योंकि उसमें भक्ति के माहात्म्य और श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। नौ स्कंधों के भीतर तो जीवब्रह्म की एकता, भक्ति का महत्व, सृष्टि-लीला, कपिलदेव का जन्म और अपनी माता के प्रति वैष्णव भावानुसार सांख्य शास्त्र का उपदेश, मन्वंतर और ऋषि वंशावली, अवतार जिसमें ऋषभदेव का भी प्रसंग है, ध्रुव, वेणु, पृथु, प्रह्लाद इत्यादि की कथा, समुद्रमथन आदि अनेक विषय हैं। पर सब से बड़ा दशम स्कंध है जिसमें कृष्ण की लीला का विस्तार से वर्णन है। इसी स्कंध के आधार पर शृंगार और भक्तिरस से पूर्ण कृष्णचरित संबंधी संस्कृत और भाषा के अनेक ग्रंथ बने हैं। एकादश स्कंध में यादवों के नाश और बारहवें में कलियुग के राजाओं के राजत्व का वर्णन है। भागवत की लेखन-शैली और पुराणों से भिन्न है। इसकी भाषा पांडित्यपूर्ण और साहित्यसंबंधी चमत्कारों से भरी हुई है, इससे इसकी रचना कुछ पीछे की मानी जाती है।

अग्निपुराण एक विलक्षण पुराण है जिसमें राजवंशावलियों तथा संक्षिप्त कथाओं के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, राजनीति, राजधर्म, प्रजाधर्म, आयुर्वेद, व्याकरण, रस, अलंकार, शस्त्रविद्या आदि अनेक विषय हैं। इसमें तंत्र-दीक्षा का भी विस्तृत प्रकरण है। कलि के राजाओं की वंशावली विक्रम तक आई है, अवतार प्रसंग भी है।

इसी प्रकार और पुराणों में भी कथाएँ हैं। विष्णुपुराण के अतिरिक्त और पुराण जो आजकल मिलते हैं उनके विषय में संदेह होता है कि वे असल पुराणों के न मिलने पर पीछे से न बनाए गए हों। कई एक पुराण तो मत मतांतरों और संप्रदायों के राग द्वेष से भरे हैं। कोई किसी देवता की प्रधानता स्थापित करता है, कोई किसी की। ब्रह्मवैवर्तपुराण का जो परिचय मत्स्यपुराण में दिया गया है उसके अनुसार उसमें रथंतर कल्प और वराह अवतार की कथा होनी चाहिए पर जो ब्रह्मवैवर्त आजकल मिलता है उसमें यह कथा नहीं है। कृष्ण के वृंदावन के रास से जिन भक्तों की तृप्ति नहीं हुई थी उनके लिये गोलोक में सदा होनेवाले रास का उसमें वर्णन है। आजकल का यह ब्रह्मवैवर्त मुसलमानों के आने के कई सौ वर्ष पीछे का है क्योंकि इसमें 'जुलाहा'

जाति की उत्पत्ति का भी उल्लेख है—"म्लेच्छात् कुविंद-कन्यायां जोला जातिर्बभूव ह" (१०।१२१)। ब्रह्मपुराण में तीर्थों और उनके माहात्म्य का वर्णन बहुत अधिक है, अनंतवासुदेव और पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) माहात्म्य तथा और बहुत से ऐसे तीर्थों के माहात्म्य लिखे गए हैं जो प्राचीन नहीं कहे जा सकते। 'पुरुषोत्तम-प्रासाद' से अवश्य जगन्नाथ जी के विशाल मंदिर की ओर ही इशारा है जिसे गांगेय वंश के राजा चोड़गंग (सन् १०७७ ई०) ने बनवाया था। मत्स्यपुराण में दिए हुए लक्षण आजकल के पद्मपुराण में भी पूरे नहीं मिलते हैं। वैष्णव सांप्रदायिकों के द्वेष की इसमें बहुत सी बातें हैं। जैसे, पाषंडिलक्षण, मायावादनिंदा, तामसशास्त्र, पुराणवर्णन इत्यादि। वैशेषिक, न्याय, सांख्य और चार्वाक तामस शास्त्र कहे गए हैं और यह भी बताया गया है कि दैत्यों के विनाश के लिये बुद्ध रूपी विष्णु ने असत् बौद्ध शास्त्र कहा। इसी प्रकार मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कंद और अग्नि तामस पुराण कहे गए हैं। सारांश यह कि अधिकांश पुराणों का वर्त्तमान रूप हजार वर्ष के भीतर का है। सबके सब पुराण सांप्रदायिक हैं, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। कई पुराण (जैसे, विष्णु) बहुत कुछ अपने प्राचीन रूप में मिलते हैं पर उनमें भी सांप्रदायिकों ने बहुत सी बातें बढ़ा दी हैं।

यद्यपि आजकल जो पुराण मिलते हैं उनमें से अधिकतर पीछे से बने हुए या प्रक्षिप्त विषयों से भरे हुए हैं पर पुराण बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थे। बृहदारण्यक और शतपथब्राह्मण में लिखा है कि गीली लकड़ी से जैसे धूआँ अलग अलग निकलता है वैसे ही महान् भूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराणविद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान हुए। छांदोग्य उपनिषद् में भी लिखा है कि इतिहास पुराण वेदों में पाँचवाँ वेद है। अत्यंत प्राचीन काल में वेदों के साथ पुराण भी प्रचलित थे जो यज्ञ आदि के अवसरों पर कहे जाते थे। कई बातें जो पुराण के लक्षणों में हैं वेदों में भी हैं। जैसे, पहले असत् था और कुछ नहीं था यह सर्ग या सृष्टितत्त्व है, देवासुर संग्राम, उर्वशी-पुरूरवा-संवाद इतिहास हैं। महाभारत के आदिपर्व में (१। २३२) भी अनेक राजाओं के नाम और कुछ विषय गिनाकर कहा गया है कि इनके वृत्तांत विद्वान् सत्कवियों द्वारा पुराण में कहे गए हैं। इससे कहा जा सकता है कि महाभारत के रचनाकाल में भी पुराण थे। मनुस्मृति में भी लिखा है कि पितृकार्यों में वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण आदि सुनाने चाहिएँ।

अब प्रश्न यह होता है कि पुराण हैं किसके बनाए। शिवपुराण के अंतर्गत रेवा माहात्म्य में लिखा है कि अठारहों पुराणों के वक्ता सत्यवती-सुत व्यास हैं। यही बात जनसाधारण में प्रचलित है। पर मत्स्यपुराण में स्पष्ट लिखा है कि पहले पुराण एक ही था उसी से १८ पुराण हुए (५३।४)। ब्रह्मांडपुराण में लिखा है कि वेदव्यास ने एक पुराणसंहिता का संकलन किया था। इसके आगे की बात का पता विष्णुपुराण से लगता है। उसमें लिखा है कि व्यास का एक लोमहर्षण नाम का शिष्य था जो सूत जाति का था। व्यास जी ने अपनी पुराणसंहिता उसी के हाथ में दी। लोमहर्षण के थे छः शिष्य—सुमति, अग्निवर्च्चा, मित्रयु, शांशपायन, अकृतव्रण और सावर्णी। इनमें से अकृतव्रण, सावर्णी और शांशपायन ने लोमहर्षण से पढ़ी हुई पुराणसंहिता के आधार पर और एक एक संहिता बनाई।

वेदव्यास ने जिस प्रकार मंत्रों का संग्रह कर उनका संहिताओं में विभाग किया उसी प्रकार पुराण के नाम से चले आते हुए वृत्तों का संग्रह कर पुराणसंहिता का संकलन किया। उसी एक संहिता को लेकर सूत के चेलों ने तीन और संहिताएँ बनाईं। इन्हीं संहिताओं के आधार पर अठारह पुराण बने होंगे। मत्स्य, विष्णु, ब्रह्मांड आदि सब पुराणों में ब्रह्मपुराण पहला कहा गया है। पर जो ब्रह्मपुराण आजकल प्रचलित है वह कैसा है यह पहले कहा जा चुका है। जो कुछ हो यह तो ऊपर लिखे प्रमाण से सिद्ध है कि अठारह पुराण वेदव्यास के बनाए नहीं हैं। जो पुराण आजकल मिलते हैं उनमें विष्णुपुराण और ब्रह्मांडपुराण की रचना औरों से प्राचीन जान पड़ती है। विष्णुपुराण में भविष्य राजवंश के अंतर्गत गुप्तवंश के राजाओं तक का उल्लेख है इससे वह प्रकरण ईसा की छठी शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। जावा के आगे जो बाली टापू है वहाँ के हिंदुओं के पास ब्रह्मांडपुराण मिला है। इन हिंदुओं के पूर्वज ईसा की पाँचवीं शताब्दी में भारतवर्ष से पूर्व के द्वीपों में जाकर बसे थे। बालीवाले ब्रह्मांडपुराण में भविष्य-राजवंश-प्रकरण नहीं है, उसमें जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण तक का नाम पाया जाता है। यह बात ध्यान देने की है। इससे प्रकट होता है कि पुराणों में जो भविष्य राजवंश है वह पीछे से जोड़ा हुआ है। यहाँ पर ब्रह्मांडपुराण की जो प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं देखना चाहिए कि उनमें भूत और वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग कहाँ तक है। भविष्यराजवंश-वर्णन के पूर्व उनमें ये श्लोक मिलते हैं—

तस्य पुत्रः शतानीको बलवान् सत्यविक्रमः।
ततः सुतं शतानीकं विप्रास्तमभ्यषेचयन्॥

पुत्रोश्वमेधदत्तोऽभूत् शतानीकस्य वीर्यवान् ।
पुत्रोऽश्वमेधदत्ताद्वै जातः परपुरंजयः ॥
अधिसीमकृष्णो धर्मात्मा साम्प्रतोयं महायशाः ।
यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम् ॥
दुरापं दीर्घसत्रं वै त्रीणि वर्षाणि पुष्करम् ।
वर्षद्वयं कुरुक्षेत्रे दृषद्वत्यां द्विजोत्तमाः ॥

अर्थात्—उनके पुत्र बलवान् और सत्यविक्रम शतानीक । पीछे शतानीक के पुत्र को ब्राह्मणों ने अभिषिक्त किया । शतानीक के अश्वमेधदत्त नाम का एक वीर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुआ । अश्वमेधदत्त के पुत्र परपुरंजय धर्मात्मा अधिसीमकृष्ण हैं । ये ही महायशा आजकल पृथ्वी का शासन करते हैं । इन्हीं के समय में आप लोगों ने पुष्कर में तीन वर्ष का और दृषद्वती के किनारे कुरुक्षेत्र में दो वर्ष तक का यज्ञ किया है ।

उक्त अंश से प्रकट है कि आदि ब्रह्मांडपुराण अधिसीमकृष्ण के समय में बना । इसी प्रकार विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण आदि की परीक्षा करने से पता चलता है कि आदि विष्णुपुराण परीक्षित के समय में और आदि मत्स्यपुराण जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीमकृष्ण के समय में संकलित हुआ ।

पुराण संहिताओं से अठारह पुराण बहुत प्राचीन काल में ही बन गए थे इसका पता लगता है । आपस्तंबधर्मसूत्र (२ । २४ । ५) में भविष्यपुराण का प्रमाण इस प्रकार उद्धृत है ।—

आभूत संप्लवात्ते स्वर्गजितः । पुनः सर्गे बीजीर्था भवंतीति भविष्यत्पुराणे ।

यह अवश्य है कि आजकल पुराण अपने आदिम रूप में नहीं मिलते हैं । बहुत से पुराण तो असल पुराणों के न मिलने पर फिर से नए रचे गए हैं, कुछ में बहुत सी बातें जोड़ दी गई हैं । प्रायः सब पुराण शैव, वैष्णव और सौर संप्रदायों में से किसी न किसी के पोषक हैं इसमें भी कोई संदेह नहीं । विष्णु, रुद्र, सूर्य आदि की उपासना वैदिक काल से ही चली आती थी, फिर धीरे धीरे कुछ लोग किसी एक देवता को प्रधानता देने लगे, कुछ लोग दूसरे को । इस प्रकार महाभारत के पीछे ही संप्रदायों का सूत्रपात हो चला । पुराण संहिताएँ उसी समय में बनीं । फिर आगे चलकर आदि पुराण बने जिनका बहुत कुछ अंश आजकल पाए जानेवाले कुछ पुराणों के भीतर है ।

पुराणों का उद्देश्य पुराने वृत्तों का संग्रह करना, कुछ प्राचीन और कुछ कल्पित कथाओं द्वारा उपदेश देना, देवमहिमा तथा तीर्थमहिमा के वर्णन द्वारा जनसाधारण में धर्मबुद्धि स्थिर रखना ही था । इसी से व्यास ने सूत (भाट या कथक्कड़) जाति के एक पुरुष को अपनी संकलित आदि पुराणसंहिता प्रचार करने के लिये दी । पुराणों में वैदिक काल से चले आते हुए सृष्टि आदि संबंधी विचारों, प्राचीन राजाओं और ऋषियों के परंपरागत वृत्तांतों तथा कथा कहानियों आदि के संग्रह के साथ साथ कल्पित कथाओं की विचित्रता और रोचक वर्णनों द्वारा सांप्रदायिक या साधारण उपदेश भी मिलते हैं । पुराण उस प्रकार प्रमाण-ग्रंथ नहीं है जिस प्रकार श्रुति, स्मृति आदि हैं ।

हिंदुओं के अनुकरण पर जैन लोगों में भी बहुत से पुराण बने हैं । इनमें से २४ पुराण तो तीर्थंकरों के नाम पर हैं और भी बहुत से हैं जिनमें तीर्थंकरों के अलौकिक चरित्र, सब देवताओं से उनकी श्रेष्ठता, जैनधर्मसंबंधी तत्वों का विस्तार से वर्णन, फलस्तुति माहात्म्य आदि हैं । अलग पद्मपुराण और हरिवंश (अरिष्टनेमि पुराण) भी हैं । इन जैन पुराणों में राम, कृष्ण आदि के चरित्र लेकर खूब विकृत किए गए हैं ।

बौद्ध ग्रंथों में कहीं पुराणों का उल्लेख नहीं है पर तिब्बत और नैपाल के बौद्ध ९ पुराण मानते हैं जिन्हें वे नवधर्म कहते हैं—१ प्रज्ञापारमिता (न्याय का ग्रंथ कहना चाहिए), २ गंडव्यूह, ३ समाधिराज, ४ लंकावतार (रावण का मलयागिरि पर जाना, और शाक्यसिंह के उपदेश से बोधिज्ञान लाभ करना वर्णित है), ५ तथागतगुह्यक, ६ सद्धर्मपुंडरीक, ७ ललितविस्तर (बुद्ध का चरित्र), ८ सुवर्णप्रभा (लक्ष्मी, सरस्वती, पृथ्वी आदि की कथा और उनका शाक्यसिंह का पूजन), ९ दशभूमीश्वर ।

(३) अठारह की संख्या । (४) शिव । (५) कार्षापण ।

पुराणग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) पुराण कहनेवाला ।

पुराणपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

पुरातत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन-कालसंबंधी विद्या । प्रत्न शास्त्र ।

पुरातन–वि० [सं०] प्राचीन । पुराना ।

संज्ञा पुं० विष्णु ।

पुरातल–संज्ञा पुं० [सं०] तलातल ।

पुरान †–वि० दे० "पुराना" ।

संज्ञा पुं० दे० "पुराण" ।

पुराना–वि० [सं० पुराण] [स्त्री० पुरानी] (१) जो किसी समय के बहुत पहले से रहा हो । जो किसी विशेष समय में भी हो और उसके बहुत पूर्व तक लगातार रहा हो । जिसे उत्पन्न हुए, बने, या अस्तित्व में आए बहुत काल हो गया हो । जो बहुत दिनों से चला आता हो । बहुत दिनों का । जो नया न हो । प्राचीन । पुरातन । बहुपूर्वकालव्यापी । जैसे, पुराना पेड़, पुराना घर, पुराना जूता, पुराना चावल, पुराना ज्वर, पुराना वैर, पुरानी रीति । (२) जो बहुत

दिनों का होने के कारण अच्छी दशा में न हो। जीर्ण। जैसे, तुम्हारी टोपी अब बहुत पुरानी हो गई बदल दो। उ०—छुवतहि टूट पिनाक पुराना।—तुलसी।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

यौ०—फटा पुराना। पुराना धुराना।

(३) जिसने बहुत जमाना देखा हो। जिसका अनुभव बहुत दिनों का हो। परिपक्व। जिसका अनुभव पक्का हो गया हो। जिसमें कचाई न हो। जैसे, (क) रहते रहते जब पुराने हो जाओगे तब सब काम सहज हो जायगा। (ख) पुराना काइयाँ, पुराना चोर।

मुहा०—**पुराना खुर्राट**=(१) बूढ़ा। (२) बहुत दिनों का अनुभवी। किसी बात में पक्का। **पुरानी खोपड़ी**=दे० "पुराना खुर्राट"। **पुराना घाघ**=किसी बात में पक्का। बहुत दिनों तक अनुभव करते करते जो गहरा चालाक हो गया हो। गहरा काइयाँ।

(४) जो बहुत पहले रहा हो, पर अब न हो। बहुत पहले का। अगले समय का। प्राचीन। अतीत। जैसे, (क) पुराना समय, पुराना जमाना। (ख) पुराने राजाओं की बात ही और थी। (ग) पुराने लोग जो कह गए हैं ठीक कह गए हैं। (घ) पुरानी बात उठाने से अब क्या लाभ? (५) काल का। समय का। जैसे, यह चावल कितना पुराना है? (६) जिसका चलन अब न हो। जैसे, पुराना पहनावा।

क्रि०स० [हिं० पूरना का प्रे०] (१) पूरा कराना। पुजवाना। भराना। (२) पालन कराना। अनुकूल बात कराना। जैसे, शर्त पुराना। उ०—मारि मारि सब सत्रु तुर्त्त निज सर्त्त पुरावत।—गोपाल। (३) पूरा करना। भरना। पुजाना। किसी घाव, गड्ढे या खाली जगह को किसी वस्तु से छेक देना। जैसे, घाव पुराना। (४) पूरा करना। पालन करना। अनुकूल बात करना। अनुसरण करना। उ०—सूरदास प्रभु ब्रज गोपिन के मन अभिलाख पुराए।—सूर। (५) इस प्रकार बाँटना कि सब को मिल जाय। अँटाना। पूरा डालना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

पुरारि-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

पुराल†*-संज्ञा पुं० दे० "पयाल"।

पुरावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी (महाभारत)।

पुरावसु-संज्ञा पुं० [सं०] भीष्म।

पुरावृत्त-संज्ञा पुं० [सं०] पुराना वृत्तांत। पुराना हाल। इतिहास।

पुरासाह-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पुरासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेवी। सहदेइआ नाम की बूटी।

पुरि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुरी। (२) शरीर। (३) नदी। संज्ञा पुं० (१) राजा। (२) दशनामी संन्यासियों में एक।

पुरिखा†-संज्ञा पुं० दे० "पुरखा"।

पुरिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूरना] वह नरी जिस पर जुलाहे बाने को बुनने के पहले फैलाते हैं।

मुहा०—**पुरिया करना**=ताने को पुरिया पर फैलाना।

†संज्ञा स्त्री० दे० "पुड़िया"।

पुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नगरी। शहर। (२) जगन्नाथपुरी। पुरुषोत्तम धाम।

पुरीमोह-संज्ञा पुं० [सं०] धतूरा।

पुरीष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्टा। मल। गू। (२) जल।

पुरीषम-संज्ञा पुं० [सं०] माष। उरद।

पुरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवलोक। (२) दैत्य। (३) पराग। (४) एक पर्वत। (५) शरीर। (६) एक देश (बृहत्संहिता)। (७) एक प्राचीन राजा जो नहुष के पुत्र ययाति के पुत्र थे। पुराणों में ययाति चंद्रवंश के मूल पुरुषों में थे। ययाति की दो रानियाँ थीं। एक शुक्राचार्य की कन्या देवयानी, दूसरी शर्मिष्ठा। देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए। इन नामों का उल्लेख ऋग्वेद में है। पुरु के बड़े भारी विजयी और पराक्रमी होने की चर्चा भी ऋग्वेद में है। एक स्थान पर लिखा है—"हे वैश्वानर! जब तुम पुरु के समीप पुरियों का विध्वंस करके प्रज्वलित हुए तब तुम्हारे भय से असिक्नी (असिक्नीरसितवर्णाः—सायन। अर्थात् असिक्नी या चेनाब के किनारे के काले अनार्य दस्यु) भोजन छोड़ छोड़कर आए"। एक स्थान पर और भी है—"हे इंद्र! तुम युद्ध में भूमि लाभ के लिये पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु और पुरु की रक्षा करो।" इसका समर्थन एक और मंत्र इस प्रकार करता है—"हे इंद्र! तुमने पुरु और दिवोदास राजा के लिये नब्बे पुरों का नाश किया है।"

महाभारत और पुराणों में पुरु के संबंध में यह कथा मिलती है। शुक्राचार्य्य के शाप से जब ययाति जराग्रस्त हुए तब उन्होंने सब पुत्रों को बुलाकर अपना बुढ़ापा देना चाहा। पर पुरु को छोड़ और कोई बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी देने पर सम्मत न हुआ। पुरु से यौवन प्राप्त कर ययाति ने बहुत दिनों तक सुख भोग किया, अंत में अपने पुत्र पुरु को राज्य दे वे वन में चले गए। पुरु के वंश में ही दुष्यंत के पुत्र भरत हुए। भरत से कई पीढ़ियों पीछे कुरु हुए जिनके नाम से कौरव वंश कहलाया। (८) पंजाब का एक राजा जो ईसा से ३२७ वर्ष पहले सिकंदर से लड़ा था।

पुरुकुत्स-संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा जो मांधाता का पुत्र और मुचुकुंद का भाई था और नर्मदा नदी के आस पास के प्रदेश पर राज्य करता था। नागों की भगिनी नर्मदा के साथ इसने विवाह किया था। नागों और नर्मदा के कहने से पुरुकुत्स ने रसातल में जाकर मौनेय गंधर्वों का नाश किया था। (हरिवंश पुराण)

ऋग्वेद में भी पुरुकुत्स का नाम आया है। उसमें लिखा है कि दस्युनगर का ध्वंस करने में इंद्र ने राजा पुरुकुत्स की सहायता की थी। (१ । ६३ । ७; १ । ११२ । १७)

पुरुकुत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के एक शत्रु का नाम। (गरुड़पुराण)

पुरुख*‡-संज्ञा पुं० दे० "पुरुष"।

पुरुखा-संज्ञा पुं० दे० "पुरखा"।

पुरुजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंतिभोज का पुत्र। यह अर्जुन का मामा था और महाभारत के युद्ध में आया था। (२) विष्णु। (३) भागवत के अनुसार शशबिंदु वंशीय रुचक के पुत्र का नाम।

पुरुदंशक-संज्ञा पुं० [सं०] हंस।

पुरुदंशा-संज्ञा पुं० [सं० पुरुदंशस्] इंद्र।

पुरुदस्म-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पुरुब‡-संज्ञा पुं० दे० "पूर्व दिशा"।

पुरुभोजा-संज्ञा पुं० [सं० पुरुभोजस्] मेष। मेढ़ा।

पुरुमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन राजा जिसका नाम ऋग्वेद में आया है। (२) धृतराष्ट्र का एक पुत्र।

पुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। आदमी। (२) नर। (३) सांख्य के अनुसार प्रकृति से भिन्न एक अपरिणामी, अकर्त्ता और असंग चेतन पदार्थ। आत्मा। इसी के सान्निध्य से प्रकृति संसार की सृष्टि करती है। दे० "सांख्य"। (४) विष्णु। (५) सूर्य्य। (६) जीव। (७) शिव। (८) पुन्नाग का वृक्ष। (९) पारा। (१०) गुग्गुल। (११) घोड़े की एक स्थिति जिसमें वह अपने दोनों अगले पैरों को उठाकर पिछले पैरों के बल खड़ा होता है। जमना। सीखपाँव। (१२) व्याकरण में सर्वनाम और तदनुसारिणी क्रिया के रूपों का वह भेद जिससे यह निश्चय होता है कि सर्वनाम वा क्रियापद वाचक (कहनेवाले) के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा संबोध्य (जिससे कहा जाय) के लिये अथवा अन्य के लिये। जैसे, 'मैं' उत्तम पुरुष हुआ, 'वह' प्रथम पुरुष और 'तुम' मध्यम पुरुष। (१३) मनुष्य का शरीर वा आत्मा। (१४) पूर्वज। उ०—(क) सो सठ कोटिक पुरुष समेता। बसहिं कलप सत नरक निकेता।—तुलसी। (ख) जा कुल माहिं भक्ति मम होई। सप्त पुरुष लै उधरै सोई।—सूर। (१५) पति। स्वामी।

पुरुषक-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े का जमना। सीखपाँव। अलफ।

पुरुषकार-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषार्थ। उद्योग। पौरुष।

पुरुषकेशरी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषों में श्रेष्ठ पुरुष। (२) नरसिंह भगवान।

पुरुषगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का साम।

पुरुषग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार मंगल, सूर्य और बृहस्पति।

पुरुषत्व-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुष होने का भाव। पुंस्त्व।

पुरुषदंतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदा नाम की ओषधि।

पुरुषनक्षत्र-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार हस्त, मूल, श्रवण, पुनर्वसु, मृगशिरा और पुष्य नक्षत्र।

पुरुषपुंडरीक-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के मतानुसार नव वासुदेवों में सप्तम वासुदेव।

पुरुषपुर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो गांधार की राजधानी था। आजकल का पेशावर।

पुरुषमेध-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक यज्ञ जिसमें नरबलि की जाती थी। इस यज्ञ के करने का अधिकार केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय को था। यह यज्ञ चैत्र मास शुक्ला दशमी से प्रारंभ होता था और चालीस दिनों में होता था। इस बीच में २३ दीक्षा १२ उपसत् और ५ सूत्या होती थीं इस प्रकार यह ४० दिनों में समाप्त होता था। यज्ञ के समाप्त हो जाने पर यज्ञकर्ता वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करता था। इसका विधान शुक्ल यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय तथा शतपथ ब्राह्मण में है।

पुरुषराशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धनु और कुंभ राशि।

पुरुषवार-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष शास्त्रानुसार रवि, मंगल, बृहस्पति और शनिवार।

पुरुषव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

पुरुषसूक्त-संज्ञा पुं० [सं०] ऋग्वेद के एक सूक्त का नाम जो "सहस्त्रशीर्षा" से आरंभ होता है। यह सूक्त बहुत प्रसिद्ध है और इसका पाठ अनेक अवसरों पर किया जाता है।

पुरुषाद्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) (मनुष्य खानेवाला) राक्षस। (२) एक देश का नाम जो आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य के अधिकार में है (बृहत्संहिता)।

पुरुषादक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरभक्षी राक्षस। (२) कल्माषपाद का नाम।

पुरुषाद्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जिनों में प्रथम, आदिनाथ। (जैन)। (२) विष्णु। (३) राक्षस।

पुरुषानुक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] पुरखों की चली आती हुई परंपरा।

पुरुषायण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राणादि षोडश कला। (प्रश्नोपनिषद्)।

पुरुषायुष–संज्ञा पुं० [सं०] सौ वर्ष का काल (जो मनुष्य की पूर्णायु का काल माना गया है)।

पुरुषारथ*–संज्ञा पुं० दे० "पुरुषार्थ"।

पुरुषार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का अर्थ या प्रयोजन जिसके लिये उसे प्रयत्न करना चाहिए। पुरुष के उद्योग का विषय। पुरुष का लक्ष्य।

विशेष—सांख्य के मत से त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति (मोक्ष) ही परम पुरुषार्थ है। प्रकृति पुरुषार्थ के लिये अर्थात् पुरुष को दुःखों से निवृत्त करने के लिये निरंतर यत्न करती है, पर पुरुष प्रकृति के धर्म को अपना धर्म समझ अपने स्वरूप को भूल जाता है। जब तक पुरुष को स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक प्रकृति साथ नहीं छोड़ती।

पुराणों के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ हैं। चार्वाक मतानुसार कामिनी-संग-जनित सुख ही पुरुषार्थ है।

(२) पुरुषकार। पौरुष। उद्यम। पराक्रम। (३) पुंस्त्व। शक्ति। सामर्थ्य। बल।

पुरुषार्थी–वि० [सं० पुरुषार्थिन्] (१) पुरुषार्थ करनेवाला। (२) उद्योगी। (३) परिश्रमी। (४) बली। सामर्थ्यवान्।

पुरुषाशी–संज्ञा पुं० [सं० पुरुषाशिन्] [स्त्री० पुरुषाशिनी] (मनुष्य खानेवाला) राक्षस।

पुरुषोत्तम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुषश्रेष्ठ। श्रेष्ठ पुरुष। (२) विष्णु। (३) जगन्नाथ जिनका मंदिर उड़ीसा में है। (४) धर्मशास्त्रानुसार वह निष्पाप पुरुष जो शत्रु मित्र आदि से सर्वदा उदासीन रहे। (५) जैनियों के एक वासुदेव का नाम। (६) कृष्णचंद्र। (७) ईश्वर। नारायण। (८) मलमास का महीना। अधिक मास।

पुरुषोत्तम क्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] जगन्नाथपुरी।

पुरुषोत्तम मास–संज्ञा पुं० [सं०] मलमास। अधिक मास।

पुरुहूत–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पुरुहूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायणी।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पुरूरवा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन राजा जिसका नाम और कुछ वृत्तांत ऋग्वेद में है। ऋग्वेद में पुरूरवा को इला का पुत्र कहा है। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद भी मिलता है। पर एक मंत्र में पुरूरवा सूर्य्य और ऊषा के साथ स्थित भी कहा गया है जिससे कुछ लोग सारी कथा को एक रूपक भी कह दिया करते हैं।

हरिवंश तथा पुराणों के अनुसार बृहस्पति की स्त्री तारा और चंद्रमा के संयोग से बुध उत्पन्न हुए जो चंद्रवंश के आदि पुरुष थे। बुध का इला के साथ विवाह हुआ। इसी इला के गर्भ से पुरूरवा उत्पन्न हुए जो बड़े रूपवान्, बुद्धिमान् और पराक्रमी थे। उर्वशी शापवश भूलोक में आ पड़ी थी। पुरूरवा ने उसके रूप पर मोहित हो उसके साथ विवाह के लिये कहा। उर्वशी ने कहा—"मैं अप्सरा हूँ।" जब तक आप मेरी तीन बातों का पालन करेंगे तभी तक मैं आपके पास रहूँगी—मैं आपको कभी नंगा न देखूँ, अकामा रहूँ तो आप संयोग न करें और मेरे पलंग के पास दो मेढ़े बँधे रहें। राजा ने इन बातों को मानकर विवाह किया और वे बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रहे। एक दिन गंधर्व उर्वशी के शापमोचन के लिये दोनों मेढ़े छोड़ाकर ले चले। राजा नंगे उनकी ओर दौड़े। उर्वशी का शाप छूट गया और वह स्वर्ग को चली गई। पुरूरवा बहुत दिनों तक विलाप करते घूमते रहे। एक बार कुरुक्षेत्र के अंतर्गत प्लक्ष तीर्थ में हेमवती पुष्करिणी के किनारे उन्हें उर्वशी फिर दिखाई पड़ी। राजा देखकर बहुत विलाप करने लगे। उर्वशी ने कहा—"मुझे आपसे गर्भ है, मैं शीघ्र आपके पुत्रों को लेकर आपके पास आऊँगी और एक रात रहूँगी।" स्वर्ग में उर्वशी के गर्भ से आयु, अमावसु, विश्वायु, श्रुतायु, दृढ़ायु, वनायु और शतायु उत्पन्न हुए जिन्हें लेकर वह राजा के पास आई और एक रात रही। गंधर्वों ने पुरूरवा को एक अग्निपूर्ण स्थाली दी। उस अग्नि से राजा ने बहुत से यज्ञ किए। पुरूरवा की राजधानी प्रयाग में गंगा के किनारे थी। उसका नाम प्रतिष्ठानपुर था। (२) विश्वदेव। (३) पार्वण श्राद्ध में एक देवता।

पुरेथा†–संज्ञा पुं० [हिं० पूरा + हथा] हल की मूठ। परिहथा।

पुरेभा–संज्ञा स्त्री० दे० "कुरेभा"।

पुरैन, पुरैनि–संज्ञा स्त्री० दे० "पुरइन"।

पुरोगामी–वि० [सं० पुरोगामिन्] [स्त्री० पुरोगामिनी] अग्रगामी।

पुरोचन–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्योधन के एक मित्र का नाम। इसे दुर्योधन ने पांडवों को लाक्षागृह में जलाने के लिये नियुक्त किया था। भीमसेन लाक्षागृह से निकल पुरोचन के घर आग लगाकर माता और भाइयों समेत चले गए थे। वह अपने घर में जलकर मर गया।

पुरोजव–संज्ञा पुं० [सं०] पुष्कर द्वीप के सात खंडों में से एक खंड। वि० (१) जिसके अग्रभाग में वेग हो। (२) आगे बढ़नेवाला।

पुरोडाश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यव आदि के आटे की बनी हुई टिकिया जो कपाल में पकाई जाती थी। यह आकार में लंबाई लिए गोल और बीच में कुछ मोटी होती थी। यज्ञों में इसमें से टुकड़ा काटकर देवताओं के लिये मंत्र पढ़कर आहुति दी जाती थी। यह यज्ञ का अंग है। (२)

हवि। (३) वह हवि वा पुरोडाश जो यज्ञ से बच रहे। (४) वह वस्तु जो यज्ञ में होम की जाय। यज्ञभाग। (५) सोमरस। (६) आटे की चौंसी। (७) वे मंत्र जिनका पाठ पुरोडाश बनाते समय किया जाता है।

पुरोद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महामेदा।

पुरोध-संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहित।

पुरोधा-संज्ञा पुं० [सं० पुरोधस्] पुरोहित।

पुरोधानीय-संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहित।

पुरोधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रियतमा भार्य्या। प्यारी स्त्री।

पुरोनुवाक्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञों की तीन प्रकार की आहुतियों में एक। (२) वह ऋचा जिसे पढ़कर पुरोनुवाक्या नाम की आहुति दी जाती है।

पुरोभागी-वि० [सं० पुरोभागिन्] [स्त्री० पुरोभागिनी] (१) अग्रभागवाला। (२) दोषदर्शी। गुणों को छोड़ केवल दोषों की ओर ध्यान देनेवाला। छिद्रान्वेषी।

पुरोरवस-संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पुरूरवा"।

पुरोहित-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुरोहितानी] वह प्रधान याजक जो राजा या और किसी यजमान के यहाँ अगुआ बनकर यज्ञादि श्रौतकर्म, गृहकर्म और संस्कार तथा शांति आदि अनुष्ठान करे कराए। कर्मकांड करानेवाला। कृत्य करानेवाला ब्राह्मण।

विशेष—वैदिक काल में पुरोहित का बड़ा अधिकार था और वह मंत्रियों में गिना जाता था। पहले पुरोहित यज्ञादि के लिये नियुक्त किए जाते थे। आजकल वे कर्मकांड कराने के अतिरिक्त, यजमान की ओर से देवपूजन आदि भी करते हैं, यद्यपि स्मृतियों में किसी की ओर से देवपूजन करनेवाले ब्राह्मण का स्थान बहुत नीचा कहा गया है। पुरोहित का पद कुलपरंपरागत चलता है। अतः विशेष कुलों के पुरोहित भी नियत रहते हैं। उस कुल में जो होगा वह अपना भाग लेगा, चाहे कृत्य कोई दूसरा ब्राह्मण ही क्यों न कराए। उच्च ब्राह्मणों में पुरोहित कुल अलग होते हैं जो यजमानों के यहाँ दान आदि लिया करते हैं।

पुरोहिताई-संज्ञा स्त्री० [सं० पुरोहित + आई (प्रत्य०)] पुरोहित का काम।

पुरोहितानी-संज्ञा स्त्री० [सं० पुरोहित] पुरोहित की स्त्री।

पुर्जल-संज्ञा पुं० [हिं० पूरना] एक यंत्र जिस पर कलाबत्तू लपेटा जाता है।

पुर्जा-संज्ञा पुं० दे० "पुरजा"।

पुर्त्तगाल-संज्ञा पुं० [अं०] योरप के दक्षिण पश्चिम कोने पर पड़नेवाला एक छोटा प्रदेश जो स्पेन से लगा हुआ है।

पुर्त्तगाली-वि० [हिं० पुर्त्तगाल] (१) पुर्त्तगाल संबंधी। (२) पुर्त्तगाल का रहनेवाला।

विशेष—योरप की नई जातियों में हिंदुस्तान में सब से पहले पुर्त्तगाली लोग ही आए। पुर्त्तगाली व्यापारियों के द्वारा अकबर के समय से ही युरोपीय शब्द यहाँ की भाषा में मिलने लगे। जैसे, गिरजा, पादरी, आलू, तंबाकू आदि का प्रचार तभी से होने लगा।

पुर्तगीज-वि० [अं०] पुर्तगाली। पुर्तगाल का रहनेवाला।

पुर्वला †-वि० दे० "पुरबला"।

पुर्सा-संज्ञा पुं० दे० "पुरसा"।

पुल-संज्ञा पुं० [फा०] किसी नदी, जलाशय, गड्ढे या खाई के आर पार जाने का रास्ता जो नाव पाटकर या खंभों पर पटरियाँ आदि बिछाकर बनाया जाय। सेतु।

मुहा०—पुल बँधना = पुल तैयार होना। **पुल बाँधना** = पुल तैयार करना। **(किसी बात) का पुल बँधना** = ढेर लगना। झड़ी बँधना। बहुत अधिकता होना। लगातार बहुत सा होना। **(किसी बात का) पुल बाँधना** = ढेर लगाना। झड़ी बाँधना। बहुत अधिकता कर देना। अतिशय करना। जैसे, बातों का पुल बाँधना, तारीफ का पुल बाँधना। **पुल टूटना** = (१) पुल गिर पड़ना। (२) बहुतायत होना। अधिकता होना। अटाला या जमघट लगना। जैसे, देखने के लिये आदमियों का पुल टूट पड़ा।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुलक। रोमांच। (२) शिव का एक अनुचर।

वि० विपुल। बहुत सा।

पुलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोमांच। प्रेम, हर्ष आदि के उद्वेग से रोमकूपों (छिद्रों) का प्रफुल्ल होना। त्वक्कंप। (२) एक तुच्छ धान्य। एक प्रकार का मोटा अन्न। (३) एक प्रकार का रत्न। एक नग या बहुमूल्य पत्थर। याकूत। चुनरी। महताब।

विशेष—यह भारत में कई स्थानों पर होता है पर राजपूताने का सबसे अच्छा होता है। दक्षिण में यह पत्थर विजगापटम, गोदावरी, त्रिचिनापली और तिनावली जिलों में निकलता है। यह अनेक रंगों का होता है—सफेद, हरा, पीला, लाल, काला, चितकबरा। जितने भेद इस पत्थर के होते हैं उतने और किसी पत्थर के नहीं होते। यह देखने में कुछ दानेदार होता है। इसके द्वारा मानिक और नीलम कट सकते हैं।

(४) शरीर में पड़नेवाला एक कीड़ा। (५) रत्नों का एक दोष। (६) हाथी का रातिब। (७) हरताल। (८) एक प्रकार का मद्यपात्र। (९) एक प्रकार की राई। (१०) एक गंधर्व का नाम। (११) एक प्रकार का गेरू। गिरिमारी। (१२) एक प्रकार का कंद।

पुलकना *-क्रि० अ० [सं० पुलक + ना (प्रत्य०)] पुलकित होना। प्रेम, हर्ष आदि से प्रफुल्ल होना। गद्गद होना।

पुलकाई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुलकना] पुलकित होने का भाव। गद्गद होना।

लकायल–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर का एक नाम।

लकालि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुलकावलि। हर्ष से प्रफुल्ल रोम। उ०—बीज राम गुनगन नयन जलअंकुर पुलकालि। सुकृती सुतन सुखेतवर विलसत तुलसी सालि।—तुलसी।

लकावलि–संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्ष से प्रफुल्ल रोम।

लकित–वि० [सं०] रोमांचित। प्रेम या हर्ष के वेग से जिसके रोएँ उभर आए हों। गद्गद।

लकी–वि० [सं० पुलकिन्] रोमांचमुक्त। हर्ष या प्रेम से गद्गद होनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) धारा कदंब। (२) कदंब।

टा†–संज्ञा स्त्री० दे० "पलट"।

टिस–संज्ञा स्त्री० [अं० पोल्टिस] फोड़े, घाव आदि को पकाने या बहाने के लिये उस पर चढ़ाया हुआ अलसी, रेंड़ी आदि का मोटा लेप।

क्रि० प्र०—चढ़ाना।—बाँधना।

पुला†–वि० दे० "पुलपुला"।

पुला–वि० [अनु०] जिसके भीतर का भाग ठोस न हो। जो भीतर इतना ढीला और मुलायम हो कि दबाने से धँस जाय। जो छूने में कड़ा न हो (विशेषतः फलों के लिये)। जैसे, ये आम पककर पुलपुले हो गए हैं।

पुलाना–क्रि० स० [हिं० पुलपुलाना] (१) किसी मुलायम चीज को दबाना। जैसे, आम पुलपुलाना। (२) मुँह में लेकर दबाना। चूसना। बिना चबाए खाना। जैसे, आम को मुँह में लेकर पुलपुलाना।

पुलाहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुलपुला + हट (प्रत्य०)] पुलपुला होने का भाव। मुलायमियत।

स्त*–संज्ञा पुं० दे० "पुलस्त्य"।

स्ति–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि। दे० "पुलस्त्य"।

स्त्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि जिनकी गिनती सप्तर्षियों और प्रजापतियों में है।

विशेष—ये ब्रह्मा के मानस पुत्रों में थे। ये विश्रवा के पिता और कुबेर और रावण के पितामह थे। विष्णुपुराण के अनुसार ब्रह्मा के कहे हुए आदि पुराण का मनुष्यों के बीच इन्हीं ने प्रचार किया था।

(२) शिव का एक नाम।

ह–संज्ञा [सं०] (१) एक ऋषि जो ब्रह्मा के मानस पुत्रों और प्रजापतियों में थे। ये सप्तर्षियों में हैं। (२) एक गंधर्व। (३) शिव का एक नाम।

क–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कदन्न। अँकरा। (२) उबाला हुआ चावल। भात। (३) भात का माड़। पीच। (४) मांसोदन। पुलाव। (५) अल्पदा। संक्षेप। (६) क्षिप्रता। जल्दी।

पुलाकी–संज्ञा पुं० [सं० पुलाकिन्] वृक्ष।

पुलाव–संज्ञा पुं० [सं० पुलाक। मि० फा० पलाव] एक व्यंजन या खाना जो मांस और चावल को एक साथ पकाने से बनता है। मांसोदन।

पुलिंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारतवर्ष की एक प्राचीन असभ्य जाति।

विशेष—ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि विश्वामित्र के जिन पुत्रों ने शुनःशेफ को ज्येष्ठ नहीं माना था वे ऋषि के शाप से पतित हो गए। उन्हीं से पुलिंद शबर आदि बर्ब्बर जातियों की उत्पत्ति हुई। रामायण, महाभारत, पुराण, काव्य सबमें इस जाति का उल्लेख है। महाभारत सभापर्व में सहदेव के दिग्विजय के संबंध में लिखा है कि उन्होंने अर्बुक राजाओं को जीतकर वाताधिप को वश में किया और उसके पीछे पुलिंदों को जीतकर वे दक्षिण की ओर बढ़े। कुछ लोगों के अनुमान के अनुसार यदि अर्बुक को आबू पहाड़ और वात को वातापिपुरी (बादामी) मानें तो गुजरात और राजपुताने के बीच पुलिंद जाति का स्थान ठहरता है। महाभारत (भीष्मपर्व) में एक स्थान पर "सिंधुपुलिंदकाः" भी है इससे उनका स्थान सिंधुदेश के आसपास भी सूचित होता है। वामनपुराण में पुलिंदों की उत्पत्ति की एक कथा है कि भ्रूण हत्या के प्रायश्चित्त के लिये इंद्र ने कालंजर के पास तपस्या की थी और उनके साथ उनके सहचर भी भूलोक में आए थे। उन्हीं सहचरों की संतति से पुलिंद हुए जो कालंजर और हिमाद्रि के बीच बसते थे। अशोक के शहबाजगढ़ी के लेख में भी पुलिंद जाति का नाम आया है।

(२) वह देश जहां पुलिंद जाति बसती थी।

पुलिंदा–संज्ञा पुं० [सं० पुल = ढेर। हिं० पूला] लपेटे हुए कपड़े, कागज आदि का छोटा मुट्ठा। गड्डी। पूला। गट्ठा। बंडल। जैसे, कागज का पुलिंदा।

संज्ञा स्त्री० एक छोटी नदी जो ताप्ती में मिलती है। महाभारत में इसका उल्लेख है।

पुलिकेशि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चालुक्यवंशीय एक राजा जिन्होंने ईसा की छठीं शताब्दी में पल्लवों की राजधानी वातापिपुरी (बादामी) को जीतकर दक्षिण में चालुक्य राज्य स्थापित किया था। (२) चालुक्यवंशीय एक सबसे प्रतापी राजा जो सन् ६१० ई० के लगभग वातापिपुरी के सिंहासन पर बैठा और जिसने सारा दक्षिण और महाराष्ट्र प्रदेश अपने अधिकार में किया। यह द्वितीय पुलिकेशि के नाम से प्रसिद्ध है। परम प्रतापी हर्षवर्द्धन, जिसकी राजसभा में बाणभट्ट थे और जिसके समय में प्रसिद्ध चीनी

यात्री हुएन्संग भारतवर्ष आया था, इसका समकालीन था। हर्षवर्द्धन सारे उत्तरीय भारत को अपने अधिकार में लाया पर जब दक्षिण की ओर उसने चढ़ाई की तब पुलिकेशि के हाथ से गहरी हार खाकर भाग आया।

पुलिन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह सीड़ या कीचड़ की जमीन जिस पर से पानी हटे थोड़े ही दिन हुए हों। पानी के भीतर से हाल की निकली हुई जमीन। चर। (२) नदी आदि का तट। किनारा। (३) नदी के बीच पड़ी हुई रेत। (४) एक यक्ष का नाम।

पुलिरिक–संज्ञा पुं० [सं०] सर्प। साँप।

पुलिश–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के एक प्राचीन आचार्य्य जिनके नाम से पौलिश सिद्धांत प्रसिद्ध है जो वराहमिहिरोक्त पंच सिद्धांतों में है। अलबरूनी ने पुलिश या पलस को यूनानी (यवन) लिखा है। कुछ इतिहासज्ञों ने पुलिश को मिस्र देश का बताया है। आजकल मूल पौलिश सिद्धांत नहीं मिलता। भटोत्पल और बलभद्र ने थोड़े से वचन उद्धृत किए हैं। उन उद्धृत वचनों से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पुलिश कोई विदेशी ही था।

पुलिस–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) नगर, ग्राम आदि की शांति-रक्षा के लिये नियुक्त सिपाहियों और कर्मचारियों का वर्ग। प्रजा की जान और माल की हिफाजत के लिये मुकर्रर सिपाहियों और अफसरों का दल। (२) अपराधों को रोकने और अपराधियों का पता लगाकर उन्हें पकड़ने के लिये नियुक्त सिपाही या अफसर। पुलिस का सिपाही या अफसर।

पुलिसमैन–संज्ञा पुं० [अं०] पुलिस का प्यादा। पुलिस का सिपाही। कांस्टेबल।

पुलिहोरा†–संज्ञा पुं० [देश०] एक पकवान। उ०—विविध पंच पकवान अपारे।.........सक्कर पुंगल औ पुलिहोरा। —रघुराज।

पुली–संज्ञा स्त्री० [देश०] काले और भूरे रंग की एक चिड़िया जो सारे उत्तर भारत में, पंजाब से लेकर बंगाल तक होती है।

पुलेबैठ–पीछे के दोनों पैर झुका दे। (हाथीवानों की बोली)।

पुलोम–संज्ञा पुं० [सं० पुलोमन्] (१) एक दैत्य जिसकी कन्या शची थी। इंद्र ने युद्ध में पुलोम को मारकर उसकी कन्या शची से ब्याह किया था। (२) एक राक्षस। (३) अंध्रवंश का एक राजा।

पुलोमजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुलोम की कन्या। इंद्राणी। शची।

पुलोमही–संज्ञा स्त्री० [सं०] अहिफेन। अफीम।

पुलोमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] भृगु की पत्नी का नाम जो वैश्वानर नामक दैत्य की कन्या थी। च्यवन ऋषि उन्हीं के पुत्र थे।

पुल्कस–संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिया स्त्री से कही जाती है। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में इस जाति का उल्लेख है।

पुल्ला †–संज्ञा पुं० [हिं० फूल] नाक में पहनने का एक गहना।

पुल्ली †–संज्ञा स्त्री० [देश०] घोड़े के सुम के ऊपर का हिस्सा।

पुवा †–संज्ञा पुं० दे० "पूवा", "मालपूवा"।

पुवार †–संज्ञा पुं० दे० "पयाल"।

पुश्त–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पृष्ठ। पीठ। पीछा। (२) वंश-परंपरा में कोई एक स्थान। पिता, पितामह, प्रपितामह आदि या पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि का पूर्वापर स्थान। पीढ़ी।

यौ०—पुश्त दर पुश्त = वंशपरंपरा में। बाप के पीछे बेटा, बेटे के पीछे पोता इस क्रम से लगातार। **पुश्तहा पुश्त** = कई पीढ़ियों तक।

पुश्तक–संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त] घोड़े, गदहे, आदि का पीछे के दोनों पैरों से लात मारना। दोलत्ती।

क्रि० प्र०—झाड़ना।—मारना।

पुश्तनामा–संज्ञा पुं० [फा०] वह कागज जिस पर पूर्वापर क्रम से किसी कुल में उत्पन्न लोगों के नाम लिखे हों। वंशावली। पीढ़ीनामा। कुरसीनामा।

पुश्तवानी–संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त + हिं० वान् (प्रत्य०)] वह आड़ी लकड़ी जो किवाड़ के पीछे पल्ले की मजबूती के लिये लगी रहती है।

पुश्ता–संज्ञा पुं० [फा० पुश्तः] (१) पानी की रोक के लिये या मजबूती के लिये किसी दीवार से लगातार कुछ ऊपर तक जमाया हुआ मिट्टी, ईंट, पत्थर आदि का ढेर या ढालुवाँ टीला। (२) पानी की रोक के लिये कुछ दूर तक उठाया हुआ टीला। बांध। ऊँचा मेंड़। (३) किताब की जिल्द के पीछे का चमड़ा।

क्रि० प्र०—उठाना।—देना।—बाँधना।

(४) पौने चार मात्राओं का एक ताल जिसमें तीन आघात और एक खाली रहता है।

पुश्ताबंदी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पुश्ते की बँधाई। पुश्ता उठाने की क्रिया या भाव। (२) पुश्ते का काम।

पुश्ती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) टेक। सहारा। आश्रय। थाम। (२) सहायता। पृष्ठरक्षा। मदद।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(३) पक्ष। तरफदारी।

क्रि० प्र०—लेना।

(४) बड़ा तकिया जिस पर पीठ टिकाकर बैठते हैं। पीठ टेकने का तकिया। गावतकिया।

पुश्तैन–संज्ञा स्त्री० [फा० पुश्त] पुरुषपरंपरा। वंशपरंपरा। पीढ़ी दर पीढ़ी।

पुश्तैनी-वि० [हिं० पुश्तैन] (१) जो कई पुश्तों से चला आता हो। कई पीढ़ियों से चला आता हुआ। दादा परदादा के समय का पुराना। जैसे, पुश्तैनी बीमारी, पुश्तैनी नौकर। (२) जो कई पुश्तों तक चला चले। आगे की पीढ़ियों तक चलनेवाला। बेटे, पोते, परपोते आदि तक लगातार चला चलनेवाला। जैसे, उसे पुश्तैनी खिताब मिला है।

पुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कलिहारी का पौधा। कलियारी।

पुषित-वि० [सं०] (१) पोषण किया हुआ। पाला पोसा हुआ। (२) वर्द्धित।

पुष्कर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। (२) जलाशय। ताल। पोखरा। (३) कमल। (४) करछी का कटोरा। (५) ढोल, मृदंग आदि का मुँह जिस पर चमड़ा मढ़ा जाता है। (६) हाथी की सूँड़ का अगला भाग। (७) आकाश। (८) बाण। तीर। (९) तलवार का म्यान या फल। (१०) पिँजड़ा। (११) पद्मकंद। (१२) नृत्यकला। (१३) सर्प। (१४) युद्ध। (१५) भाग। अंश। (१६) मद। नशा। (१७) भद्रपाद नक्षत्र का एक अशुभ योग जिसकी शांति की जाती है। (१८) पुष्करमूल। (१९) कूठ। कुष्ठौषधि। कुष्ठभेद। (२०) एक प्रकार का ढोल। (२१) सूर्य्य। (२२) एक रोग। (२३) एक दिग्गज। (२४) सारस पक्षी। (२५) विष्णु का एक नाम। (२६) शिव का एक नाम। (२७) पुष्कर द्वीपस्थ वरुण के एक पुत्र। (२८) एक असुर। (२९) कृष्ण के एक पुत्र का नाम। (३०) बुद्ध का एक नाम। (३१) एक राजा जो नल के भाई थे। इन्होंने नल को जूए में हराकर निषध देश का राज्य ले लिया था। पीछे नल ने जूए में ही फिर राज्य को जीत लिया। (३२) भरत के एक पुत्र का नाम। (३३) पुराणों में कहे गए सात द्वीपों में से एक।

विशेष—दधि समुद्र के आगे यह द्वीप बताया गया है। इसका विस्तार शाकद्वीप से दूना कहा गया है।

(३४) मेघों का एक नायक।

विशेष—जिस वर्ष मेघों के ये अधिपति होते हैं उस वर्ष पानी नहीं बरसता और न खेती होती है।

(३५) एक तीर्थ जो अजमेर के पास है।

विशेष—ऐसा प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा ने इस स्थान पर यज्ञ किया था। यहाँ ब्रह्मा का एक मंदिर है। पद्म और नारदपुराण में इस तीर्थ का बहुत कुछ माहात्म्य मिलता है। पद्म पुराण में लिखा है कि एक बार पितामह ब्रह्मा हाथ में कमल लिये यज्ञ करने की इच्छा से इस सुंदर पर्वत प्रदेश में आए। कमल उनके हाथ से गिर पड़ा। उसके गिरने का ऐसा शब्द हुआ कि सब देवता काँप उठे। जब देवता ब्रह्मा से पूछने लगे तब ब्रह्मा ने कहा "बालकों का घातक वज्रनाभ असुर रसातल में तप करता था वह तुम लोगों का संहार करने के लिये यहाँ आना ही चाहता था कि मैंने कमल गिराकर उसे मार डाला। तुम लोगों की बड़ी भारी विपत्ति दूर हुई। इस पद्म के गिरने के कारण इस स्थान का नाम पुष्कर होगा। यह परम पुण्यप्रद महातीर्थ होगा"। पुष्कर तीर्थ का उल्लेख महाभारत में भी है। साँची में मिले हुए एक शिलालेख से पता लगता है कि ईसा से तीन सौ वर्ष से भी और पहले से यह तीर्थस्थान प्रसिद्ध था। आजकल पुष्कर में जो ताल है उसके किनारे सुंदर घाट और राजाओं के बहुत से भवन बने हुए हैं। यहाँ ब्रह्मा, सावित्री, बदरीनारायण और वराहजी के मंदिर प्रसिद्ध हैं।

(३६) विष्णु भगवान का एक रूप।

विशेष—विष्णु की नाभि से जो कमल उत्पन्न हुआ था वह उन्हीं का एक अंग था। इसकी कथा हरिवंश में बड़े विस्तार के साथ आई है। पृथ्वी पर के पर्वत आदि नाना भाग इस पद्म के अंग कहे गए हैं।

पुष्करकर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थलपद्मिनी।

पुष्करनाड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थलपद्मिनी।

पुष्करपर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल का पत्ता। (२) एक प्रकार की ईंट जो यज्ञ की वेदी बनाने के काम में आती थी।

पुष्करप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] मधुमक्षिका।

पुष्करमूल-संज्ञा पुं० [सं०] एक ओषधि का मूल या जड़ जो कश्मीर देश के सरोवरों में उत्पन्न कही जाती है। यह ओषधि आजकल नहीं मिलती; वैद्य लोग इसके स्थान पर कुष्ठ या कूठ का व्यवहार करते हैं।

पुष्करशिफा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्करमूल।

पुष्करसागर-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल।

पुष्करसारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललितविस्तर में गिनाई हुई लिपियों में से एक।

पुष्करस्रज-संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनीकुमार।

पुष्करावर्त्तक-संज्ञा पुं० [सं०] मेघों के एक विशेष अधिपति।

पुष्करिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें लिंग के अग्रभाग पर फुंसियाँ हो जाती हैं।

पुष्करी-संज्ञा पुं० [सं० पुष्करिन्] हाथी।

पुष्कल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चार ग्रास की भिक्षा। (२) अनाज नापने का एक प्राचीन मान जो ६४ मुट्ठियों के बराबर होता था। (३) राम के भाई भरत के दो पुत्रों में से एक। (४) एक असुर। (५) एक प्रकार का ढोल। (६) एक प्रकार की वीणा। (७) शिव।

(८) वरुण के एक पुत्र। (९) एक बुद्ध का नाम। वि० (१) बहुत। अधिक। ढेर सा। प्रचुर। (२) भरापूरा। परिपूर्ण। (३) श्रेष्ठ। (४) उपस्थित। (५) पवित्र।

पुष्कलावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] गांधार देश की प्राचीन राजधानी।

विशेष–विष्णुपुराण में लिखा है कि भरत के पुत्र पुष्कल ने इस नगरी को बसाया था। सिकंदर की चढ़ाई के समय में यह नगरी थी क्योंकि एरियन आदि यूनानी लेखकों ने पेकुकेले, प्युकोलैतिस आदि नामों से इसका उल्लेख किया है। एरियन ने लिखा है कि यह नगरी बहुत बड़ी थी और सिंधुनद से थोड़ी ही दूर पर थी। ईसा की सातवीं शताब्दी में आए हुए चीनी यात्री हुएन्संग ने भी इस नगरी में हिंदू देवमंदिरों और बौद्ध स्तूपों का होना लिखा है। पेशावर से नौ कोस उत्तर स्वात और काबुल नदी के संगम पर जहाँ हस्तनगर नाम का गाँव है वहीं प्राचीन पुष्कलावती थी।

पुष्ट–वि० [सं०] (१) पोषण किया हुआ। पाला हुआ। (२) तैयार। मोटा ताजा। बलिष्ठ। (३) मोटाताजा करनेवाला। बलवर्द्धक। जैसे, गाजर का हलुआ बड़ा पुष्ट है। (४) दृढ़। मजबूत। पक्का।

संज्ञा पुं० विष्णु।

पुष्टई–संज्ञा स्त्री० [सं० पुष्ट + ई० (प्रत्य०)] पुष्ट करनेवाली औषध। बलवीर्य्यवर्द्धक औषध। ताकत की दवा।

पुष्टता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोटाताजापन। मजबूती। (२) पोढापन। दृढ़ता।

पुष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोषण। (२) मोटाताजापन। बलिष्ठता। (३) वृद्धि। संतति की बढ़ती। (४) दृढ़ता। मजबूती। (५) बात का समर्थन। पक्कापन। जैसे, इस बात से तुम्हारे कथन की पुष्टि होती है। (६) सोलह मातृकाओं में से एक। (७) मंगला, विजया आदि आठ प्रकार की चारपाइयों में से एक। (८) धर्म की पत्नियों में से एक। (९) एक योगिनी। (१०) अश्वगंधा। असगंध।

पुष्टिकर–वि० [सं०] पुष्ट करनेवाला। बलवीर्य्यवर्द्धक। ताकत देनेवाला। जैसे, पुष्टिकर पदार्थों का भोजन।

पुष्टिकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा (काशीखंड)।

पुष्टिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जल की सीप। सुतही। सीपी।

पुष्टिकारक–वि० [सं०] पुष्टि करनेवाला। बलवीर्यकारक।

पुष्टिदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्वगंधा। असगंध। (२) वृद्धि नाम की ओषधि।

पुष्टिदग्धयत्न–संज्ञा पुं० [सं०] आग के जले को आग से ही सेंककर या किसी प्रकार का गरम गरम लेप करके अच्छा करने की युक्ति।

पुष्टिगति–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक भेद।

पुष्टिमति–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक भेद।

पुष्टिमार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] वल्लभसंप्रदाय। वल्लभाचार्य्य के मतानुकूल वैष्णव भक्तिमार्ग।

पुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल। पौधों का वह अवयव जो ऋतुकाल में उत्पन्न होता है।

विशेष—दे० "फूल"।

(२) ऋतुमती स्त्री का रज। (३) आँख का एक रोग। फूला। फूली। (४) घोड़ों का एक लक्षण। चित्ती।

विशेष—जिस रंग का घोड़ा हो उससे भिन्न रंग की चित्ती को पुष्प कहते हैं। कनपटी, ललाट, सिर, कंधे, छाती, नाभि और कंठ में ऐसे चिह्न हों तो शुभ और ओंठ, कान की जड़, भौं और चूतड़ पर हों तो अशुभ माने जाते हैं।

(५) विकाश। (६) कुबेर का विमान। पुष्पक। (७) एक प्रकार का अंजन या सुरमा। (८) रसौत। (९) पुष्करमूल। (१०) लवंग। (११) मांस। (वाममार्गी)।

पुष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल। (२) कुबेर का विमान।

विशेष—यह विमान आकाश मार्ग से चलता था। कुबेर को हराकर रावण ने यह विमान छीन लिया था। रावण के वध के उपरांत राम ने इसे फिर कुबेर को दे दिया। (३) आँख का एक रोग। फूला। फूली। (४) जड़ाऊ कंगन। (५) रसांजन। रसौत। (६) हीराकसीस। (७) पीतल। (८) लोहे या पीतल की मैल। (९) मिट्टी की अँगीठी। (१०) एक प्रकार का निर्विष सर्प। बिना विष का एक साँप। (११) एक पर्वत का नाम। (१२) प्रासाद बनाने में एक प्रकार का मंडप।

विशेष—यह मंडप चौंसठ खंभों का होना चाहिए।

(१३) वह खंभा जिसके कोने आठ भागों में बँटे हों।

पुष्पकरंडक–संज्ञा पुं० [सं०] उज्जयिनी का एक पुराना उद्यान या बगीचा जो महाकाल के मंदिर के पास था।

पुष्पकरंडिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] उज्जयिनी।

पुष्पकासीस–संज्ञा पुं० [सं०] हीराकसीस।

पुष्पकीट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल का कीड़ा। (२) भौंरा।

पुष्पकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें केवल फूलों का क्वाथ पीकर महीना भर रहना पड़ता है।

पुष्पकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्पांजन। (२) कामदेव।

पुष्पगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही।

पुष्पगवेधुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवला।

पुष्पचाप–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पचामर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दौना। (२) केवड़ा।

पुष्पदंत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायुकोण का दिग्गज। (२) एक प्रकार का नगर द्वार। (३) शिव का अनुचर एक गंधर्व जिसका रचा हुआ महिम्नस्तोत्र कहा जाता है। **विशेष**—इस गंधर्व के विषय में कहा जाता है कि यह एक बार शिव का निर्माल्य लाँघ गया था इससे शिव ने शाप द्वारा इसका आकाशगमन रोक दिया था। पीछे महिम्नस्तोत्र बनाकर पाठ करने से खेचरत्व प्राप्त हो गया। (४) एक विद्याधर। (५) कार्तिकेय का एक अनुचर।

पुष्पदंष्ट्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग।

पुष्पध–संज्ञा पुं० [सं०] व्रात्य ब्राह्मण से उत्पन्न एक जाति। **विशेष**—व्रात्य ब्राह्मण की सवर्णा पत्नी से उत्पन्न संतति पुष्पध कहलाती है।

पुष्पधनुस–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पधन्वा–संज्ञा पुं० [सं० पुष्पधन्वन्] (१) कामदेव। (२) एक रसौषध जो रससिंदूर, सीसे, लोहे, अभ्रक और वंग में धतूरा, भाँग, जेठी मधु, सेमरामूल मिलाकर पान के रस की भावना देने से बनती है और कामोद्दीपक और शक्तिवर्द्धक मानी जाती है।

पुष्पध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पनिल–संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमर। भौंरा।

पुष्पनेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वस्ति की पिचकारी की सलाई।

पुष्पपत्री–संज्ञा पुं० [सं० पुष्पपात्रिन्] कामदेव।

पुष्पपथ–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों के रज के निकलने का मार्ग। योनि। भग।

पुष्पपांडु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

पुष्पपिंड–संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का पेड़।

पुष्पपुट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल की पँखड़ियों का आधार जो कटोरी के आकार का होता है। (२) उक्त आकार का हाथ का चंगुल।

पुष्पपुर–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन पाटलिपुत्र (पटना) का एक नाम।

पुष्पप्रियक–संज्ञा पुं० [सं०] विजयसाल।

पुष्पफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हड़ा। (२) कैथ। कपित्थ। (३) अर्जुन वृक्ष।

पुष्पभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] वास्तु शिल्प में एक प्रकार का मंडप जिसमें ६२ खंभे हों।

पुष्पभद्रक–संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का एक उपवन।

पुष्पभद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मलयगिरि के पश्चिम की एक नदी। (ब्रह्मवैवर्त)

पुष्पभूति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सम्राट हर्षवर्द्धन के पूर्व पुरुष जो शैव थे। (२) कांबोज या काबुल के एक हिंदू राजा जो ईसा की सातवीं शताब्दी में राज्य करते थे।

पुष्पमंजरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीलकमलिनी।

पुष्पमंजरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फूल की मंजरी। (२) घृतकरंज। घीकरंज।

पुष्पमास–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु के दो महीने।

पुष्पमित्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक राजा। दे० "पुष्यमित्र"।

पुष्पमृत्यु–संज्ञा पुं० [सं०] देवनल। एक प्रकार का नरकट। बड़ा नरसल।

पुष्परक्त–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्यमणि नाम के फूल का पौधा

पुष्परज–संज्ञा पुं० [सं० पुष्परजस] पराग। फूलों की धूल।

पुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] मधु।

पुष्पराग–संज्ञा पुं० [सं०] एक मणि। पुखराज।

पुष्पराज–संज्ञा पुं० [सं०] पुष्पराग। पुखराज।

पुष्परेणु–संज्ञा पुं० [सं०] फूल की धूल। पराग।

पुष्परोचन–संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

पुष्पलाव–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पुष्पलावी] फूल चुननेवाला। माली।

पुष्पलावन–संज्ञा पुं० [सं०] उत्तर दिशा का एक देश। (बृहत्संहिता)।

पुष्पलावी–संज्ञा स्त्री० [सं०पुष्पलाविन्] फूल चुननेवाली। मालिन।

पुष्पलिट्–संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमर। भौंरा।

पुष्पलिपि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक पुरानी लिपि या लिखावट। (ललितविस्तर)।

पुष्पलिह्–संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमर। भौंरा।

पुष्पवती–वि० [सं०] (१) फूलवाली। फूली हुई। (२) रजोवती। रजस्वला। ऋतुमती। (३) एक तीर्थ (महाभारत)।

पुष्पवर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्ष पर्वत का नाम।

पुष्पवाटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] फुलवारी। फूलों का बगीचा उद्यान।

पुष्पवाटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] फुलवारी। फूलों का बगीचा।

पुष्पबाण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का बाण। (२) कामदेव। (३) कुशद्वीप के एक राजा। (४) एक दैत्य।

पुष्पवाहिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी। (हरिवंश)।

पुष्पवृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों की वर्षा। ऊपर से फूल गिरना या गिराना। (मंगल उत्सव या प्रसन्नता सूचित करने के लिये फूल गिराए जाते थे)।

पुष्पशकटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] आकाशवाणी।

पुष्पशकली–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विषहीन साँप। (सुश्रुत)।

पुष्पशर–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पशरासन–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पशाक–संज्ञा पुं० [सं०] ऐसे फूल जिनकी भाजी बनाई

जाती है। जैसे, कचनाल, रासना, खैर, सेमल, सहजन, अगस्त, नीम।

पुष्पशून्य–वि० [सं०] बिना फूल का। पुष्परहित।

संज्ञा पुं० **गूलर**।

पुष्पश्रेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी।

पुष्पसाधारण–संज्ञा पुं० [सं०] वसंतकाल।

पुष्पसार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल का मधु या रस। (२) फूलों का इत्र।

पुष्पसारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी।

पुष्पसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण में प्रसिद्ध सामवेद का एक सूत्रग्रंथ जो गोभिलरचित कहा जाता है।

पुष्पसौरभा–संज्ञा स्त्री०[सं०] कलिहारी का पौधा। करियारी।

पुष्पस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "पुष्यस्नान"।

पुष्पहास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का खिलना। (२)विष्णु।

पुष्पहासा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

पुष्पहीन–वि० [सं०] बिना फूल का।

संज्ञा पुं० **गूलर का पेड़**।

पुष्पहीना– वि० स्त्री०[सं०] (स्त्री) जिसे रजोदर्शन न हो। बाँझ। बंध्या।

पुष्पांक–संज्ञा पुं० [सं०] माधवी। (अनेकार्थ)।

पुष्पांजन–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अंजन जो पीतल के हरे कसाव के साथ कुछ ओषधियों को पीसकर बनाया जाता है। वैद्यक में सब प्रकार के नेत्ररोगों पर यह चलता है।

पर्या०—पुष्पकेतु। कौसुंभ। रीतिक। रीतिपुष्प।

पुष्पांजलि–संज्ञा स्त्री० [सं०] फूलों से भरी अंजली या अंजली भर फूल जो किसी देवता या पूज्य पुरुष को चढ़ाए जायँ।

पुष्पांबुज–संज्ञा पुं० [सं०] मकरंद।

पुष्पांभस्–संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ।

पुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कर्ण की राजधानी जो अंगदेश में थी। चंपा (आजकल के भागलपुर के पास)।

पुष्पाकर–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत ऋतु।

पुष्पागम–संज्ञा पुं० [सं०] वसंत काल।

पुष्पानन–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मद्य।

पुष्पायुध–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पासव–संज्ञा पुं० [सं०] फूलों से बनाया हुआ मद्य। मद्य।

पुष्पाह्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सौंफ।

पुष्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दाँत की मैल। (२) लिंग की मैल। (३) अध्याय के अंत में वह वाक्य जिसमें कहे हुए प्रसंग की समाप्ति सूचित की जाती है। यह वाक्य "इति श्री" करके प्रायः आरंभ होता है। जैसे, "इति श्री स्कंदपुराणे रेवाखंडे" इत्यादि।

पुष्पित–वि० [सं०] पुष्पसंयुक्त। फूला हुआ।

संज्ञा पुं० (१) कुशद्वीप का एक पर्वत। (२) एक बुद्ध का नाम।

पुष्पिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

पुष्पिताग्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्द्धसम वृत्त जिसके पहले और तीसरे चरण में दो नगण, एक रगण और एक यगण होता है तथा दूसरे और चौथे चरण में एक नगण, दो जगण, एक रगण और गुरु होता है। उ०—प्रभु सम नहिं अन्य कोइ दाता। सुधन जु ध्यावत तीन लोक त्राता। सकल असत कामना बिहाई। हरि नित सेवहु मित्त चित लाई।

पुष्पेषु–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

पुष्पोत्कटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुमाली राक्षस की केतुमती भार्या से उत्पन्न ४ कन्याओं में से एक जो रावण और कुंभकर्ण की माता थी।

पुष्पोद्यान–संज्ञा पुं० [सं०] फुलवारी। पुष्पवाटिका।

पुष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्टि। पोषण। (२) फूल या सार वस्तु। (३) अश्विनी भरणी आदि २७ नक्षत्रों में से आठवाँ नक्षत्र जिसकी आकृति बाण की सी है। सिध्य। तिष्य। (४) पूस का महीना। (५) सूर्य्यवंश का एक राजा।

पुष्यनेत्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह रात्रि जिसमें बराबर पुष्य नक्षत्र रहे।

पुष्यमित्र–संज्ञा पुं० [सं०] मौर्यों के पीछे मगध में शुंग वंश का राज्य प्रतिष्ठित करनेवाला एक प्रतापी राजा।

विशेष—अशोक से कई पीढ़ियों पीछे अंतिम मौर्य्य राजा बृहद्रथ को लड़ाई में मार पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा। अपने पुत्र अग्निमित्र को उसने विदिशा का राज्य दिया था। अग्निमित्र का वृत्तांत कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में आया है। पुष्यमित्र हिंदू धर्म का अनन्य अनुयायी था इससे बौद्धों की प्रधानता से चिढ़ी हुई प्रजा उसके सिंहासन पर बैठने से बहुत प्रसन्न हुई। वैदिक धर्म और अपने प्रताप की घोषणा के लिये पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र में बड़ा भारी अश्वमेध यज्ञ किया। लोगों का अनुमान है कि इस यज्ञ में भाष्यकार पतंजलि भी आए थे। ईसा से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व पुष्यमित्र मगध में राज्य करते थे। उनके पीछे उनके पुत्र अग्निमित्र सिंहासन पर बैठे। दे० "शुंगवंश"।

पुष्यरथ–संज्ञा पुं० [सं०] क्रीड़ा रथ। घूमने, फिरने या उत्सव आदि में निकलने का रथ। (यह रथ युद्ध के काम का नहीं होता)।

पुष्यलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कस्तूरी मृग। (२) क्षपणक। चँवर लिये रहनेवाला जैन साधु। (३) खूँटा। कील।

पुष्यस्नान-संज्ञा पुं० [सं०] विघ्न शांति के लिये एक स्नान जो पूस के महीने में चंद्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर होता है। यह स्नान राजाओं के लिये है। कालिकापुराण और बृहत्संहिता में इस स्नान का पूरा विधान मिलता है।

विशेष—बृहत्संहिता के अनुसार उद्यान, देवमंदिर, नदीतट आदि किसी रमणीय और स्वच्छ स्थान पर मंडप बनवाना चाहिए और उसमें राजा के पुरोहितों और अमात्यों के सहित पूजन के लिये जाना चाहिए। पितरों और देवताओं का यथाविधि पूजन करके तब राजा पुष्यस्नान करे। जिस कलश के जल से राजा स्नान करनेवाले हों उसमें अनेक प्रकार के रत्न और मंगल द्रव्य पहले से डालकर रखे। पश्चिम ओर की वेदी पर बाघ या सिंह का चमड़ा बिछाकर उस पर सोने, चाँदी, तांबे या गूलर की लकड़ी का पाटा रखा जाय। उसी पर राजा स्नान करे।

पुष्यार्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में एक योग जो कर्क की संक्रांति में सूर्य्य के पुष्य नक्षत्र में होने पर होता है यह प्रायः श्रावण में दस दिन के लगभग रहता है। (२) रविवार के दिन पड़ा हुआ पुष्य नक्षत्र।

पुस-संज्ञा पुं० [देश०] प्यार से बिल्ली को पुकारने का शब्द। जैसे, आ पुस, पुस !

पुसाना*†-क्रि० अ० [हिं० पोसना] (१) पूरा पड़ना। बन पड़ना। पटना। (२) अच्छा लगना। शोभा देना। उचित जान पड़ना। उ०—पथिक आपने पथ लगौ इहाँ रहौ न पुसाय। रसनिधि नैन सराय में बस्यो भावतो आय। —रसनिधि।

पुस्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गीली मिट्टी, लकड़ी, कपड़े, चमड़े, लोहे, या रत्नों आदि से गढ़, काट या छील-छालकर बनाई जानेवाली वस्तु। सामान। (२) बनावट। कारीगरी। (३) [स्त्री० पुस्ती] पोथी। पुस्तक। किताब। *‡ संज्ञा स्त्री० दे० "पुस्त"।

पुस्तक-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोथी। किताब। ग्रंथ।

पुस्तकाकार-वि० [सं०] पोथी के रूप का। पुस्तक के आकार का।

पुस्तकालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह भवन या घर जिसमें पुस्तकों का संग्रह हो। वह घर जहाँ अनेक विषयों की पोथियाँ इकट्ठी करके रखी गई हों।

पुस्तकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पोथी। पुस्तक।

पुस्तशिंबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की सेम।

पुहकर*-संज्ञा पुं० दे० "पुष्कर"।

पुहकरमूल-संज्ञा पुं० दे० "पुष्करमूल"।

पुहाना†-क्रि० स० [हिं० पोहना का प्रे०] पिरोने का काम कराना। ग्रथित कराना। गुथवाना।

पुहुप*-संज्ञा पुं० [सं० पुष्प] फूल।

पुहुमी*-संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि। वा पृथिवी, प्रा० पुहवी] पृथ्वी। भूमि।

पुहुरेनु*-संज्ञा पुं० [सं० पुष्परेणु] फूल की धूल। पराग।

पुहुवी-*संज्ञा स्त्री० [सं० पृथिवी] भूमि। पृथ्वी।

पूंगरण-संज्ञा पुं० [सं० पुंग = राशि या समूह] सामान्य वस्त्र। कपड़ा। (डिं०)

पूंगा-संज्ञा पुं० [देश०] वह कीड़ा जो सीप के भीतर होता है। सीप का कीड़ा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगी = छोटा चोंगा] सँपेरों का बाजा। महुवर।

पूँछ-संज्ञा स्त्री० [सं० पुच्छ] (१) मनुष्य से भिन्न प्राणियों के शरीर का वह गावदुमा भाग जो गुदामार्ग के ऊपर रीढ़ की हड्डी की संधि में या उससे निकलकर नीचे की ओर कुछ दूर तक लंबा चला जाता है। जंतुओं, पक्षियों, कीड़ों आदि के शरीर में सिर से आरंभ मानकर सबसे अंतिम या पिछला भाग। पुच्छ। लांगूल। दुम।

विशेष—भिन्न भिन्न जीवों की पूँछें भिन्न भिन्न आकार की होती हैं। पर सभी की पूँछें उनके गुदमार्ग के ऊपर से ही आरंभ होती हैं। सरीसृप वर्ग के जीवों की पूँछें रीढ़ की हड्डी की सीध में आगे को अधिकाधिक पतली होती हुई चली जाती हैं। मछली की पूँछ उसके उदरभाग के नीचे का पतला भाग है। अधिकांश मछलियों की पूँछ के अंत में पर होते हैं। पक्षियों की पूँछ परों का एक गुच्छा होती है जिसका अंतिम भाग अधिक फैला हुआ और आरंभ का संकुचित होता है। कीड़ों की पूँछ उनके मध्य भाग के और पीछे का नुकीला भाग है। भिड़ का डंक उसकी पूँछ से ही निकलता है। स्तनपायी जंतुओं में से कुछ की पूँछ उनके शेष शरीर के बराबर या उससे भी अधिक लंबी होती है, जैसे लंगूर की। इस वर्ग के प्रायः सभी जीवों की पूँछ पर बाल नहीं होते; रोएँ होते हैं। हां किसी किसी की पूँछ के अंत में बालों का एक गुच्छा होता है। पर घोड़े की पूँछ पर सर्वत्र बड़े बड़े बाल होते हैं।

मुहा०—किसी की पूँछ पकड़कर चलना = (१) किसी के पीछे पीछे चलना। किसी का पिछुआ या पिछलग्गू बनना। हर बात में किसी का अनुगमन करना। बेतरह अनुयायी होना (व्यंग्य)। (२) किसी के सहारे से कोई काम करना। सहारा लेना या पकड़ना। किसी विषय में किसी की सहायता पर निर्भर होना (व्यंग्य)।

(२) किसी पदार्थ के पीछे का भाग। (३) पिछलगू। पुछल्ला। जो किसी के पीछे या साथ रहे।

पूँछगच्छ-संज्ञा स्त्री० दे० "पूछगच्छ"।

पूँछड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूँछ + ड़ी (प्रत्य०)] (१) पूँछ। (२) वह पानी जो नाले में चढ़ाव के आगे आगे चलता है।

पूँछताछ–संज्ञा स्त्री० दे० "पूछपाछ"।

पूँछना–क्रि० अ० दे० "पूछना"।

पूँछपाँछ–संज्ञा स्त्री० दे० "पूछपाछ"।

पूँछलतारा–संज्ञा पुं० दे० "केतु" या "पुच्छलतारा"।

पूँजना–क्रि० स० [देश०] नए बंदर को पकड़ना। (कलंदर)।

पूँजी–संज्ञा स्त्री० [सं० पुंज] (१) किसी व्यक्ति या समुदाय का ऐसा समस्त धन जिसे वह किसी व्यवसाय या काम में लगा सके। किसी की अधिकारभुक्त वह संपूर्ण सामग्री या वस्तुएँ जिनका उपयोग वह अपनी आमदनी बढ़ाने में कर सकता हो। निर्वाह की आवश्यकता से अधिक धन या सामग्री। संचित धन। संपत्ति। जमा। (२) वह धन या रुपया जो किसी व्यापार या व्यवसाय में लगाया गया हो। वह धन जिससे कोई कारोबार आरंभ किया गया हो या चलता हो। किसी दूकान, कोठी, कारखाने, बैंक आदि की निज की चर या अचर संपत्ति। मूलधन।

क्रि० प्र०—लगाना।

मुहा०—**पूँजी खोना या गँवाना** = व्यापार या व्यवसाय में इतना घाटा उठाना कि कुछ लाभ के स्थान पर पूँजी में से कुछ या कुल देना पड़े। ऐसा घाटा उठाना कि मूलधन की भी हानि हो। भारी घाटा या क्षति उठाना। **पूँजीदार या पूँजीवाला** = किसी व्यापार या उद्यम में जिसने धन लगाया हो। जिसने मूलधन या पूँजी लगाई हो।

(३) धन। रुपया-पैसा। जैसे, इस समय तुम्हारी जेब में कुछ पूँजी मालूम होती है। (४) किसी विशेष विषय में किसी की योग्यता। किसी विषय में किसी का परिज्ञान या जानकारी। किसी विषय में किसी की सामर्थ्य या बल। (बोलचाल क्व०)। (५) *पुंज। समूह। ढेर। उ०—रतनन की पूँजी अति राजैं। कनक करधनी अति छवि छाजैं।—गोपाल।

पूँठ*‡–संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठ] पीठ। उ०—पंथी ऊभा पाथ सिर बुगचा बाँधा पूँठ। मरना मुँह आगे खड़ा, जीवन का सब झूँठ।—कबीर।

पूआ–संज्ञा पुं० [सं० पूप, अपूप] एक प्रकार की पूरी जो आटे को गुड़ या चीनी के रस में घोलकर घी में छानी जाती है। स्वाद के लिये इसमें कतरे हुए मेवे भी छोड़ते हैं। मालपुआ।

पूग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुपारी का पेड़ या फल। (२) ढेरा। (३) शहतूत का पेड़। (४) कटहल। (५) एक प्रकार की कटेरी। (६) भाव। (७) छंद। (८) समूह। वृंद। ढेर।

पूगकृत–वि० [सं०] (१) स्तूप के आकार में स्थापित। स्तूपाकार किया हुआ। जो टीले के आकार का हो। (२) संगृहीत। इकट्ठा किया हुआ। ढेर। राशि।

पूगपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान। उगालदान।

पूगपीठ–संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान।

पूगपुष्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] विवाह-संबंध स्थिर हो जाने पर दिया जानेवाला पुष्प सहित पान। पानफूल।

पूगफल–संज्ञा पुं० [सं०] सुपारी।

पूगमंड–संज्ञा पुं० [सं०] पाकड़। प्लक्ष।

पूगरोठ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताड़।

पूगी–संज्ञा पुं० [सं० पूगिन्] सुपारी का पेड़।

संज्ञा स्त्री० [सं० पूग] सुपारी।

पूगीफल–संज्ञा पुं० [सं० पूगफल] सुपारी।

पूछ—संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना] (१) पूछने का भाव। जिज्ञासा। (२) खोज। चाह। जरूरत। तलब। जैसे, आप वहाँ अवश्य जाइए, वहाँ आपकी सदा पूछ रहती है। (३) आदर। आवभगत। खातिर। इज्जत। जैसे, तनिक भी पूछ न होने पर तो तुम्हारे मिजाज का यह हाल है, जो कुछ होती तो न जाने क्या करते।

पूछगाछ–संज्ञा स्त्री० दे० "पूछताछ"।

पूछताछ–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना] कुछ जानने के लिये प्रश्न करने की क्रिया या भाव। किसी बात का पता लगाने के लिये बार बार पूछना या प्रश्न करना। बातचीत करके किसी विषय में खोज, अनुसंधान या जाँच पड़ताल। जिज्ञासा। जैसे, घंटों पूछताछ करने के बाद तब इस मामले में इतना पता चला है।

पूछना–क्रि० स० [स० पृच्छण] (१) कुछ जानने के लिये किसी से प्रश्न करना। कोई बात जानने की इच्छा से सवाल करना। जिज्ञासा करना। कोई बात दरियाफ्त करना। जैसे, किसी का नाम-पता पूछना, किसी चीज का दाम पूछना। (२) सहायता करने की इच्छा से किसी का हाल जानने की चेष्टा करना। खोज खबर लेना। जैसे, इतने बड़े शहर में गरीबों को कौन पूछता है? (३) किसी व्यक्ति के प्रति सत्कार के सामान्य भाव प्रकट करना। किसी का कुशल, स्थान आदि पूछना या उससे बैठने आदि के लिये कहना। संबोधन करना। जैसे, तुम चाहे जितनी देर यहाँ खड़े रहो, तुम्हें कोई पूछनेवाला नहीं।

मुहा०—**बात न पूछना** = (१) तुच्छ जानकर बातचीत न करना। ध्यान न देना। (२) आदर न करना।

(४) आदर करना। गुण या मूल्य जानना। कद्र करना। किसी लायक समझना। आश्रय देना। जैसे, इस शहर में तुम्हारे गुण को पूछनेवाले बहुत कम हैं। (५) ध्यान देना। टोकना। जैसे, तुम बेखटके चले जाओ, कोई नहीं पूछ सकता।

पूछपाछ–संज्ञा स्त्री०–दे० "पूछताछ"।

पूछरी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूँछ] (१) दुम। पूँछ। (२) पीछे का भाग।

पूछाताछी, पूछापाछी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूछना+ताछना या पाछना अनु०] पूछने की क्रिया या भाव।

पूज†‡–वि० [सं० पूज्य] पूजने योग्य। पूजनीय।

संज्ञा पुं० [सं० पूज्य] देवता।। (डिं०)

संज्ञा स्त्री० [सं० पूजन] खत्रियों आदि में वह गणेशपूजन जो विवाह, यज्ञोपवीत आदि शुभ कर्मों के पहले होता है।

पूजक–संज्ञा पुं० [सं०] पूजा करनेवाला। पूजनकर्त्ता।। वह जो पूजन करे।

पूजन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पूजक, पूजनीय, पूजितव्य, पूज्य] (१) पूजा की क्रिया। ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण प्रकट करनेवाला कार्य्य। देवता की सेवा और वंदना। अर्चन। आराधन। (२) आदर। सम्मान। खातिरदारी। जैसे, अतिथिपूजन।

पूजना–क्रि० सं० [सं० पूजन] (१) किसी देवी देवता को प्रसन्न करने के लिये यथाविधि कोई अनुष्ठान या कर्म करना। ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण का भाव प्रकट करनेवाला कार्य्य करना। अर्चना करना। आराधन करना। (२) किसी को प्रसन्न या परितुष्ट करने के लिये कोई कार्य्य करना। भक्ति या श्रद्धा के साथ किसी की सेवा करना। आदर सत्कार करना। (३) वंदना करना। सिर झुकाना। बड़ा मानना। सम्मान करना। (४) घूस देना। रिशवत देना। (५) नया बंदर पकड़ना। (कलंदर)।

क्रि० अ० [सं० पूर्यंते, प्रा० पूज्जति] (१) पूरा होना। भरना। बराबर हो जाना। कमी न रह जाना। जैसे, यह हानि इस जन्म में तो नहीं पूजने की। (२) गहराई का भरना या बराबर हो जाना। आस पास के धरातल के समान हो जाना। जैसे, घाव पूजना, गड्ढा पूजना। (३) पटना। चुकता होना। जैसे, ऋण पूजना। (४) पूरा होना। बीतना। समाप्त होना। जैसे, वर्ष, अवधि, मिआद आदि पूजना।

पूजनीय–वि० [सं०] (१) जिसकी पूजा करना कर्त्तव्य या उचित हो। पूजने योग्य। आराध्य। अर्चनीय। (२) आदरणीय। सम्मान योग्य।

पूजमान–वि० [हिं० पूजना + मान] पूज्य। पूजनीय।

पूजयिता–संज्ञा पुं० [सं० पूजयितृ] पूजा करनेवाला। पूजक।

पूजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ईश्वर या किसी देवी देवता के प्रति श्रद्धा, सम्मान, विनय और समर्पण का भाव प्रकट करनेवाला कार्य्य। अर्चना। आराधन। (२) वह धार्मिक कृत्य जो जल, फूल, फल, अक्षत अथवा इसी प्रकार के और पदार्थ किसी देवी देवता पर चढ़ाकर या उसके निमित्त रख कर किया जाता है। आराधन। अर्चा।

विशेष—पूजा संसार की प्रायः सभी आस्तिक और धार्मिक जातियों में किसी न किसी रूप में हुआ करती है। हिंदू लोग स्नान और शिखा वंदन आदि करके बहुत पवित्रता से पूजा करते हैं। इसके पंचोपचार दशोपचार और षोड़शोपचार ये तीन भेद माने जाते हैं। गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य से जो पूजा की जाती है उसे पंचोपचार; जिसमें इन पाँचों के अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क और आचमन भी हो वह दशोपचार, और जिसमें इन सबके अतिरिक्त आसन, स्वागत, स्नान, वसन, आभरण और वंदना भी हो वह षोड़शोपचार कहलाती है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग विशेषतः तांत्रिक आदि १८, ३६ और ६४ उपचारों से भी पूजा करते हैं। पूजा के सात्विक, राजसिक और तामसिक ये तीन भेद भी माने जाते हैं। जो पूजा निष्काम भाव से, बिना किसी आडंबर के और सच्ची भक्ति से की जाती है वह सात्विक; जो सकाम भाव और समारोह से की जाय वह राजसिक; और जो बिना विधि, उपचार और भक्ति के केवल लोगों को दिखाने के लिये की जाय वह तामसिक कहलाती है। पूजा के नित्य, नैमित्तिक और काम्य ये तीन और भेद माने जाते हैं। शिव, गणेश, राम, कृष्ण आदि की जो पूजा प्रति दिन की जाती है वह नित्य, जो पूजा पुत्र-जन्म आदि विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट कारणों से की जाती है वह नैमित्तिक और जो पूजा किसी अभीष्ट की सिद्धि के उद्देश्य से की जाती है वह काम्य कहलाती है।

(३) आदर-सत्कार। ख़ातिर। आव-भगत।

यौ०—पूजा-प्रतिष्ठा।

(४) किसी को प्रसन्न करने के लिये कुछ देना। जैसे, पुलिस की पूजा करना, कचहरी के अमलों की पूजा करना। (५) तिरस्कार। दंड। ताड़ना। प्रहार। कुटाई। जैसे, जब तक इस लड़के की अच्छी तरह पूजा न होगी तब तक यह नहीं मानेगा।

पूजाधार–संज्ञा पुं० [सं०] पूजा की आधाररूप वस्तुएँ। देवपूजा में विधेय वस्तुएँ। जल, विष्णुचक्र, मंत्र, प्रतिमा, शालग्राम शिलादि।

पूजार्ह–वि० [सं०] पूजायोग्य। पूजनीय।

पूजित–वि० [सं०] [स्त्री० पूजिता] जिसकी पूजा की गई हो। प्राप्तपूजा। आराधित। अर्चित।

पूजितव्य–वि० [सं०] पूजा करने योग्य। पूजनीय।

पूजिल–संज्ञा पुं० [सं०] देवता।

वि० पूजनीय। पूजा योग्य।

पूज्य–वि० [सं०] [स्त्री० पूज्या] (१) पूजा योग्य। पूजनीय। (२) आदर योग्य। माननीय।

संज्ञा पुं० ससुर। श्वसुर।

पूज्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूज्य होने का भाव। पूजायोग्य होना। पूजनीयता।

पूज्यपाद–वि० [सं०] जिसके पैर पूजनीय हों। अत्यंत पूज्य। परमाराध्य। अत्यंत मान्य।

पूज्यमान–वि० [सं०] जिसकी पूजा की जा रही हो। पूजा जाता हुआ। सेव्यमान।

संज्ञा पुं० सफेद जीरा।

पूटरी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] ईख के रस की वह अवस्था जो उसके खाँड़ बनने से पहले होती है।

पूटीन–संज्ञा स्त्री० दे० "पुटीन"।

पूठ‡–संज्ञा पुं० दे० "पुट्ठा"।

पूठा–संज्ञा पुं० दे० "पुट्ठा"।

पूठि*‡–संज्ञा स्त्री० [सं० पुष्ठ] पीठ। उ०—देखा देखी पकरिया गई छिनक के छूटि। कोई बिरला जन ठहरे जाकी ठकोरी पूठि।—कबीर।

पूड़ा–संज्ञा पुं० दे० "पूआ"।

पूड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूरी] (१) तबले या मृदंग पर मढ़ा हुआ गोल चमड़ा। (२) दे० "पूरी"।

पूरणू–संज्ञा पुं० [डिं०] पत्थर।

†‡ संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णिमा] पूर्णिमा। पूर्णमासी।

पूत–वि० [सं०] पवित्र। शुद्ध। शुचि।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्य। (२) शंख। (३) सफेद कुश। (४) पलास। (५) तिल का पेड़। (६) वह अन्न जिसकी भूसी निकाल दी गई हो। (७) जलाशय।

संज्ञा पुं० [सं० पुत्र, प्रा० पुत्त] बेटा। लड़का। पुत्र।

संज्ञा पुं० [देश०] चूल्हे के दोनों किनारों और बीच के वे नुकीले उभार जिनके सहारे पर तवा या और बरतन रखते हैं।

पूतक्रता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक ऋषि की स्त्री का नाम।

पूतक्रतायी–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रपत्नी। शची। इंद्राणी।

पूतक्रतु–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पूतगंध–संज्ञा पुं० [सं०] काली बर्बरी तुलसी। बर्बर।

पूतड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पूत + ड़ा (प्रत्य०)] वह छोटा बिछौना जो बच्चों के नीचे इसलिये बिछाया जाता है कि बड़ा बिछौना मल मूत्रादि से बचा रहे।

मुहा०–**पूतड़ों के अमीर** = जन्म के अमीर। पैदाइशी धनी या रईस। खानदानी या पुश्तैनी अमीर।

पूततृण–संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुश।

पूतदारु–संज्ञा पुं० [सं०] पलास। ढाक।

पूतद्रु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ढाक। पलास। (२) खदिर। खैर का पेड़। (३) देवदार।

पूतधान्य–संज्ञा पुं० [सं०] तिल।

पूतन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार गुदा में होनेवाला एक प्रकार का रोग। (२) बेताल।

पूतना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक दानवी जो कंस के भेजने से बालक श्रीकृष्ण के मारने के लिये गोकुल आई थी। इसने अपने स्तनों पर इसलिये विष लगा लिया था कि श्रीकृष्ण दूध पीकर उसके प्रभाव से मर जायँ। परंतु कथा है कि श्रीकृष्ण पर विष का तो कुछ प्रभाव न पड़ा उलटे उन्होंने इसका सारा रक्त चूसकर इसी को मार डाला। यह भी कथा है कि मरने के समय इसने बहुत अधिक लंबा चौड़ा शरीर धारण कर लिया था और जितनी दूर में वह गिरी उतनी दूर की जमीन धँस गई थी। (२) सुश्रुत के अनुसार एक बालग्रह या बालरोग जिसमें बच्चे को दिन रात में कभी अच्छी नींद नहीं आती। पतले और मैले रंग के दस्त होते रहते हैं। शरीर से कौवे की सी गंध आती है, बहुत प्यास लगती और कै होती है तथा रोंगटे खड़े रहते हैं। (३) कार्तिकेय की एक मातृका का नाम। (४) एक योगी का नाम। (५) पीली हड़। (६) गंधमासी। सुगंध जटामासी।

पूतनारि–संज्ञा पुं० [सं०] पूतना को मारनेवाले, श्रीकृष्ण।

पूतनासूदन–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पूतनाहड़–संज्ञा स्त्री० [सं० पूतना + हिं० हड़] छोटी हड़।

पूतनिका–संज्ञा स्त्री० दे० "पूतना (२)"।

पूतफल–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल। पनस।

पूतभृत–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक बरतन जिसमें सोमरस रखा जाता था।

पूतमति–वि० [सं०] जिसकी बुद्धि पवित्र हो। शुद्धचित्त। पवित्र अंतःकरणवाला।

संज्ञा पुं० शिव का एक नाम।

पूतरा†–संज्ञा पुं० दे० "पुतला"।

संज्ञा पुं० [सं० पुत्र] पुत्र। लड़का। बाल-बच्चा। उ०—हम पहले ते भी मुआ, हम भी चलनेहार। हमरे पाछे पूतरा तिन भी बाँधा भार।—कबीर।

पूतरी–संज्ञा स्त्री० दे० "पुतली"।

पूता–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब।

वि० स्त्री० पवित्र। शुद्ध।

पूतात्मा–संज्ञा पुं० [सं० पूतात्मन्] (१) जिसकी आत्मा पवित्र हो। पवित्रचित्त। शुद्ध अंतःकरण का। (२) विष्णु।

पूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पवित्रता। शुचिता। (२) दुर्गंध। बदबू। (३) गंधमार्जार। मुश्क बिलाव। (४) रोहिष सोधिया। रोहिष तृण।

पूतिकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] हिंगोट ।

पूतिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंध करंज । काँटा करंज । पूति करंज । (२) विष्ठा । पाखाना । गू ।

वि० दुर्गंधयुक्त । बदबूदार ।

पूतिकन्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुदीना ।

पूतिकर्ण, पूतिकर्णक–संज्ञा पुं० [सं०] कान का एक रोग जिसमें भीतर फुंसी या क्षत होने के कारण बदबूदार पीप निकलने लगती है ।

पूतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई का साग । (२) एक प्रकार की शहद की मक्खी । (३) बिल्ली ।

पूतिकामुख–संज्ञा पुं० [सं०] घोंघा । शंबूक ।

पूतिकाष्ठ, पूतिकाष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवदार । (२) धूपसरल । सरल वृक्ष ।

पूतिकाह्व–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंधि करंज । पूति करंज ।

पूतिकीट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की शहद की मक्खी । पूतिका ।

पूतिकेशर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नागकेशर । (२) मुश्क बिलाव । गंधमार्जार ।

पूतिकेश्वरतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] शिवपुराण में वर्णित एक तीर्थस्थान ।

पूतिगंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राँगा । (२) हिंगोट वा गोंदी । इंगुदी । (३) गंधक । (४) दुर्गंध । बदबू ।

पूतिगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बकुची । बावची । सोमराजी ।

पूतिगंधि, पूतिगंधिक–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गंध । बदबू ।

पूतिगंधिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बावची । बकुची । (२) पोय । पूतिका-शाक ।

पूतिघास–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में वर्णित मृग की जाति का एक जंतु ।

पूतिदला–संज्ञा स्त्री० [सं०] तेजपत्ता ।

पूतिनस्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह रोग जिसमें श्वास अथवा नाक और मुहँ से दुर्गंधि निकलती है । सुश्रुत के मत से इस रोग का कारण गले और तालुमूल में दोषों का संचय होकर वायु को पूतिभावयुक्त या दुर्गंधित कर देता है ।

पूतिनासिक–वि० [सं०] जिसे पूतिनस्य रोग हुआ हो । जिसके नाक या श्वास से दुर्गंधि निकलती हो । पूतिनस्य रोगी ।

पूतिपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा । (२) पीला लोध । पीतलोध्र ।

पूतिपत्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पसरन । प्रसारिणी लता ।

पूतिपर्ण, पूतिपर्णक–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध करंज । पूति करंज ।

पूतिपल्लवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा करेला ।

पूतिपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] गोंदी । इँगुदी वृक्ष ।

पूतिपुष्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] चकोतरा नीबू ।

पूतिफल–संज्ञा पुं० [सं०] बावची । बकुची । सोमराजी ।

पूतिफला, पूतिफली–संज्ञा स्त्री० [सं०] बावची ।

पूतिमज्जा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोंदी । इँगुदी वृक्ष ।

पूतिमयूरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बर्बरी । (२) बनतुलसी ।

पूतिमारुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटी बेर का पेड़ । (२) बेल का पेड़ ।

पूतिमाष–संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि ।

पूतिमूषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] छछूँदर ।

पूतिमृत्तिक–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार इक्कीस नरकों में से एक नरक का नाम ।

पूतिमेद–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गंध खैर । अरिमेद ।

पूतिमुद्गला–संज्ञा स्त्री० [सं०] रोहिष सोधिया । रोहिष तृण ।

पूतियोनि–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का योनिरोग । दे० "योनिरोग" ।

पूतिरक्त–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें नाक में से दुर्गंधियुक्त रक्त निकलता है ।

पूतिरज्जु–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता ।

पूतिवर्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बनतुलसी । जंगली तुलसी । काली बर्बरी ।

पूतिवात–संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पेड़ ।

पूतिवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा । श्योनाक वृक्ष ।

पूतिशाक– संज्ञा पुं० [सं०] अगस्त । वकवृक्ष ।

पूतिशारिजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वनबिलाव ।

पूंतिसृंजय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जनपद या देश । (२) उक्त देश के निवासी ।

पूंती–संज्ञा स्त्री० [सं० पोत = गट्ठा] (१) जड़ जो गाँठ के रूप में हो । (२) लहसुन की गाँठ ।

पूतीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंध या काँटा करंज । (२) गंधमार्जार । बिलाव ।

पूतीकरंज–संज्ञा पुं० [सं०] काँटा करंज ।

पूतीका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पोय । पोई । पूतिका शाक ।

पूतकारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती देवी का एक नाम । (२) नागों की राजधानी । दे० "पूतकारी" ।

पूत्यंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह हिरन जिसकी नाभि से कस्तूरी निकलती है । (२) एक बदबूदार कीड़ा । गंधकीट ।

पूत्रित–वि० [सं०] पूजन किया हुआ ।

पूथ, पूथा–संज्ञा पुं० [देश०] बालू का ऊँचा टीला या ढूह ।

पूथिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूतिका शाक । पोई का साग ।

पूदना–संज्ञा पुं० [देश०] एक पक्षी जो उत्तरी भारत में पाया जाता है । इसका रंग प्रायः भूरा होता है, परंतु ऋतुभेद के अनुसार कुछ कुछ बदलता रहता है । इसका शरीर प्रायः ७ इंच लंबा होता है । यह जमीन पर चला करता है

श्रोर घास का घोंसला बनाकर रहता है।

संज्ञा पुं० दे० ''पुदीना''।

पून–संज्ञा पुं० [देश०] (१) जंगली बादाम का पेड़ जो भारत के पश्चिमी किनारों पर होता है। इसके फूल श्रोर पत्तियाँ दवा के काम श्राती हैं श्रोर फल में से तेल निकाला जाता है। इस वृत्त में एक प्रकार का गोंद निकलता है। (२) कलपून नामक वृत्त जिसकी लकड़ी इमारत बनाने के काम में श्राती है। इसके बीजों से एक प्रकार का तेल निकलता है। (३) तलवार की मुठिया का नीचेवाला सिरा।

संज्ञा पुं० दे० ''पुण्य''।

※संज्ञा पुं० दे० ''पूर्ण''। उ०—तैसोइ लहँगा बन्यो सिलसिलो पूर्णमासी की पूनरी।—नंददास।

पूनव–संज्ञा स्त्री० दे० ''पूनो'' या ''पूर्णिमा''।

पूनसलाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० पूनी + सलाई] वह पतली लकड़ी जिस पर रूई की पूनियाँ कातने के लिये बनाते हैं।

पूनना–संज्ञा पुं० [देश०] (१) कलपून या पून नाम का सदाबहार पेड़। (२) एक प्रकार की ईख।

पूंनाक†–संज्ञा स्त्री० [देश०] तेलहन में की बची हुई सीठी। खली।

पुनिउँ–संज्ञा स्त्री० दे० ''पूनो''।

पूंनी–संज्ञा स्त्री० [सं० पिंजिका] धुनी हुई रूई की वह बत्ती जो चरखे पर सूत कातने के लिये तैयार की जाती है।

पूनो†※–संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णिमा] पूर्णिमा। पूर्णमासी। शुक्ल पत्त की पंद्रहवीं या चांद्रमास की श्रंतिम तिथि।

पून्यो†–संज्ञा स्त्री० दे० ''पूनो''।

पूप–संज्ञा पुं० [सं०] पूश्रा या मालपूश्रा नाम का मीठा पकवान।

पूपला, पूपली–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का मीठा पकवान।

पूपली–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) पोली नली। (२) बच्चों के खेलने का काठ का बहुत छोटा खिलौना जो छोटी डंठी के श्राकार का होता है श्रोर जिसके दोनों सिरे कुछ मोटे होते हैं। (३) बाँस श्रादि में से काटी हुई वह छोटी खोखली नली जिसमें देसी पंखों की डंठी का श्रंतिम भाग फँसाया रहता है श्रोर जिसके सहारे पंखा सहज में चारों श्रोर घूमा करता है।

पूपशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ पूप श्रादि पकवान रहते हों।

पूपाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूप। मालपूश्रा।

पूपाष्टका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूस के कृष्णपत्त की श्रष्टमी। तिथितत्त्व के श्रनुसार इस दिन मालपूए से श्राद्ध किया जाना चाहिए।

पूपिक–संज्ञा पुं० [सं०] पूश्रा, पूरी श्रादि पकवान।

पूय–संज्ञा पुं० [सं०] पीप। मवाद।

पूयउडश–संज्ञा पुं० [देश०] भोजपत्र की जाति का एक वृत्त जो खसिया पहाड़ी श्रोर बरमा में होता है। इसकी छाल मनीपुर श्रादि के जंगली लोग खाते हैं श्रोर पानी के घड़े पर उसकी मजबूती के लिये लपेटते हैं।

पूयका–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रेतयोनि जिसमें मरने के उपरांत वे वैश्य जाते हैं जो श्रपने धर्म से च्युत होते हैं। कहते हैं कि ऐसे प्रेतों का श्राहार पीप है।

पूयकुंड–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम।

पूयप्रमेह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें पीप के समान मूत्र होता है, श्रथवा जिसमें मूत्र में से पीप के समान दुर्गंध श्राती है।

पूयरक्त–संज्ञा पुं० [सं०] नाक का एक रोग जिसमें रक्तपित्त की श्रधिकता श्रथवा माथे पर चोट श्राने के कारण नाक में से पीप मिला हुश्रा लहू निकलता है।

पूयवाह–संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

पूयस्त्राव–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के श्रनुसार श्राँखों का वह रोग जिसमें उसका संधिस्थान पक जाता है श्रोर उससे पीप बहने लगती है।

पूयारि–संज्ञा पुं० [सं०] नीम। निंब।

पूयालस, पूयालसक–संज्ञा पुं० [सं०] श्राँखों का एक रोग जिसमें उसकी पुतली की संधि में शोथ होने के कारण वह स्थान पक जाता है श्रोर उसमें से दुर्गंधयुक्त पीप निकलती है।

पूयोद–संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

पूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाह श्रगर। दाहागुरु। (२) बाढ़। (३) घाव। पूरा होना या भरना। व्रणसंशुद्धि। (४) प्राणायाम में पूरक की क्रिया। दे० ''पूरक''।

वि० [सं० पूर्ण] (१) दे० ''पूर्ण''। (२) वे मसाले या दूसरे पदार्थ जो किसी पकवान के भीतर भरे जाते हैं। जैसे, समोसे का पूर।

पूरक–वि० [सं०] पूरा करनेवाला। जिससे किसी की पूर्ति हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणायाम विधि के तीन भागों में से पहला भाग जिसमें श्वास को नाक से खींचते हुए भीतर की श्रोर ले जाते हैं। योगविधि से नाक के दाहिने नथने को बंद करके बाएँ नथने से श्वास को भीतर की श्रोर खींचना। (२) बिजौरा नीबू। (३) वे दस पिंड जो हिंदुश्रों में, किसी के मरने पर उसके मरने की तिथि से दसवें दिन तक नित्य दिए जाते हैं। कहते हैं कि जब शरीर जल जाता है तब इन्हीं पिंडों से मृत व्यक्ति के शरीर की पूर्त्ति होती है श्रोर इसी लिये इन्हें पूरक कहते

हैं। पहले पिंड से मस्तक, दूसरे से आँखें, नाक और कान, तीसरे से गला, चौथे से बाँहें और छाती इसी प्रकार अलग अलग पिंडों से अलग अलग अंगों का बनना माना जाता है। (४) वह अंक जिसके द्वारा गुणा किया जाता है। गुणक अंक।

पूरण-संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) भरने की क्रिया। परिपूर्ण करने की क्रिया। (२) पूरा करने की क्रिया। समाप्त या तमाम करना। (३) कान आदि में तेल आदि भरने की क्रिया। (४) अंकों का गुणा करना। अंक-गुणन। (५) पूरक-पिंड। दशाहपिंड। (६) मेहँ। वृष्टि। (७) केवटी। मोथा। (८) सेतु। पुल। (९) एक प्रकार का व्रण या फोड़ा जो वात के प्रकोप से होता है। (१०) समुद्र। (११) पुनर्नवा। गदहपूरना।

वि॰ [सं॰] पूरक। पूरा करनेवाला।

पूरणी--संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] सेमर। शाल्मली वृक्ष।

पूरणीय-वि॰ [सं॰] भरने योग्य। परिपूर्ण करने योग्य।

पूरन*-वि॰ दे॰ "पूर्ण"।

पूरनकाम*-वि॰ दे॰ "पूर्णकाम"।

पूरनपरब *†-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पूर्णपर्व] पूर्णमासी। उ॰—दशरथ पूरन-परब-बिधु उदित समय संजोग। जनकनगर सर, कुमुदगण तुलसी प्रमुदित लोग।—तुलसी।

पूरनपूरी-संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पूर्ण+हिं॰ पूड़ी] एक प्रकार की मीठी कचौड़ी।

पूरनमासी-संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पूर्णमासी"।

पूरना†-क्रि॰ स॰ [सं॰ पूरण] (१) कमी या त्रुटि को पूरा करना। किसी खाली जगह को भरना। पूर्त्ति करना। (२) ढाँकना। किसी वस्तु को किसी वस्तु से आच्छादित कर देना। उ॰—कूह कै कै कर मारै मही लखि कुंभन वारन छारन पूरत।—शंभु। (३) (मनोरथ) सफल करना। सिद्ध करना। (मनोरथ) पूर्ण करना। उ॰—सिद्ध गणेश मनावहिं बिधि पूरै मन काज।—जायसी। (४) मंगल अवसरों पर आटे, अबीर आदि से देवताओं के पूजन आदि के लिये चौखूँटे क्षेत्र आदि बनाना। चौक बनाना। जैसे, चौक पूरना। उ॰—साजा पाट छत्र के छाँहीं। रतन चौक पूरी तेहि माहाँ।—जायसी। (५) बटना। जैसे, सेंवई पूरना, तागा पूरना। (६) फूँकना। बजाना। उ॰—(क) तेहिं वियोग सिंगी नित पूरी। बार बार किँगरी भइ झूरी।—जायसी। (ख) किँगरी गहे बजावै झूरी। भोर साँझ सिंगी नित पूरी।—जायसी।

क्रि॰ अ॰ पूर्ण होना। भर जाना। व्याप्त हो जाना। उ॰—परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नाउँ। जहँ देखौं वह देखौं दूसर नहिं कर जाउँ।—जायसी।

पूरब-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पूर्व] वह दिशा जिसमें सूर्य का उदय होता है। मध्याह्न से पहले सूर्य की ओर मुहँ करने पर सामने पड़नेवाली दिशा। पच्छिम के विरुद्ध दिशा। पूर्व। प्राची।

*† वि॰ दे॰ "पूर्व"।

*† क्रि॰ वि॰ दे॰ "पूर्व"।

पूरबल*†-संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पूरबला] (१) प्राचीन समय। पुराना जमाना। (२) पूर्वजन्म इस जन्म से पहलेवाला जन्म।

पूरबला*-वि॰ पुं॰ [सं॰ पूर्व+हिं॰ ला (प्रत्य॰)] [स्त्री॰ पूरबली] (१) प्राचीन काल का। पुराना। (२) पूर्व-जन्म का। पहले जन्म का। उ॰—(क) कछु करनी कछु करम गति कछु पूरबला लेख। देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख।—कबीर। (ख) भौरै भूली खसम को कबहु न किया विचार। सतगुर साहेब बताइया पूरबला भरतार।—कबीर। (ग) मेरो सुरूप नहीं यह व्याधि है पूरबली अँग के संग जागै। का मैं कहैं घर बाहर होत ही लागत दीठि विलंब न लागै।—रघुनाथ।

पूरबिया†-संज्ञा पुं॰ दे॰ "पूरबी"।

पूरबी-वि॰ [हिं॰ पूरब+ई (प्रत्य॰)] पूरब का। पूरब संबंधी। जैसे, पूरबी दादरा, पूरबी हिंदी, पूरबी चावल आदि। वि॰ दे॰ "पूर्बी"।

संज्ञा पुं॰ एक प्रकार का दादरा जो बिहारी भाषा में होता है और बिहार प्रांत में गाया जाता है।

संज्ञा स्त्री॰ पूर्वी नाम की रागिनी। विशेष—दे॰ "पूर्वी"।

पूरयिता-संज्ञा पुं॰ [सं॰ पूरयितृ] (१) पूर्णकर्ता। पूरक। पूर्ण करनेवाला। (२) विष्णु का एक नाम।

पूरयितव्य-वि॰ [सं॰] पूरा करने के योग्य। पूरणीय।

पूरा-वि॰ पुं॰ [सं॰ पूर्ण] [स्त्री॰ पूरी] (१) जो खाली न हो। भरा। परिपूर्ण। (२) जिसका अंश या विभाग न किया गया हो अथवा जिसके टुकड़े या विभाग न हुए हों। समूचा। सोलह आना। समग्र। समस्त। सकल। (३) जिसमें कोई कमी या कसर न रह गई हो। पूर्ण। कामिल। जैसे, पूरा मर्द, पूरा अधिकार, पूरा दबाव आदि।

क्रि॰ प्र॰—पड़ना।—उतरना।—डालना।—होना।

(४) भरपूर। यथेच्छ। काफी। बहुत। जैसे, मेरे पास पूरा सामान है, डरने की कोई बात नहीं।

मुहा॰—किसी बात का पूरा=(१) जिसके पास कोई वस्तु यथेष्ट या प्रचुर हो। जैसे, विद्या का पूरा, बल का पूरा। (२) पक्का। दृढ़। मजबूत। अटल। जैसे, बात का पूरा, वादे का पूरा। किसी का पूरा पड़ना=कार्य्य पूर्ण हो जाना। सामग्री न घटना। सामग्री की कमी से बाधा न आना। उ॰—

(क) मैं समझता हूँ कि इतनी सामग्री से तुम्हारा सब काम पूरा पड़ जायगा। (ख) जाओ, तुम्हारा कभी पूरा न पड़ेगा।

(५) संपन्न। पूर्ण। संपादित। कृत। जिसके किए जाने में कुछ कसर न रह गई हो। जैसे,काम पूरा होना। (इसका व्यवहार प्रायः "करना" क्रिया के साथ होता है।)

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—(कोई काम) **पूरा उतरना**=अच्छी तरह होना। जैसा चाहिए वैसा ही होना। जैसे, काम पूरा उतर जाय तो जानें। **बात पूरी उतरना**=ठीक निकलना। सत्य उतरना। सच होना। जैसा कहा गया हो वैसा ही होना। **दिन पूरे करना**=(१) समय बिताना। किसी प्रकार कालक्षेप करना। (२) किसी अवधि तक समय बिताना। जैसे, बनवास के दिन पूरे करना। (**दिन**) **पूरे होना**=अंतिम समय निकट आना। जैसे, अब उनके दिन पूरे हो गए।

(६) तुष्ट। पूर्ण। जैसे, हमारी इच्छाएँ पूरी हो गईं।

पूराम्ल—संज्ञा पुं० [सं०] विषाविल। वृक्षाम्ल। महाम्ल।

पूरिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कचौड़ी।

पूरित—वि० [सं०] (१) भरा हुआ। परिपूर्ण। लबालब। (२) तृप्त। (३) गुणा किया हुआ। गुणित।

पूरिया—संज्ञा पुं० [देश०] षाड़व जाति का एक राग जो संध्या समय गाया जाता है। इसमें पंचम स्वर वर्जित है। किसी के मत से यह भैरव राग का पुत्र और किसी के मत से संकर राग है।

पूरियाकल्याण—संज्ञा पुं० [हिं० पूरिया + कल्याण (राग)] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसके गाने का समय रात का पहला पहर है।

पूरी—संज्ञा स्त्री० [सं० पूलिका] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध पकवान जिसे साधारण रोटी आदि की तरह बेलकर खौलते घी में छान लेते हैं। (२) मृदंग, तबले, ढोल आदि के मुँह पर मढ़ा हुआ गोल चमड़ा।

क्रि० प्र०—चढ़ना।—चढ़ाना।—मढ़ना।

वि० स्त्री० "पूरा" शब्द का स्त्रीलिंग रूप। (मुहावरों आदि के लिये दे० "पूरा"।)

पूरु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। (२) वैराज मनु के एक पुत्र का नाम। (३) जह्नु के एक पुत्र का नाम। (४) एक राक्षस का नाम।

पूरुजित—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

पूरुब‡—संज्ञा पुं० दे० "पूरब"।

पूरुष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष। (२) आत्मा।

पूर्ण—वि० [सं०] (१) पूरा। भरा हुआ। परिपूर्ण। पूरित। (२) जिसे कोई इच्छा या अपेक्षा न हो। अभावशून्य। (३) जिसकी इच्छा पूर्ण हो गई हो। आप्तकाम। परितृप्त। (४) भरपूर। जितना चाहिए उतना। यथेष्ट। काफी। (५) समूचा। अखंडित। सकल। (६) समस्त। सारा। सब का सब। (७) सिद्ध। सफल। (८) जो पूरा हो चुका हो। समाप्त। जैसे, उसका दंडकाल पूर्ण हो गया।

संज्ञा पुं० (१) एक गंधर्व का नाम। (२) एक नाग का नाम। (३) बौद्ध शास्त्र के अनुसार मैत्रायणी के एक पुत्र का नाम। (४) जल। (५) विष्णु।

पूर्ण-अतीत—संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में वह स्थान जो "सम अतीत" के एक मात्रा के बाद आता है। यह स्थान भी कभी कभी सम का काम देता है।

पूर्णक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुर्गा। कुक्कुट। ताम्रचूड़। (२) देवताओं की एक योनि। (३) दे० "पूर्ण"।

पूर्णकाम—वि० [सं०] (१) जिसे किसी बात की कामना या चाह न रह गई हो। जिसकी सारी इच्छाएँ तृप्त हो चुकी हों। आप्तकाम। (२) निष्काम। कामनाशून्य।

संज्ञा पुं० परमेश्वर।

पूर्णकाश्यप—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धशास्त्रों के अनुसार एक प्रसिद्ध तीर्थिक। भगवान् बुद्ध ने जिन छः तीर्थिकों को पराजित किया था उनमें एक ये भी थे। बुद्ध से पहले ही इन्होंने अपने मत का प्रचार आरंभ कर दिया था और बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गए थे। साधारण लोगों से लेकर मगध के राजा तक इन पर भक्ति और श्रद्धा रखते थे। भूटान में मिले हुए एक बौद्ध ग्रंथ के अनुसार ये उपर्युक्त छओं तीर्थिकों में प्रधान थे। ये कोई कपड़ा नहीं पहनते थे, नंगे बदन घूमा करते थे। ये कहते थे, जगत् अनंत भी है और सांत भी, अक्षय भी है, क्षयशील भी, असीम भी है और ससीम भी, चित्त और देह भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। परलोक का अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों ही है। पर जन्म नहीं है, इस जन्म में ही जीव का शेष, ध्वंस या मृत्यु होती है। मरने के बाद फिर जन्म नहीं होता। शरीर चार भूतों ही से—क्षिति, अप, तेज और मरुत से बना है। मृत्यु के पश्चात् वह क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में मिल जाता है। उनके मत से यही परमतत्त्व था। बुद्ध से पराजित होने का इन्हें इतना दुःख हुआ था कि ये गले में बालू से भरा घड़ा बाँधकर डूब मरे। श्रावस्ती और जेतवन में बुद्ध के साथ इनकी मूर्ति भी पाई गई है।

पूर्णकोशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

पूर्णकोषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कचौरी। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का पकवान जो जौ के आटे का बनता था।

पूर्णकोष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागरमोथा ।

पूर्णगर्भा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूरन पूरी । (२) वह स्त्री जिसे शीघ्र प्रसव होने की संभावना हो । वह स्त्री जिसे शीघ्र ही संतान होनेवाली हो ।

पूर्णचंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा का चंद्रमा । अपनी सब कलाओं से युक्त चंद्रमा ।

पूर्णतया-क्रि० वि० [सं०] पूरी तरह से । पूर्ण रूप से ।

पूर्णतः-क्रि० वि० [सं०] पूरे तौर से । पूर्णतया ।

पूर्णता-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्ण का भाव । पूर्ण होना ।

पूर्णदर्व्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैदिक क्रिया । (२) पूर्णिमा ।

पूर्णपरिवर्तक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जीव जो अपने जीवन में अनेक बार अपना रूप आदि बदलता हो; जैसे, तितली ।

पूर्णपर्वेंदु-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा । पूर्णमासी ।

पूर्णपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुत्रजन्मादि के उत्सव के समय पारितोषिक या इनाम के रूप में मिले हुए वस्त्र, अलंकार आदि । (२) वह घड़ा जो प्राचीन काल में चावलों से भरकर होम या यज्ञ के अंत में ब्रह्मा को दक्षिणा रूप में दिया जाता था । इसमें साधारणतः २५६ मुट्ठी चावल हुआ करता था ।

पूर्णप्रज्ञ-वि० [सं०] जिसकी बुद्धि में कोई कमी या त्रुटि न हो । पूर्णज्ञानी । बहुत बुद्धिमान् ।

संज्ञा पुं० पूर्णप्रज्ञदर्शन के कर्त्ता मध्वाचार्य्य । ये वैष्णव मत के संस्थापक आचार्यों में माने जाते हैं । वेदांतसूत्र पर इन्होंने 'माध्वभाष्य' नामक द्वैतपक्षप्रतिपादक भाष्य लिखा है । हनुमान और भीम के बाद ये वायु के तीसरे अवतार माने गए हैं । अपने भाष्य में इन्होंने स्वयं भी यह बात लिखी है । इनका एक नाम आनंदतीर्थ भी है ।

पूर्णप्रज्ञदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार) वह दर्शन जिसके प्रवर्तक पूर्णप्रज्ञ या मध्वाचार्य्य हैं । इस दर्शन का आधार वेदांतसूत्र और उस पर रामानुज कृत भाष्य है । इसके अधिकतर सिद्धांत रामानुज-दर्शन के सिद्धांतों से मिलते हैं । दोनों का मुख्य अंतर ईश्वर और जीव के भेदाभेद के विषय में है । इस संबंध में रामानुज-दर्शन का भेद, अभेद और भेदाभेद सिद्धांत इस दर्शन को स्वीकार नहीं है । इसके मत से जीव और ईश्वर में किसी प्रकार का सूक्ष्म या स्थूल अभेद नहीं है, किंतु स्पष्ट भेद है । उनका संबंध शरीरात्म भाव का नहीं है बल्कि सेव्य सेवक भाव का है । अंतर्यामी होने के कारण जीव ईश्वर का शरीर नहीं है, बल्कि उसका सेवक और अधीन है । ईश्वर स्वतंत्रतत्त्व और जीव अस्वतंत्रतत्त्व और ईश्वरायत्त है । इस दर्शन के मत से पदार्थ के तीन भेद हैं—चित्त (जीव), अचित (जड़) और ईश्वर । चित जीवपदवाच्य, भोक्ता, असंकुचित, अपरिच्छिन्न, निर्मल ज्ञानस्वरूप, नित्य, अनादि और कर्मरूप अविद्या से ढका हुआ है । ईश्वर का आराधन और उसकी प्राप्ति उसका स्वभाव है । (आकार में) वह बाल की नोक के सौवें भाग के बराबर है । अचित पदार्थ दृश्यपदवाच्य, योग्य, अचेतनस्वरूप और विकारशील हैं । फिर भोग्य, भोगोपकरण और भोगायतन या भोगाधार रूप से इसके भी तीन भेद हैं । ईश्वर हरिपदवाच्य, सबका नियामक, जगत् का कर्त्ता, उपादान, सकलांतर्यामी अपरिच्छिन्न और ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज आदि गुणों से संपन्न है । इस दर्शन के अनुसार यह निखिल जगत् अनंत समुद्रशायी भगवान् विष्णु से उत्पन्न हुआ है । चित और अचित संपूर्ण पदार्थ उनके शरीर रूप हैं । पुरुषोत्तम, वासुदेवादि उनकी संज्ञाएँ हैं । उपासकों को यथोचित फल देने के लिये लीलावश वे पाँच प्रकार की मूर्तियाँ धारण करते हैं । प्रथम अर्चा अर्थात् प्रतिमादि, द्वितीय विभव अर्थात् रामादि अवतार, तृतीय वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार संज्ञाक्रांत व्यूह, चतुर्थ सूक्ष्म और संपूर्ण वासुदेव नामक परब्रह्म, पंचम अंतर्यामी सकल जीवों के नियंता । उपासक क्रम से पूर्व मूर्ति की उपासना द्वारा पापक्षय करके परमूर्ति की उपासना का अधिकारी होता है । अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नाम से भगवान् की उपासना के भी पाँच प्रकार हैं । देवमंदिर का मार्जन, अनुलेपन आदि अभिगमन हैं, गंधपुष्पादि पूजा के उपकरणों का आयोजन उपादान, पूजा इज्या, अर्थानुसंधान के सहित मंत्रजप, स्तोत्रपाठ, नामकीर्तन और तत्त्व प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास स्वाध्याय और देवता का अनुसंधान योग्य है । इन उपासनाओं के द्वारा ज्ञान लाभ होने पर भगवान उपासक को नित्यपद प्रदान करते हैं । इस पद को प्राप्त होने पर भगवान का यथार्थ रूप से ज्ञान होता है और फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । पूर्णप्रज्ञ के मत से भगवान विष्णु की सेवा तीन प्रकार की है—अंकन, नामकरण और भजन । गरम लोहे से दागकर शरीर पर शंख, चक्र आदि के चिह्न उत्पन्न करना अंकन है, पुत्र पौत्रादि के केशव नारायण आदि नाम रखना नामकरण । भजन के कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार हैं । फिर इनके भी कई कई भेद हैं—कायिक के दान, परित्राण और परिरक्षण, वाचिक के सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय, और मानसिक के दया, स्पृहा और श्रद्धा ।

पूर्णबीज-संज्ञा पुं० [सं०] बिजौरा नीबू ।

पूर्णभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग जिसका उल्लेख महाभारत में है।

पूर्णमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा। पूर्णमासी।

पूर्णमास–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्णिमा। (२) सूर्य्य। (३) चंद्रमा।

पूर्णमास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक याग जो पूर्णिमा को किया जाता था। पौर्णमास योग। (२) धाता का एक पुत्र जो उसकी अनुमति नाम की स्त्री से उत्पन्न हुआ था।

पूर्णमासी–संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमास की अंतिम तिथि। शुक्लपक्ष का अंतिम या पंद्रहवाँ दिन। वह तिथि जिसमें चंद्रमा अपनी सारी कलाओं से पूर्ण होता है। पूर्णिमा।

पूर्णमुख–संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग जो जनमेजय के सर्पसत्र में जलाया गया था।

पूर्णमैत्रायनी पुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध भगवान के अनुचरों में से एक। ये पश्चिम भारत के सुरपाक नामक स्थान में रहते थे। सूत्र का अभ्यास करनेवाले बौद्ध इनकी उपासना करते थे।

पूर्णयोग–संज्ञा पुं० [सं०] बाहुयुद्ध का एक भेद। भीम और जरासंध में यही बाहुयुद्ध हुआ था।

पूर्णवर्मा–संज्ञा पुं० [सं०] मगध का एक बौद्ध राजा, जो सम्राट् अशोक के वंश में अंतिम था। गौड़राज शशांक ने बोधिगया के जिस बोधिवृक्ष को नष्ट कर दिया था उसे इसने फिर से संजीवित किया। ह्वेनसांग के भ्रमणवृत्तांत से ज्ञात होता है कि उसके आगमन के पहले ही यह सिंहासन पर बैठ चुका था।

पूर्णविराम–संज्ञा पुं० [सं०] लिपि प्रणाली में यह चिह्न जो वाक्य के पूर्ण हो जाने पर लगाया जाता है। वाचक के लिये सबसे बड़े विराम या ठहराव का चिह्न या संकेत।

विशेष—अँगरेजी आदि अधिकांश लिपियों में, और उन्हीं के अनुकरण पर मराठी आदि में भी, यह चिह्न एक बिंदु "." के रूप में होता है, परंतु नागरी बँगला आदि में इसके लिये खड़ी पाई "।" का व्यवहार होता है।

पूर्णविषम–संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में एक स्थान जो कभी कभी सम का काम देता है।

पूर्णशैल–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत जिसका उल्लेख योगिनी तंत्र में है।

पूर्णहोम–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णाहुति।

पूर्णांगद–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत में उल्लिखित एक नाग।

पूर्णांजलि–वि० [सं०] अंजुलिभर। जितना अँजुली में आ सके।

पूर्णा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंचमी, दशमी, अमावस और पूर्णमासी की तिथियाँ। (२) दक्षिण भारत की एक नदी।

पूर्णाघात–संज्ञा पुं० [सं०] ताल (संगीत) में वह स्थान जो अनाघात के उपरांत एक मात्रा के बाद आता है। कभी कभी यह स्थान भी सम का काम देता है।

पूर्णानंद–संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

पूर्णाभिषेक–संज्ञा पुं० [सं०] वाममार्गियों का एक तांत्रिक संस्कार जो किसी नए साधक के गुरु द्वारा दीक्षित होने के समय किया जाता है और जो कई दिनों में पूरा होता है। इसमें अनेक क्रियाओं के उपरांत गुरु अपने शिष्य को दीक्षा देकर वाममार्ग की क्रियाओं और संस्कारों का अधिकारी बनाता है। अभिषेक। महाभिषेक।

पूर्णायु–संज्ञा स्त्री० [सं० पूर्णायुस्] (१) सौ वर्ष की आयु। सौ वर्ष तक पहुँचनेवाला जीवनकाल। (२) पूरी आयु। (३) महाभारत में उल्लिखित एक गंधर्व।

वि० पूरी आयुवाला। जिसने पूरी उम्र पाई हो। सौ वर्ष तक जीनेवाला।

पूर्णावतार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा अवतार जो अंशावतार न हो। किसी देवता का संपूर्ण कलाओं से युक्त अवतार। षोडश कलायुक्त अवतार। (२) विष्णु के वे अवतार जो अंशावतार नहीं थे।

विशेष—ब्रह्मवैवर्तपुराण के मत से विष्णु भगवान के सोलहों कलायुक्त अवतार नृसिंह, राम और श्रीकृष्ण हैं।

पूर्णाशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत में उल्लिखित एक नदी।

पूर्णाहुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी यज्ञ की अंतिम आहुति। वह आहुति जिसे देकर होम समाप्त करते हैं। होम के अंत में दी जानेवाली आहुति। (२) किसी कर्म की समाप्ति या समाप्ति के समय होनेवाली क्रिया।

पूर्णि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा। पूर्णमासी।

पूर्णिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक चिड़िया जिसकी चोंच का दोहरी होना माना जाता है। नासाच्छिन्नी पक्षी।

पूर्णिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णमासी। वह तिथि जिस दिन चंद्रमा अपने पूरे मंडल के साथ उदय होता है।

पर्या०—पौर्णमासी। पित्र्या। चांद्री। पूर्णमासी। अनंता। चंद्रमाता। निरंजना। ज्योत्स्नो। इंदुमती। सिता। अनुमती। राका।

पूर्णेंदु–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा का चंद्रमा। पूर्णचंद्र।

पूर्णोत्कट–संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण में उल्लिखित एक पूर्वदेशीय पर्वत।

पूर्णोत्संग–संज्ञा पुं० [सं०] आंध्रवंश का एक राजा।

पूर्णोदरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी।

पूर्णोपमा–संज्ञा पुं० [सं०] उपमा अलंकार का वह भेद जिसमें उसके चारों अंग अर्थात्—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म प्रकट रूप से प्रस्तुत हों। जैसे, इंद्र सो उदार है

नरेंद्र मारवाड़ को। इसमें 'मारवाड़ को नरेंद्र' उपमेय, 'इंद्र' उपमान, 'सो' वाचक और 'उदार' धर्म चारों प्रस्तुत हैं।

पूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन। (२) खोदने अथवा निर्माण करने का कार्य्य। पुष्करिणी, सभा, वापी, बावली, देवगृह, आराम (बगीचा), सड़क आदि बनाने का काम।

वि० (१) पूरित। (२) ढका हुआ। आच्छादित। छन्न।

पूर्त्तविभाग-संज्ञा पुं० [सं० पूर्त्त + विभाग] वह सरकारी विभाग या मुहकमा जिसका काम सड़क, नहर, पुल, मकान आदि बनवाना है। तामीर का मुहकमा।

पूर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी आरंभ किए हुए कार्य की समाप्ति। (२) पूर्णता। पूरापन। (३) किसी कार्य में अपेक्षित वस्तु की प्रस्तुति। किसी काम में जो वस्तु चाहिए उसकी कमी को पूरा करने की क्रिया। (४) वापी, कूप, या तड़ाग आदि का उत्सर्ग। (५) भरने का भाव। पूरण। (६) गुणा करने का भाव। गुणन।

पूर्त्ती-वि० [सं० पूर्त्तिन्] (१) तृप्ति देनेवाला। (२) इच्छा पूर्ण करनेवाला। (३) पूरित।

संज्ञा पुं० श्राद्ध।

पूर्ब-संज्ञा पुं० दे० "पूर्व"।

वि० दे० "पूर्व"।

पूर्वभक्तिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रातःकाल किया जानेवाला भोजन। जलपान।

पूर्य-वि० [सं०] (१) पूरा करने योग्य अथवा जिसे पूरा करना हो। पूरणीय। (२) पालनीय।

संज्ञा पुं० एक तृणधान्य।

पूर्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दिशा जिस ओर सूर्य निकलता हुआ दिखलाई देता हो। पश्चिम के सामने की दिशा। (२) जैन मतानुसार सात नील, पाँच खरब, साठ अर्ब वर्ष का एक काल विभाग।

वि० [सं०] (१) पहले का। जो पहले हो या रह चुका हो। (२) आगे का। अगला। (३) पुराना। प्राचीन। (४) पिछला। (५) बड़ा।

क्रि० वि० पहले। पेश्तर। जैसे, मैं इसके पूर्व ही पुस्तक दे चुका था।

पूर्वक-संज्ञा पुं० [सं०] पुरखा। बापदादा। पूर्वज।

क्रि० वि० [सं०] साथ। सहित।

विशेष—इस अर्थ में यह शब्द प्रायः संयुक्त संज्ञा के अंत में आता है। जैसे, ध्यानपूर्वक। निश्चयपूर्वक।

पूर्वकर्म-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वकर्म्मन्] सुश्रुत के अनुसार तीन कर्मों में से पहला कर्म्म। रोगोत्पत्ति के पहले किए जानेवाले काम।

विशेष—शेष दो कर्म प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म हैं।

पूर्वकाय-संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का पूर्व भाग। शरीर में नाभि से ऊपर का भाग।

पूर्वकालिक-वि० [सं०] (१) जिसकी उत्पत्ति या जन्म पूर्वकाल में हुआ हो। पूर्वकाल-जात। (२) जिसकी स्थिति पूर्वकाल में रही हो या जो पूर्वकाल में किया गया हो। पूर्वकालीन। पूर्वकाल संबंधी।

पूर्वकालिक क्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अपूर्ण क्रिया जिसका काल किसी दूसरी पूर्ण क्रिया के पहले पड़ता हो। जैसे, ऐसा करके वह गया।

पूर्वकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व दिशा के कर्त्ता सूर्य्य।

पूर्वगंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी।

पूर्वग-वि० [सं०] पूर्वगामी।

पूर्वचित्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की एक अप्सरा का नाम।

पूर्वज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा भाई। अग्रज। (२) ऊपर की पीढ़ियों में उत्पन्न पुरुष। पूर्व पुरुष। पुरखा। बाप, दादा, परदादा आदि। (३) चंद्रलोक में रहनेवाले दिव्य पितृगण।

पर्या०—चंद्रगोलस्थ। न्यस्तशस्त्र। स्वधाभुज। कव्यवालादि।

वि० पूर्वकाल में उत्पन्न।

पूर्वजन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराने समय के लोग। पुराकालीन पुरुष।

पूर्वजन्म-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वजन्मन्] वर्तमान से पहले का जन्म। पिछला जन्म।

पूर्वजन्मा-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा भाई। अग्रज।

पूर्वजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी बहन।

पूर्वजाति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व जन्म। पिछला जन्म।

पूर्वजिन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अतीत जिन या बुद्ध। (२) मंजुश्री का एक नाम।

पूर्वज्ञान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्वजन्म का ज्ञान। पूर्वजन्म में अर्जित ज्ञान जो इस जन्म में भी विद्यमान हो। (२) पहले का ज्ञान। पूर्वार्जित ज्ञान।

पूर्वदक्षिणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना।

पूर्वदिग्वदन-संज्ञा पुं० [सं०] मेष, सिंह और धनु ये तीनों राशियाँ।

पूर्वदिगीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) मेष, सिंह और धनु ये तीनों राशियाँ।

पूर्वदिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वह सुख दुःख आदि जो पूर्व जन्म के कर्म्मों के परिणाम स्वरूप भोगने पड़ें।

पूर्वदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नर और नारायण। (२) असुर, जो पहले सुर थे, पीछे अपने दुष्कर्म्मों के कारण भ्रष्ट हो गए थे।

पूर्वनड़क–संज्ञा पुं० [सं०] टाँग की एक हड्डी का नाम ।

पूर्वनिरूपण–संज्ञा पुं० [सं०] भाग्य । किस्मत ।

पूर्वन्याय–संज्ञा पुं० [सं०] किसी अभियोग में प्रत्यर्थी का यह कहना कि ऐसे अभियोग में मैं वादी को पराजित कर चुका हूँ । यह उत्तर का एक प्रकार है ।

पूर्वपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी शास्त्रीय विषय के संबंध में उठाई हुई बात, प्रश्न या शंका । शास्त्र-विचार के लिये किया हुआ प्रश्न या शंका । (उत्तर में जो बात कही जाती है उसे उत्तरपक्ष कहते हैं) । (२) कृष्ण पक्ष । (३) व्यवहार या अभियोग में वादी द्वारा उपस्थित बात । मुद्दई का दावा ।

पूर्वपक्षी–संज्ञा पुं० [सं० पूर्वपक्षिन्] (१) वह जो पूर्वपक्ष उपस्थित करे । (२) वह जो किसी प्रकार का दावा दायर करे ।

पूर्वपर्वत–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह कल्पित पर्वत जिसके पीछे से सूर्य्य का उदय होना माना जाता है । उदयाचल ।

पूर्वपाली–संज्ञा पुं० [सं० पूर्वपालिन्] इंद्र ।

पूर्वपितामह–संज्ञा पुं० [सं०] प्रपितामह । परदादा ।

पूर्वफाल्गुनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में ग्यारहवाँ नक्षत्र । दे० "नक्षत्र" ।

पूर्वभाद्रपद–संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों में २५ वाँ नक्षत्र । दे० "नक्षत्र" ।

पूर्वमीमांसा–संज्ञा पुं० [सं०] हिंदुओं का एक दर्शन जिसमें कर्मकांड संबंधी बातों का निर्णय किया गया है । इस शास्त्र के कर्त्ता जैमिनि मुनि माने जाते हैं । विशेष—दे० "मीमांसा" ।

पूर्वयक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार एक जिनदेव जो मणिभद्र और जलेंद्र भी कहलाते हैं ।

पूर्वरंग–संज्ञा पुं० [सं०] वह संगीत या स्तुति आदि जो नाटक आरंभ होने से पहले विघ्नों की शांति के लिये या दर्शकों को सावधान करने के लिये नट लोग करते हैं ।

पूर्वराग–संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में नायक अथवा नायिका की एक अवस्था जो दोनों के संयोग होने से पहले प्रेम के कारण होती है । प्रथमानुराग । पूर्वानुराग ।

विशेष—कुछ लोगों का मत है कि पूर्वराग केवल नायिकाओं में ही होता है । नायक को देखने पर या किसी के मुँह से उसके रूप-गुण आदि की प्रशंसा सुनने पर नायिका के मन में जो प्रेम उत्पन्न होता है वही पूर्वराग कहलाता है । जैसे, हंस के मुँह से नल की प्रशंसा सुनकर दमयंती में अनुराग का उत्पन्न होना । इसमें नायक से मिलने की अभिलाषा, उसके संबंध में चिंता, उसका स्मरण, सखियों से उसकी चर्चा, उससे मिलने के लिये उद्विग्नता, प्रलाप, उन्मत्तता, रोग, मूर्छा और मृत्यु ये दस बातें होती हैं । पूर्वराग उसी समय तक रहता है जब तक नायक नायिका का मिलन न हो । मिलन के उपरांत उसे प्रेम या प्रीति कहते हैं ।

पूर्वरूप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहले का रूप । वह आकार या रंग ढंग जिसमें कोई वस्तु पहले रही हो । जैसे, इस पुस्तक का पूर्वरूप ऐसा ही था । (२) किसी वस्तु का वह चिह्न या लक्षण जो उस वस्तु के उपस्थित होने के पहले ही प्रकट हो । आगमसूचक लक्षण । आसार । जैसे, (क) बादलों का घिरना वर्षा का पूर्वरूप है । (ख) आँखों का जलना और अंग टूटना ज्वर का पूर्वरूप है ।

पूर्ववत्–क्रि० वि० [सं०] पहले की तरह । जैसा पहले था वैसा ही । जैसे, आज सौ वर्ष बीत जाने पर भी यह नगर पूर्ववत् है ।

संज्ञा पुं० किसी कार्य्य का वह अनुमान जो उसके कारण को देखकर उसके होने से पहले ही किया जाय । जैसे, बादलों को देखकर यह अनुमान करना कि पानी बरसेगा ।

पूर्ववर्ती–वि० [सं० पूर्ववर्त्तिन्] पहले का । जो पहले हो या रह चुका हो । जैसे, (क) इस देश के अँगरेजों के पूर्ववर्ती शासक मुसलमान थे । (ख) यहाँ के पूर्ववर्ती अध्यापक ब्राह्मण थे ।

पूर्ववाद–संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार शास्त्र के अनुसार वह अभियोग जो कोई व्यक्ति न्यायालय आदि में उपस्थित करे । पहला दावा । नालिश ।

पूर्ववादी–संज्ञा पुं० [सं० पूर्ववादिन्] वह जो न्यायालय आदि में पूर्ववाद या अभियोग उपस्थित करे । वादी । मुद्दई ।

पूर्वविद्–वि० [सं०] पुरानी बातों को जाननेवाला । इतिहास आदि का ज्ञाता ।

पूर्ववृत्त–संज्ञा पुं० [सं०] इतिहास ।

पूर्वशैल–संज्ञा पुं० [सं०] उदयाचल ।

पूर्वसंध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रातःकाल ।

पूर्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्व दिशा । पूरब । (२) दे० "पूर्वाफाल्गुनी" ।

पूर्वानुराग–संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रेम जो किसी के गुण सुनकर अथवा उसका चित्र या रूप देखकर उत्पन्न होता है । अनुराग या प्रेम का आरंभ । (साहित्य में पूर्वानुराग उस समय तक माना जाता है जब तक प्रेमी और प्रेमिका का मिलन न हो । मिलने के उपरांत उसे प्रेम या प्रीति कहते हैं ।)

पूर्वाह–संज्ञा पुं० दे० "पूर्वाह्न" ।

पूर्वापर–क्रि० वि० [सं०] आगे-पीछे ।

वि० आगे का और पीछे का । अगला और पिछला ।

संज्ञा पुं० पूर्व और पश्चिम ।

पूर्वापर्य-संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वापर का भाव।

पूर्वाफाल्गुनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में ग्यारहवाँ नक्षत्र। इसका आकार पलँग की तरह माना जाता है और इसमें दो तारे हैं। इसके अधिष्ठाता देवता यम कहे गए हैं और इसका मुँह नीचे की ओर माना जाता है। दे० "नक्षत्र"।

पूर्वाभाद्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों में पचीसवाँ नक्षत्र। इसका आकार घंटे के समान माना गया है और इसमें दो नक्षत्र हैं। दे० "नक्षत्र"।

पूर्वाभाद्रपदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में पचीसवाँ नक्षत्र। दे० "नक्षत्र"।

पूर्वाभिषेक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र।

पूर्वाराम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बौद्धसंघ या मठ।

पूर्वार्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] किसी पुस्तक का पहला आधा भाग। शुरू का आधा हिस्सा।

पूर्वार्द्ध्य-वि० [सं०] जो पूर्वार्द्ध से उत्पन्न हुआ हो।

पूर्वावेदक-संज्ञा पुं० [सं०] जो अभियोग उपस्थित करे। वादी। मुद्दई।

पूर्वाषाढ़-संज्ञा पुं० दे० "पूर्वाषाढ़ा"।

पूर्वाषाढ़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रों में बीसवाँ नक्षत्र। इसमें चार तारे हैं और इसका आकार सूप का सा और अधिष्ठाता देवता जल माना जाता है।

पूर्वाह्न-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का पहला आधा भाग। सबेरे से दुपहर तक का समय।

पूर्वाह्नक-वि० [सं०] पूर्वाह्न संबंधी। पूर्वाह्न का।
संज्ञा पुं० दे० "पूर्वाह्न"।

पूर्वाह्निक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कृत्य जो दिन के पहले भाग में किया जाता हो। जैसे, स्नान, संध्या, पूजा आदि।

पूर्वी-वि० [सं० पूर्वीय] पूर्व दिशा से संबंध रखनेवाला। पूरब का।
संज्ञा पुं० (१) पूरब में होनेवाला एक प्रकार का चावल। (२) एक प्रकार का दादरा जो बिहार प्रांत में गाया जाता है और जिसकी भाषा बिहारी होती है। (३) संपूर्ण जाति का एक राग जिसके गाने का समय संध्या है। कुछ लोगों के मत से यह श्री राग की रागिनी है और कुछ लोग इसे भैरवी और गौरी अथवा देवगिरि, गौंड़ और गौरी से मिलकर बनी हुई संकर रागिनी भी मानते हैं और इसके गाने का समय दिन में २५ दंड से २८ दंड तक बताते हैं।

पूर्वीघाट-संज्ञा पुं० [हिं० पूर्वी + घाट] दक्षिण भारत के पूर्वी किनारे पर का पहाड़ों का सिलसिला जो बालासोर से कन्याकुमारी तक चला गया है और वहाँ पश्चिमी घाट के अंतिम अंश से मिल गया है। इसकी औसत उँचाई लगभग १५०० फुट है।

पूर्वेद्युः-संज्ञा पुं० [सं० पूर्वेद्युस्] (१) वह श्राद्ध जो अगहन, पूस, माघ और फागुन के कृष्णपक्ष की सप्तमी तिथि को किया जाता है। (२) प्रातःकाल। सबेरा।

पूर्वोक्त-वि० [सं०] पहले कहा हुआ। जिसका जिक्र पहले आ चुका हो।

पूर्वोत्तरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा। ईशान कोण।

पूलक-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज आदि का बँधा हुआ मुट्ठा। पूला।

पूला-संज्ञा पुं० [सं० पूलक] [स्त्री० अल्प० पूली] मूँज आदि का बँधा हुआ मुट्ठा। पूलक।

पूलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पूआ (पकवान)।

पूलिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] मलाबार प्रदेश में रहनेवाली एक नीच मुसलमान जाति।

पूली-संज्ञा स्त्री० [हिं० पूला का अल्प०] छोटा पूला।

पूलीची-संज्ञा स्त्री० [देश०] मलाबार प्रदेश की एक असभ्य जंगली जाति।

पूवा†-संज्ञा पुं० दे० "पूआ"।

पूष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहतूत का पेड़ (२) पौष मास।

पूषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहतूत का पेड़ (२) शहतूत का फल।

पूषण्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) पुराणानुसार बारह आदित्यों में से एक। (३) एक वैदिक देवता जिनकी भावना भिन्न भिन्न रूपों में पाई जाती है। कहीं व सूर्य्य के रूप में (लोकलोचन), कहीं पशुओं के पोषक के रूप में, कहीं धनरक्षक के रूप में और कहीं सोम के रूप में पाए जाते हैं।

पूषणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की अनुचरी एक मातृका का नाम।

पूषदंतहर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के अंश से उत्पन्न वीरभद्र का नाम जिसने दक्ष के यज्ञ के समय सूर्य्य का दाँत तोड़ा था।

पूषध्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वैवस्वत मनु के एक पुत्र का नाम।

पूषभाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की नगरी का एक नाम।

पूषमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] गोभिल का एक नाम।

पूषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दाहिने कान की एक नाड़ी का नाम। (२) पृथ्वी।
संज्ञा पुं० [सं० पूषण] सूर्य्य। दे० "पूषण्"।

पूषात्मज-संज्ञा पुं० [सं०] मेघ। बादल।

पूस-संज्ञा पुं० [सं० पौष, पूष] हेमंत ऋतु का दूसरा चांद्रमास जिसकी पूर्णमासी तिथि को 'पुष्य' नक्षत्र पड़ता है।

अगहन के बाद और माघ के पहले का महीना। उ०—घरहिँ जमाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमान।—बिहारी।

पृक्का–संज्ञा स्त्री० [सं०] असवरग नाम का गंध द्रव्य जिसका व्यवहार औषधों में भी होता है।

पृक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संबंध। लगाव। (२) स्पर्श। छूना।

पृत्त–संज्ञा पुं० [सं०] अन्न। अनाज।

पृच्छक–वि० [सं०] (१) पूछनेवाला। प्रश्न करनेवाला। (२) जिज्ञासु। जानने की इच्छा रखनेवाला।

पृच्छना–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूछना। जिज्ञासा करना। (जैन)।

पृच्छा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रश्न। सवाल।

पृच्छ्य–वि० [सं०] जो पूछने योग्य हो।

पृतना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेना का एक विभाग जिसमें २४३ हाथी, २४३ रथ, ७२९ घुड़सवार और १२१५ पैदल सिपाही होते हैं। उ०—धरु धरु मारु मारु सबद अपार फैल्यो इत उत चहैं पर पृतना करैं बिहंड।—गोपाल। (२) सेना। फौज। (३) युद्ध। लड़ाई।

पृतनानी, पृतनापति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृतना नामक सेना का अफसर। (२) सेनापति।

पृतनाषाट्, पृतनासाह्–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

पृतन्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] सेना। फौज।

पृतन्यु–वि० [सं०] जो युद्ध करना चाहता हो। जो लड़ने के लिये तैयार हो।

पृथक्–वि० [सं०] भिन्न। अलग। जुदा।

पृथक्करण–संज्ञा पुं० [सं०] अलग करने का काम।

पृथक्क्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक ही पिता परंतु भिन्न माता से उत्पन्न संतान।

पृथक्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथक् होने का भाव। अलहदगी। अलगाव।

पृथक्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] पृथक् होने का भाव। अलगाव।

पृथक्त्वचा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा लता।

पृथक्पर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन नाम की ओषधि।

पृथगात्मता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विरक्ति। वैराग्य। (२) भेद। अंतर।

पृथग्जन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्ख। बेवकूफ। (२) नीच व्यक्ति। कमीना आदमी। (३) पापी।

पृथग्बीज–संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ।

पृथवी–संज्ञा स्त्री० दे० "पृथ्वी"।

पृथा–संज्ञा पुं० [सं०] कुंतिभोज की कन्या कुंती का दूसरा नाम।

पृथाज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथा या कुंती के पुत्र युधिष्ठिर अर्जुन आदि। (२) अर्जुन का पेड़।

पृथिवी–संज्ञा स्त्री० दे० "पृथ्वी"।

पृथिवीकंप–संज्ञा पुं० दे० "भूकंप"।

पृथिवीक्षित्–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथिवीजय–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

पृथिवीतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

पृथिवीपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋषभ नामक औषध। (२) राजा। (३) यम।

पृथिवीपाल–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथिवीभुज्–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथिवीश–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथिवीशत्रु–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पृथ्वी"।

संज्ञा पुं० [सं०] वेणु के पुत्र राजर्षि पृथु का एक नाम।

पृथु–वि० [सं०] (१) चौड़ा। विस्तृत। (२) बड़ा। महान्। (३) अधिक। अगणित। असंख्य। (४) कुशल। चतुर। प्रवीण।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक हाथ का मान। दो बालिश्त की लंबाई। (२) अग्नि। (३) विष्णु। (४) शिव का एक नाम। (५) एक विश्वेदेवा का नाम। (६) चौथे मन्वंतर के एक सप्तर्षि का नाम। (७) पुराणानुसार एक दानव का नाम। (८) तामस मन्वंतर के एक ऋषि का नाम। (९) इक्ष्वाकु वंश के पाँचवें राजा का नाम जो त्रिशंकु का पिता था। (१०) राजा वेणु के पुत्र का नाम।

विशेष—पुराणों में कहा है कि जब राजा वेणु मरे, तब उनके कोई संतान नहीं थी। इसलिये ब्राह्मण लोग उनके हाथ पकड़कर हिलाने लगे। उस समय उन हाथों में से एक स्त्री और एक पुरुष उत्पन्न हुआ। ब्राह्मणों ने उस पुरुष का नाम "पृथु" रखा और उस स्त्री को उनकी पत्नी बनाया। इसके उपरांत सब ब्राह्मणों ने मिलकर पृथु का राज्याभिषेक किया और उन्हें पृथ्वी का स्वामी बनाया। उस समय पृथ्वी में से अन्न उत्पन्न होना बंद हो गया जिससे सब लोग बहुत दुःखी हुए। उनका दुःख देखकर पृथु ने पृथ्वी पर चलाने के लिये कमान पर तीर चढ़ाया। यह देखकर पृथ्वी गौ का रूप धारण करके भागने लगी और जब भागती भागती थक गई तब फिर पृथु की शरण में आई और कहने लगी कि ब्रह्मा ने पहले मुझ पर जो ओषधियाँ आदि उत्पन्न की थीं, उनका लोग दुरुपयोग करने लगे, इसलिये मैंने उन सबको अपने पेट में रख लिया है। अब आप मुझे दुहकर वे सब ओषधियाँ निकाल लें। इस पर पृथु ने मनु को बछड़ा बनाया और अपने हाथ पर पृथ्वी रूपी गौ से सब ओषधियाँ दुह

लीं। इसके उपरांत पंद्रह ऋषियों ने भी बृहस्पति को बछड़ा बनाकर अपने कानों में वेदमय पवित्र दूध दुहा और तब दैत्यों, दानवों, गंधर्वों, अप्सराओं, पितरों, सिद्धों, विद्याधरों, खेचरों, किन्नरों, मायावियों, यक्षों, राक्षसों, भूतों और पिशाचों आदि ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार सुरा, आसव, सुंदरता, मधुरता, कव्य, अणिमा आदि सिद्धियाँ, खेचरी विद्या, अंतर्धान विद्या, माया, आसव, बिना फन के साँप, बिच्छू आदि अनेक पदार्थ दुहे। इसके उपरांत पृथु ने संतुष्ट होकर पृथ्वी को "दुहिता" कहकर संबोधन किया और तब उसके बहुत से पर्वतों आदि को तोड़कर इसलिये सम कर दिया जिसमें वर्षा का जल एक स्थान पर रुक न जाय, और तब उस पर अनेक नगर और गाँव आदि बसाए। पृथु ने ९९ यज्ञ किए थे। जब वे सौवाँ यज्ञ करने लगे तब इंद्र उनके यज्ञ का घोड़ा लेकर भागा। पृथु ने उनका पीछा किया। इंद्र ने अनेक प्रकार के रूप धारण किए थे, जिनसे जैन, बौद्ध और कापालिक आदि मतों की सृष्टि हुई। पृथु ने इंद्र से अपना घोड़ा छीनकर उसका नाम "विजिताश्व" रखा। पृथु उस समय इंद्र को भस्म करना चाहते थे, पर ब्रह्मा ने आकर दोनों में मेल करा दिया। यज्ञ समाप्त करके पृथु ने सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त किया और तब वे अपनी स्त्री को साथ लेकर तपस्या करने के लिये वन में चले गए। वहीं उन्होंने योग के द्वारा अपने इस भोगशरीर का अंत किया।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काला जीरा। (२) हिंगुपत्री। (३) अफीम।

पृथुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिड़वा। (२) पुराणानुसार चाक्षुष मन्वंतर का एक देवगण। (३) बालक। लड़का। (४) हिंगुपत्री।

पृथुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंगुपत्री।

पृथुकीर्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार पृथा की एक छोटी बहन का नाम।

वि० जिसकी कीर्ति बहुत अधिक हो।

पृथुकोल-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बेर।

पृथुग-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वंतर के देवताओं का एक भेद।

पृथुच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का डाभ। (२) हाथीकंद।

पृथुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथु होने का भाव। (२) विस्तार। फैलाव।

पृथुत्व-संज्ञा पुं० दे० "पृथुता"।

पृथुपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल लहसुन। (२) हाथीकंद।

पृथुपलाशिका-संज्ञा पुं० [सं०] कचूर।

पृथुपाणि-संज्ञा पुं० [सं०] जिसके हाथ बहुत लंबे या घुटनों तक हों। आजानुबाहु।

पृथुभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के एक देवता का नाम।

पृथुल-वि० [सं०] (१) मोटा ताजा। (२) दीर्घाकार। भारी। बड़ा। (३) बहुत। ढेर। अधिक।

पृथुला-संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंगुपत्री।

पृथुलोमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मछली। (२) मीन राशि। (ज्योतिष)।

पृथुशिंब-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोनापाठा। (२) पीली लोध।

पृथुशिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली जोंक।

पृथुशृंगक-संज्ञा पुं० [सं०] मेढ़ा।

पृथुशेखर-संज्ञा पुं [सं०] पहाड़। पर्वत।

पृथुश्रवा-संज्ञा पुं० [सं० पृथुश्रवस्] (१) कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम। (२) पुराणानुसार नवें मनु के एक पुत्र का नाम।

पृथुस्कंध—संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पृथूदक-संज्ञा पुं० [सं०] सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर का एक प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ।

विशेष—पुराणों में कहा है कि राजा पृथु ने अपने पिता वेणु के मरने पर यहीं उनकी अंत्येष्टि क्रिया की थी और बारह दिनों तक अभ्यागतों को जल पिलाया था। इसी से इसका यह नाम पड़ा। आजकल इस स्थान को पोहोआ कहते हैं।

पृथूदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेढ़ा। मेष। (२) जिसका पेट बहुत बड़ा हो। बड़े पेटवाला।

पृथ्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सौर-जगत् का वह ग्रह जिस पर हम सब लोग रहते हैं। वह लोकपपिंड जिस पर हम मनुष्य आदि प्राणी रहते हैं।

विशेष—सौर-जगत् में यह ग्रह दूरी के विचार से सूर्य्य से तीसरा ग्रह है। (सूर्य्य और पृथ्वी के बीच में बुध और शुक्र ये दो ग्रह और हैं।) इसकी परिधि लगभग २५०००मील और व्यास लगभग ८००० मील है। इसका आकार नारंगी के समान गोल है और इसके दोनों सिरे जिन्हें ध्रुव कहते हैं कुछ चिपटे हैं। यह दिन-रात में एक बार अपने अक्ष पर घूमती है और ३६५ दिन ६ घंटे ९ मिनट अर्थात् एक सौर वर्ष में एक बार सूर्य्य की परिक्रमा करती है। सूर्य्य से यह९,३०,००,००० मील की दूरी पर है। जल के मान से इसका घनत्व ५·६ है। इसके अपने अक्ष पर घूमने के कारण दिन और रात होते हैं और सूर्य्य की परिक्रमा करने के कारण ऋतु-परिवर्तन होता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इसका भीतरी भाग भी प्रायः ऊपरी भाग की तरह ही ठोस है। पर अधिकांश लोग यही मानते हैं कि इसके अंदर बहुत अधिक जलता हुआ तरल पदार्थ है जिसके ऊपर यह ठोस पपड़ी उसी प्रकार है जिस प्रकार दूध के ऊपर मलाई

रहती है। इसके अंदर की गरमी बराबर कम होती जाती है जिससे इसके ऊपरी भाग का घनत्व बढ़ता जाता है। इसमें पांच महाद्वीप और पाँच महासमुद्र हैं। प्रत्येक महाद्वीप में अनेक देश और अनेक प्रायद्वीप आदि हैं। समुद्रों में दो बड़े और अनेक छोटे छोटे द्वीप तथा द्वीपपुंज भी हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सारे सौर-जगत् का उपादान पहले सूक्ष्म ज्वलंत नीहारिका के रूप में था। नीहारिका मंडल के अत्यंत वेग से घूमने से उसके कुछ अंश अलग हो होकर मध्यस्थ द्रव्य की परिक्रमा करने लगे। ये ही पृथक् हुए अंश पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हैं जो सूर्य्य (मध्यस्थ द्रव्य) की परिक्रमा कर रहे हैं। ज्वलंत वायुरूप पदार्थ ठंढा होकर तरल ज्वलंत द्रव्य रूप में आया, फिर ज्यों ज्यों और ठंढा होता गया उस पर ठोस पपड़ी जमती गई। उपनिषदों के अनुसार परमात्मा से पहले आकाश की उत्पत्ति हुई; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। मनु के अनुसार महत्तत्व, अहंकार तत्त्व और पंचतन्मात्राओं से इस जगत् की सृष्टि हुई है। प्रायः इसी से मिलता जुलता सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम कई पुराणों आदि में भी पाया जाता है। (विशेष–दे० "सृष्टि")। इसके अतिरिक्त पुराणों में पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं यह कथा है कि पृथ्वी मधुकैटभ के मेद से उत्पन्न हुई जिससे उसका नाम "मेदिनी" पड़ा। कहीं लिखा है कि बहुत दिनों तक जल में रहने के कारण जब विराट् पुरुष के रोम-कूपों में मैल भर गई तब उस मैल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पुराणों में पृथ्वी शेषनाग के फन पर, कछुए की पीठ पर स्थित कही गई है। इसी प्रकार पृथ्वी पर होनेवाले उद्भिदों, पर्वतों और जीवों आदि की उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक कथाएँ पाई जाती हैं। कुछ पुराणों में इस पृथ्वी का आकार तिकोना, कुछ में चौकोर और कुछ में कमल के पत्ते के समान बतलाया गया है। पर ज्योतिष के ग्रंथों में पृथ्वी गोलाकार ही मानी गई है।

पर्या०—अचला। अदिति। अनंता। अवनी। आद्या। इड़ा। इरा। इला। उर्व्वरा। उर्वी। कु। क्ष्मा। क्षामा। क्षिति। क्षोणी। गो। गोत्रा। जगती। ज्या। धरणी। धरती। धरा। धरित्री। धात्री। निश्चला। पारा। भू। भूमि। महि। मही। मेदिनी। रत्नगर्भा। रत्नावती। रसा। वसुंधरा। वसुधा। वसुमती। विपुला। श्यामा। सहा। स्थिरा। सागरमेखला।

(२) पंच भूतों या तत्वों में से एक जिसका प्रधान गुण गंध है, पर जिसमें गौण रूप से शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चारों गुण भी हैं। विशेष–दे० "भूत"। (३) पृथ्वी का वह ऊपरी ठोस भाग जो मिट्टी और पत्थर आदि का है और जिस पर हम सब लोग चलते फिरते हैं। भूमि। जमीन। धरती। (मुहा० के लिये दे० "जमीन")। (४) मिट्टी। (५) सत्रह अक्षरों का एक वर्णवृत्त जिसमें ८, ९ पर यति और अंत में लघु-गुरु होते हैं। (६) हिंगुपत्री। (७) काला जीरा। (८) सोंठ। (९) बड़ी इलायची।

पृथ्वीका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बड़ी इलायची। (२) छोटी इलायची। (३) काला जीरा। (४) हिंगुपत्री।

पृथ्वीकुरवक–संज्ञा पुं० [सं०] सफेद मदार या आक।

पृथ्वीगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

पृथ्वीगृह–संज्ञा पुं० [सं०] गुफा।

पृथ्वीज–संज्ञा पुं० [सं०] साँभर नमक।
वि० जो पृथ्वी से उत्पन्न हुआ हो।

पृथ्वीतल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जमीन की सतह। वह धरातल जिस पर हम लोग चलते फिरते हैं। (२) संसार। दुनिया।

पृथ्वीधर–संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत। पहाड़।

पृथ्वीनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथ्वीपति, पृथ्वीपाल–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृथ्वीपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

पृथ्वीश–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

पृदाकु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) बिच्छू। (३) बाघ। चीता। (४) हाथी। (५) वृक्ष। पेड़।

पृश्नि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुतप नामक राजा की रानी का नाम। (२) चितले रंग की गाय। चितकबरी गाय। (३) पिठवन। (४) रश्मि। किरण।
संज्ञा पुं० (१) अनाज। (२) वेद। (३) पानी। जल। (४) अमृत। (५) एक प्राचीन ऋषि का नाम।
वि० (१) जिसका शरीर दुबला पतला हो। (२) सफेद रंग का। (३) चितकबरा। (४) साधारण। मामूली।

पृश्निका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी।

पृश्निगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पृश्निपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता।

पृश्निभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

पृश्निश्रृंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) गणेश।

पृश्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जलकुंभी।

पृषत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चितला हिरन। चीतल पाढ़ा। (२) राजा द्रुपद के पिता का नाम। (३) एक प्रकार का साँप। (४) रोहित नाम की मछली। (५) बूँद।

पृषताश्व–संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

पृषत्क–संज्ञा पुं० [सं०] बाण।

पृषदश्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। (२) महाभारत के अनुसार एक राजर्षि का नाम। (३) भागवत के अनुसार विरूपाक्ष के पुत्र का नाम।

पृषदाज्य–संज्ञा पुं० [सं०] दही मिला हुआ घी।

पृषद्ध्र–संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार वैवस्वत मनु के एक पुत्र का नाम।

पृषद्वरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेनका की कन्या का नाम।

पृषभाषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र की पुरी। अमरावती का एक नाम।

पृषाकरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तौलने का बाट।

पृषातक–संज्ञा पुं० [सं०] दही मिला हुआ घी।

पृषोदर–संज्ञा पुं० [सं०] वायु। हवा।

वि० जिसका पेट छोटा हो।

पृष्ट–वि० [सं०] पूछा हुआ। जो पूछा गया हो।

संज्ञा पुं० दे० ''पृष्ठ''।

पृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूछने की क्रिया या भाव। (२) पिछला भाग।

पृष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ। (२) किसी वस्तु का वह भाग या तल जो ऊपर की ओर हो। ऊपरी तल। (३) पीछे का भाग। पीछा। (४) पुस्तक के पत्रे का एक ओर का तल। (५) पुस्तक का पत्रा। पन्ना।

पृष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] पिछला भाग। पीठ की ओर का हिस्सा।

पृष्ठगोप–संज्ञा पुं० [सं०] वह सैनिक जो सेना के पिछले भाग की रक्षा के लिये नियुक्त हो।

पृष्ठग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक रोग।

पृष्ठचक्षु–संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठचक्षुस्] (१) केकड़ा। (२) रीछ। भालू।

पृष्ठतःप्रथित–संज्ञा पुं० [सं०] खड्ग चलाने का ढंग। तलवार का एक हाथ।

पृष्ठदृष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] रीछ। भालू।

पृष्ठपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता।

पृष्ठपोषक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ ठोंकनेवाला। (२) सहायक। मददगार।

पृष्ठफल–संज्ञा पुं० [सं०] किसी पिंड के ऊपरी भाग का क्षेत्रफल।

पृष्ठभंग–संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध का एक ढंग जिसमें शत्रु-सेना का पिछला भाग आक्रमण करके नष्ट किया जाता है।

पृष्ठभाग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ। पुश्त। (२) पिछला भाग।

पृष्ठमर्म्म–संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठमर्म्मन्] सुश्रुत के अनुसार पीठ पर के वे चौदह मर्म्मस्थान जिन पर आघात लगने से मनुष्य मर सकता है, अथवा उसका कोई अंग बेकाम हो जाता है। ये सब स्थान गरदन से चूतड़ तक मेरुदंड के दोनों ओर युग्म संख्या में हैं और इन सबके अलग अलग नाम हैं।

पृष्ठमांसाद–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पीठ पीछे किसी की बुराई करता हो। चुगलखोर।

पृष्ठमांसादन–संज्ञा पुं० [सं०] पीठ पीछे किसी की निंदा करना। चुगली।

पृष्ठवंश–संज्ञा पुं० [सं०] रीढ़।

पृष्ठवास्तु–संज्ञा पुं० [सं०] एक मकान के ऊपर बना हुआ, अथवा एक खंड के ऊपर दूसरे खंड पर बना हुआ मकान।

पृष्ठवाह्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह पशु जिसकी पीठ पर बोझ लादा जाता हो।

पृष्ठशृंगी–संज्ञा पुं० [सं० पृष्ठशृंगिन्] (१) भेड़ा। (२) भैंसा। (३) हिजड़ा। पंड। नामर्द। (४) भीमसेन का एक नाम।

पृष्ठास्थि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पीठ की हड्डी। रीढ़।

पृष्ठेरुख–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

पृष्ठोदय–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में मेष, वृष, कर्क, धन, मकर और मीन ये छः राशियाँ जिनके विषय में यह माना जाता है कि ये पीठ की ओर से उदय होती हैं।

पृष्ठ्य–वि० [सं०] पृष्ठ-संबंधी। पीठ का।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा जिसकी पीठ पर बोझ लादा जाता हो।

पृष्ठ्यस्तोम–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का षडाह्निक नामक एक समय-विभाग। षटक्रतु या छः एकाह।

पृष्ठ्यावलंब–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का पाँच दिन का एक समय-विभाग। यज्ञ के कुछ विशिष्ट ५ दिन।

पृष्णिपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन लता।

पें–संज्ञा पुं० [अनु०] पें पें का शब्द, जो रोने, बाजा फूँकने आदि से निकलता है।

पेंग–संज्ञा स्त्री० [हिं० पटेंग। पट=पटड़ा+वेग अथवा प्लवंग] हिंडोले या झूले का झूलते समय एक ओर से दूसरी ओर को जाना।

मुहा०—पेंग मारना = झूले पर झूलते समय उस पर इस प्रकार जोर पहुँचाना जिसमें उसका वेग बढ़ जाय और दोनों ओर वह दूर तक झूले। **पेंग बढ़ाना या चढ़ाना** = दे० ''पेंग मारना''।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी।

पेंगिया मैना–संज्ञा स्त्री० [हिं० पेंग + मैना] एक प्रकार की मैना (पक्षी) जिसे सतभैया भी कहते हैं। दे० ''सतभैया''।

पेंघट, पेंघा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जिसका शरीर मटमैले रंग का, आँखें लाल और चोंच सफेद होती है।

पेंच†–संज्ञा पुं० दे० ''पेच''।

पेंचक–संज्ञा पुं० दे० ''पेचक''।

पेंचकश–संज्ञा पुं० दे० ''पेचकश''।

पेंजनी–संज्ञा स्त्री० दे० ''पैजनी''।

पेंठ–संज्ञा स्त्री० दे० ''पैंठ''।

पेंड़–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सारस पक्षी जिसकी चोंच पीली होती है।

संज्ञा पुं० (१) दे० "पेड़"। (२) दे० "पैड़"।

पेंड़ना–क्रि० स० दे० "बेंडना"।

पेंडुकी†–संज्ञा स्त्री० [सं० पंडुक] (१) पंडुक पक्षी। फाखता। (२)सुनारों का वह औजार जिससे फूँककर वे लोग आग सुलगाते हैं। फुँकनी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पिराक] पिराक या गुझिया नाम का पक्वान। दे० "गुझिया"।

पेंडुली‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पिंडली"।

पेंदर†–संज्ञा पुं० [हिं० पेंदा या पेड़ू] पेड़ू।

पेंदा–संज्ञा पुं० [सं० पिंड] [स्त्री० अल्प० पेंदी] किसी वस्तु का निचला भाग जिसके आधार पर वह ठहरती या रखी जाती हो। बिल्कुल निचला भाग। तला। जैसे, लोटे का पेंदा। जहाज का पेंदा।

मुहा०—पेंदे के बल बैठना = (१) चूतड़ टेककर बैठना। पलथी मारकर बैठना। (व्यंग्य)। (२) हार मानना। दवना। **पेंदे का हलका** = जिसका विकास न किया जा सके। ओछा।

पेंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पेंदा] (१) किसी वस्तु का निचला भाग। (२) गुदा। गाँड़। (३) तोप या बंदूक की कोठी। (४) गाजर या मूली आदि की जड़।

पेंशन–संज्ञा स्त्री० दे० "पेनूशन"।

पेंशनर–संज्ञा पुं० दे० "पेनूशनर"।

पेंसिल–संज्ञा स्त्री० दे० "पेनूसिल"।

पेउश†–संज्ञा पुं० [सं० पीयूष] पेउसी।

पेउसरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० पीयूष] दे० "पेउसी"।

पेउसी†–संज्ञा स्त्री० [सं० पीयूष] (१) ब्याई हुई गाय या भैंस का पहले दिन का दूध जो बहुत गाढ़ा और कुछ पीले रंग का होता है। यह दूध पीने के योग्य नहीं होता। इसे तेली भी कहते हैं। (२) एक प्रकार का पकवान जो उक्त दूध में सोंठ और शक्कर आदि डालकर पकाया और जमाया जाता है। यह स्वादिष्ट और पुष्टिकर होता है। इंदर।

पेखक॰–संज्ञा पुं० [सं० प्रेक्षक, प्रा० पेक्खक] देखनेवाला। दर्शक। उ०—ब्योम बिमानन बिबुध बिलोकत खेलक पेखक छाहँ छए।—तुलसी।

पेखना॰†–क्रि० स० [सं० प्रेक्षण, प्रा० पेक्खण] देखना। अवलोकन करना। उ०—श्रमकण सहित श्याम तनु देखे। कहँ दुख समउ प्राणपति पेखे।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० प्रेक्षण] वह जो कुछ देखा जाय। दृश्य।

पेच–संज्ञा पुं० [फा०] (१) घुमाव। फिराव। लपेट। फेर। चक्कर। (२) उलझन। झंझट। बखेड़ा। कठिनता। उ०–कागज करम करतूति के उठाय धरे पचि पचि पेच में परे हैं प्रेतनाह अब।—पद्माकर।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

विशेष–उक्त दोनों अर्थों में कहीं कहीं लोग इसको स्त्रीलिंग भी बोलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने एक स्थान पर इसका व्यवहार स्त्रीलिंग में ही किया है। यथा—सोचत जनक पोच पेंच परि गई है।

(३) चालाकी। चालबाजी। धूर्तता।

क्रि० प्र०—पड़ना।—चलना।

(४) पगड़ी का फेरा। पगड़ी की लपेट।

क्रि० प्र०—कसना।—बाँधना।—देना।

(५) किसी प्रकार की कल। यंत्र। मशीन। जैसे, रूई का पेच। (६) यंत्र का कोई विशेष अंग जिसके सहारे कोई विशेष कार्य्य होता हो। मशीन का पुरजा। (७) यंत्र का वह विशेष अंग जिसको दबाने, घुमाने या हिलाने आदि से वह यंत्र अथवा उसका कोई अंश चलता या रुकता हो।

क्रि० प्र०—घुमाना।—चलाना।—दबाना।

मुहा०—पेच घुमाना = ऐसी युक्ति करना जिससे किसी के विचार या कार्य्य आदि का रुख बदल जाय। तरकीब से किसी का मन फेरना। **पेच हाथ में होना** = किसी के विचारों को परिवर्त्तन करने की शक्ति होना। प्रवृत्ति आदि बदलने का सामर्थ्य होना।

(८) वह कील या काँटा जिसके नुकीले आधे भाग पर चक्करदार गड़ारियाँ बनी होती हैं और जो ठोंककर नहीं बल्कि घुमाकर जड़ा जाता है। स्क्रू।

क्रि० प्र०—कसना।—खोलना।—जड़ना।—निकालना।

(९) पतंग लड़ने के समय दो या अधिक पतंगों के डोर का एक दूसरे में फँस जाना।

क्रि० प्र०—डालना।

मुहा०—पेच काटना = दूसेर की गुड्डी या पतंग की डोर में अपनी डोर फँसाकर उसकी डोर काटना। गुड्डी या पतंग काटना। **पेच लड़ाना** = दूसेर की पतंग काटने के लिये उसकी डोर में अपनी डोर फँसाना; **पेच छुटाना** = दो पतंगों की फँसी हुई डोर का अलग अलग हो जाना।

(१०) कुश्ती में वह विशेष क्रिया या घात जिससे प्रतिद्वंद्वी पछाड़ा जाय। कुश्ती में दूसरे को पछाड़ने की युक्ति। उ०–इक एक पुहुमि पछार देत उछारि पुनि उठि धाय। रह सावधान बखान करि पुनि गँसन पेंच लगाय।—रघुराज।

क्रि० प्र०—चलना।—मारना।—लगाना।

(११) युक्ति। तरकीब।

क्रि० प्र०—निकालना।

(१२) तले के किसी परन या ताल के बोल में से

कोई एक टुकड़ा निकालकर उसके स्थान पर ठीक उतना ही बड़ा दूसरा कोई टुकड़ा लगा देना।

क्रि० प्र०—लगाना।

(१३) एक प्रकार का आभूषण जो टोपी या पगड़ी में सामने की ओर खोंसा या लगाया जाता है। सिरपेच। (१४) सिरपेच की तरह का एक प्रकार का आभूषण जो कानों में पहना जाता है। गोशपेच। उ०—गोशपेच कुंडल कलँगी सिरपेंच पेंच पेंचन ते खैंचि बिन बेंचे वारि आयो है।—पद्माकर। (१५) पेचिश। पेट का मरोड़। दे० "पेचिश"।

क्रि० प्र०—उठना।—पड़ना।

(१६) दे० "पेचताब"।

पेचक–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बटे हुए तागे की गोली या गुच्छी। (२) बटा हुआ महीन तागा जिससे कपड़े सीते हैं। संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पेचिका] (१) उल्लू पक्षी। (२) जूँ। (३) बादल। (४) पलंग। चारपाई। (५) हाथी की पूँछ।

पेचकश–संज्ञा पुं० [फा०] (१) बढ़इयों और लोहारों आदि का वह औजार जिससे वे लोग पेच (स्क्रू) जड़ते अथवा निकालते हैं। यह आगे से चपटा और कुछ नुकीला लोहा होता है जिसके पिछले भाग में पकड़ने के लिये दस्ता जड़ा रहता है। (२) लोहे का बना हुआ वह घुमावदार पेच जिसकी सहायता से बोतल का काग निकाला जाता है। इसे पहले घुमाते हुए काग में धँसाते हैं और जब वह कुछ अंदर चला जाता है तब ऊपर की ओर खींचते हैं जिससे काग बोतल के बाहर निकल आता है।

पेचताब–संज्ञा पुं० [फा०] वह क्रोध जो विवशता आदि के कारण प्रकट न किया जाय। वह गुस्सा जो मन ही मन में रह जाय, और निकाला न जा सके।

क्रि० प्र०—खाना।

पेचदार–वि० [फा०] (१) जिसमें कोई पेच लगा हो। जिसमें कोई कल लगी हो। पेचवाला। (२) जिसमें कोई उलझाव हो। उलझाववाला। कठिन। दे० "पेचीला"। संज्ञा पुं० एक प्रकार का कसीदे का काम जिसमें काढ़ते समय फंदे लगाए जाते हैं।

पेचना–क्रि० स० [फा० पेच] दो चीजों के बीच में उसी प्रकार की एक तीसरी चीज इस प्रकार घुसेड़ देना जिससे साधारणतः वह दिखाई न पड़े। इस प्रकार लगाना जिसमें पता न लगे।

पेचनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० पेच] चिकन वा कामदानी के काम में एक सीधी लकीर पर काढ़ा हुआ कसीदा।

पेचवान–संज्ञा पुं० [फा०] (१) बड़ी सटक जो फर्शी या गुड़गुड़ी में लगाई जाती है। (२) बड़ा हुक्का।

पेचा†–संज्ञा पुं० [सं० पेचक] [स्त्री० पेची] उल्लू पक्षी।

पेचिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] उल्लू पक्षी की मादा।

पेचिश–संज्ञा स्त्री० [फा०] पेट की वह पीड़ा जो आँव होने के कारण होती है। मरोड़।

पेचीदगी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पेचीला होने का भाव। घुमावदार होने का भाव। (२) उलझाव।

पेचीदा–वि० [फा०] (१) जिसमें बहुत कुछ पेच हो। पेचदार। (२) जो टेढ़ा-मेढ़ा और कठिन हो। उलझाववदार। मुश्किल।

पेचीला–वि० [हिं० पेच + ईला (प्रत्य०)] (१) जिसमें बहुत पेच हों। घुमाव फिराववाला। (२) जो टेढ़ा-मेढ़ा और कठिन हो। उलझावदार। मुश्किल।

पेचुली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का शाक।

पेज–संज्ञा स्त्री० [सं० पेय] रबड़ी। बसौंधी।

संज्ञा पुं० [अं०] पुस्तक का पृष्ठ। वरक। सफहा। पन्ना।

पेट–संज्ञा पुं० [सं० पेट = थैला] (१) शरीर में थैले के आकार का वह भाग जिसमें पहुँचकर भोजन पचता है। उदर।

विशेष—बहुत ही निम्न कोटि के जीवों में गले के नीचे का प्रायः सारा भाग पेट का ही काम देता है। कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जिनमें किसी प्रकार की पाचन क्रिया होती ही नहीं और इसलिये उनमें पेट भी नहीं होता। पर उच्च कोटि के जीवों के शरीर के प्रायः मध्य भाग में थैले के आकार का एक विशेष अंग होता है जिसमें पाचन रस बनता और भोजन पचता है। मनुष्यों और चौपायों आदि में यह अंग पसलियों के नीचे और जननेंद्रिय से कुछ ऊपर तक रहता है। पाचक रस बनाने और भोजन पचानेवाले सब अंग। जैसे, आमाशय, पक्वाशय, जिगर, तिल्ली, गुरदे आदि इसी के अंतर्गत रहते हैं। इसी के नीचे का भाग कटोरे के आकार का होता है जिसमें आँतें और मूत्राशय रहता है। कुछ जीवों, जैसे पक्षियों आदि में एक के बदले दो पेट होते हैं।

मुहा०—**पेट आना** = दस्त आना। (क्व०)। **पेट का कुत्ता** = जो केवल भोजन के लालच से सब काम करता हो। केवल पेट के लिये सब कुछ करनेवाला। **पेट काटना** = बचाने के लिये कम खाना। जान बूझकर कम खाना जिसमें कुछ बचत हो जाय। **पेट का धंधा** = (१) भोजन बनाने का प्रबंध। रसोई पकाने की झंझट। (२) रोजी रोजगार ढूँढ़ने का प्रबंध। जीविका का उपाय। (३) हलका कामकाज। मिहनत मजदूरी। **पेट का पानी न पचना** = रहा न जाना। रह न सकना। जैसे, **बिना सब हाल कहे तुम्हारे पेट का पानी न पचेगा।** **पेट का पानी न हिलना** = कुछ परिश्रम न पड़ना। जरा भी मिहनत या तकलीफ न होना। **पेट का हलका** = क्षुद्र प्रकृति का। ओछे स्वभाव का। जिसमें गंभीरता न हो। **पेट की आग** = भूख। उ०—आगि बड़वागि

तें बड़ी है आगि पेट की।—तुलसी। **पेट की आग बुझाना** = पेट में भोजन पहुँचाना। भूख दूर करना। **पेट की बात** = गुप्त भेद। भेद की बात। **पेट की मार देना या मारना** = भूखा रखना। भोजन न देना। **पेट के लिये दौड़ना** = रोजी वा जीविका के लिये उद्योग और परिश्रम करना। **पेट को धोखा देना** = दे० "पेट काटना"। † **पेट खलाना** = (१) अत्यंत दीनता दिखलाना। उ०—**राम सुभाव सुने तुलसी प्रभु सों कही बारक पेट खलाई।** (२) भूखे होने का संकेत करना। **पेट को लगना** = भूख लगना। **पेट गड़ना** = अपच के कारण पेट में दर्द होना। **पेट गुड़गुड़ाना** = बादी के कारण आँतों में गुड़गुड़ शब्द होना। पेट में वायु का विकार होना। **पेट चलना** = दस्त होना। बार बार पाखाना होना। **पेट छूँटना** = (१) पेट का साफ हो जाना। पेट का मल निकल जाना। (२) पेट की मोटाई का कम होना। दुबला हो जाना। **पेट छूटना** = दस्त होना। **पेट जलना** = (१) अत्यंत भूख लगना। (२) अत्यंत असंतुष्ट वा क्रुद्ध होना। **पेट जारी होना** = दस्त लगना। दस्तों की बीमारी हो जाना। **पेट दिखाना** = (१) भूखे होने का संकेत करना। (२) पेट के रोग की पहचान कराना। पेट के रोग का निदान कराना। †**पेट देना** = अपना गूढ़ भेद वा विचार किसी को बतलाना। अपने मन की बात बतलाना। उ०—**अपनो पेट दियो तैं उनको नाकबुद्धि तिय सबै कहैं री।**—सूर। **पेट पकड़ना या पकड़े फिरना** = परेशान होना। बहुत दुःखी या तंग होना। व्याकुल होना। **पेट पाटना** = जो कुछ मिल जाय उसी से पेट भर लेना। भूख के मारे खाद्य या अखाद्य का विचार छोड़कर खा लेना। **पेट पानी होना** = पतले दस्त आना। **पेट पालना** = कठिनता से खाने भर को कमा लेना। जीवन निर्वाह करना। **पेट पीठ एक हो जाना या पेट पीठ से लग जाना** = (१) बहुत दुबला हो जाना (२) बहुत भूखे होना। **पेट फूलना** = (१) किसी बात को जानने या कहने के लिये अथवा किसी पदार्थ को पाने आदि के लिये व्याकुल होना। किसी बात के लिये बहुत अधिक उत्सुक होना। (२) बहुत अधिक हँसने के कारण पेट में हवा भर जाना (जिसके कारण और अधिक हँसा न जा सके।)। (३) पेट में वायु का प्रकोप होना। **पेट मारना** = (१) दे० "पेट काटना"। (२) आत्मघात करना। आत्महत्या करना। **पेट मारकर मर जाना**=आत्मघात करना। उ०—**पेटी ना दिखाओ कोऊ पेट मारि मरिहै।** **पेट में आंत न मुँह में दांत** = वह जो बहुत बुड्ढा हो। अत्यंत वृद्ध। **पेट में खलबली पड़ना** = (१) चिंता होना। फिक्र होना। (२) व्याकुलता होना। घबराहट होना। **पेट में चूहों का कलाबाजी खेलना** = दे० "पेट में चूहे दौड़ना"। **पेट में चींटे की गिरह होना** = बहुत कम खाना। थोड़ा भोजन करना। **पेट में डाढ़ी होना** = बचपन ही में बहुत बुद्धिमान् होना। **पेट में डालना** = खा जाना। **पेट में पाँव होना** = अत्यंत छली वा कपटी होना। चालबाज होना। **पेट में बल पड़ना** = इतनी हँसी आना कि पेट में दर्द सा होने लगे। **(कोई वस्तु) पेट में होना**=अधिकार या चंगुल में होना। गुप्त रूप से पास में होना। **जैसे, तुम्हारी पुस्तक इन्हीं लोगों के पेट में है।** **पेट मोटा हो जाना** = बहुत घूसखोर हो जाना। अधिक रिश्वत लेने लगना। **पेट लगना या लग जाना** = भूख से पेट का अंदर धँस जाना। **पेट से पाँव निकालना** = (१) किसी अच्छे आदमी का बुरा काम करने लग जाना। कुमार्ग में लगना। (२) बहुत इतराना। **(कोई वस्तु) पेट से निकालना** = किसी के द्वारा उड़ाई या छिपाकर रखी हुई वस्तु को प्राप्त करना। हजम की हुई चीज पाना।

(२) गर्भ। हमल।

यौ०—पेट पोंछना=अंतिम संतान। वह संतान जिसके उपरांत और कोई संतान न हो।

मुहा०—पेट गदराना=गर्भ के लक्षण प्रकट होना। गर्भवती होने के चिह्न दिखाई देना। **पेट गिरना**=गर्भ गिरना। गर्भपात होना। **पेट गिराना**=गर्भ नष्ट करना। गर्भपात करना। **पेट गिरवाना**=गर्भपात कराना। **पेटचोट्टी**=वह स्त्री जिसको गर्भ हो, परंतु लक्षित न होता हो। गर्भवती होने पर भी जिसके गर्भ के लक्षण दिखाई न पड़े। **पेट छूँटना**=प्रसूता के गर्भाशय का अच्छी तरह साफ हो जाना। **पेट ठंढा रहना**=बच्चों का सुख देखना। संतान का जीवित रहना। **पेट दिखाना**=दाई से यह निश्चित कराना कि गर्भ है या नहीं। गर्भ होने या न होने की परीक्षा कराना। **पेट फुलाना वा फुला देना**=गर्भवती कर देना। **पेट फूलना** = गर्भ रह जाना। **पेट रखना** = गर्भवती कर देना। **पेट रखाना**=किसी से संभोग कराके गर्भवती होना। **पेट रखवाना**=(१) गर्भवती होना। (२) गर्भवती होने की प्रेरणा करना। **पेट रहना**=गर्भ स्थित होना। गर्भ रहना। हमल रहना। **पेटवाली**=गर्भवती। **पेट से होना**=गर्भवती होना।

(३) पेट के अंदर की वह थैली जिसमें खाद्य पदार्थ रहता और पचता है। पचौनी। ओझर। (४) चक्की के पाटों का वह तल जो दोनों को जोड़ने से भीतर पड़े। (५) सिल आदि का वह भाग जो कूटा हुआ और खुरदुरा रहता है और जिस पर रखकर कोई चीज पीसी जाती है। (६) अंतःकरण। मन। दिल। उ०—**चेटकी चवाइन के पेट की न पाई मैं।**—ठाकुर।

मुहा०—पेट में चूहे दौड़ना = (१) बहुत भूख लगना। (२) व्याकुल या चिंतित होना। व्यग्रता या खलबली होना। **पेट में घुसना** = भेद लेने के लिये मित्र बनना। रहस्य जानने के लिये मेल बढ़ाना। **पेट में डालना** = कोई बात अपने मन में रखना। भेद प्रकट न होने देना। **पेट में बैठना या पैठना** = दे० "पेट में घुसना"। **पेट में होना** = मन में होना। ज्ञान में होना। **जैसे, कोई बात पेट में होना।**

(७) पोली वस्तु के बीच का या भीतरी भाग। किसी पदार्थ के अंदर का वह स्थान जिसमें कोई चीज भरी जा सके। जैसे, बड़े पेट की बोतल। (८) बंदूक या तोप में का वह स्थान जहाँ गोली या गोला भरा जाता है। (९) गुंजाइश। समाई। (१०) रोजी। जीविका। जैसे, पेट के लिये सभी को कुछ न कुछ काम करना पड़ता है।

पेटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पिटारा। मंजूषा। उ०—रघुवीर यश मुकुता विपुल सब भुवन पट्ट पेटक भरे।—तुलसी। (२) समूह। ढेर।

पेटकैयाँ‡-क्रि० वि० [हिं० पेट+कैयाँ (प्रत्य०)] पेट के बल।

पेटपोसुया‡-संज्ञा पुं० दे० "पेटू"।

पेटरिया‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पिटारी"।

पेटल-वि० [हिं० पेट+ल (प्रत्य०)] बड़े पेटवाला। जिसका पेट बड़ा हो। तोंदल।

पेटा-संज्ञा पुं० [हिं० पेट] (१) किसी पदार्थ का मध्य भाग। बीच का हिस्सा। (२) तफसील। ब्योरा। पूरा विवरण। (३) बड़ा टोकरा। (४) सीमा। हद। (५) घेरा। वृत्त। (६) नदी के बहने का मार्ग। (७) नदी का पाट। (८) पशुओं की अँतड़ी। (९) पतंग या गुड्डी की डोर का झोल। उड़ती हुई गुड्डी की डोर का वह अंश जो बीच में कुछ ढीला होकर लटक जाता है।

मुहा०—पेटा तोड़ना=उड़ती हुई गुड्डी की बीच में लटकती या झूमती हुई डोर तोड़ना। **पेटा छोड़ना**=उड़ती हुई गुड्डी की डोर का बीच में से लटक या झूल जाना।

पेटागि*-संज्ञा स्त्री० [सं० पेट+अग्नि] भूख। उ०—जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागिवश, खाए टूक सबके विदित बात दुनी सों।—तुलसी।

पेटार*†-संज्ञा पुं० [सं० पेटक] पिटारा। उ०—तिल चारो पानिप सलिल अलक फंद पल जार। मन पच्छी गहि कै किते डारे श्रवण पेटार।—मुबारक।

पेटारा-संज्ञा पुं० दे० "पिटारा"। उ०—कनक किरीट कोटि पलँग पेटारे पीठ, काढ़त कहार सब जरे भरे भारहीं।—तुलसी।

पेटारी-संज्ञा स्त्री० दे० "पिटारी।" उ०—(क) नाम मंथरा मंदमति चेरि केकई केरि। अजसपिटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि।—तुलसी। (ख) बिसहर नाचहिँ पीठ हमारी। औ घर मूँदहि घालि पेटारी।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पेटिका] एक प्रकार का वृक्ष। दे० "पिटारी"।

पेटार्थी, पेटार्थू-वि० [सं० पेट+आर्थिन्] जो पेट भरने को ही सब कुछ समझता हो। भुक्खड़। पेटू।

पेटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिटारी नाम का वृक्ष। (२) संदूक। पेटी। (३) छोटी पिटारी।

पेटी-संज्ञा स्त्री० [सं० पेटिका] (१) संदूकची। छोटा संदूक। (२) छाती और पेड़ू के बीच का स्थान। पेट का वह भाग जहाँ त्रिबली पड़ती है। उ०—पेटी सुछबि लपेटी भलथल पाइ। पकरसि काम बनेठी राखु छिपाइ।—रहीम।

मुहा०—पेटी पड़ना=तोंद निकलना।

(३) कमर में बाँधने का चौड़ा तसमा। कमरबंद। (४) चपरास।

मुहा०—पेटी उतरना=पुलिस के सिपाही का मुअत्तल वा बरखास्त किया जाना।

(५) हज्जामों की किसबत जिसमें वे कैंची, छुरा आदि रखते हैं। (६) वह डोरा जो बुलबुल की कमर में उसे हाथ पर बैठाने के लिये बाँधते हैं।

क्रि० प्र०—बाँधना।

पेटू-वि० [हिं० पेट] जिसे सदा पेट भरने की ही फिक्र रहे। जो बहुत अधिक खाता हो। भुक्खड़।

पेटेंट-वि० [अं०] (१) किसी आविष्कारक के आविष्कार के संबंध में सरकार द्वारा की हुई रजिस्टरी जिसकी सहायता से वह आविष्कारक ही अपने आविष्कार से आर्थिक लाभ उठा सकता है। दूसरे किसी को उसकी नकल करके आर्थिक लाभ उठाने का अधिकार नहीं रह जाता। यह रजिस्टरी नए प्रकार की मशीनों, यंत्रों, युक्तियों या औषधों आदि के संबंध में होती है। ऐसी रजिस्टरी के उपरांत उस आविष्कार पर एक मात्र आविष्कारक का ही अधिकार रह जाता है। (२) (वह आविष्कार वा पदार्थ आदि) जिसकी इस प्रकार रजिस्टरी हो चुकी हो।

पेठ-संज्ञा पुं० दे० "पैठ"।

पेठा-संज्ञा पुं० [देश०] सफेद रंग का कुम्हड़ा। विशेष—दे० "कुम्हड़ा"।

पेड-वि० [अं०] (१) जो चुका दिया गया हो। जो चुकता कर दिया गया हो। (२) जिसका महसूल, कर या भाड़ा आदि दे दिया गया हो। "बैरिंग" या "वैरंग" का उलटा।

पेड़-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) वृक्ष। दरख्त। विशेष-दे० "वृक्ष"।

मुहा०—पेड़ लगना=वृक्ष का किसी स्थान पर जड़ पकड़ना। पौधे आदि का जमना। **पेड़ लगाना**=वृक्ष या पौधे आदि को किसी स्थान पर जमाना।

(२) आदि कारण। मूल कारण। (क्व०)

पेड़ना‡-क्रि० स० दे० "पेरना"।

पेड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] (१) खोवा और खाँड़ से बनी हुई एक प्रसिद्ध मिठाई जिसका आकार गोल और चिपटा होता है। (२) गुँधे हुए आटे की लोई।

पेड़ार†-संज्ञा पुं० [सं० पिंड] एक प्रकार का वृक्ष।

पेड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड] (१) वृक्ष की पींड़। पेड़ का तना। धड़। कांड। (२) मनुष्य का धड़। शरीर का ऊपरी भाग। (३) पान का पुराना पौधा। जैसे, पेड़ी का पान। (४) पुराने पौधे के पान। वह पान जो पुराना तोड़ा हुआ तो न हो, पर पुराने पौधों में बाद में हुआ हो। (५) वह कर जो प्रति वृक्ष पर लगाया जाय। (६) वह खेत जिसमें पहले ऊख बोया गया हो और जो फिर जौ या गेहूँ बोने के लिये जोता जाय। (७) एक बार का काटा हुआ नील का पौधा। (८) दे० "पैड़ी"।

पेड़ू–संज्ञा पुं० [हिं० पेट] (१) नाभि और मूत्रेंद्रिय के बीच का स्थान। उपस्थ। (२) गर्भाशय।

मुहा०—पेड़ू की आँच = (१) पुरुष के साथ स्त्री का वह प्रेम जो केवल काम-वासना के कारण हो। (२) स्त्री की काम-वासना।

पेदड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० "पिद्दी"।

पेदर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत बड़ा जंगली पेड़ जिसके पत्ते हर साल झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी भीतर से सफेद और बहुत मजबूत होती है। यह मेज, कुरसियाँ, अलमारियाँ और नावें बनाने तथा इमारत के काम में आती है। इसकी जड़, पत्ते और फूल औषधि रूप में भी काम आते हैं। यह मदरास और बंगाल में अधिकता से होता है।

पेन–संज्ञा पुं० [देश०] लसोड़े की जाति का एक वृक्ष जो गढ़वाल में होता है। इसकी लकड़ी मजबूत होती है। इसे "कूम" भी कहते हैं।

पेनी–संज्ञा स्त्री० [अं०] इँगलैंड में चलनेवाला ताँबे का सिक्का जो एक शिलिंग का बारहवाँ भाग होता है। यह भारत के प्रायः तीन पैसों के बराबर मूल्य का होता है।

पेनीवेट–संज्ञा पुं० [अं०] एक अँगरेजी तौल जो लगभग १० रत्ती के बराबर होती है।

पेन्शन–संज्ञा स्त्री० [अं०] वह मासिक या वार्षिक वृत्ति जो किसी व्यक्ति अथवा उसके परिवार के लोगों को उसकी पिछली सेवाओं के कारण दी जाय।

विशेष—जो लोग कुछ निश्चित समय तक किसी राजकीय (जैसे, शासन, सेना आदि) विभाग में काम कर चुकते हैं, उन्हें वृद्धावस्था में, नौकरी से अलग होने पर, कुछ वृत्ति दी जाती है जो उनके वेतन के आधे के लगभग होती है। सेना-विभाग के कर्मचारियों के मारे जाने पर उनके परिवार-वालों को; अथवा किसी राज्य को जीत लेने पर उस राजकुल के लोगों और उनके वंशजों को भी इसी प्रकार कुछ वृत्ति दी जाती है। इसी प्रकार की वृत्तियाँ "पेन्शन" कहलाती हैं।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।—लेना।

पेन्शनर–संज्ञा पुं० [अं०] वह जिसे पेन्शन मिलती हो। पेन्शन पानेवाला व्यक्ति।

पेन्सिल–संज्ञा स्त्री० [अं०] लिखने का एक प्रसिद्ध साधन जिससे बिना दावात या स्याही के ही लिखा जाता है। यह प्रायः सुरमे, सीसे, रंगीन खड़िया या इसी प्रकार की और किसी सामग्री की बनी हुई पतली लंबी सलाई होती है जो या तो कलम के आकार की गोल लंबी लकड़ी के अंदर लगी हुई होती है और या किसी धातु के खाने में अटकाई हुई होती है।

पेन्हाना†–क्रि० स० दे० "पहनाना"।

क्रि० अ० [सं० पयःस्रवन, प्रा० पह्णवन] दुहते समय गाय, भैंस आदि के थन में दूध उतरना जिससे थन फूले या भरे जान पड़ते हैं। उ०—तेइ तृण हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाय पेन्हाई।—तुलसी।

पेपर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कागज। (२) दस्तावेज, तमस्सुक, सनद या और कोई लेख जो कागज पर लिखा हो। (३) समाचारपत्र। संवादपत्र। अखबार।

पेपरमिंट–संज्ञा पुं० दे० "पिपरमिंट"।

पेम*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रेम"। उ०–राम सुपेमहिँ पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी।—तुलसी।

पेमचा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

पेय–वि० [सं०] पीने योग्य। जिसे पी सकें।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीने की वस्तु। वह चीज जो पीने के काम में आती हो। जैसे, पानी, दूध, शराब आदि। (२) जल। पानी। (३) दूध।

पेया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक में चावलों की बनी हुई एक प्रकार की लपसी जो किसी के मत से ग्यारह गुने, किसी के मत से चौदह गुने और किसी के मत से पंद्रह गुने पानी में पकाकर तैयार की जाती है। यह स्वेद और अग्नि-जनक तथा भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता और कुक्षरोग की नाशक मानी जाती है। (२) माँड़। (३) आदी। अदरक। (४) सोआ नामक साग। (५) सौंफ।

पेयूष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह दूध जो गौ के बच्चा देने के सात दिन बाद तक निकलता है। ऐसा दूध स्वाद में अच्छा नहीं होता और हानिकारक होता है। पेउस। (२) अमृत। (३) ताजा घी।

पेरना–क्रि० स० [सं० पीड़न] (१) दो भारी तथा कड़ी वस्तुओं के बीच में डालकर किसी तीसरी वस्तु को इस प्रकार दबाना कि उसका रस निकल आवे। जैसे, कोल्हू में तेल पेरना। उ०—(क) ज्यौं किसान बेलन में ऊषहिँ। पेरत लेत निचोरि पियूषहिँ।—निश्चल। (ख) भूली शूल कर्म कोल्हुन तिल ज्यौं बहु बारन पेरो।—तुलसी।

(२) कष्ट देना। बहुंत सताना। उ०—जेहि बालि बली बर सो बर पेर्यो।—केशव। (३) किसी काम में बहुत देर लगाना। आवश्यकता से बहुत अधिक विलंब करना। (४) किसी वस्तु को किसी यंत्र में डालकर घुमाना।
क्रि० स० [सं० प्रेरण] (१) प्रेरणा करना। चलाना। उ०—ये किरीट दशकंधर केरे। आवत बालितनय के पेरे।—तुलसी। (२) भेजना। पठाना।

पेरली-संज्ञा स्त्री० [?] तांडव नृत्य का एक भेद। इसमें अंगविक्षेप अधिक होता है और अभिनय कम। इसे "देशी" भी कहते हैं।

पेरवा, पेरवाह†-संज्ञा पुं० [हिं० पेरना] वह जो कोल्हू आदि में कोई चीज पेरता हो। पेरनेवाला।

पेरा†-संज्ञा पुं० [हिं० पीला] एक प्रकार की मिट्टी जिससे दीवार, घर इत्यादि पोतने का काम लिया जाता है। इसका रंग कुछ पीलापन लिए हुए होता है। पोतनी मिट्टी।
संज्ञा पुं० दे० "पेड़ा"।

पेरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पीली] पीले रंग में रँगी हुई धोती जो विवाह में वर वा वधू को पहनाई जाती है। इसे पियरी भी कहते हैं।

पेरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सागर। समुद्र। (२) सूर्य्य। (३) अग्नि। आग। (४) वह जो रक्षा करे। (५) वह जो पूर्त्ति करे। पूरा करनेवाला।

पेलढ़-संज्ञा पुं० दे० 'पेल्हड़"।

पेलना-क्रि० स० [सं० पीड़न] (१) दबाकर भीतर घुसाना। जोर से भीतर ठेलना या धँसाना। दबाना। उ०—विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम, पंक ज्यौं पताल पेलि पठवै कलुष को।—केशव। (२) ढकेलना। धक्का देना। उ०—(क) गिरि पहाड़ पर्वत कहँ पेलहिँ। वृक्ष उचारि झारि मुख मेलहिँ।—जायसी। (ख) स्वामि काज इंद्रासन पेलों।—जायसी। (३) टाल देना। अवज्ञा करना। उ०—(क) जो न कियो परिनै पन पेलि, पषाण परैं पुहुमीपति के पन।—रघुराज। (ख) भोरेहु भरत न पेलिहहिँ, मनसहुँ राम रजाइ। करिय न सोच सनेह बस, कहेउ भूप बिलखाइ।—तुलसी। (ग) जनक-सुता परिहरी अकेली। आयहु तात वचन मम पेली।—तुलसी। (घ) प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ यहाँ समाज सकेली।—तुलसी। (४) त्यागना। हटाना। फेंकना। उ०—राजमराल को बालक पेलि कै पालत लालत खूसर को।—तुलसी। (५) जबरदस्ती करना। बल प्रयोग करना। उ०—कह्यौ युवराज बोलि बानर समाज आज खाहु फल सुनि पेलि पैठे मधुबन में।—तुलसी। (६) प्रविष्ट करना। घुसेड़ना। (७) गुदा-मैथुन करना। (बाजारू)। (८) दे० "पेरना"।
क्रि० स० [सं० प्रेरण] आक्रमण करने के लिये सामने छोड़ना। ढीलना। आगे बढ़ाना। उ०—(क) कुंभस्थल कुच दोउ मयमंता। पेलों सौहँ सँभारहु कंता।—जायसी। (ख) जौं लहि धावहिँ असका खेलहु। हस्तिहिँ केर जूह सब पेलहु।—जायसी। (ग) पीलवान गज पेल सो बाँके। जानहु काल करहिँ जिय झाँके।—जायसी। (घ) (इतनी) बात के सुनते ही गजपाल ने गज पेला, ज्यौं वह बलदेव जी पर टूटा, त्यौं उन्होंने हाथ घुमाय एक थपेड़ा ऐसा मारा........।—लल्लू।

पेलवाना-क्रि० स० [हिं० पेलना का सकर्मक रूप] पेलने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को पेलने में प्रवृत्त करना दे० "पेलना"।

पेला-संज्ञा पुं० [हिं० पेलना] (१) तकरार। झगड़ा। उ०—कहा कहत तुमसों मैं ग्वारिनी।........। लीन्हें फिरति रूप त्रिभुवन को ऐ नोखी बनजारिनि। पेला करति देत नहिँ नीके तुम हो बड़ी बँजारिनि। सूरदास ऐसो गथ जाके ताके बुद्धि पसारिनि।—सूर। (२) अपराध। कसूर। (३) आक्रमण। धावा। चढ़ाई। उ०—करयौ गढ़ा कोटा पर पेला। जहाँ सुनै छत्रसाल बुँदेला।—लाल। (४) पेलने की क्रिया या भाव।

पेलास-संज्ञा पुं० [अं०] मंगल और बृहस्पति के बीच का एक ग्रह जो सूर्य से २८½ करोड़ मील की दूरी पर है। चार वर्ष आठ मास में यह ग्रह सूर्य की परिक्रमा करता है। आकार में यह ग्रह चंद्रमा से छोटा है। सन् १८०२ ई० में डाक्टर आलवर्ज ने पहले पहल इसका पता लगाया था।

पेलू-संज्ञा पुं० [हिं० पेलना + ऊ (प्रत्य०)] (१) पेलनेवाला। वह जो पेलता हो। (२) पति। खाविंद। (३) जार। उपपति। (४) वह जो गुदा-भंजन करता हो। (बाजारू)। (५) जबरदस्त। बलवान।

पेल्हड़-संज्ञा पुं० [सं० पेल वा पेलक] अंडकोष। फोता।

पेवँ†-संज्ञा पुं० [सं० प्रेम] प्रेम। उ०—दायज बसन मणि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी। दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहिँ पियारी पेव की।—तुलसी।

पेवक्कड़†-संज्ञा पुं० दे० "पियक्कड़"।

पेवड़ी†-संज्ञा स्त्री० [सं० पीत] (१) पीले रंग की बुकनी। (२) पीली रज। रामरज।

पेवर†-संज्ञा पुं० [सं० पीत] पीला रंग।

पेवस-संज्ञा पुं० [सं० पेयूष] हाल की ब्याई गाय या भैंस का दूध जो अधिक गाढ़ा और रंग में कुछ पीला होता है। यह हानिकारक होने के कारण पीने योग्य नहीं होता।

पेवसी-संज्ञा स्त्री० दे० "पेवस"।

पेश-क्रि० वि० [फा०] सामने। आगे। सम्मुख।

मुहा०—पेश आना = (१) बर्ताव करना। व्यवहार करना। (२) घटित होना। सामने आना। होना। **पेश करना** = (१) सामने रखना। दिखलाना। सम्मुख उपस्थित कर देना। (२) भेंट करना। नजर करना। **पेश जाना वा चलना** = वश चलना। अधिकार वा जोर चलना। **(किसी से) पेश पाना** = जीतना। बाजी, होड़, मुकाबिले आदि में बढ़ना। कृतकार्य होना।

पेशकब्ज–संज्ञा स्त्री० [फा०] कटारी।

पेशकश–संज्ञा पुं० [फा०] (१) नजर। भेंट। (२) सौगात। तोहफा। उ०—कौन भयो ऐसो नृपति को ह्वै है यहि भाय। जाके डर गज पेशकश दिग्गज देत पठाय।—गुमान।

पेशकार–संज्ञा पुं० [फा०] किसी दफ्तर का वह कार्यकर्ता जो उस दफ्तर के कागज पत्र अफसर के सामने पेश करके उन पर उसकी आज्ञा लेता है। हाकिम के सामने कागज पत्र पेश करके उस पर हाकिम की आज्ञा लिखनेवाला कर्म्मचारी।

पेशकारी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पेशकार का पद। (२) पेशकार का काम।

पेशखेमा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) सेना की खेमा तंबू आदि वह आवश्यक सामग्री जो उसके किसी स्थान पर पहुँचने से पहले उसके सुभीते के लिये भेजी जाती हो। फौज का वह सामान जो पहले से ही आगे भेज दिया जाय। (२) फौज का वह अगला हिस्सा जो आगे आगे चलता है। हरावल। (३) किसी बात या घटना का पूर्व लक्षण।

पेशगी–संज्ञा स्त्री० [फा०] वह धन वा रकम जो किसी को किसी काम के करने के लिये उस काम के करने से पहले ही दे दी जाय। पुरस्कार या मजदूरी आदि का वह अंश जो काम होने से पहले ही दिया जाय। अगौड़ी। अगाऊ।

पेशतर–क्रि० वि० [फा०] पहले। पूर्व।

पेशताख–संज्ञा स्त्री० [फा० पेशताक] एक प्रकार की मेहराब जो अच्छी इमारतों में दरवाजे के ऊपर और आगे की ओर निकली हुई बनाई जाती है।

पेशदस्त–संज्ञा पुं० दे० "पेशकार"।

पेशदस्ती–संज्ञा स्त्री० [फा०] वह अनुचित कार्य्य जो किसी पक्ष की ओर से पहले हो। जबरदस्ती। ज्यादती।

पेशबंद–संज्ञा पुं० [फा०] चारजामे में लगा हुआ वह दोहरा बंधन जो घोड़े के गर्दन पर से लाकर दूसरी ओर बाँध दिया जाता है। इस बंधन के कारण चारजामा घोड़े की दुम की ओर नहीं खिसक सकता।

पेशबंदी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पहले से किया हुआ प्रबंध या बचाव की युक्ति। पूर्व-चिंतित युक्ति। (२) छल। धोखा।

पेशराज–संज्ञा पुं० [फा० पेश + हिं० राज = मकान बनानेवाला] वह मजदूर जो राज वा मेमार के लिये पत्थर ढो ढोकर लाता हो। पत्थर ढोनेवाला मज़दूर। (कहीं कहीं पेशराज लोग ईंटों की चुनाई आदि का भी काम करते हैं।)

पेशल–वि० [सं०] (१) मनोमुग्धकारी। मनोहर। सुंदर। (२) चतुर। प्रवीण। (३) धूर्त। चालाक। (४) कोमल।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

पेशलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुंदरता। सौंदर्य्य। खूबसूरती। (२) सुकुमारता। नजाकत। (३) धूर्तता। चालाकी।

पेशवा–संज्ञा पुं० [फा०] (१) नेता। सरदार। अग्रगण्य। (२) महाराष्ट्र साम्राज्य के प्रधान मंत्रियों की उपाधि।

विशेष—मुसलमानों के राज्य-काल में दक्षिण की मुसलमानी रियासतों के प्रधान मंत्री 'पेशवा' कहलाते थे। पर उस समय तक यह शब्द अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ था। इसके उपरांत शिवाजी के प्रधान-मंत्री भी पेशवा ही कहे जाने लगे। यद्यपि आगे चलकर शिवाजी ने यह शब्द उठा दिया था, तथापि कुछ दिनों के बाद फिर इसका प्रचार हो गया और धीरे धीरे यह शब्द "प्रधान मंत्री" का पर्य्याय सा हो गया। आगे चलकर जब शिवाजी के राजवंश का ह्रास होने लगा, तब ये पेशवा लोग ही महाराष्ट्र साम्राज्य के अधीश्वर हुए। कई एक पेशवाओं के समय में महाराष्ट्र साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई थी।

पेशवाई–संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी माननीय पुरुष के आने पर कुछ दूर आगे चलकर उसका स्वागत करना। अगवानी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पेशवा + ई (प्रत्य०)] (१) पेशवाओं की शासन कला। (२) पेशवा का पद या कार्य्य।

पेशवाज़–संज्ञा स्त्री० [फा०] वेश्याओं या नर्तकियों का वह घाघरा जो वे नाचते समय पहनती हैं। इसका घेरा कुछ अधिक होता है और इसमें प्रायः जरदोजी का काम बना रहता है।

पेशा–संज्ञा पुं० [फा०] वह कार्य्य जो मनुष्य नियमित रूप से अपनी जीविका उपार्जित करने के लिये करता हो। कार्य्य। उद्यम। व्यवसाय। जैसे, वकालत का पेशा। हलवाई का पेशा, मजदूरी का पेशा।

यौ०—पेशा करना या कमाना = कसब कमाना। वेश्या-वृत्ति करना। रंडी बनकर जीविका उपार्जित करना। (बाजारू)।

पेशानी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) ललाट। भाल। कपाल। माथा। (२) किस्मत। प्रारब्ध। भाग्य। (३) किसी पदार्थ का ऊपरी और आगे का भाग।

पेशाब–संज्ञा पुं० [फा०। मि० सं० प्रस्राव] (१) मूत। मूत्र

यौ०—पेशाबखाना।

मुहा०—पेशाब करना =(१) मूतना। (२) अत्यंत तुच्छ समझना। कुछ न समझना। **पेशाब की राह बहा देना** = रंडीवाजी में खर्च कर देना। **पेशाब निकल पड़ना या खता होना** = अत्यंत भयभीत होना। इतना डरना कि पेशाब निकल जाय। **पेशाब बंद होना** =(१) मूत्र का उतारना रुक जाना। (२) अत्यंत भयभीत हो जाना। **(किसी के) पेशाब का चिराग जलना या पेशाब से चिराग जलना**=अत्यंत प्रतापी होना। अत्यंत प्रभावशाली वा विभवशाली होना।

(२) वीर्य। धातु। (३) संतान। औलाद।

पेशाबखाना–संज्ञा पुं० [फा०] वह स्थान जहाँ लोग मूत्र त्याग करते हों। पेशाब करने की जगह।

पेशावर–संज्ञा पुं० [फा०] किसी प्रकार का पेशा करनेवाला। व्यवसायी।

संज्ञा पुं० [फा० पेश + आवर=आगे लानेवाला। मि० सं० पुरुषपुर] भारत की पश्चिमी सीमा का एक प्रसिद्ध नगर।

पेशिका–संज्ञा पुं० [सं०] अंडा।

पेशी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) हाकिम के सामने किसी मुकदमे के पेश होने की क्रिया। मुकदमे की सुनवाई।

यौ०—पेशी का मुहर्रिर=वह मुहर्रिर जो मुकदमे के कागज-पत्र पढ़कर हाकिम को सुनावे। पेशकार। मिसिलख्वाँ।

(२) सामने होने की क्रिया या भाव।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वज्र। (२) तलवार की म्यान। (३) अंडा। (४) जटामासी। (५) पकी हुई कली। (६) प्राचीन काल का एक प्रकार का ढोल। (७) एक प्राचीन नदी का नाम। (८) एक राक्षसी का नाम। (९) चमड़े की वह थैली जिसमें गर्भ रहता है। (१०) शरीर के भीतर मांस की गुल्थी या गाँठ।

विशेष—आधुनिक शरीर-विज्ञान के अनुसार शरीर के भीतर मांसतंतुओं की बहुत सी छोटी बड़ी गुल्थियाँ या लच्छे से होते हैं जो कुछ सूत्रों के द्वारा आपस में जुड़े रहते हैं। इन सूत्रों को हटाने पर ये मांस के टुकड़े अलग अलग किए जा सकते हैं। इस प्रकार जो टुकड़े बिना चीरे-फाड़े सहज में अलग किए जा सकें, उन्हीं को पेशी या मांस-पेशी कहते हैं। पेशियों में विशेषता यह होती है कि वे सुकड़ती और फैलती हैं। अनेक पेशियों के संयोग से शरीर में के पुट्ठे आदि बनते हैं। ये पेशियाँ अनेक आकार और प्रकार की होती हैं। कोई छोटी कोई बड़ी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई लंबी और कोई चौड़ी होती हैं। मांस-पेशियों के बीच बीच में झिल्लियाँ रहती हैं। ये पेशियाँ सहज में अपने स्थान से हटाई नहीं जा सकतीं क्योंकि ये कहीं न कहीं अपने नीचे रहनेवाली हड्डी से जुड़ी रहती हैं। इन्हीं पेशियों की सहायता से शरीर के अंग हिलते डोलते हैं। अंगों का संचालन, प्रसारण, संकोचन, स्थितिस्थापन आदि इन्हीं पेशियों की सहायता से होता है। जैसे, कोई पेशी मुँह खोलने के समय होंठ को ऊपर उठाती है, कोई हाथ उठाने में सहायक होती है, कोई उसे मर्य्यादा से आगे बढ़ने से रोकती है, कोई गरदन को अधिक झुकने नहीं देती, कोई पेट के भीतर के किसी यंत्र को दबाये रखती है, और कोई मल अथवा मूत्र के त्यागने अथवा रोकने में सहायता देती है। कभी कभी शरीर के एक ही काम के लिये अनेक पेशियों की भी सहायता होती है। कुछ पेशियाँ ऐसी होती हैं जो इच्छा करते ही हिलाई डुलाई जा सकती हैं और कुछ ऐसी होती हैं जो इच्छा करने पर भी अपने स्थान से नहीं हट सकतीं। शरीर की सभी पेशियों का संबंध मस्तिष्क अथवा उसके निचले भाग के गतिवाहक सूत्रों से होता है। आधुनिक शरीर-विज्ञान के ग्रंथों में यह बतलाया गया है कि शरीर के किस अंग में कितनी पेशियां हैं। कुल पेशियों की संख्या भी निश्चित है। हमारे यहाँ वैद्यक में इन पेशियों को प्रत्यंग में माना है और उनकी संख्या ५०० बतलाई गई है। यद्यपि यह संख्या आधुनिक शरीर-विज्ञान में बतलाई हुई संख्या के लगभग ही है, तथापि दोनों के ब्योरे में बहुत अधिक अंतर है।

पेशीनगोई–संज्ञा स्त्री० [फा०] भविष्य-कथन। भविष्यद्वाणी।

पेश्तर–क्रि० वि० [फा०] पहले। पूर्व।

पेषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीसना। (२) तिधारा थूहड़।

पेषणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सिला जिस पर कोई चीज पीसी जाय।

पेषना–क्रि० स० दे० “पेखना”।

संज्ञा पुं० दे० “पेखना”।

पेषि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वज्र।

पेषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिशाचिनी।

पेस–वि० दे० “पेश”। उ०—हेतुमान सहित बखानै “हेतु” जाको नाम, चारो फल आठो सिद्धि दीवे ही को पेस हैं। —दूलह।

पेहँटा†–संज्ञा स्त्री० [देश०] कचरी नाम की लता का फल जो कुँदरू के आकार का होता है और जिसकी तरकारी तथा कचरी बनती है। विशेष–दे० “कचरी (१)”।

पेहँटी–संज्ञा स्त्री० दे० “पेहँटुल”।

पैंकड़ा–संज्ञा पुं० [हि० पायँ=कड़ा] (१) पैर का कड़ा। (२) बेड़ी।

संज्ञा पुं० [?] ऊँट की नकेल।

पैंग–संज्ञा स्त्री० दे० “पेंग”।

पैंच–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतंची] धनुष की डोरी।

संज्ञा स्त्री० [सं० पिच्छ] मोर की पूँछ।

पैंचना†–क्रि० स० [देश०] (१) अनाज फटकना। पछोरना। (२) पलटना। फेरना।

पैंचा–संज्ञा पुं० [देश०] हेर फेर। पलटा।

यौ०—ऐंचा पैंचा = हेर फेर। हेरा फेरी। उलट पुलट।

पैंजना–संज्ञा पुं० [हिं० पायँ + अनु० झन, झन] [स्त्री० अल्प० पैंजनी] पैर का एक आभूषण जो कड़े के आकार का पर उससे मोटा और खोखला होता है। इसके भीतर कंकड़ियाँ पड़ी रहती हैं जिससे चलने में यह बजता है।

पैंजनियाँ‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पैंजनी"।

पैंजनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ + अनु० झन, झन] (१) स्त्रियों और बच्चों का एक गहना जो कड़े की तरह पैर में पहना जाता है। यह खोखला होता है और इसके भीतर कंकड़ियाँ पड़ी रहती हैं जिससे चलने में यह झन झन बजता है। घोड़ों के पैर में भी उन्हें कभी कभी पहनाते हैं। (२) सग्गड़ या बैलगाड़ी के पहिए के आगे की वह टेढ़ी लकड़ी जिसके छेद में से धुरा निकला रहता है।

पैंठ–संज्ञा स्त्री० [सं० पण्यस्थान, प्रा० पणट्ठा; अप० पइँट्ठा] (१) हाट। बाजार। उ०—लेना हो सो लेइ ले उठी जात है पैंठ। —कबीर। (२) हट्टी। दुकान। उ०— ऊधो व्रज में पैंठ करी।—सूर। (३) वह दिन जिस दिन हाट लगती हो। बाजार का दिन। (४) दूसरी हुंडी जो महाजन पहली हुंडी के खो जाने पर लिख देता है।

पठौर–संज्ञा पुं० [हिं० पैंठ + ठौर] दुकान। हाट। उ०—ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मन जिनि आनहु और। व्रजवनिता के नाहिँ काम को है तुम्हारे पैंठौर।—सूर।

पैंड़–संज्ञा पुं० [हिं० पायँ+ड़ (प्रत्य०) वा पाददंड, प्रा० पायडंड] (१) चलने में एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पैर रखना। डग।

क्रि० प्र०—भरना।

मुहा०–पैंड़ भरना=(१) किसी देवता या तीर्थ की ओर पैर नापते चलना। (२) इस प्रकार शपथं खाना। जैसे, तू सच बोलता है तो गंगा की ओर चार पैंड़ भर जा।

(२) एक स्थान से उठाकर जितनी दूरी पर पैर रखा जाय उतनी दूरी। डग। पग। कदम। उ०—तीन पैंड़ धरती हौं पाऊँ परन कुटी इक छाऊँ।—सूर। (३) पथ। मार्ग। रास्ता। पगडंडी।

पैंड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० पैंड़] (१) रास्ता। पथ। मार्ग।

मुहा०—पैंड़े परना=पीछे पड़ना। तंग करने के लिये साथ लगे फिरना। वार वार तंग करना। उ०—मानत नाहिँ हटकि हारीं हम पैंड़े परे कन्हाई।—सूर।

(२) घुड़सार। अस्तबल। (३) प्रणाली। रीति। उ०—गोकुल गाँव को पैंड़ो न्यारो।

पैंड़िया†–संज्ञा पुं० [देश०] कोल्हू में गन्ने भरनेवाला।

पैंड़ो–संज्ञा पुं० दे० "पैंड़ा"।

पैंत*†–संज्ञा स्त्री० [सं० पणकृत, प्रा० पणइत] दाँव। बाजी। उ०—(क) माँगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड काल की करालता भले को होतु पोच है।—तुलसी। (ख) चोर पैठ जस सेंध सँवारी। जुवा पैंत जस लाय जुआरी। —जायसी।

संज्ञा पुं० [?] सात की संख्या। (दलाल)।

पैंतालीस–वि० दे० "पैंतालिस"।

पैंतालिस–वि० [सं० पंचचत्वारिंशत, प्रा० पंचचत्तालीसति, अप० पंचतालीसा] जो गिनती में चालीस से पाँच अधिक हो। चालीस और पाँच।

संज्ञा पुं० चालीस से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—४५।

पैंती–संज्ञा स्त्री० [सं० पवित्र, प्रा० पवित्त, पइत्त] (१) कुश को ऐंठकर बनाया हुआ छल्ला जिसे श्राद्धादि कर्म करते समय उँगली में पहनते हैं। पवित्री। (२) ताँबे या त्रिलोह की अँगूठी जो पवित्रता के लिये अनामिका में पहनी जाती है।

पैंतीस–वि० [सं० पंचत्रिंशत्, प्रा० पंचत्तिसति, अप० पंचतीसा] जो गिनती में तीस से पाँच अधिक हो। तीस और पाँच।

संज्ञा पुं० तीस से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है–३५।

पैंयाँ*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ] पैर। पावँ।

पैंसठ–वि० सं० [सं० पंचषष्टि, प्रा० पंचसट्ठि] जो गिनती में साठ से पाँच अधिक हो। साठ और पाँच।

संज्ञा पुं० साठ से पाँच अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—६५।

पै*†–अव्य [सं० परं] (१) पर। परंतु। लेकिन। उ०–बरजत बार बार हैं तुमको पै तुम नेक न मानौ।–सूर। (२) निश्चय। अवश्य। जरूर। उ०–सुख पाइहैं कान सुनें बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं।–तुलसी। (३) पीछे। अनंतर। बाद। उ०–(क) ऊधो! श्याम कहा पावैंगे प्रान गए आए?–सूर। (ख) कमल भानु देखे पै हँसा।––जायसी।

यौ०—जो पै = यदि। अगर। उ०–जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं।–तुलसी। तो पै=तो फिर। उस अवस्था में। उ०–होते जौ न, शंभु रानी! पद वरदानी तेरे तो पै कौन सुनतो कहानी दीन-जन की।–चरणचंद्रिका।

[हिं० पास, पहँ वा सं० प्रति, प्रा० पडि, पइ] (१) पास। समीप। निकट। उ०–(क) परतिज्ञा राखी मनमोहन फिर तापै पठयो।—सूर। (ख) वापै कही बहुत बिधि सों हम नेकु न दीनों कान।–सूर। (२) प्रति। ओर। तरफ।

उ०—सरसीरुह लोचन मोचत नीर चितै रघुनायक सीय पै ह्वै ।—तुलसी ।

प्रत्य० [सं० उपरि, हिं० ऊपर] (१) अधिकरण-सूचक एक विभक्ति । पर । ऊपर । उ०—(क) चढ़े अश्व पै वीर धाए सबै । (ख) कोपि चढ़े दशकंठ पै राम निशाचर सेन हिए हहरी ।—शंकर । (ग) बिहारी पै वारोंगी मालती भाँवरौ ।—हितहरिवंश । (२) करण-सूचक विभक्ति । से । द्वारा । उ०—दीनदयाल कृपालु कृपानिधि का पै कह्यो परै ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० आपत्ति = दोष, भूल] दोष । ऐब । नुक्स ।

क्रि० प्र०—धरना ।—निकालना ।

संज्ञा पुं० दे० "पय" ।

संज्ञा पुं० [देश०] माड़ी देने की क्रिया । कलफ। चढ़ाना ।

क्रि० प्र०—करना ।

पैकर—संज्ञा पुं० [फा० पैकार = इकट्ठा करनेवाला] कपास से रुई इकट्ठी करनेवाला ।

पैकरमा*‡—संज्ञा स्त्री० दे० "परिक्रमा" ।

पैकरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँय + कड़ा] पैरी । पाँव में पहनने का एक गहना ।

पैकार—संज्ञा पुं० [फा०] थोड़ी पूँजी का रोजगारी । छोटा व्यापारी । फेरीवाला । फुटकर बेचनेवाला ।

पैकारी—संज्ञा पुं० दे० "पैकार" ।

पैकी—संज्ञा पुं० [सं० पायिक = हरकारा, फेरी लगानेवाला] मेले तमाशे में घूम घूमकर लोगों को हुक्का पिलानेवाला ।

पैकेट—संज्ञा पुं० [अं०] पुलिंदा । मुट्ठा । छोटी गठरी ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।—भेजना ।

मुहा०—**पैकेट लगाना** = डाकघर में बाहर भेजने के लिये कोई पुलिंदा देना ।

पैखाना—संज्ञा पुं० दे० "पायखाना", "पाखाना" ।

पैग़ंबर—संज्ञा पुं० [फा०] मनुष्यों के पास ईश्वर का सँदेसा लेकर आनेवाला । धर्म्मप्रवर्त्तक । जैसे, मूसा, ईसा, मुहम्मद ।

पैग़ंबरी—संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) पैग़ंबर होने का भाव । (२) पैग़ंबर का कार्य्य या पद । (३) एक प्रकार का गेहूँ ।

वि० पैग़ंबर-संबंधी ।

पैग†*—संज्ञा पुं० [सं० पदक, प्रा० पअक, पग] डग । क़दम । फाल ।

पैग़ाम—संज्ञा पुं० [फा०] (१) बात जो कहला भेजें । सँदेसा संदेश । (२) विवाह संबंध की बात जो कही या कहलाई जाय ।

मुहा०—**पैग़ाम डालना** = संबंध करने का सँदेसा भेजना । संबंध करने की बातचीत करना ।

पैज*—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पतिञ्जा, अप० पइज्जाँ] (१) प्रतिज्ञा । प्रण । टेक । हठ । उ०—(क) पैज करी हनुमान निशाचर मारि सीय सुधि लाऊँ ।—सूर । (ख) पैज करि कही हरि तोहि उबारौं ।—सूर ।

क्रि० प्र०—करना ।—बाँधना ।

(२) प्रतिद्वंद्विता । होड़ । किसी के विरोध में किया हुआ हठ । रीस । लागडाट । ज़िद । जैसे, कुछ नहीं वह मेरी पैज से वहाँ जा रहा है ।

मुहा०—**पैज पड़ जाना** = प्रतिद्वंद्विता हो जाना । चखाचखी हो जाना । लागडाट हो जाना ।

संज्ञा पुं० [सं० पद्य, प्रा० पज्ज] पैतरा ।

क्रि० प्र०—करना ।

पैजनी—संज्ञा स्त्री० दे० "पैंजनी" ।

पैजा—संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं० पाय + सं० जट, हिं० जड़] लोहे का कड़ा जो किवाड़ के छेद में इसलिये पहनाया रहता है जिसमें किवाड़ उतर न सके । पायना ।

पैजामा—संज्ञा पुं० दे० "पायजामा" ।

पैज़ार—संज्ञा पुं० [फा०] जूता । पनही । जोड़ा ।

यौ०—**जूती पैज़ार** = जूते से मार-पीट । जूता चलना । लड़ाई झगड़ा ।

पैठ—संज्ञा स्त्री० [सं० प्रविष्ठ, प्रा० पइट्ठ] (१) घुसने का भाव । प्रवेश । दखल ।

यौ०—घुस-पैठ ।

(२) गति । पहुँच । आना जाना । जैसे, इस दरबार में उनकी पैठ नहीं है ।

संज्ञा स्त्री० दे० "पैठ" ।

पैठना—क्रि० अ० [हिं० पैठ + ना (प्रत्य०)] घुसना । प्रविष्ट होना । प्रवेश करना । किसी वस्तु के भीतर या बीच में जाना । जैसे, घर में पैठना, पानी में पैठना । उ०—चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा ।—तुलसी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

पैठाना—क्रि० स० [हिं० पैठना] प्रवेश कराना । घुसाना । भीतर ले जाना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

पैठार†*—संज्ञा पुं० [हिं० पैठ + आर (प्रत्य०)] (१) पैठ । प्रवेश । उ०—असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहि कुभाँति कुखेत करारा ।—तुलसी । (२) प्रवेशद्वार । फाटक । दरवाज़ा । मुहाना ।

पैठारी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैंठार] (१) पैठ । प्रवेश । (२) गति । पहुँच ।

पैठी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैठ] बदला । एवज़ ।

पैड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर] (१) वह जिस पर पैर रखकर ऊपर चढ़ें । सीढ़ी । जैसे, हर की पैड़ी । (२) कुएँ पर चरसा खींचनेवाले बैलों के चलने के लिये बना हुआ ढालवाँ रास्ता । (३) वह स्थान जहाँ सिंचाई के लिये जलाशय से पानी लेकर ढालते हैं । पैदर ।

पैतरा—संज्ञा पुं० [सं० पदांतर, प्रा० पयांतर] (१) पटा । तलवार

चलाने या कुश्ती लड़ने में घूम फिरकर पैर रखने की मुद्रा। वार करने का ठाट।

मुहा०–पैतरा बदलना = पटा चलाने या कुश्ती लड़ने में ढब के साथ इधर उधर पैर रखना। पैतरा भाँजना = घूमते हुए पैर रखना और हाथ घुमाना।

(२) धूल पर पड़ा हुआ पदचिह्न। पैर का निशान। खोज।

पैतरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पैतरा] रेशम फेरने की परेती।

पैतला–वि० [हिं० पायँ + थल] उथला। छिछला। पायाब। पैथला।

पैतलाय–वि० [?] सत्रह। १७। (दलाल)

पैताना–संज्ञा पुं० दे० "पायताना"।

पैतामह–वि०[सं०] पितामह संबंधी।

पैतामहिक–वि० [सं०] पितामह से प्राप्त (धन आदि)।

पैतृक–वि० [सं०] पितृ संबंधी। पुश्तैनी। पुरखों का। जैसे, पैतृक भूमि, पैतृक संपत्ति।

पैत्त–वि० [सं०] पित्तज। पित्त से उत्पन्न।

पैत्तिक–वि० [सं०] पित्त संबंधी। पित्त का। पित्त से उत्पन्न।

पैत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अँगूठे और तर्जनी के बीच का भाग। पितृतीर्थ। (२) पितृ संबंधी श्राद्ध आदि।

पैत्र्य–वि० [सं०] पितृ संबंधी।

पैथला†–वि० [पायँ + थल] उथला। छिछला। पायाब।

पैदर†–संज्ञा पुं० दे० "पैदल"।

पैदल–वि० [सं० पादतल, प्रा० पायतल] जो पाँव पाँव चले। जो सवारी आदि पर न हो। पैरों से चलनेवाला। जैसे, पैदल सिपाही, पैदल सेना।

क्रि० वि० पावँ पावँ। पैरों से। सवारी आदि पर नहीं। जैसे, पैदल चलना, पैदल घूमना।

संज्ञा पुं० (१) पावँ पावँ चलना। पादचारण। जैसे, पैदल का रास्ता, पैदल का सफर। (२) पैदल सिपाही। पावँ पावँ चलनेवाला योद्धा। पदाति। जैसे, उसके साथ ४ हजार सवार और बीस हजार पैदल थे। (३) शतरंज में वह नीचे दरजे की गोटी जो सीधा चलती और आड़ा मारती है।

पैदा–वि० [फा०] (१) उत्पन्न। जन्मा हुआ। प्रसूत। जो पहले न रहा हो, नया प्रकट हुआ हो। जैसे, लड़का पैदा होना, अनाज पैदा होना। (२) प्रकट। आविर्भूत। घटित। उपस्थित। जैसे, झगड़ा पैदा होना, नई बात पैदा होना। (३) प्राप्त। अर्जित। हासिल। कमाया हुआ। जैसे, रुपया पैदा करना, कमाल पैदा करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

‡संज्ञा स्त्री० आय। आमदनी। अर्थागम। लाभ। जैसे, उस नौकरी में बड़ी पैदा है।

पैदाइश–संज्ञा स्त्री० [फा०] उत्पत्ति। जन्म।

पैदाइशी–वि० [फा०] (१) जन्म का। जब से जन्म हुआ तभी का। बहुत पुराना। जैसे, पैदाइशी रोग। (२) स्वाभाविक। प्राकृतिक। जैसे, यह हुनर पैदाइशी होता है।

पैदावार–संज्ञा स्त्री० [फा०] अन्न आदि जो खेत में बोने से प्राप्त हो। उपज। फसल। जैसे, इस खेत की पैदावार अच्छी नहीं है।

पैदावारी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "पैदावार"।

पैन–संज्ञा पुं० [सं० पयाण, हिं० पायान] (१) नाली। (२) पनाला।

पैना–वि० [सं० पैण = घिसना, टेना] [स्त्री० पैनी] जिसकी धार बहुत पतली या काटनेवाली हो। चोखा। धारदार। तीक्ष्ण। तेज। उ०—परनारी, पैनी छुरी कबहुँ न लावो अंग।

संज्ञा पुं० (१) हलवाहों की बैल हाँकने की छोटी छड़ी। (२) लोहे का नुकीला छड़। अंकुश।

संज्ञा पुं० [?] धातु गलाने का मसाला।

संज्ञा पुं० दे० "पैन"।

पैनाक–वि० [सं०] पिनाक संबंधी।

पैनाना†–क्रि० स० [हिं० पैना] छुरे आदि की धार को रगड़ कर पैनी करना। चोखा करना। टेना।

पैन्हना‡–क्रि० स० दे० "पहनना"।

पैमक–संज्ञा स्त्री० [?] कलाबत्तू की बनी हुई एक प्रकार की सुनहरी गोट जिसे अँगरखे टोपी आदि के किनारे पर लगाते हैं। लेस।

पैमाइश–संज्ञा स्त्री० [फा०] मापने की क्रिया या भाव। माप। जैसे, जमीन या खेत की पैमाइश।

पैमाना–संज्ञा पुं० [फा०] वह वस्तु (छड़, डंडा, सूत, डोरी, बरतन आदि) जिससे कोई वस्तु मापी जाय। मापने का औजार। मानदंड।

पैमाल‡*–वि० दे० "पामाल"।

पैयाँ‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ] पावँ। पैर।

पैया–संज्ञा पुं० [सं० पाय्य = निकृष्ट] (१) बिना सत का अनाज का दाना। मारा हुआ दाना। खोखला दाना। उ०—मातु पिता कहैं सब धन तेरो मोरे लेखे पछोरल पैया।—कबीर। (२) खुक्ख। दीन हीन।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो पूरबी बंगाल, चटगाँव और बरमा में बहुत होता है। इसमें बड़े बड़े फल लगते हैं जो खाये जाते हैं। बंसलोचन भी इस बाँस में बहुत निकलता है। यह बाँस बहुत सीधा जाता है और गाँठें भी इसमें दूर दूर पर होती हैं। चटगाँव में इसकी चटाइयाँ बहुत बनती हैं। घरों में भी यह लगता है। इसे मूलीमतंगा और तराई का बाँस भी कहते हैं।

‡* संज्ञा पुं० दे० "पहिया"।

पैर-संज्ञा पुं० [सं० पद + दंड, प्रा० पयदंड, अप० पयँड़] (१) वह अंग या अवयव जिस पर खड़े होने पर शरीर का सारा भार रहता है और जिससे प्राणी चलते फिरते हैं। गति-साधक अंग। पाँव। चरण ('पैर' शब्द से कभी कभी एड़ी से पंजे तक का भाग ही समझा जाता है)। विशेष—दे० "पाँव"।

मुहा०—पैर छूटना=मासिक धर्म अधिक होना। रजःस्राव अधिक होना।

(२) धूल आदि पर पड़ा हुआ पैर का चिह्न। पैर का निशान। जैसे, बालू पर पड़े हुए पैर देखते चले जाओ।

संज्ञा पुं० [हिं० पयाल, पयार] (१) वह स्थान जहाँ खेत से कटकर आई हुई फसल दाना झाड़ने के लिये फैलाई जाती है। खलियान। (२) खेत से कटकर आए डंठल सहित अनाज का अटाला।

†संज्ञा पुं० [सं० प्रदर] प्रदर रोग।

पैरउठान-संज्ञा पुं० [हिं० पैर + उठाना] कुश्ती का एक पेच जिसमें बाँया पैर आगे बढ़ाकर बाएँ हाथ से जोड़ की छाती पर धक्का देते और उसी समय दहने हाथ से उसके पैर के घुटने को उठाकर और बायाँ पैर उसके दहने पैर में अड़ाकर फुरती से उसे अपनी ओर खींचकर चित कर देते हैं।

पैरगाड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर + गाड़ी] वह हलकी गाड़ी जो बैठे बैठे पैर दबाने से चलती है। जैसे, बाइसिकिल, ट्राइसिकिल।

पैरना-क्रि० अ० [सं० प्लवन, प्रा० पवण, हिं० पौंड़ना] तैरना। पानी के ऊपर हाथ पैर चलाते हुए जाना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—पैरा हुआ=पारंगत। दक्ष। निपुण।

पैरवी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) क़दम ब क़दम चलना। अनुगमन। अनुसरण। (२) आज्ञापालन। (३) पक्ष का मंडन। पक्ष लेना। किसी बात के अनुकूल प्रयत्न। कोशिश। दौड़धूप। जैसे, मुक़दमे की पैरवी करना, किसी के लिये पैरवी करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पैरवीकार-संज्ञा पुं० [फा०] पैरवी करनेवाला।

पैरा-संज्ञा पुं० [हिं० पैर] (१) आया हुआ क़दम। पड़े हुए चरण। पौरा। जैसे, बहू का पैरा न जाने कैसा है कि जब से आई है कोई सुख से नहीं है। (२) एक प्रकार का कड़ा जो पैर में पहना जाता है। (३) किसी ऊँची जगह चढ़ने के लिये लकड़ियों के बल्ले आदि रखकर बनाया हुआ रास्ता। उ०—मन गरुओ कुचगिरिन पै जैसह पहुँचि सकै न। याही तेँ लै डीठि के पैरे बाँधत नैन।—रसनिधि।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की दक्खिनी कपास जिसके पेड़ बहुत दिनों तक रहते हैं। इसके डंठल लाल रंग के होते हैं। रुई इसकी बहुत साफ नहीं होती, उसमें कुछ ललाईपन या भूरापन होता है। यह कपास मध्य भारत से लेकर मदरास तक होती है।

संज्ञा पुं० [सं० पिटक, प्रा० पिडा] लकड़ी का खाना जिसमें सोनार अपने काँटे बाट रखता है।

संज्ञा पुं० दे० "पयाल"।

संज्ञा पुं० [अं०] लेख का उतना अंश जितने में कोई एक बात पूरी हो जाय और जो इसी प्रकार के दूसरे अंश से कुछ जगह छोड़कर अलग किया गया हो। जिस पंक्ति पर एक पैरा समाप्त होता है, दूसरा पैरा उस पंक्ति को छोड़कर और किनारे से कुछ हटाकर आरंभ किया जाता है।

पैराई-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैरना, धातु पैर + आई (प्रत्य०)] (१) पैरने या तैरने की क्रिया या भाव। (२) तैरने की कला। (३) तैरने की मजदूरी।

पैराक-संज्ञा पुं० [हिं० पैरनी] तैरनेवाला। तैराक।

पैराग्राफ़-संज्ञा पुं० [अं०] दे० "पैरा"।

पैराना-क्रि० स० [हिं० 'पैरना' का प्रे०] पैरने का काम कराना। तैराना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

पैराव-संज्ञा पुं० [हिं० पैरना] इतना पानी जिसे केवल तैरकर ही पार कर सकें। डुबाव।

पैराशूट-संज्ञा पुं० [अं०] एक बहुत बड़ा छाता जिसके सहारे बैलून (गुब्बारा) धीरे धीरे जमीन पर उतरता और गिरकर टूटता फूटता नहीं।

पैरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पैर] (१) पैर में पहनने का एक चौड़ा गहना जो फूल या काँसे का बनता है और जिसे नीच जाति की स्त्रियाँ पहनती हैं। (२) अनाज के कटे हुए पौधे जो दायँने के लिये फैलाए जाते हैं। (३) अनाज के सूखे पौधों पर बैल चलाकर और डंडा मारकर दाना झाड़ने की क्रिया। दायँने का काम। दवाँई।

क्रि० प्र०—करना।

(४) भेड़ों के बाल कतरने का काम। (५) पैड़ी। सीढ़ी।

पैरेखना*‡-क्रि० स० दे० "परेखना"।

पैरोकार-संज्ञा पुं० दे० "पैरवीकार"।

पैल-संज्ञा पुं० [सं०] एक ब्राह्मण जिन्होंने वेदव्यास के संहिता-विभाग करने पर ऋग्वेद का अध्ययन किया था। (भागवत)

पैलगी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पायँ + लगना] प्रणाम। अभिवंदन। पालागन।

पैलव-वि० [सं०] पीलू के पेड़ का। पीलू संबंधी।

पैला†–संज्ञा पुं० [हिं० पैली] (१) नाँद के आकार का मिट्टी का बरतन जिससे दूध दही ढाँकते हैं। बड़ी पैली। उ०–श्याम सब भाजन फोरि पराने। हाँक देत पैठत हैं पैला नेकु न मनहिं डराने।—सूर। (२) चार सेर अनाज नापने की डलिया। चार सेर नाप का बरतन।

पैली†–संज्ञा स्त्री० [सं० पातिली, प्रा० पाइली] (१) मिट्टी का एक चौड़ा बरतन जिसमें अनाज या तेल रखते हैं। (२) अनाज या तेल नापने का मिट्टी का बरतन।

पैवंद–संज्ञा पुं० [फा०] (१) कपड़े आदि का वह छोटा टुकड़ा जो किसी बड़े कपड़े आदि का छेद बंद करने के लिये जोड़कर सी दिया जाता है। चकती। थिगली। जोड़।

क्रि० प्र०—लगाना।

मुहा०—पैवंद लगाना=(१) बात में बात जोड़ना। मेल मिलाना। जैसे, सारा लेख उनका लिखा है बीच बीच में आपने भी पैवंद लगाये हैं। (२) अधूरी या बिगड़ी हुई बात में नई बात जोड़कर उसे पूरा करना या सुधारना।

(२) किसी पेड़ की टहनी काटकर उसी जाति के दूसरे पेड़ की टहनी में जोड़कर बाँधना जिससे फल बढ़ जायँ या उनमें नया स्वाद आ जाय।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) मेल जोल का आदमी। इष्ट मित्र। संबंधी।

पैवंदी–वि० [फा०] (१) पैवंद लगाकर पैदा किया हुआ। कलम और पैवंद द्वारा बड़ा और मीठा बनाया हुआ (फल)। कलमी। जैसे, पैवंदी बेर।

यौ०–पैवंदी मूँछ=चिपकाई हुई मरोड़दार मूँछ।

(२) वर्णसंकर। दोगला।

संज्ञा पुं० बड़ा आड़ू। शफ़तालू।

पैवस्त–वि० [फा० पैवस्तः] (जल, दूध, घी आदि द्रव पदार्थ) जो भीतर घुसकर सब भागों में फैल गया हो। जिसने भीतर बाहर फैलकर तर कर दिया हो। सोखा हुआ। समाया हुआ। जैसे, सिर में तेल पैवस्त होना, दूध का रोटी में पैवस्त होना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

पैशल्य–संज्ञा पुं० [सं०] पेशलता। कोमलता।

पैशाच–वि० [सं०] (१) पिशाच संबंधी। पिशाच का। पिशाच का किया या बनाया हुआ। (२) पिशाच देश का। जैसे, पैशाच भाषा।

संज्ञा पुं० (१) पिशाच। (२) एक आयुधजीवी संघ का नाम। एक लड़ाका दल।

पैशाच काय–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत में कहे हुए कायों (शरीरों) में से एक जो राजस काय के अंतर्गत है। जूठा खाने की रुचि, स्वभाव का तीखापन, दुःसाहस, स्त्री-लोलुपता और निर्लज्जता पैशाच काय के लक्षण हैं।

पैशाच विवाह–संज्ञा पुं० [सं०] आठ प्रकार के विवाहों में से एक जो सोई हुई कन्या का हरण करके या मदोन्मत्त कन्या को फुसलाकर छल से किया गया हो। इस प्रकार का विवाह बहुत निंदनीय कहा गया है। (स्मृति)।

पैशाचिक–वि० [सं०] पिशाच संबंधी। पिशाचों का। राक्षसी। घोर और बीभत्स। जैसे, पैशाचिक कांड, पैशाचिक कर्म।

पैशाची–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की प्राकृत भाषा।

पैशुन–संज्ञा पुं० [सं०] पिशुनता। चुगुलखोरी।

पैशुन्य–संज्ञा पुं० [सं०] पिशुनता। चुगुलखोरी।

पैष्टिक–संज्ञा पुं० [सं०] जौ, चावल आदि अन्नों को सड़ाकर बनाया हुआ मद्य।

पैष्टी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पैष्टिक।

पैसना†*–क्रि० अ० [सं० प्रविश, प्रा० पइस + ना (प्रत्य०)] घुसना। पैठना। प्रवेश करना।

पैसरा†–संज्ञा पुं० [सं० परिश्रम] जंजाल। झंझट। बखेड़ा। प्रयत्न। व्यापार। उ०—ऐसो है हरि पूजन ताता। पुनि पैसेर केरि नहिं बाता।—विश्राम।

पैसा–संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय = चौथाई + अंश, प्रा० अंस, या पणांश] (१) ताँबे का सबसे अधिक चलता सिक्का जो आने का चोथा और रुपये का चौसठवाँ भाग होता है। पाव आना। तीन पाई का सिक्का। (२) रुपया पैसा। धन। दौलत। माल। जैसे, उसके पास बहुत पैसा है। उ०—साईं या संसार में मतलब का व्यवहार। जब तक पैसा पास में तब तक हैं सब यार।—गिरिधर।

मुहा०—**पैसा उठना** = धन खर्च होना। **पैसा उठाना** = धन व्यर्थ नष्ट करना। फजूलखर्ची करना। **पैसा कमाना** = धन उपार्जित करना। रुपया पैदा करना। **पैसा डूबना** = लगा हुआ रुपया नष्ट होना। घाटा होना। **पैसा ढो ले जाना** = सब धन खींच ले जाना। व्यापार आदि द्वारा किसी देश का धन दूसरे देश में ले जाना। **पैसा धोकर उठाना** = किसी देवता की पूजा की मनौती करके अलग पैसा निकालकर रखना।

पैसार†–संज्ञा पुं० [हिं० पैसन] पैठ। प्रवेश। भीतर जाने का मार्ग। प्रवेशद्वार।

पैसिंजरगाड़ी–संज्ञा स्त्री० [अं० पैसिंजर + हिं० गाड़ी] मुसाफिरों को ले जानेवाली रेलगाड़ी।

पैसेवाला–संज्ञा पुं० [हिं०] (१) धनवान। मालदार। धनी। (२) सराफ़। पैसा बेचनेवाला।

पैहरा–संज्ञा पुं० [देश०] कपास के खेत में रुई इकट्ठी करनेवाला। पैकर। बिनिया।

पैहारी–वि० [सं० पयस् + आहारी] केवल दूध पीकर रहनेवाला (साधु)।

पों–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) लंबी नाल या भोंपे को फूँकने से निकला हुआ शब्द। (२) लंबी नाल के आकार का एक बाजा जिसमें फूँकने से 'पों' शब्द निकलता है। भोंपा। (३) अधोवायु निकलने का शब्द।

मुहा०—पों बोलना=(१) हार मानना। थककर बैठ रहना। (२) दिवाला निकालना। खुक्ख हो जाना।

पोंकना–क्रि० अ० [पों से अनु०] (१) पतला पाखाना फिरना। (२) अत्यंत भयभीत होना। बहुत डरना।

संज्ञा पुं० पतला दस्त होने का रोग। (चौपाये)

पोंका–संज्ञा पुं० [देश०] बड़ा फतिंगा जो पौधों पर उड़ता फिरता है। बोंका।

पोंगली–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगा] (१) दे० 'पोंगी'। (२) वह नरिया जो दोबारा चाक पर से बनाकर उतारी गई हो। (कुम्हार)।

पोंगा–संज्ञा पुं० [सं० पुटक=खोखला बरतन] [स्त्री०अल्प पोंगी] (१) बाँस की नली। बाँस का खोखला पोर। (२) टीन आदि की बनी हुई लंबी खोखली नली जिसमें कागज पत्र रखते हैं। चोंगा। (३) पाँव की नली।

वि० (१) पोला। (२) मूर्ख। बुद्धिहीन। अहमक। उ०—विमला ने कहा 'हँसी नहीं' मैं उस ब्राह्मण को पतियाती हूँ। वह तो पोंगा ही है–किंतु वह जाय या न जाय।—गदाधरसिंह।

पोंगी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोंगा] (१) छोटी पोली नली। (२) नरकुल की एक नली जिस पर जुलाहे तागा लपेटकर ताना या भरनी करते हैं। (३) चार या पाँच अंगुल की बाँस की पोली नली जो बाँस के बीजने की डांड़ी में लगी होती है। हाँकनेवाले इसे पकड़कर बीजने को घुमाते हैं। (४) ऊँख वा बाँस आदि में दो गाँठों के बीच का प्रदेश वा भाग।

पोंछ†–संज्ञा स्त्री० दे० "पूँछ"।

पोंछन–संज्ञा पुं० [हिं० पोंछना] किसी लगी हुई वस्तु का वह बचा अंश जो पोंछने से निकले।

पोंछना–क्रि० स० [सं० प्रोञ्छन, प्रा० पोंछन] (१) लगी हुई गीली वस्तु को जोर से हाथ या कपड़ा आदि फेरकर उठाना या हटाना। काछना। जैसे, आँख से आँसू पोंछना, कागज पर पड़ी स्याही पोंछना, कटोरे में लगा हुआ घी पोंछकर खा जाना, नहाने के बाद गीला बदन पोंछना। उ०—(क) सुनि के उतर आँसु पुनि पोंछे। कौन पंख बाँधा बुधि ओछे।—जायसी। (ख) पोंछि डारे अंजन अँगोछि डारे अंगराग, दूर कीने भूषण, उतारि अँग अंग ते।—रघुनाथ। (२) पड़ी हुई गर्द, मैल आदि को हाथ या कपड़ा जोर से फेरकर दूर करना। रगड़कर साफ करना। जैसे, कुर्सी पर गर्द पड़ी है पोंछ दो। पैर पोंछकर तब फर्श पर आओ। उ०–मानहु विधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबे काज। दृग पग पोंछन को किए भूखन पायंदाज।—बिहारी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

यौ०—झाड़ पोंछ।

विशेष—जो वस्तु लगी या पड़ी हो तथा जिस पर कोई वस्तु लगी या पड़ी हो अर्थात् आधार और आधेय दोनों इस क्रिया के कर्म होते हैं। जैसे,कटोरा पोंछना, कटोरे में लगा घी पोंछना, पैर पोंछना, पैर में लगी गर्द पोंछना। झटके से साफ करने को झाड़ना और रगड़कर साफ करने को पोंछना कहते हैं।

संज्ञा पुं० [स्त्री० पोंछनी] पोंछने का कपड़ा। वह कपड़ा जो पोंछने के लिये हो।

पोंटा†–संज्ञा पुं० [देश०] नाक का मल।

पोंटी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली।

पोआ–संज्ञा पुं० [सं० पुत्रक] साँप का बच्चा। सँपोला।

पोआना–क्रि० स० [हिं० 'पोना' का प्रे०] (१) पोने का काम कराना। (२) गीले आटे की लोई को गोल रोटी के रूप में बना बना कर पकानेवाले को सेंकने के लिये देना। जैसे, रोटी पोआना।

संयो० क्रि०—देना।

पोइया–संज्ञा स्त्री० [फा० पोयः] घोड़े की दो दो पैर फेंकते हुए दौड़। सरपट चाल।

मुहा०—पोइयों जाना = दोनों पैर फेंकते हुए दौड़ना।

पोइस–संज्ञा स्त्री० [फा० पोयः, हिं० पोइया]सरपट। दौड़। उ० —रे मन जनम अकारथ खोइस। हरि की भक्ति कबहूँ नहिं कीन्हीं उदर भरे पर सोइस। निसि दिन रहत फिरत मुँह बांधे अहंकार करि जनम बिगोइस। गोड़ पसारि पर्‍यो दोउ नीके अबके किए कहा होइस। कालयमन सो आनि बनैहै देखि देखि मुख रोइस। सूर श्याम बिनु कौन छुड़ावै चले जाहु भाई पोइस।—सूर।

अव्य० [फा० पोश] देखो। हटो। बचो।

विशेष—गधे, खच्चर आदि लेकर चलनेवाले, लोगों को छू जाने से बचाने के लिये, 'पोश' 'पोस', या 'पोइस पोइस' पुकारते चलते हैं।

पोई–संज्ञा स्त्री० [सं० पोदकी] एक लता जिसकी पत्तियाँ पान की सी गोल पर दल की मोटी होती हैं। इसमें छोटे छोटे फलों के गुच्छे लगते हैं जिन्हें पकने पर चिड़ियाँ खाती हैं। पोई दो प्रकार की होती है–एक काले डंठल की, दूसरी हरे

डँठल की। बरसात में यह बहुत उपजती है। पत्तियों का लोग साग खाते हैं। एक जँगली पोई भी होती है जिसकी पत्तियां लंबोतरी होती हैं। इसका साग अच्छा नहीं होता। पोई की लता में रेशे होते हैं जो रस्सी बटने के काम में आते हैं। वैद्यक में पोई गरम, रुचिकारक, कफ-वर्द्धक और निद्राजनक मानी गई है।

पर्या०—उपोदकी। कलंबी। पिच्छिला। मोहिनी। विशाला मदशाका। पूतिका।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत] (१) नरम कल्ला। अंकुर। (२) ईख का कल्ला। ईख की आँख।

मुहा०--पोई फूटना = ईख में अंकुर निकलना।

(३) गेहूँ, ज्वार, बाजरे आदि का नरम और छोटा पौधा। जई। (४) गन्ने का पोर।

पोकना–संज्ञा पुं० [देश०] महुए का पका हुआ फल।

संज्ञा पुं० दे० "पोंकना"।

क्रि० अ० दे० "पोंकना"।

पोकल†–वि० [देश०] (१) पुलपुला। नाजुक। कमजोर। (२) पोला। खोखला। (३) निःसार। तत्त्वहीन। तत्त्वशून्य।

पोख–संज्ञा पुं० [सं० पोष] पालने पोसने का संबंध या लगाव। पोस। उ०—कबिरा पाँच पखेरुआ राखा पोख लगाय। एक जो आया पारधी ले गया सबै उड़ाय।—कबीर।

पोखनरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोखरा + नरी] ढरकी के बीच का गड्ढा जिसमें नरी लगाकर जुलाहे कपड़ा बुनते हैं।

पोखना*–क्रि० स० [सं० पोषण] पालना। पोसना। उ०—अरे कलानिधि निरदई कहा नधी यह आय। पोखत अमिरित कलन जग बिरहिन हेत जराय।—रसनिधि।

क्रि० अ० गाय भैंस आदि का बच्चा देने का समय समीप आने पर, हाथ पैर आदि का ढीला पड़ जाना और थन का सूज आना। पोखाना। थलकना।

पोखर–संज्ञा पुं० [सं० पुष्कर, प्रा० पुक्खर] (१) तालाब। पोखरा। (२) पटेबाजी में एक वार जो प्रतिपक्षी की कमर पर दहनी ओर होता है।

पोखरा–संज्ञा पुं० [सं० पुष्कर, प्रा० पुक्खर] [स्त्री० अल्प० पोखरी] वह जलाशय जो खोदकर बनाया गया हो। तालाब। सागर।

पोखराज–संज्ञा पुं० दे० "पुखराज"।

पोखरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोखरा] छोटा पोखरा। तलैया।

पोगंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच से दस वर्ष तक की अवस्था का बालक।

विशेष—कुछ लोग ५ से १५ तक पोगंड मानते हैं।

(२) वह जिसका कोई अंग छोटा, बड़ा या अधिक हो। जैसे, छः उँगलियाँ होना, बायाँ हाथ दहने से छोटा होना।

पोच–वि० [फा० पूच] (१) तुच्छ। क्षुद्र। बुरा। निकृष्ट। नीच। उ०—(क) मिट्यौ महा मोह जी को छूट्यो पोच सोच सी को जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को।—तुलसी। (ख) भलो पोच कह राम को मोको नर नारी। बिगरे सेवक श्वान सों साहब सिर गारी।—तुलसी। (ग) भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए।—तुलसी। (घ) कहिहै जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपनो तो लहिहै।—तुलसी। (च) कौन सुनै काके श्रवण काकी सुरति सँकोच। कौन निडर कर आपको को उत्तम को पोच।—सूर। (छ) प्रीति भार लै हिए न सोचू। वही पंथ भल होय कि पोचू।—जायसी। (२) अशक्त। क्षीण। हीन।

पोचारा–संज्ञा पुं० दे० "पुचारा"।

पोची*–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोच] निचाई। हेठापन। बुराई। उ०–यद्यपि मैं ते कै कुमातु ते होइ आई अति पोची। सन्मुख गये सरन राखहिँगे रघुपति परम सँकोची।—तुलसी।

पोछना–क्रि० स० दे० "पोंछना"।

पोट–संज्ञा स्त्री० [सं० पोट] (१) गठरी। पोटली। बुकचा। मोटरी। उ०–(क) पहले बुरा कसाय के बाँधी विषय की पोट। कोटि कर्म फिरे पलक में जब आयो हरि ओट।--कबीर। (ख) खुलि खेलौ संसार में बाँधि सकै नहिँ कोय। घाट जगाती क्या करै सिर पै पोट न होय। (२) ढेर। अटाला। जैसे, दुःख की पोट, पानी की पोट।

संज्ञा स्त्री० [सं० पृष्ठ, हिं० पुट्ठ] पुस्तक के पन्नों की वह जगह जहाँ से जुजबंदी या सिलाई होती है।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत = वस्त्र] मुर्दे के ऊपर की चादर। कफन के ऊपर का कपड़ा।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर की नीवँ। (२) मेल। मिलान।

पोटगल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नरसल। नरकट। (२) काश। कांस। (३) मछली। (४) एक प्रकार का साँप।

पोटना*–क्रि० स० [हिं० पुट] (१) समेटना। बटोरना। उ०–(क) ऐसो पोटि ओंठ रस लेत। हठ सों परसि भरहि नख देत।—गुमान। (ख) पोटि भट्ट तट ओट कंटी के लपेटि पटी सो कटी पट्ट छोरत।–देव। (२) हथियाना। पंजे में करना। फुसलाना। बात में लाना। उ०—ललिता के लोचन मिचायो चंद्रभागा सो, दुराइबे को ल्याई वै तहाईं दास पोटि पोटि।—दास।

पोटरी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "पोटली"।

पोटला–संज्ञा पुं० [हिं० पोटलक] बड़ी गठरी।

पोटली–संज्ञा स्त्री० [सं० पोटलिका] (१) छोटी गठरी। छोटा बकुचा। भीतर किसी वस्तु को रखकर बटोरकर बाँधा

हुआ कपड़ा आदि। जैसे,(क)अनाज को पोटली में बाँधकर ले चला। (ख) सूजन पर नीम की पोटली बनाकर सेंको।

पोटा-संज्ञा पुं० [सं० पुट = थैली] [स्त्री० अल्प० पोटी] (१) पेट की थैली। उदराशय।

मुहा०—पोटा तर होना = पास में धन होने से प्रसन्नता और निश्चिंतता होना। पास में माल रहने से बेफ़िक्री होना।

(२) कलेजा। साहस। सामर्थ्य। पित्ता। जैसे, किसका पोटा है जो उनके विरुद्ध कुछ कर सके। (३) समाई। औकात। बिसात। (४) आँख की पलक। (५) उँगली का छोर।

संज्ञा पुं० [सं० पोत] चिड़िया का बच्चा जिसे पर न निकले हों। गेदा।

यौ०—चेंगी पोटे।

संज्ञा पुं० [?] नाक का मल या श्लेष्मा।

क्रि० प्र०—बहना।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्त्री जिसमें पुरुष के से लक्षण हों। जैसे, दाढ़ी या मूछ के स्थान पर बाल। (२) दासी। (३) घड़ियाल।

पोटास-संज्ञा पुं० [अं०] वह क्षार जो पहले जलाए हुए पौधों की राख से निकाला जाता था, पर अब कुछ खनिज पदार्थों से प्राप्त होता है।

विशेष—पौधों की राख को पानी में घोलकर निथारते हैं फिर उस निथरे हुए पानी को औटाते हैं जिससे क्षार गाढ़ा होकर नीचे जम जाता है। चुकंदर की सीठी (चीनी निकालने पर बची हुई) और भेड़ों के ऊन से भी पोटास निकलता है। शोरा, जवाखार आदि पोटास ही हैं। पोटास औषध और शिल्प में काम आता है।

पाढ़*†-वि० दे० "पोढ़ा"।

पोढ़ा-वि० [सं० प्रौढ, प्रा० पोढ] [स्त्री० पोढ़ी] (१) पुष्ट। दृढ़। मजबूत। उ०—कहीं छुटना छाज पिटारी है कहीं बिकती खाटखटोला है। जब देखा खूब तो आखिर को न पोढ़ी खाट न चरखा है।—नजीर। (२) दृढ़। कड़ा। कठिन। कठोर। उ०—तीखी हेर चीर गहि ओढ़ा। कंतन हेर कीन्ह जिय पोढ़ा।—जायसी।

मुहा०—जी पोढ़ा करना = जी कड़ा करना। चित्त को दृढ़ करना जिससे भय, पीड़ा दुःख आदि से विचलित न हो।

पोढ़ाना†-क्रि० अ० [हिं०. पोढ़] (१) दृढ़ होना। मज़बूत होना। (२) पक्का पड़ना।

क्रि० स० दृढ़ करना। पक्का करना। दृढ़ाना।

पोत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु पक्षी आदि का छोटा बच्चा। (२) छोटा पौधा। (३) वह गर्भस्थ पिंड जिस पर झिल्ली न चढ़ी हो।

यौ०—पोतज = जो जरायुज न हो।

(४) दस वर्ष का हाथी का बच्चा। (५) घर की नींव। (६) कपड़ा। पट। (७) कपड़े की बुनावट। जैसे, इस कपड़े का पोत अच्छा नहीं है। (८) नौका। नाव। जहाज।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रोता, प्रा० पोता] (१) माला या गुरिया का दाना। (२) काँच की गुरिया का दाना। यह अनेक रंगों का होता है और कोदों के दाने के बराबर होता है। नीच जाति की स्त्रियाँ इसे तागे में गूथकर गले में पहनती हैं। इसे लोग छड़ी और नैचे आदि पर भी लपेटते हैं। उससे सोनार गहनों को भी साफ करते हैं। उ०—(क) पतिव्रता मैली भली गले काँच की पोत। सब सखियन में देखिए ज्यों सूरज की जोत।—कबीर। (ख) झीनी कामरि काज कान्ह ऐसी नहिं कीजै। काँच पोत गिर जाइ नंद घर गयौ न पूजै।—सूर। (ग) फिरि फिरि कहा सिखावत मौन। वचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यों पँजरे पर लौन। सींगी मुद्रा भस्म अधारी औ आराधन पौन। हम अबला अहीर शठ मधुकर! धरि जानै कहि कौन। यह मत जाइ तिन्हैं तुम सिखवो जिनहीं यह मत सोहत। सूर आज लौं सुनी न देखी पोत पूतरी पोहत।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० प्रवृत्ति, प्रा० पउत्ति] (१) ढंग। ढब। प्रवृत्ति। उ०—नीच हिये हुलसे रहैं गहे गेंद के पोत। ज्यों ज्यों माथे मारिए त्यों त्यों ऊँचे होत।—बिहारी। (२) बारी। दाँव। पारी। अवसर। ओसरी।

मुहा०—पोत पूरा करना = कमी पूरी करना। ज्यों त्यों करके किसी काम को पूरा करना। **पोत पूरा होना** = कमी पूरी होना। ज्यों त्यों करके किसी काम का पूरा होना।

संज्ञा पुं० [फा० फोता] जमीन का लगान। भूकर।

पोतक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "पोत"। (२) बच्चा। शिशु। (३) महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम।

पोतकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पूतिका। पोई नाम की लता।

पोतड़ा-संज्ञा पुं० [सं० पोत = कपड़ा] वह कपड़ा जो बच्चों के चूतड़ों के नीचे रखा जाता है। गंतरा।

पोतदार-संज्ञा पुं० [हिं० पोत + दार] (१) वह पुरुष जिसके पास लगान कर का रुपया रखा जाय। खजानची। (२) पारखी। वह पुरुष जो खजाने में रुपया परखने का काम करता हो।

पोतन-संज्ञा पुं० [सं०] पवित्र। स्वच्छ। शुद्ध।

वि० पवित्र करनेवाला।

पोतनहर†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना + हर (प्रत्य०)](१) वह बरतन जिसमें घर पोतने के लिये मिट्टी घोल कर रखी हो। (२)

वह स्त्री जो घर पोते या घर पोतने का काम करती हो।

संज्ञा स्त्री० [सं० पोत + नाल] आँत। अँतड़ी।

पोतना–क्रि० स० [सं० प्लुत, प्रा० पुत + ना। पोंतन = पवित्र] (१) किसी गीले पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर फैलाकर लगाना। गीली तह चढ़ाना। चुपड़ना। जैसे, रोगन पोतना, तेल पोतना, चूना पोतना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) किसी गीले या सूखे पदार्थ को किसी वस्तु पर ऐसा लगाना कि वह उस पर जम जाय। जैसे, कालिख पोतना, अबीर पोतना, मिट्टी पोतना, धूल पोतना, रंग पोतना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(३) किसी स्थान को मिट्टी, गोबर, चूने आदि से लीपना। चूने, मिट्टी, गोबर आदि का गीला लेप चढ़ाकर किसी स्थान को स्वच्छ करना। जैसे, घर पोतना, आँगन पोतना। उ०—(क) सोमरूप भल भयो पसारा। धवल सिरी पोतहिँ घर बारा।—जायसी। (ख) पोता मंडप अगर औ चंदन। देव भरा अरगज औ बंदन।—जायसी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

संज्ञा पुं० वह कपड़ा जिससे कोई चीज पोती जाय। पोतने का कपड़ा। पोता।

पोतला–संज्ञा पुं० [हिं० पोतना] पराँठा। तवे पर घी पोतकर सेंकी हुई चपाती।

पोता–संज्ञा पुं० [सं० पौत्र, प्रा० पोत्त] बेटे का बेटा। पुत्र का पुत्र। उ०—तुम्हारे पोते से हमारी पोती का ब्याह होय तो बड़ा आनंद है।—लल्लू।

संज्ञा पुं० [सं० पोतृ, पोता] (१) यज्ञ में सोलह प्रधान ऋत्वजों में से एक। (२) पवित्र वायु। वायु। (३) विष्णु।

संज्ञा पुं० [फा० फोता] (१) पोत। लगान। भूमिकर। (२) अंडकोष।

संज्ञा पुं० दे० "पोटा"। उ०—क्यों धरते धर धीर सबै भट होत कछू बल काहू के पोते।—हनुमान।

संज्ञा पुं० [हिं० पोतना] (१) पोतने का कपड़ा। कूची जिससे घरों में चूना फेरा जाता है। (२) घुली हुई मिट्टी जिसका लेप दीवार आदि पर करते हैं।

मुहा०—पोता फेरना = (१) दीवार आदि पर चूने मिट्टी आदि का लेप करके सफाई करना। (२) चौका लगाना। चौपट करना। (३) सफाई कर देना। सब कुछ लूट ले जाना।

संज्ञा पुं० [सं० पोत] १५ या १६ अंगुल लंबी एक प्रकार की मछली जो हिंदुस्तान की प्रायः सब नदियों में मिलती है।

पोताच्छादन–संज्ञा पुं० [सं०] तंबू। छोलदारी। डेरा।

पोताधान–संज्ञा पुं० [सं०] छौंवर। मछलियों के बच्चों का समूह।

पोतारा–संज्ञा पुं० दे० "पुतारा"।

पोतारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पुतारा] पोतने का कपड़ा।

पोतास–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कपूर। बरास। भीमसेनी कपूर।

विशेष—दे० "कपूर"।

पोतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पोई की बेल। (२) वस्त्र। कपड़ा।

पोतिया–संज्ञा पुं० [सं० पोंत] (१) वह कपड़े का टुकड़ा जिसे साधु पहनते हैं या जिसे पहनकर लोग नहाते हैं। (२) वह छोटी थैली जिसे लोग पास में लिए रहते और जिसमें चूना, तंबाकू, सुपारी आदि रखते हैं। छोटा बटुवा।

संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खिलौना।

पोती–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोता] पुत्र की पुत्री। बेटे की बेटी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोतना] (१) मिट्टी का लेप जो हँड़िया की पेंदी पर इसलिए चढ़ाया जाता है जिसमें अधिक आँच न लगे। (२) पानी का वह पुतारा जो मद्य चुवाते समय बरतन पर फेरा जाता है। इससे भभके से उठी हुई भाप उस बरतन में जाकर ठंढी हो जाती है और मद्य के रूप में टपकती है। (३) पुतारा देने की क्रिया।

पोत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूअर का खाँग। (२) वज्र। (३) एक यज्ञपात्र जो पोता नामक याजक के पास रहता है। (४) नाव। (५) नाव का डाँड़।

पोत्रायुध–संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पोत्री–संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

पोथकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नेत्ररोग जिसमें आँख में खुजली और पीड़ा होती है, पानी बहता है और सरसों के बराबर छोटी छोटी लाल लाल फुंसियाँ निकल आती हैं।

पोथा–संज्ञा पुं० [हिं० पोथी] (१) कागजों की गड्डी। (२) बड़ी पोथी। बड़ी पुस्तक। (व्यंग्य या विनोद) जैसे, तुम इतना बड़ा पोथा लिए क्या फिरते हो ?

पोथिया–संज्ञा पुं० दे० "पोतिया"।

पोथी–संज्ञा स्त्री० [सं० पुस्तिका, प्रा० पोत्थिआ] पुस्तक। उ०—पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोइ। एकै अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पोट = गट्ठा] लहसुन की गाँठ।

पोदना–संज्ञा पुं० [अनु० फुदकना] (१) एक छोटी चिड़िया। उ०—कुछ लाल चिड़े पोदने पिद्दे ही न खुश थे। पिदड़ी भी समझती थी उसे आँख का तारा।—नजीर। (२) छोटे डील डौल का पुरुष। नाटा आदमी। ठेंगना आदमी।

मुहा०–पोदना सा = बहुत छोटा सा। जरा सा।

पोदीना–संज्ञा पुं॰ दे॰ "पुदीना"।

पोद्दार–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पोत, हिं॰ पैाद + द्वार] वह मनुष्य जो गाँजे की जातियाँ उसके स्त्री॰ और पुं॰ भेद तथा खेती के ढंग जानता हो।

संज्ञा पुं॰ दे॰ "पोतदार"।

पोना–क्रि॰ स॰ [सं॰ पूप, हिं॰ पूवा + ना (प्रत्य॰)] (१) गीले आटे की लोई को हाथ से दबा दबाकर घुमाते हुए रोटी के आकार में बढ़ाना। गीले आटे की चपाती गढ़ना। जैसे, आटा पोना। (२) (रोटी) पकाना। उ॰—(क) तुमहिँ अबै जेइँय घर पोई। कमल न भेंटहि, भेंटहि कोईं।–जायसी। (ख) सूर आंखि मजीठ कीनी निपट काँची पोय।—सूर।

क्रि॰ स॰ [सं॰ प्रोत, प्रा॰ पोइअ, पोय + ना (प्रत्य॰)] पिरोना। गूथना। पोहना। उ॰—(क) हरि मोतियन की माल है पोई काँचे धाग। जतन करो झटका घना टूटे की कहुँ लाग।—कबीर। (ख) त्यों त्यों नाचो रे मनमोहन धाम मधुर सुर होई। तैसिये किंकिनि हरि पग नूपुर रसहि मिले सुर होई। कंचन को कँठुला मन मोहत तिन बघनहा बिच पोई। निरखि निरखि सुख नंद सुअन को सुर मन आनँद होई।—सूर। (ग) दिनकर-कुल-मनि निहारि प्रेम मगन ग्राम नारि परसपर कहैं सखि अनुराग ताग पोऊ। तुलसी यह ध्यान सुधन जानि मानि लाभ सघन कृपन ज्यों सनेह सोहिए सुगेह जोऊ।—तुलसी।

संज्ञा पुं॰ दे॰ "पौना"।

पोप–संज्ञा पुं॰ [अं॰] ईसाइयों के कैथलिक संप्रदाय का प्रधान धर्मगुरु। इसका प्रधान स्थान यूरोप में इटली राज्य का रोम नगर है। चौदहवीं शताब्दी तक संसार के सभी ईसाई धर्म्मावलंबी राज्यों पर पोप का बड़ा प्रभाव था। पंद्रहवीं शताब्दी में लूथर नामक एक नए संप्रदाय-स्थापक की शिक्षा से पोप का अधिकार घटने लगा, पर पुराने कैथलिक संप्रदाय के माननेवालों में पोप का अभी वैसा ही आदर है। उनका अभिषेक आदि उसी प्रकार किया जाता है जैसे महाराजाओं का होता है।

पोपला–वि॰ [हिं॰ पुलपुला] (१) जो भीतर के भराव के कम होने या न रहने के कारण पचक गया हो। पचका और सुकड़ा हुआ। (२) बिना दाँत का। जिसमें दाँत न हों। जैसे, बुड्ढों का पोपला मुँह। (३) जिसके मुँह में दाँत न हों। जैसे, पोपला बुड्ढा।

पोपलाना–क्रि॰ अ॰ [हिं॰ पोपला] पोपला होना। उ॰—डाढ़ी नाक याक मा मिलगै बिना दाँत मुँह अस पोपलान। डाढ़िहि पर बहि बहि आवति है कबौं तमाकू जो फाँकन।–प्रताप।

पोपली–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पोपला] आम की गुठली घिसकर बनाया हुआ बाजा जिसे लड़के बजाते हैं।

पोय†–संज्ञा स्त्री॰ दे॰ "पोई"।

पोथा–संज्ञा पुं॰ [सं॰ पोत] (१) वृक्ष का नरम पौधा। (२) बच्चा। (३) साँप का छोटा बच्चा। सँपोला।

पोर–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ पर्व] (१) उँगली की गाँठ या जोड़ जहाँ से वह झुक सकती है। (२) उँगली में दो गाँठों या जोड़ों के बीच की जगह। उँगली का वह भाग जो दो गाँठों के बीच हो। (३) ईख, बाँस, नरसल, सरकंडे आदि का वह भाग जो दो गाँठों के बीच हो। उ॰—(क) प्रीति सीखिए ईख सों पोर पोर रस होय। (ख) पोर पोर तन आपनो अनत बिधायो जाय। तब मुरली नँदलाल पै भई सुहागिन आय।

यौ॰—पोर पोर = पोर पोर में।

(४) रीढ़। पीठ। उ॰—मनमोहन खेलत चौगान। द्वारावती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान। यादव वीर बराए इक इक, इक हलधर, इक अपनी ओर। निकसे सबै कुँवर असवारी उच्चश्रवा के पोर।—सूर।

पोरा–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पोर] (१) लकड़ी का मंडलाकार टुकड़ा। लकड़ी का गोल कुंदा। (२) कुंदे की तरह मोटा आदमी।

पोरिया–संज्ञा स्त्री॰ [हिं॰ पोर] चाँदी का एक गहना जो हाथ पर की उँगलियों की पोरों में पहना जाता है। यह छल्ले का सा होता है पर इसमें घुँघरू के गुच्छे वा झब्बे लगे रहते हैं।

पोरी–संज्ञा स्त्री॰ [देश॰] एक प्रकार की कड़ी मिट्टी।

पोरुआ–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पोर] पोरिया।

पोर्ट–संज्ञा पुं॰ [पुर्त॰ पोर्टो] अंगूर से बनी हुई एक प्रकार की शराब जो भभके से नहीं चुआई जाती, अंगूर के रस को धूप में सड़ाकर बनाई जाती है। इसमें मादकता नाम मात्र को होती है, इससे इसका सेवन पुष्टई के रूप में लोग करते हैं। इसे द्राक्षासव कह सकते हैं।

पोल–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पोला] (१) शून्य स्थान। अवकाश। खाली जगह। जैसे, ढोल के भीतर पोल। (२) खोखलापन। भराव का अभाव। सारहीनता। अंतःसारशून्यता।

मुहा॰—(किसी की) पोल खुलना = भीतरी दुरवस्था प्रगट हो जाना। छिपा हुआ दोष या बुराई प्रगट हो जाना। भंडा फूटना। **(किसी की) पोल खोलना** = भीतरी दुरवस्था प्रगट करना। छिपे हुए दोष या बुराई को प्रगट करना। भंडा फोड़ना।

संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का फुलका।

संज्ञा पुं॰ [सं॰ प्रतोली, प्रा॰ पओली] (१) कहीं जाने का फाटक। प्रवेशद्वार। (२) आँगन। सहन।

पोलक–संज्ञा पुं॰ [हिं॰ पूला] लंबे बाँस के छोर पर चरखी में बँधा हुआ पयाल जिसे लुक की तरह जलाकर बिगड़े हाथी को डराते हैं।

पोलच, पोलचा–संज्ञा पुं० [हिं० पोल] (१) वह परती भूमि जो पिछले वर्ष रबी बोने के पहले जोती गई हो। जैनाल। (२) वह ऊसर या बंजर भूमि जिसे जुते या टूटे तीन वर्ष हो गए हों।

पोला–वि० [हिं० फूलना वा सं० पोल = फुलका] [स्त्री० पोली] (१) जो भीतर से भरा न हो। जिसके भीतर खाली जगह हो। जो ठोस न हो। खोखला। जैसे, पोला बाँस, पोली नली। (२) अंतःसारशून्य। निःसार। तत्त्वहीन। खुक्ख। उ०—है प्रभु मेरो ही सब दोस।...वेष वचन विराग, मन अघ औगुनन को कोस। राम प्रीति प्रतीति पोलो कपट करतब ठोस।—तुलसी। (३) जो भीतर से कड़ा न हो। जो दाब पड़ने से नीचे धँस जाय। पुलपुला। उ०—पर हाथी बुद्धिमान् होते हैं, बहुधा पोला स्थान देखकर चलते हैं।—शिवप्रसाद।

संज्ञा० पुं० [हिं० पूला] सूत का लच्छा जो परेती पर लपेटने से बन जाता है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक छोटा पेड़ जो मध्यप्रदेश में बहुत होता है। इसकी लकड़ी भीतर से बहुत सफेद और नरम निकलती है जिससे उस पर खुदाई का काम बहुत अच्छा होता है। वज़न में भी भारी होती है। हल आदि खेती के सामान उससे बनाए जाते हैं। भीतरी छाल में रेशे होते हैं जो रस्सी बनाने के काम आते हैं। पेड़ बरसात में बीजों से उगता है।

पोलाद–संज्ञा पुं० दे० "फौलाद"।

पोलारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोल] छेनी के आकार का एक छोटा औज़ार जिससे सोनार खोरिया, कंगन, घुँघरू आदि के दानों को फिरफिरे में रखकर खलते हैं। यह तीन चार अंगुल का होता है और इसकी नोक पर छोटा सा गोल दाना बना रहता है।

पोलाव–संज्ञा पुं० दे० "पुलाव"।

पोलिटिकल–वि० [अं०] राज्यप्रबंध संबंधी। शासन संबंधी। राजनीतिक। जैसे, पोलिटिकल काम, पोलिटिकल चाल।

पोलिटिकल एजंट–संज्ञा पुं० [अं०] वह राज-पुरुष जो दूसरे राज्य में अपने राज्य की ओर से उसके स्वत्व और व्यापारादि की रक्षा के लिये रहता है। राजप्रतिनिधि।

पोलिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० पोला] एक पोला गहना जिसे स्त्रियाँ पैरों में पहनती हैं।

संज्ञा पुं० दे० "पौरिया"।

पोली–संज्ञा स्त्री० [देश०] जंगली कुसुम या बर्रे जिसका तेल अफरीदी मोमजामा बनाने के काम में आता है।

पोलो–संज्ञा पुं० [अं०] चौगान की तरह का एक अँगरेजी खेल जो घोड़े पर चढ़कर खेला जाता है।

पोशाक–संज्ञा स्त्री० [फा० पोश] पहनने के कपड़े। वस्त्र। परिधान। पहनावा। उ०—कीन्हे हैं पोशाक कारी, अंगराग कज्जल को, लोहे के विभूषण, त्यों दूषण हथ्यार हैं।—रघुराज।

मुहा०—पोशाक बढ़ाना = कपड़े उतारना।

विशेष—यह शब्द फारस से नहीं आया है, यहीं हिंदुस्तान में बना है।

पोशाकी–संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक कपड़ा जो गाढ़े से बारीक और तनजेब से मोटा होता है। (२) अच्छा कपड़ा।

पोशीदगी–संज्ञा स्त्री० [फा०] गुप्ति। छिपाव।

पोशीदा–वि० [फा०] गुप्त। छिपा हुआ।

पोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पोषण। पुष्टि। उ०—पादप ये इहि सींचते, पावै अँग अँग पोष। पूरबजा ज्यों वरणते सब मानियों संतोष।—प्रियादास। (२) अभ्युदय। उन्नति। (३) आधिक्य। वृद्धि। बढ़ती। (४) धन। (५) तुष्टि। संतोष। उ०—(क) तेहि का होइ नाद पै पोषा। तब परि हूँकै होइ संतोषा।—जायसी। (ख) कोऊ आवे भाव लैं, कोउ लै आवै अभाव। साधु दोऊ को पोस दै, भाव न गिनै अभाव।—कबीर।

पोषक–वि० [सं०] (१) पालक। पालनेवाला। (२) वर्द्धक। बढ़ानेवाला। (३) सहायक।

पोषण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० पोषित, पुष्ट, पोषणीय, पोष्य] (१) पालन। (२) वर्द्धन। बढ़ती। (३) पुष्टि। (४) सहायता। जैसे, पृष्ठपोषण।

पोषध–संज्ञा पुं० [सं० उपवसथ–उपोषध–पोषध] उपवासव्रत। (बौद्ध)।

पोषना–क्रि० स० [सं० पोषण] पालना। उ०—(क) का मैं कीन जो काया पोषी। दोष माहिं आपुनि निर्दोषी।—जायसी। (ख) माधव जू जो जनते बिगरै। तउ कृपालु करुनामय केशव प्रभु नहिँ जीय धरै। जैसे जननि जठर अंतर्गत सुत अपराध करै। तउ पुनि जतन करै औ पोषै निकसे अंत भरै।—सूर। (ग) राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी।—तुलसी।

पोषित–वि० [सं०] पाला हुआ।

पोष्टा–वि० [सं० पोष्टृ] पालनेवाला।

संज्ञा पुं० कंजा। करंज।

पोष्य–वि० [सं०] पालने योग्य। पालनीय। जिसका पालन पोषण कर्त्तव्य हो।

विशेष—माता, पिता, गुरु, पत्नी, संतान, अभ्यागत, शरणागत इत्यादि पोष्य वर्ग में हैं।

संज्ञा पुं० भृत्य । नौकर । दास ।

पोष्यपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालक । पुत्र के समान पाला हुआ लड़का । (२) दत्तक ।

पोस-संज्ञा पुं० [सं० पोष] पालने की कृतज्ञता । पालनेवाले के साथ प्रेम या हेल मेल । जैसे, कुत्ते बहुत पोस मानते हैं; तोते पोस नहीं मानते ।

पोसन-संज्ञा पुं० [सं० पोषण] पालन । रक्षा । उ०—मथुरा हूँ तें गए, सखी री ! अब हरि काले कोसन । यह अचरज है अति मेरे जिय, यह छाँड़न वह पोसन !—सूर ।

पोसना-क्रि० स० [सं० पोषण] (१) पालना । रक्षा करना । उ०—राम सुस्वामी कुसेवक मों सो । निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ।—तुलसी । (२) (पशु को) आहार आदि देकर अपनी रक्षा में रखना । दाना पानी देकर रखना । जैसे, कुत्ता पोसना ।

पोस्ट-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) जगह । स्थान । (२) पद । (३) नौकरी । (४) डाकखाना ।

पोस्टआफिस-संज्ञा पुं० [अं०] डाकघर । डाकखाना ।

पोस्टकार्ड-संज्ञा पुं० [अं०] एक मोटे कागज का टुकड़ा जिस पर पत्र लिखकर खुला भेजते हैं ।

पोस्टमार्टम-संज्ञा पुं० [अं०] (१) मृत्यु का कारण आदि निश्चित करने के लिये मरने पर किसी प्राणी के शरीर की चीर फाड़ । (२) वह परीक्षा जो किसी प्राणी की लाश को चीर फाड़कर की जाय ।

पोस्टमास्टर-संज्ञा पुं० [अं०] डाकघर का सबसे बड़ा कर्मचारी।

पोस्टमैन-संज्ञा पुं० [अं०] डाकिया । इधर उधर चिट्ठी बाँटनेवाला । चिट्ठीरसाँ ।

पोस्टर-इंक-संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की छापे की स्याही जो लकड़ी के अक्षर छापने में काम आती है ।

पोस्टल-गाइड-संज्ञा पुं० [अं०] वह पुस्तक जिसमें डाक द्वारा चिट्ठी, पारसल आदि भेजने के नियम और डाकघरों के नाम आदि रहते हैं ।

पोस्टेज-संज्ञा स्त्री० [अं०] डाक द्वारा चिट्ठी पारसल आदि भेजने का महसूल ।

पोस्त-संज्ञा पुं० [फा०] (१) छिलका । बक्कल । बकला । (२) खाल । चमड़ा । (३) अफीम के पौधे का डोडा या ढोंढ़ । (४) अफीम का पौधा । पोस्ता ।

पोस्ता-संज्ञा पुं० [फा० पोस्त] एक पौधा जिसमें से अफीम निकलती है ।

विशेष—पौधा दो ढाई हाथ ऊँचा होता है । पत्तियां भाँग या गाँजे की पत्तियों की तरह कटावदार पर बहुत बड़ी और सुंदर होती हैं । डंठलों में रोइयाँ सी होती हैं । फागुन चैत में पौधा फूलने लगता है । पौधे के बीचोबीच से एक लंबी पतली नाल (डंठी) ऊपर की ओर जाती है जिसके सिरे पर चार पाँच पखड़ियों का कटोरे के आकार का बहुत सुंदर गोल फूल लगता है । फारस और हिंदुस्तान में जो पोस्ता बोया जाता है उसका फूल भी सफेद और बीज के दाने भी सफेद होते हैं । पर रूम के राज्य में जो पोस्ता होता है उसके फूल प्याजी रंग के और दाने काले होते हैं । बहुत चटकीले लाल फूलवाले पौधे को ही गुलेलाला कहते हैं जिसकी सुंदरता का फारसी के कवियों ने इतना वर्णन किया है और जो शोभा के लिये बगीचों में लगाया जाता है । फूल के बीच में एक घुंडी सी होती है जिसमें इधर उधर की किरनों के सिरों पर पुं० पराग होता है । पखड़ियों के झड़ जाने पर घुंडी बढ़कर डोडे (ढेंढ) के रूप में हो जाती है । इसी को पोस्ते का डोडा या ढेंढ़ कहते हैं । डोडा तीन चार अंगुल का होता है । डोडे के कुछ बढ़ जाने पर उसमें लोहे की नहरनी से खड़ा चीरा या पाँछ लगा देते हैं । पाँछ लगने से उसमें से हलके गुलाबी रंग का दूध निकलता है जो दूसरे दिन लाल रंग का होकर जम जाता है । यही जमा हुआ दूध अफीम है । एक डोडे से तीन चार बार दूध पाँछकर निकाला जा सकता है । फूल की पखड़ियों को भी लोग मिट्टी के गरम तवे पर इकट्ठा करके गोल रोटी के रूप में जमाते हैं जिसे पत्तर कहते हैं । सूखे डोडों से राई के से सफेद सफेद बीज निकलते हैं जो पोस्ते के दाने कहलाते हैं और खाए जाते हैं । पोस्ते की जाति के २५ या २६ पौधे होते हैं । पर उनमें से अफीम नहीं निकलती । वे शोभा के लिये बगीचों में लगाए जाते हैं ।

पोस्ती-संज्ञा पुं० [फा०] (१) वह जो नशे के लिये पोस्ते के डोडे को पीसकर पीता हो । उ०—पोस्ती पड़े कुएँ में तो वहीं चैन है । (२) आलसी आदमी । (३) गुड़िया के आकार का कागज का एक खिलौना जिसके पेंदे में मिट्टी का ठोस गोल दीया सा भरा रहता है । पेंदे से ऊपर की ओर यह गावदुम होता जाता है । यह सदा खड़ा ही रहता है, लेटाने से या ऊपर से गिरने से तुरंत खड़ा हो जाता है । इसे मतवाला और खड़े खाँ भी कहते हैं ।

पोस्तीन-संज्ञा पुं० [फा०] (१) गरम और मुलायम रोएँवाले समूर आदि कुछ जानवरों की खाल का बना हुआ पहरावा जिसे पामीर, तुर्किस्तान, मध्य एशिया के लोग पहनते हैं । (२) खाल का बना हुआ कोट जिसमें नीचे की ओर बाल होते हैं । उ०—सर्द मुल्कवाले सदा ऊनी कपड़े और पोस्तीनों में लिपटे रहते हैं ।—शिवप्रसाद ।

पोहना†*-क्रि० स० [सं० प्रोत, प्रा० पोइअ, पोय + ना (प्रत्य०)

(१) पिरोना। गूँथना। उ०—(क) लटकन लटकि रहें मुख ऊपर पँचरंग मणिगण पोहे री। मानहुँ गुरु शनि शुक्र एक ह्वै लाल भाल पर सोहे री।—सूर। (ख) जुगुति बेधि पुनि पोहियहि रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग।—तुलसी। (२) छेदना। उ०—इक एक सिर सरनिकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं। जनु कोपि दिनकर-करनिकर जहँ तहँ विधुंतुद पोहहीं।—तुलसी। (३) लगाना। पोतना। उ०—भरोसो कान्ह को है मोहिँ। सुनु यशोदा कंस भय ते तू जनि व्याकुल होहि। पहिले पूतना कपट करि आइ स्तननि विष पोहि। वैसी प्रबल द्वै दिन के बालक मारि देखावत तोहि।—सूर। (४) जड़ना। घुसाना। धँसाना। जमाना। उ०—(क) अब जानी पिय बात तुम्हारी। मों सों तुम मुँह की मिलवत हो भावत है वह प्यारी…… भली करी यह बात जनाई प्रगट देखाई मोंहिँ। सूरश्याम यह प्राण पियारी उर में राखी पोहि।—सूर। (ख) कै मधुपावलि मंजु लसै अरविंद लगी मकरंदहि पोहे।—बेनी। (५) पीसना। घिसना। (६) दे० "पोना"।

वि० [स्त्री० पोहनी] घुसनेवाला। भेदनेवाला। उ०—यह चार अंग सी सोहनी, चार सैन्य मधि पोहनी। जुग चार चार श्रुति में विदित मृत्युपास मनमोहनी।—गोपाल।

पोहमी*-संज्ञा स्त्री० दे० "पुहमी"।

पोहर‡-संज्ञा पुं० [हिं० पोहा] (१) वह स्थान जहाँ पशु चराये जाते हैं वा चरते हैं। चरहा। (२) चरहा। घास वा पशुओं के चरने का चारा। चरी।

पोहा‡-संज्ञा पुं० [सं० पशु] पशु। चौपाया।

पोहिया‡-संज्ञा पुं० [हिं० पोहा] चरवाहा।

पौंचा-संज्ञा पुं० [हिं० पाँच] साढ़े पाँच का पहाड़ा।

पौंडई-वि० [हिं० पौंड़ा] पौंड़े के रंग का। गन्नई।

संज्ञा पुं० एक रंग जो पौंड़े के रंग से मिलता जुलता होता है। इसमें २० सेर टेसू का रंग और १½ छटांक हलदी पड़ती है। रंग पीलापन लिए हरा होता है। इसे गन्नई भी कहते हैं।

पौंडरीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थल पद्म। पुंडरी। (२) एक प्रकार का कुष्ठ जिसमें कमल के पत्ते के रंग का सा वर्ण हो जाता है। (३) एक यज्ञ का नाम।

पौंडर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्थल पद्म।

पौंडा-संज्ञा पुं० [सं० पौंड्रक] एक प्रकार की बड़ी और मोटी जाति की ईख या गन्ना जिसका छिलका कुछ कड़ा होता है पर जिसमें रस बहुत अधिक होता है। यह ईख अधिकतर चूसने के काम में आती है। लोग इसके रस से गुड़, चीनी आदि नहीं बनाते। पौंडा दो प्रकार का होता है—सफेद और काला। सुश्रुत ने पौंडे को शीतल और पुष्ट कहा है। कहते हैं कि पौंडा पहले पहल इस देश में चीन से आया।

पर्य्या०—भीरुक। वंशक। शतपोरक। कांतार। काष्ठेक्षु। सूचिपत्रक। नैपाल। नीलपोर (काला गन्ना)।

पौंडी-संज्ञा स्त्री० दे० "पैारी"।

पौंड्र-वि० [सं०] (१) पुंड्र देश का। (२) पुंड्र देश का निवासी या राजा।

संज्ञा पुं० (१) भीमसेन के शंख का नाम। (२) मोटा गन्ना। पौंडा। (३) पुंड्र देश (विहार का एक भाग) के वसुदेव का पुत्र जो मिथ्या वासुदेव कहलाया। दे० "पौंड्रक"। (४) मनु के अनुसार एक जाति जो पहले क्षत्रिय थी पर पीछे संस्कारभ्रष्ट होकर वृषलत्व को प्राप्त हो गई थी। दे० "पुंड्र"।

पौंड्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मोटा गन्ना। पौंडा। (२) एक पतित जाति। दे० "पुंड्र"। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में इसी जाति को शौंडिका (कलवारिन) और वैश्य से उत्पन्न एक संकर जाति लिखा है। (३) पुंड्र देश का एक राजा जो जरासंध का संबंधी था। इसके पिता का नाम भी वसुदेव था, इससे यह अपने को वासुदेव कहता था। राजसूय यज्ञ के समय भीम ने इसे हराया था। श्रीकृष्ण के समान यह भी अपना रूप बनाए रहता था। नारद के द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा सुनकर यह बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा मेरे अतिरिक्त और दूसरा वासुदेव है कौन। इसने एकलव्य आदि वीरों को लेकर द्वारका पर चढ़ाई की पर कृष्ण के हाथ से मारा गया।

पौंड्रवत्स-संज्ञा पुं० [सं०] वेद की शाखा का नाम।

पौंड्रवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] पुंड्रवर्द्धन नगर।

पौंड्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पौंडा नाम का गन्ना। (२) एक गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि। (३) लवा नाम का पक्षी। (४) पुंड्र नामक देश।

पौंढ़ना-क्रि० स० दे० "पौढ़ना"।

पौंरना†—क्रि० अ० [सं० प्लवन] तैरना।

पौंरि-संज्ञा स्त्री० दे० "पौरि", "पौरी"।

पौंरिया-संज्ञा पुं० दे० "पौरिया"।

पौ-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रपा, प्रा० पवा] पौसाला। पौसला। प्याऊ।

संज्ञा स्त्री० [सं० पाद, प्रा० पाय, पवा = किरन] किरन। प्रकाश की रेखा। ज्योति।

मुहा०—**पौ फटना** = सबेरे का उजाला दिखाई पड़ना। सबेरा होना। तड़का होना। उ०—पौ फाटी, पागर हुआ, जागे जीया जून। सब काहू को देत है चोंच समाना चून।—कबीर।

संज्ञा पुं० [सं० पाद, प्रा० पाय, पाव] (१) पैर। (२) जड़।

उ०—पौ बिनु पत्र, करह बिन तूँबा, बिनु जिव्भा गुन गावै।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० [सं० पद, प्रा० पव = कदम, डग] पाँसे की एक चाल या दावँ।

विशेष—फेंकने पर जब ताक आता है या दस, पचीस, तीस आते हैं तब पौ होती है।

मुहा०—पौ बारह पड़ना = जीत का दाँव पड़ना। **पौ बारह होना** = (१) जीत का दाँव पड़ना। (२) जीत होना। बन आना। भाग्य खुलना। लाभ का खूब अवसर मिलना। जैसे, यहाँ तो सदा पौ बारह हैं।

पौआ-संज्ञा पुं० दे० "पौवा"।

पौगंड-संज्ञा पुं० [सं०] पाँच वर्ष से दस वर्ष तक की अवस्था।

पौठ-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रवर्त्त, प्रा० पवट्ट] जोत की एक रीति जिसके अनुसार प्रति वर्ष जोतने का अधिकार नियमानुसार बदलता रहता है। बारी बारी गाँव के सब किसानों की जोत में खेत जाता रहता है। भेजवारी।

पौडर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) चूर्ण। बुकनी। (२) एक सफेद चूर्ण जिसे लोग मुँह पर मलते हैं।

पौड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + ड़ी] लकड़ी का मोढ़ा जिस पर मदारी बंदर को नचाते समय बिठाता है।

मुहा०—पौड़ी पर ठिकना = पौड़ी पर बैठना। मोढ़े पर बैठना। (मदारी)।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बहुत कड़ी मिट्टी।

पौढ़ना-क्रि० अ० [सं० प्लवन, प्रा० पव्वलन] झूलना। आगे पीछे हिलना। जैसे, झूले का पौढ़ना।

क्रि० अ० [सं० प्रलोठन, ?] लेटना। सोना। उ०—(क) महलन माहीं पौढ़ते परिमल अंग लगाय। छत्रपती की छाक में गदहा लोटै जाय।—कबीर। (ख) लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौंढ़ी दोऊ कंत गर लाई।—जायसी। (ग) पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता।—तुलसी। (घ) दूरहि ते देखे बलबीर। अपने बालसखा सुदामा मलिन बसन अरु छीन सरीर। पौढ़े हुते प्रयंक परम रुचि रुक्मिणि चमर डुलावति तीर। उठि अकुलाय अगमने लीने मिलत नैन भरि आए नीर।—सूर।

पौढ़ाना-क्रि० स० [हिं० पौढ़ना] (१) डुलाना। झुलाना। इधर से उधर हिलाना। (२) लेटाना। उ०—एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पालन पौढ़ाए।—तुलसी। (३) सोलाना। उ०—(क) सेज रुचिर रचि राम उठाए। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाए।—तुलसी। (ख) चारों भ्रातन श्रमित जानि कै जननी तब पौढ़ाए। चापत चरण जननि अब अपनी कछुक मधुर स्वर गाए।—सूर।

पौण्य-वि० [सं०] पुण्यकर्मकारक।

पौतन-संज्ञा पुं० [सं०] एक जनपद।

पौताना‡-संज्ञा पुं० (१) दे० "पैताना"। (२) जुलाहों के करघे में लकड़ी का एक औजार जो चार अंगुल लंबा और चौकोर होता है। इसके बीच में छेद होता है जिसमें रस्सी लगाकर इसे पौसर में बाँध देते हैं। कपड़ा बुनते समय यह करघे के गड्ढे में लटकता रहता है। इसे पैर के अँगूठे में फँसाकर ऊपर नीचे उठाते और दबाते हैं जिससे राछ पौसर आदि दबते और उठते हैं।

पौतिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मधु।

पौतिनासिक्य-संज्ञा पुं० [सं०] पीनस रोग।

पौत्तलिक-वि० [सं०] (१) पुतली का। पुतली संबंधी। (२) प्रतिमापूजक। मूर्तिपूजक।

पौत्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्तिका नाम की मधुमक्खी का मधु। यह मधु घी के समान होता है और प्रायः नैपाल से आता है।

पौत्र-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौत्री] लड़के का लड़का। पोता।

पौत्रिकेय-संज्ञा पुं० [सं०] पुत्रिका का पुत्र। लड़की का लड़का जो अपने नाना की संपत्ति का उत्तराधिकारी हो।

पौद-संज्ञा स्त्री० [सं० पोत] (१) छोटा पौधा। नया निकलता हुआ पेड़। (२) वह कोमल छोटा पौधा जो एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाया जा सके।

क्रि० प्र०—जमाना।—लगाना।

(३) संतान। वंश।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + पट] वह वस्त्र जो बड़े लोगों के मार्ग में इसलिए बिछाया जाता है कि वे उस पर से होकर चलें। पाँवड़ी। पाँवड़ा। उ०—(क) सबै बड़भागी अनुरागी प्रभु पाहन के, चाहन सों बात कहैं सबके बिलास की। चले उपरौध मनो पौद लगी आनंद की, औध आय गई औध गई बनबास की।—हनुमान। (ख) गोपुर ते अंतःपुर द्वारा। लगी पौद विस्तार अपारा।—रघुराज।

पौदन्य-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नगर का नाम जहाँ अश्मक राजा की राजधानी थी।

पौदर-संज्ञा स्त्री० [हिं० पाँव + डालना] (१) पैर का चिह्न। (२) वह राह जो पैर की रगड़ से बन गई हो। पगडंडी। (३) वह राह जिस पर होकर कोल्हू या मोट खींचनेवाला बैल घूमता या आता जाता है।

पौदा-संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) नया निकलता हुआ पेड़। वह पेड़ जो अभी बढ़ रहा हो। (२) छोटा पेड़। क्षुप, गुल्म आदि।

क्रि० प्र०—लगाना।

(३) रेशम या सूत का फुँदना जिसे बुलबुल की पेटी में बाँध देते हैं।

पौद्गलिक–वि० [सं०] (१) पुद्गल संबंधी। द्रव्य या भूत संबंधी। (२) जीव संबंधी। (३) विषयानुरक्त। स्वार्थी।

पौधन–संज्ञा स्त्री० [सं० पयस् + आधान] मिट्टी का वह बरतन जिसमें खाना रखकर परोसा जाता है।

पौधा–संज्ञा पुं० [सं० पोत] (१) नया निकलता हुआ पेड़। वह पेड़ जो अभी बढ़ रहा हो। उगता हुआ नरम पेड़। (२) छोटा पेड़, क्षुप, गुल्म आदि। जैसे, आग का पौधा, नील का पौधा।

क्रि० प्र०—लगाना।

पौधि–संज्ञा स्त्री० दे० "पौद"। उ०—प्रेम की सी पौधि प्यारी सूखत अनौधि दुख औधि दिन बीते कहो कैसे धीर धरिहैं।—देव।

पौनःपुनिक–वि० [सं०] जो बार बार हो। फिर फिर होनेवाला।

पौन–संज्ञा पुं०, स्त्री० [सं० पवन] (१) वायु। हवा।

यौ०—पौन का पूत = (१) हनुमान। (२) नाग। सर्प (वेग के कारण)।

(२) जीव। प्राण। जीवात्मा। उ०—नौ द्वारे का पींजरा तामें पंछी पौन। रहने को आचरज है गए अचंभा कौन।—कबीर। (३) प्रेतात्मा। प्रेत। भूत।

मुहा०—**पौन चलाना या मारना**=जादू करना। टोना चलाना। मूठ चलाना। प्रयोग करना। **पौन बिठाना** = (किसी पर) भूत करना। किसी के पीछे प्रेत लगाना।

वि० [सं० पाद+ऊन=पादोन, प्रा० पाओन] एक में से चौथाई कम। तीन चौथाई। जैसे, पौन घंटे में आएँगे।

संज्ञा पुं० ढगण का एक भेद जिसमें पहले गुरु पीछे लघु होते हैं।

पौनर्णव–संज्ञा पुं० [सं०] भल्लूकी तंत्र के अनुसार एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसमें रोगी लंबी साँसें लेता है और पीड़ा से बहुत तलफता है।

पौनर्भव–वि० [सं०] [स्त्री० पौनर्भवा] (१) पुनर्भू संबंधी। पूनर्भू का। (२) पुनर्भू से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) पुनर्भू से उत्पन्न पुत्र। यह धर्म्मशास्त्र में सात प्रकार के पुत्रों में अंतिम माना गया है। (२) वह पति जिसके साथ विधवा का वा पति से परित्यक्ता स्त्री का पुनर्विवाह हो।

पौनर्भवा–संज्ञा पुं० [सं०] वह कन्या जिसका किसी के साथ एक बार विवाह संस्कार हो गया हो और फिर दूसरी बार दूसरे के साथ विवाह किया जाय। कश्यप ने सात प्रकार की पौनर्भवा कन्याएँ मानी हैं, (१) वाचादत्ता, (२) मनोदत्ता, (३) कृतकौतुकमंगला, (४) उदकस्पर्शिता, (५) पाणिगृहीतिका, (६) अग्निपरिगता, और (७) पुनर्भूप्रभवा।

पौना–संज्ञा पुं० [सं० पाद + ऊन, प्रा० पाव + ऊन = पाऊन] पौन का पहाड़ा।

संज्ञा पुं० [हिं० पौना] काठ या लोहे की बड़ी करछी जिसका सिरा गोल और चिपटा होता है। इसके द्वारा आग पर चढ़े कड़ाह में से पूरियाँ कचौरियाँ आदि निकालते हैं।

पौनार–संज्ञा स्त्री० [सं० पद्मनाल] कमल के फूल की नाल या डंठल। कमल की नाल बहुत नरम और कोमल होती है, उसके ऊपर महीन महीन रोइयाँ या काँटे से होते हैं। उ०—(क) पहुँचहिँ छपी कमल पौनारी. जंघ छिपा कदली होइ बारी।—जायसी। (ख) चंदन गाभ की भुजा सँवारी। जनु सो बेल कमल पौनारी।—जायसी।

पौनारि†–संज्ञा स्त्री० दे० "पौनार"।

पौनिया–संज्ञा [हिं० पौन] कपड़ा जिसका थान पौन थान के बराबर होता है और अर्ज भी कुछ कम होता है।

पौनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पावना] (१) गाँव में वे काम करनेवाले जिन्हें अनाज की राशि में से कुछ अंश मिलता है। (२) नाई, बारी, धोबी आदि काम करनेवाले जो विवाह आदि उत्सवों पर इनाम पाते हैं। उ०—(क) काढ़ौ कोरा कापर हो अरु काढ़ौ घी को मौन। जाति पाँति पहिराइ कै सब समदि छतीसौ पौनि।—सूर। (ख) चली पौनि सब गोहने फूल डार लै हाथ। विश्वनाथ कइ पूजा पदुमावति के साथ।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पौना] छोटा पौना।

पौने–वि० [हिं० पौन] किसी संख्या में से चौथाई भाग कम। किसी संख्या का तीन चौथाई। जैसे, पौने दो, पौने आठ इत्यादि।

विशेष—इसका प्रयोग संख्यावाचक शब्दों के साथ होता है।

मुहा०—**पौने चार सेर**=बनियों की बोलचाल में एक रुपये में पंद्रह सेर की बिक्री। **पौने सोलह आना** = बहुत अधिक अंश। अधिकांश। बहुत सा। उ०—परंतु ध्यान से देखने से उन लोगों की बातों में पौने सोलह आना झूठ निकलता है।—दुर्गाप्रसाद। **पौने सोलह आने** = अधिक अंश में। प्रायः। जैसे, तुम्हारी बात पौने सोलह आने ठीक निकली।

पौमान–संज्ञा पुं० (१) दे० "पवमान"। (२) जलाशय। उ०—दासी दास अप्सरा नाना। बाग तड़ाग विविध पौमाना। —रघुनाथ।

पौरंदर–संज्ञा पुं० [सं०] ज्येष्ठा नक्षत्र का नाम।

पौर–वि० [सं०] (१) पुर संबंधी। नगर का। (२) नगर में उत्पन्न। (३) पेटू। उदरंभरि। (४) पूर्व दशा वा काल में उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) रोहिष वा रूसा नाम की घास। (२) पुरु राजा का पुत्र। (३) नखी नामक गंधद्रव्य। नख।

संज्ञा स्त्री० दे० "पौरि", "पौरी" ।

पौरक–संज्ञा पुं० [सं०] घर के बाहर का उपवन । पाईं बाग ।

पौरकुत्स–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम ।

पौरगीय–वि० [सं०] पूर्वजन्म संबंधी ।

पौरव–वि० [सं०] [स्त्री० पौरवी] पुरु के वंश का । पुरु से उत्पन्न ।

संज्ञा पुं० (१) पुरु का वंशज । पुरु की संतति । (२) उत्तर पूर्व का एक देश (महाभारत) । (३) देश निवासी । (४) उक्त देश का राजा ।

पौरवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युधिष्ठिर की एक स्त्री का नाम । (२) वसुदेव की एक स्त्री का नाम । (३) संगीत में एक मूर्च्छंना। इसका सरगम इस प्रकार है,—ध, नि, स, रे, ग, म, प । प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे ।

पौरसख्य–संज्ञा पुं०[सं०] वह मित्रता जो एकही नगर वा ग्राम में रहने से परस्पर होती है ।

पौरस्त्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंतःपुर में रहनेवाली । पुर या नगर की स्त्री ।

पौरा†–संज्ञा पुं० [हिं० पैर] आया हुआ कदम । पड़े हुए चरण । पैरा । जैसे, बहू का पौरा न जाने कैसा है जब से आई है घर में कोई सुखी नहीं है ।

पौराण–वि० [सं०] (१) पुराणों में कहा वा लिखा हुआ । (२) पुराण संबंधी ।

पौराणिक–वि०[सं०] [स्त्री० पौराणिकी] (१) पुराणवेत्ता । (२) पुराणपाठी । (३) पुराण संबंधी । पुराण का । जैसे, पौराणिक कथा । (४) पूर्वकालीन । प्राचीन काल का ।

संज्ञा पुं० अठारह मात्रा के छंदों की संख्या ।

पौरि–संज्ञा स्त्री० दे० "पौरी" ।

पौरिया–संज्ञा पुं० [हिं० पौरि] द्वारपाल । ड्योढ़ीदार । दरबान । उ०—(क) अति आतुर नृप मोहिँ बुलायो । कौन काज ऐसो अँटक्यो है मन मन सोच बढ़ायो । आतुर जाय पौरि भयो ठाढ़ो कह्यो पौरिया जाई । सुनत बुलाय महल महँ लीनो सुफलकसुत गयो धाई ।—सूर । (ख) साईं इन न विरोधिए गुरु, पंडित, कवि, यार । बेटा, बनिता, पौरिया, यज्ञ करावनहार ।—गिरिधर ।

पौरी–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतोली, प्रा० पओली] घर के भीतर का वह भाग जो द्वार में प्रवेश करते ही पड़े और थोड़ी दूर तक लंबी कोठरी या गली के रूप में चला गया हो । ड्योढ़ी । उ०–(क) सेए सीताराम नहिँ भजे न शंकर गौरि । जनम गँवायो बादि ही परत पराई पौरि ।—तुलसी । (ख) राजा ! इक पंडित पौरि तुम्हारी ।—सूर । (ग) चाह भरी अति रिस भरी बिरह भरी सब बात । कोरि सँदेसे दुहुन के चले पौरि लौं जात ।—बिहारी । (घ) पौरि लौं खेलन जाती न तौ इन आलिन के मत में परती क्यों ?—देव ।

पौरुकुत्स–संज्ञा पुं० [सं०] पुरुकुत्स के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

पौरुकुत्सि–संज्ञा पुं० [सं०] पुरुकुत्स का पुत्र ।

पौरुक्ति–संज्ञा पुं० [सं०] पुनर्वचन । पुनर्कथन । दोहराना ।

पौरुमद्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुमह्ल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुमीढ़–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान ।

पौरुष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष का भाव । पुरुषत्व । पुंस्त्व । (२) पुरुष का कर्म । पुरुषार्थ । (३) बलवीर्य्य । पराक्रम । साहस । मरदानगी । (४) उद्योग । उद्यम । कर्मण्यता । जैसे, अपने पौरुष का भरोसा रखो, दूसरे की कमाई पर न रहो । (५) गहराई या उँचाई की एक माप । पुरसा । (६) उतना बोझ जितना एक आदमी उठा सके ।

वि० पुरुष संबंधी ।

पौरुषेय–वि० [सं०] (१) पुरुष संबंधी । पुरुष का । (२) पुरुष कृत । आदमी का किया हुआ । (३) आध्यात्मिक ।

संज्ञा पुं० (१) पुरुष का विकार । (२) पुरुष का समूह । जन-समुदाय । (३) पुरुष का कर्म । मनुष्य का काम । (४) रोज की मजदूरी या काम करनेवाला मजदूर ।

पौरुष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साहस । (२) पुरुषत्व ।

पौरुहूत––संज्ञा पुं० [सं०] पुरुहूत या इंद्र का अस्त्र । वज्र ।

पौरू—संज्ञा स्त्री० [देश०] भूमि का एक भेद । एक प्रकार की मिट्टी या जमीन जिसके कई भेद होते हैं ।

यौ०—**पौरू केहरा** = यह मिट्टी सफेद रंग की होती है और इसके ऊपर पतली पपड़ी सी जम जाती है जिससे रेह और सज्जी बन सकती है । इस भूमि में रबी और खरीफ दोनों फसलें होती हैं । **पौरू केहरा अमीर** = इसका रंग सफेदी लिए पीला होता है और इसमें फसल अधिक वर्षा में उपजती है । **पौरू कौड़िया** = यह मिट्टी ललाई लिए होती है । यह न गीली होने से लसीली होती है न सूखने पर फटती है । इसमें खरीफ की फसल अच्छी होती है और पानी देने से इसमें रबी की फसल भी होती है । **पौरू तूसी** = यह भूरे रंग की होती है । इसमें रबी नहीं उपज सकती । **पौरू दुरसन** = इसकी मिट्टी कहीं ललाई और कहीं कालापन लिए होती है । इसमें रबी की फसल अच्छी होती हैं पर ख़रीफ के लिये पानी की अधिक आवश्यकता पड़ती है ।

पौरेय–संज्ञा पुं० [सं०] नगर के समीप का स्थान, देश, ग्राम आदि ।

पौरोगव–संज्ञा पुं० [सं०] पाकशालाध्यक्ष ।

पौरोहित्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुरोहिताई । पुरोहित का कर्म ।

पौर्णपर्क–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वैदिक कृत्य ।

पौर्णमास–संज्ञा पुं० [सं०] एक याग वा इष्टिका जो पूर्णिमा के दिन होती थी ।

पौर्णमासी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णमासी ।

विशेष—यज्ञों में प्रतिपदुत्तरा पूर्णमासी का ही ग्रहण होता है। दो प्रकार की पूर्णमासी मानी गई है एक पूर्वा जिसे पंचदशी भी कहते हैं, दूसरी उत्तरा जिसे प्रतिपदुत्तरा कहते हैं।

पौर्णमास्य–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्णिमा को होनेवाला यज्ञ आदि ।

पौर्णमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्णिमा ।

पौर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्त्त कार्य्य । पूर्त्त ।

पौर्त्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्त्त साधक कर्म ।

पौर्वापर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्व और पर अर्थात् आगे और पीछे का भाव । (२) अनुक्रम । सिलसिला ।

पौर्वाह्णिक–वि० [सं०] [स्त्री० पौर्वाह्णिकी] पूर्वाह्ण संबंधी ।

पौर्विक–वि० [सं०] पूर्व में होनेवाला ।

पौलहस्ती–संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्पणखा ।

पौलस्त्य–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौलस्त्यी] (१) पुलस्त्य का पुत्र वा उनके वंश का पुरुष । (२) कुबेर । (३) रावण, कुंभकर्ण और विभीषण । (४) चंद्र ।

पौलस्त्यी–संज्ञा स्त्री० [सं०] शूर्पणखा ।

पौला†–संज्ञा पुं० [हिं० पाव, पाउ + ला (प्रत्य०)] एक प्रकार की खड़ाऊँ जिसमें खूँटी नहीं होती, छेद में बँधी हुई रस्सी में अँगूठा फँसा रहता है। उ०—पौला पहिरि कै हर जोतै और सुथना पहिरि निरावैं । कहैं घाघ ये तीनों भकुआ सिर बोझा औ गावैं ।

पौलि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) थोड़ा भुना हुआ जौ, सरसों आदि । (२) फुलका । रोटी ।

संज्ञा स्त्री० दे० "पौली" ।

पौलिया–संज्ञा पुं० दे० "पौरिया" ।

पौलिश–वि० [यू० पालस (Paulus Alexandrinus)] पुलिश कृत (ज्योतिष का एक सिद्धांत) ।

पौली–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतोली, प्रा० पओली] पौरी । ड्योढ़ी । उ०–ऊँचा दीसै धरहरा माड़ी चिट्टी पौलि ।–कबीर ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० पाव, पाउ = ली (प्रत्य०)] (१) पैर का वह भाग जो खड़े होने पर जमीन से आड़ा लगा रहता है। एड़ी से लेकर उँगलियों तक का भाग। उतना पैर जितने में जूता, खड़ाऊँ आदि पहनते हैं। (२) पैर का निशान जो धूल, गीली मिट्टी आदि पर पड़ जाता है। पदचिह्न ।

पौलूषि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुलु वंश में उत्पन्न पुरुष। (२) सत्ययज्ञ नामक एक ऋषि जो पुलु ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका नाम शतपथ ब्राह्मण में आया है।

पौलोम–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० पौलोमी] (१) पुलोमा ऋषि का अपत्य या पुत्र । (२) कौशीतक उपनिषद् के अनुसार दैत्यों की एक जाति का नाम ।

पौलोमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी । (२) भृगु महर्षि की पत्नी का नाम ।

पौल्कस–वि० [सं०] पुल्कस (एक संकर जाति) जाति संबंधी ।

संज्ञा पुं० पुल्कस जाति का मनुष्य ।

पौवा†–संज्ञा पुं० [सं० पाद, हिं०पाव] (१) एक सेर का चौथाई भाग । सेर का चतुर्थांश । उ०–ओढ़न मेरा राम नाम, मैं रामहिं को बनजारा हो । राम नाम का करों बनिज मैं हरि मोरा बढ़वारा हो । सहस नाम को करों पसारा दिन दिन होत सवाई हो । कान तराजू सेर तिनपौवा उह किन ढोल बजाई हो ।—कबीर । (२) मिट्टी या काठ आदि का एक बरतन जिसमें पाव भर पानी, दूध आदि आ जाय ।

पौष–संज्ञा पुं० [सं०] वह महीना जिसमें पूर्णमासी पुष्य नक्षत्र में हो। पूस ।

पौष्कर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्करमूल । (२) पद्म की जड़ । भीसा । भसीड़ । (३) एरंड का मूल । (४) स्थलपद्म ।

पौष्करमूल–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्करमूल ।

पौष्करसादि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वैयाकरण ऋषि का नाम जिनके मत का उल्लेख महाभाष्य में है। (२) पुष्करसद् नाम ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

पौष्करिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा पोखरा । छोटा तालाब ।

पौष्कल–संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम ।

पौष्कल्य–संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्णता ।

पौष्टिक–वि० [सं०] पुष्टिकारक । बलवीर्य्यदायक । जैसे, पौष्टिक औषध ।

संज्ञा पुं० (१) वह कर्म जिससे धन जन आदि की वृद्धि हो। (२) वह कपड़ा जो मुंडन के समय सिर पर डाल दिया जाता है ।

पौष्टी–संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा पुर की एक स्त्री ।

पौष्ण–संज्ञा पुं० [सं०] रेवती नक्षत्र ।

वि० पुषा देवता संबंधी । पुषा देवता का (चरु आदि)।

पौष्प–वि० [सं०] पुष्प संबंधी । फूल का ।

संज्ञा पुं० (१) फूलों से निकाला हुआ मद्य । (२) पुष्परेणु । फूल की धूल । पराग ।

पौष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] कुसुमांजन ।

पौष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पपुर या पाटलिपुत्र ।

पौसला–संज्ञा स्त्री० [सं० पयःशाला] (१) वह स्थान जहाँ पर पानी पिलाया जाता है । (२) प्यासों को पानी पिलाने का प्रबंध ।

क्रि० प्र०—बैठाना ।—चलाना ।

पौसार–संज्ञा स्त्री० [हिं० पावँ] लकड़ी का एक डंडा जो ताने और राछ के नीचे लगा रहता है। यह करघे के भीतर

रहता है। इसी को पैर से दबाकर राछ को ऊँचा नीचा करते हैं।

पौसेरा-संज्ञा पुं० [हिं० पाव+सेर] पाव सेर की तौल।

पौहारी-संज्ञा पुं० [सं० पयस् = दूध+आहार] वह जो केवल दूध ही पीकर रहे (अन्न आदि न खाय)। जैसे, पौहारी बाबा।

प्याऊ-संज्ञा पुं० [सं० प्रपा, हिं० प्याना = पिलाना+ऊ (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ सर्व साधारण को पानी पिलाया जाता है। पौसरा। सबील।

प्याज-संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रसिद्ध कंद जो बिलकुल गोल गाँठ के आकार का होता है और जिसके पत्ते पतले लंबे और सुगंधराज के पत्तों के आकार के होते हैं। गाँठ में ऊपर से नीचे तक केवल छिलके ही छिलके होते हैं। यह कंद प्रायः सारे भारत में होता है और तरकारी या मांस के मसाले के काम में आता है। कहीं कहीं इसका उपयोग औषधों आदि में भी होता है। यह बहुत अधिक पुष्ट माना जाता है। इसकी गंध बहुत उग्र और अप्रिय होती है जिसके कारण इसका अधिक व्यवहार करनेवालों के मुँह और कभी कभी शरीर या पसीने से भी विकट दुर्गंध निकलती है। इसी लिये हिंदुओं में इसके खाने का बहुत निषेध है। यह बहुत दिनों तक रखा जा सकता है और कम सड़ता है। वैद्यक के अनुसार इसके गुण प्रायः लहसुन के समान ही हैं। वैद्यक में इसे मांस और वीर्यवर्द्धक, पाचक, सारक, तीक्ष्ण, कंठशोधक, भारी, पित्त और रक्त वर्धक, बलकारक, मेधाजनक, आँखों के लिये हितकारी रसायन, तथा जीर्णज्वर, गुल्म, अरुचि, खाँसी, शोथ, आमदोष, कुष्ठ, अग्निमांद्य, कृमि, वायु और श्वास आदि का नाशक माना जाता है। इसमें से एक प्रकार का तेल भी निकलता है जो उत्तेजक और चेतनाजनक माना जाता है। प्याज को कुचलने से जो रस निकलता है वह बिच्छू आदि के काटे हुए स्थान पर लगाया भी जाता है और मूर्छा के समय उसे सुँघाने से चेतना आती है।

पर्या०-सुकंदक। लोहित कंद। तीक्ष्ण कंद। उष्ण। मुखदूषण। शूद्रप्रिय। कृमिघ्न। मुखगंधक। बहुपत्र। विश्वगंध। रोचन।

प्याजी-वि० [फा०] प्याज के रंग का। हलका गुलाबी।

प्यादा-संज्ञा पुं० [फा०] (१) पदाति। पैदल। (२) दूत। हरकारा। (३) शतरंज के खेल में एक गोटी।

प्याना†-क्रि० स० दे० "पिलाना"।

प्यार-संज्ञा पुं० [सं० प्रीति] (१) मुहब्बत। प्रेम। चाह। स्नेह। (२) वह स्पर्श, चुंबन, संबोधन आदि जिससे प्रेम सूचित हो। प्यार जनाने की क्रिया। जैसे, बच्चों को प्यार करना।

संज्ञा पुं० [सं० पियाल] अचार या पियार नाम का वृक्ष जिसका बीज चिरौंजी है।

प्यारा-वि० [सं० प्रिय] [स्त्री० प्यारी] (१) जिसे प्यार करें। जो प्रिय हो। प्रेमपात्र। प्रीतिपात्र। प्रिय। (२) जो अच्छा लगे। जो भला मालूम हो। (३) जो छोड़ा न जाय। जिसे कोई अलग करना न चाहे। जैसे, प्राण सब को प्यारा होता है।

प्याला-संज्ञा पुं० [फा०] [स्त्री० अल्प० प्याली] (१) एक विशेष प्रकार का छोटा कटोरा जिसका ऊपरी भाग या मुँह नीचेवाले भाग या पेंदे की अपेक्षा कुछ अधिक चौड़ा होता है और जिसका व्यवहार साधारणतः जल, दूध या शराब आदि पीने में होता है। छोटा कटोरा। बेला। जाम।

मुहा०—प्याला पीना या लेना = मद्य पीना। शराब पीना। प्याला देना = मद्य पिलाना। शराब पिलाना। प्याला भरना = आयु का पूर्ण होना। दिन पूरे होना।

(२) जुलाहों का मिट्टी का वह बरतन जिसमें वे नरी भिगोते हैं। (३) गर्भाशय।

मुहा०-प्याला बहना = गर्भपात होना। गर्भ गिरना।

(४) भीख माँगने का पात्र। कासा। खप्पर। (५) तोप या बंदूक आदि में वह गड्ढा या स्थान जिसमें रंजक रखते हैं।

प्यावना†*-क्रि० स० दे० "पिलाना"।

प्यास-संज्ञा स्त्री० [सं० पिपासा] (१) मुँह और गले के सूखने से होनेवाली वह अनुभूति जो शरीर के जलीय पदार्थ के कम हो जाने पर होती है। जल पीने की इच्छा। तृषा। तृष्णा। पिपासा।

विशेष--शरीर के सभी अंगों में कुछ न कुछ जल का अंश होता है जिससे सब अंगों की पुष्टि होती रहती है। जब यह जल शरीर के काम में आने के कारण घट जाता है तब सारे शरीर में एक प्रकार की सुस्ती मालूम होने लगती है और गला तथा मुँह सूखने लगता है। उस समय जल पीने की जो इच्छा होती है उसी का नाम प्यास है। जीवों के लिये भूख की अपेक्षा प्यास अधिक कष्टदायक होती है क्योंकि जल की आवश्यकता शरीर के प्रत्येक स्नायु को होती है। भोजन के बिना मनुष्य कुछ अधिक दिनों तक जी सकता है। पर जल के बिना बहुत ही थोड़े समय में उसका जीवन समाप्त हो जाता है। जो लोग प्यास के मारे मरते हैं वे प्रायः मरने से पहले पागल हो जाते हैं।

मुहा०-प्यास बुझाना = जल पीकर तृष्णा को शांत करना। प्यास लगना = प्यास मालूम होना। पानी पीने की इच्छा होना।

(२) किसी पदार्थ आदि की प्राप्ति की प्रबल इच्छा। प्रबल कामना।

प्यासा–वि० [सं० पिपासित] जिसे प्यास लगी हो। जो पानी पीना चाहता हो। तृषित। पिपासा युक्त।

प्यून–संज्ञा पुं० [अं०] प्यादा। सिपाही। चपरासी। हलकारा।

प्यूस†–संज्ञा पुं० दे० "पेवस"।

प्यूसी†—संज्ञा स्त्री० दे० "पेवसी"।

प्यो*†–संज्ञा पुं० [हिं० पिय] पति। स्वामी। खाविंद। उ०—एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगौ पिय प्यौ कहै प्यारी। देव सु बालम बाल को बाद विलोकि भई बलि हौं बलिहारी।—देव।

प्योरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) रुई की मोटी बत्ती। (२) एक प्रकार का पीला रंग।

प्योसर–संज्ञा पुं० [हिं० सं० पीयूष] हाल की ब्याई हुई गौ का दूध। उ०—सब हेरि धरी है साठी। लै उपर उपर ते काढ़ी। अति प्योसर सरिस बनाई। तेहिं सोंठ मिरच रुचिताई।—सूर।

प्योसार†–संज्ञा पुं० [सं० पितृशाला] स्त्री के लिये पिता का गृह। पीहर। मायका। उ०–परत फिराय पयोनिधि भीतर सरिता उलट बहाई। मनु रघुपति भयभीत सिंधु पत्नी प्योसार पठाई।—सूर।

प्यौंदा†–संज्ञा पुं० दे० "पैबंद"।

प्यौसरी–संज्ञा पुं० दे० "पेवसी"।

प्रकंप–संज्ञा पुं० [सं०] थरथराहट। कँपकँपी।

प्रकंपन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कँपकँपी। थरथराहट। (२) वायु। हवा। (३) एक नरक का नाम। (४) एक राक्षस का नाम।

वि० हिलानेवाला। जो कंप उत्पन्न करे।

प्रकंपमान–वि० [सं०] जो थरथराता हो। अत्यंत हिलता हुआ।

प्रकट–वि० [सं०] (१) जो सामने आया हो। जो प्रत्यक्ष हुआ हो। जाहिर। जैसे, इस नगर में प्लेग प्रकट हुआ है। (२) उत्पन्न। आविर्भूत। जैसे, इतने में वहाँ एक राक्षस प्रकट हुआ। (३) स्पष्ट। व्यक्त। जाहिर।

प्रकटन–संज्ञा पुं० [सं०] प्रकट होने की क्रिया।

प्रकटित–संज्ञा पुं० [सं०] जो प्रकट हुआ हो। प्रकट किया हुआ।

प्रकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगुरु। अगर नामक गंधद्रव्य। (२) समूह। (३) खिला हुआ फूल। (४) सहारा। मदद। सहायता। (५) अधिकार। (६) खूब काम करनेवाला। वह जो किसी काम में बहुत होशियार हो।

प्रकरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पन्न करना। अस्तित्व में लाना। (२) किसी विषय को समझने या समझाने के लिये उस पर वाद विवाद करना। जिक्र करना। वृत्तांत। (३) प्रसंग विषय। (४) किसी ग्रंथ के अंतर्गत छोटे छोटे भागों में से कोई भाग। किसी ग्रंथ आदि का वह विभाग जिसमें किसी एक ही विषय या घटना आदि का वर्णन हो। परिच्छेद। अध्याय। (५) वह वचन जिसमें कोई कार्य अवश्य करने का विधान हो। (६) दृश्य काव्य के अंतर्गत रूपक के दस भेदों में से एक। साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें सामाजिक और प्रेम संबंधी कल्पित घटनाएँ होनी चाहिएँ और प्रधानतः शृंगार रस ही रहना चाहिए। जिस प्रकरण की नायिका वेश्या हो वह शुद्ध और जिसकी नायिका कुलवधू हो वह संकीर्ण प्रकरण कहलाता है। नाटक की भाँति इसका नायक बहुत उच्च कोटि का पुरुष नहीं होता; और न इसका आख्यान कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक वा पौराणिक वृत्त होता है। संस्कृत के मृच्छकटिक, मालतीमाधव आदि "प्रकरण" के ही अंतर्गत हैं।

प्रकरणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटिका।

प्रकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का गान। (२) नाटक में प्रयोजनसिद्धि के पाँच साधनों में से एक जिसमें किसी एक देशव्यापी चरित्र का वर्णन होता है।

प्रकर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्कर्ष। उत्तमता। (२) अधिकता। बहुतायत।

प्रकर्षक–वि० [सं०] उत्कर्ष करनेवाला।

प्रकर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकर्ष। उत्कर्ष। (२) अधिकता।

प्रकर्षणीय–वि० [सं०] जो उत्कर्ष करने के योग्य हो।

प्रकला–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक कला (समय) का साठवाँ भाग।

प्रकल्पना–संज्ञा स्त्री० [सं०] निश्चित करना। स्थिर करना।

प्रकल्पित–वि० [सं०] निश्चित किया हुआ। स्थिर किया हुआ।

प्रकश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोड़े से मारना। (२) पीड़ा देना। कष्ट पहुँचाना।

प्रकशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] शूक नामक रोग जिसमें पुरुषों की मूत्रेंद्रिय सूज जाती है और जो इंद्री को बढ़ानेवाली ओषधियों का प्रयोग करने से होता है।

प्रकांड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्कंध। वृक्ष का तना। (२) शाखा। डाल। (३) वृक्ष। पेड़।

वि० (१) बहुत बड़ा। (२) बहुत विस्तृत।

प्रकाम–संज्ञा पुं० [सं०] कामना। इच्छा।

वि० यथेष्ट। काफी। पूरा।

प्रकाम्योद–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक देवता।

प्रकार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेद। किस्म। जैसे, (क) मनुष्य कई प्रकार के होते हैं। (ख) चार प्रकार के फल। (२) तरह। भाँति। जैसे, इस प्रकार यह काम न होगा। (३) सदृशता। समानता। बराबरी।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्राकार] चहारदीवारी । परकोटा । घेरा । जैसे, (क) विशद राजमंदिर मणिमंडित मंजुल आठ प्रकारा । (ख) तीनि प्रकार प्रजा निवसत चौथे मँह रघुकुल बीरा ।—रघुराज ।

प्रकाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके भीतर पड़कर चीजें दिखाई पड़ती हैं । वह जिसके द्वारा वस्तुओं का रूप नेत्रों को गोचर होता है । दीप्ति । आभा । आलोक । ज्योति । चमक । तेज ।

विशेष—वैज्ञानिकों के अनुसार जिस प्रकार ताप गतिशक्ति का एक रूप है उसी प्रकार प्रकाश भी । प्रकाश कोई द्रव्य नहीं है जिसमें गुरुत्व हो । प्रकाश पड़ने पर भी किसी वस्तु की उतनी ही तौल रहेगी जितनी अँधेरे में थी । प्रकाश के संबंध में इधर वैज्ञानिकों का यह सिद्धांत है कि प्रकाश एक प्रकार की तरंगवत् गति है जो किसी ज्योतिष्मान् पदार्थ के द्वारा ईथर वा आकाशद्रव्य में उत्पन्न होती है और चारों ओर बढ़ती है । जल में यदि पत्थर फेंका जाय तो जहाँ पत्थर गिरता है वहाँ जल में क्षोभ उत्पन्न होता है जिससे तरंगें उठकर चारों ओर बढ़ने लगती हैं । ठीक इसी प्रकार ज्योतिष्मान् पदार्थ द्वारा ईथर वा आकाशद्रव्य में जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह प्रकाश की तरंगों के रूप में चलता है । यह आकाशद्रव्य विभु वा सर्वव्यापक पदार्थ है जो जिस प्रकार ग्रहों और नक्षत्रों के बीच अंतरिक्ष में सर्वत्र भरा है उसी प्रकार ठोस से ठोस वस्तुओं के परमाणुओं और अणुओं के बीच में भी । अतः प्रकाश का वाहक यथार्थ में यही आकाशद्रव्य है । प्रकाशतरंगों की गति कल्पनातीत है । वे एक सेकंड में १८६००० मील या ९३००० कोस के हिसाब से चलती हैं । प्रकाश की जो किरनें निकलती हैं यद्यपि वे सब की सब एक ही गति से गमन करती हैं पर तरंगों की लंबाई के कारण उनमें भेद होता है । तरंगें भिन्न भिन्न लंबाई की होती हैं । इससे किसी एक प्रकार की तरंगों से बनी हुई किरनें दूसरे प्रकार की तरंगों से बनी हुई किरनों से भिन्न होती हैं । यही भेद रंगों के भेद का कारण है । दे० "रंग" । जैसे, जिस तरंग की लंबाई '०००१६ इंच होती है वह बैंगनी रंग देती है, जिसकी लंबाई '०००२४ इंच होती है वह लाल रंग देती है । इसी प्रकार अनंत भेद हैं जिनमें से कुछ ही हमारी चक्षुरिंद्रिय को ग्राह्य हैं । पहले न्यूटन आदि पुराने तत्त्वविदों ने प्रकाश को अणुमय वस्तु के रूप में माना था पर पीछे वह अखंड वस्तु की तरंगों के रूप का माना गया । इधर थोड़े दिनों से फिर अणुमय मानने की प्रवृत्ति वैज्ञानिकों में दिखाई पड़ रही है ।

(२) विकाश । स्फुटन । विस्तार । अभिव्यक्ति । (३) प्रकटन । प्रकट होना । गोचर होना । देखने में आना । (४) प्रसिद्धि । ख्याति । (५) स्पष्ट होना । खुलना । साफ समझ में आना । (६) घोड़े की पीठ पर की चमक । (७) हास । हँसी ठट्ठा । (८) किसी ग्रंथ या पुस्तक का विभाग । (९) धूप । घाम ।

वि० (१) प्रकाशित । जगमगाता हुआ । दीप्त । (२) विकसित । स्फुटित । (३) प्रकट । प्रत्यक्ष । गोचर । (४) अति प्रसिद्ध । ख्यात । सर्वत्र जाना सुना हुआ । (५) स्पष्ट । समझ में आया हुआ ।

प्रकाशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो प्रकाश करे । जैसे, सूर्य । (२) वह जो प्रकट करे । प्रसिद्ध करनेवाला । जैसे, ग्रंथ-प्रकाशक, समाचार-पत्र-प्रकाशक । (३) काँसा । (४) महादेव का एक नाम ।

प्रकाशकार-संज्ञा पुं० दे० "प्रकाशक" ।

प्रकाशता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रकाश का भाव या धर्म ।

प्रकाशधृष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] धृष्ट नायक के दो भेदों में से एक । वह नायक जो प्रकट रूप से धृष्टता करे, झूठी सौगंध खाय, नायिका के साथ साथ लगा फिरे, सबके सामने संकोच त्यागकर हँसी ठट्ठा करे, झिड़कने आदि पर भी न माने ।

प्रकाशन-वि० [सं०] प्रकाश करनेवाला । चमकीला । दीप्तिवान् ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु का एक नाम । (२) प्रकाशित करने का काम । प्रकाश में लाने का काम । (३) किसी पुस्तक के छप जाने पर उसको सर्वसाधारण में प्रचलित करने का काम । जैसे, पुस्तक-प्रकाशन, पत्र-प्रकाशन ।

प्रकाशमान-वि० [सं०] (१) चमकता हुआ । चमकीला । प्रकाशयुक्त । (२) प्रसिद्ध । मशहूर ।

प्रकाशवान-वि० दे० "प्रकाशमान" ।

प्रकाश वियोग-संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार वियोग के दो भेदों में से एक । वह वियोग जो सब पर प्रकट हो जाय ।

प्रकाश संयोग-संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार संयोग के दो भेदों में से एक । वह संयोग जो सब पर प्रकट हो जाय ।

प्रकाशात्मा-संज्ञा पुं० [सं० प्रकाशात्मन्] (१) सूर्य । (२) विष्णु ।

प्रकाशित-वि० [सं०] (१) जिसमें से प्रकाश निकल रहा हो । चमकता हुआ । (२) जिस पर प्रकाश पड़ रहा हो । चमकता हुआ । (३) जो प्रकाश में आ चुका हो । प्रकट । जैसे, यह पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है ।

प्रकाशी-संज्ञा पुं० [सं० प्रकाशिन्] वह जिसमें प्रकाश हो । चमकता हुआ ।

प्रकाश्य-वि० [सं०] प्रगट करने योग्य । जाहिर करने योग्य ।

क्रि० वि० प्रकट रूप से । स्पष्टतया । "स्वगत" का उलटा । (नाटक) ।

प्रकास※–संज्ञा पुं० दे० "प्रकाश"।

प्रकीर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंधवाला करंज। (२) अध्याय। प्रकरण। (३) चँवर। (४) पागल। (५) उद्दंड। उच्छृंखल। (६) फुटकर कविता। वि० (१) फैला हुआ। विस्तृत। (२) बिखरा हुआ। छितराया हुआ। (३) मिला हुआ। मिश्रित। (४) तरह तरह का। अनेक प्रकार का।

प्रकीर्णक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चँवर। (२) अध्याय। प्रकरण। (३) विस्तार। (४) वह जिसमें तरह तरह की चीजें मिली हों। फुटकर। जैसे, प्रकीर्णक कविता। प्रकीर्णक पुस्तकमाला। (५) वह पाप जिसके प्रायश्चित्त का ग्रंथों में उल्लेख न हो। फुटकर पाप।

प्रकीर्णकेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

प्रकीर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोर जोर से कीर्त्तन करना। (२) घोषणा करना।

प्रकीर्त्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोषणा। (२) प्रसिद्धि। ख्याति।

प्रकीर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गंधवाला करंज। (२) रीठा करंज।

प्रकुंच, प्रकुंज–संज्ञा पुं० [सं०] आठ तोले या एक पल का मान।

प्रकुपित–वि० [सं०] (१) जिसका प्रकोप बहुत बढ़ गया हो। जैसे, प्रकुपित कफ। (२) जो बहुत क्रुद्ध हो।

प्रकुष्मांडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

प्रकृत–वि० [सं०] (१) जो विशेष रूप से किया गया हो। (२) वास्तविक। यथार्थ। असली। सच्चा। (३) जो बनाया गया हो। रचा हुआ। (४) जिसमें किसी प्रकार का विकार न हुआ हो। (५) स्वभाववाला। प्रकृतिवान्।

संज्ञा पुं० श्लेष अलंकार का एक भेद।

प्रकृतता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकृत होने का भाव। (२) यथार्थता। असलियत।

प्रकृतत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकृत होने का भाव। (२) यथार्थता। असलियत।

प्रकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्वभाव। मूल या प्रधान गुण जो सदा बने रहे। तासीर। जैसे, आलू की प्रकृति गरम है। (२) प्राणी की प्रधान प्रवृत्ति। न छूटनेवाली विशेषता। स्वभाव। मिजाज। जैसे, वह बड़ी खोटी प्रकृति का मनुष्य है। (३) जगत् का मूल बीज। वह मूल शक्ति अनेक रूपात्मक जगत जिसका विकाश है। जगत् का उपादान कारण। कुदरत।

विशेष–सांख्य में पुरुष और प्रकृति से अतिरिक्त और कोई तीसरी वस्तु नहीं मानी गई है। जगत् प्रकृति का ही विकार अर्थात् अनेक रूपों में प्रवर्त्तन है। प्रकृति की विकृति या परिणाम ही जगत् है। जिस प्रकार कि एकरूपता या निर्विशेषता से परिणाम द्वारा अनेक रूपता की ओर सर्गोन्मुख गति होती है उसी प्रकार फिर अनेकरूपता से क्रमशः उस एकरूपता की ओर गति होती है जिसे साम्यावस्था, प्रलयावस्था या स्वरूपावस्था कहते हैं। प्रथम प्रकार की गतिपरंपरा को विरूप परिणाम और दूसरी प्रकार की गतिपरंपरा को स्वरूप परिणाम कहते हैं। स्वरूपावस्था में प्रकृति अव्यक्त रहती है, व्यक्त होने पर ही वह जगत् कहलाती है। इन्हीं दोनों परिणामों के अनुसार जगत् बनता और बिगड़ता रहता है। प्रकृति के परिणाम का क्रम इस प्रकार कहा गया है—प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धि), महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र (शब्द तन्मात्र, रस तन्मात्र इत्यादि), पंचतन्मात्र से एकादश इंद्रिय (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय और मन) और उनसे फिर पंचमहाभूत। इस प्रकार ये चौबीसों तत्त्व जिनसे संसार बना है प्रकृति ही के परिणाम हैं। जो क्रम कहा गया है वह विरूप परिणाम का है। स्वरूप परिणाम का क्रम उलटा होता है, अर्थात् उसमें पंचमहाभूत एकादश इंद्रिय रूप में, फिर इंद्रिय तन्मात्र रूप में, तन्मात्र अहंकार रूप में—इसी क्रम से सारा जगत् फिर नष्ट होकर अपने मूल प्रकृतिरूप में आ जाता है। विशेष दे०—"सांख्य"।

प्रकृतिज–वि० [सं०] जो प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न हुआ हो।

प्रकृति भाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वभाव। (२) संधि का वह नियम जिसमें दो पदों के मिलने से कोई विकार नहीं होता।

प्रकृति मंडल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल इन सातों अंगों का समूह। (२) प्रजा का समूह।

प्रकृतिवशित्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रकृति को अधिकार में लाने या रखने की शक्ति।

प्रकृतिशास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें प्राकृतिक बातों (जैसे, जीव, पशु, वनस्पति, भूगर्भ आदि) का विचार किया जाय।

प्रकृतिसिद्ध–वि० [सं०] स्वाभाविक। प्राकृतिक। नैसर्गिक।

प्रकृतिस्थ–वि० [सं०] (१) जो अपनी प्राकृतिक अवस्था में हो। अपने स्वभाव में स्थित। अपनी मामूली हालत में। (२) स्वाभाविक।

प्रकृतिस्थ सूर्य–संज्ञा पुं० [सं०] उत्तरायण उल्लंघन करके आया हुआ सूर्य।

प्रकृत्यजीर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] साधारण या स्वाभाविक अजीर्ण

प्रकृष्ट-वि० [सं०] (१) मुख्य। प्रधान। खास। (२) उत्तम। श्रेष्ठ। (३) आकृष्ट। खिँचा हुआ।

प्रकृष्टता-संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तमता। उत्कृष्टता। श्रेष्ठता।

प्रकोट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहरपनाह। परिखा। परकोटा। (२) धुस्स।

प्रकोप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत अधिक कोप। (२) क्षोभ। (३) चंचलता। चपलता। (४) किसी रोग की प्रबलता। बीमारी का अधिक और तेज होना। जैसे, आजकल शहर में हैजे का बहुत प्रकोप है। (५) शरीर के वात, पित्त आदि का किसी कारण से बिगड़ जाना जिससे रोग उत्पन्न होता है। जैसे, उनको पित्त के प्रकोप के कारण ज्वर हुआ है।

प्रकोपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के प्रकोप को बढ़ाना। उत्तेजित करना। (२) गुस्सा करना। नाराज होना। बिगड़ना। (३) क्षोभ। (४) वात-पित्त आदि का कोप। विशेष—दे० "प्रकोप"। (५) चंचलता।

प्रकोष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोहनी के नीचे का भाग। (२) बड़े दरवाजे के पास की कोठरी। सदर फाटक के पास की कोठरी। (३) बड़ा आँगन जिसके चारों ओर इमारत हो।

प्रकोष्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम।

प्रक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रम। सिलसिला। (२) वह उपाय जो किसी कार्य के आरंभ में किया जाय। उपक्रम। (३) अतिक्रम। उल्लंघन। (४) अवसर। मौका।

प्रक्रमण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह घूमना। खूब भ्रमण करना। (२) पार करना। (३) आरंभ करना। (४) आगे बढ़ना।

प्रक्रमभंग-संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में एक दोष जो उस समय होता है जब कि किसी वर्णन में आरंभ किए हुए क्रम आदि का ठीक ठीक पालन नहीं होता।

प्रक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकरण। (२) क्रिया। युक्ति। तरीका। (३) राजाओं का चँवर छत्र आदि का धारण।

प्रक्लिन्नवर्त्म-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें आँख की पलकें बाहर से सूज जाती हैं और आँखों में कीचड़ भर जाता है। विशेष—दे० "क्लिन्नवर्त्म"।

प्रक्लेद-संज्ञा पुं० [सं०] आर्द्रता। नमी। तरी।

प्रक्लेदन-संज्ञा पुं० [सं०] तर करना। गीला करना। भिगोना।

प्रक्षय-संज्ञा पुं० [सं०] क्षय। नाश। बरबादी।

प्रक्षयण-संज्ञा पुं० [सं०] नाश करना। बरबाद करना।

प्रक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े की पाखर।

प्रक्षरण-संज्ञा पुं० [सं०] झरना। बहना।

प्रक्षाल-संज्ञा पुं० [सं०] प्रायश्चित्त।

प्रक्षालन-संज्ञा पुं० [सं०] जल से साफ करने की क्रिया। धोना।

प्रक्षालित-वि० [सं०] धोया हुआ।

प्रक्षाल्य-वि० [सं०] धोने या साफ करने के योग्य।

प्रक्षिप्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंका हुआ। (२) ऊपर से बढ़ाया हुआ। पीछे से मिलाया हुआ। जैसे, (क) रामायण में लव-कुश कांड प्रक्षिप्त है। (ख) इस पुस्तक में एक प्रकरण प्रक्षिप्त है।

प्रक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकना। डालना। (२) छितराना। बिखराना। (३) मिलाना। बढ़ाना। (४) वह पदार्थ जो औषध आदि में ऊपर से डाला जाय। (५) वह मूल धन जो किसी व्यापारिक समाज या संस्था का प्रत्येक सदस्य लगा दे। हिस्सेदारों की अलग अलग लगाई हुई पूँजी।

प्रक्षेपण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकना। (२) ऊपर से मिलाना। (३) जहाज आदि का चलाना। (४) निश्चित करना।

प्रक्षेपलिपि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अक्षर लिखने की एक विशेष रीति।

प्रक्षोभण-संज्ञा पुं० [सं०] घबराहट। बेचैनी।

प्रखर-वि० [सं०] (१) तीक्ष्ण। प्रचंड। जैसे, सूर्य की प्रखर किरण। (२) धारदार। चोखा। पैना।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) खच्चर। (२) कुत्ता। (३) घोड़े की पाखर।

प्रखरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रखर होने की क्रिया या भाव तेजी।

प्रखल-वि० [सं०] बहुत बड़ा दुष्ट।

प्रख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विख्याति। प्रसिद्धि। (२) समता। बराबरी। (३) उपमा।

प्रख्यात-क्रि० वि० [सं०] जिसे सब लोग जानते हों। प्रसिद्ध। मशहूर। विख्यात।

प्रख्याति--संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रख्यात होने का भाव। प्रसिद्धि। विख्याति।

प्रगंड-संज्ञा पुं० [सं०] कंधे से लेकर कोहनी तक का भाग।

प्रगंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्ग आदि का प्राकार जिस पर बैठकर दूर दूर की चीजें देखते हैं। बाहरी दीवार।

प्रगंध-संज्ञा पुं० [सं०] दवन पापड़ा।

प्रगट-वि० दे० "प्रकट"।

प्रगटन-संज्ञा पुं० दे० "प्रकटन"।

प्रगटना†-क्रि० अ० [सं० प्रगटन] प्रगट होना। सामने आना। जाहिर होना।

प्रगटाना†–क्रि० स० [सं० प्रकटन, हिं० प्रगटना का सं० रूप] प्रकट करना। जाहिर करना।

प्रगमन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रगमनीय] (१) आगे बढ़ना। (२) उन्नति। तरक्की। (३) झगड़ा। लड़ाई। (४) वह भाषण जिसमें कोई अच्छा उत्तर दिया गया हो। अनूठा या माकूल जवाब।

प्रगल्भ–वि० [सं०] (१) चतुर। होशियार। (२) प्रतिभाशाली। संपन्न बुद्धिवाला। (३) उत्साही। साहसी। हिम्मती। (४) समय पर ठीक उत्तर देनेवाला। हाजिर जवाब। (५) निर्भय। निडर। (६) बोलने में संकोच न रखनेवाला। बकवादी। (७) गंभीर। भरा पूरा। (८) प्रधान। मुख्य। (९) निर्लज्ज। बेहया। धृष्ट। (१०) उद्धत। जिसमें नम्रता न हो। (११) अभिमानी। (१२) पुष्ट।

प्रगल्भता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धिमत्ता। होशियारी। (२) प्रतिभा। बुद्धि की संपन्नता। (३) उत्साह। (४) हाजिर जवाबी। वाक्चातुरी। (५) निर्भयता। संकोच का अभाव। (६) गंभीरता। (७) प्रधानता। मुख्यता। (८) निर्लज्जता। बेहयाई। धृष्टता। (९) उद्धतता। (१०) अभिमान। (११) पुष्टता। (१२) बकवाद। व्यर्थ की बातचीत। (१३) सामर्थ्य। शक्ति।

प्रगल्भवचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्या नायिका के चार भेदों में से एक। वह नायिका जो बातों ही बातों में अपना दुख और क्रोध प्रकट करे और उलाहना दे।

प्रगल्भा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रौढ़ा (नायिका)।

प्रगसना*†–क्रि० अ० [सं० प्रकाश] प्रकट होना। प्रकाशित होना।

प्रगाढ़–वि० [सं०] (१) बहुत अधिक। जैसे, प्रगाढ़ संकट। (२) बहुत गाढ़ा या गहरा। जैसे, प्रगाढ़ निद्रा। (३) कड़ा। कठोर। घना।

प्रगाता–संज्ञा पुं० [सं०] गानेवाला।

प्रगामी–संज्ञा पुं० [सं० प्रगामिन्] वह जो गमन करता हो। जानेवाला।

प्रगायी–संज्ञा पुं० [सं० प्रगायिन्] गानेवाला।

प्रगीति–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छंद।

प्रगुण–वि० [सं०] (१) चतुर। दक्ष। होशियार। (२) गुणवान्। (३) अनुकूल।

प्रगुणी–वि० [सं० प्रगुणिन्] गुणवान्।

प्रगृहीत–वि० [सं०] (१) जो अच्छी तरह ग्रहण किया गया हो। (२) जिसका उच्चारण बिना संधि के नियमों का ध्यान रखे किया जाय।

प्रगृह्य–वि० [सं०] (१) जो ग्रहण करने के योग्य हो। (२) जो बिना संधि के नियमों का ध्यान रखे उच्चारण करने के योग्य हो।
संज्ञा पुं० (१) स्मृति। (२) वाक्य।

प्रग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रहण करने या पकड़ने का भाव या ढंग। धारण। (२) लड़ने का एक प्रकार। (३) सूर्य अथवा चंद्रमा के ग्रहण का आरंभ। (४) आदर सत्कार। (५) अनुग्रह। कृपा। (६) उद्धतता। (७) बाग लगाम। (८) किरण। (९) रस्सी। डोरी, विशेषतः तराजू आदि में बँधी हुई डोरी। (१०) नेता। मार्गदर्शक। (११) किसी ग्रह के साथ रहनेवाला छोटा ग्रह। उपग्रह। (१२) बाँह। हाथ। (१३) बँधुवा। कैदी। (१४) कार्णकार वृक्ष। कनियारी। (१५) इंद्रिय दमन इंद्रियनिग्रह। (१६) सोना। सुवर्ण। (१७) विष्णु। (१८) एक प्रकार का अमलतास। (१९) घोड़े आदि पशुओं का साधना।

प्रग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रहण करने की क्रिया या भाव। धारण। (२) सूर्य आदि के ग्रहण का आरंभ। (३) घोड़े आदि पशुओं को साधना। (४) तराजू आदि की डोरी। (५) लगाम। बाग।

प्रग्राह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तराजू आदि की डोरी। (२) लगाम। बाग।

प्रग्रीव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी मकान के चारों तरफ का वह घेरा जो लट्ठे या बाँस आदि गाड़कर बनाया जाता है। (२) झरोखा। छोटी खिड़की। (३) अस्तबल। (४) वृक्ष का ऊपरी भाग। (५) आमोद प्रमोद करने का स्थान। रंगभवन।

प्रघट*–वि० दे० "प्रकट"।

प्रघटक–संज्ञा पुं० [सं०] सिद्धांत।

प्रघटना*–क्रि० अ० दे० "प्रगटना"।

प्रघट्टक–संज्ञा पुं० [सं०] सिद्धांत।
*†वि० [सं० प्रकट] प्रगट करनेवाला। खोलनेवाला। प्रकाश करनेवाला। उ०—भट्ट प्रघट्टक कहुँ न दिखाहीं। द्वैताद्वैत कथा परिछाहीं।

प्रघण, प्रघन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बरामदा। अलिंद। (२) लोहे का मुदगर। (३) ताँबे का घड़ा।

प्रघस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दैत्य जो रावण की सेना का मुख्य सेनानायक था और जिसे हनुमान् ने प्रमदावन उजाड़ने के समय मारा था। (२) दैत्य। राक्षस।
वि० भक्षक। खानेवाला।

प्रघसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम।

प्रघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मारना। (२) युद्ध।

प्रघास–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चातुर्मास्य याग।

प्रघोर–वि० [सं०] अति कठिन। बहुत अधिक कठिन।

प्रचंड–वि० [सं०] (१) बहुत अधिक तीव्र। तेज। बहुत

तीखा। उग्र। प्रखर। (२) बहुत अधिक वेगवान्। प्रबल। (३) भयंकर। (४) कठिन। कठोर। (५) दुःसह। असह्य। (६) बड़ा। भारी। (७) पुष्ट। बलवान्। (८) बहुत गरम। (९) प्रतापी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव का एक गण। (२) सफेद कनेर।

प्रचंडता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रचंड होने का भाव। तेजी। तीखापन। प्रबलता। उग्रता। (२) भयंकरता।

प्रचंडत्व-संज्ञा पुं० दे० "प्रचंडता"।

प्रचंडमूर्त्ति-संज्ञा पुं० [सं०] वरना वृक्ष।

प्रचंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद दूब जिसके फूल सफेद होते हैं। (२) दुर्गा। चंडी। (३) दुर्गा की एक सखी।

प्रचय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदपाठ विधि में एक प्रकार का स्वर जिसके उच्चारण के विधानानुसार पाठक को अपना हाथ नाक के पास ले जाने की आवश्यकता पड़ती है। (२) बीजगणित में एक प्रकार का संयोग। (३) समूह। झुंड। (४) राशि। ढेर। (५) वृद्धि। बढ़ती। (६) लकड़ी आदि की सहायता से फूल या फल एकत्र करना।

प्रचर-संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग। रास्ता।

प्रचरण-संज्ञा पुं० [सं०] विचरण। चलना। फिरना।

प्रचरना*†-क्रि० अ० [सं० प्रचार] प्रचारित होना। चलना। फैलना। उ०—यहू देश में प्रचरो पूरो। नास्तिकवाद भयो सब दूरो।—रघुराज।

प्रचरित-वि० [सं०] प्रचलित। चलता हुआ।

प्रचल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत अधिक चंचल हो। (२) मोर।

प्रचलक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा कीड़ा। (सुश्रुत)।

प्रचलन-संज्ञा पुं० [सं०] चलन। प्रचार।

प्रचला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह निद्रा जो बैठे या खड़े हुए मनुष्य को आती है। (२) वह पापकर्म जिसके उदय से ऐसी निद्रा आती है।

प्रचलित-वि० [सं०] जारी। चलता हुआ। जिसका चलन हो। जैसे, प्रचलित प्रथा, प्रचलित सिक्का, प्रचलित नाम।

प्रचाय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ से कोई चीज इकट्ठा करना। (२) राशि। ढेर। (३) वृद्धि। अधिकता।

प्रचायक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रचायिका] (१) वह जो इकट्ठा करे। संग्रह करनेवाला। (२) ढेर लगानेवाला।

प्रचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का निरंतर व्यवहार या उपयोग। चलन। रवाज। जैसे, (क) आजकल अंगरखे का प्रचार कम हो गया है। (ख) इस ग्रंथ का बहुत अधिक प्रचार है। (२) प्रसिद्ध। (३) प्रकाश। (४) घोड़ों की आँख का एक रोग जिसमें आँखों के आस पास का मांस बढ़कर दृष्टि रोक लेता है। यह मांस काट डाला जाता है।

प्रचारक-वि० [सं०] [स्त्री० प्रचारिणी] फैलानेवाला। किसी वस्तु का चलन बढ़ानेवाला। प्रचार करनेवाला।

प्रचारना*†-क्रि० स० [सं० प्रचारण] (१) प्रचार करना। फैलाना। (२) ललकारना। सामना करने के लिये बुलाना। उ०—इंद्र आय तब असुर प्रचार्यो। कियो युद्ध पै असुर न मार्यो।—सूर।

प्रचारित-वि० [सं०] फैलाया हुआ। प्रचार किया हुआ। जिसका प्रचार किया गया हो।

प्रचालित-वि० [सं०] जिसका प्रचलन किया गया हो। जो चलाया गया हो।

प्रचित-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसका संग्रह किया गया हो। वह जो चुना गया हो। (२) दंडक छंद का एक भेद।

प्रचुर-वि० [सं०] बहुत। अधिक। विपुल। जैसे, प्रचुर धन।

संज्ञा पुं० [सं०] वह जो चोरी करे। चोर।

प्रचुरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रचुर होने का भाव। ज्यादती। अधिकता।

प्रचेतसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कायफल। (२) प्रचेता की कन्या।

प्रचेता-संज्ञा पुं० [सं० प्रचेतस्] (१) एक प्राचीन ऋषि का नाम। (२) वरुण का एक नाम। (३) बारहवें प्रजापति का नाम। (४) पुराणानुसार पृथु के परपोते और प्राचीन बर्हि के दस पुत्र जिन्होंने दस हजार वर्ष तक समुद्र के भीतर रहकर कठिन तपस्या की थी और विष्णु से प्रजासृष्टि का वर पाया था। दक्ष उन्हीं के पुत्र थे।

वि० बुद्धिमान्। होशियार। चतुर।

प्रचेय-वि० [सं०] (१) जो चयन करने योग्य हो। जो चुनने या संग्रह करने योग्य हो। (२) जो ग्रहण करने योग्य हो। ग्राह्य।

प्रचेल-संज्ञा पुं० [सं०] पीला चंदन।

प्रचेलक-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

वि० बहुत अधिक चलनेवाला।

प्रचोद-संज्ञा पुं० दे० "प्रचोदन"।

प्रचोदक-वि० [सं०] प्रेरणा करनेवाला। उत्तेजित करनेवाला।

प्रचोदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेरणा। उत्तेजना। (२) आज्ञा। (३) कायदा। कानून। नियम।

प्रचोदित-वि० [सं०] जिसे प्रेरणा की गई हो। जो उत्तेजित किया गया हो।

प्रचोदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कटेहरी।

प्रच्छक-वि० [सं०] पूछनेवाला। प्रश्न करनेवाला।

प्रच्छद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंबल। (२) बेठन। लपेटने का कपड़ा। (३) चोगा।

प्रच्छना–क्रि० स० [सं०] पूछना। प्रश्न करना।

प्रच्छन्न–वि० [सं०] (१) ढका हुआ। लपेटा हुआ। (२) छिपा हुआ।

प्रच्छर्द्दन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँस की वायु को नाक के रास्ते बाहर निकालना। रेचन। (२) वमन। कै।

प्रच्छर्द्दिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जिससे वमन हो। वमन करानेवाली (औषध)। (२) वमन का रोग। कै।

प्रच्छादन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रच्छादित] (१) ढाँकने का भाव। (२) छिपाने का भाव। (३) आँख की पलक। उत्तरीय वस्त्र।

प्रच्छान–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार घाव चीरने का एक प्रकार।

प्रच्छेदन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रच्छेद्य] छेदने या काटने की क्रिया।

प्रच्यवन–संज्ञा पुं० [सं०] क्षरण। झरना, बहना, या रसना।

प्रच्युत–वि० [सं०] गिरा हुआ। अपने स्थान से हटा हुआ।

प्रच्युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अपने स्थान से गिरने या हटने का भाव।

प्रजंघ–संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का एक मुख्य राक्षस जिसे अंगद ने मारा था।

प्रजंत*‡–अव्य० दे० "पर्यंत"।

प्रजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गर्भधारण करने के लिये (पशुओं का) मैथुन। जोड़ा खाना। (२) पशुओं के गर्भधारण करने का समय। (३) लिंग। पुरुषेंद्रिय। (४) संतान उत्पन्न करने का काम। (५) जनक। जन्म देनेवाला।

प्रजनन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संतान उत्पन्न करने का काम। (२) जन्म। (३) योनि। (४) दाई का काम। धात्री-कर्म (सुश्रुत)। (५) जन्म देनेवाला। पिता।

प्रजनिका–संज्ञा पुं० [सं०] माता।

प्रजनुक–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह जो संतान उत्पन्न करता हो।

प्रजरना*–क्रि० अ० [सं० प्रत्य० प्र० + हिं० जरना] अच्छी तरह जलना। उ०–प्रजरति नीर गुलाब के पिय की बात सिराति।–बिहारी।

प्रजल्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यर्थ की या इधर उधर की बात। गप। (२) वह बात जो अपने प्रिय को प्रसन्न करने के लिये की जाय।

प्रजल्पन–संज्ञा पुं० [सं०] बातचीत।

प्रजहित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराण। (२) गार्हपत्य अग्नि।

प्रजांतक–संज्ञा पुं० [सं०] यम।

प्रजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) संतान। औलाद। (२) वह जनसमूह जो किसी एक राजा के अधीन या एक राज्य के अंतर्गत रहता हो। (३) राज्य के निवासी। रिआया। रैयत। (४) भारतीय गाँवों में छोटी जातियों के वे लोग जो बिना वेतन पाए ही काम करते हैं। ऐसे लोगों को कभी किसी उत्सव पर अथवा ब्याह-शादी आदि में कुछ पुरस्कार दे दिया जाता है। (नाऊ, बारी, भाट, नट, लोहार, कुम्हार, चमार, धोबी इत्यादि की गिनती 'प्रजा' में होती है।)

प्रजाकाम–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पुत्र का अभिलाषी हो। जिसे पुत्र की इच्छा हो।

प्रजाकार–संज्ञा पुं० [सं०] प्रजा उत्पन्न करनेवाले, ब्रह्मा। प्रजापति।

प्रजागर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) प्राण। (३) जागरण। जगना। (४) नींद न आने का रोग।

प्रजागरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम।

प्रजातंतु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संतान। औलाद। (२) वंश। कुल।

प्रजाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसको बालक उत्पन्न हुआ हो। प्रसूतिका। जच्चा।

प्रजादा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भदा नाम की ओषधि जिससे बाँझपन दूर होता है।

प्रजादान–संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।

प्रजाद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य का एक नाम। (२) प्रजा या संतान उत्पन्न करने का साधन या उपाय।

प्रजाध्यक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रजापति। (२) सूर्य।

प्रजानाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) मनु। (३) दक्ष। (४) राजा।

प्रजापति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला। वह जिसने सृष्टि उत्पन्न की है। सृष्टिकर्त्ता।

विशेष–वेदों और उपनिषदों से लेकर पुराणों तक में प्रजापति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं। वैदिक काल में प्रजापति एक वैदिक देवता थे और वे ब्रह्मा के पुत्र तथा सृष्टिकर्त्ता माने जाते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति सृष्टि को उत्पन्न करने के उपरांत माया के वश में होकर भिन्न भिन्न शरीरों में बँध गए थे और देवताओं ने एक अश्वमेध यज्ञ करके उन्हें शरीरों से मुक्त किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति ने अपनी उषा नाम की कन्या के साथ संभोग किया था जिससे मृग नक्षत्र की उत्पत्ति हुई थी और वे स्वयं तथा उषा दोनों मिलकर रोहणी नामक नक्षत्र के

रूप में परिवर्त्तित हो गए थे। छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि इंद्र ने प्रजापति से सूक्ष्म आत्मज्ञान तथा वैरोचन ने स्थूल आत्मज्ञान प्राप्त किया था। पुरुषमेध-यज्ञ में प्रजापति के आगे पुरुष की बलि दी जाती है। पुराणों में ब्रह्मा के पुत्र अनेक प्रजापतियों का उल्लेख है। कहीं ये दस प्रजापति कहे गए हैं—(१) मरीचि। (२) अत्रि। (३) अंगिरा। (४) पुलस्त्य। (५) पुलह। (६) क्रतु। (७) प्रचेता। (८) वशिष्ठ। (९) भृगु। (१०) नारद। और कहीं इन इक्कीस प्रजापतियों का उल्लेख है—(१) ब्रह्मा। (२) सूर्य्य। (३) मनु। (४) दक्ष। (५) भृगु। (६) धर्मराज। (७) यमराज। (८) मरीचि। (९) अंगिरा। (१०) अत्रि। (११) पुलस्त्य। (१२) पुलह। (१३) क्रतु (१४) वशिष्ठ। (१५) परमेष्ठी। (१६) विवस्वान्। (१७) सोम। (१८) कर्दम। (१९) क्रोध। (२०) अर्वाक्। (२१) क्रीत।

(२) ब्रह्मा। (३) मनु। (४) राजा। (५) सूर्य्य। (६) आग। (७) विश्वकर्मा। (८) पिता। बाप। (९) घर का मालिक या बड़ा। वह जो परिवार का पालन-पोषण करता हो। (१०) एक तारा। (११) जामाता। दामाद। (१२) एक प्रकार का यज्ञ। (१३) साठ संवत्सरों में से पाँचवां संवत्सर। (१४) आठ प्रकार के विवाहों में से एक प्रकार का विवाह। विशेष—दे० "प्राजापत्य"।

प्रजापति–संज्ञा स्त्री० [सं०] गौतम बुद्ध को पालनेवाली गोतमी का नाम।

प्रजापाल–संज्ञा पुं० [सं०] प्रजा का पालन करनेवाला, राजा।

प्रजायिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] माता।

प्रजारना†*–क्रि० स० [सं० प्रत्य० प्र + हिं० जारना] अच्छी तरह जलना। उ०—(क) बाजहि ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी।—तुलसी। (ख) विकसत नव वल्ली कुसुम निकसत परिमल पाय। परसि प्रज़ारति विरह हिय बरसि रहे की वाय।—बिहारी।

प्रजावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भाई की स्त्री। (२) बड़े भाई की स्त्री। (३) प्रियव्रत राजा की स्त्री का नाम। (४) बहुत से लड़कों की माता। वह स्त्री जिसे कई संतानें हों। (५) गर्भवती स्त्री।

प्रजाहित–संज्ञा पुं० [सं०] जल। पानी।

प्रजित्–संज्ञा पुं० [सं०] विजेता। विजय करनेवाला।

प्रजीवन–संज्ञा पुं० [सं०] जीविका। रोजी।

प्रज़ुलित*–वि० दे० "प्रज्वलित"।

प्रजेश–संज्ञा पुं० दे० "प्रजापति"।

प्रजोग–संज्ञा पुं० दे० "प्रयोग"।

प्रज्झटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। इसे पद्धरी, पद्धटिका, प्रज्वलय और प्रज्वलिया भी कहते हैं।

प्रज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रज्ञा] विद्वान्। जानकार।

प्रज्ञता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पांडित्य। विद्वत्ता।

प्रज्ञप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जताने का भाव। ज्ञात कराने की क्रिया या भाव। (२) सूचना। (३) संकेत। इशारा। (४) ज्ञान।

प्रज्ञप्ती–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनों की एक विद्यादेवी।

प्रज्ञा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि। ज्ञान। (२) एकाग्रता। (३) सरस्वती।

प्रज्ञाकाय–संज्ञा पुं०[सं०]बौद्धों के आचार्य मंजुघोष का एक नाम।

प्रज्ञाकूट–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

प्रज्ञाचक्षु–संज्ञा पुं० [सं० प्रज्ञा + चक्षुस्] (१) धृतराष्ट्र। (२) ज्ञानी। (३) अंधा। (व्यंग्य)

प्रज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धि। ज्ञान। (२) चिह्न। निशान। (३) चैतन्य। (४) विद्वान्।

प्रज्ञापारमिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्ध ग्रंथों के अनुसार दस पारमिताओं (गुणों की पराकाष्ठा) में से एक जिसे गौतम बुद्ध ने अपने मर्कट जन्म में प्राप्त किया था।

प्रज्ञामय–संज्ञा पुं० [सं०] विद्वान्। पंडित।

प्रज्वलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रज्वलनीय, प्रज्वलित] जलने की क्रिया। जलना।

प्रज्वलित–वि० [सं०] (१) जलता हुआ। धधकता हुआ। दहकता हुआ। (२) बहुत स्पष्ट। बहुत साफ।

प्रज्वलिया–संज्ञा पुं० [?] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं।

प्रज्वार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुखार की गर्मी। (२) एक गंधर्व का नाम।

प्रज्वालन–क्रि० स० [सं०] जलाना। दहकाना।

प्रण–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिज्ञा, प्रा० पइण्णा, वा सं० पण = मोल, बाजी] किसी काम को करने के लिये किया हुआ अटल निश्चय। प्रतिज्ञा।

वि० [सं०] पुराना। प्राचीन।

प्रणख–संज्ञा पुं० [सं०] नाखून के आगे का भाग।

प्रणत–वि० [सं०] (१) बहुत झुका हुआ। (२) प्रणाम करता हुआ। (३) नम्र। दीन।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रणाम करनेवाला। (२) दास। सेवक। (३) भक्त। उपासक।

यौ०—प्रणतपाल।

प्रणतपाल, प्रणतपालक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रणतपालिका] दीनों, दासों या भक्त जनों का पालन करनेवाला। दीनरक्षक।

प्रणति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रणाम। प्रणिपात। दंडवत। (२) नम्रता। (३) विनती।

प्रणम-संज्ञा पुं० दे० "प्रणाम" ।

प्रणमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झुकना । (२) प्रणाम करना । दंडवत या नमस्कार करना ।

प्रणम्य-वि० [सं०] प्रणाम करने के योग्य । वंदनीय ।

प्रणय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रीतियुक्त प्रार्थना । (२) प्रेम । (३) विश्वास । भरोसा । (४) निर्वाण । मोक्ष । (५) श्रद्धा । (६) प्रसव । स्त्री का संतान उत्पन्न करना ।

प्रणयन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रचना । बनाना । करना । (२) होम आदि के समय अग्नि का एक संस्कार ।

प्रणयिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जिसके साथ प्रेम किया जाय । प्रेमिका । (२) स्त्री । पत्नी ।

प्रणयी-संज्ञा पुं० [सं० प्रणयिन्] [स्त्री० प्रणयिनी] (१) जिसके साथ प्रेम हो । प्रेम करनेवाला । प्रेमी । (२) स्वामी । पति ।

प्रणव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ॐकार । ब्रह्मबीज । ओंकार मंत्र । (२) त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) । परमेश्वर ।

प्रणवना-क्रि० स० [सं० प्रणमन] प्रणाम करना । नमस्कार करना । श्रद्धा और नम्रतापूर्वक किसी के सामने झुकना । उ०—(क) पुनि प्रणवौं पृथुराज समाना । पर अघ सुनै सहस दस काना ।—तुलसी । (ख) प्रणवौं पवनकुमार खलवनपावक ज्ञानघन ।—तुलसी ।

प्रणाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत जोर से होनेवाला शब्द । (२) वह शब्द जो आनंद के समय मुँह से निकले । आनंदध्वनि । (३) कर्णनाद नाम का कान का रोग जिसमें कानों में तरह तरह की गूँज सुनाई देती है ।

प्रणामी-संज्ञा पुं० [सं० प्रणामिन्] प्रणाम करनेवाला ।

प्रणायक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मार्ग दिखलाता हो । नेता । (२) सेनानायक ।

प्रणाल-संज्ञा पुं० [सं०] जल निकलने का मार्ग । पनाला ।

प्रणालिका-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परनाली । नाली । (२) बंदूक की नली ।

प्रणाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पानी निकलने का मार्ग। नाली। (२) रीति । चाल । परिपाटी । प्रथा । (३) पद्धति । ढंग । तरीका । कायदा । (४) द्वार । (५) परंपरा । (६) वह छोटा जलमार्ग जो जल के दो बड़े भागों को मिलाता हो ।

प्रणाश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश । बरबादी । (२) मृत्यु । मौत । (३) भागना ।

प्रणाशन-संज्ञा पुं० [सं०] नाश करने की क्रिया या भाव ।

प्रणाशी-संज्ञा पुं० [सं० प्रणाशिन्] [स्त्री० प्रणाशिनी] नाश करनेवाला । वह जो नष्ट करे ।

प्रणिधान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रखा जाना । (२) प्रयत्न । (३) समाधि । (योग)। (४) अत्यंत भक्ति । अति अधिक उपासना । (५) ध्यान । चित्त की एकाग्रता । (६) किसी कर्म के फल का त्याग । (७) अर्पण । (८) भक्ति । (९) भावी जन्म के संबंध में किसी प्रकार की प्रार्थना । (१०) प्रवेश । गति ।

प्रणिधि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेदिया । गुप्तचर । गोइंदा (२) प्रार्थना । (३) माँगना ।

प्रणिपतन, प्रणिपात-संज्ञा पुं० [सं०] प्रणाम ।

प्रणिहित-वि० [सं०] (१) जिसकी स्थापना की गई हो । स्थापित । (२) मिला हुआ । मिश्रित । (३) पाया हुआ । प्राप्त । (४) रखा हुआ । सौंपा हुआ ।

प्रणी-संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर ।

प्रणीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रचित । बनाया हुआ । तैयार किया हुआ । (२) संस्कृत । सुधारा हुआ । संशोधित । (३) भेजा हुआ । लाया हुआ । (४) फेंका हुआ । (५) पास पहुँचाया हुआ । (६) जिसका मंत्र से संस्कार किया गया हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जल जिसका मंत्र से संस्कार किया गया हो । (२) यज्ञ के मंत्र से संस्कृत की हुई अग्नि । (३) अच्छी तरह पकाया हुआ भोजन ।

प्रणीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जल जो यज्ञ के कार्य के लिये वेदमंत्रों को पढ़ते हुए कुएँ से निकाला जाता है और मंत्रोच्चारण सहित छानकर रखा जाता है । (२) वह पात्र जिसमें उपर्युक्त जल रखा जाता है ।

प्रणीय-संज्ञा पुं० [सं०] वह वैदिक मंत्र जिससे किसी चीज का संस्कार किया जाय ।

प्रणेता-संज्ञा पुं० [सं० प्रणेतृ] [स्त्री० प्रणेत्री] रचयिता । बनानेवाला । कर्त्ता । जैसे, पुस्तकप्रणेता ।

प्रणेय-वि० [सं०] (१) जिसके लौकिक संस्कार हो चुके हों । (२) अधीन । वशवर्त्ती ।

प्रतंचा*†-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रत्यंचा" ।

प्रतक्ष*-वि० दे० "प्रत्यक्ष" ।

प्रतच्छ*†-वि० दे० "प्रत्यक्ष" ।

प्रतत-वि० [सं०] तना या फैला हुआ । विस्तृत । लंबा चौड़ा ।

प्रतति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विस्तार । फैलाव ।

प्रतन-वि० [सं०] पुराना । प्राचीन ।

प्रतना-संज्ञा स्त्री० दे० "पृतना" ।

प्रतनु-वि० [सं०] (१) क्षीण । दुबला । (२) बारीक । सूक्ष्म । (३) बहुत छोटा ।

प्रतपन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तपाना । तप्त करना । (२) उत्ताप । गरमी ।

प्रतप्त-वि० [सं०] तपाया हुआ । जो बहुत गरम किया गया हो ।

प्रतमक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का दमा ।

प्रतमाली-संज्ञा स्त्री० [?] कटारी। (डिं०)

प्रतर्क-संज्ञा पुं० [सं०] तर्क। वादविवाद।

प्रतर्कण-संज्ञा पुं० [सं०] वादविवाद करना।

प्रतर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काशी का एक प्रख्यात राजा जो राजा दिवोदास का पुत्र था और जिसका विवाह मदालसा के साथ हुआ था। यह राजा रामचंद्रजी के समय में था। (२) एक प्राचीन ऋषि का नाम। (३) विष्णु। (४) ताड़न। ताड़ना। (५) ताड़ना करनेवाला।

प्रतल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथ की हथेली। (२) पाताल के सातवें भाग का नाम।

प्रतान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपतानक नामक रोग जिसमें बार बार मूर्च्छा आती है। (२) एक प्राचीन ऋषि का नाम। (३) बेल। लता। (४) रेशा।

वि० [सं०] (१) विस्तृत। लंबा चौड़ा। (२) रेशेदार। जिसमें रेशे हों।

प्रताप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पौरुष। मरदानगी। वीरता। (२) बल, पराक्रम आदि महत्व का ऐसा प्रभाव जिसके कारण उपद्रवी या विरोधी शांत रहें। तेज। इकबाल। (३) मदार का पेड़। (४) रामचंद्र के एक सखा का नाम। (५) युवराज का छत्र। (६) ताप। गरमी।

प्रतापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़न। कष्ट पहुँचाना। (२) कुंभीपाक नरक। (३) विष्णु।

वि० क्लेश देनेवाला। कष्ट देनेवाला।

प्रतापवान्-वि० [सं० प्रतापवत्] [स्त्री० प्रतापवती] प्रतापयुक्त। जिसमें प्रताप हो। इकबालमंद।

प्रतापस-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद मँदार।

प्रतापी-वि० [सं० प्रतापिन्] (१) प्रतापवान्। इकबालमंद। जिसका प्रताप हो। (२) सतानेवाला। दुखःदायी।

संज्ञा पुं० [सं०] रामचंद्र के एक सखा का नाम। उ०—दुवन प्रतापी सखा बोलिकै प्रतापी तहाँ,परम प्रतापी राम वचन उचारे हैं।—रघुराज

प्रतारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंचक। ठग। (२) धूर्त्त। चालाक।

प्रतारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंचना। ठगी। (२) धूर्तता।

प्रतारणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतारण। वंचना। ठगी।

प्रतारित-संज्ञा पुं० [सं०] जो ठगा गया हो।

प्रतिंचा-संज्ञा स्त्री० [सं० पतंचिका] धनुष की डोरी। ज्या। चिल्ला।

प्रति-अव्य० एक उपसर्ग जो शब्दों के आरंभ में लगाया जाता है और नीचे लिखे अर्थ देता है—(१) विरुद्ध। विपरीत। जैसे, प्रतिकूल, प्रतिकार। (२) सामने। जैसे, प्रत्यक्ष। (३) बदले में। जैसे, प्रत्युपकार, प्रतिहिंसा, प्रतिध्वनि। (४) हर एक। एक एक। जैसे, प्रत्येक, प्रतिदिन, प्रतिक्षण। (५) समान। सदृश। जैसे, प्रतिनिधि, प्रतिकृति। प्रतिलिपि। (६) मुकाबले का। जोड़ का। जैसे,प्रतिवादी, प्रत्युत्तर। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं यह उपसर्ग "ऊपर", "अंश","अग्रभाग" आदि का भी अर्थ देता है।

अव्य० (१) सामने। मुकाबिले में। (२) ओर। तरफ। लक्ष्य किए हुए। जैसे, किसी के प्रति श्रद्धा रखना।

संज्ञा स्त्री० (१) नकल। कापी। (२) एक ही प्रकार की कई वस्तुओं में अलग अलग एक एक वस्तु। अदद। जैसे, इस पुस्तक की दस प्रतियाँ ले लो।

प्रतिकंचुक-संज्ञा पुं० [सं०] शत्रु। दुश्मन।

प्रतिकर्म-संज्ञा पुं० [सं० प्रतिकर्म्मन्] (१) वेश। भेस। (२) प्रतीकार। बदला। (३) वह कर्म जो किसी दूसरे कर्म के द्वारा प्रेरित हो। किसी कार्य्य के होने पर होनेवाला कार्य्य। किसी काम के जवाब में होनेवाला काम। (४) शरीर को सँवारना। अंगकर्म्म।

प्रतिकामिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सपत्नी। सौत।

प्रतिकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह कार्य्य जो किसी कार्य्य को रोकने, दबाने अथवा उसका बदला चुकाने के लिये किया जाय। प्रतीकार। बदला। जवाब। किसी बात का उचित उपाय। जैसे, (क) छाते से धूप का प्रतीकार हो जाता है। (ख) आप अपने पाप का कुछ प्रतीकार कीजिए। (२) चिकित्सा। इलाज।

प्रतिकारक-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिकार करनेवाला। बदला चुकानेवाला।

प्रतिकार्य्य-वि० [सं०] जो प्रतीकार करने के योग्य हो। जिसका प्रतिकार किया जा सके।

प्रतिकितव-संज्ञा पुं० [सं०] जुआरी के मुकाबले में जूआ खेलनेवाला जुआरी। जुआरी का जोड़।

प्रतिकूप-संज्ञा पुं० [सं०] परिखा। खाईं।

प्रतिकूल-वि० [सं०] जो अनुकूल न हो। खिलाफ। उलटा। विरुद्ध। विपरीत।

संज्ञा पुं० वह जो विरोध या प्रतिकूलता करे। प्रतिपक्षी। विरोधी।

प्रतिकूलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतिकूल आचरण। प्रतिकूल होने का भाव या क्रिया। विरोध। विपरीतता।

प्रतिकूलत्व-संज्ञा पुं० दे० "प्रतिकूलता"।

प्रतिकूला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सौत। सपत्नी।

प्रतिकृत-वि० [सं०] (१) जिसका बदला हो चुका हो। जिसके जवाब या बदले में कोई बात की जा चुकी हो। (२) जिसका उपाय किया जा चुका हो। जिसके विरुद्ध प्रयत्न किया जा चुका हो।

प्रतिकृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिमा। प्रतिमूर्त्ति। (२) तसवीर। चित्र। (३) प्रतिबिंब। छाया। (४) बदला। प्रतीकार। (५) पूजा।

प्रतिकृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] जो प्रतीकार करने के योग्य हो।

प्रतिकृष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत ही निंदित या बुरा हो। निकृष्ट। (२) दो बार का जोता हुआ खेत।

प्रतिक्रम–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिकूल कार्य्य। विपरीत आचार।

प्रतिक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतीकार। बदला। (२) एक ओर कोई क्रिया होने पर परिणाम स्वरूप दूसरी ओर होनेवाली क्रिया। (३) सजावट। संस्कार। (४) शमन या निवारण का उपाय।

प्रतिक्षय–संज्ञा पुं० [सं०] रक्षक। रक्षा करनेवाला।

प्रतिक्षिप्त–वि० [सं०] (१) रोका हुआ। (२) फेंका हुआ। (३) भेजा हुआ। (४) निंदित।

प्रतिक्षेप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेंकना। (२) रोकना। (३) तिरस्कार।

प्रतिखुर–संज्ञा पुं० [सं०] वह मूढ़ गर्भ जिसमें बालक हाथ पैर बाहर निकालकर अपने धड़ और सिर से योनि मार्ग को रोक दे।

प्रतिख्यात–वि० [सं०] बहुत प्रसिद्ध।

प्रतिख्याति–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत अधिक प्रसिद्धि।

प्रतिगत–संज्ञा पुं० [सं०] पक्षियों की एक प्रकार की गति। वि० लौटा हुआ। जो वापस आया हो।

प्रतिगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा पहाड़। पहाड़ी। (२) वह जो देखने में पहाड़ के समान हो।

प्रतिगृहीत–वि० [सं०] जो ले लिया गया हो। जो ग्रहण कर लिया गया हो।

प्रतिगृहीता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका पाणिग्रहण किया गया हो। धर्म्मपत्नी।

प्रतिगृह्य–वि० [सं०] जो ग्रहण करने योग्य हो। लेने लायक।

प्रतिग्या*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिज्ञा"।

प्रतिग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वीकार। ग्रहण। (२) उस दान का लेना जो ब्राह्मण को विधिपूर्वक दिया जाय। इस प्रकार का दान लेना ब्राह्मण के छः कर्मों में से एक है। (३) पकड़ना। अधिकार में लाना। (४) पाणिग्रहण। विवाह। जैसे, दारप्रतिग्रह। (५) ग्रहण। उपराग। (६) स्वागत। अभ्यर्थना। (७) विरोध करना। मुकाबला करना। (८) उत्तर देना। जवाब देना। (९) सेना का पिछला भाग। (१०) उगालदान। पीकदान।

प्रतिग्रहण–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिग्रह लेना। विधिपूर्वक दिया हुआ दान लेना।

प्रतिग्रही–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिग्रहिन्] प्रतिग्रह लेनेवाला। दान लेनेवाला।

प्रतिग्रहीता–संज्ञा पुं० [सं०] दान लेनेवाला। प्रतिग्राही।

प्रतिग्राह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिग्रह। ग्रहण करना। लेना। (२) पीकदान। उगालदान।

प्रतिग्राहक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिग्रह लेनेवाला। दान लेनेवाला।

प्रतिग्राही–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिग्राहिन्] दान लेनेवाला।

प्रतिग्राह्य–वि० [सं०] ग्रहण करने योग्य। लेने लायक।

प्रतिघ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध। गुस्सा। (२) मारना। (३) मूर्च्छा। बेहोशी। (४) रुकावट डालनेवाला। बाधक। (५) प्रतिकूल। विरुद्ध।

प्रतिघात–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह आघात जो किसी दूसरे के आघात करने पर किया जाय। (२) वह आघात जो एक आघात लगने पर आपसे आप उत्पन्न हो। टक्कर। (३) रुकावट। बाधा।

प्रतिघातक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिघात करनेवाला। प्रतिघातक।

प्रतिघातन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जान से मार डालना। प्राणघात। हत्या। (२) बाधा। रुकावट।

प्रतिघाती–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिघातिन्] [स्त्री० प्रतिघातिनी] शत्रु। बैरी। दुश्मन। ढकेलनेवाला। प्रतिद्वंद्वी। वि० (१) मुकाबला करनेवाला। विरोध करनेवाला। प्रतिद्वंद्वी। (२) टक्कर मारनेवाला।

प्रतिघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] शरीर। बदन।

प्रतिचिंतन–संज्ञा पुं० [सं०] फिर से विचार करना। पुनर्विचार।

प्रतिच्छा*†–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतीक्षा"।

प्रतिच्छाया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चित्र। तस्वीर। (२) मिट्टी पत्थर आदि की बनी हुई मूर्ति। (३) परछाईं। प्रतिबिंब।

प्रतिच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] बाधा। रुकावट।

प्रतिछाँईं, प्रतिछाँह–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिच्छाया (३)"।

प्रतिछाया–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रतिच्छाया] प्रतिबिंब। परछाँहीं।

प्रतिछाँही–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिछाया"।

प्रतिजंघा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जाँघ का अगला भाग।

प्रतिजल्प–संज्ञा पुं० [सं०] परामर्श। सम्मति। सलाह।

प्रतिजागर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खूब अच्छी तरह ध्यान देना। खूब होशियारी रखना। सचेत रहना। सावधान रहना। (२) रक्षा।

प्रतिजिह्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले के अंदर की घंटी। कौवा। छोटी जीभ।

प्रतिजीवन–संज्ञा पुं० [सं०] फिर से जन्म होना। नया जन्म।

प्रतिज्ञांतर–संज्ञा पुं० [सं०] तर्क में एक निग्रह-स्थान। विशेष—दे० "निग्रहस्थान"।

प्रतिज्ञा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भविष्य में कोई कर्तव्य पालन करने, कोई काम करने या न करने आदि के

संबंध में दृढ़ निश्चय। वह दृढ़तापूर्ण कथन या विचार जिसके अनुसार कोई कार्य्य करने या न करने का दृढ़ संकल्प हो। किसी बात को अवश्य करने या कभी न करने के संबंध में वचन देना। प्रण। जैसे, भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं आजन्म विवाह न करूँगा। (२) शपथ। सौगंद। कसम। (३) अभियोग। दावा। (४) न्याय में अनुमान के पांच खंडों या अवयवों में से पहला अवयव। वह वाक्य या कथन जिससे साध्य का निर्देश होता हो। उस बात का कथन जिसे सिद्ध करना हो।

प्रतिज्ञात–वि० [सं०] (१) जिसके संबंध में प्रतिज्ञा की जा चुकी हो। स्वीकार किया हुआ। (२) करने या हो सकने योग्य। साध्य।

प्रतिज्ञापत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिस पर कोई प्रतिज्ञा लिखी हो। वह कागज जिस पर शर्तें लिखी हों। इकरारनामा।

प्रतिज्ञाविरोध–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय के अनुसार एक प्रकार का निग्रहस्थान। विशेष—दे० "निग्रहस्थान"।

प्रतिज्ञासंन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निग्रहस्थान। दे० "निग्रहस्थान"।

प्रतिज्ञाहानि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का निग्रहस्थान। दे० "निग्रहस्थान"।

प्रतिज्ञेय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो प्रतिज्ञा करने में समर्थ हो। प्रतिज्ञा कर सकने योग्य। (२) स्तुति करनेवाला। प्रशंसा करनेवाला।

प्रतितंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] अपने मत से विरुद्ध मत का शास्त्र। वह शास्त्र जिसके सिद्धांत अपने शास्त्र के सिद्धांतों के प्रतिकूल हों।

प्रतितंत्रसिद्धांत–संज्ञा पुं० [सं०] वह सिद्धांत जो कुछ शास्त्रों में हो और कुछ में न हो। जैसे, मीमांसा में "शब्द" को नित्य माना है, परंतु न्याय में वह अनित्य माना जाता है।

प्रतितर–संज्ञा पुं० [सं०] नाव का डाँड़। नाव खेने का बल्ला।

प्रतिताल–संज्ञा पुं० [सं०] संगीत में ताल का एक प्रकार जिसमें कांतार, समराज्य, वैकुंठ और वांछित ये चारों ताल हैं।

प्रतितूणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें गुदा अथवा मूत्राशय से पीड़ा उठकर पेट तक पहुँचती है।

प्रतिदत्त–वि० [सं०] (१) लौटाया हुआ। वापस किया हुआ। (२) बदले में दिया हुआ।

प्रतिदान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ली या रखी हुई चीज को लौटाना। वापस करना। (२) एक चीज लेकर दूसरी चीज देना। परिवर्तन। विनिमय। बदला।

प्रतिदेय–वि० [सं०] जो प्रतिदान करने योग्य हो। जो बदलने या लौटाने योग्य हो।

प्रतिदृष्टांतसम–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में एक प्रकार की जाति।

प्रतिद्वंद्व–संज्ञा पुं० [सं०] दो समान व्यक्तियों का विरोध। बराबरवालों का झगड़ा।

प्रतिद्वंद्वी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिद्वंद्विन्] बराबरी का विरोधी। मुकाबले का लड़नेवाला। शत्रु।

प्रतिद्वंद्विता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बराबरवाले की लड़ाई। अपने से समान व्यक्ति का विरोध।

प्रतिधि–संज्ञा पुं० [सं०] संध्या के समय पढ़ा जानेवाला एक प्रकार का वैदिक स्तोत्र।

प्रतिध्वनि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह शब्द जो (उत्पन्न होने पर (किसी बाधक पदार्थ से टकराने के कारण लौटकर अपने उत्पन्न होने के स्थान पर फिर से सुनाई पड़ता है। अपनी उत्पत्ति के स्थान पर फिर से सुनाई पड़नेवाला शब्द। प्रतिनाद। प्रतिशब्द। प्रतिश्रुत। गूँज। आवाज बाजगश्त। जैसे, (क) दूर की पहाड़ी से मेरी पुकार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी। (ख) उस गुंबद के नीचे जो कुछ कहा जाय, उसकी प्रतिध्वनि बराबर सुनाई पड़ती है।

विशेष—वायु में क्षोभ होने के कारण लहरें उठती हैं जिनसे शब्द की उत्पत्ति होती है। जब इन लहरों के मार्ग में दीवार या चट्टान आदि की तरह का कोई भारी बाधक पदार्थ आता है तब ये लहरें उससे टकराकर लौटती हैं जिनके कारण वह शब्द फिर उस स्थान पर सुनाई पड़ता है जहाँ से वह उत्पन्न हुआ था। यदि वायु की लहरों को रोकनेवाला पदार्थ शब्द उत्पन्न होने के स्थान के ठीक सामने होता है तब तो प्रतिध्वनि शब्द उत्पन्न होने के स्थान पर ही सुनाई पड़ती है। पर यदि वह इधर उधर होता है तो प्रतिध्वनि भी इधर या उधर सुनाई पड़ती है। यदि लगातार बहुत से शब्द किए जायँ तो सब शब्दों की प्रतिध्वनि साफ नहीं सुनाई पड़ती; पर शब्दों की समाप्ति पर अंतिम शब्द की प्रतिध्वनि बहुत ही साफ सुनाई पड़ती है। जैसे, यदि किसी बहुत बड़े तालाब के किनारे या किसी बड़े गुंबद के नीचे खड़े होकर कहा जाय— "हाथी या घोड़ा" तो प्रतिध्वनि में "घोड़ा" बहुत साफ सुनाई देगा। साधारणतः प्रतिध्वनि उत्पन्न होने में एक सेकेंड का नवाँ अंश लगता है, इसलिये इससे कम अंतर पर जो शब्द होंगे उनकी प्रतिध्वनि स्पष्ट नहीं होगी। शब्द की गति प्रति सेकेंड लगभग ११२५ फुट है; अतः जहाँ बाधक स्थान शब्द उत्पन्न होने के स्थान से (११२५का $\frac{१}{१८}$वाँ अंश) ६२ फुट से कम दूरी पर होगा, वहाँ

प्रतिध्वनि नहीं सुनाई पड़ेगी। सब से अधिक स्पष्ट प्रतिध्वनि उसी शब्द की होती है जो सहसा और जोर का होता है। प्रायः बहुत बड़े बड़े कमरों, गुंबदों, तालाबों, कूओं, नगर के परकोटों,. जंगलों, पहाड़ों और तराइयों आदि में प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। किसी किसी स्थान पर ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द की कई कई प्रतिध्वनियाँ होती हैं। (२) शब्द से व्याप्त होना। गूँजना। (३) दूसरों के भावों या विचारों आदि का दोहराया जाना। जैसे, उनके व्याख्यान में केवल दूसरों की उक्तियों की प्रतिध्वनि ही रहती है।

प्रतिध्वान–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "प्रतिध्वनि"।

प्रतिनंदन–संज्ञा पुं० [सं०] वह अभिनंदन जो आशीर्वाद देते हुए किया जाय।

प्रतिना–संज्ञा स्त्री० दे० "पूतना"।

प्रतिनाड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी नाड़ी। उपनाड़ी। दे० "नाड़ी"।

प्रतिनाद–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिध्वनि"।

प्रतिनायक–संज्ञा पुं० [सं०] नाटकों और काव्यों आदि में नायक का प्रतिद्वंद्वी पात्र। जैसे, रामायण में राम का प्रतिनायक रावण है।

प्रतिनाह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें नाक के नथनों में कफ रुकने से श्वास चलना बंद हो जाता है।

प्रतिनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिमा। प्रतिमूर्ति। (२) वह व्यक्ति जो किसी दूसरे की ओर से कोई काम करने के लिये नियुक्त हो। दूसरों का स्थानापन्न होकर काम करनेवाला।

विशेष—(क) हमारे यहाँ प्राचीन काल से धार्मिक कृत्यों आदि के लिये प्रतिनिधि नियुक्त करने की प्रथा है। यदि कोई मनुष्य नित्य या नैमित्तिक आदि कर्म्म आरंभ करने के उपरांत बीच में ही असमर्थ हो जाय तो वह उसकी पूर्ति के लिये किसी दूसरे व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि-स्वरूप नियुक्त कर सकता है। (ख) आजकल साधारणतः सर्व साधारण की ओर से सभाओं आदि में, विचार प्रकट करने और मत देने के लिये, अथवा किसी राज्य या बड़े आदमी की ओर से किसी बात का निर्णय करने के लिये लोग प्रतिनिधि बनाकर भेजे जाते हैं।

(३) प्रतिबिंब। (डिं०)

प्रतिनिधित्व—संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिनिधि होने की क्रिया या भाव। प्रतिनिधि होने का काम।

प्रतिनिर्यातन–संज्ञा पुं० [सं०] वह अपकार जो किसी अपकार के बदले में किया जाय।

प्रतिनिवासन–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध भिक्षुओं के पहनने का एक वस्त्र।

प्रतिप–संज्ञा पुं० [सं०] राजा शांतनु के पिता का नाम।

प्रतिपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रु। वैरी। दुश्मन। (२) प्रतिवादी। उत्तर देनेवाला। (३) सादृश्य। समानता। बराबरी। (४) विरोधी पक्ष। विरुद्ध दल। (५) विरुद्ध पक्ष। दूसरे फरीक की बात।

प्रतिपक्षता–संज्ञा स्त्री० [सं०] विरोध।

प्रतिपक्षी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिपक्षिन्] विपक्षी। विरोधी। शत्रु।

प्रतिपच्छ–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिपक्ष"।

प्रतिपच्छी–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिपक्षी"।

प्रतिपत्–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिपद्"।

प्रतिपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राप्ति। पाना। (२) ज्ञान। (३) अनुमान। (४) देना। दान। (५) कार्य्य रूप में लाना। (६) प्रतिपादन। निरूपण। किसी विषय का निर्धारण। (७) प्रमाणपूर्वक प्रदर्शन। जी में बैठाना। (८) मानना। स्वीकृति। कायल होना। (९) पद-प्राप्ति। धाक। प्रतिष्ठा। साख। (१०) आदर-सत्कार। (११) प्रवृत्ति। (१२) निश्चय। दृढ़ विचार। (१३) परिणाम। (१४) गौरव।

प्रतिपत्तिकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] श्राद्ध आदि में वह कर्म्म जो सबके अंत में किया जाय। सबके पीछे किया जानेवाला कर्म्म।

प्रतिपत्तिपटह–संज्ञा पुं० [सं०] वह ढोल जिसे बजवाने का अधिकार केवल अभिजान वर्ग के लोगों (सरदारों) को था।

प्रतिपत्रफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] करेली।

प्रतिपद्--संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार्ग। रास्ता। (२) आरंभ। (३) पक्ष की पहली तिथि। प्रतिपदा। परिवा। (४) बुद्धि। समझ। (५) श्रेणी। पंक्ति। (६) प्राचीन काल का एक प्रकार का बड़ा ढोल। (७) अग्नि की जन्म-तिथि।

प्रतिपदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी पक्ष की पहली तिथि। प्रतिपद्। परिवा।

प्रतिपन्न–वि० [सं०] (१) अवगत। जाना हुआ। (२) अंगीकृत। स्वीकृत। अपनाया हुआ। (३) प्रचंड। (४) प्रमाणित। साबित। निश्चित। स्थापित। निर्धारित। निरूपित। (५) भरा पूरा। (६) शरणागत। (७) सम्मानित। जिसकी प्रतिष्ठा की गई हो। (८) प्राप्त। जो मिला हो।

प्रतिपन्नक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध शास्त्रों के अनुसार स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत—ये चार पद।

प्रतिपन्नत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिपन्न होने का भाव।

प्रतिपर्णशिफा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी। प्रवंती।

प्रतिपाण–संज्ञा पुं० [सं०] जुए में प्रतिपक्षी का रखा हुआ दाँव। बदले में लगाई हुई बाजी।

प्रतिपादक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह समझाने या कहनेवाला। प्रतिपादन करनेवाला। (२) प्रतिपन्न करनेवाला। (३) निर्वाह करनेवाला। (४) उत्पादक। उत्पन्न करनेवाला।

प्रतिपादन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह समझाना। भली भाँति ज्ञान कराना। प्रतिपत्ति। (२) निष्पादन। निरूपण। किसी बात का प्रमाणपूर्वक कथन। (३) प्रमाण। सबूत। (४) उत्पत्ति। (५) दान। (६) पुरस्कार।

प्रतिपादित–वि० [सं०] (१) जिसका प्रतिपादन हो चुका हो। जो अच्छी तरह कह या समझा दिया गया हो। (२) जिसका निश्चय हो चुका हो। निर्धारित। निरूपित। (३) जो दिया गया हो।

प्रतिपाद्य–वि० [सं०] (१) निरूपण करने के योग्य। कहने के योग्य। समझाने के योग्य। (२) देने के योग्य।

प्रतिपाप–संज्ञा पुं० [सं०] वह कठोर और पापरूप व्यवहार जो किसी पापी के साथ किया जाय।

प्रतिपार *†–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिपाल"।

प्रतिपाल–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पालन करे। पालन या रक्षण करनेवाला। रक्षक। पोषक।

प्रतिपालक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालनकर्त्ता। पालन पोषण करनेवाला। पोषक। रक्षक। (२) राजा।

प्रतिपालन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन करने की क्रिया या भाव। पालन। (२) रक्षा करने की क्रिया या भाव। रक्षण। (३) निर्वाह। तामील।

प्रतिपालना*†–क्रि० स० [सं० प्रतिपालन] (१) पालन करना। पालना। (२) रक्षा करना। बचाना।

प्रतिपालित–वि० [सं०] (१) पालन किया हुआ। (२) रक्षित।

प्रतिपाल्य–वि० [सं०] (१) पालन करने योग्य। जिसका पालन करना उचित या धर्म हो। (२) रक्षा करने के योग्य। जिसकी रक्षा करना हो।

प्रतिपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पुरुष जो किसी दूसरे पुरुष के स्थान पर होकर काम करे। प्रतिनिधि। (२) वह पुतला जो प्राचीन काल में चोर लोग घुसने के पहले घर में फेंका करते थे। (जब इस प्रतिपुरुष के फेंकने पर घर के लोग किसी प्रकार का शोर नहीं करते थे, तब चोर घर में घुसते थे।) (३) सहकारी। वह जो साथ में काम करे।

प्रतिपूजक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिपूजन करनेवाला। अभिवादन करनेवाला।

प्रतिपूजन–संज्ञा पुं० [सं०] अभिवादन। साहब-सलामत।

प्रतिपूजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतिपूजन। अभिवादन।

प्रतिपूज्य–वि० [सं०] जो अभिवादन करने पर, अभिवादन किये जाने के योग्य हो।

प्रतिपोषक–संज्ञा पुं० [सं०] सहायता करनेवाला। मदद करनेवाला।

प्रतिप्रभ–संज्ञा पुं० [सं०] अत्रि वंश के एक ऋषि का नाम।

प्रतिप्रभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतिबिंब। परछाँहीं।

प्रतिप्रसव–संज्ञा पुं० [सं०] किसी अवसर पर कोई ऐसे काम के लिये स्वच्छंदता जो और अवसरों पर निषिद्ध हो। जिस बात का एक स्थान पर निषेध किया गया हो, उसी का किसी विशेष अवसर के लिये विधान। किसी बात के लिये एक स्थान पर निषेध और दूसरे स्थान पर आज्ञा। जैसे, रविवार, शुक्रवार, द्वादशी को श्राद्ध में से तर्पण करने का निषेध है। पर अयन, विषुव, संक्रांति या ग्रहण के समय, अथवा तीर्थस्थान में रविवार, शुक्रवार, द्वादशी को भी तिल से श्राद्ध करने की आज्ञा है।

प्रतिप्रसूत–वि० [सं०] जिसके विषय में और स्थानों में तो निषेध हो पर किसी विशेष स्थान में विधान हो। जिसके विषय में प्रतिप्रसव हो।

प्रतिप्रस्थाता–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिप्रस्थातृ] सोमयाजी १६ ऋत्विजों में से छठा ऋत्विज।

प्रतिप्राकार–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्ग के बाहर की ओर का प्राकार। बाहरी परकोटा।

प्रतिफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिबिंब। छाया। (२) परिणाम। नतीजा। (३) वह बात जो किसी बात का बदला देने या लेने के लिये की जाय।

प्रतिफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] बावची। बकुची।

प्रतिबंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोक। रुकावट। अटकाव। (२) विघ्न। बाधा। (३) बंदोबस्त। प्रबंध।

प्रतिबंधक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो रोकता हो। रोकनेवाला। (२) बाधा डालनेवाला। विघ्न करनेवाला। (३) वृक्ष। पेड़।

प्रतिबंधकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुकावट। रोक। अड़चन। (२) विघ्न। बाधा।

प्रतिबंधु–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बंधु के समान हो।

प्रतिबद्ध–वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। (२) जिसमें किसी प्रकार का प्रतिबंध हो। जिसमें कोई रुकावट हो। (३) जिसमें कोई बाधा डाली गई हो। (४) नियंत्रित।

प्रतिबल–वि० [सं०] (१) समर्थ। शक्त। (२) बराबर की ताकतवाला। शक्ति में समान।

प्रतिबाधक–वि० [सं०] (१) बाधा करनेवाला। रोकनेवाला। (२) कष्ट पहुँचानेवाला। पीड़ा देनेवाला।

प्रतिबाधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विघ्न। बाधा। (२) पीड़ा। कष्ट।

प्रतिबाहु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँह का अगला भाग। (२)

पुराणानुसार श्वफल्क के एक पुत्र और अक्रूर के भाई का नाम ।

प्रतिबिंब–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परछाईं । छाया । (२) मूर्ति । प्रतिमा । (३) चित्र । तसवीर । (४) शीशा । दर्पण । उ०–हँसे हँसत अनरस अनरसत प्रतिबिंबन ज्यौं झाँईं । —तुलसी । (५) झलक ।

प्रतिबिंबक–संज्ञा पुं० [सं०] परछाँईं के समान पीछे पीछे चलनेवाला । अनुगामी ।

प्रतिबिंबवाद–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत का वह सिद्धांत जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जीव वास्तव में ईश्वर का प्रतिबिंब मात्र है ।

प्रतिबिंबित–वि० [सं०] (१) जिसका प्रतिबिंब पड़ता हो । जिसकी परछाँही पड़ती हो । (२) जो परछाँही पड़ने के कारण दिखाई पड़ता हो । (३) जो झलकता हो । जो कुछ स्पष्ट रूप से व्यक्त होता हो । जिसका आभास मिलता हो ।

प्रतिबीज–वि० [सं०] जिसका बीज नष्ट हो गया हो । जिसकी उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई हो ।

प्रतिबुद्ध–वि० [सं०] (१) जागा हुआ । (२) जो जाना हुआ हो । प्रसिद्ध । (३) जिसकी उन्नति हुई हो । उन्नत ।

प्रतिबुद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] विपरीत बुद्धि । उलटी समझ ।

प्रतिबोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जागरण । जागना । (२) ज्ञान ।

प्रतिबोधक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो प्रतिबोध करावे । (२) जगानेवाला । (३) ज्ञान उत्पन्न करनेवाला । (४) शिक्षा देनेवाला । (५) तिरस्कार करनेवाला ।

प्रतिबोधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जगाना । (२) ज्ञान उत्पन्न कराना ।

प्रतिभट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बराबर का योद्धा । समान शक्तिवाला योद्धा । (२) वह जिससे युद्ध होता हो । मुक़ाबला करनेवाला । (३) शत्रु । वैरी । दुश्मन ।

प्रतिभटता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैर । शत्रुता । दुश्मनी ।

प्रतिभय–वि० [सं०] भयंकर ।

संज्ञा पुं० भय । डर ।

प्रतिभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि । समझ । (२) वह असाधारण मानसिक शक्ति जिसकी सहायता से मनुष्य आपसे आप, विशेष प्रयत्न किए बिना ही किसी काम में बहुत अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता और दूसरों से आगे बढ़ जाता है । असाधारण बुद्धि-बल । (इसकी अभिव्यक्ति बहुधा साहित्य, कला या विज्ञान आदि में होती है ।)

यौ०—प्रतिभाशाली । प्रतिभावान् ।

(३) दीप्ति । चमक । (क्व०)

प्रतिभाकूट–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

प्रतिभान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धि । समझ । (२) प्रभा । चमक ।

प्रतिभानु–संज्ञा पुं० [सं०] सत्यभामा के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम ।

प्रतिभान्वित–वि० [सं०] जिसमें प्रतिभा हो । प्रतिभाशाली ।

प्रतिभावान्–वि० [सं०] (१) प्रतिभान्वित । प्रतिभाशाली जिसमें प्रतिभा हो । (२) दीप्तिमान् । चमकदार ।

प्रतिभाशाली–वि० [सं०] जिसमें प्रतिभा हो । प्रतिभावाला ।

प्रतिभाषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उत्तर । जवाब । (२) वह जो किसी उत्तर के उत्तर में कहा जाय । प्रत्युत्तर । (३) वादी का कथन । मुद्दई का बयान ।

प्रतिभासंपन्न–वि० [सं०] जिसमें प्रतिभा हो । प्रतिभाशाली ।

प्रतिभास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकृति । (२) भ्रम । धोखा । (३) प्रकाश । चमक ।

प्रतिभिन्न–वि० [सं०] विभक्त । जो अलग हो गया हो ।

प्रतिभू–संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार-शास्त्र में वह व्यक्ति जो ऋण देनेवाले (उत्तमर्ण) के सामने ऋण लेनेवाले (अधमर्ण) की जमानत करे । जमानत में पड़नेवाला । जामिन । लग्नक ।

प्रतिभेद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभेद । अंतर । फर्क । (२) आविष्कार ।

प्रतिभेदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभाग करना । (२) भेद उत्पन्न करना । खोलना ।

प्रतिभोग–संज्ञा पुं० [सं०] उपभोग ।

प्रतिमंडक–संज्ञा पुं० [सं०] शालक राग का एक भेद ।

प्रतिमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य आदि चमकते हुए ग्रहों का मंडल या घेरा । परिवेश ।

प्रतिम–अव्य० [सं०] समान । सदृश ।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार केवल यौगिक में, शब्द के अंत में होता है । जैसे, मेव-प्रतिम = मेघ के समान ।

प्रतिमर्श–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की शिरोवस्ति जो नस्य के पाँच भेदों के अंतर्गत है ।

विशेष—प्रतिमर्श प्रायः प्रातःकाल सोकर उठने के समय, नहाने धोने, या दिन को सोकर उठने के उपरांत अथवा संध्या समय किया जाता है । इसमें औषधियाँ डालकर पकाया हुआ घी नाक के नथनों में चढ़ाया जाता है जिससे नाक का मल निकल जाता है, दाँत मजबूत होते हैं, मुहँ की दुर्गंध नष्ट होती है, आँखों की ज्योति बढ़ती है, और शरीर हलका हो जाता है । भिन्न भिन्न समय के प्रतिमर्श का भिन्न भिन्न परिणाम बतलाया गया है ।

प्रतिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी की वास्तविक अथवा कल्पित आकृति के अनुसार बनाई हुई मूर्ति या चित्र आदि ।

अनुकृति। (२) मिट्टी, पत्थर या धातु आदि की बनी हुई देवताओं की मूर्ति जिसकी स्थापना या प्रतिष्ठा करके पूजन किया जाता हो। देवमूर्ति। (३) प्रतिबिंब। छाया। (४) हाथियों के दाँत पर का पीतल या ताँबे आदि का बंधन। (५) तौलने का बाट। बटखरा। (६) साहित्य का एक अलंकार जिसमें किसी मुख्य पदार्थ या व्यक्ति के अभाव में उसी के सदृश किसी और पदार्थ या व्यक्ति की स्थापना का वर्णन होता है। जैसे, हों जीवित हौं जगत में अलि याही आधार। प्रानपिया उनिहार यह ननदी वदन अधार। इसमें विदेश गए हुए पति के अभाव में नायिका ने पति के समान आकृतिवाली ननद को ही उसका स्थानापन्न बनाया है, इसलिए यह प्रतिमा अलंकार है।

प्रतिमान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिबिंब। परछाँही। (२) हाथी का मस्तक। हाथी के दोनों बड़े दाँतों के बीच का स्थान। (३) समानता। बराबरी। (४) दृष्टांत। उदाहरण। (५) प्रतिनिधि।

प्रतिमाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्मरणशक्ति का परिचय देने के लिये दो आदमियों का एक दूसरे के पीछे लगातार श्लोक या कविता पढ़ना।

विशेष—कभी कभी एक के श्लोक का अंतिम अक्षर लेकर दूसरा उसी अक्षर से आरंभ करनेवाला श्लोक पढ़ता है। उसे अंत्याक्षरी कहते हैं। जो आगे नहीं कह सकता उसकी हार समझी जाती है।

प्रतिमास्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देश का निवासी।

प्रतिमुक्त—वि० [सं०] (१) पहना हुआ (कपड़ा आदि)। (२) जिसका त्याग कर दिया गया हो। जो छोड़ दिया गया हो। (३) जो बँधा हुआ हो।

प्रतिमुख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाटक की पाँच अंगसंधियों में से एक जिसमें विलास, परिसर्प, नर्म (परिहास), प्रगमन, विरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार आदि का वर्णन होता है। (२) किसी चीज का पीछे का भाग।

प्रतिमूर्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी की आकृति को देखकर बनाई हुई मूर्ति या चित्र आदि। प्रतिमा।

प्रतिमूषिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का चूहा।

प्रतिमोक्ष, प्रतिमोक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] मोक्ष की प्राप्ति।

प्रतिमोचन—संज्ञा पुं० [सं०] खोलना। बंधन से मुक्त करना।

प्रतियत्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लालच। प्राप्ति या लाभ की इच्छा। (२) उपग्रह। (३) कैदी। (४) संस्कार।

प्रतियातना—संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतिमा। मूर्ति।

प्रतियान—संज्ञा पुं० [सं०] लौटना। वापस आना।

प्रतियुद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] बराबरी का युद्ध।

प्रतियोग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रुता। विरोध। (२) विरुद्ध संयोग। विरोधी पदार्थों का संयोग। (३) वह जिससे किसी पदार्थ का परिणाम नष्ट हो जाय। मारक। (४) वह उद्योग जो फिर से किया जाय।

प्रतियोगिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिद्वंद्विता। चढ़ा-ऊपरी। मुकाबला। (२) विरोध। शत्रुता।

प्रतियोगी—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिस्सेदार। शरीक। (२) शत्रु। विरोधी। वैरी। (३) सहायक। मददगार। (४) साथी। (५) बराबरवाला। जोड़ का।

वि० (१) मुकाबले का। बराबरी का। (२) मुकाबला करनेवाला। सामना करनेवाला।

प्रतियोद्धा—संज्ञा पुं० [सं० प्रतियोद्धृ] (१) शत्रु। विरोधी। (२) मुकाबिले का। बराबर का लड़नेवाला।

प्रतिरक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] रक्षा। हिफाजत।

प्रतिरथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बराबरी का लड़नेवाला। वह जो मुकाबला करे। (२) पुराणानुसार यदुवंशी वज्राश्व के पुत्र का नाम।

प्रतिरुद्ध—वि० [सं०] (१) अवरुद्ध। रुका हुआ। (२) फँसा हुआ। अटका हुआ।

प्रतिरूप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिमा। मूर्ति। (२) तसवीर। चित्र। (३) प्रतिनिधि। (४) महाभारत के अनुसार एक दानव का नाम।

प्रतिरोद्धा—वि० [सं० प्रतिरोद्धृ] (१) विरोधी। शत्रुता करनेवाला। (२) बाधा डालनेवाला। रोकनेवाला।

प्रतिरोध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विरोध। (२) रुकावट। रोक। बाधा। (३) तिरस्कार। (४) प्रतिबिंब।

प्रतिरोधक—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रतिरोधिका] (१) वह जो प्रतिरोध करे। रोकने या बाधा डालनेवाला। (२) चोर, ठग, डाकू आदि।

प्रतिरोधन—संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिरोध करने की क्रिया या भाव।

प्रतिरोधित—वि० [सं०] जो रोका गया हो। जिसमें बाधा डाली गई हो।

प्रतिरोधी—संज्ञा पुं० दे० "प्रतिरोधक"।

प्रतिलंभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुरी चाल। कुरीति। (२) दोष। कलंक। इलजाम। (३) प्राप्ति। लाभ। (४) निंदा। दुर्वचन। कुवाच्य। गाली।

प्रतिलाभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शालक राग का एक भेद। (२) लाभ। प्राप्ति।

प्रतिलिपि—संज्ञा स्त्री० [सं०] लेख की नकल। किसी लिखी हुई

चीज की नकल। जैसे, उस पत्र की एक प्रतिलिपि मेरे पास भी आई है।

प्रतिलोम–संज्ञा पुं० [सं०] कमीना मनुष्य। नीच आदमी। वि० (१) प्रतिकूल। विपरीत। (२) जो नीचे से ऊपर की ओर गया हो। जो सीधा न हो। उलटा। (३) नीच।

प्रतिलोमज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके पिता और माता दोनों अलग अलग जाति के हों। वर्णसंकर। (२) नीच वर्ण के पुरुष और उच्च वर्ण की कन्या से उत्पन्न संतान। जैसे,

सूत—क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न।
वैदेहिक—वैश्य ,, ,, ,, ,, ,,
चांडाल—शूद्र ,, ,, ,, ,, ,,
मागध—वैश्य ,, ,, क्षत्रिया ,, ,,
क्षत्ता—शूद्र ,, ,, ,, ,, ,,
आयोगव–,, ,, ,, वैश्या ,, ,,

प्रतिलोम विवाह–संज्ञा पुं० [सं०] वह विवाह जिसमें पुरुष नीच वर्ण का और स्त्री उच्च वर्ण की हो।

प्रतिवचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्तर। जवाब। (२) प्रतिध्वनि।

प्रतिवर्त्तन–संज्ञा पुं० [सं०] लौट आना। वापस आना।

प्रतिवस्तूपमा–संज्ञा पुं० [सं०] वह काव्यालंकार जिसमें उपमेय और उपमान के साधारण धर्म का वर्णन अलग अलग वाक्यों में किया जाय। जैसे, सोहत भानु प्रताप सों लसत चाप सों शूर। यहाँ दोहे का पूर्वार्द्ध उपमान वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमेय। एक में 'सोहत' और दूसरे में 'लसत' शब्द द्वारा साधारण धर्म कहा गया है।

प्रतिवहन–संज्ञा पुं० [सं०] उलटी ओर ले जाना। विरुद्ध दिशा में ले जाना।

प्रतिवाक्य–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिवचन"।

प्रतिवाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी उत्तर को सुनकर कही हुई बात। प्रत्युत्तर।

प्रतिवात–संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पेड़।

प्रतिवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह बात जो किसी दूसरी बात अथवा सिद्धांत का विरोध करने के लिये कही जाय। वह कथन जो किसी मत को मिथ्या ठहराने के लिये हो। विरोध। खंडन। जैसे, अनेक पत्रों ने उस समाचार का प्रतिवाद किया है। (२) विवाद। बहस। (३) उत्तर। जवाब।

प्रतिवादक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिवाद करनेवाला। वह जो प्रतिवाद करे।

प्रतिवादिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिवाद का भाव। (२) प्रतिवादी का धर्म्म।

प्रतिवादी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवादिन्] (१) वह जो प्रतिवाद करे। प्रतिवाद या खंडन करनेवाला। (२) वह जो किसी बात में तर्क करे। (३) वह जो वादी की बात का उत्तर दे। प्रतिपक्षी।

प्रतिवाप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओषधियों का वह चूर्ण जो किसी काढ़े आदि में डाला जाय। (२) कल्क। (३) धातु को भस्म करने का काम। (४) चूर्ण। बुकनी।

प्रतिवारण–संज्ञा पुं० [सं०] रोकना। मना करना।

प्रतिवास–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुगंधि। सुवास। खुशबू। (२) पड़ोस। समीप का निवास।

प्रतिवासिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पड़ोस का निवास। प्रतिवास का भाव।

प्रतिवासी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवासिन्] पड़ोस में रहनेवाला। पड़ोसी।

प्रतिवासुदेव–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार विष्णु या वासुदेव के नौ शत्रु जो नरक में गए थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अश्वग्रीव। (२) तारक। (३) मोदक। (४) मधु। (५) निशुंभ। (६) बलि। (७) प्रह्लाद। (८) रावण। (९) जरासंध।

प्रतिवाह–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार अक्रूर के एक भाई का नाम।

प्रतिवाहु–संज्ञा पुं० [सं०] एक यादव का नाम।

प्रतिविंध्य–संज्ञा पुं० [सं०] द्रौपदी के गर्भ से उत्पन्न युधिष्ठिर के पुत्र का नाम।

प्रतिविधान–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतीकार।

प्रतिविधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतीकार।

प्रतिविषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वितूला। अतिविषा। अतीस।

प्रतिविष्णु–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु के प्रतिद्वंद्वी राजा मुचकुंद का एक नाम।

प्रतिविष्णुक–संज्ञा पुं० [सं०] मुचकुंद नामक फूल का पौधा।

प्रतिवीर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें प्रतिरोध करने के लिये यथेष्ट बल हो।

प्रतिवेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पड़ोस। (२) घर के सामने या पास का घर। पड़ोस का मकान।

प्रतिवेशी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवेशिन्] पड़ोस में रहनेवाला। पड़ोसी।

प्रतिशंका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह शंका जो बराबर बनी रहे।

प्रतिशब्द–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिध्वनि। गूँज।

प्रतिशम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। (२) मुक्ति।

प्रतिशयन–संज्ञा पुं० [सं०] किसी कामना की सिद्धि की इच्छा से देवता के स्थान पर खाना पीना छोड़कर पड़ा रहना। धरना देना।

प्रतिशिष्य–संज्ञा पुं० [सं०] शिष्य का शिष्य।

प्रतिशोध–संज्ञा पुं० [सं० प्रति + शोध] वह काम जो

किसी बात का बदला चुकाने के लिये किया जाय। बदला।

विशेष—संस्कृत में यह शब्द इस अर्थ में नहीं मिलता। हिंदी में बंगला से आया हुआ जान पड़ता है।

प्रतिश्य-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रतिश्याय"।

प्रतिश्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जुकाम। सरदी। (२) पीनस रोग।

प्रतिश्रम-संज्ञा पुं० [सं०] परिश्रम। मेहनत।

प्रतिश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ यज्ञ होता है। यज्ञशाला। (२) सभा। (३) स्थान। (४) निवास।

प्रतिश्रयण-संज्ञा पुं० [सं०] स्वीकृति। मंजूरी।

प्रतिश्रुत-वि० [सं०] स्वीकार किया हुआ। मंजूर किया हुआ।

प्रतिश्रुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिध्वनि। (२) प्रतिज्ञा। इकरार। (३) रजामंदी। मंजूरी। स्वीकृति। अनुमति। (४) वसुदेव के एक पुत्र का नाम।

प्रतिश्रुत्का-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक देवता।

प्रतिश्रोता-संज्ञा पुं० [सं०] अनुमति देनेवाला। मंजूर करनेवाला।

प्रतिषिद्ध-वि० [सं०] जिसके विषय में प्रतिषेध किया गया हो। निषिद्ध।

प्रतिषेध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निषेध। मनाही। (२) खंडन। (३) एक प्रकार का अर्थालंकार जिसमें किसी प्रसिद्ध निषेध या अंतर का इस प्रकार उल्लेख किया जाय जिससे उसका कुछ विशेष अर्थ निकले। जैसे, सिय कंकण को छोरिबो धनुष तोरिबो नाहिं। यहाँ यह तो सिद्ध ही है कि धनुष तोड़ना और बात है; और कंकण खोलना और बात। पर इस कथन से यहाँ यह तात्पर्य्य है कि आप धनुष तोड़ने में वीर हो सकते हैं; पर यह वीरता कंकण खोलने में काम न आवेगी।

प्रतिषेधक-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिषेध करनेवाला। मना करनेवाला। रोकनेवाला।

प्रतिष्क-संज्ञा पुं० [सं०] दूत।

प्रतिष्ठ-वि० [सं०] प्रसिद्ध। प्रख्यात। मशहूर।

संज्ञा पुं० जैनियों के अनुसार सुपार्श्व नामक वृत्तार्हत के पिता का नाम।

प्रतिष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्थापना। रखा जाना। (२) स्थिति। ठहराव। (३) देवता की प्रतिमा की स्थापना। (४) स्थान। जगह। (५) मान-मर्यादा। गौरव। (६) प्रख्याति। प्रसिद्धि। (७) यश। कीर्ति। (८) आदर। सत्कार। इज्जत। (९) मंदिरों की वृत्ति। आश्रय। ठिकाना। (१०) यज्ञ की समाप्ति। (११) शरीर। (१२) पृथ्वी। (१३) व्रत का उद्यापन। (१४) एक प्रकार का छंद। (१५) चार वर्णों का वृत्त।

प्रतिष्ठान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थापित या प्रतिष्ठित करने की क्रिया। रखना। बैठाना। स्थापन। (२) देव-मूर्ति की स्थापना। (३) जड़। मूल। (४) पदवी। (५) स्थान। जगह। (६) वह कृत्य जो व्रत आदि की समाप्ति पर किया जाय। व्रत आदि का उद्यापन। (७) दे० "प्रतिष्ठानपुर।"

प्रतिष्ठानपुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक नगर जो गंगा यमुना के संगम पर वर्त्तमान झूसी नामक स्थान के आस-पास था। पहले चंद्रवंशी राजा पुरूरवा की राजधानी यहीं थी। यहाँ समुद्रगुप्त और हर्षगुप्त ने एक किला बनवाया था जिसका गिरा पड़ा अंश अब तक वर्त्तमान है। (२) गोदावरी के तट पर महाराष्ट्र देश का एक प्राचीन नगर जो राजा शालिवाहन की राजधानी था।

प्रतिष्ठापत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जो किसी की प्रतिष्ठा का सूचक हो। प्रतिष्ठा करने के लिये दिया जानेवाला पत्र। सम्मानपत्र।

प्रतिष्ठापन-संज्ञा पुं० [सं०] देवता आदि की मूर्त्ति स्थापित करने का काम।

प्रतिष्ठावान्-वि० [सं०] जिसकी प्रतिष्ठा हो। इज्जतदार।

प्रतिष्ठित-वि० [सं०] (१) जिसकी प्रतिष्ठा हुई हो। आदर-प्राप्त। इज्जतदार। जैसे, (क) हिंदी का प्रतिष्ठित पत्र। (ख) चार प्रतिष्ठित सज्जन। (२) जिसकी प्रतिष्ठा की गई हो। जो स्थापित किया गया हो। जैसे, वहाँ शिव जी की एक मूर्त्ति प्रतिष्ठित की गई है।

संज्ञा पुं० विष्णु।

प्रतिष्ठिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्थापित करने का भाव या कार्य्य। प्रतिष्ठान।

प्रतिसंख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चेतना। (२) सांख्य के अनुसार ज्ञान का एक भेद।

प्रतिसंख्यानिरोध-संज्ञा पुं० [सं०] वैनाशिक बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार बुद्धिपूर्वक भावपदार्थ का नाश।

प्रतिसंचर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार प्रलय का एक भेद।

प्रतिसंधान-संज्ञा पुं० [सं०] अनुसंधान। ढूँढ़ना। खोजना।

प्रतिसंधानिक-संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं आदि की स्तुति करनेवाला। मागध।

प्रतिसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वियोग। विछोह। (२) अनुसंधान। ढूँढ़ना।

प्रतिसम-वि० [सं०] जो देखने में समान न हो।

प्रतिसर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवक। नौकर। (२) सेना का पिछला भाग। (३) ब्याह में पहनने का कंकण। (४) कंकण नाम का गहना। (५) जादू का मंत्र। (६) जख्म का भर आना। (७) माला। (८) प्रातःकाल। सबेरा।

प्रतिसर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार वे सब सृष्टियाँ

जो रुद्र, विराटपुरुष, मनु, यक्ष और मरीचि आदि ब्रह्मा के मानस-पुत्रों ने उत्पन्न की थीं। (२) प्रलय।

प्रतिसर्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक रुद्र का नाम। (वैदिक)। (२) विवाह के समय हाथ में बाँधा जानेवाला कंगन।

प्रतिसारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर हटाना। अलग करना। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का अग्निकार्य्य जिसमें गरम घी या तेल आदि की सहायता से कोई स्थान जलाया जाता है। बवासीर, भगंदर, अर्बुद आदि रोगों में यह विधेय है। (३) मसूड़ों में से बहनेवाला खून बंद करने के लिये, उनकी सूजन दूर करने के लिये अथवा योंही मुँह साफ करने के लिये किसी प्रकार का चूर्ण या अवलेह आदि लेकर उँगली से दाँतों या मसूड़ों आदि पर मलने की क्रिया। मंजन।

प्रतिसारणीय–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की क्षार-पाक-विधि जो कुष्ठ, भगंदर, दाद, कुष्ठव्रण, झाँई, मुहासे और बवासीर आदि में अधिक उपयोगी होती है।

वि० [सं०] हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाने के योग्य।

प्रतिसारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्ध तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार की शक्ति जिसका मंत्र धारण करने से सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं का दूर होना माना जाता है।

प्रतिसीरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] यवनिका। परदा।

प्रतिसूर्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य का मंडल या घेरा। (२) आकाश में होनेवाला एक प्रकार का उत्पात जिसमें सूर्य्य के सामने एक और सूर्य्य निकला हुआ दिखाई देता है। (३) गिरगिट।

प्रतिसेना–संज्ञा स्त्री० [सं०] शत्रु की सेना। दुश्मन की फौज।

प्रतिसोमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरेटा नाम की बेल। छिरहटा।

प्रतिस्कंध–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

प्रतिस्पर्द्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी काम में दूसरे से बढ़ जाने की इच्छा या उद्योग। लागडाँट। चढ़ा-ऊपरी। (२) झगड़ा।

प्रतिस्पर्द्धी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिस्पर्द्धिन्] (१) वह जो प्रतिस्पर्द्धा करे। मुकाबला या बराबरी करनेवाला। (२) उद्दंड। विद्रोही।

प्रतिस्फलन–संज्ञा पुं० [सं०] फैलाव। विस्तार।

प्रतिस्याय–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिश्याय"।

प्रतिस्राव–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें नाक में से पीला या सफेद रंग का बहुत गाढ़ा कफ निकलता है।

प्रतिहंता–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिहंतृ] (१) रोकनेवाला। बाधक। (२) मुकाबले में खड़ा होकर मारनेवाला।

प्रतिहत–वि० [सं०] (१) अवरुद्ध। रुका हुआ। (२) हटाया हुआ। (३) फेंका हुआ। (४) गिरा हुआ। (५) निराश।

प्रतिहति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोकने या हटाने की चेष्टा। (२) वह आघात जो किसी के आघात करने पर किया जाय। (३) टक्कर। (४) क्रोध। गुस्सा।

प्रतिहरण–संज्ञा पुं० [सं०] विनाश। बरबादी।

प्रतिहर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिहर्तृ] (१) १६ ऋत्विजों में से बारहवाँ ऋत्विज। (२) वह जो विनाश करे।

प्रतिहस्त–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिनिधि।

प्रतिहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वारपाल। दरबान। ड्योढ़ीदार। (२) द्वार। दरवाजा। ड्योढ़ी। (३) प्राचीन काल का एक राजकर्म्मचारी जो सदा राजाओं के पास रहा करता था और जो राजाओं को सब प्रकार के समाचार आदि सुनाया करता था। बहुधा पढ़े-लिखे ब्राह्मण या राजवंश के लोग इस पद पर नियुक्त किए जाते थे। (४) चोबदार। नकीब। (५) सामवेद-गान का एक अंग। (६) मायावी। ऐंद्रजालिक। बाजीगर। (७) एक प्रकार की संधि। दे० "प्रतीहार"।

प्रतिहारक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्रजाल दिखानेवाला। बाजीगर। (२) वह जो प्रतिहार साम गान करता हो।

प्रतिहारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वार। दरवाजा। (२) द्वार आदि में प्रवेश करने की आज्ञा।

प्रतिहारतर–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का अस्त्र जिसका उपयोग दूसरों के चलाए हुए अस्त्रों को निष्फल करने के लिये होता है।

प्रतिहारत्व–संज्ञा पुं० [सं०] ड्योढ़ीदारी। प्रतिहार या द्वारपाल का काम या पद।

प्रतिहारी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिहारिन्] [स्त्री० प्रतिहारिणी] द्वारपाल। डेवढ़ीदार। द्वाररक्षक।

प्रतिहास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर। (२) सफेद कनेर।

प्रतिहिंसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह हिंसा जो किसी हिंसा का बदला चुकाने के लिये की जाय। बैर निकालना। (२) बैर चुकाना। बदला लेना।

प्रतीक–वि० [सं०] (१) प्रतिकूल। विरुद्ध। (२) जो नीचे से ऊपर की ओर गया हो। उलटा। विलोम।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पता। चिह्न। निशान। (२) किसी पद्य वा गद्य के आदि वा अंत के कुछ शब्द लिखकर वा पढ़कर उस पूरे वाक्य का पता बतलाना। (३) अंग। (४) मुख। मुँह। (५) आकृति। रूप। सूरत। (६) प्रतिरूप। स्थानापन्न वस्तु। वह वस्तु जिसमें किसी दूसरी वस्तु का आरोप किया गया हो। (७) प्रतिमा। मूर्ति। (८) वसु के पुत्र और ओघवान् के पिता का नाम। (९) मरु के पुत्र का नाम। (१०) परवल।

प्रतीकार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह काम जो किसी के किए

हुए अपकार का बदला चुकाने अथवा उसे निष्फल करने के लिये किया जाय। प्रतिकार। बदला। (२) चिकित्सा। इलाज।

प्रतीकार्य्य–वि० [सं०] जो प्रतीकार के योग्य हो। निष्फल करने के योग्य। बदला चुकाने या व्यर्थ करने के लायक।

प्रतीकोपासना–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी विशेष पदार्थ में (जैसे, सूर्य्य, ईश्वर के नाम, मन इत्यादि) व्यापक ब्रह्म की भावना करके उसे पूजना और यह मानना कि हम उसी ब्रह्म की पूजा करते हैं।

प्रतीक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो प्रतीक्षा करता हो। आसरा देखनेवाला। (२) पूजा करनेवाला। पूजक।

प्रतीक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतीक्षा करना। आसरा देखना। (२) कृपादृष्टि। मेहरबानी की नजर।

प्रतीक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी व्यक्ति अथवा काल के आने या किसी घटना के होने के आसरे में रहना। किसी कार्य्य के होने या किसी के आने की आशा में रहना। आसरा। इंतजार। प्रत्याशा। जैसे, (क) मैं एक घंटे से आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (ख) वे इस मास की समाप्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। (२) किसी का भरण पोषण करना। प्रतिपालन। (३) पूजा।

प्रतीक्षा–संज्ञा पुं० [सं० प्रतीक्षिन्] वह जो प्रतीक्षा करे। प्रतीक्षा करनेवाला।

प्रतीघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह आघात जो किसी के आघात करने पर हो। (२) वह आघात जो एक आघात लगने पर आपसे आप उत्पन्न हो। टक्कर। (३) रुकावट। बाधा।

प्रतीची–संज्ञा स्त्री० [सं०] पश्चिम दिशा।

प्रतीचीन–वि० [सं०] (१) पश्चिम दिशा का। पश्चिम संबंधी। पश्चिमी। पछाहीं। (२) जिसने मुँह फेर लिया हो। पराङ्मुख।

प्रतीचीश–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा के स्वामी, वरुण।

प्रतीच्य–वि० [सं०] प्रतीची दिशा का। पश्चिमी।

प्रतीत–वि० [सं०] (१) ज्ञात। विदित। जाना हुआ। जैसे, ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ष अच्छी वर्षा होगी। (२) प्रसिद्ध। विख्यात। मशहूर। (३) प्रसन्न। खुश।

प्रतीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्ञान। जानकारी। (२) दृढ़ निश्चय। विश्वास। यकीन। (३) प्रसिद्धि। ख्याति। (४) आनंद। प्रसन्नता। (५) आदर।

प्रतीत्यसमुत्पाद–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षड़ायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भय, जाति और दुःख ये बारहों पदार्थ जो उत्तरोत्तर संबद्ध हैं (अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप क्रमशः उत्पन्न होते हैं)। यही परम्परा जन्म मरण और दुःख का कारण है। इससे यह 'द्वादश निदान' के नाम से प्रसिद्ध है। इन सबका बोध महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के समय किया था। इन सब निदानों की व्याख्या आदि के संबंध में महायान और हीनयान मतवालों में बहुत कुछ मतभेद है।

प्रतीप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिकूल घटना। आशा के विरुद्ध फल। (२) वह अर्थालंकार जिसमें उपमेय को उपमान के समान न कहकर उलटा उपमान को उपमेय के समान कहते हैं अथवा उपमेय द्वारा उपमान का तिरस्कार वर्णन करते हैं। जैसे, (क) पायँन से गुललाला जयादल पुंज बँधूक प्रभा बिथरैं हैं। मैथिली आनन से अरविंद कलाधर आरसी जानि परैं हैं। (ख) पाहन! जिय जनि गरब धरु हौं ही कठिन अपार। चित दुर्जन के देखिये तोसे लाख हजार। (ग) करत गरब तू कल्पतरु! बड़ी सु तेरी भूल। या प्रभु की नीकी नजर तकु तेरे ही तूल।

वि० प्रतिकूल। उलटा। जैसे, प्रतीपगमन, प्रतीप तरण।

प्रतीपदर्शिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] देखते ही मुँह फेर लेनेवाली नई स्त्री या नव-वधू।

प्रतीपोक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी के कथन के विरुद्ध कहना। खंडन।

प्रतीयमान–वि० [सं०] (१) जान पड़ता हुआ। (२) व्यंजना द्वारा प्रकट होता हुआ। ध्वनि या व्यंग्य द्वारा प्रकट होता हुआ। जैसे, प्रतीयमान अर्थ।

प्रतीर–संज्ञा पुं० [सं०] किनारा। तट।

प्रतीवाप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह औषध जो पीने के लिये काढ़े आदि में मिलाया जाय। (२) दैवी उपद्रव। (३) फेंकने की क्रिया। (४) किसी चीज का रूप बदलने के लिये उसे किसी दूसरी चीज में मिलाना।

प्रतीवेश–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतीवेश। पड़ोस।

प्रतीवेशी–संज्ञा पुं० [सं० प्रतिवेशिन्] पड़ोस में रहनेवाला। पड़ोसी।

प्रतीवेश्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन देश का नाम।

प्रतीह–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार परमेष्ठी के एक पुत्र का नाम जिसका जन्म सुवर्चला के गर्भ से हुआ था।

प्रतीहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "प्रतिहार"। (२) संधि का एक भेद। वह मेल या संधि जो कोई यह कहकर करता है कि पहले मैं तुम्हारा काम कर देता हूँ पीछे तुम मेरा करना।

प्रतीहारी–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिहारी"।

प्रतीहास–संज्ञा पुं० [सं०] कनेर।

प्रतुंदक-संज्ञा पुं० [सं०] जीवक नाम का साग ।

प्रतुद-संज्ञा पुं० [सं०] वे पक्षी जो अपना भक्ष्य चोंच से तोड़कर खाते हैं ।

प्रतूणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्नायु की दुर्बलता से होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें गुदा से पीड़ा उत्पन्न होकर अँतड़ियों तक पहुँचती है ।

प्रतूद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम जिनका उल्लेख ऋग्वेद में है ।

प्रतोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैना । औगी । (२) चाबुक । कोड़ा । हंटर । (३) एक प्रकार का साम गान ।

प्रतोली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह चौड़ा रास्ता जो नगर के मध्य से होकर निकला हो । चौड़ी सड़क । शाहराह । (२) बीथी । गली । कूचा । (३) दुर्ग का वह द्वार जो नगर की ओर हो । (४) फोड़ों आदि पर पट्टी बाँधने का एक ढंग । इस ढंग की पट्टी ठोड़ी आदि पर बाँधी जाती है । (५) इस ढंग से बाँधी हुई पट्टी ।

प्रतोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संतोष । तुष्टि । (२) पुराणानुसार स्वायंभू मनु के एक पुत्र का नाम ।

प्रत्न-वि० [सं०] पुराना । प्राचीन ।

प्रत्नतत्व-संज्ञा पुं० [सं०] वह विद्या जिसमें प्राचीन काल की बातों का विवेचन हो । पुरातत्व ।

प्रत्यंगिरा-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यंगिरस्] पुराणानुसार चाक्षुष मन्वंतर के अंगिरस के पुत्र एक ऋषि का नाम ।

संज्ञा स्त्री० (१) सिरस का पेड़ । (२) बिसखोपरा । (३) तांत्रिकों की एक देवी का नाम ।

प्रत्यंच-संज्ञा स्त्री० [सं० पतंचिका] धनुष की डोरी जिसमें लगाकर बाण छोड़ा जाता है । चिल्ला ।

प्रत्यंजन-संज्ञा पुं० [सं०] आँख में अंजन लगाकर उसे अच्छा करना ।

प्रत्यंत-संज्ञा पुं० [सं०] म्लेच्छों के रहने का देश ।

प्रत्यंतपर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] वह छोटा पहाड़ जो किसी बड़े पहाड़ के पास हो ।

प्रत्यक्-क्रि० वि० [सं०] (१) पीछे । (२) पश्चिम ।

प्रत्यक्चेतन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग के अनुसार वह पुरुष जिसकी चित्तवृत्ति बिलकुल निर्मल हो चुकी हो, जिसको आत्मज्ञान हो चुका हो और जो प्रणव आदि का जप करके अपना स्वरूप पहचानने में समर्थ हो चुका हो । (२) अंतरात्मा । (३) परमेश्वर ।

प्रत्यक्पर्णी, प्रत्यक्पुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दंती वृक्ष । मूसाकानी । (२) अपामार्ग । चिचड़ा ।

प्रत्यक्श्रेणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दंती वृक्ष । मूसाकानी ।

प्रत्यक्ष-वि० [सं०] (१) जो देखा जा सके । जो आँखों के सामने हो । (२) जिसका ज्ञान इंद्रियों के द्वारा हो सके । जो किसी इंद्रिय की सहायता से जाना जा सके ।

संज्ञा पुं० चार प्रकार के प्रमाणों में से एक प्रमाण जो सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ।

विशेष—गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि इंद्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है । जैसे, यदि हमें सामने आग जलती हुई दिखाई दे अथवा हम उसके ताप का अनुभव करें तो यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि " आग जल रही है " । इस ज्ञान में पदार्थ और इंद्रिय का प्रत्यक्ष संबंध होना चाहिए । यदि कोई यह कहे कि "वह किताब पुरानी है" तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें जो ज्ञान होता है, वह केवल शब्दों के द्वारा होता है, पदार्थ के द्वारा नहीं, इसलिये यह शब्द प्रमाण के अंतर्गत चला जायगा । पर यदि वही किताब हमारे सामने आ जाय और मैली कुचैली या फटी हुई दिखाई दे तो हमें इस बात का अवश्य प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायगा कि "यह किताब पुरानी है ।" प्रत्यक्ष ज्ञान किसी के कहे हुए शब्दों द्वारा नहीं होता, इसी से उसे अव्यपदेश्य कहते हैं । प्रत्यक्ष को अव्यभिचारी इसलिये कहते हैं कि उसके द्वारा जो वस्तु जैसी होती है उसका वैसा ही ज्ञान होता है । कुछ नैयायिक इस ज्ञान के करण को ही प्रमाण मानते हैं । उनके मत से 'प्रत्यक्ष प्रमाण' इंद्रिय है, इंद्रिय से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है । पर अव्यपदेश्य पद से सूत्रकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि वस्तु का जो निर्विकल्पक ज्ञान है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है । नवीन ग्रंथकार दोनों मतों को मिलाकर कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के करण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण तीन हैं—(१) इंद्रिय, (२) इंद्रिय का संबंध और (३) इंद्रिय संबंध से उत्पन्न ज्ञान । पहली अवस्था में जब केवल इंद्रिय ही कारण हो तो उसका फल वह प्रत्यक्ष ज्ञान होगा जो किसी पदार्थ के पहले पहल सामने आने से होता है । जैसे, वह सामने कोई चीज दिखाई देती है । इस ज्ञान को "निर्विकल्पक ज्ञान" कहते हैं । दूसरी अवस्था में यह जान पड़ता है कि जो चीज सामने है, वह पुस्तक है । यह "सविकल्पक ज्ञान" हुआ । इस ज्ञान का करण इंद्रिय का संबंध है । जब इंद्रिय के संबंध से उत्पन्न ज्ञान करण होता है, तब यह ज्ञान कि यह किताब अच्छी है अथवा बुरी है, प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ । यह प्रत्यक्ष ज्ञान ६ प्रकार का होता है—(१) चाक्षुष प्रत्यक्ष, जो किसी पदार्थ के सामने आने पर होता है । जैसे, यह पुस्तक नई है । (२) श्रावण प्रत्यक्ष, जैसे, आँखें बंद रहने पर भी घंटे का शब्द सुनाई पड़ने पर यह ज्ञान होता है कि घंटा बजा । (३) स्पर्शन प्रत्यक्ष,

जैसे, बरफ हाथ में लेने से ज्ञान होता है कि वह बहुत ठंडी है। (४) रासन प्रत्यक्ष, जैसे, फल खाने पर जान पड़ता है कि वह मीठा है अथवा खट्टा है। (५) घ्राणज प्रत्यक्ष, जैसे, फूल सूँघने पर पता लगता है कि वह सुगंधित है। और (६) मानस प्रत्यक्ष, जैसे, सुख, दुःख, दया आदि का अनुभव।

क्रि० वि० आँखों के आगे। सामने। जैसे, प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रहा है कि उस पार पानी बरसता है।

प्रत्यक्षता-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रत्यक्ष होने का भाव।

प्रत्यक्षदर्शी-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यक्षदर्शिन्] वह जिसने प्रत्यक्ष रूप से कोई घटना देखी हो। साक्षी। गवाह।

प्रत्यक्षलवण-संज्ञा पुं० [सं०] वह नमक जो भोजन पक चुकने पर बाद में अलग डालने के लिए दिया जाय। खाद्य पदार्थ में पकने के समय डाले हुए नमक के अतिरिक्त पीछे से दिया जानेवाला नमक। शास्त्रों में श्राद्ध आदि अवसरों पर इस प्रकार नमक देने का निषेध है।

प्रत्यक्षवादी-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यक्षवादिन्] [स्त्री० प्रत्यक्षवादिनी] वह व्यक्ति जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण माने, और कोई प्रमाण न माने। वह मनुष्य जो इंद्रियजन्य ज्ञान को ही सत्य माने, जैसे, चार्वाक्।

प्रत्यक्षीकरण-संज्ञा पुं० [सं०] आँखों से दिखला देना। इंद्रिय द्वारा ज्ञान करा देना। सामने लाकर प्रत्यक्ष करा देना।

प्रत्यक्षीभूत-वि० [सं०] जिसका ज्ञान इंद्रियों द्वारा हुआ हो। जो प्रत्यक्ष हुआ हो।

प्रत्यगात्मा-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यगात्मन्] व्यापक ब्रह्म। परमेश्वर।

प्रत्यग्र-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार उपरिचर वसु के एक पुत्र का नाम।

वि० नया। ताज़ा।

प्रत्यग्रगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्णयूथिका। सोनजूही।

प्रत्यग्रथ--संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण पांचाल या अहिच्छत्र नामक देश। विशेष—दे० ''अहिच्छत्र''।

प्रत्यध्मान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वात रोग।

प्रत्यनीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कविता का वह अर्थालंकार जिसमें किसी के पक्ष में रहनेवाले या संबंधी के प्रति किसी हित वा अहित का किया जाना वर्णन किया जाय। जैसे, (क) तो मुख छबि सों हारि जग भयो कलंक समेत। सरद इंदु अरबिंद मुख अरबिंदन दुख देत।—मतिराम। (ख) अपने अँग के जानि कै योवन नृपति प्रवीन। स्तन मन नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन।—बिहारी। (ग) तैं जीत्यो निज रूप तें मदन बैर यह मान। बेधत तुव अनुरागिनी, इक सँग पाँचौ बान। (२) शत्रु। दुश्मन। (३) प्रतिपक्षी। विरोधी। मुकाबला करनेवाला। (४) प्रतिवादी। (५) विघ्न। बाधा।

प्रत्यनुमान-संज्ञा पुं० [सं०] तर्क में वह अनुमान जो किसी दूसरे के अनुमान का खंडन करते हुए किया जाय।

प्रत्यपकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह अपकार जो किसी अपकार के बदले में किया जाय।

प्रत्यभिज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह ज्ञान जो किसी देखी हुई चीज को, अथवा उसके समान किसी और चीज को, फिर से देखने पर हो। स्मृति की सहायता से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान। (२) वह अभेदज्ञान जिसके अनुसार ईश्वर और जीवात्मा दोनों एक ही माने जाते हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] माहेश्वर संप्रदाय का एक दर्शन जिसके अनुसार भक्तवत्सल महेश्वर ही परमेश्वर माने जाते हैं। इसमें तंतु आदि जड़ पदार्थों को पट आदि कार्यों का कारण न मानकर केवल महेश्वर को सारे जगत् का कारण माना है, और कहा है कि जिस प्रकार ऋषि आदि बिना स्त्रीसंयोग के ही मानस पुत्र उत्पन्न करते हैं; उसी प्रकार महादेव भी जड़-जगत् की किसी वस्तु की सहायता के बिना ही केवल अपनी इच्छा से जगत् का निर्माण करते हैं। इस मत के अनुसार किसी कार्य्य का कारण महेश्वर के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। महेश्वर को न तो कोई सृष्टि करने के लिये नियुक्त या उत्तेजित करता है और न उसे किसी पदार्थ की सहायता की आवश्यकता होती है। इसी लिये उसे स्वतंत्र कहते हैं। जिस प्रकार दर्पण में मुख दिखाई देता है, उसी प्रकार जगदीश्वर में प्रतिबिंब पड़ने के कारण सब पदार्थ दिखाई देते हैं। जिस प्रकार बहुरूपिए तरह तरह का रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार महेश्वर भी स्थावर जंगम आदि का रूप धारण करते हैं, और इसी लिये यह सारा जगत् ईश्वरात्मक है। महेश्वर ज्ञाता और ज्ञान स्वरूप है; इसलिये घट पट आदि का जो ज्ञान होता है, वह सब भी परमेश्वरस्वरूप ही है। इस दर्शन के अनुसार मुक्ति के लिये पूजा-पाठ और जप-तप आदि की कोई आवश्यकता नहीं; केवल प्रत्यभिज्ञा या इस ज्ञान की आवश्यकता है कि ईश्वर और जीवात्मा दोनों एक ही हैं। इस प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति होते ही मुक्ति का होना माना जाता है। इसी लिये इसे प्रत्यभिज्ञादर्शन कहते हैं। इस दर्शन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं माना जाता और जो भेद देखने में आता है उसका कारण भ्रम माना जाता है। इसी लिये इस मत के लोग कहते हैं कि जिस मनुष्य में ज्ञान और क्रियाशक्ति है वही परमेश्वर है; और जिसमें ज्ञान और क्रियाशक्ति नहीं है,

वह परमेश्वर नहीं है। परमेश्वर सब स्थानों में और स्वतः प्रकाशमान है। जीवात्मा में परमात्मा का प्रकाश होने पर भी जब तक यह ज्ञान न हो कि ईश्वर के ईश्वरता आदि गुण हममें भी हैं, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। यही जीवात्मा और परमात्मा के संबंध में इस दर्शन का सिद्धांत है। पदार्थ-निर्णय के संबंध में प्रत्यभिज्ञा दर्शन और रसेश्वर दर्शन के मत आपस में मिलते जुलते हैं।

प्रत्यभिज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] सदृश वस्तु को देखकर किसी पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण हो आना। स्मृति की सहायता से होनेवाला ज्ञान।

प्रत्यभियोग–संज्ञा पुं० [सं०] वह अभियोग जो अभियुक्त अपने वादी अथवा अभियोग लगानेवाले पर लगावे। किसी के अभियोग लगाने पर उलटे उस पर अभियोग लगाना। (व्यवहार-शास्त्र के अनुसार ऐसा करना वर्जित है।) अभियुक्त जब तक अपने आपको निर्दोष न प्रमाणित कर ले तब तक उसे वादी पर कोई अभियोग लगाने का अधिकार नहीं है।

प्रत्यभिवाद, प्रत्यभिवादन–संज्ञा पुं० [सं०] वह आशीर्वाद जो किसी पूज्य या बड़े का अभिवादन करने पर मिले।

प्रत्यमित्र–संज्ञा पुं० [सं०] शत्रु। दुश्मन।

प्रत्यय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विश्वास। एतबार। यकीन। (२) प्रमाण। सबूत। (३) विचार। खयाल। भावना। (४) ज्ञान। बुद्धि। समझ। (५) व्याख्या। शरह। (६) कारण। हेतु। (७) आवश्यकता। ज़रूरत। (८) प्रख्याति। प्रसिद्धि। (९) चिह्न। लक्षण। (१०) निर्णय। फैसला। (११) सम्मति। राय। (१२) स्वाद। जायका। (१३) सहायक। मददगार। (१४) विष्णु का एक नाम। (१५) वह रीति जिसके द्वारा छंदों के भेद और उनकी संख्या जानी जाय। छंदःशास्त्र में ९ प्रत्यय हैं—(१) प्रस्तार, (२) सूची, (३) पाताल, (४) उद्दिष्ट, (५) नष्ट, (६) मेरु, (७) खंडमेरु, (८) पताका और (९) मर्क्कटी। (१६) व्याकरण में वह अक्षर वा अक्षरसमूह जो किसी धातु या मूल शब्द के अंत में, उसके अर्थ में कोई विशेषता उत्पन्न करने के उद्देश्य से लगाया जाय। जैसे, 'बड़ा' (शब्द) अथवा "लड़ना" के "लड़" (धातु) के अंत में जोड़ा जानेवाला "आई" शब्द-समूह (जिसके जोड़ने से "बड़ाई" या "लड़ाई" शब्द बनता है) प्रत्यय है। इसी प्रकार मूर्खता में "ता", लड़कपन में "पन", शीतल में "ल", दयालु में "लु", अक्षरशः में "शः", बिकाऊ में "आऊ", उठान में "आन", घुमाव में "आव" प्रत्यय हैं।

प्रत्यय सर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] महत्तत्त्व या बुद्धि से उत्पन्न सृष्टि (सांख्य)।

प्रत्यर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रतिसूर्य्य।

प्रत्यर्थी–संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यर्थिन्] (१) प्रतिवादी। मुद्दालेह। (२) शत्रु। दुश्मन।

प्रत्यर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] मिला हुआ धन किसी को देना। दान में पाया हुआ धन फिर दान करना।

प्रत्यवमर्श, प्रत्यवमर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुसंधान करना। पता लगाना। (२) अच्छे बुरे का विचार करना।

प्रत्यवर–संज्ञा पुं० [सं०] जो सबसे अधिक निकृष्ट हो। सब से खराब।

प्रत्यवरोह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवरोहण। उतरना। (२) सीढ़ी। (३) वैदिक काल का एक प्रकार का गृह्य उत्सव जो अगहन मास में होता था।

प्रत्यवसान–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन। खाना।

प्रत्यवस्कंदन–संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार शास्त्र के अनुसार प्रतिवादी का वह उत्तर जो वादी के कथन का खंडन करने के लिये दिया जाय। जवाब-दावा।

प्रत्यवहार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संहार। मार डालना। (२) लड़ने के लिये तैयार सैनिकों को लड़ने से रोकना।

प्रत्यवाय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पाप वा दोष जो शास्त्रों में बतलाए हुए नित्य कर्म के न करने से होता है। (२) उलट फेर। भारी परिवर्त्तन। (३) जो नहीं है उसका न उत्पन्न होना या जो है उसका न रह जाना।

प्रत्यवेक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] किसी बात को बहुत अच्छी तरह देखना, समझना या जाँचना। भली भाँति जानना।

प्रत्यश्म–संज्ञा पुं० [सं० प्रत्यश्मन्] गेरू।

प्रत्यष्ठीला–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का वात रोग जिसमें नाभि के नीचे पेड़ू में एक गुठली सी हो जाती है जिसमें पीड़ा होती है। यदि गुठली में पीड़ा न हो तो उसे 'वातष्ठीला' कहते हैं। गुठली मलमूत्र के द्वार रोक देती है जिसके कारण रोगी मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकता।

प्रत्याख्यान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खंडन। (२) निराकरण।

प्रत्यागत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पैतरे का एक प्रकार। (२) कुश्ती का एक पेंच। उ०—जे मल्लयुद्धहिं पेंच बत्तिस गतहु प्रत्यगतादि।—रघुराज।

वि० जो लौट आया हो। वापस आया हुआ।

प्रत्यागमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लौट आना। वापसी। (२) दोबारा आना।

प्रत्याघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोट के बदले की चोट। वह आघात जो किसी आघात के बदले में हो। (२) टक्कर।

प्रत्यादित्य–संज्ञा पुं० दे० "प्रतिसूर्य्य"।

प्रत्यादेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खंडन। (२) निराकरण। (३) आकाशवाणी।

प्रत्याध्मान-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वात रोग जिसमें पेट फूलता है और नाभि के ऊपर कुछ पीड़ा होती है।

प्रत्याय-संज्ञा पुं० [सं०] राजस्व। कर।

प्रत्यालीढ़-संज्ञा पुं० [सं०] धनुष चलानेवालों के बैठने का एक प्रकार जिसमें वे धनुष चलाने के समय बायाँ पैर आगे बढ़ा देते हैं और दाहिना पैर पीछे खींच लेते हैं।

वि० खाया हुआ।

प्रत्यावर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] लौट आना। वापस आना।

प्रत्याशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आशा। उम्मेद। भरोसा।

प्रत्याश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ आश्रय लिया जाय। पनाह लेने की जगह।

प्रत्यासत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निकटता। सामीप्य। नजदीकी। (२) दे० "आसत्ति (२)"।

प्रत्यासन्न-वि० [सं०] पास आया हुआ। निकट पहुँचा हुआ।

प्रत्यासर, प्रत्यासार-संज्ञा पुं० [सं०] सेना का पिछला भाग।

प्रत्यास्वर-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

प्रत्याहार-संज्ञा पुं० [सं०] योग के आठ अंगों में से एक अंग जिसमें इंद्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त का अनुसरण किया जाता है। जैसे, यदि आँखें किसी सुंदर रूप पर बुरे भाव से जा पड़ें तो उन्हें वहाँ से हटाकर अपने चित्त को शांत करना। इंद्रियनिग्रह। (इसका अभ्यास बहुत ही कठिन माना जाता है।)

प्रत्युक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जवाब। उत्तर।

प्रत्युज्जीवन-संज्ञा पुं० [सं०] मरे हुए व्यक्ति का फिर से जी उठना। पुनर्जीवन।

प्रत्युत-संज्ञा पुं० [सं०] किसी दूसरे के पक्ष का खंडन या अपने पक्ष का मंडन करने के लिये विपरीत भाव। विपरीतता।

अव्य० बल्कि। वरन्। इसके विरुद्ध। जैसे, वे लोग भागे नहीं प्रत्युत और भी आगे बढ़ने लगे।

प्रत्युत्क्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह उद्योग जो कोई कार्य्य आरंभ करने के लिये किया जाय। (२) वह आक्रमण जो युद्ध के समय सबसे पहले हो।

प्रत्युत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] उत्तर मिलने पर दिया हुआ उत्तर। जवाब का जवाब।

प्रत्युत्थान-संज्ञा पुं० [सं०] किसी बड़े या पूज्य के आने पर उसके स्वागत और आदर के लिये आसन छोड़कर उठ खड़ा होना। अभ्युत्थान।

प्रत्युत्पन्न-वि० [सं०] (१) जो फिर से उत्पन्न हुआ हो। (२) जो ठीक समय पर उत्पन्न हुआ हो।

यौ०—प्रत्युत्पन्नमति = (१) जो तुरंत ही कोई उपयुक्त बात या काम सोच ले। ठीक समय पर जिसकी बुद्धि काम कर जाय। तत्परबुद्धिवाला। (२) ठीक समय पर काम देनेवाली बुद्धि। अवसर पड़ते ही उपयुक्त कार्य्य कर दिखलानेवाली बुद्धि।

प्रत्युद्गमन-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के आने पर उसका स्वागत करने के लिये उठकर खड़ा हो जाना। अभ्युत्थान।

प्रत्युद्गमनीय-वि० [सं०] (१) सामने या पास रखने योग्य। (२) सम्मान के योग्य। पूज्य।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का वस्त्र (अधोवस्त्र और उत्तरीय) जो प्राचीन काल में यज्ञों में या भोजन के समय पहना जाता था।

प्रत्युद्गार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वायु रोग।

प्रत्युपकार-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपकार जो किसी उपकार के बदले में किया जाय। एक भलाई के बदले में की जानेवाली दूसरी भलाई।

प्रत्युपकारी-संज्ञा पुं० [सं० प्रत्युपकारिन्] उपकार का बदला देनेवाला। वह जो किसी उपकार के बदले में उपकार करे।

प्रत्युष-संज्ञा पुं० [सं०] प्रभात। तड़का।

प्रत्यूष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभात। तड़का। प्रातःकाल। (२) सूर्य्य। (३) एक वसु का नाम।

प्रत्यूह-संज्ञा पुं० [सं०] विघ्न। बाधा।

प्रत्येक-वि० [सं०] समूह अथवा बहुतों में से हर एक, अलग अलग। जैसे, (क) प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है। (ख) प्रत्येक बालक को एक एक नारंगी दो। (ग) प्रत्येक पत्र पर दस्तखत करो।

प्रत्येकत्व-संज्ञा पुं० [सं०] प्रत्येक का भाव या धर्म्म।

प्रत्येक बुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

प्रथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का गुल्म। (२) विस्तार। (३) प्रकाश में लाने की क्रिया या भाव।

प्रथम-वि० [सं०] (१) गणना में जिसका स्थान सबसे पहले हो। जो गिनती में सबसे पहले आवे। पहला। आदि का। अव्वल। (२) सर्वश्रेष्ठ। सबसे अच्छा। (३) प्रधान। मुख्य।

यौ०—प्रथम पुरुष।

क्रि० वि० [सं०] पहले। पेश्तर। आगे। आदि में।

प्रथमकारक-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में "कर्त्ता" (कारक)।

विशेष—दे० "कर्त्ता"।

प्रथमकुसुम-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद फूल के अगस्त का वृक्ष।

प्रथमज-वि० [सं०] (१) जो पहले उत्पन्न हुआ हो। जिसका जन्म पहले हुआ हो। (२) जो सबसे पहले गर्भ से उत्पन्न हुआ हो। (३) बड़ा। ज्येष्ठ।

प्रथमतः-क्रि० वि० [सं०] पहले से। सबसे पहले।

प्रथमपुरुष-संज्ञा पुं० दे० "उत्तम पुरुष"।

प्रथमसाहस-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन व्यवहार-शास्त्र के अनुसार एक प्रकार का साहस-दंड जिसमें २५० पण तक जुरमाना होता था। यह दंड साधारण अपराधों के लिये होता था।

प्रथमस्कान-संज्ञा पुं० [सं०] वेद मंत्र उच्चारण करने के समय सबसे धीमा या नीचा स्वर।

प्रथमस्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम गान।

प्रथमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (तांत्रिक)। उ०—(क) कृष्णदेव बलदेव सुज्ञानी। प्रथमा पिवत सदा ज्यों पानी।—निश्चल। (ख) सकल पिये प्रथमा मतिवारे। पूजत शक्ति मगन मन सारे।—निश्चल। (२) व्याकरण का कर्त्ता कारक।

प्रथमार्द्ध-संज्ञा पुं० [सं०] पहले का आधा भाग। शुरू का आधा। पूर्वार्द्ध।

प्रथमी *‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पृथ्वी"।

प्रथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रीति। रिवाज। चाल। प्रणाली। नियम। (२) ख्याति। प्रसिद्धि।

प्रथित-वि० [सं०] प्रख्यात। मशहूर।

संज्ञा पुं० पुराणानुसार स्वारोचिष मनु के पुत्र का नाम।

प्रथिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] ख्याति। प्रसिद्धि।

प्रथी‡-संज्ञा स्त्री० दे० "पृथ्वी"।

प्रथु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) दे० "पृथु"।

प्रद-वि० [सं०] देनेवाला। जो दे। दाता।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग सदा यौगिक शब्दों के अंत में होता है। जैसे, मोक्षप्रद। आनंदप्रद।

प्रदक्षिण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवपूजन आदि के समय देवमूर्ति आदि को दाहिनी ओर कर, भक्तिपूर्वक उसके चारों ओर घूमना। परिक्रमा। उ०—(क) उभय घरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदक्षिण धाय।—तुलसी। (ख) कीन्ह प्रणाम प्रदच्छिन लाई।—तुलसी।

विशेष—साधारण बोलचाल में इस शब्द के साथ केवल "करना" क्रिया का ही प्रयोग होता है। पर कहीं कहीं, और विशेषतः कविता में इसके साथ "लगाना" "देना" आदि क्रियाओं का भी व्यवहार होता है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से प्रकट है।

(२) समर्थ। योग्य।

प्रदक्षिणा-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रदक्षिण (१)"।

प्रदत्त-वि० [सं०] जो दिया जा चुका हो। दिया हुआ।

संज्ञा पुं० एक गंधर्व का नाम।

प्रदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों का एक रोग जिसमें उनके गर्भाशय से सफ़ेद या लाल रंग का लसीदार पानी सा बहता है, जिसमें कभी कभी दुर्गंध भी होती है। इसमें रोगी स्त्री को वेदना होती है और उसका शरीर दिन पर दिन सूखता जाता है। जिसमें स्राव सफेद रंग का होता है, उसे श्वेत प्रदर और जिसमें लाल रंग का होता है उसे रक्त प्रदर कहते हैं। वैद्यक के अनुसार यह रोग मद्यपान, गर्भपात, अधिक मैथुन, शोक, उपवास आदि के कारण होता है। यह रोग प्रायः संतान उत्पन्न होने के उपरांत हुआ करता है। (२) बाण। तीर। (३) फोड़ने या तोड़ने का भाव।

प्रदर्शक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखलानेवाला। वह जो कोई चीज दिखलावे। जैसे, पथप्रदर्शक। (२) वह जो दर्शन करे। दर्शक। (३) गुरु।

प्रदर्शन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखलाने का काम। (२) दे० "प्रदर्शिनी"।

प्रदर्शनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ तरह तरह की चीजें लोगों को दिखलाने के लिए रखी जायँ। नुमाइश। जैसे, कृषि-प्रदर्शनी, शिल्प-प्रदर्शनी, कपड़ों की प्रदर्शनी।

प्रदर्शित-वि० [सं०] जो दिखलाया गया हो। दिखलाया हुआ।

प्रदर्शी-संज्ञा पुं० [सं० प्रदर्शिन्] वह जो देखता हो। दर्शक।

प्रदल-संज्ञा पुं० [सं०] बाण। तीर।

प्रदाता-वि० [सं० प्रदातृ] दाता। देनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) वह जो खूब दान देता हो। बहुत बड़ा दानी। (२) इंद्र। (३) विश्वेदेवा के अंतर्गत एक देवता का नाम।

प्रदान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देने की क्रिया। (२) दान। बख़्शिश। (३) विवाह। शादी। (४) अंकुश।

प्रदानशूर-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

प्रदायक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रदायिका] देनेवाला। जो दे।

प्रदायी-संज्ञा पुं० [सं० प्रदायिन्] [स्त्री० प्रदायिनी] देनेवाला। जो दे।

प्रदाव-संज्ञा पुं० [सं०] दावाग्नि। जंगल की आग।

प्रदाह-संज्ञा पुं० [सं०] ज्वर आदि के कारण अथवा और किसी कारण शरीर में होनेवाली जलन। दाह।

विशेष—प्रदाह कभी सारे शरीर में, कभी किसी अंग में जैसे, मूत्रेंद्रिय, सिर या फेफड़े, और कभी किसी अंग के बहुत ही थोड़े अंश में होता है। ज्वर आदि का प्रदाह सारे शरीर में और व्रण आदि होने से पहले किसी थोड़े से स्थान में होता है। शरीर के अंदर किसी प्रकार का आघात या उपद्रव होने, स्नायु में किसी प्रकार की उत्तेजना आदि होने अथवा और किसी प्रकार का आघात होने पर प्रदाह उत्पन्न होता है। कभी कभी जहरीले जानवरों के काटने या

अधिक गरमी पहुँचने के कारण भी प्रदाह होता है। जिस स्थान पर प्रदाह होता है उस स्थान पर कभी कभी सूजन आदि भी हो जाती है, या वहाँ से कुछ तरल पदार्थ निकलने लगता है।

प्रदिग्ध–संज्ञा पुं० [सं०] विशेष प्रकार से पका हुआ मांस।
वि० स्निग्ध किया हुआ। तेल या घी से चिकना किया हुआ।

प्रदिशा–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रदिश्] दो मुख्य दिशाओं के बीच का कोना। कोण। विदिशा।

प्रदीप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीपक। दीआ। चिराग। (२) रोशनी। प्रकाश। (३) वह जिससे प्रकाश हो। (४) संपूर्ण जाति का एक राग जिसके गाने का समय तीसरा पहर है। किसी किसी के मत से यह दीपक राग का एक पुत्र है।

प्रदीपक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रदीपिका] (१) प्रकाशक। प्रकाश में लानेवाला। प्रकाशित करनेवाला। (२) नौ प्रकार के विषों में से एक प्रकार का भयंकर स्थावर विष जिसके सूँघने मात्र से मनुष्य मर जाता है। यह विष एक पौधे की जड़ है जिसके पत्ते खजूर के से होते हैं और जो समुद्र के किनारे बहुतायत से पैदा होता है। इसे प्रदीपन भी कहते हैं।

प्रदीपति*†–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रदीप्ति"।

प्रदीपन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश करने का काम। उजाला करना। (२) उज्ज्वल करना। चमकाना। (३) एक प्रकार का भयंकर विष जिसे प्रदीपक भी कहते हैं। विशेष—दे० "प्रदीपक"।

प्रदीपिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी लालटेन। (२) एक रागिनी जो किसी किसी के मत से दीपक राग की स्त्री है।

प्रदीप्त–वि० [सं०] (१) जलता हुआ। जगमगाता हुआ। जिसमें प्रकाश हो। प्रकाशवान्। प्रकाशित। (२) जिसमें दीप्ति हो। उज्ज्वल। चमकदार। चमकीला।

प्रदीप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोशनी। प्रकाश। (२) चमक। आभा।

प्रदुमन*–संज्ञा पुं० दे० "प्रद्युम्न"।

प्रदूषक–वि० [सं०] नष्ट करनेवाला।

प्रदूषण–संज्ञा पुं० [सं०] नष्ट करना। चौपट करना।

प्रदेय–वि० [सं०] (१) जो देने योग्य हो। दान करने योग्य। (२) देने (या विवाह करने) के योग्य (कन्या)।
संज्ञा पुं० वह जो कुछ उपहार में दिया जाय। भेंट। नजर।

प्रदेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी देश का वह बड़ा विभाग जिसकी भाषा, रीति व्यवहार, जलवायु, शासन-पद्धति आदि उसी देश के अन्य विभागों की इन सब बातों से भिन्न हों। प्रांत। सूबा। (२) स्थान। जगह। मुकाम। (३) अँगूठे के अगले सिरे से लेकर तर्जनी के अगले सिरे तक की दूरी। छोटा बित्ता या बालिश्त। (४) अंग। अवयव। (५) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की तंत्र-युक्ति। (६) दीवार। (७) संज्ञा नाम।

प्रदेशकारी–संज्ञा पुं० [सं०] योगियों का एक संप्रदाय।

प्रदेशन–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कुछ किसी बड़े या राजा को उपहार के रूप में दिया जाय। भेंट। नजर।

प्रदेशनी, प्रदेशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठे के पास की उँगली। तर्जनी।

प्रदेशी–वि० [सं०] प्रदेश संबंधी। प्रदेश का।

प्रदेह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह औषध या लेप आदि जो फोड़े पर, उसे दबाने के लिये लगाया जाय। (२) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का व्यंजन।

प्रदोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संध्याकाल। सूर्य्य के अस्त होने का समय।

विशेष—कुछ लोग रात के पहले पहर को भी प्रदोष कहते हैं। (२) वह अँधेरा जो संध्या समय होता है। (३) त्रयोदशी का व्रत जिसमें दिन भर उपवास करके संध्या समय शिव का पूजन करके तब भोजन करना होता है। यह व्रत प्रायः पुत्र की कामना से किया जाता है। (४) बड़ा दोष। भारी अपराध। (५) दुष्ट। पाजी।

प्रद्धटिका–संज्ञा स्त्री० दे० "पज्झटिका"।

प्रद्युम्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। कंदर्प। (२) श्रीकृष्ण के बड़े पुत्र का नाम। (३) नड्वला के गर्भ से उत्पन्न मनु के एक पुत्र का नाम। (४) वैष्णवों के अनुसार चतुर्व्यूहात्मक विष्णु के अंश का नाम। (शेष तीन अंशों के नाम वासुदेव, संकर्षण और अनिरुद्ध हैं।)
वि० अत्यंत बली। बहुत बड़ा वीर।

प्रद्योत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किरण। रश्मि। दीप्ति। आभा। (२) चमक। (३) एक यक्ष का नाम।

प्रद्योतन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) चमक। दीप्ति।

प्रद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] द्वार के आस पास या आगे का भाग। दरवाजे का अगला भाग।

प्रद्वेष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शत्रुता। वैर। दुश्मनी। (२) घृणा।

प्रद्वेषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार दीर्घतमा ऋषि की स्त्री का नाम।

प्रधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके पास बहुत अधिक धन हो। (२) युद्ध। लड़ाई।

प्रधमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैद्यक में वह क्रिया जिसमें कोई औषध या चूर्ण आदि नाक के रास्ते, जोर से सुँघाकर ऊपर चढ़ाया जाय। (२) वैद्यक में एक प्रकार की सुँघनी।

प्रधर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रधर्षक] (१) अपमान । अनादर । (२) जबरदस्ती किसी स्त्री का सतीत्व भंग करना । बलात्कार । (३) आक्रमण ।

प्रधर्षित–वि० [सं०] (१) जिस पर आक्रमण किया गया हो । (२) जिसका अनादर किया गया हो । (३) (वह स्त्री) जिसके साथ बलात्कार किया गया हो ।

प्रधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्ष प्रजापति की एक कन्या जो कश्यप को व्याही गई थी ।

प्रधान–वि० [सं०] (१) मुख्य । खास । (२) सर्वोच्च । श्रेष्ठ । संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुखिया । नेता । सरदार । (२) सचिव । मंत्री । वजीर । (३) संसार का उपादान कारण । प्रवृत्ति । (४) बुद्धि । समझ । (५) ईश्वर । परमात्मा । (६) सेनाध्यक्ष । महापात्र । (७) एक राजर्षि का नाम ।

प्रधानक–संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य के अनुसार बुद्धि-तत्त्व ।

प्रधानकर्म्म–संज्ञा पुं० [सं० प्रधानकर्म्मन्] सुश्रुत के अनुसार तीन प्रकार के कर्मों में से एक कर्म्म जो रोग की उत्पत्ति हो जाने पर किया जाता है ।

प्रधानता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रधान होने का भाव, धर्म, कार्य्य या पद ।

प्रधानधातु–संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के सब धातुओं में से प्रधान शुक्र और वीर्य्य ।

प्रधानी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० प्रधान + ई (प्रत्य०)] प्रधान का पद या कर्म्म ।

प्रधावन–संज्ञा पुं० [सं०] वायु । हवा ।

प्रधि–संज्ञा पुं० [सं०] पहिए का धुरा ।

प्रधूपित–वि० (१) तप्त । तपाया हुआ । (२) दीप्त । चमकता हुआ । (३) जिसे संताप या दुःख हुआ हो ।

प्रधूपिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह दिशा जिधर सूर्य्य बढ़ रहा हो ।

प्रध्वंस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश । विनाश । नष्ट हो जाना । (२) सांख्य के मत से किसी वस्तु की अतीत अवस्था । सांख्य मतवाले यह नहीं मानते कि किसी वस्तु का नाश होता है । इसी लिये वे किसी पदार्थ की अतीत अवस्था को ही प्रध्वंस कहते हैं ।

प्रध्वंसक–वि० [सं०] विनाशक । नाश करनेवाला ।

प्रध्वंसाभाव–संज्ञा पुं० [सं०] न्याय के अनुसार पाँच प्रकार के अभावों में से एक प्रकार का अभाव । वह अभाव जो किसी वस्तु के उत्पन्न होकर फिर नष्ट हो जाने पर हो ।

प्रध्वंसी–संज्ञा पुं० [सं० प्रध्वंसिन्] नाश करनेवाला । वह जो नष्ट करे ।

प्रध्वस्त–वि० [सं०] जो नष्ट हो गया हो । जिसका प्रध्वंस हो चुका हो ।

संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार का मंत्र ।

प्रन*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रण" ।

प्रनत*†–वि० दे० "प्रणत" ।

प्रनति*†– संज्ञा स्त्री० दे० "प्रणति" ।

प्रनमन*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रणमन" ।

प्रनमना*†–क्रि० स० दे० "प्रणमना" या "प्रणवना" ।

प्रनय*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रणय" ।

प्रनव*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रणव" ।

प्रनवना*†–क्रि० स० दे० "प्रणमना" ।

प्रनाम*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रणाम" ।

प्रनामी*†–संज्ञा पुं० [सं० प्रणामिन्] प्रणाम करनेवाला । जो प्रणाम करे ।

संज्ञा स्त्री० [सं० प्रणाम + ई (प्रत्य०)] वह धन या दक्षिणा जो गुरु, ब्राह्मण या गोस्वामी आदि को शिष्य या भक्त लोग प्रणाम करने के समय देते हैं ।

प्रनाली*†–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रणाली" ।

प्रनाशन, प्रनासन–संज्ञा पुं० दे० "प्रणाशन" ।

प्रनिपात*†–संज्ञा पुं० दे० "प्रणिपात" ।

प्रपंच–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँच तत्त्वों का उत्तरोत्तर अनेक भेदों में विस्तार । संसार । सृष्टि । भवजाल । उ०—विधि प्रपंच गुन अवगुन साना ।—तुलसी । (२) एक से उत्तरोत्तर अनेक होने का क्रम । विस्तार । फैलाव । (३) सांसारिक व्यवहारों का विस्तार । दुनिया का जंजाल । उ०—(क) परमारथी प्रपंच वियोगी ।—तुलसी । (ख) सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होय । जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोय ।—तुलसी । (४) बखेड़ा । झंझट । झगड़ा । झमेला । उ०—देहु, कि लेहु अजस करि नाहीं । मोहिँ न बहुत प्रपंच सुहाहीं ।–तुलसी । (५) आडंबर । ढोंग । छल । धोखा । उ०—रचि प्रपंच भूपहि अपनाई । रामतिलक हित लगन धराई ।—तुलसी ।

प्रपंचन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रपंचित] विस्तार बढ़ाना । तूल देना ।

प्रपंची–वि० [सं० प्रपंचिन्] (१) प्रपंच रचनेवाला । (२) छली । कपटी । ढोंगी । आडंबर फैलानेवाला । (३) झगड़ालू । बखेड़िया ।

प्रपत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनन्य शरणागत होने की भावना । अनन्यभक्ति । उ०—वैष्णव ग्रंथन सकल पढ़ायो । पुनि प्रपत्ति को धर्म सुनायो ।—रघुराज ।

प्रपथ–वि० [सं०] शिथिल । थका माँदा ।

प्रपथ्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] हरीतकी । हड़ ।

प्रपद– संज्ञा पुं० [सं०] पैर का अगला भाग ।

प्रपन्न–वि० [सं०] (१) प्राप्त । आया हुआ । पहुँचा हुआ । (२) शरण में आया हुआ । शरणागत । आश्रित ।

प्रपन्नाड़–संज्ञा पुं॰ [सं॰] चक्रमर्दक। चकवँड।

प्रपर्ण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] गिरा हुआ पत्ता।

प्रपा–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पौसरा। प्याऊ। वह स्थान जहाँ प्यासों को पानी पिलाया जाता है। (२) यज्ञशाला।

प्रपाठक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) वेद के अध्यायों का एक अंश। (२) श्रौत ग्रंथों का एक अंश।

प्रपात–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) पहाड़ या चट्टान का ऐसा किनारा जिसके नीचे कोई रोक न हो। खड़ा किनारा जहाँ से गिरने पर कोई वस्तु बीच में न रुक सके। भृगु। अतट। (२) एक प्रकार की उड़ान। (३) एकबारगी नीचे गिरना। (४) ऊँचे से गिरती हुई जलधारा। झरना। दरी।

प्रपादिक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] मयूर। मोर।

प्रपान–संज्ञा पुं॰ [सं॰] प्याऊ। पौसला।

प्रपानक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] फलों के गूदे रस आदि को पानी में घोलकर नमक, मिर्च, चीनी आदि देकर बनाई हुई पीने की वस्तु। पन्ना।

प्रपाली–संज्ञा पुं॰ [सं॰ प्रपालिन्] बलदेव का एक नाम।

प्रपितामह–संज्ञा पुं॰ [सं॰] [स्त्री॰ प्रपितामही] (१) परदादा। दादा का बाप। बाप का दादा। (२) परब्रह्म।

प्रपितृव्य–संज्ञा पुं॰ [सं॰] परदादा का भाई।

प्रपीड़क–संज्ञा पुं॰ [सं॰] बहुत कष्ट देनेवाला।

प्रपीड़न–संज्ञा पुं॰ [सं॰] [वि॰ प्रपीड़ित] (१) बहुत अधिक कष्ट देना। (२) धारक औषध।

प्रपुंज–संज्ञा पुं॰ [सं॰] बड़ा समूह। भारी झुंड। उ॰—विकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक, गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे।—तुलसी।

प्रपुत्र–संज्ञा पुं॰ [सं॰] [स्त्री॰ प्रपुत्री] पुत्र का पुत्र। पोता।

प्रपुनाड़–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रपुन्नाटक"।

प्रपुन्नड़–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रपुन्नाट"।

प्रपुन्नाट–संज्ञा पुं॰ [सं॰] चक्रमर्दक। चकवँड।

प्रपुन्नाड़–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रपुन्नाट"।

प्रपुन्नाल–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रपुन्नाट"।

प्रपूरिका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] कंटकारी। कटेरी। भँटकटैया।

प्रपौंडरीक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पौंडरीक। पुंडरी का पौधा।

प्रपौत्र–संज्ञा पुं॰ [सं॰] पड़पोता। पुत्र का पोता। पोते का पुत्र।

प्रफुड़ना–क्रि॰ अ॰ दे॰ "प्रफुलना"।

प्रफुलना॰–क्रि॰ अ॰ [सं॰ प्रफुल्ल] फूलना।

प्रफुला॰–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ प्रफुल्ल = खिला हुआ] (१) कुमुदिनी। कुँई। उ॰—प्रफुला हार हिए लसै सन की वेंदी भाल। राखति खेत खरी खरी खरे उरोजन बाल।—बिहारी।

विशेष—पं॰ हरिप्रसाद ने इस दोहे का जो संस्कृत अनुवाद आर्या छंद में किया है उसमें यही अर्थ लिया है—लसित कुमुदिनीमाला ग्रामीण चणकुसुमतिलकभाला। उन्नत पयोधरेयं रक्षति बालोत्थिता क्षेत्रम्।

(२) कमलिनी। कमल। उ॰—छुवैगा जो, तू रे! भँवर कहुँ याको तनक हू। करूँ तोको बंदी पकरि प्रफुला के उदर में।—लक्ष्मणसिंह।

प्रफुलित॰–वि॰ [सं॰ प्रफुल्ल] (१) खिला हुआ। कुसुमित। उ॰—मुख देखत शोभा एक आवत मनो राजीव प्रकाश। अरुण आगमन देखिकै प्रफुलित भए हुलास।—सूर। (२) प्रफुल्ल। आनंदित। उ॰—अँगुरिन में अँगुरी कर हिए। प्रफुलित फिरे संग हरि लिए।—लल्लू।

प्रफुल्ल–वि॰ [सं॰] (१) विकाशयुक्त। खिला हुआ। विकसित। प्रस्फुटित। जैसे, प्रफुल्ल कुसुम। (२) कुसुमित। फूला हुआ। जिसमें फूल लगे हों। (३) खुला हुआ। जो मुँदा हुआ न हो। जैसे, प्रफुल्ल नेत्र। (४) प्रसन्न। हँसता हुआ। आनंदित। जैसे, प्रफुल्ल वदन।

प्रबंध–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) प्रकृष्ट बंधन। बाँधने की डोरी आदि। (२) बंधान। कई वस्तुओं या बातों का एक में ग्रथन। योजना। (३) पूर्वापरसंगति। बँधा हुआ सिलसिला। (४) एक दूसरे से संबद्ध वाक्यरचना का विस्तार। लेख या अनेक संबद्ध पद्यों में पूरा होनेवाला काव्य। निबंध।

विशेष—फुटकर पद्यों को प्रबंध नहीं कहते, प्रकीर्णक कहते हैं।

(५) आयोजन। उपाय। (६) व्यवस्था। बंदोबस्त। इंतजाम। उ॰—इतै इंद्र अति कोह कै औरै किए प्रबंध। नँदनंदहु को लखत नहिं ऐसो मति को अंध।—व्यास।

प्रबंधकल्पना–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] (१) प्रबंधरचना। संदर्भरचना। (२) ऐसा प्रबंध जिसमें थोड़ी सी सत्य कथा में बहुत सी बात ऊपर से मिलाई गई हो।

प्रबल–वि॰ [सं॰] [स्त्री॰ प्रबला] (१) बलवान्। प्रचंड। (२) जोर का। तेज। तुंद। उग्र। उ॰—कबहुँ प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।—तुलसी। (३) भारी। घोर। महान्। उ॰—लपट झपट झहराने हहराने बात भहराने भट पर्‍यो प्रबल परावनो।—तुलसी।

प्रबला–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] प्रसारिणी नाम की ओषधि।

वि॰ स्त्री॰ (१) बहुत बलवती। (२) प्रचंडा।

प्रबाल–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रवाल"।

प्रबालक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक यक्ष।

प्रबालफल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] लाल चंदन।

प्रबालिक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] जीवशाक।

प्रबास–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रवास"।

प्रबाह–संज्ञा पुं॰ दे॰ "प्रवाह"।

प्रबाहु–संज्ञा पुं० [सं०] हाथ का अगला भाग। पहुँचा।

प्रबाहुक्–अव्य० [सं०] (१) सीध में। एक लाइन में। (२) समतल में। सतह के बराबर।

प्रबिसना*–क्रि० अ० दे० "प्रबिसना"।

प्रबीन*–वि० दे० "प्रवीण"।

प्रबीर*– वि० दे० "प्रवीर"।

प्रबुद्ध–वि० [सं०] (१) प्रबोधयुक्त। जागा हुआ। (२) होश में आया हुआ। जिसे चेत हुआ हो। (३) पंडित। ज्ञानी। (४) विकसित। प्रफुल्ल। खिला हुआ।

संज्ञा पुं० (१) नव योगेश्वरों में से एक योगेश्वर। (२) ऋषभदेव के एक पुत्र जो भागवत के अनुसार परम भागवत थे।

प्रबोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जागना। नींद का हटना। (२) यथार्थ ज्ञान। पूर्ण बोध। (३) सांत्वना। आश्वासन। ढाढ़स। तसल्ली। दिलासा।

क्रि० प्र०—करना।

(४) चेतावनी।

क्रि० प्र०—देना।

(५) महाबुद्ध की एक अवस्था। (६) विकाश। खिलना।

प्रबोधक–वि० [सं०] (१) जगानेवाला। (२) चेतानेवाला। (३) समझानेवाला। ज्ञानदाता। (४) सांत्वना देनेवाला। ढाढ़स बँधानेवाला।

प्रबोधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जागरण। जागना। (२) जगाना। नींद से उठाना। (३) यथार्थज्ञान। बोध। चेत। (४) बोध कराना। जताना। ज्ञान देना। चेत कराना। समझाना बुझाना। (५) विकास या विकसित करने का कार्य्य। (६) सांत्वना या सांत्वना देने का कार्य्य।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

प्रबोधना*–क्रि० स० [सं० प्रबोधन] (१) जगाना। नींद से उठाना। (२) सजग करना। सचेत करना। होशियार करना। जताना। (३) समझाना बुझाना। मन में बात बिठाना। उ०—(क) कहि प्रिय वचन विवेकमय कीन्ह मातु परितोष। लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष।—तुलसी। (ख) प्रभु तब मोहिँ बहु भाँति प्रबोधा।—तुलसी। (४) सिखाना। पाठ पढ़ाना। पट्टी पढ़ाना। उ०—सखिन सिखावन दीन, सुनत मधुर परिणाम हित। तेइ कछु कान न कीन, कुटिल प्रबोधी कूबरी।—तुलसी। (५) ढाढ़स देना। तसल्ली देना। उ०—(क) कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधेसि रानी।—तुलसी। (ख) जननी व्याकुल देखि प्रबोधत धीरज करि नीके जदुराई। सूर श्याम को नेकु नहीं डर जनि रोवैं, तू जसुमति माई।—सूर।

प्रबोधनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कार्त्तिक शुक्लपक्ष की एकादशी जिस दिन विष्णु भगवान् सोकर उठते हैं। देवोत्थान एकादशी। (२) जवासा। धमासा।

प्रबोधित–वि० [सं०] (१) जो जगाया गया हो। जागा हुआ। (२) जिसका प्रबोध किया गया हो। (३) ज्ञानप्राप्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

प्रबोधिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में (सजसजग) सगण जगण फिर सगण जगण और अंत में गुरु होता है। इसे सुनंदिनी और मंजुभाषिणी भी कहते हैं। दे० "मंजुभाषिणी"।

प्रबोधिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कार्त्तिक शुक्ला एकादशी। पुराणानुसार इस दिन भगवान् विष्णु सोकर उठते हैं। (२) जवासा।

प्रभंजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तोड़ फोड़। उखाड़ पखाड़। नाश। (२) प्रचंड वायु। आँधी। (३) हवा। वायु।

यौ०—प्रभंजन-सुत = हनुमान।

(४) मणिपुर का राजा (महाभारत)।

प्रभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] नीम।

प्रभद्रक–संज्ञा पुं० [सं०] पंद्रह अक्षरों का एक वर्णवृत्त। दे० "प्रभद्रिका"।

प्रभद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारिणी लता।

प्रभद्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंद्रह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में नगण भगण फिर जगण और अंत में एक रगण होता है। उ०—निज भुज राघवेंद्र दससीस ढाइहैं।

प्रभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पत्तिकारण। उत्पत्तिहेतु। (२) उत्पत्तिस्थान। आकर। (३) जन्म। उत्पत्ति। (४) सृष्टि। संसार। (५) जल का निर्गमस्थान। वह स्थान जहाँ से कोई नदी आदि निकले। उद्गम। (६) पराक्रम। (७) साठ संवत्सरों में एक संवत्सर। इस संवत्सर में वृष्टि अधिक होती है और प्रजा नीरोग और सुखी रहती है।

प्रभवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पत्ति। (२) आकर। (३) मूल। (४) अधिष्ठान।

प्रभविष्णु–वि० [सं०] प्रभावशील।

संज्ञा पुं० (१) प्रभु। (२) विष्णु।

प्रभांजन–संज्ञा स्त्री० [सं०] शोभांजन। सहजन का पेड़।

प्रभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीप्ति। प्रकाश। आभा। चमक। (२) सूर्य्य का बिंब। (३) सूर्य्य की एक पत्नी। (४) एक अप्सरा का नाम। (५) एक द्वादशाक्षरा वृत्ति जिसे मंदाकिनी भी कहते हैं।

प्रभाउ *–संज्ञा पुं० दे० "प्रभाव"।

प्रभाकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) चंद्रमा। (३) अग्नि। (४) मदार का पौधा। आक। (५) समुद्र। (६) एक नाग का नाम। (७) मार्कंडेयपुराण के अनुसार आठवें मन्वंतर के देवगण के एक देवता। (८) एक प्रसिद्ध मीमांसक। (९) कुशद्वीप के एक वर्ष का नाम।

प्रभाकरवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के एक राजा जो विक्रम संवत् ६०० के पूर्व राज्य करते थे। इन्हीं के पुत्र महाप्रतापी हर्षवर्द्धन हुए जिनकी राजधानी कान्यकुब्ज थी और जिनके सभाकवि बाणभट्ट थे। ये सूर्योपासक थे।

प्रभाकरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बोधिसत्वों की तृतीय अवस्था जो प्रमुदिता और विमला के उपरांत प्राप्त होती है।

प्रभाकीट-संज्ञा पुं० [सं०] खद्योत। जुगुनू।

प्रभाग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभाग का विभाग। (२) भिन्न का भिन्न। जैसे, $\frac{२}{३}$ का $\frac{३}{५}$ इत्यादि।

प्रभात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रातःकाल। सबेरा। (२) एक देवता जो सूर्य्य और प्रभा से उत्पन्न माना गया है।

प्रभाती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रत्यूष और प्रभास नामक वसुओं की माता (महाभारत)। (२) एक प्रकार का गीत जो प्रातःकाल गाया जाता है। (३) दतुअन। दातुन। दंतधावन।

प्रभान-संज्ञा पुं० [सं०] ज्योति। दीप्ति। प्रकाश।

प्रभापाल-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व।

प्रभारक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग।

प्रभाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उद्भव। प्रादुर्भाव। (२) सामर्थ्य। शक्ति। कोई बात पैदा कर देने की ताकत। असर। जैसे, मंत्र का बड़ा प्रभाव है। उ०—सुकदेव कह्यो सुनो हो राव। जैसो है हरिभक्ति प्रभाव। —सूर। (३) महिमा। माहात्म्य। (४) इतना मान या अधिकार कि जो बात चाहे कर या करा सके। साख या दबाव। जैसे, राजा के दरबार में उसका बहुत कुछ प्रभाव है। (५) अंतःकरण को किसी ओर प्रवृत्त करने का गुण। (६) प्रवृत्ति पर होनेवाला फल या परिणाम। असर। जैसे, उस पर शिक्षा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।—जमना।

(७) स्वारोचिष मनु के एक पुत्र जो कलावती के गर्भ से उत्पन्न थे (मार्कंडेयपुराण)। (८) प्रभा के गर्भ से उत्पन्न सूर्य्य के एक पुत्र। (९) सुग्रीव के एक मंत्री का नाम।

प्रभावज-वि० [सं०] प्रभाव से उत्पन्न। प्रभावजात।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का रोग जो देवता, ऋषि, वृद्धादि के शाप वा ग्रहादि के हेरफेर से उत्पन्न होता है। (२) एक प्रकार की राजशक्ति जो कोप और दंड के रूप में व्यक्त होती है।

प्रभावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारत के अनुसार सूर्य्य की पत्नी का नाम। (२) तेरह अक्षरों का एक छंद जिसे रुचिरा कहते हैं। (३) शिव के एक गण की वीणा का नाम। (४) कुमार के एक अनुचर मातृगण का नाम। (५) भारत के अनुसार अंगदेश के राजा चित्ररथ की रानी। (६) प्रभाती नाम का एक राग वा गीत।

वि० स्त्री० प्रभावाली।

प्रभावना-संज्ञा स्त्री० [सं०] उद्भावना। प्रकाश।

प्रभाष-संज्ञा पुं० [सं०] एक वसु का नाम।

प्रभास-वि० [सं०] पूर्ण प्रभायुक्त।

संज्ञा पुं० (१) दीप्ति। ज्योति। (२) एक प्राचीन तीर्थ जिसे सोमतीर्थ भी कहते हैं। गुजरात में सोमनाथ का मंदिर इसी तीर्थ के अंतर्गत था। (३) एक वसु। (४) कुमार का एक अनुचर गण। (५) अष्टम मन्वंतर का एक देवगण।

प्रभासन-संज्ञा पुं० [सं०] दीप्ति। ज्योति।

प्रभासना*-क्रि० अ० [सं० प्रभासन] प्रकाशित होना। भासित होना। दिखाई पड़ना। उ०—जागृत में जु प्रपंच प्रभासत सो सब बुद्धिबिलास बन्यो है।—निश्चल।

प्रभिन्न-वि० [सं०] पूर्ण भेदयुक्त।

संज्ञा पुं० मतवाला हाथी।

प्रभु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो अनुग्रह या निग्रह करने में समर्थ हो। जिसके हाथ में रक्षा, दंड और पुरस्कार हो। अधिपति। नायक। (२) जिसके आश्रय में जीवन-निर्वाह होता हो। जो रोजी चलाता हो। स्वामी। मालिक। (३) ईश्वर। भगवान्। (४) श्रेष्ठ पुरुष का संबोधन। जैसे, प्रभो! अपराध क्षमा करो। (५) शब्द। (६) पारद। पारा। (७) बंबई प्रांत के कायस्थों की उपाधि।

प्रभुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बड़ाई। महत्त्व। (२) हुकूमत। शासनाधिकार। उ०—प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।—तुलसी। (३) वैभव। (४) साहिबी। मालिकपन।

प्रभुताई-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रभुता"।

प्रभुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] प्रभुता।

प्रभुभक्त-वि० [सं०] स्वामी की सच्ची सेवा करनेवाला नमकहलाल।

प्रभु*-संज्ञा पुं० दे० "प्रभु"।

प्रभूत-वि० [सं०] (१) जो अच्छी तरह हुआ हो। (२) उद्गत। निकला हुआ। उत्पन्न। (३) उन्नत। (४) प्रचुर। बहुत अधिक। बहुत ज्यादा।

संज्ञा पुं० पंचभूत। तत्त्व। उ०—राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जल हू थल छाई। माना प्रताप हुतासन धूम सो केसवदास अकास न माई। मेटि कै पंच प्रभूत किधौं विधि रेनुमयी नव रीति चलाई। दुःख निवेदन को भव भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई।—केशव।

प्रभूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उत्पत्ति। (२) शक्ति। (३) प्रचुरता। अधिकता। ज्यादती।

प्रभृति–अव्य० [सं०] इत्यादि। आदि। वगैरह।

प्रभेद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेद। विभिन्नता। (२) स्फोटन। फोड़कर निकलना।

प्रभेदिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बेधने या छेदने का एक अस्त्र।

प्रभ्रंशथु–संज्ञा पुं० [सं०] पीनस रोग।

प्रभ्रष्ट–वि० [सं०] (१) गिरा हुआ। (२) टूटा हुआ।

प्रभ्रष्टक–संज्ञा पुं० [सं०] शिखावलंबिनी माला। सिर से लटकती हुई माला।

प्रमत्त–वि० [सं०] (१) उन्मत्त। मतवाला। मस्त। नशे में चूर। (२) पागल। विक्षिप्त। बावला। (३) जिसकी बुद्धि ठिकाने न हो। जो सावधान या सचेत न हो। जो खबरदार न हो।

प्रमत्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मस्ती। (२) पागलपन।

प्रमथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथन या पीड़ित करनेवाला। (२) शिव के एक प्रकार के गण या पारिषद जिनकी संख्या ३६ करोड़ बताई गई है।

विशेष—कालिकापुराण में लिखा है कि प्रमथों में से कुछ तो भोगविमुख, योगी और त्यागी हैं और कुछ कामुक, भोगपरायण और शिव की क्रीड़ा में सहायक हैं। प्रमथगण बड़े मायावी कहे गए हैं।

यौ०—प्रमथनाथ।

(३) घोड़ा। (४) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

प्रमथन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथना। (२) पीड़ित करना। दुःख पहुँचाना। क्लेश देना। यंत्रणा देना। (३) वध करना। नाश करना।

प्रमथनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव। शिव।

प्रमथा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी। हड़। (२) पीड़ा।

प्रमथालय––संज्ञा पुं० [सं०] दुःख या यंत्रणा का स्थान। नरक।

प्रमथित–वि० [सं०] खूब मथा हुआ।

संज्ञा पुं० मट्ठा, जिसमें ऊपर से पानी न मिला हो।

प्रमद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मतवालापन। (२) धतूरे का फल। (३) हर्ष। आनंद। (४) एक प्रकार का दान। (५) वसिष्ठ के एक पुत्र का नाम।

वि० मत्त। मतवाला।

प्रमदक–संज्ञा पुं० [सं०] परलोक को न माननेवाला। नास्तिक।

प्रमदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युवती स्त्री। सुंदरी स्त्री। (२) मालकँगनी। प्रियंगु।

प्रमना–वि० [सं० प्रमनस] हर्षयुक्त। प्रसन्न।

प्रमन्यु–वि० [सं०] बहुत क्रुद्ध।

संज्ञा पुं० अति क्रोध।

प्रमर्दन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह मर्दन। अच्छी तरह मलना दलना। (२) खूब कुचलना। रौंदना। (३) दमन करना। नष्ट करना। (४) विष्णु।

वि० खूब मर्दन करनेवाला।

प्रमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शुद्ध बोध। यथार्थ ज्ञान। जहाँ जैसी बात है वहाँ वैसा अनुभव। (न्याय)। (२) नींव। (३) माप।

प्रमाण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह करण या मुख्य हेतु जिससे ज्ञान हो। वह बात जिससे किसी दूसरी बात का यथार्थ ज्ञान हो। वह बात जिससे कोई दूसरी बात सिद्ध हो। सबूत।

विशेष—प्रमाण न्याय का मुख्य विषय है। गौतम ने चार प्रकार के प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द। इंद्रियों के साथ संबंध होने से किसी वस्तु का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। लिंग (लक्षण) और लिंगी दोनों के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते हैं। (दे० न्याय)। किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य द्वारा दूसरी वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वह उपमान कहलाता है। जैसे, गाय के सदृश ही नीलगाय होती है। आप्त या विश्वासपात्र पुरुष की बात को शब्दप्रमाण कहते हैं। इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसक वेदांती और पौराणिक चार प्रकार के और प्रमाण मानते हैं—ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव। जो बात केवल परंपरा से प्रसिद्ध चली आती है वह जिस प्रमाण से मानी जाती है उसको ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं। जिस बात के बिना किसी देखी या सुनी बात के अर्थ में आपत्ति आती हो उसके लिये अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे, मोटा देवदत्त दिन को नहीं खाता, यह जानकर यह मानना पड़ता है कि देवदत्त रात को खाता है क्योंकि बिना खाए कोई मोटा हो नहीं सकता। व्यापक के भीतर व्याप्य—अंगी के भीतर अंग—का होना जिस प्रमाण से सिद्ध होता है उसे संभव प्रमाण कहते हैं। जैसे, सेर के भीतर छटाँक का होना। किसी वस्तु का न होना जिससे सिद्ध होता है वह अभाव प्रमाण है। जैसे, चूहे निकलकर बैठे हुए हैं इससे बिल्ली यहाँ नहीं है। पर नैयायिक इन चारों को अलग प्रमाण नहीं मानते, अपने चार प्रमाणों के अंतर्गत मानते हैं। और किन किन दर्शनों में कौन कौन प्रमाण गृहीत हुए हैं यह नीचे दिया जाता है–

चार्वाक—केवल प्रत्यच्च प्रमाण।
बौद्ध—प्रत्यच्च और अनुमान।
सांख्य—प्रत्यच्च, अनुमान और आगम।
पातंजल—प्रत्यच्च, अनुमान और आगम।
वैशेषिक—प्रत्यच्च और अनुमान।
रामानुज, पूर्णप्रज्ञ—प्रत्यच्च, अनुमान और आगम।

धर्म्मशास्त्र में किसी व्यवहार या अभियोग के निर्णय में चार प्रमाण माने गए हैं—लिखित (दस्तावेज़), भुक्ति (कब्जा), साक्ष्य (गवाही) और दिव्य। प्रथम तीन प्रकार के प्रमाण मानुष कहलाते हैं।

(२) एक अलंकार जिसमें आठ प्रमाणों में से किसी एक का कथन होता है। अनुमान का उदाहरण—घन गर्जन दामिनि-दमक, धुरवागन धावंत। आयो बरषा काल अब ह्वैहै बिरहिनि अंत।

विशेष—प्रायः सब अलंकारवालों ने केवल अनुमान अलंकार ही माना है प्रत्यच्च आदि और प्रमाणों को अलंकार नहीं माना है। केवल भोज ने आठ प्रमाणों के अनुसार प्रमाणालंकार माना है जिनका अनुकरण कुवलयानंद ने भी किया है। काव्यप्रकाश आदि में प्रत्यच्च आदि को लेकर प्रमाणालंकर नहीं निरूपित हुआ है।

(३) सत्यता। सचाई। उ०—कान्ह जू कैसे दया के निधान है। जानौ न काहू के प्रेम प्रमानहिं।—दास। (४) निश्चय। प्रतीति। दृढ़ धारणा। यकीन। उ०—(क) अंतरजामी राम सिय तुम सर्बज्ञ सुजान। जैा फुर कहहुँ तो नाथ मम कीजिय वचन प्रमान।—तुलसी। (ख) सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान मन मोरा।—तुलसी। (ग) जौ तुम तजहु, भजहुँ न आन प्रभु यह प्रमान मन मोरे। मन, वच, कर्म नरक सुरपुर तहँ जहँ रघुबीर निहोरे।—तुलसी। (५) मर्य्यादा। थाप। साख। मान। आदर। ठीक ठिकाना। उ०—(क) मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज वचन प्रमाना।—तुलसी। (ख) बिनु पुरुषारथ जो बकै ताको कौन प्रमान। करनी जंबुक जून ज्यों गरजन सिंह समान।—दीनदयाल गिरि। (६) प्रामाणिक बात या वस्तु। मानने की बात। आदर की चीज। उ०—रण मारि अच्चकुमार बहु बिधि इंद्रजित सों युद्ध कै। अति ब्रह्मशस्त्र प्रमाण मानि सो वश्य भो मन युद्ध कै।—केशव। (७) इयत्ता। हद। मान। निर्दिष्ट परिमाण, मात्रा या संख्या। अंदाज। जैसे, इसका प्रमाण ही इतना, इतना बड़ा या यह होता है। उ०—(क) कौन है तू, कित जाति चली, बलि, बीती निसा अधिराति प्रमानै।—पद्माकर। (ख) अतल, वितल अरु सुतल तलातल और महातल जान। पाताल और रसातल मिलि कै सातौ भुवन प्रमान।—सूर। (८) शास्त्र। (९) मूलधन। (१०) प्रमाणपत्र। आदेशपत्र। उ०—राम लखन जू सों बोलि कह्यो कुलपूज्य आये है प्रमान हैां तो जनक पै जायहैां।—हनुमान।

वि० (१) सत्य। प्रमाणित। चरितार्थ। ठीक घटता हुआ। उ०—(क) बरख चारिदस बिपिन बसि करि पितु वचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहौं मन जनि करसि गलान।—तुलसी। (ख) मिलहिँ तुमहिँ जब सप्तऋषीसा। तब जानेउ प्रमान बागीसा।—तुलसी। (२) मान्य। माना जानेवाला। स्वीकार योग्य। ठीक। उ०—(क) कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान।—तुलसी। (ख) कहि भेज्यो सु नवाब जो सो सब सुनी सुजान। कही, कि कहो नवाव सों हमको सबै प्रमान।—सूदन। (३) परिमाण में तुल्य। बड़ाई आदि में बराबर। उ०—पन्नग प्रचंडपति प्रभु की पनच पीन पर्वतारि पर्वत प्रमान पावई।—केशव।

अव्य० अवधि या सीमा सूचक शब्द। पर्य्यंत। तक। उ०—(क) कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं। सत जोजन प्रमान लै धावौं।—तुलसी। (ख) धनु लीन मंडल कीन सबकी आँख तेहि छन ढँपि गई। तेहि तानि कान प्रमान शब्द महान धरनी कँपि गई।—गोपाल।

प्रमाणकुशल–संज्ञा पुं० [सं०] अच्छा तर्क करनेवाला।

प्रमाणकोटि–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रमाण मानी जानेवाली बातों या वस्तुओं का घेरा। जैसे, आचार निर्णय में तंत्र प्रमाण कोटि में नहीं है।

प्रमाणना–क्रि० स० दे० "प्रमानना"।

प्रमाणपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह लिखा हुआ कागज जिस पर का लेख किसी बात का प्रमाण हो। सर्टिफिकेट।

प्रमाणपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके निर्णय को मानने के लिए दोनों पच्च के लोग तैयार हों। पंच।

प्रमाणिक–वि० दे० "प्रामाणिक"।

प्रमाणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] 'नगस्वरूपिणी' वृत्त का दूसरा नाम। इस छंद के प्रत्येक चरण में एक जगण, एक रगण, एक लंघु और एक गुरु होते हैं। उ०—नमामि भक्तवत्सलं। कृपालु शील कोमलं। भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं।—तुलसी।

प्रमाणित–वि० [सं०] प्रमाण द्वारा सिद्ध। साबित। निश्चित। सत्य ठहराया हुआ।

प्रमाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रमाणिका वा नगस्वरूपिणी छंद का नाम।

प्रमाणीकृत–वि० [सं०] प्रमाण रूप से जिसका स्वीकार किया गया हो । जो प्रमाण रूप से निश्चित हो ।

प्रमातव्य–वि० [सं०] मारने योग्य । बध्य ।

प्रमाता–संज्ञा पुं० [सं० प्रमातृ] (१) वह जो प्रमा ज्ञान को प्राप्त करे । वह जिसे प्रमा ज्ञान हो । प्रमाणों द्वारा प्रमेय के ज्ञान को प्राप्त करनेवाला । (२) ज्ञान का कर्त्ता आत्मा या चेतन पुरुष । (३) विषय से भिन्न विषयी । द्रष्टा । साक्षी ।

प्रमात्र–संज्ञा पुं० [सं०] निर्दिष्ट संख्या ।

प्रमाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथन । (२) दुःख देना । पीड़न । (३) किसी स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध संभोग । (४) मर्द्दन । नाश करना । मारना । (५) प्रतिद्वंद्वी को भूमि पर पटककर उस पर चढ़ बैठना और घस्सा देना । (६) बलपूर्वक हरण । छीन खसोट । (७) महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम । (८) शिव के एक गण का नाम । (९) स्कंद के अनुचर का नाम ।

प्रमाथिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम ।

प्रमाथी–वि० [सं० प्रमाथिन्] [स्त्री० प्रमाथिनी] (१) मथनेवाला । (२) छुब्ध करनेवाला । दुःखदायी । (३) पीड़ित करनेवाला । नाश करनेवाला ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम । यह खर का साथी था । (२) एक यूथपति बंदर जो रामचंद्रजी की सेना में था । (३) बृहत्संहिता के अनुसार बृहस्पति के ऐंद्र नामक तीसरे युग का दूसरा संवत्सर । यह निकृष्ट माना गया है । (४) वह औषध जो मुख, आँख, कान आदि छिद्रों से कफादि के संचय को हटा दे । (५) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम ।

प्रमाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी कारण से कुछ को कुछ जानना और कुछ का कुछ करना । वह अनवधानता जो किसी कारण से हो । भूल । चूक । भ्रम । भ्रांति । (२) अंतःकरण की दुर्बलता । (३) योगशास्त्रानुसार समाधि के साधनों की भावना न करना वा उन्हें ठीक न समझना । यह नौ प्रकार के अंतरायों में चौथा है । इससे साधक को चित्तविक्षेप होता है ।

प्रमादिक–वि० [सं०] प्रमादशील । भूल चूक करनेवाला ।

प्रमादिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कन्या जिसे किसी ने दूषित कर दिया हो ।

प्रमादिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंडोल राग की एक सहचरी का नाम ।

प्रमादी–वि० [सं० प्रमादिन्] [स्त्री० प्रमादिनी] प्रमादयुक्त । असावधान रहनेवाला । भूल चूक करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) बृहस्पति के शक्राग्नि दैवत नामक दशम युग का दूसरा संवत्सर । इसमें लोग आलसी रहते हैं, क्रांतियां होती हैं और लाल फूल के पेड़ों के बीज नष्ट हो जाते हैं । (२) पागल । बावला ।

प्रमान※–संज्ञा पुं० दे० "प्रमाण" ।

प्रमानना※–क्रि० स० [सं० प्रमाण + ना (प्रत्य०)] (१) प्रमाण मानना । सत्य मानना । ठीक समझना । उ०–(क) नंद गोप वृषभानु जसोदा सबहिँ गोप कुल जानो । करौ उपाय बचौ जौ चाहौ मेरो बचन प्रमानो ।—सूर । (ख) बोले वचन तबहिँ अकुलानो । सुनहु राम मम बचन प्रमानो ।—पद्माकर । (२) प्रमाणित करना । साबित करना । सबूत देना । उ०—यहि अनुमान प्रमानियत तिय तन जोबन जोति । ज्यों मेहँदी के पात में अलख ललाई होति ।—पद्माकर । (३) स्थिर करना । ठहराना । निश्चित करना । करार देना । उ०—(क) जोगीश्वर वपु धरि हरि प्रगटे जोग समाधि प्रमान्यो ।—सूर । (ख) जासु सुता नृपतिहि छलि लीनी । यह अनीति जाके सँग कीनी । जाने तदपि बुरो नहिँ मान्यो । ब्याह तुम्हारो शुद्ध प्रमान्यो ।—लक्ष्मण ।

प्रमानी※–वि० [सं० प्रामाणिक] मानने योग्य । प्रमाण योग्य । माननीय । उ०—गुरु बोले शिष की सुनि बानी । शंकर को मत परम प्रमानी ।—निश्चल ।

प्रमापन–संज्ञा पुं० [सं०] मारण । नाश ।

प्रमापयिता–वि० [सं० प्रमापयितृ] [स्त्री० प्रमापयित्री] (१) घातक । नाशकारक । (२) अनिष्टकारक । हानि पहुँचानेवाला ।

प्रमायु, प्रमायुक–वि० [सं०] नाशशील । क्षर । ध्वंसशील ।

प्रमार्जक–वि० [सं०] (१) पोछनेवाला । साफ करनेवाला । (२) हटानेवाला । दूर करनेवाला ।

प्रमार्जन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धोना । साफ करना । (२) पोंछना । झाड़ना । (३) हटाना । दूर करना । निवृत्त करना ।

प्रमित–वि० [सं०] (१) परिमिति । (२) निश्चित । (३) अल्प । थोड़ा । (४) जिसका यथार्थ ज्ञान हुआ हो । प्रमाणों द्वारा जिसको प्रमा नामक ज्ञान प्राप्त हुआ हो । (५) ज्ञात । विदित । अवगत । (६) अवधारित । प्रमाणित ।

प्रमिताक्षरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक द्वादशाक्षरा वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सगण जगण, और अंत में दो सगण होते हैं । उ०—हरषाय जाय सिय पायँ परी । ऋषिनारि सूँघि सिर गोद धरी । बहु अंगराग अँग अंग रये । बहु भाँति ताहि उपदेश दये ।—केशव ।

प्रमिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह यथार्थ ज्ञान जो प्रमाण द्वारा प्राप्त हो । प्रमा ।

प्रमीढ़–वि० [सं०] (१) गाढ़ा । घना । (२) मूत्र होकर निकला हुआ ।

प्रमीत-वि० [सं०] (१) मृत । मरा हुआ । (२) यज्ञ के लिए मारा हुआ (पशु) ।

प्रमीति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हनन । वध । (२) मृत्यु ।

प्रमीलन-संज्ञा पुं० [सं०] निमीलन । मूँदना ।

प्रमीला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंद्रा । (२) थकावट । शैथिल्य । ग्लानि । (३) मुद्रण । मूँदना ।

प्रमीली-वि० [सं० प्रमीलिन्] [स्त्री० प्रमीलिनी] निमीलित करनेवाला । आँखें मुँदानेवाला ।

संज्ञा पुं० एक दैत्य ।

प्रमुख-क्रि० वि० [सं०] (१) सम्मुख । सामने । आगे । (२) उस समय । तत्काल ।

वि० (१) प्रथम । पहला । (२) मुख्य । प्रधान । श्रेष्ठ । (३) मान्य । प्रतिष्ठित । अगुआ ।

अव्य० इससे आरंभ करके और और । इन मुख्यों के अतिरिक्त और और । इत्यादि । वगैरह । उ०--बंधुक सुमन अरुण पद पंकज अंकुश प्रमुख चिह्न धरि आए ।--सूर ।

संज्ञा पुं० (१) आदि । आरंभ । (२) समूह । (३) पुन्नाग ।

प्रमुच-संज्ञा पुं० दे० "प्रमुचि" ।

प्रमुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम ।

प्रमुचु-संज्ञा पुं० दे० "प्रमुचि" ।

प्रमुद-वि० [सं० प्रमुद्] हृष्ट । आनंदित ।

प्रमुदित-वि० [सं०] हर्षित । आनंदित । प्रसन्न ।

प्रमुदितवदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] बारह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसे मंदाकिनी भी कहते हैं । दे० "मंदाकिनी" ।

प्रमृत-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार हल जोतकर जीविका करने का नाम । कृषि । (मनु०) ।

विशेष--हल चलने में मिट्टी में रहनेवाले बहुत से जीव मर जाते हैं इससे उसे मृत कहते हैं ।

प्रमृष्ट-वि० [सं०] (१) निरस्त । (२) मार्जित ।

प्रमेय-वि० [सं०] (१) जो प्रमाण का विषय हो सके । जिसका बोध करा सकें । (२) जिसका मान बताया जा सके । जिसका अंदाज करा सकें । (३) अवधार्य्य । जिसका निर्धारण कर सकें ।

संज्ञा पुं० (१) वह जो प्रमा या यथार्थ ज्ञान का विषय हो । वह जिसका बोध प्रमाण द्वारा करा सकें । वह वस्तु या बात जिसका यथार्थ ज्ञान हो सके ।

विशेष-ज्ञान का विषय बहुत सी वस्तुएँ हो सकती हैं पर न्याय दर्शन में गौतम ने उन्हीं वस्तुओं को प्रमेय के अंतर्गत लिया है जिनके ज्ञान से मोक्ष या अपवर्ग की प्राप्ति होती है । ये बारह हैं--आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, सुख और अपवर्ग । यद्यपि वैशेषिक के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय सब पदार्थ ज्ञान के विषय हैं पर न्याय में गौतम ने बारह वस्तुओं का ही प्रमेय के अंतर्गत विचार किया है । (२) परिच्छेद ।

प्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मूत्र मार्ग से शुक्र तथा शरीर की और धातुएँ निकला करती हैं । धातु गिरने का रोग ।

विशेष--सुश्रुत के अनुसार दिन को सोने, काम न करने, बराबर आलस्य में पड़े रहने, शीतल स्निग्ध वस्तुएँ और मीठी वस्तुएँ बहुत अधिक खाने से यह रोग हो जाता है । हाथ पैर में जलन, शरीर का भारी रहना, मूत्र श्वेत और मीठा लिए होना, आलस्य और प्यास, तालू, दाँत, जीभ आदि में मैल जमना प्रमेह के पूर्व लक्षण हैं । वैद्यक में २० प्रकार के प्रमेह गिनाए गए हैं जिनमें से उदकमेह, इक्षुमेह, सोद्रमेह, सुरामेह, पिष्टमेह, शुक्रमेह, सिकतामेह, शीतमेह, शनैर्मेह और लालमेह तो कफज हैं; क्षारमेह, नीलमेह, कालमेह, हरिद्रामेह, मांजिष्ठमेह और रक्तमेह पित्तज हैं और वसामेह, मज्जामेह, क्षौद्रमेह और हस्तिमेह वातज हैं । सब प्रकार के प्रमेह चिकित्सा न होने पर मधुमेह हो जाते हैं जिसमें मिठास लिए मधु सा गाढ़ा मूत्र निकलता है । इस रोग में रोगी या तो बहुत दुर्बल हो जाता है या बहुत मोटा । इस प्रकार सूजाक और बहुमूत्र प्रमेह रोग के अंतर्गत ही आ जाते हैं यद्यपि डाक्टरी चिकित्सा में ये भिन्न भिन्न रोग माने गए हैं ।

प्रमेही-वि० [सं० प्रमेहिन्] प्रमेह रोगयुक्त ।

प्रमोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति । मोक्ष । छुटकारा । (२) त्याग । छोड़ना । फेंकना ।

प्रमोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह मोचन । अच्छी तरह छुड़ाना । (२) खूब हरण करना ।

प्रमोचनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोडुंबा । एक प्रकार की ककड़ी । गोसा ककड़ी ।

प्रमोद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हर्ष । आनंद । प्रसन्नता । (२) सुख । (३) बृहस्पति के पहले युग के चौथे वर्ष का नाम । यह शुभ माना जाता है । (४) एक सिद्धि का नाम । दे० "प्रमोदा" । (५) कुमार के एक अनुचर का नाम । (६) एक नाग का नाम ।

प्रमोदक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जड़हन ।

प्रमोदन-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का नाम ।

वि० हर्षकारक ।

प्रमोदसट्टक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का औषध जो गाढ़े दही और चीनी में मिर्च, पीपल, लौंग, कपूर मलकर उसमें अनार के पके दाने डाल कर बनती है । इससे दीपन होता है तथा थकावट और प्यास दूर होती है ।

प्रमोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सांख्य के अनुसार आठ प्रकार की सिद्धियों में से एक। यह आधिदैविक दुःखों के नष्ट होने पर प्राप्त होती है।

प्रमोदित–वि० [सं०] प्रमोदयुक्त। आनंदित। हर्षित। संज्ञा पुं० कुबेर।

प्रमोदिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जिंगिनी।।

प्रमोदी–वि० [सं० प्रमोदिन्] (१) हर्षजनक। (२) हर्षयुक्त।

प्रमोह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह। (२) मूर्च्छा।

प्रमोहन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोहित करना। (२) वह अस्त्र जिसके प्रयोग से शत्रुदल में प्रमोह की उत्पत्ति हो।

प्रमोही–वि० [सं० प्रमोहिन्] मोहजनक।

प्रम्लोचा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा।

प्रयंक*–संज्ञा पुं० दे० "पर्यंक"।

प्रयंत*–अव्य० दे० "पर्यंत"।

प्रयत–वि० [सं०] (१) पवित्र। संयत। (२) नम्र। दीन। (३) प्रयत्नशील।

प्रयतात्मा–वि० [सं०] संयत आत्मावाला। जितेंद्रिय। संयमी।

प्रयति–संज्ञा स्त्री० [सं०] संयम।

प्रयत्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह क्रिया जो किसी कार्य को, विशेषतः कुछ कठिन कार्य्य को, पूरा करने के लिए की जाय। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जानेवाली क्रिया। विशेष यत्न। प्रयास। अध्यवसाय। चेष्टा। कोशिश। जैसे, बिना प्रयत्न के कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता। (२) न्यायसूत्र के अनुसार आत्मा के छः गुणों अथवा साधन-चिह्नों में से एक। प्राणियों की क्रिया। जीवों का व्यापार।

विशेष—नैयायिकों के अनुसार प्रयत्न तीन प्रकार के होते हैं - प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि। ग्रहण का व्यापार प्रवृत्ति है, त्याग का व्यापार निवृत्ति। ये दोनों इच्छा और द्वेषपूर्वक होते हैं। श्वास प्रश्वास आदि व्यापार जो इच्छा द्वेषपूर्वक नहीं होते जीवनयोनि प्रयत्न कहलाते हैं।

(३) वर्णों के उच्चारण में होनेवाली क्रिया।

विशेष—उच्चारण प्रयत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यंतर और वाह्य। ध्वनि उत्पन्न होने के पहले वागिंद्रिय की क्रिया को आभ्यंतर प्रयत्न कहते हैं और ध्वनि के अंत की क्रिया को वाह्य प्रयत्न कहते हैं। आभ्यंतर प्रयत्न के अनुसार वर्णों के चार भेद हैं—(१) विवृत—जिनके उच्चारण में वागिंद्रिय खुली रहती है, जैसे, स्वर। (२) स्पृष्ट—जिनके उच्चारण में वागिंद्रिय का द्वार बंद रहता है, जैसे, 'क' से 'म' तक २५ व्यंजन। (३) ईषत् विवृत—जिनके उच्चारण में वागिंद्रिय कुछ खुली रहती है। जैसे, य र ल व। (४) ईषत् स्पृष्ट—श ष स ह। बाह्य प्रयत्न के अनुसार दो भेद हैं अघोष और घोष। अघोष वर्णों के उच्चारण में केवल श्वास का उपयोग होता है, कोई नाद नहीं होता—क ख च छ ट ठ त थ प फ श ष और स। घोष वर्णों के उच्चारण में केवल नाद का उपयोग होता है--शेष व्यंजन और सब स्वर।

प्रयत्नवान्–वि० [सं० प्रयत्नवत्] [स्त्री० प्रयत्नवती] प्रयत्न में लगा हुआ।

प्रयत्नशैथिल्य–संज्ञा पुं० [सं०] साधारण लोग जिस प्रकार आसन मारकर बैठते हैं उसे शिथिल अर्थात् दूर करके योग में कही हुई रीतियों के अनुसार आसन पर जप करना। (योग)

प्रयसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक राक्षसी जिसे रावण ने सीता को समझाने के लिये नियत किया था।

प्रयाग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत से यज्ञों का स्थान। (२) एक प्रसिद्ध तीर्थ जो गंगा जमुना के संगम पर है।

विशेष—जान पड़ता है जिस प्रकार सरस्वती नदी के तट पर प्राचीन काल में बहुत से यज्ञादि होते थे उसी प्रकार आगे चलकर गंगा जमुना के संगम पर भी हुए थे। इसी लिये प्रयाग नाम पड़ा। यह तीर्थ बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है और यहाँ के जल से प्राचीन राजाओं का अभिषेक होता था। इस बात का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में है। वन जाते समय श्रीरामचंद्र प्रयाग में भरद्वाज ऋषि के आश्रम पर होते हुए गए थे। प्रयाग बहुत दिनों तक कोशल राज्य के अंतर्गत था। अशोक आदि बौद्ध राजाओं के समय यहाँ बौद्धों के अनेक मठ और विहार थे। अशोक का स्तंभ अब तक किले के भीतर खड़ा है जिसमें समुद्रगुप्त की प्रशस्ति खुदी हुई है। फाहियान नामक चीनी यात्री सन् ४१४ ई० में आया था। उस समय प्रयाग कोशल राज्य में ही लगता था। प्रयाग के उस पार ही प्रतिष्ठान नामक प्रसिद्ध दुर्ग था जिसे समुद्रगुप्त ने बहुत दृढ़ किया था। प्रयाग का अक्षयवट बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध चला आता है। चीनी यात्री हुएन्सांग ईसा की सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था। उसने अक्षयवट को देखा था। आज भी लाखों यात्री प्रयाग आकर इस वट का दर्शन करते हैं जो सृष्टि के आदि से माना जाता है। वर्त्तमान रूप में जो पुराण मिलते हैं उनमें मत्स्यपुराण बहुत प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। इस पुराण के १०२ अध्याय से लेकर १०७ अध्याय तक में इस तीर्थ के माहात्म्य का वर्णन है। उसमें लिखा है कि प्रयाग प्रजापति का क्षेत्र है जहाँ गंगा और यमुना बहती हैं। साठ सहस्र वीर गंगा की और स्वयं सूर्य्य जमुना की रक्षा करते हैं। यहाँ जो वट है उसकी रक्षा स्वयं शूलपाणि करते हैं। पाँच कुंड हैं जिनमें

से होकर जाह्नवी बहती हैं। माघ महीने में यहाँ सब तीर्थ आकर वास करते हैं इससे उस महीने में इस तीर्थवास का बहुत फल है। संगम पर जो लोग अग्नि द्वारा देह विसर्जित करते हैं वे जितने रोम हैं उतने सहस्र वर्ष स्वर्गलोक में वास करते हैं। मत्स्यपुराण के उक्त वर्णन में ध्यान देने की बात यह है कि उसमें सरस्वती का कहीं उल्लेख नहीं है जिसे पीछे से लोगों ने त्रिवेणी के भ्रम में मिलाया है। वास्तव में गंगा और जमुना की दो ओर से आई हुई दो धाराओं और एक दोनों की सम्मिलित धारा से ही त्रिवेणी हो जाती है।

प्रयागवाल-संज्ञा पुं० [हिं० प्रयाग + वाला (प्रत्य०)] प्रयाग तीर्थ का पंडा।

प्रयाज-संज्ञा पुं० [सं०] दर्शपौर्णमास यज्ञ के अंतर्गत एक अंग यज्ञ।

प्रयाण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गमन। प्रस्थान। जाना। यात्रा। कूच। रवानगी। (२) युद्धयात्रा। चढ़ाई। (३) आरंभ। किसी काम का छिड़ना।

प्रयाणकाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जाने का समय। यात्रा का समय। (२) इस लोक से प्रस्थान का समय। मृत्यु का समय।

प्रयाणपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण में कावेरी नदी के तट पर एक प्राचीन तीर्थ जिसका माहात्म्य स्कंदपुराण में वर्णित है।

प्रयात-वि० [सं०] (१) गत। गया हुआ। (२) मृत। मरा हुआ। (३) सोया हुआ।

संज्ञा पुं० (१) खूब चलने या जानेवाला। (२) ऊँचा किनारा जिस पर से गिरने से कोई वस्तु एकदम नीचे चली जाय। करारा। भृगु।

प्रयान※-संज्ञा पुं० दे० "प्रयाण"।

प्रयापण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रयापणीय, प्रयापित, प्रयाप्य] (१) प्रस्थान कराना। भगाना। चलता करना। (२) आगे जाना।

प्रयाम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देश या काल संबंधी दीर्घता। लंबाई। (२) संयम। बँधा हुआ आचरण। (३) दुष्प्राप्यता। महँगी। (४) कदर।

प्रयास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रयत्न। उद्योग। कोशिश। (२) श्रम। मेहनत। उ०—बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए।—तुलसी। (३) इच्छा।

प्रयुक्त-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह जोड़ा हुआ। पूर्ण रूप से युक्त। (२) अच्छी तरह मिला हुआ। सम्मिलित। (३) जिसका खूब प्रयोग किया गया हो। जो खूब काम में लाया गया हो। व्यवहार में आया हुआ। (४) जो किसी काम में लगाया गया हो। प्रेरित।

प्रयुक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रयोजन। (२) प्रयोग।

प्रयुत-वि० [सं०] (१) खूब मिला हुआ। (२) मिला जुला। गड़बड़। अस्पष्ट। (३) सहित। समेत। (४) दस लाख।

संज्ञा पुं० दस लाख की संख्या।

प्रयुतेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] एक तीर्थ। (स्कंदपु०)

प्रयुत्सु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योद्धा। (२) मेढ़ा। (३) संन्यासी। (४) इंद्र। (५) वायु।

प्रयोक्ता-संज्ञा पुं० [सं० प्रयोक्तृ] (१) प्रयोगकर्त्ता। अनुष्ठान करनेवाला। व्यवहार करनेवाला। (२) नियोजित करनेवाला। (३) ऋण देनेवाला। उत्तमर्ण। महाजन। (४) प्रधान अभिनय करनेवाला। सूत्रधार।

प्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आयोजन। अनुष्ठान। साधन। किसी कार्य्य में योग। किसी काम में लगना। (२) किसी काम में लाया जाना। व्यवहार। इस्तेमाल। बरता जाना। जैसे, बल का प्रयोग करना, बिजली का प्रयोग करना, जल का प्रयोग करना, शब्द का प्रयोग करना। (३) प्रक्रिया। अमल। क्रिया का साधन। विधान। जैसे, (क) उस वैज्ञानिक ने रसायन के बहुत से प्रयोग दिखाए। (ख) केवल पुस्तक पढ़ने से व्यवहारज्ञान न होगा, प्रयोग देखो।

यौ०—प्रयोगशाला।

(४) तांत्रिक उपचार या साधन जो बारह कहे जाते हैं—मारण, मोहन, उच्चाटन, कीलन, विद्वेषण, कामनाशन, स्तंभन, वशीकरण, आकर्षण, बंदिमोचन, कामपूरण और वाक्प्रसारण। (५) अभिनय। नाटक का खेल। स्वांग भरना। (६) रोगी के दोषों तथा देश, काल और अग्नि का विचार कर औषध की व्यवस्था। उपचार। (७) यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान का बोध करानेवाली विधि। पद्धति। (८) दृष्टांत। निदर्शन। (९) साम, दंड आदि उपायों का अवलंबन। (१०) धन की वृद्धि के लिये ऋणदान। रुपया बढ़ने के लिये सूद पर दिया जाना। (११) घोड़ा। (१२) अनुमान के पाँचों अवयवों का उच्चारण।

प्रयोगातिशय-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में प्रस्तावना का एक भेद जिसमें प्रयोग करते करते घुणाक्षर न्याय से (आपसे आप) दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल से हो जाता हुआ दिखाया जाय और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करें। जैसे, कुंदमाला नाम के संस्कृत नाटक में सूत्रधार ने नृत्य के लिये अपनी भार्य्या को बुलाने के प्रयोग द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रयोग सूचित किया और उस प्रयोग का अवलंबन करके सीता और लक्ष्मण ने प्रवेश किया।

प्रयोगी–संज्ञा पुं० [सं० प्रयोगिन्] प्रयोग करनेवाला। व्यवहार में लानेवाला। अनुष्ठान कर्त्ता।

प्रयोजक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रयोगकर्ता। अनुष्ठान करनेवाला। (२) काम में लगानेवाला। प्रेरक। (३) नियंता। व्यवस्था रखनेवाला। इंतजाम रखनेवाला।

प्रयोजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्य। काम। अर्थ। जैसे, तुम्हारा यहाँ क्या प्रयोजन है ? (२) उद्देश्य। अभिप्राय। मतलब। गरज। आशय।

विशेष—न्याय में जो सोलह पदार्थ माने गए हैं उनमें 'प्रयोजन' चौथा है। जिस उद्देश्य से प्रवृत्ति होती है उसका नाम है प्रयोजन। तत्वदृष्टि से आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति ही संसार में मुख्य प्रयोजन है, शेष सब गौण प्रयोजन हैं। जैसे, भोजन के लिये हम रसोई पका रहे हैं इससे भोजन करना एक प्रयोजन है, रसोई पकाने के लिये ईंधन आदि इकट्ठा करते हैं इनसे रसोई बनाना भी प्रयोजन हुआ। पर जब हम इस बात का विचार करते हैं कि भोजन क्यों करते हैं तो क्षुधा के दुःख की निवृत्ति मुख्य प्रयोजन ठहरती है और शेष प्रयोजन गौण हो जाते हैं। इसी प्रकार संसार में जितने प्रयोजन हैं सांसारिक की निवृत्ति के आगे वे गौण ठहरते हैं।

(३) उपयोग। व्यवहार। उ०—यह वस्तु तुम्हारे किस प्रयोजन की है।

प्रयोजनवती लक्षणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह लक्षणा जो प्रयोजन द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रकट करे।

विशेष—लक्षणा दो प्रकार की होती है, प्रयोजनवती और रूढ़ि। 'बहुत सी तलवारें मैदान में आ गईं' इस वाक्य में यदि हम तलवार का अर्थ तलवार ही करके रह जाते हैं तो अर्थ में बाधा पड़ती है। इससे प्रयोजनवश हमें तलवार का अर्थ तलवारबंद सिपाही लेना पड़ता है। अतः जिस लक्षणा द्वारा यह अर्थ लिया यह प्रयोजनवती हुई। पर कुछ लक्ष्यार्थ रूढ़ हो गए हैं। जैसे, 'कार्य्य में कुशल'। कुशल का शब्दार्थ कुश इकट्ठा करनेवाला होता है, पर यह शब्द दक्ष या निपुण के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार का अर्थ रूढ़ि लक्षणा द्वारा प्रकट होता है।

प्रयोजनवान्–वि० [सं० प्रयोजनवत्] [स्त्री० प्रयोजनवती] प्रयोजन रखनेवाला। मतलब रखनेवाला।

प्रयोजनीय–वि० [सं०] काम का। मतलब का।

प्रयोज्य–वि० [सं०] (१) प्रयोग के योग्य। काम में लाने लायक। बरतने लायक। (२) काम में लगाए जाने योग्य। नियुक्त करने योग्य। प्रेरित करने योग्य। (३) आचरण योग्य। कर्त्तव्य।

संज्ञा पुं० (१)प्रेष्य भृत्य। नौकर। (२) वह धन जो किसी काम में लगाया जाय।

प्ररुह–संज्ञा पुं० [सं०] ऊपर को बढ़नेवाला (अंकुर, कल्ला, पौधा)।

प्ररूपण–संज्ञा पुं० [सं०] आज्ञापन (जैन)।

प्ररोचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुचि संपादन। रुचि दिलाना। चाह पैदा करना। शौक पैदा करना। (२) मोहित करना। (३) उत्तेजित करना।

प्ररोचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रुचिसंपादन। चाह या रुचि उत्पन्न करने की क्रिया। (२) उत्तेजना। बढ़ावा। (३) नाटक के अभिनय में प्रस्तावना के बीच, सूत्रधार, नट, नटी आदि का नाटक और नाटककार की प्रशंसा में कुछ कहना जिससे दर्शकों को रुचि उत्पन्न हो। (४) अभिनय के बीच आगे आनेवाली बात का रुचिकर रूप में कथन।

प्ररोधन–संज्ञा पुं० [सं०] चढ़ाना। ऊपर उठाना।

प्ररोह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरोह। चढ़ाव। (२) ऊपर की ओर निकलना। उगना। जमना। (३) उत्पत्ति। (४) अंकुर। अँखुआ। कल्ला। (५) नंदी वृक्ष। तुन का पेड़।

प्ररोहण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरोह। चढ़ाव। (२) भूमि से निकलना। उगना। जमना। (३) उत्पत्ति।

प्ररोहभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] उर्वरा भूमि। उपजाऊ जमीन। वह भूमि जहाँ घास पौधे उगें।

प्ररोहशाखी–संज्ञा पुं० [सं०] वे वृक्ष जिनकी कलम लगाने से लग जाय।

प्रलंब–वि० [सं०] (१) नीचे की ओर दूर तक लटकता हुआ। (२) लंबा। (३) टँगा हुआ। टिका हुआ। (४) निकला हुआ। किसी ओर को बढ़ा हुआ। (५) काम में ढीला। शिथिल। सुस्त।

संज्ञा पुं० (१) लटकाव। झुलाव। (२) शाखा। डाल। टहनी। (३) लतांकुर। टुनगा। (४) खीरा। (५) राँगा। (६) काम में शिथिलता या टालटूल। व्यर्थ का विलंब। (७) पयोधर। स्तन। (८) एक प्रकार का हार। (९) एक दानव जिसे बलराम ने मारा था। एक बार कृष्ण बलराम गोपों के बालकों के साथ खेल रहे थे। प्रलंबासुर भी गोपवेष में उनके साथ मिलकर खेलने लगा। लड़के यह कहकर कुश्ती लड़ने लगे कि जो हारे वह जीतनेवाले को कंधे पर बिठाकर चले। प्रलंब हारा और बलराम को कंधे पर लेकर भागने लगा। पर बलराम का भार इतना अधिक हो गया कि वह आगे न चल सका। अंत में उसने अपना रूप प्रकट किया। और थोड़ी देर युद्ध करके बलराम के हाथ से मारा गया। (भागवत)।

प्रलंबक–संज्ञा पुं० [सं०] सुगंध तृण।

प्रलंबन-संज्ञा पुं० [सं०] अवलंबन। सहारा लेना।

प्रलंबित-वि० [सं०] खूब नीचे तक लटकाया हुआ।

प्रलंबी-वि० [सं० प्रलंबिन्] [स्त्री० प्रलंबिनी] (१) दूर तक लटकनेवाला। लंबा। (२) अवलंबन करनेवाला। सहारा लेनेवाला।

प्रलंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाभ। प्राप्ति। मिलना। (२) छल। धोखा।

प्रलंभन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रलब्ध] (१) लाभ होना। प्राप्ति होना। (२) छल। धोखा।

प्रलपन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रलपित] (१) कहना। कथन। (२) बकवाद करना। बकना।

प्रलयंकर-वि० [सं०] [स्त्री० प्रलयंकरी] प्रलयकारी। सर्वनाशकारी।

प्रलय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लय को प्राप्त होना। विलीन होना। न रह जाना। (२) भू आदि लोकों का न रह जाना। संसार का तिरोभाव। जगत् के नाना रूपों का प्रकृति में लीन होकर मिट जाना।

विशेष—पुराणों में संसार के नाश का वर्णन कई प्रकार से आया है। कूर्म पुराण के अनुसार प्रलय चार प्रकार का होता है—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यंतिक। लोक में जो बराबर क्षय हुआ करता है वह नित्य प्रलय है। कल्प के अंत में तीनों लोकों का जो क्षय होता है वह नैमित्तिक वा ब्राह्म प्रलय कहलाता है। जिस समय प्रकृति के महदादि विशेष तक विलीन हो जाते हैं उस समय प्राकृतिक प्रलय होता है। ज्ञान की पूर्णावस्था प्राप्त होने पर ब्रह्म या चित् में लीन हो जाने का नाम आत्यंतिक प्रलय है। विष्णुपुराण में नित्य प्रलय का उल्लेख नहीं है। ब्राह्म और प्राकृत प्रलयों के वर्णन पुराणों में एक ही प्रकार के हैं। अनावृष्टि द्वारा चराचर का नाश, बारह सूर्यों के प्रचंड ताप से जल का शोषण और सब कुछ भस्म होना, फिर लगातार घोर वृष्टि होना और सब जलमय हो जाना, केवल प्रजापति का वा विष्णु का रह जाना वर्णित है। एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन और उतने ही की एक रात होती है। इसी रात में वह प्रलय होता है जिसे ब्राह्म प्रलय कहते हैं। प्राकृतिक प्रलय में, पहले जल पृथ्वी के गंधगुण को विलीन करता है जिससे पृथ्वी नहीं रह जाती, जल रह जाता है। फिर जल का गुण जो रस है उसे अग्नि विलीन कर लेती है जिससे जल नहीं रह जाता, अग्नि रह जाती है। फिर वायु तेज को भी विलीन कर लेती है और वायु ही रह जाती है फिर वायु का गुण जो स्पर्श है उसे आकाश विलीन कर लेता है और केवल आकाश ही रह जाता है जिसका गुण शब्द है। फिर यह शब्द भी अहंकार तत्त्व में और अहंकार तत्त्व महत्तत्त्व में और अंत में महत्तत्व भी प्रकृति में लीन हो जाता है। नैयायिक दो प्रकार के प्रलय मानते हैं—खंडप्रलय और महाप्रलय। पर नव्य न्यायवाले महाप्रलय नहीं मानते। सांख्य के अनुसार सृष्टि और प्रलय दोनों प्रकृति के परिणाम हैं। प्रकृति का परिणाम दो प्रकार का होता है—स्वरूप परिणाम और विरूप परिणाम। प्रकृति के उत्तरोत्तर विकार द्वारा जो विरूप परिणाम होता है उससे सृष्टि होती है और सृष्टि का जो फिर उलटा परिणाम प्रकृति के स्वरूप की ओर होने लगता है उससे प्रलय होता है। जब सत्व सत्व में, रजस रजस में, तमस तमस में मिल जाता है तब प्रलय होता है। स्वरूप परिणाम जब होने लगता है उस समय पहले महाभूत पंचतन्मात्र में विलीन होते हैं, फिर पंचतन्मात्र और एकादश इंद्रियाँ अहंकार तत्त्व में, फिर यह अहंकार महत्तत्त्व में और अंत में महत्तत्त्व भी प्रकृति में लीन हो जाता है। उस समय एक मात्र प्रकृति ही रह जाती है। इस प्रकार संसार अपने मूल कारण प्रकृति में लय को प्राप्त हो जाता है

(३) साहित्य में एक सात्विक भाव जिसमें किसी वस्तु में तन्मय होने से पूर्व स्मृति का लोप हो जाता है। (४) मूर्च्छा। बेहोशी।

प्रलव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह काटना। पूर्ण रूप से छेदन। (२) टुकड़ा। धज्जी। (३) लेश।

प्रलाप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कहना। बकना। (२) निरर्थक वाक्य। व्यर्थ की बकवाद। अनाप शनाप बात। पागलों की सी बड़बड़।

विशेष—ज्वर आदि के वेग में लोग कभी कभी प्रलाप करते हैं। वियोगियों की दस दशाओं में एक प्रलाप भी है।

प्रलापक-संज्ञा पुं० [सं०]एक प्रकार का सन्निपात जिसमें रोगी अनाप शनाप बकता है, उसके शरीर में पीड़ा और कंप होता है, उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता।

प्रलापहा-संज्ञा पुं० [सं० प्रलापहन्] कुलत्थांजन। एक प्रकार का अंजन।

प्रलापी-वि० [सं० प्रलापिन्] [स्त्री० प्रलापिनी] प्रलाप करनेवाला। व्यर्थ बकनेवावाला। अंड बंड बकनेवाला।

प्रलीन-वि० [सं०] (१) समाया हुआ। तिरोहित। (२) चेष्टाशून्य। जड़वत्।

प्रलीनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रलय। नाश। विलीनता। तिरोभाव। (२) चेष्टानाश। जड़त्व।

प्रलेप-संज्ञा पुं० [सं०] किसी गीली दवा को पीड़ित अंग पर चढ़ाने की क्रिया। अंग पर कोई गीली दवा छोपना या रखना। लेप। पुल्टिस।

प्रलेपक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लेप करनेवाला। (२)एक प्रकार का जीर्ण ज्वर। यह ज्वर वात कफ से उत्पन्न होता है। इसमें पसीने के संसर्ग से चमड़ा लिपा हुआ अर्थात् भीगा सा रहता है और ज्वर बहुत थोड़ा थोड़ा रहता है। यह ज्वर अत्यंत कष्टसाध्य है।

प्रलेपन–संज्ञा पुं० [सं०]लेप करने की क्रिया। पोतने का काम।

प्रलेप्य–वि० [सं०] लेप करने योग्य।

संज्ञा पुं० कुंचित केश। घुँघराले बाल।

प्रलेह–संज्ञा पुं० [सं०] मांस का एक व्यंजन जो मांस के छोटे छोटे खंड काटकर घी में तलकर बनाया जाता है। कोरमा।

प्रलेहन–संज्ञा पुं० [सं०] चाटना।

प्रलोप–संज्ञा पुं० [सं०] ध्वंस। नाश।

प्रलोभ–संज्ञा पुं० [सं०] लालच। अत्यंत लोभ।

प्रलोभक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रलोभन देनेवाला। लालच देनेवाला।

प्रलोभन–संज्ञा पुं० [सं०] लोभ दिखाना। लालच दिखाना। किसी को किसी ओर प्रवृत्त करने के लिये उसे लाभ की आशा देने का काम। जैसे, तुम उसके प्रलोभन में मत आना।

प्रलोभित–वि० [सं०] प्रलोभ में आया हुआ। ललचाया हुआ। मुग्ध। मोहित।

प्रलोभी–वि० [सं० प्रलोंभिन्] प्रलोभ में फँसनेवाला। लुब्ध।

प्रवंचक–संज्ञा पुं० [सं०] वंचन करनेवाला। भारी ठग। धोखेबाज। भारी धूर्त।

प्रवंचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] छल। ठगपना। धूर्तता।

प्रवंचित–वि० [सं०] जो ठगा गया हो। जिसने धोखा खाया हो।

प्रवक्ता–संज्ञा पुं० [सं० प्रवक्त] (१) अच्छी तरह बोलने या कहनेवाला। (२) वेदादि का उपदेश देनेवाला। अच्छी तरह समझाकर कहनेवाला।

प्रवग–संज्ञा पुं० [सं०] पत्ती।

प्रवचन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रवचनीय] (१) अच्छी तरह समझाकर कहना। अर्थ खोलकर बताना। (२) व्याख्या। (३) वेदांग।

प्रवचनीय–वि० [सं०] बताने या समझाकर कहने योग्य।

संज्ञा पुं० प्रवक्ता। अच्छी तरह समझाकर कहनेवाला।

प्रवज्यावसित--संज्ञा पुं० [सं०] हास के १५ भेदों में से एक।

प्रवट–संज्ञा पुं० [सं०] गोधूम। गेहूँ।

प्रवण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रमशः नीची होती हुई भूमि। ढाल। उतार। (२) पहाड़ का किनारा। (३) चौराहा। (४) उदर। पेट। (५) क्षण। (६) आहुति।

वि० (१) ढालुवाँ। जो क्रमशः नीचा होता गया हो। (२) झुका हुआ। नत। (३) किसी बात की ओर ढला हुआ। प्रवृत्त। रत। (४) नम्र। विनीत। (५) व्यवहार में खरा। जो कुटिल न हो। सीधा हिसाब रखनेवाला। (६) उदार। दूसरे की बात सुनने और माननेवाला। (७) अनुकूल। मुवाफिक। (८) स्निग्ध। (९) लंबा। (१०) निपुण।

प्रवणता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रवण होने का भाव

प्रवत्स्यत्पतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जिसका पति विदेश जानेवाला हो।

विशेष—मुग्धा, मध्या और स्वकीया, परकीया आदि भेदों से इसके भी कई भेद हो जाते हैं।

प्रवत्स्यत्प्रेयसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रवत्स्यत्पतिका।

प्रवत्स्यद्भर्तृका–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रवत्स्यत्पतिका।

प्रवदन–संज्ञा पुं० [सं०] घोषणा।

प्रवर–वि० [सं०]श्रेष्ठ। बड़ा। मुख्य। प्रधान। जैसे, वीरप्रवर।

संज्ञा पुं० (१) किसी गोत्र के अंतर्गत विशेष विशेष प्रवर्त्तक मुनि। जैसे, जमदग्नि गोत्र के प्रवर्त्तक ऋषि जमदग्नि, और्व और वशिष्ठ, गर्ग गोत्र के गार्ग्य, कौस्तुभ और मांडव्य इत्यादि। (२) संतति। (३) अगर की लकड़ी।

प्रवरगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] मगध देश के एक पर्वत का प्राचीन नाम। इसे आजकल बराबर पहाड़ कहते हैं।

प्रवरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवताओं का आवाहन। (२) वर्षा ऋतु के अंत में होनेवाला बौद्धों का एक उत्सव।

प्रवरललिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, रगण और एक गुरु होता है। उ०—यमी नासै रागादिक सकल जंजाल भाई। यही ते घेरै ना प्रवरललिता ताहि जाई॥ अहो, मेरे मीता! यदि चहहु संसार जीता। तजौ सारे रागा भजहु भवहा राम सीता।

प्रवरवाहन–संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनीकुमार।

प्रवरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अगुरु। अगर की लकड़ी। (२) दक्षिण की एक छोटी नदी जो गोदावरी में मिलती है। इसका नाम पयोधरा भी मिलता है।

प्रवर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] होमाग्नि। हवन करने की अग्नि।

प्रवर्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्य्यारंभ। ठानना। उ०—जब रन होत प्रवर्त्त रचत अरि हृदय गर्त्त नव।—गोपाल। (२) एक प्रकार के मेघ। (३) गोल आकार का एक प्राचीन आभूषण। (अथर्व०)

प्रवर्त्तक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी काम को चलानेवाला। संचालक। कोई बात ठानने या उठानेवाला। (२) आरंभ करनेवाला। चलानेवाला। अनुष्ठान या प्रचार करनेवाला। जारी करनेवाला। जैसे, मतप्रवर्त्तक, धर्म्मप्रवर्त्तक। (३) काम में लगानेवाला। प्रवृत्त

करनेवाला। प्रेरित करनेवाला। (४) उभारनेवाला। उसकानेवाला। (५) गति देनेवाला। (६) निकालनेवाला। ईजाद करनेवाला। (७) नाटक में प्रस्तावना का वह भेद जिसमें सूत्रधार वर्त्तमान समय का वर्णन करता हो और उसी का संबंध लिये पात्र का प्रवेश हो। (८) न्याय करनेवाला। विचार करनेवाला। पंच।

प्रवर्त्तन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रवर्त्तित, प्रवर्त्तनीय, प्रवर्त्य] (१) कार्य्य आरंभ करना। ठानना। (२) कार्य्य संचालन। काम को चलाना। (३) प्रचार करना। जारी करना। (४) उत्तेजना। प्रेरणा। उसकाना। उभारना। (५) प्रवृत्ति।

प्रवर्त्तना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रवृत्त दान। प्रवृत्ति करने की क्रिया। उत्तेजना। प्रेरणा। (२) किसी काम में लगाने या नियुक्त करने की क्रिया। नियोजन।

प्रवर्त्तित-वि० [सं०] (१) ठाना हुआ। आरब्ध। (२) चलाया हुआ। (३) निकाला हुआ। (४) उत्पन्न। पैदा। ईजाद किया हुआ। (५) उभारा हुआ। उत्तेजित। प्रेरित।

प्रवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] विवर्द्धन। बढ़ती। वृद्धि।

प्रवर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्षा। बारिश। (२) किष्किंधा के समीप का एक पर्वत जिस पर श्रीराम और लक्ष्मण ने निवास किया था।

प्रवर्ह-वि० [सं०] प्रधान। श्रेष्ठ।

प्रवलाकी-संज्ञा पुं० [सं० प्रवलाकिन्] (१) मोर। मयूर। (२) साँप।

प्रवसथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्थान। (२) प्रवास।

प्रवसन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विदेश में जाना या रहना। (२) बाहर जाना।

प्रवह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खूब बहाव। (२) कुंड जिसमें नाली द्वारा जल जाय। (३) सात वायुओं में से एक वायु। यह वायु आवह वायु के ऊपर है और इसी के द्वारा ज्योतिष्क पिंड आकाश में स्थित हैं। (४) अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक। (५) घर, नगर आदि से बाहर निकलना।

प्रवहण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ले जाना। (२) कन्या को विवाह देना। (३) छोटा परदेदार रथ। बहली। (४) डोली। (५) नाव।

प्रवाक-संज्ञा पुं० [सं०] घोषण करनेवाला।

प्रवाच्-वि० [सं०] (१) बहुत बोलनेवाला। इधर उधर की हाँकनेवाला। (२) शेखी बघारनेवाला। (३) युक्तिपटु। अच्छा बहस करनेवाला।

प्रवाचक-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छा वक्ता।

प्रवाचन-संज्ञा पुं० [सं०] अच्छी तरह कहना।

प्रवाच्य-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह कहने योग्य। (२) निंदनीय।

प्रवात-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हवा का झोंका। तेज हवा। (२) वह स्थान जहाँ खूब हवा हो। (३) ढाल। उतार। प्रवण। वि० हवा से हिलता हुआ। झोंके खाता हुआ।

प्रवातसार-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

प्रवाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) परस्पर वाक्य। बातचीत। (२) वह बात जो लोगों के बीच फैली हुई हो पर जिसके ठीक होने का निश्चय न हो। जनश्रुति। जनरव। (३) झूठी बदनामी। अपवाद।

प्रवान*-संज्ञा पुं० दे० "प्रमाण"।

प्रवार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवर। (२) वस्त्र। आच्छादन। (३) उत्तरीय वस्त्र। चादर या दुपट्टा।

प्रवारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निषेध। (२) काम्यदान। वह दान जो किसी कामना से किया जाय। (३) वर्षा ऋतु बीतने पर होनेवाला बौद्धों का एक उत्सव।

प्रवाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूँगा। विद्रुम। (२) किशलय। कोंपल। कोमल पत्ता। (३) वीणादंड। सितारा या तँबूरे की लकड़ी।

प्रवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपना घर या देश छोड़कर दूसरे देश में रहना। विदेश में रहना। परदेस का निवास। (२) विदेश।

प्रवासन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रवासित, प्रवास्य] (१) देश या पुर से बाहर निकालना। देशनिकाला। (२) वध।

प्रवासित-वि० [सं०] (१) देश से निकाला हुआ। (२) हत। मारा हुआ।

प्रवासी-वि० [सं० प्रवासिन्] [स्त्री० प्रवासिनी] विदेश में निवास करनेवाला। परदेस में रहनेवाला।

प्रवास्य-वि० [सं०] जो देश से निकाले जाने के योग्य हो। जिसे देशनिकाला देना उचित हो।

प्रवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। स्रोत। पानी की गति। बहाव। (२) बहता हुआ पानी। धारा। (३) कार्य का बराबर चला चलना। काम का जारी रहना। (४) चलता हुआ काम। व्यवहार। (५) झुकाव। प्रवृत्ति। (६) अच्छा वाहन या घोड़ा। (७) चलता हुआ क्रम। तार। सिलसिला। जैसे, वाणी का प्रवाह।

प्रवाहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह वहन करनेवाला। (२) राक्षस।

प्रवाहण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रवाहित] (१) ढोया जाना। (२) बहाया जाना।

प्रवाहणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मलद्वार में सबसे ऊपर की कुंडली जो मल को बाहर फेंकती है।

प्रवाहिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहानेवाली। (२) अतीसार या ग्रहणी रोग का एक भेद।

प्रवाहित–वि० [सं०] (१) जो बहाया गया हो। (२) जो ढोया गया हो।

प्रवाही–वि० [सं० प्रवाहिन्] [स्त्री० प्रवाहिनी] (१) बहानेवाला। (२) प्रवाहवाला। बहनेवाला। (३) तरल। द्रव। संज्ञा स्त्री० [सं०] बालुका। बालू। रेत।

प्रविग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] संधिभंग।

प्रविचय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुसंधान। खोज। (२) परीक्षा।

प्रविदारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्णरूप से विदारण। (२) युद्ध।

प्रविर–संज्ञा पुं० [सं०] पीतकाष्ठ। एक प्रकार का चंदन।

प्रविषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अतीस।

प्रविष्ट–वि० [सं०] घुसा हुआ। पैठा हुआ। भीतर पहुँचा हुआ।

प्रविसना*–क्रि० अ० [सं० प्रविश] घुसना। पैठना। उ०—प्रविसि नगर कीजै सब काजा।—तुलसी।

प्रवीण–वि० [सं०] (१) अच्छा गाने बजाने या बोलनेवाला। (२) निपुण। कुशल। दक्ष। चतुर। होशियार।

प्रवीणता–संज्ञा स्त्री० [सं०] निपुणता। चतुराई। कुशलता।

प्रवीन*–संज्ञा पुं० दे० "प्रवीण"।

प्रवीर–वि० [सं०] सुभट। अच्छा वीर। भारी योद्धा। बहादुर। संज्ञा पुं० (१) भौत्य मनु के एक पुत्र। (२) माहिष्मती के राजा नीलध्वज के पुत्र जो ज्वाला के गर्भ से उत्पन्न थे। इनकी कथा जैमिनि भारत में इस प्रकार है। जब युधिष्ठिर का अश्वमेध का घोड़ा माहिष्मती में पहुँचा तब राजकुमार प्रवीर बहुत सी स्त्रियों को लिये एक उपवन में क्रीड़ा कर रहे थे। अपनी प्रेयसी मदनमंजरी के कहने से राजकुमार घोड़े को पकड़ लाए। घोर युद्ध हुआ जिसमें नीलध्वज हारने लगे। सूर्य्य नीलध्वज के जामाता थे और वर देने के कारण उन्हीं के घर रहते थे। सूर्य्य के समझाने पर नीलध्वज ने घोड़े को अर्जुन को लौटाना चाहा। पर उनकी स्त्री ज्वाला उन्हें धिक्कारने लगी और उसने युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया। युद्ध में प्रवीर तथा और बहुत से राजवंश के लोग मारे गए। तब नीलध्वज ने घोड़े को वापस कर दिया। इस पर ज्वाला क्रुद्ध होकर अपने भाई के पास चली गई और उसे अर्जुन से युद्ध करने के लिये उभारने लगी। जब भाई ने भी उसे अपने यहाँ से भगा दिया तब वह नौका पर चढ़कर गंगा पार कर रही थी। गंगा देवी को उसने बहुत फटकारा कि तुमने अपने सात पुत्रों को डुबा दिया और तुम्हारे आठवें पुत्र भीष्म की यह गति हुई कि अर्जुन ने शिखंडी को सामने करके उसे मार डाला। इस पर गंगादेवी ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि ६ महीने में अर्जुन का सिर कटकर गिर पड़ेगा। यह सुनकर ज्वाला प्रसन्न होकर आग में कूद पड़ी और अर्जुन के वध की इच्छा से तीक्ष्ण बाण होकर बभ्रुवाहन के तूणीर में जा विराजी। यह कथा महाभारत में नहीं है।

प्रवृत्त–वि० [सं०] (१) प्रवृत्तिविशिष्ट। किसी बात की ओर झुका हुआ। रत। तत्पर। लगा हुआ। जैसे, किसी कार्य्य में प्रवृत्त होना। (२) प्रस्तुत। उद्यत। तैयार। (३) उत्पन्न। (४) लगाया हुआ। नियुक्त।

प्रवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रवाह। बहाव। (२) झुकाव। मन का किसी विषय की ओर लगाव। लगन। जैसे, उसकी प्रवृत्ति व्यापार की ओर नहीं है। (३) वार्त्ता। वृत्तांत। हाल। बात। (४) यज्ञादि व्यापार। (५) न्याय में एक यत्न विशेष।

विशेष—वाणी, बुद्धि और शरीर से कार्य्य के आरंभ को प्रवृत्ति कहते हैं। राग द्वेष भले बुरे कामों में प्रवृत्त कराते हैं। इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्ति का और द्विष्टसाधनताज्ञान निवृत्ति का कारण होता है।

(६) प्रवर्त्तन। काम का चलना। (७) सांसारिक विषयों का ग्रहण। संसार के कामों में लगाव। दुनिया के धंधे में लीन होना। निवृत्ति का उलटा। (८) उत्पत्ति। आरंभ। (९) हाथी का मद।

प्रवृत्तिविज्ञान–संज्ञा पुं० [सं०] बाह्य पदार्थों से प्राप्त ज्ञान। (बौद्धदर्शन)।

प्रवृद्ध–वि० [सं०] (१) वृद्धियुक्त। खूब बढ़ा हुआ। (२) प्रौढ़। खूब पक्का। (३) विस्तृत। खूब फैला हुआ। संज्ञा पुं० (१) तलवार के ३२ हाथों में से एक जिसे प्रसृत भी कहते हैं। इसमें तलवार की नोक से शत्रु का शरीर छू भर जाता है। (२) अयोध्या के राजा रघु का एक पुत्र जो गुरु के शाप से १२ वर्ष के लिये राक्षस हो गया था।

प्रवेक–वि० [सं०] उत्तम। प्रधान।

प्रवेट–संज्ञा पुं० [सं०] यव। जौ।

प्रवेण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बकरा। (वाल्मीकि रामायण)।

प्रवेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेणी। केशविन्यास। (२) हाथी की पीठ पर का रंग बिरंगा झूल। (३) एक नदी। (महाभारत)।

प्रवेता–संज्ञा पुं० [सं० प्रवेतृ] सारथी। रथवान।

प्रवेल–संज्ञा पुं० [सं०] पीली मूँग।

प्रवेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंतर्निवेश। भीतर जाना। घुसना। पैठना। दखल। (२) गति। पहुँच। रसाई। जैसे, वहाँ तक उनका प्रवेश नहीं है। (३) किसी विषय

की जानकारी, जैसे, न्यायशास्त्र में उनका वैसा प्रवेश नहीं है।

प्रवेशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रवेश करनेवाला। (२) नाटक के अभिनय में वह स्थल जहाँ कोई पात्र दो अंकों के बीच की घटना का (जो दिखाई न गई हो) परिचय अपने वार्तालाप द्वारा देता है।

प्रवेशन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रविष्ट, प्रवेशनीय, प्रवेशित,प्रवेश्य] (१) भीतर जाना। घुसना। पैठना। (२) सिंहद्वार।

प्रवेशिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१)वह पत्र, चिट्ठी या चिह्न जिसे दिखाकर कहीं प्रवेश करने पाएँ। (२) प्रवेश के लिये दिया जानेवाला धन। दाखिला।

प्रवेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु। (२) बाहु का निचला भाग। पहुँचा। (३) हाथी के दाँत पर का मांस। हाथी का मसूड़ा। (४) हाथी की पीठ का मांसल भाग जिस पर सवारी होती है।

प्रवेष्टक-संज्ञा पुं० [सं०] दहिना हाथ।

प्रवेष्टा-संज्ञा पुं० [सं० प्रवेष्टृ] प्रवेश करनेवाला।

प्रव्रजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रव्रजित]घर बार छोड़ प्रव्रज्या या संन्यास लेना।

प्रव्रजित-वि० [सं०] संन्यासी। गृहत्यागी।

प्रव्रजिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी। (२)गोरखमुंडी।

प्रव्रज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] संन्यास। भिक्षाश्रम।

क्रि० प्र०—ग्रहण करना।

प्रव्रज्यावसित-संज्ञा पुं० [सं०] जो संन्यास ग्रहण करके उससे च्युत हो गया हो।

विशेष—प्रव्रज्याभ्रष्ट व्यक्ति को प्रायश्चित्त करना होता है। पर प्रायश्चित्त करने पर भी उसके साथ खान पान का व्यवहार नहीं रखना चाहिए।

प्रव्रज्याव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] नैपाली बौद्धों के यहाँ का एक संस्कार जो हिंदुओं के यज्ञोपवीत के ढंग पर होता है।

प्रव्राज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत नीची जमीन। (२) संन्यास।

प्रशंस*-संज्ञा स्त्री० दे० "प्रशंसा"।

वि० [सं० प्रशस्य] प्रशंसा के योग्य। उ०—(क) गए जहाँ हंस संत बानो सो प्रशंस देखि जानि के बँधाये राजा पास लैकै आये हैं।—प्रियादास। (ख) मंत्री प्रसिद्ध प्रशंस तू।—पूर्ण।

प्रशंसक-वि० [सं०] (१) प्रशंसा करनेवाला। स्तुति करनेवाला। (२) खुशामदी।

प्रशंसन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रशंसनीय, प्रशंसित, प्रशंस्य] (१) गुण कीर्त्तन। गुणों का वर्णन करते हुए स्तुति करना। सराहना। तारीफ करना। (२) धन्यवाद। साधुवाद।

प्रशंसना*-क्रि० स० [सं० प्रशंसन्] सराहना। गुणानुवाद करना। बखानना। तारीफ करना। उ०—(क) रचि लक्ष्य विविध प्रकार मुनिवर तिन्हैं भेदन को कहैं। अरु हस्त-लाघव देखि सुतन प्रशंसि उर आनँद गहैं।—लवकुशचरित्र। (ख) ताके पुत्र अनूपम आही। वेद पुराण प्रशंसत जाही।—सबलसिंह।

प्रशंसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुण-वर्णन। स्तुति। बड़ाई। श्लाघा। तारीफ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

प्रशंसित-वि० [सं०] जिसकी प्रशंसा हुई हो। प्रशंसायुक्त। सराहा हुआ।

प्रशंसोपमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] उपमालंकार का एक भेद जिसमें उपमेय की अधिक प्रशंसा करके उपमान की प्रशंसा द्योतित की जाती है। उ०—जो शशि शिव सिर धरत हैं सो तव बदन समान।

प्रशंस्य-वि० [सं०] प्रशंसा करने योग्य। प्रशंसनीय।

प्रशत्वा-संज्ञा पुं० [सं० प्रशत्वन्] समुद्र।

प्रशम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शमन। उपशम। शांति। (२) निवृत्ति। नाश। ध्वंस। (३) भागवत के अनुसार रंतिदेव के पुत्र का नाम।

प्रशमन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शमन। शांति। (२) नाशन। ध्वंस करना। (३) मारण। वध। (४) प्रतिपादन। (५) दबाना। वश में करना। स्थिर करना। (६) सत्राजित के भाई का नाम। (७) अस्त्रप्रहार।

प्रशस्त-वि० [सं०] (१) प्रशंसनीय। सुंदर। (२) श्रेष्ठ। उत्तम। भव्य। (३) करजोड़ी नाम की जड़ी। हत्थाजोड़ी।

प्रशस्तपाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन आचार्य्य जिनका वैशेषिक दर्शन पर पदार्थधर्म-संग्रह नामक ग्रंथ अब तक मिलता है। इसे कुछ लोग वैशेषिक का भाष्य मानते हैं।

प्रशस्ताद्रि-संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम। बृहत्संहिता के मत से यह देश ज्येष्ठा, पूर्व मूल और शतभिष के अधिकार में है।

प्रशस्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रशंसा। स्तुति। (२) वह प्रशंसासूचक वाक्य जो किसी को पत्र लिखते समय पत्र के आदि में लिखा जाता है। सरनामा। (३) राजा की ओर से एक प्रकार के आज्ञापत्र जो पत्थरों की चट्टानों वा ताम्रपत्रादि पर खोदे जाते थे और जिनमें राजवंश और कीर्त्ति आदि का वर्णन होता था। (४) प्राचीन पुस्तकों के आदि और अंत की कुछ पंक्तियाँ जिनसे पुस्तक के कर्ता, विषय, कालादि का परिचय मिलता हो।

प्रशस्य-वि० [सं०] (१) प्रशंसा के योग्य। प्रशंसनीय। (२) श्रेष्ठ। उत्तम।

प्रशांत–वि० [सं०] (१) चंचलता रहित। स्थिर। स्थित। (२) शांत। निश्चल वृत्तिवाला।

संज्ञा पुं० एक महासागर जो एशिया के पूर्व एशिया और अमरीका के बीच में है। (आधुनिक भूगोल)।

प्रशांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] शांति। स्थिरता।

प्रशाखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] शाखा की शाखा। टहनी। पतली शाखा।

प्रशाखिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी टहनी।

प्रशासन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कर्तव्य की शिक्षा जो शिष्य आदि को दी जाय। (२) शासन।

प्रशासित–वि० [सं०] (१) जिसका अच्छा शासन किया गया हो। (२) शिक्षित।

प्रशासिता–वि० [सं०] शासनकर्त्ता। शासक।

प्रशास्ता–संज्ञा पुं० [सं० प्रशास्तृ] (१) होता का सहकारी। एक ऋत्विक् जिसे मैत्रावरुण भी कहते हैं। (२) ऋत्विक्। (३) मित्र। (४) शासनकर्ता।

प्रशास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक याग का नाम। (२) प्रशास्ता का कर्म। (३) प्रशास्ता के सोमपान करने का पात्र।

प्रशिष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनुशासन। शिक्षा। उपदेश। (२) आदेश। आज्ञा।

प्रशिष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिष्य का शिष्य। (२) परंपरागत शिष्य।

प्रशिस्–संज्ञा स्त्री० [सं०] आज्ञा। अनुशासन।

प्रशुश्रुक्–संज्ञा पुं० [सं०] वाल्मीकीय रामायण के अनुसार मरु देश के एक राजा का नाम।

प्रशोचन–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक की एक क्रिया का नाम जिसमें रोगी के व्रणादि को जला देते हैं। दागना।

प्रशोषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोखना। सुखाना। (२) एक राक्षस जो बच्चों में सुखंडी रोग फैलाता है।

प्रश्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी के प्रति ऐसे वाक्य का कथन जिससे कोई बात जानने की इच्छा सूचित हो। पूछताछ। जिज्ञासा। सवाल। जैसे, पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए तब कुछ कहिए।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) वह वाक्य जिससे कोई बात जानने की इच्छा प्रकट हो। सवाल। पूछने की बात। (३) विचारणीय विषय। (४) एक उपनिषद्।

विशेष—यह अथर्ववेदीय उपनिषद् मानी जाती है। इसमें ६ प्रश्न हैं और प्रत्येक प्रश्न के सात से सोलह तक मंत्र हैं। सब मिलाकर ६७ मंत्र हैं। इसमें प्रजापति से सृष्टि की उत्पत्ति का विषय अलंकारों द्वारा बताया गया है और अद्वैत मत निरूपित हुआ है। प्रथम प्रश्न कात्यायनजी करते हैं कि यह प्रजा कहाँ से उत्पन्न हुई। इसका उत्तर विस्तार से दिया गया है। दूसरा प्रश्न भार्गव वैदर्भि का है कि कौन देवता प्रजा का पालन करते हैं और कौन अपना बल दिखाते हैं। इसके उत्तर में प्राण नाम का देवता बड़ा बताया गया है क्योंकि उसके बल से सब इंद्रियाँ अपना अपना कार्य्य करती हैं। तीसरा प्रश्न अश्वलायनजी करते हैं कि प्राण किस प्रकार बड़ा है और किस प्रकार उसका संबंध बाह्य और अंतरात्मा से है। चौथा प्रश्न सौर्य्यायणी गार्ग्य ने किया है कि पुरुषों में कौन सोता है, कौन जागता है, कौन स्वप्न देखता है, कौन सुख भोगता है। उत्तर में पुरुष की तीनों अवस्थाएँ दिखाकर आत्मा सिद्ध की गई है। पाँचवाँ प्रश्न शैव सत्यकामा ने ओंकार के अर्थ और उपासना के संबंध में किया है। छठा प्रश्न सुकेशा भरद्वाज का है कि सोलह कलाओंवाला पुरुष कौन है ?

प्रश्नदूती–संज्ञा स्त्री० [सं०] पहेली। बुझौवल।

प्रश्नविवाक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के अनुसार प्राचीन काल के विद्वानों का एक भेद जो भावी घटनाओं के विषय में प्रश्नों का उत्तर दिया करते थे। (२) पंच। सरपंच।

प्रश्नव्याकरण–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक शास्त्र का नाम।

प्रश्नि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल कुंभी। (२) एक ऋषि। (महाभारत)।

प्रश्नोत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सवाल जवाब। प्रश्न और उत्तर। संवाद। (२) पूछताछ। (३) वह काव्यालंकार जिसमें प्रश्न और उत्तर रहते हैं।

प्रश्रय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आश्रयस्थान। (२) टेक। सहारा। आधार। (३) विनय। नम्रता। शिष्टता। (४) धर्म्म और ह्री से उत्पन्न एक देवता। (महाभारत)।

प्रश्रयण–संज्ञा पुं० [सं०] सौजन्य। शिष्टाचरण। विनय। नम्रता

प्रश्रयी–वि० [सं० प्रश्रयिन्] (१) शिष्ट। सुजन। भलामानुस। (२) शांत। नम्र। विनीत।

प्रश्रवण–संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक पर्वत।

प्रश्रित–वि० [सं०] विनीत।

प्रश्लिष्ट–वि० [सं०] (१) मिलाजुला। (२) संधिप्राप्त।

प्रश्लेष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घनिष्ट संबंध। (२) संधि होने में स्वरों का परस्पर मिल जाना।

प्रश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वायु जो नथने से बाहर निकलती है। बाहर आती हुई साँस। (२) वायु के नथने से बाहर निकलने की क्रिया।

प्रष्टव्य-वि० [सं०] (१) पूछने योग्य। (२) पूछने का। जिसे पूछना हो। जैसे, प्रष्टव्य बात।

प्रष्टा-वि० [सं० प्रष्टृ] पूछनेवाला। प्रश्नकर्ता।

प्रष्टि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह घोड़ा या बैल जो तीन घोड़ों के रथ वा तीन बैलों की गाड़ी में आगे जोता जाता है। (२) दाहिने ओर का घोड़ा या बैल। (३) तिपाई।

वि० पास खड़ा हुआ। पास का। पार्श्वस्थ।

प्रष्ठ-वि० [सं०] अग्रगामी। अगुवा।

प्रष्ठौही-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जो पहले पहल गाभिन हुई हो।

प्रसंख्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सब संख्याओं का योग। जोड़। कुल। मीजान। टोटल। (२) चिता।

प्रसंख्यान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सम्यक् ज्ञान। सत्यज्ञान। (२) आत्मानुसंधान। ध्यान।

प्रसंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेल। संबंध। लगाव। संगति। (२) बातों का परस्पर संबंध। विषय का लगाव। अर्थ की संगति। जैसे, शब्दार्थ पूरा न जान कर भी वे प्रसंग से अर्थ लगा लेते हैं। (३) व्याप्तिरूप संबंध। (४) स्त्री-पुरुष संयोग। जैसे, स्त्रीप्रसंग।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(५) अनुरक्ति। लगन। (६) बात। वार्ता। विषय। उ०—(क) अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।—तुलसी। (ख) जस मानस जेहि विधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु। अब सोइ कहौं प्रसंग सब सुमिरि उमा वृषकेतु।—तुलसी। (७) उपयुक्त संयोग। अवसर। मौका। उ०—तब तें सुधि कछु नाहीं पाई। बिनु प्रसंग तहँ गयो न जाई।—सूर। (८) हेतु। कारण। उ०—करिहहिँ विप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहि बस देवा।—तुलसी। (९) विषयानुक्रम। प्रस्ताव। प्रकरण। (१०) विस्तार। फैलाव। उ०—कर सर धनु, कटि रुचिर निषंग। प्रिया प्रीति प्रेरित वन बीथिन विचरत कपट कनकमृग संग। भुज विशाल, कमनीय कंध उर श्रमसीकर सोहै साँवरे अंग। मनु मुकुतामणि मरकत गिरि पर लसत ललित रवि किरन प्रसंग।—तुलसी।

प्रसंगविध्वंस-संज्ञा पुं० [सं०] मानमोचन के छः उपायों में से एक। झूठा भय दिखाकर मानिनी के चित्त में भ्रम उपजाकर उसका मान छुड़ाना। प्रसंगविभ्रंश।

प्रसंगविभ्रंश-संज्ञा पुं० [सं०] मानमोचन के छः उपायों में अंतिम। प्रसंगविध्वंस।

प्रसंगसम-संज्ञा पुं० [सं०] न्याय में जाति के अंतर्गत एक प्रकार का प्रतिषेध जो प्रतिवादी की ओर से होता है। इसमें प्रतिवादी कहता है कि साधन का भी साधन कहो और इस प्रकार वादी को उलझन में डालना चाहता है। जैसे, वादी ने कहा—

प्रतिज्ञा—शब्द अनित्य है।
हेतु—क्योंकि वह उत्पन्न होता है।
उदाहरण—जैसे घट।

इस पर प्रतिवादी कहता है कि यदि घट के उदाहर से शब्द अनित्य ठहराते हो तो यह भी साबित करो कि घट अनित्य है। फिर जब वादी घट की अनित्यता का हेतु देता है तब प्रतिवादी कहता है कि उस हेतु का भी हेतु दो। इस प्रकार का प्रतिषेध 'प्रसंगसम' कहलाता है।

प्रसंगी-वि० [सं० प्रसंगिन्] (१) प्रसंगयुक्त। (२) अनुरक्त।

प्रसंघ-वि० [सं०] श्रेणीबद्ध।

प्रसंधान-संज्ञा पुं० [सं०] संधि। योग।

प्रसंसना*-क्रि० स० [सं० प्रशंसन्] प्रशंसा करना। बड़ाई करना। दे० "प्रशंसना"।

प्रसक्त-वि० [सं०] (१) संश्लिष्ट। लगा हुआ। (२) जो बराबर लगा रहे। न छोड़नेवाला। सदा का। (३) संबद्ध। आसक्त। (४) प्रस्तावित।

प्रसक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसंग। संपर्क। (२) अनुमिति। (३) आपत्ति। (४) व्याप्ति।

प्रसज्यप्रतिषेध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का निषेध जिसमें विधि की अप्रधानता और निषेध की प्रधानता होती है। जैसे, अतिरात्रयज्ञ में षोडशी नामक सोमरसपूर्ण पात्र को ग्रहण न करे।

प्रसत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसन्नता। (२) निर्मलता। शुद्धि।

प्रसत्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रतिपत्ति। प्राप्ति।

प्रसत्वा-संज्ञा पुं० [सं० प्रसत्वन्] (१) धर्म्म। (२) प्रजापति।

प्रसन्न-वि० [सं०] (१) संतुष्ट। तुष्ट। (२) खुश। हर्षित। प्रफुल्ल। (३) अनुकूल। (४) निर्मल। स्वच्छ।

संज्ञा पुं० महादेव।

‡ वि० [फा० पसंद] मनोनीत। पसंद। उ०—(क) उनके इस कर्म को विद्वान लोग प्रसन्न नहीं करते।—दयानंद। (ख) मैं इस बात को मानता हूँ पर यह पूछता हूँ कि क्या कोई जो अँगरेजी जानता हो इस बात को प्रसन्न करेगा कि केवल एक लिपि प्रचलित होवे ? कभी नहीं।—सरस्वती।

प्रसन्नता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तुष्टि। संतोष। (२) प्रफुल्लता। हर्ष। आनंद। (३) अनुग्रह। कृपा। प्रसाद। (४) स्वच्छता। निर्मलता। शुद्धि।

प्रसन्नमुख-वि० [सं०] जिसका मुख प्रसन्न हो। जिसकी आकृति से प्रसन्नता टपकती हो। हँसता हुआ चेहरा।

प्रसन्नांध–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े का एक रोग जिसमें उसकी आँख देखने में तो ज्यों की त्यों रहती है पर उसे दिखाई नहीं पड़ता। यह असाध्य रोग है और अच्छा नहीं होता।

प्रसन्ना–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह मद्य जो खींचने में पहले उतरता है। वैद्यक में इसे गुल्म, वात, अर्श, शूल और कफनाशक माना है।

प्रसन्नात्मा–वि० [सं० प्रसन्नात्मन्] जो सदा प्रसन्न रहे। प्रसन्नांतःकरण। आनंदी।

संज्ञा पुं० विष्णु।

प्रसन्नित*‡–वि० [सं० प्रसन्न] आनंदित। हर्षित। खुश। उ०—निशि दिन करेहु नयन लखि काजा। जाते रहै प्रसन्नित राजा।—जायसी।

प्रसन्नेरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मदिरा।

प्रसर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आगे बढ़ना। बढ़ना। विस्तार। (२) फैलना। फैलाव। पसार। (३) दृष्टि का फैलाव। आँख की पहुँच। (४) वेग। तेजी। (५) समूह। राशि। (६) वैद्यक शास्त्रानुसार वात पित्तादि प्रकृतियें का संचार वा घटाव बढ़ाव। (७) व्याप्ति। (८) प्रकर्ष। प्रधानता। प्रभाव। (९) युद्ध। (१०) नाराच नामक अस्त्र। (११) वीरता। साहस। (१२) बाढ़। बढ़िया। (१३) एक प्रकार का पौधा जो भूमि के ऊपर फैलता है।

सरण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रसरणीय, प्रसारित] (१) आगे बढ़ना। खिसकना। सरकना। (२) फैलना। फैलने की क्रिया या भाव। फैलाव। (३) व्याप्ति। (४) विस्तार। (५) उत्पत्ति। (६) अपने काम में प्रवृत्त होना। (७) सेना का लूट पाट के लिये इधर उधर फैलना।

प्रसरणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसरण। फैलाव। पसार।

प्रसरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारणी लता। गंधाली। पसरन।

प्रसरित–वि० [सं०] (१) फैला हुआ। पसरा हुआ। (२) विस्तृत। (३) आगे को बढ़ा हुआ। स्थान से आगे को खसका हुआ।

प्रसर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निक्षेपण। किसी चीज को ऊपर से छोड़ना। गिराना। (२) वर्षण। बरसाना।

प्रसर्जन–संज्ञा पुं० [सं०] निक्षेप। गिराना। डालना।

प्रसर्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गमन। (२) एक प्रकार का सामगान।

प्रसर्पक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सहकारी ऋत्विज। (२) वह दर्शक जो यज्ञ में बिना बुलाए आया हो।

प्रसर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसरण। गमन। जाना। (२) खिसकना। (३) घुसना। पैठना। (४) सेना का चारों ओर फैलना। (५) शरण का स्थान। रक्षास्थान। (६) गति। चलने का भाव या कार्य्य।

प्रसर्पी–वि० [सं० प्रसर्पिन्] (१) रेंगनेवाला। (२) गतिशील। (३) यज्ञ की सभा में जानेवाला।

प्रसल–संज्ञा पुं० [सं०] हेमंतऋतु।

प्रसव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बच्चा जनने की क्रिया। जनना। प्रसूति (२) जन्म। उत्पत्ति। (३) अपत्य। बच्चा। संतान। (४) फल। (५) फूल। (६) वृद्धि। बढ़ती। (७) विकाश। निकास।

प्रसवक–संज्ञा पुं० [सं०] पियार का वृक्ष। चिरौंजी का पेड़।

प्रसवन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रसवनीय] बच्चा जनना। बच्चा पैदा करना।

प्रसवबंधन–संज्ञा पुं० [सं०] वह पतला सींका जिसके सिरे पर पत्ता वा फूल लगता है। नाल।

प्रसविता–वि० [सं० प्रसवितृ] [स्त्री० प्रसवित्री] जन्म देनेवाला। उत्पादक। उत्पन्न करनेवाला।

संज्ञा पुं० पिता। जनक। बाप।

प्रसविनी–वि० स्त्री० [सं०] उत्पन्न करनेवाली। जननेवाली। उ०—वीर कन्यका, वीर प्रसविनी, वीरवधू जग जानी।—हरिश्चंद्र।

प्रसवी–वि० [सं० प्रसविन्] [स्त्री० प्रसविनी] (१) प्रसवशील। (२) उत्पादक। प्रसव करनेवाला। जन्म देनेवाला। उत्पन्न करनेवाला।

प्रसव्य–संज्ञा पुं० [सं०] बाईं ओर से परिक्रमा करना। प्रदक्षिण का उलटा।

वि० (१) प्रतिकूल। (२) प्रसवनीय।

प्रसह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पक्षियों का एक भेद। वे पक्षी जो झपाटा मारकर अपना भक्ष्य या शिकार पकड़ते हैं। शिकारी चिड़िया। जैसे, कौआ, गीध, बाज, उल्लू, चील, नीलकंठ इत्यादि।

विशेष—वैद्यक में इन पक्षियों का मांस उष्णवीर्य बताया गया है और कहा गया है कि जो इसका मांस खाते हैं उन्हें शोष, भस्मक और शुक्रक्षय रोग हो जाता है।

(२) अमलतास का पेड़।

प्रसहन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिंसक पशु। (२) आलिंगन। (३) सहन। क्षमा। सहनशीलता।

वि० सहनशील।

प्रसहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कटाई।

प्रसह्यचौर–संज्ञा पुं० [सं०] जबरदस्ती माल छीननेवाला।

प्रसह्यहरण–संज्ञा पुं० [सं०] जबरदस्ती हर ले जाना। जैसे, क्षत्रिय कन्याओं का हरण करते थे।

प्रसातिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अणुव्रीहि। सावाँ।

प्रसाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसन्नता। (२) अनुग्रह। कृपा। मिहरबानी (३) निर्मलता। स्वच्छता। सफाई। (४)

स्वास्थ्य। (५) वह वस्तु जो देवता को चढ़ाई जाय। (६) वह पदार्थ जिसे देवता या बड़े लोग प्रसन्न होकर अपने भक्तों या सेवकों को दें। देवता या बड़े की देन। जैसे, यह सब आप ही का प्रसाद है। उ०—यह मैं तोही मैं लखी भक्ति अपूरब बाल। लहि प्रसाद माला जु भो तन कदंब की माल।—बिहारी। (७) देवता, गुरुजन आदि को देने पर बची हुई वस्तु जो काम में लाई जाय। (८) भोजन। (भक्त और साधु)।

मुहा०—प्रसाद पाना = खाना। भोजन करना। उ०—तृणशय्या औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद। पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशीर्वाद।—श्रीधर।

(९) काव्य का एक गुण। जिसकी भाषा स्वच्छ और साधु हो, जिसमें समस्त-पद कम हों, और जटिल और ग्रामीण-शब्द न आए हों, सुनने के साथ ही जिसका भाव श्रोता की समझ में आ जाय। (१०) शब्दालंकार के अंतर्गत एक वृत्ति। कोमलावृत्ति (११) धर्म्म की पत्नी मूर्त्ति से उत्पन्न एक पुत्र।*† (१२) दे० "प्रासाद"।

प्रसादक–वि० [सं०] (१) अनुग्रहकारक। (२) निर्मल। (३) प्रसन्न करनेवाला। (४) प्रीतिकर।

संज्ञा पुं० (१) प्रसाद। (२) देवधन। (३) बथुए का साग।

प्रसादन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसन्न करना। (२) अन्न।

वि० प्रसन्न करनेवाला। प्रसन्नता देनेवाला।

प्रसादना–संज्ञा स्त्री० [सं०] सेवा। परिचर्य्या।

* क्रि० स० [सं० प्रसादन] प्रसन्न करना। उ०—बहु भाँति बगारे जो या व्रज में अति आनन ओप अनूप कला। द्विजदेव जू चंद्रिका की छबि जाकी प्रसादि रही सिगरी अचला। निरख्यो जब तें इन नैनचकोरन बीतत ज्यों जुग एक पला। चहुँघा, सखि, चाँदनीचौक में डोलत चंद अमंद सों नंदलला।—द्विजदेव।

प्रसादनीय*–वि० [सं०] प्रसन्न करने योग्य।

प्रसादी–वि० [सं० प्रसादिन्] (१) प्रसन्न करनेवाला। (२) प्रीति करनेवाला। प्रीतिकर। (३) शांत। (४) अनुग्रह करनेवाला। कृपा करनेवाला। (५) निर्मल। स्वच्छ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० प्रसाद] (१) देवताओं को चढ़ाया हुआ पदार्थ। (२) नैवेद्य। (३) वह पदार्थ जो पूज्य और बड़े लोग छोटों को दें। बड़ों की देन। (४) देवता को बलि चढ़ाए हुए पशु का मांस।

प्रसाधक–वि० [सं०] (१) भूषक। अलंकृत करनेवाला। (२) संपादक। निर्वाह करनेवाला। संपादन करनेवाला। (३) राजाओं को वस्त्र आभूषणादि पहनानेवाला।

प्रसाधन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेष। (२) अलंकार। शृंगार। (३) कंघी। (४) संपादन। (५) महावला लता।

प्रसाधनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कंघी।

प्रसाधिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] निवार धान।

प्रसाधित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सँवारा हुआ। सजाया हुआ। (२) सुसंपादित।

प्रसार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विस्तार। फैलाव। पसार। (२) संचार। (३) गमन। (४) निर्गम। निकास। (५) इधर उधर जाना। फिरना।

प्रसारण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रसारित, प्रसार्य्य] (१) फैलाना। पसारना। विस्तृत करना।

विशेष—वैशेषिक में जो पाँच प्रकार के कर्म्म कहे गए हैं उनमें यह भी है।

(२) बढ़ाना।

प्रसारणी–संज्ञा स्त्री० [सं०](१) गंधप्रसारिणी नाम की लता। गंधप्रसारी। (२) सेना का लूटपाट के लिये इधर उधर फैलना।

प्रसारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंधप्रसारिणी लता। (२) लजालू। लाजवंती। (३) मध्यम स्वर की चार श्रुतियों में दूसरी श्रुति। (४) देवधान्य।

प्रसारित–वि० [सं०] फैलाया हुआ। पसारा हुआ।

प्रसारी–वि० [सं० प्रसारिन्] [स्त्री० प्रसारिणी] फैलनेवाला।

प्रसार्य्य–वि० [सं०] फैलाने योग्य। प्रसारणीय।

प्रसाह–संज्ञा पुं० [सं०] आत्मशासन।

प्रसित–संज्ञा पुं० [सं०] पीब। मवाद।

प्रसिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रस्सी। (२) रश्मि। (३) ज्वाला। लपट।

प्रसिद्ध–वि० [सं०] (१) भूषित। अलंकृत। (२) ख्यात। विख्यात। मशहूर।

प्रसिद्धक–संज्ञा पुं० [सं०] एक विदेहवंशी राजा जो मऊ का पुत्र था।

प्रसिद्धता–संज्ञा स्त्री० [सं०] ख्याति।

प्रसिद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ख्याति। (२) भूषा। बनाव सिंगार।

प्रसुत–वि० [सं०] दबाकर निचोड़ा हुआ।

संज्ञा पुं० एक संख्या का नाम।

प्रसुप्त–वि० [सं०] खूब सोया हुआ।

प्रसुप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] गाढ़ी नींद। नींद।

प्रसू–संज्ञा स्त्री० [सं०] जननेवाली। उत्पन्न करनेवाली।

संज्ञा स्त्री० (१) माता। जननी। (२) घोड़ी। (३) नरम घास। (४) कुश। (५) केला।

प्रसूका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

प्रसूत–वि० [सं०] [स्त्री० प्रसूता] (१) उत्पन्न। संजात पैदा। (२) उत्पादक।

संज्ञा पुं० (१) कुसुम। फूल। (२) चाक्षुष मन्वंतर के एक देवगण का नाम। (३) एक रोग का नाम जो स्त्रियों को प्रसव के पीछे होता है। इसमें प्रसूता को ज्वर होता है और दस्त आते हैं।

† संज्ञा पुं० [सं० प्रस्वेद] एक रोग का नाम जिसमें रोगी के हाथ और पैर से पसीना छूटा करता है।

प्रसूता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बच्चा जननेवाली स्त्री। वह जिसने बच्चा जना हो। जच्चा। (२) घोड़ी।

प्रसूति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसव। जनन। (२) उद्भव। (३) कारण। प्रकृति। (४) उत्पत्तिस्थान। (५) संतति। अपत्य। (६) जिस स्त्री ने प्रसव किया हो। प्रसूता। (७) दक्ष प्रजापति की स्त्री का नाम जिनसे सती का जन्म हुआ था।

प्रसूतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जिस स्त्री को बच्चा हुआ हो। प्रसूता।

प्रसूतिका-संज्ञा पुं० [सं०] दुःख।

प्रसून-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुष्प। फूल। (२) फल।
वि० उत्पन्न। जात। पैदा।

प्रसूनक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल। (२) मुकुल। कली।

प्रसृत-वि० [सं०] (१) फैला हुआ। (२) प्रवृद्ध। बढ़ा हुआ। (३) विनीत। (४) भेजा हुआ। प्रेरित। (५) लगा हुआ। तत्पर। नियुक्त। (६) प्रचलित। (७) इंद्रियलोलुप। लंपट।

संज्ञा पुं० (१) गहरी की हुई हथेली। अर्द्धांजलि। (२) हथेली भर का मान। पसर।

प्रसृतज-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्रकार का पुत्र जो व्यभिचार से उत्पन्न हो। जैसे, कुंड और गोलक।

प्रसृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फैलाव। विस्तार। (२) संतति। संतान। (३) अर्द्धांजलि। गहरी की हुई हथेली। (४) सोलह तोले के बराबर का एक मान। पसर।

प्रसृष्ट-वि० [सं०] (१) उत्पन्न। (२) व्यक्त। परित्यक्त।

प्रसृष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध का एक दाँव।

प्रसेक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेचन। सींचना। (२) निचोड़। निसोथ। (३) छिड़काव। (४) द्रव पदार्थ का वह अंश जो रस रस कर निचुड़े वा टपके। पसेव। (५) एक असाध्य रोग। जिरियान। (सुश्रुत)। (६) चरक के अनुसार मुँह से पानी छूटना और नाक से श्लेष्मा गिरना।

प्रसेद*-संज्ञा पुं० [सं० प्रस्वेद] पसीना। उ०—(क) हरि हित मेरो कन्हैया। देहरी चढ़त परत गिरि गिरि करपल्लव जो गहत है री मैया। भक्ति हेतु यशुदा के आए चरण धरणि पर धरैया। जिनहि चरण छलिबो बलि राजा नखप्रसेद गंगा जो बहैया।—सूर। (ख) देखत तेरे लेत है तन प्रसेद सो बोर। या में तेरी खोर कहु या कछु मेरी खोर?—रसनिधि।

प्रसेन, प्रसेनजित्-संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार सत्राजित् के एक भाई का नाम। उसके पास एक मणि था जिसे पहनकर वह एक दिन शिकार खेलने गया। वहाँ एक सिंह उसे मार मणि लेकर चला। मार्ग में जांबवान् ने सिंह को मार मणि छीन ली। सत्राजित ने प्रसेनजित् के न आने पर कृष्णचंद्र पर यह अपवाद लगाया कि उन्होंने प्रसेन को मणि के लोभ से मार डाला। कृष्णचंद्र इस अपवाद को मिटाने के लिये जंगल में गए। उन्होंने मार्ग में प्रसेन और उसके घोड़े को मरा पाया। आगे चलने पर सिंह भी मरा हुआ मिला। ढूँढ़ते हुए वे आगे बढ़े और एक गुफा में उन्हें जांबवान् मिला। उसने अपनी कन्या जांबवती को मणि के साथ कृष्णचंद्र को अर्पित किया। कृष्णचंद्र मणि और जांबवती को लेकर आए और उन्होंने सत्राजित को मणि देकर अपना कलंक मिटाया।

प्रसेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीन की तूँबी। (२) थैला। कपड़े की थैली।

प्रसेवक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बीन की तूँबी। (२) सूत की थैली। थैला। (३) थैली बनानेवाला पुरुष।

प्रस्कंदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) झपट। फलाँग। (२) शिव। महादेव। (३) विरेचन। जुलाब। (४) अतीसार।

प्रस्कण्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

प्रस्कन्न-वि० [सं०] (१) पतित। समाज का नियम भंग करनेवाला। (२) गिरा हुआ।

संज्ञा पुं० घोड़े के एक रोग का नाम। इस रोग में घोड़े की छाती भारी हो जाती और शरीर स्तब्ध हो जाता है और वह चलते समय कुबड़े की तरह हाथ पैर बटोरकर चलता है।

प्रस्खलन-संज्ञा पुं० [सं०] स्खलन। पतन।

प्रस्तर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पत्थर। (२) डाभ वा कुश का पूला। (३) पत्ते आदि का बिछावन। (४) बिछावन। (५) चौड़ी सतह। सम तल। (६) चमड़े की थैली। (७) प्रस्तार। (८) एक ताल का नाम।

प्रस्तरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिछाना। फैलाना। (२) बिछावन। बिछौना।

प्रस्तरणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्वेत दूर्वा। (२) गोजिह्वा।

प्रस्तरभेद-संज्ञा पुं० [सं०] पखान भेद।

प्रस्तरोपल-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रकांत मणि।

प्रस्तार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) फैलाव। विस्तार। (२)

आधिक्य। वृद्धि। (३) घास वा पत्तियों का बिछौना। (४) परत। पटल। तह। (५) सीढ़ी। (६) समतल। चौड़ी सतह। (७) घास का जंगल। (८) छंदःशास्त्र के अनुसार नौ प्रत्ययों में पहला जिससे छंदों के भेद की संख्या और रूपों का ज्ञान होता है। यह दो प्रकार का होता है, वर्ण प्रस्तार और मात्रा प्रस्तार।

प्रस्तारपंक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जो पंक्ति छंद का एक भेद है। इसके पहले और दूसरे चरणों में बारह बारह अक्षर और तीसरे चौथे में आठ आठ अक्षर होते हैं।

प्रस्तार्य्यर्म्म–संज्ञा पुं० [सं० प्रस्तार्य्यर्म्मन्] आँख का एक रोग जिसमें आँख के डेले पर चारों ओर लाल वा काले रंग का मांस बढ़ आता है। वैद्यक में इसकी उत्पत्ति सन्निपात के प्रकोप से मानी गई है।

प्रस्ताव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवसर। (२) प्रसंग। छिड़ी हुई बात। (३) प्रकरण। विषय। (४) अवसर पर कही हुई बात। जिक्र। चर्चा। (५) सभा समाज में उठाई हुई बात। सभा के सामने उपस्थित मंतव्य। (आधुनिक)

क्रि० प्र०—करना।—पास करना।—होना।

(६) कथा वा विषय के पूर्व का वक्तव्य। प्राक्कथन। भूमिका। विषय-परिचय। (७) सामवेद का एक अंश जो प्रस्तोता नामक ऋत्विक् द्वारा प्रथम गाया जाता है।

प्रस्तावन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रस्तावित] (१) प्रस्ताव करने की क्रिया। (२) प्रस्ताव करने का भाव।

प्रस्तावना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आरंभ। (२) किसी विषय या कथा को आरंभ करने के पूर्व का वक्तव्य। प्राक्कथन। भूमिका। उपोद्घात। जैसे, पुस्तक की प्रस्तावना। (३) नाटक में आख्यान या वस्तु के अभिनय के पूर्व विषय का परिचय देने, इतिवृत्त सूचित करने आदि के लिये उठाया हुआ प्रसंग।

विशेष—सूत्रधार, नट, नटी, विदूषक, पारिपार्श्विक के परस्पर कथोपकथन के रूप में प्रस्तावना होती है, जिसमें कभी कभी कवि का परिचय सभा की प्रशंसा आदि भी रहती है। भरत मुनि के अनुसार प्रस्तावना पाँच प्रकार की कही गई हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित।

प्रस्तावित–वि० [सं०] जिसके लिये प्रस्ताव हुआ हो। जिसके लिये प्रस्ताव किया गया हो।

प्रस्ताव्य–वि० [सं०] प्रस्ताव करने योग्य।

प्रस्तिर–संज्ञा पुं० [सं०] तृण वा पत्ते की शय्या। घास पत्ते आदि का बिछावन।

प्रस्तुत–वि० [सं०] (१) जिसकी स्तुति या प्रशंसा की गई हो। (२) जो कहा गया हो। उक्त। कथित। (३) जिसकी चर्चा छेड़ी गई हो। जिसकी बात उठाई गई हो। प्रसंग-प्राप्त। प्रासंगिक। (४) प्रतिपन्न। प्राप्त। उपस्थित। सामने आया हुआ। जो सामने हो। (५) उद्यत। तैयार। (६) निष्पन्न। जो किया गया हो। संपादित। (७) उपयुक्त।

प्रस्तुतालंकार–संज्ञा पुं० [सं०] एक अलंकार जिसमें एक प्रस्तुत के संबंध में कोई बात कहकर उसका अभिप्राय दूसरे प्रस्तुत के प्रति घटाया जाता है। जैसे, 'क्यों अलि! मालति छाँड़ि गयो कटीली केतकी' में प्रस्तुत भौंरे को सामने रखकर प्रस्तुत नायक के प्रति उपालंभ किया गया है।

प्रस्तुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रशंसा। स्तुति। (२) प्रस्तावना। (३) उपस्थिति। (४) निष्पत्ति। तैयारी।

प्रस्तोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का सामगान। (२) संजय के पुत्र का नाम।

प्रस्तोता–संज्ञा पुं० [सं० प्रस्तोतृ] एक सामवेदी ऋत्विक् जो यज्ञों में पहले सामगान का प्रारंभ करता है।

प्रस्तोभ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

प्रस्थ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहाड़ के ऊपर की चौरस भूमि। अधित्यका। टेबुल लैंड। (२) वह मैदान जो बराबर वा समतल हो। (३) प्राचीन काल का एक मान जो दो प्रकार का होता है एक तौलने का, दूसरा मापने का। इसके मान में मतभेद हैं; कोई चार कुड़व का प्रस्थ मानते हैं कोई दो शराव का। बहुतों के मत से एक आढक का चतुर्थांश प्रस्थ होता है। वमन-विरेचन और शोणित-मोक्षण में साढ़े तेरह पल का प्रस्थ माना जाता है। कुछ लोग इसे छः पल का और कुछ लोग द्रोण का षोड़शांश मानते हैं। (४) पहाड़ों का ऊँचा किनारा। (५) वह भाग जो ऊपर बहुत उठा हो। (६) विस्तार।

प्रस्थकुसुम–संज्ञा पुं० [सं०] मरुवा।

प्रस्थपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरुवे का पौधा। (२) छोटे पत्तों की तुलसी। जंबीरी नीबू।

प्रस्थल–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश जो उस समय सुशर्मा नामक राजा के अधिकार में था।

प्रस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गमन। यात्रा। रवानगी। (२) विजय के लिये सेना या राजा की यात्रा। कूच। (३) पहनने के कपड़े आदि जिसे लोग यात्रा के मुहूर्त पर घर से निकालकर यात्रा की दिशा में कहीं पर रखवा देते हैं। (यह ऐसी दशा में किया जाता है जब कोई ठीक मुहूर्त पर यात्रा नहीं कर सकता)। उ०—तिथि नखत्त गुरुवार कहीजै। सुदिन साधि प्रस्थान धरीजै।—जायसी।

क्रि० प्र०—धरना।—रखना।

(४) मार्ग। (५) उपदेश की पद्धति या उपाय। (६) वैखरी बानी के भेद जो अठारह हैं, यथा—४ वेद, ४ उपवेद, ६ वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।

प्रस्थानी-वि० [हिं० प्रस्थान] जानेवाला। उ०—उठे सुनत हरि उद्धव बानी। भे पुनि शुक्रप्रस्थ प्रस्थानी।—सबलसिंह।

प्रस्थानीय-वि० [सं०] प्रस्थान योग्य।

प्रस्थापन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रस्थापित, प्रस्थानी, प्रस्थाप्य] (१) प्रस्थान कराना। भेजना। (२) प्रेरणा। (३) स्थापन।

प्रस्थापित-वि० [सं०] (१) अच्छी तरह स्थापित। (२) प्रेषित। भेजा हुआ।

प्रस्थायी-वि० [सं० प्रस्थायिन्] जो भविष्य में प्रस्थान करनेवाला हो।

प्रस्थिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आमड़ा। (२) पुदीना।

प्रस्थित-वि० [सं०] (१) ठहरा हुआ। टिका हुआ। स्थिर। (२) दृढ़। (३) जो गया हो। गत। (४) जो जाने को तैयार हो। गमनोद्यत।

प्रस्थिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रस्थान। यात्रा।

प्रस्न-संज्ञा पुं० [सं०] स्नानपात्र।

※संज्ञा पुं० दे० "प्रश्न"।

प्रस्नुषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नतोहू। पोते की स्त्री।

प्रस्फुट-वि० [सं०] (१) विकसित। खिला हुआ। (२) प्रकट। स्पष्ट। साफ। ज्ञात।

प्रस्फुरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निकलना। (२) प्रकाशित होना।

प्रस्फोटन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी वस्तु का इस प्रकार एकबारगी खुलना या फूटना कि उसके भीतर के पदार्थ वेग से बाहर निकल पड़ें, जैसे, ज्वालामुखी का प्रस्फोटन। (२) फोड़ निकालना। (३) विकसित होना या करना। खिलना या खिलाना। (४) पीटना। ठोंकना। ताड़न। (५) फटकना (अन्न आदि)। (६) सूप।

प्रस्रंस-संज्ञा पुं० [सं०] (गर्भ का) पतन। भ्रंश। गिरना।

प्रस्रंसी-संज्ञा पुं० [सं० प्रस्रंसिन्] [स्त्री० प्रस्रंसिनी] (१) पतनशील। गिरनेवाला। (२) अकाल ही में गिरनेवाला (गर्भ)।

प्रस्रवण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल आदि (द्रव पदार्थों) का टपक टपककर या गिर गिरकर बहना। (२) किसी स्थान से निकल निकलकर बहता हुआ पानी। सोता। (३) किसी स्थान से गिरकर बहता हुआ पानी। प्रपात। झरना। निर्झर। (४) पसीना। (५) दूध। (६) माल्यवान् पर्वत।

प्रस्रवणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार बीस प्रकार की योनियों में एक। इसे दुष्प्रजाविनी भी कहते हैं। इसमें से पानी सा निकलता रहता है। इस योनिवाली स्त्री को संतान होने में बड़ा कष्ट होता है।

प्रस्राव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षरण। झरना। बहना। (२) बहाव। (३) प्रस्रवण। (४) पेशाब। मूत्र।

प्रस्रुत-वि० [सं०] झड़ा हुआ। गिरा हुआ।

प्रस्वन-संज्ञा पुं० [सं०] जोर का शब्द। ऊँचा स्वर।

प्रस्वाप, प्रस्वापन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वस्तु जिसके प्रयोग से निद्रा आवे। (२) एक अस्त्र का नाम जिसके प्रयोग से शत्रु को युद्धस्थल में निद्रा आ जाती है।

प्रस्वापिनी-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार कृष्णचंद्र की एक स्त्री का नाम।

प्रस्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] पसीना।

प्रहत-वि० [सं०] (१) हत। निहत। मारा हुआ। (२) प्रताड़ित। पीटा हुआ। (३) फैलाया हुआ। प्रसारित।

संज्ञा पुं० (१) पासे आदि का फेंकना। (२) वार। ठोकर। प्रहार।

प्रहनेमि-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

प्रहर-संज्ञा पुं [सं०] पहर। दिन रात के आठ सम भागों में से एक भाग।

प्रहरक-संज्ञा पुं० [सं०] वह मनुष्य जो पहरे पर हो और घंटा बजाता हो। घड़ियाली।

प्रहरकुटवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अर्कपुष्पी।

प्रहरखना※-क्रि० अ० [सं० प्रहर्षिण] हर्षित होना। आनंदित होना। उ०—जनकसुता समेत रघुराई। पेखि प्रहरखे मुनि-समुदाई।—तुलसी।

प्रहरण-संज्ञा पुं० [स०] (१) हरना। हरण करना। छीनना। (२) अस्त्र। (३) युद्ध। (४) प्रहार। वार। (५) मारना। आघात पहुँचाना। (६) फेंकना। हटाना। (७) स्त्रियों की सवारी के लिये एक प्रकार का परदेवाला रथ। बहली। (८) मृदंग के बारह प्रबंधों में एक।

प्रहरणकलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौदह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक भगण, फिर एक नगण और अंत में लघु गुरु होते हैं। उ०—महि हरि जनमे खलन दलन को प्रहरण कलि काटन दुख जन को।

प्रहरी-वि० [सं० प्रहरिन्] (१) पहर पहर पर घंटा बजानेवाला। घड़ियाली। (२) पहरेवाला। पहरुआ। पहरा देनेवाला।

प्रहर्ता-वि० [सं० प्रहर्तृ] [स्त्री० प्रहर्त्री] (१) प्रहार करनेवाला। (२) योद्धा।

प्रहर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] हर्ष। आनंद।

प्रहर्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनंद। (२) एक अलंकार जिसमें कवि बिना उद्योग के अनायास किसी के वांछित पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन करता है। जैसे, प्राण-पियारो मिल्यो सपने में भई तब नेसुक नींद निहोरे। कंत को आयबो त्योंही जगाय सखी कह्यो बोलि पियूष निचोरे। यों मतिराम बढ़्यो उर में सुख बाल के बालम सों दृग जोरे। ज्यों पट में अति ही चटकीलो चढ़ै रंग तीसरी बार के बोरे। (३) बुध नामक ग्रह।

प्रहर्षणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरिद्रा। हलदी। (२) तेरह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में मगण फिर नगण, फिर जगण, रगण और अंत में एक गुरु होता है। (म न ज र ग)। तीसरे और दसवें वर्ण पर यति होती है। उ०—वैसो ही विरचहु रास हे कन्हाई, सरद प्रहर्षिणी जुन्हाई।

प्रहर्षित–वि० [सं०] प्रसन्न। हर्षित। आनंदित।

प्रहसंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जूही। (२) वासंती। (३) प्रकृष्ट अंगारधानी। अच्छी अँगेठी।

प्रहसन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हँसी। दिल्लगी। परिहास। (२) चुहल। खिल्ली। (३) एक प्रकार का काव्यमिश्र नाट्य। यह रूपक के दस भेदों में है। इस खेल में नायक कोई राजा, धनी, ब्राह्मण वा धूर्त होता है और अनेक पात्र रहते हैं। खेल भर में हास्यरस प्रधान रहता है। पहले के प्रहसनों में एक ही अंक होता था पर अब लोग कई अंकों का प्रहसन लिखते हैं। जैसे, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और अंधेर नगरी आदि। इस प्रकार के नाटक प्रायः कुरीति-संशोधन के लिये बनाए और खेले जाते हैं।

प्रहसित––संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

प्रहस्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चपत। थप्पड़। (२) रामायण के अनुसार रावण के एक सेनापति का नाम।

प्रहाण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परित्याग। (२) चित्त की एकाग्रता। ध्यान।

प्रहाणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परित्याग। (२) हानि। नाश। (३) कमी। घाटा। हानि।

प्रहान*–संज्ञा पुं० दे० "प्रहाण"।

प्रहानि*–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रहाणि"।

प्रहार–संज्ञा पुं० [सं०] आघात। वार। चोट। मार।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

प्रहारक–वि० [सं०] प्रहार करनेवाला। मारनेवाला।

प्रहारण–संज्ञा पुं० [सं०] काम्य दान। मनचाहा दान।

प्रहारना*–क्रि० अ० [सं० प्रहार] (१) मारना। आघात पहुँचाना। आघात करना। उ०—(क) मन नहिँ मारा मनकरी, सका न पाँच प्रहारि। सील साँच सरधा नहीं, अजहूँ इंद्रि उघारि।—कबीर। (ख) दीन्हों डारि शैल तें भू पर पुनि जल भीतर डारयो। डारि अगिन में शस्त्रन मारयो नाना भाँति प्रहारयो।—सूर। (२) मारने के लिये चलाना। फेंकना। उ०—(क) वृत्रासुर पर वज्र प्रहारयो। तिन तिरसूल इंद्र पर मारयो।—सूर। (ख) तब दुहुँ भाइन वज्र प्रहारा। करि तापर पुनि लातन मारा।—पद्माकर। (ग) आजु राम श्याम को प्रहारि बान मारिहौं। उग्रसेन-सीस काटि भूमि बीच डारिहौं।—गोपाल।

प्रहारवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी लता।

प्रहारित†*–वि० [सं० प्रहार] जिस पर प्रहार हो। प्रताड़ित।

विशेष—मनुष्य के शरीर में मुष्टि प्रहार आदि से प्रहारित स्थान का मांस दूषित होकर शोथ उत्पन्न करता है।

प्रहारी–वि० [सं० प्रहारिन्] [स्त्री० प्रहारिणी] (१) मारनेवाला। प्रहार करनेवाला। (२) चलानेवाला। मारनेवाला। छोड़नेवाला। (३) नष्ट करनेवाला। दूर करनेवाला। भंजन करनेवाला। जैसे, गर्वप्रहारी।

प्रहारुक–वि० [सं०] बलपूर्वक हरण करनेवाला। जबरदस्ती छीननेवाला।

प्रहार्य–वि० [सं०] (१) प्रहार करने योग्य। (२) हरण योग्य।

प्रहास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अट्टहास। जोर की हँसी। ठहाका। गहरी हँसी। (२) नट। (३) शिव। (४) कार्त्तिकेय का एक अनुचर। (५) सोमतीर्थ का एक नाम (यह 'प्रभास' का प्राकृत रूप जान पड़ता है।) दे० "प्रभास क्षेत्र"।

प्रहासी–वि० [सं० प्रहासिन्] (१) खूब हँसानेवाला। (२) खूब हँसनेवाला।

प्रहित–वि० [सं०] (१) प्रेरित। (२) फेंका हुआ। क्षिप्त। (३) फटका हुआ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का साम। (२) सूप।

प्रहीण–वि० [सं०] परित्यक्त।

प्रहुत–संज्ञा पुं० [सं०] वलिवैश्वदेव। भूतयज्ञ।

प्रहुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] आहुति।

प्रहृत–वि० [सं०] (१) फेंका हुआ। चलाया हुआ। (२) पसारा हुआ। फैलाया हुआ। उठाया हुआ। (३) मारा हुआ। प्रताड़ित। (४) पीटा हुआ। ठोंका हुआ।

संज्ञा पुं० (१) प्रहार। चोट। आघात। (२) एक गोत्रकार ऋषि का नाम।

प्रहृष्ट–वि० [सं०] अत्यंत प्रसन्न। आह्लादित।

प्रहेणक–संज्ञा पुं० [सं०] लपसी। प्रहेलक।

प्रहेति–संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम। यह हेति का भाई था।

प्रहेलक–संज्ञा पुं० [सं०] लपसी। प्रहेणक।

प्रहेलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पहेली।

प्रह्लत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रीति।

प्रह्लाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "प्रह्लाद"। (२) एक नाग का नाम।

प्रह्लाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आमोद। आनंद। (२) एक दैत्य जो राजा हिरण्यकशिपु का पुत्र था। यह बचपन ही से बड़ा भगवद्भक्त था। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को ईश्वर की भक्ति से विचलित करने के लिये अनेक प्रयत्न किए और बहुत कष्ट पहुँचाया पर वह विचलित न हुआ। अंत को भगवान् ने नरसिंह रूप धारण कर प्रह्लाद की रक्षा की और हिरण्यकशिपु को मार डाला। प्रह्लाद का पुत्र विरोचन और पौत्र बलि था। (३) एक देश का नाम। (४) एक नाग का नाम।

प्रह्लादन–संज्ञा पुं० [सं०] आह्लादित करना। प्रसन्न करना।

प्रह्व–वि० [सं०] (१) विनीत। नम्र। (२) आसक्त।

प्रह्लीका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पहेली।

प्रांगण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान के बीच या सामने का खुला हुआ भाग। आँगन। सहन। (२) एक प्रकार का ढोल।

प्रांगन–संज्ञा पुं० दे० "प्रांगण"।

प्रांजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंजन या रंग। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का लेप या रंग जो बाण पर लगाया जाता था।

प्रांजल–वि० [सं०] (१) सरल। सीधा। (२) सच्चा। (३) बराबर। समान। जो ऊँचा नीचा न हो।

प्रांजलि–वि० [सं०] जो अंजलि बाँधे हो। अंजलिबद्ध।
संज्ञा पुं० (१) सामवेदियों का एक भेद। (२) अंजलि। अँजुली।

प्रांत–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रांतिक] (१) अंत। शेष। सीमा। (२) किनारा। छोर। सिरा। (३) ओर। दिशा। तरफ। (४) किसी देश का एक भाग। खंड। प्रदेश। जैसे, संयुक्त प्रांत, पंजाब प्रांत। (५) एक ऋषि का नाम। (६) इस ऋषि के गोत्र के लोग।

प्रांतग–वि० [सं०] सीमा पर रहनेवाला। जो प्रांत में या सरहद पर रहता हो।

प्रांतदुर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] वह दुर्ग जो नगर के किनारे प्राचीर के बाहर हो। नगर के परकोटे के बाहर का दुर्ग।

प्रांतपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक फूल का नाम। (२) इस फूल का पौधा।

प्रांतभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी पदार्थ का अंतिम भाग। किनारा। छोर। (२) योग शास्त्र के अनुसार समाधि, जो योग की अंतिम सीमा मानी जाती है। (३) सीढ़ी।

प्रांतर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो स्थानों के बीच का लंबा मार्ग जिसमें जल या वृक्षों आदि की छाया न हो। (२) दो गाँवों के बीच की भूमि। (३) दो प्रदेशों के बीच का शून्य स्थान। अवकाश। (४) जंगल। (५) वृक्ष के बीच का खोखला अंश।

प्रांतवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षितिज।

प्रांतायन–संज्ञा पुं० [सं०] प्रांत नामक ऋषि के गोत्र के लोग।

प्रांतीय–वि० [सं०] प्रांत से संबंध रखनेवाला। प्रांतिक। जैसे, युक्त प्रांतीय सम्मेलन।

प्रांतिक–वि० [सं०] (१) प्रांत संबंधी। प्रांतीय। (२) प्रदेशी। किसी एक देश या प्रांत से संबंध रखनेवाला।

प्रांशु–वि० [सं०] [सं० प्रांशुता] ऊँचा। उच्च।
संज्ञा पुं० (१) वैवस्वत मनु के एक पुत्र का नाम। विष्णु।

प्राइमर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी भाषा की वह प्रारंभिक पुस्तक जिसमें उस भाषा की वर्णमाला आदि दी गई हो। (२) किसी विषय की वह प्रारंभिक पुस्तक जिसमें उस विषय का ज्ञान प्राप्त करनेवालों के लिये साधारण मोटी मोटी बातें दी गई हों।

प्राइवेट–वि० [अं०] (१) जिसका संबंध केवल किसी व्यक्ति से हो। निज का व्यक्तिगत। जैसे, यह सम्मेलन का नहीं बल्कि मेरा प्राइवेट काम है। (२) जो सार्वजनिक न हो, बल्कि निज के संबंध का हो। जैसे, प्राइवेट जीवन, प्राइवेट सभा। (३) जो सर्वसाधारण से छिपाकर रखा जाय। गुप्त। जैसे, मैं आज आपसे एक बहुत प्राइवेट बात करना चाहता हूँ।

प्राइवेट सेक्रेटरी–संज्ञा पुं० [अं०] वह कर्मचारी या लेखक जो किसी की निज की चिट्ठी पत्री आदि लिखने के लिये नियुक्त हो। किसी बड़े आदमी का निज का मंत्री या सहायक। खास-नवीस। खास कलम।

प्राकर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

प्राकाम्य–संज्ञा पुं० [सं०] आठ प्रकार के ऐश्वर्यों या सिद्धियों में से एक। कहते हैं कि इस ऐश्वर्य्य के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य की इच्छा का व्याघात नहीं होता। वह जिस वस्तु की इच्छा करता है वह उसे तुरंत प्राप्त हो जाती है। वह इच्छा करने पर जमीन में समा सकता है या आसमान में उड़ सकता है।

पर्य्या०—अपसर्ग। साच्छंदानुमति।

प्राकार–संज्ञा पुं० [सं०] वह दीवार जो नगर, किले आदि की रक्षा के लिये उनके चारों ओर बनाई जाती है। परकोटा। कोट। चहार-दीवारी।

पर्य्या०—वरण। वप्र। शाल। साल।

प्राकार्षक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों के बीच में नाचनेवाला पुरुष । (२) वह पुरुष जिसकी जीविका दूसरों की स्त्रियों से चलती हो । स्त्रियों का दलाल ।

प्राकाश–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "प्रकाश" ।

प्राकास्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रकीर्ति । यश ।

प्राकृत–वि० [सं०] (१) प्रकृति से उत्पन्न या प्रकृति-संबंधी । (२) स्वाभाविक । नैसर्गिक । (३) भौतिक । (४) स्वाभाविक । सहज । (५) साधारण । मामूली । (६) संसारी । लौकिक । (७) नीच ।

संज्ञा स्त्री० (१) बोलचाल की भाषा जिसका प्रचार किसी समय किसी प्रांत में हो अथवा रहा हो । उ०—जे प्राकृत कवि परम सयाने । भाषा जिन हरि कथा बखाने । —तुलसी । (२) एक प्राचीन भाषा जिसका प्रचार प्राचीन काल में भारत में था और जो प्राचीन संस्कृत नाटकों आदि में स्त्रियों, सेवकों और साधारण व्यक्तियों की बोलचाल में तथा अलग ग्रंथों में पाई जाती है । भारत की बोलचाल की आर्य्य भाषाएँ बोलचाल की प्राकृतों से बनी हैं ।

विशेष—हेमचंद्र ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहकर सूचित किया है कि प्राकृत संस्कृत से निकली है, पर प्रकृति का यह अर्थ नहीं है । केवल संस्कृत का आधार रखकर प्राकृत व्याकरण की रचना हुई है । पर अनुमान है कि ईसवी सन् से प्रायः ३०० वर्ष पहले यह भाषा प्राकृत रूप में आ चुकी थी । उस समय इसके पश्चिमी और पूर्वी दो भेद थे । यह पूर्वी प्राकृत ही पाली भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई । (दे० "पाली") । बौद्ध धर्म्म के प्रचार के साथ इस मागधी या पाली भाषा की बहुत अधिक उन्नति हुई; क्योंकि पहले उस धर्म्म के सभी ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए । धीरे धीरे प्राचीन प्राकृतों के विकास से आज से प्रायः १००० वर्ष पहले देश-भाषाओं का जन्म हुआ था । जिस प्रकार संस्कृत भाषा का सब से पुराना रूप वैदिक भाषा है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा का भी जो पुराना रूप मिलता है उसे आर्ष प्राकृत कहते हैं । कुछ बौद्ध तथा जैन विद्वानों का मत है कि पाणिनि ने इस आर्ष प्राकृत का भी एक व्याकरण बनाया था । पर कुछ लोगों को यह संदेह है कि कदाचित् पाणिनि के समय प्राकृत भाषा का जन्म ही नहीं हुआ था । मार्कंडेय ने प्राकृत के इस प्रकार भेद किए हैं—१ भाषा (महाराष्ट्रा, शौरसेनी, प्राच्या, आवंती, मागधी, अर्द्धमागधी), २ विभाषा (शाकारी, चांडाली, शावरी, आभीरी, टाक्की, औड्री, द्राविड़ी), ३ अपभ्रंश, ४ पैशाची । चूलिका पैशाची आदि कुछ निम्न श्रेणी की प्राकृत भी हैं । सबसे प्राचीन काल में मगध की भाषा पाली के नाम से साहित्य की ओर अग्रसर हुई । बौद्ध ग्रंथ पहले इसी भाषा में लिखे गए । यह मागधी व्याकरणों की मागधी से पृथक् और प्राचीन भाषा है । पीछे जैनों के द्वारा अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री का आदर हुआ । महाराष्ट्री साहित्य की प्राकृत हुई जिसके एक कृत्रिम रूप का व्यवहार संस्कृत के नाटकों में हुआ । इन प्राकृतों से आगे चलकर और घिसकर जो रूप हुआ वह अपभ्रंश कहलाया । इसी अपभ्रंश के नाना रूपों से आजकल की आर्य्य शाखा की देशभाषाएँ निकली हैं । इसके अतिरिक्त ललितविस्तर में एक प्रकार की और प्राकृत मिलती है जो संस्कृत से बहुत कुछ मिलती जुलती है । प्राकृत भाषा में द्विवचन नहीं है और उसकी वर्णमाला में ऋ ॠ ऌ ॡ ऐ और औ स्वर तथा श ष और विसर्ग नहीं हैं ।

(३) पराशर मुनि के मत से बुध ग्रह की सात प्रकार की गतियों में पहली और उस समय की गति जब वह स्वाती, भरणी और कृत्तिका में रहता है । यह चालीस दिन की होती है और इसमें आरोग्य, वृष्टि, धान्य की वृद्धि और मंगल होता है ।

प्राकृतज्वर–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार वह ज्वर जो वर्षा, शरद या हेमंत ऋतु में, ऋतु के प्रभाव से होता है । कहते हैं कि वर्षा, शरद और हेमंत ऋतुओं में क्रमशः वात, पित्त और कफ की प्रधानता होती है और उसी समय मनुष्य पर वातादि की प्रधानता से ऐसा ज्वर आक्रमण करता है ।

प्राकृतत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्राकृत होने का भाव या धर्म्म ।

प्राकृत दोष–संज्ञा पुं० [सं०] वात, पित्त और कफ नामक प्रकृतियों के प्रकोप से उत्पन्न दोष जो वर्षा, शरद और हेमंत ऋतुओं में यथाक्रम उत्पन्न होता है ।

प्राकृत प्रलय–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का प्रलय जिसका प्रभाव प्रकृति तक पर पड़ता है, अर्थात् जिसमें प्रकृति भी ब्रह्म या परमात्मा में लीन हो जाती है ।

प्राकृतिक–वि० [सं०] (१) जो प्रकृति से उत्पन्न हुआ हो । (२) प्रकृति के विकार । (३) प्रकृति-संबंधी । प्रकृति का । (४) स्वाभाविक । सहज । (५) साधारण । मामूली । (६) भौतिक । (७) सांसारिक । लौकिक । (८) नीच ।

संज्ञा पुं० दे० "प्राकृत प्रलय" ।

प्राकृतिक भूगोल–संज्ञा पुं० [सं०] भूगोल-विद्या का वह अंग जिसमें भौगोलिक तत्वों का तुलनात्मक दृष्टि से विचार होता है । भूगर्भ-शास्त्र से इसमें यह अंतर है कि भूगर्भ शास्त्र तो पृथ्वी की बनावट के प्राचीन इतिहास से संबंध रखता है; पर इस शास्त्र में उसकी वर्त्तमान स्थिति

तथा भिन्न भिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं का वर्णन होता है। इस विद्या में यह बतलाया जाता है कि पर्वत, समुद्र, नदियाँ, द्वीप और महाद्वीप आदि किस प्रकार बनते हैं, पहाड़ों की ऊँचाई और समुद्रों की गहराई कितनी है; समुद्र में ज्वारभाटा किस प्रकार आता है, पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में प्राणियों और वनस्पतियों आदि का किस प्रकार विभाग हुआ है, वातावरण का तापमान कहाँ किस प्रकार और कितना घटता बढ़ता है, और किस प्रकार ऋतु परिवर्त्तन होता है, और नदियों तथा झीलों आदि की सृष्टि किस प्रकार होती है, आदि आदि।

प्राक्–वि० [सं०] पहले का। अगला।
संज्ञा पुं० पूर्व। पूरब।

प्राक्कर्म–संज्ञा पुं० [सं० प्राक्कर्मन्] (१) पूर्वकर्म। (२) अदृष्ट। भाग्य।

प्राक्कल्प–संज्ञा पुं० [सं०] पुराकल्प। पूर्वकल्प।

प्राक्कूल–संज्ञा पुं० [सं०] वह कुश जिसका अगला भाग पूर्व ओर किया गया हो।

प्राक्केवल–वि० [सं०] जो पहले से ही भिन्न रूप में प्रकट रहा हो।

प्राक्चरण–संज्ञा पुं० [सं०] योनि। भग।

प्राक्छाय–संज्ञा पुं० [सं०] जिस समय छाया पूर्व ओर पड़ती हो। अपराह्णकाल।

प्राक्तन–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म्म जो पहले किया जा चुका हो और आगे जिसका शुभ और अशुभ फल भोगना पड़े। भाग्य। प्रारब्ध।
वि० प्राचीन। पुराना। पहले का।

प्राक्फल–संज्ञा पुं० [सं०] कटहर।

प्राक्फाल्गुन–संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति ग्रह।

प्राक्फाल्गुनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र।

प्राक्संध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संधिकाल जो दिन के आरंभ में हो। सूर्योदय के समय का संधिकाल। सबेरा।

प्राक्सी–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) वह लेख जिसके द्वारा किसी संस्था का कोई सदस्य किसी दूसरे सदस्य आदि को अपना प्रतिनिधि नियत करके उसे अपनी ओर से उपस्थित होकर सम्मति प्रदान करने का अधिकार देता है। प्रतिनिधिपत्र। (२) प्रतिनिधि। वह व्यक्ति जो किसी दूसरे व्यक्ति के स्थान पर उसका कर्त्तव्य पालन करे।

प्राक्सौमिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्त्तव्य जो यजमान को सोमयाग के पूर्व कर लेना चाहिए। जैसे, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, पशुयाग।

प्राखर्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रखरता। तीक्ष्णता। तेजी।

प्रागभाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अभाव जिसके पीछे उसका प्रतियोगी भाव उत्पन्न होता है। किसी विशेष समय के पूर्व न होना। जैसे, घट, वस्त्र बनने के पूर्व नहीं थे। इस प्रकार के अभाव को वैशेषिक शास्त्र में प्रागभाव कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में यह पाँच प्रकार के अभावों में पहला माना गया है। (२) वह पदार्थ जिसका आदि न हो पर अंत हो। अनादि सांत पदार्थ।

प्रागल्भ्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रगल्भता। वीरता। (२) धीरता। (३) साहस। (४) निर्भयता। (५) घमंड। (६) चतुरता। (७) प्रधानता। प्रबलता।

प्रागार–संज्ञा पुं० [सं०] प्रासाद। भवन। महल।

प्रागुत्तरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा। ईशान कोण।

प्रागुदीची–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्व और उत्तर के बीच की दिशा। ईशान कोण।

प्राग्ज्योतिष–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत आदि के अनुसार कामरूप देश। यह देश आसाम में है। महाभारत के समय में यहाँ का राजा भगदत्त था और वह चीन और किरात की सेना लेकर महाभारत संग्राम में आया था। यह देश अपनी राजधानी प्राग्ज्योतिष के नाम से प्रख्यात है जिसे अब गोहाटी कहते हैं। यहाँ देवी योगनिद्रा का प्रधान स्थान है। पौराणिक दृष्टि से यह स्थान बहुत ही पवित्र और सर्वतोभद्रा नामक लक्ष्मी का निवासस्थान माना जाता है। कहते हैं कि नरकासुर की राजधानी यहीं थी। रामायण में लिखा है कि इस देश की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर को कुश के पुत्र अमूर्त्तरज ने बसाया था।

प्राग्ज्योतिषपुर–संज्ञा पुं० [सं०] प्राग्ज्योतिष देश की राजधानी जिसे अब गोहाटी कहते हैं। रामायण के अनुसार इस नगर को कुश के पुत्र अमूर्त्तरज ने बसाया था।

प्राग्दक्षिणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण और पूर्व के बीच की दिशा। दक्षिण-पूर्व।

प्राग्बोधि–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

प्राग्भक्त–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन करने के पहले का समय जो सुश्रुत के अनुसार औषध खाने के दस समयों में से एक है। दवा खाने के लिए भोजन करने से पहले का समय।

विशेष—सुश्रुत में लिखा है कि जो औषध भोजन करने से कुछ पहले खाया जाता है वह कै के रास्ते बाहर नहीं निकलता, खाया हुआ अन्न बहुत अच्छी तरह पचाता है और बल बढ़ाता है। बुड्ढों, बालकों, स्त्रियों और दुर्बलों आदि के लिये ऐसे ही समय दवा खाने का विधान है।

प्राग्भरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मतानुसार सिद्धशिला का एक नाम।

प्राग्भार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत के आगे का भाग । (२) उत्कर्ष । उन्नति ।

प्राग्रसर–वि० [सं०] (१) श्रेष्ठ । (२) प्रथम । पहला ।

प्राग्रहर–संज्ञा पुं० [सं०] मुख्य । श्रेष्ठ ।

प्राग्राट–संज्ञा पुं० [सं०] पतला दही । मठा ।

प्राग्र्य–वि० [सं०] श्रेष्ठ । बड़ा ।

प्राग्वंश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञशाला में वह घर जिसमें यजमानादि रहते हैं । यह घर हविर्गृह के पूर्व ओर होता है । (२) विष्णु ।

प्राग्वचन–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार मन्वादि महर्षियों के वचन ।

प्राग्वाट–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक नगर का नाम जो यमुना और गंगा के बीच में था । भरत जी केकय से अयोध्या आते समय इस नगर में से होकर आए थे ।

प्राघात–संज्ञा पुं० [सं०] भारी आघात । कड़ी चोट ।

प्राघूण–संज्ञा पुं० [सं०] अतिथि । मेहमान ।

प्राघूणिक–संज्ञा पुं० [सं०] अतिथि । मेहमान ।

प्राघूर्ण, प्राघूर्णिक–संज्ञा पुं० दे० "प्राघूण" या "प्राघूणिक" ।

प्राङ्न्याय–संज्ञा पुं० [सं०] किसी विवाद का पहले भी किसी न्यायालय में उपस्थित होकर निर्णीत हो चुकना ।

विशेष—व्यवहारशास्त्र के अनुसार यह अभियोग का एक प्रकार का उत्तर है जिसके उपस्थित होने पर यह विवाद नहीं चल सकता । यह उत्तर उसी समय दिया जा सकता है जब कि उपस्थित विवाद के संबंध में पहले ही न्यायालय में निर्णय हो चुका हो । अर्थात् प्रतिवादी कह सकता है कि पहले इस विवाद का निर्णय हो चुका है; फिर से इसका निर्णय होने की आवश्यकता नहीं ।

प्राङ्मुख–वि० [सं०] जिसका मुँह पूर्व दिशा की ओर हो । पूर्वाभिमुख ।

प्राच्–वि० [सं०] [स्त्री० प्राची] पूर्व ।

प्राचार–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा ।

प्राचार्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आचार्य्य । गुरु । शिक्षक । (२) विद्वान् । पंडित ।

प्राचिका–संज्ञा पुं० [सं०] डाँस की जाति की एक प्रकार की जंगली मक्खी ।

प्राची–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पूर्व दिशा । पूरब । (२) वह दिशा जो देवता के या अपने आगे की ओर हो । (३) जलआँवला ।

प्राचीन–वि० [सं०] (१) जो पूर्व देश में उत्पन्न हुआ हो । पूरब का । (२) जो पूर्व काल में उत्पन्न हुआ हो । पिछले जमाने का । पुराना । पुरातन । (३) वृद्ध । बुड्ढा ।

संज्ञा पुं० दे० "प्राचीर" ।

प्राचीन-काव्य-मिश्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह दृश्य काव्य जिसकी रचना प्राचीन काल में हुई हो और जिसका अभिनय भी प्राचीन काल में होता रहा हो । इसके पाँच भेद हैं—१ नाट्य, २ नृत्य, ३ नृत्त, ४ तांडव और ५ लास्य ।

प्राचीनकुल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जिन्हें अयांतरतम और प्राचीनगर्भ भी कहते हैं ।

प्राचीनगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जिनको प्राचीनकुल और अयांतरतम भी कहते हैं ।

प्राचीनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन होने का भाव । पुरानापन । जैसे, इस पुस्तक की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं हो सकता ।

प्राचीनतिलक–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

प्राचीनत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन होने का भाव । प्राचीनता । पुरानापन ।

प्राचीनपनस–संज्ञा पुं० [सं०] बेल का पेड़ ।

प्राचीनबर्हिस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र । (२) एक प्राचीन राजा का नाम । अग्निपुराणानुसार यह अग्निगोत्रीय राजा हविर्धान के पुत्र थे और प्रजापति कहलाते थे । प्रचेतागण इनके पुत्र थे ।

प्राचीनयोग–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम ।

प्राचीनशाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराना घर । (२) पूर्व दिशा का घर ।

प्राचीना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाठा । (२) रास्ना ।

वि० स्त्री० जो प्राचीन हो (प्राचीन का स्त्रीलिंग रूप) ।

प्राचीनामलक–संज्ञा पुं० [सं०] पानी आमला ।

प्राचीनावीत–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत धारण करने का एक प्रकार जिसमें बायाँ हाथ यज्ञोपवीत से बाहर रहता और यज्ञोपवीत दाहिने कंधे पर रहता है । यह उपवीत का उलटा है । इस प्रकार का यज्ञोपवीत पितृकार्य्य में धारण किया जाता है । पितृसव्य । सव्य ।

प्राचीनावीती–वि० [सं० प्राचीनावीतिन्] जो प्राचीनावीत यज्ञोपवीत धारण किए हो । सव्य ।

प्राचीनोपवीत–संज्ञा पुं० दे० "प्राचीनावीत" ।

प्राचीपति–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र ।

प्राचीर–संज्ञा पुं० [सं०] नगर या किले आदि के चारों ओर उसकी रक्षा के उद्देश्य से बनाई हुई दीवार । चहार-दीवारी । शहरपनाह । परकोटा ।

प्राचुर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रचुर होने का भाव । अधिकता । प्रचुरता । बहुतायत ।

प्राचेतस्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रचेतागण जो प्राचीनबर्हि के पुत्र थे और जिनकी संख्या दस थी । (२) वाल्मीकि मुनि

का नाम। (३) विष्णु। (४) दक्ष। (५) वरुण के पुत्र का नाम। (६) प्रचेता के अपत्य या वंशज।

प्राच्य–वि० [सं०] (१) पूर्व देश या दिशा में उत्पन्न। पूर्व का। (२) पूर्वीय। पूर्व संबंधी। जैसे, प्राच्य सभ्यता, प्राच्य-विद्या-महार्णव। (३) पूर्व काल का। पुराना। प्राचीन।

संज्ञा पुं० शरावती नदी के पूर्व का देश।

प्राच्यवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैताली वृत्ति के एक भेद का नाम जिसके सम पादों में चौथी और पांचवीं मात्रा मिलकर गुरु हो जाती हैं। उ०—हर हर भज जाम आठहूँ। तज सबै भरम रे करो यही। तन मन धन दे लगा सबै। पाइहौ परम धाम ही सही।

प्राच्यापन–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व के ऋषियों के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

प्राजक–संज्ञा पुं० [सं०] सारथी। रथ चलानेवाला।

प्राजहित–संज्ञा पुं० [सं०] गार्हपत्य अग्नि।

प्राजापत–संज्ञा पुं० [सं०] प्रजापति का धर्म्म या भाव।

प्राजापत्य–वि० [सं०] (१) प्रजापति संबंधी। (२) प्रजापति से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० (१) आठ प्रकार के विवाहों में चोथा। इसमें कन्या का पिता वर और कन्या को एकत्र कर उनसे यह प्रतिज्ञा कराता है कि हम दोनों मिलकर गार्हस्थ धर्म का पालन करेंगे; और फिर दोनों की पूजा करके वर को अलंकारयुक्त कन्या का दान करता है। ऐसे विवाह को काम भी कहते हैं। (२) एक व्रत का नाम जो बारह दिन का होता है। इस व्रत में पहले तीन दिन तक सायंकाल २२ ग्रास, फिर तीन दिन तक प्रातःकाल २६ ग्रास, फिर तीन दिन तक अपाचित अन्न २४ ग्रास खाकर अंत के तीन दिन उपवास करना पड़ता है। धर्मशास्त्रों में इस व्रत का विधान प्रायश्चित्त में किया गया है। (३) रोहिणी नक्षत्र। (४) यज्ञ। (५) प्रयाग का एक नाम।

प्राजापत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक इष्टि का नाम। यह प्रव्रज्याश्रम वा संन्यासाश्रम ग्रहण के समय की जाती है। इस यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा में दे दिया जाता है। (२) वैदिक छंदों के आठ भेदों में एक भेद।

प्राजिक–संज्ञा पुं० [सं०] बाज नामक पक्षी।

प्राजिता–संज्ञा पुं० [सं० प्राजितृ] सारथी।

प्राजी–संज्ञा पुं० [सं० प्राजिन्] एक प्रकार का पक्षी।

प्राजेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहिणी नक्षत्र। (२) वह चरु आदि पदार्थ जो प्रजापति देवता के लिये हों।

प्राज्ञ–वि० [सं०] [स्त्री० प्राज्ञा, प्राज्ञी] (१) बुद्धिमान्। समझदार। चतुर। (२) विज्ञ। पंडित। विद्वान्। (३) मूर्ख। बेवकूफ।

संज्ञा पुं० (१) वेदांतसार के अनुसार जीवात्मा। (२) पुराणानुसार कल्किदेव के बड़े भाई का नाम।

प्राज्ञत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चतुराई। बुद्धिमत्ता। (२) पांडित्य। विज्ञता। (३) मूर्खता। बेवकूफी।

प्राज्ञमानी–संज्ञा पुं० [सं० प्राज्ञमानिन्] वह जिसे अपने पांडित्य का अभिमान हो। जो अपने आपको विद्वान् या बुद्धिमान् समझता हो।

प्राज्ञी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य्य की भार्य्या का नाम।

प्राज्य–वि० [सं०] (१) प्रचुर। अधिक। बहुत। (२) जिसमें बहुत घी पड़ा हो।

प्राड्विवाक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो व्यवहार-शास्त्र का ज्ञाता हो और विवादों आदि का निर्णय करता हो। न्याय करनेवाला। न्यायाधीश। (प्राचीन काल में जो राजा स्वयं न्याय नहीं करते थे वे विद्वान् ब्राह्मणों को प्राड्विवाक या न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर देते थे। वे ही सब झगड़ों का फैसला किया करते थे।) (२) वह जो दूसरों के अभियोग आदि चलाता या उनका उत्तर देता हो। वकील।

प्राणंत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। (२) रसांजन।

प्राणंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षुधा। भूख। (२) हिक्का। हिचकी। (३) छींक।

प्राण––संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। (२) शरीर की वह वायु जिससे मनुष्य जीवित रहता है।

विशेष—हिंदुओं के शास्त्रों में देशभेद से दस प्रकार के प्राण माने गए हैं जिनके नाम प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनंजय हैं। इनमें पहले पांच (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) मुख्य हैं, और पंचप्राण कहलाते हैं। ये सब के सब मनुष्य के शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में काम किया करते हैं और उनके प्रकोप करने से मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। इन सब में प्राण सबसे प्रधान और मुख्य है। जिस वायु को हम अपने नथने द्वारा साँस से भीतर ले जाते हैं उसे प्राण कहते हैं। इसी पर मनुष्य, पशु आदि जंतुओं का जीवन है। इस वायु का मुख्य स्थान हृदय माना गया है। प्राण धारण करने ही के कारण साँस लेनेवाले जंतुओं को प्राणी कहते हैं। मरने पर श्वास-प्रश्वास, या वायु का गमनागमन बंद हो जाता है; इसलिये लोगों का कथन है कि मरने पर प्राण निकल जाते हैं। शास्त्रों में आँख, कान, नाक, मुँह, नाभी, गुदा, मूत्रेंद्रिय और ब्रह्मरंध्र आदि प्राणों के निकलने के मार्ग माने गए हैं। लोगों का कथन है कि मरने के समय मनुष्य के शरीर से जिस इंद्रिय

के मार्ग से प्राण निकलते हैं, वह कुछ अधिक फैल जाती है और ब्रह्मरंध्र से निकलने पर खोपड़ी चिटक जाती है। लोगों का विश्वास है कि जिस मनुष्य के प्राण नाभि से ऊपर के मार्गों से निकलते हैं उसकी सद्गति होती है और जिसके प्राण नाभि से नीचे के मार्गों से निकलते हैं उसकी दुर्गति वा अधोगति होती है। ब्रह्मरंध्र से प्राण निकलनेवाले के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसे निर्वाण वा मोक्ष पद प्राप्त होता है। प्राण शब्द का प्रयोग प्रायः बहुवचन में ही होता है। (३) जैन शास्त्रानुसार पाँच इंद्रियाँ; मनोबल, वाक्बल, और कायबल नामक त्रिविधबल तथा उच्छ्वास, निश्वास और आयु इन सब का समूह। (४) श्वास। साँस। (५) छांदोग्य ब्राह्मण के अनुसार प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन। (६) वाराहमिहिर और आर्य्यभट्ट आदि के अनुसार काल का वह विभाग जिसमें दस दीर्घ मात्राओं का उच्चारण हो सके। यह विनाड़िका का छठा भाग है। (७) पुराणानुसार एक कल्प का नाम जो ब्रह्मा के शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन पड़ता है। (८) बल। शक्ति। (९) जीवन। जान। उ०—(क) अंगद दीख दसानन बैसा। सहित प्राण कज्जल गिरि जैसा।—तुलसी। (ख) जय जय दशरथकुल-कमल-भान। जय कुमुद जनन शशि प्रजा प्रान।—सूर। (ग) प्राण दिए धन जायँ दिए सब। केशव राम न जाहिँ दिए अब।—केशव। (घ) ए! रे मेरे प्राण कान्ह प्यारे के चलाचल में तब तो चले न अब चाहत कितै चले।—पद्माकर।

यौ०—प्राण-अधार वा प्राणाधार। प्राणप्रिय। प्राणप्यारा। प्राणनाथ। प्राणपति इत्यादि।

विशेष—इस शब्द के साथ अंत में पति, नाथ, कांतादि शब्द समस्त होने पर पद का अर्थ प्रेमी वा पति होता है।

मुहा०—**प्राण उड़ जाना** =(१) होश हवास जाता रहना। बहुत घबराहट हो जाना। हक्का बक्का हो जाना। उ०—उसके देखने ही से उसमें के बच्चों का प्राण उड़ गया।—गदाधरसिंह। (२) डर जाना। भयभीत होना। **प्राण आना या प्राणों में प्राण आना** = घबराहट या भय कम होना। चित्त कुछ ठिकाने होना। हवास ठिकाने होना। **प्राण वा प्राणों का गले तक आना** = मरने पर होना। मरणासन्न होना। उ०—ठाने अठान जेठानिनहूँ सब लोगन हूँ अकलंक लगाए। सासु लरी गहि गाँस खरी ननदीन के बोल न जात गिनाए। एती सही जिनके लए मैं सखी तैं कहि कौने कहाँ बिलमाए। आय गले लगे प्राण पै कैसेहूँ कान्हर आज अजो नहिँ आए। **प्राण वा प्राणों का मुँह को आना वा चले आना** =(१) मरने पर होना। (२) अत्यंत दुःख होना। बहुत अधिक हार्दिक कष्ट होना। उ०—हाय हाय इसकी बातों से तो प्राण मुहँ को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है।—हरिश्चंद्र। **प्राण खाना** = बहुत तंग करना। बहुत सताना। **प्राण जाना, छूटना या निकलना**= जीवन का अंत होना। मरना। **प्राण डालना** = जीवन प्रदान करना। जीवन का संचार करना। **प्राण त्यागना, तजना वा छोड़ना** = मरना। उ०—प्रिय बिछुरन को दुसह दुख हरखि जात प्योसार। दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार।—बिहारी। **प्राण देना** = मरना। **किसी पर वा किसी के ऊपर प्राण देना** =(१) किसी के किसी काम से बहुत दुखी या रुष्ट होकर मरना। (२) किसी को बहुत अधिक चाहना। प्राणों से भी बढ़कर चाहना। **प्राण निकलना** =(१) मर जाना। मरना। (२) भय से होश हवास जाता रहना। घबरा जाना। भयभीत होना। **प्राण पयान होना** = प्राण निकलना। उ०—प्राण पयान होत को राखा। कोयल औ चातक मुख भाखा।—जायसी। **प्राणों पर आ पड़ना** = जीवन का संकट में पड़ना। जान जोखिम होना। बड़ी कठिनाई पड़ना। उ०—ब्रज बहि जाय ना कहूँ यों आई आँखिन ते, उमगि अनोखी घटा बरसति नेह की। कहै पद्माकर चलावै खान पान की को, प्राणन परी है आनि दहसति देह की।—पद्माकर। **प्राण वा प्राणों पर खेलना** = ऐसा काम करना जिसमें जान जाने का भय हो। प्राणों को संकट में डालना। उ०—तुम तो अपने ही मुख झूँठे। ......हमसों मिले बरष द्वादस दिन चारिक तुम सों तूठे। सूर आपने प्राणन खेलैं ऊधो खेलैं रुठे।—सूर। **प्राण वा प्राणों पर बीतना** =(१) जीवन संकट में पड़ना। जान जोखिम होना। उ०—ऐसे समय जब कि क्षण क्षण केटो के प्राण पर बीत रही है।—तोताराम। (२) जान निकल जाना। मर जाना। **प्राण बचाना** =(१) जीवन की रक्षा करना। जान बचाना। (२) जान छुड़ाना। पीछा छुड़ाना। **प्राण मुट्ठी में या हथेली पर लिये रहना** = जीवन को कुछ न समझना। प्राण देने पर उतारू रहना। उ०—रात दिन लीलायश गाती हैं और अवधि की आस किए प्राण मूठी में लिए हैं।—लल्लू। **प्राण रखना** =(१) जिलाना। जीवन देना। उ०—अचल करौं तन राखौं प्राना। सुनि हँसि बोलेउ कृपानिधाना।—तुलसी। (२) जान बचाना। जीवन की रक्षा करना। **प्राण लेना** = मार डालना। जान लेना। उ०—बलनिकेत साकेत चल्यो निज विजय हेतु बढ़ि: प्रेतराज सम समर खेत पर प्राण लेत चढ़ि।—गोपाल। **प्राण हरना** =(१) मारना। मार डालना। उ०—कौन के प्राण हरैं हम, यों दृग कानन लागि मतो चहैं बूझन। (२) अधिक दुःख देना। उ०—मिलत एक दारुण दुख देहीं। बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं।—तुलसी। **प्राण हारना** =(१) मर जाना।

उ०—सब जल तजे प्रेम के नाते ।...............समुझत मीन नीर की बातें तजत प्राण हठि हारत । जानि कुरंग प्रेम नहिं त्यागत यदपि व्याध शर मारत ।—सूर । (२) साहस टूट जाना । उत्साह न रह जाना । **प्राण या प्राणों से हाथ धोना**=जान देना । मर जाना ।

(१०) वह जो प्राणों के समान प्यारा हो । परम प्रिय । (११) वैवस्वत मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक ऋषि । (१२) हरिवंश के अनुसार धर नामक वसु के एक पुत्र का नाम । (१३) यकार वर्ण । (१४) एक साम का नाम । (१५) ब्रह्म । (१६) ब्रह्मा । (१७) विष्णु । (१८) धाता के पुत्र का नाम । (१९) अग्नि । आग । (२०) मूलाधार में रहनेवाली वायु ।

प्राण-अधार*†–संज्ञा पुं० [सं० प्राण+आधार] (१) वह जो प्राणों के समान प्यारा हो । बहुत प्रिय व्यक्ति । उ०—(क) चारिहु चक्र फिरौं मैं खोजत, दंड नाहिं थिर बार । होइकै भस्म पवन सँग धाओ जहाँ प्रान-अधार ।—जायसी । (ख) अब ही और की और होति कछु लागे, बाण ताते मैं पाती लिखी तुम प्राण-अधारा ।—सूर । (ग) अपने ही गेह मधुपुरी आवन देवकी प्राण-अधारा हो । असुर मारि सुर साध बढ़ावन ब्रजजन सुखदातारा हो ।—सूर । (२) पति । स्वामी ।

वि० प्रिय ।

प्राणक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवक वृक्ष । (२) जीव । प्राणी ।

प्राणकर–वि० [सं०] जिससे शरीर का बल बढ़े । शक्तिवर्द्धक । पौष्टिक ।

प्राणकष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] वह दुःख जो प्राण निकलते समय होता है । मरने के समय की पीड़ा ।

प्राणकांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रियव्यक्ति । प्यारा । (२) पति । स्वामी ।

प्राणकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह कष्ट जो मरने के समय होता है । प्राणकष्ट ।

प्राणग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] नासिका । नाक ।

प्राणघात–संज्ञा पुं० [सं०] मार डालना । हत्या । बध ।

प्राणघ्न–वि० [सं०] (वह विष आदि) जिससे प्राण निकल जायँ । प्राण लेनेवाला (जहर आदि) ।

प्राणच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] हत्या । वध ।

प्राणजीवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणाधार । (२) परम प्रिय व्यक्ति । अत्यंत प्रिय मनुष्य । उ०—रघुनाथ पियारे आजु रहो हो । चारि याम विश्राम हमारे छिन छिन मीठे वचन कहो हो । वृथा होइ वर वचन हमारो री कैकेयी जीव कल से रहो हो । आतुर ह्वै अब छाड़ि कोशलपुर प्राणजीवन कित चलन चहो हो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० विष्णु । जो प्राणों की रक्षा करते हैं ।

प्राणत्याग–संज्ञा पुं० [सं०] प्राण छोड़ देना । मर जाना ।

प्राणथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैन शास्त्रानुसार एक देवता, जो कल्पभव नामक वैमानिक देवताओं के अंतर्गत है । (२) वायु । हवा । (३) प्रजापति । (४) तीर्थ । पवित्र स्थान ।

वि० बलवान् । हृष्ट-पुष्ट । ताकतवाला ।

प्राणदंड–संज्ञा पुं० [सं०] किसी को हत्या अथवा इसी प्रकार के दूसरे अपराध के बदले में मार डालना । मौत की सजा ।

क्रि० प्र०—देना ।—होना ।

प्राणद–वि० [सं०] (१) प्राणदाता । जो प्राण दे । (२) प्राणों की रक्षा करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) जल । पानी । (२) रक्त । खून । (३) जीवक नामक वृक्ष । (४) विष्णु ।

प्राणदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हरीतकी । हर्रे । (२) ऋद्धि नामक ओषधि ।

प्राणदाता–संज्ञा पुं० [सं० प्राणदातृ] प्राण देनेवाला । प्राणद ।

प्राणदान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राण देना । (२) किसी को मरने या मारे जाने से बचाना ।

प्राणद्यूत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जान पर खेलना । अपने को ऐसी स्थिति में डालना जिसमें प्राण बचे या न बचे । जान जोखों में डालना । (२) जीवन का मोह छोड़कर युद्ध करना ।

प्राणधन–संज्ञा पु० [सं०] वह जो हृदय का सर्वस्व हो । अत्यंत प्रिय व्यक्ति । प्यारा । उ०—नंदजू के बारे कन्हैया छाड़ि दे मथनियाँ । बार बार कहे मात यशोमति रनियाँ । नेक रहौ माखन देउँ मेरे प्राणधनियाँ । आरि जिन करौ बलि जाउँ हो निधनी के धनियाँ ।—सूर ।

प्राणधार–वि० [सं०] प्राणवाला । जिसमें प्राण हों । जीवित ।

संज्ञा पुं० प्राणी । प्राणधारी । जीव ।

प्राणधारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवन धारण करने का भाव वा क्रिया । (२) शिव ।

प्राणधारी–वि० [सं० प्राणधारिन्] (१) जीवित । प्राणयुक्त । (२) जो साँस लेता हो । चेतन ।

संज्ञा पुं० प्राणयुक्त व्यक्ति । प्राणी । जंतु । जीव ।

प्राणन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवन । (२) चेष्टा करना । हिलना डोलना जिससे जीवित होने का प्रमाण मिले । (३) जल । पानी ।

प्राणनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्राणनाथा] (१) प्रिय व्यक्ति । प्यारा । प्रियतम । (२) पति । स्वामी । (३) एक संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य्य का नाम । ये जाति के क्षत्रिय थे और औरंगजेब के समय में हुए थे । हिंदुओं और मुसलमानों के धर्म्म की एकता पर उनके अनेक ग्रंथ मिलते हैं । कहते हैं कि पन्ना के राजा छत्रसाल इनके शिष्य थे । कबीर,

नानक आदि के समान ये भी आजन्म साधु होकर हिंदू और मुसलमान धर्म की एकता के संबंध में उपदेश देते रहे। इनके संप्रदाय के लोग बुंदेलखंड में बहुत हैं। ये लोग मूर्ति पूजा नहीं करते और प्राणनाथ के ग्रंथों की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। इस संप्रदाय में प्रवेश करते समय इस संप्रद्मायवालों के साथ चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान एक साथ बैठकर खाना पड़ता है और सब बातों में हिंदू और मुसलमान अपने अपने पूर्वजों के आचार व्यवहार मानते हैं। हिंदू मुसलमान दोनों मत के लोग इस संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण करते हैं।

प्राणनाथी–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणनाथ के संप्रदाय का पुरुष। (२) स्वामी प्राणनाथ का चलाया हुआ संप्रदाय।

प्राणनाश–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणों का नष्ट हो जाना या कर देना। हत्या या मृत्यु। जैसे, कल एक नाव डूब जाने के कारण कई आदमियों का प्राणनाश हुआ।

प्राणनाशक–वि० [सं०] प्राण लेनेवाला। मार डालनेवाला।

प्राणनिग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम।

प्राणपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आत्मा। (२) हृदय। (३) पति। स्वामी। (४) प्रिय व्यक्ति। प्यारा। उ०—करि मन नंद-नंदन ध्यान। सेउ चरन सरोज सीतल तजि विषयरस पान। ...सूर श्रीगोपाल की छबि दृष्टि भरि भरि लेहिं। प्राणपति की निरखि शोभा पलक परन न देहिं।—सूर।

प्राणपरिग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणधारण करना। जन्म लेना।

प्राणपरिवर्तन–संज्ञा पुं० [सं०] किसी मृत पुरुष की आत्मा को किसी जीवित पुरुष के शरीर में बुलाना। (मिस्मेरिज़्म)

प्राणप्यारा–संज्ञा पुं० [हिं० प्राण + प्यारा] [स्त्री० प्राणप्यारी] (१) प्रियतम। अत्यंत प्रिय व्यक्ति। उ०—प्राणन की हानि सी दिखान सी लगी है हाय कौन गुन जानि मान कीन्हों प्राणप्यारे सों।—पद्माकर। (२) पति। स्वामी। उ०—खानपान पीछूँ करति सोवति पिछले छोर। प्राण पियारे ते प्रथम जगति भावती भोर —पद्माकर।

प्राणप्रतिष्ठा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१)प्राण धारण कराना। (२) हिंदू धर्मशास्त्रों के अनुसार किसी नई बनी हुई मूर्ति को मंदिर आदि में स्थापित करते समय मंत्रों द्वारा उसमें प्राण का आरोप करना।

विशेष—साधारणतः जब तक किसी मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा न हो ले तब तक वह मूर्ति पूजा के योग्य नहीं होती और उसकी गणना साधारण धातु, मिट्टी या पत्थर आदि में होती है। प्राणप्रतिष्ठा के उपरांत ही उस मूर्ति में देवता का आना माना जाता है।

प्राणप्रद–वि० [सं०] (१) प्राणदाता। जो प्राण दे। (२) स्वास्थ्य-वर्धक। शरीर का स्वास्थ्य और बल आदि बढ़ानेवाला।

प्राणप्रदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] ऋद्धि नामक ओषधि।

प्राणप्रदायक–वि० [सं०] प्राणदाता। प्राणप्रद।

प्राणप्रिय–वि० [सं०] [स्त्री० प्राणप्रिय] जो प्राण के समान प्रिय हो। प्रियतम।

संज्ञा पुं० (१) अत्यंत प्रिय व्यक्ति। प्राणप्यारा। (२) पति।

प्राणबल्लभ–संज्ञा पुं० दे० "प्राणवल्लभ"।

प्राणभृत्–वि० [सं०] (१) प्राण धारण करनेवाला। (२) प्राणपोषक।

संज्ञा पुं० (१) जीव। प्राणी। (२) विष्णु।

प्राणमय–वि० [सं०] प्राण संयुक्त। जिसमें प्राण हों।

प्राणमय कोश–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत के अनुसार पाँच कोशों में से दूसरा। यह पाँच प्राणों से जिन्हें प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान कहते हैं, बना हुआ माना जाता है। वेदांतसार में पाँचों कर्मेंद्रियों को भी प्राणमय कोश के अंतर्गत माना है। इसी प्राणमय कोश से मनुष्य को सुख दुःखादि का बोध होता है। सूक्ष्म प्राण सारे शरीर में फैल-कर मन को सुख दुःख का ज्ञान कराते हैं। यही कोश बौद्ध ग्रंथों में वेदनास्कंध माना गया है।

प्राणयम–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम।

प्राणयात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्वास प्रश्वास के आने जाने की क्रिया। साँस का आना जाना। (२) भोजनादि जो जीवन के साधनभूत हैं। वे व्यापार जिनसे मनुष्य जीवित रहता है।

प्राणयोनि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर। (२) वायु। हवा।

प्राणरंध्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नासिका। नाक। (२) मुख। मुँह।

प्राणरोध, प्राणरोधन–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम।

प्राणवध–संज्ञा पुं० [सं०] हत्या। प्राणघात। जान से मार डालना।

प्राणवल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत प्यारा हो। अत्यंत प्रिय। (२) स्वामी। पति।

प्राणवान्–संज्ञा पुं० [सं० प्राणवत्] वह जिसमें प्राण हों। प्राणी। जीव।

प्राणवायु–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राण। उ०—प्राणवायु पुनि आइ समावै। ताको इत उत पवन चलावै।—सूर। (२) जीव।

प्राणविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] उपनिषदों का वह प्रकरण जिसमें प्राण का वर्णन है।

प्राणवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राण, अपान, उदान आदि पंच प्राणों का कार्य्य।

प्राणव्यय–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणनाश। मृत्यु।

प्राणशरीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपनिषदों के अनुसार एक सूक्ष्म शरीर जो मनोमय माना गया है। इसी को विज्ञान और क्रिया का हेतु मानते हैं। (२) परमेश्वर।

प्राणशोषण–संज्ञा पुं० [सं०] बाण ।

प्राणसंकट–संज्ञा पुं० [सं०] वह कष्ट जो प्राणों पर हो । जान जोखिम ।

प्राणसंदेह–संज्ञा पुं० [सं०] जीवन की आशंका । वह अवस्था जिसमें जान जाने का डर हो ।

प्राणसंन्यास–संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु । मौत ।

प्राणसंभूत–संज्ञा पुं० [सं०] वायु । हवा ।

प्राणसंभृत्–संज्ञा पुं० [सं०] वायु ।

प्राणसंयम–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम ।

प्राणसंवाद–संज्ञा पुं० [सं०] उपनिषद् का वह प्रकरण जिसमें प्राण की श्रेष्ठता दिखाने के लिये प्राण का ग्यारह इंद्रियों के साथ विवाद कराया गया है और अंत में सबसे प्राण की श्रेष्ठता स्वीकार कराई गई है ।

प्राणसंशय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जीवन की आशंका । प्राणसंकट । (२) मरणासन्नता ।

प्राणसंहिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदों के पढ़ने का एक क्रम । इसमें एक साँस में जहाँ तक अधिक हो सके पाठ किया जाता है ।

प्राणसार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बल । शक्ति । ताकत । (२) वह जिसमें बहुत बल हो । बलिष्ठ । ताकतवर ।

प्राणसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] जीवनसूत्र ।

प्राणहंता–वि० [सं० प्राणहंतृ] प्राणघातक । प्राण लेनेवाला ।

प्राणहर–वि० [सं०] (१) मारक । नाशक । घातक । प्राण लेनेवाला । (२) बलनाशक । शक्ति नष्ट करनेवाला ।

संज्ञा पुं० विष आदि जिससे प्राण निकल जाते हों ।

प्राणहारक–संज्ञा पुं० [सं०] वत्सनाभ ।

वि० प्राण लेनेवाला । प्राणनाशक ।

प्राणहारी–संज्ञा पुं० [सं० प्राणहारिन्] प्राण लेनेवाला । प्राणनाशक ।

प्राणहानि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अवस्था जिसमें प्राणों पर संकट हो । जान-जोखिम ।

प्राणांत–संज्ञा पुं० [सं०] मरण । प्राणनाश । मृत्यु ।

प्राणांतक–वि० [सं०] प्राण लेनेवाला । जान लेनेवाला । घातक । जैसे, प्राणांतक कष्ट होना ।

प्राणाग्निहोत्र–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन के समय पहले पाँच ग्रास निकालकर एक एक ग्रास को 'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा', 'व्यानाय स्वाहा', 'उदानाय स्वाहा' और 'समानाय स्वाहा' इस प्रकार एक एक मंत्र पढ़कर खाने की क्रिया ।

प्राणाघात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीड़ा । कष्ट । (२) हिंसा । हत्या । मार डालना ।

प्राणातिपात–संज्ञा पुं० [सं०] जीवहिंसा । जान से मार डालना ।

प्राणातिपात विरमण–संज्ञा पुं० [सं०] जैन मतानुसार अहिंसा व्रत । यह दो प्रकार का होता है—द्रव्य प्राणातिपात विरमण और भाव प्राणातिपात विरमण । इस व्रत के पाँच अतिचार हैं, बध, बंध, छेदविच्छेद, अतिभारारोपण और भोगव्यवच्छेद ।

प्राणात्मा–संज्ञा पुं० [सं० प्राणात्मन्] प्राण । लिंगात्मा । जीवात्मा ।

प्राणात्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणनाश । (२) मृत्युकाल मरने का समय ।

प्राणाद–वि० [सं०] प्राणनाशक ।

प्राणाधार–वि० [सं०] अत्यंत प्रिय । प्यारा ।

संज्ञा पुं० (१) प्रेमपात्र । (२) पति । स्वामी ।

प्राणाधिक–वि० [सं०] [स्त्री० प्राणाधिका] प्राणों से अधिक प्रिय । बहुत प्यारा ।

संज्ञा पुं० पति । स्वामी ।

प्राणाधिनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] पति । स्वामी ।

प्राणाधिप–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणों के अधिष्ठाता देवता ।

प्राणापान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राण और अपान वायु । (२) अश्विनीकुमार ।

प्राणाबाध–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणसंशय ।

प्राणायतन–संज्ञा पुं० [सं०] प्राणों के निकलने का प्रधान स्थान वा मार्ग । याज्ञवल्क्य संहिता में दोनों कान, नाक के दोनों छेद, दोनों आँखें, गुदा, लिंग और मुख के द्वार ये प्राण निकलने के नौ प्रधान मार्ग गिनाए गए हैं । इन्हीं मार्गों से प्राणियों के शरीर से मृत्यु के समय प्राण निकलते हैं ।

प्राणायाम–संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्रानुसार योग के आठ अंगों में चौथा । श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद को पतंजलि दर्शन में प्राणायाम माना है । बाहर की वायु को भीतर ले जाना श्वास और भीतर की वायु को बाहर फेंकना प्रश्वास है । इन दोनों प्रकार की वायुओं की गतियों को प्रयत्नपूर्वक धीरे धीरे कम करने का नाम प्राणायाम है । इसकी तीन वृत्तियाँ मानी गई हैं–बाह्य, आभ्यंतर और स्तंभ । इन्हीं तीनों को रेचक, पूरक और कुंभक भी कहते हैं । भीतर की वायु को बाहर फेंकना रेचक, बाहर की वायु को भीतर ले जाना पूरक और भीतर खींची हुई वायु को उदरादि में भरना कुंभक कहलाता है । इसके अतिरिक्त एक और शक्ति है जिसे बाह्याभ्यंतर विषयाक्षेपी कहते हैं । इसमें श्वास प्रश्वास की बाह्य और आभ्यंतर दोनों वृत्तियों का निरोध करके उसे रोक देते हैं । इन चारों वृत्तियों के देश-काल और संख्या के भेद से दीर्घ और सूक्ष्म नामक दो दो भेद होते हैं । योगशास्त्र में प्राणायाम की बड़ी महिमा है । पतंजलि ने इसका फल यह माना है कि इससे प्रकाश का आवरण क्षीण होता है और धारणा

में, जो योग का छठा अंग है, योग्यता होती है। प्राण के निरोध से चित्त की चंचलता निवृत्त होती है और फिर योगी को प्रत्याहार सुगम होता है। योगाभ्यास के लिये यह प्रधान कर्म माना गया है। इसके अतिरिक्त संध्या का प्राणायाम एक अंग है। शास्त्रों में इसे सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ तप माना है और कहा गया है कि प्राणायाम करने से सब प्रकार के पाप नष्ट होते हैं।

प्राणायामी–वि० [सं० प्राणायामिन्] प्राणायाम करनेवाला। जो प्राणायाम करे।

प्राणाय्य–वि० [सं०] योग्य। उपयुक्त।

प्राणासन–संज्ञा पुं० [सं०] तंत्रानुसार एक प्रकार का आसन।

प्राणाहुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वे पाँच ग्रास जो भोजन के पूर्व "प्राणाय स्वाहा", "अपानाय स्वाहा", "व्यानाय स्वाहा", "समानाय स्वाहा" और "उदानाय स्वाहा" मंत्र से खाए जाते हैं। इसे प्राणाग्निहोत्र भी कहते हैं।

प्राणि–संज्ञा पुं० दे० 'प्राणी'।

प्राणिद्यूत–संज्ञा पुं० [सं०] धर्मशास्त्रानुसार वह बाजी जो मेढ़े, तीतर, घोड़े आदि जीवों की लड़ाई या दौड़ आदि पर लगाई जाय।

पर्य्या०—समाह्वया। साह्वय।

प्राणिमाता–संज्ञा स्त्री० [सं० प्राणिमातृ] गर्भदात्री नाम का क्षुप।

प्राणिहित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पादुका। खड़ाऊँ। (२) जूता।

प्राणी–वि० [सं० प्राणिन्] प्राणधारी। जिसमें प्राण हों।

संज्ञा पुं० (१) जंतु। जीव। (२) मनुष्य। (३) व्यक्ति। जैसे, तुम्हारे घर में कितने प्राणी हैं?

‡ संज्ञा स्त्री०, पुं० पुरुष वा स्त्री।

मुहा०—दोनों प्राणी = दंपति। स्त्री पुरुष।

विशेष—किसी किसी प्रांत में पुरुष अपनी स्त्री के लिये और स्त्री अपने पति के लिये 'प्राणी' शब्द का व्यवहार करते हैं।

प्राणेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पति। स्वामी। (२) प्यारा। प्रेमी व्यक्ति।

प्राणेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्राणेश्वरी] (१) पति। स्वामी। (२) प्रेमी व्यक्ति। बहुत प्यारा।

प्राणोपहार–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन। आहार। खाना।

प्रात–अव्य० [सं० प्रातः] सबेरे। तड़के। प्रभात के समय। उ०—(क) एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तृण पात। कहहिँ गँवाइय छिनुकु श्रम, गवनब अबहिं कि प्रात।—तुलसी। (ख) बनमाली दिसि सैन कै ग्वाली चाली बात। आली जमुना जाउँगी काली पूजन प्रात।—शृं० स०।

संज्ञा पुं० सबेरा। प्रातःकाल। सूर्य्योदय के पूर्व का काल। उ०—(क) प्रात भए सब भूप, बनि बनि मंडप में गए। जहाँ रूप अनुरूप, ठौर ठौर सब शोभिजै।—केशव। (ख) साँझ भए पुनि जाय शयन ठौरहि तहँ सोवति। करत दुःख की हानि प्रात लौं रोवति रोवति।—श्रीधर।

प्रातः–संज्ञा पुं० [सं० प्रातर्] सबेरा। प्रभात। तड़का।

प्रातःकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] वह कर्म जो प्रातःकाल किया जाता हो। सबेरे किए जानेवाले कृत्य। जैसे, शौच, स्नान, संध्योपासन आदि।

प्रातःकाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रात के अंत में सूर्य्योदय के पूर्व का काल। यह तीन मुहूर्त का माना गया है। जिस समय सूर्य्य उदय होने को होता है, उससे डेढ़ दो घंटा पहले पूर्व दिशा में कुछ प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है और उधर के नक्षत्रों का रंग फीका पड़ना प्रारंभ होता है। तभी से इस काल का आरंभ माना जाता है। (२) सबेरे का समय। सूर्य्योदय के कुछ देर बाद तक का समय।

प्रातःकार्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह काम जिसे प्रातःकाल करने का विधान है। प्रातःकृत्य। जैसे, शौच, स्नान, संध्योपासन आदि।

प्रातःकालीन–वि० [सं०] प्रातःकाल संबंधी। प्रातःकाल का।

प्रातःसंध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संध्या जो प्रातःकाल में की जाय।

प्रातःसवन–संज्ञा पुं० [सं०] तीन प्रधान सवनों या सोमयागों में से पहला सवन।

प्रातःस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्नान जो प्रातःकाल में किया जाय। सबेरे का स्नान।

प्रातःस्नायी–वि० [सं० प्रातःस्नायिन्] जो प्रातःकाल स्नान करता हो। सबेरे नहानेवाला।

प्रातःस्मरण–संज्ञा पुं० [सं०] प्रातःकाल के समय ईश्वर, देवतादि के नामों का स्मरण या जप आदि करने की क्रिया या भाव। सबेरे के समय ईश्वर का भजन करना।

प्रातःस्मरणीय–वि० [सं०] जो प्रातःकाल स्मरण करने के योग्य हो। श्रेष्ठ। पूज्य।

प्रातनाथ–संज्ञा पुं० [सं० प्रातः + नाथ] सूर्य्य। उ०—सूर छिप्यो पश्चिम प्रकाश्यो शशि प्राची दिसि, चक्रवाक बिछुरे चकोर सुख पायो है। कुमुदिनी फूली कुंद मूँदे भौंर बाँधे बीच, प्रातनाथ बूड़ो मानों कालकूट खायो है। आधी राति बीती सब सोए जिय जान आन, राक्षसी प्रभंजनी प्रभाव सो जनायो है। बीजरी सी फुरी भाँत बुरी हाथ छुरी लोह चुरी डीठ जुरी देखि अनद लजायो है।—हनुमान।

प्रातर–अव्य० [सं०] प्रभात। सबेरे।

संज्ञा पुं० पुष्यार्ण और प्रभा के पुत्र, एक देवता का नाम।

प्रातर–संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

प्रातरनुवाक्–संज्ञा पुं० [सं०] ऋग्वेद के अंतर्गत वह अनुवाक् जो प्रातः सवन नामक कर्म में पढ़ा जाता है।

प्रातरभिवादन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रातःकाल का प्रणाम। वह अभिवादन जो प्रातःकाल सोकर उठने के समय किया जाय।

प्रातरह्न-संज्ञा पुं० [सं०] दोपहर के पहले का समय। पूर्वाह्न।

प्रातराश-संज्ञा पुं० [सं०] प्रातःकाल का हलका भोजन। जलपान। कलेवा।

प्रातराहुति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह आहुति जो प्रातःकाल दी जाय। अग्निहोत्र का द्वितीयांश।

प्रातर्दन-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतर्द्दन के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। प्रतर्द्दन का अपत्य।

प्रातर्भोक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

प्रातस्त्रिवर्गा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

प्राति-संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठे और तर्जनी के बीच का स्थान। पितृ-तीर्थ।

प्रातिकंठित-वि० [सं०] गला पकड़नेवाला।

प्रातिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जवा का पेड़।

प्रातिकामी-संज्ञा पुं० [सं० प्रातिकामिन्] (१) सेवक। नौकर। (२) दुर्योधन के एक दूत का नाम।

प्रातिपदिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) संस्कृत व्याकरण के अनुसार वह अर्थवान् शब्द जो धातु न हो और न उसकी सिद्धि विभक्ति लगने से हुई हो। जैसे, पेड़, अच्छा आदि। प्रातिपदिक के अंतर्गत ऐसे नाम, सर्वनाम, तद्धितांत कृदंत और समासांत पद आते हैं जिनमें कारक की विभक्तियाँ न लगाई गई हों। व्याकरण में उनकी "प्रातिपदिक" संज्ञा केवल विभक्तियों को लगाकर उनसे सिद्ध पद बनाने के लिये की गई है।

प्रातिपीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम। (२) एक ऋषि का नाम जो गोत्रप्रवर्तक थे।

प्रातिपेय-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

प्रातिभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार उन पाँच प्रकार के उपसर्गों या विघ्नों में से एक प्रकार का विघ्न जो योगियों के योग में हुआ करते हैं। यह विघ्न प्रतिभा के कारण हुआ करता है और इसमें योगी के मन में सब वेदों और शास्त्रों आदि के अर्थ और अनेक प्रकार की विद्याओं तथा कलाओं आदि का ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। (२) वह जिसमें प्रतिभा हो। प्रतिभाशाली।

प्रातिभाव्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिभू का भाव। जमानत। जामिनी।

प्रातिभासिक-वि० [सं०] (१) प्रतिभास-संबंधी। अनुरूपक। (२) जो वास्तव में न हो पर भ्रम के कारण भासित हो। जैसे, रज्जु में सर्प का ज्ञान प्रातिभासिक है। (३) जो व्यावहारिक न हो।

प्रातिलोमिक-वि० [सं०] (१) आनुलोमिक का उलटा। प्रतिलोम से उत्पन्न। (२) विपक्ष। विरुद्ध। अप्रीतिकर। जो भला न जान पड़े।

प्रातिलोम्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिलोम का भाव। (२) विरुद्धता। (३) प्रतिकूलता।

प्रातिवेशिक-संज्ञा पुं० [सं०] पड़ोसी। प्रतिवेशी।

प्रातिवेश्मक-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रातिवेश्मिकी] पड़ोसी।

प्रातिवेश्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पड़ोस। (२) पड़ोसी। (३) वह पड़ोसी जिसका द्वार अपने द्वार के ठीक सामने हो। आनुवेश्य का उलटा।

प्रातिवेश्यक-संज्ञा पुं० [सं०] पड़ोसी।

प्रातिशाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह ग्रंथ जिसमें वेदों के किसी शाखा के स्वर, पद, संहिता, संयुक्त वर्ण इत्यादि के उच्चारण आदि का निर्णय किया गया हो। वेदों की प्रत्येक शाखा की संहिताओं पर एक एक प्रातिशाख्य थे और उनके कर्ताओं के मत का उल्लेख यथास्थान मिलता है। पर आजकल इस विषय के केवल पाँच छः ग्रंथ मिलते हैं।

प्रातिस्विक-वि० [सं०] (१) अपना। निज का। (२) अपना अपना। प्रत्येक का यथाक्रम पृथक् पृथक्। (३) जिसमें कुछ असाधारणता हो।

प्रातिहत-संज्ञा पुं० [सं०] स्वरित।

प्रातिहर्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिहर्ता का कर्म। (२) प्रतिहर्ता का भाव। प्रतिहर्ता-पन।

प्रातिहार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाग का खेल करनेवाला। मायावी। जादूगर। (२) द्वारपाल। प्रतिहार।

प्रातिहारिक-वि० [सं०] प्रतिहार संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) द्वारपाल। (२) लाग का खेल करनेवाला। जादूगर। मायावी।

प्रातिहार्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्वारपाल का काम। (२) माया। लाग। इंद्रजाल।

प्रातीतिक-वि० [सं०] (१) जिसकी प्रतीति केवल चिंता या कल्पना के द्वारा मन में होती हो। जो केवल कल्पना और चिंतन से भासमान होता हो। प्रातिभासिक। (२) जिसकी प्रतीति स्वयं किसी को हो।

प्रातीप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतीप का अपत्य। (२) प्रतीप के पुत्र शांतनु।

प्रातीपिक-वि० [सं०] (१) प्रतिकूल आचरण करनेवाला। विरुद्धाचारी। (२) विपरीत। उलटा।

प्रातृद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम।

प्रात्यंतिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह राज्य जो सीमाप्रांत में हो। ऐसा राज्य जो दो राज्यों की सीमा के मध्य में हो। (२) सीमा की रक्षा के लिये नियुक्त पुरुष।

प्रात्यक्ष-वि० [सं०] प्रत्यक्ष संबंधी।

प्रात्यग्रथि–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिग्रथ के गोत्र में उत्पन्न पुरुष ।

प्रात्ययिक–संज्ञा पुं० [सं०] मिताक्षरा के अनुसार तीन प्रकार के प्रतिभू में से दूसरा । वह जो किसी की पहचान करके उसका प्रतिभू बने ।

प्रात्यहिक–वि० [सं०] दैनिक । प्रतिदिन का ।

प्राथमिक–वि० [सं०] (१) पहले का । जो पहले उत्पन्न हुआ हो । (२) प्रारंभिक । आदिम ।

प्राथम्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रथम का भाव । प्रथमता । पहलापन ।

प्रादक्षिण्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रदक्षिण संबंधी ।

प्रादानिक–वि० [सं०] जो दान करने के योग्य हो ।

प्रादुराक्षि–संज्ञा पुं० [सं०] गोत्र प्रवरकार एक ऋषि का नाम ।

प्रादुर्भाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आविर्भाव । प्रकट होना । अस्तित्व में आना । तिरोभाव का उलटा । (२) विकाश । (३) उत्पत्ति ।

प्रादुर्भूत–वि० [सं०] (१) आविर्भूत । प्रकटित । जिसका प्रादुर्भाव हुआ हो । (२) विकसित । निकला हुआ । (३) उत्पन्न ।

प्रादुर्भूतमनोभवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] केशव के अनुसार मध्या के चार भेदों में एक । इसके मन में काम का पूरा प्रादुर्भाव होता है और कामकला के समस्त चिह्न प्रकट होते हैं । साहित्यदर्पण में इसे प्ररूढ़स्मर यौवना लिखा है । उ०—आजु मैं देखिहै गोपसुता इक होइ न ऐसि अहीर की जाई । देखति ही रहिए द्युति देह की देखत्तैं औरन देखि सुहाई । एकहि बंक विलोकनि ऊपर वारौं विलोक त्रिलोक निकाई । केशव दास कलानिधि सो वरु बूझिहै काम कि मेरो कन्हाई ।—केशव ।

प्रादुष्करण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी अप्रकट वस्तु को प्रकट करने का भाव । प्रदर्शन । उत्पादन । प्रकटीकरण । (२) दृष्टिगोचरकरण । दिखलाना ।

प्रादुष्कृत–वि० [सं०] (१) जिसका प्रादुष्करण हुआ हो । जो प्रकट किया गया हो । (२) प्रदर्शित । जो दिखलाया गया हो ।

प्रादुष्कृत्य–वि० [सं०] (१) उत्पाद्य । (२) प्रकट करने योग्य । जो दिखलाने के योग्य हो ।

प्रादुष्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रादुर्भाव ।

प्रादेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक मान । यह अँगूठे की नोक से लेकर तर्जनी की नोक तक का होता था और नापने के काम आता था । (२) तर्जनी और अँगूठे के बीच का भाग । (३) प्रदेश । स्थान ।

प्रादेशिक–वि० [सं०] (१) प्रदेश संबंधी । किसी एक प्रदेश का । प्रांतिक । (२) प्रसंगगत । प्रसंगानुसार । विषयानुसार । संज्ञा पुं० (१) सामंत । जमीनदार या सरदार आदि । (२) सूबेदार ।

प्रादेशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तर्जनी ।

प्रादोष–वि० [सं०] प्रदोष संबंधी । प्रदोष से संबंध रखनेवाला ।

प्राधनिक–वि० [सं०] लड़ाका ।

संज्ञा पुं० युद्ध का उपकरण । लड़ाई का सामान ।

प्राधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कश्यप की एक स्त्री और दक्ष की एक कन्या का नाम । पुराणों में इसे गंधर्वों और अप्सराओं की माता बतलाया है ।

प्राधानिक–वि० [सं०] प्रधान । प्रधान संबंधी ।

प्राधान्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रधानता । श्रेष्ठता । (२) मुख्यता ।

प्राध्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लंबी राह । बहुत बड़ा रास्ता । (२) जिस वस्तु पर सवार होकर लोग लंबी यात्रा करें । सवारी । (३) पहर । (४) विनय । (५) बंध ।

प्राध्वन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सड़क । (२) नदी का गर्भ ।

प्राध्वर–संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष की शाखा । पेड़ की डाल ।

प्रान–संज्ञा पुं० दे० "प्राण" ।

प्रानी–संज्ञा पुं० दे० "प्राणी" ।

प्रापक–वि० [सं०] (१) प्राप्ति संबंधी । (२) पानेवाला । जो पाने योग्य हो । (३) प्राप्त होनेवाला ।

प्रापण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रापणीय, प्राप्य, प्राप्त] (१) प्राप्ति । मिलना । (२) प्रेरण । (३) ले आना ।

प्रापणिक–संज्ञा पुं० [सं०] सौदा या माल बेचनेवाला ।

प्रापणीय–वि० [सं०] जो मिलने योग्य हो । प्राप्य ।

प्रापति*†–संज्ञा स्त्री० दे० "प्राप्ति" ।

प्रापना*†–क्रि० स० [सं० प्रापण] प्राप्त होना । मिलना ।

प्रापी–वि० [सं० प्रापिन्] प्राप्त करनेवाला । जिसे कुछ मिले ।

प्राप्त–वि० [सं०] (१) लब्ध । प्रस्थापित । (२) उत्पन्न । (३) समुपस्थित । (४) पाया हुआ । जो मिला हो ।

प्राप्तकाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोई काम करने योग्य समय । (२) उपयुक्त काल । उचित समय । (३) मरण योग्य काल

वि० समयप्राप्त । जिसका काल आ गया हो ।

प्राप्तजीवन–वि० [सं०] जो रोग आदि के कारण मरते मरते बचा हो । जिसकी नई जिंदगी हुई हो ।

प्राप्तदोष–वि० [सं०] जिसने कोई दोष या अपराध किया हो ।

प्राप्तपंचत्व–वि० [सं०] जो पंचत्व प्राप्त कर चुका हो । मरा हुआ । मृत ।

प्राप्तबुद्धि–वि० [सं०] (१) चतुर । बुद्धिमान् । (२) जो बेहोश होने के बाद फिर होश में आया हो ।

प्राप्तभार–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बोझ ढोता हो ।

प्राप्तयौवन–वि० [सं०] जिसका यौवन काल आ गया हो । जवान ।

प्राप्तरूप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्वान् । पंडित । (२) रूपवान् । सुंदर ।

प्राप्तव्य–वि० [सं०] जो मिलने को हो। मिलनेवाला। प्राप्य।

प्राप्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपलब्धि। प्रापण। मिलना। (२) पहुँच। (३) अधिगम। अर्जन। (४) उदय। (५) अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों में से एक जिससे वांछित पदार्थ मिलता है अथवा सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। (६) फलित ज्योतिष के अनुसार चंद्रमा का ग्यारहवाँ स्थान, जिसे लाभ भी कहते हैं। (७) भाग्य। (८) व्याप्ति। प्रवेश। प्रवृत्ति। (९) जरासंध की एक पुत्री का नाम जो कंस से ब्याही थी। (१०) काम की पत्नी का नाम। (११) आय। (१२) मेल। संगति। (१३) लाभ। फायदा। (१४) समिति संघ। (१५) नाटक का सुखद उपसंहार।

प्राप्तिसम–संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रत्यवस्थान वा आपत्ति जो हेतु और साध्य को ऐसी अवस्था में जब कि दोनों प्राप्य हों, अविशिष्ट बतलाकर की जाय। यह एक प्रकार की जाति है। जैसे, एक मनुष्य कहता है कि पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वह धूमवान् है; जैसे, पाकगृह। इस पर वादी के इस कथन पर कि पर्वत धूमवान् है, क्योंकि वह वह्निमान् है जैसे, पाकगृह; प्रतिवादी यह आपत्ति करता है कि जहाँ जहाँ अग्नि है क्या वहाँ धूम सदा रहता है अथवा कभी नहीं भी रहता। यदि सर्वत्र रहता है तो साध्य और साधक में कोई अंतर नहीं, फिर तो धूम अग्नि का वैसे ही साधक हो सकता है जैसे अग्नि धूम का। इसे प्राप्तिसम जाति कहते हैं।

प्राप्य–वि० [सं०] (१) पाने योग्य। प्राप्त करने योग्य। प्राप्तव्य। (२) गम्य। (३) जो पहुँच में हो। जिस तक पहुँच हो सकती हो। (४) जो मिल सके। मिलने योग्य।

प्राप्यकारी–संज्ञा पुं० [सं० प्राप्यकारिन्] इंद्रिय जो किसी विषय तक पहुँचकर उसका ज्ञान कराती है। (न्याय-दर्शन के अनुसार ऐसी इंद्रिय केवल आँख ही है; पर वेदांत-दर्शन में कहा है कि कान में भी यह गुण है।)

प्राबल्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रबलता। तेजी। (२) प्रधानता।

प्राबालिक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रबाल का व्यापार करनेवाला पुरुष।

प्राबोधक–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो राजाओं को उनकी स्तुति सुनाकर जगाने के लिये नियुक्त हो। (प्राचीन काल में यह काम करने के लिये मगध देश के लोग नियुक्त किए जाते थे जिन्हें मागध कहते थे।)

प्राभंजन–संज्ञा पुं० [सं०] स्वाति नक्षत्र।

वि० (१) प्रभंजन वा वायु देवता संबंधी। (२) जो वायु देवता के द्वारा अधिष्ठित हो।

प्राभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभुत्व। अधिकार। (२) श्रेष्ठता। प्रधानता।

प्राभवत्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रभुता। प्रभुत्व।

प्राभातिक–वि० [सं०] प्रभात संबंधी। सबेरे का।

प्राभासिक–वि० [सं०] प्रभासदेश संबंधी। प्रभास देश का।

प्राभृत–संज्ञा पुं० [सं०] उपहार। नजर।

प्रामति, प्रामधि–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दसवें मन्वंतर में होनेवाले एक ऋषि का नाम जो उस समय के सप्तर्षियों में होंगे।

प्रामाणिक–वि० [सं०] (१) जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो। (२) माननीय। मानने योग्य। (३) ठीक। सत्य। (४) शास्त्रसिद्ध। (५) हैतुक। (६) जो प्रमाणों को मानता हो। (७) शास्त्रज्ञ।

संज्ञा पुं० व्यापारियों का मुखिया।

प्रामाण्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रमाणता। प्रमाण का भाव। (२) मान-मर्यादा।

प्रामादिक–वि० [सं०] (१) प्रमादजनित। (२) दोषयुक्त। दूषित। जिसमें दोष हो।

प्रामाद्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अडूसा। (२) पागलपन। उन्माद।

प्रामीसरी नोट–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह लेख या पत्र जिस पर लिखनेवाला अपना हस्ताक्षर करके यह प्रतिज्ञा करे कि मैं अमुक पुरुष को, या जिसे वह आज्ञा या अधिकार दे, या जिसके पास यह लेख हो, किसी नियत समय पर, वा जब वह माँगे या जब वह उसे दिखलावे, तब इतना रुपया दे दूँगा। हुंडी। (२) वह सर्कारी कागज या ऋण-पत्र जिसमें सरकार अपनी प्रजा से कुछ ऋण लेकर यह प्रतिज्ञा करती है कि मैंने इतना ऋण लिया और इसका सूद इस हिसाब से इस लेख के मालिक को दिया करूँगी। ऐसी हुंडी का सरकारी खजाने से बराबर समय समय पर सूद मिला करता है; और जब उस हुंडी का नियत समय पूरा हो जाता है, तब सरकार से उसका रुपया भी मिल सकता है। ऐसी हुंडी या नोट मालिक बीच में ही बेचना चाहे तो दूसरे आदमियों के हाथ बेच भी सकता है। ऐसी हुंडी या नोट का भाव बराबर घटा बढ़ा करता है।

प्रामीत्य–संज्ञा पुं० [सं०] ऋण। कर्ज।

प्रामोद, प्रामोदक–वि० [सं०] मनोज्ञ। मनोहारी।

प्राय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समान। तुल्य। जैसे, मृतप्राय। (२) लगभग। जैसे, प्रायद्वीप। (३) अनशनादि तप जिससे मनुष्य शक्तिहीन होकर मृतक के तुल्य हो जाता या मर जाता है। (४) मृत्यु। जैसे, प्रायगत। (५) अवस्था। उम्र।

प्रायः–वि० [सं०] (१) विशेषकर। बहुधा। अक्सर। जैसे, सावन में प्रायः पानी बरसता है। (२) लगभग। करीब करीब। जैसे, उनके यहाँ मेरे प्रायः २००) बाकी होंगे।

प्रायगत–वि० [सं०] जिसके मरने में अधिक विलंब न हो। जो मर रहा हो। आसन्नमृत्यु।

प्रायण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। स्थानांतर गमन। (२) एक शरीर त्यागकर दूसरे शरीर में जाना। शरीरपरिवर्तन। (३) जन्मांतर। (४) अनशन व्रत द्वारा शरीरत्याग। (५) वह पथ्य वा आहार जो अनशन व्रत की समाप्ति पर ग्रहण किया जाता है। पारण। (६) प्रवेश। प्रारंभ। (७) जीवनपथ। जीविता‑वस्था। (८) एक प्रकार का खाद्य पदार्थ जो दूध में मिलकर बनता था।

प्रायणीय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोमयाग में पहली सुत्या के दिन का कर्म। (२) प्रारंभिक कर्म। उदनीय का उलटा। वि० आरंभ संबंधी। प्रारंभिक। जैसे, प्रायणीय याग, प्रायणीय कर्म, प्रायणीयातिरात्र, प्रायणीयेष्टि इत्यादि।

प्रायदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] साधारण घटना, जो प्रायः देखने में आती हो। साधारण सी बात।

प्रायद्वीप–संज्ञा पुं० [सं० प्रायोद्वीप] स्थल का वह भाग जो तीन ओर पानी से घिरा हो और केवल एक ओर स्थल से मिला हो।

प्रायभव–वि० [सं०] जो साधारण रीति से अथवा प्रायः होता हो। साधारण।

प्रायवृत्त—वि० [सं०] जो बिलकुल गोल वा वर्तुलाकार न हो पर बहुत कुछ गोल हो। अंडाकार।

प्रायशः–क्रि० वि० [सं०] प्रायः। बहुधा। अकसर।

प्रायश्चित्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शास्त्रानुसार वह कृत्य जिसके करने से मनुष्य के पाप छूट जाते हैं। यह दो प्रकार का होता है एक व्रत दूसरा दान। शास्त्रों में भिन्न भिन्न पापों की निवृत्ति के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के कृत्यों का विधान है। किसी पाप में व्रत का, किसी में दान का, किसी में व्रत और दान दोनों का विधान है। लोक में भी समाज के नियम-विरुद्ध कोई काम करने पर मनुष्य को समाज द्वारा निर्धारित कुछ कर्म करने पड़ते हैं जिससे वह समाज में पुनः व्यवहारयोग्य होता है। इस प्रकार के कृत्यों को भी प्रायश्चित्त कहते हैं। (२) जैनियों के मतानुसार वे नौ प्रकार के कृत्य जिनके करने से पाप की निवृत्ति होती है— (१) आलोचन। (२) प्रतिक्रमण। (३) आलोचन प्रतिक्रमण। (४) विवेक। (५) व्युत्सर्ग। (६) तप। (७) छेद। (८) परिहार। (९) उपस्थान। (१०) दोष। क्रि० प्र०—लगना।

प्रायश्चित्ति–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रायश्चित्त"।

प्रायश्चित्तिक–वि० [सं०] (१) प्रायश्चित्त के योग्य। प्रायश्चित्तार्ह। (२) प्रायश्चित्त संबंधी।

प्रायश्चित्ती–वि० [सं० प्रायश्चित्तिन्] (१) प्रायश्चित्त के योग्य। (२) जो प्रायश्चित्त करे। प्रायश्चित्त करनेवाला।

प्रायश्चित्तीय–वि० [सं०] प्रायश्चित्त संबंधी।

प्रायाणिक–वि० [सं०] प्रयाण संबंधी। यात्रा संबंधी। संज्ञा पुं० शंख, चँवर आदि मंगल-द्रव्य जो यात्रा के समय आवश्यक होते हैं।

प्रायास–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का वैदिक नाम।

प्रायिक–वि० [सं०] प्रायः होनेवाला। जो बहुधा या अधिकता से होता हो।

प्रायोगिक–वि० [सं०] जो नित्य काम में आता हो। जिसका प्रयोग नित्य होता हो।

प्रायोज्य–वि० [सं०] प्रयोग में आनेवाला। जिससे प्रयोजन चलता हो।

संज्ञा पुं० मिताक्षरा आदि धर्म्मशास्त्रों के अनुसार वह वस्तु जिसका काम किसी को नित्य पड़ता हो। जैसे, पढ़नेवाले को पुस्तकादि का, कृषक को हल बैल आदि का, योद्धा को अस्त्र शस्त्र का इत्यादि। ऐसी वस्तुएँ शास्त्रों में विभाजनीय नहीं मानी गई हैं, विभाग के समय वह उसी को मिलती है जिसके प्रयोजन की वह हो अथवा जो उसे व्यवहार में लाता रहा हो या जिसकी उससे जीविका चलती हो।

प्रायोदेवता–संज्ञा पुं० [सं०] सर्वमान्य देवता। वह देवता जिसे सब मानते हों।

प्रायोद्वीप–संज्ञा पुं० [सं०] स्थल का वह अंश जो तीन ओर पानी से घिरा हो और एक ओर किसी बड़े स्थल से मिला हो। प्रायद्वीप।

प्रायोपगमन–संज्ञा पुं० [सं०] आहार त्यागकर मरने पर उद्यत होना। अनशन व्रत द्वारा प्राण परित्याग करने का प्रयत्न। भूखों मरकर जान देना।

प्रायोपविष्ट–वि० [सं०] जिसने प्रायोपवेश व्रत किया हो।

प्रायोपवेश, प्रायोपवेशन–संज्ञा पुं० [सं०] वह अनशन व्रत जो प्राण त्यागने के निमित्त किया जाता है। अन्न और जल त्यागकर मरने के लिये तैयार होकर बैठना।

प्रायोपवेशी–वि० [सं० प्रायोपवेशिन्] [स्त्री० प्रायोपवेशिनी] प्रायोपवेशन व्रत करनेवाला।

प्रायोपवेशनिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रायोपवेशन।

प्रायोपेत–वि० [सं०] प्रायोपवेशन व्रत का व्रती। प्रायोपवेश करनेवाला।

प्रारंभ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरंभ। शुरू। (२) आदि।

प्रारंभण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रारब्ध] आरंभण। प्रारंभ करना। शुरू करना।

प्रारंभिक–वि० [सं०] (१) प्रारंभ संबंधी। प्रारंभ का। (२) आदिम। (३) प्राथमिक।

प्रारब्ध–वि० [सं०] आरंभ किया हुआ ।
संज्ञा पुं० (१) तीन प्रकार के कर्मों में से वह जिसका फलभोग आरंभ हो चुका हो । (२) भाग्य । किसमत । जैसे, जो प्रारब्ध में होगा वही मिलेगा ।

प्रारब्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आरंभ । शुरू । (२) हाथी के बाँधने की रस्सी ।

प्रारब्धी–वि० [सं० प्राराब्धिन्] भाग्यवाला । भाग्यवान् । किसमतवर ।

प्रार्जयिता–वि० [सं० प्रार्जयितृ] [स्त्री० प्रार्जयित्री] दान करनेवाला । दानी ।

प्रार्ज्जुन–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम ।

प्रार्थक–वि० [सं०] प्रार्थना करनेवाला । प्रार्थी ।

प्रार्थन–संज्ञा पुं० [सं०] याचन । याचना । प्रार्थना करना । माँगना ।

प्रार्थना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी से कुछ माँगना । याचना । चाहना । जैसे, मैंने उनसे एक पुस्तक के लिये प्रार्थना की थी । (२) किसी से नम्रतापूर्वक कुछ कहना । विनती । विनय । निवेदन । जैसे, मेरी प्रार्थना है कि अब आप यह झगड़ा मिटा दें । (३) तंत्रसार के अनुसार एक मुद्रा का नाम । इस मुद्रा में दोनों हाथों के पंजों की उँगलियों को फैलाकर एक दूसरे पर इस प्रकार रखते हैं कि दोनों हाथों की उँगलियाँ यथाक्रम एक दूसरे के ऊपर रहती हैं । इस प्रकार हाथ जोड़कर उँगलियों को सीधे और सामने की ओर करके हृदय के पास ले जाते हैं और वहाँ इस प्रकार रखते हैं कि दोनों कलाई की संधि छाती के संधि मध्य में रहती है ।
*क्रि० स० प्रार्थना करना । विनती करना । उ०—हरिबल्लभ सब प्रार्थों जिन चरण रेणुआशा धरी ।–नाभादास ।

प्रार्थनापत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह पत्र जिसमें किसी प्रकार की प्रार्थना लिखी हो । निवेदनपत्र । अर्जी ।

प्रार्थनासमाज–संज्ञा पुं० [सं०] एक नवीन समाज या संप्रदाय । इस मत के अनुयायी दक्षिण में बंबई की ओर अधिक हैं । इस मत के सिद्धांत ब्राह्मसमाज से मिलते जुलते हैं । इस मत के लोग जाति पाँति का भेद नहीं मानते और न मूर्ति पूजा आदि करते हैं ।

प्रार्थनीय–संज्ञा पुं० [सं०] द्वापर युग का नाम ।
वि० प्रार्थना करने योग्य । निवेदन करने के योग्य । याचनीय ।

प्रार्थयितव्य–वि० [सं०] माँगने योग्य । प्रार्थना करने के योग्य । याचनीय ।

प्रार्थयिता–संज्ञा पुं० [सं० प्रार्थयितृ] प्रार्थना करनेवाला । माँगनेवाला । याचक ।

प्रार्थित–वि० [सं०] जो माँगा गया हो । याचित ।

प्रार्थी–वि० [सं० प्रार्थिन्] [स्त्री० प्रार्थिनी] (१) माँगनेवाला । प्रार्थना करनेवाला । याचक । (२) निवेदक । निवेदन करनेवाला । (३) प्रार्थनाशील । इच्छुक ।

प्रार्थ्य–वि० [सं०] प्रार्थना के योग्य । याचनीय ।

प्रालंब–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रस्सी आदि के ढँग की वह वस्तु जो किसी ऊँची वस्तु में टँगी और लटकती हो । (२) वह माला जो गर्दन से छाती तक लटकती हो । हार ।

प्रालंबिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले में पहनने का हार । माला ।

प्राल–संज्ञा पुं० दे० "पराल" ।

प्रालब्ध–संज्ञा पुं० दे० "प्रारब्ध" ।

प्रालेय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिम । तुषार । (२) बर्फ । (३) भूगर्भ-शास्त्रानुसार वह समय जब अत्यंत हिम पड़ने के कारण उत्तरीय ध्रुव पर सब पदार्थ नष्ट हो गए और वहाँ शीत की इतनी अधिकता हो गई कि अब कोई जंतु या वनस्पति वहाँ नहीं रह सकती ।

प्रालेयरश्मि–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।

प्रालेयांशु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । (२) कपूर ।

प्रालेयाद्रि–संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय ।

प्रावट–संज्ञा पुं० [सं०] यव । जौ ।

प्रावर–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीर । चहारदीवारी ।

प्रावरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रच्छादन । ढक्कन । (२) उत्तरीय वस्त्र । ओढ़ने का वस्त्र । चादर ।

प्रावार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का कपड़ा जो प्राचीन काल में बनता था और बहुमूल्य होता था । (२) उत्तरीय वस्त्र ।

प्रावारकर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उल्लू ।

प्रावार कीट–संज्ञा पुं० [सं०] कपड़े में लगनेवाला एक प्रकार का कीड़ा ।

प्राविट–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रावृट्] पावस । वर्षाऋतु । उ०—प्राविट-सरद-पयोद घनेरे । लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे ।

प्रावित्र–संज्ञा पुं० [सं०] किसी के आश्रम में रहना ।

प्राविष्ट्य–संज्ञा पुं० [सं०] क्रौंचद्वीप के एक खंड का नाम । (केशव)

प्रावीण्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रवीणता । कुशलता ।

प्रावृट्–संज्ञा पुं० [सं०] वर्षाऋतु ।

प्रावृडत्यय–संज्ञा पुं० [सं०] शरद ऋतु ।

प्रावृत–संज्ञा पुं० [सं०] ओढ़ने का कपड़ा । आच्छादन ।

प्रावृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राचीर । घेरा । (२) मल जो आत्मा की दृक् और दृक्शक्ति को आच्छादन करता है । (जैन) । (३) आड़ । रोक ।

प्रावृत्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रावृत्तिका] वह दूत जो एक

स्थान के समाचार को दूसरे स्थान में पहुँचाने का काम करता हो। एलची।

प्रावृष, प्रावृषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रावृट्। वर्षाऋतु।

प्रावृषायणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवाँच। (२) विषखोपरा।

प्रावृषिक–संज्ञा पुं० [सं०] मयूर। मोर।
वि० (१) जो वर्षाऋतु में उत्पन्न हो। (२) वर्षाऋतु संबंधी।

प्रावृषिज–संज्ञा पुं० [सं०] वह तीक्ष्ण वायु जो वर्षाऋतु में चलती है। झंझावात।

प्रावृषीण–वि० [सं०] (१) वर्षाकाल में उत्पन्न होनेवाला। (२) वर्षाकाल संबंधी।

प्रावृषेण्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईति। (२) कदंब। (३) धारा कदंब। (४) वह कर जो वर्षा ऋतु में दिया जाता हो। (५) कुटज। कुरैया। (६) प्रचुरता। अधिकता।
वि० वर्षाकाल में उत्पन्न। वर्षाकाल का।

प्रावृषेण्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवाँच। (२) लाल पुनर्नवा।

प्रावृषेय–संज्ञा पुं० [सं०] एक देश का नाम।
वि० [स्त्री० प्रावृषेयी] वर्षाकाल में होनेवाला।

प्रावृष्य–वि० [सं०] जो वर्षाकाल में हो।
संज्ञा पुं० (१) वैदूर्य्य। (२) कुटज। (३) धारा-कदंब। (४) विकंटक।

प्रावेण्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ऊनी वस्त्र।

प्रावेशन–संज्ञा पुं० [सं०] प्रवेशन का कार्य्य। प्रवेश करना।

प्रावेशिक–वि० [सं०] [स्त्री० प्रावेशिकी] प्रवेश का साधनभूत। जिसके कारण प्रवेश मिले। प्रवेश करने में सहायता देनेवाला।

प्राव्राज्य–वि० [सं०] प्रव्रज्या संबंधी।

प्राशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाना। भोजन। (२) चखना। जैसे, अन्नप्राशन।

प्राशनीय–वि० [सं०] प्राशन के योग्य। खाने के योग्य। चखने के योग्य।

प्राशस्त्य–संज्ञा पुं० [सं०] प्रशस्तता। प्रशस्त होने का भाव।

प्राशास्ता–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रशास्ता नामक ऋत्विज का काम। (२) प्रशास्ता का भाव।

प्राशित–वि० [सं०] भक्षित। खाया हुआ। चखा हुआ।
संज्ञा पुं० (१) पितृयज्ञ। तर्पण। (२) भक्षण।

प्राशित्र–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञों में पुरोडाश आदि में से काटकर निकाला हुआ वह छोटा टुकड़ा जो ब्रह्मोद्देश से अलग करके प्राशित्राहरण नामक यज्ञपात्र में रखा जाता है। यह भाग जौ वा पीपल के गोदे के बराबर निकाला जाता और प्रायः नोक की ओर से काटा जाता है।

प्राशित्राहरण–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के एक पात्र का नाम। यह गोकर्ण के आकार का होता है और इसी में प्राशित्र रखा जाता है।

प्राशी–वि० [सं० प्राशिन्] [स्त्री० प्राशिनी] प्राशन करनेवाला। खानेवाला। भक्षक।

प्राश्निक–वि० [सं०] (१) सभ्य। सभा की कार्रवाई करनेवाला। (२) प्रश्नकर्ता। पूछनेवाला।

प्राश्नीपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

प्राश्य–संज्ञा पुं० [सं०] अर्कप्रकाश के अनुसार वे पशु जो गाँव में रहते हैं। जैसे, गाय, भैंस, बकरी, भेड़ा आदि।

प्रासंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हलका जुआ वा जुआठा जिसमें नए बैल निकाले जाते हैं। (२) तराजू की डंडी। (३) तराजू। तुला।

प्रासंगिक–वि० [सं०] (१) प्रसंग संबंधी। प्रसंग का। (२) प्रसंग द्वारा प्राप्त। प्रसंगागत।

प्रास–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का भाला जिसमें सात हाथ लंबी बाँस की छड़ लगती है और दूसरी नोक पर लोहे का नुकीला फल रहता है। इसका फल बहुत तेज होता है जिस पर स्तवक चढ़ा रहता है। बरछी। भाला। इसे वर्षास्त्र भी कहते हैं।

प्रासक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रास नामक अस्त्र। (२) पाशक। पाँसा।

प्रासन–संज्ञा पुं० [सं०] फेंकना।
संज्ञा पुं० दे० "प्राशन"।

प्रासाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन वास्तुविद्या के अनुसार लंबा, चौड़ा, ऊँचा और कई भूमियों का पक्का या पत्थर का घर जिसमें अनेक शृंग, शृंखला, अंडकादि हों तथा अनेक द्वारों और गवाक्षों से युक्त त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत, वृत्त शालाएँ हों। आकृति के भेद से पुराणों में प्रासाद के पाँच भेद किए गए हैं—चतुरस्र, चतुरायत, वृत्त, वृत्ताय और अष्टास्र। इनका नाम क्रम से वैराज, पुष्पक, कैलास, मालक और त्रिविष्टप है। भूमि, अंडक, शिखरादि की न्यूनाधिकता के कारण इन पाँचों के नौ नौ भेद माने गए हैं। जैसे, वैराज के मेरु, मंदर, विमान, भद्रक, सर्वतोभद्र, रुचक, नंदन, नंदिवर्द्धन और श्रीवत्स; पुष्पक के वलभी, गृहराज, शालागृह, मंदिर, विमान, ब्रह्ममंदिर, भवन, उत्तंभ और शिविकावेश्म; कैलास के वलय, दुंदुभि, पद्म, महापद्म, भद्रक, सर्वतोभद्र, रुचक, नंदन, गुवाक्ष वा गुवावृत्त; मालक के गज, वृषभ, हंस, गरुड़, सिंह, भूमुख, भूधर, श्रीजय और पृथिवीधर; और त्रिविष्टप के वज्र, चक्र, मुष्टिक वा बभ्रु, वक्र, स्वस्तिक, खड्ग, गदा, श्रीवृक्ष और विजय। पुराणों में केवल राजाओं और देवताओं के गृह को प्रासाद कहा है।

(२) बहुत बड़ा मकान। महल। (३) महल की चोटी। कोठे के ऊपर की छत। (४) बौद्धों के संघाराम में वह बड़ी शाला जिसमें साधु लोग एकत्र होते हैं।

प्रासादकुक्कुट–संज्ञा पुं० [सं०] कबूतर।

प्रासादमंडना–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का रंग जिससे प्रासाद के ऊपर रँगाई होती थी। यह पीला वा लाल होता था और इसकी रँगाई बहुत दिनों तक टिकती थी।

प्रासादिक–वि० [सं०] (१) दयालु। कृपालु। (२) सुंदर। अच्छा। (३) जो प्रसाद में दिया जाय। (४) प्रसाद संबंधी।

प्रासादीय–वि० [सं०] प्रासाद संबंधी। प्रासाद का।

प्रासिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके पास प्रास हो। प्रासधारी। बरछीबरदार।

प्रासेव–संज्ञा पुं० [सं०] वह रस्सी जो घोड़े के साज में सम्मिलित हो।

प्रासु–संज्ञा पुं० [सं०] दीर्घश्वास। गहरी साँस।

प्रास्कण्व–संज्ञा पुं० [सं०] एक साम का नाम।

प्रास्तारिक–वि० [सं०] (१) जिसका व्यवहार प्रस्तार में हो। (२) प्रस्तार-संबंधी।

प्रास्थानिक–वि० [सं०] वह पदार्थ जो प्रस्थान के समय मंगलकारक माना जाता हो। जैसे, शंख की ध्वनि, दही, मछली आदि।

प्रास्थिक–वि० [सं०] (१) प्रस्थ संबंधी। (२) जो प्रस्थ के हिसाब से खरीदा गया हो। (३) पाचक।

संज्ञा पुं० भूमि। जमीन।

प्रास्पेक्टस–संज्ञा पुं० [अं०] वह छपा हुआ पत्र जिसमें आरंभ होनेवाले किसी बड़े कार्य्य का पूरा पूरा विवरण और उसकी कार्य्यप्रणाली आदि दी हो। विवरणपत्र। जैसे, जानबीमा कंपनी का प्रास्पेक्टस, बंक का प्रास्पेक्टस।

प्राहारिक–संज्ञा पुं० [सं०] पहरुआ। चौकीदार।

प्राहुण–संज्ञा पुं० [सं०] अतिथि। मेहमान। पाहुना।

प्राह्लाद–संज्ञा पुं० [सं०] प्रह्लाद अर्थात् विरोचन की संतान।

प्रिंटर–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह जो किसी छापेखाने में रहकर छापने का काम करता हो। मुद्रण करनेवाला। छापनेवाला। (२) वह जो किसी छापेखाने में छपनेवाली चीजों की छपाई का जिम्मेदार हो।

प्रिंटिंग–संज्ञा स्त्री० [अं०] छापने का काम। छपाई।

प्रिंटिंग इंक–संज्ञा स्त्री० [अं०] वह स्याही जो सीसे के अक्षरों से छापने के काम में आती है। टाइप के छापने की स्याही। यह कच्ची और पक्की दो प्रकार की तथा अनेक रंगों की होती है।

प्रिंटिंग प्रेस–संज्ञा स्त्री० [अं०] सीसे के अक्षर या टाइप छापने की वह कल जो केवल हाथ से चलाई जाती है। हैंड प्रेस। दे० "प्रेस"।

प्रिंटिंग मशीन–संज्ञा स्त्री० [अं०] सीसे के अक्षर या टाइप छापने की वह कल जो साधारण हाथ की कल की अपेक्षा बहुत अधिक काम करती है और जो हाथ तथा इंजिन दोनों से चलाई जा सकती है। दे० "प्रेस"।

प्रिंस–संज्ञा पुं० [अं०] राजकुमार। शाहजादा।

प्रिंस आफ़ वेल्स–संज्ञा पुं० [अं०] इँगलैंड के राजा के ज्येष्ठ पुत्र की पदवी। इँगलैंड का युवराज।

प्रिंसिपल–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी बड़े विद्यालय या कालिज आदि का प्रधान अधिकारी। (२) वह मूल धन जो किसी को उधार दिया गया हो और जिसके लिये ब्याज मिलता हो।

प्रियंकर–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

प्रियंकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद कटेरी। (२) बड़ी जीवंती। (३) असगंध।

प्रियंगु–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कँगनी नाम का अन्न। (२) राजिका। (३) पिप्पली। पीपल। (४) कुटकी। (५) राई।

प्रियंगू–संज्ञा पुं० दे० "प्रियंगु"।

प्रियंवद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खेचर। आकाशचारी। पक्षी। (२) एक गंधर्व का नाम।

वि० [स्त्री० प्रियंवदा] प्रिय वचन कहनेवाला। मीठा बोलनेवाला। प्रियभाषी।

प्रियंवदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अभिज्ञान शाकुंतल में शकुंतला की एक सखी। (२) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, भगण, जगण और रगण (।।।, ऽ।।, ।ऽ।, ऽ।ऽ) होता है और ४-४ पर यति होती है। उ०—न भज रे हरिशु सों कबौं नरा। जिहि भजैं हर विधी सुनिर्जरा।

प्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० प्रिया] (१) स्वामी। पति। (२) जामाता। जँवाई। दामाद। कन्या का पति। (३) कार्तिकेय। स्वामिकार्तिक। (४) एक प्रकार का हिरन। (५) जीवक नाम की ओषधि। (६) ऋद्धि। (७) धर्मात्मा और मुमुक्षुओं को प्रसन्न करनेवाला और सबकी कामना पूरी करनेवाला ईश्वर। (८) कँगनी। (९) हित। भलाई। (१०) बेंत। (११) हरताल। (१२) धाराकदंब।

वि० (१) जिससे प्रेम हो। प्यारा। (२) जो भला जान पड़े। मनोहर।

प्रियक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतसालक। पियासाल नाम का वृक्ष। (२) कदम का पेड़। (३) कँगनी नामक अन्न। (४) केसर। (५) धाराकदंब। (६) चितकबरा हिरन जिसके रोएँ रंग बिरंगे, मुलायम, बड़े और चिकने होते हैं। चित्रमृग। (७) शहद की मक्खी। (८) एक पक्षी।

प्रियकांक्षी–वि० [सं०] भला चाहनेवाला। हितकारी। शुभाभिलाषी।

प्रियकाम, प्रियकारक–संज्ञा पुं० [सं०] भला चाहनेवाला। हितकारी। शुभचिंतक।

प्रियकृत–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

प्रियजात–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि का एक नाम।

प्रियजीव–संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाठा।

प्रियतम–वि० [सं०] [स्त्री० प्रियतमा] सबसे अधिक प्यारा। प्राणों से भी बढ़कर प्रिय।

संज्ञा पुं० (१) स्वामी। पति। (२) मोरशिखा नाम का वृक्ष।

प्रियता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रिय होने का भाव।

प्रियतोषण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रतिबंध।

प्रियत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रिय होने का भाव।

प्रियद–वि० [सं०] जो प्रिय वस्तु दे।

प्रियदत्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

प्रियदर्शन–वि० [सं०] [स्त्री० प्रियदर्शना] जो देखने में प्यारा लगे। शुभदर्शन। सुंदर।

संज्ञा पुं० (१) खिरनी का पेड़। (२) तोता। (३) एक गंधर्व का नाम।

प्रियदर्शी–वि० [सं०] सबको प्रिय देखने या समझनेवाला। सबसे स्नेह करनेवाला। मनोहर।

प्रियपात्र–वि० [सं०] जिसके साथ प्रेम किया जाय। प्रेमपात्र। प्यारा।

प्रियभाषण–संज्ञा पुं० [सं०] मधुर वचन बोलना। ऐसी बात कहना जो प्रिय लगे।

प्रियभाषी–वि० [सं० प्रियभाषिन्] [स्त्री० प्रियभाषिनी] मधुर वचन बोलनेवाला। मीठी बात कहनेवाला।

प्रियमधु–संज्ञा पुं० [सं०] बलराम का एक नाम।

प्रियमेध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) भागवत के अनुसार अजमीढ़ के एक पुत्र का नाम।

प्रियरूप–वि० [सं०] मनोहर। सुंदर।

प्रियल्ली–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रियवर्णी"।

प्रियवक्ता–वि० [सं० प्रियवक्तृ] प्रिय वचन बोलनेवाला। मधुरभाषी।

प्रियवचन–वि० [सं०] मीठी बात करनेवाला। मधुरभाषी।

प्रियवर–वि० [सं०] अति प्रिय। प्यारों में श्रेष्ठ। सबसे प्यारा। (इसका व्यवहार प्रायः पत्रों आदि में संबोधन के रूप में होता है।)

प्रियवर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कँगनी नाम का अन्न।

प्रियवादी–संज्ञा पुं० [सं० प्रियवादिन्] [स्त्री० प्रियवादिनी] प्रिय बोलनेवाला। मीठा बोलनेवाला।

प्रियव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वायंभुव मनु के एक पुत्र का नाम जो उत्तानपाद का भाई था। पुराणों के अनुसार इसके रथ दौड़ाने से पृथ्वी में जो गड्ढे हुए, वे ही पीछे समुद्र हो गए। (२) वह जिसे व्रत प्रिय हो।

प्रियशालक–संज्ञा पुं० [सं०] पियासाल।

प्रियश्रवा–संज्ञा पुं० [सं० प्रियश्रवस्] परमेश्वर का एक नाम।

प्रियसंगमन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ प्रिय और प्रिया का मिलन हो। अभिसार का स्थान। संकेत स्थान। (२) वह स्थान जहाँ अदिति और कश्यप का मिलन हुआ था।

प्रियसंदेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खुशखबरी। अच्छा सँदेसा। (२) चंपा का पेड़।

प्रियसख–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

प्रियसालक–संज्ञा पुं० [सं०] पियासाल नामक वृक्ष।

प्रियांबु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का पेड़। (२) आम का फल। (३) वह जिसे जल बहुत प्रिय हो।

प्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारी। स्त्री। (२) भार्या। पत्नी। जोरू। (३) इलायची। (४) मल्लिका। चमेली। (५) मदिरा। शराब। (६) प्रेमिका स्त्री। माशूका। (७) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में रगण (ऽ।ऽ) होता है, इसका दूसरा नाम मृगी है। (८) १४ मात्रा का एक छंद। उ०—तब लंकनाथ रिसाय कै। (९) कँगनी।

प्रियाख्य–वि० [सं०] प्रिय। प्यारा।

प्रियात्मज–संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार पसह जाति का एक पक्षी।

प्रियात्मा–संज्ञा पुं० [सं० प्रियात्मन्] वह जिसका चित्त उदार और सरल हो।

प्रियाल–संज्ञा पुं० [सं०] चिरौंजी का पेड़।

प्रियाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाख।

प्रियाह्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कँगनी नामक अन्न।

प्रिवी कौंसिल–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी बड़े शासक को शासन के काम में सहायता देनेवाले कुछ चुने हुए लोगों का वर्ग। (२) इँगलैंड में वहाँ के राजा को परामर्श देनेवालों का वर्ग, जिसका संगठन १५ वीं शताब्दी में हुआ था। इस वर्ग में या तो कुछ पुराने पदाधिकारी और या राजा के चुने हुए कुछ लोग रहते हैं। आजकल इसमें राजकुल से संबंध रखनेवाले लोग, बड़े बड़े सरकारी कर्मचारी, रईस और पादरी आदि सम्मिलित हैं, जिनकी संख्या २०० से ऊपर है। इस वर्ग के दो विभाग हैं। एक विभाग शासनकार्य्य में राजा को परामर्श देता है जिनके नाम के साथ राइट आनरेबुल की उपाधि रहती है और दूसरे विभाग में न्याय-विभाग के सर्वप्रधान कर्म्मचारी होते हैं। कौंसिल

का यह दूसरा विभाग अपील के काम के लिये अँगरेजी राज्य भर में अंतिम न्यायालय है और यहीं अंतिम निर्णय होता है। शासन कार्य्यों में अब प्रिवी कौंसिल का विशेष महत्त्व नहीं रह गया और उसका स्थान प्रायः मंत्रिमंडल ने ले लिया है।

प्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रीति। प्रेम। (२) कांति। चमक। (३) इच्छा। (४) तृप्ति। (५) तर्पण।

प्रीअंक–संज्ञा पुं०[सं० प्रियक] कदंब। कदम। (अनेका०)

प्रीण–वि० [सं०] (१) पुराना। (२) जो प्रसन्न हो। प्रीतियुक्त।

प्रीत–वि० [सं०] प्रीतियुक्त।

संज्ञा पुं० दे० "प्रीति"।

प्रीतम–संज्ञा पुं० [सं० प्रियतम] (१) पति। भर्ता। स्वामी। (२) वह जिससे प्रेम या स्नेह हो। प्यारा।

प्रीतात्मा–संज्ञा पुं० [सं० प्रीतात्मन्] शिव का एक नाम।

प्रीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह सुख जो किसी इष्ट वस्तु को देखने या पाने से होता है। तृप्ति। (२) हर्ष। आनंद। प्रसन्नता। (३) प्रेम। स्नेह। प्यार। मुहब्बत। (४) मध्यम स्वर की चार श्रुतियों में से अंतिम श्रुति। (५) काम की एक पत्नी का नाम जो रति की सौत थी। (कहते हैं कि किसी समय अनंगवती नाम की एक वेश्या थी जो माघ में विभूतिद्वादशी का विधिपूर्वक व्रत करने के कारण दूसरे जन्म में कामदेव की पत्नी हो गई थी। (६) फलित ज्योतिष के २७ योगों में से दूसरा योग। इस योग में सब शुभ कर्म्म किए जाते हैं। इस योग में जन्म ग्रहण करने से मनुष्य नीरोग, सुखी, विद्वान् और धनवान् होता है।

प्रीतिकर–वि० [सं०] प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला। प्रेमजनक।

प्रीतिकारक, प्रातिकारी–वि० दे० "प्रीतिकर"।

प्रीतिजुषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनिरुद्ध की पत्नी उषा का नाम।

प्रीतिद–संज्ञा पुं० [सं०] विदूषक। भाँड़।

वि० सुख या प्रेम उत्पन्न करनेवाला।

प्रीतिदत्त, प्रीतिदान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेमपूर्वक दिया हुआ दान। (२) वह पदार्थ जो सास अथवा ससुर अपने पुत्र या पुत्रवधू को, या पति अपनी पत्नी को भोग के लिये दे।

प्रीतिपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] जिसके साथ प्रीति की जाय। प्रेमभाजन। प्रेमी।

प्रीतिभोज–संज्ञा पुं० [सं०] वह भोज या खान-पान जिसमें मित्र और बंधु आदि प्रेमपूर्वक सम्मिलित हों।

प्रीतिमान्–वि० [सं० प्रीतिमत्] प्रेम रखनेवाला। जिसमें प्रेम हो।

प्रीतिय–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेम।

प्रीतिरीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेमपूर्ण व्यवहार। परस्पर का प्रेम संबंध। प्रणयभाव।

प्रीतिवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।

प्रीत्यर्थ–अव्य० [सं०] (१) प्रीति के कारण। प्रसन्न करने के वास्ते। जैसे, विष्णु के प्रीत्यर्थ दान करना। (२) लिये। वास्ते।

प्रुष्ट–वि० [सं०] जला हुआ, जो जल गया हो। दग्ध।

प्रूफ–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी बात को ठीक ठहराने के लिये दिया जानेवाला प्रमाण। सबूत। (२) किसी छपनेवाली चीज का वह नमूना जो उसके छपने से पहले अशुद्धियाँ आदि दूर करने के लिये तैयार किया जाता है। (३) किसी वस्तु का असर होने से पूरा बचाव।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग यौगिक शब्दों के उत्तर पद के रूप में हुआ करता है। जैसे, वाटर-प्रूफ, फायर-प्रूफ आदि। वाटर-प्रूफ से ऐसे पदार्थ का बोध होता है जिसके संबंध में इस बात की परीक्षा हो चुकी होती है कि उस पर जल नहीं ठहर सकता अथवा जल का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। जैसे, वाटर-प्रूफ कपड़ा। इसी प्रकार फायर-प्रूफ ऐसे पदार्थ को कहते हैं जिसकी अग्नि का प्रकोप सहन करने की परीक्षा हो चुकी होती है। जैसे, लोहे का फायर-प्रूफ संदूक, फायर-प्रूफ चिमनी, इमारत का फायर-प्रूफ सामान।

प्रूम–संज्ञा पुं० [?] सीसे आदि का बना हुआ लट्टू के आकार का वह यंत्र जिसे समुद्र में डुबाकर उसकी गहराई नापते हैं। यह रस्सी के एक सिरे में, जिस पर नाप के निशान लगे होते हैं, बाँधकर समुद्र में डाला जाता है और इस प्रकार उसकी गहराई नापी जाती है। कभी कभी इसके नीचे के अंश में कुछ ऐसी व्यवस्था रहती है जिससे समुद्र की तह के कुछ कंकड़-पत्थर, बालू या घोंघे आदि भी उसके साथ लगकर ऊपर चले आते हैं जिससे समुद्र की गहराई के साथ ही साथ इस बात का भी पता लग जाता है कि वहाँ की नीचे की जमीन कैसी है।

प्रेंख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झूलना। पेंग लेना। (२) एक प्रकार का सामगान।

वि० (१) जो काँप रहा हो। (२) हिलता या झूलता हुआ।

प्रेंखण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अच्छी तरह हिलना वा झूलना। (२) अठारह प्रकार के रूपकों में से एक प्रकार का रूपक जिसमें सूत्रधार, विष्कुंभक और प्रवेशक आदि की आवश्यकता नहीं होती और जिसका नायक नीच जाति का हुआ करता है। इसमें प्ररोचना और नांदी नेपथ्य में होता है और यह एक अंक में समाप्त होता है। इसमें वीररस की प्रधानता रहती है।

प्रेंखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हिलना। (२) झूलना। (३) यात्रा। भ्रमण। (४) नृत्य। नाच। (५) घोड़े की चाल।

प्रेंखोलन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झूलना। (२) हिलना। (३) काँपना।

प्रेक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] देखनेवाला । दर्शक ।

प्रेक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख । (२) देखने की क्रिया ।

प्रेक्षणीय–वि० [सं०] देखने के योग्य ।

प्रेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देखना । (२) नाच तमाशा देखना । (३) किसी विषय की अच्छी और बुरी बातों का विचार करना । (४) दृष्टि । निगाह । (५) वृक्ष की शाखा । डाल । (६) शोभा । (७) प्रज्ञा । बुद्धि ।

प्रेक्षागार, प्रेक्षागृह–संज्ञा पुं० [सं०] राजाओं आदि के मंत्रण करने का स्थान । मंत्रणागृह ।

प्रेक्षासंयम–संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के अनुसार सोने से पहले यह देख लेना कि इस स्थान पर जीव आदि तो नहीं हैं ।

प्रेक्षित–वि० [सं०] देखा हुआ ।

प्रेक्षी–संज्ञा पुं० [सं० प्रेक्षिन्] बुद्धिमान् । समझदार ।

प्रेण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गति । चाल । (२) प्रेरणा करना ।

प्रेत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ मनुष्य । मृतक प्राणी । (२) पुराणानुसार वह कल्पित शरीर जो मनुष्य को मरने के उपरांत प्राप्त होता है ।

विशेष—पुराणों में कहा है कि जब मनुष्य मर जाता है और उसका शरीर जला दिया जाता है तब वह अतिवाहिक या लिंग शरीर धारण करता है; और जब उसके उद्देश्य से पिंड आदि दिया जाता है, तब उसे प्रेत-शरीर प्राप्त होता है । इसी प्रेत-शरीर को भोग-शरीर भी कहते हैं । यह शरीर मरने के उपरांत सपिंडी होने तक रहता है; और तब उसके उपरांत वह अपने कर्म के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाता है । जिन लोगों की श्राद्ध आदि या ऊर्ध्वदैहिक क्रिया नहीं होती, वे प्रेतावस्था में ही रहते हैं । कुछ लोग अपने कर्म के अनुसार ऊर्ध्वदैहिक क्रिया हो जाने पर भी प्रेत ही बने रहते हैं । पुराणों में यह भी कहा है कि जो लोग आहुति नहीं देते, तीर्थ-यात्रा नहीं करते, विष्णु की पूजा नहीं करते, दान नहीं देते, पराई स्त्री हर लाते हैं, झूठे या निर्दय होते हैं, मादक पदार्थों का सेवन करते हैं अथवा इसी प्रकार के और कुकर्म करते हैं, वे प्रेत होकर सदा दुःख भोगते रहते हैं । यह भी कहा गया है कि प्रेतों का निवास मल, मूत्र आदि गंदे स्थानों में रहता है और वे निर्लज्ज होते तथा अपवित्र पदार्थ खाते हैं ।

(३) नरक में रहनेवाला प्राणी । (४) पिशाचों की तरह की एक कल्पित देवयोनि जिसके शरीर का रंग काला, शरीर के बाल खड़े और स्वरूप बहुत ही विकराल माना जाता है । (५) बहुत ही चालाक और कंजूस आदमी ।

यौ०—भूत-प्रेत

प्रेतकर्म–संज्ञा पुं० [सं० प्रेतकर्म्मन्] हिंदुओं में दाह आदि से लेकर सपिंडी तक का वह कर्म जो मृतक के उद्देश्य से किया जाता है । प्रेतकार्य्य ।

प्रेतकार्य्य, प्रेतकृत्य–संज्ञा पुं० दे० "प्रेतकर्म" ।

प्रेतगृह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्मशान । मसान । मरघट । (२) मृत शरीरों के रखे या गाड़े जाने आदि का स्थान ।

प्रेतगेह *–संज्ञा पुं० दे० "प्रेतगृह" ।

प्रेतचारी–संज्ञा पुं० [सं० प्रेतचारिन्] महादेव । शिव ।

प्रेततर्पण–संज्ञा पुं० [सं०] वह तर्पण जो किसी के मरने के दिन से सपिंडी के दिन तक उसके निमित्त किया जाता है । (साधारण तर्पण से इसमें यह अंतर है कि यह केवल मृतक के उद्देश्य से किया जाता है और केवल सपिंडी के दिन तक होता है । इस तर्पण के साथ और पितरों का तर्पण नहीं हो सकता ।)

प्रेतत्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेत का भाव या धर्म्म । प्रेतता ।

प्रेतता–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रेतत्व" ।

प्रेतदाह–संज्ञा पुं० [सं०] मृतक के जलाने आदि का कार्य्य ।

प्रेतदेह–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार किसी मृतक का वह कल्पित शरीर जो उसके मरने के समय से सपिंडी तक उसकी आत्मा को प्राप्त रहता है । इस शरीर की उत्पत्ति उन पिंडों से होती है जो सपिंडी के दिन तक नित्य दिए जाते हैं । कहते हैं कि यह शरीर एक वर्ष तक बना रहता है और उसके उपरांत उसे भोग-देह प्राप्त होता है ।

प्रेतधूम–संज्ञा पुं० [सं०] चिता में से निकलनेवाला धूआँ । वह धूआँ जो मृतक को जलाने से निकलता है ।

प्रेतनदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैतरणी नदी ।

प्रेतनाह–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज ।

प्रेतनिर्यातक–संज्ञा पुं० [सं०] धन लेकर प्रेत का दाह आदि करनेवाला । मुरदा-फरोश ।

प्रेतनिर्हारक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मृतक को उठाकर श्मशान तक ले जाय ।

प्रेतनी–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रेत + नी (प्रत्य०)] भूतनी । चुड़ैल ।

प्रेतपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] चांद्र आश्विन कृष्ण पक्ष । पितृपक्ष । वि० दे० "पितृपक्ष" ।

प्रेतपटह–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो किसी के मरने के समय बजाया जाता था ।

प्रेतपति–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज ।

प्रेतपावक–संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रकाश जो प्रायः दलदलों, जंगलों या कब्रिस्तानों में रात के समय चलता हुआ दिखाई पड़ता है और जिसे लोग भूतों और पिशाचों की लीला

समझते हैं । शहाबा । लुक । उ०—उभय प्रकार प्रेतपावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो ।—तुलसी ।

प्रेतपिंड–संज्ञा पुं० [सं०] अन्न आदि का बना हुआ वह पिंड जो मृतक के उद्देश्य से उसके मरने के दिन से लेकर सपिंडी के दिन तक नित्य दिया जाता है और जिसके विषय में यह माना जाता है कि इससे प्रेत-देह बनती है ।

प्रेतपुर–संज्ञा पुं० [सं०] यमपुर । यमालय ।

प्रेतमेध–संज्ञा पुं० [सं०] मृतक के उद्देश्य से होनेवाला श्राद्ध ।

प्रेतयज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जिसके करने से प्रेतयोनि प्राप्त होती है ।

प्रेतराक्षसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी । (कहते हैं कि जहाँ तुलसी रहती है, वहाँ भूत-प्रेत नहीं आते । इसी से उसका यह नाम पड़ा है ।)

प्रेतराज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज । (२) महादेव । शिव ।

प्रेतलोक–संज्ञा पुं० [सं०] यमपुर । यमालय ।

प्रेतवन–संज्ञा पुं० [सं०] श्मशान । मरघट ।

प्रेतविधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] मृतक का दाह आदि करना ।

प्रेतविमाना–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंच प्रेत के विमानवाली भगवती ।

प्रेतश्राद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] किसी के मरने की तिथि से एक वर्ष के अंदर होनेवाले सोलह श्राद्ध जिनमें सपिंडी, मासिक और षाण्मासिक आदि श्राद्ध सम्मिलित हैं ।

प्रेतहार–संज्ञा पुं० [सं०] मृत शरीर को उठाकर श्मशान आदि तक ले जानेवाला । मुरदा उठानेवाला ।

प्रेता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री-प्रेत । पिशाची । (२) भगवती कात्यायिनी का एक नाम ।

प्रेताधिप–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज ।

प्रेतान्न–संज्ञा पुं० [सं०] वह अन्न जो प्रेत के उद्देश्य से दिया जाय ।

प्रेताशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भगवती का एक नाम । (२) मृतकों को खानेवाली ।

प्रेताशौच–संज्ञा पुं० [सं०] वह अशौच जो हिंदुओं में किसी के मरने पर उसके संबंधियों आदि को होता है । मरने का अशौच । सूतक ।

प्रेतास्थि–संज्ञा पुं० [सं०] मुर्दे की हड्डी ।

यौ०—प्रेतास्थिधारी ।

प्रेतास्थिधारी–संज्ञा पुं० [सं०] मुरदों की हड्डियों की माला पहननेवाले । रुद्र ।

प्रेति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरण । मरना । (२) अन्न । अनाज ।

प्रेतिक–संज्ञा पुं० [सं०] मृतक । प्रेत ।

प्रेतिनी–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रेत + नी (प्रत्य०)] प्रेत की स्त्री । प्रेतनी । पिशाचिनी ।

प्रेती–संज्ञा पुं० [सं० प्रेत + ई (प्रत्य०)] प्रेत की उपासना करनेवाला । प्रेतपूजक । उ०—प्रजापति कहँ पूजै जोई । तिनकर बास यक्षपुर होई । भूती भूतहि यक्षी यक्षन । प्रेती प्रेतन रक्षी रक्षन ।—गोपाल ।

प्रेतीवाल, प्रेतीवाला–संज्ञा पुं० [देश०] वह मनुष्य जो कभी खास अपने लिये और कभी अपने मालिक के लिये काम करे । (बाजारू) ।

प्रेतीषणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] अग्नि का एक नाम ।

प्रेतेश–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज ।

प्रेतोन्माद–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का उन्माद या पागलपन जिसके विषय में यह माना जाता है कि यह प्रेतों के कोप से होता है । इसमें रोगी का शरीर काँपता है, उसका खाना-पीना छूट जाता है । लंबी लंबी साँसें आती हैं, वह घर से निकल निकलकर भागता है, लोगों को गालियाँ देता है और बहुत चिल्लाता है ।

प्रेत्य–संज्ञा पुं० [सं०] लोकांतर । परलोक । अमुत्र ।

प्रेत्यभाव–संज्ञा पुं० [सं०] अपने शुभाशुभ कर्म्मों के अनुसार जन्म लेकर मरने और मरकर जन्म लेने की परंपरा जो मुक्ति न होने के समय तक चलती है । बार बार जन्म लेना और मरना । (दर्शन) ।

प्रेत्यभाविक–वि० [सं०] प्रेत्यभाव या इहलोकसंबंधी ।

प्रेम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह मनोवृत्ति जिसके अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति आदि के संबंध में यह इच्छा होती है कि वह सदा हमारे पास या हमारे साथ रहे, उसकी वृद्धि, उन्नति या हित हो अथवा हम उसका भोग करें । वह भाव जिसके अनुसार किसी दृष्टि से अच्छी जान पड़नेवाली किसी चीज या व्यक्ति को देखने, पाने, भोगने, अपने पास रखने अथवा रक्षित करने की इच्छा हो । स्नेह । मुहब्बत । अनुराग । प्रीति ।

विशेष—परम शुद्ध और विस्तृत अर्थ में प्रेम ईश्वर का ही एक रूप माना जाता है । इसी लिये अधिकांश धर्मों के अनुसार प्रेम ही ईश्वर अथवा परम धर्म कहा गया है । हमारे यहाँ शास्त्रों में प्रेम अनिर्वचनीय कहा गया है और उसे भक्ति का दूसरा रूप और मोक्षप्राप्ति का साधन बतलाया है । मुमुक्षुओं के लिये शुद्ध प्रेम-भाव का ही विधान है । शास्त्रों में, और विशेषतः वैष्णव साहित्य में इस प्रेम के अनेक भेद किए गए हैं । साहित्य में प्रेम, रति या प्रीति के तीन प्रकार माने गए हैं । (१) उत्तम,—वह जिसमें प्रेम सदा एक सा बना रहे । जैसे, ईश्वर के प्रति भक्त का प्रेम । (२) मध्यम, जो अकारण हो । जैसे, मित्रों का प्रेम । और (३) अधम, जो केवल स्वार्थ के कारण हो ।

(२) स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के ऐसे जीवों का,

पारस्परिक स्नेह जो बहुधा रूप, गुण, स्वभाव, सान्निध्य अथवा कामवासना के कारण होता है। प्यार। मुहब्बत। प्रीति। जैसे, (क) वे अपनी स्त्री से अधिक प्रेम करते हैं। (ख) उस विधवा का एक नौकर के साथ प्रेम था। (३) केशव के अनुसार एक अलंकार। (४) माया और लोभ।

प्रेमकर्ता–संज्ञा पुं० [सं०] प्रीति करनेवाला। प्रेमी।

प्रेमकलह–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेम के कारण हँसी दिल्लगी या झगड़ा करना।

प्रेमगर्विता–संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में वह नायिका जो अपने पति के अनुराग का अहंकार रखती हो। वह स्त्री जिसे इस बात का अभिमान हो कि मेरा पति मुझे बहुत चाहता है। उ०—आँखिन मैं पुतरी ह्वै रहैं, हियरा में हरा ह्वै सबै रस लूटैं। अंगन संग बसैं अँगराग ह्वै,जीव तें जीवनमूरि न टूटैं। देव जु प्यारे के न्यारे सबै गुन, मो मन मानिक तैं नहिं छूटैं। और तियान तैं तौ बतियाँ करैं, मो छतियाँ तैं छिनौ जनि छूटैं।—देव।

प्रेमजल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्वेद। पसीना। (२) प्रेम के कारण आँखों से निकलनेवाले आँसू। प्रेमाश्रु।

प्रेमजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मरीचि ऋषि की पत्नी का नाम।

प्रेमनीर–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेम के कारण आँखों से निकलनेवाले आँसू। प्रेमाश्रु।

प्रेमपातन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेम के आवेग में रोना। (२) वह आँसू जो प्रेम के कारण आँखों से निकले।

प्रेमपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिससे प्रेम किया जाय। माशूक।

प्रेमपाश–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेम का फंदा या जाल।

प्रेमपुत्तलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्यारी स्त्री। (२) पत्नी। भार्या।

प्रेमपुलक–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह रोमांच जो प्रेम के कारण होता है।

प्रेमप्रत्यय–संज्ञा पुं० [सं०] वीणा आदि के शब्दों से जिनसे राग रागिनी निकलती है प्रेम करना। (जैन०)।

प्रेमभक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की वह भक्ति जो बहुत प्रेम के साथ की जाय।

प्रेमलक्षणा भक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण के चरणों की भक्ति करना। (वैष्णव)।

प्रेमलेश्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार वह वृत्ति जिसके अनुसार मनुष्य विद्वान्, दयालु, विवेकी होता और निस्स्वार्थ भाव से प्रेम करता है।

प्रेमवारि–संज्ञा पुं० [सं०] वह आँसू जो प्रेम के कारण निकले। प्रेमाश्रु।

प्रेमा–संज्ञा पुं० [सं० प्रेमन्] (१) स्नेह। (२) स्नेही। (३) वासव। इंद्र। (४) वायु। (५) उपजाति वृत्त का ग्यारहवाँ भेद, जिसके पहले, दूसरे और चौथे चरण में (ज त ज ग ग) ।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ और तीसरे चरण में (त त ज ग ग) ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ होता है।

प्रेमाक्षेप–संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार आक्षेप अलंकार का एक भेद जिसमें प्रेम का वर्णन करने में ही उसमें बाधा पड़ती दिखाई जाती है। जैसे, यदि नायक से नायिका यह कहे कि "हमारा मन तुम्हें कभी छोड़ने को नहीं करता; पर जब तुम उठकर जाना चाहते हो, तब हमारा मन तुमसे आगे ही चल पड़ता है।" तो यह प्रेमाक्षेप हुआ, क्योंकि इसमें पहले तो यह कहा गया है कि "हमारा मन तुम्हें कभी छोड़ने को नहीं चाहता।" पर नायिका के इस कथन में उस समय बाधा पड़ती है; जब वह यह कहती है कि "जब तुम उठकर जाना चाहते हो तब हमारा मन (तुमको छोड़कर) तुमसे आगे ही चल पड़ता है।" (कविप्रिया)

प्रेमालाप–संज्ञा पुं० [सं०] वह बातचीत जो प्रेमपूर्वक हो।

प्रेमालिंगन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेमपूर्वक गले लगाना। (२) कामशास्त्र के अनुसार नायक और नायिका का एक विशेष प्रकार का आलिंगन।

प्रेमाश्रु–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेम के आँसू। वे आँसू जो प्रेम के कारण आँखों से निकलते हैं।

प्रेमिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो प्रेम करता हो। प्रेम करनेवाला। प्रेमी।

प्रेमी–संज्ञा पुं० [सं० प्रेमिन्] (१) वह जो प्रेम करता हो। प्रेम करनेवाला। चाहनेवाला। अनुरागी। (२) आशिक। आसक्त।

प्रेयःमार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] वह मार्ग जो मनुष्य को सांसारिक विषयों में फँसाता है। अविद्यामार्ग।

प्रेय–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें कोई भाव किसी दूसरे भाव अथवा स्थायी का अंग होता है।

वि० प्रिय। प्यारा।

प्रेयर–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) प्रार्थना। स्तुति। (२) ईश्वर-प्रार्थना।

प्रेयस्–वि० [सं०] [स्त्री० प्रेयसी] सबसे प्यारा। बहुत प्यारा। प्रियतम।

संज्ञा पुं० प्यारा व्यक्ति। प्रियतम।

प्रेयसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसके साथ प्रेम किया जाय। प्यारी स्त्री। प्रेमिका।

प्रेरक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेरणा करनेवाला। उत्तेजना देने या दबाव डालनेवाला। किसी काम में प्रवृत्त करनेवाला।

प्रेरण–संज्ञा पुं० [सं०] किसी को किसी काम में लगाना। कार्य्य में प्रवृत्त करना।

प्रेरणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी को किसी कार्य में लगाने की क्रिया। कार्य में प्रवृत्त या नियुक्त करना। दबाव

डालकर या उत्साह देकर काम में लगाना। उत्तेजना देना। (२) दबाव। जोर। धक्का। झटका।

प्रेरणार्थक क्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] क्रिया का वह रूप जिससे क्रिया के व्यापार के संबंध में यह सूचित होता है कि वह किसी की प्रेरणा से कर्त्ता के द्वारा हुआ है। जैसे, लिखना का प्रेरणार्थक रूप है लिखाना या लिखवाना; देना का दिलाना या दिलवाना; पढ़ना का पढ़वाना।

प्रेरणीय–वि० [सं०] प्रेरणा करने के योग्य। किसी काम के लिये प्रवृत्त या नियुक्त करने के योग्य।

प्रेरयिता–संज्ञा पुं० [सं० प्रेरयितृ] [स्त्री० प्रेरयित्री] (१) प्रेरणा करनेवाला। उभाड़नेवाला। (२) भेजनेवाला। (३) आज्ञा देनेवाला।

प्रेरित–वि० [सं०] (१) जो किसी कार्य्य के लिये प्रेरित या नियुक्त किया गया हो। भेजा हुआ। प्रचालित। प्रेषित। (२) ढकेला हुआ। धक्का दिया हुआ।

प्रेषक–संज्ञा पुं० [सं०] भेजनेवाला। प्रेरक।

प्रेषण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेरणा करना। (२) भेजना। रवाना करना।

प्रेषित–वि० [सं०] (१) प्रेरित। प्रेरणा किया हुआ। (२) भेजा हुआ। रवाना किया हुआ। (३) स्वर साधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—सारे, रेग, गम, मप, पध, धनि, निसा। सानि, निध, धप, पम, मग, गरे, रेसा। (संगीत)।

प्रेषितव्य–वि० [सं०] जो प्रेषण करने के योग्य हो।

प्रेष्ठ–वि० [सं०] [स्त्री० प्रेष्ठा] अतिशय प्रिय। प्रियतम। बहुत प्यारा।

प्रेष्ठा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह जो बहुत प्यारी हो। अत्यंत प्रिय स्त्री। (२) जाँघ।

प्रेष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दास। सेवक। (२) दूत।
वि० जो प्रेषण करने के योग्य हो।

प्रेष्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दासत्व। (२) दूतत्व।

प्रेस–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह कल जिससे कोई चीज दबाई या कसी जाय। पेंच। (२) हाथ से चलाने की वह कल जिससे छपाई का काम होता है। छापने की कल। (३) वह स्थान जहाँ पुस्तकें आदि की छपाई का काम होता हो। छापाखाना।

मुहा०—(किसी चीज का) प्रेस में होना = (किसी चीज की) छपाई का काम जारी रहना। छपना। जैसे, अभी वह पुस्तक प्रेस में है।

यौ०—प्रेसमैन। मेशीनप्रेस।

प्रेस-एक्ट–संज्ञा पुं० [अं०] वह कानून जिसके द्वारा छापेखाने वालों के अधिकारों और स्वतंत्रता आदि का नियंत्रण होता है। ऐसा कानून उनको उच्छृंखल होने, राजकीय अथवा सामाजिक नियमों को तोड़ने, अथवा इसी प्रकार के और काम करने से रोकता है। जो छापाखानेवाले ऐसे नियमों का भंग करते हैं, उन्हें इसी कानून के द्वारा दंड दिया जाता है।

प्रेसमैन–संज्ञा पुं० [अं०] छापे की कल चलानेवाला मनुष्य। वह जो प्रेस पर कागज छापता हो।

प्रेसिडेंट–संज्ञा पुं० [अं०] किसी सभा या समिति आदि का प्रधान। सभापति।

प्रेसिडेंसी–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) प्रेसिडेंट का पद या कार्य्य। सभापति का ओहदा या काम। (२) ब्रिटिश भारत में शासन के सुबीते के लिये कुछ निश्चित प्रदेशों या प्रांतों का किया हुआ विभाग जो एक गवर्नर या लाट की अधीनता में होता है। बंगाल प्रेसिडेंसी, मदरास प्रेसिडेंसी और बंबई प्रेसिडेंसी, ये तीन प्रेसिडेंसियाँ इस समय भारत में हैं।

प्रैय–संज्ञा पुं० [सं०] प्रिय का भाव। स्नेह। प्रेम।

प्रैयव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो प्रियव्रत के वंश में हो।

प्रैष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्लेश। कष्ट। दुःख। (२) मर्दन। (३) उन्माद। पागलपन। (४) प्रेषण। भेजना। (५) वह शब्द या वाक्य जिसमें किसी प्रकार की आज्ञा हो।

प्रैष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दास। सेवक। (२) दासत्व।

प्रोंठ–संज्ञा पुं० [सं०] पीकदान। उगालदान।

प्रोक्त–वि० [सं०] (१) कथित। कहा हुआ। (२) कहा हुआ वचन कहना।

प्रोक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी छिड़कना। (२) यज्ञ में बध के पहले बलि पशु पर पानी छिड़कना। (३) पानी का छींटा। (४) बध। हिंसा। हत्या। (५) विवाह की परिछन नामक रीति। (६) श्राद्ध आदि में होनेवाला एक संस्कार।

प्रोक्षणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ का वह पात्र जिसमें पशु पर छिड़कनेवाला जल रहता है। (२) कुश की मुद्रिका जो होमादि के समय अनामिका में धारण की जाती है।

प्रोक्षित–वि० [सं०] (१) सींचा हुआ। (२) जल का छींटा मारा हुआ। (३) बध किया हुआ। मारा हुआ। (४) बलिदान किया हुआ।
संज्ञा पुं० वह मांस जो यज्ञ के लिये संस्कृत किया गया हो। (ऐसा मांस खाने में किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता।)

प्रोक्षितव्य–वि० [सं०] जो प्रोक्षण के योग्य हो।

प्रोग्राम–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी सभा, समाज, नाटक, संगीत अथवा व्यक्ति के होनेवाले कार्य्यों की सिलसिलेवार सूची। होनेवाले कार्यों आदि का निश्चित क्रम। कार्य-क्रम। (२)

वह पत्र जिसमें इस प्रकार का कोई क्रम या सूची हो। कार्य-क्रम-सूचक पत्र।

प्रोटेस्टेंट–संज्ञा पुं० [अं०] ईसाइयों का एक संप्रदाय जिसका आरंभ युरोप में सोलहवीं शताब्दी में उस समय हुआ था जब लूकर ने ईसाई धर्म्म का संस्कार आरंभ किया था। इस संप्रदाय के लोग रोमन कैथोलिक संप्रदायवालों का और साथ ही पोप के प्रबल अधिकारों का विरोध और मूर्तिपूजा आदि का निषेध करते हैं। कुछ दिनों तक इस मत की बहुत प्रबलता थी; और अब भी ईसाई देशों में इस संप्रदाय के लोगों की संख्या अधिक है।

प्रोढ़ा–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रौढ़ा"।

प्रोत–वि० [सं०] (१) किसी में अच्छी तरह मिला हुआ। (२) सीया या गाँठ दिया हुआ। (३) छिपा हुआ।

संज्ञा पुं० वस्त्र। कपड़ा।

प्रोत्तेजित–वि० [सं०] अत्यंत उत्तेजित किया हुआ। खूब भड़काया हुआ।

प्रोत्थित–वि० [सं०] आधार पर रखा वा टिका हुआ। उठाया हुआ। ऊँचा किया हुआ।

प्रोत्फल–संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ की जाति का एक वृक्ष।

प्रोत्फुल्ल–वि० [सं०] अच्छी तरह खिला हुआ। विकसित।

प्रोत्साह–संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक उत्साह या उमंग।

प्रोत्साहक–संज्ञा पुं० [सं०] उत्साह बढ़ानेवाला। हिम्मत बँधानेवाला।

प्रोत्साहन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० प्रोत्साहित] खूब उत्साह बढ़ाना। हिम्मत बँधाना। उत्तेजित करना।

प्रोत्साहित–वि० [सं०] खूब उत्साहित। (जिसका) उत्साह खूब बढ़ाया गया हो। (जो) खूब उत्तेजित किया गया हो। (जिसकी) हिम्मत खूब बँधाई गई हो।

प्रोथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़े की नाक के आगे का भाग। (२) सूअर का थूथन। (३) कमर। (४) नाभि के नीचे का भाग। पेड़ू। (५) स्त्री का गर्भाशय। (६) गड्ढा। गर्त्त। गड़हा।

वि० (१) स्थापित। रखा हुआ। (२) भीषण। भयानक। (३) विख्यात। प्रसिद्ध। मशहूर।

प्रोथथ–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े का हिनहिनाना।

प्रोथी–संज्ञा पुं० [सं० प्रोथिन्] घोड़ा। अश्व। (डिं०)

प्रोपोज–क्रि० स० [अं०] (१) तजवीज करना। (२) प्रस्ताव करना।

प्रोपोजल–संज्ञा पुं० [अं०] प्रस्ताव।

प्रोप्राइटर–संज्ञा पुं० [अं०] मालिक। स्वामी। अध्यक्ष।

प्रोफेसर–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी विषय का पूर्ण ज्ञाता। भारी पंडित या विद्वान्। (२) किसी विश्व-विद्यालय या महाविद्यालय आदि का अध्यापक। वह जो किसी कालिज आदि में शिक्षक हो।

प्रोबेशन–संज्ञा पुं० [अं०] वह परीक्षा या जाँच जो किसी व्यक्ति के कार्य के संबंध में की जाय। यह देखना कि यह व्यक्ति अमुक कार्य कर सकेगा या नहीं। काम करने की योग्यता के संबंध में जाँच। जैसे, अभी तो वे तीन महीने के लिये प्रोबेशन पर रखे गए हैं; यदि ठीक तरह से काम करेंगे तो स्थायी रूप से उनकी नियुक्ति हो जायगी।

प्रोबेशनरी–वि० [अं०] (१) प्रोबेशन के संबंध का। योग्यता की जाँच से संबंध रखनेवाला। (२) जो इस शर्त पर रखा जाय कि यदि संतोष-जनक कार्य करेगा तो स्थायी रूप से रख लिया जायगा।

प्रोमिसरी नोट–संज्ञा पुं० दे० "प्रामिसरी नोट"।

प्रोमोशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदाधिकारी का अपने पद से ऊँचे पद पर नियुक्त किया जाना। तरक्की। (२) विद्यार्थी का किसी कक्षा में से आगे की कक्षा में भेजा जाना। दर्जा चढ़ना।

प्रोष–संज्ञा पुं० [सं०] बहुत अधिक दुःख या कष्ट। संताप।

प्रोषक–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश का नाम।

प्रोषित–वि० [सं०] जो विदेश में गया हो। प्रवासी। जैसे, प्रोषितपतिका आदि।

प्रोषित नायक वा पति–संज्ञा पुं० [सं०] वह नायक जो विदेश में अपनी पत्नी के वियोग से विकल हो। विरही नायक।

प्रोषितपतिका (नायिका)–संज्ञा स्त्री० [सं०] पति के विदेश जाने से दुःखित स्त्री। प्रवस्यत्प्रेयसी। वह नायिका जो अपने पति के परदेस में होने के कारण दुखी हो। विदेश गए हुए व्यक्ति की शोकातुर स्त्री या प्रेमिका। (साहित्य में इसके मुग्धा, मध्या, स्वकीया, परकीया आदि अनेक भेद माने गए हैं।)

प्रोषितप्रेयसी–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रोषितपतिका।"

प्रोषितभर्त्तृका–संज्ञा स्त्री० दे० "प्रोषितपतिका।"

प्रोषितभार्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह नायक जो अपनी भार्या के विदेश जाने के कारण दुःखी हो।

प्रोष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली। सौरी। (२) गौ। गाय। (३) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम जो दक्षिण में था।

प्रोष्ठपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूर्व भाद्रपद और उत्तरभाद्रपद नक्षत्र। (२) भाद्रपद मास। भादों का महीना।

प्रोष्ठपदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद नक्षत्र।

प्रोष्ठपदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्रपद मास की पूर्णिमा।

प्रोष्ठपाद–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद नक्षत्र।

प्रोष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सौरी नाम की मछली।

प्रोष्ण–वि० [सं०] जो बहुत गरम हो। अत्यंत उष्ण।

प्रोह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी का पैर। (२) तर्क। (३) पर्व।
वि० बुद्धिमान्। चतुर।

प्रोहित‡–संज्ञा पुं० दे० "पुरोहित"।

प्रौढ़–वि० [सं०] [स्त्री० प्रौढ़ा] (१) अच्छी तरह बढ़ा हुआ। (२) जिसकी अवस्था अधिक हो चली हो। जिसकी युवावस्था समाप्ति पर हो। (३) पक्का। पुष्ट। मजबूत। दृढ़। (४) पुराना। (५) गंभीर। गूढ़। (६) निपुण। होशियार। चतुर।
संज्ञा पुं० तांत्रिकों का चौबीस अक्षरों का एक मंत्र।

प्रौढ़ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रौढ़ होने का भाव। प्रौढ़त्व।

प्रौढ़त्व–संज्ञा पुं० [सं०] प्रौढ़ होने का भाव। प्रौढ़ता।

प्रौढ़पाद–संज्ञा पुं० [सं०] पैर के दोनों तलुए जमीन पर रखकर बैठना। उकड़ूँ बैठना। (शास्त्रों में इस प्रकार बैठकर, भोजन, स्नान, तर्पण, पूजन, अध्ययन आदि कार्य करने का निषेध है।)

प्रौढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अधिक वयसवाली स्त्री। वह स्त्री जिसे जवान हुए बहुत दिन हो चुके हों। (२) साहित्य में एक नायिका। वह नायिका जो कामकला आदि अच्छी तरह जानती हो। साधारणतः ३० वर्ष से ५० या ५५ वर्ष तक की आयुवाली स्त्री प्रौढ़ा मानी जाती है। भावप्रकाश के अनुसार ऐसी स्त्री वर्षा और वसंत ऋतु में संभोग करने के योग्य होती है। साहित्य में इसके रतिप्रीता और आनंदसम्मोहिता ये दो भेद माने गए हैं। मान-भेदानुसार धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद तथा स्वभावानुसार अन्यसुरतदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता और मानवती ये तीन भेद माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन भेद इसमें लगते हैं।

प्रौढ़ा-अधीरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह प्रौढ़ा नायिका जो अपने नायक में विलाससूचक चिह्न देखने पर प्रत्यक्ष कोप करे। वह प्रौढ़ा जिसमें अधीरा नायिका के लक्षण हों।

प्रौढ़ाधीरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह प्रौढ़ा नायिका जो अपने नायक में विलाससूचक चिह्न देखने पर प्रत्यक्ष कोप न करके व्यंग्य से कोप प्रकट करे। ताना देकर कोप प्रकट करनेवाली प्रौढ़ा।

प्रौढ़ाधीराधीरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में वह नायिका जो अपने नायक में पर-स्त्री-गमन के चिह्न देखने पर कुछ प्रत्यक्ष और कुछ व्यंग्यपूर्वक कोप प्रकट करे। वह प्रौढ़ा जिसमें धीराधीरा के गुण हों।

प्रौढ़ि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सामर्थ्य। शक्ति। (२) धृष्टता। ढिठाई। (३) प्रौढ़ता। (४) वादविवाद।

प्रौढ़ोक्ति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलंकार विशेष–जिसमें जिसके उत्कर्ष का जो हेतु नहीं है वह हेतु कल्पित किया जाय। (२) गूढ़ रचना। किसी बात को बहुत बढ़ाकर कहना।

प्रौष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] सौरी मछली।

प्रौष्ठपद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर के निधिरक्षकों में से एक का नाम। (२) भाद्रमास का नाम। भादों।

प्रौष्ठपदिक–संज्ञा पुं० [सं०] भाद्रपद। भादों।

प्रौष्ठपदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्रमास की पूर्णिमा।

प्लक–संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का कमर के नीचे का भाग।

प्लक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाकर नाम का वृक्ष। पिलखा। (२) पुराणानुसार सात कल्पित द्वीपों में से एक द्वीप का नाम। कहते है कि यह जंबुद्वीप के चारों ओर है और दो लाख योजन विस्तृत है। इसमें शांतभव, शिशिर, सुखोदय, आनंद, शिव, क्षेमक और ध्रुव नामक सात वर्ष और और गोमेद, चंद्र, नारद, दुंदुभि, सोमक, सुमना और वैभ्राजक नाम के सात पर्वत माने जाते हैं। भागवत में इसके वर्षों का नाम शिव, वयस, सुभद्र, शांत, क्षेम, अमृत और अभय तथा पर्वतों का नाम मणिकूट, वज्रकूट, इंद्रसोम, ज्योतिष्मान्, सुवर्ण, हिरण्यष्ठीन और मेघमाल लिखा है। विष्णुपुराण के अनुसार इसमें अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रमू, अमृता और सुकृता नाम की सात नदियाँ हैं; पर भागवत में उनका नाम अरुणा, नृमला, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतंभरा और सत्यंभरा दिया है। कहते हैं कि इस द्वीप में युग-व्यवस्था नहीं है, इसमें सदा त्रेतायुग बना रहता है। यहाँ चातुर्वर्ण्य का नियम है। इस द्वीप में प्लक्ष का एक बहुत बड़ा वृक्ष है, इसी से इसे प्लक्षद्वीप कहते हैं। (३) अश्वत्थवृक्ष। पीपल। (४) बड़ी खिड़की या दरवाजा। (५) एक तीर्थ का नाम।

प्लक्षजाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी का एक नाम।

प्लक्षतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार एक तीर्थ का नाभ।

प्लक्षराज–संज्ञा पुं० [सं०] उस स्थान का नाम जहाँ से सरस्वती नदी निकलती है।

प्लक्षादेवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी।

प्लक्षावतरण–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक स्थान का नाम जहाँ से सरस्वती नदी निकलती है।

प्लति–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषि का नाम।

प्लवंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वानर। बंदर। (२) साठ संवत्सरों में से इकतालीसवाँ संवत्सर। (३) मृग। हिरन। (४) प्लक्ष। पाकर।

प्लवंगम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक छंद जिसके प्रत्येक पाद में ८+१३ के विराम से २१ मात्राएँ, आदि का वर्ण गुरु

और अंत में १ जगण और १ गुरु होता है। (२) बंदर। (३) मेंढक।

प्लव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साठ संवत्सरों में से पैंतीसवाँ संवत्सर। (२) मुरगा। (३) उछलकर वा उड़कर जानेवाले पक्षी। (४) कारंडव पक्षी। (५) मेढक। (६) बंदर। (७) भेड़। (८) चांडाल। (डिं०)। (९) शत्रु। दुश्मन। (१०) नागरमोथा। (११) मछली पकड़ने का काठ का टापा। (१२) नहाना। (१३) तैरना। (१४) नदी की बाढ़। (१५) एक प्रकार का बगला। (१६) कोई जलपक्षी। (१७) शब्द। आवाज। (१८) अन्न। (१९) गोपालकरंज।

वि० (१) तैरता हुआ। (२) झुकता हुआ। (३) क्षणभंगुर।

प्लवक-वि० [सं०] तैरनेवाला। पैराक।

संज्ञा पुं० (१) तलवार की धार पर नाच करनेवाला पुरुष। (२) मेंढक। (३) पाकर वृक्ष।

प्लवग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरस का पेड़। (२) बंदर। (३) मेंढक। (४) हरिन। (५) जलपक्षी। (६) सूर्य का सारथी।

वि० (१) कूदनेवाला। उछलनेवाला। (२) तैरनेवाला।

प्लवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उछलना। कूदना। (२) तैरना।

प्लवर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। आग। (२) जलपक्षी।

प्लविता-वि० [सं० प्लवितृ] [स्त्री० प्लवित्री] तैरनेवाला। तैराक।

प्लांचेट-संज्ञा पुं० [अं०] मेस्मेरेज्म पर विश्वास रखनेवालों के काम की पान के आकार की लकड़ी की एक छोटी तख्ती। इसके चौड़े भाग के नीचे दो पाये मढ़े हुए होते हैं जिनके नीचे छोटे छोटे पहिए लगे हुए होते हैं और आगे की नोक की ओर एक छेद होता है जिसमें एक पेंसिल लगा दी जाती है। कहते हैं कि जब एक या दो आदमी उस तख्ती पर धीरे से अपनी उँगलियाँ रखते हैं तब वह खसकने लगती है और उसमें लगी हुई पेंसिल से लकीरें, अक्षर, शब्द और वाक्य बनते हैं जिनसे लोग अपने प्रश्नों का उत्तर निकाला करते हैं अथवा गुप्त भेदों का पता लगाया करते हैं। इसका आविष्कार १८५५ में हुआ था और इसके संबंध में कुछ दिनों तक लोगों में बहुत से झूठे विश्वास थे।

प्लाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाखर का फल। (२) प्लक्ष का भाव।

वि० प्लक्ष-संबंधी। प्लक्ष का।

प्लाक्षायन-संज्ञा पुं० [सं०] प्लाक्षि के गोत्र में उत्पन्न।

प्लाट-संज्ञा पुं० [अं०] (१) इमारत बनाने या खेती आदि करने के लिये जमीन का टुकड़ा। (२) ऐसी जमीन का बना हुआ नकशा। (३) कोई कार्य करने का निश्चित किया हुआ ढँग। मनसूबा। (४) उपन्यास, नाटक या काव्य आदि की वस्तु या मुख्य कथा-भाग। वस्तु। (५) गुप्त और हानि करनेवाली कार्रवाई। षड्यंत्र। साजिश।

प्लाटफार्म-संज्ञा पुं० दे० "प्लेटफार्म"।

प्लाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोता। डुबकी। (२) परिपूर्णता।

प्लावन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाढ़। सलाब। जैसे, जलप्लावन। (२) खूब अच्छी तरह धोना। बोर। (३) किसी चीज को ऊपर फेंकना। (४) तैरना।

प्लावित-वि० [सं०] जो जल में डूब गया हो। पानी में डूबा हुआ।

प्लाव्य-वि० [सं०] जल में डुबाने के योग्य। जो जल में डुबाया जाय।

प्लाशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुरुष के मूत्रेंद्रिय की जड़ के पास की नाड़ी।

प्लाशुक-वि० [सं०] जो शीघ्र पक जावे। शीघ्र तैयार होनेवाला।

प्लास्टर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) डाक्टरी के अनुसार वह औषध जो शरीर के किसी रुग्न अंग पर उसे अच्छा करने के लिए लगाई जाय। औषध-लेप।

क्रि० प्र०—लगाना।—चढ़ाना।

(२) ईंटों आदि की दीवारों पर लगाने के लिये सुर्खी चूने आदि का गाढ़ा लेप। पलस्तर।

प्लास्टर आफ पेरिस-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का अँगरेजी मसाला जो बहुत ठोस और कड़ा होता है और जो धातु, चीनी, पत्थर और शीशे आदि के पदार्थों को जोड़ने और मूर्त्तियाँ आदि बनाने के काम में आता है। जिस अवस्था में जोड़ने या छेद आदि बंद करने में और मसाले काम नहीं आते उस अवस्था में यह बहुत उपयोगी होता है। ज्योंही यह जल में मिला कर कहीं लगाया जाता है त्योंही वह दृढ़तापूर्वक बैठ जाता और फैलकर संधियों आदि को भरने लगता है। प्लेस्टर डी पेरिस।

प्लीडर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह जो वकालत करता हो। वकील। (२) किसी का पक्ष लेकर वाद विवाद करनेवाला।

प्लीहघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] रोहड़ा वृक्ष।

प्लीहशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] प्लीहघ्न। रोहड़ा वृक्ष।

प्लीहा-संज्ञा स्त्री० [सं० प्लीहन्] (१) पेट की तिल्ली। बरवट। विशेष—दे० "तिल्ली"। (२) वह रोग जिसमें रोगी की तिल्ली बढ़ जाती है। दे० "तिल्ली"।

प्लीहाकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग का नाम जो कान के पास होता है।

प्लीहारि-संज्ञा पुं० [सं०] अश्वत्थ।

प्लीहार्णवरस–संज्ञा पुं०[सं०] प्लीहा के एक औषध का नाम। ईंगुर, गंधक, सोहागा, अभ्रक और विष आठ आठ तोले लेकर और उसमें चार चार तोला मिर्च और पीपल मिलाकर छः छः रत्ती की गोलियाँ बनाई जाती हैं। यह निर्गुंडी के रस और मधु के साथ दी जाती है।

प्लीहाविद्रधि–संज्ञा पुं० [सं०] तिल्ली का एक रोग जिसमें रुक रुककर साँस आती है।

प्लीहाशत्रु–संज्ञा पुं० [सं०] रोहड़ा।

प्लीहोदर–संज्ञा पुं० [सं०] प्लीहा रोग। तिल्ली।

प्लीहोदरी–वि० [सं०प्लीहोदारिन्] [स्त्री० प्लीहोदारिणी] जिसे प्लीहा रोग हुआ हो। प्लीहारोगग्रस्त।

प्लुष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। आग। (२) स्नेह। प्रेम।

प्लुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घोड़े की एक चाल का नाम जिसे पोई कहते हैं। (२) टेढ़ी चाल। उछाल। (३) स्वर का एक भेद जो दीर्घ से भी बड़ा और तीन मात्रा का होता है। (४) वह ताल जो तीन मात्राओं का हो। (संगीत) वि० (१) कंप-गति-युक्त। जो काँपता हुआ चले। (२) प्लावित। (३) तराबोर। (४) जिसमें तीन मात्राएँ हों।

प्लुतगति–वि० [सं०] जो कूद कूदकर चलता हो।

प्लुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उछल कूद की चाल। (२) पोई। (३) वह वर्ण जो तीन मात्राओं से बोला गया हो।

प्लुष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाह। जलना। (२) पूर्ति। (३) स्नेह। प्रेम।

प्लुष्ट–वि० [सं०] दग्ध। जला हुआ।

प्लेग–संज्ञा पुं० [अं०] (१) भयंकर और संक्रामक रोग जिसके फैलने पर बहुत अधिक लोग मरते हैं। (२) एक संक्रामक रोग जो प्रायः जाड़े में फैलता है। इसमें रोगी को बहुत तेज ज्वर आता है और जाँघ या बगल में गिलटी निकल आती है। यह रोग प्रायः ३–४ दिन में ही रोगी के प्राण ले लेता है और कभी कभी इसके १०० में से ९०–९५ तक रोगी मर जाते हैं। कहते हैं कि छठी शताब्दी में यह रोग पहले पहल लेवांट से युरोप में गया था और वहीं से अनेक देशों में फैला। इधर सन् १९०० से भारत में इसका विशेष प्रकोप था पर अब कुछ कम हो गया है।

प्लेट–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी धातु का पत्तर या पतला पीटा हुआ टुकड़ा। चादर। (२) छिछली थाली। तश्तरी। रिकाबी। (३) सोने चाँदी आदि का बना हुआ प्याला या किसी प्रकार की तख्ती जो किसी (विलायती) खेल में बाजी जीतनेवाले को पुरस्कार और प्रमाण के रूप में दी जाय। जैसे, घुड़दौड़ का प्लेट, क्रिकेट का प्लेट। (४) धातु का बना हुआ वह चौड़ा पत्तर जिस पर कोई लेख आदि खुदा या बना हो। यह कई कामों में आता है। जैसे, दरवाजे पर साइनबोर्ड की जगह लगाने के लिये, लेखों आदि के चित्र छापने के लिये, पुस्तकों आदि की जिल्द पर नाम आदि का ठप्पा करने के लिये। (५) फोटो लेने का वह शीशा जो प्रकाश में पहुँचते ही अपने ऊपर पड़नेवाली छाया को स्थायी रूप से ग्रहण कर लेता है। पीछे से इसी शीशे से फोटो-चित्र छापे और तैयार किए जाते हैं।

प्लेटफार्म–संज्ञा पुं० [अं०] (१) कोई चौकोर और समतल चबूतरा, विशेषतः किसी इमारत आदि में इस उद्देश्य से बना चबूतरा कि उस पर खड़े होकर लोग वक्तृता या उपदेश दें। (२) रेलवे स्टेशनों पर बना हुआ वह ऊँचा और बहुत लंबा चबूतरा जिसके सामने आकर रेल-गाड़ी खड़ी होती है, और जिस पर से होकर यात्री रेल पर चढ़ते या उससे उतरते हैं।

प्लैटिनम–संज्ञा पुं० [अं०] चाँदी के रंग की एक प्रसिद्ध बहुमूल्य धातु जो अठारहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण अमेरिका से युरोप गई थी। यह धातु शुद्ध रूप में नहीं पाई जाती और इसमें कई धातुओं का कुछ न कुछ मेल रहता है। यह प्रायः सब धातुओं से अधिक भारी होती है और इसके पत्तर पीटे या तार खींचे जा सकते हैं। यह आग से नहीं पिघल सकती, बिजली अथवा कुछ रासायनिक क्रियाओं की सहायता से गलाई जाती है। इसमें मोरचा नहीं लगता और न इस पर तेजाबों आदि का कोई प्रभाव होता है। इसी लिए बिजली के तथा और अनेक रासायनिक कार्य्यों में इसका व्यवहार होता है। रूस में कुछ दिनों तक इसके सिक्के भी चलते थे। दक्षिण अमेरिका के अतिरिक्त यह यूराल पर्वत तथा बोर्नियो द्वीप में भी पाई जाती है।

प्लोत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पट्टी। (२) पित्त का विकार जो मुँह से गिरता है।

प्लोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भक से जल जाना। (२) दाह। जलन।

फ

फ–हिंदी वर्णमाला में बाईसवाँ व्यंजन और पवर्ग का दूसरा वर्ण। इसके उच्चारण का स्थान ओष्ठ है और इसके उच्चारण में आभ्यंतर प्रयत्न होता है। इसे उच्चारण करने में जीभ का अगला भाग होठों से लगता है। इसलिये इसे स्पर्शवर्ण कहते हैं। इसके बाह्य प्रयत्न, संवार, श्वास और अघोष हैं। इसकी गिनती महाप्राण में होती है। प, ब, भ और म इसके सवर्ण हैं।

फंका–संज्ञा स्त्री० दे० "फाँक"।

फंका*–संज्ञा पुं० [हिं० फाँकना, फाँक] [स्त्री० फंकी] (१) सूखे दाने वा बुकनी की उतनी मात्रा जितनी एक बार मुँह में फाँकी जा सके ।

मुहा०–फंका करना = नाश करना । नष्ट करना । फंका मारना = मुँह में फंका डालना ।

(२) कतरा । टुकड़ा । खंड । उ०—(क) केते घर घर के आयुध करके केते सरके संक भरे । तेहिं सूरज बंका दै रन हंका करि अरि फंका दूरि करे ।—सूदन । (ख) सिद्ध सो समृद्ध पाय सिद्ध से अघाय रहे केते परसिद्ध सब अंगन को करैं फंक ।—गोपाल ।

फंकी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फंका] (१) चूर्ण आदि की पुड़िया जो सूखी फाँकी जाय । फाँकने की दवा । (२) उतनी दवा जितनी एक बार में फाँकी जाय ।

‡संज्ञा स्त्री० [हिं० फाँक] छोटी फाँक । छोटा टुकड़ा ।

फंग*–संज्ञा पुं० [सं० बंध] (१) बंधन । फंदा । उ०—(क) जमुना चली राधिका गोरी । युवति वृंद बिच चतुर नागरी देखे नंदसुअन तेहि हेरी । व्याकुल दशा जानि मोहन की मन ही मन डरपी उन को री । चतुर काम फँग परे कन्हाई अब धौं इनहिं बुझावै को री ।—सूर । (ख) जाहु चलो मैं जानी तो कों । आजुहि पढ़ि लीनी चतुराई कहा दुरावति मो कों । एही व्रज तुम हम नँदनंदन दूरि कतहुँ नहिं जैहो । मेरे फंग कबहुँ तो परिहैा मुजरा तबही दैहों ।—सूर । (ग) सोभा सिंधु संभव से नीके नीके नग हैं मातु पितु भाग बस गए परि फंग हैं ।—तुलसी । (२) राग । अनुराग । उ०—सुनत सखी तहँ दौरी गई । सुने श्याम सुखमा के आए धाई तरुणि नई । कोउ निरखति मुख कोउ निरखति अँग कोउ निरखति रंग औार । रैनि कहूँ फंग पगे कन्हाई कहति सबै करि रैार ।—सूर ।

फंजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारंगी या ब्राह्मणयष्टिका नाम का क्षुप । (२) देवताड़ । (३) जवासा । हिँगुवा । (४) दंती वृक्ष ।

फंजिपत्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी ।

फंजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारंगी या ब्रह्मनेष्टि नामक क्षुप । (२) मजीठ । (३) दंती वृक्ष ।

फंट‡–संज्ञा पुं० दे० "फणि" ।

फंड–संज्ञा पुं० [अं०] वह धन वा संपत्ति जो किसी नियत काम में लगाने के लिये एकत्र की जाय । कोश ।

फंद–संज्ञा पुं० [सं० बंध, हिं० फंदा] (१) बंध । बंधन । उ०—(क) जाका गुरु है अंधरा चेला खरा निरंध । अंधे को अंधा मिला परा काल के फंद ।—कबीर । (ख) सुनत वचन प्रिय रसाल जागे अतिशय दयाल भागे जंजाल विपुल दुख कर्दम टारे । त्यागे भ्रमफंद द्वंद निरखि के मुखारविंद सूरदास अति अनंद मेटे मद भारे ।—सूर । (२) रस्सी वा बाल आदि का फंदा । जाल । फाँस । उ०—(क) यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठी मतिमंद । भूषन सजति बिलोकि मृग मनहु किरातिनि फंद ।—तुलसी । (ख) हरि पद कमल को मकरंद । मलिन मति मन मधुप परिहरि विषय नीर रस फंद ।—सूर । (३) छल । धोखा । उ०—हनिहैं निशाचर वृंद । बचिहैं न करिबहु फंद ।—रघुराज । (४) रहस्य । मर्म । उ०—पंडित केरी पोथियाँ ज्यों तीतर को ज्ञान । औारन शकुन बतावहीं अपना फंद न जान ।—कबीर । (५) दुःख । कष्ट । उ०—शिव शिव जपत मन आनंद । जाहि सुमिरे विघन विनशत कटत जम को फंद । (६) नथ की काँटी फँसाने का फंदा । गूँज । उ०—मद माती मनोज के आसव सों अँग जासु मनों रंग केसरि को । सहजे नथ नाक ते खोलि धरी कह्यो कौन धों फंद या सेसरि को ।—कमलापति ।

फंदना*–क्रि० अ० [सं० बंधन वा फंदा] फंदे में पड़ना । फँसना । उ०—(क) आसा आस जग फंदियो रहै उरध लपटाय । राम आस पूरन करे सकल आस मिटि जाय ।—कबीर । (ख) प्रान-पखेरू परे तलफैं लखि रूप चुगो सु फँदे गुन-गाथन ।—आनंदघन । (ग) दुहुँ ओर सों फाग मड़ी उमड़ी जहाँ श्री चढ़ी भीर ते भारी भिरी । धधकी दै गुलाल की धूधुर में धरी गोरी लला मुख मीड़ि सिरी । कुच कंचुकी कोर छुए छरकै पजनेस फँदी फरकै ज्यों चिरी । झरपै झपै कौंधे कढ़ै तरिता तरिपै मनो लाल घटा में घिरी । (घ) मोको निंदि पर्वतहि बंदत । चारौ कपट पंछि ज्यों फंदत ।—सूर ।

क्रि० स० [हिं० फाँदना] फाँदना । लाँघना । उल्लंघन करना । उ०—बढ़यो वीर राजा करे जोर हल्ला । फँद्यो धाय खाईं कर्यो लोग हल्ला ।—सूदन ।

फंदरा–संज्ञा पुं० दे० "फंदा" ।

फंदवार–वि० [हिं० फंदा] जो फंदा लगावे । फंदा लगानेवाला । उ०—(क) पायन धरा ललाट तिन विनय सुनहु हो राय । अलक परी फँदवार है कैसहि तजै न पाय ।—जायसी । (ख) अस फँदवार केस वै परा सीस के फाँद । अष्टाकुली नाग सब उरझे केस के बाँद ।—जायसी ।

फंदा–संज्ञा पुं० [सं० पाश वा बंध] (१) रस्सी या बाल आदि की बनी हुई फाँस । रस्सी तागे आदि का घेरा जो किसी को फँसाने के लिये बनाया गया हो । फनी । फाँद ।

मुहा०—फंदा देना या लगाना = गाँठ लगाकर फंदा तैयार करना ।

यौ०—फंदादार = एक प्रकार की बेल जो गलीचे और कसीदे आदि में बुनी या काढ़ी जाती है ।

(२) पास । फाँस । जाल । उ०—(क) अक्षर आस ते फंदा परे । अक्षर लखे तो फंदा टरे ।—कबीर । (ख)

ठगति फिरति ठगिनी तुम नारी। जोइ आवत सोइ सोइ कहिं डारति जाति जनावति दै दै गारी। फँसिहारिनि बटपारिनि हम भईं आपुनि भए सुधर्मा भारी। फंदा फाँसि कमान बान सों काहू देख्यो डारत मारी। जाको मन जैसो ही बरतै मुख बानी कहि देत उघारी। सुनहु सूर प्रभु नीको जान्यो बट युवती तुम सब बटपारी।—सूर।

मुहा०—किसी पर फंदा पड़ना = जाल पड़ना। फँसना। **फंदा लगना** = (१) जाल फैलना। (२) ढंग लगना। धोखा चल जाना। जैसे, इन पर तुम्हारा फंदा नहीं लगेगा। **फंदा लगाना** = (१) जाल फैलाना। किसी को फँसाने के लिये जाल लगाना। (२) किसी को अपनी चाल में लाने का प्रयत्न करना। धोखा देना। **फंदे में पड़ना** = (१) धोखे में पड़ना। जाल में फँसना। (२) वशीभूत होना। किसी के वश में होना।

(३) बंधन। दुःख। कष्ट। उ०—परिवा छट्ठ एकादस नंदा। दुइज सत्तिमी द्वादस फंदा।—जायसी।

फँदाना–क्रि० स० [हिं० फंदना] फंदे में लाना। जाल में फँसाना। उ०—(क) लसत ललित कर कमल-माल पहिरावत। काम फंद जनु चंदहि बनज फँदावत।—तुलसी। (ख) मेरे माई लोभी नैन भए। कहा कहौं ये कह्यो न मानत बरजत ही जो गए। रहत न घूँघट ओट भवन में पलक कपाट दए। लिए फँदाहु विहंगम मानों मदन व्याध बिधए। नहिं परमित मुख इंदु सुधानिधि सोभा नितहि नए। सूर श्याम तनु पीत बसन छबि अंग अनँग जितए।—सूर। (ग) अलक डोर मुख छबि नदी बेसर बंसी लाइ। दै चारा मुकतानि को मो चित चली फँदाइ।—मुबारक।

क्रि० स० [सं० स्पंदन, फंदन] उछालना। कुदाना। फाँदने का काम दूसरे से कराना। उ०—उनके पीछे रथों के ताँते दृष्टि आते थे, उनकी पीठ पर घुड़चढ़ों के यूथ के यूथ वर्ण वर्ण के घोड़े गोटे पट्ठे वाले गजगान पाखर डाले, जमाते ठहराते नचाते कुदाते, फँदाते चले जाते थे।—लल्लू।

फँफाना†–क्रि० अ० [अनु०] (१) शब्द उच्चारण के समय जिह्वा का काँपना। हकलाना। उ०—झोला-बाइ सों फँफात। बोला काल ज्यों हँकात।—सूदन। (२) आग पर खौलते दूध का फेन छोड़कर ऊपर उठना।

फँसना–क्रि० स० [सं० पाश, हिं० फाँस] (१) बंधन में पड़ना। पकड़ा जाना। फंदे में पड़ना। उ०—हाय संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ पर इसी में फँसी पड़ी हूँ।—हरिश्चंद्र। (२) अटकना। उलझना। जैसे, काँटे में फँसना। दलदल में फँसना। काम में फँसना। उ०—(क) यही कहे देता है तू किसी की प्रीति में फँसी है।—हरिश्चंद्र। (ख) ऐसी दशा रघुनाथ लखे यहि आचरजै मति मेरी फँसे।—रघुनाथ।

मुहा०—किसी से फँसना = किसी से प्रेम होना। किसी से अनुचित संबंध होना। **बुरा फँसना** = आपत्ति में पड़ना। विपत्ति में पड़ना। उ०—हा! मेरी सखी बुरी फँसी।—हरिश्चंद्र।

फँसनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फँसना] एक प्रकार की हथौड़ी जिससे कसेरे लोटे, गगरे आदि का गला बनाते हैं।

फँसाना–क्रि० स० [हिं० फँसना] (१) फंदे में लाना या अटकाना। बझाना। उ०—और जो कदाचि काहू देवता को होय छल तौ तो ताहि नीके ब्रह्मफाँस सों फँसाइयो।—हनुमान। (२) वशीभूत करना। अपने जाल या वश में लाना। जैसे, इन्होंने एक मालदार असामी को फँसाया है। (३) अटकाना। बझाना। उ०—गायगो री मोहनी सुराग बाँसुरी के बीच कानन सुहाय मार मंत्र को सुनायगो। नायगो री नेह डोरी मेरे गर में फँसाय हृदय थैली बीच चाय बेलि को बँधायगो।—दीनदयाल गिरि।

फँसिहारा–वि० [हिं० फाँस + हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० फाँसिहारिनि] फँसानेवाला। उ०—ठगति फिरति ठगिनी तुम नारी। जोइ आवति सोइ सोइ कहि डारति जाति जनावति दै दै गारी। फँसिहारिन बटपारिनि हम भई आन भए सुधर्मा भारी। फँदा फाँसि कमान बान सों काहू देख्यो डारत मारी। जाके मन जैसोई बरतै मुखबानी कहि देत उघारी। सुनहु सूर प्रभु नीके जान्यो व्रज युवती तुम सब बटपारी।—सूर।

फ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटु वाक्य। रूखा वचन। (२) फुत्कार। फुफ्कार। (३) निष्फल भाषण। (४) यज्ञसाधन। (५) अंधड़। (६) जम्हाई। (७) स्फुट। (८) फललाभ।

फक–वि० [सं० स्फटिक] (१) स्वच्छ। सफेद। (२) बदरंग।

मुहा०—रंग फक हो जाना या फक पड़ जाना = हक्का बक्का हो जाना। घबरा जाना। चेहरे का रंग फीका पड़ जाना। जैसे, हमें देखते ही उनके चेहरे का रंग फक हो जाता है।

संज्ञा स्त्री० [अ०] दो मिली हुई चीजों का अलग अलग होना। मोक्ष। छूटना।

मुहा०–फक रेहन = बंधन से मुक्त होना। **फक कराना** = छुड़ाना।

फकड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फकण + ई० (प्रत्य०)] दुर्दशा। दुर्गति। उ०–खूबों में अगर जावैं तो होती है यह फकड़ो। खैंचै है कोई हाथ कोई छीनै है लकड़ी।—नजीर।

फकत–वि० [अ०] (१) बस। अलम्। पर्य्याप्त। (२) केवल। सिर्फ। उ०—एक औरत ने फकत कहा है कि नाक कान काट लूँगी और तुम यहाँ दौड़ आए, तुम्हें शरम नहीं आती।—दुर्गाप्रसाद।

फकीर–संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० फकीरन, फकीरनी] (१) भीख माँगनेवाला। भिखमंगा। भिक्षुक। उ०—साहिन के उमराव जितेक सिवा सरजा सब लूट लए हैं। भूषन ते बिनु दौलत ह्वै कै फकीर ह्वै देस विदेस गए हैं।—भूषण। (२)

साधु । संसारत्यागी । उ०—उदर समाता अन्न ले तनहि समाता चीर । अधिकहि संग्रह ना करै तिसका नाम फकीर ।—कबीर । (३) निर्धन मनुष्य । वह जिसके पास कुछ न हो ।

फकीरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फकीर+ई] (१) भिखमंगापन । (२) साधुता । (३) निर्धनता । (४) एक प्रकार का अंगूर ।

फक्किका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१)वह जो शास्त्रार्थ में दुरूह स्थल को स्पष्ट करने के लिये पूर्वपक्षरूप में कहा जाय । कूटप्रश्न । (२) अनुचित व्यवहार । (३) धोखेबाजी ।

फखर–संज्ञा पुं० [फा० फ़ाखर] गौरव । गर्व । अभिमान । जैसे, आपको अपने इल्म का बहुत फखर है ।

फग*–संज्ञा पुं० दे० "फंग" । उ०—आँधरो अधम जड़ जाजरो जारज बन सूकर के सावक ढका ढकेलो मग में । गिरो हिए हहरि हराम हन्यौ हाय हाय करत परीगो जाय काल फग में । तुलसी विसोक है तिलोकपति लोक गयो नाम को प्रताप पात विदित है जग में । सोई राम नाम को सनेह सो जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जात अग में ।—तुलसी ।

फगुआ–संज्ञा पुं० [हिं० फागुन] (१) होली । होलिकोत्सव का दिन । (२) फागुन के महीने में लोगों का वह आमोद प्रमोद जो वसंत ऋतु के आगमन के उपलक्ष में माना जाता है । इसमें लोग परस्पर एक दूसरे पर रंग कीच आदि डालते हैं और अनेक प्रकार के विशेषतः अश्लील गीत गाते हैं । फाग । उ०—दीन्हें मारि असुर हरि ने तब दीन्हों देवन राज । एकन को फगुआ इंद्रासन इक पताल को साज ।—सूर ।

मुहा०–फगुआ खेलना = होली के उत्सव में रंग गुलाल आदि एक दूसरे पर डालना । उ०—बन घन फूले टेसुआ बगियन बेलि । चले विदेस पियरवा फगुआ खेलि ।—रहीम । **फगुआ मानना** = फागुन में स्त्री पुरुषों का परस्पर मिलकर रंग खेलना और गुलाल मलना आदि । उ०—खेलत बसंत राजाधिराज । देखत नभ कौतुक सुर समाज । नूपुर किंकिन पुनि अति सुहाइ । ललनागन जब गहि धरहिं धाइ । लोचन आँजहिँ फगुआ मनाइ । छाड़हिँ नचाइ हा हा कराइ ।—तुलसी ।

(३) फागुन के महीने में गाए जानेवाले गीत, विशेषतः अश्लील गीत । (४) वह वस्तु जो किसी को फाग के उपलक्ष्य में दी जाय । फगुआ खेलने के उपलक्ष में दिया जानेवाला उपहार । उ०—(क) ज्यों ज्यों पट झटकति हटति हँसति नचावति नैन । त्यों त्यों निपट उदार ह्वै फगुआ देत बनै न ।—बिहारी । (ख) कहैं कबीर ये हरि के दास । फगुआ माँगैं बैकुंठवास ।—कबीर ।

क्रि० प्र०—देना ।

फगुआना‡–क्रि० स० [हिं० फगुआ] किसी के ऊपर फागुन के महीने में रंग छोड़ना या उसे सुनाकर अश्लील गीत गाना ।

फगुन–संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम ।

फगुनहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० फागुन + हट (प्रत्य०)] (१) फागुन में चलनेवाली तेज हवा जिसके साथ बहुत सी धूल और वृक्षों की पत्तियाँ आदि भी मिली रहती हैं । (२) फागुन में होनेवाली वर्षा ।

फगुनियाँ†–संज्ञा पुं० [हिं० फागुन+इयाँ (प्रत्य०)] त्रिसंधि नामक फूल ।

फगुहरा–संज्ञा पुं० दे० "फगुहारा" ।

फगुहारा†–संज्ञा पुं० [हिं० फगुआ+हारा (प्रत्य०)] [स्त्री० फगुहारी, फगुहारिन] (१) वह जो फाग खेलने के लिये होली में किसी के यहाँ जाय । उ०—मुँद्यो व्रजमंडल मदन सुख सदन में नंद को नँदन चित चोरन डरत है । अंबर में राधा मुखचंद्र उयो. चाहै तौ लों फगुहारे पाहरुनि सोर सरसत हैं ।—देव । (२) फगुआ गानेवाला पुरुष ।

फजर–संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रातःकाल । सवेरा । उ०—मुझै आया जानै, जाया मानै तौ ठिकाने रहि फजर की गजर बजाऊँ तेरे पास मैं ।—सूदन ।

फजल–संज्ञा पुं० [अ०] अनुग्रह । कृपा । मेहरबानी ।

फजिर†–संज्ञा स्त्री० दे० "फजर" ।

फजिल–†संज्ञा पुं० दे० "फजल" ।

फजीलत–संज्ञा स्त्री० [अ०] उत्कृष्टता । श्रेष्ठता ।

मुहा०—फजीलत की पगड़ी = विद्वत्तासूचक पदक वा चिह्न ।] (मुसलमानों में यह चाल है कि जब कोई पूर्ण विद्वान् होता है और विद्वानों की सभा में अपनी विद्वत्ता को प्रमाणित करता है तब सब विद्वान् वा प्रधान उसके सिर पर पगड़ी बाँधते हैं जिसे फजीलत की पगड़ी कहते हैं । इस पगड़ी को बाँधकर वह जिस सभा में जाता है लोग उसका आदर और प्रतिष्ठा करते हैं ।) उ०—जिन्हें इस हुनर में फजीलत की पगड़ी हासिल है वे क्या नहीं कर सकते ।—भट्ट ।

फजीहत–संज्ञा स्त्री० [अ०] दुर्दशा । दुर्गति । उ०—(क) तुलसी परिहरि हरि हरहि पाँवर पूजहिं भूत । अंत फजीहत होहिंगे गनिका के से पूत ।—तुलसी । (ख) साईं नदी समुद्र को मिली बड़प्पन जानि । जाति नसायो मिलत ही मान-महत की हानि । मान-महत की हानि, कहो अब कैसे कीजै । जल खारी ह्वै गयो ताहि कहो कैसे पीजै । कह गिरधर कविराय कच्छ औ मच्छ सकुचाईं । बड़ी फजीहत होय तबौ नदियन की साईं ।—गिरधरराय ।

फजीहती–संज्ञा स्त्री० दे० "फजीहत" ।

फजूल–वि० [अ० फुजूल] जो किसी काम का न हो । व्यर्थ

निरर्थक । जैसे, (क) वहाँ आने जाने में फजूल १०) खर्च हो गए । (ख) तुम तो दिन भर फजूल बातें किया करते हो ।

फजूलखर्च-वि० [फा०] अपव्ययी । बहुत खर्च करनेवाला ।

फजूलखर्ची-संज्ञा स्त्री० [फा०] व्यर्थ व्यय करना । अपव्यय ।

फट-संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) किसी फैले तल की हलकी पतली चीज के हिलने या गिरने पड़ने का शब्द, जैसे कुत्ते का कान फट फट करना, सूप फट फट करना ।

यौ०—फट फट ।

मुहा०—फट से = तुरंत । झट ।

(२) एक तांत्रिक मंत्र जिसे अस्त्र-मंत्र भी कहते हैं और जिसका प्रयोग पात्रादि प्रक्षालन, अघमर्षण, प्रक्षेपन, अंतरिक्ष विघ्नोत्सादन, करांगन्यास, अग्न्यावाहन आदि में होता है ।

‡ संज्ञा स्त्री० [सं० पट] (१) चटाई या टाट का टुकड़ा जो गाड़ी के नीचे रखा जाता है । फट्ट (बुंदेलखंड) । (२) दुतकार ।

फटक†-संज्ञा पुं० [सं० स्फटिक, पा० फटिकं] बिल्लौर पत्थर । स्फटिक । उ०—सेत फटक जस लागै गढ़ा । बाँध उठाय चहूँ गढ़ मढ़ा ।—जायसी ।

क्रि० वि० तत्क्षण । झट । उ०—कह गिरधर कविराय सुनो हो मेरे नोखे । गयो फटक ही टूटि चोंच दाड़िम के धोखे । —गिरधरराय ।

फटकन-संज्ञा स्त्री० [हिं० फटकना] वह भूसी या दूसरे निरर्थक पदार्थ जो किसी अन्न आदि को फटकने पर निकलकर बाहर या अलग गिरते हैं । वह जो फटककर निकाला जाय ।

फटकना-क्रि० स० [अनु० फट] (१) हिलाकर फट फट शब्द करना । फटफटाना । उ०—देखे नंद चले घर आवत । पैठत पौरि छींक भई बाईं रोई दहिने धाह सुनावत । फटकत श्रवन श्वान द्वार पर गररी करत लराई । माथे पर दै काग उड़ानो कुसगुन बहुत कँपाई ।—सूर । (२) पटकना । झटकना । फेंकना । उ०—पान लै चल्यो नृप आन कीन्हों । गयो सिर नायकै गर्व ही बढ़ाय के शकट को रूप धरि असुर लीन्हों ।......नेक फटक्यो लात शब्द भयो आघात गिर्यो भहरात शकटा संहार्यो । सूर प्रभु नंदलाल दनुज मार्यो ख्याल मेटि जाल ब्रज जन उबार्यो ।—सूर । (३) फेंकना । चलाना । मारना । उ०—(क) असुर गजरूढ़ है गदा मारै पटकि श्याम अँग लागि सो गिरे ऐसे । बाल के हाथ ते कमल अमल नालयुत लागि गजराज तन गिरत जैसे ।—सूर । (ख) राम दल मारि सो वृच्छ चुरकुट कियो द्विविद शिर फटि गयो लगत ताके । बहुरि तरु तोरि पाषाण फटकन लग्यो हल मुसल करन प्रहार बाँके ।—सूर । (४) सूप पर अन्न आदि को हिलाकर साफ करना । अन्न आदि का कूड़ा कर्कट निकालना । उ०—(क) सत सँगति है सूप ज्यों त्यागै फटकि असार । कहै कबीर हरि नाम लै परसै नाहिं विकार ।—कबीर । (ख) पहले फटकै छाज कै थोथा सब उड़ि जाय । उत्तम भाँड़े पाइयै फटकंता ठहराय ।—कबीर ।

मुहा०—फटकना पछोरना = (१) सूप या छाज पर हिलाकर साफ करना । उ०—मूँग मसूर उरद चना दारी । कनक बरन धरि फटक पछारी ।—सूर । (२) अच्छी तरह जाँच पड़ताल करना । ठोंकना बजाना । जाँचना । परखना । उ०—(क) देश देश हम बागिया ग्राम ग्राम की खोरि । ऐसा जियरा ना मिला जो लेइ फटकि पछोरि ।—कबीर । (ख) ऊधो तुम सब साथी भोरे । मेरे कहे बिलगु मानौगे कोटि कुटिल लै जोरे । वे अक्रूर क्रूर कृत जिनके, रीते भरे भरे गहि ढोरे । आपुनि श्याम, श्याम अंतर मन श्याम काम के बेरे । तुम मधुकर निर्गुण निज नीके देखे फटकि पछोरे । सूरदास कारण के संगी कहा पाइयत गोरे ।—सूर ।

(५) रूई आदि को फटके से धुनना ।

क्रि० अ० [अनु०] (१) जाना । पहुँचना । उ०—कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट फटकने नहीं पाते । —प्रेमसागर । (२) दूर होना । अलग होना । उ०—(क) नैना बहुत भाँति हटके । बुधि बल छल उपाय कर थाकी नेकु नहीं भटके । इत चितवत उतही फिरि लागत रहत नहीं अँटके । देखत ही उड़ि गए हाथ ते भए बटा नट के । एकहि परनि परे खग ज्यों हरि रूप माँझ लटके । मिले जाइ हरदी चूना त्यों फिर न सूर फटके । (ख) लोचन भए श्याम के चेरे । एते पर सुख पावत कोटिक मोतन फेरि न हेरे । हा हा करत परत हरिचरनन ऐसे वश्य भए उनही । उनको बदन बिलोकत निसिदिन मेरो कह्यो न सुनही । ललित त्रिभंगी छबि पर अँटके फटके मोसों तोरि । सूरदास यह मेरी कीन्ही आपुनि हरि सों जोरि ।—सूर । (३) तड़फड़ाना । हाथ पैर पटकना । (४) श्रम करना । हाथ पैर हिलाना ।

संज्ञा पुं० गुलेल का फीता जिसमें गुलता रखकर फेंकते हैं ।

फटकरी-संज्ञा स्त्री० दे० "फिटकरी" ।

फटका†-संज्ञा पुं० [अनु०] (१) धुनिए की धुनकी जिससे वह रूई आदि धुनता है । (२) वह लकड़ी जो फले हुए पेड़ों में इसलिये बाँधी जाती है कि रस्सी के हिलाने से वह उठकर गिरे और फट फट का शब्द हो जिससे फल खानेवाली चिड़ियाँ उड़ जायँ अथवा पेड़ के पास न आयँ । (३) कोरी तुकबंदी । रस और गुण से हीन कविता ।

क्रि० प्र०—जोड़ना ।

(४) तड़फड़ाहट

मुहा०—फटकार खाना = तड़फना। तड़फड़ाना।

संज्ञा० पुं० दे० "फाटक"।

संज्ञा पुं० [हिं० फटकन]एक प्रकार की बलुई भूमि जिसमें पत्थर के टुकड़े भी होते हैं और जो उपजाऊ नहीं होती।

फटकाना†–क्रि० स० [हिं० फटकना] (१) अलग करना। फेंकना। उ०—आपुनि चढ़े कदम पर धाई। बदन सकोरि भौंह मोरत हैं हाँक देत करि नंद दुहाई। जाय कहौ मैया के आगे लेहु सबै मिलि मोहिँ बँधाई। मोको जुरि मारन जब धाईं तबहीं दीनी गेंडुरि फटकाई।—सूर। (२) फटकने का प्रेरणार्थक रूप। फटकने का काम दूसरे से कराना।

फटकार–संज्ञा स्त्री० [हिं० फटकारना] (१) फटकारने की क्रिया या भाव। झिड़की। दुतकार। जैसे, दो चार फटकार सुनाओ, तब वह मानेगा।

क्रि० प्र०—सुनाना।—बताना।

(२) शाप। विशेष—दे० "फिटकार"।

फटकारना–क्रि० स० [अनु०] (१) (शस्त्र आदि) मारना। चलाना। उ०—(क) खटपट चोट गदा फटकारी। लागत शब्द कुलाहल भारी।—लल्लू। (ख) अर्जुन अग्निबान फटकारा। सब शर करे निमिष महँ छारा।—सबल०। (२) एक में मिली हुई बहुत सी चीजों को एक साथ हिलाना या झटका मारना जिसमें वे छितरा जायँ। जैसे, दाढ़ी फटकारना, चुटिया फटकारना। उ०—घायन के घमके उठे दियरे डमरु हरि डार। नचे जटा फटकारि के भुज पसारि तत्कार।—लाल। (३)प्राप्ति करना। लेना। लाभ उठाना। जैसे, आजकल तो वे रोज कचहरी से पाँच सात रुपए फटकार लाते हैं। (४) कपड़े को पत्थर आदि पर पटककर साफ करना। अच्छी तरह पटक पटककर धोना। (५) झटका देकर दूर फेंकना। उ०—नीके देहु न मेरी गिंडुरी। लै जैहौं धरि जसुमति आगे आवहु रे सब मिलि कइ झुँड री। काहू नहीं डरात कन्हाई बाट घाट तुम करत अचगरी। जमुनादह गेंडुरी फटकारी फोरी सब सिर की अस गगरी।—सूर। (६) दूर करना। अलग करना। हटाना। (७) क्रुद्ध होकर किसी से ऐसी कड़ी बातें कहना जिससे वह चुप या लज्जित हो जाय। खरी और कड़ी बात कहकर चुप करना। जैसे, आप उन्हें जब तक फटकारेंगे नहीं तब तक वे नहीं मानेंगे।

संयो० क्रि०—देना।

फटकिया–संज्ञा पुं० [देश०] मीठा नामक विष के एक भेद का नाम। यह गोबरिया से कम विषैला होता है और उससे छोटा भी होता है।

फटकी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फटक] (१) टोकरी के आकार का छोटे मुँह का पिंजड़ा जिसमें चिड़ीमार चिड़ियों को पकड़कर रखते हैं। (२) दे० "फटका"।

फटना–क्रि० अ० [हिं० फाड़ना का अ० रूप] (१) आघात लगने के कारण अथवा योंही किसी पोली चीज का इस प्रकार टूटना या खंडित होना अथवा उसमें दरार पड़ जाना जिसमें भीतर की चीजें बाहर निकल पड़ें अथवा दिखाई देने लगें। जैसे, दीवार फटना, जमीन फटना, सिर फटना, जूता फटना। उ०—लागत सीस बीच तें फटें। टूटहि जाँघ भुजा धर कटें।—लल्लू।

मुहा०–छाती फटना=असह्य दुःख होना। मानसिक वेदना होना। बहुत अधिक दुःख पहुँचना। उ०—तुम बिन छिन छिन कैसे कटे। पलक ओट में छाती फटे।–लल्लू। (किसी से) मन या चित्त फटना = विरक्ति होना। संबंध रखने को जी न चाहना। तबीयत हट जाना। जैसे, अब की बार के उसके व्यवहार से हमारा मन फट गया।

(२) झटका लगने के कारण वा और किसी प्रकार किसी वस्तु का कोई भाग अलग हो जाना। जैसे, कपड़ा फटना। किताब फटना। (३) किसी पदार्थ का बीच से कटकर छिन्न भिन्न हो जाना। जैसे, काई फटना, बादल फटना। (४) अलग हो जाना। पृथक् हो जाना। (५) किसी गाढ़े द्रव पदार्थ में कोई ऐसा विकार उत्पन्न होना जिससे उसका पानी और सार भाग दोनों अलग अलग हो जायँ। जैसे, दूध फटना, खून फटना।

संयो० क्रि०—जाना।

(६) किसी बात का बहुत अधिक होना। बहुत ज्यादा होना। (इस अर्थ में प्रायः यह संयो० क्रि० "पड़ना" के साथ बोला जाता है।) जैसे, रूप फटा पड़ना, आफत का फट पड़ना।

मुहा०–फट पड़ना = अचानक आ पहुँचना। सहसा आ पड़ना।

संयो० क्रि०—पड़ना।

(७) असह्य वेदना होना। बहुत अधिक पीड़ा होना। जैसे, मारे दर्द के सिर फट रहा है।

मुहा०–फटा जाना या पड़ना = बहुत अधिक पीड़ा होना। बहुत तेज दरद होना। जैसे, ऐसी पीड़ा है कि हाथ फटा जा रहा है।

फटफट–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) फटफट शब्द होना। (२) बकवाद। व्यर्थ की बात।

क्रि० प्र०—करना।

मुहा०—फटफट होना = तकरार होना। कहा सुनी होना।

(३) जूते आदि के पटकने का शब्द।

फटफटाना–क्रि० स० [अनु०] (१) व्यर्थ बकवाद करना। (२) हिलाकर फटफट शब्द करना। फड़फड़ाना। जैसे, कबूतर

का पर फटफटाना। कुत्ते का कान फटफटाना। (३) हाथ पैर मारना। प्रयास करना। (४) इधर उधर फिरना। टक्कर मारना।

क्रि० अ० फटफट शब्द होना।

फटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साँप का फन। (२) घमंड। शेखी। गरूर। (३) छल। धोखा।

संज्ञा पुं० [हिं० फटना] छिद्र। छेद।

मुहा०–किसी के फटे में पाँव देना = झगड़े के बीच में पड़ना। दूसरे की आपत्ति को अपने ऊपर लेना।

फटिक–संज्ञा पुं० [सं० स्फाटिक, पा० फाटिक] (१) काँच की तरह सफेद रंग का पारदर्शक पत्थर। बिल्लौर। विशेष–दे० "स्फटिक"। उ०—(क) सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।—तुलसी। (ख) जों गज फटिक शिला में देखत दसनन जाय अरत। जो तू सूर सुखहि चाहत है तो क्यों विषय परत।—सूर। (ग) ऐसे कहत गए अपने पुर सबहि विलच्छण देख्यो। मणिमय महल फटिक गोपुर लखि, कनक भूमि अवरेख्यो।—सूर। (२) मरमर पत्थर। संग-मरमर।

फटिका–संज्ञा स्त्री० [सं० स्फाटिक = फटिक] एक प्रकार की शराब जो जौ आदि से खमीर उठाकर बिना खींचे बनाई जाती है।

फट्ठा–संज्ञा पुं० [हिं० फटना] [स्त्री० फट्ठी] चीरी हुई बाँस की छड़। बाँस को बीच से फाड़ या चीरकर बनाया हुआ लट्ठा। फलटा।

संज्ञा पुं० [सं० पट] टाट।

मुहा०—फट्ठा लौटना या उलटना = दिवाला निकालना। टाट उलटना।

फट्ठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फट्ठा] बाँस की चिरी हुई पतली छड़।

फड़–संज्ञा स्त्री० [सं० पण] (१) दाँव। जूए का दाँव जिस पर जुआरी बाजी लगाकर जूआ खेलते हैं। दाँव। (२) वह स्थान जहाँ जुआरी एकत्र होकर जूआ खेलते हों। जूआखाना। जूए का अड्डा। (३) वह स्थान जहाँ दूकानदार बैठकर माल खरीदता या बेचता हो। (४) पच्छ। दल। उ०–हटकि हथ्यार फड़ बाँधि उमरावन की कीन्ही तब नौरंग ने भेंट सिवराज की।—भूषण।

क्रि० प्र०–बाँधना।

संज्ञा पुं० [सं० पटल वा फल] (१) गाड़ी का हरसा। (२) वह गाड़ी जिस पर तोप चढ़ाई जाती है। चरख।

संज्ञा पुं० दे० "फर"।

फड़क–संज्ञा स्त्री० [अनु०] फड़कने की क्रिया या भाव।

फड़कन–संज्ञा स्त्री० [हिं० फड़कना] (१) फड़कने की क्रिया या भाव। फड़फड़ाहट। (२) धड़कन। (३) उत्सुकता। लालसा।

† वि० (१) भड़कनेवाला। जैसे, फड़कन बैल। (२) तेज। चंचल।

फड़कना–क्रि० अ० [अनु०] (१) फड़ फड़ करना। फड़फड़ाना। उछलना। बार बार नीचे ऊपर या इधर उधर हिलना। उ०—जिन तन पै जवानी की पड़ी फड़कै थी बोटी। उस तन को न कपड़ा है न उस पेट को रोटी।—नजीर।

मुहा०–फड़क उठना = उमंग में होना। आनंदित होना। प्रसन्न होना। फड़क जाना = मुग्ध होना।

(२) किसी अंग वा शरीर के किसी स्थान में अचानक स्फुरण होना। किसी अंग में गति उत्पन्न होना। उ०—इतनी बात सुनते ही रुक्मिणीजी की छाती से दूध की धार बह निकली और बाईं बाँह फड़कने लगी।–लल्लू। (लोगों का विश्वास है कि भिन्न भिन्न अंगों के फड़कने का शुभ या अशुभ परिणाम होता है।) (३) हिलना डोलना। गति होना।

मुहा०—बोटी फड़कना = अत्यंत चंचलता होना।

(४) तड़फड़ाना। घबड़ाना। स्थिर न रहना। चंचल होना। क्रिया के लिये उद्यत होना। उ०–लरिबे को दोऊ भुजा फरकैं अति सिहरायँ। कहत बात कासों लरें, का पै अब चढ़ि जायँ।—लल्लू। (५) पच्छियों का पर हिलना।

फड़काना–क्रि० स० [हिं० फड़कना का प्रे०] (१) दूसरे को फड़कने में प्रवृत्त करना। (२) उमंग दिलाना। उत्सुक बनाना। (३) हिलाना। विचलित करना।

फड़कापेलन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बैल जिसका एक सींग तो सीधा ऊपर को होता है और दूसरा नीचे को झुका होता है।

फड़नवीस–संज्ञा पुं० [फा० फर्दनवीस] मराठों के राजत्वकाल का एक राजपद। पहले यह पद केवल उन्हीं लोगों का माना जाता था जो राजसभा में रहकर साधारण लेखकों का काम करते थे। पर पीछे यह पद उन लोगों का माना जाने लगा जो दीवानी या माल-विभाग के प्रधान कर्म्मचारी होते थे। ये लोग लगान वसूल करनेवालों का हिसाब जाँचा और लिया करते थे। बड़े बड़े इनाम या जागीरें देने की व्यवस्था भी ये ही लोग किया करते थे।

फड़फड़ाना–क्रि० स० [अनु०] (१) फड़फड़ शब्द उत्पन्न करना। हिलाना। जैसे, पर फड़फड़ाना। (२) दे० "फटफटाना"।

क्रि० अ० (१) फड़फड़ शब्द होना। (२) घबराना। (३) तड़फड़ाना। (४) उत्सुक होना।

फड़िया–संज्ञा पुं० [हिं० फड़ = दुकान+इया (प्रत्य०)] (१) वह बनिया जो फुटकर अन्न बेचता हो। (२) वह पुरुष जो जूआ खेलाने का व्यापार करता हो। जूए के फड़ का मालिक।

फड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फड़] एक गज चौड़ी, एक गज ऊँची और तीस गज लंबी पत्थरों या ईंटों आदि की ढेरी ।

फ़ड़ुआ, फड़ुहा‡-संज्ञा पुं० [स्त्री० फड़ुही] दे० "फावड़ा" ।

फ़ड़ुही, फ़ड़ुई‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० फड़ वा भाड़] लाई । फ़रवी । संज्ञा स्त्री० [हिं० फड़ुहा] (१) छोटा फावड़ा । (२) एक प्रकार का लकड़ी का कड़छा जिससे नील का माठ मथा जाता है ।

फड़ोलना†-क्रि० स० [सं० स्फरण] किसी चीज को उलटना पलटना । इधर उधर या ऊपर नीचे करना ।

फण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप का सिर उस समय जब वह अपनी गर्दन के दोनों ओर की नलियों में वायु भरकर उसे फैलाकर छत्राकार बना लेता है । फन ।

पर्य्या०—फणा । फटा । फट । स्फट । दर्वी । भोग । स्फुट ।

विशेष—इस शब्द के अंत में धर, कर, भृत्, वत् शब्द लगाकर बनाया हुआ समस्त पद साँप का बोधक बनता है ।

(२) रस्सी का फंदा । मुद्धी । कौआरी । (३) नाव में ऊपर के तखते की वह जगह जो सामने मुँह के पास होती है । नाव का ऊपरी अगला भाग ।

फणकर, फणधर-संज्ञा पुं० [सं०] साँप ।

फणिक-संज्ञा पुं० [सं० फणी+क (प्रत्य०)] साँप । नाग । उ०—(क) सखीरी नंदनंदन देखु । धूरि धूसरि जटा जुटली हरिर किए हर भेखु । नीलपाट पिरोइ मणि गर फणिक धोखे जाय । खुनखुना कर हँसत मोहन नचत डौंरु बजाय ।—सूर । (ख) सुंदर बधुन्ह सासु लेइ सोई । फनिकन जनु सिर मनि उर गोई ।—तुलसी ।

फणिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] काले गूलर का पेड़ ।

फणिकार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम जो बृहत्संहिता के अनुसार दक्षिण में था ।

फणिकेशर-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर ।

फणिचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार नाड़ीचक्र का नाम । यह एक सर्पाकार चक्र होता है जिसमें भिन्न भिन्न स्थानों पर नक्षत्रों के नाम लिखे रहते हैं । इस चक्र से विवाह के समय वर और कन्या की नाड़ी का मिलान किया जाता है । पर यदि वर और कन्या दोनों एक ही राशि के हों तो इस चक्र का मिलान नहीं होता ।

फणिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की तुलसी, जिसकी पत्तियाँ बहुत छोटी छोटी होती हैं ।

फणिजिह्वा, फणिजिह्विका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाशतावरी । बड़ी सतावर । (२) कँगहिया नामक ओषधि । महासमंगा ।

फणिज्झक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटे पत्ते की तुलसी । फणिजा । (२) श्यामा तुलसी । (३) नीबू ।

फणितल्पग-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

फणिपति-संज्ञा पुं० दे० "फणींद्र" ।

फणिप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] वायु । हवा ।

फणिफेन-संज्ञा पुं० [सं०] अफीम ।

फणिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़ ।

फणिमुक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] साँप की मणि ।

फणिमुख-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का चोरों का एक प्रकार का औजार जिससे वे सेंध लगाने के समय मिट्टी खोदकर फेंकते थे ।

फणिलता, फणिवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली । पान ।

फणिहंत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधनाकुली । नेउरकंद ।

फणींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेष । (२) वासुकि । (३) बड़ा साँप ।

फणी-संज्ञा पुं० [सं० फणिन्] (१) साँप । (२) केतु नामक ग्रह । (३) सीसा । (४) मरुवा । (५) सर्पिणी नामक ओषधि ।

फणीश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शेष । (२) वासुकि । (३) बड़ा साँप ।

फतवा-संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों के धर्म्मशास्त्रानुसार (जिसे शरअ कहते हैं) व्यवस्था जो उस धर्म्म के आचार्य्य या मौलवी आदि किसी कर्म के अनुकूल वा प्रतिकूल होने के विषय में देते हैं ।

क्रि० प्र०—देना ।—लेना ।

फतह-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) विजय । जीत । (२) सफलता । कृतकार्य्यता ।

क्रि० प्र०—करना ।—पाना ।—मिलना ।—होना ।

यौ०—फतहमंद ।

फतहमंद-वि० [अ०] जिसे फतह मिली हो । जिसकी जीत हुई हो । विजयी ।

फतिंगा-संज्ञा पुं० [सं० पतंग] [स्त्री० फतिंगी] किसी प्रकार का उड़नेवाला कीड़ा, विशेषतः वह कीड़ा जो बरसात के दिनों में अग्नि या प्रकाश के आसपास मँडराता हुआ अंत में उसी में गिर पड़ता है । पतिंगा, पतंग ।

फतीलसोज़-संज्ञा पुं० [फा०] (१) पीतल या और किसी धातु की दीवट जिसमें एक वा अनेक दीए ऊपर नीचे बने होते हैं । इनमें तेल भरकर बत्तियाँ जलाई जाती हैं । उन दीयों में किसी में एक, किसी में दो और किसी में चार बत्तियाँ जलती हैं । चौमुखा । (२) कोई साधारण दीवट । चिरागदान ।

फतीला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दे० "पलीता" । (२) जरदोजी का काम करनेवालों की लकड़ी की वह तीली जिस पर बेल बूटा और फूलों की डालियाँ बनाने के लिये कारीगर तार को लपेटते हैं ।

फतूर-संज्ञा पुं० [अ०] (१) विकार। दोष।

क्रि० प्र०—आना।

(२) हानि। नुकसान। (३) विघ्न। बाधा।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

(४) उपद्रव। खुराफात।

क्रि० प्र०—उठाना।—खड़ा करना।

फतूरिया-वि० [अ० फतूर + इया (प्रत्य०)] जो किसी प्रकार का फतूर या उत्पात करे। खुराफात करनेवाला। उपद्रवी।

फतूह-संज्ञा स्त्री० [अ० "फतह" का बहुवचन] (१) विजय। जीत। जय। उ०—(क) सुनत फतूह शाह सुख पायो। बढ़ि नवाब को मन सब आयो।—लाल। (ख) दबब्यो जोर सुभट समूह। वह बलिराम लेत फतूह।—सूदन। (ग) पुहुमि को पुरहूत शत्रुशाल को सपूत संगर फतूहैं सदा जासों अनुरागती।—मतिराम। (२) विजय में प्राप्त धन आदि। वह धन जो लड़ाई जीतने पर मिला हो। (३) लूट का माल।

फतूही-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) एक प्रकार की पहनने की कुरती जो कमर तक होती है और जिसके सामने बटन या घुंडी लगाई जाती है। इसमें आस्तीन नहीं होती। सदरी। (२) बहँकटी। सलूका। (३) विजय या लूट का धन। लड़ाई या लूट में मिला हुआ माल।

क्रि० प्र०—मारना।

फते†*-संज्ञा स्त्री० दे० "फतह"।

फतेह-संज्ञा स्त्री० [अ० फतह] विजय। जीत। जय। उ०—(क) सामाँ सैन सयान की सबै साहि के साथ। बाहुबली जयसाहि जू फते तिहारे हाथ।—बिहारी। (ख) भौंसिला अभंग तू तौ जुरत जहाँई जंग तेरी एक फतेह होत मानो सदा संग री।—भूषण। (ग) फिर्यो सुफेरि साथ कों। फते निसान गाथ कों।—सूदन।

फदकना-क्रि० अ० [अनु०] (१) फद फद शब्द करना। भात, रस आदि का पकते समय फद फद शब्द करके उछलना। खदबद करना। (२) दे० "फुदकना"। उ०—फूले फदकत लै फरी पलकटाछ-करवार। करत बचावत बिय नयन पायक घाव हजार।—बिहारी।

फदका†-संज्ञा पुं० [हिं० फटकना] गुड़ का वह पाग जो बहुत अधिक गाढ़ा न हो गया हो।

फदिया†-संज्ञा स्त्री० दे० "फरिया"।

फन-संज्ञा पुं० [सं० फण] (१) साँप का सिर उस समय जब कि वह अपनी गर्दन के दोनों ओर की नलियों में वायु भरकर उसे फैलाकर छत्र के आकार का बना लेता है। फण। उ०—शेषनाग के सहस फन जामें जिह्वा दोय। नर के एकै जीभ है ताही में रह सोय।—कबीर। (२) बाल। (३) भटवाँस।

संज्ञा पुं० दे० "फन"।

फन-संज्ञा पुं० [फा०] (१) गुण। खूबी। (२) विद्या। (३) दस्तकारी। (४) छलने का ढंग। मकर। उ०—नागिन के तो एक फन नारी के फन बीस। जाको डस्यो न फिरि जियै मरिहै बिस्वा बीस।—कबीर।

फनकना-क्रि० अ० [अनु०] हवा में सन सन करते हुए हिलना, डोलना या चलना। फनफन शब्द करना, फनफनाना। उ०—फनंकत सायक चारिहुँ ओर। भनंकत गोलिन की घनघोर।—सूदन।

फनकार-संज्ञा स्त्री० [अनु०] फनफन होने का शब्द। वैसा शब्द जैसा साँप के फूँकने या बैल आदि के साँस लेने से होता है।

फनगना†-क्रि० अ० [सं० स्फुटन, हिं० फुनगी] नए नए अंकुरों का निकलना। कल्ला फूटना। पनपना।

फनगा†-संज्ञा पुं० [हिं० फनगना] (१) नई और कोमल डाली। कल्ला। (२) बाँस आदि की तीली।

संज्ञा पुं० [सं० पतंग] फतिंगा।

फनना†-क्रि० अ० [हिं० फानना] काम का आरंभ होना। काम हाथ में लिया जाना। काम में हाथ लगाया जाना।

फनफनाना-क्रि० अ० [अनु०] (१) हवा छोड़कर वा चीरकर फनफन शब्द उत्पन्न करना। जैसे, साँप का फनफनाना। (२) चंचलता के कारण हिलना या इधर उधर करना। उ०—छन छनत तुरंगम तरह हार। फनफनत बदन उच्छलत वार।—सूदन।

फनस-संज्ञा पुं० [सं० पनस प्रा० फनस] कटहल।

फनिंग*-संज्ञा पुं० [सं० फणींद्र, हिं० फण+इंग (प्रत्य०)] साँप। उ०—दान लैहौं सब अंगनि को। अति मदगलित ताल फल ते गुरु इन युग उरोज उतंगनि को। खंजन कंज मीन मृग सावक भँवर जँवर भुव भंगनि को। कुंदकली बंधूक बिंब फल, बर ताटंक तरंगनि को। कोकिल कीर कपोत किसलता हाटक हंस फनिंगन को। सूरदास प्रभु हँसि बस कीन्हों नायक कोटि अनंगन को।—सूर।

फनिंद*†-संज्ञा पुं० दे० "फणींद्र"।

फनि*-संज्ञा पुं० (१) दे० "फणी"। (२) दे० "फण"।

फनिक, फनिग*-संज्ञा पुं० दे० "फणिक"।

फनिधर-संज्ञा पुं० [सं० फणिधर] साँप।

फनिपति-संज्ञा पुं० दे० "फणिपति"।

फनियाला-संज्ञा पुं० [हिं० देश] गज डेढ़ गज लंबी करघे की एक लकड़ी जिस पर तानी लपेटी जाती है और जिसके

दोनों सिरों पर दो चूलें और चार छेद होते हैं। लपेटन। तूर।

संज्ञा पुं० [हिं० फन+इयाला (प्रत्य०)] साँप।

फनिराज-संज्ञा पुं० [सं० फणिराज] फणींद्र।

फनी*-संज्ञा पुं० दे० "फणी"।

संज्ञा स्त्री० दे० "फण"।

फनूस*-संज्ञा पुं० दे० "फानूस"।

फन्नी-संज्ञा स्त्री० [सं० फण] (१) लकड़ी आदि का वह टुकड़ा जो किसी ढीली चीज की जड़ में उसे कसने या दृढ़ करने के लिये ठोंका जाता है। पच्चर। (२) कंघी की तरह का जुलाहों का एक औजार जो बाँस की तीलियों का बना हुआ होता है और जिससे दबाकर बुना हुआ बाना ठीक किया जाता है।

फफदना†-क्रि० अ० [सं० प्रपतन या अनु०] (१) किसी गीले पदार्थ का बढ़कर फैलना। जैसे, गोबर का फफदना। (२) फैलना। बढ़ना। (चर्मरोग या घाव आदि के संबंध में) जैसे, दाद का फफदना। घाव का फफदना।

फफसा†-संज्ञा पुं० [सं० फुप्फुस] फुप्फुस। फेफड़ा।

वि० (१) फूला हुआ पर अंदर से खाली। पोला। (२) स्वादहीन। फीका।

फफूँदी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० फुबती] स्त्रियों की साड़ी का बंधन। नीबी। उ०—लीन्ही उसास मलीन भई दुति दीन्हीं फुँदी फफूँदी की छपाय कै।—देव।

संज्ञा स्त्री० [हिं० = रूई का फाहा] काई की तरह की पर सफेद तह जो बरसात के दिनों में फल, लकड़ी आदि पर लग जाती है। भुकड़ी।

विशेष—यह वास्तव में खुमी या कुकुरमुत्ते की जाति के अत्यंत सूक्ष्म उद्भिद हैं जो जंतुओं या पेड़-पौधों, मृत या जीवित शरीर पर ही पल सकते हैं। और उद्भिदों के समान मिट्टी आदि द्रव्यों को शरीरद्रव्य में परिणत करने की शक्ति इनमें नहीं होती।

फफोर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जंगली प्याज जो हिमालय में छः हजार फुट की ऊँचाई तक होता है और प्रायः प्याज की जगह काम में आता है।

फफोला-संज्ञा पुं० [सं० प्रस्फोट] आग में जलने से चमड़े पर का पोला उभार जिसके भीतर पानी भरा रहता है। छाला। झलका।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

मुहा०—दिल के फफोले फोड़ना = अपने दिल की जलन या क्रोध प्रकट करना। बुखार निकालना। दिल के फफोले फूटना = दिल की जलन या क्रोध प्रकट होना।

फबकना-क्रि० अ० [हिं० फफदना] (१) दे० "फफदना"। (२) मोटा होना।

फबती-संज्ञा स्त्री० [हिं० फबना] (१) वह बात जो समय के अनुकूल हो। देश कालानुसार सूक्ति। (२) हँसी की बात जो किसी पर घटती हो। व्यंग्य। चुटकी।

मुहा०—फबती उड़ाना = हँसी उड़ाना। फबती कहना = चुभती हुई पर हँसी की बात कहना। हँसी उड़ाते हुए चुटकी लेना। हास्यपूर्ण व्यंग्य कहना।

फबन-संज्ञा स्त्री० [हिं० फबना] फबने का भाव। शोभा। छबि। सुंदरता।

फबना-क्रि० अ० [सं० प्रभवन, प्रा० पभवन] शोभा देना। सुंदर या भला जान पड़ना। खिलना। सोहना। उ०—(क) मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेह। तुलसी तीनिउ तब फबै ज्यों चातक मति लेहु।—तुलसी। (ख) फबि रही मोर चंद्रिका माथे छबि की उठत तरंग। मनहु अमरपति धनुष विराजत नव जलधर के संग।—सूर।

फबाना-क्रि० स० [हिं० फबना का सक० रूप] उपयुक्त स्थान में लगाना। उचित स्थान पर रखना। ऐसी जगह लगाना या रखना जहाँ भला जान पड़े। उ०—कहाँ साँच में खोवत करते झूठे कहाँ फबावत। सूर श्याम नागर नागरि वह हम तुम्हरे मन आवत।—सूर।

फबि*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० फबन] फबने का भाव। फबन। छबि। शोभा। उ०—त्रिबली तटनी तट की पुलिनाई, कोऊ बहि जाय कबौं फबि में।

फबीला-वि० [हिं० फबि+ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० फबीली] जो फबता या भला जान पड़ता हो। शोभा देनेवाला। सुंदर। उ०—जैसे ही पोहि धरयो ठकुराइनि मोती के ये गजरा चटकीले। वैसेइ आय गए रघुनाथ कह्यो हँसि कौन कहैं ये फबीले। नाव तिहारो हियो कहि मैं तो उठाय लिए सुख पाय ह्वै ढीले। आँखि सों लाय रहे पल एक रहे पल छाती सों छ्वाय छबीले।—रघुनाथ।

फर*‡-संज्ञा पुं० (१) दे० "फल"। (२) दे० "फड़"। (३) सामना। मुकाबिला। उ०—भगे बलीमुख महाबली लखि फिरैं न फर पर झेरे। अंगद अरु हनुमंत धाय द्रुत बार बार अस टेरे।—रघुराज। (४) बिछावन। बिछौना। उ०—सूल से फूलन के फर पै तिय फूल छरी सी परी मुरझानी।

फरक-संज्ञा स्त्री० [हिं० फरकना] (१) फरकने का भाव। (२) फरकने की क्रिया। (३) फुरती से उछलने कूदने की चेष्टा। चंचलता। फड़क। उ०—मृगनैनी मृग की फरक उर उछाह तन फूल। बिनही पिय आगम उमगि पलटन लगी दुकूल।—बिहारी।

फ़रक़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पार्थक्य। पृथक्त्व। अलगाव। (२) दो वस्तुओं के बीच का अंतर। दूरी।

मुहा०—फरक फरक होना = 'दूर हो' या 'राह छोड़ो' की आवाज होना । 'हटो बचो' होना । उ०—चल्यो राजमंदिर की ओरा । फरक फरक माच्यो मग सोरा ।—रघुराज ।

(३) भेद । अंतर । जैसे, (क) इसमें और उसमें बड़ा फरक है । (ख) बात में फरक न पड़ने पावे । (ग) उन्हें अपने और पराए का फरक नहीं मालूम है । (४) दुराव । परायापन । अन्यता । (५) कमी । कसर । उ०—(क) उसकी तौल में फरक नहीं है । (ख) घोड़े की असलियत में फरक मालूम होता है ।

फरकन—संज्ञा पुं० [हिं० फ़रकना] (१) फड़कने का भाव । दे० "फड़क" । उ०—अँग फरकन अरु अरुनई इत्यादिक अनुभाव । गर्व असूया उग्रता तहँ संचारी नाँव ।—पद्माकर । (२) फरकने की क्रिया । फड़क । उ०—एरे बाम नैन मेरे एरे भुज बाम आज तौरे फरकन ते जो बालम निहारिहैं । —मतिराम ।

फरकना※†—क्रि० अ० [सं० स्फुरण] (१) शरीर के किसी अवयव में अचानक फरफराहट या स्फुरण होना । फड़कना । उड़ना । फड़फड़ाना । दे० "फड़कना" । उ०—(क) सुनु मंथरा बात फुर तोरी । दहिन आँखि नित फरकति मोरी ।—तुलसी । (ख) बायस गहगहात शुभ वाणी विमल पूर्व दिशि बोली । आजु मिलाओ श्याम मनोहर तू सुनु सखी राधिके भोली । कुच भुज अधर नयन फरकत है बिनहिँ बात अंचल ध्वज डोली । सोच निवारि करो मन आनंद मानो भाग्य दशा विधि खोली ।—सूर । (२) आपसे आप निकलना या बाहर आना । स्फुरित होना । उमड़ना । उ०—मीठी अनूठी कढ़ैं बतियाँ सुनि सौतिनि की छतियाँ दरकी परैं । कोकिल कूकनि की का चली, कलहंसनहूँ के हिए धरकी परैं । प्यारी के आनन तेरो कढ़ै तेहि की उपमा द्विज को फरकी परैं । धार सुधार सुधारस तें सुमनो बसुधा ढरकी परैं ।—द्विज । (३) उड़ना । उ०—ध्वजा फरकै शून्य में बाजै अनहद तूर । तकिया है मैदान में पहुँचैगा कोई सूर । —कबीर ।

‡ क्रि० अ० [अ० फरक = अंतर] (१) अलग होना । दूर होना । (२) फटकर पृथक् हो जाना ।

फरका—संज्ञा पुं० [सं० फलक] (१) छप्पर जो अलग छाकर बँडेर पर चढ़ाया जाता है । उ०—माखन खात पराए घर को । नित प्रति सहस मथानी मथिए मेघ शब्द दधि माठ घमर को । कितने अहिर जियत हैं मेरे गृह दधि मथि बेचत हैं महर को । नवलख धेनु दुहत हैं नितप्रति बड़ो भाग्य है नंदमहर को । ताको पूत कहावत हौ जो चोरी करत उघारत फरको । सूर श्याम कितनो तुम खैहौ दधि माखन मेरे जहँ तहँ ढरको । (२) बँडेर के एक ओर की छाजन । पल्ला । (३) टट्टर जो द्वार पर लगाया जाता है । उ०—सुनत मुरली अलिन धीर धरिकै । चली पितु मातु अपमान करिकै । लरत निकसी सबै तोरि फरिकै । भई आतुर बदन दरश हरिकै ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० "फिर्क़ा" ।

फरकाना—क्रि० स० [हिं० फरकना] (१) फरकने का सकर्मक रूप । हिलाना । संचालित करना । उ०—(क) तू काहे न वेगि सों आवै तोको कान्ह बुलावै । कबहूँ पलक हरि मूँदि लेत है कबहूँ अधर फरकावै ।—सूर । (ख) सखी रोक ! यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है । देख, अधर अपना ऊपर का बार बार फरकाता है ।—द्विवेदी । (२) फड़फड़ाना । बार बार हिलाना । उ०—आगम भो तरुनापन को बिसराम भई कछु चंचल आँखैं । खंजन के युग सावक ज्यों उड़ि आवत ना फरकावत पाखैं ।

क्रि० स० [हिं० फरक = अलग] बिलग करना । अलग करना ।

फरकिल्ला—संज्ञा पुं० [हिं० फार+कील] वह खूँटा जो गाड़ी में हरसे के बाहर पटरी में लगाया जाता है और जिस पर लकड़ी, बाँस या बल्ले रखकर रस्सियों से कसकर ढाँचा बनाया जाता है ।

फरकी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० फरक] (१) बाँस की पतली तीली जिसमें लासा लगाकर चिड़ीमार चिड़ियाँ फँसाते हैं । (२) वह बड़ा पत्थर जो दीवारों की चुनाई में दूर दूर पर खड़े बल में लगाया जाता है ।

फरकीला†—संज्ञा पुं० दे० "फरकिल्ला" ।

फरक्क‡—संज्ञा पुं० दे० "फरक" ।

फरचा‡—वि० [सं० स्पृश्य, प्रा० फरस्स] (१) जो जूठा न हो । शुद्ध । पवित्र । (२) साफ । सुथरा । उ०—घासहरे को कुँअर भी फरचा कर आया । खबर पाई मनसूर भी खुसियों से छाया ।—सूदन ।

फरचाई‡—संज्ञा स्त्री० [हिं० फरचा+ई (प्रत्य०)] (१) शुद्धता । पवित्रता । (२) सफाई ।

फरचाना‡—क्रि० स० [हिं० फरचा] (१) बरतन आदि को धोकर साफ करना । (२) पवित्र या शुद्ध करना ।

फरजंद—संज्ञा पुं० [फा०] पुत्र । लड़का । बेटा । उ०—(क) फेर कूच करि दूसरा रबिजा तट आया । तहँ फरजंद वजीर संग मिलना ठहराया ।—सूदन । (ख) कहैं रघुराज मुनिराज हमसे कहो कौन के फबे फरजंद दिलहूब हैं । —रघुराज ।

फरजिंद†—संज्ञा पुं० दे० "फरजंद" ।

फरजी—संज्ञा पुं० [फा०] शतरंज का एक मोहरा जिसे रानी या वजीर भी कहते हैं । यह मोहरा खेल भर में बड़ा

उपयोगी माना जाता है। शतरंज के किसी किसी खेल में यह टेढ़ा चलता है और शेष में प्रायः यह सीधा और टेढ़ा दोनों प्रकार की चाल आगे और पीछे दोनों ओर चलता है। उ०—(क) बड़ो बड़ाई ना तजै छोटो बहु इतराय। ज्यों प्यादा फरजी भयो टेढ़ो टेढ़ो जाय।—रहीम। (ख) पहले हम जाय दियो कर में, तिय खेलत ही घर में फरजी। बुधवंत इकंत पढ़ो, तबहीं रतिकंत के बानन लै बरजी। बिलखी हमें और सुनाइबे को कहि तोष लख्यो सिगरी मरजी। गरजी ह्वै दियो उन पान हमें पढ़ि साँवरे, रावरे की अरजी।—तोष।

वि० जो असली न हो बल्कि मान लिया गया हो। नकली। बनावटी। जैसे, वे अपना एक फरजी नाम रखकर दरबार में पहुँचे।

फरजीबंद–संज्ञा पुं० [फा०] शतरंज के खेल में एक योग जिसमें फरजी किसी प्यादे के जोर पर बादशाह को ऐसी शह देता है जिससे विपक्ष की हार होती है। उ०—घोड़ा दै फरजीबँद लावा। जेहि मुहरा रुख चहै सो पावा। —जायसी।

फरद–संज्ञा स्त्री० [अ० फर्द] (१) लेखा वा वस्तुओं की सूची आदि जो स्मरणार्थ किसी कागज पर अलग लिखी गई हो। जैसे, घर के सब सामान की एक फरद तैयार कर लो। दे० "फर्द"। उ०—फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ खाता खत जान दे बही को बहि जान दे।—पद्माकर। (२) एक ही तरह के, एक साथ बननेवाले अथवा एक साथ काम में आनेवाले कपड़ों के जोड़े में से एक कपड़ा। पल्ला। जैसे, एक फरद धोती, एक फरद चादर, एक फरद शाल। (३) रजाई या दुलाई का ऊपरी पल्ला। उ०—कहै पद्माकर जु कैधौं काम कारीगर नुकता दियो है हेम फरद सोहाई में।—पद्माकर। (४) एक पक्षी का नाम जो बरफीले पहाड़ों पर होता है और जिसके विषय में वैसी ही बातें प्रसिद्ध हैं जैसी चकवा और चकई के विषय में। (५) एक प्रकार का लक्का कबूतर जिसके सिर पर टीका होता है। (६) दो पदों की कविता।

वि० जिसकी बराबरी करनेवाला कोई न हो। अनुपम। बेजोड़। जैसे, आप भी बातें बनाने में फरद हैं। (बोलचाल) प०—चल्यो दरद जेहि फरद रच्यो विधि मित्र दरदहर।—गोपाल।

फरना*‡–क्रि० अ० [सं० फल] फलना। उ०—(क) गुलगुल तुरँग सदा फर फरे। नारँग अति राते रस भरे।—जायसी। (ख) धनुषयज्ञ कमनीय अवनितल कौतुक ही भए आय खरे री। छबि सुरसभा मनहुँ मनसिज के कलित कलपतरु रूख फरै री।—तुलसी।

मुहा०—फरना फूलना = "दे० फलना"। उ०—गोंद कली सम बिगसी ऋतु बसंत औ फाग। फूलहु फरहु सदा सुख सफल सुहाग।—जायसी।

फरफंद–संज्ञा पुं० [हिं० फर अनु०, फंद = फंदा (जाल)] (१) दाँव पेच। छल कपट। माया। उ०—(क) उनको नहिं दोस परोस तज्यो कहि को फरफंद पराये परै।—बेनी। (ख) चल दूर हो, दुष्ट कहीं का, मैं तुझे और तेरे फरफंदों को भली भाँति जानता हूँ।—अयोध्यासिंह।

क्रि० प्र०—करना।—रचना।

(२) नखरा। चोचला।

क्रि० प्र०—करना।—खेलना।—दिखाना।

फरफर–संज्ञा पुं० [अनु०] किसी पदार्थ के उड़ने या फड़कने से उत्पन्न शब्द। उ०—लग्गिय तुरंगनि थरथरा। नथुनान लग्गिय फरफरा।—सूदन।

फरफराना–क्रि० अ० [अनु० फरफर] "फरफर" शब्द उत्पन्न होना। फड़फड़ाना। उ०—फरफरात फर में धर लागे। सेख मुनौर मानि भय भागे।—लाल।

क्रि० स० (१) फरफर शब्द उत्पन्न करना। (२) दे० "फड़फड़ाना"।

फरफुंदा*‡–संज्ञा पुं० [अनु० फरफर] उड़नेवाला कीड़ा। फतिंगा। उ०–गहि फरफुँदा तेहि गुद माँहीं। डारी सींक दया भय नाहीं।—रघुराज।

फरमाँबरदार–वि० [फा०] आज्ञाकारी। आज्ञानुयायी। हुक्म माननेवाला।

फरमा–संज्ञा पुं० [अं० फ्रेम [(१) ढाँचा। डौल। (२) लकड़ी आदि का बना हुआ ढाँचा या साँचा जिस पर रख कर चमार जूता बनाते हैं। कालबूत। (३) किसी प्रकार का साँचा जिसमें कोई चीज ढाली जाय।

संज्ञा पुं० [अं० फार्म] कागज का पूरा तखता जो एक वार में प्रेस में छापा जाता है। जुज। विशेष दे० "फार्म"।

फरमाइश–संज्ञा स्त्री० [फा०] आज्ञा, विशेषतः वह आज्ञा जो कोई चीज लाने या बनाने आदि के लिये दी जाय। जैसे, (क) यह अलमारी फरमाइश देकर बनवाई गई है। (ख) उन्होंने मुझसे कुछ किताबों की फरमाइश की थी।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—पूरी करना।

फरमाइशी–वि० [फा०] जो फरमाइश करके बनवाया या मँगाया गया हो। विशेष रूप से आज्ञा देकर मँगाया या तैयार कराया हुआ। (ऐसा पदार्थ प्रायः अच्छा और बढ़िया समझा जाता है।) जैसे, फरमाइशी जूता। फरमाइशी थान।

फरमान–संज्ञा पुं० [फा० मि० सं० प्रमाण] राजकीय आज्ञापत्र। वह आज्ञापत्र जो राजा या राज्य की ओर से किसी को

लिखा गया हो। अनुशासनपत्र। उ०—(क) मुल्ला तुझे करीम का अब आया फरमान। घट फोरा घर घर किया साहेब का नीसान।—कबीर। (ख) आमिल हू छिन मौन प्रबीन लै नाफरमा फरमानु पठायो।—गुमान। (ग) वार पार मथुरा तलक हूआ फरमाना। बकसी की जागीर दै बकसी में ठाना।—सूदन।

यौ०—फरमाँबरदार।

फरमाना–क्रि० स० [फा०] आज्ञा देना। कहना। उ०—(क) सोयो बादशाह निशि आय कै सपन दियो कियो वाको इष्ट वेष कही प्यास लागी है। पीयो जल जाय आबखाने लै बखाने तब अति ही रिसाने को पियावै कोउ रागी है। फिरि मार्‍यो लात अरे सुनी नहीं बात मेरी, आप फरमावो जो पियावे बड़ भागी है। सो तौ तै लै कैद कर्‍यो सुनि अबरेउ डर्‍यो भर्‍यो हिय भाव मति सोवत ते जागी है।—प्रियादास। (ख) अब जो रोस साह उर आवै। तो हम पै फौजें फरमावै।—लाल।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बड़ों के संबंध में उनके प्रति आदर सूचित करने के लिये होता है। जैसे, यही बात मौलवी साहब भी फरमाते थे।

फरयाद–संज्ञा स्त्री० दे० "फरियाद"।

फरयारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फाल] हल के जाँघे में लगी हुई वह लकड़ी जिसमें फाल (फल) लगा रहता है। खोंपी।

फरराना†–क्रि० अ० दे० "फहराना"।

क्रि० स० दे० "फहराना"।

फरलांग–संज्ञा पुं० [अं०] भूमि की लंबाई की एक अँगरेजी माप। यह एक मील का आठवाँ भाग होता है और चालीस राड या पोल (लट्ठे) के बराबर होता है।

फरलो–संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की छुट्टी जो सरकारी नौकरों को आधे वेतन पर मिलती है।

फरवरी–संज्ञा पुं० [अं० फेब्रुअरी] अँगरेजी सन् का दूसरा महीना जो प्रायः अट्ठाइस दिन का होता है। पर जब सन् ईसवी ४ से पूरा पूरा विभक्त हो जाता है उस वर्ष यह २९ दिन का होता है। परंतु जब सन् में एकाई और दहाई दोनों अंकों के स्थान में शून्य होता है, उस अवस्था में यह तब तक २९ दिन का नहीं होता जब तक सैकड़े और हजार का अंक ४ से पूरा पूरा विभाजित न हो। जिस वर्ष यह महीना २९ दिन का होता है उस वर्ष इसे अँगरेजी हिसाब से लौंद का महीना कहते हैं।

फरवार†–संज्ञा पुं० [हिं० फल = फर+वार (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ किसान अपने खेत की उपज रखते हैं और जहाँ उसे दाँते और पीटते हैं। खलिहान।

फरवारी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फरवार+ई० (प्रत्य०)] अन्न का वह भाग जो किसान अपने खलिहान में से राशि उठाने के समय बढ़ई, धोबी, ब्राह्मण, नाई आदि को निकाल कर देते हैं।

फरवी–संज्ञा स्त्री० [सं० स्फुरण] (१) एक प्रकार का भूना हुआ चावल जो भुनने पर भीतर से पोला हो जाता है। मुरमुरा। लाई। (२) दे० "फरुही"।

फरश–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बैठने के लिये बिछाने का वस्त्र। बिछावन। (२) बराबर भूमि जिस पर लोग बैठते हैं। धरातल। समतल भूमि। (३) घर या कोठरी के भीतर की वह समतल भूमि जो पत्थर या ईंटें बिछाकर या चूने गारे से बराबर की गई हो। बनी हुई जमीन। गच।

फरशबंद–संज्ञा पुं० [फा०] वह ऊँचा और समतल स्थान जहाँ फरश बना हो। उ०—कहै पद्माकर फराकत फरसबंद फहरि फुहारन की फरस फबी है फाब।—पद्माकर।

फरशी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) फूल, पीतल आदि का बना हुआ बरतन जिसका मुँह पतला और तंग होता है और जिस पर नैचा, सटक आदि लगाकर लोग तमाकू पीते हैं। गुड़गुड़ी। (२) वह हुक्का जो उक्त बरतन पर नैचा आदि लगाकर बनाया गया हो।

फरस*–संज्ञा पुं० दे० "फरश"।

*–संज्ञा पुं० दे० "फरसा"।

फरसा–संज्ञा पुं० [सं० परशु = फरसु] (१) पैनी और चौड़ी धार की एक प्रकार की कुल्हाड़ी। यह प्राचीन काल में युद्ध में काम आती थी। उ०—काल कराल नृपालन के धनु भंग सुने फरसा लिए धाए।—तुलसी। (२) फावड़ा।

फरसी–संज्ञा स्त्री० दे० "फरशी"।

फरहटा†–संज्ञा पुं० [हिं० फाल] चौड़ी और पतली पटरियाँ जो चरखी आदि के बीच की नाभि से बाँधकर या गाड़कर खड़े बल में लगाई जाती हैं। फरेहा।

फरहत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आनंद। प्रसन्नता। (२) मनःशुद्धि।

फरहद–संज्ञा पुं० [सं० पारिभद्र, पा० पारिभद्द, प्रा० पारिहद्द] एक पेड़ का नाम जो बंगाल में समुद्र के किनारे बहुत होता है। वहाँ के लोग इसे पालिते मंदार कहते हैं। यह पेड़ थोड़े दिनों में बढ़कर तैयार हो जाता है और न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा, मध्यम आकार का होता है। इसमें पहले काँटे होते हैं, पर बड़े होने पर छिलका उतरता है और स्कंध चिकना हो जाता है। पर डालियों में फिर भी छोटे छोटे काँटे रह जाते हैं। ढाक की पत्तियों के समान इसमें भी एक नाल में तीन तीन पत्तियाँ होती हैं। फूल लाल और सुंदर होते हैं। फूलों के झड़ जाने पर फलियाँ लगती हैं। फूलों से लाल रंग निकलता है। छाल से भी रंग निकाला जाता है और उसे कूटकर रस्सी भी बटी जाती

है। इसकी लकड़ी नरम और साफ होती है और धूप में फटती या चिटकती नहीं। इसके खिलौने आदि बनाये जाते हैं क्योंकि इस पर बार्निश अच्छी खिलती है। पान के भीटों पर इसे छाया के लिये लोग लगाते हैं। पुराणों में इसे पंच देवतरु में माना है। इसे नहसुत भी कहते हैं। वैद्यक में इसका स्वाद कटु, प्रकृति उष्ण और गुण अरुचि, कफ, कृमि और प्रमेहनाशक लिखा गया है। इसका फूल पित्त-रोग और कर्णरोगनाशक माना जाता है।

पर्य्या०–पारिभद्र। प्रभद्रक। मंदार। कंटकिंशुक। निंबतरु।

फरहर‡–वि० [सं० स्फार, प्रा० फार = अलग अलग अथवा फरहरा] (१) जो एक में लिपटा या मिला हुआ न हो, अलग अलग हो। जैसे, फरहर भात। (२) साफ। स्पष्ट। (३) शुद्ध। निर्मल। (४) जो कुछ दूर दूर पर हो। (५) जो उदास न हो। खिला हुआ। प्रसन्न। हराभरा। (६) तेज। चालाक।

फरहरना†–क्रि० अ० [अनु० फरफर] (१) फरफराना। फरकना। उ०—भीमसेन फरके भुजदंडा। अधर फरहरत रोम प्रचंडा।—सबलसिंह। (२) उड़ना। फहराना। उ०—सिर केतु सुहावन फरहरैं। जेहि लखि पर दल थरहरैं।—गोपाल।

फरहरा–संज्ञा पुं० [हिं० फहराना] (१) पताका। झंडा। (२) कपड़े आदि का वह तिकोना या चौकोना टुकड़ा जिसे छड़ के सिरे पर लगाकर झंडी बनाते हैं और जो हवा के झोंके से उड़ता रहता है।

वि० [हिं० फरहर] (१) अलग अलग। स्पष्ट। (२) शुद्ध। निर्मल। (३) खिला हुआ। प्रसन्न।

फरहरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फल+हरा (प्रत्य०)] फल।

फरहा†–संज्ञा पुं० [हिं० फल] धुनियों की कमान का वह भाग जो चौड़ा होता है और जिस पर से होकर ताँत दूसरी छोर तक जाती है। यह बेने के आकार का होता है और धुनते समय आगे पड़ता है।

फरही†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फरहा] लकड़ी का वह चौड़ा टुकड़ा जिस पर ठठेरे बरतन रखकर रेती से रेतते हैं।

फरा†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का व्यंजन। इसके बनाने के लिये पहले चावल के आटे को गरम पानी में गूँधकर उसकी पतली पतली बत्तियाँ बटते हैं और फिर उन बत्तियों को उबलते हुए पानी की भाप में पकाते हैं।

फराक*–संज्ञा पुं० [फा० फराख] मैदान। आयत स्थान। उ०—उठाय बाग उप्परयो सु विप्फरयो फराक में। महा अराक अड्डियो धमाक धुंधराक में।—सूदन।

वि० लंबा चौड़ा। विस्तृत। आयत। उ०—दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहि बाजि गज ठाटा।—तुलसी।

फराकत–वि० [फा० फ़राख़] आयत। विस्तृत। लंबा चौड़ा और समतल। उ०—कहै पद्माकर फराक़त फ़रसबंद फहरि फुहारन की फरस फबी है फाब।—पद्माकर।

वि० दे० "फरागत"।

संज्ञा पुं० दे० "फरागत"।

फराख–वि०[फा० फ़राख़] विस्तृत। लंबा चौड़ा। आयत।

फराखी–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) चौड़ाई। विस्तार। फैलाव। (२) आढ्यता। संपन्नता। (३) घोड़े का तंग जो उसकी पीठ पर कंबल गरदनी आदि डालकर उस पर लगाया जाता है; या कभी कभी बिना कंबल के भी खाली पीठ पर कसा जाता है। यह चौड़ा तसमा या फीता होता है और इसके दोनों सिरों पर कड़े लगे रहते हैं।

फरागत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) छुटकारा। छुट्टी। मुक्ति।

मुहा०—फरागत करना = समाप्त करना। पूरा करना। उ०—इतना काम फरागत करके तब उठना। फरागत पाना या होना = छुटकारा पाना। निश्चिंत होना।

(२) निश्चिंतता। बेफ़िक्री। (३) मल-त्याग। पाख़ाना फिरना।

मुहा०—फरागत जाना = पाखाने जाना। टट्टी जाना।

फ़राज़–वि० [फा०] ऊँचा।

यौ०—नशेइफराज = (१) ऊँचा नीचा। (२) भला बुरा।

फरामोश–वि० [फा०] भूला हुआ। विस्मृत। चित्त से उतरा हुआ।

संज्ञा पुं० लड़कों का एक खेल जिसमें वे आपस में कुछ समय के लिये यह बद लेते हैं कि यदि एक दूसरे को कोई चीज दे तो वह तुरंत "फरामोश" कह दे। यदि चीज पाने पर पानेवाला "फरामोश" न कहे तो वह हार जाता है।

क्रि० प्र०—बदना।

फरार–वि० [अ०] भागा हुआ। जो भाग गया हो।

फरालना‡–क्रि० स० [हिं० फैलाना] फैलाना। पसारना।

फरार, फराल–संज्ञा स्त्री० [हिं० फैलाव](१) फैलाव। विस्तार। (२) तखता।

फरास†–संज्ञा पुं० (१) दे० "पलाश"। (२) दे० "फर्राश"।

फरासीस–संज्ञा पुं० [फा०] (१) फ्रांस देश। (२) फ्रांस का रहनेवाला। (३) एक प्रकार की छींट जिसका रंग लाल होता है और जिसमें पीली या सफेद बूटियाँ अथवा बूटे बने हुए होते हैं। यह पहले फ्रांस देश से आया करती थी।

फरासीसी–वि० [हिं० फरासीस] (१) फ्रांस का रहनेवाला। (२) फ्रांस का बना हुआ। (३) फ्रांस देश में उत्पन्न। फ्रांस का।

फरिका‡–संज्ञा पुं० दे० "फरका"।

फरिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० फरना] वह लहँगा जो सामने की ओर

सिला नहीं रहता। यह कपड़े का चौकोर टुकड़ा होता है जिसको एक किनारे की ओर चुन लेते हैं। इसे लड़कियाँ वा स्त्रियाँ अपनी कमर में बाँध लेती हैं। उ०—खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी। कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिए भौंरा चक डोरी।.........औचक ही देखे तहँ राधा नयन विशाल भाल हिए रोरी। नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।—सूर।

संज्ञा पुं० [हिं० फिरना] रहट के चरखे वा चक्कर में लगी हुई वे लकड़ियाँ जिन पर मिट्टी की हँड़ियों की माला लटकती रहती हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० परी = मिट्टी का कटोरा] मिट्टी की नाँद जो चीनी के कारखानों में इसलिये रखी जाती है कि उसमें पाग छोड़कर चीनी बनाई जाय। हौद।

फरियाद–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) दुःखित या पीड़ित प्राणियों का अपने परित्राण के लिये चिल्लाना। दुःख से बचाये जाने के लिये पुकार। शिकायत। नालिश। जैसे, नौकर का अपने मालिक से फरियाद करना, विद्यार्थी का अपने शिक्षक से फरियाद करना। उ०—(क) कबिरा दरदीवान में क्योंकर पावै दाद। पहिले बुरा कमाइ के पीछे कर फरियाद।—कबीर। (ख) था इरादा तेरी फरियाद करूँ हाकिम से। वह भी कमबख्त तेरा चाहनेवाला निकला।—नजीर। (२) विनती। प्रार्थना।

फरियादी–वि० [फा०] फरियाद करनेवाला। नालिश करनेवाला। अपने दुःख के परिहार के लिये प्रार्थना करनेवाला। उ०–तब ते काशीराज पहँ फरियादी भे आय। निज निज हीसा देन कहि लाए ताहि बढ़ाय।—रघुनाथदास।

फरियाना–क्रि० स० [सं० फलीकरण = फटकना] (१) छाँटकर अलग करना। भूसी आदि अलग करके साफ करना। (२) साफ करना। (३) पक्ष निर्णय करना। निपटाना। तै करना। क्रि० अ० (१) छँटकर अलग होना। (२) साफ होना। (३) तै होना। निर्णय होना। निबटना। (४) समझ पड़ना। सूझ पड़ना। साफ साफ दिखाई पड़ना।

फरिश्ता–संज्ञा पुं० [फा०] (१) मुसलमानी धर्म्मग्रंथों के अनुसार ईश्वर का वह दूत जो उसकी आज्ञा के अनुसार कोई काम करता हो। जैसे, मौत का फरिश्ता। नेकी बदी की खबर लानेवाला फरिश्ता। (२) देवता।

फरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० फल] (१) फाल। कुशी। (२) गाड़ी का हरसा। फड़। (३) चमड़े की बनी हुई गोल छोटी ढाल जिसे गतके के साथ उसकी मार को रोकने के लिये लेकर खेलते हैं। ढाल। उ०–(क) तब तो वह अति भुँझलाय फरी खाँड़ा उठाय रथ से कूद श्रीकृष्णचंद्र की ओर झपटा।—लल्लू। (ख) फूलै फदकत लै फरी पल कटाच्छ कर वार। करत बचावत विय नयन पायक घाय हजार।—बिहारी। (४) दे० "फली"।

फरीक़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मुकाबला करनेवाला। प्रतिद्वंद्वी। विरोधी। विपक्षी। दूसरे पक्ष का। (२) दो पक्षों में से किसी पक्ष का मनुष्य। दो परस्पर विरुद्ध व्यक्तियों में से कोई एक। (३) पक्ष का मनुष्य। तरफदार।

यौ०—फरीक़सानी = प्रतिवादी। (कानून)

फरीदबूटी–संज्ञा स्त्री० [अ० फरीद + हिं० बूटी] एक वनस्पति का नाम जिसकी पत्तियाँ बरियारे के आकार की छोटी छोटी होती हैं। इन पत्तियों को पानी में डालकर मलने से लबाब निकलता है। यह ठंढी होती है और गर्मी शांत करने के लिये पी जाती है।

फरुआ‡–संज्ञा पुं० [हिं० फाड़ना, फाड़ा हुआ] लकड़ी का वह बरतन जिसे लेकर भिक्षुक भीख माँगते हैं।

फरुई‡–संज्ञा स्त्री [सं०] दे० "फरुही"।

फरुसा‡–संज्ञा पुं० दे० "फरसा"।

फरुहा†–संज्ञा पुं० दे० "फावड़ा"।

फरुही†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फावड़ा] (१) छोटा फावड़ा। (२) फावड़े के आकार का लकड़ी का बना हुआ एक औजार जिससे घोड़े की लीद हटाई जाती है, क्यारी बनाने के लिये खेत की मिट्टी हटाई जाती है और इसी प्रकार के दूसरे काम लिए जाते हैं। (३) मथानी।

संज्ञा स्त्री० [सं० स्फुरण, हिं० फुरना] एक प्रकार का भूना हुआ चावल जो भुनने पर फूलकर भीतर से खोखला हो जाता है। फरवी। मुरमुरा। लाई।

फरुहरी–संज्ञा स्त्री० दे० "फुरहरी" या "फुरेरी"।

फरेंद, फरेंदा†–संज्ञा पुं० [सं० फलेंद्र = प्रा० फलेंद] [स्त्री० फरेंदी] जामुन की एक जाति का नाम जिसके फल बहुत बड़े बड़े और गूदेदार होते हैं। इसकी पत्तियाँ जामुन की पत्तियों से अधिक चौड़ी और बड़ी होती हैं। फल आषाढ़ में पकते हैं और खाने में मीठे होते हैं। यह पाचक होता है। विशेष दे० "जामुन"।

फरेब–संज्ञा पुं० [फा०] छल। कपट। धोखा। जाल।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।

फरेरा†–संज्ञा पुं० दे० "फरहरा"।

फरेरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फल + प्रत्य० रा] जंगल के फल। जंगली मेवा। उ०—मुखकुरवार फरेरी खाना। बहु विष भा जब ब्याध तुलाना।—जायसी।

फरैदा†–संज्ञा पुं० [फा० फरिंदा] एक प्रकार का तोता।

फरो–वि० [फा०] दबा हुआ। तिरोहित। जैसे, झगड़ा फरो करना।

फरोख्त–संज्ञा स्त्री० [फा०] बेचने या बिकने की क्रिया या भाव । विक्रय । बिक्री ।

फरोदस्त––संज्ञा पुं० [फा०] (१) एक प्रकार का संकर राग जो गौरी, कान्हड़ा और पूरबी के मेल से बना होता है। कहते हैं कि यह राग अमीर खुसरो ने निकाला था । (२) १४ मात्राओं का एक ताल जिसमें ५ आघात और २ खाली होते हैं। इसके तबले के बोल इस प्रकार हैं:— धिन¹ धिन,² धाकेटे,³ ताग धिन धा गदे ता, तेटेकता, गदिधेन । धा ।

फ़र्क़–संज्ञा पुं० दे० "फरक" ।

फर्च–वि० दे० "फरच" ।

फर्चा–संज्ञा पुं० दे० "फरचा" ।

फर्जंद–संज्ञा पुं० दे० "फरज़ंद" ।

फर्ज–संज्ञा पुं० [अ० [(१) मुसलमानी धर्म्मानुसार विधि-विहित कर्म जिसके न करने से मनुष्य को प्रायश्चित्त करना पड़ता है । धार्म्मिक कृत्य । (२) कर्त्तव्य कर्म । जैसे, उनसे माफी माँगना आपका फर्ज है । (३) उत्तरदायित्व । (४) कल्पना । मान लेना । जैसे, फर्ज कीजिए कि वे खुद आए, तब आप क्या करेंगे ?

फर्जी–वि० [फा०] (१) कल्पित । मान हुआ । (२) नाम मात्र का । सत्ताहीन ।

संज्ञा पुं० दे० "फरजी" ।

फर्द–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कागज या कपड़े आदि का टुकड़ा जो किसी के साथ जुड़ा वा लगा न हो। (२) कागज का टुकड़ा जिस पर किसी वस्तु का विवरण, लेखा, सूची वा सूचना आदि लिखी गई हों या लिखी जायँ ।

यौ०—फर्दकरारदाद जुर्म = फौजदारी की अदालत की कार्रवाई में वह लेख जिसके द्वारा न्यायाधीश वा मजिस्ट्रेट अभियुक्त पुरुष को किसी अपराध का अपराधी ठहराकर उससे उत्तर माँगता है। **फर्द तालिका** = वस्तुओं की वह सूची जो कुर्की करनेवाले को अदालत में देनी पड़ती है। **फर्द हकूक** = बंदोबस्त में वह कागज जिसमें किसी गाँव के स्वत्वाधिकारियों के स्वत्व का विवरण लिखा रहता है। **फर्द सजा** = फौजदारी के विभाग में वह कागज जिस पर अपराधी के दंड का विवरण वा व्यवस्था होती है।

(३) रजाई शाल आदि का ऊपरी पल्ला जो अलग बनता और बिकता है। चद्दर । पल्ला । दे० "फरद" । (४) वह पशु या पक्षी जो जोड़े के साथ न रहकर अलग और अकेला रहता है। (५) परण ।

वि० दे० "फरद" ।

फर्माना–क्रि० स० दे० "फरमाना" ।

फर्याद–संज्ञा स्त्री० दे० "फरियाद" ।

फर्रा†–संज्ञा पुं० [अनु०] गेहूँ वा धान की फसल का एक रोग जो उस अवस्था में उत्पन्न होता है जब फूलने के समय तेज हवा बहती है। इसमें फूल गिर जाने से बालों में दाने नहीं पड़ते ।

†–संज्ञा पुं० [देश०] मोटी ईंट ।

फर्राटा–संज्ञा पुं० [अनु०] (१) वेग । तेजी । क्षिप्रता । जैसे, फर्राटे से सबक सुनाना ।

मुहा०—फर्राटा मारना वा भरना = वेग से दौड़ना । तेजी से दौड़ना ।

(२) दे० "खर्राटा" ।

फर्राश–संज्ञा पुं० [अ०] १) वह नौकर जिसका काम डेरा गाड़ना, सफाई करना, फर्श बिछाना, दीपक जलाना और इसी प्रकार के और दूसरे काम करना होता है। (२) नौकर । खिदमतगार । उ०—छिड़काव हुआ हो पानी का और खूब पलंग भी हो भीगा । हाथों में प्याला शरबत का हो, आगे हो फर्राश खड़ा ।—नजीर ।

फर्राशी–वि० [फा०] फर्श या फर्राश के कामों से संबंध रखनेवाला ।

यौ०—फर्राशी पंखा = बड़ा पंखा जिससे फर्श भर पर हवा की जा सकती हो। उ०—फर्राशी पंखा झलता हो तब देख बहारें जाड़े की ।—नजीर ।

संज्ञा स्त्री० (१) फर्राश का काम । (२) फर्राश का पद ।

फर्लो–संज्ञा स्त्री० दे० "फरलो" ।

फर्श–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बिछावन । बिछाने का कपड़ा । (२) दे० "फरश" ।

फलंक*–संज्ञा पुं० दे० "फलांग" ।

संज्ञा पुं० [फा० फलक] आकाश । अंतरिक्ष । उ०—सो है अत्र ओढ़े जे न छोड़े सीस संगर की, लंगर लँगूर उच्च ओज के अतंका में । कहै पद्माकर त्यों हुंकरत फुंकरत, फैलत फलात फाल बाँधत फलंका में । आगे रघुबीर के समीर के तनय के संग, तारी दै तड़ाके तड़ा तड़के तमंका में । संका है दसानन को, हंका दै सुबंका वीर, डंका दै विजय को कपि कूदि परयो लंका में ।—पद्माकर ।

फल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वनस्पति में होनेवाला वह बीज अथवा पोषक द्रव्य या गूदे से परिपूर्ण बीज-कोश जो किसी विशिष्ट ऋतु में फूलों के आने के बाद उत्पन्न होता है।

विशेष—वैज्ञानिक दृष्टि से बीज (दाने या अनाज आदि) और बीज-कोश (साधारण बोलचालवाले अर्थ में फल) में कोई अंतर नहीं माना जाता; परन्तु व्यवहार में यह अंतर बहुत ही प्रत्यक्ष है। यद्यपि गेहूँ, चना, जौ, मटर, आम, कटहल, अंगूर, अनार, सेब, बादाम, किशमिश आदि सभी वैज्ञानिक दृष्टि से फल हैं, पर व्यवहार में लोग गेहूँ, चने, जौ, मटर आदि की गिनती बीज या अनाज में

और आम, कटहल, अनार, सेब आदि की गिनती फलों में करते हैं। फल प्रायः मनुष्यों और पशु-पक्षियों आदि के खाने के काम में आते हैं। इनके अनेक भेद भी होते हैं। कुछ में केवल एक ही बीज या गुठली रहती है, कुछ में अनेक। इसी प्रकार कुछ के ऊपर बहुत ही मुलायम और हलका आवरण या छिलका रहता है, कुछ के ऊपर बहुत कड़ा या काँटेदार रहता है।

(२) लाभ। उ०—फल कारण सेवा करै निशदिन जाँचे राम। कहै कबीर सेवक नहीं चहै चैागुनो दाम।—कबीर। (३) प्रयत्न वा क्रिया का परिणाम। नतीजा। उ०—(क) सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन संकर निंदा। सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भाँति पछिताब पिताहू।—तुलसी। (ख) तब हरि कह्यो कोऊ जनि डरियो अबहिँ तुरत मैं जैहैं। बालक ध्रुव बन करत गहन तप ताहि तुरत फल दैहैं।—सूर। (४) धर्म या परलोक की दृष्टि से कर्म का परिणाम जो सुख और दुःख है। कर्मभोग। उ०—(क) कोउ कह जो भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिय उचित फलदाता।—तुलसी। (ख) मैं जु कीन्ह रघुपति अपमाना। सुनियत बचन मृषा करि जाना। सो फल मोहि विधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सो कीन्हा।—तुलसी। (५) गुण। प्रभाव। उ०—(क) नाम प्रभाव जानु सिव नीके। कालकूट फल दीन्ह अमी के।—तुलसी। (ख) मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला।—तुलसी। (६) शुभ कर्मों के परिणाम जो संख्या में चार माने जाते हैं और जिनके नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हैं। उ०—(क) सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनि त्रिपुरारि पियारी।—तुलसी। (ख) आनँद महँ आनँद अवध आनँद बधावन होइ। उपमा कहौं चारि फल की, मोको भलो न कहैगो कवि कोइ।—तुलसी। (ग) सोई भल जो राम गुन गावै। श्वपच प्रसन्न होइ बड़ सेवक बिनु गोपाल द्विज जन्म न भावै। वाद विवाद यज्ञ व्रत साधै कतहूँ जाय जन्म डहँकावै। होइ अटल जगदीश भजन में सेवा तासु चारि फल पावै। कहूँ ठौर नहि कमल चरण बिनु भृंगी ज्यों दसहूँ दिसि धावै। सूरदास प्रभु संत समागम आनँद अभय निसान बजावै।—सूर। (७) प्रतिफल। बदला। प्रतीकार। उ०—एक बार जो मन देइ सेवा। सेवहि फल प्रसन्न होइ देवा।—जायसी। (८) बाण, भाले, छुरी आदि का वह तेज अगला भाग जो लोहे का बना होता है और जिससे आघात किया जाता है। जैसे, तीर की गाँसी, भाले की अनी, इत्यादि सब फल कहलाती हैं। (९) हल की फाल। (१०) फलक। (११) ढाल। (१२) उद्देश्य की सिद्धि। उ०—सिय राम सरूप अगाध अनूप विलोचन मीननि को जलु है। श्रुति राम-कथा मुख राम को नाम हिए पुनि रामहिं को थलु है। मति रामहिं सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहिं को बलु है। सबकी न कहै तुलसी के मते इतनो जगजीवन को फलु है।—तुलसी। (१३) पासे की बिंदी या चिह्न। (१४) न्यायशास्त्र के अनुसार वह अर्थ जो प्रवृत्ति और दोष से उत्पन्न होता है। इसे भी गौतम जी ने अपने प्रमेय के अंतर्गत लिया है। (१५) गणित की किसी क्रिया का परिणाम। जैसे, योगफल, गुणनफल इत्यादि। (१६) त्रैराशिक की तीसरी राशि वा निष्पत्ति में प्रथम निष्पत्ति का द्वितीय पद। (१७) क्षेत्रफल। (१८) फलित ज्योतिष में ग्रहों के योग का परिणाम जो सुख दुःख आदि के रूप में होता है। (१९) मूल का ब्याज वा वृद्धि। सूद। (२०) प्रयोजन। (२१) जायफल। (२२) कंकोल। (२३) कोरैया का पेड़।

फलकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटहल। (२) खेतपापड़ा।

फलकंटकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंदीवरा।

फलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पटल। तखता। पट्टी। (२) चादर। (३) वाक। तबक। (४) पत्र। वरक। पृष्ठ। (५) हथेली। (६) फल। (७) मेज। चौकी। (८) खाट की बुनन जिस पर लोग लेटते हैं।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) आकाश। जैसे, आजकल उनका दिमाग फलक पर है। (२) स्वर्ग। उ०—बहु दिनं सुफल किये महि कारन। फलक जाहु तुम यदुकुल आरज।—गिरधरदास।

फलकक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक यक्ष का नाम।

फलकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) छलकना। उमगना। उ०—कैकेयी अपने कामन को सुमिरत हिय में दलकि उठी। सब देवन की मानि मनौती पूरन होइ कै फलकि उठी।—देवस्वामी। (२) दे० "फरकना"।

फलकयंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष संबंधी एक प्रकार का यंत्र जिसके अनुसार ज्या आदि का निर्णय किया जाता है।

फलकर–संज्ञा पुं० [हिं० फल+कर] वह कर जो वृक्षों के फल पर लगाया जाय। फलों पर लगनेवाला महसूल।

फलकर्कशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जंगली बेर।

फलका–संज्ञा पुं० [अ० फलक] नाव या जहाज की पाटन में वह दरवाजा जिसमें से होकर नीचे से लोग ऊपर जाते और ऊपर से नीचे उतरते हैं। (लश०)

संज्ञा पुं० [सं० स्फोटक, प्रा० फोड़ओ, हिं० फोला] फफोला।

छाला। झलका। उ०कोमल दन परे बहु फलके। कमल दलन पर जनु कन ल के।—पद्माकर।

लकाम–वि० [सं०] जो कर्मके फल की कामना करता हो। जो निष्काम होकर काम न करे बल्कि सकाम होकर करे।

लकावन–संज्ञा पुं० [सं०] एक कल्पित वन का नाम जिसके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि सरस्वती कों बहुत प्रिय है।

लकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसे चीतल कहते हैं।

लकीवन–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक वन का नाम जो किसी समय तीर्थ माना जाता था।

लकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कृच्छ्र व्रत जिसमें बेल आदि फलों के क्वाथ को पीकर एक मास तक रहना पड़ता है।

लकृष्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ल-आँवला। (२) करंज का पेड़।

केसर–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल का वृक्ष।

कोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष की इंद्रिय। लिंग। (२) अंडकोष।

ग्राही–संज्ञा पुं० [सं० फलग्राहिन् वृक्ष। पेड़।

चमस–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पुराना व्यंजन। यह बड़ की छाल को कूटकर उसके चूर्ण को दही में मिलाकर बनाया जाता था।

चारक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मत के अनुसार प्राचीन काल के एक कर्मचारी के पद का नाम।

चोरक–संज्ञा पुं० [सं०] चोरक या चोर नाम का गंध-द्रव्य।

तः–अव्य० [सं०] फलस्वरूप। परिणामतः। इसलिये। जैसे, लोगों ने धन देना बंद कर दिया और फलतः चिकित्सालय बंद हो गया।

त्रय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) द्राक्षा, परूष और काश्मीरी, ये तीनों फल। (२) हड़, बहेड़ा और आँवला इन तीनों का समूह।

त्रिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावप्रकाश के अनुसार सोंठ, पीपल और काली मिर्च। (२) त्रिफला। हड़, बहेड़ा और आँवला।

द–वि० [सं०] फल देनेवाला। जो फल दे। संज्ञा पुं० "वृक्ष"।

दान–संज्ञा पुं० [हिं० फल + दान] (१) हिंदुओं की एक रीति जो विवाह होने के पहले उस समय होती है जब कोई व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह किसी के लड़के के साथ करना निश्चित करता है। इसमें कन्या का पिता रुपए, मिठाई, अक्षत, फूल आदि लोक-प्रथा के अनुसार शुभ मुहूर्त में वर के घर भेजता है। उस समय विवाह निश्चित मान लिया जाता है। इसे वरक्षा भी कहते हैं। (२) विवाहसंबंधी टीके की रसम।

फलदार–वि० [हिं० फल + दार (फा० प्रत्य०)] (१) फलवाला। जिसमें फल लगे हों। (२) जो फलें। जिसमें फल लगें।

फलदू–संज्ञा पुं० [सं० फलद्रुम] एक वृक्ष का नाम जिससे धौली भी कहते हैं। दे० "धौली"।

फलना–क्रि० अ० [हिं० फल वा सं० फलन] (१) फल से युक्त होना। फल लाना। उ०—वन उपवन फूलते फलते हैं उससे सब जीव जंतु, पशु पक्षी आनंद में रहते हैं।—लल्लू। (२) फल देना। लाभदायक होना। परिणाम निकलना। उ०—जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ।—तुलसी।

मुहा०—फलना फूलना = सफलमनोरथ होना। उ०—फूलैं फलैं, फैलैं, खल, सीदैं साधु पल पल, बानी दीपमालिका ठठाइयत सूप है।—तुलसी।

(३) शरीर के किसी भाग पर बहुत से छोटे छोटे दानों का एक साथ निकल आना जिससे पीड़ा होती है।

मुहा०—फल आना या फल जाना = छोटे छोटे दानों का निकल आना।

†–संज्ञा पुं० [हिं० फाल वा पहल] एक प्रकार की छेनी जिससे चितेरे और संगतराश सादी पत्तियाँ बनाते हैं।

फलपाक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) करौंदा। (२) जल-आँवला।

फलपाकी–संज्ञा पुं० [सं० फलपाकिन्] गर्दभांड का पेड़।

फलपुच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] वह वनस्पति जिसकी जड़ में गाँठ पड़ती हैं। जैसे, प्याज, शलजम इत्यादि।

फलपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० फलपुष्पा] वह वनस्पति जिसमें फल और पुष्प दोनों हों।

फलपुष्पा, फलपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंड खजूर।

फलपूर–संज्ञा पुं० [सं०] दाड़िम। अनार।

फलप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] द्रोणकाक। डोम कौवा।

फलप्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रियंगु।

फलभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ कर्मों के फल का भोग करना पड़ता हो।

फलमत्स्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] घी कुँवार। घृत कुमारी।

फलमुंड–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल का वृक्ष।

फलमुख्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

फलमुद्गरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंड खजूर।

फलयोग–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में वह स्थान जिसमें फल की प्राप्ति या उसके नायक के उद्देश्य की सिद्धि हो।

फलराज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तरबूज। (२) खरबूजा।

फललक्षणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लक्षणा। विशेष—

दे० "लक्षणा"।

फलवर्ति–संज्ञा स्त्री० [सं० मि० अ० फतीला] मोटी बत्ती जो घाव में रखी जाती है।

फलवर्तुल–संज्ञा पुं० [सं०] कुम्हड़ा।

फलवस्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वस्तिकर्म जिसमें अँगूठे के बराबर मोटी और बारह अंगुल लंबी पिचकारी गुदा में दी जाती है।

फलवान्–वि० [सं० फलवत्] [स्त्री० फलवती] फलित। फलयुक्त। जिसमें फल लगा हो।

फलविष–संज्ञा पुं०[सं०] वह वृक्ष जिसके फल विषैले होते हैं। जैसे, करंभ इत्यादि। सुश्रुत में कुमुद्वती, टेलुका, करंभ, महाकरंभ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगंधा, सर्पघाती, नंदन और सरपाक के फलविष कहे गए हैं।

फलवृत्तक–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

फलशाक–संज्ञा पुं० [सं०] वह फल जिसकी तरकारी बनाकर खाई जा सकती हो।

फलशाड़व–संज्ञा पुं० [सं०] अनार।

फलशैशिर–संज्ञा पुं० [सं०] बेर का पेड़।

फलश्रुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अर्थवाद। वह वाक्य जिसमें किसी कर्म के फल का वर्णन होता है और जिसे सुनकर लोगों की वह कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। जैसे, अमुक यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, दान करने से अक्षय पुण्य होता है, आदि। (२) ऐसे वाक्य सुनना।

फलश्रेष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] आम।

फलसंबद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] गूलर।

फलसंभरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्णोदुंबरी। कसूमर।

फलसंस्कार–संज्ञा पुं० [सं०] आकाश के किसी ग्रह के केंद्र का समीकरण या मंद-फल-निरूपण।

फलस्थापन–संज्ञा पुं० [सं०] फलीकरण या सीमंतोन्नयन नामक संस्कार। यह दस प्रकार के संस्कारों में तीसरा संस्कार है।

फलस्नेह–संज्ञा पुं० [सं०] अखरोट।

फलहरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० फल + हरी (प्रत्य०)] (१) वन के वृक्षों के फल। मेवा। वनफल। (२) फल। मेवा। जैसे, कुछ फल फलहरी ले आओ।

वि० दे० "फलहारी"।

फलहार–संज्ञा पुं० "फलाहार"।

फलहारी–वि० [हिं० फलहार+ई (प्रत्य०)] जिसमें अन्न न पड़ा हो अथवा जो अन्न से न बना हो। जैसे, फलहारी मिठाई, फलहारी जलेबी, फलहारी पूरी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] कालिका देवी का नाम।

फलाँ–वि० [फा०] अमुक। कोई अनिश्चित।

फलांग–संज्ञा स्त्री० [सं० प्लवन या प्रलंघन] (१) एक उछलकर दूसरे स्थन पर जाने की क्रिया या उसका कुदान। चौकड़ी। उ०—सुनी सिंह भय मानि अ मारि फलांग चली वह आज।—सूर।

क्रि० प्र०—भरना।—मारना।

(२) वह दूरी जो फलांग से तै की जाय। उ०— सुभाव बाल केलि भूमि भानु लगि फलँगु फलांग घाटि नभ तल भो।—तुलसी। (३) मालखंभ की कसरत। यह एक प्रकार की उड़ान है जिसमें एक हा दोनों हाथों को जमीन पर टेककर पैरों को उठाकर लगाते हुए दूसरी ओर भूमि पर गिरते हैं। उल कलाबाजी।

फलाँगना–क्रि० अ० [हिं० फलांग+ना (प्रत्य०)] एक स्थ उछलकर दूसरे स्थान पर जाना या गिरना। कूद फाँदना। उ०—भान सुभाय बाल केलि भूमि ...सु फलँगु फलांग हूँ ते घाटि नभ तल भो।—तुलसी।

फलांत–संज्ञा पुं० [सं०] मांस।

फलांश–संज्ञा पुं० [सं०] तात्पर्य्य। सारांश। फलितांश। मतलब।

फला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शमी। (२) प्रियंगु। (३) झिंझि

फलागम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फल के आने का काल। लगने की ऋतु या मौसिम। (२) शरदऋतु।

फलाढ्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] कठकेला। जंगली केला।

फलात्मिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] करेला।

फलादन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो फल खाता हो। तोता।

फलादेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी बात का फल या णाम बतलाना। फल कहना। (२) जन्मकुंडली देखकर या और किसी प्रकार ग्रहों आदि का फल कह (ज्योतिष)

फलाध्यक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खिरनी का पेड़। (२) देनेवाला, ईश्वर। (३) वह जो फलों का मालिक हो

फलाना–संज्ञा पुं० [अ० फला+ना (प्रत्य०)] [स्त्री० फला अमुक। कोई अनिश्चित।

†–क्रि० स० [हिं० फलना का प्रेरण०] किसी को फल प्रवृत्त करना। फलने का काम कराना।

फलानेजीब–संज्ञा पुं० [अं० फ्लोइंग जीब] जहाज का एक तिको पाल जो आगे की ओर होता है।

फलाम्ल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विषावली। विषाविल। अम्लवेत। (३) वह फल जिसका रस खट्टा हो। खट्टा फ

फलाम्लपंचक–संज्ञा पुं० [सं०] बेर, अनार, विषावि आम्लवेत और बिजौरा ये पाँच खट्टे फल।

STOCK VERIFY
2020
G.K.V. Library

COMPILED